संसार की प्रमुख शासन प्रणालियाँ

[इंगलैंड, अमेरिका, स्विट्जरलैंड, रूस, पाकिस्तान, जापान, कनाडा, चीन तथा भारतवर्ष की शासन प्रणालियों का आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन]

लेखक

अनूपचन्द कपूर, एम० ए०, पी-एच डी०,

डिप्टी डायरेक्टर, पब्लिक इंस्ट्रक्शन्स, पंजाब

१९७०

एस० चन्द एण्ड कम्पनी

दिल्ली : नई दिल्ली : जालन्धर : लखनऊ

बम्बई : कलकत्ता : मद्रास : हैदराबाद : पटना

भूमिका

"संसार की प्रमुख शासन प्रणालियाँ" पुस्तक के इस संस्करण में इंगलैंड, अमेरिका, स्विट्ज़रलैंड, रूस, पाकिस्तान, जापान, कनाडा, चीन तथा भारतवर्ष के संविधानों के विस्तार और विकास का उल्लेख किया गया है। पिछले संस्करणों के समान विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों और प्रतियोगिता-परीक्षाओं में बैठनेवाले परीक्षार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही यह संस्करण निकाला जा रहा है। मैंने सूचना-प्राप्ति के समस्त स्रोतों का उपयोग करने का भरसक प्रयास किया है और साथ ही मूल-विषय को यथाशक्ति अद्यतन बनाये रखने का भी प्रयत्न किया है। मेरा विश्वास है, पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

अनूपचन्द कपूर

अप्रैल, १९७०

विषय-सूची
(Contents)

अध्याय पृष्ठ

इंग्लैण्ड की शासन-प्रणाली (1–203)
(The Government of England)

संयुक्त राज्य अमेरिका का शासन (204–327)
(The Government of the United States of America)

अध्याय | पृष्ठ

पाकिस्तान की शासन-प्रणाली (497–584)
(The Government of Pakistan)

जापान की शासन-प्रणाली (585–714)
(The Government of Japan)

इंग्लैण्ड की शासन-प्रणाली
(The Government of England)

अध्याय १
संविधान की प्रकृति और विषय-वस्तु
(Nature and Content of the Constitution)

ब्रिटेन के संविधान की प्रकृति (Nature of the British Constitution)—इंग्लैण्ड को छोड़कर संसार के अन्य प्रत्येक देश मे संविधान का अभिप्राय वैधानिक नियमों के एक ऐसे समूह से होता है जो उस देश के शासन को चलाया करते हैं और एक या अनेक प्रलेखों (documents) मे लिपिबद्ध रहते हैं। इस प्रकार के प्रलेख (या प्रलेखों) को या तो कोई संविधान सभा (Constituent Assembly) बना सकती है, अथवा वह किसी विधानमंडल की कृति हो सकता है। यह भी सम्भव है कि उसे कोई राजा अपनी प्रजा के लिए स्वीकार करे और यह वचन दे कि वह तथा उसके उत्तराधिकारी उद्घोषणा (proclamation) के उपबन्धों के अनुसार शासन करेंगे। इस प्रकार, 'संविधान' का अर्थ एक ऐसा लिखित, निश्चित और क्रमबद्ध प्रलेख है जिसमें शासन-संचालन के सामान्य नियमो का उल्लेख होता है। संविधान का एक विशिष्ट स्वरूप होता है और उसे अत्यन्त पवित्र समझा जाता है। 'संविधान' में संशोधन तथा परिवर्तन करने की प्रक्रिया सविधि (statute) या सामान्य विधि मे संशोधन तथा परिवर्तन करने की प्रक्रिया से भिन्न हुआ करती है। यह आवश्यक है कि विधान-मंडलों द्वारा निर्मित विधि (statutory law) संविधान की अंतरात्मा के अनुकूल हो अन्यथा उसे अवैधानिक (*ultra vires*) माना जाता है।

लेकिन, अंग्रेजी संविधान का न तो किसी योजनानुसार निर्माण ही हुआ है और न वह कभी लेखबद्ध ही किया गया है।[1] वह परिभाषा के बिना है। अंग्रेजो ने अपनी

---

1. १६५३ की शासन-लिखत (Instrument of Government) को छोड़ कर। लेकिन यह शासन-लिखत जिसने क्रॉमवेल (Cromwell) को लार्ड प्रोटेक्टर (Lord Protector) बना दिया था और एक नए विधान-मंडल की स्थापना की थी, केवल कुछ ही वर्षों तक इंग्लैण्ड का संविधान रही थी। १६६० में राजतन्त्र की पुनर्प्रतिष्ठा (Restoration) ने इसे समाप्त कर दिया और इंग्लैण्ड में पुनः पुरानी शासन-प्रणाली चालू हो गई।

राजनीतिक व्यवस्था का किसी औपचारिक प्रलेख के रूप में कभी निरूपण नहीं किया है। फलत. ऐसा कोई एक स्थल नहीं है जहाँ कि सम्पूर्ण 'संविधान' स्पष्ट और निश्चित रूप से लिखा हुआ हो। ऐसी बहुत-सी पुस्तकें पाई जा सकती हैं जो ब्रिटिश संविधान का वर्णन करती है, लेकिन उनमें एक भी ऐसी पुस्तक नहीं होगी जिसमें कि ब्रिटिश संविधान मिल सके। यह ठीक है कि संसद् (Parliament) के कुछ ऐसे अधिनियम (enactments) अवश्य हैं जो ब्रिटिश संविधान का निर्माण करते हैं, लेकिन ये अधिनियम एक ही तिथि के नहीं हैं। जब और जिस रूप में उनकी आवश्यकता हुई, उनका निर्माण कर लिया गया। ब्रिटिश सविधान का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश वह है, जो लिखित विधि से बाहर रखा गया है, और लोकाचार (custom) के ऊपर टिका हुआ है। इंग्लैण्ड मे ऐसी भी कोई विधि नही है जिसके सम्बन्ध में हम कह सकें कि चूँकि वह सविधान का एक भाग है अत: वह एक ऐसी प्रक्रिया द्वारा बदली जा सकती है जो साधारण विधि को बदलने की प्रक्रिया से भिन्न होती है। इंग्लैण्ड में संवैधानिक विधि (Constitutional law) और साधारण विधि (ordinary law) की स्थिति एक-सी है। दोनों का उद्गम एक है और उनके पारण तथा संशोधन की प्रक्रिया भी समान है।

इसलिए, यह स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड का कोई न्यायालय या अन्य कोई सत्ता वैधानिक रूप से ऐसा नहीं कर सकती कि वह संसद् के किसी अधिनियम को प्रवर्तित करना अस्वीकार कर दे और इस प्रकार उसे तिरस्कृत कर दे।

अतः, अंग्रेजी संविधान अधिकतर अलिखित संविधान है। वह ऐतिहासिक विकास का फल है। ब्रिटिश राष्ट्र की वृद्धि के साथ उसका विकास हुआ है, उसकी इच्छाओं के अनुकूल वह बदला है और उसने स्वयं को विभिन्न युगों की आवश्यकताओं के अनुसार ढाल लिया है। जेनिंग्ज (Jennings) ने यह ठीक ही कहा है "यदि संविधान का अर्थ संस्थाएँ है और वह कागज नहीं है जो उनका वर्णन करता है, तो ब्रिटिश संविधान का निर्माण नहीं हुआ है, प्रत्युत् विकास हुआ है—और कोई कागज नहीं है।"[1] ज्यों-ज्यों आवश्यकता उत्पन्न हुई, समय-समय पर आधुनिक राज्यों के कार्यों का संचालन करने के लिए आवश्यक संस्थाओं की स्थापना की गई। इन संस्थाओं का निर्माण "तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था लेकिन, बाद में, उन्हें अधिक व्यापक और कभी-कभी दूसरे कार्यों को करने के लिए संशोधित कर लिया गया। समय-समय पर राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों ने सुधारों को आवश्यक कर दिया है। (इंग्लैण्ड में) आविष्कार, सुधार और शक्तियों के संशोधित वितरण का अटूट क्रम रहा है। भवन में निरंतर वृद्धि हुई है, संशोधन-सुधार हुआ है और यत्र-तत्र पुनर्निर्माण भी हुआ है जिससे वह प्रत्येक शताब्दी में नया हो गया है लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ है कि उसे भूमिसात् कर दिया गया हो और दुबारा नई बुनियादों पर निर्मित किया गया हो।"[2] दूसरे शब्दों में, ब्रिटिश संविधान "विवेक और

---

1. Jennings, W. I.: The Law and the Constitution (1948), p. 8.
2. *Ibid.*

संयोग का जात" (the child of wisdom and chance) है।[1]

संक्षेप में, ब्रिटिश संविधान ऐसे नियमों का एक समूह है जो राजनीतिक संस्थाओं के संगठन एवं कार्यों का तथा उनके संचालन के सिद्धांतों का वर्णन करते हैं। उसका स्वरूप ठीक वैसा ही है जैसा कि अन्य किसी देश के संविधान का। अंतर केवल यही है कि अंग्रेजी संविधान को कभी क्रमबद्ध, संहिताबद्ध और सुव्यवस्थित रूप में नहीं रखा गया है। शायद, भविष्य में भी ऐसी कोई चेष्टा नहीं की जायेगी कि इन समस्त नियमों और सिद्धांतों को मिला कर एक सुग्रथित और सुसंगत संविधान का रूप दे दिया जाये। वस्तुतः यह एक असंभव कार्य है क्योंकि न केवल लोकाचारों (usages) और परम्पराओं (traditions) का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, प्रत्युत् उनमें से बहुत से इतने अनिश्चित हैं कि उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता। अपरंच, एक राजनीतिक प्राणी के नाते, अंग्रेज ने ऐसी शासन-प्रणाली को कभी पसंद नहीं किया है जो कुछ निश्चित सिद्धांतों और कट्टर नियमों पर आधारित हो। वह व्यावहारिक, यथार्थवादी और व्यापार-पटु होता है। देशकाल के अनुसार कार्य करना उसके जीवन का निदेशक सिद्धांत है और वह अवसरों को पहचानने की अपूर्व क्षमता रखता है।

ब्रिटिश संविधान के सम्बन्ध में पेन तथा डी टोकियावेली के विचार (Views of Paine and De Tocquivelle on the English Constitution)—बहुत से लेखकों का विचार है कि ब्रिटिश संविधान का अस्तित्व ही नहीं है। इन लेखकों में थॉमस पेन तथा एलेक्सिस डी टोकियावेली प्रमुख है। थॉमस पेन लिखित संविधानों का महान् समर्थक था। उसने स्पष्ट रूप से कहा है कि जहाँ संविधान को "आँखों के सामने उपस्थित नहीं किया जा सकता, वहाँ कोई संविधान नहीं होता!" बर्क ने अपनी पुस्तक 'Reflections on the French Revolution' में अंग्रेजी संविधान का बड़ी योग्यता से समर्थन किया है। बर्क को दिए अपने एक ओजपूर्ण उत्तर में पेन ने कहा था, "क्या श्री बर्क अंग्रेजी संविधान उपस्थित कर सकते है ? यदि वे नहीं कर सकते, तो फिर हम यह ठीक निष्कर्ष निकाल सकते है कि यद्यपि उसकी चर्चा तो बहुत हुई है, लेकिन संविधान जैसी किसी वस्तु का न तो अस्तित्व है और न कभी था।" इसके एक पीढ़ी पश्चात् फ्रांस के सुप्रसिद्ध शासन-शास्त्री डी टोकियावेली (De Tocquivelle) ने कहा था, "इंग्लैण्ड मे संविधान निरन्तर बदलता रहता है या यह कहना ज्यादा सही है कि उसका अस्तित्व ही नहीं है।" इन आरोपों के कारण चाहे कुछ भी रहे हों, पेन और डी टोकियावेली के निष्कर्ष गलत थे। कोई भी राज्य संविधान-विहीन नहीं हो सकता। यह सही है कि ऐसा कोई प्रलेख नहीं है जिसे कि अंग्रेजी संविधान का कोई छात्र निर्देश के लिए देख सके जैसा कि वह (प्रलेख)

---

1. ब्रिटिश संविधान के लिए इस विशेषण का प्रयोग श्री स्ट्रेची (Mr. Strachey) ने अपनी पुस्तक 'क्वीन विक्टोरिया' में किया है। ओग (Ogg) ने अपनी कृति 'English Government and Politics' में इसे उद्धृत किया है। देखिए पृ० ६८।

अमेरिका में देखा जा सकता है। लेकिन, संसार में ऐसा एक भी संविधान नहीं है जो कि पूर्णतः लिखित हो या पूर्णतः अलिखित हो। प्रत्येक संविधान में ही लिखित और अलिखित तत्त्व उपस्थित होते हैं। सभी लिखित संविधान समय के साथ-साथ लोकाचारों के परिणामस्वरूप अथवा अदालती व्याख्याओं के कारण परिवर्द्धित होते रहते हैं।

किसी भी शासन-प्रणाली में रीति-रिवाजों और परम्पराओं का कुछ-न-कुछ तत्त्व अवश्य रहता है। लिखित संविधान में, शासन की सभी संस्थाओं से सम्बन्ध रखने वाले सभी नियमों का समावेश नहीं रहता। लिखित संविधानों के निर्माता यह भी नहीं कर सकते कि वे भविष्य का पहले से अन्दाज कर लें और संविधान को इस प्रकार बनाएँ कि भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के उपयुक्त शासन का अन्तिम स्वरूप निश्चित हो जाए। मनुष्य गतिशील है और उसी प्रकार उसकी राजनीतिक संस्थाएँ भी गतिशील हैं। इसलिए संविधान किसी भी अर्थ में स्ट्रेट जैकिट (strait jacket) के रूप में नहीं बनाया जा सकता, अथवा उसे प्रारम्भ से ही पूर्ण नहीं बनाया जा सकता। संविधान में वृद्धि और विकास के लिए गुंजाइश रहनी चाहिए, यदि संविधान को इसलिए और इस उद्देश्य से बनाया गया है कि वह भविष्य में सर्वसाधारण के हितों और आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। संविधान के निर्माता प्रारम्भ में संविधान को एक ढांचा या कंकाल-मात्र का स्वरूप प्रदान करते हैं अथवा शासन-यन्त्र का प्रस्थान बिन्दु (starting point) निर्मित करते हैं, और उसके बाद आने वाली नस्लें उस कंकाल या ढांचे को नियमों, प्रथाओं, संकट काल की आवश्यकताओं (exigencies), राष्ट्रीय आपात काल की मुसीबतों, आर्थिक विकासों एवं ऐसे अन्य क्रिया-कलापों, जिनका सम्बन्ध राष्ट्र की समृद्धि से हो, के अनुरूप मांस-मज्जा से पूर्ण कर लेते हैं।

इस प्रकार, लिखित और अलिखित संविधानों में केवल मात्रा (degree) का अन्तर हो सकता है, प्रकार (kind) का नहीं। जहाँ कहीं शासनिक संस्थाओं की रचना और उनके संचालन को निर्धारित करने वाले नियम होते हैं, वहीं संविधान का अस्तित्व होता है। इंग्लैण्ड में ऐसी संस्थाएँ और ऐसे नियम वर्तमान हैं और जैसा कि ऑग और जिंक (Ogg and Zink) लिखते हैं, "वास्तव में पेन (Paine) तथा टोकियावेली (Tocquivelle) के कालों से काफी पहले, इंग्लैण्ड में इस प्रकार के नियम थे, अंग्रेजों को उन नियमों के अस्तित्व का पूर्ण ज्ञान था और वे उनके इतिहास पर गर्व करते थे।"

संविधान के अवयवी भाग
(Component Parts of the Constitution)

ब्रिटिश संविधान के स्रोत अनेकमुखी हैं और हम उन्हें छः मुख्य श्रेणियों में बाँट सकते हैं। पहली श्रेणी में कुछ बड़े-बड़े अधिकार-पत्र (charters), आवेदन-पत्र (petitions), संविधियाँ (statutes) और मैग्ना कार्टा (Magna Carta,

1215), पेटीशन ऑफ राइट्स (Petition of Rights, 1628), १९३६ के एब्डिकेशन ऐक्ट (Abdication Act of 1936) द्वारा संशोधित ऐक्ट ऑफ सेटिलमेंट (Act of Settlement, 1701), ऐक्ट ऑफ यूनियन विद स्कॉटलैण्ट (Act of Union with Scotland, 1707), ग्रेट रिफार्म ऐक्ट (Great Reform Act, 1832), पार्लियामेंट ऐक्ट (Parliament Act, 1911) तथा १९४९ में संशोधित उसका नया रूप, १९२० का गवर्नमेंट ऑफ आयरलैण्ड ऐक्ट (Government of Ireland Act, 1920), १९३६ का पब्लिक आर्डर ऐक्ट (Public Order Act of 1936), १९३७ का मिनिस्टर्स ऑफ दि क्राउन ऐक्ट (Ministers of the Crown Act of 1937), रिप्रेजेंटेशन ऑफ दि पीपुल ऐक्ट, १९४९ (Representation of the People Act, 1949), लाइफ पीयरेज ऐक्ट, १९५८ (Life Peerage Act, 1958), पीयरेज ऐक्ट, १९६३ (Peerage Act, 1963), स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर, १९३१ (Statute of Westminster, 1931) तथा भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, १९४७ (Indian Independence Act, 1947) आदि दूसरे महान् सीमा-चिह्न आते है। इनमें से अधिकांश अधिनियम संसद् द्वारा पास किए गए हैं, लेकिन मैग्ना कार्टा (Magna Carta) जैसा प्रलेख अंग्रेजी सविधान का एक अंग समझा जाता है क्योंकि वह राष्ट्रीय इतिहास का एक महान् सीमा-चिह्न है। संसद् के और दूसरे अधिनियमों को "तथ्यों के साथ विशेष तोड़-मरोड़ किए बिना ही मैग्ना कार्टा का सीधा वंशज समझा जा सकता है।" ज्येष्ठ विलियम पिट (Elder William Pitt) का कहना था कि मैग्ना कार्टा, पेटीशन ऑफ राइट्स तथा बिल ऑफ राइट्स (Bill of Rights) अंग्रेजी सविधान की बाइबिल है। इन अधिकार-पत्रों (charters) तथा संविधियों (statutes) के बारे में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे राजनीतिक तनाव एवं संकट की उपज थे और उनमे उस सकट के निवटारे की शर्तें रखी गई है। अपने विवेच्य विषय के कारण वे सविधान के भाग हैं। चूँकि वे संवैधानिक संघर्ष के प्रसंग में उत्पन्न हुए हैं, अतः उनके ऊपर सवैधानिक विधि (Constitutional law) की छाप है।

दूसरे, ऐसी भी बहुत-सी साधारण संविधियाँ है जिन्हे ससद् ने समय-समय पर मताधिकार, निर्वाचन-पद्धतियों और सार्वजनिक अधिकारियों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों आदि के सम्बन्ध मे पास किया है। पहली श्रेणी मे गिनाए गए सवैधानिक सीमा-चिह्नों से भिन्न, ये सविधियाँ किसी संवैधानिक संघर्ष की फल नहीं है। जब और जिस समय उनकी आवश्यकता हुई थी, उन्हें साधारण प्रक्रिया द्वारा पास कर दिया गया था। उदाहरणार्थ, १८६७ और १९४८ के बीच मे मतदान के अधिकार को विस्तृत करने वाली जितनी विधियाँ पास हुई थी, उनमे से किसी ने भी १८३२ के सुधार अधिनियम (Reform Act of 1832) की भाँति लोकप्रिय उत्तेजना पैदा नहीं की थी। फिर भी, ये समस्त संविधियाँ राजनीतिक लोकतन्त्र के विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और अब उनको रद्द करने की चेष्टा राष्ट्र की संवैधानिक भावना के प्रतिकूल समझी जाएगी। वस्तुतः, यदि इंग्लैण्ड में इनमें से एक भी संविधि

को रद्द करने की कभी कोई चेष्टा की गई, तो इंग्लैण्ड में शासन का यथावत् संचालन दूभर हो जाएगा।

संवैधानिक नियमों का तीसरा स्रोत न्यायालयों में सुने जाने वाले अभियोगों के सम्बन्ध में न्यायाधीशों के निर्णय है। अभियोगों का निर्णय करते समय न्यायाधीश बड़े-बड़े अधिकारपत्रों एवं संविधियों के उपबन्धों की टीका व व्याख्या करते है और उनके क्षेत्र को विस्तृत करते हैं। इस प्रकार के न्यायिक निर्णय अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के समान है। अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों ने वहाँ के संविधान के उपबन्धों को स्पष्ट और विकसित करने में बड़ी सहायता दी है।

चौथा स्थान सामान्य विधि (Common Law) के सिद्धान्तों का है। संवैधानिक महत्त्व के बहुत से मुख्य मामले उनके अन्तर्गत आते हैं। उदाहरण के लिए, राजा ने अपना परमाधिकार (prerogative)[1] तथा संसद् ने अपनी सर्वोच्चता सामान्य विधि से प्राप्त की है। इंग्लैण्ड मे जनता की नागरिक स्वतंत्रताएँ, जो अमेरिका में बिल ऑफ राइट्स (Bill of Rights) में लिपिबद्ध हैं, सामान्य विधि के नियमों द्वारा सरक्षित हैं।

सामान्य विधि के सिद्धांतों को न तो संसद् द्वारा पास की गई और न राजा द्वारा विनिर्दिष्ट किसी विधि ने सस्थापित किया है। उनका विकास अकेले रीति-रिवाजों (usages) के आधार पर हुआ है। न्यायाधीशों ने "देश के लोकाचारों" (customs) को पहिचाना, उन्हें अलग-अलग अभियोगों में प्रयुक्त किया और परवर्ती अभियोगों में निर्णयों के लिए पूर्व दृष्टांतों या पूर्वोदाहरणों (precedents) की स्थापना कर दी। ज्यों-ज्यों "पूर्वोदाहरणों द्वारा इन निर्णयों का क्षेत्र विस्तृत होता गया, साधारण व्यवहार के कुछ ऐसे सिद्धान्त पैदा हो गए जो अंग्रेजों की स्वतन्त्रता की रक्षा करने में एक मजबूत दीवार का-सा कार्य करते हैं और ब्रिटिश संविधान के आवश्यक भाग हैं।"[2] इस प्रकार संविधिक विधि (Statutory law) की भाँति सामान्य विधि का भी निरन्तर विकास हो रहा है।[3]

---

1. जिस समय राजा सामन्ती अधिपति था, परमाधिकार शब्द उसके नवन्न अधिकारों को सूचित करता था। आजकल इस शब्द का प्रयोग राजमुकुट की स्वविवेकी सत्ता को प्रकट करने के लिए होता है। दूसरे शब्दों में आजकल यह शब्द यह बताता है कि राजा अथवा उसके कर्मचारी संसद् के अधिनियम के प्राधिकार के बिना क्या कर सकते हैं।

2. Carter, M. G. and Others : The Government of *Great* Britain (1953), p. 41.

3. सामान्य विधि देश की विधि का वह भाग है जो परम्परागत और न्यायाधीश निर्मित होता है। "सामान्य विशेषण की व्याख्या यह है कि मध्य युग में राजा के उच्च न्यायालय जिस विधि का प्रवर्तन करते थे, वह 'देश का सामान्य लोकाचार' (Common Custom of the Realm) कहलाती थी तथा उन विशिष्ट लोकाचारों से भिन्न होती था जो स्थानीय क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आते थे।" Harrison, W. : The Government of Britain (1952), Appendix B, p. 161-162.

संवैधानिक नियमों का एक अन्य स्रोत रीति-रिवाजों (usages) और अभिसमयों (conventions) मे पाया जाता है। इंग्लैण्ड में संविधान के अभिसमय संवैधानिक विधि (constitutional law) की अन्तरात्मा हैं। वहाँ आधारभूत अभिसमय मंत्रिमंडलीय शासन (cabinet government) का अभिसमय है। अन्य सभी अभिसमय इसी से निकलते हैं। यद्यपि संविधान के अभिसमयों की वैधता पर न्यायालयों में विचार नही हो सकता, फिर भी वे इंग्लैण्ड की राजनीतिक व्यवस्था के सबसे महत्त्वपूर्ण अंग हैं और उनका बड़ी सावधानी से पालन होता है।

ब्रिटिश संविधान के स्रोतों के रूप में अन्तिम स्थान उन प्रख्यात लेखकों की टीकाओं (commentaries) का है जिनकी रचनाओं को इंग्लैण्ड की संवैधानिक विधि के सम्बन्ध में प्रामाणिक माना जाने लगा है। इन टीकाकारों ने अभिसमयात्मक नियमों (conventional rules) को सुव्यवस्थित रूप दिया है। उनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध निश्चित कर दिया है और मूल सिद्धान्तों की ओर संकेत करते हुए उन्हें कुछ हद तक एकता की कड़ी मे बाँध दिया है। कुछ स्थितियों में इन लेखकों ने विशिष्ट श्रेणियों के नियमों के संचालन के सम्बन्ध में बड़े विस्तृत और सुसंगठित विवरण प्रस्तुत किए हैं। इस विषय में तीन प्रमुख उदाहरण है—एसन का लॉ एण्ड कस्टम ऑफ दि कांस्टीट्यूशन (Anson's Law and Custom of the Constitution), मे का पार्लियामेंट्री प्रेक्टिस (May's Parliamentary Practice), और डायसी का लॉ ऑफ दि कांस्टीट्यूशन (Dicey's Law of the Constitution)।

संविधान के अभिसमय
(Conventions of the Constitution)

डायसी (Diecy) ने संविधान के असंख्य लोकाचारों (customs), परम्पराओं (traditions) और पूर्वदृष्टान्तों (precedents) को संविधान के अभिसमयों (Conventions of the Constitution) का नाम दिया था। ये अभिसमय ब्रिटिश संविधान के अभिन्न अंग हैं। ये अभिसमय अंग्रेजों के स्वभाव में इतने गहरे प्रविष्ट हो गए हैं और शासन का संगठन उनकी बुनियादों पर इतनी दृढ़ता से टिका हुआ है कि उनके बिना संविधान यदि पूरी तरह अव्यावहारिक नही तो हीनांग अवश्य हो जाता है। और फिर भी, वे संविधान की विधि नही हैं।

विधि और अभिसमय (Laws and Conventions)—डायसी ने संविधान सम्बन्धी विधियों और अभिसमयों में भेद किया है।[1] जेनिंग्ज ने यह ठीक ही कहा है, "अभिसमय किसी भी संविधान के सबसे अधिक बुनियादी नियमों के समान होते हैं क्योंकि वे मुख्यतया जनसाधारण की स्वीकृति पर टिके होते हैं। अलिखित संविधान इसलिए विधि नही होता क्योंकि किसी ने उसका निर्माण किया है, प्रत्युत् इसलिए होता है क्योंकि वह स्वीकार कर लिया गया है।" क्या विधि है और क्या अभिसमय

1. Law of the Constitution, p. 23.

है, "ये मुख्यतः पारिभाषिक प्रश्न हैं। इनके उत्तर केवल उन्हीं को ज्ञात है जिनका कार्य उन्हें ज्ञात करना है। जनसाधारण के लिए इस बात का कि कोई नियम न्यायिक अधिकारियों द्वारा अभिज्ञात है या नहीं, विशेष महत्त्व नहीं है।"[1]

प्रविधिज्ञों के अनुसार, विधियों और अभिसमयों में पाया जाने वाला अन्तर तीन तरह से है। पहली बात यह है कि विधियाँ किसी वैधानिक सत्ता से उत्पन्न होती हैं और उनमें अधिक पवित्रता होती है। अभिसमय विधि-बाह्य होते हैं और प्रथा द्वारा उत्पन्न होते है। दूसरे, कानून सामान्य रूप से सटीक और सुनिश्चित शब्दावली मे व्यक्त होता है तथा सभी लोग उसका अनन्य भाव से पालन करते हैं। अभिसमयों का निर्माण कदापि नही होता। वे प्रथा और परम्परा पर आधारित होते हैं और उनमें परिवर्तन प्रचलित प्रथा के आधार पर ही होता है। कभी-कभी यह ज्ञात करना कठिन हो जाता है कि कोई प्रथा अभिसमय बन गई है या नहीं। तीसरे, न्यायालय कानूनों को लागू करते है। वे अभिसमयों को लागू नही कर सकते क्योंकि उन्हें लागू करने के लिए कानूनी मजूरी नही होती।

प्राविधिक दृष्टि से भी, व्यवस्थापन (legislation) और अभिसमयों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा नही खीची जा सकती। उदाहरण के लिए डोमीनियनो (dominions) और इंग्लैण्ड के सम्बन्धों का नियमन करने वाले कुछ अभिसमय, विशेषकर वे अभिसमय जो सिंहासन के उत्तराधिकार विषयक विधि-परिवर्तनों से, सम्राट् की उपाधियों[2] तथा ब्रिटिश संसद् की विधायी सत्ता से सम्बन्ध रखते है, १९३१ के स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर (Statute of Westminster of 1931) की प्रस्तावना में शामिल कर लिए गये हैं।[3] इनमें से पहले अभिसमय का महत्त्व एडवर्ड अष्टम (Edward VIII) के सिंहासन-त्याग के समय सिद्ध हो गया था। १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम (Indian Independence Act, 1947) के पश्चात् राजकीय उपाधियों में डोमीनियनों की पूर्ण स्वीकृति के साथ परिवर्तन किया गया था।

इसी प्रकार, इंग्लैण्ड की कुछ संस्थाएँ जो अभिसमयों के परिणामस्वरूप

1. Jennings, I. W. : Cabinet Government, p. 3.

2. "जहाँ तक राजमुकुट (Crown) ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्यों के स्वतन्त्र सहयोग का प्रतीक है और ये सदस्य राजमुकुट के प्रति सामान्य निष्ठा द्वारा संयुक्त हैं, राष्ट्रमंडल के समस्त सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को देखते हुए यह उनकी परम्परागत वैधानिक स्थिति के अनुरूप ही होगा कि सिंहासन के उत्तराधिकार तथा राजकीय उपाधियों से सम्बन्ध रखने वाली विधि में परिवर्तन करने के लिए इंग्लैण्ड की संसद के साथ समस्त डोमीनियनों की स्वीकृति भी आवश्यक हो।"

3. "यह परम्परागत वैधानिक स्थिति के अनुरूप ही है कि भविष्य में इंग्लैण्ड की संसद द्वारा निर्मित कोई भी विधि किसी डोमीनियनों में से किसी के ऊपर उस डोमीनियन की विधि के रूप में उस समय तक लागू नहीं होगी जब तक कि इसके लिए वह डोमीनियन स्वयं प्रार्थना न करे और इसके लिए उसकी स्वीकृति न हो।"

विकसित हुई है, विधि द्वारा अभिज्ञात हैं । १९३७ के पूर्व प्रधान मन्त्री का पद तथा मन्त्रिमण्डल की संस्था विधि द्वारा मान्य नहीं थी । १९३७ के मिनिस्टर्स ऑफ दि क्राउन ऐक्ट (The Ministers of the Crown Act, 1937) ने "उस व्यक्ति के लिए जो प्रधान मन्त्री तथा फर्स्ट लॉर्ड ऑफ दि ट्रेजरी (First Lord of the Treasury)" है, १०,०००० पौंड वार्षिक वेतन की व्यवस्था की है । इसी अधिनियम ने उन मंत्रियों के वेतनों की भी व्याख्या की है जो "मंत्रिमंडल के सदस्य" हैं । यह अधिनियम 'दल', 'विरोधी पक्ष' तथा 'विरोधी पक्ष के नेता' को भी अभिज्ञात करता है ।

अभिसमयों के भेद (Kinds of Conventions)—अभिसमयों के तीन भेद हैं । पहले प्रकार के अभिसमय वे हैं जो संसदीय प्रभुसत्ता की सहायता से संसद् तथा कार्यपालिका के बीच उचित ताल-मेल की स्थापना करते हैं । १६८८ की गौरवपूर्ण क्रांति (The Glorious Revolution of 1688) ने सदैव के लिए यह निश्चित कर दिया कि संसद् की शक्ति सर्वोच्च है और वह राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक पहलू को नियन्त्रित कर सकती है । राजा की शक्तियां सीमित हो गईं और संवैधानिक विकास के परिणामस्वरूप मंत्रिमंडल का उत्थान हुआ । इसलिए, मंत्रिमंडल के संगठन के आवश्यक नियमों की व्यवस्था केवल अभिसमय ही करते हैं । अभिसमयों के अनुसार यह आवश्यक है कि राजा के मंत्री संसद् के सदस्य हों, उनका कामन्स सभा (House of Commons) में बहुमत वाले दल से सम्बन्ध होना चाहिए, और उन्हें एक सामान्य नेता की अधीनता में कार्य करना चाहिए जो प्रधान मंत्री कहलाता है । अभिसमयों

दूसरे प्रकार के अभिसमय ऐसे हैं जो विधायी प्रक्रिया और संसद् के दोनों सदनों के परस्पर सम्बन्धों से सम्बन्ध रखते हैं। संसद् का अधिवेशन प्रतिवर्ष होता है और वह दो सदनों मे मिलकर बनी है, यह बात लोकाचार के ऊपर आधारित है। वित्तीय मामलों मे मन्त्रिमण्डल की सत्ता के अधीन रहते हुए कॉमन सभा ही पहल करती है और लार्ड सभा की स्थिति उससे नीची रहती है, यह सिद्धान्त १९११ के संसदीय अधिनियम (Parliament Act of 1911) के पूर्व केवल अभिसमय के ऊपर ही आश्रित था। १९११ के अधिनियम ने और १९४९ में होने वाले उसके संशोधन ने लॉर्ड सभा की उन विधायी शक्तियों के ऊपर जो अब तक केवल अभिसमय द्वारा ही नियमित होती थी, कुछ निश्चित प्रतिबन्ध लगा दिए। यह सिद्धान्त भी, कि जब लार्ड सभा अपीलीय न्यायालय के रूप में कार्य करती है, उस समय लॉर्ड सभा में लॉ लॉर्ड (Law Lord) को छोड़ कर अन्य कोई पीयर नहीं बैठता है, रूढ़िगत ही है। पुनश्च, ऐसे भी बहुत से अभिसमय हैं जो संसदीय प्रक्रिया को नियमित करते हैं। यह एक अभिसमय ही है कि प्रत्येक विधेयक का तीन बार वाचन (reading) होना चाहिए, तब कही जाकर उस पर अन्तिम मतदान होता है। यह भी एक अभिसमय ही है कि सरकारी पक्ष की ओर से एक भाषण के बाद, विरोधी पक्ष की ओर से एक भाषण हो। वस्तुतः सम्राट् या सम्राज्ञी के विरोधी पक्ष (His or Her Majesty's Opposition) की सारी भावना अभिसमय का परिणाम है। अभिसमय यह भी माँग करते है कि कॉमन सभा (House of Commons) के स्पीकर (Speaker) को निर्दल व्यक्ति हो जाना चाहिए और उसे स्पीकर-पद के लिए निर्वाचन में खड़े होने के पूर्व अपने दल की सदस्यता त्याग देनी चाहिए। एक अन्य अभिसमय यह है कि पद-मुक्त होने वाले स्पीकर का निर्विरोध निर्वाचन होना चाहिए और जितनी बार वह चाहे, उसे निर्वाचित किया जाना चाहिए।

अन्ततः, कुछ अभिसमय ऐसे हैं जिनका उद्देश्य एक ओर तो सरकार एवं विधायी कृत्य तथा दूसरी ओर निर्वाचकों (electorate) के निर्णय के बीच सामंजस्य स्थापित करना है। एक अभिसमय इस प्रकार का है कि सरकार को किसी विवादास्पद विषय पर उस समय तक कोई विधान प्रस्तुत नहीं करना चाहिए जब तक कि उसे ऐसा करने के लिए निर्वाचकों से अधिदेश (mandate) न मिल गया हो। यह प्रथा जो आजकल 'अधिदेश अभिसमय' (mandate convention) कहलाती है, लोक-प्रभुत्व (popular sovereignty) के सिद्धान्त की सत्यता प्रमाणित करती है। इसके अनुसार यह आवश्यक हो जाता है कि यदि सरकार की नीति के किसी अंश में मूल परिवर्तन होता है, तो इस अंश को उस कार्यक्रम का एक भाग होना चाहिए जिस पर सरकार ने पहला चुनाव लड़ा था और "यदि ऐसा नहीं है, तो विरोधी दल को अपनी सक्रियता अथवा निष्क्रियता द्वारा यह प्रकट कर देना चाहिए कि यह परिवर्तन कोई तीव्र विवाद का विषय नहीं है।" १९४५ में श्रमिक दल की विजय के तुरन्त बाद लॉर्ड सभा (House of Lords) में अनुदार दल के बहुमत ने राष्ट्रीयकरण करने वाले विधेयकों तक को इस आधार पर स्वीकार कर लिया था कि श्रमिक दल को इन

यह है कि परोक्ष रीति से देश की विधियाँ भंग होती है ।

लेकिन, इससे ही सम्पूर्ण शंका का समाधान नही हो जाता। लॉवेल (Lowell) ने यह ठीक ही कहा है कि इगलैण्ड प्रति वर्ष संसद् के सत्र बिठाने के लिए अनन्त काल तक विवश नही है । चूँकि संसद् प्रभुसंस्था (sovereign body) है, अत वह एक स्थायी सेना और वायुबल अधिनियम (Army and Air Force Act) पास कर सकती है और वर्तमान वार्षिक करों को कई वर्षो के लिए स्वीकार कर सकती है। इसके अतिरिक्त कुछ अभिसमय ऐसे है जिनके उल्लंघन से विधि का भंग होना आवश्यक नहीं है । उदाहरण के लिए, यदि स्पीकर (Speaker) पद पर निर्वाचित होने के पश्चात् अपने दल की सदस्यता को न त्यागे, अथवा सरकार विरोधी पक्ष (His Majesty's Opposition) अभिज्ञात न करे, अथवा कॉमन सभा में कार्य-संचालन से सम्बन्ध रखने वाले अभिसमयों का पालन न किया जाये, तो इससे विधि भग नही होती । इसी प्रकार, यदि प्रधान मत्री लॉर्ड सभा से लिया जाता है, तब भी विधि भंग नहीं होती । इसी भाँति, देश की परिवर्तित राजनीतिक परिस्थिति की माँग होने पर पूर्वोदाहरणो या पूर्वदृष्टान्तों (precedents) को भी तोड़ा जा सकता है । डिजरैली (Disraeli) ने १८६८ में साधारण निर्वाचन में पराजित होने पर संसद् के सम्मुख उपस्थित हुए बिना ही त्यागपत्र देकर परम्परागत रूढ़ि (usage) की उपेक्षा की थी । १९२९ मे बाल्डविन (Baldwin) ने पुनः पुराने अभिसमय का अनुसरण किया था और संसद् के सामने उपस्थित होना तथा उसका निर्णय प्राप्त करना अपने लिए पूर्णतः संवैधानिक माना था । जैनिग्ज (Jennings) का कहना है, "अभिसमयो का अस्तित्व केवल अपने लिए ही नही है; उनका अस्तित्व इसलिए है क्योंकि इनके कुछ श्रेष्ठ कारण है ।"[1] इसलिए डायसी (Dicey) के निष्कर्ष सर्व-मान्य नही हैं ।

लॉवेल (Lowell) का कहना है कि अभिसमयों के समर्थन का कारण केवल यह अनुभूति नही है कि उनके उल्लघन से किसी विधि का उल्लंघन होता है । उसके विचार से उनके समर्थन का कारण कुछ और है । संविधान की विधियों के असदृश अभिसमय व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में सार्वजनिक व्यक्तियों के मार्ग-निर्देशक के लिए एक नैतिक संहिता का निर्माण करते है । लॉवेल (Lowell) का विचार है कि, "अभिसमयों का पालन इसलिए होता है क्योंकि वे सदाचार-संहिता (Code of Honour) हैं । ये एक प्रकार से खेल के नियम है और समाज मे जिस अकेले वर्ग ने इंग्लैण्ड के सार्वजनिक जीवन के संचालन को अब तक पूर्णतः अपने हाथ मे रखा है, वह स्वयं इस प्रकार के दायित्व के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील है । इसके अतिरिक्त, यही तथ्य कि एक वर्ग ही सम्पूर्ण राष्ट्र की सहमति द्वारा जनता के निक्षेपाधिकारी (trustee) के रूप में शासन करता है, उस वर्ग को इस बात के लिए बहुत अधिक सावधान कर देता है कि वह उन सद्भावों का उल्लघन न करे जिनके ऊपर

1. Cabinet Government, op. citd., p. 17.

अभिसमयों के उपयोग (Uses of Conventions)—इंग्लैण्ड में अभिसमयों ने एकात्मक शासन (Unitary government) के अन्तर्गत लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था का सचालन सुलभ कर दिया है। वे विधि की भाँति जड़ नहीं हैं। वे विधि की शुष्क अस्थियों पर मांस का काम करते हैं और फलत: उन्होंने शासन के कठोर वैधानिक ढांचे को बदलते हुए राजनीतिक विचारों तथा जनता की आवश्यकताओं के अनुसार सशोधित कर दिया है। "नई आवश्यकताएँ नई शक्ति और नई दिशा मांगती हैं चाहे विधि निरन्तर निश्चित ही बनी रहे। मनुष्यों को नई आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए प्राचीन विधि को कार्यान्वित करना पड़ता है," और अभिसमय अंग्रेजी संविधान की प्रेरक शक्ति है। इग्लैण्ड मे प्रचलित मंत्रिमंडलीय व्यवस्था ने संसद् को गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र बनाकर कार्यपालिका का लोकतन्त्रीकरण कर दिया है। संसदीय प्रथाएँ सरकारी पक्ष और विरोधी पक्ष दोनो को राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए मिलकर कार्य करने की क्षमता प्रदान करती है। इंग्लैण्ड में अभिसमयो ने लॉ लार्डों (Law Lords) को व्यवहार अपील का सर्वोच्च न्यायालय (Highest Court of Civil Appeal) बना कर देश की न्याय-व्यवस्था का कायाकल्प कर दिया है। पुनश्च, अभिसमयों के फलस्वरूप ही डोमीनियन तथा इंग्लैण्ड पर-राष्ट्र नीति के क्षेत्र में एक दूसरे के साथ सहयोग कर सकते है।

कोई भी लिखित संविधान चाहे वह कितना ही विशद क्यों न हो, समाज की समस्त आवश्यकताओ को पूरा नही कर सकता। वास्तविक और सजीव संविधान के लिए यह आवश्यक है कि वह समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं को पूरा करे। अभिसमय इस कार्य को बहुत अच्छी तरह कर सकते है। वे किसी समस्या के वास्तविक समाधान और व्यावहारिक समाधान के बीच संतुलन स्थापित करते हैं।

संविधान की प्रमुख विशेषताएँ
(Salient Features of the Constitution)

अंग्रेजी सविधान की प्रकृति से हम उसके निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते है।

१. वह अंशत. लिखित है (It is partially written)—अंग्रेजी संविधान काफी हद तक अलिखित है। यह ऐसी कोई पूर्वनिश्चित व्यवस्था नही है जिसके अनुसार शासन का संचालन होना चाहिए। उसका कभी जान-बूझकर निर्माण नही किया गया था। उसके स्रोत अनेकमुखी हैं और उसका विकास "कभी तो सयोग द्वारा और कभी सुनिश्चित योजना द्वारा निर्दिष्ट हुआ है।" इस प्रकार चूँकि वह विवेक तथा संयोगजन्य है, अतः उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है और उसने स्वयं को समय की आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न अधिकारपत्रों, संविधियो, पूर्वोदाहरणो, रूढ़ियों और परम्पराओं के रूप में व्यक्त किया है। इसलिए, ऐसा कोई एक प्रलेख नहीं है जिसके सम्बन्ध मे यह कहा जा सके कि इसमें राजनीतिक शासन के समस्त सामान्य सिद्धांत समाविष्ट हैं।

२. विकास और अविच्छिन्नता का नमूना (A specimen of development and continuity)—अंग्रेजी संविधान का निर्माण इतिहास के किसी विशेष काल में न होने के कारण वह एक प्राणी की भाँति निरन्तर बढ़ता रहा और प्रत्येक युग में विकसित होता रहा। फलत. वह सर जेम्स मैकाइंतोश (Sir James McIntosh) की इस कहावत को सार्थक करता है कि संविधान स्वयं उपजते है, वे निर्मित नहीं होते। इस प्रकार, ब्रिटिश संविधान हजार वर्षों से भी अधिक समय में होने वाले क्रमिक विकास और विस्तार का फल है। इग्लैण्ड के सम्पूर्ण इतिहास काल में उस देश में कभी क्रांतिकारी राजनीतिक परिवर्तन नहीं हुए हैं। वस्तुत, इग्लैण्ड की समस्त राजनीतिक क्रान्तियाँ, यदि उन्हें क्रान्तियाँ कहा जा सकता है, रूढ़िवादी रही हैं। इग्लैण्ड सदैव अविच्छिन्न वैधानिक विकास के पथ पर बढ़ता रहा है और उसने अपनी संस्थाओं को धीरे-धीरे और सावधानी से देश की बदलती हुई परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार फिर ठीक कर लिया है। ऑग (Ogg) का कहना है, "राजनीतिक परिवर्तन नियमतः इतने धीरे-धीरे हुए है, परम्पराओं के प्रति निष्ठा इतनी स्वाभाविक रही है, और अन्तरात्मा के बदल जाने पर भी अभ्यस्त नामों तथा रूपों को बनाए रखने की प्रेरणा इतनी बलवती रही है कि इंग्लैण्ड का संवैधानिक इतिहास इतनी अविच्छिन्नता प्रकट करता है कि उसकी अन्य किसी देश के साथ तुलना करना कठिन है।"[1]

३. सिद्धांत और व्यवहार में अन्तर (Difference between theory and practice)—इंग्लैण्ड में वैधानिक विकास की क्रमिकता ने और शक्ति की स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाने के बाद भी परम्परागत स्वरूपों को बनाए रखने की प्रवृत्ति ने सिद्धान्त और व्यवहार के बीच भारी अन्तर पैदा कर दिया है। "इंग्लैण्ड की शासन-प्रणाली अन्तिम सिद्धान्त में निरंकुश राजतन्त्र, देखने में मर्यादित वैधानिक राजतन्त्र और व्यवहार में लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है।" सिद्धान्त में या वैधानिक दृष्टि से इंग्लैण्ड का शासन सम्राट् में निहित है। राज्य के सैनिक और असैनिक अधिकारियों को वही नियुक्त एवं अपदस्थ करता है। मन्त्री उसके मन्त्री होते हैं और वे उसके प्रसादपर्यन्त पद धारण करते है। वह सम्पूर्ण विधि का स्रोत एवं न्याय का मूल हेतु है। वह संसद् को बुलाता है तथा उसका विघटन एव सत्रावसान करता है। उसके आदेश के बिना कोई भी संसदीय निर्वाचन नहीं हो सकता। संसद् द्वारा निर्मित विधियाँ सम्राट् की स्वीकृति के बिना लागू नहीं की जा सकतीं और यदि सम्राट् चाहें तो वे संसद् द्वारा पास किए गए किसी भी विधेयक को प्रतिषिद्ध कर सकते हैं।

सम्राट् शान्ति और युद्धकाल में इंग्लैण्ड की सारी सेनाओं के प्रधान सेनापति भी हैं। युद्ध की घोषणा उनके नाम से होती है और शान्ति एवं सन्धियाँ भी सम्राट् की ओर से ही की जाती है। सरकारी प्रलेख सम्राट् के स्टेशनरी कार्यालय द्वारा

---

1. English Government and Politics, op. citd.; p. 68.

प्रकाशित होते है। इंग्लैण्ड की समस्त जनता सम्राट् की राजभक्त प्रजा है और उसका राष्ट्रीय गीत "God Save the King" है। संक्षेप में सरकार का ऐसा कोई भी कार्य नही है जिसके ऊपर सम्राट् का नाम एवं व्यक्तित्व आरोपित न किया जा सके। इसलिए सम्राट् की शक्ति असीम, अबाध और निरंकुश है।

लेकिन, यह सब सिद्धान्त की बात है। व्यवहार में, सम्राट् सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नही करते। १६८८ की क्रान्ति ने यह अन्तिम रूप से निश्चित कर दिया था कि अन्ततोगत्वा सम्राट् को ससद् के सम्मुख झुकना चाहिए। इसके पश्चात् वे समस्त शक्तियाँ और अधिकार जो पहले एक व्यक्ति के रूप में सम्राट् के हाथों में थे, अब धीरे-धीरे एक संस्था के रूप मे राजमुकुट (Crown) के हाथो मे आ गए है। सम्राट् अब काफी समय से शासन मे निदेशक तत्त्व नहीं रहे हैं और वे केवल अपनी पहल पर कोई भी सरकारी कार्य नही करते। वास्तविक शक्ति सम्राट् के मन्त्रियों के हाथों मे है और सम्राट् सत्ता के प्रतीक-मात्र रह गए हैं। इस प्रकार, इग्लैण्ड में व्यवहार सिद्धान्त से आगे निकल गया है और वहाँ की शासन-प्रणाली ससार की सबसे अधिक लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणालियों मे से एक है।

४. संसद् की सर्वोच्चता (Sovereignty of Parliament)—ब्रिटिश संविधान ससद् की सर्वोच्चता स्थापित करता है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रिटिश ससद् वैधानिक दृष्टि से किसी भी प्रकार की विधि को बनाने या रद्द करने के लिए समर्थ है और देश का कोई भी न्यायालय उसकी वैधता पर सन्देह नहीं कर सकता। इस प्रकार ससद् का प्राधिकार सर्वग्रासी एव निरकुश है और उसके अन्दर साधारण विधियों का अधिनियमन तथा स्वयं शासन के अन्दर किए जाने वाले बड़े से बड़े परिवर्तन तक शामिल हैं। इंग्लैण्ड में न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review) की प्रथा नही है और कोई भी सत्ता यह नहीं कह सकती कि संसद् द्वारा निर्मित विधियाँ असंवैधानिक (*ultra vires*) है। अब निषेधाधिकार (Veto power) भी पुराना पड़ गया है और सम्राट् के लिए यह आवश्यक है कि वे संसद् द्वारा पास किए गए समस्त विधेयकों पर अपनी स्वीकृति दे दें। संसद् वास्तव मे सर्वोच्च है या नहीं, यह एक पृथक् प्रश्न है। लेकिन, जहाँ तक विशुद्ध विधि का प्रश्न है, वह सर्वोच्च है।

५. लचीला संविधान (Flexible Constitution)—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इंग्लैण्ड मे ऐसी कोई संहिताबद्ध और मूलभूत संवैधानिक विधि (Constitutional law) नहीं है जो सविधिक विधि (Statutory law) से ऊँचा स्थान रखती हो। सवैधानिक विधि का निर्माण एवं संशोधन करने की शक्ति संसद् मे विहित है और इसकी प्रक्रिया भी वही है जो कि किसी साधारण विधेयक के अधिनियम की होती है। इसके अतिरिक्त, स्विट्जरलैण्ड और आस्ट्रेलिया जैसे देशों में संवैधानिक सशोधनों पर जनमत संग्रह के रूप में जनमत का अनुसमर्थन (Ratification) प्राप्त करना आवश्यक होता है। इंग्लैण्ड में यह प्रथा बिल्कुल प्रचलित नही है। इंग्लैण्ड का संविधान नमनशील और उत्तरदायी (Responsive) है। उसके

अन्दर एक बड़ा गुण यह है कि वह समय की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्त्तित हो सकता है और लोकमत को सन्तुष्ट कर सकता है।

६. एकात्मक संविधान (A Unitary Constitution)—इंग्लैण्ड का संविधान एकात्मक (Unitary) है और वह भारत तथा अमेरिका के संविधानों की भाँति संघात्मक (Federal) नहीं है। यद्यपि इंग्लैण्ड में भी विकेन्द्रीकरण है लेकिन वहाँ सम्पूर्ण शक्ति लन्दन में अधिष्ठित केन्द्रीय सरकार के पास से प्रवाहित होती है। इंग्लैण्ड के स्थानीय क्षेत्र अपनी शक्तियाँ संसद् के अधिनियमों से प्राप्त करते हैं। केन्द्रीय सरकार इन शक्तियों को अपनी इच्छानुसार संकुचित या विस्तृत कर सकती है। इंग्लैण्ड बिना लिखित-संविधान के होते हुए भी शासन-व्यवस्था का कार्य चला रहा है, इसका एक कारण शासन की एकात्मक (Unitary) स्वरूप की विद्यमानता है। संघात्मक राज्य-शासन-व्यवस्था के लिए तो संविधान का लिखित और कड़ा होना पूर्वाकांक्षित है।

७. संसदीय शासन-प्रणाली (Parliamentary form of Government)—अंग्रेजी संविधान देश में अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली (Presidential type of government) से भिन्न संसदीय शासन-प्रणाली (Parliamentary form of government) की स्थापना करता है। सम्राट् को, जो वैधानिक प्रभु हैं, उनकी समस्त शक्तियों तथा सत्ता से वंचित कर दिया गया है। शासन की वास्तविक शक्ति उन मन्त्रियों के हाथों में है जो संसद् में बहुमत वाले दल के सदस्य होते हैं। मंत्री उसी समय तक पदारूढ रहते हैं जब तक कि संसद् का उनमें विश्वास रहता है। चूँकि मंत्री अधिशासी प्रधान (Executive heads) भी होते हैं और ससद् के सदस्य भी, इसलिए वे शासन के विधायी और अधिशासी भागों में उचित सम्बन्ध स्थापित कर सकते है। वैजहॉट (Bagehot) ने कहा है, "इंग्लैण्ड में मंत्रिमंडल एक ऐसा योजक है, जो जोड़ता है, एक ऐसा बकसुआ है जो अधिशासी और विधायी विभागों को आपस मे बाँधता है।" इसलिए, इंग्लैण्ड में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के बीच कभी कोई मतभेद नहीं हो सकता। वे आपस में मिलकर कार्य करती है और विधि बनाने वाली सत्ता, कर लगाने वाली सत्ता और कार्यपालिका के बीच गतिरोध (Deadlock) के खतरे अनुपस्थित रहते हैं। यदि कभी कॉमन सभा कार्यपालिका के विरुद्ध मत देती है और उसकी नीति को पराजित कर देती है या यदि वह ऐसे विधान को पास करती है जिसे मंत्रिमंडल का समर्थन प्राप्त नहीं होता, तो इसके परिणामस्वरूप निम्नलिखित दो बातों में से एक होती है। या तो मन्त्रिमंडल को त्याग-पत्र देना पड़ता है और फिर विरोधी पक्ष सरकार का निर्माण करता है या मंत्रिमंडल सम्राट् को यह परामर्श देता है कि वे संसद् का विघटन कर दें और नये चुनावों की आज्ञा दें जिससे कि निर्वाचकों को मन्त्रिमंडल के कृत्य का अनुमोदन या निरनुमोदन करने का अवसर मिल जाये। इस प्रकार, इंग्लैण्ड मे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच नीतिविषयक संघर्ष की कोई सम्भावना नहीं रहती। अमेरिका में स्थिति इससे भिन्न है। वहाँ कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का आपस में पूरी तरह से विच्छेद है।

८. द्वि-दल पद्धति (Two-Party System)—संसदीय शासन की सफलता के लिए राजनीतिक दल, विशेषकर दो राजनीतिक दल आवश्यक होते हैं। इंग्लैण्ड द्वि-दल पद्धति का श्रेष्ठ उदाहरण है। वहाँ यह पद्धति सत्रहवी शताब्दी में पैदा हुई थी और पिछले दो-सौ वर्षों से बराबर काम करती रही है। इंग्लैण्ड में संयुक्त सरकारों का रिवाज नही है।

९. विधि का शासन और नागरिक स्वतन्त्रताएँ (The Rule of Law and Civil Liberties)—अंग्रेजी सविधान का एक आधारभूत सिद्धांत विधि का शासन (Rule of Law) है। वह देश की सामान्य विधि (Common Law) पर आधारित है और जनता के अपने अन्तर्भूत अधिकारों और विशेषाधिकारों (Privileges) के लिए किए गए शताब्दियों के सघर्ष का परिणाम है। अमेरिका और भारत के विपरीत इग्लैण्ड में सविधान नागरिको को विशिष्ट अधिकार नहीं देता। वहाँ ऐसा कोई ससदीय अधिनियम भी नही है जो जनता के मूल अधिकारों को निर्धारित करता हो। फिर भी, इग्लैण्ड मे अधिकतम स्वतन्त्रता है और इसका कारण जैसा कि डायसी ने कहा है, विधि का शासन (Rule of Law) है।

विधि का शासन, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कभी संविधि के रूप मे अधिनियमित नही हुआ है। वह ससद् के विविध अधिनियमों, न्यायिक निर्णयों और सामान्य विधि मे अन्तर्निहित है। लॉर्ड हीवर्ट (Lord Hewart) के अनुसार, विधि के शासन का अर्थ, "व्यक्तियों के अधिकारों का निर्धारण या निर्वहन करने के लिए विधि की प्रधानता या सर्वोच्चता है। यह स्वेच्छाचार या अन्य किसी पद्धति से भिन्न है।"[1] यहाँ यह कहना पर्याप्त होगा कि जब शासन की शक्तियाँ मनमाने ढंग से नहीं, बल्कि कुछ सुनिश्चित और बंधनकारी नियमों के अनुसार प्रयुक्त होती है, तब कहा जाता है कि उस शासन की प्रजा विधि के शासन के अन्तर्गत रह रही है। जीवन की वे दशाएँ केवल वहीं प्राप्त की जा सकती है, जहाँ विधि के सम्मुख समानता हो और विधि को सर्वोच्च, एकरूप तथा सार्वभौम माना जाता हो। नागरिक, न्यायालय, प्रशासनिक अधिकारी और सम्राट्—ये सभी विधि के शासन के अधीन हैं। दूसरे शब्दों मे, "विधि के शासन के अन्तर्गत विधि के स्वीकृत सिद्धातों और वैधानिक दृष्टि से सक्षम अधिकारियो की कार्यवाही के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से न तो राज्य द्वारा मनमाने दायित्वों का आरोप हो सकता है, न सम्पत्ति मे हस्तक्षेप हो सकता है और न वैयक्तिक स्वतन्त्रता को कम किया जा सकता है।" न्यायालय इन सिद्धातों को अभिज्ञात करते हैं और इसलिए न्यायपालिका जनता की स्वतन्त्रताओं की सशक्त संरक्षिका है।

१०. संविधान में आनुवंशिकता का तत्त्व (Hereditary Character in the Constitution)—ब्रिटिश संविधान की एक अन्य विशेषता आनुवंशिकता का तत्त्व है। इंग्लैण्ड मे राजतंत्र आनुवंशिक सिद्धांत पर आधारित है और लॉर्ड सभा के

1. The New Despotism, p. 29.

अधिकांश सदस्य आनुवंशिक पीयर हैं। यह सही है कि सम्राट् या लॉर्ड सभा देश की राजनीतिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भाग नहीं लेते लेकिन फिर भी उनका अस्तित्व उन लोकतंत्रात्मक आदर्शों के अनुकूल नहीं दीखता जिनके प्रति अंग्रेजों के हृदय में इतना अधिक स्नेह है।

Suggested Readings

Amos, M. : *The English Constitution* (1930). Chaps, I, II.

Anson, W. R. : *Law and Custom of the Constitution* (1922) : Vol. I, pp. 1-3.

Diecy, A. V. : *Law of the Constitution*, Chaps. I, II, XIV, XV.

Gooch, R. K. : *The Government of England* (1947), Chaps. VI, VII.

Greeves, H. R. G. : *The British Constitution* (1951), Chap. I.

Finer, H. : *Government of Greater European Powers*, Chap. 2.

Jennings, W. I. : *Cabinet Government* (1945), pp. 1-19.

Jennings, W. I. ; *The Law and the Constitution* (1948), Chaps. II, III.

Keith, A. B. : *The Constitution of England from Queen Victoria to George VI* (1940) Vol. I, pp. 12-19.

Keith, A. B. and Gibbs, N. M. : *The British Cabinet System* (1952), pp. 1-21.

Low, S. *The Government of England*, pp. 1-14.

Lowell, A. L. : *The Government of England* (1908) Vol. I, pp. 1-15.

Munro, W. B. : *The Government of England* (1947), Chap. II.

Ogg, F. A. : *English Government and Politics* (1936) Chap. III.

अध्याय २

राजा और क्राउन

(The King and the Crown)

राजा और क्राउन (The King and the Crown)—प्राचीन काल में शासन के सारे अधिकार उस व्यक्ति के हाथ में रहते थे जो क्राउन पहिनता था। क्राउन के अर्थ है वह टोपी जिसको राजा[1] राज-पद के चिह्न के रूप में पहनता है। इतिहास के लम्बे काल में वे सारी शक्तियाँ राजा के हाथ से निकल गई है और वे एक जटिल-सी निर्वैयक्तिक संस्था क्राउन के हाथों में आ गई है। किन्तु इसके अर्थ यह नही है कि देश की राजनीति मे सम्राट् का कोई स्थान ही नही है। राष्ट्र के प्रधान के रूप मे राजा अब भी है और वह पहले की ही तरह क्राउन पहनता है। अब भी पहले की ही तरह राजा प्रधान अधिशासी शक्तियों का स्रोत है और संसद् सहित राजा सर्वोच्च विधायी शक्ति है। वह न्याय के सम्बन्ध में भी सबसे बडी शक्ति है और मान-मर्यादा की दृष्टि से भी राजा का पद अत्यन्त महान् है।

अब भी राजा की वैधानिक शक्तियाँ वही हैं। किन्तु वैधानिक सत्य प्रायः इंग्लैण्ड में राजनीतिक असत्य होता है। १६८८ तक राजा देश के संविधान मे प्रमुख स्थान रखता था। वह राज्य भी करता था तथा शासन भी। कुछ दिनों के बाद स्थिति बदल गई। फिर राजा केवल राज्य करने लगा, किन्तु धीरे-धीरे शासन-सत्ता उसके हाथों से निकलती गई। आजकल संविधान का तथ्य यह है कि राजा का शासन के मामलों पर व्यक्तिगत रूप से कोई अधिकार नही है। राजा के पद से सम्बद्ध समस्त शक्तियाँ और अधिकार अब क्राउन को हस्तान्तरित कर दिये गये है।

क्राउन (Crown) कोई एक सजीव सुस्पष्ट व्यक्ति नहीं है। यह एक बनावटी उपाय, एक अमूर्त्त विचार है। सर सिडनी लो (Sir Sydney Low) इसको "सुविधा-जनक कामचलाऊ उपकल्पना" (Convenient Working Hypothesis)[2] कहते है। सर मौरिस एमोस (Sir Maurice Amos) ने कहा है, "क्राउन वैधानिक रूप मे सम्राट् की प्रभु शक्तियों, असाधारण अधिकारो एवं सामान्य अधिकारों का भंडार है।[3] ऐतिहासिक रूप में सम्राट् तथा क्राउन के अधिकार तथा शक्तियाँ समान हैं। वैधानिक रूप मे भी स्थिति कुछ ऐसी ही है। किन्तु संसद् ने आजकल राजा को जंजीरों में जकड लिया है और संविधान के अनुसार सम्राट् अपने अधिकारों और

---

1. यहाँ "राजा" शब्द राजा और रानी दोनों के लिए प्रयुक्त है। इस समय इंग्लैंड की प्रधान रानी एलिजाबेथ द्वितीय है।

2. Government of England, p. 255

3. The English Constitution, op. cit., p. 88.

अपनी शक्तियों का व्यक्तिगत रूप से स्वयं उपभोग नहीं कर सकता। मन्त्री लोग जो केवल संसद् के प्रति उत्तरदायी हैं और जिनको संसद् ने महान् शक्तियाँ दे रखी हैं वे उन शक्तियों का उपभोग सम्राट् के नाम से स्वयं करते है। "हम सत्ता के इसी कुछ-कुछ अव्यक्त सम्मिश्रण (Intangible synthesis of authority) को क्राउन (Crown) कह सकते है।" इस प्रकार क्राउन एक प्रकार का पेचीदा-सा संगम है जिसमें राजा, मन्त्री एवं संसद् तीनों का मेल है। इन्हीं तीनों को मिलाकर एक सर्वोच्च सत्ता का आभास-सा क्राउन शब्द में मिलता है। वस्तुत: राजा (King), क्राउन (Crown) का भौतिक प्रतीक है, लेकिन मन्त्रिमण्डल जो संसद् का जात है, उसका 'सबसे अधिक स्थूल एवं द्रष्टव्य' प्रतीक है।

"राजा मृत हो गया, राजा चिरजीवी हो" (The King is dead, long live the King) इस जय-घोष से राजा के व्यक्तिगत रूप और राजतन्त्र की संस्था में भेद समझा जा सकता है। यह घोषणा किसी सम्राट् की मृत्यु होने के समय की जाती है। ब्लैकस्टोन (Blackstone) इस घोषणा के अर्थों पर कहता है कि "हेनरी, एडवर्ड या जार्ज (Henry, Edward or George) मर सकते है किन्तु राजा जो एक संस्था है, कभी नहीं मर सकता।" अर्थात् राजा एक स्वाभाविक व्यक्ति है, वह मर सकता है, लेकिन क्राउन जो एक पद और एक संस्था है, कभी नहीं मर सकता। पद या संस्था के रूप में क्राउन एक सम्राट् से दूसरे के पास स्थानान्तरित होता रहता है।

संक्षेप में कह सकते है कि राज्य एक प्रकृत प्राणी है जो क्राउन पहनता है। क्राउन के अर्थ है,"वह टोपी जिसको राजा राज्य-पद के चिह्नस्वरूप" पहनता है। किन्तु जब क्राउन को विशिष्ट अर्थों में लेते है तो उसका अर्थ है 'राजा का पद एक संस्था के रूप में।' इस प्रकार राजा (King) और क्राउन का विभेद स्पष्ट हो जाता है। मोटे तौर पर दो भेद हैं। प्रथम यह कि राजा (King) एक व्यक्ति है, किन्तु क्राउन एक संस्था है। व्यक्ति होने के नाते राजा (King) मरता है, किन्तु संस्था होने के नाते क्राउन स्थायी है, वह कभी नही मरता। द्वितीयत: राजा (King) क्राउन की शक्तियों का अपने मन से और अपने अधिकार से मनमाना प्रयोग नहीं कर सकता। क्राउन की शक्तियों का उपभोग राजा (King) उन लोगो के द्वारा करता है जो सामान्य जनसाधारण के प्रतिनिधि है—अर्थात् उन मन्त्रियों के द्वारा जो संसद् के प्रति उत्तरदायी होते है। राजा, मन्त्रि-परिषद् और संसद् तीनों मिलकर सर्वोच्च सत्ता का संगम निर्माण करते है और इसी को क्राउन (Crown) कह सकते हैं। क्राउन ही देश के सवैधानिक भवन की मुख्य शिला (Keystone) है।

राजा की पदवी और राजपद उत्तराधिकार नियम (Title and Succession to the Crown)—१६८८-८९ की घटनाओं ने अन्ततः ससद् के प्रभुत्व को स्थापित कर दिया और निश्चित कर दिया कि राजा का शासन करने का अधिकार ससद् द्वारा प्रकट की गई शासितों की स्वीकृति पर आश्रित है। सम्राट् की पदवी के सम्बन्ध में मुख्य अधिनियम (Act) है १७०१ का समझौता अधिनियम (Act of Settlement of 1701) जिसको संसद् ने पारित किया था। इसमें दिया हुआ है

कि राजपद (Crown) हैनोवर वंशीय, इलैक्ट्रेस सोफिया (Electress Sophia)[1] के वंशजों में से आनुवंशिक क्रम से चलेगा जब तक कि राजा अथवा वंश प्रोटेस्टैंट बना रहेगा। आनुवंशिक सिद्धान्त के साथ ज्येष्ठत्व (Primogeniture) का साधारण नियम भी जोड़ दिया गया। मौलिक नियम ये है कि छोटे वंशज की अपेक्षा बड़े वंशज को मान्यता दी जाती है और उसी वंश में स्त्री की तुलना में पुरुष-वंशज को श्रेष्ठता प्रदान की जाती है। यदि पुरुष-सन्तान न हों तो वरिष्ठता के क्रम से स्त्री-सन्तान सिंहासन पर बैठेगी। किन्तु हर हालत में उत्तराधिकारी का प्रोटेस्टैंट मतावलम्बी होना आवश्यक है। यदि उस वंश के सभी प्रोटेस्टैंट मतावलम्बी उत्तराधिकारी मर जाएँ और यदि मान्य सगोत्र-सम्बन्ध के आधार पर कोई उचित उत्तराधिकारी न मिल सके, तो *संसद् (Parliament) को अधिकार दिया गया है कि राज्य-पद* (Crown) किसी दूसरे वंश को दे सकती है और इस प्रकार एक नया राजवंश प्रारम्भ किया जा सकता है। रायल मैरिजिज ऐक्ट १७७२ (Royal Marriages Act, 1772) के अनुसार सिंहासन के उत्तराधिकार को प्रभावित करने वाली, २५ वर्ष से कम आयु वाले किसी राजवंश के व्यक्ति की शादी के विषय में सम्राट् की स्वीकृति आवश्यक है। २५ वर्ष पूरे होने पर स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है, पर प्रिवि काउँसिल को एक साल का नोटिस देना आवश्यक है। परन्तु संसद् विवाह को अस्वीकार कर सकती है। सम्राज्ञी एलिजाबेथ की बहिन राजकुमारी मार्ग्रेट का पीटर टाउनसेन्ड से विवाह करने का विचार त्यागना उपर्युक्त नियम का एक अच्छा उदाहरण है। जब राज-सिंहासन का उत्तराधिकारी नाबालिग (१८ वर्ष से कम आयु वाला) होता है अथवा जब कभी शासनकर्ता सम्राट् शारीरिक अथवा मानसिक रोग के कारण शासन करने के अयोग्य हो जाए तो रीजेंट (Regent) की व्यवस्था कर दी जाती है जो १९३७ एवं १९४३ में संसद् द्वारा पारित रीजेंसी अधिनियमों (Regency Acts) के अनुसार होती है।

वर्तमान सम्राज्ञी *हर मैजेस्टी क्वीन एलिजाबेथ द्वितीय* (Her Majesty Queen Elizabeth II) की पदवी १९३६ के सिंहासन-त्यजन अधिनियम (Abdication Act of 1936) के आधार पर है। राजा एडवर्ड अष्टम (King Edward VIII) ने १९३६ में इस कारण सिंहासन-त्याग किया कि सम्राट् श्रीमती सिम्पसन (Mrs. Simpson) से विवाह करना चाहते थे जिस पर मन्त्रिमण्डल को आपत्ति थी। ड्यूक आफ यार्क (Duke of York) जो राजवंश में उत्तराधिकारी बनने योग्य अगले व्यक्ति थे, राजसिंहासन पर जॉर्ज षष्ठ (George VI) की पदवी लेकर आसीन हुए। जार्ज षष्ठ के कोई पुत्र न था और उनकी ज्येष्ठा पुत्री राजकुमारी एलिजाबेथ (Princess Elizabeth) १९५२ में अपने पिता की मृत्यु पर सम्राज्ञी बना दी गई।

सम्राट् के विशेषाधिकार और विमुक्तियाँ (Royal Privileges and Im-

---

1. सोफिया जेम्स प्रथम की पौत्री थी और एक छोटे से जर्मन राज्य, इलैक्ट्रेट ऑफ हैनोवर के शासक की विधवा थीं।

munities)—सम्राट् अनेकों वैयक्तिक विशेषाधिकारों एवं विमुक्तियों का उपभोग करता है। यह किसी भी साधारण नागरिक की तरह भूमि अथवा अन्य सम्पत्ति खरीद सकता है, उसका प्रबन्ध कर सकता है अथवा उसको बेच सकता है। किन्तु सम्राट् देश की विधि से ऊपर है। उसके व्यक्तिगत चरित्र के सम्बन्ध में उसके ऊपर किसी अदालत में कानूनी अभियोग नही लगाया जा सकता। डायसी (Diecy) ने तो मजाक में यहाँ तक कह डाला कि यदि सम्राट् अपने प्रधान मन्त्री को ही गोली मार दे तो भी उसके विरुद्ध कोई वैधानिक कार्यवाही नही की जा सकती। सम्राट् को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। किसी मुकद्दमे में वह जवाबदेही के लिए बाध्य नही किया जा सकता। देश के वैधिक अधिकारी (Officers of the Law) किसी देनदारी के सम्बन्ध में सम्राट् का माल कुर्क नही कर सकते और राजभवन में सम्राट् के विरुद्ध कोई न्यायिक कार्यवाही (Judicial process) उस समय तक नही की जा सकती जब तक कि उस भवन मे सम्राट् निवास करेंगे।

राजा को राजकोष से वार्षिक ग्राण्ट के रूप मे बहुत बड़ी धनराशि मिलती है। यह धनराशि, संसद् सम्राट् के लिए सिविल लिस्ट (Civil List) के नाम से स्वीकृत करती है। यह सिविल लिस्ट प्रत्येक सम्राट् के राज्य-काल के आरम्भ में संसद् द्वारा निश्चित की जाती है जो सम्राट् के राज्य-काल-पर्यन्त तथा उसके ६ मास बाद तक मिलती रहती है। वर्तमान सम्राज्ञी की वार्षिक सिविल लिस्ट (Civil List) की धनराशि ४७५,००० पौंड है। उसका विवरण इस प्रकार है—सम्राज्ञी के निजी व्यय का धन (Privy purse) ६०,००० पौंड, परिवार के वेतन आदि १८५,००० पौंड, पारिवारिक खर्चे १२१,८०० पौंड, दान आदि १३,२०० पौंड और अन्य आकस्मिक आवश्यकताएँ ९५,००० पौंड। इसके अतिरिक्त आधुनिक सम्राज्ञी के पास बहुत बड़ी निजी धनराशि है जो रानी विक्टोरिया (Queen Victoria) के काल से चली आ रही है। ड्यूक ऑफ एडिनबरा (Duke of Edinburgh) के लिये ४०,००० पौंड के वार्षिक अनुदान (grant) का विधान है।

क्राउन की शक्तियाँ

(Powers of the Crown)

क्राउन की शक्तियाँ (Powers of the Crown)—यदि राजा को केवल भाववाचक अमूर्त्त संस्था मान लिया जाए तो क्राउन की वही शक्तियां है जो राजा के पद की शक्तियाँ है। यह फिर समझ लेना चाहिए कि इन शक्तियों का उपभोग सम्राट् स्वयं नही कर सकता। मन्त्री लोग सम्राट् के नाम मे इन शक्तियों का उपभोग करते है। मन्त्री लोग संसद् के प्रति उत्तरदायी होते है अतः संसद् ने उन्हे अधिकार दिया है कि वे इन शक्तियों का उपभोग करें। चूँकि क्राउन की शक्तियाँ, सम्राट् की वैयक्तिक शक्तियाँ नहीं होतीं, अतः उनको सम्राट् की शाब्दिक शक्तियाँ (Nominal Powers of the king) कहा जा सकता है जो सम्राट् की वास्तविक शक्तियों से भिन्न है। मन्त्री ही वास्तव में देश का शासन करते हैं और वे सम्राट् के नाम मे, उसकी शाब्दिक शक्तियों का उपभोग करते हैं।

शक्ति के स्रोत (Sources of power)—क्राउन की शक्ति के दो स्रोत है। वे परमाधिकारों (Prerogatives) एव संविधियों अथवा परिनियमो (Statutes) से प्राप्त होती है। क्राउन की परिनियत (Statutory) शक्तियो का तात्पर्य उन कर्त्तव्यों से है जिनको पूरा करने के लिए संसद् के अधिनियमो द्वारा कार्यपालिका को आदेश मिला हो। इन परिनियत (Statutory) शक्तियों मे न केवल वे अधिकाश शक्तियाँ सम्मिलित हैं जिनके आदेशानुसार शासन के विभिन्न विभाग चलते है बल्कि वे शक्तियाँ भी सम्मिलित है जिनके आधार पर व्हाइट हॉल (White Hall) स्थानीय प्रशासन अधिकारियों एव अन्य संस्थाओं पर, जो क्राउन से अलग है, नियन्त्रण रखता है। इस विषय में क्राउन की शक्तियाँ कई प्रकार की है। ससद् के अधिनियम वास्तव मे क्राउन की शक्ति के बहुत उपजाऊ स्रोत बन गये हैं, विशेषकर उस समय से जब से कार्यपालिका को प्रदत्त व्यवस्थापन अथवा प्रत्यायुक्त विधान (Delegated Legislation) का अधिकार मिल गया है।

क्राउन को जो शक्तियाँ एवं विशेषाधिकार साधारण विधि से प्राप्त हुए है, उन्हे परमाधिकार (Prerogative) कहते है। क्राउन के परमाधिकार की व्याख्या करते हुए डायसी (Diecy) कहता है कि "यह क्राउन की स्वच्छन्द एवं स्वाधीन शक्ति का अवशेष है जो कभी-कभी उसके हाथों में न्यायानुसार छोड़ दिया जाता है।"[1] प्रारम्भ से परमाधिकार (Prerogative) उन अधिकारों का समूह था जो राजा को सामन्ती महाराजा होने के नाते प्राप्त होते थे और वे परमाधिकार सम्राट् की शक्ति के मुख्य आधार तब तक बने रहे जब तक कि देश में पूर्ण ससदीय शासन-व्यवस्था स्थापित न हो गई। १७वीं शताब्दी में सम्राट् द्वारा इस परमाधिकार (Prerogative) के उपभोग में और दूसरी ओर ससद् के इस परमाधिकार के रोकने के सतत दृढ उद्योग मे चाहे वह संविधि या परिनियम (Statute) द्वारा रोका जाए या संसद् के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों द्वारा रोका जाए, लगातार संघर्ष रहा। इस संघर्ष में, जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, संसद् (Parliament) विजयी होकर निकली और सम्राट् की परमाधिकारों सम्बन्धी शक्ति जो उसके व्यक्तित्व में निवास करती थी, प्राय: छिन गई। कुछ परमाधिकार (Prerogatives) परिनियमों अथवा सविधियों (Statutes) द्वारा रद्द कर दिये गये, कुछ बहुत काल तक प्रयुक्त न होने के कारण स्वयं ही नष्ट हो गये और जो परमाधिकार शेष रहे, उन्हे क्राउन ने गहण कर लिया। क्राउन के परमाधिकार इतने है कि उनकी सूची बनाना असम्भव है। कुछ परमाधिकारों की स्थिति और सीमाएँ ऐसी हैं जिनमें संवैधानिक कठिनाइयाँ हैं। किन्तु क्राउन के कुछ सन्देहरहित परमाधिकार (Prerogatives) है, जैसे ससद् को आहूत करना (Summoning of Parliament), युद्ध अथवा तटस्थता (Declaration of War or Neutrality) की घोषणा, सन्धियो का अनुसमर्थन (Ratification of Treaties), सार्वजनिक पदों पर नियुक्ति (Appointment to Offices), राजसेवकों की बर्खास्तगी (To

1. Law of the Constitution; op. citd., p. 424.

है। क्राउन ही स्थानीय प्रशासन के सारे कार्यों की देखभाल एवं कुछ स्थितियों में, विशेषकर पौरों अथवा बौरों (Boroughs) तथा काउण्टियों (Counties) के क्षेत्रो पर नियन्त्रण भी करता है। स्थानीय प्रशासन (Local Government) तथा कुछ अन्य निकायों, जैसे ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कार्पोरेशन (British Broadcasting Corporation) के अधिकारी, क्राउन के सेवक (Officers) नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि संसदीय अधिनियमों द्वारा ही इन निकायों (bodies) का जन्म हुआ है, फिर भी वे क्राउन के आश्रित नहीं हैं। क्राउन के इन निकायों के ऊपर केवल कुछ प्रबन्ध सम्बन्धी नियन्त्रण हैं।

क्राउन ही ग्रेट ब्रिटेन के अन्य देशों के साथ सम्बन्धों का निर्वहन करता है। वह स्वदेश के राजदूतों को विदेशों में भेजता है तथा विदेशी राजदूतों का स्वागत करता है। वह उसी प्रकार अन्य राजनयिक अभिकर्त्ताओं (Diplomatic agents) को बाहर भेजता अथवा विदेशों से आने वालों का स्वागत करता है। संक्षेप में समस्त विदेशी मामले अथवा विदेशी कार्य क्राउन की ही ओर से अथवा उसके नाम में होते हैं। युद्ध की घोषणा करना और शान्ति सन्धि करना, दोनों क्राउन के परमाधिकार (Prerogatives) हैं। क्राउन को सन्धि करने का भी अधिकार है और समस्त अन्तर्राष्ट्रीय अनुबन्ध क्राउन के नाम में ही किये जाते हैं। क्राउन द्वारा की हुई संधियों पर संसद् की स्वीकृति की उस समय तक आवश्यकता नहीं है जब तक कि उसमें संसदीय स्वीकृति सम्बन्धी शर्त न हो अथवा जब तक कि उसमें कोई ऐसा मामला ग्रस्त न हो जैसे *स्व-भूभाग का परित्याग, धन की अदायगी (Payment of money)*, अथवा देश की प्रचलित विधि मे परिवर्तन, जिनको विध्यनुकूल बनाने के लिए संसद् की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। किन्तु कोई "उच्च नैतिक महत्त्व की सन्धि" जैसे कि १९२५ की लोकार्नो सन्धि (Locarno Treaty of 1925) निश्चिततः संसद् की दोनों सभाओं के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत की जाती है।

ब्रिटेन के उपनिवेशों तथा सुदूरस्थ अधीन प्रदेशों के शासन का क्राउन ही वास्तविक अध्यक्ष है। सम्राट् राष्ट्रमण्डलीय देशो का भी औपचारिक प्रधान है।

क्राउन की विधायिनी शक्तियाँ
(Legislative Powers of the Crown)

क्राउन की मुख्य रूप से कार्यपालिका शक्तियाँ है यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं है कि उसकी केवल यही शक्तियाँ है। यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका में कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा विधायी तीनों प्रकार के कर्त्तव्यों को स्पष्टतया तीन अलग-अलग विभागों में दिखाया गया है, तथापि अमेरिकी संविधान के निर्माता शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त (Doctrine of the Separation of Powers) को पूरी तरह से अन्त तक नहीं निभा सके। ग्रेट ब्रिटेन मे शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। विधायी शक्ति स-संसद् सम्राट् के हाथों मे है। प्रत्येक परिनियम या संविधि (Statute) जब संसद् द्वारा पारित होती है तो

उसमें लिखा होता है "यह संविधि या परिनियम सम्राट् के द्वारा तथा लॉर्ड सभा एवं लोक सभा के सदस्यों की अनुमति से और उनके अधिकार से पारित किया जाता है।" यहाँ भी और स्थानों की तरह राजा ने अपनी विधायी शक्ति क्राउन को सौंप दी है। अतः क्राउन ही राष्ट्रीय विधान-मण्डल का अभिन्न भाग (Integral part) है, और क्राउन की स्वीकृति, संविधि पारित होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

क्राउन के मंत्री जो देश की सर्वोच्च कार्यपालिका का सृजन करते है, संसद् के सदस्य भी होते हैं। वे संसद् की कार्यवाहियों पर निगाह एवं नियन्त्रण रखते हैं और वे ही यह निर्णय करते हैं कि संसद् में अमुक विषय पर किस प्रकार सुगमता से कार्यवाही की जा सकती है। इस प्रकार क्राउन ही संसद् को आहूत करता है (Summons), सत्रावसान करता है (Prorogues), अथवा संसद् को विसर्जित करता है (Dissolves)। जब नई संसद् का सम्मेलन होता है तो प्रायः सम्राट् ही लॉर्ड सभा में जहाँ कॉमन्स सभा के सदस्य भी होते हैं, स्वयं उपस्थित होकर राजसिंहासन से भाषण (Speech from the Throne) देता है और उसके द्वारा संसद् का स्वागत करता है। सम्राट् अपने भाषण में बताता है कि क्राउन का विधायी कार्यक्रम (Legislative programme) क्या है और वह शासन के महत्त्वपूर्ण एवं विविध राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर जो विचार होते हैं, उन्हें व्यक्त करता है। किन्तु सम्राट् के भाषण को वास्तव में मन्त्री लोग ही तैयार करते हैं और उसे सम्राट् को पढ़ने मात्र के लिए दे देते हैं। वह उस भाषण में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता और न कोई नई बात बढ़ा सकता है।

संसद् का कोई भी कानून उस समय तक संविधि पुस्तक में दर्ज नहीं हो सकता जब तक क्राउन उस पर राजकीय स्वीकृति न दे दे। इसका अर्थ है कि राजा संसद् द्वारा पारित किसी कानून पर स्वीकृति प्रदान करने से इन्कार कर सकता है अथवा उसको प्रतिनिषिद्ध (Veto) कर सकता है। किन्तु सन् १७०७ से प्रतिनिषेध अधिकार (Veto Power) का भी उपयोग नहीं हुआ है। इस प्रकार प्रतिनिषेध अधिकार (Veto Power) स्वयं ही लुप्त हो गया है। आजकल तो राजा स्वयं विधेयकों पर अपनी स्वीकृति देता भी नहीं। यह स्वीकृति पाँच कमिश्नरों द्वारा दी जाती है, जिनकी नियुक्ति क्राउन राजकीय साइन मैन्युअल (Sign Manual) के अनुसार करता है। यह समस्त कार्यवाही एक सुन्दर औपचारिकता के रूप में होती है।

परिषद्-आदेश (Orders-in-Council)—क्राउन स्वयं यह क्षमता रखता है कि वह कार्यपालिका सम्बन्धी कुछ आज्ञाएँ दे सकता है। और ये सम्राट् और प्रिवी-परिषद् द्वारा निःसृत होती हैं। इन्हीं आज्ञाओं को इंग्लैण्ड में परिषद्-आदेश (Orders-in-Council) कहते हैं। ये परिषद्-आदेश दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के ये आदेश होते हैं जो साधारण प्रशासनिक नियम होते हैं और उन नियमों के आधार पर शासन की विभिन्न शाखाएँ अपना-अपना प्रतिदिन का कामकाज (Routine business) चलाती हैं। दूसरे प्रकार के परिषद्-आदेश वे होते हैं जि-

आज्ञा संसद् देती है और इस प्रकार के आदेशों को प्रायः परिनियत आदेश (Statutory order) कहते हैं। ऐसे आदेशों का वही महत्त्व है जो विधि का, क्योंकि ये संसद् के अधिकार से पास किए जाते है। इस प्रकार के आधीन विधान (Subordinate Legislation) का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है और इस विषय पर अन्यत्र विचार किया गया है।

क्राउन की न्यायपालिका शक्तियाँ
(Judicial Powers of the Crown)

राजा को अब भी न्याय का स्रोत (Fountain of Justice) कहा जाता है। इस ऐतिहासिक कथन का अर्थ यह है कि सम्राट् का सद्विवेक न्याय-व्यवस्था में अन्तिम वाक्य है। अब ऐसा नहीं है। इंग्लैण्ड मे स्वतन्त्र न्यायपालिका के सिद्धान्त के अनुसार आचरण होता है। इसके अनुसार न्यायाधीश तथा अदालतें पूर्ण तौर पर देश की कार्यपालिका के अधिकार-क्षेत्र से स्वतन्त्र हैं। फिर भी अदालतें क्राउन के अधिकार-क्षेत्र से पूरी तरह बाहर नही हैं। क्राउन ही न्यायाधीशों की, काउण्टियों (Counties) तथा बौरों अथवा बोरोज (Boroughs) के न्यायाधीशों (Justices of Peace) की नियुक्ति करता है। लार्ड चांसलर (Lord Chancellor), जो मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता है, सारी न्यायपालिका के कार्य की देखभाल करता है। सभी मामले, जो प्रिवी परिषद् (Privy Council) की न्यायिक समिति (Judicial Committee) के सम्मुख निर्णयार्थ आते हैं, उन पर अन्तिम निर्णय क्राउन ही करता है। अन्ततः क्राउन के पास क्षमादान का परमाधिकार (Prerogative) है जिसके द्वारा वह ऐसे अपराधियों को क्षमा कर सकता है जो फौजदारी के अपराधों के दोषी हों। यह कार्य गृह-सचिव (Home Secretary) द्वारा होता है।

राजा कोई गलती नहीं कर सकता (The King can do no wrong)—संक्षेप में क्राउन की शक्तियों का वर्णन किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि क्राउन का सम्राट् के व्यक्तित्व से घना सम्बन्ध है किन्तु व्यक्तिगत राजा अधिकतर राज्य तथा कार्यपालिका का औपचारिक मुखिया है। किन्तु वास्तविक एवं शक्तिशाली तत्त्व क्राउन ही है। राजा की स्थिति का लौवेल (Lowell) ने सही मूल्यांकन किया है। वह कहता है, "संविधान के पुराने सिद्धान्त के अनुसार मंत्री लोग राजा के सलाहकार होते थे। उनका काम था सलाह देना और राजा का काम था निर्णय करना। अब स्थिति बिल्कुल विपरीत हो गई है। राजा से सलाह ली जाती है किन्तु मंत्री निर्णय करते हैं।" बहुत से मामलों में जिन पर मंत्री निर्णय देते हैं सम्राट् की व्यक्तिगत जानकारी प्रायः नहीं के बराबर ही होती है और यदि सम्राट् की जानकारी हो भी तो सम्भव है कि उसकी उन विषयों में बिल्कुल रुचि न हो, तथापि निश्चित रूप से क्राउन की शक्तियों का प्रयोग सम्राट् के ही नाम में किया जाता है। सम्राट् के सेवक सम्राट् के स्वामी बन गए हैं।

दो मुख्य सिद्धान्त है जिन पर इंग्लैण्ड के संविधान का ढाँचा स्थिर है। प्रथम

यह है कि सम्राट् कोई सार्वजनिक कार्य केवल स्व-विवेक के आधार पर नही कर सकता। उसे सभी कार्य मन्त्रियों की सलाह पर करने पड़ते हैं, दूसरा यह है कि मन्त्रिगण जो भी काम सम्राट् के नाम मे करते हैं उस कार्य के लिए मंत्री संसद् (Parliament) के प्रति उत्तरदायी हैं और यही, इस अर्थ-पूर्ण वाक्यांश का मतलब है, "राजा कोई गलती नही कर सकता" (The king can do no wrong)। "अर्थात् राजा कोई भी ऐसा गलत या ठीक काम स्वविवेक से कर ही नही सकता जिसमें कोई वैयिक हित सन्निहित हो।" सम्राट् के किसी मामले पर व्यक्तिगत विचार कुछ भी हों, किन्तु संवैधानिक सम्राट् होने के नाते उसे मंत्री की बात माननी ही होगी क्योंकि सम्राट् को हर समय याद रखना चाहिए कि मन्त्रियों की पीठ पर जनता के प्रतिनिधियों के बहुमत का हाथ है और अपने सभी कृत्यों के लिए वे व्यक्तिगत रूप से भी और समस्त मंत्रिमण्डल सामूहिक रूप से भी संसद् के प्रति उत्तरदायी है।[1] यह लगभग ३०० वर्ष की सुस्थापित परम्परा है।[2] संविधान में अभिसमयों का बड़ा महत्त्व होता है और इंग्लैण्ड का प्रत्येक सम्राट् राज्यारोहण के समय प्रतिज्ञा करता है कि वह संविधान की रक्षा करेगा तथा संवैधानिक सम्राट् की भांति आचरण भी करेगा।

इसके अतिरिक्त मन्त्री अपने द्वारा किए हुए किसी गलत निर्णय के लिए 'राजा की आज्ञा' की आड़ नही ले सकता। टॉमस ऑसबोर्न, अर्ल ऑफ डैन्बी (Thomas Osborne, Earl of Danby)[3] के ऊपर १६७६ मे "अभिद्रोहात्मक मुकद्दमा चलाया गया जिसमें उसके ऊपर फौजदारी एवं दुश्चरित्र सम्बन्धी अपराध भी थे।" डैन्बी (Danby) ने अपने बचाव मे कहा कि उसने जो कुछ भी किया वह राजा के आदेश पर किया और राजा कोई गलती नही कर सकता। अपने महाभियोग (Impeachment) के समय उसने राजकीय क्षमा भी उपस्थित की लेकिन संसद् ने इन

---

1. १९१३ में एस्क्विथ (Asquith) ने सम्राट् के अधिकार तथा कर्त्तव्य पर जो ज्ञापन लिखा था, उसे देखिए।

"Life of Lord Oxford and Asquith", op. cit., Vol. II, p. 21, 39.

2. चार्ल्स द्वितीय के शासन-काल में एक दरबारी ने राजा के शयन-कक्ष के दरवाजे पर निम्न पंक्तियां लिख दीं,

'Here lies our Sovereign Lord, the King,
Whose word no man relies on;
He never says a foolish thing,
Nor ever does a wise one."

इस पर सम्राट् ने उत्तर दिया था कि "यह बात बिल्कुल सही है क्योंकि वचन तो मेरे होते हैं लेकिन मेरे कार्य मन्त्रियों के होते है।"

3. डैन्बी (Danby) लार्ड हाई ट्रेजरर के पद पर क्लिफर्ड (Clifford) के बाद आसीन हुआ, और इस प्रकार क्राउन का सर्वोच्च मन्त्री बना।

सब बातों को अवैध माना ।[1] इस प्रकार यह सदैव के लिए निश्चित हो गया कि मन्त्रिगण अपने द्वारा किए गए किसी अवैध या असंवैधानिक कृत्य के लिए 'राजा के आदेश' की शरण नहीं ले सकते और इस प्रकार मन्त्रिगण सम्राट् की वैधिक विमुक्तियों (*Legal immunities of the occupant of the throne*) की शरण लेकर अपनी रक्षा नहीं कर सकते ।

राजपद का औचित्य

(The Justification of Monarchy)

अंग्रेजी शासन-व्यवस्था में सम्राट् की स्थिति केवल औपचारिक मात्र है और यह भी तथ्य है कि ऐसे अभिसमय (Conventions) स्थापित हो गए हैं जिनके कारण वह अपनी वैधानिक शक्तियों का भी उपभोग नहीं कर सकता । तो इससे यह प्रश्न उठता है कि फिर इंग्लैण्ड में राजपद समाप्त क्यों नहीं कर दिया जाता ? कुछ लोगों का विचार है कि राजपद पर जितना राष्ट्र को व्यय करना पड़ता है, उससे राष्ट्र को उतना लाभ नहीं है । कुछ लोग राजपद को राजनीतिक असंगति (Political anachronism) कहते हैं । किन्तु वास्तविक सत्य यह है कि ब्रिटेन के अधिकतर लोग राजपद समाप्त करने के पक्ष में नहीं हैं । पिछली शताब्दी में १८७० के आस-पास लोगों में प्रबल गणतन्त्रीय विचारों का उदय हुआ । इससे उस समय बड़ी उत्तेजना फैली । जब इस विचारधारा को सर चार्ल्स डिल्के (Sir Charles Dilke) जैसे व्यक्तियों ने भी ग्रहण कर लिया और जिस समय कि चेम्बरलेन (Chamberlain) ने भविष्य-वाणी की "गणतन्त्र अवश्य स्थापित होगा और जिस रफ्तार से इस दिशा में हम जा रहे हैं, वह हमारे समय में ही स्थापित हो जाएगा ।" किन्तु कुछ वर्षों में यह आन्दोलन ठण्डा हो गया "और रानी विक्टोरिया (Queen Victroia) ने डिल्के (Dilke) को मन्त्रिमण्डल का सदस्य नियुक्त करने से पूर्व उसको बाध्य किया कि वह अपनी पहली धारणाओं के विरुद्ध स्व-मत घोषित करे ।"

तब से इंग्लैण्ड में राजपद अधिक लोकप्रिय रहा है और अब प्रायः सभी राजनीतिक विचारकों ने राजपद को बिना बहस के स्वीकार कर लिया है ।[2] इसमें सन्देह नहीं कि राजपद के साथ कुछ आवश्यक शिष्टाचार, आडम्बर एवं आचार-नियम जुड़े हुए हैं जिनके कारण कुछ व्यर्थ व्यय होता है और बहुत से लोग इस प्रदर्शन की सर्वसाधारण की दरिद्रता और कष्टों से तुलना करने लगते हैं । किन्तु गूच (Gooch)

---

1. डैन्बी केस में राजकीय क्षमा के सम्बन्ध में प्रस्ताव के लिए देखिए, "Select Documents of English Constitutional History," op. cit., p.439.

2. अब भी कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो सिद्धांत स्वरूप गणतन्त्र के समर्थक हैं । संसद् के कतिपय सदस्यों ने एडवर्ड अष्टम के राज-त्याग के बाद इंग्लैण्ड में गणराज्य स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की थी ।

के अनुसार इस प्रश्न को उठाने के यह अर्थ नहीं हैं कि "राजतन्त्र को समाप्त कर दिया जाए।"[1] जैनिंग्ज़ (Jennings) के अनुसार, "प्रजातन्त्रात्मक शासन बेजान तर्कों और नीरस नीतियों तक ही सीमित नहीं है। उसमे कुछ रंगीनी, कुछ तड़क-भड़क होनी ही चाहिए और ऐसी स्पष्ट तड़क-भड़क और कहाँ देखने को मिलेगी जैसी कि शाही पोशाक (Royal Purple) मे मिलती है।"[2] चर्चिल (Churchill) के अनुसार "हमारे समस्त लोगों के हृदय में राजतन्त्र गहरा पैठा हुआ है और यह सभी को अत्यन्त प्रिय है।"[3] लार्ड एटली तक जो गत पचास वर्षों से समाजवादी आन्दोलन के अग्रणी रहे हैं, राजपद को कायम रखने के पक्ष में हैं। सम्राट् के प्रजाजनों द्वारा राजतंत्र की ऐतिहासिक एवं सार्वजनिक प्रशसा के कारण है इतिहास के, मानवीय निमित्तों के, भावुकता के एवं लाभ के कुछ मिश्रित तथा उलझे हुए परिणाम। हाल में लार्ड एल्ट्रिग्म ने रानी एलिजाबेथ की आलोचना की थी। लेकिन जनता ने इसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया।[4]

१. सम्राट् का व्यक्तिगत अधिकार (Personal authority of the King)—शासन के व्यावहारिक संचालन मे सम्राट् अब भी व्यक्तिगत रूप से कुछ विशिष्ट कार्य सम्पादित करता है। वह स्वयं विदेशी राजदूतों का स्वागत करता है यद्यपि यह कार्य पूर्णतया औपचारिक है क्योंकि यह सदैव एक मंत्री की उपस्थिति में होता है।[5] संसद् के उद्‌घाटन के समय सम्राट् सिंहासन से भाषण देता है किन्तु जो वक्तृता सम्राट् पढ़ता है उसको वह स्वयं तैयार नही करता। सन् १९४१ से यह सारे संसार मे माना जाता है कि वह भाषण मंत्रिमंडल की नीति उद्‌घोषित करता है और उस भाषण का उत्तरदायित्व सम्राट् के ऊपर नही है। उस भाषण को सम्राट् के नाम में लार्ड चांसलर (Lord Chancellor) भी पढ़ सकता है। सम्राट् स्पीकर (Speaker) के चुनाव को स्वीकार कर लेता है किन्तु उसके लिए भी वह प्रॉक्सी (Proxy) के अनुसार आचरण कर सकता है। परिषद्-आदेश सम्राट् की उपस्थिति मे ही पारित किए जाते है। इसी प्रकार लॉर्ड चांसलर और सेक्रेटरी ऑफ स्टेट (Secretary of State) की नियुक्ति भी सम्राट् स्व-विवेक से ही कर सकता है। इन नियुक्तियों की रस्मों में, नियुक्त मन्त्रियों को उनके पदों की औपचारिक मुद्राएँ सौंपी जाती हैं। सम्राट् दलों के नेताओं का सम्मेलन बुला सकता है, जैसा कि जार्ज पञ्चम ने १९१४ मे किया था जिसका उद्देश्य संवैधानिक संकटों को टालना था। इस प्रकार की कार्यवाही अपने मन्त्रियों की सलाह पर ही सम्राट् कर सकता है।

---

1. The Government of England, *op. cit.*, p. 107.
2. Jennings : British Constitution, p. III.
3. चर्चिल का १९५२ मे जार्ज षष्ठ की मृत्यु पर दिया गया भाषण।
4. *As reported in the Tribune*, Ambala Cantt., *Aug. 6,1957 p. 5.*
5. १९२९ में जार्ज पंचम ने रूस के राजदूत का सत्कार करने में आपत्ति की। विदेश-मन्त्री ने नम्रता किन्तु दृढतापूर्वक कहा कि इस संबंध में केबिनेट निश्चय कर चुकी है और तब सम्राट् ने राजदूत का स्वागत किया।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी कार्य हैं जिनको सम्राट मंत्रियों की सलाह पर नहीं करता। इन कर्त्तव्यों में से मुख्य है प्रधान मन्त्री की नियुक्ति। सिवाय सम्राट् के और कोई भी नये प्रधान मन्त्री की नियुक्ति प्रचलित प्रथा के अनुसार नही कर सकता। प्रथानुसार सम्राट् आम चुनाव (General Election) के बाद बहुमत-दल के नेता को आमन्त्रित करता है और उसको मन्त्रिमण्डल बनाने का आदेश देता है। यदि उसके द्वारा निर्मित सरकार लोक सभा के प्रतिकूल मत (Hostile Vote) से हार जाती है तो सम्राट् विरोधी दल के नेता को आमन्त्रित करता है और उसको मंत्रिमंडल बनाने का भार सौंपता है। इस प्रकार साधारणतया सम्राट् अपनी इच्छा से प्रधान मन्त्री को नही चुन सकता। किन्तु यदि संसद् में किसी भी दल का वास्तविक बहुमत न हो अथवा जब कोई प्रधान मन्त्री अवकाश ग्रहण कर रहा हो और बहुमत-दल ने अपना नेता न चुना हो तो उस समय प्रधान मन्त्री का चुनाव आसान कार्य नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में सम्राट् अपनी इच्छानुसार चुनाव कर सकता है; यद्यपि वह सदैव सतर्क रहता है और केवल वही मार्ग अपनाता है जिसकी कम-से-कम आलोचना हो। यदि संसद् में किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत न हो तो उसे शासन चलाने के लिए उस दल की ओर देखना चाहिए जिसको लोक-सभा का सर्वाधिक समर्थन मिलने की आशा हो। सन् १९२४ में जार्ज पञ्चम (George V) ने रैम्जे मैक्डानल्ड (Ramsay MacDonald) को आमन्त्रित किया न कि एस्क्विथ (Asquith) को, यद्यपि लोक-सभा के केवल एक-तिहाई सदस्य ही श्रमिक दल के थे। सन् १९३१ की घटनाएँ और भी अधिक पेचीदा थीं और सम्राट् द्वारा रैम्जे मैक्डानल्ड (Ramsay MacDonald) को मिली जुली सरकार (Coalition Government) बनाने के लिए आमन्त्रित करना, यह जार्ज पञ्चम (George V) की उसी प्रकार व्यक्तिगत इच्छा थी जिस प्रकार कि जार्ज तृतीय (George III) ने अपने स्व-विवेक से लार्ड बूट (Lord Bute) को चुना था।[1]

संसद् में जब कभी श्रमिक दल का बहुमत हो जाता है तो श्रमिक दल के सदस्यों का यह आग्रह होता है कि वे अपना नेता स्वयं चुनें। इससे सम्राट् की पसंद का प्रत्यक्ष पता चल जाता है। परन्तु अनुदार दल इस प्रथा का अनुसरण नहीं करता। अतः अनुदार दल का बहुमत होने पर और दल के नेता के अभाव में सम्राट् को नेता के चुनाव करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। श्रमिक दल ने अनुदार दल की इस प्रथा की बड़ी आलोचना की है। १९६३ में जब सर एलक डगलस होम (Sir Alec Doulgas Home) को हैरल्ड मैकमिलन (Harold Macmillan) से कार्य-भार संभालने के लिए कहा गया तब अनुदार-दल के नेता के चुनाव की विधि पर काफी तनाव पड़ा। इस घटना ने अन्ततः आर० ए० बटलर (R. A. Butler) को राजनीति से अवकाश भी दिलवा दिया। अब अनुदार-दल ने निश्चय कर लिया है कि उसका अगला नेता दल के संसद् सदस्यों द्वारा स्वतन्त्र गुप्त-वोट से चुना

1. Laski: Parliamentary Government in England, op. cit. p. 303.

जायेगा। यह नई विधि श्रमिक दल की विधि का अनुसरण करती है और सम्राट् के राजनीति के बीच में पड़ने या न पड़ने के विवादास्पद प्रश्न से छुटकारा दिलवा देगी।

कभी-कभी कहा जाता है कि राजा अपनी इच्छा से भी, बिना शासन की इच्छा जाने मन्त्रियों को अपदस्थ कर सकता है और संसद् (Parliament) को भंग कर सकता है। किन्तु १७८३ से आज तक कोई भी मन्त्रिमण्डल इस प्रकार भंग नहीं किया गया है। यद्यपि संवैधानिक पण्डितों की अब भी यही राय है कि सम्राट् अपने अधिकार से मन्त्रियों को हटा सकता है यदि उसे विश्वास हो जाए कि उनकी नीति का समर्थन राष्ट्र नहीं करेगा भले ही लोक-सभा ने उनकी नीति का समर्थन किया हो। किन्तु इस सम्बन्ध में जेनिंग्ज़ ने ठीक ही कहा है कि "इस प्रकार की दलील संसद् ो भंग करने के लिए ठीक दलील है किन्तु मन्त्रियों को अपदस्थ (Dismissal) रने के लिए उचित नहीं है।"[1] किसी राष्ट्र की कार्यपालिका के प्रधान द्वारा मन्त्रियों हटा देना संसदीय शासन-प्रणाली के अनुसार नहीं है; और इस सम्बन्ध में वैधा-निक पंडित कुछ भी कहें किन्तु इंग्लैण्ड का कोई भी राजा कभी ऐसी हिम्मत नहीं करेगा जब तक कि वह अत्यन्त भयावह जुआ खेलने के लिए तैयार न हो।

पिछले १०० वर्षों में ऐसा कभी नहीं हुआ जबकि मन्त्रियों ने संसद् भंग करने की माँग की हो और सम्राट् ने उनकी प्रार्थना न सुनी हो। फिर भी लोगों में यही धारणा रही है कि यदि सम्राट् चाहे तो ऐसी प्रार्थना को अस्वीकार भी कर सकता है कि यदि उसका यह विचार हो कि प्रधान मन्त्री के संसद् को भंग कराने सम्बन्धी अधिकार से अनुचित लाभ उठाया जा रहा है। इस प्रकार का अवसर आ सकता था यदि, उदाहरणत: चेम्बरलेन (Chamberlain) ने मई १९६० मे संसद् को भंग कराने सम्बन्धी प्रार्थना कर दी होती जबकि जर्मन लोग एल्बर्ट नहर (Albert Canal) को पार कर रहे थे (यद्यपि ऐसा कुछ हुआ नही)। सम्राट् उचित रूप से ही उस समय संसद् को भंग करना अस्वीकार कर देता क्योंकि उस समय असाधारण स्थिति थी। "ऐसे आपात काल में सम्राट् उन अभिसमयों के अनुसार आचरण नहीं करेगा जिनके अनुसार उसको राजनीति से अलग रहना चाहिए और ऐसे अवसरों पर सम्राट् को अन्तिम उपाय के रूप में अपना कर्त्तव्य स्वयं निश्चित करना चाहिए।"[2]

उपाधि परमाधिकार (The Honours Prerogative)—संरक्षण (Patronage) तथा उपाधि-वितरण (Honours) के सम्बन्ध में भी सम्राट् काफी हद तक स्वेच्छा से कार्य करता है। सम्राट् सम्मान का स्रोत (Fountain of Honour) है और सारी उपाधियाँ वही प्रदान करता है। इन उपाधियों के प्रतिग्राहकों (Recipients) के चुनाव में भी अन्य बातों की ही तरह सम्राट् अपने ही विवेक से काम

1. Cabinet Government, op. cit., p. 380.
2. Standard, H.: The Two Constitutions (1950), p. 17.

नही लेता बल्कि मन्त्रियों की सलाह पर चलता है और ऐसे अवसरों पर प्रधान मन्त्री की सलाह ली जाती है किन्तु उपाधि-वितरण के सम्बन्ध मे भी केवल प्रधान मन्त्री की इच्छा ही सब कुछ नही है। यदि कोई नाम सम्राट् को स्वीकार नही है तो वह आपत्ति कर सकता है।[1] इसके विपरीत सम्राट् अपनी ओर से कुछ लोगों को उपाधि-दान के लिए आग्रह कर सकता है। आर्डर ऑफ दी मेरिट (Order of the Merit); गार्टर (The Garter); थिसल (The Thistle) और रायल विक्टोरियन आर्डर (The Royal Victorian Order) का सम्मान देते समय सम्राट् अथवा सम्राज्ञी इसके प्रतिग्राहको के विषय मे स्वय निर्णय करते है।

२. **सम्राट, उपदेष्टा के रूप में** (The King as Adviser)—इससे भी कही अधिक महत्त्वपूर्ण सम्राट् का वह रूप है जिसके अनुसार वह शासन का आलोचक, परामर्शदाता और मित्र है। बेजहॉट (Bagehot)[2] के अनुसार राजा को तीन महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार प्राप्त है, "परामर्श देने का अधिकार, प्रोत्साहन देने का अधिकार और चेतावनी देने का अधिकार" (The right to be consulted, the right to ercourage, and the right to warn)। वह पुनः कहता है, "बुद्धिमान् तथा समझदार सम्राट् को इन अधिकारों के अतिरिक्त और किसी अधिकार की आवश्यकता नही होगी।" जार्ज प्रथम (George I) के समय से ही किसी सम्राट् ने कभी किसी मन्त्रिमण्डल की बैठक में भाग नहीं लिया है किन्तु साधारण मन्त्री की अपेक्षा राजा को उन सब बातों की ज्यादा जानकारी रहती है जो मन्त्रिमण्डल (Cabinet) के समक्ष विचारार्थ आती हैं। वह मन्त्रिमण्डल के सभी पत्रो को देखता है चाहे उन्हे मन्त्रिमण्डल के दफ्तर से घुमाया जाए अथवा विभागों द्वारा। मन्त्रिमण्डल की कार्यसूची (agenda) उसे पहले ही भेज दी जाती है और वह ज्ञापन (Memoranda) के सम्बन्ध में सम्बन्धित उत्तरदायी मन्त्री से बातचीत कर सकता है। यदि सम्राट् को किसी विभाग (Department) से किसी जानकारी की आवश्यकता हो तो वह उसे मांग सकता है। उसको मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही की विवरण पुस्तक मिलती है और विदेश कार्यालय द्वारा प्रकाशित समस्त प्रेषण-पत्र (Daily Print of despatches) प्रतिदिन प्राप्त होते है। संसद् के वाद-विवाद को भी वह "संसदीय प्रतिवेदन" (Official Report) से पढ़ता

---

1. सन् १८५९ में मलिका विक्टोरिया (Queen Victoria) ने ब्राइट (Mr. Bright) को प्रिवी कौंसलर बनाना अस्वीकार कर दिया। १८६९ में उसने सर रौथ्सचाइल्ड (Sir Rothschild) को पीयर बनाना अस्वीकार कर दिया। पुनः १८८१ में उसने ग्लैड्स्टन (Gladstone) की सलाह पर सर गारनैट वूल्जले (Sir G. Wolseley) को पीयर बनाने सम्बन्धी सलाह का विरोध किया। १९०६ में एडवर्ड सप्तम (Edward VII) ने कई पीयर बनाने एवं प्रिवी कौंसलर बनाने के सम्बन्ध में ऐतराज किया यद्यपि जब सम्राट् पर जोर डाला गया तो वह मान गया। देखिए Cabinet Government, op. cit, pp. 1428-30.

2. Bagehot, W. : The British Constitution (The World Classics Edition), p. 67.

रहता है। यदि उसको किसी अन्य जानकारी की आवश्यकता होती है तो वह अपने सैक्रेट्री के द्वारा मंगवा सकता है। इसके अतिरिक्त उसका निजी कर्मचारी वर्ग होता है जो उसको समस्त राजनीतिक महत्त्व की घटनाओं से जानकार करता रहता है। संक्षेप मे प्रधान मन्त्री का यह कर्त्तव्य होता है कि वह सम्राट् को उन सभी बातों से अवगत रखे जो देश अथवा विदेशों मे हो रही हों, मन्त्रिमण्डल के सब निर्णय भी बतावे और किसी भी नीति पर चलने के कारणों को समझाने के लिए उसे सदैव तैयार रहना चाहिए। जैनिंग्ज (Jennings) कहता है कि "कुछ मामलों पर विशेषकर विदेशी एव राष्ट्रमण्डल सम्बन्धी मामलों पर सम्राट् को प्रायः प्रधान मन्त्री से भी अधिक जानकारी होती है।"

इस प्रकार सम्राट् को इतनी राजनीतिक जानकारी एवं अनुभव हो जाता है जितना किसी अन्य शासनाधिकारी राजनीतिज्ञ को भी होना कठिन है। बेजहॉट (Bagehot) ने ठीक ही कहा कि सम्राट् को प्रधान मन्त्री की अपेक्षा दो अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। पहली सुविधा तो यह है कि जहाँ प्रधान मन्त्री एव मन्त्रिगण बदलते रहते है, सम्राट् अपने पद पर मृत्युपर्यन्त चलता है। अतः मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही उसके लिए बराबर एक-सी चलती रहती है और यदि शासन कभी बदलता भी है "तो वह सम्राट् की दृष्टि से साधारण कार्यकर्त्ता लोगों की अदला-बदली है।" इस सब के कारण सम्राट् एक प्रकार से विश्वसनीय मन्त्री के समान है जिसकी सलाह प्रत्येक बुद्धिमान् मन्त्री अवश्य लेना चाहेगा। संक्षेप मे कह सकते है कि "सम्राट् सदैव जानता है कि सामयिक प्रधान मन्त्री के पूर्वगामियों ने क्या गलती की थी और सम्भवतः वह यह भी जानता है कि उन्होंने वे गलतियाँ क्यों की थी।"

इसके अतिरिक्त सम्राट् के विचार तथा उद्देश्य इस कारण और भी लाभदायक होते हैं कि वे राजनीतिक विवादों से आच्छादित नही होवे। सम्राट् की किसी दल विशेष में आस्था नही होती और न वह दलगत कपट प्रबन्धों में ही रुचि रखता है। फिर सभी का सम्राट् पद के प्रति परम्परागत आदर-भाव है जिसके कारण उसके विचारों का महत्त्व बढ़ जाता है। श्री एस्क्विथ (Mr. Asquith) ने सम्राट् के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों पर ज्ञापन लिखते समय कहा है,—"सम्राट् का यह अधिकार भी है और कर्तव्य भी कि वह अपने मन्त्रियों को वह सारी जानकारी प्रदान करे जो उसे हो; उन सभी आक्षेपों को बताए जो मन्त्रियों द्वारा दी गई सलाह पर उचित रूप से लगाए जा सकते हैं और यदि सम्राट् की राय में कोई दूसरी नीति उपयुक्त जान पड़े तो उसे मन्त्री के समक्ष प्रस्तुत करे। मन्त्री लोगों को इस प्रकार की मन्त्रणाएँ सदैव आदरपूर्वक स्वीकार करनी पड़ती हैं और उन मन्त्रणाओं पर किसी अन्य क्षेत्र से दी गई मन्त्रणा की अपेक्षा अधिक समादर से विचार किया जाता है।"[1]

किन्तु सम्राट् का काम मुख्य रूप से मन्त्रणा देना ही है। वह अपने विचारों को इच्छानुसार अधिक से अधिक प्रभावशाली ढंग से रख सकता है। वह मन्त्रियों

1. Life of Lord Oxford and Asquith, op. cit., Vol. II, pp. 29-31.

द्वारा दी गई सलाह पर विरोध प्रदर्शित कर सकता है, किन्तु उसे हठ नहीं करना चाहिये। और अन्त में यदि मन्त्री सम्राट् के विचार से सहमत न हो तो सम्राट् को मान जाना चाहिये। सम्राट् इस हद तक हठ नहीं कर सकता कि शासन का स्थायित्व ही खतरे मे पड़ जाए।

३. सम्राट मध्यस्थ के रूप में (The King as Mediator)—सम्राट् प्रायः मध्यस्थ के रूप मे कार्य करता है और अपने प्रतिष्ठा प्रभाव के द्वारा राजनीतिक मतभेदों को तय करता है या जहाँ तक सम्भव हो "विरोध की प्रचण्ड-भावना को कम कराता है।" चूँकि सम्राट् के पास कोई वास्तविक राजनीतिक शक्ति नही होती और उसके कोई राजनीतिक शत्रु भी नही होते, उसकी मन्त्रणा का आदर किया जाता है और वह प्रायः मान ली जाती है। सन् १८७२ मे रानी विक्टोरिया ने बिना ग्लैडस्टन को बताए लॉर्ड रसेल (Lord Russell) को लिखा था और उससे आग्रहपूर्वक प्रार्थना की थी कि वह अल्बामा प्रश्न (Albama Question) सम्बन्धी पत्रों के लिए आग्रह न करे ताकि शासन व्यग्रता से बचा रहे। पुनः १८८१ मे रानी विक्टोरिया ने जनरल पौन्सनबी (General Ponsonby) से कहा कि वह सर स्टैफर्ड नॉर्थकोट (Sir Stafford Northcote) तथा लार्ड बीकन्सफील्ड (Lord Beaconsfield) से मिल लें जिससे आयरलैण्ड का विरोध समाप्त कराने के लिए शासन के जो प्रस्ताव हैं उन पर सर्वसम्मत समझौता हो जाए। सम्राज्ञी की मध्यस्थता से एक बार पुन बड़ा लाभ हुआ जबकि संसद् के दोनों सदनों के मतभेद दूर हो गए। सन् १९१३ एवं १९१४ में सम्राट् जार्ज पंचम ने प्रयत्न किया कि होम रूल बिल (Home Rule Bill) पर समझौता हो जाए। कुछ इस बात का भी सबूत मिला है कि १९१६ मे लार्ड स्टेमफर्डम (Lord Stamfordham) ने जो सम्राट् के निजी सचिव थे, श्री एस्क्विथ तथा श्री लायड जार्ज (Mr. Asquith and Mr. Lloyd George) के झगड़े को सुलझाने का प्रयत्न किया था, जिसके फलस्वरूप एस्क्विथ ने त्यागपत्र दे दिया। सन् १९२१ के आयरिश होम रूल सम्बन्धी विवाद में जार्ज पंचम (George V) को भी काफी परिश्रम करना पड़ा था। एटली के शब्दों मे, "सम्राट् एक रेफ़ी की तरह है यद्यपि अब ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं जब उसे सीटी बजाने की आवश्यकता पड़े।"

४. सम्राट् राष्ट्र की एकता का प्रतीक (The King as a Symbol of Unity)—इंग्लैण्ड का सम्राट् एक ही साथ कनाडा तथा समस्त राष्ट्रमण्डलीय देशों का भी सम्राट् है। विंस्टन चर्चिल कहता है कि, "सम्राट् एक रहस्यमय अथवा एक जादूभरी कड़ी है जिसने हमारे ढीले बँधे हुए किन्तु दृढ़ता से जुड़े हुए राष्ट्रमण्डलीय देशों, राज्यों तथा जातियों को मिलाए रखा है।"[1] इस प्रकार दूर-दूर बिखरे हुए राष्ट्रमण्डलीय देशों के बीच में सम्राट् एकता का अपरिहार्य प्रतीक (Indispensable Symbol of Unity) है। बैल्डविन (Baldwin) ने एक बार एडवर्ड अष्टम

1. जार्ज षष्ठ (George VI) की मृत्यु पर चर्चिल द्वारा ब्राडकास्ट भाषण।

(Edward VIII) से कहा था कि "सम्राट् ही हमारे बचे-खुचे साम्राज्य की अन्तिम कड़ी है। यदि इस कड़ी को तोड़ दिया जाएगा तो स्वतन्त्र राष्ट्रमण्डलीय देशों के बीच कुछ भी सामान्य प्रतीक नहीं रहेगा।" इन्ही एकता के प्रतीक स्वरूप बन्धनों को सुदृढ बनने के लिए स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर (Statute of Westminster) की एक धारा में कहा गया है कि जब कभी राजसिंहासन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे कोई परिवर्तन हो तो उस समय तदर्थ, राष्ट्रमण्डल के सभी सदस्य राष्ट्रों की अनुमति आवश्यक होगी। इसके अतिरिक्त सम्राट्, राष्ट्रमण्डलीय देशों के सदस्यो के, जिनमें भारत गणराज्य भी सम्मिलित है, स्वच्छन्द साहचर्य का प्रतीक है।

५. सम्राट्, ब्रिटिश जाति के प्रधान के रूप में (The King as the Chief of Nation)—लार्ड बालफ़र (Earl of Balfour) लिखता है कि ब्रिटेन के राजा के पद का ब्रिटेन के संविधान के बहुत से अन्य भागो की तरह एक अत्यन्त अर्वाचीन पहलू भी है। हमारा सम्राट् अपनी उत्पत्ति (Descent) और अपने पद के कारण हमारे राष्ट्रीय इतिहास का जीवित प्रतीक है। अत: सम्राट् हमारी संस्थाओं के स्वरूप को अन्तर्धान करने की अपेक्षा उनके स्वरूप को उजागर करता है। वह न तो किसी दल का नेता है न किसी वर्ग विशेप का प्रतिनिधि है; वह तो सारी ब्रिटिश जाति का प्रधान है......वह सभी का सम्राट् है।"[1] वह वास्तव मे सभी का सम्राट् है और सभी अंग्रेज लोग ऐसा ही सोचते है। सम्राट् के राज्यारोहण, राज्य-तिलक अथवा महोत्सव (Jubilee) के अवसरों पर सभी लोग उसके प्रति राजभक्ति का अपूर्व प्रदर्शन करते हैं। जोश से भरे हुए राज-भक्त प्रजाजन राज-मार्गों पर खड़े होकर सम्राट् की सवारी निकलते हुए देखते हैं जबकि वह राजकीय सज-धज के साथ संसद् के उद्घाटन के लिए जाता है। वास्तव मे सम्राट् की प्रत्येक गतिविधि प्रजा के लिए नई खबर (News) है और उसको प्रचार (Publicity) के हर उपाय द्वारा लोगों के सम्मुख लाया जाता है। लास्की (Laski) का कथन है कि "लड़ाई के बाद से व्यक्तिगत सम्राट् के बारे में जो कुछ प्रशंसाएँ निकली हैं वे पिछले साठ वर्षों के सम्राटों की अपेक्षा किसी अर्द्ध देवता (Demi God) के बारे मे कही जाती तो अधिक उपयुक्त जान पड़ती।"[2]

किसी राजतन्त्र-प्रणाली वाले देश में, राजपद का माध्यम देश-भक्ति के संचार के लिए अति उत्तम है, विशेषकर ऐसे देश मे जहां राजतन्त्र का लम्बा एवं शानदार इतिहास रहा हो। जैनिंग्ज कहता है कि "हम एक ही समय मे शासन को बुरा कह सकते है, साथ ही सम्राट् का जय-जयकार कर सकते हैं।"[3] एक आदमी सम्राट् का राज-भक्त हो सकता है साथ ही शासन का विरोधी भी हो सकता है। अनुदार दल के सदस्य (Conservatives) सन् १९१४ में सम्राट् के प्रति पूर्ण राज-भक्त रहे यद्यपि

1. Introduction to Bagehot's English Constitution, p. XXV.
2. Laski : Parliamentary Government in England, p. 382
3. Jennings . The English Constitution; op. cit., p. 11

वे उदार दल (Liberal) के शासन की नीति सम्बन्धी कुछ बातों का विरोध करते रहे। प्रजा की देश-भक्ति का चाव उस समय और भी तीव्र हो जाता है जबकि सम्राट् युद्ध की घोषणा करता है और शाही सेनाओं के लिए रंगरूटों की मांग करता है। देश की मांग—"तुम्हारा सम्राट् तथा तुम्हारा देश तुम्हारी सेवाएँ चाहता है"—सभी को यह याद दिला देती है कि वे सब एक राज्य के लोग हैं। इस एकता का अत्यन्त साकार प्रतीक है, सम्राट्। जार्ज षष्ठ ने भी युद्ध के बहुत से केन्द्रों और इंग्लैण्ड के बहुत से बमों से नष्ट किए हुए स्थानों को स्वयं जाकर देखा, जिसके फलस्वरूप सिपाहियों तथा नागरिकों मे देश-प्रेम का नया जोश उमड़ने लगा। सभी ने युद्ध जीतने के लिए जान की बाजी लगा दी और अन्त में सम्राट् की राज-भक्त प्रजा की ही विजय हुई। इंग्लैण्ड के राष्ट्रीय गीत का अर्थ है, "भगवान् सम्राट् की रक्षा करें" (God Save the King) और वे सम्राट् के लिए जो इंग्लैण्ड में राज्य का ही प्रतीक हैं, सभी कुछ करते हैं। यहां तक कि उसी के लिए जान भी दे सकते हैं।

६. **सम्राट् का सामाजिक व्यक्तित्व (The King as a social figure)**—सम्राट् केवल राजनीतिक यन्त्र का पुर्जा मात्र ही नही है। वह देश के सामाजिक ढांचे का एक आवश्यक अंग है और इस प्रकार उसका पर्याप्त सामाजिक प्रभाव है। शाही परिवार कला एवं साहित्य के क्षेत्रों तक में भी सद्व्यवहार (morality), लोक-व्यवहार (fashion)[1] एवं कौशल (aptitude) का समावेश कराता है। यदि किसी सार्वजनिक कार्य में सम्राट् का अवलम्बन मिल जाए तो वह बड़ा लाभकारी होगा और वह कार्य निश्चित रूप से लोकप्रिय हो जाएगा। कोई दूसरा व्यक्ति, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, सारे ही राष्ट्र का प्रेम-पात्र नहीं हो सकता। १८८७, १८९७ और १९३५ के सम्राट् सम्बन्धी जुबिली उत्सवों ने तत्कालीन सरकारों को लोकप्रिय अवलम्ब देने की दिशा में बड़ा कार्य किया था।

बैजहॉट कहता है कि "इस प्रकार यह स्पष्ट हो जायगा कि सम्राट् के इन शानदार उत्सवों का उसके शासन के अन्य उत्सवों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व है।" यदि प्रजातन्त्र के माने है, प्रजा के द्वारा शासन तथा प्रजा के लिए शासन—तो सम्राट् की उपस्थिति एवं उसका योग शासन को प्रजातन्त्रीय बनाता है। मारिसन कहता है, "जब प्रजा सम्राज्ञी की जय-जयकार करती है और उसकी प्रशस्तियां गाती है तब वह स्वतन्त्र प्रजातन्त्र की जय जयकार कर रही होती है।" लास्की (Laski) ने ठीक ही कहा कि "सम्राट् का वास्तविक कार्य एक महान् औपधिस्वरूप रहा है न कि पूर्ण हितो के बीच मध्यस्थ स्वरूप।"

---

1 राजकुमारी मारगैरेट (Princess Margaret) एवं राजकुमारी रोज जो अब सम्राज्ञी एलिजाबेथ द्वितीय (Elizabeth II) हैं, दोनों ने शाम को १९३९ के बसन्त में बिना हैट पहने घूमने जाना प्रारम्भ कर दिया। इससे लन्दन के बच्चों का फैशन बन गया और बच्चों के हैटों की बिक्री कम कम हो गई। बच्चों के हेट बेचने वालों का एक मंडल सम्राज्ञी से मिला और उसने अपनी परेशानी सम्राज्ञी को बताई। सम्राज्ञी ने बच्चों को आज्ञा दी कि शाम को टहलने जाते समय हैट अवश्य पहनें और बच्चों में फिर हैट पहिनने का फैशन हो गया।

७. सम्राट् और संसदीय शासन (The King and Parliamentary Government)—मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली ऐसे किसी भी देश मे सफल नही हुई है जहाँ पर नाम-मात्र का राष्ट्र का प्रधान न हो—वह चाहे इग्लैण्ड की तरह से राजा हो अथवा फ्रांस की तरह राष्ट्रपति हो। किन्तु राजनीतिक दृष्टिकोण से जो व्यक्ति किसी दल विशेष का न हो और दलगत आस्थाओ से ऊपर हो, वही व्यक्ति संसदीय शासन-प्रणाली के लिए सर्वाधिक उपयुक्त प्रधान होगा। राज्य का चुना हुआ• प्रधान प्राय: उन्नत पद प्राप्त राजनीतिज्ञ (Promoted Politician) ही होता है, और वह चाहे कितनी भी निष्ठापूर्वक अपनी पुरानी दलगत आस्थाओं को भुलाने का प्रयत्न करे किन्तु वह ऐसा पूरी तरह नही कर सकता। और यदि वह (चुना हुआ प्रधान) भूल भी जाए तो भी उसके पुराने साथी तो नही भूल जायेंगे। किन्तु चुने हुए प्रधान के विपरीत, सम्राट् की कोई दलगत आस्थाएँ नही होतीं। उसकी अति महती स्थिति है—एक महान् राजसिंहासन का सम्राट् होने के कारण वह एक बिल्कुल दूसरे ही प्रकार के वातावरण में विचरता है। वह सभी का सम्राट् है और किसी दल विशेष से उसका कोई सम्बन्ध नही रहता। "इसके फलस्वरूप वह सदैव न केवल पक्षपात-रहित होकर सभी काम करता है—बल्कि इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सभी उसकी पक्षपात-शून्यता पर पूर्ण विश्वास करते हैं।" यदि इग्लैण्ड में संसदीय शासन को उसी प्रथम श्रेणी की प्रणाली के रूप में रखना है जिसमे उसका विकास हुआ है तो हमको उस प्रणाली के प्रतिनिधि के रूप में अत्यन्त महाप्रतापी एवं पूर्ण पक्ष-पातहीन सम्राट्-पद को रखना ही होगा।

निष्कर्ष (Conclusion)—इंग्लैण्ड के सम्राट् की लोकप्रियता तथा ब्रिटिश राजनीति में उसके प्रमुख स्थान को सभी मानते है। इग्लैण्ड में इस बात के प्रयत्न हुए है कि लार्ड-सभा (House of Lords) को या तो सुधारना चाहिए अन्यथा उसका अन्त कर देना चाहिए; और लोक-सभा (House of Commons) और मन्त्रि-मण्डल (Cabinet) को भी सुधारने के प्रयत्न हु हैं। किन्तु राजपद सदैव समय के अनुरूप रहा है। सर्वसाधारण अनुभव करते है कि "राजपद देश को एकता, गौरव एवं स्थिरता प्रदान करता है।" यदि राजपद को समाप्त किया जाता है तो उसके स्थान पर या तो फ्रांस के अध्यक्ष की तरह या अमेरिका के अध्यक्ष की तरह अध्यक्ष पद (Presidency) स्थापित होगा। अमरीकी ढंग की अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली ठीक नही रहेगी क्योकि इसको अपनाने पर देश के राजनीतिक ढांचे में क्रांति-कारी परिवर्तन करने पड़ेंगे। अंग्रेज इसके लिए कभी राजी न होंगे। अंग्रेज अपने स्वभाववश अ-परिवर्तनवादी है और अपनी पूज्य संस्थाओ को नष्ट करने के लिए कभी तैयार नही होंगे। राजपद के अपने लाभ है जो इंग्लैण्ड में एक संस्था के रूप में स्पष्ट एवं विशिष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। लॉवेल (Lowell) ने ठीक ही कहा है, "यदि राजा, राज्य के पोत की प्रेरक शक्ति नही है, तो भी वह उस पोत का मस्तूल है जिस पर पाल लटका हुआ है और इस प्रकार यह उस पोत का न केवल लाभदायक अपितु अत्यन्त आवश्यक भाग है" और इस प्रकार चाहे प्रजातन्त्र में राजपद असामयिक जान पड़े किन्तु वह ब्रिटेन की संवैधानिक शासन-प्रणाली में

इतनी पूर्णता से घिरा हुआ है कि ऑग (Ogg) के शब्दों में देश इसी प्रकार "राजपदीय गणराज्य" (Crowned Republic) बना रहेगा एवं बना रहना चाहिए। इस दिशा मे केवल साम्यवादी (Communists) ही विरोध करते है। ये साम्यवादी मुठ्ठी भर है और आम जनता पर इनका कोई प्रभाव नही है। संसद् मे भी एक लॉर्ड के अतिरिक्त इनको कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नही है। लार्ड मिलफोर्ड, (Lord Milford) जो अपने पिता की मृत्यु पर लॉर्ड बने हैं, अभी तक लॉर्ड सभा में अपना स्थान ग्रहण नही कर सके है क्योंकि नियमानुसार उनका नाम किन्ही दो लॉर्डों द्वारा अब तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका है।

Suggested Readings

Bagehot, W. : *English Constitution.*

Finer, H. : *Governments of Greater European Powers*, Chap. IX.

Greaves, H. R. G. : *The British Constitution* (1951), Chap. IV.

Jennings, W. L. : *Cabinet Government* (1951), Chap. XII.

" " : *The British Constitution* (1942), Chap. V.

Keith, A. B. : *The Constitution of England from Queen Victoria to George VI*, Vol. I, Chaps. II-III.

Laski, H. J. : *Parliamentary Government in England* (1938), Chap. VIII.

Lowell, A. L. : *The Government of England* (1908), Vol. I, Chap. I.

Marriot, J. A. R. : *Mechanism of the Modern State* (1927), Vol. II, Chaps. XXIII, XXIV.

Martin, K. : *The Magic of Monarchy.*

Morrison Herbert : *Governments and Parliament*, Chap. V.

Munro, W. B. : *The Government of Europe* (1947), Chap. IV.

Ogg, F. A. : *English Government of Europe* (1936), Chaps. IV and V.

Ogg and Zink : *Modern Foreign Governments* (1953), Chap. III.

Standard, H. : *The Two Constitutions* (1950), Chap. I.

प्रिवी परिषद्, मन्त्रालय और मन्त्रिमण्डल
(Privy Council, Ministry and Cabinet)

क्राउन की शक्तियाँ कई साधनों द्वारा प्रयुक्त को जाती है। कुछ का प्रयोग मन्त्री लोग एकाकी अपने विवेक से उन विभागों (Departments) में करते है, जो उनके अधीन होते हैं। कुछ का प्रयोग प्रिवी परिषद् (Privy Council) तथा उसकी विभिन्न समितियाँ करती हैं, कुछ का प्रयोग मन्त्रिमण्डल करता है तथा कुछ का प्रयोग स्थायी सिविल सर्विस के अधिकारियों की सहायता से होता है। अब हम विचार करेंगे कि वे सभी साधन किस प्रकार अपना-अपना कार्य करते है।

प्रिवी परिषद्
(The Privy Council)

उत्पत्ति तथा विकास (Origin and Development)—इंग्लैण्ड में प्रारम्भिक काल से एक परिषद् हुआ करती थी। वह कुछ ऐसे व्यक्तियों की मण्डली थी, जो राजा की सेवा में उपस्थित रहा करते थे कुछ नियमित कर्तव्य करते रहते थे और राजा को सलाह देने का कार्य करते थे। प्रिवी परिषद् (Privy Council) एक सरकारी नाम है जो विधि में उन लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो राजा के सलाहकार होते हैं। प्रिवी परिषद् का आदि मूल राजा की वही परिषद् (King's Council) अथवा लघु परिषद् (Curia Reges) थी जो नॉरमन काल से विभिन्न नामो में किन्तु अविच्छिन्न इतिहास के रूप में चली आ रही है। लैंकास्ट्रियन वंश (Lancastrian Kings) के राजाओं के काल मे प्रयत्न किया गया था कि यह परिषद् संसद् के अधीन रहे किन्तु सफलता नही मिली। १६वी शताब्दी मे राजा की परिषद् अथवा प्रिवी परिषद् ट्यूडर राजाओं की निरकुशता की शक्तिशाली माध्यम बन गई। अगली शताब्दी में इस परिषद् की शक्तियो में कमी आ गई। अब राजा के सलाहकारों में से भी एक अन्तरंग सभा (Inner circle of the King's Advisers) बन गई जिसके हाथों मे वास्तविक शक्ति आ गई और यही अन्तरंग सभा मन्त्रिमण्डल या कैबिनेट (Cabinet) कहलाने लगी।

प्रिवी परिषद् का आधुनिक स्वरूप तथा उसके कार्य (Its Present Composition and Functions)—प्रिवी परिषद् इस समय भी वर्तमान है किन्तु आजकल इसके पास मन्त्रणा देने के सम्बन्ध मे कोई शक्ति नही है। यह केवल एक औपचारिक समिति है जिसके द्वारा बहुत सी प्राचीन रचनाएँ नये रूप में होती रहती हैं, किन्तु जो वास्तव में संसद् अथवा मन्त्रियो के विनिश्चयों को व्यावहारिक स्वरूप देती है,

मन्त्रणा देने के सम्बन्ध में सारा भार अब मन्त्रिमण्डल ने अपने ऊपर ले लिया है और प्रिवी परिषद् द्वारा किया जाने वाल बहुत सा कार्य अब सरकारी विभाग करने लग पड़े हैं।

आजकल प्रिवी परिषद् में लगभग ३०० सदस्य हैं। किन्तु इसकी सारी कार्यवाही केवल चार या पांच सदस्यों की उपस्थिति में ही की जाती है जो सदैव मन्त्रिमण्डल के भी सदस्य होते हैं। समस्त प्रिवी परिषद् केवल दो अवसरों पर सम्मिलित होती है—प्रथम जबकि सम्राट् की मृत्यु होती है; द्वितीय जब सम्राट् या सम्राज्ञी अपने विवाह की इच्छा की घोषणा करते हैं।

प्रिवी परिषद् में समस्त केबिनेट मन्त्री जो उस समय हों तथा जो पहले कभी रह चुके हों, सदस्य होते हैं,[1] साथ ही प्रिंस ऑफ वेल्स (Prince of Wales), शाही ड्यूक गण (Royal Dukes), प्रधान धर्माधिकारीगण (Arch Bishops), लन्दन के बिशप (Bishops of London) और बहुत से अन्य व्यक्ति जो राजनीति, कला, साहित्य, विज्ञान अथवा कानून आदि किसी क्षेत्र में विख्यात हों परिषद् के सदस्य (Privy Councillors) बना दिए जाते हैं। आजकल राजदूत भी प्रायः प्रिवी काउन्सिलर्स बना दिए जाते हैं और सन् १८६७ से ऐसी प्रथा सी बन गई है कि अधिराज्यों (dominions) के प्रधान मन्त्रियों को भी नियमपूर्वक प्रिवी परिषद् का सदस्य बनने का निमन्त्रण दिया जाता है।[2] लोक-सभा (House of Commons) के स्पीकर को भी प्रिवी परिषद् की सदस्यता विधिवत् अर्पित की जाती है। प्रिवी परिषद् के सभी सदस्यों की उपाधि 'सम्माननीय' (Right Honourable) होती है।

प्रिवी परिषद् की सभाएँ प्रायः बकिंघम पैलेस (Buckingham Palace) में दो या तीन सप्ताहों में एक बार होती हैं और साधारणतया राजा उनमें उपस्थित होता है। पुरानी प्रथा के अनुसार इस सभा की गणपूर्ति (Quorum) ३ सदस्यों से हो जाती है और ऐसा स्पष्टत. इस कारण है कि केवल चार या पाँच सदस्यों को *आमन्त्रित किया जाता है जो प्रायः सभी मन्त्रिमण्डल के सदस्य होते हैं।* बहुत ही कम अवसरों पर मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के अतिरिक्त किसी व्यक्ति को परिषद् की बैठक में बुलाया जाता है। लार्ड प्रेसीडेण्ट (Lord President) जो सदैव केबिनेट का मन्त्री (Cabinet Minister) होता है, इसकी सभाओं का सभापतित्व करता है ' ये चार या पांच प्रिवी कौंसिलर लार्ड प्रेसीडेण्ट (Lord President) की अध्यक्षता मे सम्मिलित होकर सारी कार्यवाही, समस्त प्रिवी परिषद् (Privy Council) के नाम में करते है।

---

1. जो व्यक्ति एक बार प्रिवी परिषद् का सदस्य बन जाता है वह आम तौर पर जीवन-पर्यन्त सदस्य बना रहता है।

2. जनरल हर्टजोग (Gen. Hertzog) तथा मि० डी वेलेरा (De Velara) ने प्रिवी परिषद् की सदस्यता अस्वीकृत कर दी थी।

प्रिवी परिषद् एक विचारशील निकाय नही है। इस अर्थ मे यह मन्त्रिमण्डल से भिन्न है। यह मुख्यत: कार्यपालिका सम्बन्धी कर्त्तव्यों का निर्वहन करती है और मन्त्रियों द्वारा किए गए विनिश्चयों पर अपनी औपचारिक आज्ञा प्रदान करती है। प्रिवी परिषद् द्वारा जारी की गई आज्ञाएँ परिषद्-आदेश (Orders-in-Council) कहे जाते है और वे या तो परिनियम या परमाधिकारिक आदेश (Statutory or prerogative) होते हैं। परिनियम या संविधि सम्बन्धी आदेशों को प्रदत्त या प्रत्यायुक्त विधान (Delegated Legislation) समझना चाहिए। संसद् (Parliament) विधि द्वारा ऐसे मामलों मे आज्ञा दे देती है कि परिषद्-आदेश के द्वारा नियम बना लिए जाएँ। राजा के परमाधिकार सम्बन्धी परिषद्-आदेश (Order-in-Council) बिल्कुल भिन्न है। इनके द्वारा क्राउन अपने परमाधिकारों का सीधा उपभोग करता है और इस सम्बन्ध मे ससद् में से औपचारिक सम्मति लेने की भी आवश्यकता नही है। यह वास्तव में अ-संसदीय विधान है। किन्तु इस प्रकार के परिषद्-आदेश (Orders-in-Council) रूढ़ित: उपनिवेशों के लिए विधान निर्माण करते समय निकाले जाते हैं क्योकि उपनिवेशो में प्रतिनिधिक सभाएँ (representative assemblies) नही हैं।

प्राचीन काल की तरह आज भी प्रिवी परिषद् से ही समितियों के लिए तालिका (panel) तैयार की जाती है। समितियों की सभाएँ प्रिवी परिषद् की सभाओं से भिन्न है क्योंकि उनमें सम्राट् संवैधानिक रूप से उपस्थित नही हो सकता। इन समितियो का कार्य केवल सलाह देना ही होता है। जर्सी एवं ग्वेर्नसे (Jersey and Guernsey) के सम्बन्ध मे समिति का पुराना इतिहास है। इसी प्रकार ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय तथा स्काटलैण्ड के विश्वविद्यालयों के लिए समितियाँ हैं। रानी विक्टोरिया के आरम्भिक शासन-काल में प्रिवी परिषद् को एक समिति के माध्यम द्वारा बहुत से अन्य कर्त्तव्य सौंप दिए गए थे, किन्तु वे सब बाद मे विभागों (Departments) को दे दिए गए। प्रिवी परिषद् का सम्बन्ध शिक्षा के साथ बहुत काल तक रहा और अन्त में १८९९ में समिति के स्थान पर शिक्षा-बोर्ड स्थापित किया गया, जिसका सभापति स्वतन्त्र व्यक्ति नियुक्त किया गया।

प्रिवी परिषद् की इन समितियों में सबसे मुख्य समिति न्यायिक समिति (Judicial Committee) है जिसका निर्माण १८३३ मे किया गया था। इस समिति मे मुख्य रूप से न्यायाधीशगण और भूतपूर्व लार्ड चांसलर (Lord Chancellors) होते हैं। न्यायिक समिति (Judicial Committee) निर्णय नहीं सुनाती अपितु सम्राट् को सलाह देती है। सम्राट् समिति की रिपोर्ट पर कार्य करता हुआ दिए गए सम्बन्धित परिषद्-आदेश (Order-in-Council) का अनुमोदन करता है। यही समिति ग्रेट ब्रिटेन, इसके आधीन राज्यों और राष्ट्रमण्डल के कुछ सदस्य देशों की अदालतों से प्राप्त होने वाली अपीलों के लिए, और धर्मोपदेश-विषयक और प्राइज-कोर्ट (Prize-court) सम्बन्धी समस्त मामलों के लिए भी सर्वोच्च अपीलीय-कोर्ट के रूप में कार्य करती है।

प्रिवी परिषद् के कार्यालय का एक मुख्य कर्तव्य यह है कि यह विभिन्न प्रकार की खोजों एवं अनुसंधानों का प्रबन्ध एवं देखभाल करे। इसका यह भी कार्य है कि आर्थिक एकीकरण की दिशा में प्रयत्न करे; साथ ही ब्रिटिश ब्रॉडकास्टिंग कार्पोरेशन (B. B. C.) की नीति निर्धारण करे और केन्द्रीय सूचना कार्यालय के कार्यों की भी देखभाल करे।

मंत्रालय

(The Ministry)

मंत्रालय और मन्त्रिमडल (The Ministry and the Cabinet)—मंत्रालय (Ministry) शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। कभी-कभी यह मन्त्रिमण्डल (Cabinet) के अर्थों में भी प्रयुक्त होता है मानो दोनों शब्द समानार्थक हों। कभी-कभी इसका अर्थ होता है मन्त्रिमण्डल और उसके साथ सम्मिलित वे अन्य मन्त्री जो मन्त्रिमण्डल के सदस्य नही होते। मन्त्रालय शब्द का दूसरा अर्थ अधिक बढ़िया है। जब नये प्रधान मन्त्री की नियुक्ति होती है तो उसे लगभग ७० पदों की नियुक्तियाँ करनी पड़ती हैं जिनमें कुछ बड़े पद तथा कुछ छोटे पद होते हैं; और वे सब मिलाकर मन्त्रालय (Ministry) कहलाते हैं। उदाहरणार्थ चर्चिल (Mr. Churchill) ने १६५१ में जो मन्त्रिमण्डल बनाया था उसमे १६ सदस्य थे। मंत्रिमण्डल के इन मन्त्रियों के अतिरिक्त २२ अन्य मन्त्री थे जो मन्त्रिमण्डल में नहीं थे। इसके अतिरिक्त ३० से अधिक उपमन्त्री थे और इन लगभग ६० मन्त्रियों के योग से चर्चिल का मन्त्रालय (Ministry) बना। अक्टूबर १६६४ में हैरल्ड विल्सन (Harold Wilson) द्वारा बनाई गई श्रमिक-दल की सरकार मे १०१ मन्त्री और ससदीय सचिव हैं। अपने पूर्ववर्ती अनुदार दल के नेता सर डगलस होम (Sir Douglas Home) की सरकार के समान ही इस मन्त्रिमंडल मे २३ सदस्य हैं। इस प्रकार सुगमता के अभिप्राय से मन्त्रालय में सभी प्रकार के बड़े और छोटे मन्त्री सामूहिक रूप से समझे जाते हैं।

नामकरण एवं महत्त्व के आधार पर मन्त्री लोग भिन्न होते हैं। मंत्रालय (Ministry) के मन्त्रियों में से लगभग बीस प्रभावशाली मन्त्रियों का तो मन्त्रिमंडल बनता है। ये सामूहिक रूप से ही समवेत होते, नीति निर्धारित करते और सामान्यतः शासन का मार्गदर्शन करते है। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि मंत्रिमण्डल का प्रत्येक मन्त्री किसी न किसी प्रशासनिक विभाग (Administrative Department) का अध्यक्ष अवश्य ही हो। कुछ ऐसे पद होते हैं जिनमें वेतन तो मिलता है किन्तु कोई विशिष्ट कार्य उस पद के लिए निर्दिष्ट नही है। ऐसे महान् राजतीतिक प्रभाव के व्यक्ति जिनकी क्षमता विभागीय काम देखने-भालने योग्य नही रह जाती अथवा ऐसे लोग जिनकी प्रशासन में रुचि न रह गई हो किन्तु जिनकी मन्त्रणा का सदैव महत्त्व है, ऐसे पदो पर नियुक्त कर दिए जाते है, तथा उन्हें उन पदो के लिए कोई

विशिष्ट कर्त्तव्य नहीं करने होते।[1] उदाहरणतः लॉर्ड प्रिवी सील (Lord Privy Seal) के समस्त कर्त्तव्य १८८४ में समाप्त कर दिये गये किन्तु फिर भी वह मन्त्रि-मण्डल का सदस्य रहता है। लॉर्ड प्रेसीडेण्ट ऑफ दी काउन्सिल (Lord President of the Council) को भी सामान्य से काम देखने पड़ते हैं। "कभी-कभी इन पदों पर उपयोगिता की दृष्टि से ऐसे मन्त्री नियुक्त कर दिये जाते है जिन पर महान् उत्तरदायित्व के वे काम डाल दिये जाते हैं जो विभागीय किस्म की अपेक्षा सामान्य किस्म के अधिक होते हैं।" यही बात सर जॉन एण्डरसन (Sir John Anderson) के बारे में भी है जो १९४०-१९४३ तक लॉर्ड प्रेसीडेण्ट (Lord President) बना रहा और इसी प्रकार हर्बर्ट मॉरिसन १९४५ के श्रमिक दलीय शासन (Labour Government) में लार्ड प्रेसीडेण्ट नियुक्त हुआ। १९६१ में मैकमिलन की सरकार में लार्ड प्रेसीडेण्ड आफ दी काउन्सिल को वैज्ञानिक तथा प्राविधिक विकास की अभिवृद्धि के लिए विज्ञान-मन्त्री के रूप मे सामान्य काम सौंपा गया। लॉर्ड प्रिवी सील लोक-सभा में विदेश-विभाग का कार्य संभालते थे। अर्ल होम (Earl of Home) जो कि विदेश विभाग के सचिव थे, लार्ड-सभा से थे। इसके अतिरिक्त विभागहीन मन्त्रियों (Ministers without Portfolio) की नियुक्ति हो सकती है।

द्वितीयतः, कुछ ऐसे मन्त्री नियुक्त किये जाते हैं जिनका दर्जा मन्त्रिमण्डल के मन्त्री के समकक्ष (As of Cabinet Rank) ही होता है। एटली (Mr. Attlee) ने १९४९ में जो श्रमिक सरकार बनाई थी उसमें १५ ऐसे मन्त्री थे।[1] मन्त्रिमण्डल दर्जे के मन्त्री (Ministers of the Cabinet Rank) प्रशासनिक विभाग के अध्यक्ष होते हैं, और यद्यपि औपचारिक रूप से उनका वही दर्जा होता है जो मन्त्रिमण्डल के मन्त्री का; और दोनों को समान वेतन मिलता है, किन्तु वे स्वयं मन्त्रिमण्डल के मन्त्री नहीं होते। वे मन्त्रिमण्डल की बैठकों में तभी उपस्थित होते है जब प्रधान मन्त्री उन्हे विशेष रूप से उनके विभाग से सम्बन्द्ध किसी मामले पर मन्त्रणा करने के लिए आमन्त्रित करे। १९५१ में चर्चिल की सरकार में ऐसे मंत्रियों की संख्या १८ थी।

इसके बाद राज्य मन्त्रियों (Ministers of the State) का दर्जा आता है। ये उन सरकारी विभागों में उपमन्त्री होते हैं जहाँ काम अधिक रहता है या अनेक प्रकार का होता है। उनकी स्थिति पूर्ण मन्त्री तथा संसदीय सचिव के बीच की होती है। लार्ड बीवरब्रुक को १९४१ में सर्वप्रथम राज्य मन्त्री बनाया गया और तब से यह प्रथा कायम है। हर्बर्ट मोरीसन (Herbert Morrison) के विचार से राज्य मन्त्री के पद का निर्माण करने का मंतव्य यह है कि संसदीय सचिव से ऊँचे पद का

1. १८६८ के व्यापार बोर्ड (Board of Trade) में जॉन ब्राइट (John Bright) सफल प्रशासक सिद्ध नहीं हुआ। किन्तु बाद में वही चांसलर ऑफ दी डची (Chancellor of the Duchy) के पद पर अत्यधिक सफल सिद्ध रहा।

2. Jennings : Cabinet Government, op. cit. p. 505.

मन्त्री नियुक्त किया जाए जो कार्य के बोझ से दबे हुए मन्त्रियों के भार को संसदीय सचिव की अपेक्षा अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण रीति से हल्का कर सकता है। हैरल्ड विल्सन (Harold Wilson) की सरकार में राज्य मन्त्रियों (Ministers of State) की संख्या १६ है, जब कि होम (Home) की सरकार मे ऐसे मन्त्री १० ही थे।

तृतीयतः, संसदीय सचिव (Parliamentary Secretaries) अथवा अवर मन्त्री (Junior Ministers) होते हैं। प्रायः प्रत्येक विभागीय मन्त्री के पास एक संसदीय सचिव होता है। यदि विभाग बड़ा हो तो दो संसदीय सचिव भी हो सकते है। संसदीय सचिव उस स्थायी सचिव से भिन्न होता है, जो विभाग में सिविल सर्विस का वरिष्ठ अधिकारी होता है। संसदीय सचिव प्रायः कॉमन सभा के सदस्य होते हैं, अन्यथा वे लार्ड सभा के सदस्य होते हैं। उनका सम्बन्ध बहुमत दल से होता है और उनकी नियुक्ति प्रधान मन्त्री सम्बद्ध मन्त्री की मन्त्रणा से करता है। वे उसी समय तक अपने पद पर रहते हैं जब तक कि प्रधान मन्त्री उन्हे पद पर रखना चाहता है। वे क्राउन के मन्त्री नही होते और संवैधानिक रूप से उन्हें कोई शक्ति प्राप्त नही होती है। अन्ततः शाही परिवार के पांच राजनीतिक अधिकारी होते है, जिनमे कोषाध्यक्ष (Treasurer), नियन्त्रक (Comptroller) तथा राजमहल का प्रधान कर्मचारी (Chamberlain) भी सम्मिलित होते हैं। इन पदों का राजनीतिक महत्त्व है, और इन पर काम करने वाले लोग मन्त्री समझे जाते हैं।

इन समस्त श्रेणियों के मन्त्रिगण, जिनको मिलाकर मन्त्रालय का निर्माण होता है, संसद् के सदस्य होते है, और वे सब लोक-सभा (House of Commons) के बहुमत दल से सम्बन्धित होते है।[1] वे सब व्यक्तिगत रूप से एवं सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी हैं और वे तभी तक मन्त्री बने रह सकते है जब तक लोक-सभा के विश्वास-भाजन बने रहे। "इस प्रकार मन्त्रालय में क्राउन के सभी अधिकारीगण भी हो सकते हैं यदि वे संसद् के सदस्य हो और लोक-सभा के प्रति सीधे उत्तरदायी हों और उन्हे लोक-सभा के स्थायी बहुमत का समर्थन प्राप्त हो।"

---

1. यह पूर्व प्रचलित अभिसमय है कि मन्त्री या तो लॉर्ड-सभा (House of Lords) या लोकसभा (House of Commons) का सदस्य हो किन्तु इस अभिसमय के कतिपय अपवाद भी रहे हैं। १८४५ में ग्लैड्स्टन (Gladstone) उपनिवेश मन्त्री (Colonial Secretary) था। इस पर ग्लैडस्टन संसद का सदस्य न होते हुए भी नौ मास तक बना रहा। सन् १९२२-२३ में सर ए० जी० बासकावन (Sir A. G. Bosecawen) कृषि मन्त्री इसी प्रकार रहे। जनरल स्मट्स (General Smutts) विभागहीन मन्त्री रहा, और फिर युद्ध-काल में १९१६ से युद्ध के अन्त तक युद्ध मन्त्रिमण्डल का सदस्य रहा, यद्यपि वह इस काल में संसद् का सदस्य नहीं था। रैम्जे मैकडानल्ड (Ramsay MacDonald) और उसका पुत्र माल्कम मैकडानल्ड (Malcolm MacDonald) नवम्बर १९३५ से १९३६ के आरम्भ तक मन्त्रिमण्डल के मन्त्री रहे, यद्यपि वे दोनों संसद् के सदस्य नहीं थे। नवम्बर १९३५ में जो आम चुनाव हुआ उसमे दोनों पिता और पुत्र हार गये।

किन्तु सारे मन्त्रालय के सामूहिक कर्त्तव्य कुछ नही है। यह काम मन्त्रिमण्डल का है। मन्त्रिमण्डल के मन्त्री एक समिति के रूप में समवेत होते है, विचार करते है, नीति निर्धारित करते हैं, और उन्हीं को यह भी देखना पड़ता है कि उस नीति पर ठीक-ठीक आचरण हो रहा है अथवा नही। समस्त मन्त्रालय कभी भी एक साथ नही समवेत होता और वह कभी भी नीति सम्बन्धी कोई निर्णय नही करता। एक साधारण मन्त्री के कर्त्तव्य—मन्त्रिमण्डल के मन्त्री की बात दूसरी है—अकेले उसके कर्त्तव्य होते है जिनका सम्बन्ध उस प्रशासनिक विभाग अथवा विभागों से है जो उसके अधिकार में होते हैं। "सक्षेप मे हम कह सकते है कि मन्त्रिमण्डल का मन्त्री महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार करके निश्चय करता है, प्रिवी परिषद् उन विनिश्चयो को क्रियान्वित करने की आज्ञप्ति जारी करती है और उन्हे क्रियान्वित करना व्यक्तिगत मन्त्री का काम है। वे तीनों क्रियाएँ अलग-अलग चलती है और देखी जा सकती हैं भले ही ऐसा बहुधा हो सकता है कि मन्त्रिमण्डल का मन्त्री, प्रिवी परिषद् का सदस्य और मन्त्री, तीनो एक ही व्यक्ति हों।"

मन्त्रिमण्डल
(The Cabinet)

विधि के निकट अपरिचित (Not Known in Law)—मन्त्रिमण्डल एक प्रकार से ब्रिटिश सवैधानिक शासन-प्रणाली का हृदय है। यह वह सर्वोच्च नियंत्रक शक्ति है जिसको बार्कर (Barker)[1] के शब्दो मे नीति का चुम्बक कह सकते है। वह समस्त कार्यपालिका-शक्ति का एकीकरण और नियन्त्रण करता है और साथ ही व्यवस्थापिका के बिखरे हुए भागो को पूर्ण करता है तथा उन्हें मार्गदर्शन देता है। बैजहाट के अनुसार, "ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल एक हाइफन (Hyphen) है जो जोड़ता है, एक बकसुआ (Buckle) है जो कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका को एक साथ बाँध देता है।" लॉवेल (Lowell) उसे "राजनीतिक वृत्तखण्ड के मेहराब के बीच का पत्थर कहता है।" सर जोन मैरियट (Sir John Marriot) के अनुसार, "मन्त्रिमण्डल वह धुरा है जिसके चारों ओर सारा शासन-चक्र घूमता है।" रैम्ज़े म्योर (Ramsay Muir) के अनुसार, "मन्त्रिमण्डल राज्य के जहाज का परिचालक चक्र है।" सर आइवर जैनिंग्ज़ ने संक्षेप मे कहा है "कि मन्त्रिमण्डल समस्त ब्रिटिश शासन प्रणाली को एकता प्रदान करता है।" मन्त्रिमण्डल का कैसी भी रंगीन कलम से चित्रण किया जाए और इसको किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाए, यह निस्सन्देह इंग्लैण्ड में समस्त राजनीतिक क्रियाओं की प्रेरक शक्ति है। फिर भी मन्त्रिमण्डल विधि के निकट अपरिचित है।

मन्त्रिमण्डल भी ब्रिटेन की बहुत-सी संवैधानिक संस्थाओं की ही तरह संयोग का जात है। १९३७ तक मन्त्रिमण्डल शब्द किसी संसद् द्वारा पारित विधि में प्रयुक्त नही हुआ और मिनिस्टर्स ऑफ दि क्राउन ऐक्ट (Ministers of the Crown Act,

1. Britain and the British People (1934), p. 54.

1937) मे इसका संयोगवश नाम आया है।[1] चूँकि मन्त्रिमण्डल का कोई वैधिक अस्तित्व ही नहीं है अतः इसके कार्य के पीछे विधि की शक्ति नहीं है। इसलिए मन्त्रिमण्डल के न्यायिक कर्त्तव्य औपचारिक रूप से प्रिवी परिषद् के नाम मे किये जाते है क्योंकि देश की प्रचलित विधि के अनुकूल प्रिवी परिषद् का अस्तित्व है। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल-शासन-प्रणाली की समस्त व्यवस्था अभिसमयों पर आधारित है जो अलिखित होते हुए भी सदैव उतने ही मान्य एव यथार्थ तथा शुद्ध है जितने कि विधि के नियम। निस्संदेह यह ब्रिटिश सविधान की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है।

प्रधान मन्त्री के पद का और मन्त्रिमण्डल का विकास (Development of the Office of Prime Minister and Cabinet)—मन्त्रिमण्डल शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में कुछ ऐसे मन्त्रियो की समिति के लिए होता था जिससे स्टुअर्ट वश के अन्तिम राजा अपने पूर्वगामियो की प्रिवी परिषद् को त्यागकर मन्त्रणा किया करते थे। इसके बाद १६८८ की महान् क्रान्ति हुई और फलस्वरूप संसद् की शक्तियाँ बढ गईं। *विलियम तृतीय (William III)* ने राजसिंहासन पर आते ही अपना मन्त्रिमण्डल ह्विग (Whigs) तथा टोरी (Tories) दलों में से बनाया। किन्तु उसने शीघ्र ही अनुभव किया कि टोरी (Tories) दल के सदस्य उसकी नीति की कटु आलोचना करते हैं जिसके कारण उसको शान्तिपूर्वक शासन चलाना कठिन हो गया। इसलिए उसने धीरे-धीरे अपने मन्त्रिमण्डल मे से टोरियों (Tories) को निकाल दिया और उसने पहली बार अपने मन्त्रिमण्डल मे सभी मन्त्री एक ही दल के चुने। सन् १६९६ की ह्विग पार्टी (Whigs) की गुप्त समिति (Junto) ही वास्तव मे मन्त्रिमंडल शासन-प्रणाली की जननी थी। सम्राज्ञी एन (Queen Anne) के शासन काल मे *इसका और भी अधिक विकास हुआ क्योंकि अब वह गुप्त समिति (Whig Junto)* नीति भी निर्धारित करने लगी जबकि उसके पूर्वगामी अपने मन्त्रिमंडलों से केवल मन्त्रणा भर कर लेते थे। किन्तु रानी एन (Queen Anne) यदि किसी मन्त्री से अप्रसन्न हो जाती थी तो उसे हटा भी देती थी। साथ ही विलियम और एन दोनों (William and Anne) मन्त्रिमण्डल की सभाओं मे उपस्थित होकर स्वय अध्यक्षता करते थे।

वास्तविक मन्त्रिमंडल शासन-प्रणाली का जन्म उस समय हुआ जब से राजा ने मन्त्रिमंडल की सभाओं मे स्वयं उपस्थित होना बन्द कर दिया। ऐसा सयोगवश १७१४ मे हुआ जब जार्ज प्रथम (George I) ने परिषद् सभाओ में इस कारण उपस्थित होना बन्द कर दिया कि वह अंग्रेजी भाषा नही जानता था। राजा ने मन्त्रिमंडल के एक प्रमुख सदस्य सर राबर्ट वालपोल (Sir Robert Walpole) को आदेश दिया कि वह उसके स्थान पर मन्त्रिमंडल का कार्य-संचालन करे। राजा की अनुपस्थिति में वालपोल (Walpole) ही मन्त्रिमंडल का अध्यक्ष बन गया और अब

---

1. मिनिस्टर्स ऑफ दी क्राउन ऐक्ट, १९३७ (Ministers of the Crown Act, 1937) में मन्त्रिमण्डल का जिक्र संयोगवश वहाँ आया है जहा मंत्रिमण्डल के मंत्रियों को अन्य मंत्रियों की अपेक्षा अधिक वेतन देने की बात कही गई है।

अन्य मन्त्री उसके नेतृत्व में कार्य करने लगे। मन्त्रिमंडल का सभापति होने के नाते वह मन्त्रिमंडल की सभाओं का सभापतित्व भी करता था, मन्त्रिमंडल के विनिश्चयो का संचालन एवं मार्ग-दर्शन भी करता था; मन्त्रिमण्डल द्वारा किये गये विनिश्चयो को राजा की सेवा मे निवेदित करता था और फिर राजा के विचारों से मन्त्रिमंडल को अवगत कराता था। इसके अतिरिक्त संसद् का सदस्य होने के नाते वह संसद् और मन्त्रिमंडल के बीच कड़ी का काम करता था। वालपोल (Walpole) की इस नई स्थिति और उसके कर्त्तव्यों से ही वास्तव में प्रधान मन्त्री के पद का उदय हुआ, यद्यपि वह सदैव प्रयत्नपूर्वक अस्वीकार करता रहा कि वह किसी प्रकार अन्य मंत्रियो का प्रधान है।

बीस वर्ष तक वालपोल (Walpole) शासन का प्रधान बना रहा और इस काल में वह प्रणाली, जो अभी तक कल्पना में ही थी, मूर्त्त रूप धारण करने लगी तथा उसमें कुछ स्थायित्व आने लगा। वास्तव में वालपोल के शासन में वे सब आवश्यक गुण बीज रूप मे वर्तमान थे जो आधुनिक मन्त्रिमंडल शासन-प्रणाली मे प्रौढ़ रूप में पाये जाते है। "वालपोल ने ही सर्वप्रथम देश की राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार, देश का शासन स्वयं चलाया। वालपोल ने ही सर्वप्रथम लोक-सभा (House of Commons) मे देश-हित के कार्य सम्पादित किये। वालपोल ने ही सर्वप्रथम देश का शासन करते समय अनुरोध किया कि उसकी नीति एवं कार्यों पर संसद् के सभी सदस्यों का अनुमोदन होना चाहिये। वालपोल के काल में ही लोक-सभा राज्य की प्रभावशाली शक्ति के रूप में परिणत हो गई और अब योग्यता, प्रभाव एवं वास्तविक शक्ति के अनुसार वह लार्ड-सभा (House of Lords) की अपेक्षा ऊँची हो गई। और वालपोल ने ही सर्वप्रथम यह उदाहरण उपस्थित किया कि उसने सम्राट् का पूर्ण प्रेम एवं विश्वासपात्र बने होने पर भी इस कारण अपना पद त्याग दिया कि अब उसे लोक सभा का विश्वास प्राप्त नही रह गया था।" वालपोल ने ही अपने कार्य-काल में सर्वप्रथम अपना कार्यालय डाउनिंग स्ट्रीट के नं० १० के भवन मे (No. 10, Downing Street) रखा, जो बाद में होने वाले प्रधान मन्त्रियों का सरकारी निवास-स्थान (Official residence) बना रहा।

इन्ही दिनों मन्त्रीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त (The Principle of Ministerial Responsibility) का उदय हुआ, अर्थात् यह सिद्धान्त कि मन्त्री संसद् के प्रति अपने समस्त सार्वजनिक कार्यों के लिए उत्तरदायी हैं और यदि कभी संसद् के विचार से मन्त्री ने कोई ऐसा कार्य किया है जिससे देश का अहित होता हो तो संसद् उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकती है। मन्त्रीय उत्तरदायित्व का सिद्धान्त धीरे-धीरे विकसित हुआ। सर्वप्रथम, चार्ल्स प्रथम (Charles I) के राज्य-काल में स्टैफर्ड (Stafford) के विरुद्ध संसद् ने इस कारण कार्यवाही की कि उसने राजा को गलत सलाह दी थी। राजा ने भरसक उसको बचाने का प्रयत्न किया किन्तु स्टैफर्ड

को संसद् द्वारा दिया गया दण्ड भुगतना पड़ा।[1] चार्ल्स द्वितीय के राज्य-काल मे डैनबी के मामले (Danby's case) मे भी वही हुआ। तब से मन्त्रीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को संसदीय शासन प्रणाली की आवश्यक शर्त के रूप में स्वीकार किया जाता है।

किन्तु इसके यह अर्थ नही हैं कि १८वीं शताब्दी में संसदीय शासन-प्रणाली पूर्ण रूप से स्थापित हो गई थी अथवा राजा की स्थिति मन्त्रिमंडल के साथ सम्बन्धो में शून्यवत् हो गई थी। सर रॉबर्ट वालपोल भी अपने आपको राजा का सेवक मात्र समझता था और वह यह भी समझता था कि राजा उसे पदच्युत कर सकता है। जार्ज तृतीय ने चाहा कि कुछ ऐसे मन्त्री मन्त्रिमडल में बढ़ा लिए जाएँ जो विरोधी दल के सदस्य हों। जार्ज चतुर्थ ने प्रयत्न किया कि मन्त्रियों में फूट पड़ जाए अतः उनसे कहा गया कि वे अलग-अलग कैनिग (Canning) की विदेश नीति पर अपना-अपना मत दें। विलियम चतुर्थ ने, एक बार अथवा सम्भवत: दो बार, विचार किया कि उस मन्त्रिमंडल को भग कर दिया जाए जिस पर लोक-सभा तथा निर्वाचिकगण (Electorate) का पूर्ण विश्वास था।

इस प्रकार मन्त्रिमडल प्रणाली का पूर्ण सिद्धान्त तथा व्यवहार जिस रूप में १८वी शताब्दी मे विकसित हुआ, वह अपने आधुनिक स्वरूप मे रानी विक्टोरिया (Queen Victoria) के शासन-काल से पहले विकसित नही हुआ। पील (Peel), डिजरैली (Disraeli) तथा ग्लैडस्टन (Gladstone) के कालों में तो मन्त्रिमंडल शासन-प्रणाली चरम उत्कर्ष को पहुँच गई थी। ग्लैडस्टन के सहयोगी, मार्ले (Morley) ने लाइफ ऑफ वालपोल (Life of Walpole) नामक पुस्तक ग्लैडस्टन की सहायता से लिखी थी। उस पुस्तक में एक अध्याय में मन्त्रिमंडल शासन-प्रणाली के क्रिया-कलाप की अत्यन्त मौलिक एवं सुन्दर व्याख्या की गई है।[2]

बीसवी शताब्दी मे मन्त्रिमंडल शासन-प्रणाली के विकास के सम्बन्ध में विचार करना अभी जल्दबाजी होगी। किन्तु दो आवश्यक विचार प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा। प्रथम यह कि मन्त्रिमंडल के मन्त्रियों की संख्या जहाँ पहले १२ अथवा उससे भी कम थी, अब १८ या इससे भी अधिक होने लगी है। सर राबर्ट पील (Sir Robert Peel) ने अपने मन्त्रिमण्डल मे १३ मन्त्री रखे, डिजरैली (Disraeli) ने सन् १८७४ में १२ मन्त्रियों के मन्त्रिमण्डल से ही काम चलाया। तब से मन्त्रिमंडल के मन्त्रियो की संख्या बराबर बढ ही रही है। शासन के अधिकार एवं कर्त्तव्यों में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप अब यह प्रथा-सी बन गई है कि मुख्य-मुख्य विभागो के अध्यक्ष मन्त्री

1. स्टैफर्ड के ऊपर लोक-सभा ने देश के प्रति विश्वासघात का जुर्म लगाया जिसमें कहा गया कि उसने देश की प्राचीन एवं मौलिक विधि को बदलकर देश में मनमाना बर्बर और स्वेच्छाचारी शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया था। देखिये—Select Documents of English Constitutional History, op. cit., p. 361.

2. Devery, K.: British Institutions of Today (1948), p. 41.

और कुछ विभागहीन मन्त्री भी जैसे कि लार्ड प्रेजीडेण्ट ऑफ दी काउन्सिल (Lord President of the Council), लार्ड प्रिवी सील (Lord Privy Seel), और कभी-कभी चासलर ऑफ दी डची ऑफ लंकास्टर (Chancellor of the Duchy of Lancaster) मन्त्रिमंडल में ले लिए जाते है। दोनों महायुद्धों के काल मे मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियो की संख्या बीस से कम प्रायः नहीं रही। १९३५ मे यह संख्या २२ हो गई थी। किन्तु मन्त्रिमण्डल का आकार बढ जाने से लोगो मे असतोष था। उनका कहना था कि २१ या २२ मन्त्रियों का मन्त्रिमण्डल इतना बडा हो जाता था कि उसमें ठीक-ठीक विचार-विनिमय होना कठिन हो जाता था। इस आलोचना के फलस्वरूप एटली (Attlee) ने सन् १९४६ मे अपने मन्त्रिमण्डल मे १७ मन्त्री रखे और चर्चिल ने १९५१ मे १६ मन्त्री नियुक्त किये किन्तु कुछ ऐसे मन्त्री भी थे जो मन्त्रिमण्डल के मन्त्री तो न थे किन्तु उसी दर्जे के थे। बाद मे आने वाले मन्त्रिमण्डलों का भी यही आकार रहा और उनमे भी ऐसे मन्त्री रहे जो मन्त्रिमण्डल में न होते हुए भी उसी दर्जे के होते थे। यह निस्सन्देह एक नया आविष्कार है कि मन्त्री मन्त्रिमण्डल मे न होते हुए भी उसी दर्जे के होते है। उनका दर्जा मन्त्रिमण्डल के समकक्ष ही होता है, मन्त्रिमण्डल द्वारा किए गये प्रायः सभी निर्णय, सिवाय अत्यन्त गोपनीय निर्णयो के, उनके पास भेजे जाते हैं, और वे मन्त्रिमण्डल की समितियो मे पूरा भाग लेते है किन्तु वे मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणाओं में तभी भाग लेते हैं जब उनको विशिष्ट रूप से तदर्थ आमन्त्रित किया जाए और जबकि विचारणीय विषय उनके विभाग से सम्बद्ध हों।

इसी सम्बन्ध मे दो बातें और ध्यान में रखनी चाहिएँ। प्रथम तो मन्त्रिमण्डल के बढे हुए कार्य-भार को निबटाने के उद्देश्य से मन्त्रिमण्डल समितियो का प्रचलन हो गया है जिसमे सारे विवादास्पद मामले तय किए जाते है; द्वितीयत., श्रमिकदलीय सरकार ने यह चलन प्रारम्भ किया कि मन्त्रिमण्डल सप्ताह में दो बार समवेत हो, जबकि युद्ध से पूर्व सप्ताह मे केवल एक बार समवेत हो जाना पर्याप्त था। पर युद्ध के दिनो में तो मन्त्रिमण्डल के कई विशेष अधिवेशन भी होते रहे थे। आजकल, संसद् की बैठक के दिनों मे मन्त्रिमण्डल, सप्ताह में कुछ घण्टों के लिए एक बार अथवा दो बार समवेत होता है और जब बैठक नही होती तो उसका कम बार समागम होता है। वैसे प्रधान-मन्त्री कभी भी मन्त्रिमण्डल का अतिरिक्त अधिवेशन बुला सकता है।

बीसवी शताब्दी का दूसरा महत्त्वपूर्ण विकास यह है कि अब मन्त्रिमण्डल राष्ट्रीय आपात कालों में दल-गत निष्ठा को त्याग देता है जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन मिलता है। इंग्लैण्ड के बारे मे पुराने जमाने से यही कहा जाता है और यह आज भी सच है कि वहाँ मिली-जुली सरकार (Coalition) के प्रति आम घृणा है, क्योंकि इसे लोग संसदीय शासन-प्रणाली का अशुद्ध रूप मानते हैं। मिली-जुली सरकार में चाहे, कुछ भी दोष हो, किन्तु २०वी शताब्दी का यह विकास महत्त्वपूर्ण है जिसके अनुसार अंग्रेज लोग अपने आपको यथा-काल व्यवस्था के अनु- बना लेते है। युद्ध-काल की मिली-जुली सरकार (Coalition Government)

जिक्र करते हुए जैनिग्ज (Jennings) लिखता है कि जिस मिली-जुली सरकार ने १६४०-४५ के बीच मानव-सभ्यता एवं संस्कृति को नष्ट होने से बचा लिया, वह इतनी ही सम्मिलित सरकार रही जितनी कि कोई अन्य साधारण एकदलीय सरकार होती। सन् १६३२ की राष्ट्रीय सरकार ने भी अपनी एकता की रक्षा की। भिन्न मत होते हुए भी वे सम्मिलित रहे।[1]

मन्त्रिमण्डलीय शासन के लक्षण
(Features of the Cabinet Government)

इस प्रकार मन्त्रिमण्डल एक चक्र के अन्दर चक्र (A wheel within a wheel) है। उस पहिए की बाहरी गोलाई लोक-सभा के बहुमत दल को समझना चाहिये। उसके बाद अन्दर की गोलाई मन्त्रिपरिषद् को समझना चाहिए जिसमें उस दल के प्रमुखतम व्यक्ति रहते हैं। उस पहिए की सबसे छोटी गोलाई मन्त्रिमण्डल को समझना चाहिए जिसमें दल के चोटी के नेता ही रहते हैं। "इस प्रकार पार्टी के समस्त क्रिया-कलाप में एकता आ जाती है और इस एकता को प्राप्त करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि समस्त नियन्त्रण एक छोटे से निकाय के हाथों में रहे जिससे मिल-जुलकर और आसानी से काम चलता जाए।" संक्षेप में मन्त्रिमण्डल ही सारे शासन-रूपी यन्त्र को चलाने वाली शक्ति (The driving and steering force) है। किन्तु मन्त्रिमण्डल, महत्त्वपूर्ण होते हुए भी विधि के अनुसार अनियमित-सी संस्था है। इसका अस्तित्व और इसके क्रिया-कलाप कुछ परम्परागत अभिसमयों, प्रथाओं और पूर्व-दृष्टान्तों पर आधारित है। मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली की समस्त व्यवस्था का तथ्य यह है कि शासन का सारा कार्य मन्त्री लोग राजा के नाम में करते हैं। ये मन्त्री संसद् के बहुमत दल के सदस्य होते हैं और अपने समस्त सार्वजनिक तथा वैयक्तिक क्रिया-कलापों के लिए वैयक्तिक रूप में भी एवं मन्त्रिमण्डल के सामूहिक रूप में भी संसद् के प्रति उत्तरदायी हैं। मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली के इन महत्त्वपूर्ण लक्षणों पर हम विशदता से विचार करेंगे।

१. नाम मात्र का कार्यपालिका प्रधान (A Titular Executive Head)—प्रथमतः, यह समझ लेना चाहिए कि मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली का अर्थ है कि राजा के हाथों में न तो नीति-निर्देशन है न वह स्वयं कोई निर्णय कर सकता है, न वह देश के प्रति, शासन द्वारा किए गए निश्चयों के लिए उत्तरदायी है। क्राउन की समस्त राजनीतिक एवं कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग कुछ राजनीतिक अधिकारी व्यक्ति राजा के नाम पर करते हैं। ये व्यक्ति संसद् के बहुमत दल के सदस्य होते हैं। इन राजनीतिक व्यक्तियों की आलोचना की जा सकती है और उनको प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य किया जा सकता है। यदि संसद् उनकी नीति से सतुष्ट न हो तो उनको अपने पदों से हटाया जा सकता है। चूंकि राजा का राजनीति से कोई सम्बन्ध

1. Laski : Crisis and the Constitution (1932).

नहीं होता अतः वह उन गोपनीय वाद-विवादों में भाग भी नहीं लेता जिनमें मन्त्री लोग यह निश्चय करते है कि राजा को क्या मन्त्रणा दी जाय। दूसरे शब्दों में राजा मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणाओं में सभापति का आसन ग्रहण नहीं करता। प्रारम्भ में संयोगवश ही राजा ने मन्त्रिमण्डल की सभाओं में उपस्थित होना बन्द किया था किन्तु वही पग आगे चलकर अत्यन्त सांविधानिक महत्त्व का सिद्ध हुआ। इसी से उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के सिद्धान्त का विकास हुआ।

२. **मन्त्रियों का संसद् के बहुमत दल से चुनाव** (Ministers chosen from Parliamentary Majority)—दूसरी बात यह है कि मन्त्री लोग संसद् के सदस्य होते हैं और आजकल प्राय. लोक-सभा (House of Commons) के ही सदस्य होते हैं और वे उस दल में से छांटे जाते है जिसका लोक-सभा में बहुमत होता है। इन दोनों तथ्यों का अत्यन्त मौलिक महत्त्व है। संसद् की सदस्यता के कारण मन्त्री लोगों का स्वरूप प्रतिनिधिक तथा उत्तरदायी हो जाता है। इसके अतिरिक्त शासन की कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका शक्तियाँ एक साथ जकड़ जाती है, जिसके फलस्वरूप शासन के दोनों आवश्यक अंग विपरीत दिशाओं में कभी नहीं जाने पाते। इस प्रकार कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका में जो अनुरूप सहकारिता उत्पन्न होती है उसके फलस्वरूप स्थायी एवं कार्यक्षम शासन का जन्म होता है। ऐसी सरकार सदैव लोकहित का ध्यान रखेगी। इसके अतिरिक्त मन्त्रिमडल के मन्त्री लोक-सभा के बहुमत दल के नेता होते है और नेता होने के नाते संसद् में होने वाली समस्त हलचल के वही नियन्त्रक होते है। इससे शासन की कार्यपालिका को अच्छा अवसर मिल जाता है कि वह अपने विचारों एवं प्रस्तावों को अच्छे प्रकार से उपस्थित कर सके, उनका समर्थन कर सके तथा उनकी जवाबदेही कर सके।

अब तो यह सुनिश्चित प्रथा है कि ये मन्त्री या तो लॉर्ड-सभा के कुलीन (Peers) हो अथवा लोक-सभा के सदस्य हो यद्यपि कुछ इस प्रकार के अपवाद भी रहे है जबकि कुछ मन्त्री संसद् के सदस्य भी न थे। जनरल स्मट्स (General Smuts) विभागहीन मन्त्री था और १९१६ से युद्ध के अन्त तक प्रथम युद्धकालीन मन्त्रिमण्डल का मन्त्री रहा यद्यपि इस काल मे वह संसद् का सदस्य न था। सर ए० जी० बॉसकेवेन (Sir A. G. Boscawen) कृषि-मन्त्री भी १९२२-२३ मे इसी प्रकार का मन्त्री रहा। रैम्जे मैकडानल्ड (Ramsay MacDonald) और माल्कम मैकडानल्ड (Malcom MacDonald) दोनों मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे यद्यपि नवम्बर १९३५ से १९३६ के प्रारम्भ तक वे दोनों संसद् के सदस्य न थे। परन्तु मन्त्री तभी तक संसद् से बाहर रहते है जब तक वे संसद् की सदस्यता प्राप्त करने का यत्न करते रहते है। यदि उन्हे सदस्यता प्राप्त नहीं होती और वे कुलीन (Peers) बनना भी नहीं चाहते तब उन्हें अपने पदों से त्यागपत्र देना पड़ता है। तथापि, सामान्यतः इंग्लैण्ड मे इस प्रकार के अपवादों को पसंद नहीं किया जाता।

३. **प्रधान मन्त्री का नायकत्व** (Leadership of the Prime Minister)—मन्त्रिमण्डल राजनीतिक खिलाड़ियों की एक टीम के समान है जो प्रधान मन्त्री के

नेतृत्व में राजनीति का मेल खेलती है। मॉर्ले (Morley) के अनुसार प्रधान मन्त्री, मन्त्रिमण्डल के वृत्तखण्ड की मुख्य शिला (Keystone of arch) है। यद्यपि मन्त्रिमण्डल मे उसके सभी सदस्य समकक्ष ही होते हैं, सबका समान अधिकार होता है और सब मिलकर काम करते हैं, फिर भी मन्त्रिमण्डल का प्रधान बराबर वाले दर्जे के मन्त्रियों में प्रधान (First among Equals) होता है। इस कारण प्रधान मन्त्री के पद की शक्ति तथा अधिकार बहुत अधिक बढ़ जाता है। संसद् के बहुमत दल का वह नेता होता है और समस्त मन्त्रिमण्डल उसके नेतृत्व में कार्य करता है। यह ठीक है कि कहने को राजा ही प्रधान मन्त्री को चुनता है किन्तु व्यवहारतः राजा उसी एक व्यक्ति को प्रधान मन्त्री चुनने के लिये बाध्य है जिसे बहुमत दल ने अपना नेता चुना है।

वालपोल (Walpole) के काल से ही यह प्रथा चली आ रही है कि प्रधान मन्त्री ही अपने मन्त्री स्वयं चुनता है। इसमें सन्देह नही कि मन्त्रियों की नियुक्ति राजा ही करता है किन्तु शुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से उनकी नियुक्ति प्रधान मन्त्री ही करता है। प्रधान मन्त्री, मन्त्रियो की सूची तैयार करके सम्राट् की औपचारिक स्वीकृति के लिये प्रस्तुत करता है और सम्राट् उसको स्वीकृति प्रदान कर देता है। जिस प्रकार प्रधान मन्त्री अपने मन्त्री चुनता है उसी प्रकार उसे सांविधानिक अधिकार है कि वह उन्हें अपदस्थ भी कर सकता है। बिना प्रधान मन्त्री के मन्त्रियों का कोई व्यक्तित्व ही नही है। १९३१ में रैम्जे मैकडानल्ड (Ramsay MacDonald) ने अपने सहयोगियो से बिना पूछे ही मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे दिया और लास्की (Laski) के शब्दों में, "जब राष्ट्रीय सरकार (National Government) की घोषणा हुई तभी मन्त्रियों को अपनी राजनीतिक मृत्यु का चेत हुआ।" एक दल अपनी दलगत निष्ठा बनाये रखता है। और प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में शासन के साधन रूप में वह अपनी अप्रतिहत एवं संसृष्ट (Corporate) सत्ता बनाये रखता है। इस सबके फलस्वरूप एक ओर मन्त्रियों में आपस मे एकता तथा घनिष्ठ सहयोग बना रहता है और दूसरी ओर मन्त्रिमण्डल तथा ससदीय बहुमत में भी एकता तथा सामञ्जस्य बना रहता है।

४. मन्त्रीय उत्तरदायित्व (Ministerial Responsibility)—मन्त्रीय उत्तरदायित्व मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली का सार है और सामुदायिक उत्तरदायित्व, आधुनिक राजनीतिक जगत् के लिये ब्रिटेन की मुख्य देन है। मन्त्रीय उत्तरदायित्व से हम दो बातें समझते हैं। प्रथमतः, मन्त्रिमण्डल का प्रत्येक मन्त्री किसी एक विभाग का मार्ग-निर्देशन करता है और उस विभाग के लिए वह स्वय उत्तरदायी है। इस व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के अतिरिक्त, हर एक मन्त्री शासन के समस्त मन्त्रियों के सहित सामुदायिक रूप से भी "अपने विभाग के अतिरिक्त शासन के अन्य क्षेत्रों मे भी जो कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यवाही होती है उस सब के लिए उत्तरदायी है।" मन्त्रिमण्डल एक इकाई है। "जहाँ तक उसका सम्बन्ध राजा से है और जहाँ तक उनका सम्बन्ध व्यवस्थापिका सभा से भी है, वह इकाई ही है।" मन्त्रिमण्डल एक इकाई के रूप मे ही शासन-सत्ता

संभालता है। उसी प्रकार वह एक इकाई के रूप में ही राज्य-सत्ता त्यागता है। सारे सदस्य एक ही राजनीतिक दल के होते हैं और उसी दल द्वारा मान्य तथा चुने हुए एक ही व्यक्ति के नेतृत्व में कार्य करते हैं और इसीलिये वे सब साथ-साथ ही डूबते हैं तथा साथ-साथ ही तैरते हैं (They swim and sink together)। यदि किसी मन्त्रिमण्डल का पतन हो जाता है तो सारे दल का भी पतन हो जाता है और उसके साथ सारे राजनीतिक अधिकारी-वर्ग का भी पतन हो जाता है—उन सभी का एक साथ पतन होता है, चाहे उनमें से कोई किसी भी प्रकार के पद पर हो। मन्त्रिमण्डल का सार है परस्पर-आधीनता अथवा सम्मिलित मोर्चा (Solidarity or Common front) और यह मन्त्रिमण्डल के प्रत्येक मन्त्री अथवा अन्य मन्त्री के लिए भी बाध्य है कि वे सब एकमत होकर किसी निर्धारित नीति पर चलेंगे तथा उस नीति पर चलने के लिए सब सामुदायिक रूप से उत्तरदायी होंगे और उस आधार पर सब या तो साथ-साथ शासन करेंगे अथवा सब का एक साथ पतन होगा।

शासन-प्रबन्ध के अन्य सदस्यों के समान सब प्रकार के मन्त्री मन्त्रिमण्डल के निर्णयों से बंधे रहते हैं। जो मन्त्रिमण्डल के किसी निर्णय की रक्षा के लिए तैय्यार नहीं है उसे त्यागपत्र देना पड़ता है। लॉर्ड मॉरले (Lord Morley) और बर्न्स (Burns) को १९१४ में इस्तीफा देना पड़ा क्योंकि वे लड़ाई में कूदने के निर्णय का अनुमोदन नहीं कर सके। १९३८ में एन्थोनी ईडन (Anthony Eden) ने त्यागपत्र दे दिया था क्योंकि वह नेवाइल चेम्बरलेन (Neville Chamberlain) और मन्त्रिमण्डल द्वारा स्वीकृत की गई विदेश नीति से सहमत नहीं हो सके थे।

यदि विवादग्रस्त प्रश्न नीति से सम्बन्ध रखता है, तो प्रायः अधिकतर मन्त्रिमण्डल उस नीति का उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर लेता है और उस स्थिति में यदि लोक-सभा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर देती है तो उस अविश्वास-प्रस्ताव को सारे मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास मान लिया जाता है। ऑग (Ogg) ने मन्त्रीय उत्तरदायित्व के इस पहलू का विशदता से वर्णन किया है। वह लिखता है, "यदि कभी मन्त्री या तो अपनी भूल के कारण अथवा अपने किसी ऐसे अधिकारी की भूल के कारण जिसके लिए वही उत्तरदायी हो, ऐसी कष्टजनक स्थिति में पड़ जाए तो मन्त्रिमण्डल के अन्य साथी उस अकेले मन्त्री को अकेले डूबने अथवा उतराने के लिये छोड नहीं देते—वे दूर से खड़े तमाशा भर ही नहीं देखते रहते अपितु या तो वे कूद पड़ते हैं और उसको बाहर निकाल फेंकते है अथवा उसे भी अपनी टूटी नाव में सवार कर लेते हैं और उसका और अपना भाग्य एक में जोड़ लेते है। दूसरे शब्दों में या तो वे उसकी आलोचना कर डालते है और उसको अपदस्थ कर देते हैं, पूर्व इसके कि लोकसभा उस पर निन्दा-प्रस्ताव पास करके उसे अपदस्थ करे अथवा वे उसकी सहायता पर अड़ जाते है और उसका किसी भी स्थिति में समर्थन करते रहते हैं। दूसरी प्रकार का अर्थात् मन्त्री के समर्थन का मार्ग प्रायः अपनाया जाता है—जिसका फल यह हुआ है कि सारे मन्त्रिमण्डल का समैक्य अथवा सामुदायिक उत्तरदायित्व निश्चित

नेतृत्व में राजनीति का खेल खेलती है। मॉर्ले (Morley) के अनुसार प्रधान मन्त्री, मन्त्रिमण्डल के वृत्तखण्ड की मुख्य शिला (Keystone of arch) है। यद्यपि मन्त्रिमण्डल में उसके सभी सदस्य समपक्ष ही होते हैं, सबका समान अधिकार होता है और सब मिलकर काम करते हैं, फिर भी मन्त्रिमण्डल का प्रधान बराबर वाले दर्जे के मन्त्रियों में प्रधान (First among Equals) होता है। इस कारण प्रधान मन्त्री के पद की शक्ति तथा अधिकार बहुत अधिक बढ़ जाता है। संसद् के बहुमत दल का वह नेता होता है और समस्त मन्त्रिमण्डल उसके नेतृत्व में कार्य करता है। यह ठीक है कि कहने को राजा ही प्रधान मन्त्री को चुनता है किन्तु व्यवहारतः राजा उसी एक व्यक्ति को प्रधान मन्त्री चुनने के लिये बाध्य है जिसे बहुमत दल ने अपना नेता चुना है।

वालपोल (Walpole) के काल से ही यह प्रथा चली आ रही है कि प्रधान मन्त्री ही अपने मन्त्री स्वयं चुनता है। इसमें सन्देह नहीं कि मन्त्रियों की नियुक्ति राजा ही करता है किन्तु शुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से उनको नियुक्ति प्रधान मन्त्री ही करता है। प्रधान मन्त्री, मन्त्रियों की सूची तैयार करके सम्राट् की औपचारिक स्वीकृति के लिये प्रस्तुत करता है और सम्राट् उसको स्वीकृति प्रदान कर देता है। जिस प्रकार प्रधान मन्त्री अपने मन्त्री चुनता है उसी प्रकार उसे सांविधानिक अधिकार है कि वह उन्हें अपदस्थ भी कर सकता है। बिना प्रधान मन्त्री के मन्त्रियों का कोई व्यक्तित्व ही नहीं है। १९३१ में रैम्जे मैकडानल्ड (Ramsay MacDonald) ने अपने सहयोगियों से बिना पूछे ही मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे दिया और लास्की (Laski) के शब्दों में, "जब राष्ट्रीय सरकार (National Government) की घोषणा हुई तभी मन्त्रियों को अपनी राजनीतिक मृत्यु का भेद हुआ।" एक दल अपनी दलगत निष्ठा बनाये रखता है। और प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में, शासन के साधन रूप में वह अपनी अप्रतिहत एवं संसृष्ट (Corporate) सत्ता बनाये रखता है। इस सबके फलस्वरूप एक ओर मन्त्रियों में आपस में एकता तथा घनिष्ठ सहयोग बना रहता है और दूसरी ओर मन्त्रिमण्डल तथा संसदीय बहुमत में भी एकता तथा सामञ्जस्य बना रहता है।

४. मन्त्रीय उत्तरदायित्व (Ministerial Responsibility)—मन्त्रीय उत्तरदायित्व मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली का सार है और सामुदायिक उत्तरदायित्व, आधुनिक राजनीतिक जगत् के लिये ब्रिटेन की मुख्य देन है। मन्त्रीय उत्तरदायित्व से हम दो बातें समझते हैं। प्रथमतः, मन्त्रिमण्डल का प्रत्येक मन्त्री किसी एक विभाग का मार्ग-निर्देशन करता है और उस विभाग के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है। इस व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के अतिरिक्त, हर एक मन्त्री शासन के समस्त मन्त्रियों के सहित सामुदायिक रूप से भी "अपने विभाग के अतिरिक्त शासन के अन्य क्षेत्रों में भी जो कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यवाही होती है उस सब के लिए उत्तरदायी है।" मन्त्रिमण्डल एक इकाई है। "जहाँ तक उसका सम्बन्ध राजा से है और जहाँ तक उसका सम्बन्ध व्यवस्थापिका सभा से भी है, वह इकाई ही है।" मन्त्रिमण्डल एक इकाई के रूप में ही शासन-सत्ता

संभालता है। उसी प्रकार वह एक इकाई के रूप मे ही राज्य-सत्ता त्यागता है। सारे सदस्य एक ही राजनीतिक दल के होते है और उसी दल द्वारा मान्य तथा चुने हुए एक ही व्यक्ति के नेतृत्व मे कार्य करते हैं और इसीलिये वे सब साथ-साथ ही डूबते हैं तथा साथ-साथ ही तैरते है (They swim and sink together)। यदि किसी मन्त्रिमण्डल का पतन हो जाता है तो सारे दल का भी पतन हो जाता है और उसके साथ सारे राजनीतिक अधिकारी-वर्ग का भी पतन हो जाता है—उन सभी का एक साथ पतन होता है, चाहे उनमें से कोई किसी भी प्रकार के पद पर हो। मन्त्रिमण्डल का सार है परस्पर-आधीनता अथवा सम्मिलित मोर्चा (Solidarity or Common front) और यह मन्त्रिमण्डल के प्रत्येक मन्त्री अथवा अन्य मन्त्री के लिए भी बाध्य है कि वे सब एकमत होकर किसी निर्धारित नीति पर चलेंगे तथा उस नीति पर चलने के लिए सब सामुदायिक रूप से उत्तरदायी होगे और उस आधार पर सब या तो साथ-साथ शासन करेंगे अथवा सब का एक साथ पतन होगा।

शासन-प्रबन्ध के अन्य सदस्यों के समान सब प्रकार के मन्त्री मन्त्रिमण्डल के निर्णयों से बँधे रहते है। जो मन्त्रिमण्डल के किसी निर्णय की रक्षा के लिए तैय्यार नहीं है उसे त्यागपत्र देना पड़ता है। लॉर्ड मॉरले (Lord Morley) और बर्न्स (Burns) को १६१४ मे इस्तीफा देना पड़ा क्योंकि वे लड़ाई में कूदने के निर्णय का अनुमोदन नही कर सके। १६३८ मे एन्थोनी ईडन (Anthony Eden) ने त्यागपत्र दे दिया था क्योंकि वह नेवाइल चेम्बरलेन (Neville Chamberlain) और मन्त्रिमण्डल द्वारा स्वीकृत की गई विदेश नीति से सहमत नहीं हो सके थे।

यदि विवादग्रस्त प्रश्न नीति से सम्बन्ध रखता है, तो प्राय: अधिकतर मन्त्रिमण्डल उस नीति का उत्तरदायित्व स्वय अपने ऊपर लेता है और उस स्थिति मे यदि लोक-सभा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर देती है तो उस अविश्वास-प्रस्ताव को सारे मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास मान लिया जाता है। ऑग (Ogg) ने मन्त्रीय उत्तरदायित्व के इस पहलू का विशदता से वर्णन किया है। वह लिखता है, "यदि कभी मन्त्री या तो अपनी भूल के कारण अथवा अपने किसी ऐसे अधिकारी की भूल के कारण जिसके लिए वही उत्तरदायी हो, ऐसी कष्टजनक स्थिति मे पड़ जाए तो मन्त्रिमण्डल के अन्य साथी उस अकेले मन्त्री को अकेले डूबने अथवा उतराने के लिये छोड नही देते—वे दूर से खड़े तमाशा भर ही नहीं देखते रहते अपितु या तो वे कूद पडते है और उसको बाहर निकाल फेंकते है अथवा उसे भी अपनी टूटी नाव मे सवार कर लेते है और उसका और अपना भाग्य एक मे जोड़ लेते हैं। दूसरे शब्दों में या तो वे उसकी आलोचना कर डालते है और उसको अपदस्थ कर देते हैं, पूर्व इसके कि लोक-सभा उस पर निन्दा-प्रस्ताव पास करके उसे अपदस्थ करे अथवा वे उसकी सहायता पर अड़ जाते है और उसका किसी भी स्थिति में समर्थन करते रहते है। दूसरी प्रकार का अर्थात् मन्त्री के समर्थन का मार्ग प्राय. अपनाया जाता है—जिसका फल यह हुआ है कि सारे मन्त्रिमण्डल का समंवय अथवा सामुदायिक उत्तरदायित्व निश्चित

रूप से सैद्धान्तिक रूप में माना जाता है।"[1]

गोपनीयता (Secrecy)—इस प्रकार मन्त्रिमण्डल एक गुप्त निकाय है जो अपने निर्णयों के लिए सामुदायिक रूप से उत्तरदायी है। मन्त्रिमण्डल का विचार-विमर्श गुप्त रीति से होता है और इसकी समस्त कार्यवाही पर गोपनीयता का पर्दा पड़ा रहता है। मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही की गोपनीयता के सम्बन्ध में विधि ने एवं अभिसमयों ने भी संरक्षण प्रदान किया है। प्रत्येक मन्त्रिमण्डल मन्त्री को प्रिवी परिषद् के समक्ष शपथ लेनी पड़ती है कि वह मन्त्रिमण्डल के भेद किसी को नहीं बतायेगा। इसके लिये 'शासन-भेद-अधिनियम, १९२०' (Official Secrets Act, 1920) भी है जिसके अनुसार सरकार प्रलेखों अथवा अन्य गोपनीय सूचना का किसी अवैध व्यक्ति या व्यक्तियों को देना दण्डनीय है। किन्तु शायद इन नियमों के वैधिक पालन के लिये व्यावहारिक उपयोगिता ही मुख्य रूप से उत्तरदायी है। वास्तव में इसका सैद्धान्तिक आधार यह है कि मन्त्रिमण्डल अपना निर्णय सम्राट् को निवेदन करता है और सम्राट् की स्वीकृति के बिना कोई निर्णय प्रकाशित नहीं किया जा सकता। इसका व्यावहारिक आधार यह है कि नीति निर्धारण करते समय अथवा किसी प्रश्न पर खूब खुलकर *वाद-विवाद हो जिससे कि सम्मिलित निर्णय* हो सके और इस बात का डर न रहे कि हरेक मन्त्री ने वाद-विवाद में क्या कहा अथवा किस मन्त्री की कोई बात कहाँ तक मानी गई, ये बातें खुलकर प्रकाश में न आवें। गोपनीयता से राजनीतिक एकमतता (Unanimity) उत्पन्न होती है और राजनीतिक एकमतता पूर्णरूप से गोपनीयता पर आश्रित है। गोपनीयता (Secrecy) तथा राजनीतिक एकमतता (political unanimity) दोनों के ही कारण मन्त्रिमण्डल के उत्तरदायित्व की *भावना का* संचार होता है; और चूंकि यह बहुत दिनों तक—किसी नीति सम्बन्धी निर्णय के काफी लम्बे अर्से तक—पता नहीं चल पाता कि किसी नीति का वास्तविक प्रणेता कौन है, कौन नहीं, अतः यह बात ध्यान में रखने की अत्यधिक आवश्यकता है कि मन्त्रिमण्डल में कैसे व्यक्ति लिये जाएँ अर्थात् कोई ऐसा व्यक्ति न ले लिया जाए जो इतना अविवेकी हो कि अपने अविवेक के कारण अपने योग्य साथियों का पतन करादे।[2]

प्रथम विश्व-युद्ध तक मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही का अभिलेख (Record) नहीं रखा गया। प्रधान-मन्त्री को छोड़कर और कोई मन्त्री उस बातचीत के बारे में कोई टिप्पणी भी नहीं ले सकता था। मन्त्री लोग केवल अपने विभागों को यह बताते थे कि उनके विभाग के सम्बन्ध में क्या निर्णय हुए, और वह भी जब यदि उन्हें याद रह गया।[3] मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही का यह तरीका युद्ध-काल में बिलकुल अनुपयुक्त

1. Modern Foreign Governments, op cit., p. 103.

2. Ibid.

3. श्री एस्क्विथ (Mr. Asquith) के शासन-काल में यह आम तौर पर होता था कि किसी भी मन्त्री का निजी सचिव प्रधान मन्त्री के निजी सचिव से फोन पर पूछ लिया करता था कि आज क्या निर्णय हुए।

सिद्ध हुआ और लायड जार्ज ने सबसे पहला काम यह किया कि मन्त्रिमण्डल सचिवालय सृजन किया जिसके सुपुर्द यह काम किया गया कि वह युद्ध-मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही की उचित व्यवस्था करे। १९१८ में शासन-यन्त्र-समिति (Machinery of Government Committee) ने सिफारिश की कि 'मन्त्रिमण्डल-सचिवालय स्थायी रूप से रहना चाहिए जिसका कार्य होगा कि मन्त्रिमण्डल के कार्यक्रम को ठीक ठीक स्वरूप प्रदान करे; सभाओं के विचारार्थ समस्त जानकारी एवं सूचना एकत्र करे; और समस्त निर्णयों को सम्बन्धित विभागों को प्रेषित करे।'[1] १९२२ में श्री बोनर लॉ (*Mr. Bonar Law*) *चाहते थे कि मन्त्रिमण्डल सचिवालय भंग कर दिया* जाए किन्तु उस समय तक इस सचिवालय की उपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी, अतः निर्णय हुआ कि इसको बराबर जारी रखा जाए यद्यपि इसके कर्त्तव्य और अधिक स्पष्ट कर दिये गए।[2]

मन्त्रिमण्डल के अभिलेख (Records) अत्यन्त गोपनीय होते है और उनकी औपचारिक रिपोर्ट प्रकाशित नहीं की जाती।[3] मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही का विवरण अत्यन्त गोपनीयता से रक्षित रहता है। मन्त्रिमण्डल के सचिव को आदेश मिला हुआ है कि मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही का संक्षिप्त विवरण लिखते समय "इस बात का ध्यान रखा जाए कि किसने क्या विचार व्यक्त किए, इस सम्बन्ध मे मौन रखा जाए और जहाँ तक सम्भव हो उस संक्षिप्त विवरण में केवल वे निर्णय ही लिखे जाएँ जो किये गये हों।" संक्षिप्त विवरण तैयार करने (Reproduction of the Minutes) मे कम-से कम कर्मचारी रखे जाते है और ज्योंही प्रतिलिपि उतार ली जाए, हाथ की लिखी टिप्पणियाँ नष्ट कर दी जाती है। तब उन प्रतिलिपियों को खास किस्म के लिफाफों में मुहरबन्द किया जाता है और उन पर सम्बन्धित मन्त्रियो या विधि अधिकारियो (Law Officers) के पते लिखे जाते है। इन लिफाफों को लोहे की तिजोरियो मे सुरक्षित करके रखा जाता है और उनको विशेष दूतों द्वारा भेजा जाता है। इस समस्त कार्यवाही के अभिलेख की प्रतिलिपि मन्त्रिमण्डल के कार्यालय में मन्त्रिमण्डल के सचिव की देखभाल मे रखी जाती है।[4]

---

1. As quoted in Jennings' Cabinet Government, op. cit., p. 226.
2. मन्त्रिमण्डल सचिवालय के निम्न कर्त्तव्य हैं :—(क) ज्ञापन तथा अन्य प्रलेख घुमाना जिनकी मन्त्रिमण्डल अथवा समितियों को आवश्यकता हो। (ख) प्रधान मन्त्री के आदेश पर मन्त्रिमण्डल का कार्यक्रम तैयार करना, तथा समिति के सभापति के आदेश पर मन्त्रिमण्डल समिति के लिए कार्यक्रम तैयार करना। (ग) मन्त्रिमण्डल तथा समितियों की सभाओं की सूचना भेजना। (घ) मन्त्रिमण्डल तथा समितियों के निर्णयों को एकत्र करना तथा घुमाना और मन्त्रिमण्डल समितियों की रिपोर्ट तैयार करना। (ङ) मन्त्रिमण्डल की आज्ञानुसार मन्त्रिमण्डल के प्रपत्र तथा निर्णय रखना।
3. १९१७ तथा १९१८ में दो अपूर्ण रिपोर्टें प्रकाशित की गईं।
4. Cabinet Government, op cit., p. 254.

अध्याय ४

मन्त्रिमण्डल की कार्य-प्रणाली

(The Cabinet at Work)

मन्त्रिमण्डल की बैठकें (Meetings of the Cabinet)—आजकल जब संसद् का अधिवेशन हो रहा होता है, मन्त्रिमण्डल की सप्ताह में दो बार बैठकें होती हैं। जब अधिवेशन न हो रहा हो, तब उसकी सप्ताह में सिर्फ एक बार ही बैठक होती है। साधारणतया उसकी बैठकें प्रधान मन्त्री के निवास-स्थान १० डाउनिंग स्ट्रीट पर होती हैं। कभी-कभी यह बैठक लोकसभा में ही प्रधान मन्त्री के कमरे में हो जाया करती है। बैठक की कार्यसूची मन्त्रिमण्डल सचिवालय तैयार करता है, जो बैठक होने के पूर्व ही सदस्यों के पास भेज दी जाती है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य कार्य सूची का अपने विभाग के दृष्टिकोण से पहले से अध्ययन कर लेते है और यदि वे उसमें कुछ परिवर्तन कराना चाहते है, तो करा सकते हैं।

मन्त्रिमण्डल की बैठक प्रधान मन्त्री प्रारम्भ करता है। यदि वह आवश्यक समझे तो ऐसे किसी विषय को भी वह प्रस्तुत कर सकता है जिसको कार्य-सूची पर नहीं दिखलाया गया है। मन्त्री विस्तार की बातों में नही जाते, वे केवल नीति-विषयक प्रश्नों को ही तय करते है। सामान्यतः उसके निर्णय सर्वसम्मति से होते है।

मन्त्रिमण्डल की समितियाँ (Cabinet Committees)—मन्त्रिमण्डल के कन्धों पर कार्य का बहुत अधिक बोझ रहता है। वह सारे बोझ को स्वयं नही उठा सकता। फलतः मन्त्रिमण्डल के कार्य में सहायता देने के लिए बहुत-सी समितियो का निर्माण हो गया है।

मन्त्रिमण्डल की कुछ समितियाँ लगातार बनी रहती है, वे स्थायी होती हैं। इसके विपरीत मन्त्रिमण्डल की कुछ तदर्थ (*ad hoc*) समितियाँ भी होती हैं। वे कुछ विशेष समस्याओं के समाधान के लिए बनती है और जैसे ही उन समस्याओं का समाधान हो जाता है, वे समाप्त हो जाती हैं। स्थायी समितियाँ निम्नलिखित हैं:
(१) विधान समिति (Legislation Committee)। यह पहले गृह-कार्य-समिति (Home Affairs Committee) कहलाती थी। इस समिति का कार्य मन्त्रियों द्वारा प्रस्तावित विधान की जाँच करना और विधेयकों के पारण में सहायता करना है।
(२) प्रतिरक्षा समिति (Defence Committee) सबसे बड़ी समितियों में से एक है और बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसका निर्माण द्वितीय विश्व-युद्ध के समय में हुआ था और प्रधान मन्त्री उसका सभापति होता है। इसके निम्नलिखित सदस्य होते हैं—प्रतिरक्षा मन्त्री, लार्ड प्रेसीडेन्ट ऑफ दी कौंसिल, वित्तमन्त्री (Chancellor of the Exchequer), श्रम मन्त्री, संभरण मन्त्री (The Minister of Supply), दि

फर्स्ट लॉर्ड ऑफ दि एडमिरेल्टी और युद्ध, वायु, राष्ट्रमण्डल सम्बन्धों और उपनिवेशों के सचिव। जल-थल और वायु-सेनाओं के अध्यक्ष भी इस समिति को सलाह देते रहते हैं। प्रतिरक्षा समिति देश की प्रतिरक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करती है। (३) लार्ड प्रेसीडेण्ट की समिति (Lord President's Committee)। लार्ड प्रेसीडेण्ट इस समिति का सभापति होता है। (४) आर्थिक नीति समिति (The Economic Policy Committee) जिसका सभापति मन्त्री होता है। (५) उत्पादन समिति (The Production Committee)।

मन्त्रिमण्डल की समितियों में कौन-कौन सदस्य हों, इसका निर्णय प्रधान मन्त्री करता है। प्रतिरक्षा समिति को छोड़कर समितियों मे सदस्यो के नाम गोपनीय रखे जाते हैं। इससे सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility) के सिद्धान्त को कायम रखने मे सहायता मिलती है।

डॉ० फाइनर का कहना है कि "मन्त्रिमण्डल की समितियां विचारात्मक या कार्य-समन्वयक या कभी-कभी दोनों ही होती है।" समितियों मे ऐसी समस्याओ पर जिनका कुछ मन्त्रियों से विशेष सम्बन्ध होता है, गम्भीरतापूर्वक विचार-विनिमय हो सकता है। उन्हें मन्त्रिमण्डल के सामने उपस्थित किया जाए, इसके पहले ही उन पर कुछ समझौता हो जाता है। चूंकि अन्तर्ग्रस्त समस्या पर विशदता से पहले ही विचार हो चुकता है, अतः मन्त्रिमण्डल को उसकी बुनियादी बातों पर विचार करने मे सहायता मिलती है। मन्त्रिमण्डल की समितियां प्रशासन और नीति के क्षेत्र में समन्वय स्थापित करती हैं। चूंकि इन समितियों में, जहाँ आवश्यक होता है, मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के अतिरिक्त भी कुछ व्यक्ति शामिल हो सकते हैं, अतः मन्त्रिमण्डल का समन्वय सम्बन्धी कार्य शासन के वृहत्तर क्षेत्रों मे भी विस्तृत हो जाता है। स्थायी सेवाओं के सदस्य भी परामर्शदाताओं के रूप में इन समितियों के सदस्य बन जाते हैं।

मन्त्रिमण्डल सचिवालय (Cabinet Secretariat)—पिछले अध्याय मे हमने मन्त्रिमण्डल सचिवालय की उत्पत्ति का वर्णन किया है। आज यह सचिवालय शासन-व्यवस्था का एक अपरिहार्य भाग बन गया है। वह प्रधान मन्त्री की निगरानी में मन्त्रिमण्डल की बैठकों की कार्यसूची तैयार करता है और उसे बैठक शुरू होने से काफी पहले सदस्यो के पास भेज देता है जिससे कि वे उसका अध्ययन कर सकें। वह बैठक की कार्यवाहियों का वृत्तान्त लिखता है एवं बैठकों में जो निर्णय होते हैं, उस सम्बन्ध में सदस्यों को सूचना देता है। वह मन्त्रिमण्डल की विभिन्न समितियों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुआ है और उनके कार्य की प्रगति का एकीकरण करता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के समय मन्त्रिमण्डल के सचिवालय का विस्तार कर दिया गया था और उसमें एक मितव्ययिता अनुभाग (Economy Section) तथा एक केन्द्रीय सांख्यिकीय कार्यालय (Central Statistical Office) की स्थापना की गई

भी । मितव्ययिता अनुभाग मितव्ययिता के सम्बन्ध में मंत्रिमण्डल को सुझाव देता है। केन्द्रीय सांख्यिकीय कार्यालय देश की विभिन्न सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों के सम्बन्ध मे आकड़े तैयार करता है । सचिवालय मन्थली डाइजेस्ट ऑफ स्टैटिसटिक्स (Monthly Digest of Statistics) नामक पत्र भी छापता है ।

मन्त्रिमण्डल के कार्य (Functions of the Cabinet)—१६१८ की शासन-यन्त्र-समिति (Machinery of Government Committee) की रिपोर्ट के अनुसार मन्त्रिमण्डल के निम्न तीन मुख्य कार्य हैं—

(१) संसद् मे उपस्थित की जाने वाली नीति का अन्तिम निर्धारण;

(२) संसद् द्वारा निर्धारित नीति के अनुरूप राष्ट्रीय कार्यपालिका का सर्वोच्च नियन्त्रण; और

(३) राज्य के विभिन्न विभागों के प्राधिकारियों (Authorities) का निरन्तर परिसीमन करना तथा उन्हें सम्बन्धित करना ।

(१) नीति-निर्धारण सम्बन्धी कार्य (Policy determining Functions)—जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, मन्त्रिमण्डल एक विचारशील एवं नीति निर्धारण करने वाला निकाय है । यह समस्त राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करता है तथा उन पर निर्णय करता है । इस प्रकार मन्त्रिमण्डल के सदस्य प्रत्येक समस्या पर सरकारी नीति सम्बन्धी सर्वसम्मत निर्णय करने का प्रयत्न करते है । किसी समस्या पर चाहे उनमें आपसी मतभेद हों, किन्तु संसद् के समक्ष तथा ससार के समक्ष वे सर्वसम्मत निर्णय ही उपस्थित करते हैं । यदि कोई मन्त्री मन्त्रिमण्डल के निर्णयों से सहमत नही है, तो वह त्यागपत्र दे सकता है ।

जब मन्त्रिमण्डल नीति-सम्बन्धी निश्चय कर लेता है, तो सम्बन्धित विभाग उसे क्रियान्वित करता है । इस क्रियान्विति मे या तो वर्तमान वैधिक ढांचे के अनुसार ही विभाग, प्रशासनिक विधि द्वारा कार्य चला लेता है अथवा ससद् मे विधि-परिवर्तन के हेतु नया विधेयक उपस्थित करना पड़ता है । इस प्रकार विधान, प्रशासन की दासी मात्र है और बेजहॉट (Bagehot) के अनुसार, मंत्रिमण्डल वह यंत्र है जो कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका को जोड़ने वाली कड़ी है । मंत्रिमण्डल संसद् को किसी कार्य के लिए एक विशेष प्रकार से आज्ञा देता है और जब तक मन्त्रिमण्डल को लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त है, तब तक निश्चय ही उसे संसद् की तदर्थ स्वीकृति मिल जाएगी । इस प्रकार मन्त्रिमण्डल ससद् को आज्ञा देता है और निर्धारित नीति की क्रियान्विति में संसद् की सहायता प्राप्त करता है ।

मुख्यतः यही मंत्रिमण्डल के व्यवस्थापक कृत्य है । किन्तु मन्त्रिमण्डल के वैधिक तथा प्रशासनिक कृत्यों मे पूर्ण विभाजन रेखा नही खीची जा सकती । संसद् के प्रत्येक सत्र से पहले, मन्त्रिमण्डल, समस्त विधान-निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम तैयार कर लेता है । संसद् मे सरकारी विधेयको (Public Bills) को मन्त्रिमण्डल का कोई मन्त्री अथवा मन्त्रिमण्डल की ओर से कोई अन्य मन्त्री ही उपस्थित करता है

तथा उनका मार्ग-दर्शन करता है। विधान-निर्माण के सम्बन्ध में मन्त्रालय (Ministry) के ऊपर मन्त्रिमण्डल (Cabinet) पूरी तरह छाया हुआ रहता है क्योंकि बिना मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति के कोई भी विधेयक उपस्थित ही नही किया जा सकता और मन्त्रिमण्डल की विधान समिति (Legislative Committee of the Cabinet) संसद् के सत्र प्रारम्भ होने से पहिले विचार करती है कि आने वाले संसदीय सत्र में कौन-कौन विधेयक उपस्थित किए जाएंगे। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि इसमें कोई अतिशयोक्ति नही है कि संसद् मन्त्रिमण्डल ही की मंत्रणा पर विधान निर्माण करती है।

(२) राष्ट्रीय कार्यपालिका का सर्वोच्च नियन्त्रण (Supreme Control of the National Executive)—मन्त्रिमण्डल इस अर्थ में सर्वोच्च कार्यपालिका नहीं है कि उसके पास कोई वैधिक अधिकार हो। वैधिक रूप से सम्राट् ही सर्वोच्च कार्यपालिका है, यद्यपि व्यवहार में क्राउन वास्तविक कार्यपालिका है। किन्तु क्राउन एक कल्पना है, कोई स्पष्ट सत्ता नहीं है। वास्तविक शक्ति, जो क्राउन के स्थान पर कार्य करती है, मन्त्रिमण्डल है। यही मन्त्रीगण शासन के विभिन्न विभागों के मुखिया होते हैं, और वे ही संसद् द्वारा स्वीकृत तथा मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति को क्रियान्वित करते हैं। अपने विभागों के कार्य-संचालन में वे मन्त्री, चाहे वे मन्त्रिमण्डल के मन्त्री हों अथवा न हों, सावधानी से मन्त्रिमण्डल के आदेशों का पालन करते हैं तथा उसके द्वारा निर्धारित नीतियों तथा किए हुए निर्णयों को क्रियान्वित करते है। इस सम्बन्ध में कोई भूल दलगत शासन के अनुशासन के विरुद्ध अपराध है और इसके फलस्वरूप मन्त्री अपदस्थ किया जा सकता है।

अपने विभागों के अन्तर्गत मन्त्री बहुत कुछ स्वतन्त्र होते है। मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति की स्थूल रूपरेखा के आधीन रहते हुए वे अपने विभाग के अन्दर उठने वाली समस्याओं का स्वयं ही समाधान करते है। चूंकि मन्त्री अपने विभागों के लिए संसद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं, अतः उन्हें यह ध्यान रखना पड़ता है कि उनके विभागों का प्रशासन सुचारु रीति से चलता रहे।

यदि मन्त्रिमण्डल चाहे तो, सपरिषद् सम्राट् (King-in-Council) का उपाय ग्रहण कर सकता है जिसके द्वारा आम नीति निर्धारण का कार्य प्रिवी परिषद् पर छोड़ दिया जाता है, जो मन्त्रिमण्डल के विनिश्चय, परिषद् आदेशों के रूप में निकाल देती है। इस प्रकार युद्ध की घोषणा तक की जा सकती है। पिछले दोनों महायुद्धों की घोषणा परिषद् आदेशों द्वारा ही हुई थी। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल ही सर्वोच्च राष्ट्रीय कार्यपालिका है।

प्रत्यायुक्त अथवा प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) की शक्ति ने तो मन्त्रिमण्डल के कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार और भी विस्तृत कर दिए है। संसद् को अधिकार है कि वह सपरिषद् सम्राट् (King-in-Council) को या क्राउन के किसी व्यक्तिगत मन्त्री को या अन्य व्यक्तियों अथवा निकायों को नियम बना अथवा व्यवस्था करने का अधिकार दे सकती है। इसी को प्रदत्त अथवा प्रत्या

व्यवस्थापन (Delegated Legislation) का अधिकार कहते है। आधुनिक काल मे व्यवस्थापन का कार्य बहुत बढ़ गया है तथा अत्यधिक प्राविधिक (Technical) हो गया है। इसलिए संसद् प्राय. विधियाँ संक्षिप्त रूप में पारित करती है और यह कार्य मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्रियो के ऊपर छोड़ दिया जाता है कि वे आवश्यक न्यूनताएँ पूर्ण कर लें और उसी के अनुसार नियम (Rules) तथा विनियम (Regulations) बना ले जिनसे उन विधियो को काम मे लाया जा सके।

(३) **मन्त्रिमण्डल का समन्वयकारी स्वरूप** (The Cabinet as a Co-ordinater)—मन्त्रिमण्डल का मुख्य कार्य है शासन के विभिन्न विभागों का मार्ग दर्शन तथा उनके कार्यों में समन्वय प्राप्त करना। समस्त प्रशासन बीस या इससे अधिक विभागो मे पूर्णरूप से विभाजित नहीं किया जा सकता है। किसी एक विभाग के कार्य का दूसरे विभाग के कार्यों पर प्रभाव पड़ सकता है और निश्चिततः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण समस्या का सम्बन्ध कई विभागों से होता है। मन्त्रिमण्डल, समस्त विभागों में नीति सम्बन्धी समन्वय प्राप्त करता है। "इसके द्वारा न केवल प्रशासनिक निर्णयो में एक विशिष्ट नीति सम्बन्धी विलक्षण एकता आ जाती है, बल्कि वही आम निर्धारित नीति समस्त व्यवस्थापन मे समन्वित दिखाई पड़ने लगती है।" अन्तर्विभागीय सम्बन्धों में सब विभाग इस बात का प्रयत्न करते है कि उनमे कम-से-कम मतभेद हो और वे यथासम्भव एकमतता प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। यदि विभागों के मतभेद इतने तीव्र हो जाएँ कि सुलझाने में कठिनाई हो, तो प्रधान मन्त्री मध्यस्थ बनकर समझौता कराता है। यदि किसी भी स्थिति मे समझौता नही हो पाता तो अन्त मे उस विवाद की अपील मन्त्रिमण्डल में की जाती है।

मन्त्रिमण्डल की समितियों के उत्थान और समन्वय की विकट समस्या ने मन्त्रिमण्डल के दफ्तर के कार्य को बहुत बढ़ा दिया है। प्रधानमन्त्री और मन्त्रिमण्डल की समितियों के अध्यक्ष आवश्यक सूचना के लिए अपने विशेषज्ञ सहायकों के ऊपर निर्भर रहते है। मन्त्रिमण्डल का सचिवालय जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके है, आधुनिक शासन-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग हो गया है और वही मन्त्रिमण्डल के समन्वयकारी कृत्यों का सम्पादन करता है।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त दो कार्य और हैं—

(४) मन्त्रिमण्डल ही राज्य के समस्त व्यय के लिए उत्तरदायी है और उस समस्त व्यय की पूर्ति के लिए वित्त जुटाना उसी का काम है। इसमें सन्देह नही कि वार्षिक आयव्ययक (Budget) उपस्थित करना तथा उस पर निर्णय करना मन्त्रिमण्डल का कार्य नही है। किन्तु आयव्ययक (Budget) का अत्यधिक राजनीतिक महत्त्व है, इसलिए यह मामला सदैव मन्त्रिमण्डल के सम्मुख आता है और वित्तमन्त्री (Chancellor of the Exchequer) अपने लोक-सभा के आयव्ययक सम्बन्धी भाषण से चार-पाँच दिन पूर्व मन्त्रिमण्डल को कुछ मौखिक जानकारी इस सम्बन्ध में कराता है। इस अनोखे व्यवहार का कारण यह है कि आयव्ययक (Budget) के

सम्बन्ध मे गोपनीयता (Secrecy) की अत्यधिक आवश्यकता है। किन्तु यदि मन्त्रिमण्डल चाहे तो आयव्ययक के बारे मे कुछ अधिक समय पूर्व भी जानकारी मांग सकता है। और उस पर मन्त्रिमण्डल मे विशद रूप से विचार-विनिमय भी किया जा सकता है। आयव्ययक के आगणनों (Estimates) के सम्बन्ध मे मन्त्रिमण्डल को पूर्ण अधिकार है। करारोपण के नये प्रस्तावो के सम्बन्ध मे यदि करारोपण की नीति में आमूल परिवर्तन कर दिए गये है तो उन पर मन्त्रिमण्डल मे विशदता से विचार करना होगा, उसके बाद ही आयव्ययक (Budget) संसद् मे उपस्थित किया जाएगा। इसके अतिरिक्त, संसद् मे आयव्ययक (Budget) उपस्थित किए जाने के बाद भी मन्त्रिमण्डल उसमें सुधार कर सकता है। पुनश्च, मन्त्रिमण्डल आयव्ययक को पूर्णरूप से अस्वीकृत भी कर सकता है यदि इस सम्बन्ध मे संसद् की ऐसी इच्छा है अथवा सर्वसाधारण आयव्ययक से असन्तुष्ट हो, यद्यपि इसके कारण वित्तमन्त्री का त्याग-पत्र अवश्य आ सकता है।

(५) सामान्यतः सभी नियुक्तियाँ मन्त्रिमण्डल के सामने नही आती। किन्तु राज्य की ओर से विभिन्न देशों और विदेशो मे होने वाली महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ करना मन्त्रिमण्डल का उत्तरदायित्व है। शाही परिवार के किसी व्यक्ति की गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्ति सदैव मन्त्रिमण्डल ही करता है। इसी प्रकार कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण पदों पर भी जैसे राजकीय कोष का सचिव (Secretary of the Treasury), मुख्य नियोजन-प्राधिकारी (Chief Planning Officer) की मन्त्रिमण्डल से पूछकर ही नियुक्तियाँ की जाती है। भारत के वायसराय की नियुक्ति के प्रश्न पर मन्त्रिमण्डल ने कई बार हस्तक्षेप किया था क्योकि यह पद अत्यधिक महत्त्व का समझा जाता था। जब श्री सिन्हा को गवर्नर-जनरल की परिषद् में नियुक्त करने का प्रश्न उठा था, मन्त्रिमण्डल से सलाह ली गई थी।[1]

मन्त्रिमण्डल का अधिनायकत्व
(Dictatorship of the Cabinet)

रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) का कथन है कि "जो निकाय इतना शक्तिशाली है वह सिद्धान्त रूप मे अवश्य ही सर्वशक्तिमान् है चाहे व्यवहारतः वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति को प्रयुक्त करने में समर्थ न हो। जब कभी मन्त्रिमण्डल को संसद् के पूर्ण बहुमत का विश्वास होता है, तब तो मन्त्रिमण्डल अधिनायक की तरह व्यवहार करता है, हाँ, बाहरी दिखावे के कारण वह किसी हद तक सीमा में रहता है। आजकल का यह अधिनायकत्व दो पीढ़ी पहले की अपेक्षा कही अधिक कठोर है।"[2] कोई सरकार, जिसका लोक-सभा में वास्तविक बहुमत है, निश्चित रहती है कि जब तक संसद् रहेगी, तब तक वह भी सत्तारूढ रहेगी। शासन की शक्ति का, यह एक प्रकार

---

1. Keith, The British Cabinet System, op. cit., p. 91.
2. How Britain is Governed (1931), p. 89.

से यन्त्रवत् स्रोत है और इसके बल पर मन्त्री लोग जो चाहें प्रस्ताव करते हैं और उन प्रस्तावों पर मनमाने ढग से निर्णय कर डालते हैं। वास्तव में शासन के हाथ में वे साधन हैं जिनके बल पर वह अपना बहुमत बनाये रख सकता है। दलगत अनुशासन की बढ़ती हुई कठोरता तथा सचेतक (Whip) के संघटन की कार्यक्षमता के कारण सभी सदस्य अपने दल का अंधे होकर समर्थन करते हैं। इस दिशा में मन्त्रिमण्डल के पास सबसे प्रभावकारी अस्त्र है "सदन को भंग करने की शक्ति"। जैनिग्ज (Jennings) कहता है कि "सदन को भंग करने की शक्ति ससद् के सदस्यों के सर पर बड़ी लाठी की तरह तनी रहती है।" कोई भी सदस्य नये चुनाव का झंझट मोल लेना नहीं चाहता। इसमें समय और धन दोनों की आवश्यकता होती है और चुनाव मे यह निश्चित नहीं होता कि वह सफल हो ही जायगा। इसलिए सभी सदस्य सचेतक (Whip) की आज्ञा का पालन करते हैं और जब तक शासन के सभी समर्थक सदस्य सचेतक (Whip) का आज्ञा-पालन करते रहते हैं, तब तक मन्त्रिमण्डल सर्वोच्च सत्ता धारण किये रहता है।

बहुमत द्वारा उत्साहित तथा शक्ति के नशे में, कोई शासन लोक-सभा में इस प्रकार के निर्णय भी करा सकता है जो देश के लिए हानिकारक सिद्ध हों। यह भी हो सकता है कि सत्तारूढ़ दल अपने उन सब वायदों को भूल जाए अथवा उन वायदों के विरुद्ध कार्य करे जो उसने आम चुनाव के समय किए थे। ऐसा १९३८ में हो भी चुका है। १९३५ में अनुदार दल (Conservative Party) का लोक-सभा में भारी बहुमत था, इस विजय के लिए अनुदार दल ने प्रतिज्ञा की थी कि वह राष्ट्रसंघ (League of Nations) के प्रति वफादार रहेगा और इटली द्वारा एबीसीनिया (Abyssinia) के प्रति किए गये अत्याचारों की निन्दा करेगा। किन्तु आने वाले वर्षों में शासन की नीति राष्ट्रसंघ के सिद्धांतों के सर्वथा विरुद्ध रही और अनुदार दल ने जो वायदे आम चुनाव के समय किए थे वह उनको भी भूल गया। कीथ ने ठीक ही कहा है कि "यदि हम इसे एक पूर्वोदाहरण मानें, तो कोई भी सरकार एक बार सत्तारूढ होने पर अपना यह हक समझ सकती है कि निर्वाचन के समय किए गए अपने वचनो को भूल जाए।"

जहाँ शासन एक बार सतारूढ़ हुआ कि उसके ऊपर संसद् के कोई अंकुश नहीं रहते सिवाय कतिपय उन स्थायी आज्ञाओ (Standing Orders) के जिनके द्वारा लोक-सभा का कार्य चलता है। ये स्थायी आज्ञाएँ (Standing Orders) किसी भी हालत में परिनियम अथवा संविधियाँ (Statutes) नहीं है। इनको केवल लोक-सभा ही बहुमत के प्रस्तावो पर पास कर देती है। अत: कोई भी शासन जब तक कि उसकी पीठ पर लोक-सभा के बहुमत का हाथ है, इन स्थायी आज्ञाओ में अपनी इच्छानुसार परिवर्तन भी कर सकता है यदि ऐसा करने से उसके कुछ प्रस्ताव आसानी से पास हो सकते है। १९४५-५० के श्रमिक दल के शासन-काल में इस बात का बहुत भय था। शासन प्रतिज्ञाबद्ध था कि राष्ट्रीयकरण किया जाएगा, अत. इस दिशा में संसद् मे

जी तोड़ प्रयत्न किया गया। लोक-सभा में जब परिवहन विधेयक (Transport Bill) तथा नगर एवं काउण्टी नियोजन विधेयक (Town and County Planning Bill) पर स्थायी समिति (Standing Committee) में तथा अगले विधेयक प्रश्न मे विचार हो रहा था तो शासन ने बीच ही मे गिलोटीन (Guillotine) प्रतिबन्ध लगा कर वाद-विवाद शीघ्र ही समाप्त करा दिया। लोक-सभा के इतिहास में यह पहला अवसर था कि स्थायी समिति की कार्यवाही मे किसी विधेयक के ऊपर इतनी कड़ी कार्य-प्रणाली अपनाई गई हो। गिलोटीन (Guillotine) के फलस्वरूप परिवहन के विधेयक की ३७ धाराओं (Clauses) तथा ७ अनुसूचियों (Schedules) पर स्थायी समिति में विचार ही नहीं किया गया, और इसके अतिरिक्त और भी बहुत से विधेयकों पर गिलोटीन (Guillotine) उपाय द्वारा विचार रोक दिया गया। नगर एवं काउण्टी नियोजन विधेयक (Town and County Planning Bill) के सम्बन्ध मे भी लगभग ५० धाराओं तथा ६ अनुसूचियो पर स्थायी समिति में विचार नहीं किया गया। प्रतिवेदन स्तर (Report Stage) में पुनः गिलोटीन की नीति अपनायी गई।[1] इस प्रसंग में प्रो० कीथ (Prof. Keith) ने कहा है, "जिस शासन की पीठ पर विशाल बहुमत का हाथ है, वह मनमाना व्यवस्थापन कर सकता है; इस सम्बन्ध में यदि कोई अकुश उसके ऊपर है, तो वह उसी की अच्छी विवेक-बुद्धि है अथवा उसका वाद-विवाद सम्बन्धी उन प्रचलित नियमों के प्रति आदर है जिन पर सदैव सभी दलों ने आचरण किया है।"[2] यह भी कहा जाता है कि अब वाद-विवाद केवल औपचारिकताएँ ही बन गए हैं और इनसे मत-विभाजन पर कोई असर नहीं पड़ता।

यह भी कहा जाता है कि प्रत्यायुक्त विधान (Delegated Legislation) तथा प्रशासनिक विधि (Administrative Law) की वृद्धि के परिणामस्वरूप विधि शासन (Rule of Law) एवं नागरिकों की स्वतन्त्रता के लिए खतरा उत्पन्न हो गया है। बार्कर के शब्दों में, "जब व्यवस्थापिका कार्यपालिका को कुछ विधायी शक्ति देती है, तब वह अपने से कुछ चीज विलग करती है। लेकिन जब वह कार्यपालिका को कुछ न्यायिक शक्ति देती है, तब वह न केवल अपने को ही हीन करती है, बल्कि अपने से अन्य एक विभाग को भी हीन करती है।"

किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है और जैनिंग्ज का यह कथन सत्य भी नहीं है कि "जिस शासन की पीठ पर प्रबल बहुमत का हाथ है, वह अल्पकाल के लिए अधिनायकवाद स्थापित कर लेता है।"[3] लोक-सभा ऐसा स्थान नही है जहाँ विजेता

1. The British Cabinet System, op. cit., p. 248.

2. "What is clear, however, is that a Government with a large majority is limited in its legislative programme only by its own good sense and its respect for those rules of debate which generations of men in all parties have agreed upon." The British Cabinet S, op. cit., p. 249.

3. Cabinet Government, op. cit., p. 442.

दल हारे हुए दल पर असयमित अधिकार प्रदर्शित करे, अथवा निर्बल राजनीतिक अल्पमत दल के ऊपर शासन करे। विजेता दल को बाहरी प्रभावों का भी ध्यान रखना ही पड़ता है। ससदीय शासन-प्रणाली में संसदीय सहनशीलता अनिवार्य है। अल्पमत दल मानता है कि बहुमत दल शासक बनेगा, साथ ही बहुमत दल मानता है कि अल्पमत दल का कार्य आलोचना करना है। निस्सन्देह स्थायी आदेश यही है कि बहुमत दल की इच्छा ही चलेगी। किन्तु इन आदेशों से सरकार की स्थिति का सही-सही मूल्यांकन नही हो सकता। इन आदेशो की न्यूनता को सदन की प्रथाएँ तथा अभिसमय पूर्ण करते है। सदन की प्रथाएँ ये है कि "बहुमत दल वाद-विवाद के उन समस्त नियमों का पालन करता चले जिन पर सभी दल पीढ़ियों से चलते-आ रहे हैं।"

सदन की प्रचलित प्रथाएँ काफी हद तक बहुमत के शासन का कठिनाइयों को दूर कर देती है। ससद् विरोधी दल को समय देती है कि वह शासन के कार्य की आलोचना कर सके। जिन विभिन्न स्तरो अथवा प्रक्रमों (Stages) मे से होकर, सदन मे से विधेयक गुज़रता है—जिस प्रकार प्रथम वाचन, द्वितीय वाचन, समिति प्रक्रम तथा रिपोर्ट प्रक्रम और अतिम तृतीय वाचन—ये सब स्तर या प्रक्रम इसी बात को ध्यान में रखकर स्थापित किये गये हैं। प्रदाय अथवा सम्भरण समिति (Committee of Supply) मे विरोधी दल ही वाद-विवाद का विषय निश्चित करता है। सदन की कार्यवाही मे विभिन्न स्तरो अथवा प्रक्रमों (Stages) पर कितना-कितना समय व्यय किया जाए, इसका निर्णय प्राय: स्पीकर की कुर्सी के पीछे किया जाता है, अथवा साधारण प्रणालियो द्वारा, जैसे शासन दल तथा विरोधी दल के सचेतक (Whips) अपने-अपने नेताओं से पूछकर अरीतिक रूप से बातचीत के द्वारा निश्चय करें कि विभिन्न प्रक्रमों पर कितना-कितना समय व्यय किया जायेगा। वे यह भी निश्चय कर लेते हैं कि किन-किन विषयों पर वाद-विवाद होगा, किन-किन विषयों पर जानकारी दी जाएगी तथा विरोधी दल किस क्रम से आक्रमण करेगा।

सम्राट् की सरकार के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण दर्जा सम्राट् के विरोधी दल का होता है। विरोधी दल का कर्त्तव्य है विरोध करना। यह शासन के ऊपर तथा व्यक्तिगत मन्त्रियों के ऊपर आक्षेप करता है। संसदीय शासन-प्रणाली मे विरोधी दल द्वारा शासन के ऊपर प्रयत्नपूर्ण आक्षेप करते रहने से दोषपूर्ण प्रशासन तथा भ्रष्टाचार के ऊपर बहुत कुछ अंकुश बना रहता है। इसके द्वारा व्यक्तिगत अन्याय भी रोका जा सकता है। शासन भी अपने कर्त्तव्य को समझता है कि उसे न्यायपूर्वक शासन करना चाहिए और आलोचना की प्रतिक्रियास्वरूप विरोधी दल को दबाना नही चाहिए, बल्कि समझदारी तथा तर्क से काम लेना चाहिए जिससे कि निर्वाचकगण (Electorate) की स्वीकृति प्राप्त हो सके। यदि कोई सरकार सदन की परम्पराओं का आदर नही करती, अथवा विरोधी दल की अवहेलना करती है, तो इससे वह स्वयं खतरे में पड़ सकती है। सम्राट् का विरोधी दल कभी-न-कभी सरकार का भी निर्माण कर सकता है। शासन की कमियों से विरोधी दल को आक्षेप करने के उपयुक्त

अवसर मिलते है और उन कमियों के आधार पर विरोधीगण जनमत का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते है ।

कोई शासन अपने साथियों की प्रतिक्रिया की भी अवहेलना नही कर सकता। यह सत्य है कि कोई व्यक्ति ससद् का सदस्य केवल अपने दल की सहायता से ही बन सकता है और उसका राजनीतिक जीवन बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि वह अपने दल की कहाँ तक सहायता करता है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वही पूर्णतया अधीन है अथवा उसके ऊपर अपने दल के नेताओं के अतिरिक्त और किसी का प्रभाव पड ही नहीं सकता। उसका अपने निर्वाचन-क्षेत्र (Constituency) से निरन्तर सम्पर्क बना रहता है । और वह जनमत किस ओर जा रहा है इसका सदैव ध्यान से अध्ययन करता रहता है। यदि उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि शासन अप्रिय होता जा रहा है तो वह अपनी नीति में आवश्यक परिवर्तन करने के लिए बाध्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्वय दल मे भी कुछ निहित स्वार्थ वाले वर्ग होते हैं। ये वर्ग सदैव शासन की प्रत्येक गतिविधि पर निगाह रखते हैं और जहाँ उनके व्यक्तिगत हित टकराते हैं, वही वे शोर मचाने लगते हैं। अतएव जो शासन बाह्य-प्रभावों से प्रभावित नही होता और अपनी दिशा मे परिवर्तन नही करता, वह जनता द्वारा जनता का शासन नहीं कहलाया जा सकता।

इसलिए मन्त्रिमण्डल ही, बहुमत के विचारों का सर्वोच्च व्याख्याता है, और यह बहुमत तथा अल्पमत सभी पर समान रूप से शासन करता है। किन्तु वह जनमत की अवहेलना नहीं कर सकता। अन्तिम शक्ति प्रजा के हाथों में है, और मन्त्रिमण्डल को याद रखना चाहिए कि भविष्य में अपने कारनामों का हिसाब किस को चुकाना होगा, तथा किसने उसको शासन-सत्ता से विभूषित किया था। सन् १९३४ में अशान्ति-उत्तेजक विधेयक (Incitement to Disaffection Bill) की कतिपय धाराओं के विरुद्ध काफी कोलाहल हुआ। राष्ट्रीय सरकार की पीठ पर असाधारण बहुमत था और विधेयक पास भी हो गया। "किन्तु जिस रूप में वह विधेयक प्रस्तुत किया गया था उससे कहीं अधिक परिवर्तित स्वरूप में वह पास किया गया।" यह परिवर्तन जनमत ने ही किया। दिसम्बर, १९३५ में, इटली-इथोपिया के झगड़े के निपटारे के लिए इंग्लैण्ड तथा फ्रांस ने जो प्रस्ताव उपस्थित किये, उनके विरुद्ध इतना प्रबल कोलाहल मचा कि मन्त्रिमण्डल को अपने निर्णय पर पुनर्विचार करना पड़ा। मन्त्रिमण्डल ने सोचा कि "इतने महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर प्रजातंत्र मे जितना जनमत का समर्थन रहना चाहिए उतना शासन के पास नहीं है। तत्कालीन विदेश मन्त्री सर सेम्युएल होर (Sir Samuel Hoare) ने त्याग-पत्र दे दिया क्योंकि "देश के बहुत बड़े समुदाय का विश्वास उन्हें प्राप्त नही था।" १९४० में जनमत ने ही नेवाइल चैम्बरलेन (Neville Chamberlain) की सरकार को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर दिया था। अतः यदि प्रजातंत्र का यह सिद्धान्त मान लिया जाए कि शासन प्रजा की सम्मति से ही सम्भव हो सकता है, तो मन्त्रिमण्डल का अधिनायकवाद सत्य तथ्य नहीं है।

प्रधान मन्त्री

(The Prime Minister)

ग्रनौपचारिक ग्राधार (Informal basis)—जॉन मॉर्ले (John Morley) के अनुसार, 'प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल के वृत्तखंड का मुख्य पत्थर (key-stone) है।" किन्तु जैनिंग्ज (Jennings) कहता है कि "प्रधान मन्त्री को संविधान रूपी भवन का मुख्य पत्थर (key-stone) कहना अधिक उपयुक्त होगा।" यह वाक्यांश जितना सुन्दर एवं विचित्र है उतना ही सही भी है। प्रधान-मन्त्री देश का सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न व्यक्ति है। सम्राट् के जो विशेषाधिकार छिन गये हैं, वे सभी विशेषाधिकार क्राउन के उत्तरदायित्वपूर्ण सलाहकार (Responsible Adviser of the Crown) के रूप में प्रधान मन्त्री के हाथों में आ गए हैं। सम्राट् के जो विशेषाधिकार प्रधान मन्त्री के हाथों में नहीं आए, वे मन्त्रिमण्डल को मिल गए हैं। "किन्तु मन्त्रिमण्डल के निर्माण मे मन्त्रिमण्डल के जीवन मे, तथा मन्त्रिमण्डल की मृत्यु मे भी प्रधान मन्त्री ही केन्द्रीय शक्ति है।"[1] मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष होने के नाते वह मन्त्रिमण्डल का पुरोगामी सदस्य (Leading Member) होता है। वही मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है, वह उसको बदल सकता है तथा नष्ट भी कर सकता है। ग्रीव्ज (Greaves) कहता है कि "शासन समस्त देश का स्वामी है और प्रधान मन्त्री शासन का स्वामी है।"[2] इतना महत्त्वपूर्ण पद होते हुए भी प्रधान मन्त्री के पद का विधि मे अभी हाल तक कहीं उल्लेख नही था। देश की अन्य बहुत-सी संस्थाओं की तरह ही प्रधान मन्त्री का पद भी आकस्मिक घटना का प्रतिफल अथवा संयोग का जात (The Child of Chance) था। प्रधान मन्त्री की स्थिति के बारे में किसी परिनियम अथवा सविधि (Statute) में कुछ जिक्र नही है और प्रधान मन्त्री का वेतन अब भी उसे ट्रेजरी का प्रथम लार्ड (First Lord of the Treasury) होने के नाते मिलता है। ट्रेजरी के *प्रथम लॉर्ड का यह पद प्रधान मन्त्री के पद के साथ* सन् १७२१ से जुड़ा हुआ है। सन् १७७३ से पूर्व प्रधान मन्त्री शब्द का प्रयोग किसी राष्ट्रीय प्रलेख (Public Document) में नहीं हुआ किन्तु उस वर्ष जब लॉर्ड बीकन्सफील्ड (Lord Beaconsfield) ने बर्लिन की सन्धि पर हस्ताक्षर किये तो उस सन्धि की प्रथम धारा मे लार्ड बीकन्सफील्ड को "महामहिमामयी सम्राज्ञी की ट्रेजरी का प्रथम लार्ड तथा इंग्लैण्ड का प्रधान मन्त्री" (First Lord of Her Majesty's Treasury, Prime Minister of England) कहकर सकेत किया गया। सर सिडनी लो (Sir Sydney Low) के विचार से "*यह नामकरण उन विदेशियों के* अज्ञान के प्रति कुछ रियायत मात्र था, जो ब्रिटेन के पूर्ण शक्तियुक्त महादूत की वास्तविक स्थिति को समझ न पाते, यदि उसका केवल अधिकारीय अभिधान

1. Laski : Parliamentary Government in England, op. cit., p. 228.
2. The British Constitution, op. cit, p. 108,109.

(Official title) ही दिया जाता।"[1] काफी समय के बाद १९०६ में प्रधान मन्त्री की स्थिति को उत्सवों से सम्बन्ध रखने वाली सामाजिक प्राथमिकताओं की तालिका में मान्यता प्रदान की गई। प्रधान मन्त्री को राज्य का, आदर की दृष्टि से, चौथे नम्बर का प्रजानन माना जाने लगा। उसे यार्क के आर्च-बिशप (Arch Bishop of York) से निचला दर्जा दिया गया। १९१७ के चेकर्स एस्टेट ऐक्ट (Chequers Estate Act of 1917) मे "प्रधान मन्त्री पद ग्रहण करने वाले व्यक्ति का जिक्र आया है" और उस पद को धारण करने वाले व्यक्ति के लिए चेकर्स (Chequers) प्रयोग करने की अनुमति दी गई है।"[2] १९३७ के क्राउन के मन्त्री अधिनियम (The Minister of the Crown Act of 1937) ने प्रथम बार प्रधान मन्त्री के पद को मान्यता प्रदान की है जिसमे उसको सरकार के प्रधान मन्त्री (First Lord of the Treasury) तथा साथ ही साथ प्रधान-मन्त्री दोनो पदो के लिए १०,००० पौं० वार्षिक वेतन स्वीकार किया गया है।"[3] किन्तु इस विधान (Provision) से भी प्रधान मन्त्री को वास्तविक शक्ति नही मिलती। "इनसे तो केवल प्रधान मन्त्री की सांविधानिक स्थिति भर को मान्यता मिलती है, किन्तु उस स्थिति को सांविधानिक स्वरूप देना अभी शेष है।" प्रधान मन्त्री के पास विधि-विहित वास्तविक शक्ति बिल्कुल नहीं है। उसको समस्त शक्ति एवं अधिकार सांविधानिक अभिसमयों से ही प्राप्त हुए हैं और वे समस्त अधिकार उन्हीं अभिसमयों से मर्यादित भी हैं।

प्रधान मन्त्री की नियुक्ति (The Choice of a Prime Minister)—मन्त्रिमण्डल का निर्माण मुख्यत. सम्राट् द्वारा प्रधान मन्त्री की नियुक्ति पर निर्भर है। १८वी शताब्दी मे प्रायः देखा जाता था कि मन्त्रिमण्डल में समन्वय का अभाव था और उस समय क्राउन के मुख्य अथवा प्रधान मन्त्री के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि उसके ऊपर न केवल सम्राट् की कृपा हो, बल्कि सर्वसाधारण का समर्थन भी उसे प्राप्त हो। जार्ज तृतीय के आरम्भिक शासन-काल में एक बार पुनः प्रयत्न किया गया था कि सम्राट् की शक्ति फिर सम्राट् को मिलनी चाहिए। आशय यह था कि केवल ऐसे मन्त्री चुने जायें जो सम्राट् को स्वीकार्य हों। यह प्रयत्न विफल रहा, और १८३२ तक लोक-सभा में बहुमत दल के मुखिया के रूप में प्रधान मन्त्री को स्वीकार कर लिया गया।

अब यह एक सुनिश्चित नियम-सा बन गया है कि प्रधान मन्त्री या तो कोई कुलीन पुरुष (Peer) होना चाहिए अथवा उसका लोक-सभा का सदस्य होना आवश्यक है। सर राबर्ट वालपोल (Sir Robert Walpole) के काल से लेकर अब तक

1. The Governance of England, p. 156.

2. चेकर्स में आजकल प्रधान मंत्री का अधिकारी देहाती निवास-स्थान है।

3. चौथी धारा में कहा गया है…………"उस व्यक्ति को जो प्रधान मंत्री तथा सरकार का प्रथम मंत्री होगा, दस हजार पौं० वार्षिक वेतन मिलेगा।"

के सभी प्रधान मन्त्री या तो लॉर्ड सभा या लोक-सभा के सदस्य अवश्य रहे हैं। १९०२ में लॉर्ड सेलिसबरी (Lord Salisbury) के त्याग पत्र के बाद कोई भी कुलीन पुरुष (Peer) प्रधान मन्त्री नहीं बना है। १९२३ में यह समस्या सामने आई कि क्या किसी कुलीन पुरुष को प्रधान मन्त्री बनाया जाए। बोनर लॉ (Bonar Law) के त्याग-पत्र से सम्राट् के समक्ष केवल दो विकल्प रह गये—या तो लॉर्ड कर्जन या मि० स्टेनले बाल्डविन को प्रधान-मन्त्री बनाया जाए। इससे पूर्व भी यह अनुभव किया जा चुका था कि प्रधान-मन्त्री केवल लोकसभा में से लिया जाना चाहिए जहाँ सरकारें या तो बनती हैं अथवा अपदस्थ की जाती हैं। यह भी माना जाता था कि लोक-सभा की यह मान्यता उचित ही थी कि "उसका मुख्य प्रतिनिधि उसके प्रभाव में रहना चाहिए और वह स्वयं लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।"[1] इसमें सन्देह नही कि कर्जन (Curzon) कुलीन पुरुष था। किन्तु केवल यही विचारणीय विषय न था। उसके व्यक्तित्व के कारण भी निर्णय उसके विरुद्ध हुआ। इन दोनों तथ्यों के फल-स्वरूप स्टेनले बाल्डविन प्रधान मन्त्री नियुक्त हुआ, यद्यपि उसको मन्त्रि-मण्डल के मन्त्रित्व का केवल आठ महीने का अनुभव था जो उसने बोनर लॉ के प्रधान मन्त्रित्व में उपार्जित किया था।

प्रधान मन्त्री के कर्त्तव्य (Functions of the Prime Minister)—जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, प्रधान मन्त्री, संविधान मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उसी के हाथ में शासन की समस्त सत्ता रहती है। उसके दुःसह कर्त्तव्य हैं और उसका अधिकार-क्षेत्र असीम है जिसका वर्णन ग्लैडस्टन (Gladstone) ने इस प्रकार किया है, "ब्रिटिश शासन का मुखिया किसी भी अर्थ में ग्राण्ड वजीर (Grand Vizier) नहीं है। मन्त्रिमण्डल के अन्य साथियों के ऊपर उसे कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं हैं। बहुत ही कम अवसरों पर जबकि मन्त्रिमण्डल अपना निर्णय सदस्यों की मतगणना के आधार पर करता है, तो प्रधान मन्त्री का वोट अन्य साथियों की तरह एक वोट का मूल्य रखता है। किन्तु मन्त्रिमण्डल के अन्य साथियो की नियुक्ति अथवा वियुक्ति (Dismissal) सम्राट् प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर करता है। ऐसे पूर्ण सुयोजित शासन में, जैसा कि १८४१-४६ तक रॉबर्ट पील का था, कोई भी महत्त्व-पूर्ण कार्य सम्पन्न नही होता, न किसी विभाग मे कोई नया काम प्रारम्भ ही किया जाता है जब तक कि तत्सम्बन्धी पूर्व जानकारी प्रधान मन्त्री को न हो, और कोई भी महत्त्वपूर्ण बात मन्त्रिमण्डल में निर्णयार्थ प्रस्तुत किए जाने से पूर्व प्रधान मन्त्री के सामने अवश्य लाई जाती है। यह सम्राट् के समक्ष मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही की रिपोर्ट प्रस्तुत करता है, और उसे सम्राट् से बार-बार भेंट करनी पड़ती है।"[2] ग्लैडस्टन ने जो कुछ कहा है, उसमे सचाई का बहुत बड़ा अंश है। किन्तु निकट भूत-काल में प्रधान मन्त्री के अधिकार-क्षेत्र मे और भी वृद्धि हुई है। मताधिकार में वृद्धि

1. Harcourt quoted in Jennings' Cabinet Government, p. 22.
2. Quoted in Keith's British Cabinet System, p. 65.

के प्रतिरिक्त ग्लैडस्टन (Gladstone) तथा डिजरैली (Disraeli) ने जो महिमा प्रधान मन्त्री पद को दी, उस सब के फलस्वरूप प्रधान मन्त्री के पद का गौरव, संयुक्त राज्य अमेरिका के अध्यक्ष के समकक्ष ही हो गया है। आजकल कोई-कोई तो उसे अधिनायक की उपमा देने लगे है। ग्रीव्ज (Greaves) के अनुसार, "उसकी औपचारिक शक्तियाँ तो निश्चय ही एक अनियंत्रित शासक की-सी दिखाई देती हैं।" यह अतिशयोक्ति हो सकती है, किन्तु इसमे सन्देह नही कि उसकी शक्तियाँ तथा सामर्थ्य विशाल है।

प्रधान मन्त्री शासन का निर्माण करता है। सम्राट् ने जहाँ प्रधान मन्त्री का चुनाव किया कि उसका शासन-निर्माण के सम्बन्ध में मुख्य कार्य समाप्त हो जाता है, क्योंकि मन्त्रियों की सूची तैयार करना और उसे सम्राट् की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करना—यह काम प्रधान मन्त्री का है। प्राविधिक दृष्टि से मन्त्रियों की नियुक्ति अन्तिम रूप से सम्राट् के हाथों में रहती है क्योंकि वही उन्हें नियुक्त करता है। किन्तु व्यवहारतः प्रधान मन्त्री ही निर्णय करता है और सम्राट् की स्वीकृति एक औपचारिकता मात्र है। सम्राज्ञी विक्टोरिया ने भी राजनीतिक कारणों के आधार पर कभी किसी मन्त्री की नियुक्ति पर आपत्ति नही की।

शासन के निर्माण में प्रधान मन्त्री को दोनों सदनों के अपने दल के मुख्य नेताओं के विचारों तथा स्वत्वों को ध्यान में रखना पड़ता है। किन्तु जैसा कि मि० एमरी (Mr. Amery) ने कहा है, "जहाँ एक बार संसद् ने प्रधान मन्त्री द्वारा चुने हुए शासन के मन्त्रियों को तथा उनके अधीन विभागों को स्वीकार कर लिया फिर प्रधान मन्त्री पूर्ण स्वेच्छया शासन का निर्माण कर सकता है—अपनी व्यक्तिगत इच्छा से भी जो वह ठीक समझे, कर सकता है।"[1] यह प्रधान मन्त्री ही निर्णय करता है कि मन्त्रिमण्डल में कितने मन्त्री हों और उसमे कौन-कौन मन्त्री लिये जायें। वास्तव में, शासन के निर्माण में प्रधान-मन्त्री को पूरी छूट रहती है—"इस सम्बन्ध में न तो संसद्, न दलीय कार्यपालिका (Party Executive) ने ही उसके ऊपर कभी कोई दबाव डाला है।" वह अपने दल से बाहर का व्यक्ति भी मन्त्रिमण्डल में ले सकता है, यहाँ तक कि संसद् से बाहर का व्यक्ति भी ले सकता है यदि उसके विचार से उसे कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाए जो किसी विशिष्ट काम के लिये विशेष योग्य हो। उदाहरणस्वरूप १६०३ में बाल्फर (Balfour) ने उपनिवेश मन्त्री पद लॉर्ड मिलनर (Lord Milner) को उस समय दे दिया जबकि वह दक्षिणी अफ्रीका में उच्चायुक्त (High Commissioner) था, और जबकि उसे बिलकुल संसदीय अनुभव नही था। मैकडानल्ड (MacDonald) ने सन् १६२४ में किसी भी दल से असम्बद्ध, भारत के अवकाश-प्राप्त वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड (Lord Chelmsford) को नौसैनिक मन्त्री का पद दे दिया। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक उल्लेख्य उदाहरण यह है, जबकि १६२४ मे बाल्डविन

1. Champion and Others : Parliament—A Survey, p. 63.

(Baldwin) ने चर्चिल को वित्तमन्त्री (Chancellor of the Exchequer) नियुक्त कर दिया। हैरल्ड विल्सन (Harold Wilson) ने पैट्रिक गार्डन वाकर (Patrick Gordon Walker) को विदेश विभाग के सचिव जैसे ऊँचे पद पर नियुक्त किया यद्यपि वह ग्राम चुनाव में हार गया था।

(१) विभागों के वितरण के सम्बन्ध मे भी प्रधान मन्त्री अपनी इच्छा से कार्य करता है। यद्यपि यदि कोई अनुभवी राजनीतिज्ञ न चाहे तो किसी विभाग को अस्वीकृत भी कर सकते है, बशर्ते कि उस दल मे उनको इतना समर्थन एवं समादर प्राप्त हो कि शासन उनकी सेवाओं के बिना चल ही न सके, - और दल ऐसा अनुभव करने लगे कि ऐसे व्यक्ति की सेवाओ से वंचित होना अबुद्धिमत्तापूर्ण होगा। किन्तु प्रधान मन्त्री विभागों के वितरण के विषय में जो अन्तिम निर्णय करता है, उसे सामान्यतः कभी अस्वीकृत नही किया जाता, क्योंकि किसी पद की अस्वीकृति का अर्थ हो सकता है न केवल उस संसद्-काल के लिए पद-हीनता, बल्कि सदैव के लिये पद से वंचित रहना। सर राबर्ट हार्न (Sir Robert Horn) व्यापार मन्त्रालय तथा वित्त मन्त्रालय के प्रधान के रूप मे अत्यन्त सफलता के साथ कार्य कर चुका था किन्तु १९२४ मे उसने बाल्डविन द्वारा दिए गए श्रम मन्त्रालय का प्रधान बनना अस्वीकार कर दिया और फिर भविष्य मे कभी किसी पद के लिए उसके नाम पर विचार ही नही किया गया। पर कभी-कभी जोरदार और भाग्यवान राजनीतिक व्यक्ति इस नियम के अपवाद सिद्ध हो जाते हैं।

(२) यदि शासन-यन्त्र को सुचारु रूप से चलाना है तो प्रधानी मन्त्री का यह असंदिग्ध अधिकार है कि वह मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों की नियुक्ति करे, उनके विभागो में परिवर्तन करे तथा यदि कभी आवश्यक हो जाए तो उन्हें अपदस्थ भी करे। अपने पक्षपातहीन विवेक के अनुसार वह जिस व्यक्ति को जिस पद पर नियुक्त करना चाहे कर सकता है। यदाकदा उसको यह भी देखते रहना चाहिए कि प्रत्येक मन्त्री की देख-रेख में सब विभाग ठीक कार्य कर रहे है या नहीं, और उसे यह भी देखते रहना चाहिए कि प्रत्येक विभाग का कार्य अच्छे ढंग से चल रहा है अथवा नहीं। एक टीम के कप्तान होने के नाते, साथ ही समस्त प्रशासन का मुखिया होने के नाते, वह अपने साथियों मे से किसी से भी किसी समय त्याग पत्र माँग सकता है यदि उसके विचार अथवा न्याय-बुद्धि के अनुसार उस मन्त्री के मन्त्रिमण्डल में रहने से समस्त मन्त्रिमण्डल की कार्य-क्षमता, योग्यता, ईमानदारी अथवा समस्त शासन की नीति पर कुप्रभाव पड़ने की आशंका है।

प्रधान मन्त्री सम्राट् को भी मन्त्रणा दे सकता है कि वह किसी मन्त्री को नियुक्त कर दे। विधि के अनुसार कोई मन्त्री अपने पद पर सम्राट् के प्रसाद-पर्यन्त ही बना रह सकता है, और इसीलिए सम्राट् जब चाहे उसे वियुक्त (Dismiss) भी कर सकता है। अब यह सुनिश्चित प्रथा-सी बन गई है कि सम्राट् मन्त्री के वियुक्ति

Vote) भी समिति के प्रधान का ही अधिकार होता है।[1] इससे भी प्रधान का अधिकार बढ़ जाता है, यद्यपि इंग्लैण्ड मे, केबिनेट, कोई निर्णय मत के द्वारा नही करता।[2] बन्द कमरे में मन्त्रियों मे आपसी मतभेद हो सकते हैं किन्तु अन्त में सभी को एकमत होना पड़ेगा और केवल इसी प्रकार समस्त दल की परस्पर-आधीनता सुरक्षित रखी जा सकती है। तथ्य यह है कि परस्पर-असहमति अथवा विरोध की सम्भावना बहुत ही कम है। यदि दो मन्त्रियों में अथवा दो विभागों में मतभेद हो जाए, तो वह अपनी बतचीत द्वारा अथवा प्रधान-मन्त्री की मध्यस्थता द्वारा तय हो सकता है। यदि मन्त्रिमण्डल के विचार-विमर्श में मतभेद उत्पन्न हो जाये, तो मन्त्रिमण्डल का प्रधान होने के नाते प्रधान मन्त्री की स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ होती है, और अपनी उच्च स्थिति के कारण वह कुछ न कुछ निर्णय करा ही देता है। इसके अतिरिक्त प्रधान मन्त्री अपने दल का नेता होता है और उसके १० या उससे भी अधिक साथी उसके प्रति वैयक्तिक एव दलगत निष्ठा रखते हैं। उसका कार्यावलि (Agenda) पर नियन्त्रण होता है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य, वाद-विवाद के लिए जो भी विषय विचारार्थ प्रस्तुत करें, उन्हें प्रधान मन्त्री चाहे तो माने, चाहे न माने। व्यवहारतः प्रत्येक मन्त्री किसी मुख्य प्रस्ताव को प्रस्तुत करने से पूर्व प्रधान मन्त्री की राय अवश्य लेता है और उसकी सहायता याचना करता है। बाल्फर (Balfour) का कार्य मन्त्रिमण्डल के प्रधान के रूप में सर्वोत्तम माना गया है।

(५) मन्त्रिमण्डल के पथ-प्रदर्शक के रूप में प्रधान मन्त्री सभी मन्त्रियों एवं मन्त्रालयों की नीतियों का मुख्य रूप से समन्वयक होता है। उसी का यह परम पुनीत कर्त्तव्य है कि वह समस्त शासन के कार्य की देखभाल करता रहे और शासन के विविध क्रिया-कलाप एक-दूसरे से सम्बद्ध रहे। वास्तव में वही समस्त शासन रूपी व्यापार का मुख्य प्रबन्धक है। आदर्श प्रधान मन्त्री के रूप मे सर राबर्ट पील (Sir Robert Peel) की सब जगह प्रशंसा होती है।

आजकल प्रधान मन्त्री के विविध कर्त्तव्यों को ठीक-ठीक समझ लेना उतना आसान नहीं है। राज्य का प्रभाव इतना व्यापक हो गया है और इसके कार्य-कलाप इतने जटिल हो गए हैं कि यदि कोई प्रधान मन्त्री सभी विभागों के सभी कार्यों को स्वयं देखने का प्रयत्न करे तो इसका फल उसके स्वयं के लिए तथा देश के लिए समान हानिकारक होगा। प्रधान मन्त्री को कठिन कर्त्तव्यों के पालन में अपने उन साथियों की सहायता मिलती रहती है जो अन्तरंग मन्त्रिमण्डल (Inner Cabinet) कहलाते हैं। अन्तरंग मन्त्रिमण्डल (Inner Cabinet) ही प्रायः सभी मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण निर्णय करता है। मन्त्रिमण्डल की विभिन्न समितियाँ ही समन्वय का कार्य पूर्ण करती

1. सन् १८८१ में डिल्लन (Dillon) को गिरफ्तार करने का निर्णय मि० ग्लैडस्टन के निर्णायक मत के द्वारा किया गया था।

2. मत गिनने की प्रथा एवं बहुमत के अनुसार निर्णय करने की प्रथा सन् १८८० तक नहीं थी। हाइड पार्क से ड्यूक ऑफ वेलिंगटन की प्रस्तर-मूर्ति हटाने का प्रश्न १८८३ में हाथ उठाने एवं गिनने से हुआ था। किंतु वोट लेने की प्रथा उस समय प्रायः नहीं थी।

परिस्थितियां क्या हो सकती है, इसकी कल्पना करना कठिन है। पिछले १०० वर्षों में सम्राट् ने ऐसा नहीं किया है।

(८) जनसाधारण के महत्त्व की बातों को क्राउन तक पहुँचाने का माध्यम (Channel of Communication) प्रधान मन्त्री ही होता है यद्यपि ऐसे भी कई उदाहरण मिलते है जबकि "प्रधान मन्त्री की उपेक्षा करके"[1] कई मन्त्रियों ने भी क्राउन से सीधा सम्पर्क स्थापित कर लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि मन्त्रिमण्डल के निर्णयों को मन्त्रिमण्डल सचिवालय लिपिबद्ध करता है और वही उसकी नकल सम्राट् को भेजता है। इसके अतिरिक्त सम्राट् को मन्त्रिमण्डल के वार्तालाप एवं निर्णयों की कोई सूचना नहीं होती, सिवाय उन बातों के जिन्हें प्रधान मन्त्री स्वेच्छया सम्राट् को बतावे। एक बार जहाँ प्रधान मन्त्री ने सम्राट् को इस सम्बन्ध में सूचना दे दी, फिर "किसी अन्य मन्त्री द्वारा इसके दुहराये जाने की आवश्यकता नहीं है।" वह सम्राट् का मुख्य सलाहकार होता है और आपातकाल में वह सर्वप्रथम प्रधान मन्त्री की ही सलाह माँगेगा। प्रधान मन्त्री सम्राट् को सलाह देता है कि सम्राट् किन-किन सरकारी कार्यों में भाग ले जैसे किसी विदेश में यात्रा; साम्राज्य के किसी भाग की यात्रा अथवा राष्ट्रमण्डल के किसी देश की यात्रा। मि० स्टैनले बाल्डविन (Mr. Stanley Baldwin) इसे अपना अधिकार तथा कर्त्तव्य समझते थे जिसके आधार पर उन्होंने सम्राट् एडवर्ड अष्टम को उनके श्रीमती सिम्पसन के साथ होने वाले विवाह के सम्बन्ध में सलाह दी। प्रधान मन्त्री बाल्डविन ने मन्त्रिमण्डल से उस समय सलाह माँगी जबकि उनके और सम्राट् के बीच इतना मतभेद उत्पन्न हो चुका था जिसका दूर किया जाना असम्भव था। उस समय प्रधान मन्त्री, "सदैव की भाँति सम्राट् और मन्त्रिमण्डल के बीच कड़ी का काम करने लगा और इस प्रकार एक के निर्णय तथा विचार दूसरे तक पहुँचाने लगा।"[2]

(९) प्रधान मन्त्री के पास संरक्षण एवं कृपा (Patronage) के अपार स्रोत हैं। उपाधियाँ सम्राट् की ओर से ही दी जाती है, किन्तु कोई भी उपाधि सम्राट् उस समय तक नहीं दे सकता जब तक कि प्रधान मन्त्री उसके लिए सिफारिश न करे। यदि कभी सम्राट् चाहे कि उसके किसी कुटुम्बी को महान् उपाधि (Order) दी जाए, अथवा पीयर (Peer) बनाया जाए, तो भी वह सिफारिश प्रधान मन्त्री की ही सूची में आयेगी। किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे भी अपवाद है जैसे आर्डर ऑफ सेंट माइकेल एण्ड सेंट जार्ज (Order of St. Michael and St. George), अथवा नौसेना, स्थल सेना एवं वायु सेना सम्बन्धी उपाधियाँ, जिनमें सम्बन्धित मन्त्री सम्राट् को उस विषय में सीधी सलाह देते हैं।

---

1. Finer : The Theory and Practice of Modern Government. p. 592.

2. Greaves : The British Constitution, p. 110.

सभी बड़े पदों पर नियुक्तियाँ जैसे बिशप, राजदूत, न्यायाधीश, विभागीय प्रमुखगण, उपनिवेशों के गवर्नर, उन स्थायी आयोगों (Commissions) और बोर्डों के मुख्य अधिकारी जिनके द्वारा सार्वजनिक सेवाओं का नियन्त्रण होता है, प्रधान मंत्री ही करता है। स्वभावत: जब ये नियुक्तियाँ की जाती है तो वह विभागीय अध्यक्षों की भी राय लेता है किन्तु अन्तिम निर्णय प्रधान मन्त्री ही करता है। पुन. यद्यपि विभागीय प्रमुख अपने-अपने विभागीय मन्त्रियों के लिए उत्तरदायी हैं किन्तु समस्त सिविल सर्विस के ऊपर वित्त मन्त्रालय का नियन्त्रण होता है और वित्त मन्त्रालय के ऊपर प्रधान मन्त्री का प्रथम लार्ड होने के नाते नियन्त्रण रहता है।

(१०) प्रधान मन्त्री यदा-कदा अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में और सभाओं मे भाग लेने जा सकता है। लार्ड बीकन्सफील्ड (Lord Beaconsfield) ने बर्लिन की सभा में भाग लिया; लायड जार्ज (Lloyd George) ने पैरिस की शान्ति परिषद् (Peace Conference at Paris) में भाग लिया, और नेविल चेम्बरलेन (Neville Chamberlain) ने जर्मनी में कई सम्मेलनों में भाग लिया जिनके फलस्वरूप म्यूनिच समझौता (Munich Agreement) हुआ। चर्चिल इस सम्बन्ध में द्वितीय महायुद्ध-काल में बहुत आगे बढ़ गया। इस काल में उसने ६ बार अध्यक्ष रूज़वेल्ट (President Roosevelt) से भेंट की और दो बार स्टालिन (Stalin) से भेंट की। रैम्जे मैक्डानल्ड (Ramsay MacDonald) ने स्वयं १६२६ में मि० डाज (Mr. Dawes) से आँग्ल-अमेरिकी सम्बन्धों पर बात-चीत की। वह अमेरिका भी गया, और वहाँ जाकर उसने अध्यक्ष हूवर (President Hoover) से शस्त्रास्त्र-सचय में कमी करने के सम्बन्ध में बातचीत की।

(११) राष्ट्रमंडलीय देशों के साथ भी मंत्रिमडल की ओर से प्रधानमन्त्री ही व्यवहार करता है। इसका श्रेष्ठ उदाहरण उस समय उपलब्ध हुआ जब एडवर्ड अष्टम (Edward VIII) के राज्य-त्याग के समय राष्ट्रमंडलीय देशों से सलाह माँगी गई कि किस प्रकार राज्य-त्याग का मामला निपटाया जाए।

(१२) कभी-कभी प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल से कोई राय लिये बिना भी कार्य करता है। लायड जार्ज ने अपनी ही इच्छा से इम्पीरियल वार कान्फ्रेन्स का अधिवेशन किया था और मन्त्रिमण्डल से प्राधिकार प्राप्त किए बिना ही संसद् में उसकी घोषणा कर दी थी। स्टेनले बाल्डविन ने मन्त्रिमंडल से राय लिये बिना ही संरक्षण का प्रश्न उठाया था। द्वितीय युद्ध के समय विंस्टन चर्चिल ने मन्त्रिमण्डल से सलाह किए बिना ही सोवियत संघ को समस्त सहायता देने का प्रस्ताव उपस्थित किया था।

प्रधान मन्त्री की स्थिति (The Prime Minister's Position)—प्रधान मन्त्री की शक्तियाँ वास्तव मे अति विशाल हैं। किन्तु उसके अन्य साथियों में उसकी क्या स्थिति है? लार्ड मार्ले (Lord Morley) ने उसे समकक्षों में प्रथम (P... *Inter Pares*) कहा। उसने कहा, "यद्यपि मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्यों का

दर्जा है, समान अधिकार से प्रत्येक सदस्य बोलता है, और जब कभी संयोगवश मत-विभाजन का समय आता है तो हर एक का एक ही वोट माना जाता है, फिर भी मन्त्रिमण्डल का प्रधान समकक्षों मे प्रथम अवश्य रहता है, और जब तक वह प्रधान मन्त्री बना रहता है, उसकी स्थिति अत्यधिक अधिकारपूर्ण बनी रहती है।" आजकल ऐसी कोई उपाधि कही अधिक संकोचशील मानी जाएगी। रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) प्रधान-मंत्री के सम्बन्ध में इस प्रकार के वर्णन को मूर्खतापूर्ण बताता है, यदि वह वर्णन एक ऐसे अधिकारपूर्ण व्यक्ति के बारे में है जो अपने साथियों की नियुक्ति एवं पदच्युति के लिए समर्थ है। वह वास्तव में, चाहे वैधिक रूप से न सही, राष्ट्र का कार्यकारी प्रधान है जिसके हाथो में इतनी अपार शक्ति है जितनी कि संसार के किसी भी सांविधानिक शासक के हाथों मे नही है, यहाँ तक कि संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रधान के हाथों मे भी नहीं है।[1] एक अन्य लेखक कहता है कि ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की अद्वितीय स्थिति का वर्णन सर विलियम वेरन हारकोर्ट (Sir William Veron Harcourt) मे निम्न लेटिन वाक्यांश में अधिक अच्छे ढंग से किया है, "नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा" (Inter Stellas luna minores)। यद्यपि यह लेटिन वाक्यांश भी प्रधान मन्त्री की अन्य मन्त्रियों के साथ सही-सही स्थिति का मूल्यांकन उचित ढंग से नही कर पाता।[2] जैनिंग्ज़ (Jennings) कहता है कि प्रधान-मन्त्री केवल "समकक्षों मे प्रथम मात्र ही नही है। वह नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा मात्र भी नही है। वह तो वास्तव मे सूर्य है, जिसके चारों ओर उपग्रह चक्कर लगाते रहते हैं।"[3]

प्रधान मन्त्री के सम्बन्ध में यह उक्ति कि वह "समकक्षों के बीच प्रथम" है, उसकी तथा मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों की स्थिति के अंतर को उचित रीति से व्यक्त नही करती। इस सम्बन्ध में चर्चिल का कहना सही है कि[4] "नम्बर एक तथा नम्बर दो, तीन और चार की स्थिति का कोई मुकाबला ही नही है। नम्बर एक को छोड़कर अन्य व्यक्तियों के कर्त्तव्य तथा समस्याएँ बिल्कुल भिन्न तथा अधिक कठिन हैं। वास्तव मे प्रधान मन्त्री की शक्ति बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व पर निर्भर है, फिर भी सामान्य बुद्धि की सीमाओ के भीतर रहते हुए वह ऐसी निदेशक शक्ति का प्रयोग करता है, जिस पर अन्य राज्यों के राजनीतिक नेताओं को ईर्ष्या हो सकती है।"[5]

प्रधान मन्त्री की वास्तविक शक्ति का कारण यह है कि वह सर्वसाधारण द्वारा चुना हुआ व्यक्ति है। सन् १८६७ के सुधार अधिनियम से लेकर आज तक जितने भी आम चुनाव हुए हैं वे सब दल के नेता के व्यक्तित्व के आधार पर लड़े गए है, न कि किसी सिद्धान्त के आधार पर। वास्तव में आजकल जो आम चुनाव लड़ा जाता

1. How Britain is Governed, op. cit. p. 83.
2. Modern Foreign Governments, op. cit, p. 90.
3. Winston Churchill, Their Finest Hour, p. 15.
4. Byrum Carter, The Office of the Prime Minister, p. 334.
5. Cabinet Government, op. cit., p. 183.

है वह दो दलों के होने वाले प्रधान मन्त्रियों के सम्बन्ध मे लोकमत जानने के लिए होता है। ग्लैडस्टन (Gladstone) ने सन् १८५७ के आम चुनाव के ऊपर कटाक्ष करते हुए ठीक ही कहा था, "यह १७८४ का जैसा आम चुनाव नहीं है जबकि पिट (Pitt) ने देश से अपील की थी कि क्या क्राउन अल्पमत वाले शासन का दास रहेगा; न यह चुनाव १८३१ के से चुनाव की तरह है जबकि ग्रे (Grey) ने सुधारो के ऊपर जनमत मांगना चाहा था, न यह चुनाव १८५२ जैसा चुनाव है जबकि चुनाव व्यापार-सरक्षण के आधार पर लड़ा गया था। देश को इस १८५७ के आम चुनाव मे कैण्टन नदी की सीमाओं के बारे मे तय करना नहीं था; बल्कि केवल यही तय करना था कि क्या देश पामर्स्टन (Palmerston) को प्रधान मन्त्री चुनेगा या नही।" इसके बाद १८८० के आम चुनाव में ग्लैडस्टन ने प्रसिद्ध मिडलोथियन प्रान्त के चुनाव दौरे (Midlothian Campaign) में, बीकन्सफील्ड के शासन की घोर आलोचना की। अब निर्वाचकों (Electors) को केवल यह तय करना था कि क्या वे लार्ड बीकन्स-फ़ील्ड (Lord Beaconsfield) को प्रधान मन्त्री बनाना चाहते है अथवा ग्लैडस्टन को यद्यपि ग्लैडस्टन (Gladstone) अब अपने दल का नेता भी नहीं था यह ग्लैडस्टन की व्यक्तिगत जीत थी और वह सर्वसाधारण की पसन्द द्वारा प्रधान मन्त्री चुना गया। सन् १९४५ का आम चुनाव, वास्तव मे चर्चिल द्वारा अपने को दुबारा प्रधान मन्त्री चुने जाने के लिए, व्यक्तिगत अपील थी। अनुदार दल को आशा थी कि चर्चिल की लोकप्रियता से दल विजयी होगा। हर एक भोजन-भवन मे प्रधान मन्त्री की तस्वीर लटकी हुई थी जिसके नीचे ये शब्द लिखे हुए थे—"उसको युद्ध का अधूरा काम पूरा करने दो" (Help him to finish the Job)। और उसी के नीचे छोटे अक्षरो में यह असंगत आदेशात्मक वाक्यांश जड़ा हुआ था, "युद्ध-जन्य क्षति को वोट दो।"

अनुदार दल (Conservative Party) ने चुनाव घोषणा-पत्र भी प्रकाशित नही कराया। किन्तु चर्चिल ने अपना चुनाव घोषणा-पत्र प्रकाशित कराया और यह ठीक 'मैं' शब्द से प्रारम्भ हुआ। अन्य चुनाव प्रत्याशियो ने भी अपनी-अपनी दलगत निष्ठा को भुलाकर अपने आपको "चर्चिल के प्रत्याशी" कहना प्रारम्भ कर दिया। समाचारपत्रों ने भी इस प्रकार के शीर्षक छाप-छापकर अपना-अपना कर्त्तव्य पूरा किया, "या तो चर्चिल प्रधान-मन्त्री बने या बरबादी" अथवा "चर्चिल और लास्की" जिसमे मि० हैरल्ड लास्की (Mr. Harold Laski) को विशेष रूप से शैतान बताया गया।[1] दूसरे शब्दो मे निर्वाचकगण से कहा गया कि या तो चर्चिल को चुनो या उसके मुख्य विरोधी को, और फलतः निर्वाचकगण ने चर्चिल के विरोधी को चुन लिया।

"इस प्रकार की चुनावबाजी (Electioneering) से प्रधान मन्त्री राष्ट्र का प्रतीक बन जाता है और इसलिए जब तक वह प्रधान मन्त्री बना रहता है उसका कोई सहयोगी उसके मुकाबला करने का साहस नही कर सकता।"[2] इससे संसद् मे

1. Jennings : Cabinet Government, op. cit., p. 185.
2. Laski, H. J. : Parliamentary Government in England, p. 212.

तथा शासन मे प्रधान मन्त्री को अपने साथियों पर छा जाने का अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त वह अन्य मन्त्रियों को नियुक्त भी करता है और अपने पदों से वियुक्त भी करता है। वह मन्त्रियों का मनमाने ढंग से हेर-फेर कर सकता है। यह उसी के निर्णय पर निर्भर है कि ससद् का विलयन (Dissolution) होगा या नहीं, और होगा तो कब। विभागो के आपसी मतभेदों में वह मध्यस्थता करता है, और यदि ये मतभेद मन्त्रिमण्डल तक पहुँच जाएँ, तो भी उसी की बात मानी जाती है। इसलिए, यदि कोई मन्त्री प्रधान मन्त्री को अप्रसन्न कर दे अथवा उसके अधिकार को चुनौती दे बैठे तो इससे उस मन्त्री की समस्त राजनीतिक आकांक्षाएँ सदैव के लिए नष्ट हो सकती हैं। हाँ, यदि प्रधान मन्त्री ने अपने कर्त्तव्य का इतने भद्दे ढंग से निर्वहन किया हो कि सब की राय में वह प्रधान मन्त्री पद के लिए अयोग्य दिखाई देने लगे, तो सम्भव है कि वह मन्त्री अपने स्थान पर बना रहे।

किन्तु प्रधान मंत्री की स्थिति अपने दल के साथ रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि काफी हद तक दल को उसकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा से सफलता मिलती है। वही दल की एकता के लिए उत्तरदायी है। किन्तु दल से वियुक्त वह कुछ भी नहीं है। वह निर्वाचकगण के सम्मुख व्यक्तिगत रूप से नहीं जाता, बल्कि किसी दल विशेष के नेता के रूप में जाता है। वह जो कुछ भी है, और जो कुछ वह अपने आपको मानता है वह सब दल का बनाया हुआ है। जब तक उस से उसका सम्बन्ध बना रहता है, "तब तक वह किसी हद तक नीति निर्धारित करने के योग्य बना रह सकता है।" जहाँ एक बार दल से अलग हुआ, तो उसकी दशा रैम्जे मैकडानल्ड (Ramsay (MacDonald) की-सी हो जाती है। एस्क्विथ (Asquith) और लायड जार्ज (Lloyd George) के जीवन-वृत्त से भी ऐसा ही आभास मिलता है। सर राबर्ट पील (Sir Robert Peel) का सम्बन्ध अपने दल से १८४५ में छूट गया और इससे उसका भविष्य अन्धकारमय हो गया। ग्लैडस्टन (Gladstone) १८९२ मे पुनः प्रधान मन्त्री बना क्योंकि उसका दल से सम्बन्ध बराबर बना रहा।

ब्रिटिश प्रधान मन्त्री तथा अमरीकी राष्ट्रपति की तुलना (Comparison with the American Presidency)—इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री के पद की अमेरिकी राष्ट्रपति के पद के साथ अक्सर तुलना की जाती है। यह तुलना बहुत रोचक है, फिर भी यह कहना गलत होगा कि आधुनिक प्रधान मन्त्री की स्थिति अमेरिकी राष्ट्रपति के समान हो गई है यद्यपि प्रधान मन्त्री के रूप मे चर्चिल की शक्तियाँ बहुत व्यापक थीं और इस बात को चर्चिल ने स्वयं स्वीकार किया था, फिर भी वह अमेरिकी राष्ट्रपति की वैयक्तिक शक्तियों और प्राधिकार के निकट नही पहुंच सका था। लेकिन चर्चिल की इस असाधारण शक्ति का कारण यह था कि उसे संयुक्त मन्त्रिमण्डल, संयुक्त संसद् और संयुक्त जनता का पूरा समर्थन प्राप्त था। वह मन्त्रिमण्डल के बिना रूजवेल्ट की तरह कार्य नही कर सकता था।

ब्रिटिश प्रधान मन्त्री और अमेरिकी राष्ट्रपति की स्थिति में मुख्य अन्तर यह है कि प्रधान मन्त्री को अपनी किसी नीति के लिए मन्त्रिमण्डल का और मन्त्रिमण्डल

को लोकसभा का समर्थन प्राप्त करना होता था। अमेरिकी राष्ट्रपति की भाँति प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल का स्वामी नहीं होता। राष्ट्रपति का मन्त्रिमण्डल उसके सलाहकारों का मन्त्रिमण्डल होता है। ये लोग उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं और उसकी इच्छानुसार चलते हैं।

प्रधान मन्त्री के लिए अपने साथियों की राय की अवहेलना करना कठिन है। मन्त्रिमण्डल में दल के सबसे महत्त्वपूर्ण सदस्य होते हैं। प्रधान मन्त्री की भाँति वे भी काफी लोकप्रिय होते है। पुनः अधिकारीय रूप से प्रधान-मन्त्री की मन्त्रिमण्डल मे स्थिति समकक्षों के बीच प्रथम की ही है। इसलिए वह मन्त्रिमण्डल से बहुत ऊँचा या स्वतन्त्र नही है। यह ठीक है कि संकटकाल में या यदि वह बहुत योग्य व्यक्ति हुआ, तो वह स्थिति का पूरी तरह मालिक हो जाता है, फिर भी उसका जीवन मन्त्रिमण्डल तथा संसद् के साथ बँधा रहता है।

बाइरम ई० कार्टर (Byrem E. Carter) ने अपनी हाल की एक पुस्तक 'The Office of the Prime Minister' में लिखा है कि "दो प्रतिकूल व्यवस्थाओं की तुलना सदैव भ्रामक होती है लेकिन यह कहा जा सकता है कि प्रधान मन्त्री तथा उसके वरिष्ठ साथियों की शक्ति अमेरिकी राष्ट्रपति से अधिक है।" कार्टर ने इसके दो कारण बताये हैं। प्रथमतः, अमेरिकी राष्ट्रपति को कांग्रेस का विघटन करने की शक्ति नही है। संविधान ने कांग्रेस के लिए जो कार्यकाल निर्धारित किया है कांग्रेस उस समय बैठती है। प्रशासन जिन प्रस्तावों को उपस्थित करता है, कांग्रेस कभी-कभी उनमें बहुत व्यापक परिवर्तन कर देती है। दूसरे, राष्ट्रपति एक ऐसे दल का प्रधान होता है जिसमें केन्द्रीय संगठन का बहुत कम नियंत्रण रहता है। अमेरिका मे दल के संगठन का वास्तविक आधार राज्यों मे रहता है। इसके विपरीत प्रधान मन्त्री एक अनुशासित दल का नेता होता है और इंगलैण्ड मे निर्वाचन प्रधान मन्त्री के व्यक्तित्व के आधार पर लड़े जाते हैं।

यह सही है कि अमेरिका मे विधायी और कार्यकारी विभागों में समन्वय नहीं होता तथा राष्ट्रपति के लिए यह सदैव सम्भव नही होता कि कांग्रेस को अपने साथ ले चले। लेकिन फिर भी, जैसा कि वुड्रो विल्सन ने राष्ट्रपति बनने के समय कहा था, "राष्ट्र राष्ट्रपति से यह आशा करता है कि वह न केवल अपने दल का ही नेता हो प्रत्युत सरकार का भी मुख्य कार्यकारी अफ़सर हो। उसे अपना कार्य सफलतापूर्वक करना चाहिए अन्यथा वह देश का विश्वासपात्र नही रहेगा।" लास्की ने इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री और अमेरिका के राष्ट्रपति की बड़ी सुन्दर रीति से तुलना की है। उसका कहना है, "अमेरिका का राष्ट्रपति सम्राट् से कुछ अधिक भी और कम भी है। वह प्रधान मन्त्री से भी कुछ अधिक है और कुछ कम है। उसके पद का जितनी सावधानी से अध्ययन किया जाए, वह उतना ही अनुपम मालूम पड़ता है।"

Suggested Readings

Amos, A. : *The English Constitution* (1930) pp. 63-83. 130-149.

Brogan, Dw. : *The American Political System* (1948), Chap. II.

Champion & Others : *British Government Since* 1918 (1951) Chap. II.
" " : *Parliament, A Survey* (1952) Chaps. II & III.
Derry, K. : *British Constitution of Today* (1948), Chap. IV.
Greaves, H. R. G. : *The British Constitution* (1951), Chap. V.
Finer, H. : *Governments of Greater European Powers,* (1953) Chap. VII.
" " : *The Theory and Practice of Modern Government* (1954), Chap. XXIII.
Jennings, W. I. : *The British Constitution* (1959), Chaps. VII & VIII.
" " : *Cabinet Government* (1951), Chaps. II, III, VIII, IX, XII.
Keith, A. B. : *British Cabinet System* (1952; revised by Gilles), Chaps. II, V.
Laski, H. J. : *The Crisis and Constitution,* (1932).
" " : *Parliamentary Government in England* (1938), Chap. V.
Lowell, A. L. : *The Government of England* (1919), Vol. I, Chaps. II & III.
Mathiot, Andre : *The British Political System,* pp. 135-163.
Morrison, Herbert : *Government and Parliament,* Chaps. I-V.
Muir, R. : *How Britain is Governed* (1938), Chap. III.
Ogg, F. : *English Government and Politics* (1936), Chaps. VI and VII.
Ogg, F. and Zink, H : *Modern Foreign Governments* (1953), Chaps. IV & V.
Stannard, H. : *The Two Constitutions* (1949), Chapter II.

अध्याय ५

शासन का संगठन

(Machinery of Government)

(विभागों की कार्य-विधि)

(Departments at Work)

शासन के विभागों की कार्य-विधि (Working of Government Departments)—हम यह देख चुके है कि मन्त्रिमण्डल अपना कार्य कैसे करता है। किन्तु मन्त्रिमण्डल तो केवल नीति-निर्धारण मात्र करता है। मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति को क्रियान्वित करना, तथा उस सम्बन्ध मे सारी कार्यवाही उन विभागों का कार्य है जो पालियामेंट के निकट ही ह्वाइट हाल (White Hall) मे स्थित है। इन विभागों के अध्यक्ष प्रायः मन्त्री ही होते है।

मन्त्री के नीचे प्रायः प्रत्येक विभाग मे कम से कम एक अण्डर सेक्रेटरी ऑफ स्टेट (Under Secretary of State) अथवा पालियामेंटरी सेक्रेटरी (Parliamentary Secretary) होता है जो मन्त्रि-परिषद् का सदस्य होता है। यह प्रायः नियम-सा ही बन गया है कि इन दोनों मन्त्रियों में से एक लार्ड सभा (House of Lords) मे से लिया जाता है तथा दूसरा लोक-सभा (House of Commons) मे से लिया जाता है ताकि दोनों सदनों में कोई-न-कोई व्यक्ति उपस्थित हो जो अपने विभाग का प्रतिनिधि हो तथा उसके क्रिया-कलापों[1] के सम्बन्ध मे प्रश्नों का उत्तर दे सके। ये मन्त्री लोग शासक पार्टी के बदलते ही हट जाते है। अतः उनका कार्य-काल अस्थायी होता है और वह मन्त्रिमण्डल के साथ समाप्त हो जाता है। ये लोग विभाग के किसी अंग को सम्भालते हैं और मन्त्री को उसके कार्य-सम्पादन मे सहायता देते हैं।

इन मन्त्रियों के अतिरिक्त, जो विभागों के अध्यक्ष होते है, कुछ स्थायी अधिकारी भी होते है तथा कुछ क्लर्क भी होते हैं। प्रत्येक विभाग के ऊपर एक स्थायी सेक्रेटरी (Permanent Secretary) होता है जिसके पद का दायित्व एवं गौरव महान् होता है। उसके नीचे डिप्टी सेक्रेटरी (Deputy Secretary), अण्डर सेक्रेटरी (Under Secretary), असिस्टेण्ट सेक्रेटरी (Assistant Secretary), प्रिंसिपल्स (Principals), असिस्टेण्ट प्रिंसिपल्स (Assistant Principals) हैं। और फिर

1. लार्ड सभा तथा लोक सभा दोनों में से कितने-कितने मन्त्री लिये जाएँ इसका निर्णय मिनिस्टर्स ऑफ दि क्राउन ऐक्ट, १९३७ (Ministers of the Crown Act of 1937) के द्वारा तथा इसके बाद पास किए गए अधिनियम द्वारा होता है।

अन्य बहुत से अधिकारीगण हैं जो साधारण सचिवालय-कार्य चलाते रहते है। प्रशासन के ये समस्त उच्चतम और निम्नतम अराजनीतिक कर्मचारी सिविल सर्विस (Civil Service) का निर्माण करते हैं। उनका कार्यकाल स्थायी होता है और वे काम पर डटे रहते है चाहे देश में कुछ भी राजनीतिक हेरफेर आवें। दलगत राजनीति से उनका कोई सम्बन्ध नही होता और यही सिविल सर्विस का महान् गुण है। प्रायः विभागीय अध्यक्ष अपने विभाग मे इतने दिनों तक काम करते रहते हैं कि उस विभाग की पूरी जानकारी उनको हो जाती है। अपनी सुदक्ष जानकारी एवं योग्यता के बल पर ही वे मन्त्री को सहायता देते हैं तथा विभाग का कार्य सुचारु रूप से तथा निश्चित दिशा मे चलता है।

विभागों के कार्य (Functions of the Department)—विभागों के चार कार्य होते है। प्रथम तो विभाग को अपने प्रशासन के बारे में लोगो को जानकारी करानी होती है। उसका आशय यह है कि विभाग के अधिकारियो का कर्त्तव्य है कि वे सम्बन्धित मन्त्री को अपने विभाग की पूरी जानकारी कराएँ ताकि वह अपने विभाग के क्रिया-कलापों का पार्लियामेंट मे एवं अन्यत्र अनुमोदन कर सके। विभाग का दूसरा कार्य है नीति-निर्धारण करना। इस कार्य मे विभाग को अपने लम्बे अनुभव एव व्यावहारिक ज्ञान से सहायता मिलती है तथा विभागीय अध्यक्ष अथवा मन्त्री उसका मार्ग-निर्देशन करता है। विभाग सारी व्यवस्था की भूमिका बनाता है, फिर मन्त्रिमण्डल की नीति के अनुरूप उस व्यवस्था का विवरण तैयार करता है तथा इस सम्बन्ध में जिन विभागों से सम्पर्क आने की आशा होती है उनसे सलाह ली जाती है। यदि मौजूदा नियमों के अन्तर्गत उस व्यवस्था का विवरण निभा ले जाना कठिन मालूम पड़े तो वह विधेयक की प्रस्थापना का रूप ले लेता है।

अन्तिम बात है निर्धारित नीति की क्रियान्विति। जब नीति निर्धारित तथा स्वीकृत हो चुकती है तो विभाग के स्थायी अधिकारियों का कर्त्तव्य हो जाता है कि उस नीति पर अमल हो, चाहे वह नीति उन अधिकारियों द्वारा उपस्थित की हुई नीति से पूर्ण रूप से मेल न भी खाती हो। इंग्लैण्ड में प्रायः ऐसा कभी नहीं हुआ जबकि सिविल सर्विस के अधिकारियो ने अपने विभाग के अध्यक्ष द्वारा निर्धारित नीति की क्रियान्विति में बाधा डाली हो।

आजकल की अधिकांश संविधियाँ (Statutes) प्रारम्भ में केवल रूपरेखा-मात्र (Skeleton legislation) होती हैं। संसद् सामान्य शब्दों मे विधि तैयार करती है और सम्बन्धित विभाग को अधिकार प्रदान करती है कि वह उस विधि के विस्तृत विनियम (detailed regulations) तैयार करे। यह भी हो सकता है कि संसद् सम्बन्धित विभाग को किसी विशिष्ट बात के सम्बन्ध में नियम बनाने का आदेश दे। विभाग द्वारा पास किये गये इस प्रकार के विनियमों (Regulations) का वही महत्त्व है जो विधि (Law) का। ये संविधि विषयक नियम (Instruments) इतने हैं कि सन् १८६० में पार्लियामेंट ने इन्हे वार्षिक जिल्द के रूप में 'संविधि

विषयक नियम और आज्ञाएँ (Statutory rules and regulations) के नाम से छपवाना प्रारम्भ कर दिया है। लॉर्ड हीवर्ट (Lord Hewart) ने अपनी पुस्तक "The New Despotism" में इस प्रथा की कठोर आलोचना की है और उसे अधिनायकवाद की संज्ञा दी है। हम इस प्रश्न का आगे चलकर विस्तार से विवेचन करेंगे।

शासन के विभाग (Departments of Government)—इस प्रकार की पुस्तक में प्रत्येक विभाग का पूरा विवरण देना सम्भव नहीं होगा। फिर भी यह उचित होगा कि हम विभागों के वर्गीकरण को देखें। मुख्य-मुख्य विभागों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

१. सामान्य विभाग (General Department)
   वित्त विभाग (The Treasury)
   गृह विभाग (The Home Office)
   स्काटलैण्ड विभाग (The Scottish Office)
२. आर्थिक विभाग (Economic Departments)
   कृषि, मत्स्य एवं खाद्य मन्त्रालय (Ministry of Agriculture, Fisheries and Food)
   वाणिज्य बोर्ड (Board of Trade)
   प्रशुल्क एवं उत्पादन-शुल्क बोर्ड (The Board of Customs and Excise)
   ईंधन एवं विद्युत् मन्त्रालय (Ministry of Fuel and Power)
   श्रम एवं राष्ट्रीय मन्त्रालय (Ministry of Labour and National Service)
   रसद मन्त्रालय (Ministry of Supply)
   डाक मन्त्रालय (Ministry of Post Office)
   निर्माण मन्त्रालय (Ministry of Works)
   निवास एवं स्वायत्त शासन मन्त्रालय (Ministry of Housing and Local Government)
   परिवहन एवं नागरिक उड्डयन विभाग (Ministry of Transport and Civil Aviation)
३. समाज कल्याण विभाग (Social Welfare Departments)
   शिक्षा मन्त्रालय (Ministry of Education)
   स्वास्थ्य मन्त्रालय (Ministry of Health)
   प्राविधिक सहयोग विभाग (The Department of Technical Cooperation)
   पेंशन एवं राष्ट्रीय बीमा मन्त्रालय (Ministry of Pensions and National Insurance)

वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान विभाग (The Department of Scientific and Industrial Research)

४. साम्राज्यीय एव विदेश विभाग (Imperial and Foreign Department)

विदेश मन्त्रालय (The Foreign Office)

उपनिवेश मन्त्रालय (The Colonial Office)

राष्ट्र-मण्डल सम्बन्धी मन्त्रालय (The Commonwealth Relations Office)

५. प्रतिरक्षा विभाग

नौसेना विभाग (The Admiralty)

युद्ध विभाग (The War Ministry)

हवाई सेना-मन्त्रालय (The Air Ministry)

उड्डयन मन्त्रालय (The Ministry of Aviation)

प्रतिरक्षा मन्त्रालय (The Ministry of Defence)

यह विभागीय सूची पूर्ण नहीं है। समय-समय पर स्टेशनरी अफसर (Stationery Officer), "हिज़ मैजेस्टीज़ मिनिस्टर्स एण्ड हैड्स ऑफ पब्लिक डिपार्टमेण्ट्स" (His Majesty's Ministers and Heads of Public Departments) के नाम से पुस्तक रूप में पूर्ण सूची छापते रहते है। सन् १९५१ में श्री चर्चिल की मन्त्रि-परिषद् के कार्य-काल में ३८ विभाग थे। श्री मैकमिलन के कार्य-काल में (अक्टूबर १९६१) इन विभागों की संख्या ३५ हो गयी थी। हैरल्ड विल्सन (Harold Wilson) द्वारा बनाई गयी श्रमिक दल की सरकार ने ५ और नये विभागो का निर्माण किया है। उनके नाम इस प्रकार है—

आर्थिक मामलों का विभाग (The Department of Economic Affairs)

प्राविधिक विज्ञान मन्त्रालय (The Ministry of Technology)

समुद्रपार विकास मन्त्रालय (The Ministry of Overseas Development)

भूमि एवं प्राकृतिक साधन मन्त्रालय (The Ministry of Land and Natural Resources)

वेल्श कार्यालय (The Welsh Office)

सिविल सर्विस
(Civil Service)

सिविल सर्विस का विकास (Growth of Civil Service)—सिविल सर्विस के सम्बन्ध में ग्राहम वालास (Graham Wallas) ने ठीक ही कहा है कि "यह इंग्लैण्ड की १९वीं शताब्दी की महान् राजनीतिक खोज है।"[1] प्रारम्भ में शासन का

1. Finer, H. : The British Civil Service (1937), p. 51.

कार्य राज-घराने के लोग चलाते थे। किन्तु ज्यों-ज्यों शासन की बागडोर मन्त्रिमण्डल के हाथों में आती गई, शासन को चलाने के लिए अधिकारियों का चुनाव मंत्रिमण्डल की कृपा-कोर पर होता रहा यद्यपि यह प्रथा भी इतनी दूषित नहीं हुई जितनी अमेरिका में जहां इस प्रकार के उच्च पदों की एक प्रकार से लूट होती थी। जहां एक बार किसी की नियुक्ति हो गई, कार्यकर्त्ता को आशा थी कि जब तक उसका स्वास्थ्य काम करने योग्य रहेगा तथा जब तक वह सुचारु रूप से कार्य कर सकेगा, वह नौकरी पर लगा रहेगा। किन्तु १८वीं शताब्दी के अन्त में एवं १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में बर्क (Burke), बेन्थम (Bentham), कार्लायल (Carlyle), आदि लोगों ने इस प्रकार से नियुक्ति की प्रथा पर आक्षेप किए। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी में सेवा करने वाले कुछ अफसरों का चुनाव एवं प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्य हेलीबरी (Hailey-bury) ने किया। इससे ब्रिटिश सिविल सर्विस की त्रुटियों को दूर करने की ओर विशेष प्रोत्साहन मिला। १९वीं शताब्दी के मध्य तक पहले तो भारतीय सिविल सर्विस के लिए, फिर १८७० में ब्रिटिश सिविल सर्विस के लिये भी प्रवेश के लिए आवश्यक प्रतियोगिता परीक्षाओं का श्रीगणेश हो गया। ग्लैडस्टन (Gladstone) के अनुरोध पर सिविल सर्विस आयोग की नियुक्ति हो गई। अब यह आयोग ही सिविल सर्विस के लिए अधिकारियों को भर्त्ती कर सकता था। तब से पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद इस सम्बन्ध में कई राजाज्ञाएँ (Orders-in-Council) भी निकल चुकी हैं, और नियुक्तियों के सम्बन्ध में काफी सुधार हुआ है। साथ ही ये सेवाएँ विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत कर दी गई हैं। स्त्रियों को इस सेवा में प्रवेश मिल गया है तथा वेतन, तरक्की आदि सब कुछ निश्चित हो गया है। इस सब के फलस्वरूप सम्पूर्ण ब्रिटिश सिविल सर्विस में एकरूपता आगई है। सिविल सेवकों की संख्या लगभग दस लाख है।

सिविल सर्विस का संगठन (Organisation of the Civil Service)—सिविल सर्विस के संगठन के मूल उद्देश्य सीधे एवं सुस्पष्ट हैं। ये तीन हैं—(१) एक-रूपता युक्त सेवा, (२) खुली हुई प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा प्रवेश, (३) सेवा पदों का इस प्रकार वर्गीकरण कि बौद्धिक विकासशील व्यक्ति शासन में नीति-निर्धारण के लिए तथा लिपिक वर्ग रोजमर्रा का काम चलाने के लिए नियुक्त हों तथा इन दोनों वर्गों की प्रवेश-परीक्षाएँ भी अलग-अलग हों।[1] १९२० में पुनर्गठन समिति (Re-organization Committee)—राष्ट्रीय परिषद् की एक समिति (A Committee of the National Council)—की सिफारिशों के फलस्वरूप सिविल सर्विस का पुनर्गठन किया गया और प्रशासनिक एवं लिपिक वर्ग (Clerical class) के बीच में एक अधिशासी वर्ग (Executive grade) की और स्थापना कर दी गई। रिपोर्ट में आगे कहा गया कि जनपद सेवाओं (Civil Service) के दो मुख्य भाग होंगे। "एक श्रेणी में वह सब काम आएगा जो सीधा-सादा रोजमर्रा का है जिसमें सुनिर्दे-

1. Finer, H.: The Theory and Practice of Modern Government, p. 767.

शित एवं सुव्यवस्थित कार्य आता है एवं साधारण मामलों पर निर्णय देने होते है। दूसरी श्रेणी में नीति-निर्धारण का कार्य आता है जिसमे आधुनिक प्रचलित नियमों अथवा निर्णयो मे परिवर्तन करना पड़ता है तथा जिसमें शासन संघटन एवं शासन चलाने का कार्य करना पड़ता है।" ये दोनों मुख्य श्रेणियाँ आजकल प्रचलित चार श्रेणियो मे से दो हैं।

१. प्रशासनिक वर्ग (Administrative Class)—प्रशासनिक वर्ग सारी सिविल सर्विस का आधार है। सितम्बर १९६४ मे इस वर्ग की संख्या २५५० थी। स्थायी सेक्रेटरी से लेकर असिस्टेन्ट प्रिंसिपल तक, ऊपर से नीचे सारे वर्ग का नामकरण इस प्रकार है—स्थायी सेक्रेटरी, डिप्टी सेक्रेटरी, अण्डर सेक्रेटरी, असिस्टेन्ट सेक्रेटरी, प्रिंसिपल एवं असिस्टेण्ट प्रिंसिपल। यह अन्तिम वर्ग प्रिंसिपल द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है और "इसका कर्त्तव्य है कि वह अपने राजनीतिक प्रभु के आदेशों, घोषणाओ एव आज्ञाओ को सिविल सर्विस के अन्य अफसरों के माध्यम से आम जनता तक पहुँचावे।" अत. इस वर्ग पर नीति-निर्धारण का, तथा विभाग को चलाने का उत्तरदायित्व आ जाता है। ये लोग परामर्श देने वाले "एक प्रकार के बौद्धिक संघ" हैं जो हर प्रकार की प्रशासनिक कठिनाइयों के लिए जो प्रतिदिन के विभागीय काम-काज में आती हैं हल ढूँढ निकालते हैं, तथा इस प्रकार के अपने परामर्श प्रस्तुत करते है जो उच्च क्षेत्रो मे नीति के निर्धारण मे सहायक होते हैं तथा जटिल नियमों की इस प्रकार व्याख्या करते है कि कठिन मामले भी सुलझ जाएँ। सर वारेन फिशर (Sir Warren Fisher) ने ठीक ही उन नियमो पर प्रकाश डाला है जिन पर सिविल सेवक चलते हैं: "नीति-निर्धारण करना मन्त्रियों का काम है। जहाँ एक बार नीति निर्धारित हुई कि सिविल सेवक का परम पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि उस नीति को क्रियान्वित करने का पूर्णरूपेण प्रयत्न करे चाहे वह स्वयं उस नीति से सहमत हो या न हो।"[1]

प्रशासनिक वर्ग ने टॉमलिन कमीशन (Tomlin Commission)[2] के समक्ष स्वयं अपने कर्त्तव्यों को एक लिखित बयान में इस प्रकार व्यक्त किया था। इन कर्त्तव्यों को जेनिंग्ज (Jennings) ने सही-सही लिखा है। वह लिखता है कि जनपद सेवक (civil servant) का काम है कि यह सलाह दे, चेतावनी दे, स्मृति-पत्र लिखे तथा वक्तृताएँ तैयार करे जिनमें सरकार की नीति निर्देशित हो। फिर उस नीति के फलस्वरूप निर्णय करे। साथ ही उन कठिनाइयों की ओर भी ध्यान आकर्षित करे जो निर्धारित नीति पर चलने में आ सकती है। आम तौर पर सिविल सेवक का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह शासन का कार्य उसी प्रकार चलावे जिस प्रकार से मन्त्री द्वारा नीति निर्धारित की गई है।[3]

---

1. As quoted in Jennings' Cabinet Government, op. cit., pp. 114-115.
2. Finer, H.: The Theory and Practice of Modern Government, op. cit., pp. 769-770.
3. Jennings: Cabinet Government, op. cit., p. 116.

प्राय: किसी मामले पर भी अपना निर्णय देने में असमर्थ रहते है। वे प्राय उसी पर हस्ताक्षर कर देते है जो कुछ उनके सेक्रेटरी आदि उनकी ओर से आज्ञा लिखकर लाते है। अत यह कहा जाता है कि केवल उन्ही लोगों को मन्त्री नियुक्त किया जाए और विभाग उन्ही को सौपे जाएँ जिनको उस विभाग की व्यावसायिक जानकारी हो तथा उस कार्य का अनुभव हो। यह भी कहा जाता है कि यदि फ्रांस आदि यूरोपीय देशों मे प्राय. सैनिक अफसरों को युद्ध-मन्त्री एवं नौसैनिक अफसरों को नौसेना मन्त्री बनाया जा सकता है तो उसी प्रकार इंग्लैण्ड में क्यों नहीं हो सकता? दूसरी मिसाल अमरीका की दी जाती है जहाँ रिवाज होता जा रहा है कि कुछ मुख्य शासकीय विभागो में—जैसे कृषि विभाग, श्रम-विभाग आदि—सम्बन्धित विभागो के प्रवीण एवं ज्ञाता मन्त्री बनाये जाएँ।

किन्तु जिन देशों में संसदात्मक शासन-प्रणाली (Parliamentary Government) है, वहाँ की यह समस्या ही नही है। मन्त्रिमण्डलीय शासन का सार यह है कि मन्त्रिमण्डल उत्तरदायी होता है। यह उत्तरदायित्व सारे देश ने आम चुनाव के समय सौंपा था, और शासन को यह उत्तरदायित्व वहन करना होगा जब तक वह दल सत्तारूढ रहेगा। एक विशेष नीति के लिए सरकार जिम्मेदार है और उसका प्रथम कर्त्तव्य है कि वह उनकी इच्छा पूर्ण करे जिन्होंने सत्ता सौंपी है। इस सम्बन्ध मे जार्ज कार्नवाल (George Cornwall) ने ठीक ही कहा है और बैजहॉट (Bagehot) ने एव अन्य लेखकों ने भी बार-बार इसको दुहराया है, "विभाग को चलाना, मन्त्री का काम नही है। उसका काम यह देखना है कि विभागीय काम ठीक से हो रहा है या नही।" स्वर्गीय रैमजे मैकडोनल्ड (Ramsay MacDonald) ने इसी बात को और भी स्पष्ट कहा, "मन्त्रिमण्डल एक पुल का काम करता है जो आम जनता को प्रवीण वर्ग से मिलाता है, अथवा यों कहिए कि सिद्धान्त को व्यवहार से मिलाता है। वह विभागों को संचालित नहीं करता, वह उन्हें एक विशिष्ट दिशा देता है।" अत: मन्त्री का काम है कि वह नीति निर्धारित करे और देखे कि तदर्थ नियुक्त अधिकारी-वर्ग उस नीति को ठीक-ठीक क्रियान्वित करते हैं कि नही। सिविल सर्विस का अधिकार अथवा प्रवीण वर्ग के अधिकार का स्रोत प्रभाव है, शक्ति नही। लास्की के शब्दों में, "सिविल सर्विस, परिणाम सूचित करती है, आदेश नही। जो निर्णय होना है, वह मन्त्री का होता है। उसका कार्य ऐसी सामग्री को प्रस्तुत कर देना है, जिसके आधार पर सर्वश्रेष्ठ निर्णय किया जा सकता है।"

यदि मन्त्री विशेषज्ञ न हो तो भी कई लाभ है। अविशेषज्ञ सारे विभाग पर दृष्टि रखेगा। उसका दृष्टिकोण व्यापक होगा, वह स्वयं समझौतावादी होगा, इस प्रकार प्रगतिशील विचारों वाला होगा। किन्तु विशेषज्ञ का दृष्टिकोण संकुचित होता है और वह छोटी-मोटी पारिभाषिक बातों को बहुत अधिक महत्त्व दे बैठेगा। जब कोई विशेषज्ञ, किसी विशेषज्ञ के काम की देख-भाल करता है तो सम्भावना रहती है कि आपस में असहमति एवं असन्तोष उत्पन्न हो क्योंकि विशेषज्ञों का स्वभाव ही होता है कि वे एक-मत नहीं होते। अत: जहाँ तक हम चाहते हैं कि काम अधिक हो,

फल लाभदायक हो, कलह न हो, अक्षमता अथवा नौकरशाही (Bureaucracy) सर्वत्र न फैल जाए, तो आवश्यक है कि विशेषज्ञों तथा अविशेषज्ञो का समन्वय हो।[1]

यह सच है कि विभाग के अध्यक्ष को अपने विभाग के कार्य की पूरी जानकारी होनी चाहिए। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वह उस विषय का विशेषज्ञ ही हो। प्रत्येक विभाग मे बंटे काम होते है और अनेक समस्याएँ आती हैं जिनमे ऊँची योग्यता तथा जानकारी की आवश्यकता होती है और ऐसे विभागीय अध्यक्ष भी जो वर्षों से स्थायी रूप से उस विभाग में काम कर चुके हो, उन सब समस्याओ पर एक-सी अधिकारपूर्ण जानकारी नही रख सकते। तो फिर मन्त्री के लिए, जिसका कार्य काल अल्प एवं संकटमय होता है, कैसे संभव हो सकता है कि वह अपने विभाग मे आने वाली समस्याओं पर अधिकारपूर्ण विशेषज्ञता प्राप्त करे। विभागो के स्थायी सेक्रेटरी या अध्यक्ष भी उस माने मे विशेषज्ञ नही कहे जा सकते है जैसे कि कोई बड़ा वैज्ञानिक, सर्जन या कोई कलाकार अपने-अपने क्षेत्र में विशेषज्ञ माने जावेंगे। प्रो० लास्की (Prof. Laski) के शब्दों मे, वे उस दुनिया मे नही रहते जिसमे सर्वसाधारण प्रवेश न पा सकें। यदि किसी को मालूम है कि सर जॉन साइमन (Sir John Simon) एवं सर स्टेफर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) कितने योग्य बारीकियों को समझने वाले थे तो वह सहमत हो जाएगा कि ऐसी ही योग्यता की आवश्यकता है जिसके द्वारा मन्त्री सफलतापूर्वक अपने विभाग का कार्य चला सकता है। अन्त में लास्की (Laski) कहता है कि "हम व्यक्तियों को अर्थ-विभाग में इस कारण नही भेजते कि वे सुदक्ष अर्थशास्त्री हैं, इसी प्रकार हम उन्हें कृषि-विभाग मे अथवा शिक्षा-मन्त्रालय में इसलिए नही भेज देते हैं कि वे कृषि-विशेषज्ञ या शिक्षाशास्त्री हैं। वे शासकों के रूप में महत्त्व रखते है किन्तु इस कारण नही कि वे किसी विशिष्ट विषय की विशेष जानकारी रखते हैं बल्कि इस कारण कि हमको उनकी प्रशासनिक योग्यता पर विश्वास है, प्रशिक्षा के कारण उनमे वे गुण विद्यमान है जिनके बल पर वे आरम्भक एवं निर्णय दोनों कार्य कर सकेंगे। यही वे गुण हैं जिनके बिना शासन चलाया नही जा सकता। और यही गुण राजनीतिक अध्यक्ष में भी होने चाहिएँ यदि वह अपने पद का सफलतापूर्वक निर्वहन करना चाहता है।"[2]

Suggested Readings

Burns, C. D. : *White Hall* (1921).

Champion and Others : *Parliament : A Survey* (1952); Chap. VI.

Finer, H. : *The British Civil Service.*

" : *The Theory and Practice of Modern Government* (1954), Chap XXX.

1. Lowell, A. L. : The Government of England, Vol. I, p. 173.
2. Laski : Parliamentary Government in England, op. citd, p. 293.

Hewart, Lord. : The New Despotism.
Jennings, W. : *British Constitution*, Chap. VI.
" " : *Cabinet Government* (1951) p. 110-128.
Laski, H. J. : *Parliamentary Government in England*, p. 263-308, and Chap. V and VI.
Low, S. : *The Governance of England* (1914), Chap. VI.
Lowell, A. L. : *The Government in England* (1919) Vol. I, Chaps. VII and VIII.
MacKenzie, W. J. M. and Grover, J. W. : *Central Administration in Britain.*
Muir, R. : *How Britain is Governed*, Chap. II.
Ogg, F. A. and Zink, H. : *Modern Foregin Governments*, (1963) Chaps. VI and VII.

अध्याय ६

संसद्

(Parliament)

संसद् का मूल (Origin of Parliament)—संसद् (Parliament) के आलोचकों ने प्राय: इसको 'गपशप की दुकान' की संज्ञा दी है। यह वर्णन निन्दा के अर्थों में लिया जाता है किन्तु संसद् शब्द के यही अर्थ हैं और काफी हद तक इस शब्द से संसद् का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। निस्सन्देह यह वह स्थान है जहाँ बैठकर लोग राष्ट्र के सम्बन्ध में बातें करते हैं।

सबसे पहले का प्रयोग, जिसमें पार्लियामेंट शब्द मिलता हो, ११वीं शताब्दी का 'चेन्सन-डी-रोलैन्ड' (Chanson de Roland) है जहाँ पर इस शब्द का अर्थ है 'दो व्यक्तियों में परस्पर बातचीत'। किन्तु प्रारम्भ में इसके गौण अर्थ थे—'कुछ व्यक्तियों का समुदाय जहाँ कुछ परामर्श होता हो।' उस समय के एक व्यक्ति ने रनीमीड (Runnymede) की सभा को संसद् की संज्ञा दी जिसमें राजा जॉन (King John) ने कुलीन वर्ग को आज्ञा-पत्र (Charter) प्रदान किया।[1] किन्तु १२५८ तक संसद् शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। उसी वर्ष जून में कुलीनों ने आक्सफोर्ड में एक सुधार यह भी माँगा *कि वर्ष में तीन संसदों की व्यवस्था की जाए जिनमें* "राज्य और राजा के सम्बन्ध में परामर्श हो।" अत: स्पष्ट है कि पार्लियामेंट शब्द का अर्थ है 'परामर्श' और जब प्रथम बार यह शब्द अंग्रेज राजाओं द्वारा आहूत सभाओं के लिए प्रयुक्त हुआ तो इसका अर्थ था संसद् का विचार-विमर्श सम्बन्धी कार्यक्रम।

संसद् के मूल में दो विचार थे और ये दोनों ही विचार अति प्राचीन हैं। *प्रथम यह कि राजा, यद्यपि स्वयं कानून प्रदान करने वाला था, किन्तु वह सदैव* अनुभवी एवं बुद्धिमान प्रजाजनों से इस सम्बन्ध में सलाह लिया करता था। दूसरा विचार है प्रतिनिधित्व का। नारमन वंश के राजा लोग देश के विभिन्न भागों में अपने दरबार किया करते थे और उन दरबारों में राष्ट्रीय महत्त्व के वार्तालाप के लिए धर्माधिकारियों और जमीदारों को बुलाते थे। यह ठीक है कि वे उसी अर्थ में लोगों के प्रतिनिधि नहीं थे जिस अर्थ में आजकल होते हैं। किन्तु इससे यह आभास अवश्य मिलता है कि नारमन राजा भी, जिनकी शक्ति अपार थी, सलाह और बातचीत के लिए कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को चुनकर बुलाते थे। इस प्रकार की बातचीत ने सन् १२१३ में एक विशेष रूप धारण किया जबकि राजा जॉन (King John)

---

1. MacKenzie, K. R. : The English Parliament, p. 12.

ने, जिसको धन की आवश्यकता थी, प्रत्येक प्रदेश के नगराधिप को आज्ञा दी कि वह अपने-अपने प्रदेश से चार उपाधियुक्त प्रतिष्ठित व्यक्ति राजा के साथ राज्य की समस्याओं पर बातचीत करने के लिए भेजे। इसी में संसद् शब्द के आधुनिक अर्थ बीज रूप में वर्तमान है।

संसद् का विकास (Growth of Parliament)—संसद् का विकास प्रायः अपने आप, धीरे-धीरे और कभी बिना विचारे हुआ। पहले वह आधुनिक संसद् से भिन्न थी। ससद् ने आठ शताब्दियों के संघर्ष के उपरान्त वर्तमान रूप धारण किया है। यह सघर्ष राजा जॉन (King John) से प्रारम्भ हुआ। १५ जून सन् १२१५ को रनीमीड (Runnymede) में सम्राट् ने मैग्नाकार्टा पर हस्ताक्षर किए थे।

यह साधारण प्रजा की राजा के ऊपर विजय नहीं थी बल्कि इंग्लैण्ड के धनिक एवं प्रतिष्ठासम्पन्न व्यक्तियों की राजा के ऊपर विजय थी। मैग्नाकार्टा से कुलीन वर्ग को यह आश्वासन मिल गया कि वे मनमाने ढंग से गिरफ्तार न हो सकेंगे और यह भी आश्वासन मिला कि राजा बिना प्रजाजनों की सलाह लिये कुलीन सरदारो पर कोई कर न लगावेगा। अगले ८० वर्ष तक संघर्ष राजाओं तथा देश के बड़े लोगो के बीच मे रहा। राजाओं को रुपये की जरूरत थी और देश के प्रतिष्ठित व्यक्ति चाहते थे कि वे निश्चित करेंगे कि राजा की माँग न्याययुक्त है या नहीं। इसी संघर्ष के फलस्वरूप इस सिद्धान्त का जन्म हुआ, "बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं" (No taxation without representation) और फिर ये सभाएँ विधान-निर्मात्री सभाओं में परिणत हो गईं।

प्रारम्भ मे ससद् तभी बुलाई जाती थी जब राजाओं को धन की आवश्यकता पड़ती थी। राजा अपनी इच्छानुसार ही संसद् बुलाता था। इसका मुख्य काम यह था कि राजा से पूछे कि धन की किस काम के लिए आवश्यकता है, यह किस प्रकार खर्च किया जाएगा और यह मिलकर सलाह करना भी था कि इच्छित धनराशि किस प्रकार उपार्जित की जाए। आज भी संसद् का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यही है।

पार्लियामेंट या संसद् शब्द के आधुनिक अर्थों में सबसे प्रथम १२६५ मे साइमन डी मोंटफर्ड (Simon de Montford) ने संसद् को आहूत किया, क्योंकि उसने प्रत्येक प्रान्त में से दो कुलीनों को आमन्त्रित किया तथा कुछ नगरों मे से भी कतिपय प्रतिनिधि बुलाए। उस पार्लियामेंट का प्रतिनिधिक स्वरूप किसी हद तक इस कारण कम हो जाता है कि उसने केवल अपने समर्थक वर्ग में से ही लोगों को चुना। १२६५ में एडवर्ड प्रथम (Edward I) ने जिसे युद्धों के लिए धन की आवश्यकता थी, आदर्श पार्लियामेंट (Model Parliament) को आहूत किया। इसमें प्रधान-धर्माध्यक्ष (Archbishops), धर्माध्यक्ष (Bishops), मठाधिकारी (Abbots), कुलीन (Earls) एवं महाकुलीन (Barons) लोगों को बुलाया गया। इसमें कुछ निर्वाचित प्रतिनिधियों को भी बुलाया गया था।

सर्वोपरि है और अपरिमेय है। यही सारे शासन-यन्त्र का संचालित करता है। इसके अतिरिक्त यह सम्राट् को भी सिंहासन से अपदस्थ कर सकती है, यह राजाओं को चुन सकती है तथा यह राजतन्त्र को ही समाप्त कर सकती है। सर एडवर्ड कोक (Sir Edward Coke) का कथन है कि "संसद् की शक्ति एवं अधिकार-क्षेत्र इतना महान् श्रेष्ठ एवं अनियंत्रित है कि उस पर न किसी व्यक्ति का, न कारणों का और न किसी रुकावट का ही बन्धन है।" ब्लैकस्टोन (Blackstone) का भी यही मत था और उसने प्रायः इसी भाषा में स्व-मत व्यक्त किया है। डी लोमे (De Lolme) ने तो यहाँ तक कहा कि "संसद् सभी कुछ कर सकती है, सिवाय औरत को मर्द और मर्द को औरत नहीं बना सकती।" किन्तु डी लोमे (De Lolme) का वाक्यांश अस्पष्ट है। यदि संसद् की शक्ति केवल वैधानिक आधार पर जाँची जाए तो यह विचार कि संसद् मनुष्य को स्त्री नहीं बना सकती गलत है। यदि संसद् कोई ऐसा नियम बना दे जिससे लिंग-विभेद में अव्यवस्था हो जाए तो वैधानिक रूप से एक पुरुष स्त्री बन जाएगा। संसद् वैधानिक रूप से भी किसी प्रकार मर्यादित नहीं है। डायसी (Dicey) का कथन है कि "वैधिक रूप से संसद् की प्रभुता हमारी राजनीतिक व्यवस्था का मुख्य गुण है।" संसद् की प्रभु-सत्ता से डायसी का निम्न अर्थ है—

(१) संसद् हर नियम बना सकती है;

(२) संसद् हर नियम को भंग कर सकती है;

(३) ब्रिटिश संविधान में कोई ऐसा सीमा-चिह्न नहीं है जिससे यह निर्णय किया जा सके कि कौन नियम मौलिक है तथा कौन अमौलिक;

(४) इंग्लैण्ड का कानून ऐसे किसी प्राधिकार को मान्यता नहीं देता जो संसद् द्वारा बनाए गए किसी नियम को रद्द कर दे अथवा उसे अवैध घोषित करे; और

(५) संसद् की प्रभुता सम्राट् के अधिराज्य (Dominion) के प्रत्येक भाग के ऊपर व्याप्त है।

इन सिद्धान्तों पर डायसी (Dicey) ने और अधिक प्रकाश डाला है। वह कहता है कि संसद् जिस नियम को चाहे बनावे तथा जिस नियम को चाहे भंग करे और कोई भी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह यह क्षमता नहीं रखता कि संसद् द्वारा स्वीकृत विधि को अस्वीकार कर सके। साथ ही संसद् की शक्ति एवं अधिकार सम्राट् द्वारा शासित समस्त राज्यों पर भी पूर्ण रूप से लागू होंगे।

संक्षेप में संसद् जो कुछ चाहे, जिस किसी भी रूप में चाहे, विधि-निर्माण कर सकती है तथा संसद् जो कुछ कानून स्वीकृत करे वह देश का कानून है। संसद् जो भी कानून-निर्माण करती है, कचहरियों में उन्हीं पर आचरण होता है, जब तक कि संसद् ही उनमें हेर-फेर न करे। संसद् विधान सभा भी है साथ ही संविधान परिषद् भी। इंग्लैण्ड में संवैधानिक नियमों एवं अन्य नियमों में कोई भेद नहीं माना जाता और

संसद् को यह शक्ति है कि वह एक प्रक्रिया के अनुसार किसी भी नियम को बदल दे अथवा भंग कर दे। संसद् द्वारा पारित कोई भी नियम किसी कोर्ट (Court) द्वारा अनुल्लंघनीय है। न इसको अवैध या अप्रामाणिक ठहराया जा सकता है क्योंकि इंग्लैण्ड में कोई कानून संसद् द्वारा पारित कानून से ऊँचा नहीं है। यद्यपि न्याय-भावना (Equity) तथा सामान्य विधि (Common Law) ब्रिटिश संविधान के प्राचीनतम तथा मौलिकतम स्रोत हैं, फिर भी ये दोनों संसद् द्वारा पारित किसी नियम का उल्लघन नहीं कर सकते। यदि संसद् द्वारा ही पारित दो नियम एक-दूसरे के विपरीत हैं, तो नया पास किया हुआ नियम उसके पहले के पास किए हुए नियम का स्थान ले लेगा और इस सम्बन्ध में पूर्व-पारित समस्त वैधानिक नियम अप्रभावी हो जाएँगे। इंग्लैण्ड में संसद् को ही कानून बनाने का अधिकार है। वहाँ संसद् की स्वीकृति के बिना कार्यपालिका ऐसे आदेश नहीं निकाल सकती जो कानूनों के समान प्रभावशाली हों।

संसद् की प्रभुता का मूल्यांकन (*Sovereignty of Parliament Evaluated*)—किन्तु संसद् की प्रभुता वास्तविक तत्त्व नहीं है वह केवल कानूनी कल्पना है और कानूनी कल्पना क्या नहीं हो सकती? डायसी (*Diecy*) तथा उसके मत के बहुत अन्य लेखकों ने संसद् की प्रभुता के केवल वैधानिक पहलू के बारे में विचार किया। उन्होंने उसके नित्य-प्रति के वास्तविक जीवन की सच्चाइयों के बारे में विचार नहीं किया। वास्तविक जीवन का सत्य यह है कि प्रायः वैधानिक सत्य राजनीतिक असत्य होते हैं। संसद् सभी कुछ नहीं कर सकती। वह हरेक प्रकार के कानून का निर्माण या उसे भंग नहीं कर सकती। बहुत-सी आचार-विषयक एवं राजनीतिक रुकावटें हैं जो संसद् की शक्ति पर बाधा डालती हैं और संसद् को और भी बहुत से कार्यों के करने में उतनी ही बाधा आयेगी जितनी कि एक पुरुष को स्त्री बनाने में।

विधि सम्बन्धी सारे प्रस्ताव इस कसौटी पर कसे जाते हैं कि उनका व्यावहारिक महत्त्व क्या है तथा उनका नैतिक महत्त्व क्या है। "यदि विधानमण्डल यह पास कर दे कि सब नीली आँखों वाले बच्चे नष्ट कर दिए जायें तो उन सारे बच्चों की रक्षा अवैधानिक ठहराई जाएगी। किन्तु वह विधानमण्डल निश्चय ही पागलों का समूह होगा जो ऐसा नियम पास करे और ऐसे नियम को मानने वाली प्रजा भी निश्चय ही मूर्ख ठहराई जाएगी।" इंग्लैंड जैसे देश में जहाँ प्रबल जनमत है जिस को भाषण की स्वतन्त्रता है, प्रभु विधानमण्डल को होश में रहना चाहिए। प्रजातन्त्र में शासन सहमति से होता है और प्रजातन्त्रात्मक सरकार में विधियाँ ऐसी होनी चाहिएँ जो वस्तुतः प्रजा की अभिलाषाओं को प्रकाशित कर सकें। यदि ऐसा नहीं हो पाता तो राजनीतिक प्रभु अपना बदला लेता है। अतः उच्चतम विधानमण्डल सदा इस बात का ध्यान रखता है कि वह अपने आप को व्यावहारिक मर्यादा में रखे यद्यपि कानून की दृष्टि से ऐसी कोई मर्यादा नहीं है।

प्रत्येक संसदात्मक शासन-प्रणाली में हाल में प्रतिनिधिक अथवा प्रदत्त विधान निर्माण (Delegated Legislation) का कार्य बहुत तेज़ी से तथा भारी मात्रा में बढ़ा है। संसद् के पास इतना काम है कि वह सब काम स्वयं नहीं कर सकती। इसलिए कुछ संस्थाओं को विधि निर्माण का कार्य सौंप कर वह अपना बोझ कुछ हल्का कर लेती है। कहीं-कहीं सम्राट् अपने ऐकान्तिक अधिकार के आधार पर आज्ञाएँ निकालता है जिनको आर्डर्स-इन-काउंसिल अथवा सपरिषद् आदेश (Orders-in-Council) कहते हैं। दूसरी ओर, और अधिकतर, संसद् ऐसा नियम पास कर देती है जिससे वह मन्त्री को, या विभाग को, या किसी संस्था को अधिकार दे देती है कि वह आज्ञाएँ निकाले अथवा विधि पास कर दे। निश्चय है कि संसद् उन सब पर न तो कोई अंकुश रखती है और न ही रख सकती है।

संसद् की वैधानिक प्रभुता का सबसे पुष्ट प्रमाण वे नियम हैं जो स्वयं संसद् के जीवन-काल को निश्चित करते हैं। त्रिवर्षीय अधिनियम (Triennial Act) के द्वारा यह निश्चित हुआ कि संसद् का जीवन-काल तीन वर्ष से अधिक न हो तथा सप्तवर्षीय नियम, १७१६ (Septennial Act, 1716) से निर्णय हुआ कि संसद् सात वर्ष तक चले बशर्ते कि राजा उससे पूर्व ही उसे भंग न कर दे। इसके अनन्तर संसद्-नियम १९११ (Parliament Act of 1911) के द्वारा संसद् का जीवन-काल घटा कर पांच वर्ष कर दिया गया। उसी संसद् ने, जिसने जीवन काल में हेर-फेर किए, फिर बराबर अधिनियमों द्वारा अपना जीवन-काल लगभग आठ वर्ष तक रखा। किन्तु यह अवधि युद्ध-काल में बढ़ाई गई थी जिसमें सारे राजनीतिक दलों का समर्थन था और साथ ही राष्ट्र की मौन सम्मति थी। पर १९४५ में युद्ध के दिनों में श्रमिक दल के सदस्यों ने चर्चिल के इस अनुरोध को नहीं माना कि बिना आम चुनाव के वे अनुदार दल की सरकार में बने रहें और इस तरह संसद् का जीवन काल बढ़ जाय। परिणामतः आम चुनाव हुए और मतदाताओं ने श्रमिक दल को बहुमत दिया और उसने सरकार बनाई। अतः कोई भी संसद् उस समय तक अपना जीवन-काल नहीं बढा सकती जब तक कि राष्ट्र का मौन समर्थन उसके पास न हो।

डायसी (Diecy) ने सत्य ही कहा है कि कानून कानून है चाहे वह नैतिक हो या न हो और संसद् द्वारा पास किए गए अधिनियम के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसका कोई नैतिक आधार हो। किन्तु संसद् कोई ऐसा नियम पास नहीं कर सकती जो प्रकृति के नियमों के विरुद्ध हो अथवा जो सार्वजनिक अथवा असार्वजनिक आचरण-संहिता के विरुद्ध हो। उसी प्रकार ऐसा कोई नियम संसद् नहीं पास कर सकती जो देश की प्रचलित प्रथाओं के विपरीत हो, जब तक कि जनता उसे न चाहे। ससद् की प्रभुता मौलिक एवं अपरिवर्तनीय नियम है ऐसा कहीं नहीं लिखा है। यह केवल प्रथा-सी बन कर रह गई है; एक लम्बी एवं सफल लड़ाई का फल है जो आम जनता ने राजा की अध्यादेश सम्बन्धी शक्ति से लड़कर जीती। लोगों की इच्छा विजयिनी हुई और संसद् प्रभुतासम्पन्न मान ली गई और इस प्रकार संसद् की प्रभुता

ब्रिटिश संविधान का अभिन्न सिद्धान्त बन गई है। इसी प्रकार और भी बहुत से संवैधानिक समझौते हैं और उन सबके पीछे लोगों का मौन समर्थन है। ये संवैधानिक समझौते भी ब्रिटिश संविधान के अभिन्न अंग हैं; और इस प्रकार उन पर संसद् के अधिकार की व्यावहारिक सम्भावना नहीं है।

ब्रिटिश संविधान की अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह विधि का शासन (Rule of Law) है। विधि के शासन का अर्थ यह है कि देश का आम कानून सब पर लागू होता है तथा किसी के पास कोई मनमानी शक्ति नहीं है, साथ ही नियम कई प्रकार के नहीं हैं, जैसे एक नियम अफसरों के लिए तथा दूसरा नियम नागरिकों के लिए, आदि। इसके अतिरिक्त यह नियम भी है कि साधारण विधि से ही साधारण नागरिकों के संवैधानिक अधिकारों की रक्षा हो जाएगी। 'विधि का शासन' (Rule of Law) तथा संसद् की प्रभुता ये दोनों चीजें मिली-जुली है। इसको दूसरी तरह भी कह सकते हैं कि संसद् की प्रभुता तभी तक सह्य है जब तक 'विधि का शासन' चलता है।

वास्तव में जब हम संसद् के सम्बन्ध में सोचते हैं तो विचारों के कल्पना-जगत् में पहुँच जाते हैं। संसद् किसी संस्था का नाम नहीं है। संसद् सम्राट्, लॉर्ड-सभा (House of Lords) एवं लोकसभा (House of Commons) से मिलकर बनी है। तीनों अवयवी भाग मिलकर ही संसद् का कार्य पूरा करते हैं। राजा के बारे में विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि विधान निर्माण करने में उसका हाथ औपचारिक मात्र है। लॉर्ड सभा (House of Lords) एवं लोक सभा (House of Commons) दो अलग-अलग व्यवस्थाएँ हैं जिनके अलग-अलग कार्य हैं तथा अलग-अलग गुण हैं। सन् १६११ का अधिनियम पास हो जाने के बाद जिस मे १६४६ में पुनः कुछ सुधार हुआ अब लॉर्ड सभा (House of Lords) की क्षमता पर पर्याप्त बन्धन लग गए हैं। आज यदि लोकसभा (House of Commons) यह नियम बना दे कि लॉर्ड सभा तोड़ दी जाए तो राजा को अपनी अनुमति देनी होगी, और फिर लॉर्ड सभा (House of Lords) को कोई बचा नहीं सकता। प्रभु सत्ता के अर्थों में इधर कुछ हेर-फेर हुए है। आधुनिक परिस्थितियो मे लोकसभा (House of Commons) ही संसद् है, तथा विस्तृत अर्थों में संसद् का अर्थ है लोक सभा का बहुमत दल तथा उससे भी अधिक विस्तृत अर्थों मे वास्तविक संसद् है मन्त्रिमण्डल। किन्तु फिर भी साधारणतया, सम्राट्, लॉर्ड सभा (House of Lords) तथा लोक-सभा (House of Commons) तीनों ही नियमानुकूल अपना-अपना कार्य करते हैं, तभी विधान निर्मित होता है। यह तथ्य संसद् द्वारा पारित किसी विधि के प्रारम्भिक शब्दों से भी स्पष्ट हो जाता है।

संसद् के क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी बन्धन है। अब यह ब्रिटिश संविधान का मान्य नियम है कि अन्तर्राष्ट्रीय नियम राष्ट्रीय नियमों से मिले-जुले होने चाहिएँ।

यद्यपि संसद् कानूनी दृष्टि से उपनिवेशों (Dominions) के लिए विधि निर्माण कर सकती है फिर भी इस सम्बन्ध में इसकी शक्ति पर संवैधानिक प्रतिबन्ध लगा दिए गए है। इन संवैधानिक बन्धनों के फलस्वरूप यह राष्ट्रमण्डल के सब राष्ट्रों की संवैधानिक मान-मर्यादा के अनुरूप मान लिया गया है कि परस्पर व्यवहार में जब कोई ऐसा विधि-निर्माण हो जिससे राज्य-सिंहासन के उत्तराधिकार सम्बन्धी कोई हेर-फेर हों तो शाही नामकरण एवं उपाधि की हेर-फेर में सभी सम्बन्धित राष्ट्रों की संसदों की अनुमति तथा ब्रिटिश संसद् की तदर्थ अनुमति आवश्यक होगी। इसके अतिरिक्त १९३१ के पश्चात् ब्रिटिश संसद् द्वारा पारित कोई नियम उपनिवेश (Dominions) के ऊपर लागू नहीं होगा जब तक कि उस नियम में यह स्पष्ट न लिखा हो कि उपनिवेश की प्रार्थना एवं सहमति से ही यह पारित हुआ है।

स्वयं डायसी (Diecy) ने संसद् के प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त को केवल औपचारिक एवं वैधिक मात्र माना है। वह आगे कहता है कि इस औपचारिक विचारधारा पर भी दो अंकुश हैं, बाह्य एवं आंतरिक। अन्ततोगत्वा वैधिक सम्राट् को शक्ति एवं अधिकार तो राजनीतिक सम्राट् से ही मिलते हैं।

लॉर्ड सभा
(House of Lords)

जन्म और विकास (Origin and Growth)—सम्राट् के अतिरिक्त आजकल संसद् के दो भाग हैं; लॉर्ड सभा (House of Lords) तथा लोकसभा (House of Commons)। यह स्थिति सदैव ऐसी नहीं थी और अत्यन्त औपचारिक अवसरों पर आजकल भी ऐसा नहीं होता। जब सम्राट् संसद् का उद्‌घाटन करता है अथवा सत्रावसान करता है अथवा जब किसी विधि पर सम्राट् की स्वीकृति घोषित की जाती है तो संसद् के सभी सदस्य, लॉर्ड, पादरी वर्ग एवं साधारण सदस्य एक ही सदन में एकत्र होते हैं और वहां सब मिलकर सम्राट् के मुखारविन्द से स्वयं उसकी आज्ञा सुनते हैं। किन्तु साधारणतया कुलीन वर्ग (Lords) अपना कार्य एक सदन में करते है *तथा सर्वसाधारण सदस्य (Commons) दूसरे सदन में।*

इंग्लैंड में किसी चीज की पूर्व व्यवस्था नहीं की जाती। प्रत्येक चीज स्वतः विकसित होती है। लार्ड सभा (House of Lords) भी इसी प्रकार की स्वविकसित संस्था है। जब १२९५ में एडवर्ड प्रथम (Edward I) ने अपनी आदर्श पार्लियामेंट (Model Parliament) को आहूत किया तो आम जनता के सभी आमन्त्रित व्यक्ति एक ही सदन में एक साथ बैठे। किन्तु बाद में वे तीन वर्गों (Estates) में विभक्त हो गए—कुलीन वर्ग (Noble), धर्माधिकारी वर्ग (Clergy), एवं साधारण सदस्य (Commons)। उन्होंने अलग-अलग सम्राट् की धन सम्बन्धी माँग को सुना और अलग-अलग अपनी-अपनी इच्छानुकूल विचार व्यक्त किए। फिर धीरे-धीरे व्यावहारिक हितों के कारण विभिन्न व्यवस्थाएँ हुईं। महाकुलीन वर्ग (Barons) एवं महाधर्माधिकारी वर्ग (Greater Clergy) के

सामान्य हित थे और ये दोनों वर्ग मिलकर एक बन गए। निम्न वर्ग के धर्माधिकारियों को अब संसद् में उपस्थित होना क्लेशकारी जान पड़ने लगा। इसके अतिरिक्त निम्न वर्ग के धर्माधिकारी महाधर्माधिकारी वर्ग के विशेषाधिकारों से द्वेष करते थे और वे अपनी सभाओं में ही धन-दान की घोषणा करना चाहते थे। अतः उन्होंने शीघ्र ही संसद् में उपस्थित होना ही छोड़ दिया। इसी प्रकार उपाधिधारी कुलीन वर्ग भी कुछ अनिश्चितता के बाद उन नगर प्रतिनिधियों के साथ सदा के लिए मिल गए जिनके सामान्य हितों से उनके हित मेल खाते थे। इसका फल यह हुआ कि संसद् के दो दल हो गए। एक भाग में कुलीन वर्ग (Peers), ऐहिक वर्ग एवं धार्मिक वर्ग बैठने लगा—तथा दूसरे भाग में थे—प्रादेशिक-प्रतिनिधिक-उपाधिधारी वर्ग तथा नगर-प्रतिनिधि वर्ग। प्रथम जो लॉर्ड सभा (House of Lords) कहलाया पूर्णतया प्रतिनिधिक भवन न था क्योंकि इसमें उपस्थित होने वाले कुलीन जन वैयक्तिक आमन्त्रण पर उपस्थित होते थे। द्वितीय सदन पूर्णतया प्रतिनिधिक भवन था जिसे लोकसभा (House of Commons) कहा जाता था क्योंकि इसमें प्रदेशों एवं नगरों के प्रतिनिधि बैठते थे।

कोई नहीं जानता कि इस प्रकार की व्यवस्था कब और किस प्रकार हो गई। यह सब आकस्मिक हुआ और सामाजिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं के परिणाम-स्वरूप हुआ। एडवर्ड तृतीय (Edward III) के राज्य-काल की समाप्ति तक यह द्विसदनात्मक संसद्-व्यवस्था पूर्ण हो चुकी थी। इसके बाद दोनों सदनों में राजनीतिक भेद आरम्भ हो गए।

आनुवंशिक सिद्धान्त का श्रीगणेश भी कुछ इसी प्रकार हुआ है। यह एक प्रकार से प्रथा-सी बन गई कि राजा जब कभी संसद् आहूत करता तो उन्हीं कुलीन-जनों (Peers) को बुलाता जो उससे पूर्व संसद् में बुलाए गए थे अथवा यदि इस अवधि में उनमें से कोई कुलीन जन मृत हो गया तो उसके व उनके सबसे बड़े बेटों को बुलाया जाता। समय बीत जाने पर यह प्रथा अधिकार में परिणत हो गई और लार्ड सभा का रिक्त स्थान पिता के बड़े पुत्र को मिलने लगा। यह ठीक उसी प्रकार होता था जैसे कि विधि की आज्ञानुसार ज्येष्ठत्व के आधार पर पिता की जायदाद पर ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार माना जाता है।

लार्ड सभा की रचना (Composition of the House of Lords)—लॉर्ड सभा (House of Lords) में इस समय लगभग ९०८ सदस्य हैं। इसके सदस्यों को सात श्रेणियों में बांटा जा सकता है—

(१) राजवंश के सदस्य। वे सभा की कार्यवाहियों में कोई भाग नहीं लेते।

(२) २६ स्प्रिचुअल लॉर्ड; २ आर्च बिशप, लन्दन, डर्बन तथा विन्चेस्टर के ३ बिशप, तथा इंग्लैण्ड के चर्च के २१ सब से वरिष्ठ बिशप। जब कोई बिशप सदस्य (Sitting Bishop) मरता है अथवा त्याग-पत्र देता है तो उससे निचले पद का बिशप उस स्थान के लिए मनोनीत हो जाता है।

(३) समस्त आनुवंशिक पुरुष तथा स्त्री पीयर जिन्होंने १९६३ के पीयरेज ऐक्ट (Peerage Act) के अनुसार पीयर बनना अस्वीकृत न किया हो।

(४) १६ स्काटलैंड के आनुवंशिक पीयर।

(५) ६ लॉर्ड ऑफ अपील इन आर्डिनरी जिन्हें प्रायः ला लॉर्ड (Law Lords) कहते है। १८७६ के अपीलीय क्षेत्राधिकार ऐक्ट (Appellate Jurisdiction Act) के अनुसार नियुक्त किए गए ये लॉर्ड सभा की न्यायिक कार्यवाहियों में सहायता देते हैं और सम्पूर्ण जीवन के लिए निर्वाचित होते हैं।

(६) आजीवन पीयर (स्त्री और पुरुष दोनों)। इन्हें १९५८ के लाइफ पीयरेज ऐक्ट के अधीन बनाया जाता है। १९६१ मे इस प्रकार के ३३ पीयर थे जिनमें ६ स्त्रियां थीं।

किन्तु इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं बहु-संख्यक आनुवंशिक कुलीन जन हैं। लॉर्ड सभा के सदस्यो में आनुवशिक कुलीन ९० प्रतिशत हैं। वे अपने सौभाग्य के बल पर सदस्य बने रहते हैं क्योंकि वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी होने वाले उस प्रथम पुत्र के प्रथम पुत्र है जो प्रथम बार कुलीन जन के रूप में लॉर्ड सभा के लिए चुना गया था।

आनुवशिक पीयर बनाने की राजमुकुट की शक्ति असीम है। आधुनिक काल मे राजमुकुट ने अपनी इस शक्ति का पर्याप्त स्वतन्त्रता से प्रयोग किया है। कभी-कभी सत्तारूढ़ सरकार को लॉर्ड सभा में अपने प्रवक्ताओं की आवश्यकता होती है और वह अपने विश्वास-पात्र प्रतिभाशाली सदस्यों को वहां नियुक्त कर देता है।

विशेषाधिकार एवं निर्योग्यताएँ (Privileges and Disabilities)—लॉर्ड सभा (House of Lords) के सदस्यो के कुछ विशेषाधिकार है एवं कुछ उनकी निर्योग्यताएँ हैं। उनको विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता है और संसद् के अधिवेशन काल में उन्हे गिरफ्तार नही किया जा सकता। कुलीन जन वैयक्तिक रूप से राजा के पास पहुंच कर लोक-हित के सम्बन्ध में बातचीत कर सकते हैं। उनको यह भी अधिकार है कि वे सदन की बहुमत पार्टी द्वारा किए गए निर्णयों के विरुद्ध संसद् की पत्रिकाओं में लिखित विरोध प्रकाशित कर सकें। एक कुलीन जन के ऊपर यदि देशद्रोह अथवा अन्य महा अपराध का जुर्म लगा होता था तो उसको अधिकार था कि वह अन्य कुलीनों द्वारा न्याय की मांग कर सकता था किन्तु सन् १९३६ में महा अपराध (felony) के सम्बन्ध मे यह रियासत वापस ले ली गई। कुलीन जनों को यह भी अधिकार है कि वे सारे देश के अन्तिम अपीलीय न्यायालय के रूप में कार्य करें किन्तु यह अधिकार अब वैधिक कुलीन जनों (Law Lords) के हाथों में पहुँच गया है।

अब कुलीन जनों के अधिकारों पर केवल निम्न बन्धन (Disabilities) है—(१) कुलीन जनों को संसद् के लिए होने वाले चुनावों मे मताधिकार नहीं है; और (२) वे लोकसभा के चुनाव के लिए प्रत्याशी के रूप में खड़े नहीं हो सकते।

(३) वे (१९६३ से पूर्व) अपने बड़े-बूढ़ों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होने वाली उपाधियों का न तो त्याग कर सकते थे और न उनको अस्वीकार ही कर सकते थे। परन्तु १९६३ में पीअरेजेज़ ऐक्ट (Peerages Act) के पास हो जाने पर आनुवंशिक कुलीन भी अब अपनी उपाधियाँ त्याग कर सकता है और लोक सभा के लिए चुनाव लड़ सकता है। इस दिशा में सबसे हाल का उदाहरण लॉर्ड होम (Lord Home) का है जो कुलीनता त्यागकर सर डगलस होम (Sir Douglas Home) बने और हैरल्ड मैकमिलन (Harold Macmillan) द्वारा त्यागपत्र देने के बाद प्रधान मन्त्री बने।

अब तक लॉर्ड सभा की सदस्यता केवल पुरुष पीयर तक ही सीमित थी। २६ स्त्री पीयरों के होते हुए भी उन्हें लॉर्ड सभा का सदस्य नहीं बनाया गया। अब भी केवल ६ ही ऐसी आजीवन स्त्री पीयर है जिन्हें लॉर्ड सभा मे बैठने और मत देने का अधिकार है।

संसदीय कार्य करने के लिए पीयरों को कोई वेतन नहीं मिलता। परन्तु यदि वे सब बैठकों में से एक-तिहाई बैठकों में सम्मिलित हों तो उन्हें यात्रा-व्यय मिलता है।

प्रक्रिया एवं संघटन (Procedure and Organisation)—पलियामेंट के दोनों सदन एक साथ प्रारम्भ होते है और उनका सत्रावसान भी साथ-साथ ही होता है किन्तु दोनों सदनों का स्थगन अलग-अलग होता है। उच्च सदन का अधिवेशन सप्ताह में केवल चार दिन होता है—सोमवार से गुरुवार तक—और केवल लगभग दो घण्टे प्रतिदिन। यह नियम है कि जब तक कोई आवश्यकता न हो, कार्यवाही समय पर समाप्त हो जानी चाहिए ताकि महामहिम कुलीन जन सन्ध्या के आठ बजे के भोजन के लिए वस्त्र बदल सकें। उच्च सदन की उपस्थिति अत्यन्त क्षीण होती है। प्रायः ७०-८० से अधिक सदस्य उपस्थित नहीं होते और इतने भी उस समय जबकि विवादग्रस्त विषय महत्त्वपूर्ण हों। १९५७ के रिफार्म्स ऐक्ट (Reforms Act) के परिणामस्वरूप औसतन उपस्थिति अब १२० हो गई है। कम-से-कम तीन सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक है किन्तु किसी विधि के पारित करते समय कम-से-कम ३० सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक है। लार्ड सभा मे वाद-विवाद धीरे-धीरे होता है जबकि निम्न सदन (House of Commons) में वाद-विवाद शीघ्र होता है। भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है और सभापति (Lord Chancellor) की शक्ति विवाद के ऊपर बहुत ही कम होती है जब कि लोकसभा के सभापति (Speaker) की शक्तियाँ अधिक व्यापक होती है। विवाद का स्तर ऊँचा रहता है और कभी-कभी तो उसका स्तर लोकसभा के स्तर से भी ऊँचा रहता है।

लॉर्ड सभा का संघटन निम्न सदन के सदृश ही है। लॉर्ड चांसलर (Lord Chancellor) सभापति होता है। समितियों का एक लॉर्ड सभापति (Lord Chairman of the Committees) होता है, जिसके काम वही होते हैं जो निम्न सदन के अर्थोपाय समिति के चेयरमैन (Chairman of the Committee of Ways and Means) के होते हैं और जो सारे सदन की समिति का सभापति होता है।

लिपिक (Clerk) भी होता है और उसको संसद् का क्लर्क व लिपिक कहा जाता है। लोक सभा में जो सशस्त्र परिचारक (Sergeant at arms) होता है उसी के अनुरूप उच्च सदन में जेण्टिलमैन प्रशर आफ दि ब्लैक रौड (Gentleman Usher of the Black Rod) होता है।

लॉर्ड सभा की समिति पद्धति कामन सभा की समिति पद्धति से आसान है। लॉर्ड सभा अपना कुछ कार्य सम्पूर्ण सदन की समिति (The Committee of the whole House) में करती है। इसमें उपस्थित सदस्य शामिल होते हैं। लॉर्ड सभा की एक ही स्थायी समिति है जो सम्पूर्ण सदन की समिति द्वारा पास किए गए विधेयकों के पाठ में संशोधन करती है। सभा की सत्रकालीन और प्रवर समितियां विशेष प्रकार के कानूनों पर विचार करती हैं।

लॉर्ड चांसलर (The Lord Chancellor)—लॉर्ड सभा (House of Lords) का सभापति लॉर्ड चांसलर कहलाता है जो मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता है। लॉर्ड चांसलर अपनी विशिष्ट गद्दी (Woolsack) पर बैठ कर लॉर्ड सभा की कार्यवाहियों का मार्ग-निर्देशन करता है। लॉर्ड चांसलर प्रायः कुलीन होता है और यदि नही होता तो उसे नियुक्ति के बाद बना दिया जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि साधारण सदस्य लार्ड चांसलर बन ही नहीं सकता। लॉर्ड चांसलर की गद्दी लॉर्ड सभा के बाहर रखी रहती है ताकि अ-कुलीन जन भी सदन की समितियों का सभापतित्व कर सकें तथा अन्य कार्यवाहियां निभा सकें।

लॉर्ड चांसलर के कार्य बहुत हैं और विविध हैं। यहां हम उन्हीं का विवेचन करने बैठे हैं जिनका सम्बन्ध इसकी विशिष्ट गद्दी (Woolsack)[1] पर बैठने से है। उसके सभापति पद पर बैठने के सम्बन्ध में जो शक्तियां है, यदि उनकी लोक सभा के स्पीकर (Speaker) की शक्तियों से तुलना की जाए, तो वे प्रायः नगण्य हैं। प्रायः लॉर्ड चांसलर की शक्तियां साधारण चेयरमैन की शक्तियों से न्यून है। मान लीजिए यदि दो या दो से अधिक सदस्य एक साथ बोलने को खड़े हो जाएं तो सदन इस बात का निर्णय करेगा कि कौन पहले बोले। लॉर्ड चांसलर को यह निश्चित करने का अधिकार नही है। लॉर्ड सभा की कार्यवाही पूर्ण सुव्यवस्थित होती है किन्तु यदि वाद-विवाद को संयमित करने की आवश्यकता आ पड़े तो यह काम भी सदन ही करता हैं, न कि लॉर्ड चांसलर (Lord Chancellor)। जब सदस्यगण बोलते हैं तो वे सभापति को सम्बोधित नही करते बल्कि सदन की ओर वे इस प्रकार आरम्भ करते है, "माई लॉर्ड्स" (My Lords)। यदि लॉर्ड चांसलर कुलीन होता है तो वह सदन की कार्यवाही अथवा वाद-विवाद में भाग ले सकता है। जिस समय वह ऐसा करता है तो अपनी गद्दी (Woolsack) से अलग हट जाता है। दलगत नीति के आधार पर वह अन्य सदस्यो की भांति मत भी दे सकता है किन्तु किसी भी हालत में उसका मत निर्णायक मत नही होगा।

---

1. लार्ड चांसलर के अन्य कर्त्तव्यों के लिए अध्याय ८ देखिए।

लॉर्ड सभा के अधिकार तथा कर्त्तव्य
(Powers and Functions of the Lords

अधिकार—१६११ से पूर्व : वित्तीय (Powers before 1911 Financial)—जहाँ एक ओर संसद् और राजा के बीच अधिक महत्त्व प्राप्त करने के लिए संघर्ष चल रहा था, वहाँ स्वयं ससद् के अन्दर भी यह सघर्ष चल रहा था कि वित्तीय मामलों में संसद् का प्रवक्ता कौन सा सदन होगा। रिचर्ड द्वितीय (Richard II) के राज्य-काल में लोकसभा (House of Commons) ने अधिकार चाहा कि वित्तीय मामलों मे उसे पूछा जाए और चार्ल्स प्रथम (Charles I) के राज्य काल मे उसका कथन था कि राजा को वित्तीय अनुदान केवल लोकसभा (House of Commons) ही दे सकती है, इसके बाद १६७१ मे उसने कहा कि यद्यपि नियमत वित्तीय अनुदान में लॉर्ड सभा (House of Lords) की अनुमति आवश्यक है किन्तु यह लॉर्ड सभा की शक्तियों से परे की बात है कि यह लोकसभा द्वारा उपस्थित किए हुए किसी वित्तीय प्रस्ताव पर संशोधन उपस्थित करे।

सन् १६७८ मे निम्न सदन ने एक और प्रस्ताव पास किया जो इससे भी अधिक व्यापक था। उसमे कहा गया था कि "सभी अनुदान एव वित्तीय सहायता जो संसद् द्वारा सम्राट् को दी जाती है उस पर केवल लोक सभा अथवा निम्न सदन का ही अधिकार है और वे सारे विधेयक, जो सम्राट् को दिए जाने वाले अनुदान से सम्बन्धित हों निम्न सदन से ही प्रारम्भ हो सकते है तथा यह निम्न सदन का अनदिग्ध अधिकार है कि वह इस प्रकार के प्रस्तावों को घुमावे या उन्हे सीमित करे अथवा उन प्रस्तावों की समाप्ति की आज्ञा दे, उसके उद्देश्यो पर प्रकाश डाले, विचार करे, उसकी अवस्था में भेद करे, उस पर प्रतिबन्ध अथवा नियमन लगावे। किन्तु किसी भी हालत में उच्च सदन (House of Lords) उस प्रस्ताव मे कोई सशोधन नहीं कर सकता।" उच्च सदन ने निम्न सदन की वित्तीय मामलो पर परमेष्ठता को कभी स्वीकार नही किया यद्यपि धीरे-धीरे व्यवहारत उच्च सदन ने निम्न सदन के इस दावे को प्राय: मान लिया है। किन्तु १८६० मे उच्च सदन ने कागज पर कर लगाने सम्बन्धी एक विधेयक को अस्वीकार करने का दुस्साहस किया। किन्तु निम्न सदन डटा रहा और उसने उसको पास करा ही लिया। उसने कहा कि वित्तीय मामलों पर केवल निम्न सदन का ही अधिकार होगा और यदि उच्च सदन निम्न सदन की वित्तीय शक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाना चाहेगा तो इसे निम्न सदन के विशेषाधिकारो पर आघात समझा जाएगा।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में उच्च सदन ने एक बार पुन. अपनी खोई हुई शक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। १८३१, १८८६ तथा १८९३ में उच्च सदन कई वैधिक प्रस्तावों को रद्द कर चुका था जिससे कुलीन जनों की हिम्मत कुछ बढ़ गई थी। अब की बार उन्होने लायड जार्ज (Lloyd George) के कुछ प्रस्तावों को रद्द कर दिया जिनके द्वारा जमीदारियों पर कुछ नए कर लगाने का विचार किया

गया था। निम्न सदन का कथन था कि इस प्रकार के करों का प्रस्ताव करना उसका राजनीतिक अधिकार है। यह उदारदलीय सरकार (Liberal Government) के लिए संवैधानिक महत्त्व का प्रश्न बन गया क्योंकि वे १९०६ में प्रबल जनमत की विजय के फलस्वरूप सत्तारूढ़ हुए थे। फलत: १९११ का पार्लियामेंट ऐक्ट (Parliament Act of 1911) पास हुआ। इस नियम ने निम्न सदन को न केवल वित्तीय मामलों में परमेष्ठ बना दिया बल्कि साधारण वैधिक मामलों में भी सर्वशक्तिमान बना दिया।

१९११ से पूर्व शक्तियाँ, विधायक (Powers before 1911 : Legislative)—साधारण विधायक कार्यों में उच्च सदन (House of Lords) एवं निम्न सदन की शक्तियाँ प्रायः समान थी। वित्तीय प्रस्तावों को छोड़कर सभी वैधिक प्रस्ताव उच्च सदन में प्रारम्भ किये जा सकते थे और अब भी किए जा सकते हैं यद्यपि व्यवहारत: दस में से नौ प्रस्ताव निम्न सदन से ही प्रारम्भ होते है।[1] फिर भी उच्च सदन में क्षमता थी और उसने निम्न सदन द्वारा प्रस्तावित वैधिक प्रस्तावों को संशोधित व अस्वीकार भी कर दिया। उच्च सदन एक प्रस्ताव को बारम्बार भी अस्वीकार कर सकता है जिसको निम्न सदन बारम्बार पास करता जाए और ऐसा कई बार हुआ भी। एक बार जब कठिन संघर्ष के बाद ग्लैडस्टन (Gladstone) द्वितीय होम रूल बिल (Second Home Rule Bill) को निम्न सदन में पास करा पाया तो यह बिल उच्च सदन (House of Lords) ने अस्वीकार कर दिया। यह ग्लैडस्टन (Gladstone) को बड़ा अप्रिय लगा। अपने पद से हटते समय संसद् के अपने अन्तिम व्याख्यान में प्रधान मन्त्री ने दोनों सदनों के मध्य चल रहे संघर्ष के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए आशा व्यक्त की कि इसका अन्तिम निर्णय करना ही होगा। प्रधान मन्त्री की भविष्यवाणी सत्य निकली और १९०९ में यह संघर्ष पुन: फिर उठ खड़ा हुआ जो १९११ के अधिनियम के पास होने के रूप में समाप्त हुआ जिसके द्वारा उच्च सदन की वैधिक शक्ति रूपी पक्षी के एक प्रकार से पर कतर दिए गए।

१९११ मे पार्लियामेंट अधिनियम (Parliament Act of 1911) के पूर्व निम्न सदन (House of Commons) किसी प्रकार भी अपनी मनमानी नही कर सकता था। अत: प्रधान मन्त्री के पास केवल एक ही विकल्प था कि वह राजा से प्रार्थना करे कि वह इतने कुलीन जन (Lords) बना दे कि उच्च सदन उसके पक्ष में हो जाए। किन्तु यह संकटपूर्ण पग था और कोई प्रधान मन्त्री ऐसी प्रार्थना तब तक नही कर सकता था जब तक कि उसे मतदाताओं की मतदान सम्बन्धी नीति पर पूर्ण विश्वास न हो। अत: इस स्थिति में उसके पास एक ही विकल्प था कि वह संसद् को भंग करा दे और आम चुनाव (General Election) में इस समस्या को लेकर जनमत तैयार करे। यदि मतदाताओं ने इसको मान लिया तो उच्च सदन भी इस

1. उच्च सदन में प्रारम्भ होने वाले प्रायः सभी प्रस्ताव प्राइवेट सदस्यों द्वारा प्रस्तावित होते हैं या अन्य अ-विवादास्पद विधेयक होते हैं, जैसे न्याय सम्बन्धी विधेयक आदि।

[illegible] नहीं होता था [illegible] किन्तु जब [illegible]
उच्च सदन ने उच्च सदन के दूरवर्ती विरोधों का स्थान [illegible]

१९११ का पार्लियामेंट अधिनियम

१९११ का पार्लियामेंट ऐक्ट [illegible] The Par[illegible]
की चोट पर अंतिम मुहर लगा दी। इस अधिनियम द्वारा [illegible]
सिद्धान्त मान लिये गए। इस प्रकार निम्न सदन [illegible]
कर दी गई। पहला सिद्धान्त यह [illegible]
केवल निम्न सदन का ही प्रभुत्व रहेगा और [illegible]
ही वित्तीय विधेयकों को विनियमित कर सकता है [illegible]
सिद्धान्त प्राप्त हुआ कि मन्त्रिमण्डल पर केवल [illegible]
अन्तिम सिद्धान्त यह निश्चित हुआ कि निम्न सदन अकेले [illegible] और
इसके ऐसा कोई भी विधेयक पास करने में सक्षम है [illegible]
लगातार स्वीकृत कर दे। इस अधिनियम ने [illegible]
आधार की अपेक्षा लोकतन्त्रात्मक आधार पर एक दूसरा सदन [illegible]
हम १९११ के पार्लियामेंट अधिनियम (Parliament Act of [illegible]) [illegible]
पर गम्भीरता से विचार करेंगे।

(१) वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में अधिनियम कहता है [illegible] "यदि कोई धन विधेयक जिसको निम्न सदन ने पास करके उच्च सदन में अधिवेशन समाप्त होने के एक मास पूर्व भेज दिया है और यदि उसको उच्च सदन ने बिना संशोधन निम्न सदन द्वारा भेजे जाने के एक मास पश्चात् भी पास नहीं किया तो उक्त विधेयक सम्राट् के समक्ष भेज दिया जाए—यदि निम्न सदन इसके विपरीत आज्ञा न दे—और सम्राट् की स्वीकृति मिलने पर यह प्रस्ताव अधिनियम बन जाएगा। इस बात की चिन्ता नहीं की जाएगी कि उच्च सदन (House of Lords) ने उक्त प्रस्ताव पर सहमति प्रदान की है अथवा नहीं।"

(२) धन विधेयक की परिभाषा करते हुए बताया गया था कि इसमें न [illegible]वल कर सम्बन्धी प्रस्ताव होंगे बल्कि उपयोजन (Appropriation) एवं संप्रेक्षण (Audit) सम्बन्धी प्रस्ताव भी शामिल है। निम्न सदन के अध्यक्ष (Speaker) का कर्तव्य है कि वह इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण दे कि अमुक प्रस्ताव वित्तीय प्रस्ताव है अथवा अ-वित्तीय।

(३) "यदि कोई साधारण विधेयक (अवित्तीय प्रस्ताव अथवा ऐसा प्रस्ताव जो संसद् के अधिवेशनपर्यन्त चले) निम्न सदन तीन लगातार अधिवेशनों में लगातार पास कर दे (चाहे वे तीन अधिवेशन उसी संसद् के हों अथवा अलग-अलग संसदों के) और यदि उसे फिर अधिवेशन समाप्त होने के एक मास पूर्व उच्च सदन में भेज दिया जाए और यदि उसे उच्च सदन प्रत्येक अधिवेशन में अस्वीकृत कर दे, तो प्रस्ताव तीसरी बार उच्च सदन द्वारा अस्वीकृत हो जाने पर—यदि निम्न स[illegible]

सम्बन्ध में कोई विपरीत आज्ञा न दे—सम्राट् के समक्ष उपस्थित किया जाएगा और सम्राट् की स्वीकृति मिल जाने पर अधिनियम का रूप धारण कर लेगा, और इस बात की चिन्ता नहीं की जाएगी कि उच्च सदन ने अमुक प्रस्ताव पर अपनी सम्मति एवं स्वीकृति प्रदान की है या नहीं। इसमें यह शर्त रहेगी कि यह अधिनियम तब तक प्रभावी न होगा जब तक कि निम्न सदन के प्रथम अधिवेशन के द्वितीय वाचन की तिथि तथा उस तिथि में यह तृतीय अधिवेशन के लिए निम्न सदन (House of Commons) में उपस्थित हो, दो वर्ष न गुजर जाएँ।"

१९४९ का संशोधन-अधिनियम (The Amending Act of 1949)—पालियामेंट अधिनियम (Parliament Act) की धाराओं के अनुसार १९११ से लेकर १९४७ तक केवल दो ही विधेयक जो कि उच्च सदन द्वारा अस्वीकृत किए गए थे, अधिनियम बन सके। १९४९ में एक विधेयक, जिसका उद्देश्य पार्लियामेंट अधिनियम में संशोधन करना था, इसी अधिनियम की धाराओं के अनुसार कानून बन गया और इसके अनुसार उच्च सदन लोक सभा द्वारा पास किए गए विधेयकों में दो साल के स्थान पर एक साल की ही देर लगा सकता था।

इन वैधिक आज्ञाओं के अतिरिक्त यह भी मान लिया गया कि उच्च सदन किसी ऐसे प्रस्ताव को अस्वीकृत नहीं करेगा जिसके सम्बन्ध में मतदाताओं ने आम चुनाव के समय आदेश दिया हो। किन्तु श्रमिक दल उन बन्धनों से प्रसन्न नहीं था जो पालियामेंट ऐक्ट, १९११ (Parliament Act 1911) ने लगा दिए, विशेषकर अवित्तीय प्रस्तावों के ऊपर जिनके पास होने के लिए दो वर्ष की देर लगाई जा सकती थी। अक्तूबर १९४७ में सम्राट् ने अपने भाषण में कहा कि सरकार तुरन्त एक प्रस्ताव उपस्थित करना चाहती है जिसके द्वारा पालियामेंट अधिनियम (Parliament Act) का इस प्रकार संशोधन हो जाए जो तीन अधिवेशनों से घटाकर दो अधिवेशन कर दिए जाएँ और दो वर्षों की अवधि को घटाकर एक वर्ष की अवधि कर दी जाए अर्थात् अधिक से अधिक लॉर्ड सभा दो अधिवेशनों के समय के लिए अथवा एक वर्ष के समय के लिए किसी अवित्तीय प्रस्ताव को रोक सकती है। यह संशोधनात्मक प्रस्ताव नवम्बर १९४७ में उपस्थित किया गया और लॉर्ड सभा की ओर से बार-बार इसका डटकर विरोध हुआ।[1] किन्तु दो वर्ष बाद लार्ड सभा की स्वीकृति की आवश्यकता पड़े बिना ही वह प्रस्ताव पास हो गया, जिसके फलस्वरूप पार्लियामेंट के १९११ के अधिनियम (Parliament Act of 1911) में अवित्तीय वैधिक प्रस्ताव के पास होने सम्बन्धी प्रक्रिया में हेर-फेर स्वीकृत हो पाया।

१९४९ के संशोधन अधिनियम (Amending Act of 1949) के अनुसार कोई विधेयक विधि के रूप में पारित हो जाएगा चाहे उसको लॉर्ड सभा अस्वीकृत

---

1. लोकसभा में तृतीय वाचन में मतगणना के पक्ष में ३२३ और विपक्ष में १९५ मत थे। उदारवादियों ने शासन का साथ दिया था। लॉर्ड सभा में विपक्ष में २०४ और पक्ष में ३४ मत थे। लार्ड सभा में उदारवादियों ने शासन के विरुद्ध मतदान किया। लॉर्ड सभा के लिए यह मतदान असाधारण महत्त्व का था।

कर दे—वशर्ते कि लोक सभा उसको दो लगातार अधिवेशनो में पास कर दे (१९११ के पार्लियामेंट अधिनियम में तीन अधिवेशनों की शर्त थी) और यदि एक वर्ष (आरम्भ में दो वर्ष) लोकसभा के प्रथम अधिवेशन के द्वितीय वाचन की तिथि तथा उस तिथि में जब द्वितीय बार निम्न सदन ने इसको पास किया, बीत गया हो।

लॉर्ड सभा के वर्तमान अधिकार और कर्त्तव्य (Present Powers and Functions of the House of Lords)—पार्लियामेंट के १९११ के अधिनियम (Parliament Act of 1911) के अनुसार तथा उसके १९४९ के संशोधन की धाराओं के अनुसार लॉर्ड सभा (House of Lords) के अधिकार तथा कर्त्तव्य इस प्रकार निश्चित किए गए हैं। उनका निम्न तीन वर्गों में वर्णन किया जा सकता है—

(१) अवित्तीय विधेयकों में संशोधन अथवा उन पर पुनः विचार।

(२) शासन तथा लोगों के ऊपर किसी विधेयक के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करके प्रभाव डालने की शक्ति।

(३) कार्यकारी शक्तियाँ।

(४) कतिपय न्यायिक शक्तियाँ।

(१) वित्तीय विधेयकों पर लोकसभा का पूर्ण अधिकार है। यदि लॉर्ड सभा किसी वित्तीय विधेयक पर एक मास से अधिक तक स्वीकृति न दे [जबकि लोकसभा के सभापति (Speaker) ने घोषित कर दिया हो कि अमुक विधेयक वित्तीय है] तो वह वित्तीय विधेयक सम्राट् के समक्ष उपस्थित किया जाएगा तथा सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त होने पर अधिनियम का रूप धारण कर लेगा।

अवित्तीय विधेयक के सम्बन्ध में काफी प्रकाश डाला जा चुका है। यदि कोई विधेयक लोक सभा द्वारा दो लगातार अधिवेशनों में पास कर दिया जाए जिसमे कम से कम उसके प्रथम बार के द्वितीय वाचन मे तथा निम्न सदन द्वारा अन्तिम रूप से पास किये जाने के समय में १ वर्ष का समय बीत चुका हो, तो वह सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त होने पर अधिनियम का रूप धारण कर लेगा, चाहे उसको लॉर्ड सभा ने अस्वीकृत भी कर दिया हो।

(२) लॉर्ड सभा का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि शासन तथा लोगो के ऊपर किसी विधेयक के संबन्ध में प्रभाव डाले। वे कुलीन जन (Peers) जो वाद-विवाद में भाग लेते है तथा मतदान में रुचि रखते हैं प्रायः संसार मे प्रसिद्ध होते हैं। कोई भी शासन जो आलोचना का स्वागत करता है और जो अपने कार्य-कलापों से सर्वसाधारण को अवगत रखता है, इस प्रकार के विशिष्ट प्रतिभाशाली जनों के विचारों की पूर्ण उपेक्षा कर ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त वाद-विवाद खुले तथा स्वतन्त्र वातावरण में होते हैं और कभी-कभी तो लॉर्ड सभा के वाद-विवादो का स्तर लोक सभा के वाद-विवाद से भी उच्च स्तर पर होता है। अतः लॉर्ड सभा के वाद-विवादों का शासन पर निश्चित प्रभाव पड़ता है और समाचारपत्रों द्वारा प्रजा के मन पर भी

प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी तो लॉर्ड सभा निम्न सदन से भी अधिक प्रभाव डालती है।[1]

(३) कार्यकारी शक्ति (Executive power)—लॉर्ड सभा के सदस्य सरकार से प्रश्न पूछ कर प्रशासन के किसी भी पहलू के सम्बन्ध में सूचना मांग सकते हैं। न्यायाधीशों को अपदस्य करने में लोकसभा की तरह लॉर्ड सभा का भी हाथ रहता है। लॉर्ड सभा का अब सरकार के ऊपर वास्तविक नियन्त्रण नहीं है लेकिन मन्त्रिमण्डल मे उसके भी कुछ सदस्य रहते हैं।

(४) न्यायिक शक्ति (Judicial power)—लॉर्ड सभा का चौथा कार्य न्यायिक कार्य है। राज्य में यह सबसे बड़ा अपीलीय न्यायालय है। किन्तु अब पूरी लॉर्ड सभा उच्च अपीलीय न्यायालय के रूप में आहूत नहीं होती यद्यपि लॉर्ड सभा के सारे आठ सौ के लगभग सदस्यों को उसके निर्णय में हाथ हो सकता है। अब केवल लार्ड्स ऑफ अपील (Lords of appeal) अथवा लार्ड सभा के न्यायिक सदस्य (Law Lords) ही यह कार्य करते हैं। सभापति लॉर्ड चांसलर (Lord Chancellor) होता है। विधि कुलीन जन (Law Lords) एक प्रकार से उच्च सदन की विशेषज्ञ समिति है, जिसको न्यायिक अपील सुनने का अधिकार दे दिया गया है।

लॉर्ड सभा का सुधार
(Reforming the Lords)

लॉर्ड सभा के विरोध में तर्क (Arguments against)—इंग्लैण्ड में किसी राजनीतिक संस्था की इतनी आलोचना नहीं हुई जितनी कि लॉर्ड सभा की। श्रमिक दल १९०७ से बराबर यही कह रहा है कि अब लॉर्ड सभा की आवश्यकता नहीं है अतः इसका अन्त कर देना चाहिए। इसके विपरीत उदार दल का विचार है कि इसका सुधार होना चाहिए। मुख्य तर्क जो लॉर्ड सभा के सुधार के पक्ष मे अथवा इसके अन्त करने के पक्ष मे दिए जाते हैं, वे निम्न है—

(१) कहा जाता है कि लॉर्ड सभा एक प्रजातन्त्रात्मक देश मे निरर्थक राजनीतिक संस्था (Political anachronism) है। लार्ड सभा का निर्माण अब भी उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि शताब्दियों पूर्व होता था। कम से कम ९० प्रतिशत से अधिक कुलीन जन (Lords) अपने स्थानों पर इस कारण आसीन हैं क्योंकि उनके पितामह सदस्य थे। वे न किसी का प्रतिनिधित्व करते है, न किसी के प्रति उत्तरदायी हैं और न उन्हें जनमत की कोई परवाह है।

(२) लॉर्ड सभा की गणपूर्ति केवल ३ है। साधारणतया इसकी बैठकों में ६० से लेकर ७० तक सदस्य उपस्थित होते है। विचार-विमर्श मे भाग लेने वाले सदस्यों की संख्या और भी कम है। यह स्वयं लॉर्ड सभा को समाप्त करने या उसमें सुधार करने के लिए यथेष्ट तर्क है।

1. Brown, W. J.: Everybody's Guide to Parliament (1952) p. 52.

(३) इसके अतिरिक्त इन आनुवंशिक सदस्यों में से अधिकांश सदस्य अनुदार दल के सदस्य हैं। इस प्रकार अनुदार तत्त्व लॉर्ड सभा में मजबूती से जमा हुआ है। सारी लॉर्ड सभा में लगभग दो-तिहाई सदस्य अनुदार दलीय हैं, शेष एक-तिहाई उदार दल और श्रमिक दल के सदस्य हैं। इसका फल यह होता है कि जनमत का आदेश चाहे कुछ भी हो, और चाहे किसी दल का भी लोक सभा पर अधिकार हो, किन्तु लोकसभा की कमान अनुदार दल और उसके भी प्रतिक्रियावादी सदस्यों के हाथ में रहती है।

(४) रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) के शब्दों में, लॉर्ड सभा धनिक वर्ग अथवा पूंजीपतियों का रक्षक दुर्ग बन गया है। लास्की (Laski) के कथन के अनुसार, देश में ऐसा कोई बड़ा उद्योग नहीं है जिसके पूंजीपति नेताओं का प्रतिनिधित्व उच्च सदन में न हो। वास्तव में धन एवं पूंजी ही लॉर्ड सभा की आधार-शिला रही है और उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व लार्ड सभा में है। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही है कि लॉर्ड सभा को प्रगतिशील सामाजिक कानूनों से कोई सहानुभूति नहीं होती।

(५) जब सम्पूर्ण लार्ड सभा निश्चिततः एक पार्टी के रूप में सिद्धान्ततः काम करती है और उसने जान-बूझ कर सुधार के मार्ग को अवरुद्ध किया है तब लॉर्ड सभा का अस्तित्व डाक्टर फाइनर (Dr. Finer) के शब्दों में, "एक भारी अव्यवस्था है जिसका इस काल में औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।" अतः इग्लैण्ड में एबे सेई (Abbe Sieye) के निम्न कथन को व्यावहारिक ज्ञान समझा जाता है, "यदि द्वितीय सदन (Second Chamber) प्रथम सदन के अनुकूल है तो निरर्थक है और यदि विरोधी है तो यह अनिष्टकारी है।" लास्की (Laski) का कथन है कि लॉर्ड सभा (House of Lords) को समाप्त कर दिया जाए। वह कहता है कि लॉर्ड सभा जैसी अप्रजातन्त्रात्मक संस्था का रहना कठिन है यदि वह प्रजातन्त्र की बढ़ती हुई माँग के अनुरूप अपना आचरण नहीं बना सकी और प्रजातन्त्र की माँग है कि जनमत के आगे झुकना सीखो तथा सामाजिक आवश्यकताओं का मान करो। लॉर्ड सभा (House of Lords) प्रजातन्त्र की माँगों को पूरा नहीं कर सकती "क्योंकि जिन हितों की यह जी-जान से रक्षा करती है, उन्हीं निहित हितों पर प्रजातन्त्र प्रहार करता है।"[1]

लार्ड सभा के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of the House of Lords)—यद्यपि श्रमिक दल लॉर्ड सभा को बिलकुल समाप्त करने के पक्ष में और उदार दल उसमें आमूल सुधार करने के पक्ष में रहा है; फिर भी लॉर्ड सभा प्रायः पूर्ववत् ही चल रही है। इसके पक्ष में आगे लिखित तर्क उपस्थित किए जाते हैं—

(१) अंग्रेज जाति स्वभाव से परम्परावादी है। उसे अपनी पुरानी और ऐतिहासिक वस्तुओं से प्रेम है तथा जहाँ तक हो सकता है, वह उन्हें कायम रखना चाहती है। यदि इन संस्थाओं में परिवर्तन आवश्यक हो जाते हैं, तो अंग्रेज उनमें

1. Parliamentary Government in England, op. cit. p. 136.

परिवर्तन कर देते हैं, लेकिन वे उन्हें समाप्त उस समय तक नहीं करते जब तक कि वे बिलकुल असह्य न हो जाएँ। लॉर्ड सभा ऐसी असह्य संस्था नहीं है। जीवन का व्यावहारिक अनुभव उन्हें यह बताता है कि आमतौर पर (on the whole) लॉर्ड सभा ठीक काम कर रही है।

(२) फिर प्रजातन्त्र में द्वितीय सदन की आवश्यकता है। संसार के अधिकांश लोकतन्त्रात्मक देशों के विधानमण्डलों मे दो सदन हैं। इंग्लैण्ड की लॉर्ड सभा द्वितीय सदन के कार्यों को बहुत अच्छी तरह से कर रही है। इसलिए उसको समाप्त करना उचित नहीं होगा।

(३) एक तर्क यह दिया जाता है कि लॉर्ड सभा में सदैव अनुदार दल का बहुमत नही रहना चाहिए किन्तु वास्तव में यह कोई तर्क नहीं है कि लॉर्ड सभा नहीं रहनी चाहिए। निस्सन्देह लोक सभा की जल्दबाजी को रोकने के लिए अनुदारता की आवश्यकता है। लॉर्ड सभा का अनुदार दल लोकप्रियता के आधार पर चुनी गई लोकसभा (House of Commons) के आतुरता से किए गए उन निर्णयों पर निस्सन्देह एक परमावश्यक अंकुश है जो प्रवल भावावेश के वश शीघ्रता मे किए जाते है।

(४) बिना चुना हुआ द्वितीय सदन रखने में भी कुछ लाभ है। यदि द्वितीय सदन (Second Chamber) लोक-सभा (House of Commons) की तरह ही चुना हुआ रहे तो द्वितीय सदन रखना या न रखना एक समान होगा। द्वितीय सदन का सार ही यह है कि उन प्रेरणाओं एवं दबावों से सुरक्षित रहे जो लोक-सभा पर पड़ते हैं। लॉर्ड सभा इस कसौटी पर खरी उतरती है। लॉर्ड सभा का सदस्य केवल बोलने के ही लिए प्रायः कभी नही बोलता। उसको वाद-विवाद के व्यर्थ जारी रखने में कोई रुचि नही होती। न उसको मतदाताओं को प्रसन्न करने की आवश्यकता है। लॉर्ड सभा में बड़े-बड़े तथा महत्वपूर्ण विषयों पर पूर्ण एवं मुक्त वाद-विवाद होते हैं। इसका फल यह होता है कि लॉर्ड-सभा में उन अ-विधायी प्रश्नों पर मुक्त एवं पूर्ण वाद-विवाद होते हैं जिनको लोक-सभा अति व्यस्तता के कारण नही लेती अथवा दल के नेता जिनको अत्यन्त विवादास्पद समझते हैं। इनका सर्वसाधारण एवं शासन दोनों पर स्वस्थ प्रभाव पड़ता है।

(५) इसके अतिरिक्त लॉर्ड-सभा विधान निर्माता सदन भी है। लोक-सभा के बजाय लॉर्ड-सभा में विधेयक उपस्थित किए जा सकते हैं। ब्राइस समिति (Bryce Committee) ने कहा था कि "कम विवादपूर्ण प्रस्ताव लोक सभा में आसानी से पास हो जाते है, यदि वे उच्च सदन में उपस्थित किए जाएँ और वहीं यदि उन पर हर पहलू से विचार हो जाए और पूर्व इसके कि वे लॉर्ड-सभा से लोक-सभा मे आवें उनका आकार, प्रकार और स्वरूप कट छँट कर ठीक हो जाए। इसका यह भी अर्थ है कि इससे लोक-सभा का समय व्यर्थ नष्ट होने से बच जाएगा क्योंकि उसके पास बहुत काम होता है।"

(६) लॉर्ड-सभा एक और लाभदायक कार्य यह करती है कि वह उन सभी विधेयकों या वैधिक प्रस्तावों की जाँच-पड़ताल करती है जो लोक-सभा की सभी अवस्थाओं को पार कर चुकता है। इसकी इसलिए भी विशेष आवश्यकता होती है क्योंकि लोक-सभा को प्रायः सभी प्रस्तावों पर कुछ खास नियमों के अनुसार चलना पड़ता है जिससे वाद-विवाद अल्प समय ही चल पाते हैं। वहाँ किसी विषय पर पूर्ण एवं मुक्त वाद-विवाद नहीं हो पाता। किन्तु लॉर्ड-सभा के ऊपर इस प्रकार के कोई बन्धन नहीं हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि लॉर्ड सभा, जिसमें देश भर के सर्वश्रेष्ठ ऐसे जानकार रहते हैं जिनको हर प्रकार का अनुभव होता है, किसी विवादास्पद विषय के सब तथ्यों पर प्रकाश डालने वाला सदन है। इस प्रकार लॉर्ड सभा प्रस्तावों पर पुनर्विचार करने के लिए लाभदायक सदन है।

(७) लॉर्ड-सभा में प्राइवेट सदस्यों द्वारा प्रस्तावित प्रस्ताव ही उपस्थित किए जाते हैं जिससे लोक-सभा का पर्याप्त समय बच जाता है। प्रथमतः, ये प्रस्ताव लॉर्ड-सभा की समितियों में विचारार्थ जाते हैं। ऐसे प्रस्ताव अर्द्धन्यायिक प्रक्रिया में से गुजरते हैं जिनमें बहुत समय लग सकता है यदि उनका विरोध होने लगे। यह प्रथा सी बन गई है कि जिस प्रस्ताव का एक सदन में विरोध होता है उसका दूसरे सदन में विरोध नहीं किया जाता। इसका फल यह होता है कि लॉर्ड-सभा (House of Lords) लोक-सभा की व्यर्थ की मेहनत को तिहाई कम कर देती है। यदि लॉर्ड-सभा न होती तो वह सारी मेहनत लोक-सभा को ही करनी पड़ती। अर्ध-स्थायी आज्ञा विधेयकों (Provisional Order Bills) तथा विशिष्ट आज्ञाओं (Special Orders) में भी ऐसा ही होता है।

(८) अन्ततः कुछ वैधिक प्रस्तावों या विधेयकों पर जनमत तैयार करने में बीच में देर करने की भी आवश्यकता होती है पूर्व इसके कि वे नियम बनें। वास्तव में इसका बड़ा लाभ है कि लोकप्रिय सदन के निर्णयों पर पुनः विचार हो और वह विचार शान्तिपूर्ण वातावरण में ऐसे सदन में हो जिस पर तुरन्त जनता का दबाव (Popular Pressure) न पड़ सके। ऐसे विधेयकों पर पुनः विचार की आवश्यकता है जो देश के संविधान के आवश्यक अंगों पर प्रभाव डालते हैं अथवा जो विधेयक नए सिद्धान्तों को जन्म देते हैं अथवा जिन पर लोग बराबर-बराबर संख्या में भिन्न मत रखते हों।

सन् १९४९ के अधिनियम के पास हो जाने के बाद लॉर्ड-सभा समाप्त की जाए या नहीं, यह समस्या सदा के लिए सुनिश्चित कर दी गई। अगला प्रश्न लॉर्ड-सभा के सुधार का है। यह प्रश्न बहुत पुराना है। १९१७ में ३० सदस्यों की एक समिति नियुक्त हुई। इसमें दोनों सदनों में से बराबर-बराबर सदस्य लिए गए तथा उनमें सभी विचारों के लोग थे। इस समिति के अध्यक्ष लॉर्ड ब्राइस (Viscount Bryce) नियुक्त किये गये। इस ब्राइस समिति की सिफारिशें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।

ब्राइस समिति की रिपोर्ट (Bryce Committee Report)—ब्राइस समिति ने अपनी रिपोर्ट १९१८ में प्रस्तुत की। उसमें कहा गया था, "जहाँ तक सम्भव हो यही ऐतिहासिक लॉर्ड-सभा भविष्य का द्वितीय सदन बने। अर्थात् लॉर्ड-सभा के कतिपय वर्तमान सदस्य नये द्वितीय सदन के सदस्य बने रहेंगे।" साथ ही समिति ने सिफारिश की कि लॉर्ड-सभा अथवा प्रस्तावित द्वितीय सदन की सदस्यता सभी के लिए खुली रहनी चाहिए ताकि इसमें सब विचारों और भावनाओं का प्रतिनिधित्व हो। यह इच्छा भी व्यक्त की गई कि किसी एक ही राजनीतिक दल का सारे सदन पर पूर्णाधिकार नहीं होना चाहिए।

इन विचारों के अनुरूप समिति ने प्रस्ताव किया कि पुनर्गठित लॉर्ड-सभा में ३२७ सदस्य होने चाहिएँ। उनमें से तीन-चौथाई अर्थात् २४६ सदस्य चुने हुए हों जो लोक-सभा के १३ प्रादेशिक भागों में बँटे हुए सदस्यों द्वारा चुने जाएँ। प्रत्येक प्रदेश के लोक-सभा के सदस्य अपने प्रदेश को मिली हुई सदस्य संख्या चनेंगे जिसका आधार जनसंख्या होगा। बचे हुए ८१ स्थानों के लिए सदस्य सारे कुलीन जनों में से चुने जाएँगे। इस चुनाव का उत्तरदायित्व उस समिति पर होगा जो सदनों के सदस्यों में मिलाकर छाँटी जाएगी। लॉर्ड-सभा के सदस्यों का जीवन-काल १२ वर्ष रखा जाएगा जिनमें से प्रत्येक वर्ग के एक-तिहाई सदस्य स्वत: प्रति चौथे वर्ष हट जाएँगे।

लॉर्ड-सभा के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में समिति ने कहा कि पुनर्गठित लॉर्ड-सभा की शक्तियाँ लोक-सभा के समान न होंगी। न लॉर्ड-सभा को कभी यह विचार करना चाहिए कि वह लोक-सभा की प्रतिद्वन्द्वी संस्था बने, विशेषकर मन्त्रिमण्डलों के निर्माण अथवा भंग करने के सम्बन्ध में अथवा वित्तीय विधेयकों के अस्वीकृत करने में।

समिति ने इंग्लैंड के द्वितीय सदन के निम्नलिखित कार्यों को उचित समझा है :—

(१) कॉमन सभा से आए हुए विधेयकों की जाँच-पड़ताल तथा उनका संशोधन।

(२) अविवादास्पद-विषय सम्बन्धी विधेयकों का उपक्रम (initiation)।

(३) नियम बनने से पूर्व, प्रस्तावित विधेयकों पर राष्ट्र के विचारों की भली प्रकार अभिव्यक्ति के लिए उचित विलम्ब।

(४) बड़े और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर पूरी तरह और निर्दाध विमर्श।

ब्राइस समिति की रिपोर्ट तथा इसकी योजना एक प्रकार का समझौता मात्र थी। पर इससे न तो अनुदार दल को और न प्रगतिशील तत्त्वों को सन्तोष हुआ।

लॉर्ड सभा का भविष्य (Future of the House of Lords)—यह बात मानते हुए भी कि आजकल की प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली में कुलक्रमागत विधान सदन

एक समय-विरुद्ध संस्था है, इसके (लॉर्ड सभा) पुनर्गठन के कार्य में कोई प्रगति नहीं हुई है। जब कभी लॉर्ड सभा के सुधार के लिए क्रियात्मक प्रस्तावों पर विचार होना प्रारम्भ होता है, तभी सबके सामने एक भ्रम-जाल उपस्थित हो जाता है जिसका ठीक तरह से काटा जाना कठिन सा प्रतीत होता है। भ्रमजाल यह है कि क्या लॉर्ड सभा को राष्ट्र का अधिक प्रतिनिधि-स्वरूप देने के लिए इसमें निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ा दी जाए? यदि ऐसा किया जाय तो इससे लॉर्ड सभा को लोक-सभा से अधिक शक्तिशाली बनने का अवसर प्राप्त हो जाएगा। श्रमिक दल ऐसी स्थिति बिल्कुल लाने देना नहीं चाहता। श्रमिक दल चाहता है कि लॉर्ड सभा के पास संशोधन करने की तो पर्याप्त शक्ति हो पर वह किसी भी प्रकार से लोक-सभा की प्रतिद्वन्द्वी न बने। दूसरी ओर अनुदार दल यह चाहता है कि लॉर्ड सभा राष्ट्र का अधिक प्रतिनिधित्व करे और उसके पास अधिक शक्ति हो। यदि ऐसा नहीं होगा तो लॉर्ड सभा की सदस्यता के प्रति ऐसा आकर्षण नहीं रह जाएगा जो आकर्षण लॉर्ड सभा के सुधार द्वारा कोई पैदा करना चाहेगा। पर श्रमिक दल को यह अस्वीकार है। मारिसन के शब्दों में, उनकी आशंका है कि "(इंग्लैण्ड के) दूसरे सदन को अमरीकी सीनेट की शक्तियाँ देना (श्रमिक दल के लिए) भयावह होगा।"

अतएव लॉर्ड-सभा के सुधार का प्रश्न पहले ही की तरह है। यद्यपि सभी दलों की यह सहमति है कि यदि "संविधान के अन्तर्गत" दूसरे सदन ने अपना उचित भाग निबाहना है तो उसका सुधार अत्यन्त और शीघ्र वाञ्छनीय है। लॉर्ड सभा में परम्परागत कुलीन (Peers) सदस्यों की कटौती और उनके स्थान पर आजीवन पीयरों की नियुक्ति इत्यादि प्रस्तावों का प्रस्तुत होना सुधार की दिशा में एक कदम होगा। आजीवन पुरुष पीयरों और स्त्री पीयरों को बनाने से वर्तमान सदन में प्रजातन्त्रीय गुण का समावेश कराने का लक्ष्य पूरा होगा। अनुदार दल ने ही इस कार्य में यत्न की है।

Suggested Readings

Brown, W. J. : *Everybody's Guide to Parliament* (1952), Chaps. II, VII, XVIII.

Champion and Others : *Parliament, A Survey* (1952), Chaps. IV and IX.

Carter, G. M. and Others : *The Government of Great Britain* (The World Press, Calcutta) 1953, pp. 148-155.

Finer, H. : *The Theory and Practice of Modern Government* (1954), pp. 45-420.

Greaves, H. R. G. : *The British Constitution* (1951), Chap. [illegible]

Jennings, W. J. : *The British Constitution* (1942), Chap. [illegible]

Jennings, W. J. : *Parliament* (1939), Chaps. I and [illegible]

Laski, H. J. : *Parliamentary Government in* [illegible] Chap. III.

Lowell, A. L. : *The Government of England,* (1919), Vol I, Chaps. XXI and XXII.
Mackenzie, K. R. : *The English Parliament* (1950), Chaps. I, II and XII.
Marriott, J. A. R. : *English Political Institutions* (1925), Chaps. VI and VII.
Morrison, Herbert : *Government and Parliament*, Chap. IX.
Muir, R. : *How Britain is Governed* (1953), Chap. VII.
Ogg, F. A. and Zink, H. : *Modern Foreign Governments,* (1953), pp. 40-42, Chap. X.
Stout, H. M. : *British Government.*
Wade, F. C. S. and Phillips, G. G. : *Constitutional Law* (1951), pp. 35-44.

अध्याय ७

संसद् (क्रमशः)
Parliament—(Continued)
लोक-सभा
(The House of Commons)

रचना एवं संगठन (Composition and Organisation)—लोक-सभा (House of Commons) सदा से पूर्णतया निर्वाचित संस्था रही है किन्तु निर्वाचक वर्ग (Electorate) एवं निर्वाचन-क्षेत्र दोनों में शताब्दियों से बराबर हेर-फेर होते रहे हैं। आजकल लोक-सभा में ६३० सदस्य हैं। उनका चुनाव एकल-सदस्य निर्वाचन क्षेत्रों (*Single member Constituency*) से होता है। *१९४४ के लोक-सभा* के निर्वाचन-क्षेत्र पुनर्वितरण अधिनियम (House of Commons, Redistribution of Seats Act of 1944) तथा १९४९ के जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम (Representation of the Peoples' Act of 1949) पास होने के पूर्व लन्दन में अनेक जिले ऐसे थे जिनमें द्वि-सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र थे। इससे पूर्व व्यापारिक निर्वाचन-क्षेत्र भी था तथा विश्वविद्यालयों के स्नातकों के लिए विशेष विश्वविद्यालय निर्वाचन-क्षेत्र थे। निवास-स्थान पर उन्हें मिले हुए वोटों के अतिरिक्त उन्हे विशेष निर्वाचित अधिकार मिला था। किन्तु अब प्रत्येक व्यक्ति केवल एक ही वोट दे सकता है।

ब्रिटिश प्रजा के सारे स्त्री और पुरुष चाहे वे साम्राज्य के किसी भी भाग में निवास करते हों, चुनाव के लिए उम्मीदवार बन सकते हैं, केवल शर्त यह है कि वे २१ वर्ष के या इससे अधिक आयु के हों, पागल न हों, दिवालिया या किसी जुर्म अथवा अभियोग में दोष-प्रमाणित या सजायाफ्ता न हों (भ्रष्टाचार भी एक जुर्म है). स्कॉटलैण्ड एवं इंग्लैण्ड के संस्थापित चर्च के पादरी न हों, रोमन कैथोलिक चर्च के पादरी न हों; इंग्लैण्ड तथा स्कॉटलैण्ड के लॉर्ड (Peer) न हों तथा सम्राट् की सेवा में कोई पद धारण न करते हों। १९५७ के लोकसभा अनर्हता अधिनियम (House of Commons Disqualification Act, 1957) के अन्तर्गत गिनाए गए लोग भी चुनाव के लिए उम्मीदवार नही बन सकते हैं।

लोक-सभा का जीवन-काल पांच वर्ष होता है किन्तु उसे उससे पूर्व भी भंग किया जा सकता है। प्रचलित पद्धति के अनुसार लोक-सभा का साल में कम-से-कम एक अधिवेशन होना चाहिए। यह इसलिए भी कि कुछ आवश्यक विधेयक जिनमें कर एवं अन्य वित्तीय मामले भी हो सकते हैं, एक बार में केवल वर्ष के लिए ही पास किए जाते हैं और ऐसा प्रति वर्ष होता है। अधिवेशन प्रायः अक्तूबर अथवा नवम्बर

में प्रारम्भ होता है और पूरे वर्ष चलता है, केवल कभी-कभी छुट्टियां होती है। सत्रावसान होने पर अधिवेशन समाप्त हो जाता है और अधिवेशन के अन्त मे जो कार्य अधूरा रहता है उसे समाप्त कर दिया जाता है।

१९४७ मे लोक-सभा के सम्मेलन, सप्ताह के प्रथम पाँच दिनों में होते रहे है। सोमवार से लगाकर बृहस्पतिवार तक सम्मेलन दोपहर को २-३० पर प्रारम्भ होता है। शुक्रवार को ११ बजे दोपहर को प्रारम्भ होता है। उसी प्रकार लोक-सभा स्थगन प्रस्ताव के आध घण्टे के अन्दर समाप्त हो जाती है यदि स्थगन-प्रस्ताव सोमवार से बृहस्पतिवार तक १० वजे रात्रि को या उसके बाद पास किया जाए या शुक्रवार को शाम के ४ वजे पास किया जाए। प्रायः बहुत से अवसर ऐसे भी आते है कि अधिवेशन रात भर चलता रहता है। ऐसे सभी अवसरों पर समय नही नष्ट करने दिया जाता। सोमवार से लेकर बृहस्पतिवार तक ढाई या पौने-तीन वजे के मध्य अवित्तीय मामले लिए जाते हैं। इसके उपरान्त साढ़े-तीन बजे तक प्रश्न पूछे जाते हैं। प्रश्नों के तुरन्त बाद वह समय होता है जबकि कोई सदस्य चाहे तो किसी विशेप आवश्यक विषय पर बात-चीत करने के लिए सम्मेलन स्थगित करने का प्रस्ताव रख सकता है। यदि स्थगन-प्रस्ताव मान लिया गया तो सम्मेलन सन्ध्या के ७ बजे तक स्थगित पड़ा रहता है। फिर इस प्रकार की प्रारम्भिक कार्यवाहियों के बाद ही कुछ मुख्य बातों की ओर आते हैं जिसको सार्वजनिक कार्य संचालन (Transaction of Public Business) कहते हैं। यह शाम को ७ बजे तक चलता रहता है। तब या तो स्थगन-प्रस्ताव (Adjournment Motion) लिया जाता है या विरोधी प्राइवेट कार्यवाही (Opposite Private Business) ली जाती है। इसके बाद ही बीच की स्थगित कार्यवाही प्रारम्भ की जाती है जो रात्रि मे १० बजे तक चलती है।

वाद-विवाद का समापन (Closure of Debate)—चूँकि निम्न सदन के समय की रक्षा का पर्याप्त ध्यान रखा जाता है ताकि सभी कार्यवाही सुचारु रूप से चलती रहे, अत. वाद-विवाद को समाप्त करने के लिए भी किसी ऐसे नियम की आवश्यकता रहती है जिसका पालन करना आवश्यक हो। आमतौर पर सभापति (Speaker) की कुर्सी के पीछे सत्तारूढ़ दल एवं विरोधी दल के सचेतकों (Whips) मे वाद-विवाद के लिए समय निर्धारण सम्बन्धी समझौता हो जाता है कि किस विषय पर कितना समय दिया जाए और फिर सभापति (Speaker) का कर्तव्य हो जाता है कि उस समझौते का पूर्णरूपेण पालन कराए। यदि यह प्रबन्ध असफल हो जाता है तो वाद-विवाद को समाप्त करने के और भी बहुत से उपाय है। सदन की राय से वाद-विवाद को समाप्त करने के उपाय को समापन (Closure) कहते है।

सन् १८८१ मे सदन की राय से वाद-विवाद को समाप्त करना आवश्यक हो गया जबकि आयरलैंड के राष्ट्रवादियो ने सदन की कार्यवाही मे बाधा डालना प्रारम्भ किया। वे घण्टों तक किसी विषय पर बोलते रहते चाहे वह संगत हो अथवा असंगत किन्तु सभापति (Speaker) के पास कोई ऐसा उपाय न था जिससे वह उनको रोक

सकता। अतः यह निश्चित किया गया कि वाद-विवाद के नियम बदल दिए जाएँ ताकि समय व्यर्थ नष्ट न किया जा सके और व्यर्थ की बाधाओं को टाला जा सके। अब वाद-विवादों में जान बूझ कर बाधा नहीं डाली जाती और किसी सीमा तक सदस्यों पर विश्वास किया जा सकता है कि वाद-विवाद में जहाँ तक सम्भव होगा वे संक्षेप में बोलेंगे। किन्तु ऐसा अवसर आ सकता है जबकि वाद-विवाद पर अंकुश लगाना आवश्यक हो सकता है। इस प्रकार वाद-विवाद को सदन की राय से समाप्त करने के निम्न उपाय है—

(१) सामान्य समापन (Simple Closure)—यदि वाद-विवाद किसी विषय पर पर्याप्त समय चल चुका हो तो कोई सदस्य कह सकता है 'प्रस्ताव पर मत लिया जाए' (The Question be put)। यह सभापति (Speaker) की इच्छा पर निर्भर है कि वह इस प्रस्ताव को स्वीकार करे अथवा अस्वीकार करे। वह उसको अस्वीकृत कर देगा यदि उसका विचार हो कि इस प्रकार के प्रस्ताव से सदन के नियमों का अतिक्रमण हुआ है अथवा अल्पसंख्यक दल के अधिकारों का हनन होता है। यदि सभापति (Speaker) इसको स्वीकार कर लेता है और यदि यह प्रस्ताव कम-से-कम १०० मतों से स्वीकृत हो जाता है, तो वाद-विवाद समाप्त हो जाता है और विवादग्रस्त विषय पर मत-गणना की जाती है। वाद-विवाद को समाप्त करने की यह प्रक्रिया सरकार को वाद-विवाद की स्वामी बना देती है। चूँकि सरकार का सदन मे बहुमत होता है, अतः वह इस प्रस्ताव को पास करा ही लेती है। स्पीकर की निष्पक्षता ही सरकार की इस दुरभिसन्धि को रोक सकती है।

(२) मुखबंध (Guillotine) अथवा भागशः समापन (Closure by Compartment)—वाद-विवाद को रोकने का एक साधारण नियम होता है जिसको किसी भी प्रस्ताव पर काम में लाया जा सकता है। उसके अतिरिक्त कुछ और भी उपाय है जो विधेयकों के समय प्रयोग किए जाते है। मुखबन्ध (Guillotine) का उपाय इस प्रकार प्रयोग किया जाता है कि विधेयक के कई भाग कर लिए जाते हैं और प्रत्येक भाग के लिए अलग-अलग समय नियत कर दिया जाता है और प्रत्येक भाग पर निश्चित समय पर मत ले लिये जाते हैं। फिर इस बात की चिन्ता नहीं की जाती कि उक्त विधेयक के किसी भाग अथवा महत्त्वपूर्ण भाग पर वाद-विवार हुआ कि नहीं। १९४६ से स्थायी समितियाँ (Standing Committees) भी मुखबन्ध का प्रयोग करने लग गयी है।

(३) कंगारू समापन (Kangaroo Closure) द्वारा वाद-विवाद को सीमित करना—निम्न सदन की प्रचलित आज्ञाओं में वाद-विवादो को सीमित करने का एक और भी उपाय है जिसे कगारू समापन (Kangaroo Closure) कहते है। इसका सर्वप्रथम १९०९ मे प्रयोग हुआ था। इसके द्वारा सभापति (Speaker) को अधिकार होता है कि वह उन धाराओं अथवा संशोधनों को चुन ले जिनको वह वाद-विवाद के लिए परमावश्यक समझे। अर्थात् सभापति को अधिकार है कि प्रतिवेदन स्तर (Report Stage) के समय वह किन संशोधनों पर वाद-विवाद की

आज्ञा दे, किन पर नहीं। कुछ संशोधनों को छोड़ देने की प्रथा को कंगारू समापन (Kangaroo Closure) कहते है, क्योंकि सभापति इस प्रकार कुछ संशोधनों को छोड़ जाता है। इसका कारण यह हो सकता है कि वे विवादानूकूल न हों अथवा उन पर पूर्व विचार हो चुका हो अथवा उन पर वाद-विवाद होने से समय व्यर्थ नष्ट होने का भय हो। कगारू समापन (Kangaroo Closure) को मुखबन्धन समापन (Guillotine Closure) के साथ भी प्रयुक्त किया जा सकता है और अलग से भी। कंगारू समापन विधि यद्यपि सभापति के लिए गम्भीर उत्तरदायित्व पैदा कर देती है तथापि इस विधि के वस्तुतः दुरुपयोग का यथार्थ प्रमाण नहीं मिला है।

सदन के अधिकारी (Officers of the House)—लोक सभा का मुख्य अधिकारी स्पीकर है जो नई ससद् के बन जाने पर सदस्यों द्वारा सदन का सभापतित्व करने के लिए चुना जाता है। सदन के अन्य अधिकारी अर्थोपाय-सभापति (Chairman of the Ways and Means) तथा उप-सभापति हैं। दोनों ही डिप्टी-स्पीकर (Deputy Speaker) का कार्य कर सकते है। सदन के स्थायी अधिकारियों के अन्तर्गत लोक-सभा का लिपिक (Clerk of the House of Commons) तथा सार्जेन्ट-एट-आर्म्स (Sergeant-at-Arms) आते हैं। ये पार्लियामेंट के सदस्य नहीं होते।

संसदीय विशेषाधिकार
(Parliamentary Privileges)

ससद् के प्रत्येक अधिवेशन के प्रारम्भ होने से पहले स्पीकर, लोक सभा में औपचारिक रूप से कॉमन सभा के सदस्यों के लिए, उनके पुराने और असंदिग्ध अधिकारों और विशेषाधिकारों के लिए क्राउन से याचना करता है। उनमे से कुछ अधिकार ये हैं :—

(१) संसद् के अधिवेशन से ४० दिन पूर्व और उसकी समाप्ति से ४० दिन बाद तक किसी भी प्रकार की अदालती कार्यवाही के सम्बन्ध में गिरफ्तारी से छूट।

(२) वाद-विवाद मे वाणी की स्वतन्त्रता।

(३) क्राउन तक पहुँच का अधिकार जो सदन का सामूहिक अधिकार भी है।

(४) सदन का अपनी कार्यवाही पर नियन्त्रण का अधिकार।

(५) सदस्यता के विषय में वैधिक अयोग्यताओं को और उन्हीं के आधार पर सदन की किसी सीट को रिक्त घोषित करने का अधिकार; और

(६) विशेषाधिकारों को भंग करने वालों को दण्ड देने का अधिकार।

सभापति (Speaker)—जो समय निम्न सदन के सम्मेलन के लिए निश्चित है उस पर सभापति (Speaker) सदन में सुनिश्चित सजधज एवं समादर के साथ प्रवेश करता है। आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी (Oxford English Dictionary) ने स्पीकर का यह अर्थ दिया है कि "वह लोक-सभा का सदस्य होता है जिस को सदन

अपने प्रतिनिधि के रूप में चुनता है और जो सदन के वाद-विवादों में सभापतित्व करता है।" यह अर्थ ठीक है और इससे स्पीकर के सम्बन्ध में तीन मुख्य बातें सामने आती हैं। पहली यह कि स्पीकर अन्य सदस्यों की तरह लोक-सभा का सदस्य होता है और अन्य सदस्यों की भाँति ही निर्वाचित होकर लोक-सभा में आता है। दूसरी सदन अपना स्पीकर (Speaker) स्वयं चुनता है और तीसरी बात यह है कि वह सदन का सर्वमान्य प्रतिनिधि होता है और इसके वाद-विवादों का सभापतित्व करता है किन्तु उक्त कोश (Dictionary) ने इस तथ्य पर प्रकाश नहीं डाला कि उसके बिना सदन की कार्यवाही हो ही नहीं सकती। बिना सभापति (Speaker) के सदन का सम्मेलन हो ही नहीं सकता। मि० फिट्ज राय (Mr. Fitz Roy) सभापति की मृत्यु[1] पर सदन तुरन्त उठ खड़ा हुआ और लोक-सभा की कोई कार्यवाही नहीं हो सकी जब तक कि नए सभापति का चुनाव नहीं हो गया यद्यपि उस समय देश द्वितीय विश्व-युद्ध में फँसा हुआ था।[2]

स्पीकर (Speaker) के पद का विकास कब और कैसे हुआ यह अज्ञात है। अभिलेखों के अनुसार पार्लियामेंट या संसद् का प्रथम स्पीकर १३७७ में सर टामस हंगरफोर्ड (Sir Thomas Hungerford) था। प्राचीन काल में स्पीकर जनता का उस समय प्रवक्ता होता था जबकि वे सम्राट् के समक्ष अपनी कष्ट-गाथा उपस्थित करते थे और अब ६०० वर्ष से स्पीकर के पद का विकास होते हुए भी एक प्रकार से स्पीकर वही काम आज भी करता है।

आरम्भ में सम्राट् ही स्पीकर को नियुक्त किया करता था, किन्तु बाद में जब स्पीकर के पद के प्रत्याशी के लिए चुनाव होने लगा, तो, जैसा कि कोक (Coke) ने १६४८ में बताया, ऐसी प्रथा पड़ गई कि सम्राट् किसी सुयोग्य एवं विद्वान् व्यक्ति को नियुक्त करने लगा और लोक-सभा उसी को प्रायः चुन लिया करती थी किन्तु जार्ज तृतीय (George III) के राज्य-काल में स्पीकर के चुनाव के सम्बन्ध में सम्राट् का हाथ बिलकुल भी नहीं रहा। अब भी स्पीकर का चुनाव क्राउन के अनुमोदन एवं स्वीकृति से ही होता है किन्तु मुख्य रूप से लोक-सभा ही स्पीकर को चुनती है और आजकल की पद्धति यह है कि स्पीकर का चुनाव सर्वसम्मत होता है। प्रथानुसार सत्तारूढ़ दल अपने दल के किसी व्यक्ति को स्पीकर के पद पर उस समय ले लेता है जब किसी कारणवश यह पद रिक्त हो जाए। किन्तु ऐसी स्थिति में भी उसका नाम प्रस्तावित होने से पूर्व विरोधी दल से तदर्थ मन्त्रणा कर ली जाती है और यदि विरोधी दल को उस नाम पर कोई आपत्ति होती है तो उस नाम को वापस ले लिया

---

1. फिट्ज (Fitz Roy) की मृत्यु १९४३ में हुई।

2. Briers, P. M. and Others : Papers on Parliament. A Symposium, p.2.

जाता है।[1] स्पीकर के लिए यह आवश्यक है कि वह पूर्ण पक्षपातहीन एवं तटस्थ हो, इसलिए ऐसे व्यक्ति को स्पीकर के पद के लिए नामांकित किया जाता है जो कभी उग्र दलावलम्बी (Active Partisan) न रहा हो और जो पर्याप्त समय तक अर्थोपाय या वेज एण्ड मीन्स (Ways and Means) की समिति या किसी अन्य समिति के सभापति या उप-सभापति पद पर प्रशिक्षा (apprenticeship) प्राप्त कर चुका हो।

इस प्रकार चुना हुआ स्पीकर संसद् के जीवन-पर्यन्त अपने पद पर बना रहता है।[2] किन्तु जहां वह एक बार स्पीकर के पद के लिए चुना गया, तो फिर वह जब तक चाहे अपने पद पर बना रह सकता है, चाहे संसद् में उस दल का बहुमत हो या न हो, जिसने उसको स्पीकर पद के लिए प्रस्तावित एवं नामांकित किया था। तथ्य तो यह है कि जहां एक बार कोई व्यक्ति स्पीकर बना, तो वह अपनी मृत्यु-पर्यन्त अथवा ऐच्छिक अवकाश ग्रहण के समय तक उक्त पद पर बना रहता है।

स्पीकर शॉ लेफेवर (Shaw Lefevre) के समय से स्पीकर पद, दृढ़तापूर्वक अ-राजनीतिक तथा न्यायिक एवं निष्पक्ष पद समझा जाने लगा है। चुनाव के बाद स्पीकर दलगत राजनीति से पूर्ण संन्यास ले लेता है और इसके फलस्वरूप स्पीकर को कभी चुनाव नहीं लड़ना पड़ता। इसीलिए बहुत समय तक यह परम्परा रही कि वह निर्विरोध चुना जाता रहा। १८३२ से तो यह सामान्य नियम सा बन गया है। किन्तु १९३५ में और पुन. १९४५ में श्रमिक दल ने फिट्ज राय (Fitz Roy) और क्लिफ्टन ब्राउन (Clifton Brown) नाम के दो अनुदारदलीय स्पीकरों के पुनर्निर्वाचन पर आपत्ति की, यद्यपि संघर्ष में श्रमिक दल को सफलता नही मिली। १९५० मे श्रमिक दल की ओर से किसी अधिकारी प्रत्याशी ने स्पीकर के चुनाव का विरोध नही किया किन्तु एक स्वतन्त्र श्रमिकदलीय सदस्य ने स्पीकर के विरुद्ध चुनाव लड़ा, और वह बुरी तरह हारा। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्वाचक समूह महसूस करते है कि स्पीकर का चुनाव निर्विरोध होना ही चाहिए, और वे इस एक शताब्दी से भी पुरानी परम्परा को लगातार चलाए रखना चाहते है।

---

1. स्पीकर के पद के लिए संघर्ष भी हो सकता है। १८३९ में प्रथम बार इस पद के लिए संघर्ष हुआ जिसके फलस्वरूप शा लेफेवर (Shaw Lefevre) चुना गया और इसी प्रकार १८९५ में गली (Guliy) का चुनाव स्पीकर पद पर हुआ। १९५१ में पुनः नये स्पीकर का चुनाव करते समय संघर्ष हुआ जब कि अनुदार दल को लोक-सभा में बहुमत प्राप्त हुआ था। विरोधी श्रमिक दल ने स्पीकर पद के लिए अनुदारदलीय प्रत्याशी पर आक्षेप नहीं किया किन्तु साथ ही यह इच्छा व्यक्त की कि पुराना उप-सभापति अथवा डिप्टी स्पीकर अपने लम्बे अनुभव के कारण अधिक उपयुक्त स्पीकर रहेगा। तदनुसार मत गणना हुई, और अनुदारदलीय प्रत्याशी भूतपूर्व मंत्री डब्लू० एम० मारिसन श्रमिक दल के मेजर मिलनर को हराकर जीत गया।

2. संसद् के भंग हो जाने पर भी स्पीकर अपने पद पर उस समय तक के लिए बना रहता है जब तक कि अगला स्पीकर न चुना जाए किन्तु संसद्-भंग होने के उपरान्त वह आदेश लेख (writs) आदि जारी नहीं करता, जैसा कि वह संसद् के विश्राम काल (recess) में करता रहता है।

(Active and Constitutionally Recognised Deputy) है। विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वह अनेक आदेश एवं समादेश (Warrants) सदन की ओर से निकालता रहता है। उदाहरणस्वरूप जब अधिवेशन काल में लोक-सभा का कोई स्थान रिक्त हो जाता है, तो सदन की आज्ञा पर स्पीकर नए चुनाव की आज्ञप्ति या आदेश निकालता है। उसी प्रकार यदि किसी सदस्य द्वारा अपराध हो जाए तो स्पीकर ही उसकी गिरफ्तारी का अथवा गवाहों के लिए आदेश अथवा समादेश दे सकता है।

स्पीकर उस प्रशासनिक विभाग का अध्यक्ष भी होता है जिसे लोक-सभा के स्पीकर का विभाग कहा जाता है। इस विभाग में सदन का क्लर्क, लाइब्रेरियन और कुछ अन्य सेवकगण होते है, साथ ही प्राइवेट विधेयकों के सम्बन्ध में निरीक्षक, कतिपय अधिकारी जिनका सम्बन्ध मतदान कार्यालय (Vote Office) से होता है एवं कुछ और व्यक्ति होते है।

कभी-कभी स्पीकर को ऐसे संवैधानिक सम्मेलनों का सभापतित्व भी करना पड़ता है, जैसे १९१४ का बकिंघम महल सम्मेलन (Buckingham Palace Conference of 1914) अथवा १९२० का स्पीकर सम्मेलन (Speakers' Conference of 1920)।

(३) ग्लैडस्टन (Gladstone) ने एक बार कहा था कि स्पीकर का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि वह सदन की रक्षा सदन से करे। सदन की सदन के विरुद्ध रक्षा वह उस समय करता है जब वह वाद-विवाद के समय सदन का सभापतित्व करता है। स्पीकर के आसन पर उसे तीन कर्त्तव्यों को निबाहना पड़ता है। प्रथमतः, सदन में व्यवस्था रखना; द्वितीयतः सदस्यों को आज्ञा एवं संयम में रखना; तथा तृतीयतः वाद-विवाद में बोलने के लिए सदस्यों को चुनना।

(१) स्पीकर लोक-सभा के अधिवेशनों का सभापतित्व करता है केवल उस समय को छोड़कर जब सदन, 'समस्त सदन की समिति' (Committee of the Whole House) के रूप में समवेत होता है। स्पीकर ही यह निर्णय करता है कि कौन वाद-विवाद में बोलने के लिए आवेगा। सभी वक्ता, स्पीकर या सभापति को ही सम्बोधित करके जो कुछ भी चाहते हैं, कहते हैं। किसी भी राजनीतिक सम्मेलन में प्रायः वातावरण गर्म हो ही जाता है। जब वक्ताओं में जोश और आवेश चरम सीमा तक पहुँच जाता है, तो सदन में शान्ति-भंग अथवा अव्यवस्था की आशंका बढ़ जाती है। ऐसे समय में स्पीकर का कर्त्तव्य हो जाता है कि सदन में व्यवस्था बनाए रखे और जहाँ तक सम्भव हो सदन की गौरव-गरिमा नष्ट न होने पावे। तदनुरूप स्पीकर के अधिकार में व्यापक शक्तियाँ हैं जिनके बल पर वह अव्यवस्था, शान्तिभंग, अप्रासंगिक बातें, असंसदीय भाषा अथवा असंसदीय व्यवहार पर कठोर नियन्त्रण रख सकता है। यह नियम बन गया है कि यदि स्पीकर खड़ा होगा तो कोई सदस्य खड़ा नहीं रहेगा। जब कभी, स्पीकर सदन में शान्ति-भंग अथवा अव्यवस्था के चिह्न देखता है तो वह खड़ा होगा और कतिपय धमकी के शिष्ट शब्दों द्वारा अथवा

प्रार्थना के द्वारा उत्तेजित सदस्यों को शान्त करने का प्रयास करेगा, और इस प्रकार शान्ति-भंग की अवस्था न आने देगा। प्रायः इतना ही उचित प्रभाव उत्पन्न कर देता है, किन्तु इतने पर भी कोई सदस्य शान्ति-भंग पर उतारू हो जाता है, उस स्थिति मे स्पीकर उक्त सदस्य को बैठ जाने की आज्ञा दे सकता है। यदि इतने पर भी वह सदस्य गड़बड़ी करता ही चला जाता है, तो स्पीकर ऐसे सदस्य को सदन से बाहर चले जाने की आज्ञा दे सकता है। यदि वह सदन को छोड़कर नही जाता तो स्पीकर सदस्य को नाम लेकर सदन छोड़ने की आज्ञा देता है। इसका अर्थ है कि सदस्य तुरन्त सदन से बाहर चला जाए। प्रथम बार नाम लेने पर ५ दिन के लिए, दूसरी बार २१ दिन के लिए, और तीसरी बार संसद् की बैठक की समाप्ति तक सदस्य को संसद् से बाहर रहना पड़ता है। इतने पर भी सदस्य, सदन छोड़कर नहीं जाता तो उसको सदन का सशस्त्र परिचारक (Sergeant-at-arms) सदन से बाहर निकाल देता है। यदि आवश्यकता होती है तो सशस्त्र परिचारक बल प्रयोग भी कर सकता है। यदि अव्यवस्था अधिक उग्र हो जाती है तो वह सदन की कार्यवाही स्थगित भी कर सकता है।

(२) स्पीकर का द्वितीय कर्त्तव्य यह है कि वह सदस्यों को पथ-भ्रष्ट न होने दे और इसका सम्बन्ध वाद-विवाद की उचित व्यवस्था और क्रम से है। वह देखता है कि सदस्यगण वाद-विवाद के मुख्य विषय से न हटें और वे अप्रासंगिक बातें न करने लग जाएँ, प्रत्येक सदस्य को अधिकार है कि वह स्पीकर का ध्यान इस ओर आकर्षित कर सकता है कि अमुक सदस्य अप्रासंगिक (Out of Order) बकवास कर रहा है। किन्तु सामान्यतः स्वयं स्पीकर ही ऐसे सदस्य का ध्यान आकर्षित करता है और उसको विवादीय विषय पर ध्यान केन्द्रित करने का आदेश देता है। इसके अतिरिक्त बहुत-से सदस्य सीधे स्पीकर को अपील करते हैं कि वह सदन के नियमों का निर्वचन करे। इस दिशा में स्पीकर न्यायाधीश के समान आचरण करता है और संसद् के नियमो का निर्वचन करता है।

(३) स्पीकर का तृतीय कर्त्तव्य यह है कि उसके सभापतित्व मे जब वाद-विवाद चल रहा हो, उस समय वह बोलने के इच्छुक सदस्यों को बोलने और वाद-विवाद मे भाग लेने के लिए आमन्त्रित करे। आजकल वाद-विवाद के लिए इतना कम समय रहता है कि कतिपय भाग्यशाली सदस्य ही स्पीकर द्वारा बोलने के इच्छुको मे से पहिचाने जा सकते हैं, और केवल उन्ही को वाद-विवाद में बोलने का अवसर मिलता है। इस सम्बन्ध मे स्पीकर के ऊपर कई विचारों का प्रभाव पड़ता है। वह प्रायः प्रत्येक सदस्य को अपने संसदीय जीवन की प्रथम वक्तृता देने का अवसर अवश्य देता है किन्तु प्रायः वह उन सदस्यों को बोलने का अवसर देता है जो उसके विचार में अच्छी वक्तृता देकर वाद-विवाद का स्तर उच्च रखेंगे और जहाँ तक उसका उद्देश्य यह रहता है कि सभी प्रकार के विचार रखने वालों को अपने-अपने विचार व्यक्त करने का अवसर मिलना चाहिए, वह सदस्यों को बोलने के लिए बुलाने में बड़ी सावधानी से काम करता है। सत्य तो यह है कि बहुत से अपने दल के सचेतक

द्वारा पहले से ही स्पीकर से प्रार्थना कर लेते है कि उन्हें बोलने की अनुमति दी जाए, इस प्रकार स्पीकर की वरीयता केवल दैवयोग (Haphazard) पर ही आश्रित नहीं होती और यह भी सत्य है कि सदन का नेता तथा विरोधी दल का नेता दोनो ही यह निश्चित करते है कि दोनों पक्षों की ओर से उनके कौन-कौन मुख्य वक्ता होंगे।

(४) स्पीकर का एक अन्य अप्रत्यक्ष-सा कार्य यह भी रहता है कि वह शासन के सीमोल्लघनों (Encroachments) से सदन की मान-मर्यादा की रक्षा करे। जब कभी मन्त्री लोग सदस्यों की स्वतन्त्रता पर आघात करते हैं या जब वे सदस्यों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर नहीं देते या जब वे माँगी हुई सूचना पर्याप्त मात्रा में नही देते तो साधारण सदस्य उस स्थिति में स्पीकर से अपील करता है कि कार्यपालिका के विरुद्ध सदस्यों की मर्यादा और उनके अधिकारों की रक्षा की व्यवस्था की जाए।

स्पीकर को उपर्युक्त कार्यों के अलावा कुछ और भी महत्त्वपूर्ण कार्य करने पड़ते हैं। यदि सरकार की ओर से कोई प्रस्ताव मतदान के लिए उपस्थित किया जाता है, तो स्पीकर यह देख लेता है कि अल्पसंख्यक वर्गों ने उस पर अपने विचार पूरी तरह से व्यक्त किए हैं या नहीं। संशोधनों और प्रश्नों को स्वीकार करना या न करना स्पीकर के ही हाथ मे है। स्पीकर यह प्रमाणित करता है कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नही। वह विधेयकों को विभिन्न स्थायी समितियों के बीच बाँटता है। वह स्थायी समितियों के सभापतियो को भी नियुक्त करता है। यदि कभी सन्देह हो, तो स्पीकर ही यह निर्णय करता है कि कौन व्यक्ति विरोधी दल का नेता है।

इसमे सन्देह नहीं कि स्पीकर को अनेक और साथ ही कष्टसाध्य कर्तव्यों का निर्वहन करना पड़ता है। लोकसभा के सभी सदस्य स्पीकर मे इस प्रकार का विश्वास रखते हैं जैसे दो टीमों के खिलाड़ी रेफरी या अम्पायर (Umpire) की न्याय-प्रियता एव निष्पक्षता पर विश्वास रखते हैं। वाद-विवाद के बाद उसका कोई मत नही होता। बराबर मत (Tie) पडने की स्थिति मे उसे एक निर्णायक मत देने का अधिकार होता है। किन्तु स्पीकर अपना निर्णायक मत प्रायः इस प्रकार और ऐसी अवस्था में ही देता है कि उसके निर्णायक मत से अन्तिम निर्णय न हो; और इस प्रकार वह सदन को एक अवसर और देता है जिसमें उस समस्त विवादग्रस्त विषय पर एक बार पुनः विचार कर लिया जाए।

इस प्रकार स्पीकर सदन के सभी सदस्यों के अधिकारों (Rights) और सदन की प्रतिष्ठा का पक्षपातहीन संरक्षक होता है। उसकी दृष्टि में सबसे हेय, पिछली बेंच पर बैठने वाला सदस्य भी अन्य सदस्यों से घटिया या हेय नही है; और उसी प्रकार सर्वोच्च प्रभावशाली मन्त्री भी उतना ही है जितना कि कोई अन्य साधारण सदस्य। स्पीकर का यह परम पुनीत कर्त्तव्य है कि वह लोक-सभा के सदस्यों के अधिकारों एवं परमाधिकारों की रक्षा न केवल क्राउन और लार्ड-सभा के सीमोल्लंघन से

सभा। केवल लोक-सभा अकेली कुछ नहीं कर सकती, यद्यपि सम्राट् और लॉर्ड-सभा की शक्तियाँ बहुत कुछ मर्यादित एवं नियन्त्रित है। लोक-सभा मे किसी भी प्रकार का विधेयक पुरःस्थापित किया जा सकता है चाहे वह सामान्य हो अथवा वित्तीय और अधिकतर विवादास्पद एवं महत्त्वपूर्ण विधियों का सूत्रपात लोक-सभा मे ही होता है। इसलिए व्यवस्थापन अथवा कानून निर्माण के क्षेत्र में लोक-सभा की शक्ति महान् है।

प्रत्येक विधि विधेयक के रूप मे प्रारम्भ होती है जिसके दोनों सदनों में तीन-तीन वाचन होते हैं, और उसके बाद सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर वह अधिनियम (Act) का रूप धारण करती है। यह कहना कठिन है कि प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन क्यो आवश्यक माने गए हैं। इस सम्बन्ध में केवल इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि किसी विधेयक पर जब तीन वाचन हो चुकते है अर्थात् जब सभा तीन बार विधेयक को स्वीकार कर लेती है, तो इस बात की आशंका नहीं रहती कि कोई विधेयक बिना पूरी तरह सोचे-विचारे पास हो जाए। किसी विधेयक के तीन वाचनो की प्रथा मध्य युग से चली आ रही है, "जिस समय तीन की संख्या को विशेष पवित्र माना जाता था और १६वीं शताब्दी के अन्त तक तीन वाचनों की प्रथा सुस्थिर हो चुकी थी।"[1] यह निस्सन्देह एक समझदारीपूर्ण व्यवहार है किन्तु यह एक प्रथामात्र है, वैधिक आवश्यकता नही है।

विधायी प्रक्रिया
(Legislative Procedure)

विधेयकों के प्रकार (Kinds of Bills)—इंग्लैण्ड मे विधेयको का विभाजन दो भेदों के अनुसार किया जाता है। प्रथमत:, विधेयकों की प्रकृति के अनुरूप उनको दो भागो मे बाँटा जाता है, सार्वजनिक विधेयक (Public Bills) और प्राइवेट विधेयक (Private Bills)। सार्वजनिक विधेयक सभी के ऊपर लागू होते हैं और उनके विषय सर्वसाधारण अथवा समस्त जनसंख्या के कतिपय भाग पर भी लागू हो सकते हैं। इसके विपरीत प्राइवेट विधेयक वे है जो किसी स्थान-विशेष या जनता के किसी वर्ग-विशेष से सम्बन्ध रखते हैं। प्राइवेट विधेयकों का सम्बन्ध इस प्रकार के वैधिक उपबन्धों से है जो किसी व्यक्ति-विशेष, निगम (Corporations), समुदाय (Group), मण्डली अथवा लोकसमाज (Community) पर लागू होते हैं। प्राइवेट विधेयकों का सम्बन्ध सर्वसाधारण से नहीं होता और उनके पास करने की विधि सार्वजनिक विधेयकों के पास करने की विधि से भिन्न प्रकार की है।

इसके बाद सार्वजनिक विधेयकों को पुनः औपचारिक विभेद के अनुसार सरकारी विधेयकों (Government Bills) और प्राइवेट सदस्य के विधेयकों

1. Taylor, E.: The House of Commons at Work, p. 131

(Private Members Bills) में विभाजित किया जाता है। सरकारी विधेयक तथा प्राइवेट सदस्य के विधेयक दोनों ही सार्वजनिक विधेयक हैं किन्तु उन दोनों के प्रारम्भ अथवा उद्‌भव (Origin) मे भेद है। सरकारी विधेयक, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है, एक सार्वजनिक विधेयक होता है जिसको शासन की ओर से कोई मन्त्री पुर.स्थापित करता है। किन्तु प्राइवेट सदस्य का विधेयक ऐसा सार्वजनिक विधेयक होता है जिसको ससद् का कोई ऐसा सदस्य पुरःस्थापित करता है जिसका सम्बन्ध शासन से नही होता। सार्वजनिक विधेयकों की संख्या जो विधि बन जाते है वर्ष भर में ६० से लेकर १५० हो जाती है।

सार्वजनिक विधेयक अथवा सरकारी विधेयक (Public Bills or Government Bills)—किसी सार्वजनिक विधेयक के विधि बनने से पूर्व उसको लोक-सभा में तीन वाचन अथवा पांच स्तरों को पार करना पड़ता है। वे पाँच स्तर (Stages) निम्नलिखित है—(१) पुरःस्थापना और प्रथम वाचन, (२) द्वितीय वाचन, (३) समिति स्तर (The Committee Stage), (४) प्रतिवेदन स्तर (Report Stage), एवं (५) तृतीय वाचन (Third Reading)। जब कोई विधेयक लोक-सभा में प्रारम्भ होता है, तो सबसे पहले मन्त्रिमण्डल उसके प्रस्ताव पर विचार करता है। यदि मन्त्रिमण्डल प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है, तो पार्लियामेंटरी कौंसिल के दफ्तर में एक ज्ञापन भेज दिया जाता है जिसमें विधेयक की व्याप्ति के बारे में सामान्य विवरण रहता है। पार्लियामेंटरी कौंसिल के दफ्तर में कुशल वकील ज्ञापन में बताई गई विधि के अनुसार विधेयक का प्रारूप तैयार करते है। फिर, प्रारूप विधेयक अनुमोदन के लिए मन्त्रिमण्डल के सामने आता है और मन्त्रिमण्डल विधेयक से प्रभावित होने वाले हितों के साथ विचार-विमर्श करता है।

(१) प्रथम वाचन (First Reading)—जब किसी विधेयक को मन्त्रि-मण्डल अन्तिम रूप से स्वीकार कर लेता है, तो सम्बन्धित मन्त्री उक्त विधेयक को पुर.स्थापित करता है। विधेयक को पुरःस्थापित करने के दो उपाय है। कोई विधेयक, प्रस्ताव (Motion) के रूप में भी पुरःस्थापित किया जा सकता है और किसी विधेयक का नोटिस भी दिया जा सकता है। जहाँ तक सरकारी विधेयकों का सम्बन्ध है, प्रस्ताव अथवा Motion के रूप में उन्हें पुरःस्थापित नहीं किया जाता। विधेयक के पुनःस्थापन के लिए सामान्यतः लिखित नोटिस ही दिया जाता है। नोटिस के नियत दिन पुरःस्थापक आता है और विधेयक (Dummy Bill) को क्लर्क की मेज पर रख देता है। लोक-सभा का क्लर्क (Clerk of Bill House) उक्त विधेयक के शीर्षक को खूब जोर से पढ़ता है। इस विधेयक को डमी विधेयक (Dummy Bill) कहते हैं और उसमें विधेयक के शीर्षक के अतिरिक्त कुछ नही होता। यह एक स्टेशनरी का विशेष फार्म मात्र होता है जो सरकार से मिलता है, और उस पर केवल विधेयक का शीर्षक मात्र लिखा रहता है। इस स्थिति में कोई वाद-विवाद नहीं होता और इस प्रकार प्रथम वाचन समाप्त हो जाता है। विधेयक ज्योंही तैयार हो जाता है, उसे छाप दिया जाता है और छपी हुई विधेयक की प्रतियां सदस्यों को पढ़ने के लिए मिल

जाती है। इस प्रकार प्रथम वाचन समाप्त समझा जाता है और उसके द्वितीय वाचन की तैयारी होती है।

(२) **द्वितीय वाचन** (Second Reading)—द्वितीय वाचन, विधेयक के जीवन का निर्णायक स्तर होता है और स्वभावतः उसके जीवन का भी द्वितीय स्तर होता है। सदन की आज्ञा से एक दिन पहले से ही निश्चित कर दिया जाता है। उस दिन उक्त विधेयक का पुरःस्थापक मन्त्री उठता है और प्रस्तावित करता है कि विधेयक पर द्वितीय वाचन किया जाए। उस समय मन्त्री विधेयक के सिद्धान्तों पर पूर्ण प्रकाश डालता है अर्थात् विधेयक की भाषा समझाता है, उसकी सविस्तार व्याख्या करता है और उसका स्पष्टीकरण करता है। वह यह भी समझाने का प्रयत्न करता है कि उक्त विधेयक की क्योंकर आवश्यकता पड़ी और यह किस प्रकार उस आवश्यकता की पूर्ति करेगा। इसी प्रकार उक्त विधेयक के अन्य समर्थक भी प्रकाश डालेंगे। इसके विपरीत विरोधी दल के सदस्य उस विधेयक की आलोचना करेंगे और वे प्राय कठोर संशोधन प्रस्ताव उपस्थित करेंगे जिसमे चाहेंगे कि "इस दिन के ठीक ६ मास बाद यही विधेयक द्वितीय वाचन के लिए पुनः सदन के सम्मुख उपस्थित किया जाए।" वाद-विवाद के अन्त मे संशोधन-प्रस्ताव पर सदन मे मत लिए जाते हैं। यदि सरकार की हार हो जाती है तो उसको त्याग-पत्र देना पड़ता है। किन्तु अपने बहुमत के कारण सरकार की हार कभी नही होती, चाहे विरोधी दल द्वितीय वाचन के विरुद्ध मत दे।

इस सम्बन्ध मे यह याद रखना चाहिए कि द्वितीय वाचन मे न तो विस्तारपूर्वक वाद-विवाद होता है, न संशोधन उपस्थित किए जाते हैं, और न विधेयक की एक-एक धारा पर विचार होता है और न धाराओं पर मत ही लिए जाते हैं। द्वितीय वाचन मे समस्त विधेयक पर वाद-विवाद होता है और विधेयक पर संशोधन उपस्थित नहीं किए जाते, बल्कि इस प्रस्ताव पर संशोधन उपस्थित किया जाता है कि "विधेयक का द्वितीय वाचन कर लिया जाए।" इसका उद्देश्य यह होता है या तो समस्त विधेयक को स्वीकार कर लिया जाए या उसे अर्थात् समस्त विधेयक को अस्वीकार कर दिया जाए। इस प्रकार इंग्लैण्ड का द्वितीय वाचन यूरोपीय महाद्वीप मे प्रचलित साधारण वाद-विवाद (Discussion Generale) के समान है जो विशिष्ट अनुच्छेद के पास होने से पूर्व की प्रक्रिया है।

(३) **समिति स्तर** (Committee stage)—द्वितीय वाचन समाप्त होने के उपरान्त साधारण सार्वजनिक विधेयक[1] यन्त्रवत् स्थायी समितियों के पास चले जाते हैं [illegible] कोई [illegible] द्वितीय वाचन के तुरन्त बाद उठ खड़ा होकर यह निवेदन करे [illegible] विधेयक को समस्त सदन की समिति (Committee of the Whole House) के पास या प्रवर समिति (Select Committee) के पास या [illegible]

1. [illegible] विधेयक [illegible] हैं जिनका सम्बन्ध करारोपण (Taxes), [illegible] (Consolidated Fund) और [illegible] से है।

और लोक-सभा की संयुक्त समिति (Joint Committee of Lords and Commons) के पास भेज दिया जाए, उस स्थिति में वह विधेयक स्थायी समिति के पास न जाकर अन्यत्र उपर्युक्त समिति के भेजा पास जायगा। जिन सार्वजनिक विधेयकों को मन्त्रिमण्डल महत्वपूर्ण समझता है, उनको प्राय. समस्त सदन की समिति के पास विचारार्थ भेजा जाता है।

समिति स्तर में विधेयक के ऊपर विस्तारपूर्वक वाद-विवाद होता है। विधेयक की प्रत्येक धारा पर विचार होता है और एक-एक करके धाराओं को स्वीकार करना होता है, या धारा प्रतिधारा पर संशोधन उपस्थित किये जा सकते हैं या उनको वाद-विवाद के फलस्वरूप भी और बिना वाद-विवाद के भी अस्वीकृत किया जा सकता है। इस स्तर में वाद-विवाद प्राय· अत्यन्त नियन्त्रित एव प्रवर्तक (Restrained and Persuasive) होता है। समिति स्तर में मन्त्री प्रायः शान्त रहता है और कम बोलता है, आलोचकों की वक्तृताएँ भी प्रायः नीरस (Dry) और व्यावहारिक (Business-like) होती है। यह याद रखना चाहिए कि समिति-स्तर मे शासन विधेयक की पूरी रक्षा करता है और प्रभावी नेतृत्व द्वारा उसको समिति-स्तर में से सफलतापूर्वक निकाल ले जाता है।

जहाँ कोई विधेयक द्वितीय वाचन मे पारित कर दिया गया, तो प्रायः ऐसा माना जाता है कि उसमे निहित सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया गया है और फिर किसी विधेयक के सम्बन्ध में समिति स्तर मे ऐसा संशोधन उपस्थित करना अवैध माना जाता है जिसके द्वारा विधेयक में आमूल परिवर्तन करना अभीष्ट हो। उसी प्रकार ऐसे संशोधन जो विधेयक के विषय से असगत है, अथवा ऐसे संशोधन जिनका विधेयक के उद्देश्यो से सामंजस्य नही होता, उनको भी नियम विरुद्ध ठहरा दिया जाता है। इसके अतिरिक्त विधेयक के सम्बन्ध में जो बातें समिति स्तर में मान ली गई हैं, उनके विरुद्ध कोई संशोधन तैयार नही किया जा सकता; और संशोधन न तो निरर्थक या क्षुद्र होना चाहिए और न अस्पष्ट और हास्यास्पद होना चाहिए।

समितियों के प्रकार
(Kinds of Committees)

यद्यपि समिति प्रथा शताब्दियों से चली आ रही है तथापि वह अपने वर्तमान रूप मे १८८२ में उत्पन्न हुई थी। इस प्रथा की उत्पत्ति मे मूल भाव यह है कि सदन का कार्य-भार बहुत अधिक होता है और उसे विधान-निर्माण की ओर ध्यान देने का पर्याप्त अवसर नही होता। समिति सदन के कार्य-भार को हल्का करती है। इस समय इंग्लैण्ड मे ५ प्रकार की समितियाँ हैं—(क) सम्पूर्ण सदन की समितियाँ; (ख) स्थायी समितियाँ; (ग) प्रवर समितियाँ; (घ) गैर-सरकारी विधेयक समितियाँ; और (ङ) संयुक्त समितियाँ।

(क) सम्पूर्ण सदन की समिति (Committee of the Whole House)—इस समिति में लोक-सभा के समस्त सदस्य सम्मिलित होते हैं। किन्तु सम्पूर्ण सदन में और सम्पूर्ण सदन की समिति में भेद है। इस समिति में स्पीकर (Speaker) अपना आसन खाली कर देता है। उसका आसन एक ऐसे सभापति द्वारा ग्रहण किया जाता है जो या तो समिति का चेयरमैन होता है अथवा उसकी अनुपस्थिति में डिप्टी चेयरमैन होता है। गदा (Mace), जो स्पीकर की मर्यादा की द्योतक होती है, चेयरमैन की मेज के नीचे तब तक रखी रहती है जब तक कि समिति की कार्यवाही चालू रहे। समिति में कार्यवाही के नियम शिथिल हो जाते हैं। किसी प्रस्ताव के अनुमोदन की आवश्यकता नहीं होती और सदस्यों को बोलने की छूट होती है कि वे एक ही प्रश्न पर जितनी बार चाहे बोल सकते हैं, और किसी ऐसे प्रस्ताव की आज्ञा नहीं दी जा सकती जिसके द्वारा वाद-विवाद को सीमित करना अभीष्ट हो।

सम्पूर्ण सदन की समितियाँ चार निश्चित उद्देश्यों को लेकर कार्य करती हैं जो इस प्रकार हैं—(१) किसी विधेयक के सम्बन्ध में सम्पूर्ण सदन की साधारण समिति; (२) वित्तीय विधेयक के सम्बन्ध में सम्पूर्ण सदन की समिति; (३) सप्लाई के सम्बन्ध में सम्पूर्ण सदन की समिति; और (४) अर्थोपाय समिति। जब किसी समिति का कार्य समाप्त हो जाता है तो वह उठ जाती है। इसके बाद समिति सदन का या लोक-सभा का स्वरूप धारण कर लेती है, स्पीकर पुनः अपने आसन पर आ विराजता है, और उसकी गदा पुनः मेज पर रख दी जाती है। इसके उपरान्त समस्त सदन की समिति का चेयरमैन सदन के स्पीकर की मेज के निकट आता है, और प्रार्थना करता है, "मैं निवेदन करता हूँ कि समिति ने अपने कार्य में प्रगति की है और आप पुनः समिति को अपना कार्य करने की आज्ञा प्रदान करें।" इस पर स्पीकर पूछता है कि अब समिति अपना कार्य कब आरम्भ करेगी। उस प्रश्न का उत्तर शासन का सचेतक (Whip) देता है। तब स्पीकर कोई दिन नियत कर देता है और यह सदन के आदेश के रूप में प्रस्थापित होता है। यह याद रखना चाहिए कि कोई समिति स्थायी रूप से सदा के लिए नियुक्त नहीं की जाती। समिति *एक अस्थायी निकाय होती है, जो, आवश्यकतानुसार किसी भी दिन नियुक्त की जा सकती है।*

किसी विधेयक के सम्बन्ध में सम्पूर्ण सदन की समिति प्रायः कभी नहीं बैठती। यदि कभी ऐसा समझा जाता है कि किसी विधेयक को सम्पूर्ण सदन की समिति में भेजना आवश्यक है, तो इस आशय का प्रस्ताव विधेयक के द्वितीय वाचन के तुरन्त बाद आना चाहिए। अन्यथा वह विधेयक स्वयंमेव किसी स्थायी समिति (Standing Committee) के पास चला जायगा। सम्भरण तथा अर्थोपाय समितियाँ (Committees of Supply and of Ways and Means) भी सम्पूर्ण सदन की समितियाँ है और ये सदन के वित्तीय कर्त्तव्यों को निभाती हैं।

(ख) स्थायी समितियाँ (Standing Committees)—प्रत्येक विधेयक द्वितीय वाचन के उपरान्त किसी न किसी समिति के पास चला जाता है। यदि

विधेयक धन विधेयक नहीं है, तो वह स्वतः ही किसी स्थायी समिति के पास चला जाता है। यदि सदन संकल्प कर दे, तो वह प्रवर समिति अथवा सम्पूर्ण सदन की समिति के पास भी जा सकता है। जो विधेयक संवैधानिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं, वे सम्पूर्ण सदन की समिति के पास जाते हैं और जिनमें विशेषज्ञों की राय की आवश्यकता होती है, वे प्रवर समिति के पास।

अधिकांश विधेयक स्थायी समितियों के पास ही जाते है। शुरू में दो स्थायी समितियाँ थी। १९०७ में उनकी संख्या ४ और १९१९ मे ६ हो गई। अब यथा-आवश्यकता स्थायी समितियों को नियुक्त किया जा सकता है। समितियों के नाम विषय-वस्तु के आधार पर, जैसे शिक्षा (Education), स्वास्थ्य (Health) आदि नहीं होते बल्कि उनका नामकरण वर्णमाला क्रम से होता है। ए, बी, सी, डी, इत्यादि नाम रखा जाता है।

स्थायी समितियों की नियुक्ति सत्र के प्रारम्भ में की जाती है और वे संसद् के सत्रावसान तक ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। प्रत्येक समिति मे बीस से लेकर पचास तक सदस्य होते है और एक चयन करने वाली समिति (Committee of Selection) इन समितियों को नामांकित करती है। सभी राजनीतिक दलों के सदस्य इन समितियों में उसी अनुपात मे लिये जाते है जिस अनुपात में सदन में उनकी संख्या होती है। इसके अतिरिक्त लगभग २० विशेषज्ञ लिये जाते हैं (विशेषज्ञ ३० से अधिक नहीं होने चाहिएँ)। विशेषज्ञ वे सदस्य होते है जो विवादीय विषय में विशेष जानकारी अथवा रुचि रखते हैं अथवा जो उस विषय पर विचार करने के योग्य समझे जाते हैं।

सदन का स्पीकर, स्थायी समिति के लिए सभापति का चुनाव उस सभापतियों की सूचि मे से करता है जिनका नामांकन चयन करने वाली समिति (Committee of Selection) करती है। इस सूचि में कम से कम दस नाम अवश्य होते हैं। स्थायी समिति के चेयरमैन अथवा सभापति की वही शक्तियाँ हैं जो अर्थोपाय समिति (Committee of Ways and Means) के चेयरमैन की होती हैं। साथ ही उसको यह भी अधिकार होता है कि वह वाद-विवाद की समाप्ति का प्रस्ताव स्वीकार कर ले और किसी मुखबंध (Guillotine) उपाय द्वारा वाद-विवाद बन्द कर दे।

साधारण स्थायी समितियों के अतिरिक्त एक अन्य स्थायी समिति होती है जो स्कॉटलैण्ड के अधिनियमों (Scottish Bills) के सम्बन्ध मे होती है। यह केवल उन्हीं विधेयकों पर विचार करती है जिनका सम्बन्ध स्कॉटलैंड (Scotland) से होता है। यह समिति अन्य समितियों से आकार मे तीन गुनी होती है और इसमें कम-से-कम दस विशेषज्ञ होने चाहिएँ और अधिक-से-अधिक पन्द्रह। इसके अतिरिक्त एक ग्रांड समिति भी होती है। यह भी स्कॉटलैंड के मामलों पर ही विचार करती है। इसी प्रकार वेल्स और मन्मथशायर (Wales and Monmouthshire) के निर्वा

क्षेत्रों के लिए ३६ सदस्यों वाली वेल्श ग्रांड समिति (Welsh Grand Committee) भी होती है।

(ग) प्रवर समितियाँ (Select Committees)—ये समितियाँ उन विधेयकों के लिए बनाई जाती है जिनमें कोई नए सिद्धान्त अन्तर्भूत होते हैं। अथवा ये समितियाँ ऐसे विषयों के बारे मे बनाई जाती हैं जो विधेयक के रूप में कभी सदन के समक्ष उपस्थित नही हुए है। सदन का कोई भी सदस्य प्रस्ताव रख सकता है कि प्रवर समिति की नियुक्ति होनी चाहिए। लोक-सभा के नियमानुकुल किसी प्रवर समिति मे बिना विशेष प्रस्ताव के पन्द्रह से अधिक सदस्य नही होने चाहिएँ। इस प्रकार की समिति में सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ ही होते हैं जो विचारार्थ विषय में पूर्ण प्रवीणता रखते है। जो विधेयक इन समितियों के सम्मुख विचारार्थ आते हैं उनका वे परीक्षण करती है, साक्ष्य एकत्रित करती है, उन सूचनाओं का परीक्षण करती है, सगत तथ्य छाँटती है, उनके विवेकपूर्ण परिणाम निकालता हैं और फिर उन पर अपनी रिपोर्ट तैयार करके सदन के समक्ष उपस्थित करती हैं। रिपोर्ट के देने के बाद प्रवर समिति समाप्त हो जाती है। प्रवर समिति के निर्णय सदन के लिए आवश्यकत: मान्य नही है। प्रवर समिति तो केवल सदन के समक्ष किसी विषय पर सिफारिश मात्र करती है।

(घ) अधिवेशन सम्बन्धी प्रवर-समितियाँ (Sessional Select Committees)—एतदर्थ प्रवर समितियां (ad hoc Select Committees) के अतिरिक्त, कतिपय वर्षभर काम करने वाली प्रवर समितियां होती है जो लगभग स्थायी समितियाँ होती है। इन समितियों के सदस्य सदन के पूर्ण अधिवेशन के लिए नियुक्त किए जाते हैं और इसीलिए इन समितियो को अधिवेशन सम्बन्धी प्रवर समितियाँ कहते है। इनमे से कुछ समितियो के नाम निम्नलिखित है—प्रवरण-समिति (The Selection Committee), लोक-लेखा-समिति (The Committee of Public Accounts), स्थायी आदेश समिति (The Standing Order Committee), विशेषाधिकार-सम्बन्धी-समिति (The Committee of Privileges), परिनियत-विलेख-प्रवर-समिति (The Select Committee on Statutory Instruments)।

(ङ) संयुक्त-समितियाँ (Joint Committees)—कभी-कभी लॉर्ड-सभा और लोक-सभा दोनों सदनो की संयुक्त समितियो की भी नियुक्ति हो जाती है जो ऐसे विषय पर विचार करती है और अनुसन्धान करती है जिसके बारे मे दोनों सदनो में उत्तेजना पाई जाती है। किन्तु ब्रिटिश ससदीय जीवन मे इसकी प्रथा अत्यन्त कम है। सम्भवत: इस सम्बन्ध मे सबसे मशहूर सयुक्त समिति वह थी जो १९३३ मे भारतीय संविधान सुधारों के सम्बन्ध मे बनाई गई थी।

(च) प्राइवेट विधेयकों की समितियां (Private Bills Commitees)—ये समितियाँ केवल प्राइवेट विधेयकों का परीक्षण करती है। प्रवरण समिति (Committee of Selection) इन समितियों की नियुक्ति करती है। ये समितियाँ

प्राय: उसी प्रकार अपना कार्य करती है जिस प्रकार कि प्रवर समितियाँ करती है। इनमें से प्रत्येक के सदस्यों की संख्या चार होती है। चार सदस्यो में चेयरमैन सम्मिलित होता है। प्रवर समिति (Committee of Selection) के द्वारा इस समिति के चेयरमैन का नामांकन होता है। इसको न केवल एक मत का अधिकार होता है, बल्कि निर्णायक मत (Casting Vote) का भी अधिकार होता है। इस प्रकार का अधिकार साधारण प्रवर समिति के चेयरमैन को प्राप्त नही होता।

(४) प्रतिवेदन स्तर (Report Stage)—इसके बाद रिपोर्ट करने का स्तर अथवा प्रतिवेदन स्तर आता है। यदि किसी विधेयक को समितियों मे संशोधित किया गया है तो उसको प्रतिवेदन स्तर (Report Stage) पार करना पड़ता है। यदि किसी विधेयक पर सम्पूर्ण सदन की समिति मे विचार हो चुकता है, तो उसका प्रतिवेदन स्तर केवल उपचार मात्र होता है। किन्तु यदि उस विधेयक पर अन्य समितियों (Committee upstairs) मे विचार हुआ है, तो प्रतिवेदन स्तर मे उक्त विधेयक पर वाद-विवाद हो सकता है। इस स्तर मे भी संशोधन उपस्थित किए जा सकते है। सरकार भी इस स्तर में सशोधनों का सूत्रपात कर सकती है यदि उसने प्रारम्भिक स्तरो में ऐसा वचन दिया हो किन्तु जिनका प्रारूप तैयार करने का अवसर न मिला हो अथवा जिनको तैयार तो कर लिया हो किन्तु जिनको अभी तक उपस्थित न किया गया हो अथवा ऐसे संशोधन भी प्रतिवेदन स्तर मे उपस्थित किए जाते है जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण समिति स्तर पर उपस्थित नही किए गए हों। किन्तु अधिकतर तो, सदन, प्रतिवेदन स्तर से सीधे तृतीय वाचन के स्तर पर उसी दिन आ जाता है।

(५) तृतीय वाचन (Third Reading)—सदन में किसी विधेयक का अन्तिम स्तर तृतीय वाचन होता है। तृतीय वाचन के नियम मुख्यत: वही हैं जो द्वितीय वाचन के हैं। सिद्धान्ततः तृतीय वाचन में भी वाद-विवाद होना चाहिए। तृतीय वाचन के स्तर में वाद-विवाद की व्यवस्था का आशय यह है कि "जहाँ विधेयक तृतीय वाचन मे सिद्धान्ततः स्वीकार किया जा चुका है; जहाँ समिति स्तर मे उसके स्वरूप में आवश्यक हेर-फेर हो चुके है, वहीं सदन को तृतीय वाचन मे पुनः अवसर मिल जाए कि संशोधित विधेयक को एक बार अन्तिम रूप से और देख लिया जाए और उसकी परीक्षा कर ली जाए और तभी उसको अन्तिम स्वीकृति प्रदान की जाए।" इस स्तर पर केवल कुछ शब्दों के हेर-फेर के अलावा और किसी प्रकार के संशोधन का प्रस्ताव नही किया जा सकता। जब यह प्रस्ताव कि विधेयक का तृतीय वाचन कर लिया जाए, स्वीकृत हो जाता है, तो विधेयक अन्तिम रूप से स्वीकृत एवं पारित मान लिया जाता है, और इस प्रकार विधेयक का लोक-सभा में जीवन-वृत्त समाप्त समझा जाता है।

विधेयक संसदीय अधिनियम के रूप में (A Bill becomes an Act of Parliament)—इसके पश्चात् लोक-सभा को विधेयक के सम्बन्ध में कुछ भी करना-

धरना शेष नहीं रहता। अब विधेयक लॉर्ड-सभा मे जाता है। वहाँ पर भी वह ऊपर वर्णित समस्त स्तरों को पार करता है। यदि लॉर्ड-सभा उक्त विधेयक पर बिना कोई संशोधन उपस्थित किए उसे स्वीकार कर लेती है, तो वह पार्लियामेंट या संसद् के अधिनियम (Act) का स्वरूप धारण कर लेता है किन्तु उससे पूर्व राजा की औपचारिक स्वीकृति उसको लेनी आवश्यक होती है जो मिल ही जाती है। यह भी हो सकता है कि लॉर्ड-सभा उक्त विधेयक में कोई संशोधन कर दे अथवा उसे बिल्कुल अस्वीकृत कर दे। किन्तु लॉर्ड-सभा द्वारा अस्वीकृति देने पर १९११ का संसदीय अधिनियम (Parliament Act of 1911), जिसको १९४९ में संशोधित किया गया था, लागू हो जाता है। इस अधिनियम के बारे में पहले ही बताया जा चुका है कि यदि कोई संशोधन उपस्थित किए गए हैं, तो उन संशोधनों का लोक-सभा द्वारा स्वीकार किया जाना आवश्यक है। एक दिन, उन संशोधनों के विचारार्थ निश्चित किया जाता है और उस दिन स्पीकर कहता है, "अब लॉर्ड-सभा के संशोधनों पर विचार होना है।" ज्यों-ज्यों क्लर्क (Clerk) द्वारा प्रत्येक संशोधन पढ़ा जाता है, विधेयक से सम्बन्धित मन्त्री उठता है और प्रस्ताव करता है, "लॉर्ड-सभा लोक-सभा द्वारा सुझाए गए संशोधन को स्वीकार करती है अथवा लोक-सभा लॉर्ड-सभा द्वारा सुझाए गए संशोधन को स्वीकार नहीं कर सकती।" यदि लॉर्ड-सभा के किसी संशोधन पर लोक-सभा अस्वीकृति देती है तो एक समिति नियुक्त की जाती है जो उक्त संशोधन को अस्वीकार करने के कारण बताती है। इसके उपरान्त दोनों सदनों में लिखा-पढ़ी द्वारा विचार-विनिमय होता है। यदि किसी प्रकार दोनों सदनों के मत-भेद दूर नहीं हो पाते और दोनों ही सदन अपनी-अपनी बातों पर दृढ़ रहते हैं, उस स्थिति में विधेयक अस्वीकृत समझा जाता है; हाँ! यदि लोक-सभा १९४९ में संशोधित १९११ के संसदीय अधिनियम (Parliament Act of 1911, as amended in 1949) का सहारा लेकर कार्यवाही करे तभी विधेयक की रक्षा हो सकती है। दोनों सदनों द्वारा पास होने पर विधेयक सम्राट् के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है और उनकी स्वीकृति प्राप्त होने पर वह अधिनियम बन जाता है।

प्राइवेट सदस्यों के विधेयक (Private Members' Bills)—प्राइवेट सदस्यों द्वारा सार्वजनिक विधेयकों की पुरःस्थापना की प्रक्रिया कुछ भिन्न है। होता यह है कि अधिवेशन प्रारम्भ होने के पूर्व ही प्राइवेट सदस्य अपने विधेयकों को संसद् मे पुरःस्थापना के हेतु भेज देते है। तब उस पर आवश्यक प्रक्रिया सम्बन्धी मन्त्रणा कर ली जाती है और मत स्थिर कर लिये जाते हैं। प्राइवेट सदस्यों के विधेयक केवल शुक्रवार को पुरःस्थापित किए जा सकते है क्योंकि सप्ताह के प्रारम्भ के दिन सरकारी विधेयकों के लिए निश्चित रहते हैं। जिन सदस्यों को शुक्रवार को अपना विधेयक पुरःस्थापित करने की स्वीकृति मिल जाती है, वे लिखकर अपने विधेयक का नोटिस देते है। विधेयक के पुरःस्थापित करने का एक और भी नियम है जिसको 'दस मिनट का नियम' (Ten Minutes Rule) कहते हैं। इस प्रकार विधेयक के

पुरःस्थापक को दस मिनट का समय मिल जाता है जिसमें वह उक्त विधेयक के सम्बन्ध में छोटी सी वक्तृता उसके पक्ष मे दे । इसके बाद उसी प्रकार दस मिनट का समय किसी ऐसे सदस्य को दिया जाएगा जो उसके विरोध में छोटी-सी वक्तृता देना चाहे । इसके बाद स्पीकर सदन से प्रश्न करेगा कि उक्त विधेयक को पुरःस्थापित करने दिया जाए या नहीं । यदि प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है, तो विधेयक पुरःस्थापित किया जाता है और उसका प्रथम वाचन होता है ।

प्राइवेट सदस्यों के विधेयक को कतिपय कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं । प्रथमतः, इसको अत्यल्प समय दिया जाता है । समस्त प्राइवेट सदस्यों के सभी विधेयकों को समस्त स्तर पूरे अधिवेशन के केवल दस दिन में पार कर लेने चाहिएँ; द्वितीयतः मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की अपेक्षा प्राइवेट सदस्यों को एक अन्य असुविधा का सामना करना पड़ता है, जो विधेयक के प्रारूप को तैयार करने से सम्बन्ध रखती है । अन्ततः यदि प्राइवेट सदस्य का विधेयक उचित शब्दावली में लिख भी लिया गया, तो भी उसका पास होना कई संयोगों पर निर्भर है । यदि शासन को उक्त विधेयक पर आपत्ति है, तो उसके पास होने की कोई आशा नहीं की जा सकती । यदि उक्त विधेयक की ओर से शासन उदासीन है, तो प्रक्रिया सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ सामने आ सकती हैं । यदि शासन निश्चित रूप से उस विधेयक के पक्ष मे है और उस पर अपने विधेयक की तरह सहानुभूतिपूर्ण सहायता देने को तैयार है, तो निश्चिततः वह शासन के विधेयक के रूप में पास हो जाएगा । "किन्तु इस सम्बन्ध में यह बताना आवश्यक है कि यदि प्राइवेट सदस्य लोकप्रिय है, अथवा कम-से-कम अ-प्रिय नहीं है, और यदि उक्त प्राइवेट सदस्य संसदीय प्रक्रिया के सम्बन्ध में पटु है तो उसके विधेयक के विधि रूप में पास हो जाने की पर्याप्त आशा हो सकती है ।"

इन कतिपय कठिनाइयों को छोड़ते हुए प्राइवेट सदस्यों के विधेयक भी उसी प्रकार समस्त स्तर पार करते हैं जिस प्रकार कि वे सार्वजनिक विधेयक जिनको मन्त्रिमण्डल की ओर से पुरःस्थापित किया जाता है, पार करते हैं ।

प्राइवेट विधेयक (Private Bills)—हम पहले ही विचार कर चुके हैं कि प्राइवेट विधेयक, प्राइवेट सदस्यों के विधेयकों से भिन्न होते हैं । प्राइवेट विधेयक एक ऐसा विधेयक होता है जिसके द्वारा कतिपय वर्गों के विशिष्ट हित साधन की कामना की जाती है किन्तु इसके विपरीत अधिकतर सार्वजनिक विधेयकों का उद्देश्य यह होता है कि सम्पूर्ण देश का, सभी जातियों और प्रजातियों का हित साधन हो । प्राइवेट विधेयक भी इन अर्थों मे सार्वजनिक विधेयकों के समान होते हैं कि इनका भी अधिकतर काम इनके संसद् में पहुँचने से पूर्व ही हो जाता है । जिन लोगों पर उक्त प्राइवेट विधेयक का प्रभाव पड़ने को होता है, उनमें मन्त्रणा, सम्मेलन और वाद-विवाद पहले ही हो लेता है । इस प्रकार के विधेयकों का विरोध शान्त करने का हर सम्भव प्रयत्न किया जाता है, उसके बाद ही विधेयक को उपस्थित किया जाता, ताकि उन समस्त व्ययो और कठिनाइयों से बचा जा सके जिनसे सभी

भ्रान्त होना पड़ता है और यदि विवादग्रस्त विधेयक (Contested Bills) पुरःस्थापित कर दिए जाते है तो अपार धन हानि और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

जो प्राइवेट सदस्य, प्राइवेट विधेयक को पुरःस्थापित करना चाहते हैं, वे इसको प्रार्थना-पत्र या आवेदन की शक्ल में लोक-सभा के प्राइवेट विधेयक कार्यालय में उपस्थित करते है। ये प्राइवेट सदस्य संसद् के सदस्य नहीं होते, अपितु बाहर के प्राइवेट लोग होते है अथवा बाहरी निकायों (bodies) से सम्बन्धित होते हैं और जो ससदीय एजेण्टो के माध्यम से अपना काम चलाते है। इसके उपरान्त वे एजेण्ट, प्राइवेट विधेयकों के प्रार्थना-पत्रो के निरीक्षकों के सम्मुख उपस्थित होते है और उन्हें सिद्ध करना पड़ता है कि उक्त सम्बन्ध मे उन्होने समस्त स्थायी आदेशों का पालन किया है जिनका सम्बन्ध समस्त सर्वसाधारण एवं उन लोगों को जानकारी कराना है जिनके हितो पर उक्त विधेयक का प्रभाव पड़ सकता है। ये निरीक्षकवृन्द उक्त विधेयक के सम्बन्ध में ससद् के दोनों सदनों मे एक साथ रिपोर्ट करते है। यदि निरीक्षको की रिपोर्ट उक्त विधेयक के हित में होती है, तो ऐसे विधेयकों को किसी भी सदन में उन तारीखों मे पुरःस्थापित कर दिया जाता है जिनकी स्थायी आदेशों मे आज्ञा है और इस प्रकार प्राइवेट विधेयकों का प्रथम वाचन होता है।

प्राइवेट विधेयकों की पुरःस्थापना और प्रथम वाचन केवल उक्त विधेयक का रजिस्टर मे दर्ज हो जाना मात्र होता है। संसद् के सदस्यों को प्राइवेट विधेयक के सम्बन्ध में तब तक कुछ नही करना होता जब तक कि उक्त विधेयक द्वितीय वाचन के लिए ससद् के किसी सदन में उपस्थित नहीं किया जाता। प्राइवेट विधेयक का द्वितीय वाचन भी औपचारिकता मात्र है; हाँ यदि किसी विधेयक मे कोई नया महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निहित है, तो दूसरी बात है। वास्तविक विचार-विनिमय विधेयक के समिति-स्तर पर होता है। जिन प्राइवेट विधेयको पर विरोध प्रकट किया जाता है, उनको साधारण प्राइवेट विधेयक समिति (Ordinary Private Bill Committee) अथवा 'प्राइवेट बिल' (Private Bill) नाम की समिति के पास भेज दिया जाता है। इस समिति के पास प्राइवेट विधेयक ही आते है। इस समिति में लॉर्ड-सभा मे से चुने हुए ४ सदस्य होते है और इसी प्रकार लोक-सभा मे से इस समिति के लिए सदस्य प्रवरण समिति (Committee of Selection) के द्वारा चुने जाते है। जो सदस्य इस समिति के लिए चुने जाते है उनको लिखकर ऐसा देना पड़ता है कि वे प्रस्तावित विधेयक में व्यक्तिगत रूप से कोई रुचि नहीं रखते, न उनके निर्वाचकों की उक्त विधेयक में कोई रुचि है।

इस विधेयक के समिति-स्तर में अर्ध-न्यायिक प्रक्रिया स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। प्राइवेट विधेयक की समिति को यह देखना पड़ता है कि विधेयक न्याययुक्त है अथवा नही, साथ ही यह भी देखना पड़ता है कि उक्त विधेयक के पुरःस्थापकों (Promoters) को उसकी आवश्यकता है और यदि है तो कहाँ तक; और यह भी

का करना पड़ता है कि क्या केवल उक्त विधेयक के द्वारा ही उक्त विधेयक के पुरः-स्थापकों का हित साधन हो सकता है, अथवा कोई अन्य उपाय भी हो सकता है। समिति को यह भी देखना पड़ता है कि क्या उक्त विधेयक के अधिनियम के रूप में पास होने से सर्वसाधारण की कुछ भलाई होगी। और समिति को सबसे अधिक यह भी निश्चित करना पड़ता है कि उक्त विधेयक के विरोधी गण को जो भय हैं वे कहाँ तक ठीक हैं। जो लोग विधेयक के समर्थक होते हैं वे समिति के सामने उपस्थित होते हैं। और उसका स्पष्ट समर्थन करते हैं। जो लोग विरोधी होते हैं, वे समिति के समक्ष विरोध में सब कुछ कहते हैं। दोनों पक्षों की ओर से बड़े-बड़े वकील काम करते हैं जिनको बड़ी रकमें मेहनताने के रूप में देनी पड़ती हैं और जो इस प्रकार के कार्यों के विशेषज्ञ होते हैं।

इसके उपरान्त समिति रिपोर्ट तैयार करती है। यह रिपोर्ट ही वास्तव में इस समिति का न्यायिक निर्णय होता है। सदन इस रिपोर्ट को सामान्यतः स्वीकार कर लेता है। इसलिए रिपोर्ट अथवा प्रतिवेदन स्तर और तृतीय वाचन कतिपय अपवादों को छोड़कर साधारणतः औपचारिकता मात्र हैं। तृतीय वाचन के पश्चात् विधेयक द्वितीय सदन में चला जाता है और यथासमय यदि उक्त विधेयक किसी दुर्घटनावश अस्वीकृत नहीं हो जाता, तो पास हो जाता है और अधिनियम का रूप धारण कर लेता है।

जो प्राइवेट विधेयक निर्विरोध होते हैं, उनको निर्विरोध विधेयक समिति (Un-opposed Bill Committee) में भेज दिया जाता है। इस समिति में पाँच सदस्य होते हैं और छठा सदस्य स्पीकर का वकील अथवा कानूनी सलाहकार (Counsel) होता है। इस समिति की प्रक्रियाएँ संक्षिप्त और प्रायः औपचारिक मात्र होती हैं। संसदीय एजेंटों की फर्म का वरिष्ठ पार्टनर समिति के सम्मुख उपस्थित होता है, विधेयक के अन्तर्निहित उद्देश्यों पर प्रकाश डालता है, औपचारिक साक्ष्य उपस्थित करता है, और यदि उक्त विधेयक में कोई पेचीदी धारा होती है तो उसका स्पष्टीकरण करता है। सत्य यह है कि स्पीकर के कानूनी सलाहकार और संसदीय एजेंटों के बीच मन्त्रणा द्वारा ही प्रायः सारा काम समाप्त हो जाता है।

२. लोक-सभा के वित्तीय कृत्य
(Financial Functions of the House of Commons)

वित्तीय विधेयक (Money Bill)—मैडिसन (Madison) ने फेडेरलिस्ट नामक पत्रिका में लिखा था, "जिनके पास वित्तीय शक्ति होती है, उन्हीं के पास वास्तविक शक्ति है।" राष्ट्र के समस्त आर्थिक स्रोतों पर अधिकार होने के कारण ही लोक-सभा सर्वशक्तिशालिनी बन बैठी है। इसलिए, इसमें तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है कि लोक-सभा जितना समय व्यवस्थापन में लगाती है, उसका अधिकांश भाग वित्तीय विधेयकों में लग जाता है। वित्तीय विधेयकों के अधिनियमित करने की प्रक्रिया अन्य प्रकार के विधेयकों को पास करने की प्रक्रिया से भिन्न है।

वित्तीय विधेयकों की पुरःस्थापना लोक-सभा में ही समस्त सदन की समिति में हो सकती है। लोक-सभा न तो कोई वित्तीय अनुदान पास कर सकती है न उस समय तक कोई कर लगा सकती है जब तक कि क्राउन (Crown) की ओर से तत्सम्बन्धी मांग न की गई हो और जिसके लिए क्राउन स्वयं उत्तरदायी न हो। इस प्रकार वित्तीय अनुदानों के सम्बन्ध में पूर्ण शक्ति एवं उत्तरदायित्व शासन के ही हाथों में रहता है और वित्तीय विधेयक की पुरःस्थापना शासन की ओर से होनी आवश्यक है। उसी प्रकार वित्तीय अनुदानों के सम्बन्ध में लोक-सभा की शक्ति अन्तिम और निश्चित है। १९११ का संसद् अधिनियम ((Parliament Act of 1911) उपबन्धित करता है कि जिस वित्तीय विधेयक को लोक-सभा (House of Commons) पास कर दे और जो अधिवेशन स्थगित होने के एक मास पूर्व लॉर्ड-सभा में विचारार्थ भेज दिया जाए, उसको एक मास पश्चात् सम्राट् की स्वीकृति के लिए भेजा जा सकता है और वह अधिनियम का रूप धारण कर सकता है; चाहे उसको लॉर्ड-सभा पास करे चाहे पास न करे। इस प्रकार वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में लार्ड-सभा के क्रियाकलाप केवल औपचारिक है।

आय-व्ययक (The Budget)—लोक-सभा का मुख्य वित्तीय कर्तव्य, जो वह प्रतिवर्ष करती है, आय-व्ययक (Budget) की तैयारी, उसके सम्बन्ध में विचार विनिमय और उसका प्राधिकरण (Authorisation) है। इसकी सामान्य रूप-रेखा के बारे मे इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि एक ओर आय-व्ययक मे समस्त वर्ष के लिए सम्भावित व्यय के आंकड़े दिए जाते है और साथ ही दूसरी ओर वह आगामी वर्ष के लिए अनुमानित आय का पुनरीक्षण प्रदान करती है। संसद् इस सम्बन्ध मे जो औपचारिक कार्यवाही करती है और जिसके द्वारा सार्वजनिक धन के व्यय को वैधिक स्वरूप प्रदान किया जाता है, वही संसद् द्वारा पारित वित्तीय अधिनियम का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार का वित्तीय अधिनियम संचित निधि (Consolidated Fund) में से विभिन्न मदो पर व्यय करने का अधिकार प्रदान करता है। संचित निधि बहुत बड़ा धन का कोष है जिसमें राज्य की समस्त आय जमा की जाती है और जिसमें से वह समस्त रुपया या धन निकाला जाता है जो देश में विभिन्न कामों पर व्यय होता है। संचित निधि का कोई मूर्त स्वरूप नहीं है। यह तो केवल एक लेखा या खाता-मात्र (Account) है जो इंग्लैण्ड के राष्ट्रीय बैंक (Bank of England) में चलता रहता है और उस लेखा या खाते में से कोई धन-राशि तभी निकाली जा सकती है जबकि उस सम्बन्ध में संसद् का अधिनियम ऐसी आज्ञा प्रदान कर दे। इस प्रकार का मुख्य अधिनियम वार्षिक विनियोग अथवा सम्भरण अधिनियम (Annual Appropriation Act) है।

संचित निधि में से जो कुछ व्यय होता रहता है उस कमी की पूर्ति लगातार उस धनराशि से होती रहती है जो संसद् के अधिनियम की आज्ञाओं के अनुसार उस संचित निधि में आती रहती है और जिसकी आज्ञा से राजस्व अथवा आगम (Revenues) प्राप्त करने का वैधिक अधिकार प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में मुख्य अधि-

नियम वार्षिक वित्त अधिनियम (Annual Finance Act) है। वार्षिक आयव्ययक (Annual Budget) के द्वारा विनियोग अथवा सम्भरण अधिनियम (Appropriation Act) तथा वित्त अधिनियम (Finance Act) के पारित होने में कुछ सुविधा हो जाती है।

वित्तीय वर्ष प्रथम अप्रैल को प्रारम्भ होता है। आगामी वित्तीय वर्ष के लिए विभिन्न आगणन (Estimates) लोक-सभा में फरवरी के द्वितीय अथवा तृतीय सप्ताह में उपस्थित किए जाते हैं। इसके कुछ समय बाद वित्त मन्त्री (Chancellor of the Exchequer) अपना आयव्ययक सम्बन्धी भाषण देता है जिसमें पिछले वर्ष की वित्तीय स्थिति का संकेत मात्र रहता है और वित्तीय वर्ष के आर्थिक कार्यक्रम का पूर्ण विवरण रहता है, विशेष रूप से इस भाषण में नवीन करारोपण, अथवा बढ़े हुए करों का आरोप अथवा पुराने करों में कमी का विशद वर्णन रहता है। इन आगणनों के सम्बन्ध में सदन-सम्भरण समिति (Committee of the Whole House on Supply) में वाद-विवाद एवं विचार-विनिमय होता है। यह समिति अर्थोपाय समिति (Committee of Ways and Means) की तरह अर्थोपाय समिति के चेयरमैन अथवा डिप्टी चेयरमैन के सभापतित्व में अपना कार्य करती है, न कि लोक-सभा के स्पीकर के सभापतित्व में। इस समिति की कार्य-प्रणाली लोक-सभा की बैठक की कार्य-प्रणाली की अपेक्षा अधिक अनौपचारिक (Informal) होती है। प्रस्तावों के अनुमोदन की आवश्यकता नहीं रहती, न वाद-विवाद को किसी समापन के नियम के अनुसार समाप्त किया जा सकता है, और सदस्य लोग जितनी बार भी चाहें, बोल सकते हैं।

आगणनों को विभागों में उपस्थित किया जाता है और प्रत्येक विभाग पर लेखानुदान अथवा कई-कई मदों को मिला कर (Votes on group of items) विचार किया जाता है। वार्षिक आगणनों पर विचार करने के लिए केवल २६ दिन दिए गए हैं और ये २६ दिन पाँच अगस्त तक समाप्त हो जाने चाहिए। सदन-सम्भरण समिति में जो वाद-विवाद आगणनों के सम्बन्ध में होता है, उसमें प्रायः कभी भी वित्तीय माँगों पर विचार नहीं किया जाता। वहाँ प्रायः सदैव शासन की नीति के सम्बन्ध में और इस सम्बन्ध में कि शासन ने लोक-कल्याण के लिए क्या सेवाएँ और सुविधाएँ प्रस्तुत की हैं, वाद-विवाद होता है। इस वाद-विवाद से मन्त्रिमण्डल को अवसर मिलता है कि वह अपनी नीतियों और प्रस्तावों को सदन के समक्ष रख सके और उनका समर्थन कर सके; साथ ही इस वाद-विवाद से विरोधी दल को इस बात का अवसर मिलता है कि वह अपनी शिकायतें शासन के समक्ष रख सके और सरकार की सामान्य नीति की आलोचना कर सके। सदस्यों को अधिकार है कि वे प्रार्थित धनराशि को कम या अस्वीकार तो कर सकते हैं किन्तु उसे बढ़ाने का अधिकार उनको नहीं है। यह समस्त वाद-विवाद निश्चित समय के अन्दर समाप्त हो जाना चाहिये। जब समस्त आगणनों (Estimates) पर विचार हो चुकता है, तो सब प्रस्तावों को सम्भरण विधेयक (Appropriation Bill) में शामिल कर लिया जाता है। यह

विधेयक भी कार्यक्रम के उन सभी स्तरों अथवा सीढ़ियों को पार करता है और तदनन्तर सदन द्वारा पास किया जाता है।

किन्तु विनियोग अथवा सम्भरण अधिनियम (Appropriation Act) जुलाई या अगस्त तक पास नहीं हो पाता। इसका अर्थ है कि शासन को एक अप्रैल से वार्षिक विनियोग के पास होने तक के समय के लिए धन की व्यवस्था कर देनी चाहिए। इसलिए सिविल सेवाओं के विभाग उस धनराशि के लिए अस्थायी आगणन (Provisional estimates) तैयार करते हैं, जिनकी उनको उक्त चार महीनों में आवश्यकता पड़ सकती है। इन आगणनों को संसद् में लेखानुदान (Vote on Account) के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और इन माँगों पर शीघ्रातिशीघ्र विचार किया जाता है। जहाँ तक प्रतिरक्षा विभागों—सेना, नौसेना और वायुसेना—का सम्बन्ध है, इन पर लेखानुदान (*Vote on Account*) की आवश्यकता नहीं है। *प्रतिरक्षा विभाग* के अफसरों और जवानों के वेतन-भत्ते इत्यादि के सम्बन्ध में वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ होने से पहले ही आगणन संसद् में उपस्थित किये जाते हैं। उन पर वाद-विवाद भी होता है किन्तु उनको सदैव ज्यों का त्यों पास कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रतिरक्षा विभाग एक मद (Item) के लिए स्वीकृत धनराशि दूसरी मद के ऊपर भी व्यय कर सकता है। किन्तु यह सुविधा सिविल विभागों को प्राप्त नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह जानना नितान्त आवश्यक है कि सदन की सम्भरण समिति (Committee of Supply) उन समस्त वित्तीय अनुदानों को स्वीकृति प्रदान कर देती है जिनको (१) *उसी अधिवेशन में किसी अधिनियम द्वारा स्वीकार न किया* गया हो; अथवा (२) संचित निधि (Consolidated Fund) में से सीधे अनुदान न मिलता हो।

अर्थोपाय समिति को मुख्य रूप से दो काम करने पड़ते हैं। प्रथमतः पूर्व इसके कि संचित निधि (Consolidated Fund) में से कोई ऐसा धन निकाला जाए जिसको सम्भरण समिति (Committee of Supply) ने स्वीकृत किया है, इसके सम्बन्ध में अर्थोपाय समिति (Committee of Ways and Means) का एक प्रस्ताव होना चाहिए और उसके द्वारा तदर्थ अधिकार मिलना चाहिए। किन्तु अर्थोपाय समिति का दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है 'राजस्व एकत्रित करना।' व्यय (Expenditure) की तरह से आगम (Revenue) भी संविधियों (Statutes) की आज्ञा से एकत्रित किए जाते रहते है, और रद्द किए जाने तक संविधियाँ प्रवर्त्तन में रहती है, और कुछ हदों तक वार्षिक परिनियमों अथवा संविधियों के आधार पर भी आगम अथवा राजस्व एकत्रित किए जाते हैं। अधिकतर राजस्व अथवा आगम पहली प्रणाली अर्थात् संविधियों की आज्ञा से एकत्रित किए जाते हैं। आगम अथवा राजस्व के प्रस्ताव समुदायों अथवा विभागों (Groups or Sections) के अनुसार प्रस्तावित किए जाते है और उनको समिति प्रस्तावों के रूप में स्वीकार करती है। प्रचलित नियमों के अनुसार प्राइवेट सदस्यों को यह अधिकार नहीं है कि वे करों में वृद्धि का प्रस्ताव करें अथवा कोई नया कर लगाने का प्रस्ताव करें। वे तो केवल

लोक-सभा एक वाद-विवाद करने वाली सभा है। सम्राट् के विरोधी दल का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि यह प्रशासन के क्रिया-कलापों और नीति सम्बन्धी निर्णयों की आलोचना करे और इस प्रकार कार्यपालिका को विवश करे कि वह अपनी नीतियां, कृत्यों और व्यवहारों की सार्वजनिक रूप से रक्षा करे। विरोधी दल को शासन की समस्त नीति की आलोचना करने का सर्वश्रेष्ठ अवसर उस समय मिलता है जब वह सम्राट् की राजसिंहासन की वक्तृता की आलोचना करता है। इसके उपरान्त सार्वजनिक वित्तीय विधेयकों पर, विशेषकर व्यय की मदों (Items of Expenditure) पर जो वाद-विवाद होता है, इसके द्वारा विरोधी दल को वाद-विवाद और आलोचना का अत्यन्त उपयुक्त अवसर प्राप्त होता है। यदि विरोधी दल की शासन की विदेश नीति से सहमति नहीं है, तो विदेश नीति सम्बन्धी वाद-विवाद में विदेश विभाग के लिए नियोजित होने वाली धनराशि के सम्बन्ध में आलोचना की जा सकती है। तथ्य यह है कि लोक-सभा, वह सारा समय जो आगणनों (Estimates) की परीक्षा के लिए नियत है, शासन की आलोचना करने में लगा देती है।

इन नियमित एवं निर्धारित वाद-विवादों के अतिरिक्त लोक-सभा का कोई भी सदस्य सम्यक् नोटिस देने के उपरान्त एक प्रस्ताव के द्वारा मन्त्रिमण्डल में अविश्वास प्रकट कर सकता है। अविश्वास का प्रस्ताव किसी भी शासन के लिए संकटकाल उपस्थित करता है क्योंकि इसके द्वारा मन्त्रिमण्डल के भाग्य का निर्णय होता है। जब तक शासन की पीठ पर बहुमत का हाथ है, तब तक अविश्वास का प्रस्ताव पास होना कठिन है, फिर भी मन्त्रि-परिषद् (Ministry) में इसके कारण कुछ घबराहट का पैदा हो जाना स्वाभाविक है। कार्यपालिका के कृत्यों की आलोचना का उचित अवसर उस समय आता है जब सदन के स्थगन प्रस्ताव पर वाद-विवाद होता है। किसी भी सदस्य को अधिकार है कि सदन की बैठक में उस समय से लेकर जब मन्त्रिमण्डल ने सभी प्रश्नों को जवाब दे दिए हैं, उस समय तक जब सदन की सार्वजनिक कार्यवाही प्रारम्भ होती है, सदन के स्थगन का प्रस्ताव (Adjournment of the House) उपस्थित करके माँग कर सकता है कि कतिपय आवश्यक सार्वजनिक हित की बातों पर विचार-विनिमय एवं वाद-विवाद कर लिया जाए। यदि स्थगन प्रस्ताव पर चालीस सदस्यों का समर्थन है और यदि स्पीकर स्वीकार कर ले, विषय निश्चित एवं आवश्यक है तो संसद् की बैठक उस समय उठ जाती है और शाम को पुनः बैठक होती है और उस समय उक्त विषय पर वाद-विवाद होता है।

संसद् का ह्रास
(Decline of Parliament)

संसद् के कृत्यों का मूल्यांकन (Work of Parliament Evaluated)—रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) का कथन है कि "मन्त्रिमण्डल के अधिनायकत्व की

स्थापना के फलस्वरूप संसद् की प्रतिष्ठा और शक्ति का ह्रास हुआ है। इसके अनेक कारण बताये जाते हैं, जिनमे कुछ निम्नलिखित है—

(१) पिछले पचास वर्षों में दलों के सचेतकों (Party whips) और संगठनों की शक्ति का प्रभाव संसद् के सदस्यों के ऊपर महान् रूप से पड़ा है। इसका फल यह हुआ है कि उन साधारण सदस्यों के भाषणों मे और मतदान में न तो स्वतन्त्रता है और न उनकी कोई इच्छा है, जो किसी दल विशेष से सम्बद्ध हों।

(२) लगभग १०० वर्षों पूर्व किसी भी निर्वाचन-क्षेत्र मे निर्वाचकों की सख्या अत्यल्प थी। इसलिए आवश्यकता नही थी कि पूर्ण सुगठित राजनीतिक यन्त्र रचा जाए जिसके द्वारा प्रत्याशियो और निर्वाचकों के बीच सम्पर्क स्थापित कराया जाए। उन दिनों प्रत्येक प्रत्याशी अपने सभी निर्वाचकगणों से व्यक्तिगत सम्पर्क रख सकता था और अधिकतर ऐसा ही होता था। किन्तु आजकल कोई-कोई निर्वाचन-क्षेत्र इतने बड़े हैं कि उनमें ६० या ७० हज़ार तक मतदाता होते हैं इसलिये किसी भी प्रत्याशी के लिए यह प्राय. असम्भव है कि वह अपने सभी निर्वाचकों से व्यक्तिगत सम्पर्क रख सके। इसलिए उसके लिए आवश्यक है कि यदि उसे चुनाव मे जीतना है, तो उसे शक्तिशाली स्थानीय और राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन (Political machine) की सहायता अवश्य लेनी होगी और वह मशीन अथवा राजनीतिक सगठन अपनी शर्तों के अनुसार ही सहायता देगा और वे शर्तें केवल यह है कि यदि वह प्रत्याशी चुन लिया जाए तो सदस्य रूप मे उसे वही करना होगा जो वह यन्त्र अथवा संगठन करने को कहेगा।

(३) दलगत अनुशासन के कतिपय स्पष्ट लाभ भी है, किन्तु इसके परिणाम अत्यधिक स्पष्ट हैं। कठोर दलगत अनुशासन संसद् के सदस्यों को डरपोक और अर्धजन बना देता है क्योंकि वे ईमानदारी, साहस और स्वतन्त्रता खो बैठते है। यह शासन को भी शिथिल, असावधान और दूषित करता है क्योकि शासन जानता है कि चाहे वह बुद्धिमान हो चाहे मूर्ख; चाहे ठीक काम करे या गलत, सदन से वह अपने मन की बात करा ही लेगा अर्थात् सदन उसकी नीतियों का समर्थन अवश्य ही करेगा। इस प्रकार संसद् (Parliament) बहुमत दल के हाथों का खिलौना मात्र है जो उसकी नीति का अनुसमर्थन अवश्यमेव करेगा। और नीति-निर्धारण का कार्य दल के नेता लोग साधारण सदस्यों की अनुपस्थिति में करते हैं।

(४) लोक-सभा की कार्य-प्रणाली में जो सुधार हुए हैं उन्होंने भी व्यक्तिगत प्राइवेट सदस्य की स्थिति को कमजोर कर दिया है और उसी अनुपात ने शासन की शक्ति में वृद्धि हुई है। विधेयकों की समय सूची, वाद-विवाद के कम करने की मुखबंध (Guillotine) विधि, संशोधनों का चयन और अन्य उपाय जिनके द्वारा वाद विवाद को नियन्त्रित किया जाता है, निःसन्देह कुशल विधायी प्रक्रिया के लिए आवश्यक उपकरण हैं किन्तु इनके द्वारा सदस्यों का प्रभाव क्षीण होता है। विधान निर्माण के

सम्बन्ध में पहल अब प्राइवेट सदस्यों के हाथों में से निकल गई है और वह अब विभागों के अधिकार मे है जो अन्ततोगत्वा मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण में हैं। "इस प्रकार विभाग (Departments) हमारी विधान निर्मात्री मशीन या संगठन के व्यावहारिक प्रथम सदन या चेम्बर बन गये है।"[1] इसका एक कारण यह भी है कि आधुनिक विधान निर्माण बड़ा ही विशिष्ट और पेचीदा (Technical) है जिसको साधारण संसदीय सदस्य समझ नही सकते।

(५) आधुनिक विधान की विशिष्टता और पेचीदापन का एक अन्य परिणाम यह है कि ससद् अपनी विधायिनी शक्तियो को स्वतन्त्रतापूर्वक विभागों को दे रही है यद्यपि संसद् के दोनो सदनों के सदस्य पूरी तरह से यह नहीं समझ पा रहे हैं कि ऐसा क्यों हो रहा है। इन प्रदत्त शक्तियों के आधार पर जो आदेश या नियम बनते है वे, यह सही है कि, संसद् के परीक्षण में से गुजरते हैं, किन्तु "इस प्रकार के आदेश इतनी अधिक सख्या में होते है और वे इतने पेचीदा होते हैं कि प्राइवेट सदस्य व्यक्तिगत रूप से उन आदेशों का परीक्षण नही कर सकते।"

(६) सार्वजनिक वित्त का नियन्त्रण पूर्णत: लोक-सभा का विशेषाधिकार है। किन्तु लोक-सभा के जितने भी कर्त्तव्य हैं, उनमें से यह कार्य सबसे बुरे ढंग से सम्पन्न होता है। "यदि कोई ऐसा विधेयक आता है जिसको संसद् की ओर से पुरःस्थापित न किया गया हो, तो उसमें इतना परिवर्तन अथवा काट-छाँट कर दी जाती है कि प्राय वह व्यर्थ की चीज बन कर रह जाती है। किन्तु जब लोक-सभा मे मन्त्रिमण्डल की सामान्य नीति पर चर्चा होती है......उस समय इसके वाद-विवाद चाहे उनके द्वारा कोई निश्चित प्रस्ताव या परिणाम न निकले, किन्तु उस वाद-विवाद का महत्त्वपूर्ण प्रभाव अवश्य पडता है। किन्तु जब लोक-सभा मे अपने ही विशिष्ट विषय अर्थात् वित्त पर जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विषय है, वाद-विवाद होता है, तो लोक-सभा पंगु एव अशक्त-सी दिखाई देती है।" सम्भरण समिति (Committee of Supply) में जो वाद-विवाद होते है, वे वित्तीय दृष्टिकोण से निश्चिततः निरर्थक एवं बेहूदा होते है। प्रागणन समिति (Estimate Committee) और सार्वजनिक लेखा समिति (Public Accounts Committee) का कार्य निरोधित रहता है। अधिक-से-अधिक देश को केवल इस बात का विश्वास हो सकता है कि जो धनराशि किसी विशेष कार्य के लिए स्वीकृत हुई थी, वह उसी पर व्यय हो गई है। किन्तु देश को इस बात का कभी भी पूर्ण विश्वास नही हो सकता कि वह धनराशि उचित रीति से व्यय की गई। एक अन्य दिशा मे भी देश की निधि में से जो व्यय होता है, वह भी संसद् के नियन्त्रण में बिलकुल नही है; और उसका सम्बन्ध राष्ट्रीय ऋण (National Debt) से है। राज्य के राजस्वों में बहुत बड़ी धनराशि राष्ट्रीय ऋण पर जो ब्याज देना पड़ता है, उसमे चली जाती है और वह धनराशि संचित निधि (Consolidated Fund)

1. Greaves, H.R.G. : The British Constitution, p, 31.

मे से सीधी स्थायी विधि की आज्ञानुसार दी जाती है। इसके लिए संसद् की वार्षिक स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है।

आलोचना का स्तर (Criticism met)—लॉर्ड केनेट (Lord Kennet) का कथन है कि जिन वर्षों मे व्यवस्थापन की कार्य-प्रणाली का निर्माण हो रहा था, उन दिनो मे विधानमण्डल का क्राउन (Crown) के साथ संघर्ष चल रहा था। प्रारम्भ मे लोक-सभा की यही मुख्य इच्छा थी कि सम्राट् को धन संसद् की आज्ञा से ही मिलना चाहिए और किसी स्रोत से नही, और फिर बाद के वर्षों मे लोक-सभा चाहती थी कि क्राउन केवल उन्ही बातो पर धन व्यय करे जिनके लिए संसद् आज्ञा प्रदान कर दे। इसलिए लोक-सभा के सदस्यो ने जो संसद् की कार्य-प्रणाली अपनायी, वह क्राउन की शक्तियो पर नियन्त्रण था और अपने हित मे धन की बचत। किन्तु अब समय बदला हुआ है। अब संसद् के प्रभुत्व की स्थापना हो चुकी है और क्राउन की शक्ति समाप्त है। किन्तु लोक-सभा की अब भी यह बहुत बड़ी आवश्यकता है कि कार्यपालिका का जो धन पर पूर्ण प्रभुत्व है, उस पर कतिपय नियन्त्रण रखा जाए, किन्तु जिस कार्यपालिका के ऊपर अब वित्तीय नियन्त्रण रखने की आवश्यकता है, वह कार्यपालिका क्राउन (Crown) नही है अपितु उसके मन्त्रीगण है जो संसद् के प्रति उत्तरदायी भी है। अब ऐसी कार्य-प्रणाली की आवश्यकता नही है जिसके द्वारा क्राउन की शक्ति पर नियन्त्रण लगाना अभीष्ट हो।[1] इस उद्देश्य के लिए नियन्त्रण की कतई आवश्यकता नहीं है। फिर भी यह अत्यन्त वांछनीय है कि संसद् मे कोई ऐसी वित्तीय कार्य-प्रणाली अपनायी जा सके जिसके द्वारा राष्ट्रीय वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया जा सके। "इस सम्बन्ध मे जो कार्य-प्रणाली इस समय प्रचलित है, यह भी अत्यन्त लाभकारी है। इस कार्य-प्रणाली से दृढ़ सांविधानिक आधारो पर हमें यह सिद्धान्त प्राप्त हुआ है कि 'धन की माँग कठिनाइयों के दूर करने पर ही पूरी हो सकती है,' और साथ ही ऐसे वाद-विवादों को आधार मिलता है जिनके द्वारा कार्यपालिका के ऊपर बिना किसी विशेष बन्धन एवं नियन्त्रण के लगाए हुए गम्भीरतापूर्वक सदन के विचार व्यक्त किए जा सकते है।"[2]

प्रोफेसर लास्की (Prof. Laski) ने लिखा है कि आधुनिक संसद् के आलोचकों मे यह फैशन-सा बन गया है कि वे संसद् के प्राइवेट सदस्य की स्थिति के ह्रास पर रोना रोते है, किन्तु लास्की के अनुसार यह रुदन व्यर्थ है। इन आलोचकों के रुदन में एक भ्रान्ति छिपी हुई है अर्थात् वे लोग नही समझते कि आधुनिक लोक-सभा के क्या कर्तव्य है, न वे यही समझते है कि आधुनिक राज्य (State) में दलों के क्या उद्देश्य है; यह रुदन तो हमारे इतिहास के उन मृत भूतकाल की भ्रमपूर्ण परम्परा है जबकि राजनीति कतिपय भले आदमियो के आमोद का साधन थी और जबकि शासन के क्रिया-कलाप इतने संकीर्ण थे कि व्यष्टिपरक (Atomistic) लोक-सभा का अस्तित्व सम्भव था। यदि संसद् के प्राइवेट सदस्य को उसकी वही पुरानी

1. Young, E. H.: The Finance of Government, (1936), p. 42.
2. Taylor, E.: The House of Commons at Work, p. 225.

स्थिति प्रदान करनी है जो उसे ८० या ५० वर्ष पूर्व प्राप्त थी तो हम को उसी अवस्था की पुनरावृत्ति करनी होगी और उसी काल की अवस्थाओं में पहुँचना होगा जिसमें उस प्रकार की स्थिति सम्भव थी। इतिहास हमको शिक्षा देता है कि हम इस प्रकार की सुखकामना न करें।"[1] यथेच्छाकारिता (Laissez faire) के वे पुराने दिन समाप्त हो चुके हैं। प्रत्येक शासन व्यवस्थापन के सम्बन्ध में ऐसे प्रस्ताव उपस्थित करता है जिनको ग्लैडस्टन (Gladstone) अथवा डिज़रैली (Disraeli) ने समाजवादी विधेयकों की संज्ञा दी होती और जिनके कारण कोब्डेन (Cobden) अथवा पील (Peel) को हार्दिक ठेस पहुँचती।[2] आधुनिक शासन को विविध प्रकार के अनेकों क्रिया-कलापों में रुचि लेनी पड़ती है, और आजकल अर्थ-व्यवस्था के केन्द्रीकरण का युग है, जिसके फलस्वरूप यदि सच्चे अर्थों में व्यवस्थापन की व्यवस्था करनी है, तो समस्त विधान निर्माण एकीकृत (Coordinated) और सम्पूर्णीकृत (Integrated) होना चाहिए, और इसलिए उसको शासन का व्यवस्थापन (Government legislation) होना चाहिए अर्थात् समस्त व्यवस्थापन शासन की ही ओर से पुरःस्थापित होना अधिक श्रेयस्कर है। व्यवस्थापन का कार्य बिखरे हुए प्राइवेट सदस्यों के असमन्वित क्रिया-कलापों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। यही नहीं, कुछ और भी। आधुनिक शासन की समस्या समय की समस्या है और लास्की (Laski) के अनुसार यही मुख्य कारण है जो प्राइवेट सदस्य के हाथों में से व्यवस्थापन की पहल (Initiative) निकल गई है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्राइवेट सदस्य के व्यवस्थापन सम्बन्धी कृत्य समाप्त हो गए हैं, फिर भी उसे कई महत्त्वपूर्ण कार्य करने पड़ते हैं। शासन के विरुद्ध शिकायतें उपस्थित करना, विविध प्रकार की जानकारी प्राप्त करना, प्रशासन की आलोचना, वाद-विवाद का प्रारम्भ, ये कतिपय ऐसे कृत्य हैं जिनको करके प्राइवेट सदस्य प्रभावी सेवा करता है और लोक-मत को प्रभावित करता है और उसको दिशा प्रदान करता है। वह खोज-पड़ताल सम्बन्धी समितियों (Committees of Enquiry) में भी भाग ले सकता है। यदि संसद् में आवश्यक सुधार अभीष्ट है[3] और यदि प्राइवेट सदस्य को उचित मान्यता प्रदान करना है, तो लास्की (Laski) के मतानुसार ये दोनों काम उसी अवस्था में हो सकते हैं जब व्यवस्थापन का सारा कार्य शासन पर ही छोड़ दिया जाए, अर्थात् यह मान लिया जाए कि व्यवस्थापन का कार्य मुख्यतः शासन का उत्तरदायित्व है और उसमें कुछ परिवर्तन न किया जाए। संसद् का केवल एक ही कर्त्तव्य नहीं है कि वह केवल व्यवस्थापिका-मण्डल हो। इसका वास्तविक कर्त्तव्य यह है कि वह प्रशासन के ऊपर निगाह रखे और नागरिकों की स्वतन्त्रताओं की रक्षा करे। "प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) के ऊपर कड़ी निगाह रखकर तथा विभागीय प्रशासन में परीक्षण एवं विश्लेषण, आलोचना एवं

1. Laski, H. J, : Parliamentary Government in England, pp. 165, 166.
2. Jennings, W. I. : Parliament Must Be Reformed, p. 40.
3. Refer to Jennings : Parliament Must Be Reformed.

सुझावों द्वारा कुशलता उत्पन्न करके और खोज-पड़ताल सम्बन्धी प्रवर समिति (Select Committee of Enquiry) में अपना विस्तृत एवं लाभदायक स्थान बना कर प्राइवेट सदस्य, हमारी शासन-व्यवस्था में अनेकों प्रकार से सेवा कर सकता है, किन्तु हम आधुनिक संसद् के संगठन में सेवा के उन अवसरों का पूर्ण लाभ नहीं ले रहे हैं।"[1]

किन्तु इसके यह अर्थ नहीं है कि प्राइवेट सदस्य के कर्त्तव्यों में इस प्रकार वृद्धि करके हमारा यह अभिप्राय है कि मन्त्रिमण्डल (Cabinet) का संसदीय क्रिया-कलापों पर प्रभाव क्षीण कर दिया जाए। यदि प्राइवेट सदस्यों के अधिकारों में वृद्धि का अर्थ यह लिया जाएगा कि कैबिनेट का नियन्त्रण ढीला हो जाए तो "इससे नीति की समरूपता (Coherence of Policy) तुरन्त नष्ट हो जाएगी और इसके साथ ही किसी के ऊपर निश्चित उत्तरदायित्व का आरोप समाप्त हो जाएगा।" प्रो० लास्की के अनुसार, "अंग्रेजी शासन-व्यवस्था की वास्तविक सफलता इस तथ्य में निहित है कि इस व्यवस्था ने यह सम्भव बना दिया है कि किसी भी कर्त्तव्य का उत्तरदायित्व ठीक उसी पर आरोपित किया जा सकता है जो वास्तव में उत्तरदायी है।"[2]

न इसका यह अर्थ है कि मन्त्रिमण्डल का अधिनायकत्व स्थापित हो जाए अथवा स्थायी सिविल सेवा के अधिकारियों का प्रभुत्व स्थापित हो जाए। लोक-सभा का मुख्य कर्त्तव्य यही है कि वह शासन का निर्वाह और प्रतिपादन करे। शासन के निर्वाह और प्रतिपादन के लिए समष्टिगत अथवा सम्बद्ध बहुमत होना चाहिए, जो मन्त्रिमण्डल की सामान्य नीति का समर्थक हो। इस सत्य को सभी मानते है कि आधुनिक राज्य का केन्द्र प्रशासनिक विभाग है। शासन के इतने विस्तृत क्रिया-कलाप हैं कि संसद् उन सभी पर नियन्त्रण नहीं रख सकती। इसलिए कोई न कोई ऐसी शक्ति होनी चाहिए जो प्रशासन के सम्बन्ध में निर्णय करे और इस सम्बन्ध में मन्त्री ही निर्णय करता है। इसके साथ यह भी समझना चाहिए कि मन्त्रिमण्डल का शासन सभी की सहमति का शासन है। इसके सारे कार्य-व्यापार प्रकाश में होते हैं। इसके प्रत्येक कार्य की संसद् में और संसद् के बाहर भी आलोचना हो सकती है, और कभी-कभी तो बड़ी भयंकर आलोचना की जाती है। इसलिए मन्त्रिमण्डल की मुख्य समस्या यह है कि वह अपने समर्थकों का विश्वासभाजन बना रहे यद्यपि उन समर्थकों को भी आलोचना की टक्कर का शिकार होने का भय बना ही रहता है। इसका अर्थ यह है कि मन्त्रिमण्डल को प्रयत्नपूर्वक जनमत का अनुसरण करना चाहिए और सदैव अगले आम चुनाव की सम्भावनाओं को ध्यान में रखना चाहिए। इस प्रकार शासन इस तथ्य को सदैव ध्यान में रखता है कि प्रत्येक नीति के निर्धारण में कतिपय सीमाएँ हैं जिनको लाँघना उनके लिए उचित नहीं है। मन्त्रिमण्डल के लिए यह उचित नहीं है कि लोक-सभा को अप्रसन्न किया जाए। अत्यधिक गोपनीयता, अत्यधिक अशिष्ट

1. Laski : Parliamentary Government in England, p. 167.
2. *Ibid.*

व्यवहार, बार-बार त्याग-पत्र की धमकी अथवा संसद् के भंग कराने की धमकी, संसद् के बाहर असन्तुष्ट जनमत को शान्त कर सकने की अयोग्यता, इन सब के कारण विद्रोह के बीज पैदा होते है। कोई मन्त्रिमण्डल अपने दल पर उसी सीमा तक नियन्त्रण रख सकता है जहाँ तक वह उन सीमाओं का अतिक्रमण न करे जिन तक सदन रहना चाहता है अर्थात् जहाँ तक मन्त्रिमण्डल सदन की इच्छाओं का अतिक्रमण नहीं करता, वहीं तक वह अपने दल को अपने साथ रख सकता है। मन्त्रिमण्डल को इतनी समझ होनी चाहिए कि वह उचित समय पर झुकना सीख जाए और शोभा के साथ झुकना अच्छा है। जो मन्त्रिमण्डल अपनी नीति पर हठ करता है, उसका पतन अवश्यम्भावी है।[1]

Suggested Readings

Champion and Others. : *Parliament, A Survey* (1952), Chaps. I, IV, VI, XI and XIII.

Finer, H. : *The Theory and Practice of Modern Government* (1954), Chaps. XX and XXI.

Greaves, H. R. G.: *The British Constitution*, Chap. II.

Jennings, W. I. : *Parliament* (1939), Chaps. VI-X and XIII.

Jennings, W.I. : *Parliament Must Be Reformed.*

Laski, H. J. : *Parliamentary Government in England*, Chap. IV.

Mackenzie, K. R. : *The English Parliament*, Chaps V, VIII and XI.

Morrison, H. : *Government and Parliament* (1954), Chaps. VI, IX and XI.

Muir, R. : *How Britain is Governed*, Chaps. V and VI.

Munro, W. B. and Ayearst, M. : *Government of Europe* (1954), Chaps. IX-XIV.

Ogg, F. A. and Zink, H. : *Modern Foreign Governments* (1953), Chaps. XII and XIII. Papers on Parliament, A Symposium. The Hansard Society Publication (1949), pp. 1-73; 96-109.

Taylor, E. : *The House of Commons at Work* (1951) Chaps. IV and VII.

Wade, E. C. S. and Phillips, G. G. : *Constitutional Law* (1954) pp. 71-121, 325-835.

---

1. Parliamentary Government in England, p. 172.

अध्याय ८

विधि और न्यायालय

(Law and the Courts)

इससे पूर्व हमने ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के प्रजातन्त्रीकरण के क्रम पर और उस प्रजातन्त्रीकरण के फलस्वरूप जिन राजनीतिक संस्थाओं का विकास हुआ है उनकी कार्य-प्रणाली पर प्रकाश डाला था। किन्तु प्रजातन्त्र का सधारण बहुत सीमा तक वैधिक न्यायालयों के न्यायपूर्ण एव कुशल व्यवहार पर निर्भर रहता है। इग्लैण्ड की न्यायपालिका ने सदैव वहाँ के नागरिकों की स्वतन्त्रताओं की रक्षा की है और ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था सदैव ईमानदारीपूर्ण, पक्षपातहीन और सुयोग्य रही है और उसने गरीब और अमीर सब को एक सा न्याय प्रदान किया है, अत. अंग्रेजों को शताब्दियों से उस पर गर्व है।

विधि के प्रकार

(Kinds of Law)

सामान्य तथा सार्वजनीन विधि (Common Law)—इग्लैण्ड मे तीन प्रकार की विधियाँ प्रचलित है : सार्वजनीन अथवा सामान्य विधि (Common Law) न्याय-भावना अथवा अपक्षपात विधि (Equity) और संविधि अथवा परिनियम (Statute Law)। सार्वजनीन विधि का आधार ८०० वर्ष पुरानी प्रथाओं से मिलता है। नॉरमन राजाओं की विजय के पूर्व इग्लैण्ड में एकरूप न्याय-व्यवस्था नही थी। उन दिनों स्थानीय अथवा क्षेत्रीय निकाय ही न्यायालय थे और विभिन्न स्थानों अथवा क्षेत्रों मे विभिन्न प्रकार की न्याय-व्यवस्था थी। नॉरमन और अंगेविन (Norman and Angevin) राजाओ ने प्रण किया कि वे समस्त राष्ट्र को एकीकृत करेंगे और राजतन्त्र की सत्ता को प्रभावी बनाने का प्रयत्न करेंगे अथवा वैधिक भाषा मे राजा के आदेश लेखो का सम्पूर्ण देश में पालन कराएँगे। उन्होने अनुभव किया कि इस दिशा में उनकी न्यायिक शक्ति अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध होगी इसलिए उन्होंने अपने न्यायाधीशों को देश-भ्रमण के लिए भेजना प्रारम्भ किया जिनका काम था कि वे यह देखें कि देश का शासन ठीक चल रहा है अथवा नही। प्रारम्भ में उन्होंने (भ्रमण-शील न्यायाधीशो ने) स्थानीय न्यायालयों के मुकदमों को सुना और उन पर निर्णय करते समय उन प्रथाओं का आश्रय लिया जो उस समय विभिन्न स्थानो पर प्रचलित थी। धीरे-धीरे विभिन्न प्रथाओं के भेद समाप्त होने गए और फिर सभी स्थानों पर समान सिद्धान्तो के अनुसार न्याय-व्यवस्था स्थापित होती गई और तब स्थानीय प्रथाओ का न्याय-व्यवस्था मे विशेष महत्व न रहा। इस प्रकार एकरूपता की विधि

के द्वारा न्यायाधीशों ने ऐसी न्याय-व्यवस्था को जन्म दिया जो समस्त देश अथवा राज्य के लिए समान अथवा सार्वजनीन (Common) थी। यही सामान्य अथवा सार्वजनीन विधि (Common Law) के जन्म की कहानी है। यही उन न्यायालयों अथवा कचहरियों के जन्म की भी कहानी है जिनको ऐसाइजेज़ (Assizes) कहा जाता है: अर्थात् वे न्यायालय जिनमें राजा के आयोग (King's Commission) के अनुसार न्यायाधीश उस समय न्याय करते हैं जब वे देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करते हैं।

अंग्रेजी वैधिक नियमों में प्रारम्भ में ही जो इस प्रकार एकरूपता आ गई, उसका स्थायी महत्त्व है। इसने देश को सुदृढ़ एवं स्थायी विधि प्रदान की और सम्भवतः इसी के कारण अंग्रेज संसार में सबसे अधिक विधि-भक्त अथवा नियम-भक्त जाति बन गई है। इस वैधिक एकरूपता का अथवा जिस प्रकार यह एकरूपता उत्पन्न हुई उसका ही यह भी फल है कि इंग्लैंड में न्यायाधीश की जो प्रतिष्ठा और प्रभाव है, वह और किसी देश में किसी अन्य प्रकार की शासन-प्रणाली में देखने को नहीं मिलता। सार्वजनिक विधि (Common Law) प्रारम्भ में न्यायाधीशों द्वारा निर्मित किया हुआ कानून था। जो निर्णय, किसी में न्यायाधीश ने दिया, उसी के अनुसार अन्य न्यायाधीशों ने निर्णय दिए क्योंकि यही सबसे आसान तरीका था। इस प्रकार पूर्वभावियों (Precedents) का और पूर्व नियमों के सिद्धान्त का श्रीगणेश हुआ। इस सिद्धान्त में परिनियम या संविधि (Statute Law) भी आते हैं और अंग्रेजी न्याय-संहिता का यह अपरिवर्तनीय नियम है कि जब कोई न्यायाधीश इस सम्बन्ध में कोई निर्णय दे देता है कि सार्वजनीन विधि क्या है अथवा उस सम्बन्ध में परिनियमों या संविधियों का क्या अर्थ है, तो उक्त निर्णय नियम की तरह से स्वीकार किया जाएगा और वह उस प्रकार के सभी मामलों पर तब तक लागू होता रहेगा जब तक कि अधिक ऊँचे न्यायालय के न्यायाधीश द्वारा पिछला निर्णय रद्द न कर दिया जाए अथवा इस सम्बन्ध में संसद् कोई अधिनियम न पास करे जिससे उसके सम्बन्ध में समस्त भ्रान्ति सदैव के लिए शान्त हो जाए।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सार्वजनीन विधि या सामान्य विधि (Common Law) अनेक नियमों का समूह है जिनको कभी किसी राजा ने निर्दिष्ट नहीं किया है न किसी विधानमण्डल ने कभी उनको अधिनियमित किया है। यह सार्वजनान विधि निर्णयों और अभिलेखों (Records) के आधार पर विकसित हुई। अंग्रेजी न्याय-व्यवस्था में इसका मौलिक प्रभाव है। विशेष रूप से संविदा नियम और सामाजिक अपराधों (Principles of the Law of Contract, and the Civil Wrongs) के नियम के सिद्धान्तों पर समस्त अंग्रेजी न्याय-व्यवस्था आधारित है। फौजदारी नियम भी प्रारम्भ में सार्वजनीन विधि (Common Law) थी, यद्यपि उसका बहुत अंश अब संविधियों की दायल में आ गया है।

न्याय-भावना अथवा अपक्षपात विधि (Equity)—समय के साथ-साथ सार्वजनीन विधि (Common Law) ने अपना लचीला स्वभाव खो दिया और इस

कारण अनेक कमियाँ दिखाई देने लगीं। न्यायाधीशों ने अंग्रेजी समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप सार्वजनीन विधि मानने से इनकार कर दिया। ऐसे अनेक मामले सम्मुख आये जिनमें सार्वजनीन विधि लागू नहीं हो सकी और कभी-कभी पूर्व निर्णयों और पूर्वभावियों पर निर्णय होने के कारण स्पष्ट अन्याय हो जाता था। जागीरदारी (Feudalism) समाप्त हो रही थी जिसके कारण १५वीं शताब्दी के आस-पास सेवकों की सेवा के उपलक्ष्य में सब जागीरों के बजाय रुपया मिलने लगा था। वास्तव मे उस काल मे देश एक प्रकार की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अस्थिरता में से गुज़र रहा था। उस समय न्याय-व्यवस्था के लिए ऐसी प्रक्रिया की आवश्यकता थी जो उतनी प्राविधिक (Technical) और देर लगाने वाली न हो और जिसका प्रमाणीकरण सार्वजनीन विधि की अपेक्षा अधिक पूर्ण हो। अपक्षपात विधि (Equity) के जो अंग्रेजी विधि मे दूसरा तट है, विकास से सार्वजनीन विधि की कई त्रुटियाँ कम हो गई और उस समय की स्थिति सुधर गई।

विधि के अनुसार यह माना जाता था कि राजा न्याय का स्रोत है और समस्त न्यायालय राजा के न्यायालय हैं। यदि राजा के न्यायालयों से किसी व्यक्ति को न्याय नहीं मिलता था तो वह पीड़ित अथवा दुःखी नागरिक राजा से अपील कर सकता था कि उसको न्यायदान दिया जाए। प्रारम्भ में राजा न्याय की प्रत्येक प्रार्थना पर स्वयं विचार करता था और कभी-कभी उस प्रार्थना के सम्बन्ध में अपनी परिषद् से भी सलाह माँगता था। किन्तु शीघ्र ही उसने अनुभव किया कि यदि सभी प्रार्थनापत्रों पर वह स्वयं विचार करेगा तो उसके पास अन्य किसी कार्य के लिए समय ही नहीं बचेगा। इसलिए राजा ने इस प्रकार की सभी प्रार्थनाओं को अपने चांसलर (Chancellor) के पास विचारार्थ भेज दिया। चांसलर उस समय न्यायाधीश नहीं था जैसा कि वह आजकल है। उस समय चांसलर, राजा की परिषद् का वैधिक सदस्य था और वह राजा के सद्विचार और सद्विवेक (Conscience) का रखवाला था। इस प्रकार दीवानी के बड़े न्यायालय (Chancery) का उदय हुआ जो प्रारम्भ में न्यायालय न होकर विशेष रूप से राज्य का एक प्रशासनिक विभाग था जिसके अधीन विधि और न्याय-व्यवस्था का समन्वय था। इस कारण, व्यथित और पीड़ित नागरिक जिसको दीवानी अदालत से उचित न्याय नहीं मिलता था, चांसलर अथवा प्रमुख न्यायाधिकारी के पास उस समय की प्रथा के अनुसार अपनी शिकायत की अपील करता था।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अपक्षपात विधि (Equity) का आधार प्रथा नहीं था, बल्कि सद्विवेक और सद्विचार था। "इस विधि की मान्यता थी कि देश की विधि जाति के सदाचार के अनुरूप और नीति के अनुसार होनी चाहिए अपक्षपात विधि (Equity) उपाय सुझाती थी, किन्तु सार्वजनीन विधि (Common Law) दण्ड विधान करती थी; और चूँकि अपक्षपात विधि ऐसी नई समस्याओं की सत्ता को स्वीकार करती थी जिनके लिए विधि सक्षम नहीं थी, इसलिए दीवानी.

के बड़े न्यायालय (Chancery) में बहुत से मामले आने लगे। इन प्रमुख न्याय अधिकारियों (Chancellors) ने जो बार-बार पीढ़ी-दर-पीढ़ी अनेकों निर्णय दिए, उन सब निर्णयों को मिलाकर नियमों का एक समूह बन गया जिसका नाम न्याय-भावना अथवा अपक्षपात नियम (Equity) पड़ गया, जो उस समय की प्रचलित विधि के विरुद्ध न होकर उसका अनुयोग (Addition) बन गया।

किन्तु अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपक्षपात विधि (Equity) सुनिश्चित हो चुकी थी और उसके सिद्धान्तों के विकास का क्रम लगभग प्रत्येक मामले में एक ही सा था। इसका अर्थ यह था कि चांसलर वास्तविक अर्थों में न्यायाधीश बन चुका था और उसका न्यायालय अथवा चासरी (Chancery) एक साधारण न्यायालय या कचहरी का रूप धारण कर चुकी थी। इसका यह भी अर्थ था कि इंग्लैंड में दो प्रकार के स्वतन्त्र न्यायालयों का विकास हुआ जिनमें दो विभिन्न विधियों के अनुसार कार्य होता था। यह असाधारण स्थिति १८७३ तक चली। उस वर्ष प्रथम बार न्यायिक अधिनियम (Judicature Act) ने यह स्थिर किया कि एक ही प्रकार के न्यायालय होने चाहिएँ; और सार्वजनीन विधि (Common Law) और अपक्षपात विधि (Equity) दोनों के नियमों के अनुसार दोनों न्यायालयों अर्थात् राजा की बेंच (King's Bench) और दीवानी के बड़े न्यायालय (Chancery) में न्याय-व्यवस्था होनी चाहिए। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि १८७३ के न्यायिक अधिनियम (Judicature Act of 1873) ने सार्वजनीन विधि (Common Law) और अपक्षपात विधि (Equity) को मिलाकर एक नहीं कर दिया, बल्कि उन दोनों में सामंजस्य स्थापित कर दिया, जिसके लिए यह अधिनियमित किया गया कि जहाँ सार्वजनीन विधि और अपक्षपात विधि में संघर्ष या विरोध हो, वहाँ न्याय-भावना अथवा अपक्षपात विधि (Equity) की बात मानी जाएगी।

परिनियम विधि अथवा सविधि (Statute Law)—परिनियम विधि में वे अनेकों अधिनियम आते हैं जिन्हें संसद् पारित करती है और आधुनिक काल में यह विधि (Law) का सबसे बड़ा स्रोत है। १९वीं शताब्दी तक प्रायः समस्त दीवानी (Civil) और फौजदारी (Criminal) विधि या तो सामान्य अथवा सार्वजनीन विधि (Common Law) थी, या न्याय-भावना अथवा अपक्षपात विधि (Equity) थी। यहाँ तक कि जिस समय दीवानी और फौजदारी विधि संसद् द्वारा पारित अधिनियमों में संग्रहीत कर ली गई, फिर भी उनका आधार सामान्य या सार्वजनीन विधि ही रहा। किन्तु यह जान लेना आवश्यक होगा कि परिनियम विधि या सविधि (Statute Law) के आगे सामान्य विधि (Common Law) अप्रभावी हो जाती है। यह अपक्षपात अथवा न्याय-भावना विधि (Equity) के समान नहीं है क्योंकि यह सामान्य विधि का निषेध नहीं करती। यह केवल सामान्य विधि (Common Law) को कुछ लचीला बना देती है (Mitigates) अथवा उसकी कतिपय कमियों को पूरा कर देती है। यदि परिनियम विधि (Statute Law) और सामान्य विधि

(Common Law) मे विरोध हो, तो सामान्य विधि की अपेक्षा परिनियम विधि (Statute Law) को मान्यता प्रदान की जाएगी। क्योंकि परिनियम विधि अन्तिम आज्ञा है; चाहे सामान्य विधि (Common Law) या पिछले परिनियम या सविधियाँ अथवा इन दोनों पर आधारित कुछ भी निर्णय हुए हों अथवा उनमे कुछ भी आज्ञा निहित हो, उन सभी को नये परिनियम अथवा नई सविधि के द्वारा रद्द किया जा सकता है या उनमे परिवर्तन किया जा सकता है। सत्य यह है कि परिनियम विधि (Statutory Law) की आवश्यकता उस समय पड़ी जब ऐसे पूर्वभावियो ने अनियमितता उत्पन्न कर दी जो समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे असमर्थ थे और जो नवीन सामाजिक आदर्शों के विरोध में थे।

दीवानी और फौजदारी या दण्ड न्याय विधि (Civil and Criminal Law)—विधि के स्रोतों का वर्णन कर चुकने के पश्चात् अब हम दीवानी (Civil Law) और दण्ड न्याय विधि (Criminal Law) मे अन्तर समझाने का प्रयास करेंगे। दीवानी न्याय-व्यवस्था (Civil Proceeding), जिनको नालिश (Actions) भी कहते हैं, का उद्देश्य यह है कि किसी प्राइवेट पार्टी को यदि कुछ आर्थिक हानि हुई है तो उसे कुछ न्याय एव हानि-पूर्ति मिले, यदि ऐसा अनुभव किया जाए और सिद्ध हो जाए कि किसी प्राइवेट पार्टी ने उक्त प्राइवेट पार्टी के आर्थिक अधिकारों को आघात अथवा हानि पहुचाई है। इसके विपरीत दण्ड-न्याय-व्यवस्था (Criminal Proceedings) में जिसको फौजदारी मुकद्दमा (Proceedings) भी कहते है, विधि ऐसा नही मानती कि बलात्कार अथवा नियम भंग (Wrong Act) किसी के द्वारा किसी एक व्यक्ति के विरुद्ध किया गया है। इसके विपरीत विधि की ऐसी मान्यता है कि इस प्रकार के नियम भंग मे सार्वजनिक हितों को खतरा है और विधि का निर्माण ही उस उद्देश्य से होता है कि समाज की इस प्रकार के कुकृत्यो से रक्षा की जाए और इसीलिए अपराधी को दण्ड दिए जाने का विधान है।

न्यायालय

(The Courts)

अर्थ या दीवानी न्यायालय (The Civil Courts)—विधि ने दो अलग-अलग प्रकार के न्यायालयों की स्थापना की है, जिनमे अलग-अलग नालिशे (Civil Actions) और दण्ड-व्यवस्था (Criminal Proceedings) की जाती है। दीवानी मुकद्दमो के लिए सबसे नीचे काउण्टी अदालतें (County Courts) होती है जिनमे ४०० पौंड तक की नालिशों के मुकद्दमे आते है अथवा भूमि के पुन. प्राप्ति के मुकद्दमे आते हैं जहाँ भूमि की दरयोग्य (rateable) कीमत १०० पौंड वार्षिक से अधिक न हो। प्रत्येक काउण्टी को पचास से अधिक सर्किटों (Circuits) में बाँट दिया गया है और प्रत्येक सर्किट मे एक न्यायाधीश नियुक्त रहता है। लॉर्ड चांसलर उन बड़े वकीलों में से जिनको सात वर्ष का अनुभव होता है, न्यायाधीशों की नियुक्ति करता

है। काउण्टी न्यायालयों के ऊपर एक सुप्रीम कोर्ट ऑफ जुडीकेचर (Supreme Court of Judicature) होता है, जिसके दो भाग है, एक कोर्ट ग्राफ अपील (Court of Appeal) होता है, जिसमें मास्टर ऑफ रॉल्स (Master of Rolls) तथा आठ लॉर्ड जस्टिस ऑफ अपील (Lord Justice of Appeal) बैठते हैं, तथा दूसरा भाग हाई कोर्ट ऑफ जस्टिस (High Court of Justice) होता है जिसमें न्यायाधीशों के स्थान पर लॉर्ड चीफ जस्टिस (Lord Chief Justice) और लगभग तीस अन्य उच्च न्यायाधीशगण (Justices) बैठते हैं।

हाई कोर्ट (High Court) तीन डिवीजनों में बैठता है। *चांसरी अथवा दीवानी के बड़े न्यायालय*। उनमे अधिकतर वे मुकद्दमे जाते है जो प्रारम्भ में न्याय-भावना अथवा अपक्षपात सम्बन्धी न्यायालयों को जाते थे। *किंग्ज बेंच अथवा किंग्ज डिवीजन (King's Bench)*। इसमें सार्वजनीन विधि से सम्बन्धित मामले जाते हैं। *और प्रोबेट, डाइवोर्स और एडमिरेलिटी डिवीजन (Probate, Divorce and Admiralty Division)*। कोर्ट ऑफ अपील (Court of Appeal) और हाई कोर्ट (High Court) लंदन (London) में स्थित हैं किन्तु किंग्ज बैंच डिवीजन (King's Bench Division) का न्यायक्षेत्र फौजदारी और दीवानी दोनों तरह के मामलों में होता है। अर्थात् वे दीवानी की नालिशों के सम्बन्ध में देहात में एसाइजेज (Assizes) की अदालतों मे भी निर्णय देते हैं। आजकल डाइवोर्स (Divorce) सम्बन्धी मामले भी एसाइजेज (Assizes) में ही सुने जाते हैं। काउण्टी न्यायालयों (County Courts) से जो अपीलें आती हैं वे हाई कोर्ट मे सुनी जाती हैं। मौलिक क्षेत्र में हाई कोर्ट में केवल वे नालिशें आती हैं जिनमें दावे की धनराशि काफी बड़ी होती है। इसके अतिरिक्त कोर्ट ऑफ अपील (Court of Appeal) होता है जिसमें काउण्टी न्यायालयो (County Courts) और हाई कोर्ट ऑफ जस्टिस (High Court of Justice) दोनों से अपीलें आती हैं। कोर्ट ऑफ अपील की दो या तीन डिवीजनें होती हैं और कभी कभी तो समस्त लॉर्ड जस्टिसेज (Lord Justices) बड़े मुकद्दमे की सुनवाई के लिए साथ ही बैठते हैं। इस न्यायालय से भी अपीलों को अन्ततः कुछ विशेष शर्तों के अधीन लॉर्ड-सभा (House of Lords) में ले जाया जा सकता है। लॉर्ड-सभा समस्त देश का सबसे ऊंचा अपीलीय न्यायालय है जिसमें दीवानी और फौजदारी प्रकार के अभियोगों की अपीलें सुनी जाती हैं। समस्त लॉर्ड-सभा न्यायालय के रूप में कभी नही बैठती। १८७६ मे सात आजीवन कुलीन जन (Peers for Life) बनाए गए, जिनको अपीलों के निर्णय करने का कार्य प्रदान किया गया; और आजकल उनको लॉर्ड्स ऑफ अपील इन आर्डिनरी (Lords of Appeal-in-Ordinary) अथवा लॉ लॉर्ड (Law Lords) कहा जाता है। अपीलेट जूरिसडिक्शन अधिनियम १९४७ (Appellate Jurisdiction Act of 1947) ने लॉ लॉर्डों (Law Lords) की संख्या सात से बढ़ा कर नौ कर दी। आजकल सभी अपीलें निम्न दस लॉ लॉर्ड (Law Lords) द्वारा सुनी जाती हैं: लॉर्ड चांसलर (Lord Chance-

llor), नौ लॉर्ड्स ऑफ़ अपील-इन-ऑर्डिनरी (Lords of Appeal-in-Ordinary)। लॉर्ड चांसलर अध्यक्ष होता है और मन्त्रिमण्डल (Cabinet) का भी सदस्य होता है। नौ लॉ लॉर्ड (Law Lords) निश्चित रूप से या तो उच्च ख्याति प्राप्त न्यायशास्त्रविद् होते हैं अथवा उच्च ख्यातिप्राप्त न्यायाधीश होते हैं अथवा ऊँचे वकील होते हैं जिनको आजीवन लॉर्ड (Life Peers) बना दिया जाता है।

प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति (Judicial Committee of the Privy Council)—प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति एक उच्चवर्गीय अपीलीय सदन है जो वास्तव में अंग्रेजी न्याय-व्यवस्था का अंग नहीं है। प्राविधिक रूप मे यह अदालत या न्यायालय नही है जहां निर्णय होते हैं बल्कि ऐसा सदन है जो राजा को उन मामलो पर मन्त्रणा देता है जो उसके सम्मुख विचारार्थ उपस्थित किए जाते हैं, यद्यपि इसकी सिफारिशें सदैव स्वीकार कर ली जाती हैं।

जब लॉग पार्लियामेंट (Long Parliament) ने १६४१ में स्टार चेम्बर (Star Chamber) को तोड़ दिया तो उसने उसी आज्ञा से प्रिवी परिषद् का निम्न न्यायालयों से आयी हुई अपीलों को सुनने का अधिकार भी छीन लिया, किन्तु उसने प्रिवी परिषद् (Privy Council) का उन अपीलों को सुनने का अधिकार नहीं छीना जो समुद्र पार के साम्राज्य के उपनिवेशों से आती थी। इसलिए आज भी प्रिवी परिषद् उन अपीलों के लिए सबसे बड़ा न्यायालय है जो समुद्र पार के न्यायालयों से आती हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में वे अधिराज्य (Dominions) अपवाद है, जिनके विधानमण्डलो ने नियमों द्वारा उस दिशा मे कतिपय बन्धन लगा दिए हैं।[1] प्रिवी परिषद् आजकल १८३३ के अधिनियम के अनुसार न्यायिक समिति द्वारा कार्य कर रही है। न्यायिक समिति के सदस्य प्रिवी पार्षद (Privy Councillors) हैं जिनको अन्य अधिराज्यों के न्यायाधीशगण अपने देश की न्याय-व्यवस्था के अनुसार आवश्यक मन्त्रणा देते हैं। न्यायिक समिति मे लगभग बीस स्मृतिकार अथवा न्यायशास्त्री (Jurists) होते हैं, किन्तु इस समिति का अधिकतर कार्य वे ही न्यायाधीश करते हैं जो लॉर्ड सभा में न्याय करते हैं किन्तु जब वे न्यायिक समिति में कार्य करते हैं तो कुलीन जनों (Peers) के रूप में नही, बल्कि प्रिवी पार्षदों (Privy Councillors) के रूप में अपना कार्य करते हैं। लॉ लॉर्ड्स (Law Lords) वैतनिक कुलीन जन (Salaried Peers) होते हैं और जिस समय इस प्रकार के कुलीन जनो की उत्पत्ति की गई थी, तो यह निश्चित किया गया था कि वे लॉर्ड-सभा मे और न्यायिक समिति में अधिकतर काम निपटा लिया करेंगे।

प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति का एक विशेष अधिकार-क्षेत्र है जिसका सम्बन्ध अंग्रेजी न्यायालयों से है। युद्ध-काल में यह समस्त साम्राज्य के उच्चतम

---

1. केवल न्यूजीलैंड (Newzealand) को छोड़कर अन्य सभी अधिराज्यों (Dominions) ने प्रिवी परिषद् (Privy Council) की न्याय समिति को अपीलें भेजने पर रोक लगा दी है।

न्यायालय का स्वरूप धारण कर लेता है जिसमें समुद्री लूट के माल का बँटवारा होता है।

दण्ड न्यायालय (Criminal Courts)—इंग्लैण्ड मे जब किसी आदमी पर किसी अपराध का अभियोग लगता है तो उसे एक या एक से अधिक जस्टिस ऑफ दि पीस (Justice of the Peace) के सम्मुख उपस्थित किया जाता है; अथवा बड़े नगरो मे वृत्तिभोगी न्यायालय (Stipendiary Magistrate) के सामने लाया जाता है। जस्टिस ऑफ दि पीस अवैतनिक न्यायाधीश होते है किन्तु वृत्तिभोगी मजिस्ट्रेट नियमित रूप से वेतन या स्टाइपेंड (Stipend) अपने-अपने बरो (Boroughs) या जिले (Urban Districts) से प्राप्त करते है जैसा कि उनके नामों से भी प्रकट है। वृत्तिभोगी न्यायाधीशों की नियुक्ति गृहमन्त्री (Secretary of State for Home Affairs) उन उच्च वकीलो में से करता है जिन्हे अपने कार्य-क्षेत्र का सात वर्ष का अनुभव हो। जस्टिस ऑफ दि पीस की नियुक्ति काउण्टी (Counties) के लॉर्ड लेफ्टीनेंटो (Lord Lieutenants) की सिफारिश पर लॉर्ड चांसलर (Lord Chancellor) द्वारा की जाती है। मजिस्ट्रेट लोग भी वे ही मामले देखते है जिन्हे जस्टिसेज ऑफ दि पीस (Justices of the Peace) देखते है किन्तु मजिस्ट्रेटो को कुछ अतिरिक्त अधिकार होते है।

जस्टिसेज ऑफ पीस (Justices of Peace) और मजिस्ट्रेट जब अलग-अलग अपने-अपने क्षेत्रो में कार्य करते है तो उनके सम्मुख छोटे मुकद्दमे आते हैं जिनमें अधिक-से-अधिक बीस शिलिंग का जुर्माना या अधिक-से-अधिक चौदह दिन की सजा हो सकती है। यदि अधिक संगीन किस्म का मुकद्दमा हो तो उसके निर्णय के लिए दो या दो से अधिक जस्टिस या मजिस्ट्रेट मिलकर बैठते है। जब दो जस्टिस (Justices) मिलकर निर्णय करने बैठें, उस न्यायालय को पैटी सैशन न्यायालय (Court of Petty Session) कहते है। ऐसे न्यायालय संक्षिप्त न्याय-क्षेत्र-सम्पन्न होते है, और वे ५० पौंड से लेकर १०० पौंड या किसी-किसी संगीन मामले में ५०० पौंड तक जुर्माना कर सकते है और वे छः महीने तक का और कतिपय संगीन मामलो मे एक वर्ष तक की सजा का हुक्म दे सकते है। यदि अपराध ऐसा है जिसमें तीन मास से अधिक की सजा दी जा सकती है, तो अभियुक्त को जूरी (Jury) द्वारा भी निर्णय मिल सकता है।

इसके ऊपर कोर्ट ऑफ क्वार्टर सेशन्स (Court of Quarter Sessions) होता है जिसमे किसी सम्पूर्ण काउण्टी (County) मे से दो या इससे अधिक जस्टिस लिये जाते हैं। बड़े-बड़े नगरों में इस प्रकार के न्यायालयों का सभापति वृत्तिभोगी मजिस्ट्रेट (Paid Magistrate) होता है जिसकी उपाधि रेकार्डर (The Recorder) होती है, और उसकी नियुक्ति गृह-मन्त्री (Home Secretary) द्वारा की जाती है। कतिपय संगीन अपराधो को छोड़कर सभी दोष लगाने योग्य मामले इसी न्यायालय

में तय किए जा सकते है और यही पर संक्षिप्त-न्यायक्षेत्र-सम्पन्न न्यायालयों (Courts of Summary Jurisdiction) से अपीलें आती हैं। वास्तव में यही वह न्यायालय है जिसमे अधिकतर संगीन फौजदारी के मामले निपटाए जाते है।

इनके बाद एसाइजेज के न्यायालय होते है जिनका अधिकार-क्षेत्र दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार का है, और इस प्रकार के न्यायालय मे किंग्स बैंच डिवीजन (King's Bench Division) का न्यायाधीश होता है। एसाइजेज (Assizes) में मामलो का निर्णय एक न्यायाधीश अथवा जूरी (Jury) करती है और इसके सामने अत्यधिक संगीन मामले, जिनमे राजद्रोह (Treason) भी सम्मिलित है, लाये जा सकते है। किसी फौजदारी या दण्ड विधान के मामले का न्यायाधीश, ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था के अनुसार एक प्रकार का रेफरी या अम्पायर (Umpire) होता है। अंग्रेजी न्याय-व्यवस्था में न्यायाधीश का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह सत्य की खोज करे। उसका काम तो यह देखना है कि नियमों का पालन कहां तक हुआ है, अथवा हो रहा है और अभियोग की दोनो पार्टियाँ अपना-अपना कार्य करती हैं। जब अभिनिर्णायक (Jury) अपना निर्णय देंगे तो सत्य अपने आप प्रकट हो जाएगा। यदि अभिनिर्णायक या जूरी (Jury) निर्दोप प्रमाणित कर दे, तो अभियुक्त को तुरन्त छोड़ दिया जाता है। और यदि जूरी उसको दोषी माने तो न्यायाधीश अपना निर्णय दे देता है। यदि अभिनिर्णायको में मतभेद हो तो पुन. मुकदमे की सुनवाई नये सिरे से हो सकती है जिसमे नये अभिनिर्णायक (Jurors) लिए जाएँगे।

कोर्ट ऑफ क्वार्टर सेशन्स (Court of Quarter Sessions) अथवा एसाइजेज (Assizes) के उपरान्त अभियुक्त कोर्ट ऑफ क्रिमिनल अपील (Court of Criminal Appeal) मे अपील दायर कर सकता है। किन्तु अभियोक्ता या मुद्दई (Prosecution) को अपील करने का अधिकार नही है, यदि अभियुक्त एक न्यायालय से निर्दोप घोपित कर दिया गया है क्योकि एक व्यक्ति के ऊपर एक ही अभियोग में दो बार मुकद्दमा नही चलाया जा सकता। कोर्ट ऑफ क्रिमिनल अपील मे किंग्ज बेंच (King's Bench) के कम-से-कम तीन न्यायाधीश होते है। यह न्यायालय, लन्दन (London) मे अवस्थित है और इसमे अभिनिर्णायको (Jury) के बैठने की व्यवस्था नही है। १६६० के न्याय प्रयोग अधिनियम (Administration of Justice) के अनुसार यदि कोर्ट प्रमाणित कर दे कि अमुक विवाद में महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक हित से सम्बन्धित कोई वैधिक तत्त्व निहित है तो उक्त सम्बन्ध में लॉर्ड-सभा में अपील की जा सकती है। जैसा कि पहले भी वर्णन किया जा चुका है, लॉर्ड-सभा दीवानी और फौजदारी के मुकद्दमों के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय है। किन्तु इसकी दण्ड-न्याय-व्यवस्था पूर्णरूपेण विचित्र और असामान्य है। १६४८ से लॉर्ड-सभा ने अपना यह अधिकार छोड़ दिया है कि उसके उन सदस्यों के ऊपर जिन पर महान् अपराध या देश-द्रोह का अभियोग हो, वे ही कुलीनजनों (Peers) के अभिनिर्णायक (Jury) निर्णय दें जो उनसे ऊँचे या उनके समान स्थिति के कुलीन

(Peers) हों। लॉर्ड-सभा में किसी भी प्रकार का मुकद्दमा प्रारम्भ नही किया जा सकता।

न्याय-व्यवस्था के विशिष्ट गुण
(Features of the Judicial System)

(१) समस्त देश में एक प्रकार की न्याय-व्यवस्था नही है। पिछले पृष्ठों में जिस प्रकार के न्यायालयो का वर्णन किया गया है, वे इंग्लैण्ड तथा वेल्स (England and Wales) मे पाए जाते हैं। किन्तु स्काटलैंड की विधि का सिद्धान्त, कार्य-प्रणाली और वहाँ के न्यायालयों का संगठन भिन्न प्रकार का है। उत्तरी आयरलैंड की न्याय-प्रणाली बिल्कुल भिन्न है यद्यपि वह इंग्लैण्ड की न्याय-व्यवस्था से फिर भी अधिक मिलती है।

(२) आजकल इंग्लैण्ड और वेल्स के न्यायालयों को समन्वित कर दिया गया है। दो पीढ़ी पूर्व समस्त देश मे असम्बद्ध, अतिछादी (Overlapping) और व्यर्थ के न्यायालयों की भरमार-सी थी। उन दिनों मामले बहुत आते थे और यह निर्णय करना कठिन था कि किस मुकद्दमे को किस न्यायालय के सुपुर्द किया जाए और प्रत्येक प्रकार के न्यायालय की अपनी-अपनी व्यवहार-विधि थी। १८७३ से १८७६ तक न्याय-व्यवस्था के सुधार अधिनियमों के फलस्वरूप अब इंग्लैड की न्याय-व्यवस्था में पूर्ण व्यवस्था आ गई है। लगभग सारे ही न्यायालय[1] एक केन्द्रीय व्यवस्था के अधीन संगठित कर दिए गए है और इस प्रकार न्यायाधिकार के सम्बन्ध मे जो अव्यवस्था और परस्पर विरोध का बोलबाला था, वह समाप्त हो गया है।

(३) इंग्लैण्ड में प्रशासन से सम्बन्धित न्यायालय अलग नहीं हैं जिस प्रकार कि फ्रांस अथवा अन्य यूरोपीय देशों में पाए जाते हैं। वहाँ की विधि शासन के अधिकारियों और सामान्य नागरिकों मे कोई भेद नही मानती। सभी को उन्ही सामान्य न्यायालयों में उपस्थित होना पड़ता है और सबके ऊपर वही सामान्य विधि लागू होती है यद्यपि अब इंग्लैण्ड मे भी धीरे-धीरे प्रशासनिक न्याय-व्यवस्था का विकास हो रहा है।

(४) अंग्रेजी न्याय-व्यवस्था का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह स्वतन्त्र है, शीघ्र कार्य करने वाली है और पक्षपातहीन है। इंग्लैण्ड के न्यायाधीशों के ऊपर किसी प्रकार के प्रभाव नहीं पड़ते; वे तो केवल न्याय-भावना और सत्य-निष्ठा से कार्य करते हैं। इसका मुख्य कारण यह है वे कि पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। उनकी नियुक्ति क्राउन द्वारा की जाती है और वे जीवनपर्यंत अथवा सदाचारपर्यन्त अपने पदों पर बने रहते है। उनको सेवा से तभी विमुक्त किया जा सकता है जबकि संसद् के दोनों

---

1. 'जस्टिसेज आफ दि पीस' (Justices of the Peace) के न्यायालयों को अपवाद-स्वरूप समझते हुए।

सदन मिलकर तदर्थ क्राउन से प्रार्थना करें और उनका वेतन इस प्रकार निश्चित किया जाता है कि उनके ऊपर कभी किसी प्रकार का प्रभाव न पड़ सके।

(५) इंग्लैण्ड में न्यायिक पुनरीक्षण की प्रथा नहीं है। संसद् सर्वोच्च है और संसद् की किसी विधि को न्यायालय असांविधानिक घोषित नहीं कर सकते।

(६) इंग्लैण्ड में न्यायालय और न्यायाधीश नागरिकों की स्वतन्त्रताओं के संरक्षक हैं। अंग्रेजों के उसी अर्थ में कोई सांविधानिक अधिकार नहीं हैं जिस प्रकार कि भारतवर्ष में हमारे अधिकार हैं। इंग्लैण्ड में स्वतन्त्रता इस कारण है कि वहाँ विधि का शासन (Rule of Law) है। मोटी भाषा में इसी को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि इंग्लैण्ड में उस देश की विधि का शासन है, न कि किसी व्यक्ति की स्वेच्छाचारी इच्छाओं का। न्यायाधीशों का यह प्रयत्न रहता है कि देश में विधि का शासन बना रहे।

(७) इंग्लैण्ड मे विशेषत: फौजदारी अदालतों में काम का तरीका अन्वेषण-सम्बन्धी (Inquisitorial) होने की अपेक्षा दोषीसम्बन्धी (Accusatorial) है। मुकद्दमा करने वाले को अपना मुकद्दमा प्रमाणित करना पड़ता है। मुकद्दमे से पहले और मुकद्दमे के बीच में दोषी की हर प्रकार के अन्वेषणसम्बन्धी कार्य के प्रकार से रक्षा की जाती है। जज मामले की छानबीन नहीं करता। वह तो निष्पक्ष होकर प्रस्तुत की गई गवाही के आधार पर अपना निर्णय देता है। मुकद्दमा खुले आम कचहरी में होता है और अखबार वालों को प्रकाशन की पूरी छूट होती है।

(८) इंग्लैण्ड के न्यायालयों मे जो जूरी प्रथा अथवा अभिनिर्णायिकों के रखने की प्रथा है, वह विधि के शासन की दिशा मे प्रथम पग है। यदि अभिनिर्णायिकों (Jury) का निर्णय अभियुक्त के हित में होता है तो उस निर्णय के विरुद्ध मुद्दई या अभियोक्ता (Prosecution) की इच्छा पर पुनरीक्षण या अपील नहीं की जा सकती। इसका अर्थ यह है कि अभिनिर्णायक (Jury) यदि किसी अभियुक्त के ऊपर रहम करना चाहे तो वे न्याय के विरुद्ध भी जा सकते हैं। और यदि कहीं देश की विधि प्रचलित जनमत से मेल नहीं खाती, तो वहाँ वे अभियुक्त को दण्ड देना अस्वीकार कर सकते है। कठिन मामलों में विधि के अनुकूल निर्णय करना, जो किसी भी मानवीय एवं पक्षपात-विमुक्त न्याय-प्रणाली के लिए अत्यन्त आवश्यक है, उन लोगो के अधिकार में नहीं दिया गया है जो शासन के नियन्त्रण मे अधिकारियों के रूप मे नियुक्त किए जाते है, अपितु बिना किसी क्रम के छाँटे हुए नागरिकों के हाथो में दे दिया जाता है जो हर मुकद्दमे के निर्णय के लिए सारी जनता मे से यूँ ही छाँट लिए जाते है और अपना कर्त्तव्य समाप्त करने के बाद जो तुरन्त उसी अज्ञात अवस्था मे पहुँच जाते है जहाँ से वे आये थे। कई अवसरों पर जहाँ किसी नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न था इन अभिनिर्णायक वृन्द (Juries) ने देश की प्रचलित किन्तु संकुचित (Illiberal) विधि पर कठोर प्रहार भी कर दिया है।

(९) अभिनिर्णायको (Juries) की स्वतन्त्रता पहले ही मान ली गई थी यद्यपि न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता उसके पश्चात् मानी गई। न्यायाधीशगण अपने पदों

पर वैधिक आज्ञानुसार सुरक्षित हैं, इसके अतिरिक्त जिस प्रकार उनकी नियुक्ति होती है, उससे भी उनकी स्वतन्त्रता को बल मिलता है। अधिकतर अन्य देशों में न्यायाधीश अपने न्यायाधीश-जीवन को निचले दर्जे से प्रारम्भ करते हैं और धीरे-धीरे उन्नति करके ऊपर पहुँचते हैं। स्वभावतः वे शासन के मुखापेक्षी बने रहते हैं या फिर सम्भवतः आम चुनावों पर आशाएँ लगाए रहते हैं; और इस प्रकार कोई कमजोर चरित्र वाला व्यक्ति ऐसी अवस्था में अपनी स्वतन्त्रता बेच सकता है ताकि वह ऐसे लोगों को प्रसन्न कर सके जो उसकी भविष्य की आशाओं को पूरी कर सकें। इसके विपरीत, इंग्लैण्ड मे न्यायाधीश शिखर से जीवन प्रारम्भ करता है न कि सोपान के निचले डण्डे से। प्रायः न्यायाधीश अपने पद पर नियुक्त होते समय प्रौढ़ आयु के होते हैं और वे ऊँचे दर्जे के वकीलों में से चुने जाते हैं। जहाँ एक बार किसी की नियुक्ति हुई, फिर न तो उसे शासन से कोई कृपाकांक्षा रहती है न वह किसी अन्य व्यक्ति की ओर निहारता है। किसी काउण्टी के न्यायाधीश को हाई कोर्ट (High Court) के न्यायाधीश बनने की सम्भावना नही रहती। यदि कोई न्यायाधीश पदोन्नत होकर हाई कोर्ट से कोर्ट ऑफ़ अपील (Court of Appeal) या लॉर्ड-सभा में भी पहुँच जाए, तो भी इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, यद्यपि किसी अंश तक सम्बन्धित न्यायाधीश की प्रतिष्ठा एवं आय मे वृद्धि अवश्य हो जाती है। इसका फल यह है कि न्यायाधीश आम तौर पर शासन के गुलाम नही होते, बल्कि उसके आलोचक होते है और वे अपने आपको साधारण नागरिकों की स्वतन्त्रताओं का रक्षक मानते है और जहाँ कहीं नौकरशाही की निरकुशता देखते है, उसकी भर्त्सना करते है।

(१०) अन्ततः इंग्लैण्ड मे न्यायिक कार्यवाही शीघ्र होती है और मुकद्दमों के निर्णय शीघ्र होते है। इसके दो कारण हैं। प्रथमतः, इंग्लैण्ड के न्यायाधीशों को वैधिक परिभाषाओं (Legal technicalities) के निर्वचन मे पर्याप्त स्वतंत्रता मिली हुई है। द्वितीयतः, न्यायिक कार्य-प्रणाली के नियम एक विशिष्ट न्यायिक नियम समिति (Rule Committee) के द्वारा तैयार किए जाते है जिनमें लॉड चासलर (Lord Chancellor) और दस अन्य वैधिक-ज्ञान-युक्त व्यक्ति होते हैं। वे वैधिक परिभाषाओं अथवा न्यायिक कठिनाइयों को समझते है अतः इस प्रकार के नियम बनाते है जिससे शीघ्र न्याय मिल सके। ऐसा उस समय सम्भव नही हो सकता जबकि न्यायिक कार्य-प्रणाली के नियम विधानमण्डल द्वारा निर्मित हों, जैसा कि संयुक्त-राज्य अमेरिका मे होता है जहाँ विधानमण्डल मे न्याय-व्यवस्था की दृष्टि से अविशेषज्ञ लोग होते है। "इसलिए इंग्लैण्ड के न्यायालय वकीलों को कानूनी छल (Pettifogging), दीर्घसूत्रता (Dilatory), और बाल की खाल खेंचने की आज्ञा नहीं देते, जैसा कि अमरीका के न्यायालयों में प्रायः देखा जाता है। न्यायाधीश अपने न्यायालय पर शासन करता है, काम को जल्दी-जल्दी समाप्त करता है और जहाँ तक कोई विशेष कारण न हो, वह अपनी आज्ञाओं के विरुद्ध अपील नही करने देता।"[1]

1. Munro and Ayearst : The Governments of Europe, p. 266.

इसके अतिरिक्त छोटे न्यायालयों से जो अपीलें हाई कोर्ट (High Court) को जाती है, उनमें निम्न न्यायालयों के निर्णयों को साधारण पारिभाषिक गलतियों पर उलट नही दिया जाता ।

विधि का शासन
(Rule of Law)

विधि के शासन से आप क्या समझते हैं (What does it mean)—अंग्रेजी सविधान की एक विशिष्ट देन है 'विधि का शासन'। यह देश की सामान्य विधि (Common Law) पर आधारित है और सर्वसाधारण की अपने स्वाभाविक अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षार्थ सैकडो वर्ष तक किए गए संघर्ष का फल है। इसके तीन अर्थ हैं। प्रथमतः, ब्रिटेन मे विधि ही सर्वोच्च है। स्वेच्छाचारी अधिकार नाम की कोई चीज़ इंग्लैण्ड में नहीं है, और देश का शासन, प्रशासन के लिए जो भी नियम बनावे, वह विधि के अनुसार होना चाहिए—या तो ससद् द्वारा पारित सविधि (Statute) के अनुसार होना चाहिए अथवा सामान्य विधि अथवा सार्वजनीन विधि (Common Law) के उन प्राचीन सिद्धान्तो के अनुसार होना चाहिए जिनको सैकड़ो वर्षो से देश मे मान्यता प्राप्त है। द्वितीयतः, हर एक व्यक्ति विधि के अधीन है और कोई यह कहकर अपने आपको नही बचा सकता कि मैंने ऐसा काम किसी अन्य व्यक्ति की आज्ञा से किया। हर एक व्यक्ति का कर्त्तव्य विधि का पालन करना है। तृतीयतः, विधि के शासन की इच्छा है कि शासन संसद् का दास होगा, और ससद् के माध्यम द्वारा शासन सर्वसाधारण का दास होगा। दूसरे शब्दो मे इसी को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि किसी हद तक ससद् की प्रभुता इसीलिए मान्य है क्योंकि विधि का शासन (Rule of Law) मान्य है।

विधि के शासन के सम्बन्ध में डायसी की व्याख्या (Dicey's exposition of the Rule of Law)—डा० ए० वी० डायसी (Dr. A. V. Dicey) ने विधि के शासन के सिद्धान्त की सूत्र रूप मे व्याख्या की है। डायसी ने विधि के शासन के तीन अर्थ निकाले।[1] प्रथमतः इसका अर्थ है कि "न तो किसी को दण्ड दिया जा सकता है न किसी को शारीरिक कष्ट अथवा आर्थिक हानि पहुँचाई जा सकती है जब तक कि कोई व्यक्ति स्पष्टतः विधि के विरुद्ध आचरण न करे और वह विधि विरुद्ध आचरण देश के सामान्य न्यायालय में सिद्ध न हो जाए। इस अर्थ मे विधि के शासन की अन्य किसी भी ऐसे प्रकार के शासन से तुलना की गई जिसमे ऐसे व्यक्तियों के हाथों में अधिकार हों जो असीम स्वेच्छाचारी एव मदपूर्ण स्वविवेकी अधिकारों से सज्जित हों और जिनके द्वारा सर्वसाधारण की स्वतन्त्रताओं मे अभिबाधा (Constraint) डाली जाती हो।" इस सिद्धान्त का यह अर्थ भी ध्वनित

---

1. Law of the Constitution, 8th edition (1930), p. 179. Also refer to Jennings: The Law and the Constitution, 3rd edition, Chapter II.

होता है कि मनमाने ढंग से किसी व्यक्ति की न तो जान ली जा सकती है, न उसकी सम्पत्ति अथवा स्वतन्त्रता का अपहरण किया जा सकता है; न किसी की गिरफ्तारी या सज़ा दी जा सकती है जब तक कि उसके विरुद्ध विधि विरुद्ध आचरण का अभियोग किसी ऐसे न्यायालय मे सिद्ध न हो जाए जिसकी स्थापना देश की विधि के अनुसार की गई हो। किसी भी अभियोग की सुनवाई बन्द कमरे में नहीं हो सकती बल्कि खुले हुए न्यायालय में होनी चाहिए जिसमें सभी जा सकते हैं। अभियुक्त को अधिकार है कि वह अपनी रक्षा के लिए वकील कर सकता है और सभी गम्भीर फौजदारी के मामलों में अभिनिर्णायिकगण (Jury) निर्णय देते हैं। निर्णय खुली कचहरी में दिया जाता है और अभियुक्त को छूट रहती है कि यदि वह चाहे तो ऊँचे न्यायालय मे अपील कर सकता है। इस सब के फलस्वरूप अधिशासी स्वेच्छा-चारिता और निर्दयता अथवा कठोरता के लिए कम-से-कम अवसर रह जाता है।

द्वितीयत:, विधि के शासन का अर्थ यह है: "हमारे देश में कोई भी व्यक्ति विधि के ऊपर ही नहीं है,बल्कि इस देश में प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कितना भी बड़ा या महान् हो, इस देश की सामान्य विधि को मानने के लिए बाध्य है और देश का प्रत्येक नागरिक किसी भी सामान्य न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र की परिधि में आ जाता है। प्रथमत:, इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि देश का प्रत्येक नागरिक विधि के सम्मुख समान है चाहे उसका अधिकारी पद अथवा उसकी सामाजिक स्थिति कैसी भी हो। द्वितीयत:, इसका यह भी अर्थ है कि इंग्लैण्ड में सब के लिए एक ही प्रकार की विधि है जो सभी अंग्रेज़ों के लिए मान्य है। सभी ऊँचे अथवा नीचे अधिकारी अपने प्रत्येक कृत्य के लिए विधि के सम्मुख समान रूप से उत्तरदायी हैं। यदि शासन के अधिकारी किसी व्यक्ति के साथ अन्याय करते हैं अथवा यदि वे अपनी उन शक्तियों अथवा अधिकारों का अतिक्रमण करते हैं जो विधि ने उन्हें दी हैं तो ऐसे अधिकारियों के विरुद्ध सामान्य न्यायालयों में साधारण तरह से साधारण वैधिक नियमों के अनुसार दावा किया जा सकता है। विधि के सम्मुख सभी की समानता के कारण कार्यपालिका के द्वारा अन्याय, अत्याचार और अनुत्तरदायित्व की सम्भावना कम होती जाती है। विधि के सम्मुख सभी समान हैं, इस सिद्धान्त की और विस्तृत व्याख्या करते हुए डायसी (Dicey) कहता है "हमारी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में प्रत्येक अधिकारी—प्रधान-मन्त्री से लेकर कान्स्टेबल (Constable) या टैक्स कलेक्टर (Collector of Taxes) तक प्रत्येक अवैध कृत्य के लिए *समान* उत्तर-दायित्व वहन करता है और इस सम्बन्ध में सभी अधिकारी और सभी नागरिक समान हैं।"

अन्तत:, विधि के शासन का यह भी अर्थ है कि इंग्लैण्ड मे "संविधान के सामान्य सिद्धान्त उन न्यायिक निर्णयों के फल हैं जो न्यायालयों के समक्ष समय-समय पर लाए हुए मुकद्दमों में दिए गए और जिनके द्वारा सामान्य नागरिको के अधिकारो की मर्यादा की रक्षा हुई।" इंग्लैंड में संविधान, नागरिकों के अधिकारो की गारण्टी नहीं करता, बल्कि नागरिकों की स्वतन्त्रता का आधार न्यायिक निर्णय हैं।

डायसी की व्याख्या का परीक्षण (How far Dicey's exposition is true ?)—प्रोफेसर डायसी विधि के शासन का प्रबल समर्थक था। उसकी मान्यता थी कि इंग्लैण्ड में विधि के शासन के होने के कारण ही स्वतन्त्रता थी। किन्तु वास्तव में डायसी ने विधि के शासन के सम्बन्ध में जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह पूर्णतया सही नहीं है। डायसी ने स्वयं इन असंगतियों को स्वीकार किया यद्यपि उसकी स्वीकारोक्ति का उस सर्वत्र फैली हुई भ्रान्ति पर प्रायः कोई प्रभाव नहीं पड़ा जो उसके भ्रान्त विचारों के कारण पूरी तरह प्रभावी हो चुकी थी।[1]

विधि के शासन के सम्बन्ध में डायसी ने जो पहली व्याख्या की है, उस दिशा मे स्वेच्छाचारी शक्ति (Arbitrary Power) और स्वविवेकी अधिकार (Discretionary authority) में जो भेद है, उसे सुलझाना होगा। इंग्लैण्ड के साविधानिक शासन का अब भी यह मान्य एवं आवश्यक सिद्धान्त है कि स्वेच्छाचारी शक्तियों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। जहाँ डायसी (Dicey) ने सामान्य विधि (Ordinary Law) का प्रयोग किया है, वहाँ उसका अर्थ है इंग्लैण्ड की सामान्य अथवा सार्वजनीन विधि (Common Law) अथवा संविधि (Statute Law)। आज की दण्ड विधि (Criminal Law) में अनेकों ऐसे अपराध सम्मिलित हैं जिनका जन्म परिनियम अथवा सविधि विनियमो (Statutory regulations)[2] से हुआ है। इस प्रकार शासन के विभाग अथवा अनुवर्ती निकाय विनियमों (Regulations) द्वारा नए-नए अपराधों का सृजन करते हैं। इस प्रकार के विनियमों सम्बन्धी अधिकार का प्रयोग आधुनिक राज्यो के लिए प्राय: अपरिहार्य हो गया है। प्रदत्त अथवा प्रत्यायुक्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) की वृद्धि विधि के शासन के सिद्धान्त से मेल नहीं खाती।

जहाँ कही प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) का व्यवहार है, वहाँ स्वविवेकी अधिकार का होना आवश्यक है। यदि स्वविवेकी अधिकार (Discretionary authority) का प्रयोग विधि के शासन (Rule of Law) के विरुद्ध है, तो ऐसी स्थिति में विधि के शासन के लिए किसी भी आधुनिक शासन-व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है। जब डॉ० डायसी (Dicey) ने १८८५ में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लॉ ऑफ दि कॉन्स्टीट्यूशन' (Law of the Constitution) का प्रथम संस्करण निकाला, उस समय किसी भी राज्य के कर्त्तव्य केवल मात्र शान्ति की व्यवस्था, प्रतिरक्षा और विदेशी सम्बन्धों का निर्वहन थे। आजकल किसी भी राज्य के कर्त्तव्य अधिक निश्चित हैं और वे राष्ट्रीय जीवन पर विभिन्न प्रकार से प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार शासन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वविवेकी शक्तियों का प्रयोग अपरिहार्य है। कहने का सार यह है कि स्वविवेकी शक्तियो (Discretionary Powers) का अर्थ

---

1. Champion and Others : British Government Since 1918. Robson, W. A. : Administrative Law in England, p. 86.
2. See *Ante*. Chapter VIII.

स्वेच्छाचारी शक्ति (Arbitrary Power) नही है। स्वेच्छाचारी शक्ति का अर्थ उस शक्ति या अधिकार से है जिसका प्रयोग ऐसे लोग करें जो न तो किसी के प्रति उत्तरदायी हों और न जिनके ऊपर किसी का नियन्त्रण हो।

डायसी ने जिस द्वितीय अर्थ मे विधि के शासन को लिया है, वह भी सदिग्ध है। प्रथमत:, क्राउन प्रोसीडिंग्ज अधिनियम, १९४७ (Crown Proceedings Act, 1947) के प्रवर्त्तन के बाद भी शासन के अधिकारियों के पास कतिपय विशेषाधिकार एव विमुक्तियाँ है जिनसे सार्वजनिक अधिकारी और उनके अफसर लाभ उठा सकते है। १८९३ का पब्लिक ऑथॉरिटीज अधिनियम जिसको १९३९ के लिमिटेशन ऐक्ट की धारा २१ ने सशोधित किया (The Public Authorities Protection Act, 1893, as amended by Section 21 of the Limitation Act of 1939) के द्वारा यह आवश्यक कर दिया गया है कि किसी भी राज्य के अधिकारी द्वारा अपने अधिकारो का अतिक्रमण, उपेक्षा अथवा त्रुटि प्रदर्शित करने पर जो उसके विरुद्ध कार्यवाही की जाएगी वह उस अपराध के छ. मास के अन्दर प्रारम्भ हो जानी चाहिए। यदि ऐसा नही होगा तो वह सारी अनुशासनात्मक कार्यवाही ठप्प हो जाएगी। यदि इस प्रकार किसी नागरिक का सार्वजनिक अधिकारी के विरुद्ध दावा खारिज हो जाता है तो उसे उस मुकद्दमे के खर्चे के रूप में भारी रकम जुर्माना स्वरूप देनी पड़ती है। अपने न्यायिक निर्णयों मे न्यायाधीश जो भी कहे या करे, चाहे वे अपने अधिकार-क्षेत्र[1] का अतिक्रमण भी कर जाएँ, उसके लिए वे किसी के प्रति उत्तरदायी नही है।

द्वितीयत:, सभी सभ्य राज्यों के समान इग्लैण्ड भी अन्य राज्यो के नागरिको और उनकी सम्पत्ति को, उनके शासकों एव कूटनीतिक अधिकारियों को न्यायालयों की कार्य-प्रणाली, मुकद्दमा आदि के सम्बन्ध मे कतिपय विमुक्तियाँ प्रदान करता है, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उनके ऊपर देश की विधि लागू ही नहीं है।[2] अन्तर्राष्ट्रीय नियमो के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय आयोगों के सदस्यो एवं अधिकारियों को इस प्रकार की विमुक्तियाँ प्राप्त है और विशेष रूप से १९४४ के बाद इस दिशा मे इन विमुक्तियो का पूर्ण पालन हुआ है। तृतीयत:, एक या दो ऐसे भी उदाहरण है जिनमे आन्तरिक राजनीतिक आवश्यकताओ के कारण विशेष विमुक्तियाँ देनी पड़ी थी। १९०६ का ट्रेड डिस्प्यूट्स ऐक्ट (Trade Disputes Act of 1906) आज्ञा देता है कि ट्रेड यूनियन (Trade Union) के द्वारा यदि किसी व्यक्ति के शरीर या सम्पत्ति

1. न्यायाधीशों को शासन-सम्बन्धी निर्णयों में पूर्ण विमुक्ति प्राप्त नहीं है किन्तु न्यायिक कर्त्तव्य मे उन्हें पूर्ण विमुक्ति प्राप्त है। इस प्रकार यदि न्यायाधीश हठपूर्वक किसी मामले की सुनवाई न करे तो उसके विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है। किन्तु यदि वह गलत निर्णय भी दे डाले तो भी उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती।—Report to Wade and Phillips: op. cit., p. 236.

2. Dickinson V. Delesar, (1930), I. K. B. 376.

को कोई हानि (Tort) पहुँच जाए तो भी ट्रेड यूनियन के विरुद्ध किसी प्रकार की अदालती कार्यवाही नहीं की जा सकती। उसी प्रकार किसी अ-समामेलित (Un-incorporated) निकाय जैसे सामाजिक सभाओं (Social Clubs) अथवा दानशील संस्थाओं (Charitable Institutions) के विरुद्ध किसी प्रकार की कानूनी कार्यवाही नहीं हो सकती, यद्यपि ऐसी संस्थाओं के व्यक्तिगत सदस्य अथवा अधिकारी अपने किसी व्यक्तिगत दोष के कारण कानूनी पकड़ में आ सकते हैं।

यह सत्य है कि राज्य के अधिकारी या कर्मचारी साधारण न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं और इंग्लैण्ड की विधि के सम्मुख ऐसे कोई विशेष अपराध नहीं होते जिनके लिए विशेष प्रकार के न्यायालयों की आवश्यकता पड़ती हो। किन्तु पिछले चालीस वर्षों में शासन के विभागों को जो डायसी के अर्थों में न्यायालय नहीं हैं ऐसे अनेक सम्बन्धों में अन्तिम निर्णय देने वाले न्यायालय बना दिया गया है, जो उन विभागों के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं। उदाहरणस्वरूप, गृहमन्त्री (Home Secretary) को अधिकार है कि वह विदेशियों (Aliens) को स्वदेश के नागरिक का अधिकार प्रदान कर सकता है। उसको इस बात का भी पूर्ण अधिकार है कि वह किसी विदेशी नागरिक को देश छोड़ने का आदेश दे दे और उसके इन कृत्यों को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। केवल क्राउन (Crown) को ही वैधिक रीति से पासपोर्ट (Passport) निकालने का अधिकार है, फिर भी, इस प्रकार के अधिकार के प्रयोग के विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई वैधिक कार्यवाही नहीं की जा सकती।

उसी प्रकार स्वास्थ्य मन्त्री (The Minister of Health), राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा आयुक्त (National Health Insurance Commissioner), शिक्षा बोर्ड (The Board of Education) व्यापार बोर्ड (The Board of Trade), यातायात मन्त्री (The Minister of Transport), दि रेलवे रेट्स ट्रिब्यूनल (The Railway Rates Tribunal) एवं अन्य अधिकारी वर्ग, जो देश के सामान्य न्यायालय नहीं है, *न जिनको न्यायालयों के रूप में रचा गया था,* अन्तिम रूप से ऐसे-ऐसे प्रश्नों का निबटारा कर डालते हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्तियों और नागरिकों की सम्पत्ति से होता है। इस प्रकार शासन की प्रशासनिक शक्ति का काफी हद तक बँटवारा हो जाता है, और इसलिए डायसी के विधि शासन (Rule of Law) सम्बन्धी सिद्धान्त पर व्यवहारतः पर्याप्त मर्यादाएँ लग चुकी हैं।

अन्तिम रूप से डायसी ने विधि के शासन के सम्बन्ध में जो तीसरा अर्थ लिया है, उस ओर डायसी केवल मौलिक राजनीतिक अधिकारों को स्वीकार करता है, और उसका कथन है कि यदि किसी नागरिक के मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण होता है, तो वह न्यायालयों की शरण ले सकता है और उस सम्बन्ध में संविधान उसे गारण्टी नहीं देगा, अपितु देश की प्रचलित विधि ही उसके मौलिक अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ होगी। किन्तु डायसी का ध्यान उन अनेक अधिकारों की ओर नहीं गया जो संविधियों (Statutes) से प्राप्त हुए हैं, जैसे पेंन, इन्श्योरेंस एवं

मुफ्त शिक्षा इत्यादि। यहाँ तक कि सामान्य विधि (Common Law) द्वारा दिए गए इस प्रकार के अधिकारों जैसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार, स्वरक्षा का अधिकार, अनधिकृत गिरफ्तारी या आक्रमण या सजा के विरुद्ध न्यायालय की शरण लेने का अधिकार, विचार व्यक्त करने का अधिकार आदि का जन्म भी वास्तव मे विभिन्न परिनियमों अथवा सविधियों से ही हुआ है। बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) की व्यवस्था सामान्य विधि में भी थी किन्तु १६७९ और १८१६ के बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिनियमों (Hebeas Corpus Acts of 1679 and 1816) के द्वारा बन्दी प्रत्यक्षीकरण की व्यवस्था को प्रभावी बनाया गया। किसी को गिरफ्तार करने का अधिकार कुछ तो सामान्य विधि (Common Law) से मिला है और कुछ ऐसी सविधियों (Statutes) से मिला है, जैसे १९२५ का क्रिमिनल जस्टिस अधिनियम (Criminal Justice Act of 1925)। अपमानजनक लेख की विधि (Law of Libel) मुख्यत. सामान्य विधि (Common Law) का अंश है किन्तु अनेक इस प्रकार की सविधियाँ जैसे अपमानजनक लेख की विधि का संशोधन अधिनियम, १८८८ [The Law of Libel (Amendment) Act, 1888] समाचारपत्रो (Press) को कतिपय विशेषाधिकार प्रदान करती है। १९३६ का पब्लिक आर्डर ऐक्ट (Public Order Act of 1936), सार्वजनिक मीटिंग सम्बन्धी विधि (Law of Public Meeting) का महत्त्वपूर्ण भाग है।

निष्कर्ष (Conclusion)—आवश्यकता इस बात की है कि डायसी ने जिस रूप में विधि के शासन की व्याख्या की है उसमें आधुनिक अवस्थाओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप कतिपय संशोधन हों। विधि का शासन (Rule of Law) अब भी ब्रिटिश संविधान का सिद्धान्त है किन्तु "इसके साथ अनुत्तरदायी एवं स्वेच्छाचारी अधिकार का पूर्ण निषेध तथा प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) के ऊपर पर्याप्त नियन्त्रण एवं उसके सम्बन्ध में विज्ञापन, विशेष रूप से जब प्रदत्त व्यवस्थापन के द्वारा दण्ड देने की व्यवस्था हो, सम्मिलित हैं और होने चाहिएँ। साथ ही जब किसी को स्वविवेकी अधिकार (Discretionary Powers) दिये जाएँ तो यह भी जहाँ तक सम्भव हो स्पष्ट कर दिया जाए कि वे स्वविवेकी शक्तियाँ किस प्रकार प्रयुक्त की जाएँगी। साथ ही, इसके अतिरिक्त प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह सामान्य नागरिक हो अथवा शासन का अधिकारी, एक ही प्रकार की विधि के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति विशेष को कतिपय प्राइवेट अधिकार देना अभीष्ट है तो ऐसे अधिकार केवल किसी स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायालय के द्वारा ही दिए जा सकते हैं और साथ ही यह भी होना चाहिए कि मौलिक व्यक्तिगत अथवा प्राइवेट अधिकारों (Fundamental Private Rights) की देश की सामान्य विधि से ही रक्षा होनी चाहिए। जहाँ तक विधि के शासन के सिद्धान्त का सम्बन्ध संसद् की प्रभुता से है, अन्ततोगत्वा इस सिद्धान्त के अनुसार संसद् के उस राजनीतिक दल को अपना आचरण ठीक करना चाहिए जिसका संसद् में बहुमत है, और जो व्यवस्थापन के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण रखता है।

प्रशासनिक विधि और न्याय (Administrative Law and Justice)— यूरोपीय महाद्वीप की संवैधानिक व्यवस्था की एक विशेषता प्रशासनिक विधि है। प्रशासनिक विधि सरकारी कार्य का नियमन करती है। यह नागरिकों और सरकारी अधिकारियों के सम्बन्धों का विवेचन करती है। फ्रांस तथा यूरोप के अन्य देशों में प्रशासनिक विधि के मामले प्रशासनिक न्यायालयों में निबटाये जाते है। यदि फ्रास में किसी नागरिक का सरकार के किसी विभाग से झगड़ा हो तो वह प्रशासनिक न्यायालय में अपील करेगा। यदि न्यायालय मे उसकी बात रह जाती है तो वह सारा नुकसान सरकार से वसूल कर सकता है।

इग्लैण्ड मे प्रशासनिक विधि नही है। डायसी का कहना था कि प्रशासनिक विधि विधि के शासन के प्रतिकूल है और वह सरकारी अधिकारियों को विशेष सुविधा प्रदान करती है। लेकिन डायसी का प्रशासनिक विधि के बारे में यह विचार सही नही है। डा० फाईनर का मत है कि जहाँ कहीं प्रशासन और विधि हो, वहाँ पर प्रशासनिक विधि भी हो जाती है। इंग्लैण्ड मे इस तरह की विधि है। वहाँ सार्वजनिक प्रशासन से सम्बन्धित विधि, तथा कार्यकारी विभाग अपनी शक्तियों के प्रयोग में जिन विधियों का निर्माण करते हैं वे सब प्रशासनिक विधि के अन्तर्गत आ सकती हैं। समय-समय पर बनाए गये कानून, प्रशासनिक आदेश और प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के निर्णय प्रशासनिक विधि के भाग हैं। इसके अतिरिक्त प्रशासनिक विधि की भी अपनी परम्पराएँ और अभिसमय हैं।

पुन: इंग्लैड में बहुत से प्रशासनिक न्यायालय हैं। यद्यपि ये अस्थायी आधार पर हैं। आजकल एक प्रवृत्ति यह भी है कि सरकारी विभागों को न्यायिक कृत्य सौंप दिये जाते हैं। इस शताब्दी में सरकारी क्रियाकलाप का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। सरकार सब के सम्बन्ध मे कानून नहीं बना सकती। सरकार कानून बनाने का यह कार्य काफी हद तक अपने विभागों पर छोड़ देती है। स्वास्थ्य, शिक्षा, व्यापार और लेखा-परीक्षा जैसे विभाग न्यायिक शक्तियों का प्रयोग करते हैं। इससे भी किसी-न-किसी रूप में प्रशासनिक विधि का विकास होता है।

इस तरह इंग्लैण्ड में प्रशासनिक न्यायालय देश की न्याय-व्यवस्था के अभिन्न भाग बन गए हैं यद्यपि वे फ्रांस की भाँति व्यापक आधार पर नही हैं। अब इंग्लैण्ड में भी बहुत से लोगों का यह विचार हो गया है कि जहाँ तक राज्य और नागरिकों के बीच विवादों का प्रश्न है, साधारण न्यायालयों की अपेक्षा प्रशासनिक न्यायालय अधिक हितकर होते हैं।

प्रशासनिक न्याय का सुधार (Reform of Administrative Justice)— इंग्लैण्ड मे अब आम धारणा यह है कि विधि के शासन की उन्नीसवीं शताब्दी में जो व्याख्या की जाती थी वह अब नहीं चल सकती। प्रत्यायुक्त विधान और प्रशासनिक क्षेत्राधिकार ने स्थिति को बदल दिया है। जब प्रशासनिक अधिकारी और प्रशासनिक न्यायाधिकरण किसी विवाद का निर्णय करते हैं तो वे अपने निर्णय का कारण नही

बताते, उनके निर्णय प्रकाशित नही होते, उनके निर्णयों के विरुद्ध अपील करने का अधिकार भी सीमित होता है। वे साधारण न्यायालयों की तरह नियमानुकूल आचरण भी नही करते। इससे न्याय की अवहेलना हो सकती है। इन त्रुटियो को दूर करने की आवश्यकता है।

लॉर्ड हीवर्ट की "The New Despotism", एफ० जे० पोर्ट की 'Administrative Law' और डा० सी० के० एलेन की 'Bureaucracy Triumphant' नामक पुस्तको ने सर्वसाधारण का ध्यान प्रशासनिक न्यायालयों के इन खतरो की ओर आकर्षित किया था। फलत:, १६२६ मे इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक समिति स्थापित की गई थी। प्रशासनिक क्षेत्राधिकार के बारे में इस समिति के प्राय: वही विचार है जो कि प्रत्यायुक्त विधान के बारे में है। प्रशासनिक न्याय निर्णय आवश्यक है लेकिन उसके ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगे रहने चाहिएँ। यदि प्रशासनिक न्यायाधिकरण अपने क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण करें तो उच्च न्यायालयो को यह अधिकार होना चाहिए कि वे हस्तक्षेप कर सकें। विधि प्रश्न के सम्बन्ध में पीड़ित पक्ष को उच्च न्यायालय में अपील करने का अधिकार होना चाहिए। इन न्यायाधिकरणों मे न्याय की प्रक्रिया प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तो के अनुसार होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि निर्णय मनमाना नही हो। किसी भी पक्ष की निन्दा न हो, पक्षों को मालूम होना चाहिए कि वास्तविक मामला क्या है। निर्णय का आधार प्रकाशित होना चाहिए और जाँच की रिपोर्ट तथा निर्णय भी छप जाने चाहिएँ।

यह समिति १६२६ मे बैठी थी और इसने १६३२ में अपनी रिपोर्ट दी थी। इसके बाद से प्रशासनिक न्याय मे और भी विकास हुआ है। १६५५ मे सर ओलीवर फ्रैंक की अध्यक्षता मे इस सम्बन्ध मे एक और समिति नियुक्त की गई। उसने अगस्त १६५७ मे अपनी रिपोर्ट पेश की।

फ्रैंक समिति की रिपोर्ट बहुत महत्वपूर्ण है। इसने सरकार का यह दृष्टिकोण नहीं माना कि प्रशासनिक न्यायाधिकरण शासनतन्त्र के एक भाग है तथा न्यायिक संस्थाएँ है। समिति का निष्कर्ष है कि प्रशासनिक न्यायाधिकरण व्यक्तियो के दावों का निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र और निष्पक्ष संस्थाएँ है। समिति ने कहा है कि विधि प्रश्नो के सम्बन्ध मे प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के निर्णय पर साधारण न्यायालयों मे विचार किया जा सकता है। निर्णय न्यायाधिकरण को नहीं बल्कि न्यायालय को सौपना चाहिए। यदि कभी कोई निर्णय मन्त्री या न्यायाधिकरण के पास सौपने का विकल्प हो तो वह न्यायाधिकरण को सौपना चाहिए। किसी भी हालत मे नागरिक के कानूनी अधिकारों की रक्षा होनी चाहिए। समिति ने यह सिफारिश की है कि प्रशासनिक अधिकरणों का अध्यक्ष मन्त्री द्वारा नहीं प्रयुत् लॉर्ड चान्सलर द्वारा नियुक्त होना चाहिए। अभियोगी नागरिक को काफी पहले से यह बता देना चाहिए कि मामला क्या है। मामले पर पूरी तरह से साक्ष्य सहित विचार होना चाहिए और जो भी निर्णय हो उसके कारण बता देने चाहिएँ।

निष्कर्ष (Conclusion)—इंग्लैण्ड में फ्रांस की तरह प्रशासनिक न्यायालयों

की सुदृढ़ व्यवस्था की सम्भावना नहीं है। अंग्रेज धीरे-धीरे परिवर्तन करते हैं। यहाँ जरूरी यह है कि प्रशासनिक न्याय में सुधार किया जाए।

Suggested Readings

Champion and Others : *British Parliament Since* 1918 (1951), Chap. IV.

Champion and Others : *Parliament : A Survey* (1952) Chap. X.

Carter, G. M. and Others : *The Government of Great Britain*, (1954) Chap. VIII.

Dicey, A. V. : *Law of the Constitution*, Chaps. IV and VIII. Introduction pp. xvii to xxiv, Appendix, section I.

Finer, H. : *Theory and Practice of Modern Government* (1954), Chap. XXXVI.

Jennings. W. J. : *Law of the Constitution* 3rd Ed. Chap. II.

Laski, H. J. : *Parliamentary Government in England*, Chap. II.

Munro, W. B. and Ayearst : *The Governments of Europe*, (1954) Chap. XVII.

Wade, R. C. S. and Phillips, G. G. : *Constitutional Law*, 4th Ed. (1951), pp. 48-53, 251-257, 267-279.

अध्याय ६

राजनीतिक दल

(Political Parties)

दलगत शासन-व्यवस्था की आवश्यकता (The Reasons for a Party System)—लोकतन्त्रात्मक शासन की सफलता के लिए राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। प्रजातन्त्र मे दो कारणों से दलों की आवश्यकता होती है। प्रथमतः, राजनीतिक दल ही ऐसा माध्यम उत्पन्न करते है जिसके द्वारा देश के नागरिकों को अपने शासक चुनने का अवसर मिलता है। द्वितीयतः, राजनीतिक दल ही देश के नागरिकों को वैकल्पिक नीतियों की अच्छाइयाँ अथवा उनमें निहित खतरों को समझाते है और इस प्रकार उनको राजनीतिक शिक्षा देते है। मैकाइवर (McIver) ने राजनीतिक दल की निम्न परिभाषा की है, "यह एक ऐसा संगठन है जो किसी सिद्धान्त अथवा नीति के समर्थन में संगठित किया जाता है और वह दल अथवा संगठन सांविधानिक उपायों के द्वारा उसी सिद्धान्त अथवा नीति वाली सरकार बनाना चाहता है।"[1] इस अर्थ मे दल एक ऐच्छिक संगठन है जो इस प्रकार की संसदीय शासन-प्रणाली में जैसी कि इंग्लैण्ड मे वर्तमान है, कार्यक्रम की व्यवस्था करता है, फिर निर्वाचको के सम्मुख उन प्रत्याशियों को उपस्थित करता है जो उस कार्यक्रम मे विश्वास रखते है और फिर उसके बाद संसद् में अधिकतर ऐसे सदस्य भेजने का प्रयत्न करता है जो उस कार्यक्रम को उन नेताओं के माध्यम द्वारा जो मन्त्रिमण्डल का निर्माण करेंगे, क्रियान्वित करने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार समाज और राज्य के बीच राजनीतिक दल पुल या कड़ी का काम करता है और दल का प्रभाव निर्वाचकों पर, संसद् पर और केबिनेट या मन्त्रिमण्डल सभी पर पड़ता है।

फिर भी इग्लैण्ड मे राजनीतिक दल न तो राज्य के उपकरण अथवा साधन है और न शासन की कोई ऐसी संस्था ही है जो शासन की विधि अथवा नियमों के अनुसार चलता हो जैसा कि कुछ देशों मे पाया जाता है। इंग्लैड की विधि में राजनीतिक दलो का कोई अस्तित्व नही है। राजनीतिक दलों की अधिकृत रूप से मान्यता केवल उन नियमों में है, जिनका सम्बन्ध लोक-सभा की समितियों के निर्माण से है।[2] किन्तु राजनीतिक दलो के अभाव में अंग्रेजी शासन-व्यवस्था का समस्त स्वरूप ही बदल जाएगा और इसकी अनेक परम्पराएँ और अभिसमय नष्ट हो जाएँगे। सम्राट् का शासन (His Majesty's Government) दल का शासन है और

---

1. The Modern State, p. 396.

2. Stewart, M.: The British Approach to Politics (1951), 2nd Edition, p. 158.

प्रधान-मन्त्री लोक-सभा के बहुमत दल का नेता होता है। विरोधी दल भी सम्राट् का विरोधी दल है और विरोधी दल को अंग्रेजी संविधान की सफल क्रियान्विति में अत्यन्त आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है। विरोधी दल के कर्त्तव्य ये है कि वह शासन की आलोचना करे और उसकी नीति के विरुद्ध मत व्यक्त करे। शासन-सत्ताधारी दल की आलोचना और उसके विरुद्ध मतदान इसलिए किया जाए कि शासन को उखाड़ दिया जाए और विरोधी दल स्वय उसका स्थान ग्रहण करे। इस लिए जैनिंग्ज (Jennings) ने ठीक ही कहा है कि "यदि ब्रिटिश सविधान का यथार्थ निरूपण अथवा परीक्षण किया जाए तो यही कहना पड़ेगा कि वह दलो से प्रारम्भ होता है और दलों में ही समाप्त हो जाता है और मध्य मे राजनीतिक दलों द्वारा उस पर विस्तारपूर्वक विवेचन होता है।"[1]

द्विदल पद्धति (The Two Party System)—सन् १८८२ मे गिलबर्ट (W. S. Gilbert) ने लिखा था, "यह विधि का कैसा विधान है कि इस देश मे जो भी छोटा लड़का अथवा छोटी लड़की पैदा होती है और जीवित रहती है, वह या तो छोटा उदारदलीय बालक (Liberal), अथवा छोटा-सा अनुदारदलीय बालक (Conservative) होता है।" किन्तु गिलबर्ट (Gilbert) उस समय की आयरिश नेशनलिस्ट पार्टी एवं कई अन्य छोटे-मोटे दलों और समुदायों को भूल गया। पिछले एक सौ वर्षों में केवल २८ वर्षों तक ऐसे शासनो का काल रहा जिनके दल का ससद् में बहुमत नही था और केवल २६ वर्ष तक मिली-जुली सरकारों (Coalition Governments) का शासन रहा।[2] फिर भी सारतः गिलबर्ट ने ठीक ही कहा था और इंग्लैण्ड में प्राकृतिक प्रवृत्ति द्विदल पद्धति की ओर है।

१६५०, अक्टूबर १६५१, मई १६५५, अक्टूबर १६५६ और १६६४ के चुनाव दो विशाल साधनों मे हुए थे और इसलिए द्विदल पद्धति इंग्लैण्ड में प्रशासन का सार बन गया है। सत्रहवीं शताब्दी मे जन्म लेने वाले राजनीतिक दलो के सांविधानिक प्रश्नों के विषय में दो महत्त्वपूर्ण पर परस्पर विरोधी दृष्टिकोण थे। फलतः दो दलों का प्रादुर्भाव हो गया। कई वर्षों तक दो ही दल बने रहे। प्रश्न मुख्यतया यही बना रहा कि क्या शासन द्वारा स्वीकृत की गई नीति की ओर अग्रसर शीघ्रता से अथवा शनैः शनैः हुआ जाय? सावधान परिवर्तन-विरोधी तत्त्व ने अपना स्थान अनुदार दल में पा लिया और अधिक साहसी तत्त्व ने उदार दल (Liberal party) अथवा श्रमिक दल में स्थान बना लिया।

इंग्लैण्ड में जो लगातार द्विदल पद्धति प्रचलित है, उसका मुख्य कारण ब्रिटिश जाति के आर्थिक जीवन की सजातीयता अथवा सवर्गता (Homogeneity of the British Economic Life) है। १८४६ से लगातार दोनों मुख्य दलों ने दो विभिन्न वर्ग-हितों का प्रतिनिधित्व किया है और इन दोनों वर्गों मे पुनः विभेद इतने उग्र कभी

---

1. The British Constitution, p. 31.
2. *Ibid*, p. 54.

यह दल किसी एक दल का निरन्तर पक्ष लेता रहे तब इसकी अपनी अलग से स्थिति नष्ट सी हो जाती है। उदार दल (Liberal Party) के पतन का यही कारण था कि उसने १९२४ मे श्रमिक दल का समर्थन किया था।

ये कतिपय कारण हैं जिनसे इंग्लैण्ड में द्विदल पद्धति के विकास में सहायता मिली है। निस्सन्देह द्विदल पद्धति में कतिपय वास्तविक दोष हैं। किन्तु इन दोषों के कारण द्विदल पद्धति को समाप्त नही किया जा सकता। जैनिग्ज (Jennings) ने ठीक ही कहा है, "कि ब्रिटिश संविधान एक अत्यन्त सधा हुआ उपकरण अथवा साधन है अतः यदि उसमे कही भी कोई परिवर्तन किया जाएगा, तो उस परिवर्तन के फलस्वरूप सारी शासन-व्यवस्था को ही बदलना पड़ेगा।"

विभिन्न राजनीतिक दल
(The Parties)

दलों का अभ्युदय (Origin of Parties)—प्रारम्भ मे जब संसद् सम्राट् की मन्त्रणा परिषद् (Advisory Body) के रूप में कार्य करती थी, तो दलों का अस्तित्व ही नही था। संसद् (Parliament) से मन्त्रणा मांगी जाती थी, और वह मन्त्रणा देती थी। सम्राट् के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह ससद् की मन्त्रणा को अवश्य स्वीकार करे। संसद् में दल-पद्धति के विकास मे दो बातो की आवश्यकता थी। इस सम्बन्ध में प्रथम बात यह थी कि ससद् पूर्णरूपेण एक व्यवस्थापिका निकाय बन जाए और इसके अधिकार पूरी तरह मान लिए जाएँ। यह स्थिति १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक उत्पन्न नहीं हुई थी, और दूसरी बात यह थी कि कोई गहन सैद्धान्तिक एवं राजनीतिक आधार हो जिस पर बहुत से व्यक्ति एकमत होते हुए दलों का निर्माण करें। ऐसी स्थिति भी १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे ही उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार राजनीतिक दलों के उद्भव का यदि कोई निश्चित समय निर्धारित करना सम्भव है, तो वह जैसा कि बताया जा चुका है, १६७९ का वर्ष था।

प्रथम बार दलगत विरोध ह्विग्ज (Whigs) और टोरीज (Tories) मे देखने को मिला। टोरी दल देहातों के हितों का समर्थक था। देहातों मे जागीरदारी समाप्त हो चुकी थी, और जागीरदारी समाप्त होने के बाद जो कुछ जागीरदारो का आधिपत्य बचा खुचा था, उसको नगरों के व्यावसायिक हितो से खतरा था। इसके विपरीत ह्विग्ज (Whigs) दल समाज के उन नूतन हितों का समर्थक था जिनके द्वारा इग्लैण्ड का नया आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचा निर्मित हुआ। अपने हितों के अनुरूप ही, टोरी लोग (Tories) इंग्लैण्ड के चर्च (Church of England) को मानते थे किन्तु ह्विग्ज डिसेन्टर्स (Dissenters) के साथ थे। टोरी या अनुदार दल (Tories) ब्रिटिश समाज के एरिस्टोक्रेटिक (Aristocratic) तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करता था; किन्तु इस तत्त्व के विरोधी ह्विग्ज (Whigs) के पक्ष में थे। १९वीं शताब्दी तक टोरीज (Tories) और ह्विग्ज (Whigs) क्रमशः अनुदार दल

(Conservatives) और उदार दल (Liberals) बन चुके थे और बावजूद अनेक परिवर्तनों और विरोधाभासों के उन दोनों दलों के पुराने मतभेद ज्यों के त्यों बने रहे। दोनों दलों में १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और बीसवी शताब्दी तक शक्ति के लिए प्रतिस्पर्द्धा थी; और अन्त मे श्रमिक दल (Labour Party) ने राजनीतिक क्षेत्र में उदार दल (Liberal Party) का स्थान ले लिया।

अनुदार दल (The Conservative Party)—जैसा कि पहले बताया जा चुका है. अनुदार दल (The Conservative Party) ने कई बार नाम बदला है। अनुदार (Conservative) जो इस दल का लगभग सौ वर्षों से नाम चल रहा है, उस दल की वास्तविक प्रकृति को प्रकट नही करता। हर्बर्ट मौरीसन (Herbert Morrison) के अनुसार, अनुदार दल के इस नाम से प्राचीन परम्पराओ और पूर्वभावियों (Traditions and Precedents) का अर्थ बोध होता है।[1] डॉ० फाइनर (Dr. Finer) कहता है कि "अनुदार दल की स्थिति-पालकता (Conservatism) का सार उन सामाजिक संस्थाओं में देखने को मिलेगा जिनको यह दल मान्यता प्रदान करता है तथा उन्नति और सुधारों के प्रति जो इस दल का दृष्टिकोण है, उसमें भी इस दल की नाम-सार्थकता देखने को मिलेगी। अनुदार दल चाहता है कि इंग्लैण्ड में क्राऊन (Crown) की सत्ता अक्षुण्ण बनी रहे, राष्ट्रीय एकता रहे, चर्च का आधिपत्य रहे और व्यक्तिगत सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार न रहे।"[2] इन्ही कारणो से अनुदार दल के सदस्य मजबूती के साथ पुरानी परम्पराओं और तड़क-भड़क एवं दिखावे के उत्सवों मे अधिक रुचि लेते हैं। वे राजतन्त्र आदि पुरानी व्यवस्थाओ की आलोचना पसन्द नही करते और इस बात पर बल देते हैं कि सभी राजा के प्रति निष्ठा रखें, साथ ही राज्य के प्रति भी निष्ठा रखें, क्योंकि राज्य राजा का ही प्रतीक है। अनुदार दल अपने अर्थो मे पूर्ण राष्ट्रीयता का समर्थक है और इस दल के सदस्यों को "प्रायः यह कहते सुना जाता है कि अमुक देश अथवा अमुक सम्प्रदाय (Sect) अविश्वसनीय है।"[3]

अनुदार दल की सबसे बड़ी इच्छा यह है कि किसी भी प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रहे, इसलिए यह दल व्यक्तिगत सम्पत्ति और प्राइवेट उद्योग-धन्धों एवं व्यापार का समर्थक है। स्वभावतः ही यह दल उद्योगों के समाजीकरण का विरोध करता है। इसलिए, बड़े-बड़े उद्योगपति अनुदार दल की पुरानी कुलीनतन्त्र व्यवस्था (Aristocracy) में मिल गए हैं। १९वीं शताब्दी के उत्तर-पूर्वार्द्ध में पील (Peel) द्वारा उत्साहित इस प्रकार के संगठन ने वास्तव में उस अनुदार दल (Conservative Party) की स्थापना कर दी जो प्रारम्भिक जागीरदारी

1. Herbert Morrison : Government and Parliament. p 131.
2. Finer : Theory and Practice of Modern Government, p. 312.
3. Theory and Practice of Modern Government, p. 313.

वर्ग के टोरी (Tory) दल से पूर्णतया भिन्न है। अनुदार दल में टोरी लोग अब भी है और उन्होंने दल के दक्षिण पक्ष का निर्माण किया है। इन दक्षिणपक्षी अनुदार-दलीय व्यक्तियों में से कुछ झगड़ालू (Diehards) कहे जाते है, जो पूर्ण अपरिवर्तन-वादी हैं अथवा पूर्ण स्थिति-पालक है। किन्तु अनुदार दल के अधिकतर सदस्यों की मान्यता यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था अपने आप को इस रूप मे बदले कि उसको न केवल धनिक वर्ग का समर्थन ही प्राप्त हो, बल्कि वह सभी वर्गों को मान्य हो जाए। वे यह भी चाहते है कि प्रजातन्त्र की रक्षा हो और राज्य सामाजिक सेवाओं की विकास-वृद्धि की ओर अग्रसर होता रहे। उनका यह भी विचार है कि पूँजीवादी व्यवस्था के समर्थन का यह अर्थ नहीं है कि समस्त उद्योगों पर प्राइवेट अधिकार स्थापित हो जाए, वे तो चाहते है कि शासन सहानुभूति के साथ उद्योगो के विकास को देखे और जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ प्राइवेट उद्योग को प्रशुल्को (Tariffs), अर्थ साहाय्य (Subsidies) और बाजार सगठन (Market Organisation) द्वारा सहायता प्रदान करे। राष्ट्रीय भावनाओं और उद्योगपतियो के हितों, इन दोनों ने मिलकर अनुदार दल के ऊपर यह प्रभाव डाला है कि वह बेकारी की समस्या के विरुद्ध रक्षा करने के लिए गृह-उद्योगो के संरक्षण को प्रोत्साहित करता है। बीसवी शताब्दी मे गृह-उद्योगो को अधिक महत्त्व दिया गया और इसके फलस्वरूप अन्तःसाम्राज्य व्यापार (Inter Imperial Trade) बढ़ाने का प्रयत्न किया गया।

अनुदार दल के युवक सदस्य चाहते है कि दल का प्रोग्राम उतना ही उन्नतिशील और ओजस्वी (Progressive and Vigorous) बने जितना श्रमिक दल का। यह दृष्टिकोण हाल ही में देखने में आया है। इस दल ने १९४७ मे इण्डस्ट्रियल आज्ञापत्र (Industrial Charter) नाम का लेख छपवाया जिसमें केन्द्रीय नियोजन (Central Planning) की आवश्यकता को स्वीकार किया गया और इस चार्टर अथवा आज्ञापत्र को १९४७ के अनुदारदलीय सम्मेलन (Conservative Conference of 1947) ने स्वीकार कर लिया। इसका अर्थ है कि न केवल अनुदार दल के इस उन्नतिशील वर्ग की विजय हुई, बल्कि अनुदारदलीय सदस्यों के दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन हुआ है। १९४९ मे अनुदार दल ने अपनी नीति का निर्देश करते हुए एक पत्रिका निकाली जिसका नाम था 'ब्रिटेन के लिए सही मार्ग' (The Right Road for Britain)। इस नीति-निर्देशक पत्रिका के द्वारा अनुदार दल ने प्रतिज्ञा की कि देश में सभी को रोजगार मिलेगा, और साथ ही शासन पूरी तरह से लोक-कल्याणकारी सेवाओं की ओर अग्रसर होगा। १९५१ में अनुदार दल ने जो चुनाव-घोषणापत्र (Manifesto) जारी किया, उसमें न केवल सभी को उपयुक्त निवास-स्थान मिलने की दिशा में आश्वासन दिया गया बल्कि यह भी बलपूर्वक आश्वासन दिया गया कि निवास-स्थान सम्बन्धी समस्या को राष्ट्रीय रक्षा के बाद द्वितीय प्राथमिकता (Priority) दी जाएगी। १९५५ के आम चुनाव में अनुदार दल ने प्रतिज्ञा की कि देश मे स्वतन्त्र उद्योग एवं स्वतन्त्र व्यापार (Free Enterprise) के द्वारा समृद्धि लाने का प्रयत्न किया जाएगा। १९५९ के निर्वाचन-घोषणापत्र में

अनुदार दल ने दावा किया कि उसके शासन-काल मे इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था सबसे ज्यादा सुदृढ रही है।

अनुदार दल के समर्थक धनिक लोग है और सामान्य अथवा मध्यवर्ग के वे लोग भी है जो समझते हैं कि समाजवाद उनकी सुरक्षा के लिए चुनौती है। अनुदार दल विशेष रूप से भूमि समस्या में रुचि रखता है और कृषि की उन्नति का समर्थक है। इस प्रकार अनुदार दल को देहाती दल (Rural Party) भी कहा जा सकता है किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इस दल को मध्य वर्ग और श्रमिक वर्ग से भी समर्थन मिलता है।

अनुदार दल में दल का नेता ही सब कुछ है। दल का नेता केवल संसद् के सत्र के लिए अथवा कुछ समय के लिए ही नियुक्त नहीं किया जाता। जहां एक बार कोई व्यक्ति दल का नेता चुन लिया गया, वह फिर मृत्युपर्यन्त अथवा त्याग-पत्र देने तक दल का नेता बना रहता है जैसा कि चर्चिल के सम्बन्ध मे हुआ है। जब नेता अवकाश ग्रहण करता है, तो वह अपने उत्तराधिकारी को भी नामांकित करता है। और यदि नेता, बिना अपने उत्तराधिकारी को नामांकित किए मर जाए, तो भी उसका उत्तराधिकारी स्पष्टतः प्रकाश में होता है, अनुदार दल का प्रधान-मन्त्री सदैव दल का नेता ही होता है, चाहे दल के महत्त्वपूर्ण एवं तेजस्वी सदस्य उसको न भी चाहते हो। जब नेविल चेम्बरलेन (Naville Chamberlain) के उत्तराधिकारी स्वरूप चर्चिल प्रधान-मन्त्री बना, उस समय उसका नेतृत्व संदिग्ध था क्योंकि वह दल के झगड़ालू सदस्यो (Diehards) मे अप्रिय था, किन्तु फिर भी सामान्य क्रम के अनुसार वही प्रधान-मन्त्री बना।

अनुदार दल के नेता को जो अधिकार एवं शक्तियाँ प्राप्त हैं, वे श्रमिक दल के नेता को प्राप्त नही है। वही केन्द्रीय कार्यालय के लिए दल के संगठन का सभापति (Chairman) नियुक्त करता है और वही दल की नीति निर्धारण सम्बन्धी वक्तव्यों को तैयार करता है और उनकी व्याख्या करता है। जब अनुदार दल विरोधी दल के रूप में कार्य करता है, तो वही लोक-सभा और लॉर्ड-सभा में से कतिपय सदस्य चुनता है जो उसके साथ आभास मन्त्रिमण्डल (Shadow Cabinet) का निर्माण करते हैं।

उदार दल (The Liberal Party)—उदार दल आजकल मुख्य राजनीतिक दलों में से एक नहीं है; यद्यपि कई पीढ़ियों से यह दल मुख्य दलों मे से एक रहा है। और आजकल भी उदार दल के सदस्य अपनी योग्यता अथवा अपने नेतृत्व के गुणों के कारण घटिया पार्टी नहीं हैं। वास्तव में उदार दल सैनिक अफसरों की एक फौज है, जिसमें पर्याप्त सैनिकों का अभाव है। जब तक उदार दल का सिद्धान्त जीवित है, तब तक दल भी जीवित रहेगा। १९४५ में इस दल को लगभग सवा दो मिलियन अथवा २२½ लाख मत मिले थे और उन ३०६ प्रत्याशियों में से जिनको इस दल ने खड़ा किया था, केवल १२ प्रत्याशी विजयी हुए। और इन बारह विजयी

प्रत्याशियों में से सात प्रत्याशी केवल वेल्स (Wales) के जिलों से चुने गए थे। १९५० के ग्राम चुनाव में उदार दल के पक्ष मे ढाई मिलियन अथवा २५ लाख मत आए, किन्तु केवल ९ प्रत्याशी विजयी हुए, और इस दल के ३१९ प्रत्याशियों को अपनी जमानत की रकमों (Deposits) से हाथ धोना पड़ा। १९५१ के ग्राम चुनाव मे इस दल को बहुत ही कम मत प्राप्त हुए और केवल ६ सदस्य उदार दल की ओर से संसद् में पहुँच सके। १९५५ और १९५९ के चुनावों में इस दल के केवल ६ सदस्य ही निर्वाचित हुए। १९६४ में दल को ३,०९३,३१६ मत प्राप्त हुए और ९ स्थान मिले।

इस दल ने सदैव हर क्षेत्र में स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। इसने धार्मिक क्षेत्र मे भी विशेषकर नॉन-कनफर्मिस्टों (Non-Conformists) को स्वतन्त्रतापूर्वक धार्मिक पूजा करने के सम्बन्ध में तथा उनको कतिपय उन धार्मिक एवं सामाजिक निर्योग्यताओं से मुक्ति दिलाने का सदैव प्रयास किया है जिनके कारण नॉन-कनफर्मिस्टों को असुविधा थी; इस प्रकार इस दल ने धार्मिक स्वतन्त्रता का सदैव पक्ष लिया है। साथ ही इस दल ने राजनीतिक स्वतन्त्रता का भी सदैव समर्थन किया है। इसकी सदैव इच्छा रही है कि सभी को समान मताधिकार मिले; तथा लोकप्रिय आधार पर चुनी गई लोक-सभा को पूर्ण अधिकार हो और उसके पास अन्तिम प्रभु-सत्ता हो। १९११ का संसद् अधिनियम (Parliament Act of 1911) उदार दल की जीत थी और उसके स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की अंतिम पुष्टि थी।

उदार दल ने सदैव शासन की ओर से प्रतिबन्ध लगाने का विरोध किया है और यथेच्छाकारिता नीति (*Laissez faire*) का समर्थन किया है। १९वीं शताब्दी के मध्य में उदार दल व्यापारी वर्ग और निर्माणकारी वर्ग (Manufacturing Classes) का प्रतिनिधित्व करता था किन्तु उनके हित जागीरदारों (Landed Class) के विरुद्ध थे। उदारवाद का लोकप्रिय समुदाय सदैव यही चाहता था कि सामाजिक सुधारों का समर्थन किया जाए, किन्तु सामाजिक सुधार १९वीं शताब्दी के व्यक्तिवादी सिद्धान्त से मेल नहीं खाते थे। आजकल उदारवादी मानते है कि एक आवश्यक स्वतन्त्रता श्रमिकों की स्वतन्त्रता भी है जिसकी व्यवस्था होनी ही चाहिए। उदारवादियों के लिए पूँजीवाद अथवा समाजवाद की समस्या का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि समझा जाता है। अनुदार दल कुलीनतन्त्र के राज्य (Aristocracy) एवं प्रशुल्कों का पक्षपाती है; श्रमिक दल उद्योगों का समाजीकरण चाहता है। किन्तु उदार दल के समर्थक (Liberals) इन दोनों बातों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक समझते है। जहाँ उदारवादी समाजवाद (Socialism) का विरोध करते हैं, वहीं, ये पूँजीवाद में पर्याप्त सुधार करने के पक्षपाती हैं। वे कतिपय उद्योगों के समाजीकरण के लिए भी तैयार हैं किन्तु तभी यदि ऐसा सिद्ध हो जाए कि समाजीकरण के द्वारा कार्यकुशलता मे वृद्धि हो सकती है; किन्तु वे यह नहीं मानते कि राष्ट्रीयकरण के द्वारा ही सामाजिक व्यवस्था ठीक की जा सकती है। उदारवादी तो इससे भी आगे बढ गये हैं और वे सम्पत्ति विस्तार (Diffusion) के पक्षपाती

वाला दल या तो अनुदार दल (Conservative) है या श्रमिक दल (Labour) है। इसका फल यह हुआ कि उदार दल का निरन्तर ह्रास हुआ है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं होगा यदि निकट भविष्य मे इंग्लैण्ड के राजनीतिक क्षेत्र से उदार दल पूर्ण रूप से वहिष्कृत हो जाए।

श्रमिक दल (The Labour Party)—श्रमिक दल जो श्रमिक वर्ग के आन्दोलन का राजनीतिक मूर्त्त स्वरूप है, इसी शताब्दी का जात है यद्यपि इस आन्दोलन का जन्म औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) से हुआ था जिसके फलस्वरूप अनेक ऐसे शहरी श्रमिक पैदा हो गए जिनका भूमि के एवं पैदावार के साधनों से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। यह आन्दोलन कई रूप से उभरा अर्थात् ट्रेड यूनियनों (Trade Unions) के रूप मे, सहकारी समितियों (Co-operative Societies) के रूप मे, और चार्टिस्ट आन्दोलन (Chartist Agitation) के रूप में। इन आन्दोलन के द्वारा सार्वजनिक पुरुष मताधिकार (Universal Male Suffrage) की माँग की गई। किन्तु प्रभावी राजनीतिक दल के रूप में श्रमिक दल १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे उत्पन्न हुआ, जब व्यापक मताधिकार प्रदान किया गया। श्रमिक दल की स्थापना १९०० में हुई और तब से इस दल की प्रतिष्ठा में निरन्तर वृद्धि हो रही है और १९२२ के आम चुनाव के बाद से तो यह दल देश का सबसे बड़ा द्वितीय दल माना जाने लगा है।

यदि हम श्रमिक दल के कार्यक्रम को समझने का प्रयत्न कर, जैसा कि इसके राष्ट्रीय सम्मेलनो द्वारा बताया गया है, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यह एक समाजवादी दल है जिसका ध्येय है कि "उत्पादन के समस्त साधनो पर सर्व-साधारण का आधिपत्य होना चाहिए तथा प्रत्येक उद्योग एव सेवा का नियन्त्रण एवं लोकप्रिय शासन अच्छी प्रणाली के द्वारा होना चाहिए।" श्रमिक दल की वास्तविक इच्छा सामाजिक समानता (Social Equality) स्थापित करने की है, किन्तु समाज-वाद की ओर उसकी प्रवृत्ति उतनी नही है। इसलिए श्रमिक दल की इच्छा है कि सर्वसाधारण को राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक सुविधा प्राप्त हो, विशेषकर उन लोगों को जो श्रमिक वर्ग के है और जो हाथ की या दिमाग की मेहनत से आजीविका कमाते है और जिनका अन्य कोई आजीविका का साधन नहीं है। इस प्रकार श्रमिक दल की इच्छा है कि शासन की प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली के द्वारा ब्रिटेन के सख्त पूँजीवादी ढाँचे को बदल दिया जाए। श्रमिक दल वास्तव मे ऐसे देश मे, जहाँ सामाजिक समता की आवश्यकता है, समाज मे समता और एकता पैदा करने वाला दल है। "यह दल चाहता है कि सभी के लिए एक समान शिक्षा का स्तर रहे, साथ ही यह भी चाहता है कि सभी को शिक्षा की समान सुविधा प्राप्त हो। दल यह भी चाहता है कि सब का समान सम्पत्ति पर अधिकार हो और साथ ही सम्पत्ति के बँटवारे की प्रथा में समानता बरती जाए।" कृषि के क्षेत्र में, श्रमिक दल चाहता है कि आयात और पैदावार के वितरण पर इस प्रकार अंकुश रखा जाए ताकि कृपक

अर्थात् वे चाहते हैं कि किसी भी उद्योग में जितने भी श्रमिक है, वे शनैः-शनैः लाभ मे हिस्सेदार हों। उसके बाद वह लाभ पूँजी के रूप में जमा होता जाए जिससे उस उद्योग मे सभी श्रमिकों को अन्ततोगत्वा हिस्सेदार मान लिया जाए। वे यह भी चाहते हैं कि उद्योगों का प्रजातन्त्रीकरण हो और प्रत्येक उद्योग का प्रबन्ध एक औद्योगिक काउन्सिल (Industrial Council) के हाथों में दे दिया जाए जिसमे श्रमिकों एव मालिकों के प्रतिनिधि हों। उसी प्रकार वे चाहते हैं कि प्रत्येक शिल्पगृह (Factory) मे एक वर्क्स काउन्सिल (Works Council) हो जिसमे श्रमिक एवं मिल-मालिक दोनों के प्रतिनिधि हो।

यद्यपि उदारवादी, समाजवादी (Socialists) नही हैं किन्तु वे दो मार्गों से *समाजवाद की स्थापना करने का प्रयत्न करते है। प्रथमतः*, वे उन सभी उद्योगों का समाजीकरण करने के पक्ष में हैं जिनका प्रबन्ध राज्य अपने हाथों में आसानी से ले सकता है। और द्वितीयतः, वे सामाजिक सहयोग के सिद्धान्त को उस रूप मे स्थापित करना चाहते हैं जिसका अभी वर्णन किया गया है। "वे न तो प्राइवेट उद्योग-धन्धों के राज्य मे विश्वास करते है, न पूर्णतः समाजवादी अथवा समाजीकृत राज्य में; अपितु वे तो एक *मिली-जुली व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं जिसमें प्राइवेट* उद्योगो और समाजीकरण दोनों की अच्छाइयाँ सम्मिलित हों और जो राष्ट्र की उचित आवश्यकताओ की पूर्ति करती हो और जो शनैः-शनैः राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुसार प्राइवेट उद्योग अथवा समाजीकरण का परिमाण उसी अनुपात मे घटाती-बढ़ाती चले।" इस प्रकार उदारवादियो का कथन है कि वे किसी एक वर्ग का प्रतिनिधित्व नही करते अपितु वे समस्त राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं और वे किसी एक सिद्धान्त से बँधे हुए नहीं है वे तो प्रत्येक प्रस्ताव पर खुले दिल से विचार करते है। वे अनुदार दल (Conservatives) की प्रशुल्क नीति का विरोध करते हैं। साम्राज्य सम्बन्धी तथा विदेशी मामलो से सम्बन्धित तात्कालिक समस्याओ पर वे प्रायः वही विचार रखते हैं जो श्रमिक दल के है।

उदार दल का समर्थन साधारण आमदनी वाले मतदाता अधिक संख्या मे करते है, किन्तु उसे धनिक वर्ग अथवा गरीब वर्ग से बहुत कम समर्थन मिलता है। कतिपय जिलों अथवा क्षेत्रों में उदार दल वालों को सुदृढ़ समर्थन मिलता है विशेषकर उन जिलों मे जहाँ नॉन-कन्फर्मिस्ट (Non-Conformist) अधिक संख्या में हैं। किन्तु बहुत से उदार दल के सदस्य ऐसा अनुभव करते है कि यदि वे अनुदार दल या श्रमिक दल का समर्थन करने लगे तो सम्भवतः वे अधिक प्रभावशाली हो सकेंगे और इस प्रकार उक्त दोनों दलों की नीतियों पर उदारवादी दृष्टिकोण का प्रभाव डाल सकेंगे। सत्य यह है कि ऐसे देश में जिसमें द्विदल शासन-पद्धति है—अर्थात् शासन का दल एवं विरोधी दल—उसमें दोनों दलो की संख्या से कम संख्या वाले तृतीय दल की अवस्था निस्सन्देह शोचनीय-सी बनी रहती है। इसके अतिरिक्त सभी मतदाताओं की यह स्वाभाविक इच्छा रहती है कि उनके मत का कुछ मूल्य हो अर्थात् वे *ऐसे दल का समर्थन करें जिसके जीतने की कुछ न कुछ सम्भावना हो* और जीतने

वाला दल या तो अनुदार दल (Conservative) है या श्रमिक दल (Labour) है। इसका फल यह हुआ कि उदार दल का निरन्तर ह्रास हुआ है। इसमे कोई आश्चर्य नही होगा यदि निकट भविष्य मे इग्लैण्ड के राजनीतिक क्षेत्र से उदार दल पूर्ण रूप से बहिष्कृत हो जाए।

श्रमिक दल (The Labour Party)—श्रमिक दल जो श्रमिक वर्ग के आन्दोलन का राजनीतिक मूर्त्त स्वरूप है, इसी शताब्दी का जात है यद्यपि इस आन्दोलन का जन्म औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) से हुआ था जिसके फलस्वरूप अनेक ऐसे शहरी श्रमिक पैदा हो गए जिनका भूमि के एवं पैदावार के साधनों से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। यह आन्दोलन कई रूप से उभरा अर्थात् ट्रेड यूनियनों (Trade Unions) के रूप में, सहकारी समितियों (Co-operative Societies) के रूप मे, और चार्टिस्ट आन्दोलन (Chartist Agitation) के रूप में। इन आन्दोलन के द्वारा सार्वजनिक पुरुष मताधिकार (Universal Male Suffrage) की माँग की गई। किन्तु प्रभावी राजनीतिक दल के रूप मे श्रमिक दल १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे उत्पन्न हुआ, जब व्यापक मताधिकार प्रदान किया गया। श्रमिक दल की स्थापना १९०० मे हुई और तब से इस दल की प्रतिष्ठा मे निरन्तर वृद्धि हो रही है और १९२२ के आम चुनाव के बाद से तो यह दल देश का सबसे बड़ा द्वितीय दल माना जाने लगा है।

यदि हम श्रमिक दल के कार्यक्रम को समझने का प्रयत्न कर, जैसा कि इसके राष्ट्रीय सम्मेलनो द्वारा बताया गया है, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यह एक समाजवादी दल है जिसका ध्येय है कि "उत्पादन के समस्त साधनो पर सर्व-साधारण का आधिपत्य होना चाहिए तथा प्रत्येक उद्योग एवं सेवा का नियन्त्रण एवं लोकप्रिय शासन अच्छी प्रणाली के द्वारा होना चाहिए।" श्रमिक दल की वास्तविक इच्छा सामाजिक समानता (Social Equality) स्थापित करने की है, किन्तु समाज-वाद की ओर उसकी प्रवृत्ति उतनी नही है। इसलिए श्रमिक दल की इच्छा है कि सर्वसाधारण को राजनीतिक, सामाजिक एव आर्थिक सुविधा प्राप्त हो, विशेषकर उन लोगों को जो श्रमिक वर्ग के है और जो हाथ की या दिमाग की मेहनत से आजीविका कमाते है और जिनका अन्य कोई आजीविका का साधन नही है। इस प्रकार श्रमिक दल की इच्छा है कि शासन की प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली के द्वारा ब्रिटेन के सख्त पूँजीवादी ढाँचे को बदल दिया जाए। श्रमिक दल वास्तव में ऐसे देश मे, जहाँ सामाजिक समता की आवश्यकता है, समाज मे समता और एकता पैदा करने वाला दल है। "यह दल चाहता है कि सभी के लिए एक समान शिक्षा का स्तर रहे, साथ ही यह भी चाहता है कि सभी को शिक्षा की समान सुविधा प्राप्त हो। दल यह भी चाहता है कि सब का समान सम्पत्ति पर अधिकार हो और साथ ही सम्पत्ति के बँटवारे की प्रथा में समानता बरती जाए।" कृषि के क्षेत्र में, श्रमिक दल चाहता है कि लगान और पैदावार के वितरण पर इस प्रकार अंकुश रखा जाए ताकि कृषक

आश्वस्त रहे कि उसे अपनी पैदावार की निश्चित कीमत मिलेगी, और उसके बदले में किसान को अच्छी तरह से प्रबन्ध करना चाहिए और मजदूरों की स्थिति संतोष-जनक रखनी चाहिए।

श्रमिक दल (Labour Party) जब सत्तारूढ़ होता है तो इन साधनों के द्वारा यह प्रयत्न करता है कि राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था पर पूर्ण प्रभाव डाले और फिर इस प्रभाव के द्वारा उस अधिकार पर प्रहार करे जो उद्योगों के ऊपर नियन्त्रित प्राइवेट एकाधिकार के रूप में छाया हुआ है तथा उस प्रभाव के द्वारा देश के प्राकृतिक साधनो और वैज्ञानिक सभाव्यताओं (Technical Potentialities) से पूरा-पूरा लाभ उठाया जाए। इसके अतिरिक्त शासन को व्यवसाय मे धन लगाने (Investment) का अधिकार है, एवं किस स्थान पर उद्योग विकसित किए जाएँ इसका भी अधिकार है। इन अधिकारों के द्वारा शासन बेकारी की ऐसी अवस्था उत्पन्न नही होने दे सकता, और न बेकारी के कारण दुःखी क्षेत्र (Distressed Areas) पैदा होने देगा और इस प्रकार ऐसी स्थिति नही आने पावेगी जैसी कि १६३० के आस-पास उत्पन्न हो गई थी। सक्षेप मे श्रमिक दल चाहता है कि "ब्रिटेन समानता (Equality) के नये युग में पदार्पण करे और इस प्रकार पदार्पण करे कि न शोरगुल हो, न इस बात का प्रदर्शन हो कि समानता के नये युग में पदार्पण समाजवादी या अन्य किसी व्यवस्था के अनुरूप हो रहा है अपितु केवल इस स्वेच्छा से कार्य हो कि वास्तविक सामाजिक परिवर्तन हो जाए और वास्तव मे ही समानता आ जाए।"[1]

साम्राज्य के सम्बन्ध में श्रमिक दल की यह इच्छा है कि उन सभी प्रदेशों को जिनमें स्वशासन नहीं है, जल्दी से जल्दी स्वशासन दे दिया जाए। उस दिशा में इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वे चाहते हैं कि उपनिवेशों के प्राकृतिक साधनों को विकसित एवं उन्नत किया जाए। उसमे सामाजिक सेवाओं की वृद्धि की जाए; और देशीय ट्रेड यूनियन और सहकारी आन्दोलन (Co-operative activity) को प्रोत्साहित किया जाए। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे जहाँ इस दल का अन्तिम उद्देश्य है कि संसार में समाजवादी विश्व सरकार (Socialist Commonwealth) स्थापित की जाए, वहाँ इस दल का तात्कालिक उद्देश्य यह है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में सुदृढ़ एकता स्थापित की जाए और इसके द्वारा सामूहिक सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाए, यद्यपि लीग ऑफ नेशन्स (League of Nations) इस दिशा में पूर्ण असफल रही थी। किन्तु जिन लोगों ने विभिन्न दलों के कार्यक्रम का अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि उनके स्पष्ट भेद अधिकतर उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व और नियन्त्रण के सम्बन्ध में है और "सामाजिक, साम्राज्यीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सभी की घोषित नीतियाँ प्रायः समान हैं और निर्वाचकों को यह निश्चय करना पड़ता है कि

1. Barker, E. : Britain and the British People, p. 48

दल का प्राथमिक आधार पार्टी कान्फ्रेंस (Party Conference) है। इस कान्फ्रेंस में सभी अवयवी संगठनों के प्रतिनिधि होते हैं। सम्मिलित अथवा अधीन (Affiliated) संगठनों के प्रति १,००० व्यक्तियों अथवा सदस्यों के लिए एक मत दिया जाता है। देश भर की ट्रेड यूनियनों (Trade Unions) का, जिनकी सदस्य संख्या लगभग ४५ लाख (4½ millions) है, समस्त दल मे बहुमत है। यह पार्टी कान्फ्रेंस (Party Conference), नेशनल एक्जीक्यूटिव कमेटी (National Executive Committee) का चुनाव करती है। नेशनल एक्ज़ीक्यूटिव कमेटी ही दल के सभी मामलों का प्रबन्ध करती है और दल के केन्द्रीय कार्यालय (Central Office) का संचालन करती है। सिद्धान्ततः, एक्जीक्यूटिव कमेटी (Executive Committee), पार्टी कान्फ्रेंस के अधीन है, किन्तु व्यवहार में वही अग्रगण्य है। संसदीय श्रमिक दल का नेता, नेशनल एक्ज़ीक्यूटिव कमेटी (National Executive Committee) का पदेन-सदस्य (ex-officio member) होता है। एक्ज़ीक्यूटिव कमेटी (Executive Committee) ही प्रायः दल के समस्त प्रोग्राम को तैयार करती है और केन्द्रीय कार्यालय के द्वारा दल के समस्त क्रिया-कलापो का सचालन करती है। एक्ज़ीक्यूटिव कमेटी (Executive Committee) की शक्ति का मुख्य आधार यह नियम है कि कोई भी बिना एक्ज़ीक्यूटिव कमेटी की आज्ञा के चुनाव मे श्रमिक दल के नाम से खड़ा नही हो सकता। इसके अतिरिक्त इसको यह भी अधिकार है कि यह किसी व्यक्तिगत सदस्य को दल से बहिष्कृत कर सकती है, अथवा किसी संगठन को दल के संगठन से अलग (Disaffiliate) कर सकती है; यद्यपि इस प्रकार की कार्यवाही पर पार्टी कान्फ्रेंस (Party Conference) मे पुनरीक्षण (Review) करना आवश्यक माना गया है।

१९६४ के आम चुनाव में श्रमिक दल को सरकार बनाने के लिए केवल ५ वोटों का ही खतरनाक बहुमत प्राप्त हुआ। उसके पक्ष में डाले जाने वाले वोटो की संख्या १२,२०५,५०७, (४४.१ प्रतिशत) थी जबकि अनुदार दल को १२,००२, ४०७ (४३.४%) मत मिले थे।

Suggested Readings

Barker, —. : *Britain and the British People* (1943), Chap. II.

Briers, P. M. and Others : *Papers on Parliament, A Symposium* (1949). *"The Party System and National Interests."*

Champion and Others : *Parliament, A Survey*, Chap. VIII.

Finer, H. : *The Theory and Practice of Modern Government* (1954), Chap. 16.

Gooch, R. K. : *The Government of England*

Greaves, H. R. G. : *The British Constitution.*

दल का प्राथमिक आधार पार्टी कान्फ्रेंस (Party Conference) है। इन कान्फ्रेंस में सभी अवयवी संगठनों के प्रतिनिधि होते हैं। सम्मिलित अथवा अधीन (Affiliated) संगठनों के प्रति १,००० व्यक्तियों अथवा सदस्यों के लिए एक मत दिया जाता है। देश भर की ट्रेड यूनियनों (Trade Unions) का, जिनकी सदस्य संख्या लगभग ४५ लाख (4½ millions) है, समस्त दल में बहुमत है। यह पार्टी कान्फ्रेंस (Party Conference), नेशनल एक्जीक्यूटिव कमेटी (National Executive Committee) का चुनाव करती है। नेशनल एक्जीक्यूटिव कमेटी ही दल के सभी मामलों का प्रबन्ध करती है और दल के केन्द्रीय कार्यालय (Central Office) का संचालन करती है। सिद्धान्ततः, एक्जीक्यूटिव कमेटी (Executive Committee), पार्टी कान्फ्रेंस के अधीन है, किन्तु व्यवहार में वही अग्रगण्य है। संसदीय श्रमिक दल का नेता, नेशनल एक्जीक्यूटिव कमेटी (National Executive Committee) का पदेन-सदस्य (ex-officio member) होता है। एक्जीक्यूटिव कमेटी (Executive Committee) ही प्रायः दल के समस्त प्रोग्राम को तैयार करती है और केन्द्रीय कार्यालय के द्वारा दल के समस्त क्रिया-कलापों का संचालन करती है। एक्जीक्यूटिव कमेटी (Executive Committee) की शक्ति का मुख्य आधार यह नियम है कि कोई भी बिना एक्जीक्यूटिव कमेटी की आज्ञा के चुनाव में श्रमिक दल के नाम से खड़ा नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इसको यह भी अधिकार है कि यह किसी व्यक्तिगत सदस्य को दल से बहिष्कृत कर सकती है, अथवा किसी संगठन को दल के संगठन से अलग (Disaffiliate) कर सकती है; यद्यपि इस प्रकार की कार्यवाही पर पार्टी कान्फ्रेंस (Party Conference) में पुनरीक्षण (Review) करना आवश्यक माना गया है।

१९६४ के आम चुनाव में श्रमिक दल को सरकार बनाने के लिए केवल ५ वोटों का ही खतरनाक बहुमत प्राप्त हुआ। उसके पक्ष में डाले जाने वाले वोटों की संख्या १२,२०५,५०७, (४४.१ प्रतिशत) थी जबकि अनुदार दल को १२,००२, ४०७ (४३.४%) मत मिले थे।

Suggested Readings

Barker, E. : *Britain and the British People* (1943), Chap. II.

Briers, P. M. and Others : *Papers on Parliament, A Symposium* (1949). *"The Party System and National Interests."*

Champion and Others : *Parliament, A Survey*, Chap. VIII.

Finer, H. : *The Theory and Practice of Modern Government* (1954), Chap. 16.

Gooch, R. K. : *The Government of England* (1947), Chap V.

Greaves, H. R. G. : *The British Constitution*. Chap. VI.

व्यवस्था बदल गई। इस उलट-फेर के तीन फल हुए। प्रथमतः, स्थानीय शासन-संस्थाओं में सुधार हुआ और उनका स्वरूप प्रजातन्त्रात्मक हो गया। द्वितीयतः, सुधार के साथ-साथ स्थानीय शासन की शक्तियों के कर्त्तव्यों के संबंध में स्पष्टीकरण हो गया। तृतीयतः, सुधार के साथ-साथ स्थानीय शासन और केन्द्रीय सरकार के बीच संबंधों की स्पष्ट व्याख्या (Elucidation) हो गई। स्थानीय शासनिक संस्थाओं का सुधार काफी लम्बी और पेचीदा समस्या थी क्योंकि १८३५ से १८८८ तक इंग्लैंड ने अजीब-सी नीति अपनायी जिसके अनुसार एक नई तदर्थ (*ad hoc*) सत्ता सजित की गई जिसके द्वारा उस प्रत्येक स्थानीय आवश्यकता का निराकरण कराना था जो कभी भी उत्पन्न हो सकती थी। केवल यही नहीं, वल्कि प्रत्येक सत्ता (Authority) अथवा संस्थान को कार्य करने का अलग क्षेत्र दिया गया जो पुरानी सत्ता या संस्था के क्षेत्र से भिन्न था। १८८८ के स्थानीय स्वशासन अधिनियम (Local Government Act of 1888) ने यह सारी अनियमितता बदल डाली। इस अधिनियम ने पुरानी जस्टिसेज ऑफ दि पीस (Justices of the Peace) प्रणाली को, साथ ही तदर्थ सत्ताओं अथवा निकायों (Bodies) को भी हटा दिया जो हाल ही में बढ़ाये गए थे; और उनके स्थान पर काउण्टी परिषदों की स्थापना की जो प्रजातन्त्रात्मक थी और साथ ही सामान्यतया सक्षम भी थी। इस व्यवस्था का शनैः-शनैः विकास हुआ। स्थानीय स्वशासन की आधुनिक व्यवस्था, मुख्यतः छः विशिष्ट एवं विभिन्न प्रकार की सत्ताओं में निहित कर दी गई है। वे छः सत्ताएँ निम्न हैं—प्रशासनिक काउण्टी (The Administrative County), काउण्टी बौरो (The County Borough), काउण्टी रहित बौरो (The Non-County Borough), अरबन डिस्ट्रिक्ट (The Urban District), रूरल डिस्ट्रिक्ट (The Rural District) और पैरिश (The Parish)। इन छः सत्ताओं के प्रशासन का सम्बन्ध भी विभिन्न प्रकार प्रारम्भ हुआ—प्रथम और द्वितीय का प्रशासन १८८८ से प्रारम्भ हुआ; तृतीय का प्रशासन १८३५ से प्रारम्भ हुआ किन्तु जिसका सुधार १८८२ में हुआ; चौथी पाँचवी और छठी सत्ताओं का प्रशासन १८९४ से प्रारम्भ हुआ। लन्दन की काउण्टी काउन्सिल (The London County Council) की स्थापना १८८९ में हुई, जो अप्रत्यक्षतः निर्वाचित मेट्रोपोलिटन बोर्ड ऑफ वर्क्स (Metropolitan Board of Works) की उत्तराधिकारिणी थी।

स्थानीय स्वशासन के अधिकारों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में और उसके उन्नतिशील सुधार तथा १८३५ से लेकर अब तक के तत्सम्बन्धी स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक होगा कि अब इंग्लैण्ड में पूर्ण स्थानीय स्वशासन (Integral Local Government) की स्थापना हो चुकी है और उसके नियन्त्रण में प्रत्येक बड़ी स्थानीय संस्था अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण स्थानीय शासन की देख-भाल करती है। पूर्ण स्थानीय स्वशासन की प्रणाली के द्वारा स्थानीय संस्था को इस प्रकार के मामलों में—जैसे, सड़कें, परिवहन (Transport), पुलिस, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक शिक्षा, सार्वजनिक साहाय्य एवं इस प्रकार की सार्वजनिक सेवाएं जैसे

विकास का इतिहास है। अब से कुछ वर्ष पूर्व तक स्थानीय शासन की व्यवस्था का विकास, किसी सुनिश्चित योजना के अनुसार नहीं हुआ था, बल्कि आवश्यकताओं के अनुसार दैवयोग से हुआ। चूंकि स्थानीय शासन के विकास में समन्वय नही था, अत अव्यवस्था थी, और कार्यकुशलता का पूर्ण अभाव था।

वर्तमान काउण्टियाँ (Counties) और पैरिश (Parishes) प्रारम्भ मे पूर्व नॉर्मन काल (Pre-Norman) में शायर और हण्ड्रेड्स, विल्स अथवा टाउनशिप्स (*Shires and Hundreds, Vills or Townships*) थीं। इंग्लैण्ड की केन्द्रीय सरकार का स्थानीय शासन-संस्थाओं पर पूर्ण प्रभुत्व रहता था। मध्यकाल मे प्रत्येक काउण्टी (County) अथवा शायर (Shire) में एक कोर्ट (Court) अथवा सरकारी सभा (Governmental Assembly) रहती थी, जिसका सभापति शैरिफ (Sheriff) होता था, जो राजा का प्रतिनिधि होता था और उस सभा के सदस्यगण काउण्टी के स्वतन्त्र लोग (Freemen of the County) होते थे। काउण्टी कोर्ट अथवा न्यायालय को सामान्य शासन सम्बन्धी एवं न्यायिक कार्य करने पड़ते थे। एक काउण्टी मे हण्ड्रेड कोर्ट (Hundred Courts) थे जिनकी रचना उसी प्रकार की होती थी और जो शेरिफ (Sheriff) की छत्रछाया में कार्य करते थे। फ्यूडल व्यवस्था (Feudal System) के जो मैनोरियल न्यायालय (Manorial Courts) होते थे, वे छोटी इकाइयों अर्थात् विल (*Vill*) अथवा टाउनशिप (*Township*) मे स्थापित थे। जिन बौरोज (Boroughs) को राउन से आज्ञापत्र (Charters) प्राप्त थे, उनमें पर्याप्त मात्रा मे स्वायत्तता थी। हेनरी द्वितीय (Henry II) के राज्य-से सम्राट् की न्याय-व्यवस्था, भ्रमणशील न्यायालयों (Circuits of Justices) के द्वारा सारे देश मे फैल गई। स्थानीय मैनोरियल न्यायालय (Local and Manorial Courts) समाप्त कर दिए गए और उनके समाप्त होते ही शेरिफ (Sheriff) के पद का बहुत कुछ महत्त्व समाप्त हो गया। १४वीं शताब्दी में नवसर्जित जस्टिसेज ऑफ दि पीस (Justices of the Peace) ने समस्त न्यायिक, प्रशासनिक और पुलिस की शक्तियाँ हथिया ली। पैरिश, जो अब तक गिरजाघर की शासन सम्बन्धी इकाई थी, अब स्थानीय स्वशासन की इकाई बन गई। अब पैरिश (Parish) के नियन्त्रण में ही सड़कों की मरम्मत आदि का कार्य दे दिया गया; और बाद में रानी ऐलिजाबेथ (Elizabeth) के निर्धन विधि (Poor Law) सम्बन्धी प्रशासन का कार्य भी पैरिशों (Parishes) के ही अधिकार में आ गया।

१६८८ के शान्ति समझौते (*Revolution Settlement of 1681*) के बाद स्थानीय शासन पर केन्द्रीय नियन्त्रण लगाने का कोई प्रयत्न नही किया गया। पौरो अथवा बौरोज (Boroughs) को छोड़कर जो अधिकतर स्वायत्तशाली संस्थाएँ थी, और जो चार्टरों (Charters) की शक्ति के अन्तर्गत कार्य कर रही थी, सामान्य स्थानीय प्रशासन काउण्टी जस्टिसों (County Justices) के नियन्त्रण में था, जो अपना कार्य क्वार्टर सैशन्स (Quarter Sessions) नाम के न्यायालयों में करते थे। किन्तु १८३५ से लेकर १६३५ तक इस दिशा में जो सुधार हुए, उनसे सारी पुरानी

व्यवस्था बदल गई। इस उलट-फेर के तीन फल हुए। प्रथमतः, स्थानीय शासन-संस्थाओं में सुधार हुआ और उनका स्वरूप प्रजातन्त्रात्मक हो गया। द्वितीयतः, सुधार के साथ-साथ स्थानीय शासन की शक्तियों के कर्त्तव्यों के संबंध में स्पष्टीकरण हो गया। तृतीयतः, सुधार के साथ-साथ स्थानीय शासन और केन्द्रीय सरकार के बीच संबंधों की स्पष्ट व्याख्या (Elucidation) हो गई। स्थानीय शासनिक संस्थाओं का सुधार काफी लम्बी और पेचीदा समस्या थी क्योंकि १८३५ से १८८८ तक इंग्लैंड ने अजीब-सी नीति अपनायी जिसके अनुसार एक नई तदर्थ (*ad hoc*) सत्ता सजित की गई जिसके द्वारा उस प्रत्येक स्थानीय आवश्यकता का निराकरण कराना था जो कभी भी उत्पन्न हो सकती थी। केवल यही नहीं, वल्कि प्रत्येक सत्ता (Authority) अथवा संस्थान को कार्य करने का अलग क्षेत्र दिया गया जो पुरानी सत्ता या संस्था के क्षेत्र से भिन्न था। १८८८ के स्थानीय स्वशासन अधिनियम (Local Government Act of 1888) ने यह सारी अनियमितता बदल डाली। इस अधिनियम ने पुरानी जस्टिसेज ऑफ दि पीस (Justices of the Peace) प्रणाली को, साथ ही तदर्थ सत्ताओं अथवा निकायों (Bodies) को भी हटा दिया जो हाल ही में वढ़ाये गए थे; और उनके स्थान पर काउण्टी परिषदों की स्थापना की जो प्रजातन्त्रात्मक थीं और साथ ही सामान्यतया सक्षम भी थी। इस व्यवस्था का शनैः-शनैः विकास हुआ। स्थानीय स्वशासन की आधुनिक व्यवस्था, मुख्यतः छः विशिष्ट एवं विभिन्न प्रकार की सत्ताओं मे निहित कर दी गई है। वे छः सत्ताएँ निम्न हैं—प्रशासनिक काउण्टी (The Administrative County), काउण्टी वोरो (The County Borough), काउण्टी रहित वोरो (The Non-County Borough), अरबन डिस्ट्रिक्ट (The Urban District), रूरल डिस्ट्रिक्ट (The Rural District) और पैरिश (The Parish)। इन छः सत्ताओं के प्रशासन का सम्बन्ध भी विभिन्न प्रकार प्रारम्भ हुआ—प्रथम और द्वितीय का प्रशासन १८८८ से प्रारम्भ हुआ; तृतीय का प्रशासन १८३५ से प्रारम्भ हुआ किन्तु जिसका सुधार १८८२ में हुआ; चौथी पाँचवी और छठी सत्ताओं का प्रशासन १८९४ से प्रारम्भ हुआ। लन्दन की काउण्टी काउन्सिल (The London County Council) की स्थापना १८८९ मे हुई, जो अप्रत्यक्षतः निर्वाचित मेट्रोपोलिटन वोर्ड ऑफ वर्क्स (Metropolitan Board of Works) की उत्तराधिकारिणी थी।

स्थानीय स्वशासन के अधिकारों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में और उनके उन्नतिशील सुधार तथा १८३५ से लेकर अब तक के तत्सम्बन्धी स्पष्टीकरण के सम्बन्ध मे इतना जान लेना आवश्यक होगा कि अब इंग्लैण्ड मे पूर्ण स्थानीय स्वशासन (Integral Local Government) की स्थापना हो चुकी है और उसके नियन्त्रण में प्रत्येक बड़ी स्थानीय संस्था अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण स्थानीय शासन की देख-भाल करती है। पूर्ण स्थानीय स्ववासन की प्रणाली के द्वारा स्थानीय संस्था को इस प्रकार के मामलों में—जैसे, सड़कें, परिवहन (Transport), पुलिस, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक शिक्षा, सार्वजनिक साहाय्य एवं इस प्रकार की सार्वजनिक सेवाए जैसे

निवास-स्थानों की व्यवस्था, गैस, पेय जल और बिजली व्यवस्था आदि में उचित कार्यवाही अथवा आरम्भ या पहल (Initiative) करने का अवसर मिल गया है। स्थानीय स्वशासन के द्वारा स्थानीय नीति के निर्धारण और क्रियान्विति के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं।

स्थानीय शासन का केन्द्रीय सरकार के साथ सम्बन्ध (Connection between Local and Central Government)—स्थानीय संस्था का केन्द्रीय सरकार के साथ सम्बन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह जान लेना आवश्यक है कि इस सम्बन्ध का विकास किस प्रकार हुआ और आजकल यह सम्बन्ध किस प्रकार का है। स्पष्टतः, केन्द्रीय सरकार का कर्तव्य है कि जहाँ स्थानीय शासन शिथिल हो वहाँ उसको उचित कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करे और जहाँ वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है अथवा अपनी सामर्थ्य से बाहर की चीजें करता है वहाँ उस पर नियन्त्रण लगावे। इसके फलस्वरूप यह आवश्यक हो जाता है कि एक ओर स्थानीय निर्वाचित संस्थाओं और उनके स्थानीय प्रशासनिक अधिकारियों, तथा दूसरी ओर केन्द्रीय शासन के विभागों और उनके प्रशासनिक अधिकारियों के बीच सम्पर्क (Contact), सहयोग (Co-operation) और परस्पर सम्बन्ध (Interaction), का मार्ग प्रशस्त रहे। केन्द्रीय सहायक अनुदान स्थानीय शासन के एककों को सहायता के रूप मे दिए जाते है, इसके कारण यह आवश्यक हो जाता है कि उनके ऊपर और उनके क्रियाकलापों के ऊपर केन्द्रीय नियन्त्रण और पर्यवेक्षण रहे। सत्य यह है कि केन्द्रीय शासन, स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को सहायक अनुदान (Grants-in aid) इसी शर्त पर देता है कि उसको और उसके अधिकारियों को इस बात के परीक्षण और पर्यवेक्षण का अवसर मिले कि प्रदत्त सहायक अनुदान की धनराशि किन कार्यों पर और किस प्रकार व्यय की जा रही है। केन्द्रीय शासन के धन की सहायता ने स्थानीय स्वशासन के ऊपर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है और इस नियन्त्रण और पर्यवेक्षण के अधिकार स्वरूप स्थानीय स्वशासन की स्वायत्तता बहुत बड़ी सीमा तक बिक चुकी है। केन्द्रीय शासन द्वारा स्थानीय स्वशासन को सहायता देने का एक अन्य उपाय है जिसको संवर्गीय अनुदान (Block grant) कहा जा सकता है।

सभी अन्य संस्थाओं की तरह से स्थानीय स्वशासन संस्थाओं पर भी संसद् का और संसद् द्वारा निर्मित विधियों का पूर्ण अधिकार एवं नियन्त्रण है। इसके अतिरिक्त, केन्द्रीय शासन के विभिन्न विभाग स्थानीय स्वशासन के विभिन्न क्रियाकलापों का पर्यवेक्षण करते हैं और यह भी देखते है कि संविधि की शर्तों के अनुसार कार्य हो रहा है अथवा नहीं, गृह-मन्त्रालय (The Home Office) पुलिस दल के ऊपर पर्यवेक्षण और निरीक्षण करता है किन्तु लन्दन (London) के मेट्रोपोलिटन डिस्ट्रिक्ट (Metropolitan District of London) में [illegible]लिस का प्रबन्ध सीधे गृह मन्त्रालय द्वारा क्रिया जाता है। इसके अतिरिक्त [illegible]पोलिटन डिस्ट्रिक्ट स्थानीय सिविल डिफेन्स (Local [illegible] Defence [illegible]त्तरदायी है,

विशेषकर वह होम गार्ड अथवा रक्षक दलों (Home guards) के दस्तों का प्रबन्ध करता है। निधि मन्त्रालय (The Treasury) को स्थानीय शासन संस्थाओं को कर्ज लेने की अनुमति प्रदान करनी पड़ती है। सामान्यतः कहा जा सकता है कि सम्बन्धित केन्द्रीय शासन के विभाग स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के कार्य की देख-भाल करते है, उनको ठीक मार्ग पर रखते है और उनकी कार्य-प्रणाली, संगठन, उनके सेवकों की योग्यताएँ देखते हैं तथा उनके लिए आवश्यक सामग्री एवं उपकरण जुटाते है और उनके सामान्य उद्देश्यों का मार्ग प्रदर्शन करते हैं और उनको इन सम्बन्धो में आवश्यक मन्त्रणा प्रदान करते है।

जहाँ तक स्थानीय शासन-संस्थाओं के अधिकारो और कर्त्तव्यों का निरूपण संसद् के अधिनियमों ने किया है और जहाँ तक न्यायालयों ने उन अधिनियमों के पालन की दिशा में इन संस्थाओं को बाध्य किया है, केन्द्रीय सरकार इन संस्थाओं द्वारा किसी वैधिक भूल अथवा कर्त्तव्य सम्बन्धी भूल के विरुद्ध उच्च न्यायालयों (High Court) से आज्ञा या आदेश (Writ) जारी करा सकती है और स्थानीय संस्था को बाध्य किया जा सकता है कि वह अपनी भूल सुधारे। यदि किसी प्राइवेट व्यक्ति को स्थानीय संस्था की असावधानी के कारण हानि हो जाए तो वह हानि पूर्त्ति के लिए स्थानीय संस्था के विरुद्ध नालिश कर सकता है। उसी प्रकार यदि स्थानीय स्वशासन संस्था कोई ऐसा कार्य कर बैठे जो असांविधानिक (ultra vires) हो, उसे न्यायालय निषिद्ध कर सकते है। केन्द्रीय सरकार, स्थानीय स्वशासन संस्था की ऐसी स्थानीय आज्ञाओं को निष्फल कर सकती है जो उन संस्थाओं के प्रदत्त अधिकारों का अतिक्रमण करती हों। स्वास्थ्य, मकान निर्माण अथवा अन्य सेवाओं के सिलसिले मे यदि कोई असावधानी हो जाए तो उसके भयंकर परिणाम हो सकते हैं, और इस प्रकार के अवसरों पर जस्टिस ऑफ दि पीस (Justice of the Peace) या उस क्षेत्र मे केवल चार करदाता (Rate-payers) स्वास्थ्य मन्त्रालय को आवेदन-पत्र भेज सकते हैं और प्रार्थना कर सकते है कि स्थानीय संस्था की अयोग्यता (inefficiency) की परीक्षा की जाए और सम्भवतः ऐसे अवसर पर स्थानीय संस्था के सारे कर्त्तव्य स्वास्थ्य मन्त्रालय अपने हाथ में ले सकता है।

सामाजिक अवस्थाओं में परिवर्तन और शासन के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में उदारवादी विचार एवं समाजवादी मान्यता के फलस्वरूप स्थानीय, स्वशासन संस्थाओं के ऊपर केन्द्रीय शासन के नियन्त्रण की सम्भावनाएँ पर्याप्त मात्रा में बढ़ गई हैं, और इस वृद्धि का अन्त दिखाई नहीं देता। सार्वजनिक निगम (Public Corporation) के समान नई केन्द्रीय संस्थाएँ नए-नए काम करने के लिए अथवा पुरानी स्थानीय स्वशासन-संस्थाओं के स्थान पर स्थापित की जा रही हैं। छोटी स्थानीय संस्थाओं के बहुत से कर्त्तव्य अब बड़ी क्षेत्रीय संस्थाओं को सौंपे जा रहे हैं और इस प्रकार आधुनिक स्थानीय शासन के प्रसार में 'स्थानीय' (Local) शब्द के अर्थ भी बदल गए हैं।[1]

1. Champion and Others : British Government Since 1918, p. 198.

आधुनिक-काल में एकीकरण (Co-ordination) और प्रामाणिकता (Standardization) की नीति स्थानीय स्वशासन के क्षेत्र में दूर तक प्रवेश कर गई है। स्थानीय संस्थाओं में सम्मेलन, समितियाँ, लेखा परीक्षण (Audit) आदि की व्यवस्था देश के परिनियमों (Statutory Provisions) के अनुसार की गई है, जिसके फलस्वरूप सभी संस्थाओं में एक प्रकार की कार्यवाही होगी चाहे उस कार्यवाही का आधार बड़ा हो या छोटा। उसी के साथ-साथ केन्द्रीय सरकार अपने निरीक्षकों के द्वारा इन स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के ऊपर प्रभाव डालती रहती है। उन निरीक्षकों द्वारा स्थानीय संस्थाओं के सम्बन्ध में सन्तोषजनक प्रतिवेदन पर ही सहायक अनुदान दिए जा सकते हैं और इस प्रकार सभी निरिक्षकों की रिपोर्टों से केन्द्रीय सरकार को पता चलता रहता है कि स्थानीय शासन की विधि में क्या परिवर्तन आवश्यक है? केन्द्रीय सरकार से स्थानीय शासन संस्थाओं के पास जो विज्ञापन समय-समय पर आते रहते हैं, उनके द्वारा स्थानीय शासन संस्थाओं को पता रहता है कि केन्द्रीय सरकार उनको किस नीति पर चलाना चाहती है; और यदि केन्द्रीय सरकार ऐसा अनुभव करती है कि उसके पास आवश्यक कार्यवाही के लिए वैधिक शक्ति पर्याप्त नहीं है तो वह नए विधेयकों का प्रस्ताव कर सकती है और उनको पास कराके अधिनियम का रूप दे सकती है। कभी-कभी यदि स्थानीय शासन-संस्था अपनी शक्तियों का इस प्रकार प्रयोग करे कि वह केन्द्रीय सरकार की इच्छाओं के विरुद्ध हो, तो एक विशेष अधिनियम पास किया जाता है, जिसके द्वारा स्थानीय संस्था की शक्तियाँ उन आयुक्तों (Commissioners) को दे दी जाती है जिनकी नियुक्ति स्वास्थ्य मन्त्री करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के ऊपर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण कई प्रकार से है। यद्यपि अब भी इंग्लैण्ड में स्थानीय शासन लोकप्रिय है फिर भी केन्द्रीय शासन की अपेक्षा इसको स्थानीय क्रिया-कलापों का एक अस्पष्ट-सा निकाय समझा जाता है। कतिपय सेवाएँ जो कभी किसी समय स्थानीय मात्र समझी जाती थी, अब उनको राष्ट्रीय महत्त्व की सेवाएँ समझा जाता है। "छोटे विद्यालय अब राष्ट्रीय शिक्षा योजना के भाग है—उसी प्रकार सार्वजनिक साहाय्य (Public assistance) अब स्थानीय महत्त्व (Community task) का न होकर राष्ट्रीय उत्तरदायित्व का विषय बन गया है। यहाँ तक कि गैस और बिजली शक्ति का जो किसी समय नागरिक सेवाएँ (Municipal Services) समझी जाती थी, अब राष्ट्रीयकरण हो गया है।" हाल के वर्षों में कतिपय विषयों को स्थानीय और अन्य को केन्द्रीय विषय बनाने के सम्बन्ध में प्रशासनिक सुविधा को भी अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। श्री जे० एच० वारेन (Mr. J. H. Warren) ने इंग्लैंड के स्थानीय स्वशासन के विषय, उद्देश्य और कार्य-प्रणाली में जो परिवर्तन हुए हैं उनका विवेचन करते हुए लिखा है कि "कौन विषय अथवा कौनसी सेवाएँ स्थानीय स्वशासन के अधिकार-क्षेत्र में दी जाएँ, यह निर्णय पूरी तरह न तो राजनीतिक स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व के आधार पर; न पास-पड़ोस और जातीय सद्भावना की सम्मिलित कार्यवाही की सुविधा के आधार पर; न इस आधार पर कि स्थानीय

स्वशासन एक शैक्षिक प्रणाली है और इस कारण प्रजातन्त्र के लिए अति आवश्यक है, निर्भर करता है। अपितु स्थानीय स्वशासन के कर्त्तव्य निश्चित करते समय प्रशासनिक सुविधा भी देखनी ही पड़ेगी।"[1] विशेषकर प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जो शासन के क्रिया-कलाप स्थानीय शासन को सौंपे गए हैं उनमे प्रशासनिक सुविधा का ध्यान अवश्य रखा गया है।

तथापि, स्थानीय प्रशासन और किसी सीमा तक नीति-निर्धारण अब भी स्थानीय सत्ताओं के हाथ मे है। केन्द्रीय सरकार तो स्थानीय सत्ताओं का सहयोग प्राप्त करती है और दोनों सत्ताओं का परस्पर सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण सहकारिता का रहता है। स्थानीय शासन, ह्वाइट हाल (White Hall) में अवस्थित विभागों के कार्यालय नहीं हैं यद्यपि केन्द्रीय सरकार के नाम मे स्थानीय शासन कतिपय सेवाएँ करते हैं। स्थानीय नगरपालिकाओं के सदस्य उन्ही जिलो (District) में से चुने जाते है जिनमे उनका सेवा विस्तार होता है। उनकी सेवाओं का पर्यवेक्षण और नियन्त्रण उन्हीं के अधिकारीगण करते है। अब तक काउन्सिलों (Councils) और समितियों (Committees) ने जो कुछ भी किया है, उसका शानदार महत्त्व है। स्थानीय काउन्सिलों और समितियों का प्रशासनीय मामलों में पहले से ही लगे रहना इस बात की जमानत है कि प्रजातान्त्रिक कार्यप्रणाली का व्यवहार सब स्तरों पर बना रहे।

स्थानीय स्वशासन सत्ता के मुख्य प्रकार
(Principal Types of Local Authority)

स्थानीय स्वशासन के उद्देश्य से इग्लैण्ड और वेल्स और उत्तरी आयरलैंड काउण्टी बोरो (County Borough) और प्रशासनिक काउण्टियों में विभक्त है। प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से इनके और प्रतिभाग बनाए गए है। स्काटलैंड के विषय में भी ऐसा ही है। प्रत्येक के शासन के लिए एक भिन्न परिषद् (Council) है। पर १९६३ के लन्दन गवर्नमेण्ट अधिनियम (London Govt. Act, 1963) के अनुसार जो १ अप्रैल १९६५ से प्रभावी हुआ है, इंग्लैण्ड में काउण्टी, बोरो और अर्बन डिस्ट्रिक्ट (Urban District) काउन्सिलों (Councils) की संख्या कम कर दी गई है।

पैरिश (The Parish)—यद्यपि चर्च (Church) के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड पैरिशों (Parishes) मे विभक्त है, किन्तु स्थानीय संस्था के रूप में पैरिश देहात में होते है। जिस गाँव की आबादी ३०० से कम होती है, उसमें प्रायः परिषद् (Council) नहीं होती और इस पैरिश के मामले सभा में तय हो जाते है और उस सभा में प्रत्येक करदाता भाग ले सकता है। बड़ी पैरिशों में पाँच से लेकर दस सदस्यों तक की परिषद् (Council), उसी पैरिश की सभा में निर्वाचित कर ली जाती है और

---

1. Champion and Others: *British Government Since 1918*, p. 195.

यह तीन वर्ष तक अपना कार्य करती है। पैरिश की कौंसिल या सभा के कर्त्तव्य सामान्य से होते है। यह परिषद् (Council) छोटी-सी शिक्षा-समिति (Minor Educational Authority) के रूप मे भी कार्य करती है और यह सार्वजनिक निर्माण एव खेल-कूद के मैदान का प्रबन्ध करती है और मार्ग के स्थानीय अधिकारो की रक्षा करती है। यदि कभी इस सम्बन्ध में अधिनियम पास हो जाए तो गाँव मे प्रकाश की भी व्यवस्था कर सकती है और यदि ऊँचे अधिकारीगण चाहें तो उस परिषद् के हाथ मे जल-व्यवस्था और पगडण्डी की मरम्मत व्यवस्था भी दी जा सकती है। किसी पैरिश में एक वेतनभोगी लिपिक (Clerk) रह सकता है, किन्तु लिपिक के अतिरिक्त और कोई वेतनभोगी अधिकारी नही होता।

डिस्ट्रिक्ट (The District)—बहुत सी पैरिशें मिलकर डिस्ट्रिक्ट का निर्माण करती है और यदि कोई पैरिश उद्योगों के विकास के फलस्वरूप छोटे से नगर मे परिवर्तित हो जाए, तो ऐसी पैरिश, काउण्टी परिषद् (County Council) से प्रार्थना कर सकती है कि उसको अरबन डिस्ट्रिक्टों (Urban Districts) का स्वरूप प्रदान किया जाए। अरबन डिस्ट्रिक्टों (Urban Districts) और रूरल डिस्ट्रिक्टों (Rural Districts) के लिए परिषदें (Councils) तीन-तीन वर्ष के लिए निर्वाचित की जाती है किन्तु प्रतिवर्ष एक-तिहाई सदस्य अवकाश ग्रहण कर लेते हैं। चेयरमैन (Chairman) या तो कोई कौंसिलर (Councillor) ही हो सकता है या बाहर से भी निर्वाचित किया जा सकता है, किन्तु दोनों स्थितियों मे डिस्ट्रिक्ट के चेयरमैन को अपने कार्यकाल में जस्टिस ऑफ दि पीस (Justice of the Peace) के अधिकार होते है।

डिस्ट्रिक्ट की शक्ति और प्रतिष्ठा पैरिश की अपेक्षा अधिक होती है। केन्द्रीय सरकार डिस्ट्रिक्ट स्वशासन को निवास-स्थान सम्बन्धी सत्ता दे देती है, और इस प्रकार डिस्ट्रिक्टों को भूमि प्राप्त करने और मकान निर्माण करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है; साथ ही मैले स्थानों और भीड़-भाड़ (Slums and over-crowding) अथवा अधिक जनसंख्या या अधिक मकानों के सम्बन्ध में ठीक व्यवस्था करने के भी अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। सफाई एव आरोग्य विषयक अधिकारों के प्रयोग के सम्बन्ध मे डिस्ट्रिक्ट परिषद् जल-व्यवस्था और अन्य आरोग्य विषयक क्रिया-कलाप अपने हाथों मे ले सकती है। राष्ट्रीय सड़कों (Trunk roads) का प्रबन्ध तो परिवहन मन्त्रालय के हाथों में रहता है और अन्य बड़ी-बड़ी सड़कों का प्रबन्ध काउण्टी (Counties) के हाथों मे रहता है। किन्तु अ-वर्गीकृत (Non-classified) सड़कें, जिनके लिए मन्त्रालय कोई अनुदान नहीं देता, अरबन डिस्ट्रिक्ट परिषदों (Urban District Councils) के ही अधिकार-क्षेत्र मे हैं, और इनकी मरम्मत आदि उन्हीं को करानी पड़ती है। देहातों में, यद्यपि काउण्टी ही उत्तरदायी सत्ता होती है, किन्तु कभी-कभी काउण्टी (County) बहुत से अधिकार रूरल डिस्ट्रिक्टों (Rural Districts) को दे देती है।

डिस्ट्रिक्ट परिषदों (District Councils) का प्रायः लोकोपयोगी अथवा

सार्वजनिक सेवाओं (Public Utilities) में भी हाथ रहा है। किन्तु गैस और विद्युत् शक्ति के राष्ट्रीयकरण के साथ डिस्ट्रिक्टों के इस दिशा में कार्य-कलाप प्राय: समाप्त हो गए हैं। डिस्ट्रिक्ट परिषदों (District Councils) में प्राय: वेतन-भोगी अधिकारी होते हैं, जैसे क्लर्क (Clerk), खजान्ची (Jreasurer), स्वास्थ्य अधिकारी (Medical Officer of Health), सफाई निरीक्षक (Sanitary Inspector), और ओवरसीयर (Surveyor of Highways)। अरबन डिस्ट्रिक्ट परिषद् (Urban District Council) के पास कतिपय अधिक शक्तियाँ होती हैं जैसे भूमि का आवंटन (allotment), पुस्तकालय (Libraries) और सार्वजनिक स्नानागारों (Public baths) का प्रबन्ध। जिन अरबन डिस्ट्रिक्टों में जनसंख्या २५,००० से अधिक होती है, उनमें वेतनभोगी मजिस्ट्रेट (Stipendiary Magistrate) की नियुक्ति की जा सकती है। सत्य तो यह है कि किसी बड़े अरबन डिस्ट्रिक्ट (Urban District) और छोटे बोरोज (Boroughs) में नाम मात्र का ही भेद होता है।

काउण्टी (The County)—इंग्लैण्ड में आज भी सैकड़ों वर्ष पुरानी काउण्टी व्यवस्था चल रही है। वर्तमान ५२ काउण्टियाँ पुरानी व्यवस्था के आधार पर चल रही हैं। इनके कोई महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य नहीं है। इन काउण्टियों में निर्वाचित परिषदे (Elected Councils) नहीं होतीं और केवल तीन मुख्य अधिकारी होते हैं। वे हैं लॉर्ड लेफ्टीनेंट (Lord Lieutenant), शेरिफ (The Sheriff) और जस्टिस ऑफ दि पीस (Justice of the Peace)। लॉर्ड लेफ्टीनेंट का पद अत्यन्त गौरवपूर्ण होता है और उस पर प्राय: देहात के किसी धनिक व्यक्ति को नियुक्त किया जाता है। काउण्टी के अभिलेख (Records) उसी के उत्तरदायित्व मे होते है और वही जस्टिस ऑफ दि पीस (Justice of the Peace) पद के लिए योग्य व्यक्तियों के नाम की सिफारिश करता है। शेरिफ (The Sheriff) एसाइज़ेज (Assizes) नाम के न्यायालयों की स्थापना की समस्त तैयारी एवं कार्यवाही करता है।

आजकल कुल ६२ प्रशासनिक काउण्टियाँ है जो पुरानी ५२ ऐतिहासिक काउण्टियों के ऊपर स्थापित कर दी गई है। प्रत्येक प्रशासनिक काउण्टी को निर्वाचन विभागो (Electoral Divisions) में विभाजित कर दिया गया है और प्रत्येक विभाग (Division) से चुनावो मे एक पार्षद (Councillor) निर्वाचित किया जाता है। ये चुनाव प्रति तीसरे वर्ष होते है। निर्वाचित पार्षद अपनी सदस्य संख्या के बराबर एल्डरमैन (Alderman) चुनते है। प्राय स्वयं पार्षद ही एल्डरमैन भी होते है, उस अवस्था मे नये पार्षद के चुनाव के लिए उपनिर्वाचन (By-election) किया जाता है। एल्डरमैन शब्द अति प्राचीन है और सैक्सन (Saxon) काल में उन प्रौढ़ वयस्क निर्वाचित सदस्यों के लिए प्रयुक्त होता था जो अपने अनुभव से शासन को सहायता देते थे। आजकल एल्डरमैन के लिए आयु के सम्बन्ध में कोई बन्धन नहीं है। एल्डरमैनों का चुनाव छः वर्षों के लिए होता है किन्तु प्रत्येक पार्षद के चुनाव (Council election) के समय आधे सदस्य अवकाश ग्रहण कर लेते हैं। इसमें संदेह नहीं कि

अपनी लम्बी पदावधि के कारण एल्डरमैन पार्षद के कार्य के अनुरूप पर्याप्त अनुभव अर्जित कर लेते है। इसके द्वारा वे योग्य व्यक्ति जो चुनाव के झंझट से बचना चाहते हैं, इस प्रकार निर्वाचित हो जाते हैं। काउण्टी परिषद् (County Council) के चेयरमैन का चुनाव भी उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि डिस्ट्रिक्ट परिषद् (District Council) के चेयरमैन का, और उसको भी जस्टिस ऑफ दि पीस (Justice of the Peace) के अधिकार होते है। परिषद् (Council) अपने चेयरमैन को वेतन भी दे सकती है और सदस्यों को आने-जाने का भत्ता भी उस समय दे सकती है जिस समय वे परिषद् के कार्य से यात्रा करें।

काउण्टी परिषदें, काउन्टी के प्रशासन और उसकी नीति के लिए उत्तरदायी होती हैं और वे अपनी अधीनस्थ संस्थाओं के कार्य का निरीक्षण और पर्यवेक्षण करती हैं। काउण्टी परिषदें, केन्द्रीय शासन की ओर से भी कार्य करती हैं और उसके साथ मिलकर सार्वजनिक साहाय्य (Public Assistance) और पेंशनों (Pensions) से सम्बन्धित प्रशासन में हाथ बँटाती हैं। काउण्टी परिषदें ही साधारण स्थानीय सेवाओं, इमारतों और शरणालयों अथवा अनाथालयों (Asylums) का प्रबन्ध करती हैं। लाइसेंस के नियमों (Licensing Laws) के सम्बन्ध में भी ये परिषदें (County Councils) ही कार्य करती है जिनमें शराब संबंधी नियम अपवाद हैं, तथा ये ही काउण्टी के लिए आवश्यक एवं नियमित प्रशासन के सेवकों की नियुक्तियाँ करती है।

दो महत्त्वपूर्ण संविधियों, १९४४ का शिक्षा अधिनियम (The Education Act of 1944) और नगर एवं काउण्टी योजना अधिनियम, १९४४ एवं १९४७ (Town County Planning Acts of 1944 and 1947) के पास हो जाने से नई और पर्याप्त महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ एवं कर्त्तव्य काउण्टी परिषदों के उत्तरदायित्व में आ गए हैं। १९४४ के शिक्षा अधिनियम ने समस्त शिक्षा का पूरा उत्तरदायित्व काउण्टियों के ऊपर डाल दिया है। शिक्षा का उत्तरदायित्व पहले काउण्टियों (Counties), बॉरोज (Boroughs) और अरबन डिस्ट्रिक्टों (Urban Districts) में बँटा हुआ था। १९३९-१९४५ के युद्ध के बाद पास किए हुए अधिनियमों ने काउण्टी को स्वास्थ्य सेवाओं के लिए उत्तरदायी सत्ता माना है और टाउन एवं काउण्टी के नियोजन के लिए भी उत्तरदायी माना है। पिछला अर्थात् टाउन एवं काउण्टी नियोजन का उत्तरदायित्व इस कारण आवश्यक हो गया क्योंकि समस्त देश की योजना के अनुरूप ही युद्ध-जर्जरित क्षेत्रों का पुनर्निर्माण करना आवश्यक था। सामान्य कर्त्तव्यों के अतिरिक्त काउण्टी परिषद् को अपने क्षेत्र की कृषि-व्यवस्था भी देखनी पड़ती है और कृषि के सम्बन्ध में काउण्टी परिषद् के कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व पर्याप्त मात्रा में बढ गए हैं।

ऐसी स्थायी संयुक्त समिति (Standing Joint Committee) के द्वारा जिस के आधे सदस्य जस्टिस (Justices) होते हैं और आधे सदस्य काउण्टी पार्षद होते हैं, काउण्टी शासन (County Government) के पुराने और नए दोनों स्वरूप को मिला दिया गया है। यही काउण्टी समिति के चीफ कान्स्टेबल (Chief Constable)

की नियुक्ति करती है और काउन्टी में विधि (Law) और गृह मन्त्रालय के विनियमों (Regulations) के अनुसार पुलिस दल (Police Force) की स्थापना एवं नियुक्ति करती है। यह पुलिस दल गृह मन्त्रालय (Home Office) के नियन्त्रण मे रहता है और वर्ष में एक बार उसका निरीक्षण होता है; और यदि गृह मन्त्रालय पुलिस दल के कार्य को सन्तोषजनक समझता है तो उस दल के ऊपर जो व्यय होता है उसका आधा केन्द्रीय सरकार दे देती है। इस नियन्त्रण के अनुसार, काउण्टी की पुलिस अपने क्षेत्र में समस्त पुलिस कर्त्तव्यों के लिए उत्तरदायी होती है।

पौर अथवा बौरो (The Borough)—स्थानीय शासन का एक विशेष प्रकार का एकक बौरो (Borough) होता है जो केवल एक विशेष आज्ञा या चार्टर वाला नगर है। कोई अरबन या रूरल डिस्ट्रिक्ट (Urban or Rural District) जो बौरो बनाना चाहे, सपरिषद् सम्राट् (His Majesty in Council) को चार्टर (Charter) के लिए प्रार्थना-पत्र भेजता है। अगर स्थानीय करदाताओं में से ५% लोग भी आपत्ति करें तो उस दशा में संसद् के अधिनियम की आवश्यकता होगी।

पौर अथवा बौरो का शासन बौरो का परिषद् (Borough Council) करती है जिसकी रचना लगभग उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि काउण्टी परिषद् अथवा डिस्ट्रिक्ट परिषद् की। चुनाव के उद्देश्य से बौरो को वार्डों (Wards) मे विभाजित किया जाता है और प्रत्येक वार्ड (Ward) से तीन या तीन के गुणक (multiple) की संख्या में पार्षद चुने जाते हैं। उन पार्षदों (Councillors) में से एक-तिहाई प्रति वर्ष हट जाते हैं। पार्षद ही अपनी संख्या की तिहाई संख्या के लिए एल्डरमैन (Aldermen) निर्वाचित करते हैं। यह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार काउण्टी परिषदों के लिए बताया गया था। बौरो की परिषद् (The Borough Council) अपना मेयर (Mayor) या तो अपने पार्षदों (Councillors) में से या बाहर से चुनता है। मेयर एक वर्ष के लिए चुना जाता है किन्तु वह पुनर्निर्वाचित भी हो सकता है। मेयर न केवल बौरो परिषद् का चेयरमैन होता है, अपितु स्थानीय जस्टिस ऑफ दि पीस (Justice of the Peace) में भी सभापति का आसन अपनी अवधि में ग्रहण करता है और उस वर्ष के अगले वर्ष भी जस्टिस ऑफ दि पीस बना रहता है। प्राय: उसके कर्त्तव्य दिखावे मात्र के अथवा केवल औपचारिक (Ceremonial) होते है।

यदि किसी नगर को बौरो या पौर (Borough) की स्थिति (Status) प्राप्त हो जाए तो उसके फलस्वरूप उस पौर (Borough) की सम्मानयुक्त स्थिति हो जाती है। पौर अथवा बौरो की स्थिति का यह भी परिणाम होता है कि उक्त नगर को दिखावे और औपचारिक रस्मों पर अधिक धनराशि व्यय करनी पड़ती है। सभी पौरों अथवा बौरो (Boroughs) के अधीन कम-से-कम वे शक्तियाँ अवश्य होती है जो बड़ी-बड़ी अरबन डिस्ट्रिक्ट परिषदों (Urban District Councils) के अधीन होती हैं और इनके अतिरिक्त वे अधिकार भी होते हैं जो चार्टर (Charter) के द्वारा प्राप्त होते हैं। किसी पौर अथवा बौरो (Borough) को प्राचीन प्रथा अथवा शाही

आज्ञा के अनुसार नगर (City) का नाम दिया जा सकता है, किन्तु यह केवल एक औपचारिक नामकरण है। इससे वैधिक शक्तियों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध नगरों (Cities) के मेयरों को लॉर्ड मेयर (Lord Mayors) कहा जाता है। काउण्टी परिषद् (County Council) की तरह से पौर परिषद् (Borough Council) भी अपना काम-काज समितियों के द्वारा चलाती है। पौर परिषद् ही अपनी भू-सम्पदा (Corporate Estate) का और पौर-संचित-निधि (Borough Fund) का प्रबन्ध करती है। बौरो अथवा पौर परिषद् ही बौरो के करों की व्यवस्था करती है। पौर अथवा बौरो (Borough) का अपना आय-व्ययक (Budget) होता है और यही धन को उचित रूप मे व्यय करती है अथवा नियोजित करती है। यही परिषद् उन नागरिक सेवाओं की व्यवस्था करती है जो कभी-कभी बहुत विस्तृत और लम्बी चौड़ी होती है।

लन्दन का नगर प्रशासन (The Government of London)—लन्दन संसार में सबसे बड़ी राजधानी है और न्यूयार्क (New York) को छोड़कर लन्दन (London) का संसार में सब राजधानियों से बड़ा क्षेत्रफल है। आज भी पुराना लन्दन नगर है जिसकी सीमाएँ, सड़कों के नाम और स्थानीय प्रशासन-विधि वही हैं जो सैकड़ों वर्ष पूर्व थी। इस शहर के चारों ओर लाखों गरीबों और अमीरों के घर और इमारतें खड़ी हो गई है। इस बड़े डिस्ट्रिक्ट के व्यवस्थापूर्ण प्रशासन को प्रारम्भ हुए लगभग १०० वर्ष हुए हैं।

वास्तविक लन्दन नगर का क्षेत्रफल लगभग एक वर्ग मील है जो लन्दन के बीच स्थित है और जो मुख्यतः व्यापारिक और आर्थिक केन्द्र है और जिसमें, दिन में तो दास लाख से भी अधिक व्यक्ति काम-काज करते रहते है किन्तु जहाँ रात्रि मे पूर्ण निस्तब्धता रहती है। इस शहर को २६ वार्डों मे बाँट दिया गया है और प्रत्येक वार्ड (Ward) अपने आकार के अनुरूप कतिपय पार्षद (Councillors) कोर्ट ऑफ कॉमन कौंसिल (Court of Common Council) के लिए निर्वाचित करता है। निर्वाचन में वे ही व्यक्ति भाग ले सकते हैं जो या तो इस क्षेत्र में निवास करते हो अथवा जो इस क्षेत्र में व्यवसाय करते हों। उन २०६ पार्षदों (Councillors) के अतिरिक्त जो प्रतिवर्ष निर्वाचित होते है, कोर्ट ऑफ कॉमन कौंसिल, (Court of Common Council) मे २६ एल्डरमैन (Aldermen) होते है, जो नागरिकों द्वारा निर्वाचित होते है और जो आजीवन अपने स्थानों पर बने रहते है। इन एल्डरमैनों और लार्ड मेयर (Lord Mayors) को मिलाकर एक अलग कोर्ट ऑफ एल्डरमैन (Court of Aldermen) का निर्माण होता है। एक अन्य तीसरा निकाय भी होता है जिसे कोर्ट ऑफ कॉमन हाल (Court of Common Hall) कहते हैं जिसमें कोर्ट ऑफ एल्डरमैन (Court of Aldermen) के सभी सदस्य तथा नगर कम्पनियों (City Companies) के प्रतिनिधि (Liverymen) होते है। ये कम्पनियाँ अथवा मण्डल (Companies) पुराने संघो (Guilds) की वंशज हैं। आजकल इनके कोई अपने कर्तव्य नहीं हैं और वास्तव में ये धनिक लोगों की प्राइवेट सभाएँ हैं। कोर्ट

ऑफ कामन हॉल (Court of Common Hall) प्रतिवर्ष दो एल्डरमैनों (Aldermen) का चुनाव करता है, जिनमें से एक कोर्ट ऑफ एल्डरमैन (Court of Aldermen) के द्वारा लॉर्ड मेयर (Lord Mayor) के रूप में चुना जाता है।

कोर्ट ऑफ कॉमन कौंसिल (Court of Common Council) ही लन्दन नगर की वास्तविक प्रशासनिक सत्ता है। नागरिक सेवाओं के लिए यह कौंसिल या काउण्टी (County) पर निर्भर रहती है यद्यपि स्वयं इस परिषद् के पास भी अपना पुलिस दल और अपने न्यायालय हैं। यह परिषद् नगर की सीमाओं के बाहर भी कुछ क्षेत्रों पर नियन्त्रण रखती है। लन्दन नगर में अनेक शानदार उत्सव होते हैं, विशेष कर वार्षिक लार्ड मेयर डे (Lord Mayor's Day) का उत्सव होता है जो सभा भवन (Guild Hall) में मनाया जाता है।

लन्दन काउण्टी परिषद् (The London County Council)—१८८८ के अधिनियम ने लन्दन (London) के लिए काउण्टी परिषद् की स्थापना की। १९३९ के लन्दन गवर्नमेंट अधिनियम (London Government Act of 1939) के अनुसार काउण्टी परिषद् और मेट्रोपोलिटन पौर या बोरो (Metropolitan Boroughs) को मिलाकर एक कर दिया गया है। लन्दन काउण्टी कौंसिल (London County Council) अन्य काउण्टी परिषदों (County Councils) से नाम मात्र में मिलती जुलती है, वास्तव में उन दोनों में तीन मुख्य अन्तर है। प्रथमतः, लन्दन काउण्टी कौंसिल (L. C. C.) की रचना दूसरे प्रकार से की गई है क्योंकि इसके निर्वाचक-मण्डल वही हैं जो संसद् (Parliament) के लिए भी राजधानी की ओर से सदस्य चुनते है, केवल अन्तर इतना है कि काउण्टी पार्षद (County Councillors) संसद् सदस्यों से दुगुनी संख्या में निर्वाचित किए जाते है। निर्वाचित एल्डरमैनों (Aldermen) का अनुपात १ : ६ का है किन्तु अपेक्षाकृत पार्षदों (Councillors) का अनुपात १ : ३ का है और लन्दन काउण्टी परिषद् (L.C.C.) का चेयरमैन (Chairman) अत्यन्त महिमान्वित व्यक्ति होता है, यद्यपि नीति पर उसका कोई नियन्त्रण नही होता। द्वितीयतः, सामान्य काउण्टी परिषद् (County Council) समस्त पुराने काउण्टी क्षेत्र पर—काउण्टी पौरों अथवा बोरोज (Boroughs) को छोड़ते हुए—सदैव के लिए तुरन्त पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर लेती है। किन्तु लन्दन काउण्टी कौंसिल (L.C.C.) को केवल लन्दन (London) की काउण्टी कौंसिल पर ही प्रशासन का अधिकार मिला है। तृतीय अन्तर यह है कि लन्दन काउण्टी कौंसिल (L.C.C.) को पुराने बोर्ड ऑफ वर्क्स (Board of Works) और साथ ही काउण्टी कौंसिल (County Council) दोनों के कर्तव्यों पर नियन्त्रण मिल गया है।

लन्दन काउण्टी परिषद् (L.C.C.) के १२९ पार्षद (Councillors), २९ एल्डरमैन (Aldermen) निर्वाचित करते है जो छः वर्षों तक अपने स्थानों पर बने रहते है, यद्यपि आधे सदस्य तीसरे वर्ष स्वयं हट जाते है। कौंसिल (L.C.C.) का चेयरमैन बाहर से भी लिया जा सकता है जिस प्रकार कि लॉर्ड स्नैल (Lord

Snell) को १९३४ में बाहर से लिया गया। लन्दन काउण्टी कौंसिल (L.C.C.) के अधिकार और शक्तियाँ अत्यन्त विस्तृत हैं। यही (L.C.C.), नालियों (Sewers) मल अपवहन (Sewage disposal), आग के विरुद्ध सुरक्षा, सुरंगों (Tunnels), घाटों एवं पुलों (Ferries and Bridges) के सुप्रबन्ध के सम्बन्ध में पूर्णतया उत्तरदायी सत्ता है। यही परिषद् (L.C.C) उन सड़कों के सुधार के सम्बन्ध में उत्तरदायी है जो राजधानी की सड़कें हैं। इसको ट्रामवेज (Tramways) के निर्माण और चलाने के सम्बन्ध में पूरी शक्तियाँ प्राप्त हैं और इसने कई बार मकानों के पुनर्निर्माण सम्बन्धी योजनाओं को अपने हाथों में लिया है, जिसमें मैली-कुचैली गलियों के मकानों को गिराना और श्रमिकों के लिए नए निवास-स्थान तैयार कराना भी था। यही परिषद् (L.C.C.) लन्दन के बड़े-बड़े पार्कों की सुरक्षा और सर्वसाधारण के मनोरंजन (Public recreation) के साधनों को जुटाने के लिए उत्तरदायी है। साथ ही यह परिषद् प्राथमिक, उच्चतर-माध्यमिक (Secondary) और औद्योगिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण के लिए पूर्णरूपेण प्रबन्धकारिणी सत्ता है।

राजधानी सम्बन्धी पौर अथवा बोरोज (The Metropolitan Boroughs)—लन्दन नगर को छोड़ते हुए, लन्दन काउण्टी (London County) का क्षेत्र २८ राजधानी सम्बन्धी पौरों (Metropolitan Boroughs) में विभाजित कर दिया गया है। इन पौरों (Boroughs) के लिए पार्षद (Councillors) तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते है, और पुनः वे पार्षद (Councillors) अपनी सदस्य संख्या के तिहाई एल्डरमैन (Aldermen) छः वर्षों के लिए चुनते हैं, किन्तु उन एल्डरमैनों मे से आधे सदस्य प्रति तीसरे वर्ष हट जाते है। मेयर (Mayor) का चुनाव उसी प्रकार होता है जिस प्रकार किसी नगर बोरो (Municipal Borough) में और उसके वही अधिकार और वही शक्तियाँ होती हैं, अन्तर केवल यह है कि वह केवल अपनी पदावधि के वर्ष के लिए ही पदेन जस्टिस ऑफ दि पीस (Ex-officio Justice of the Peace) होता है, न कि अगले वर्ष के लिए भी। अपने कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में, राजधानी के बोरो (Metropolitan Boroughs) उन छोटे नगर बोरो (Smaller Municipal Boroughs) से मिलते-जुलते हैं जिनके नियन्त्रण में न तो पुलिस दल रहता है और न जो सार्वजनिक शिक्षा के सम्बन्ध में कोई अधिकार रखते हैं। स्वास्थ्य सेवाओं (Health Services) के सम्बन्ध में लन्दन काउण्टी कौंसिल (L.C.C.) और मेट्रोपोलिटन बोरोज (Metroholitan Boroughs) मिल-जुलकर काम करती हैं। कतिपय पौरों अथवा बोरोज (Boroughs) की अपनी निवास-स्थानों सम्बन्धी योजनाएँ हैं।

अप्रैल १, १९६५ से लन्दन गवर्नमेण्ट अधिनियम १९६३ (London Govt Act, 1963) के उपबन्धों के अनुसार लन्दन काउण्टी काउन्सिल (London County Council) और मिडलसेक्स काउण्टी काउन्सिल (Middlesex County Council) दोनों समाप्त कर दी गई हैं। इन दोनों परिषदों द्वारा शासित क्षेत्र और इस क्षेत्र के साथ लगने वाले क्षेत्र एसेक्स (Essex), हर्टफोर्डशायर (Hertfordshire), केन्ट (Kent) और सरे (Surrey) के क्षेत्र हैं, सब मिलकर विशाल लन्दन (Greater

London) क्षेत्र कहलायगा। यह क्षेत्र ३२ लन्दन बोरो और लन्दन नगर, जिसकी कि अपनी स्वतन्त्र स्थिति है, की परिषदों और विशाल लन्दन काउन्सिल (Greater London Council) द्वारा शासित होगा।

Suggested Readings

Champion and Others : *British Government Since* 1918 (1951), Chap. VI.

Clarke, J. J. : *Outlines of Local Government* (1949), 6th. Ed.

Cole, G. H. : *Local and Regional Government* (1947).

Finer, H. : *English Local Government* (1959), 4th Ed.

Jennings, W. I. : *Principles of Local Government Law* (1947), 3rd Ed.

Robson, W. A. : *The Development of Local Government* (1954), 3rd Ed.

Maud, J. P. R. : *Local Government in Modern England.*

देशों की संस्कृति थी। इसके साथ-साथ उस नई संस्कृति पर नई दुनिया का प्रभाव भी अवश्य पड़ा।

अमेरिका में नई बस्तियाँ बसाने के पूर्व यह आवश्यक था कि इस हेतु आवश्यक वैधिक अधिकार प्राप्त किए जाएँ। इंग्लैण्ड के राजा ने इस प्रकार की आज्ञा शासनपत्रों में कुछ व्यापारी कम्पनियों को प्रदान की; फिर कुछ व्यक्तियों को भी आज्ञाएँ मिलीं और फिर अन्य उपनिवेशियों को भी दी गई। इस प्रकार प्रत्येक नई बस्ती में शासन का आधार ब्रिटिश क्राउन की सर्वोच्चता थी। यद्यपि इंग्लैण्ड की सरकार इतनी दूर से पर्याप्त एवं प्रभावी शासन चलाने में अशक्य थी। नई बस्तियाँ अपने प्रारम्भिक काल में प्रायः अपना विकास मनमाने ढंग से कर सकती थीं। इन उपनिवेशियों को स्वशासन की अधिक मात्रा में छूट मिली। उससे वे लोग कुछ-कुछ ब्रिटेन के प्रभाव से दूर हो गए, और यह उस समय स्पष्ट हो गया जबकि कुछ वर्षों के बाद इंग्लैण्ड की सरकार ने कतिपय मामलों में उपनिवेशियों पर प्रतिबन्ध लगाने चाहे और इंग्लैण्ड की सरकार को विरोध देखना पड़ा। वास्तव में समय के साथ-साथ अमेरिका में नए बसने वाले लोग अब अंग्रेज न रह गए थे बल्कि अमेरिकी होते जा रहे थे और इस प्रवृत्ति को अन्य राष्ट्रीय गुटों और अन्य संस्कृतियों के सम्मिश्रण से और भी बल मिला।

सप्तवर्षीय युद्ध के अन्त में सन् १७६३ में अमेरिका महाद्वीप से फ्रांस का अधिकार समाप्त हो गया। कुछ नए प्रदेश ब्रिटेन के अधिकार में आए और उनके सुप्रबन्ध के लिए रुपये की आवश्यकता पड़ी। सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांस के साथ लड़ते समय अंग्रेजों के ऊपर बहुत ऋण हो गया था, अतः यह निश्चित किया गया कि अमेरिका की नई बस्तियाँ (Colonies) स्वयं शासन-प्रबन्ध में होने वाले व्यय का तथा बस्तियों की रक्षा के ऊपर होने वाले व्यय का कुछ भार वहन करें। साथ ही प्रयत्न किया गया कि व्यापार सम्बन्धी नियमों का कठोरता से पालन कराया जाए और नई बस्तियों के ऊपर कठोर नियन्त्रण रखा जाए। इसके कारण समस्त उपनिवेशियों में तीव्र रोष व्याप्त हो गया।

किन्तु जो भी लोग अप्रसन्न थे, अथवा विरोधी थे, उन्होंने कभी स्वतन्त्रता प्राप्त करने की बात नहीं सोची थी। वे केवल यही चाहते थे कि कष्टसाध्य नियम तोड़ दिए जाएँ और उपनिवेशियों के ऊपर कम-से-कम प्रतिबन्ध लगाए जाएँ। किन्तु उन उपनिवेशियों के विरोध प्रदर्शन के फलस्वरूप आम लोगों में भी जाग्रति हुई और मैसेचुसेट्स (Massachusetts) का जॉन एडम्स (John Adams) एवं वर्जीनिया (Virginia) के पैट्रिक हेनरी (Patrick Henry) तथा टॉमस जेफरसन (Thomas Jefferson) आदि उन्मूलनवादी (Radicals) नेताओं ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया और उन्होंने उपनिवेशियों की भावनाओं को उभारा। उन्होंने—'मनुष्य मात्र की प्राकृतिक स्वतन्त्रता', तथा 'शासन को शासितों की इच्छाओं का दर्पण होना चाहिए'—इन उच्च सिद्धान्तों की दुहाई दी। उन्होंने वैयक्तिक स्वतन्त्रता

तथा मनुष्यों के मूल अधिकारों के सम्बन्ध मे लॉक (Locke) की उक्तियों के उदाहरण उपस्थित किए।

इसका फल यह हुआ कि तिरस्कार-योग्य प्रचलित नियमों एवं आज्ञाओं की निरन्तर अवहेलना होती गई। उपनिवेशो के विधानमण्डल प्रायः सिपाहियों अथवा अधिकारियो के वेतन उस समय तक रोके रखते थे जब तक कि उनकी माँगें पूर्ण न होती अथवा उनकी शिकायतें न दूर की जाती। १७६० मे जब जार्ज तृतीय (George III) ब्रिटेन के राजसिंहासन पर बैठा, तो ब्रिटिश सरकार ने निश्चित किया कि अमेरिकी उपनिवेशों की अविनीत एवं हठी प्रजा के ऊपर कठोर कदम उठाया जाए। इससे उपनिवेशियों में रोष की ऐसी तीव्र लहर उठी कि उनका सामान्य विरोध क्रान्तिकारी रूप धारण कर बैठा। अनुरञ्जन एव सांत्वना की दिशा में सारे प्रयत्न विफल हुए और १७७६ में समस्त उपनिवेशो के सामने केवल दो ही विकल्प थे—या तो वे अंग्रेजी सरकार से क्षमा मागें और उसकी वश्यता स्वीकार करे अथवा अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्ति हो, और जैसा कि सर्वविदित है, उन्होंने क्रान्ति का मार्ग चुना।

स्वतन्त्रता की घोषणा (The Declaration of Independence)—४ जुलाई, १७७६ को जो स्वतन्त्रता की घोषणा की गई, उसमे एक राष्ट्र का जन्म हुआ। उस घोषणा मे उपनिवेशो को राज्यों की संज्ञा दी गई, तथा उन्हें पूर्ण रूप से स्वतन्त्र मान लिया गया। इस घोषणा ने मनुष्य मात्र के प्राकृतिक अधिकारों के सम्बन्ध मे ऐसी प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा को जन्म दिया जिससे लोगो में यह विचार घर कर गए कि शासितों की इच्छा के बिना शासन नही चल सकता, शासन के अधिकार सीमित होने चाहिएँ; तथा अत्याचारी शासन के विरुद्ध प्रजा को विद्रोह करने का अधिकार है।

क्रान्तिकारी युद्ध प्रत्येक उपनिवेश में लगभग छः वर्षों तक चलता रहा। जब १९ अक्तूबर, १७८१ को कार्नवालिस (Cornwallis) ने आत्म-समर्पण कर दिया तो क्रान्ति को रोकने के लिए सैनिक बल प्रयोग समाप्त हो गया। जब इंग्लैण्ड मे अमेरिका की जीत का समाचार पहुँचा तो वहाँ की लोक-सभा (House of Commons) ने युद्ध बन्द करने के पक्ष मे सम्मति दी। तुरन्त ही लॉर्ड नार्थ (Lord North) की सरकार ने त्यागपत्र दे दिया और नई सरकार ने निश्चित किया कि स्वतन्त्रता की घोषणा के आधार पर शान्ति-सन्धि कर ली जाए। १७८३ मे सन्धि पर हस्ताक्षर हो गए। इस सन्धि में यह बात मान ली गई कि समस्त तेरह उपनिवेश पूर्णतया स्वतन्त्र तथा प्रभुतासम्पन्न राज्य होगे।

महाद्वीपीय कांग्रेस ने, जो क्रान्ति के प्रारम्भिक काल मे अमेरिकी उपनिवेशों का साधारण प्रबन्ध करती थी, अब काम करना प्रारम्भ कर दिया, यद्यपि न तो उसका कोई संविधान था, न कोई बुनियादी नियम। इसको केवल संकट-काल के लिए

रचा गया था, अतः इसको केवल अल्पकालिक साधन मात्र माना गया था। किन्तु जब युद्ध सन्निकट दिखाई पड़ने लगा और संघ (Union) के लाभ स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे, तो यह निश्चय किया गया कि समस्त राज्यों की मिली-जुली सरकार (Common Government) को जिसके पास अधिक शक्तियां हों और निश्चित शमित हो दृढ आधार पर स्थापित किया जाए। १२ जून, १७७६ को, जिसके केवल एक दिन पूर्व स्वतन्त्रता की घोषणा करने वाली समिति की नियुक्ति हुई थी, कांग्रेस ने एक और समिति नियुक्त की जिसमे प्रत्येक उपनिवेश से एक-एक सदस्य लिया गया और उस समिति को यह काम सौंपा गया कि वह एक प्रसंधान (Confederation) की रूपरेखा तैयार करे जो इन उपनिवेशों के ऊपर लागू होगा। नवम्बर, १७७७ मे एक विलेख (Instrument), जिसको प्रसंधान का अनुच्छेद (Articles of Confederation) भी कहा गया, कांग्रेस ने अन्तिम रूप से तैयार किया, जिसका समस्त राज्यों द्वारा स्वीकृत हो जाने पर प्रभावी होना निश्चित हुआ। १७७८ एवं १७७९ के बीच केवल मेरीलैंड (Maryland) को छोडकर सभी राज्यों ने प्रसंधान के अनुच्छेदों (Articles of Confederation) को स्वीकार कर लिया। पहली मार्च १७८१ को मेरीलैंड (Maryland) ने भी स्वीकृति दे दी और उसी दिन से प्रसधान के अनुच्छेद प्रभावी घोषित हो गए। ये अनुच्छेद (Articles of Confederation) ही संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रथम संविधान थे।

इस प्रकार निर्मित किए गए प्रसंधान को संयुक्त राज्यों की सुदृढ़ संघीय मित्रता कहकर पुकारा गया और इस प्रसंधान का उद्देश्य यह घोषित किया गया कि यह सभी राज्यों की सुरक्षा करेगा, इसके द्वारा समस्त नागरिकों की स्वतन्त्रताओं की रक्षा होगी और यह सभी राज्यों का सामान्य हित-साधन करेगा। सब संयुक्त-राज्यों के सामान्य हितों की सुरक्षा और सुप्रबन्ध के हेतु सभी राज्यों द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों की एक वार्षिक सभा (Annual Congress of Delegates) निर्मित हुई। यह आवश्यक रखा गया कि प्रत्येक राज्य कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक सात प्रतिनिधि भेजे और प्रत्येक राज्य को केवल एक वोट प्रदान किया गया, इस निर्णय मे न तो इस बात का कोई महत्त्व दिया गया कि कोई राज्य छोटा होगा अथवा कोई बड़ा, न किसी अन्य विचार को इस ओर आवश्यक समझा गया। महाद्वीपीय कांग्रेस की अपेक्षा, प्रसंधान की कांग्रेस के पास निश्चित शक्तियां थी जिनके आधार पर वह सभी राज्यों का सामान्य हित साधन कर सकती थी। जैसे युद्ध अथवा शान्ति की घोषणा करना, दूसरे देशों के लिए राजदूत नियुक्त करना, अथवा दूसरे राज्यों के राजदूतो का स्वागत, संधियां करना, सिक्के का प्रचलन, रेड इण्डियनो (Indians) के साथ व्यापार प्रचलन, रुपया उधार लेना, जहाजी बेड़ा तैयार करना, डाक-व्यवस्था की स्थापना, संयुक्त राज्य अमेरिका की सशस्त्र सेना के संचालन के लिए उच्च अफसरों की नियुक्ति और इसी प्रकार की अन्य शक्तियां प्रसंधान की कांग्रेस के पास थीं। यह भी आवश्यक समझा गया कि किसी निर्णय करने के पूर्व १३ राज्यों में से कम-से-कम ९ राज्यो की तदर्थ अनुमति आवश्यक होगी।

किन्तु प्रसंधान के अनुच्छेदों (Articles of Confederation) में दो कमियाँ रह गई; अर्थात् इन अनुच्छेदों ने कांग्रेस को न तो करारोपण (Taxation) का अधिकार दिया और न वाणिज्य (Commerce) की व्यवस्था का अधिकार। कांग्रेस केवल राज्यों से धन की माँग कर सकती थी। इस प्रकार केन्द्रीय शासन का अस्तित्व राज्यों की सरकारों से प्राप्त हुए दान के ऊपर निर्भर था। प्रसंधान के अनुच्छेदों ने न तो देश के लिए कार्यपालिका की व्यवस्था की, न न्याय-व्यवस्था का ही कोई प्रबन्ध किया, हाँ, न्याय-व्यवस्था के सम्बन्ध में एक पुनर्विचार कोर्ट (Court of Appeal) की स्थापना अवश्य की जिसमें वे मामले जाते थे जिनका सम्बन्ध युद्ध-काल में समुद्रों में पकड़े गए शत्रुओं से होता था।

शान्ति-काल में कोई कठिनाई सामने नहीं आई किन्तु युद्ध के बाद अनेक पेचीदा समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। युद्ध ने मुद्रास्फीति उत्पन्न कर दी थी, और मुद्राओं का वास्तविक मूल्य अंकित मूल्य का हजारवाँ अंश ही रह गया था। प्रत्येक वस्तु की कीमतें इतनी बढ़ गई थीं कि समस्त राज्यों का अर्थतन्त्र छिन्न-भिन्न हो गया था और सभी का रहन-सहन ऊँची कीमतों के कारण अस्त-व्यस्त हो गया था। विनिमय की दरें अनिश्चित होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ठप्प हो गया था। केन्द्रीय कोष खाली था और राज्यों की सरकारें ठीक समय पर धन नहीं भेजती थीं। ऐसी स्थिति में साहूकार लोग धन उधार देने को तैयार नहीं थे, और लोक प्रतिभूतियाँ (Public Securities) कम कीमतों पर बिक रही थीं। कांग्रेस के पास इस अव्यवस्था को ठीक करने का कोई उपाय नहीं था। जहाँ राज्यों का एक-दूसरे के साथ आपसी सम्पर्क था अथवा जहाँ राज्यों का केन्द्रीय शासन से सम्बन्ध था, वहाँ स्थिति और भी अधिक भयावह थी। केन्द्रीय शासन के अधिकार में, प्रसंधान के अनुच्छेदों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अधिकार था किन्तु बहुत से राज्य विदेशी शक्तियों के साथ सीधे बात-चीत (Negotiation) करने लगे थे। नौ राज्यों के पास अपनी-अपनी स्वतन्त्र सेनाएँ थीं और कई राज्यों के पास अपने अपने छोटे-छोटे जहाजी बेड़े भी थे। लगभग एक दर्जन विदेशी राज्यों के विभिन्न प्रकार के सिक्के देश में चल रहे थे और तरह-तरह के केन्द्रीय सरकार तथा राज्यों की सरकारों के कागजी विपत्र (Paper Bills) चल रहे थे। हर एक राज्य अपना-अपना स्वतन्त्र वाणिज्य चलाता था और कुछ राज्यों ने तो अपने पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध वाणिज्यिक विभेद स्थापित कर रखे थे। इसका फल यह होता था कि राज्यों में आपस में लगातार ईर्ष्या, झगड़े, परस्पर बदला लेने की भावना का बोलबाला रहता था। इन सब कारणों से प्रसंधान नाम मात्र के लिए रह गया था।

संशोधन के लिए आन्दोलन (Movement for Revision)—सन् १७८६ में राज्यों का विभेद पराकाष्ठा को पहुँच गया जबकि प्रसंधान के अनुच्छेदों में हेर-फेर करने के सारे प्रयत्न विफल हो गए और सारे राज्य गृह-युद्ध की ओर अग्रसर हो रहे थे। जार्ज वाशिंगटन (Washington), हैमिल्टन (Hamilton) और अन्य राजनीतिक नेतागण, जो निरन्तर सारे राज्यों को एक संघबद्ध करना चाहते थे, अब

यह सोचने लगे थे कि या तो प्रसधान के अनुच्छेदों में संशोधन होना चाहिए अथवा इस शासन के स्थान पर नई शासन-व्यवस्था आनी चाहिए। प्रसंधान की कांग्रेस वास्तव में लोकप्रिय सरकार न होकर राज्यों की सरकार मात्र थी। यह इस कारण कमजोर थी कि इसमें उन चार शक्तियों का अभाव था जो प्रत्येक शक्तिशाली राष्ट्रीय सरकार के लिए आवश्यक होती है; अर्थात् करारोपण की शक्ति, कर्ज लेने की शक्ति, वाणिज्य चलाने की शक्ति एवं एक सुदृढ़ सैनिक संगठन जो समस्त राज्यों की सुरक्षा करने की क्षमता रखता हो। और यदि केन्द्र में ऐसी सुदृढ़ सरकार की स्थापना अभीष्ट है जिसके पास ये चारों शक्तियाँ हों तो आवश्यकतः ऐसी केन्द्रीय सरकार जनता-जनार्दन की सरकार होनी चाहिए जिसका सम्बन्ध एक राष्ट्र से होना चाहिए। वाशिंगटन ने कहा था, "मैं नहीं समझता कि हम लोग एक राष्ट्र के रूप में अधिक दिनों तक टिक सकेंगे यदि हम शक्ति का केन्द्रीयकरण इस प्रकार न करें जो समस्त संघ के ऊपर उतनी ही प्रभावी न हो जितनी कि अपने-अपने क्षेत्रों में प्रत्येक राज्य की सरकार का प्रभाव रहता है।"

मेरीलैण्ड और वर्जीनिया (Maryland and Virginia) नाम के दो राज्यों में पोटोमैक (Potomac) नदी में व्यापारी जहाज चलाने के सम्बन्ध में झगड़ा चल रहा था। इस झगड़े के निपटारे के हेतु एनापोलिस (Annapolis) में पाँच राज्यों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन सितम्बर १७८६ में हुआ। इन प्रतिनिधियों में एक एलेक्जेंडर हैमिलटन (Alexander Hamilton) भी था। उसने इस सम्मेलन में अपने साथियों को समझाया कि वाणिज्य के नियमों का अन्य आवश्यक समस्याओं से गहरा सम्बन्ध है और इसलिए यह आवश्यक है कि सभी राज्यों से अपने-अपने प्रतिनिधि भेजने को कहा जाए। इसके बाद उसने बताया कि ये समस्त प्रतिनिधि संघ-शासन की आवश्यकताओं के अनुरूप ऐसे उपबन्ध सुझावें जिससे हमारा संविधान संकटकाल में समस्त संघ की सेवा के लिए सामर्थ्यवान बन जावे। महाद्वीपीय कांग्रेस (Continental Congress) प्रारम्भ में ऐसा महत्त्वपूर्ण पग उठाने में हिचकिचायी किन्तु अन्त में कांग्रेस ने स्वीकृति दे दी कि प्रसभा (Convention) बुलाई जाए। र्‍होड द्वीप (Rhode Island) राज्य को छोड़कर अन्य सभी राज्यों ने होने वाली प्रसभा के लिए अपने-अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर दिए। यह प्रसभा फिलैडेलफिया (Philadelphia) में सोमवार, २ मई सन् १७८७ को होनी निश्चित हुई। इसका उद्देश्य था कि प्रसंधान के अनुच्छेदों (Articles of Confederation) में आवश्यक हेरफेर किया जाए।

फिलैडेलफिया की प्रसभा (The Philadelphia Convention)—बारह राज्यों ने ७३ प्रतिनिधि चुने, (र्‍होड द्वीप ने भाग नहीं लिया) यद्यपि ७३ में से केवल ५५ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। जैफरसन (Jefferson) ने कहा था कि यह प्रसभा देवताओं की सभा है। एक फ्रांसीसी निसृष्टार्थ (Charge) ने अपनी सरकार को लिखा, "यदि फिलैडेलफिया प्रसभा के नामजद सभी प्रतिनिधियों पर नजर डाली जाए तो मैं कहूँगा कि ऐसी सभा पहले कभी नहीं हुई, यूरोप में भी नहीं हुई, क्योंकि

ये प्रतिनिधि योग्यता के आधार पर, गुणों के आधार पर, निःस्वार्थता एवं निष्पक्षता के आधार पर एवं देशप्रेम के आधार पर सभी से अधिक पूजनीय है।" जिन महानुभावों ने मुख्य रूप से इस प्रसभा में राष्ट्र के प्रारब्ध को ही बदल डाला, वे थे जार्ज वाशिंगटन (George Washington), जेम्स मैडीसन (James Madison), एलेक्जेंडर हैमिल्टन (Alexander Hamilton), बेंजामिन फ्रैंकलिन (Benjamin Franklin), एडमण्ड रैण्डल्फ (Edmund Randolph), गवर्नर मोरिस (Gouverneur Morris) और जेम्स विलसन (James Wilson)। इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रतिष्ठित भद्र पुरुष सम्मिलित हुए थे।

यह प्रसभा वास्तव में १५ मई, १७८७ को स्वतन्त्रता भवन (Independence Hall) में हुई और इसके लिए जार्ज वाशिंगटन को सभापति चुना गया। तब यह भी फैसला किया गया कि राज्य ही मत दें और प्रत्येक राज्य का एक ही वोट हो। इसके अतिरिक्त प्रसभा की कार्रवाई गुप्त रखी जाय यह भी निश्चय किया गया। सात राज्यों की उपस्थिति गणपूर्ति मानी गई और बहुमत को सब निर्णयों को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त माना गया। इस प्रसभा को अधिकार दिया गया कि वह प्रसंधान के अनुच्छेदों के लिए सुधार सुझावे किन्तु मैडिसन (Madison) ने लिखा है कि प्रतिनिधियों ने अपने देश के ऊपर विश्वास किया तथा प्रसंधान के अनुच्छेदों (Articles) को एक ओर फेंक दिया और अब वे शासन तन्त्र के एक नूतन संविधान पर विचार करने लग गए। प्रतिनिधिगण समझते थे कि समय की सबसे बड़ी आवश्यकता यह थी कि किसी प्रकार दो विभिन्न शक्तियों अर्थात् स्वायत्तशासी राज्यों की शक्ति और केन्द्रीय शासन की शक्ति को समाहित किया जाए।

सोलह सप्ताह के विचार-विनिमय के बाद और अनेक उग्र समस्याओं के सुलझाने के पश्चात् १७ सितम्बर, १७८७ को "प्रसभा मे भाग लेने वाले समस्त राज्यों की सर्वसम्मति से" एक प्रलेख (Document) पर हस्ताक्षर हुए जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए एक नूतन शासन विधान स्वीकार किया गया। किन्तु इस संघर्ष का एक तीव्र एवं निर्णायक निर्णय और शेष था जिससे कि अमेरिकी राज्यों का संघ अधिक निर्दोष एवं अधिक पूर्ण हो जाए। प्रसभा (Convention) ने निर्णय किया था कि नया संविधान उस समय प्रभावी होगा जबकि तेरह राज्यों में से नौ राज्यों की प्रसभाएं इसको स्वीकार कर लेंगी। किन्तु १७८७ के अंत तक केवल तीन राज्यों की स्वीकृति प्राप्त हुई थी। सर्वत्र वाद-विवाद हो रहा था। बहुतों को भय था कि केन्द्रीय शासन को संविधान में बहुत व्यापक शक्तियां प्रदान की गई हैं। इस वाद-विवाद के फलस्वरूप दो दल मैदान मे आ गए। पहला दल था संघात्मक शासन के समर्थकों (Federalists) का और दूसरा दल था उन लोगों का जो संघात्मक शासन के विरोधी थे (Anti-Federalists)। संघात्मक शासन के समर्थक केन्द्रीय सरकार को शक्ति-सज्जित करना चाहते थे। किन्तु संघात्मक शासन के विरोधी केन्द्रीय शासन को स्वतन्त्र राज्यों का एक शिथिल संगठन मात्र बनाना चाहते थे। यह वाद-विवाद समाचारपत्रों में भी चला, विधानमण्डलों एवं राज्यों की प्रसभाओं (State Con-

vention) में भी चला। दोनों ओर ये तीव्र एवं उत्तेजित तर्क-वितर्क उपस्थित किए गए। पैट्रिक हेनरी (Patric Henry), रिचर्ड हेनरी ली (Richard Henry Lee) एवं अन्य देशभक्तों ने प्रस्तावित संविधान का इसलिए विरोध किया कि इसमें अधिकार पत्र (Bill of Rights) सम्मिलित नही है और इसलिए, उनके विचार से प्रस्तावित संविधान व्यक्तियों की स्वतन्त्रताओं के लिए हानिकर सिद्ध हो सकता है। संघात्मक शासन के समर्थकों ने नए शासन की स्थापना होते ही अधिकार-पत्र (Bill of Rights) की माँग मान ली। यह प्रतिज्ञा नई शासन-व्यवस्था के स्थापित होते ही प्रथम दस संशोधनों को स्वीकार करने से क्रियान्वित कर दी गई जिसका फल यह हुआ कि उन राज्यों ने भी संविधान को स्वीकार कर लिया जिन्होंने अब तक कोई निर्णय नहीं किया था। नया संविधान अन्तिमरूपेण २१ जून, १७८८ को स्वीकार कर लिया गया। "प्रसंधान की कांग्रेस ने विधि द्वारा आज्ञा दी कि नई शासन-व्यवस्था ४ मार्च, १७८९ से देश का शासन-भार सम्भाल लेगी।" इन्हीं दिनो सीनेट के सभासद एवं नई कांग्रेस के लिए प्रतिनिधिगण चुन लिए गए और जार्ज वाशिंगटन को राष्ट्रपति चुना गया। "इस प्रकार पुराने प्रसंघान (Confederation) का अन्त हुआ और नए गणराज्य का उदय हुआ।"

आजकल संयुक्त राज्य अमेरिका में ५० राज्य (States) है जिनका समग्र क्षेत्रफल ३,०२२,३८७ वर्ग मील है। पर्वतों, मैदानों और चौरस भूमि वाले इस देश के दो-तिहाई लोग कस्बों और नगरों में और एक-तिहाई देहाती क्षेत्रों में रहते हैं।

Suggested Readings

An Outline of the American History. Distributed by the United States Information Service (1952).

Burns, J. M. and Peltason, G. W. : *Government by the People*, 2nd Edition, : Chaps. III and IV.

Ferguson J. H. and Mc Henry, D. E. : *The American System of Government* Chaps. II and III.

Garner, J. W. : *Government of United States* (1930), Chap. IX.

Munro, W. B. : *Government of United States* (1947). Chaps. II and III.

Swisher, C. B. : *American Constitutional Development* (1943).

अध्याय २

संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की मुख्य विशेषताएँ

(Essentials of the American Constitutional System)

संविधान—एक प्रलेख (The Constitution as a Document)—फिलैडेल्फिया की प्रसभा (Philadelphia Convention) ने जो संविधान तैयार किया, वह प्रारूपकर्म (Draftsmanship), भाषा-प्रवीणता (Linguistic Elegance), संक्षेप (Brevity) एवं प्रत्यक्ष स्पष्टता (Apparent Clarity) की दृष्टि से आदर्श संविधान था। इसका दूसरा रूप हो भी नही सकता था क्योंकि इसका निर्माण नए राष्ट्र की विविधरूपता मे एकरूपता लाने के लिए किया गया था। इस संविधान के अनुबन्धो की रचना स्वाधीनता की घोषणा में निहित कई एक आधारभूत सिद्धांतों के आधार पर हुई थी। और तब से उन्हीं सिद्धान्तों को लेकर अमरीकी प्रशासन पद्धति कार्य कर रही है। ये सिद्धान्त इतने चिरस्थायी और प्रेरणादायक है कि संविधान लगभग १५० वर्ष से अधिक समय तक समय के थपेड़ों को सहन करता रहा, युद्ध और शान्ति के दिनों में देश के लिए उपयोगी सिद्ध होता रहा, पर वह मौलिक रूप में अपरिवर्तित रहा। सयुक्त राज्य अमेरिका के लोगों की संविधान निर्माताओं की सूक्ष्म बुद्धि, समभाव और भविष्यत् बुद्धि (Sense of the possible) के प्रति इतनी अटूट श्रद्धा है कि संविधान का मूल प्रलेख (Original document) उनके द्वारा पूजित किया जाता है। अतः विनाश से उसकी रक्षा के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया भी गया है।

अमेरिका का संविधान संसार के लिखित संविधानों में सबसे प्राचीन है और किसी भी अन्य राष्ट्र के संविधान से सबसे छोटा है। इसमे कुल ४,००० शब्द हैं। १० या १२ पृष्ठों में छपा हुआ यह आध घंटे में पढ़ा जा सकता है। संविधान के निर्माताओ ने इसको ऐसे पूर्ण संविधान के रूप में नही रचा था जो सब कालों मे और सब अवस्थाओं में शासन की अन्तिम रूप-रेखा प्रकट करता हो। वे तो केवल एक प्रस्थान-बिन्दु (Starting point) ढूँढ़ना चाहते थे और इसलिए उन्होने ढांचा अथवा सारांश उपस्थित किया। उनका विचार था कि इस ढांचे को भविष्य मे देश की सन्तानें व्यवहार की आवश्यकताओं, संकट-कालीन आवश्यकताओं, आर्थिक विकास की आवश्यकताओं, अथवा राष्ट्र की समृद्धि से सम्बन्ध रखने वाली अन्य आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित करेंगी। इस संविधान के विकास का क्रम अभी चालू है और यह विकास तब तक जारी रहेगा जब तक यह राष्ट्र जीवित है। पूर्व इसके कि उस क्रम की सूक्ष्म परीक्षा की जाए जिसके अनुसार इस संविधान का विकास हुआ है, इसके मुख्य मौलिक लक्षण एवं विशेषताएँ जान लेना आवश्यक हो जाता है।

संविधान के मूल सिद्धान्त और प्रमुख विशेषताएँ
(Fundamental Principles and Distinctive Features of the Constitution)

१. लोक-प्रभुता (Popular Sovereignty)—अमेरिकी संविधान की सबसे पहली विशेषता यह है कि इसने जनता को प्रभु-सत्ता माना है। स्वतन्त्रता की घोषणा में यह स्वीकार किया गया था कि जिस प्रकार प्रजा चाहे अपने देश की शासन-व्यवस्था को नियुक्त करे, अथवा उसको हटा दे या उसमें मनमाने परिवर्तन करे। लोक-प्रभुता की पवित्रता को संविधान ने स्वीकार किया है। संविधान की प्रस्तावना (Preamble) इस प्रकार आरम्भ होती है : "हम संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग...इस संविधान की अवतारणा एवं स्थापना करते हैं।" जिस प्रकार संविधान में हेर-फेर अथवा परिवर्तन हो सकें, उसका वर्णन संविधान के पांचवें अनुच्छेद में किया गया है। इसका अर्थ है कि इस शासन की व्यवस्था को लोगों ने ही जन्म दिया है और यह लोगो के प्रसाद-पर्यन्त ही रह सकती है।

लोक-प्रभुता का सिद्धान्त जनता को अन्तिम प्रभुता (Ultimate Sovereignty) प्रदान करता है और उसका आशय है कि जहाँ कहीं किसी प्रकार का निरंकुश अथवा अत्याचारी शासन हो, तो उसके स्थान पर सांविधानिक शासन की स्थापना होनी चाहिए। जब यह पहचान लिया जाय कि जनता ही उच्चतम शक्ति का सबसे सुरक्षित संग्रह-स्थान है और जनता की इच्छा ही विवेकपूर्ण, कुशल और संयमपूर्ण शासन की अच्छी जमानत (Guarantee) है तो इसका वास्तविक अर्थ मानवीय अधिकारों के प्रति आदर हो जाता है। यही अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln) की भाषा में जनता का शासन, जनता द्वारा शासन और जनता के लिए शासन कहलाता है। जेम्स मेडिसन (James Madison) ने कहा कि "अमेरिकी शासन-व्यवस्था उस श्रेष्ठ दृढ़ इच्छा पर आधारित है जो स्वतन्त्रता के प्रत्येक पुजारी को उत्तेजित करती है कि वे सब हमारे राजनीतिक प्रयोगों को मनुष्य मात्र की स्वशासन की योग्यता पर आधारित करें।"

२. नियन्त्रित शासन (A Limited Government)—लोक-प्रभुता के सिद्धान्त का स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है नियन्त्रित शासन (Limited Government)। संविधान के निर्माता वास्तव मे राज्य की असीमित शक्ति से भय खाते थे। संविधान ने केन्द्रीय शासन को स्पष्ट शक्तियाँ प्रदान कीं और राज्यों को बची हुई शक्तियों का अपार कार्य-क्षेत्र प्रदान किया है। इस प्रकार संविधान देश के लोक-प्रशासन के सभी बड़े और छोटे अधिकारियों के ऊपर, उसके क्रिया-कलापों के ऊपर अथवा उन तरीकों के ऊपर जिनके द्वारा वे अपना अधिकार प्रयोग करेंगे, निश्चित अंकुश एवं नियन्त्रण स्थापित करता है। ये नियन्त्रण इसलिए लगाए गए हैं कि शासन के अधिकारी व्यक्तियों के अधिकारों अथवा उनकी सम्पत्ति और उनकी स्वतन्त्रताओं का मनमाने ढंग से अपहरण न कर सकें। कुछ बातों में केन्द्रीय शासन के द्वारा

सीमोल्लंघन के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा की गई है, कुछ अन्य बातों में राज्यों अथवा स्वशासन की संस्थाओं के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा की गई है। और कुछ अन्य बातों में व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा सभी शासनों—केन्द्रीय, राज्यीय अथवा स्थानीय —द्वारा स्वेच्छाचारी सीमोल्लंघन के विरुद्ध की गई है। पाँचवाँ और चौदहवाँ संशोधन दोनों मिलकर कांग्रेस तथा राज्यीय विधानमण्डलों, दोनो को स्पष्ट चेतावनी देते है कि वे बिना कानूनी प्रक्रिया के किसी व्यक्ति की जान नही ले सकते; किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण नही कर सकते; न किसी की सम्पत्ति छीन सकते है। यथार्थ संविधान की प्रत्येक पंक्ति यह प्रमाणित करती है कि जनता के हाथों में ही प्रभुसत्ता का पूर्णाधिकार है और शासन के ऊपर नियन्त्रण है। अतः संविधान दो कार्य सिद्ध करता है। यह शासन का ऐसा स्थिर यन्त्र है जो शासकों को शासितों के ऊपर नियन्त्रण करने के योग्य बनाता है। साथ ही यह शासन पर एक नियन्त्रण है, एक प्रकार का उपाय है जिसके द्वारा शासित शासकों को सयम में रखते हैं।

३. शक्तियों का वितरण (Division of Powers)—फिलैडेलफिया प्रसभा में प्रतिनिधियो की इच्छा यही थी कि प्रभावी एवं सबल राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होनी चाहिए। साथ ही प्रत्येक प्रतिनिधि जाता था कि अमेरिका के अधिकतर निवासी अपने-अपने राज्यो की सरकारों से प्रेम करते हैं और वे किसी भी हालत मे अपने-अपने राज्यीय शासन को केन्द्रीय शासन की पूर्ण अधीनता में रखना पसन्द नहीं करेंगे। अतः संविधान के निर्माताओं ने शासन की एक नई प्रणाली को जन्म दिया जिसको आजकल संघ (Federation) कहा जाता है। संघीय शासन-प्रणाली का लक्ष्य होता है कि अब तक जो प्रभुसत्तासम्पन्न अलग-अलग राज्य हैं वे सब राष्ट्रीय एकता को ध्यान में रखते हुए एक संघ मे परिणत हो जाएँ। किन्तु ऐसे संघ में सम्मिलित होने वाले प्रभुत्व-शक्तिसम्पन्न राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता भी स्वीकार की जाती है। संघ उन राज्यों को प्रायः सभी मामलों में स्वायत्त शासन (Autonomy) प्रदान करता है और केवल ऐसे कतिपय विषयों पर उन्हे अधिकार नहीं दिए जाते जिनका सम्बन्ध समान राष्ट्रीय हितों से होता है।

इस प्रकार संविधान के जन्मदाताओं ने संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्दर ही दोहरी पद्धति वाले शासन को स्थापित किया। अमेरिका का संविधान कुछ शक्तियाँ राष्ट्रीय अथवा केन्द्रीय सरकार को सौंपता है और अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों के लिए सुरक्षित रखी गयी हैं। दसवाँ संशोधन स्पष्ट कहता है कि, "जो शक्तियाँ संविधान ने संयुक्त राज्य अमेरिका को प्रदान नहीं की हैं, न जिनके बारे में संविधान ने राज्यों को देना अस्वीकृत किया है; वे सब शक्तियाँ राज्यों के लिए अथवा प्रजा के लिए रक्षित हैं।" अतः संघीय सरकार को कुछ विनिर्दिष्ट शक्तियाँ ही प्रदान की गई हैं जबकि अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Powers) राज्यों के लिए सुरक्षित रखी गई हैं। इस प्रकार संघीय शासन में राज्य पूर्ण एकक होते हैं साथ ही सारे राष्ट्र की पूर्ण प्रजा को वह एक शक्तिशाली संगठन के रूप में जोड़ देता है जो समस्त राष्ट्रीय महत्त्व के मामलों को देखता है।

४. संघीय प्रधानता (Federal Supremacy)—यद्यपि संघीय सरकार को विनिर्दिष्ट शक्तियाँ (Enumerated Powers) प्रदान की गई हैं, फिर भी संघीय सरकार के नियम अथवा विधि (Law) को अपने क्षेत्र में राज्यों की विधि के ऊपर प्रधानता प्रदान की जाएगी। संविधान के छठे अनुच्छेद के द्वितीय खण्ड में कहा गया है : "यह संविधान और इसके निर्देशन में संयुक्त राज्य अमेरिका में जो भी विधियाँ (Laws) पारित की जाएँगी; और जितनी भी संधियाँ अब तक की गई हैं अथवा जो संधियाँ भविष्य मे सयुक्त राज्य अमेरिका के अधिकार से की जाएँगी, वे सब समस्त देश के लिए प्रधान रूप से मान्य होंगी; और सभी राज्यों के न्यायालयों को वे मान्य होंगी चाहे किसी राज्य के संविधान अथवा प्रचलित नियम से वे मेल न खाती हों।" इसका अर्थ हुआ कि संघीय संविधान हर प्रकार के नियम के ऊपर चाहे वह नियम राष्ट्र का हो अथवा किसी राज्य का प्रधान माना जाएगा। संघीय सरकार द्वारा पारित कोई विधि, यदि वह नियमत: संविधान की आज्ञा के अनुसार पारित की गई है, तो उसका दर्जा राज्य द्वारा पारित विधि से प्रधानतर माना जाएगा। यदि राज्यों के नियम केन्द्रीय सरकार के नियमों के विरुद्ध पड़ते हों अथवा केन्द्रीय सरकार द्वारा की गई किसी सन्धि के उपबन्धो के विरुद्ध पड़ते हों तो उनको असांविधानिक घोषित किया जा सकता है। संघीय और राज्य सत्ताओं के मध्य में क्षेत्राधिकार के विरोध के सब मामलों के लिए अन्तिम स्थान जहाँ उनका निर्णय किया जा सकता है, वाशिंगटन में स्थित सर्वोच्च न्यायालय है। वही न्यायाधिकरण (Tribunal) का कार्य करता है।

५. शक्तियों का पृथक्करण (The Separation of Powers)—अमेरिकी संविधान की पाँचवी विशेषता यह है कि इसने शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त (Principle of the Separation of Powers) को स्वीकार किया है। यह सिद्धांत, संविधान की किसी धारा (Section) में स्पष्टत: वर्णित नहीं किया गया है जैसा कि बहुत से राज्यों के संविधानों में स्पष्टत: वर्णित रहता है, बल्कि संविधान के उन तीन अनुच्छेदों के प्रारम्भिक वाक्यों में सम्मिलित है जिनका सम्बन्ध शासन के व्यवस्थापिका (Legislative), कार्यपालिका (Executive), एवं न्यायपालिका (Judicial) तीनों विभागों से है। प्रथम अनुच्छेद इस प्रकार प्रारम्भ होता है, "समस्त प्रतिश्रुत (Granted) विधायिनी शक्तियाँ (Legislative Powers) संयुक्त राज्य अमेरिका की काँग्रेस में अधिष्ठित होंगी।" द्वितीय अनुच्छेद इस प्रकार प्रारम्भ होता है, "कार्यपालिका शक्ति (Executive Power) संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति में अधिष्ठित होगी।" तृतीय अनुच्छेद में वर्णित किया गया है कि "न्यायिक शक्ति (Judicial Power) एक सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) में और उन निम्न न्यायालयों में जिनका काँग्रेस समय-समय पर आदेश दे सकती है, अधिष्ठित होगी।"

संविधान के निर्माता लॉक (Locke) एवं मॉंटेस्क्यू (Moniesquteu) के सिद्धान्तों से परिचित थे। ये लोग उपनिवेशों में इस सिद्धान्त का १०० वर्षों से भी

अधिक समय से परीक्षण कर रहे थे। वास्तव में नियन्त्रित शासन (Limited Government) के सिद्धान्त से उनका अटल विश्वास हो गया था कि शासन के तीनों विभाग पृथक् रखना आवश्यक है क्योंकि इस प्रकार निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण बना रहेगा।

६. परीक्षणों और सन्तुलनों का सिद्धान्त (Checks and Balances)—किन्तु संविधान के निर्माता, शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का पूर्णतया पालन नहीं कर सके क्योंकि इसमें कतिपय व्यावहारिक कठिनाइयाँ थी। मैडिसन (Madison) आदि कुछ लोग अच्छी तरह समझते थे कि शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण केवल कल्पना जगत् में ही सम्भव है। इस विषय पर टिप्पणी करते हुए मैडिसन (Madison) ने फैडरेलिस्ट (Federalist) नामक पत्र में लिखा था कि "शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त के लिए यह आवश्यक नहीं है कि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका ये तीनो विभाग एक-दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध रहें।" आगे चलकर उसने सिद्ध किया कि "यदि ये तीनों विभाग उस हद तक मिलकर सयुक्त रूप से कार्य न करेंगे कि प्रत्येक विभाग हर दूसरे विभाग को सांविधानिक नियन्त्रण प्रदान करे, तो उसी हद तक शक्तियों का पृथक्करण जिसको सिद्धान्त स्वतन्त्र शासन के लिए परमावश्यक मानता है, व्यवहार में पूर्ण अव्यावहारिक एवं असफल सिद्ध होगा।" आगे चलकर कहा गया है कि अनियन्त्रित शक्ति मे सदैव भय निहित होते है और अनियन्त्रित शक्ति तथा अनियन्त्रित शासन दोनों एक ही चीज है जब तक कि एक शक्ति दूसरी शक्ति पर संयम न रखे। यह भी सम्भव है कि विभिन्न अधिकारी विभिन्न शक्तियों के बल पर मिल जाएँ और वे सम्मिलित अधिकार का प्रयोग अन्याय के रूप मे करने लगें। अतः संविधान के निर्माताओं ने परीक्षणों और सन्तुलनों का अनुक्रम (System of Checks and Balances) स्वीकार किया जिसके द्वारा शासन की शक्ति परिमित (Limited), नियन्त्रित (Controlled) एवं विकीर्ण (Diffused) बनी रहे।

वास्तविक सांविधानिक व्यवस्था यह है कि शासन के प्रत्येक विभाग को अपवर्जी शक्तियाँ (Exclusive Powers) प्रदान की जाती है जो उस विभाग के लिए उपयुक्त हों, किन्तु साथ ही इन शक्तियों पर अन्य विभागों का भी अधिकार रहता है ताकि कहीं अप्रतिबन्धित शक्ति पाकर वे विभाग भ्रष्टाचारपूर्ण न हो जाएँ। कांग्रेस द्वारा पास किए गए विधेयकों पर राष्ट्रपति अपने निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग करता है। इसके विपरीत राष्ट्रपति जब धन की माँग करता है, नियुक्तियाँ करता है अथवा संधियाँ करता है तो सीनेट का अनुमोदन आवश्यक है। यही तक नही। राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग भी लाया जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय कई बातों में व्यवस्थापिका के प्रति ऋणी है, जैसे नियोजन (Appropriations) और पुनरावेदन का अधिकार-क्षेत्र या पुनर्विचाराधिकार (Appellate Jurisdiction)। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह सर्वोच्च न्यायालय के जजों की नियुक्ति करे अथवा क्षमा दान करे, प्रविलम्बन प्रदान करे (Reprieves); सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दी गई

१९४० में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वितीय विश्व-युद्ध में अधिकाधिक फँसता गया तो कांग्रेस ने राष्ट्रपति को अपार शक्ति से सज्जित कर दिया जिसका उदाहरण है मार्च १९४१ का उधार पट्टा अधिनियम, और उस समय राष्ट्रपति ने देश का सर्वोच्च सेनापति होने के नाते भी हर दिशा में अपनी शक्ति का उपयोग किया। कांग्रेस में और कांग्रेस के बाहर भी विरोध प्रकट किया गया कि राष्ट्रपति, विधायिनी शक्तियाँ भी अपने हाथों में ले रहा है और इस प्रकार उस सिद्धान्त की अवहेलना कर रहा है जिसके द्वारा संविधान ने शासन की शक्तियों का पृथक्करण किया है। कुछ अंशों तक इस आलोचना के फलस्वरूप ही नई कांग्रेस ने जो जनवरी १९४३ में चुनकर आई राष्ट्रपति रूजवेल्ट के नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह उपस्थित किया और राष्ट्रपति द्वारा अनुमोदित कई प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिए। उस समय कांग्रेस ने कई ऐसे विधेयक पास कर दिए जिन पर राष्ट्रपति ने आपत्ति की थी। इनमे दो मूल अधिनियम भी थे जिनको राष्ट्रपति वीटो शक्ति द्वारा रद्द कर चुका था। इस प्रकार शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को पुनः दृढ़ किया गया। बीयर्ड (Beard) कहता है कि, "चाहे शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त में कुछ भी कमियाँ हों, फिर भी यह सिद्धान्त अमेरिकी शासन-व्यवस्था की प्रधान विशेषता है और यह तथ्य अमेरिकी शासन और राजनीति के व्यवहार में बारम्बार स्पष्ट और प्रकट हो चुका है।"[1]

यद्यपि आजकल शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का महत्त्व बहुत कम हो गया है और इसकी त्रुटियों को दूर करने के लिए अनेक उपायों पर विचार किया जा रहा है, फिर भी यह सिद्धान्त अमेरिकी शासन में मूलभूत है।

७. कठोर संविधान (A Rigid Constitution)—अमेरिकी संविधान कठोर है। संविधान के संशोधन के लिए एक जटिल एवं कठिन प्रक्रिया की आवश्यकता है। संविधान में उसके संशोधन के लिए दो निश्चित सोपान सुझाए गए हैं। इन सोपानों पर हम इस अध्याय के अंत में विचार करेंगे। संशोधन के ये दोनों सोपान अत्यन्त जटिल एवं विस्तृत हैं। इसी कठिनाई के कारण पिछले १७८ वर्षों मे उसमें अब तक केवल २३ संशोधन ही हो सके हैं।

८. न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review)—नियन्त्रित शासन एवं शक्तियों का पृथक्करण इन दो सिद्धान्तों के स्वीकार कर लिए जाने के पश्चात् यह उपसिद्धान्त के रूप में आवश्यक हो जाता है कि न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review) का सिद्धान्त लागू हो जिसके अनुसार न्यायालयों को अधिकार है कि वे व्यवस्थापिका अथवा कार्यपालिका द्वारा पारित किसी कानून को असांविधानिक घोषित कर दें यदि उनके निर्णय मे वह कानून संविधान का उल्लंघन करता हो। अमेरिका मे संघीय न्यायपालिका संविधान के अभिभावक के रूप मे कार्य करती है। वह संविधान का निर्वचन करती है। इसके अतिरिक्त वह कांग्रेस अथवा राज्यीय विधान-

1. Beard, C. A. : American Government and Politics (1947), p. 16.

किसी की सजा को कम कर दे (Commutations) अथवा पूर्ण क्षमा (Amnesties) कर दे। और सर्वोच्च न्यायालय ने, ज्योंही नया संविधान प्रवर्त्ती (Operative) हुआ, कांग्रेस द्वारा पारित तथा राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत अधिनियमों (Acts) की विध्यनुकूलता (Validity) पर आक्षेप करना आरम्भ कर दिया।

किन्तु 'परीक्षणों और संतुलनों का उपाय' (Device of Checks and Balances) वास्तव में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त से बिल्कुल उल्टा है। मांटेस्क्यू (Montesquieu) यह नहीं चाहता था कि शासन की तीन शक्तियाँ तीन अलग भागों मे बँट जाएँ। पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद अन्यायी शासन समाप्त हो सकता है, किन्तु पूर्ण स्वतन्त्रता संघर्ष एवं विभेदों को भी जन्म देती है। मेडिसन (Madison) ने शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त (Doctrine of Separation of Powers) की व्याख्या करते हुए ठीक ही कहा था, "एक विभाग की शक्तियों के ऊपर दूसरे विभागों में से किसी का अधिकार नहीं होना चाहिए। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि किसी भी विभाग के पास प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे ऐसे पूर्ण-सत्ता-युक्त अधिकार नहीं होने चाहिएँ जिससे किसी विभाग को अपने न्यायोचित अधिकारों के प्रयोग में बाधा उपस्थित हो।" संविधान के निर्माता शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत की श्रेष्ठता को मानते थे, इसलिए उन्होने शासन को तीन विभिन्न एवं सुस्पष्ट भागों में विभाजित कर दिया और इस प्रकार राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली (Presidential Form of Government) को जन्म दिया। इस प्रणाली का अर्थ है व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका विभागों में विच्छेद। कभी-कभी तो यह विच्छेद संघर्ष एवं विभाजित उत्तरदायित्व का रूप धारण कर लेता था। इसलिए संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रभावी एवं योग्य नेतृत्व का अभाव रहता है। हाँ, सम्भवत: संकटकालीन स्थिति में योग्य नेतृत्व उपलब्ध हो जाए। 'परीक्षणों और सन्तुलनों के उपाय' (Device of Checks and Balances) ने तो और भी अधिक विभागीय संघर्ष, अतिव्याप्ति (Overlapping) एवं अदक्षता उत्पन्न कर दी है। व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका विभागों में शक्तियों के पृथक्करण एवं समन्वय (Co-ordination) के उपायों के पूर्ण अभाव में कभी-कभी अत्यन्त आवश्यक निर्णयों के करने मे भी अत्यन्त देर होती है। ऐसा भी होता है कि शासन की एक शाखा एक नीति पर चल रही हो किन्तु शासन के अन्य विभाग बिलकुल विपरीत नीति पर चल रहे हों, विशेष रूप से ऐसा उस समय सम्भव हो सकता है जबकि कार्यपालिका का किसी दल विशेष से सम्बन्ध हो, किन्तु कांग्रेस में दूसरे दल का बहुमत हो। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ राष्ट्रपति कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के बीच की खाई को पाटने में सफल हुए। "किन्तु यह मानना ही होगा कि आपात-काल में चाहे अल्प काल के लिए समन्वय उपस्थित हो जाए, और इसमें राष्ट्रपति द्वारा संरक्षण एवं अनुग्रह का भी हाथ रहता है फिर भी राष्ट्रीय शासन भागों में बँट जाता है और इसके लिए शक्तियों का पृथक्करण ही उत्तरदायी है जिसका उपबन्ध संविधान में किया गया है।"[1] अब

1. Zink, H.: A Survey of American Government (1950), p. 12.

१९४० में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वितीय विश्व-युद्ध में अधिकाधिक फँसता गया तो कांग्रेस ने राष्ट्रपति को अपार शक्ति से सज्जित कर दिया जिसका उदाहरण है मार्च १९४१ का उधार पट्टा अधिनियम, और उस समय राष्ट्रपति ने देश का सर्वोच्च सेनापति होने के नाते भी हर दिशा में अपनी शक्ति का उपयोग किया। कांग्रेस में और कांग्रेस के बाहर भी विरोध प्रकट किया गया कि राष्ट्रपति, विधायिनी शक्तियाँ भी अपने हाथों में ले रहा है और इस प्रकार उस सिद्धान्त की अवहेलना कर रहा है जिसके द्वारा संविधान ने शासन की शक्तियों का पृथक्करण किया है। कुछ अंशों तक इस आलोचना के फलस्वरूप ही नई कांग्रेस ने जो जनवरी १९४३ में चुनकर आई राष्ट्रपति रूजवेल्ट के नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह उपस्थित किया और राष्ट्रपति द्वारा अनुमोदित कई प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिए। उस समय कांग्रेस ने कई ऐसे विधेयक पास कर दिए जिन पर राष्ट्रपति ने आपत्ति की थी। इनमे दो मूल अधिनियम भी थे जिनको राष्ट्रपति वीटो शक्ति द्वारा रद्द कर चुका था। इस प्रकार शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को पुनः दृढ किया गया। बीयर्ड (Beard) कहता है कि, "चाहे शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त में कुछ भी कमियाँ हों, फिर भी यह सिद्धान्त अमेरिकी शासन-व्यवस्था की प्रधान विशेपता है और यह तथ्य अमेरिकी शासन और राजनीति के व्यवहार में बारम्बार स्पष्ट और प्रकट हो चुका है।"[1]

यद्यपि आजकल शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का महत्त्व बहुत कम हो गया है और इसकी त्रुटियों को दूर करने के लिए अनेक उपायों पर विचार किया जा रहा है, फिर भी यह सिद्धान्त अमेरिकी शासन में मूलभूत है।

७. कठोर संविधान (A Rigid Constitution)—अमेरिकी संविधान कठोर हैं। संविधान के संशोधन के लिए एक जटिल एवं कठिन प्रक्रिया की आवश्यकता है। संविधान में उसके संशोधन के लिए दो निश्चित सोपान सुझाए गए हैं। इन सोपानों पर हम इस अध्याय के अंत में विचार करेंगे। संशोधन के ये दोनों सोपान अत्यन्त जटिल एवं विस्तृत हैं। इसी कठिनाई के कारण पिछले १७८ वर्षों में उसमे अब तक केवल २३ संशोधन ही हो सके हैं।

८. न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review)—नियन्त्रित शासन एवं शक्तियों का पृथक्करण इन दो सिद्धान्तों के स्वीकार कर लिए जाने के पश्चात् यह उपसिद्धान्त के रूप में आवश्यक हो जाता है कि न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review) का सिद्धान्त लागू हो जिसके अनुसार न्यायालयों को अधिकार है कि वे व्यवस्थापिका अथवा कार्यपालिका द्वारा पारित किसी कानून को असांविधानिक घोषित कर दें यदि उनके निर्णय में वह कानून संविधान का उल्लंघन करता हो। अमेरिका में संघीय न्यायपालिका संविधान के अभिभावक के रूप में कार्य करती है। वह संविधान का निर्वचन करती है। इसके अतिरिक्त वह कांग्रेस अथवा राज्यीय विधान-

1. Beard, C. A. : American Government and Politics (1947), p. 16.

मण्डल की क्षमता का निर्णय करती है। यदि न्यायपालिका के अनुसार कोई कानून जिसको कांग्रेस अथवा राज्यीय विधानमण्डल ने पारित किया है किन्तु जो इन दोनों व्यवस्थापिकाओं की शक्ति एवं अधिकार से परे है अथवा यदि वह कानून किसी राज्य के प्रचलित कानून के विरुद्ध है; अथवा यदि किसी कानून द्वारा लोगों की स्वतन्त्रताओं को आघात पहुंचता है; तो ऐसी स्थिति में यह उस कानून को 'अल्ट्रा-वायर्स' अथवा असाविधानिक घोषित कर देती है और ऐसी स्थिति में वह कानून विधि का रूप धारण नहीं कर सकता। उसी प्रकार कार्यपालिका का कोई नियम, यदि वह उसके सांविधानिक अधिकारों का अतिक्रमण करता है, तो उसको भी असांविधानिक घोषित किया जा सकता है।

न्यायिक पुनरीक्षण के सिद्धान्त की हाल मे कटु आलोचना हुई। इस सिद्धान्त के समर्थक कहते हैं कि यह स्वतन्त्र एवं नियन्त्रित शासन का रक्षक है। वे यह भी कहते हैं कि व्यवस्थापिका की प्रबलता (Precipitancy) के विरुद्ध न्यायिक पुनरीक्षण न केवल रक्षा करता है बल्कि स्थायी शासन के स्थायित्व में सहायक होता है। इसके विपरीत इस सिद्धान्त के विरोधी कहते हैं कि न्यायालय व्यवस्थापिका एव कार्यपालिका दोनो के अधिकारों का अतिक्रमण करते हैं और उत्तरदायित्वपूर्ण प्रतिनिधिक शासन के कामों में बाधा डालते हैं। यह भी कहा जाता है कि न्यायिक पुनरीक्षण आवश्यक सामाजिक अथवा आर्थिक सुधारों की दिशा मे भी देर लगाता है, जिनका बदलती हुई स्थिति में अत्यधिक महत्त्व है। अन्यत्र, जहां इस विषय अर्थात् न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review) पर पुनः आलोचना की जाएगी, हम इसके बारे में विस्तार से विचार करेंगे।

९. अधिकार-पत्र (The Bill of Rights)—जब फिलैडेलफिया सम्मेलन (Philadelphia Convention) मे संविधान का निर्माण हुआ था, उसमे कोई अधिकार-पत्र नही था। संविधान मे नागरिकों के अधिकारों का समावेश बाद में प्रतिनिधियों के निरन्तर आग्रह के कारण किया गया था क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता, तो राज्यों द्वारा सविधान का स्वीकार किया जाना मुश्किल था। अमेरिका संविधान में १७९१ में अधिकार-पत्र का समावेश दस सांविधानिक संशोधनों द्वारा किया गया था।

१०. विधि की उचित प्रक्रिया का अधिकार (The Right to Due Process of Law)—संविधान ने संघ और राज्य सरकारों दोनों से कहा है कि वे विधि की उचित प्रक्रिया के बिना किसी भी व्यक्ति को उसके जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति से वंचित नहीं कर सकती। विधि की उचित प्रक्रिया का अभिप्राय यह है कि यदि कोई व्यक्ति विधि का उल्लंघन करता है, तो उसके बाद पर विधि के नियमों के अनुसार ही विचार होना चाहिए, मनमाने ढंग से नहीं। इसका यह भी अभिप्राय है कि विधानमण्डल और कार्यपालिका के कार्य उचित होने चाहिएं।

संविधान की वृद्धि

(Growth of the Constitution)

संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान, जिसको फिलैडेलफ़िया प्रसभा (Philadelphia Convention) ने पास किया था, एक छोटा-सा प्रलेख (Document) था जिसमें प्रस्तावना (Preamble) थी, अनुच्छेद थे और जो केवल ८९ वाक्यों से बना था। तब से बराबर वह संविधान दृढ़ता के साथ बदल रहा है, विकसित हो रहा है, बढ़ रहा है और अपने आपको नई अवस्थाओं के अनुकूल बनाता जा रहा है। इस संविधान के रचयिता जानते थे कि यदि इस सविधान को चिरजीवी बनना है तो इसे एक जीवित संविधान होना चाहिए जिसमें लचीलापन (Flexibility) एवं परिवर्तनशीलता (Adaptability) होनी चाहिए और जो समय की आवश्यकता के अनुरूप रूप धारण कर ले। इसलिए उन लोगों ने सभी बातो को विस्तार नहीं दिया, बल्कि यह आशा व्यक्त की कि समय के अनुरूप यह स्वयं बढ़ेगा और विकसित होगा। ब्राइस (Bryce) के शब्दों में, "अमेरिकी संविधान आवश्यकतः उतना ही बदला है जितना कि राष्ट्र बदला है। और जहाँ तक लोगों के विचार इस सविधान के बारे में बदले हैं वहीं तक इस संविधान की आत्मा एवं अर्थ में परिवर्तन हुआ है।"

अमेरिकी संविधान के विकास में जिन स्रोतों ने सहायता दी है, वे निम्नलिखित हैं:—

१. संविधि द्वारा विकास (Development by Statute)—जैसा कि पहले भी वर्णन किया जा चुका है, संविधान के रचयिताओं ने बहुत-सी बातें छोड़ दी थीं। उनका विचार था कि कांग्रेस अथवा राज्यों के विधान-मण्डल समय-समय पर अधिनियमों द्वारा इन न्यूनताओं की पूर्ति कर लेंगे और इस प्रकार शासन का ढाँचा पूर्ण हो जाएगा। संविधान ने न्यायपालिका के सम्बन्ध में केवल एक सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की है और सर्वोच्च न्यायालय की रचना का भार कांग्रेस के ऊपर छोड दिया है। अन्य संघीय न्यायालयों की व्यवस्था का भार तो पूर्णरूपेण कांग्रेस के विवेक पर छोड़ दिया गया है। इस प्रकार १७८९ के न्यायपालिका अधिनियम (Judiciary Act of 1789) ने अमेरिकी न्याय-व्यवस्था की नींव डाली। उसी प्रकार कार्यपालिका के बहुत से विभागों का संगठन भी कांग्रेस द्वारा पारित परिनियमों (Statutes) के आधार पर ही हुआ है। १९४६ के राष्ट्रपति-उत्तराधिकार-अधिनियम (Presidential Succession Act of 1946) ने राष्ट्रपति के उत्तराधिकारी का ऐसी परिस्थिति के लिए निर्णय किया है जब कि दुर्भाग्यवश राष्ट्रपति तथा उप-राष्ट्रपति दोनों की मृत्यु हो जाए। स्वयं कांग्रेस की प्रक्रिया अन्तरिक संगठन एवं दैनिक व्यवहार के नियम भी परिनियमों (Statutes) द्वारा ही निश्चित हुए हैं।

कांग्रेस की विभिन्न शक्तियां बताने के बाद संविधान, अन्त में व्यापक अनुदान के रूप में कांग्रेस को अधिकार देता है कि वह सभी आवश्यक विधियां पास करे जो अपने अधिकार-क्षेत्र में उसे आवश्यक एवं उचित जान पड़ें। इस धारा को प्रायः 'लचीली धारा' (The Elastic Clause) कहा गया है और बहुत-सी ऐसी बातें भी इस उपबन्ध की आज्ञानुसार कांग्रेस ने अपने अधिकार-क्षेत्र में ले ली है जिनको सम्भवतः अपने अधिकार-क्षेत्र में लेना कांग्रेस न चाहती। उसी प्रकार संविधान का स्वतन्त्र एवं विस्तृत निर्वचन करके कांग्रेस ने बहुत विस्तृत रक्षा-व्यवस्था का संस्थापन किया है; बहुत बड़ी संख्या में प्रशासी बोर्ड (Administrative Board) एवं कार्यालय अथवा विभाग (Bureaus) खोल दिए है; दूर-दूर बिखरे हुए विस्तृत साम्राज्य को मिला लिया है, साथ ही अपने ऊपर शिक्षा, अधिकोषण व्यापार (Banking), बीमा-व्यापार, निर्माण एवं रचना (Construction), परिवहन (Transporting), विद्युत्-शक्ति का उत्पादन (Generating Electric Power) आदि ले लिया है, यही नहीं, कांग्रेस ने यह अधिकार प्राप्त कर लिया है कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे उद्योग-विकसित (Industrialized) और जटिल एवं गहन (Complicated) राष्ट्र के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन को भी व्यवस्थित करे। सर्वोच्च न्यायालय ने स्थायी सिद्धान्त के रूप में यह भी घोषित किया है कि वह कांग्रेस के द्वारा दिए गए निर्वचनों या व्याख्याओं के लिए महान् आदर दिखलाएगा और उनको तभी रद्द करेगा जब वे साफ तौर पर और प्रत्यक्षता गलत होंगी।

२. कार्यपालिका द्वारा विकास (Development by Executive)—उसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की राजाज्ञाओं, आज्ञाओं एवं कार्यवाहियों के कारण संविधान का विकास हुआ है। जैक्सन (Jackson), लिंकन (Lincoln) एवं दोनों रूजवेल्ट (Roosevelts), इन राष्ट्रपतियों की संविधान के ऊपर उतनी ही स्पष्ट छाप (Impact) है जितनी कि संविधान के रचयिताओं में से किसी की हो। अपनी कार्यपालिका शक्तियों को ओजस्वी एवं प्रबल ढंग से प्रयोग करके, इन राष्ट्रपतियों ने अपने पद में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका दोनों प्रकार की शक्तियों का नेतृत्व स्थापित कर लिया। संविधान में कहीं भी मन्त्रिमण्डल का अस्तित्व नहीं है न राष्ट्रपति के लिए मन्त्रिमण्डल से परामर्श करना आवश्यक है। किन्तु वाशिंगटन (Washington) ने मन्त्रिमण्डल की रचना की और वह उससे परामर्श लेने लगा, और तभी से मन्त्रिमण्डल शासन का एक आवश्यक अंग बन गया है। संविधान ने युद्ध की घोषणा करने की शक्ति कांग्रेस को दी है, फिर राष्ट्रपतियों ने कई बार सेनाओं को युद्ध के मैदान में लड़ने, अथवा युद्ध करने की तैयारी दिखाने के अभिप्राय से भेज दिया है यद्यपि इस सम्बन्ध में कांग्रेस से अधिकार प्राप्त नहीं किया गया। वुड्रो विल्सन (Woodrow Wilson) और फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट (Franklin D.-Roosevelt) दोनों ने ही ऐसा किया था।

पुनश्च, संविधान के उपबन्धों के अनुसार परिनियम (Statutes) पास किए जाते है और परिनियमों के अधीन विनियम (Regulations) बनाए जाते हैं जिनके

अनुसार वाणिज्य (Commerce) के सम्बन्ध मे निर्णय किये जाते हैं, देशीयकरण (Naturalization) की विधि (Process) निश्चित की जाती है, जनगणना करने की प्रक्रिया निश्चित की जाती है तथा एकस्व (Patents) एवं प्रतिलिपि अधिकार (Copy Rights) निर्णय किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने अनेकों अधिशासी प्राधिकारियों एव प्रशासी बोर्डों (Administrative Boards) को अधिकार दे दिया है कि वे परिनियमों (Statutes) की न्यूनताओं को विनियमों (Regulations) एवं आज्ञाओं से पूर्ण कर लें। ये विनियम, विधियाँ (Law) नहीं हैं किन्तु विनियम भी विधि के समान प्रभावी हैं। "कहा जा सकता है कि संविधान मुख्य पेड़ का तना (Main Trunk) है जिसकी शाखें (Branches) परिनियम (Statutes) हैं और विनियम (Regulations) ही जिस संविधान रूपी तने की टहनियाँ (Twigs) हैं।"[1]

३. निर्वचन द्वारा विकास (Development by Interpretation)—चीफ जस्टिस ह्यूज (Chief Justice Hughes) के प्रसिद्ध वाक्य में यह सत्य निहित है कि अमेरिका की शासन-व्यवस्था का विकास न्यायिक निर्वचन (Judicial Interpretation) द्वारा हुआ है। उसने कहा था, *"हम संविधान के उपबन्धों के अनुसार कार्य* करते हैं किन्तु संविधान क्या कहता है, इस तथ्य को न्यायाधीश लोग ही बतला सकते हैं।" जज लोग ही संविधान का निर्वचन करते है, और सयुक्त राज्य अमेरिका के जैसे संवि धान के भी, *जो सक्षिप्त एवं व्यापक शब्दों अथवा वाक्यांशों में लिखा हुआ* है, विभिन्न निर्वचन हो सकते हैं। यदि किसी वाक्यांश का नया निर्वचन किया जाए तो इसका अर्थ होगा उसको नये अर्थों मे लेना और यदि उसको नए अर्थों में स्वीकार किया जाता है तो उसका अर्थ होगा उसको बदल देना। न्यायालयो के समक्ष सविधान की प्रायः प्रत्येक धारा पर विचार हुआ है और न्यायाधीशों के निर्वचनों (Interpretations) ने निस्सन्देह संविधान के कई भागों को बदल डाला है। उपलक्षित शक्तियों का सिद्धान्त (Implied Powers), सहज अथवा अन्तर्वर्ती शक्तियो का सिद्धान्त (Inherent Powers), प्रसंविदा की पवित्रता का सिद्धान्त (Sanctity of Contracts) एवं अन्यान्य सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों ने निस्सन्देह शासन की दिशा ही बदल डाली है। उदाहरण के रूप मे सर्वोच्च न्यायालय ने वियुक्ति (Dismissal) का अधिकार राष्ट्रपति को दे दिया, और इस सम्बन्ध मे सीनेट को कोई अधिकार न रहा। संविधान ने संघीय सरकार को संचारण के साधन (Means of Communication) एव परिवहन (Transport) का प्रबन्ध सौंपा है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय ने निर्वचन किया कि संचार के साधनो मे तार; टेलीफोन एवं रेडियो भी सम्मिलित है। परिवहन के साधनो मे रेल, सड़कें तथा हवाई मार्ग भी सम्मिलित कर लिए गए। इसी प्रकार उदारता से सशस्त्र सेनाओं का निर्वचन किया गया और इस प्रकार संघीय सरकार का अधिकार-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। संविधान कहता

1. Munro, W. B.: The Government of the United States, p. 69.

है कि कांग्रेस के पास वाणिज्य-व्यवस्था करने की शक्ति होगी। अब बताइये कि वाणिज्य (Commerce) शब्द का क्या अर्थ है और वाणिज्य में कौन-कौनसी बातें सम्मिलित है। सर्वोच्च न्यायालय ने इसका निर्वचन नई स्थितियों के अनुसार और नई समस्याओं के समाधान हेतु विभिन्न प्रकार से विभिन्न अर्थों में किया है। वुड्रो विल्सन ने सर्वोच्च न्यायालय को एक ऐसा सांविधानिक सम्मेलन बताया है जिसका निरन्तर अधिवेशन होता रहता है।

४ प्रथा एवं रीति द्वारा विकास (Development by Usage)—अमेरिकी संविधान की वृद्धि एवं विकास एवं संपरिवर्तन मे प्रथाओं, रीतियों तथा आचारों एवं रूढ़ियों का भी हाथ है। एक व्यक्ति की जो आदत होती है, वही राष्ट्र की प्रथा अथवा रीति (Usage) बन जाती है। राष्ट्र भी व्यक्तियों की तरह किसी विशेष काम को किसी विशेष प्रकार से करने के आदी हो जाते हैं। वही आदत (Habit) निरन्तर अभ्यास के अनन्तर प्रथा अथवा रीति में परिवर्तित हो जाती है और उसको बदलना कठिन हो जाता है। ये राजनीतिक रूढ़ियां (Customs) एवं प्रथाएं (Usages), जिनका आधार न तो विधियां (Laws) हैं, न न्यायिक निर्णय (Judicial Decisions) हैं, शासन के मौलिक नियमों के आधारभूत ढांचे के अत्यन्त आवश्यक अवयव हैं। वास्तव में प्रथाएँ एवं रीतियां एक प्रकार से अलिखित नियम हैं जिनके विकास के द्वारा संविधान बहुत कुछ नवीन एवं आधुनिक (Modernised), संशोधित (Amended) एवं प्रजातन्त्रात्मक (Democratized) हो गया है। प्रथाएँ एवं रीतियां कठोर (Rigid) संविधान को भी कोमल एवं लचीला (Flexible) बना देती हैं।

इस संविधान में सबसे मुख्य उदाहरण है राजनीतिक दलों का विकास, जो संविधान में निहित नहीं है। राजनीतिक दलों (Political Organisations) के अभाव में हम संघीय अथवा राज्यीय शासन की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। फिर भी संविधान में राजनीतिक दलों का कोई उपबन्ध नही है। राजनीतिक दल ही व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में समन्वय स्थापित करते हैं, तथा इन्हीं राजनीतिक दलों के द्वारा ही राष्ट्रपति का पद लोगों के प्रति अधिक उत्तरदायी बना है।

इस सम्बन्ध में दूसरा उदाहरण, मन्त्रिमण्डल का है जो राष्ट्रपति को शासन में सहायता देता है। इस प्रथा का संविधान में कोई आधार नही है। कांग्रेस द्वारा पास किए हुए परिनियमों (Statutes) ने केवल विभागो की रचना की है। इन्हीं विभागों में से मन्त्रिमण्डल के सदस्य चुने जाते हैं। राष्ट्रपति वाशिंगटन (Washington) ने कुछ मन्त्री परामर्श के लिए लेना आवश्यक समझा, और बाद में अन्य राष्ट्रपतियों ने इस प्रथा को जारी रखा है, और आजकल मन्त्रिमण्डल का पूर्ण परित्याग करके शासन चलाना प्रायः असम्भव होगा। सीनेटोरियल कर्टसी (Senatorial Courtesy), राष्ट्रपतीय नाम निर्देशक दल-सम्मेलन (Presidential Nominating Conventions) एवं अन्य दल-गत क्रिया-कलाप तथा प्रतिनिधि

भवन के प्रतिनिधियों के निवास-स्थान सम्बन्धी आवश्यकताओं का उपबन्ध भी सांविधानिक प्रथाओं तथा रीतियों के उदाहरण है। संविधान में व्यवस्थापिका-समितियों (Legislative Committees) की आज्ञा नहीं है किन्तु प्रथा, रीति एव आचार ने उनको ऐसा स्थायी बना दिया है मानो वे संविधान के अंग हों।

राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन (George Washington) ने एक पूर्वभावी (Precedent) स्थापित किया कि किसी व्यक्ति को दो बार से अधिक राष्ट्रपति नहीं होना चाहिए। यह एक प्रथा-सी बन गई और इसका पालन १६४० तक बराबर होता रहा किन्तु फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट (Franklin D. Roosevelt) तृतीय बार राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार के रूप मे खड़ा हुआ और वह चुन लिया गया। वह चौथी बार भी चुना गया। राष्ट्रीय आपात काल की घडी में रूजवेल्ट के गतिशील एवं शक्तिशाली व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण राष्ट्र ने वशीभूत होकर पुरानी प्रथा (Custom) का उल्लंघन स्वीकार कर लिया। किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका में बहुमत इसी पक्ष में था कि कोई व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रपति पद ग्रहण न करे, अत: १६५१ में संविधान में संशोधन किया गया जिसके अनुसार कोई एक ही व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रपति नहीं होगा।

संशोधन द्वारा वृद्धि (Growth by Amendment)—संविधान के निर्माता भली प्रकार समझते थे कि भविष्य में नये अनुभव एवं नई अवस्थाओं के अनुसार संविधान में सुधार करने की आवश्यकता पड़ेगी, अतः उन्होंने औपचारिक संशोधन की विधि (Process) प्रस्तुत की। संविधान किसी संशोधन के प्रस्ताव के लिए दो सोपान निर्धारित करता है तथा दो सोपान उनके अभिपोषण तथा अनुसमर्थन (Ratify) के लिए निर्धारित करता है। (१) कांग्रेस के दोनों सदनों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा कोई संशोधन-प्रस्ताव उपस्थित किया जा सकता है, तथा उसका अनुसमर्थन किया जा सकता है, किन्तु इस प्रस्ताव के लिए यह आवश्यक है कि—

(१) वह तीन-चौथाई राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा, अथवा (ii) वह तीन-चौथाई राज्यों में इस उद्देश्य के लिए बुलाए गए सम्मेलनों द्वारा अभिपोषित हो।

(२) अथवा राष्ट्रीय संविधान सम्मेलन (National Constitutional Convention) जिसको दो-तिहाई राज्यों की व्यवस्थापिकाओ की प्रार्थना पर कांग्रेस आहूत करे, संशोधन के लिए प्रस्ताव करे, और वह—

(i) तीन-चौथाई राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा अथवा

(ii) तीन-चौथाई राज्यों के सम्मेलनों द्वारा अभिपोषित (Ratified) हो।

यद्यपि संविधान के संशोधन की दो विधियाँ है, किन्तु व्यवहार में केवल एक ही विधि अर्थात् कांग्रेस के दोनों सदनों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा संशोधन-प्रस्ताव तथा तीन-चौथाई राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा अभिपोषण (Ratification) भी

विधि रही है। किन्तु इसका केवल इक्कीसवाँ संशोधन अपवाद है। इक्कीसवें संशोधन मे कांग्रेस ने एक विशेष प्रस्ताव पास किया जिसमें यह स्वीकार किया गया कि "यह अनुच्छेद (Article) उस समय तक प्रभावी न होगा जब तक कि संविधान में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार अनेकों राज्यों के सम्मेलनों (Conventions) द्वारा संविधान के संशोधन के रूप में अभिपोषित नहीं किया जाएगा और यह अभिपोषण कांग्रेस द्वारा राज्य को भेजे गए संशोधन प्रस्ताव की तिथि के साथ वर्ष के अन्दर प्राप्त हो जाना आवश्यक होगा।"

संशोधन विधि की आलोचना (Criticism of the Amending Process)—अमेरिकी संविधान में संशोधन की विधि अत्यन्त कष्टसाध्य एवं उलझाने वाली (Circuitous) है, और इसी कारण १७८६ से, जब से कि यह संविधान प्रभावी हुआ है, अब तक केवल २३ संशोधन ही स्वीकृत हुए हैं। प्रथम दस संशोधनों के लिए 'अभिपोषणों की कीमत' चुकानी पड़ी थी और उनका संविधान में समावेश १७६१ में हुआ। इसके बाद जो बारह संशोधन हुए हैं उनसे संविधान में विविध परिवर्तन हुए हैं जिनसे बहुत से उपबन्ध हटा दिए गए हैं, और समय की आवश्यकतानुसार बहुत से नए उपबन्ध (Provisions) जोड़ दिए गए हैं। यद्यपि उग्र परिवर्तन नहीं किए गए हैं और फिर भी कई प्रकार से संविधान का स्पष्ट परिष्करण हुआ है। जिन आधारों पर संशोधन विधि की आलोचना की जाती है, वे निम्नलिखित हैं—

१. बहुमत शासन की स्थापना के लिए दो विभिन्न माँगें (Requirements), कांग्रेस के दोनों सदनों के दो-तिहाई मत और फिर तीन-चौथाई राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा अभिपोषण, यह असंगत एवं परस्परविरोधी (Inconsistent) हैं और यह असंगति सरलता से समझ में नहीं आती। कांग्रेस के दोनों सदनों मे ही दो-तिहाई मत प्राप्त कर लेना सरल नहीं है। अब तक कांग्रेस में जो हजारों प्रस्ताव उपस्थित किए गए हैं, उनमें से केवल २७ प्रस्तावों को दोनों सदनों में आवश्यक दो-तिहाई मत प्राप्त हुए है। इनमें से केवल २२ प्रस्तावों पर राज्यों की आवश्यक संख्या द्वारा अभिपोषण प्राप्त हो सका और वे ही प्रभावी हो सके हैं। सुझाव दिया गया है कि कांग्रेस के दोनों सदनों का बहुमत, और दो-तिहाई राज्यों द्वारा अभिपोषण, यही सांविधानिक संशोधनों को पास करने के लिए आवश्यक होने चाहिएँ। किन्तु इस सुझाव की ओर किसी ने विशेष उत्साह नहीं प्रकट किया है।

२. अभिपोषण के लिए राज्यों की संख्या निर्धारित की गई है और उसके लिए समस्त राष्ट्र की जनसंख्या का कोई विचार नहीं रखा गया। इस विचार को दृढ़ता के साथ प्रकट किया गया है कि यह व्यवस्था अत्यन्त प्रगतिविरोधी (Conservative) है, क्योंकि यदि १३ छोटे राज्य आपस में मिल जाएँ, तो इस प्रकार वे समस्त देश की अपार बहुमत जनसंख्या की आशाओं एवं आकांक्षाओं (Aspirations) की हत्या कर सकते हैं। यह एक प्रकार से पूर्ण निरंकुश निषेधाधिकार (Veto) के तुल्य है। "दूसरे शब्दों में सारे राष्ट्र की समस्त जनसंख्या का दसवाँ

भाग जो तेरह भौगोलिक देश-विभागों में बिखरा हुआ है, जनसंख्या के $\frac{9}{10}$ भाग को अपनी शासन-व्यवस्था में नवीन प्रवर्तन (Innovations) करने से बलपूर्वक रोक सकता है।"

३. संशोधनों को अभिपोषण के लिए अभिपोषक सम्मेलनों (Ratifying Conventions) में न भेजकर विधानमण्डलों मे भेजना भी आलोचना का विषय रहा है और इस प्रथा को प्रजातन्त्र-विरोधी कहा गया है। इसका अर्थ है कि अभिपोषण कुछ थोड़े से गिने-चुने लोगों को करना है जो विधानमण्डल के सदस्य हों, और जिनका चुनाव संविधान मे प्रस्तुत संशोधन के प्रश्नों को लेकर नहीं हुआ था बल्कि किन्हीं अन्य उद्देश्यों को लेकर हुआ था। इस आक्षेप का निराकरण हो सकता है, यदि अभिपोषण, राज्यों के अभिपोषक सम्मेलनों (State Conventions) द्वारा हो। जिस समय इक्कीसवां संशोधन अभिपोषण के लिए राज्यों से अभिपोषक-सम्मेलनों के पास भेजा गया था, उस समय यह आशा व्यक्त की गई थी कि एक पूर्वभावी (Precedent) स्थापित हो गया है और अब भविष्य मे भी यही प्रजातन्त्रात्मक विधि अपनायी जाती रहेगी। किन्तु जब कांग्रेस ने १९४७ में बाईसवां संशोधन उपस्थित किया जिसमे राष्ट्रपति की पदावधि (Tenure) पर अंकुश लगाना अभीष्ट था, तो फिर पुरानी प्रथा अपना ली गई और उस संशोधन को अभिपोषण के लिए राज्यों के विधानमण्डलों के पास भेज दिया गया।

४. संविधान के संशोधन की जटिल प्रक्रिया के सम्बन्ध मे अन्तिम आक्षेप यह किया जाता है कि अभियोग के लिए समय निर्धारण नहीं किया गया। इस सम्बन्ध मे कांग्रेस चाहे तो विशेष प्रस्ताव द्वारा समय निर्धारित कर सकती है जैसाकि अठारहवें, बीसवें और इक्कीसवें संशोधनों के समय हुआ। अभिपोषण-अवधि के अभाव में राज्य संशोधन-प्रस्ताव से खिलवाड़ कर सकते हैं और इसको अनिश्चित काल तक रोके रख कर उसकी हत्या कर सकते हैं। उदाहरणस्वरूप शिशु-श्रम-संशोधन (Child Labour Amendment) को कांग्रेस ने १९२४ मे उपस्थिति किया, किन्तु अभिपोषण के सम्बन्ध में समय निर्धारित नहीं किया। अब तक केवल २८ राज्यों ने उस संशोधन को अभिपोषित किया है, अन्तिम राज्य कसास (Kansas) द्वारा १९३७ मे अभिपोषण हुआ।[1] एक अन्य अवसर पर ओहियो राज्य (Ohio) ने संशोधन-प्रस्ताव प्राप्त होने के ८० वर्षों बाद उस पर अभिपोषण व्यक्त किया।[2] कनेक्टीकट (Connecticut), ज्योर्जिया (Georgia) और मैसेचुसेट्स (Massachusetts) नामों के तीन राज्यो ने जब यह देखा कि उन्होंने कभी भी किसी संशोधन-प्रस्ताव पर अभिपोषण ही नहीं किया, तो "वे कुछ सकुचाये, और उन्होने अत्यन्त पुराने प्रथम दस संशोधन-प्रस्तावों का अभिपोषण १९३९ में किया।"[3] फिर भी सन

1. Government by the People, op. cit., p. 108.
2. Ferguson, J. H. and Mchenry, D. E. : The American System of Government (1950), p. 70.
3. Ibid.

मिलाकर अभिपोषण में कम ही समय लगा है, "१६वें संशोधन में ३ वर्ष और ७ मास लगे और १२वें संशोधन-प्रस्ताव में केवल ७ मास। २१ संशोधन-प्रस्तावों का औसत (Average) २१ मास है।"[1]

Suggested Readings

Beard, C. A. : *American Government and Politics* (1932), Chaps. II and III.

Benson, George C. S. : *The New Centralization* (1941).

Brogan, D. W. : *The American Political System* (1948), Chaps. I and II.

" " : *An Introduction to American Politics* (1954), Chap. I.

Burns and Peltason : *Government by the People* (1954), Chaps. IV and V.

Carr, R. K. : *The Supreme Court and Judicial Review* (1942)

Clark, L. P. : *The Rise of a New Federalism* (1938).

Ferguson, J. H. and Mc-Henry, D. E. : *The American System of Government* (1950) : Chaps. IV and VI.

Finer, H. : *The Theory and Practice of Modern Government* (1954).

Munro, W. B. : *The Government of the United States* (1947), Chaps. IV and V.

Zink, H. : *A Survey of American Government* (1950) Chaps. III and V.

Wilson, Woodrow. : *Congressional Government.*

1. Ibid.

अध्याय ३

अध्यक्ष-पद

(The Presidency)

संगठन, निर्वाचन की प्रक्रिया तथा शक्तियाँ

(Organisation, Mode of Election and Powers)

एकल कार्यपालिका की आवश्यकता (The need of a Single Executive)—प्रसधान के अनुच्छेदों (Articles of Confederation) के अनुसार जिस शासन-व्यवस्था का संगठन किया गया था, उसमें एक भारी कमी, एक सशक्त और सुदृढ़ कार्यपालिका शक्ति (Executive Authority) का अभाव था। इसलिए संविधान के निर्माताओं के समक्ष फिलेडेलफिया प्रसभा मे मुख्य समस्या एक शक्तिशाली कार्यपालिका का निर्माण करने की थी। प्रसभा मे इस सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिए गये थे। कुछ प्रतिनिधि कार्यपालिका को व्यवस्थापिका से बिल्कुल स्वतन्त्र रखना चाहते थे, कुछ उसे व्यवस्थापिका का अनुचर बनाना चाहते थे। कुछ बहुल कार्यपालिका के पक्ष मे थे। अन्त में एकल कार्यपालिका के पक्ष में निश्चय हुआ और उसकी सहायता के लिए सीनेट को रखा गया। संक्षेप मे प्रसभा (Convention) ने अन्तिम रूप से राष्ट्रपति में पर्याप्त कार्यपालिका शक्ति अधिष्ठित कर दी किन्तु परीक्षणों और सन्तुलनों के अनुक्रम (System of Checks and Balances) ने उसकी शक्तियों पर कुछ नियन्त्रण लगा दिए। इस प्रकार संविधान के निर्माताओं की दोनों इच्छाएँ पूरी हो गईं। राष्ट्रपति को व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र रखकर और उसको पुनर्निर्वाचन योग्य बनाकर शासन में स्थायित्व एवं अविच्छिन्नता स्थापित हो गई। राष्ट्रपति की शक्तियों के ऊपर पर्याप्त नियन्त्रण लग जाने से उस समय के उन लोगों के भय का निराकरण हो गया जो अनियन्त्रित शक्ति को अवांछनीय समझते थे।

अर्हताएँ तथा वेतन (Qualifications and Compensation)—संविधान के अनुसार राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी अमेरिका का जन्मतः नागरिक हो, ३५ वर्ष की आयु का हो चुका हो तथा अमेरिका में कम-से-कम १४ वर्ष तक रह चुका हो। राष्ट्रपति का वेतन एवं अन्य परिलाभ (Emoluments) कांग्रेस द्वारा निश्चित किए जाते हैं। किन्तु राष्ट्रपति के वेतन एवं परिलाभ उसकी पदावधि में न तो बढ़ाए जा सकते है न घटाए जा सकते हैं। १९०९ से १९४० तक राष्ट्रपति का वेतन ७५,००० डालर प्रति वर्ष था। १९४९ में इसको बढ़ाकर १ लाख डालर वार्षिक कर दिया गया, तथा साथ ही ५०,००० डालर वार्षिक कर-मुक्त (Tax-

free) भत्ता (Allowance) स्वीकार किया गया। १९५३ में राष्ट्रपति के सम्पूर्ण वेतन पर जो १,५०,००० डालर था, कर लिया जाने लगा। उसकी यात्रा, शासनिक मनोरंजन एवं सत्कार तथा व्हाइट हाउस (White House), जो राष्ट्रपति का सरकारी निवास-स्थान है, इन सबके लिए अलग से आय-व्ययक उपबन्ध (Budgetary Provisions) किए जाते हैं। किसी भी अपराध पर राष्ट्रपति को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता और उस पर किसी न्यायालय में किसी प्रकार का अभियोग नहीं लगाया जा सकता। उसके विरुद्ध किसी प्रकार का आदेशक (*Process*) नहीं निकाला जा सकता, न उसको किसी कार्य के करने के लिए मजबूर ही किया जा सकता है। उसको केवल महाभियोग (Impeachment) के द्वारा ही अपने पद से अपदस्थ किया जा सकता है। किन्तु अपदस्थ होने के बाद उसको विधि के अनुसार गिरफ्तार भी किया जा सकता है और उसको सजा भी दी जा सकती है।

उत्तराधिकार (Succession)—अनुच्छेद II, विभाग I, की धारा ५ विशेष रूप से कहती है कि यदि राष्ट्रपति अपना पद रिक्त कर दे तो उपराष्ट्रपति (Vice-President) उत्तराधिकारी बनता है, और उस स्थिति में जब दोनों ही पद रिक्त पड़ जाएँ तो कांग्रेस विधि के अनुसार निश्चय करती है कि अब कौन-सा अधिकारी राष्ट्रपति का कार्य करेगा। १८८६ का कांग्रेस अधिनियम (Congressional Act, 1886) उत्तराधिकार के लिए कार्यपालिका विभाग के अध्यक्षों का एक क्रम प्रस्तुत करता है, जो इस प्रकार है : स्टेट (State), ट्रेजरी (Treasury), युद्ध (War), न्याय (Justice), पोस्ट ऑफिस (Post Office), नौ विभाग (Navy) और अन्तस्थ (Interior)। बीसवें संशोधन के अनुसार यदि अगली अवधि के लिए कोई राष्ट्रपति नहीं चुना गया हो अथवा निर्वाचित राष्ट्रपति पद के लिए अर्हताएँ न रखता हो तो निर्वाचित उप-राष्ट्रपति तब तक राष्ट्रपति का कार्य करेगा जब तक राष्ट्रपति अर्हता प्राप्त नहीं कर लेता। दोनों व्यक्तियों के अभाव में कांग्रेस विधि के अनुसार निश्चय करती है।

१९४७ में कांग्रेस ने एक नया अधिनियम पास किया जिसके अनुसार यदि राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के कर्त्तव्य निभाने में असमर्थ हों तो उत्तराधिकार का क्रम इस प्रकार होना चाहिए : प्रतिनिधि सभा का सभापति (Speaker of the House of Representatives), सीनेट का अध्यक्ष [President protempore(for the time being)of the Senate], १८८६ अधिनियम के अनुसार कार्यपालिका विभागों के अध्यक्ष तथा नए जोड़े गए कृषि (Agriculture), व्यापार (Commerce) तथा श्रम (Labour) विभागों के अध्यक्ष। इस कानून में भी कुछ त्रुटियाँ हैं जिन्हें राष्ट्रपति जान्सन (President Johnson) ने दूर करने की प्रतिज्ञा की है। यदि संशोधन हो गया तो वे त्रुटियाँ भी दूर हो जाएँगी।

राष्ट्रपति की पदावधि (The Presidential Term)—फिलैडेलफिया प्रसभा (Philadelphia Convention) में राष्ट्रपति की पदावधि के सम्बन्ध में

काफी वाद-विवाद हुआ। प्रारम्भ में यह निश्चित किया गया कि राष्ट्रपति की पदावधि सात वर्ष होनी चाहिए किन्तु उसके पुनर्निर्वाचन की आज्ञा नहीं होनी चाहिए। किन्तु पुनर्विचार करने पर पदावधि चार वर्ष कर दी गई किन्तु पुनर्निर्वाचन के सम्बन्ध में मौन धारण कर लिया गया। जबकि संविधान स्पष्ट कहता है कि "राष्ट्रपति चार वर्ष की पदावधि का उपभोग करेगा," तो संविधान के निर्माताओं ने निश्चित रूप से राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन की आज्ञा दी थी। प्रथम राष्ट्रपति, वाशिंगटन (Washington) ने इस प्रथा का सूत्रपात किया कि एक राष्ट्रपति दो पदावधियों से अधिक का उपभोग न करे। इस प्रथा का १५० वर्षों तक पालन किया गया, यद्यपि इस काल में भी ग्रांट (Grant) तथा थियोडोर रूजवेल्ट ने तृतीय पदावधि की कोशिश की, पर वे असफल रहे। ग्रांट (Grant) को दल का नामांकन (Party Nomination) प्राप्त नहीं हुआ और थियोडोर रूजवेल्ट (Theodore Roosevelt) चुनाव-दंगल में हार गया।

राष्ट्रपति की दो पदावधियों की परम्परा लगभग स्थापित हो गई थी किन्तु १६४० में राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट (*Franklin D. Roosevelt*) ने तृतीय पदावधि के लिए डैमोक्रेटिक (Democratic) दल द्वारा नामांकन (Nomination) स्वीकृत कर लिया, और चुनाव में उसके जीत जाने से वह परम्परा खंडित हो गई। १६४४ में वह पुनः चौथी बार राष्ट्रपति पद के लिए विजयी हुआ। यद्यपि प्रतिष्ठापन (Inauguration) के शीघ्र बाद अप्रैल १६४५ में उसकी मृत्यु हो गई किन्तु फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट द्वारा द्वि-पदावधि की परम्परा का खंडन, बारम्बार पुनर्निर्वाचन के पक्ष में पूर्वभावी (Precedent) नहीं हो सकता था। बाईसवाँ संशोधन, जो १६५१ मे स्वीकृत कर लिया गया, स्पष्ट रूप से कहता है कि कोई व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचित नहीं होगा।[1] आइजनहोवर (Eisenhower) प्रथम राष्ट्रपति था जिसके ऊपर तीसरी बार राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार बनने की रोक लगी थी।

निर्वाचन की प्रक्रिया (Mode of Election)—सम्भवतः फिलैडेलफिया प्रसभा का इतना समय और किसी प्रश्न के समाधान करने मे नहीं लगा जितना कि राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया निर्धारित करने में लगा। विविध योजनाएँ प्रस्तुत की गईं। कुछ लोग चाहते थे कि राष्ट्रपति का चुनाव सीधे जनता द्वारा हो, किन्तु अन्य लोग चाहते थे कि कांग्रेस द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव हो। राष्ट्रपति का सीधे जनता द्वारा चुना जाना कई एक कारणों से अस्वीकृत कर दिया गया। संविधान के निर्माता एक ऐसा उपाय खोज निकालना चाहते थे, जो हैमिल्टन (Hamilton) के

---

1. १६५१ का संशोधन हैरी ट्रूमैन (Harry Truman) के ऊपर लागू नहीं था, क्योंकि जिस समय संशोधन प्रस्ताव उपस्थित किया गया था, वह राष्ट्रपति था। किन्तु ट्रूमैन तीसरी बार राष्ट्रपति-पद के लिए प्रत्याशी के रूप में खड़ा नहीं हुआ।

शब्दों में, "अव्यवस्था तथा हुल्लड़ को कम-से-कम अवसर प्रदान करे" तथा देश में भयंकर विप्लव की स्थिति उत्पन्न न होने दे। कांग्रेस द्वारा राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया के विरुद्ध यह कहा गया कि यह शक्तियों के पृथक्करण के सर्वमान्य एवं सर्वसम्मत सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है और यह अनुभव किया गया कि इस प्रकार की प्रणाली राष्ट्रपति को कांग्रेस के हाथों में खिलौना बना देगी।

अन्तिम रूप से जो प्रक्रिया स्वीकार की गई वह परोक्ष रीति से निर्वाचन का उपकरण था। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के निर्वाचन की नीति यह अपनाई गई कि वह प्रत्येक राज्य में से चुने हुए निर्वाचकों के एक छोटे से संघात के द्वारा निर्वाचित होगा। प्रत्येक राज्य के सदस्य निर्वाचकों की संख्या इतनी होनी थी जितनी कि उस राज्य के सीनेट तथा प्रतिनिधि भवन के लिए चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की। इस प्रकार जो प्रक्रिया स्वीकार की गई उसके अनुसार [illegible] अपने-अपने राज्यों में सम्मिलित होते थे और अपनी राय लिखित रूप में दो व्यक्तियों के लिए देते थे जिन दो में से कम-से-कम एक व्यक्ति उसी राज्य का नागरिक न हो जिसके कि निर्वाचकगण हैं। इन मत-पत्रों (Ballots) को मुहरबन्द किया जाता था और सीनेट के सभापति के पास भेज दिया जाता था। सभापति उन मत-पत्रों की गणना दोनों सदनों की उपस्थिति में करता था और निर्णय की घोषणा कर देता था। जिस व्यक्ति को अधिकतम मत प्राप्त होते थे वह राष्ट्रपति होता था, और जिसको उससे कम मत मिलते थे, वह उपराष्ट्रपति घोषित होता था, किन्तु इसमें शर्त यह थी कि दोनों को समस्त निर्वाचकगणों के मतों में से पूर्ण बहुमत प्राप्त होना चाहिए। यदि किसी को भी समस्त निर्वाचकगणों में से पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो तो उस अवस्था में प्रतिनिधि भवन (House of Representatives) को राज्यों के मतों में से राष्ट्रपति का चुनाव करने की आज्ञा थी। यह चुनाव राज्यों के द्वारा इस प्रकार होता था कि प्रत्येक राज्य को एक वोट माना जाता था और तब सब से अधिक मत पाने वाले पाँच में एक राष्ट्रपति चुन लिया जाता था। यदि इस प्रकार पड़ी हुई वोटों के आधार पर भी चुनाव-फल निर्णीत न हो तो निश्चित हुआ कि पुनः चुनाव-फल इसी आधार पर निर्णीत किया जाए।

संविधान के निर्माताओं को आशा थी कि विभिन्न राज्यों के निर्वाचकगण बुद्धिमान् एवं मुख्य नागरिक होंगे जो सम्भवतः राष्ट्रपति-पद के प्रत्याशियों की अर्हताओं एवं गुणों से परिचित होंगे। उन्हें यह भी आशा थी कि निर्वाचकगण अपने-अपने राज्यों के मुख्य नगरों में एकत्र होंगे, आपस में प्रत्येक प्रत्याशी की योग्यताओं का मिलान करेंगे और तब अपने विवेक एवं निर्णय के अनुसार योग्यतम प्रत्याशी को अपना मत प्रदान करेंगे। प्रथम दो चुनावों में अत्यन्त शान्तिपूर्ण एवं महिमामण्डित ढंग से चुनाव सम्पन्न हुआ, जिस प्रकार कि संविधान के निर्माताओं को आशा थी। किन्तु तीसरे चुनाव में, १७९६ में, नई अवस्था उत्पन्न हो गई और निर्वाचकों के सम्मेलन के बहुत पहले ही यह सब जान गए कि राष्ट्रपति को चुनने वाले अधिकतर

निर्वाचकगण या तो जॉन एडम्स (John Adams) को चुनेंगे या टॉमस जेफ़रसन को चुनेंगे, यद्यपि इन दोनों प्रत्याशियों में से किसी के पक्ष में कोई प्रतिज्ञाएँ नहीं कराई गई थीं।[1]

इस समय दो राष्ट्रव्यापी राजनीतिक दल मैदान में आ गए थे जिनके नाम थे रिपब्लिकन और फेडरेलिस्ट। जिस समय १८०० का राष्ट्रपति-पद के लिए चुनाव हुआ तो देखने में आया कि निर्वाचकगण अपने-अपने दलों से सम्बद्ध कार्यकर्ता थे जो अपने-अपने दलों के प्रत्याशियों को ही वोट देने के लिए कृतसंकल्प थे।[2] रिपब्लिकन दल ने अधिकतर निर्वाचकों को चुना था और उनकी ओर से जेफरसन राष्ट्रपति पद के लिए तथा बर्न (Burn) उपराष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी थे। उस चुनाव मे जेफरसन तथा बर्न (Burn) दोनों को ७३-७३ वोट प्राप्त हुए। संविधान के अनुसार यह चुनाव प्रतिनिधि भवन को सौंप दिया गया, जिसमे फेडरेलिस्ट दल का प्रभुत्व था। बडी कठिनाई से जेफ़रसन चुना गया, क्योंकि कुछ फेडरेलिस्ट बर्न को राष्ट्रपति बनाना चाहते थे। किन्तु इस घटना से स्पष्ट हो गया कि चुनाव-प्रक्रिया दोषयुक्त है और उसमे सुधार होना आवश्यक है। इसके तुरन्त बाद सन् १८०४ में १२वाँ संशोधन स्वीकार किया गया था ताकि इस प्रकार की घटना की पुनरावृत्ति न हो सके। अब प्रत्येक निर्वाचक अलग-अलग राष्ट्रपति एव उपराष्ट्रपति को मत देता है और वही निर्वाचित हो जाता है जिसको अधिक मत प्राप्त होते है। यदि राष्ट्रपति-पद के लिए प्रत्याशियो मे से कोई भी निर्वाचकों के मतो मे से पूर्ण बहुमत नहीं प्राप्त करता, तो प्रतिनिधि सदन (House of Representatives) तीन सबसे अधिक मत प्राप्त करने वाले प्रत्याशियों मे से किसी एक को राष्ट्रपति चुन लेता है, और यदि कोई भी उपराष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी निर्वाचकों के मतो का पूर्ण बहुमत प्राप्त करने में असमर्थ रहता है तो सीनेट (Senate) उन दो प्रत्याशियों मे से, जिनको सबसे अधिक मत प्राप्त होते है, एक को उपराष्ट्रपति चुन लेता है। १८८७ की एक विधि में स्पष्ट कहा गया है कि प्रत्येक राज्य अपने-अपने निर्वाचकों के चुनाव की प्रामाणिकता (Authenticity) स्वयं देखे।

इस प्रकार, राष्ट्रपति के चुनाव की सांविधानिक परोक्ष प्रक्रिया राजनीतिक दलों के विकास, एवं उनकी राजनीतिक हलचलों के द्वारा पूर्णतः छिन्न-भिन्न हो गई है। यद्यपि राष्ट्रपति के चुनाव के सम्बन्ध की संविधान की भाषा अब भी वही है, किन्तु राष्ट्रपति-पद के लिए प्रत्याशियों का नामांकन (Nominations), चुनाव-आन्दोलनों का गठन और अन्त में मत-पत्र डालने की प्रक्रिया यह सब प्रथम कोटि की राष्ट्रीय महत्त्व की चीजें बन गई है।

आजकल यह होता है कि ऊपर वर्णित की गई रीति के अनुसार प्रत्येक राज्य मे समान प्रक्रिया का विकास हुआ है, जिसके अनुसार निर्वाचकगण सामान्य टिकट

1. Munro, W. B. : Government of the United States, p. 150.
2. Burns and Peltason : Government by the People, p. 114.

के आधार पर (General Ticket Basis) चुने जाते हैं। प्रत्येक राज्य में दलीय सगठन निर्वाचकों की लिस्टें या सूचियाँ तैयार करते हैं। यह काम कुछ प्रमुख नागरिक अथवा वे समर्थक लोग अपने ऊपर ले लेते हैं जो चुनाव आन्दोलन में अपनी जेब से व्यय करने की क्षमता रखते हैं। चुनाव के दिन, मतधारक राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति को सीधे वोट नही देते बल्कि राष्ट्रपति के उन सब निर्वाचकों को वोट देते हैं जिनको उनके दल ने राज्य में तदर्थ नामांकित किया है। आमतौर पर वह दल जो किसी राज्य में अधिक संख्या में वोट प्राप्त करता है समस्त निर्वाचकों (Electors) को निर्वाचकमण्डल में भेज देता है, अर्थात् उसको उस राज्य के उन सभी निर्वाचकमतों (Electoral Ballots) पर अधिकार हो जाता है जो राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के हित मे जाएँगे। निर्वाचक लोग अपने आप बिना किसी हिचकिचाहट के अपने दल के नियुक्त पुरुषों (Nominees) को अपना मत देते हैं। वास्तव में कोई निर्वाचक (Elector) साहस नहीं कर सकता कि वह उस दल के साथ विश्वासघात करे जिसने उसे नामांकित किया था, और दूसरे दल के प्रत्याशी का समर्थन करने लगे। संविधान मे निर्धारित राष्ट्रपति की निर्वाचन-प्रणाली की अवशिष्ट सीढ़ियाँ औपचारिकताएँ मात्र ही हैं। इस प्रकार राष्ट्रपति-निर्वाचकों का निर्वाचन ही राष्ट्रपति का निर्वाचन निश्चित कर देता है और "संविधान के निर्माताओं ने जो विचारशील (Deliberative), न्यायानुरूप (Judicial) तथा पक्षपातहीन (Non-partisan) प्रक्रिया, राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए निर्धारित की, उसको राजनीतिक दलों के विकास ने नष्ट कर दिया।"[1]

पदच्युति (Removal from office)—राष्ट्रपति सार्वजनिक-दोषारोपण या महाभियोग (impeachment) द्वारा हटाया जाता है। महाभियोग राष्ट्रद्रोह, घूसखोरी और अन्य महापराधों और दुराचारों के सम्बन्ध में काम में लाया जाता है। अब तक कोई राष्ट्रपति पदच्युत नही किया गया है। राष्ट्रपति जॉन्सन के प्रति महाभियोग एक वोट से गिर गया था। प्रतिनिधि-सदन बहुमत से महाभियोग की कारंवाई प्रारम्भ कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में सीनेट द्वारा मुकद्दमा होता है। दोष-सिद्धि के लिए दो-तिहाई मतों की आवश्यकता होती है और इसके द्वारा राष्ट्रपति पदच्युति के लिए उपयुक्त समझा जाता है। तब साधारण अदालती व्यवहार के अधीन उस पर मुकद्दमा भी चलाया जा सकता है।

उपराष्ट्रपति-पद

(The Vice-Presidency)

उपराष्ट्रपति पद (The Vice-Presidency)—उपराष्ट्रपति में राष्ट्रपति की समस्त अर्हताएँ होनी चाहिएँ, क्योंकि राष्ट्रपति की मृत्यु होने पर, त्यागपत्र दे देने पर अथवा उसके पदच्युत किए जाने पर वह राष्ट्रपति पद पर पहुँच सकता है। वह

---

1. American Government and Politics, p. 166.

भी उसी प्रकार चुना जाता है जिस प्रकार कि राष्ट्रपति और संविधान के आरम्भिक उपबन्धों के अनुसार वही व्यक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका के उपराष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचित होता था जिसको राष्ट्रपति के बाद सब से अधिक वोट प्राप्त होते थे; बारहवें संशोधन ने, जैसा कि बताया जा चुका है, अब चुनाव की प्रक्रिया को बदल दिया है। आजकल निर्वाचकगण राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के लिए अलग-अलग मत देते हैं। इस पद के लिए प्रत्याशी को चुनते समय दो विचार मुख्य रूप से प्रभाव डालते हैं। प्रथम यह कि उपराष्ट्रपति उसी राज्य का निवासी न हो जिसका राष्ट्रपति हो। उदाहरणस्वरूप यदि राष्ट्रपति मिडिल वैस्ट (Middle West) राज्य से है, तो उपराष्ट्रपति पूर्व से होगा। विल्सन (Wilson) न्यू जरसी (New Jersey) का था; मार्शल (Marshall) इण्डियाना (Indiana) का था; हार्डिंज (Hardinge) ओहियो (Ohio) राज्य से आया था, कूलिज (Coolidge) मैसेचुसेट्स (Massachusetts) से आया था; फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट (Franklin D. Roosevelt) न्यूयार्क (New York) से आया था; गार्नर (Garner) टैक्सास (Texas) राज्य से। द्वितीय विचार, जिसका सख्ती से पालन नहीं किया जाता है, यह है कि राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति पदों के प्रत्याशी एक दल के दो विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हों। १९४० में आयोवा (Iowa) का हैनरी वैलेस फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट के साथ रहा; और चार्ल्स मैकनैरी (Charles McNary) न्यूयार्क तथा इण्डियाना के वेण्डेल विल्की (Wendell Wilkie) के साथ रहा।[1]

उपराष्ट्रपति के कर्त्तव्य (Duties)—संविधान के निर्माताओं ने यह उचित समझा कि उपराष्ट्रपति को सिवाय इसके कि वह प्रतीक्षा करता रहे कि राष्ट्रपति की कब मृत्यु, त्याग-पत्र अथवा पद-वियुक्ति हो, कुछ काम भी सौंपा जाए। इसलिए संविधान आज्ञा देता है कि वह सीनेट का सभापति होगा। सीनेट का सभापति होने के अतिरिक्त, उसके पद के उत्तरदायित्व अधिक नहीं हैं। सीनेट रूढ़ियों, आचारों तथा परम्पराओं का निकाय (Body) है और सभापति को उन रूढ़ियों तथा परम्पराओं एवं आचारों का पालन करना अवश्यम्भावी होगा। वह अपना निर्णायक मत उसी अवस्था में देता है जबकि मत बराबर-बराबर हों। शेष अन्य मामलों में वह तटस्थ रहता है। सीनेट ने उपराष्ट्रपति डौस (Dawes) की बात नहीं मानी, यहाँ तक कि उसको धैर्यपूर्वक सुना भी नहीं जिस समय वह इस सदन में कुछ नवीन सुधार करना चाहता था। इसका फल यह होता है कि उत्साही उपराष्ट्रपति ऐसी स्थिति में धैर्य खो बैठता है; उसका नैराश्य प्रकट होने लगता है और इस प्रकार इस पद की मर्यादा कम होने लगती है।

किन्तु हाल के वर्षों में यह प्रकट हुआ है कि इस पद में भी बहुत बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ हैं। राष्ट्रपति हार्डिंज ने उपराष्ट्रपति कूलिज को मन्त्रिमण्डल का कुछ

---

1. Beard, C. A.: American Government and Politics (1947), p. 153.

भार सौंप दिया था। फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट ने हेनरी वैलेस को अनेक उत्तरदायित्व के काम सौंपे थे यद्यपि रूजवेल्ट तथा ट्रूमैन के दृष्टिकोणों में अंतर था, फिर भी उपराष्ट्रपति ट्रूमैन (Truman) ने राष्ट्रपति को कांग्रेस सम्बन्धी समस्याओं के सुलझाने में पर्याप्त सहायता पहुँचाई। राष्ट्रपति आइजनहोवर (Eisenhower) ने उपराष्ट्रपति निक्सन (Nixon) को मध्यपूर्व के देशों एवं भारत तथा पाकिस्तान के दौरे पर भेजा और संयुक्त राज्य अमेरिका ने पाकिस्तान को जो कुछ भी आर्थिक एवं सैनिक सहायता दी, वह सब निक्सन की रिपोर्ट के आधार पर ही दी गई। देश के प्रशासन में उपराष्ट्रपति का सहयोग लेने का मुख्य उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार उसको राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय नीतियों का ज्ञान प्राप्त होगा ताकि यदि उसको राष्ट्रपति का पद सम्भालना पड़ जाए, तो वह इस योग्य हो जाए कि उस पद का उत्तरदायित्व निभा ले जाए।

राष्ट्रपति पद के लिए उत्तराधिकार

(Succession to the Presidency)

अब तक ६ उपराष्ट्रपति राष्ट्रपतियों की अपनी पदावधि में मृत्यु हो जाने से राष्ट्रपति पद के उत्तराधिकारी बने हैं। संविधान के अनुसार उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के कर्त्तव्यों और अधिकारों का निर्वाह तो करता है पर वह राष्ट्रपति की उपाधि धारण नहीं कर सकता। परन्तु जॉन टेलर (John Taylor) प्रथम उपराष्ट्रपति था जिसने पहली बार राष्ट्रपति की उपाधि ग्रहण की थी और जिसने अपने में और निर्वाचित राष्ट्रपति में कोई अन्तर नहीं माना। उसका यह उदाहरण अब सबके द्वारा अनुसरण किया जाता है। २१वें संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति पद का उत्तराधिकारी बनने वाले और दो वर्ष से अधिक उस पद पर कार्य करने वाले व्यक्ति को अपने अधिकार के अनुसार केवल एक बार के लिए राष्ट्रपति चुना जा सकता है।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ और उसके कर्त्तव्य

(The Powers and Duties of the President)

राष्ट्रपति की शक्ति के स्रोत (The Sources of the President's Authority)—राष्ट्रपति की शक्तियों तथा उसके कर्त्तव्यों का निर्धारण कुछ तो संविधान ने किया है, कुछ कांग्रेस के अधिनियमों ने किया है, कुछ संधियों, प्रथाओं, पूर्वभावियों और कुछ न्यायिक निर्वचनों ने किया है। जिन धाराओं (Clauses) का सम्बन्ध राष्ट्रपति की शक्तियों एवं कर्त्तव्यों से है, वे थोड़ी हैं और संक्षेप में हैं, और इसलिए उनके विभिन्न निर्वचन हो सकते है। किन्तु कांग्रेस ने समय-समय पर जो विधियाँ पास की है, उनके कारण राष्ट्रपति के ऊपर महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा है। कांग्रेस के परिनियम (Statutes) राष्ट्रपति को उन नीतियों के निर्धारण की आज्ञा प्रदान करते हैं जिनके सुदूरव्यापी परिणाम हो सकते हैं, जैसे वह महत्वपूर्ण

पदों पर नियुक्तियाँ कर सकता है, तथा ऐसी आज्ञाएँ निकाल सकता है जिनका व्यवहार में विधि के समान ही महत्त्व है। कांग्रेस, राष्ट्रपति के हाथों मे, अपने द्वारा पारित विधियों के सम्बन्ध में महान् स्वविवेक शक्ति प्रदान कर सकती है। उदाहरण-स्वरूप, १९३३ में कांग्रेस ने राष्ट्रपति को आज्ञा दे दी कि वह स्वविवेक शक्ति के अनुसार डालर (Dollar) में सोने की मात्रा कुछ कम कर सकता है, और अतिरिक्त पत्र मुद्रा (Paper Money) निर्गमित (Issue) कर सकता है, तथा आंशिक चलार्थ (Partial Currency) के रूप मे चाँदी खरीद सकता है। १९४१ मे उधार-पट्टा अधिनियम (Lend-Lease Act) ने राष्ट्रपति को महान् स्वविवेक शक्तियाँ (Discretionary Powers) प्रदान कर दीं जिसके बल पर धुरी राष्ट्रों (Axis Powers) के विरुद्ध लड़ने वाले राष्ट्रों को जहाज, गोला-बारुद (Munitions) और अन्य सामान दिया गया। उसी प्रकार संसार के विभिन्न भागों मे अमेरिका द्वारा आर्थिक एवं सैनिक सहायता देने का जो कार्यक्रम है उसके अन्तर्गत राष्ट्रपति धनराशि के नियत करने में तथा सहायता के संचालन में महान् स्वविवेक शक्ति का उपभोग करता है।

सर्वोच्च न्यायालय ने भी राष्ट्रपति की शक्तियाँ निर्धारित की हैं, उदाहरणार्थ यह मान लिया गया है कि राष्ट्रपति किसी व्यक्ति को अपने पद से वियुक्त (Remove) कर सकता है, और इसके लिए सीनेट की आज्ञा लेना आवश्यक नहीं है। जहाँ संविधान मूक है, उन विषयों पर न्यायपालिका से स्पष्टीकरण माँगा गया है। संविधान राष्ट्रपति को आज्ञा देता है कि वह दोषियों को क्षमा दान कर सकता है। किन्तु संविधान ने यह स्पष्ट नहीं किया कि वह उसको दोष-प्रमाणन (Conviction) के पूर्व क्षमा कर सकता है या नहीं। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि राष्ट्रपति को ऐसी शक्ति है और वह चाहे तो किसी दोषी व्यक्ति को दोष-प्रमाणन के पूर्व भी क्षमा-दान कर सकता है। कई बार सर्वोच्च न्यायलय ने सम्बन्धित मामले को अपने क्षेत्राधिकार में लेना शुरू कर दिया; और इस अस्वीकृति का कारण यह दिया कि अमुक मामला राजनीतिक प्रश्न है जो राष्ट्रपति के क्षेत्राधिकार में आता है अथवा कांग्रेस के क्षेत्राधिकार में आता है। इसका उदाहरण 'ल्यूथर विरुद्ध बॉरडन (Luther V. Borden) का मामला है।

इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि राष्ट्रपति को कुछ शक्तियाँ और कुछ कर्त्तव्य रूढ़ियों, आचारों एवं व्यवहार के द्वारा भी प्राप्त हुए हैं। उदाहरणस्वरूप राष्ट्रपति को दल का नेता स्वीकार किया जाता है और इसलिए दल के हितों से सम्बन्धित सभी मामलों में, चाहे वे कांग्रेस के अन्दर हों या बाहर, उसकी राय पूछी जाती है। सीनेटोरियल कर्टसी (Senatorial Courtesy) का आचार भी पूर्ण-अस्वीकृत (Well-recognised) नीति के रूप मे विकसित हो गया है जिस द्वारा राजनीतिक संरक्षण का मार्ग प्रशस्त होता है।

राष्ट्रपति की शक्तियों का विस्तार (Extent of President's Powers)—किन्तु राष्ट्रपति की शक्तियों का वास्तविक विस्तार उसके व्यक्तित्व पर, उसके अपने

प्रभाव के ऊपर तथा उस स्थिति के ऊपर, जिसमे उस पद का प्रशासन होता है, निर्भर करता है। राष्ट्रीय आपातकाल की घड़ियों में राष्ट्रपति की शक्तियां इतनी बढ़ जाती है कि उन पर नाम मात्र का ही नियन्त्रण रह जाता है। गृह-युद्ध के काल में राष्ट्रपति लिंकन (Lincoln) को इतनी अपार शक्तियां प्राप्त थी कि उनको उन दिनों अधिनायक (Dictator) का नाम दिया गया था। राष्ट्रपति विल्सन तथा राष्ट्रपति रूजवेल्ट (Franklin Roosevelt) ने भी अति विशाल एवं अभूतपूर्व शक्तियों का उपभोग किया।

राष्ट्रपति की शक्तियों को निम्न शीर्षकों मे विभाजित किया जा सकता है—(१) कार्यपालिका शक्तियां, (२) विधायिनी शक्तियां, और (३) राष्ट्रीय विषयों मे नेतृत्व। राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियां पुनः निम्न शीर्षकों मे विभाजित की जा सकती है—(i) संघीय शासन के प्रशासनिक विभागों का पर्यवेक्षण (Supervision), (ii) देश के कानूनों की क्रियान्विति, (iii) नियुक्तियां करना (Appointments) और वियुक्तियां (Removals) (iv) क्षमा-दान, (v) राजदूतों और कूटनीतिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति एवं उनका स्वागत; सन्धियां एव देश के वैदेशिक सम्बन्धों का सचालन, (vi) संयुक्त राज्य अमेरिका की सशस्त्र सेनाओ के प्रधान सेनापति के रूप मे कार्य, तथा (vii) संकट काल में कार्य।

कार्यपालिका की शक्तियां
(Executive Powers)

राष्ट्रपति—राष्ट्र का मुख्य प्रशासक (The President as chief administrator)—राष्ट्रपति मे राष्ट्र के प्रमुख प्रशासनिक मुखिया के पूर्ण उत्तरदायित्व निहित है। कार्यपालिका क्षेत्र मे सर्वोच्च होने के नाते, राष्ट्रपति का कर्त्तव्य है कि देश के सविधान, विधियों, सन्धियों एवं न्यायपालिका के निर्णयों की समस्त देश में समुचित क्रियान्विति हो। तदनुसार, वह विभागों के अध्यक्षों और उनके अधीनस्थ कर्मचारियों को आज्ञा दे सकता है कि वे कांग्रेस द्वारा पारित अधिनियमों की आज्ञाओ के अन्तर्गत ठीक-ठीक काम करें। यह ठीक है कि कांग्रेस ने वह शक्ति अपने हाथ मे ले ली है जिसके द्वारा वह प्रशासनिक विभगों के अधिकार की रचना एवं विस्तार का स्वय निर्णय करेगी, किन्तु इससे राष्ट्रपति का प्रशासन के ऊपर जो नियन्त्रण है उसमे कोई अन्तर नही पड़ता। कुछ ऐसे विभाग हैं जो वैधिक रूप से सीधे उसके नियन्त्रण मे हैं। इसके अतिरिक्त, संविधान की आज्ञा है कि राष्ट्रपति देश की विधियों का प्रवर्त्तक होगा। संविधान उसको यह भी आज्ञा देता है कि राष्ट्रपति प्रत्येक कार्यपालिका विभाग के अधिकारी से किसी भी विषय पर उसके सम्बन्धित कार्यालयों के कर्त्तव्यों की लिखित रिपोर्ट या उसकी सम्मति मांग सकता है। उस उपबन्ध के सम्बन्ध मे सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय भी यही हुआ है कि राष्ट्रपति का कर्त्तव्य है कि उसके निर्देशन मे सब अधिकारी निष्ठापूर्वक उन कर्त्तव्यों का पालन करें जो देश की विधि ने उनको सौपे है और इससे राष्ट्रपति की वैधानिक स्थिति सर्वोच्च हो जाती है।

इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि राष्ट्रपति के पास उस विभाग के अध्यक्ष को वियुक्त (Remove) करने की भी शक्ति है जो उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करने का साहस करता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति के पास अधिकार है कि वह विधि के उपबन्धों के अनुरूप किसी अधिकारी से अपनी इच्छानुसार कार्य कराने का आदेश दे सकता है।

विधि के प्रवर्त्तन का अधिकार (Power of Law Enforcement)—संविधान राष्ट्रपति को आज्ञा देता है कि यह उसका कर्त्तव्य है कि उसकी देखरेख में देश की प्रचलित विधियाँ निष्ठापूर्वक क्रियान्वित होती रहें। संविधान अनुच्छेद २, धारा २, खण्ड १ में यह भी आदेश देता है कि राष्ट्रपति को अपने पद के प्रतिष्ठापन (Inauguration) के समय यह शपथ लेनी होगी कि "वह संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की रक्षा (Protect) करेगा और उसका पालन करेगा।" संयुक्त राज्य अमेरिका की विधियों मे संधियाँ भी सम्मिलित है क्योंकि सन्धि भी विधि के समान ही है। यदि विधियों या सन्धियों के प्रवर्त्तन मे हिंसायुक्त प्रतिरोध (Violent resistance) सम्मुख आता है, तो राष्ट्रपति, देश की सशस्त्र सेनाओं के प्रयोग द्वारा देश की प्रचलित विधियो एवं सन्धियों के निष्ठापूर्वक पालन कराने के लिए उचित कार्यवाही कर सकता है। यदि उसको यह भान भी हो जाए कि सम्भवतः देश की विधियो का निरादर हो सकता है, अथवा उनके प्रवर्त्तन की दिशा में विरोध किया जा सकता है, तो राष्ट्रपति देश की सशस्त्र सेना को आवश्यक आदेश दे सकता है। राष्ट्रपति हार्डिंग (Harding) ने १९२२ मे सशस्त्र सेनाओं को तैयार रहने का आदेश दे दिया था जबकि एक भीषण हड़ताल का भय था जिससे रेल-यातायात ठप्प हो सकता था। इसी प्रकार १९४४ में नार्थ अमेरिकन एयरप्लेन कार्पोरेशन (North American Airplane Corporation) की शिल्प यन्त्र सामग्री (Plant) पर अधिकार करने के लिए सेनाएँ भेज दी गईं थी जिस समय हड़तालियों ने राष्ट्रपति की बारम्बार की हुई प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया। अपृथक्करण (Desegregation) की नीति पर संघीय न्यायालय के निर्णय को लागू करने के लिए २४ सितम्बर, १९५७ मे राष्ट्रपति आइजनहोवर (Eisenhower) ने संघीय सेना को लिटलरॉक (Little Rock), एरकैन्सास (Arkansas) भेजा था। पाँच वर्ष पश्चात् जेम्स मेरेडिथ (James Meredith) नामक एक नीग्रो युवक के अब तक गोरों के लिए ही बने हुए मिसिसिपी विश्वविद्यालय (University of Mississipi) में प्रवेश न पाने के कारण संघीय सरकार और मिसिसिपी राज्य के बीच बड़ा भारी झगड़ा हुआ। राज्य के गवर्नर ने बल-प्रयोग की धमकी भी दी। अत. राष्ट्रपति कैनेडी (Kennedy) ने संघीय न्यायालय की आज्ञा जिसके द्वारा मेरेडिथ को प्रविष्ट करने के लिए कहा गया था, मनवाने के लिए फौजें भेजीं और अन्त मे जेम्स मेरेडिथ को प्रवेश मिल गया।

नियुक्तियों की शक्ति (The Power of Appointments)—राष्ट्रपति की शक्तियों मे नियुक्ति सम्बन्धी शक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं कार्यसाधक स्थान

है। इससे राष्ट्रपति के पास एक ऐसा साधन आ जाता है जिसके द्वारा अनेक संघीय अधिकारियों की निष्ठा उसको प्राप्त हो जाती है, साथ ही इसके द्वारा उसको अपने कार्यक्रम की क्रियान्विति में कांग्रेस के सदस्यों की सक्रिय सहायता मिल जाती है। संविधान राष्ट्रपति को नामांकन (Nominate) करने का अधिकार देता है और सीनेट की अनुमति से वह राजदूतों, मन्त्रियों, वाणिज्य-दूतों (Consuls), सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों और संयुक्त राज्य के अन्य ऐसे अधिकारियों, जिनकी नियुक्ति की कोई अन्य व्यवस्था संविधान में प्रस्तावित नहीं की गई है और जिनकी नियुक्ति की कोई व्यवस्था प्रस्तावित विधि के अनुकूल की जाएगी, वह नियुक्ति करता है; किन्तु कांग्रेस को अधिकार होगा कि वह विधि द्वारा ऐसे छोटे अधिकारियों की नियुक्ति का भी अधिकार केवल राष्ट्रपति को दे सकती है, अथवा न्यायालयों को सौंप सकती है अथवा विभागों के अध्यक्षों को भी दे सकती है। इस प्रकार संघीय सेवाओं के लिए जो नियुक्तियाँ की जाती हैं, वे दो विभागों में बाँटी जा सकती हैं : वे अधिकारी जिनकी नियुक्ति का अधिकार संविधान द्वारा अथवा कांग्रेस के अधिनियम द्वारा राष्ट्रपति को दिया गया है और सीनेट को दिया गया है; और वे अन्य छोटे अधिकारी वर्ग जिनकी नियुक्ति का अधिकार कांग्रेस ने केवल राष्ट्रपति को, या न्यायालयों को अथवा विभागीय अध्यक्षों को दिया है।[1]

कभी भी उत्कृष्ट प्राधिकारियों (Superiors) तथा अवकृष्ट अधिकारियों (Inferior Officers) में कोई तर्कयुक्त विभाजन नहीं हो सका है। किन्तु उत्कृष्ट प्राधिकारियों में विभागीय अध्यक्ष, न्यायाधीश, वैतनिक कूटनीतिज्ञ (Diplomats), ज़िलों के बड़े अफसर (Regulatory Commissioners), सेनापति (Marshals) और सीमा शुल्क अधिकारीगण (Collector of Customs) इनकी गणना की जाती है। अवकृष्ट अधिकारियों में कुछ बड़े से विभागीय अध्यक्ष और प्रायः सभी अधीन कर्मचारी वर्ग (Subordinate Employees) आते हैं।

सब मिलाकर उत्कृष्ट अधिकारियों की इस समय संख्या हज़ारों में है। इन पदों पर नियुक्तियाँ करने में राष्ट्रपति एवं सीनेट पर कोई बन्धन नहीं है, हाँ, यदि किन्हीं विशेष पदों के लिए जब कांग्रेस विधि अनुसार कुछ विशिष्ट अर्हताएं आवश्यक कर दे, जैसे नागरिकता, व्यावसायिक योग्यताएँ अथवा प्राविधिक शिल्प-प्रशिक्षण (Technical Training) इत्यादि तो बन्धन हो सकते हैं। १८२० के पदावधि अधिनियम (The Tenure Office Act of 1820) ने अधिकतर अधिकारियों की पदावधि चार वर्ष नियत की और जहाँ कहीं परिनियम (Statute) के द्वारा पदावधि निश्चित की गई है वहाँ भी परम्परा यही है कि अधिकतर अधिकारी वर्ग चार वर्ष की पदावधि के बाद प्रतिस्थापित (Replaced) कर दिए जाते हैं। इस

1. न्यायालय केवल लिपिक वर्ग, रिपोर्टर वर्ग तथा अन्य मन्त्री पद के अधिकारियों की नियुक्तियाँ करते हैं, किन्तु विभिन्न विभागों में छोटे अधिकारियों की नियुक्तियाँ विभागीय अध्यक्ष करते हैं।

प्रकार, व्यवहारतः चार वर्ष की पदावधि संघीय न्यायाधीशों को छोड़ते हुए सर्वव्यापी (Universal) है, और प्रत्येक राष्ट्रपति अपनी पदावधि में सीनेट के अनुमोदन सहित अनेक लोगों पर संरक्षण (Patronage) का वरद हस्त रख सकता है। कुछ नियुक्तियाँ ऐसी भी हैं जो केवल राष्ट्रपति की स्वेच्छा पर निर्भर हैं और सीनेट तदर्थ अपना अनुमोदन बिना किसी प्रकार की आपत्ति के तुरन्त दे देता है; चाहे सीनेट में बहुमत उस दल का हो जो राष्ट्रपति के विरुद्ध है।

बहुत से संघीय पदों (Federal Offices) विशेषकर स्थानीय पदों पर, एक विशेष पद्धति द्वारा नियुक्तियाँ की जाती हैं जिसे सीनेटोरियल कर्टसी (Senatorial Courtesy) कहा जाता है। यह एक अलिखित नियम है जिसके अनुसार राष्ट्रपति अपने दल के उन सीनेट सदस्यो से नियुक्ति के सम्बन्ध में मन्त्रणा करता है जो उस राज्य की ओर से सीनेट-सदस्य हैं जिसमें नियुक्ति करनी है। यदि राष्ट्रपति ऐसा नही करता, और वह अपनी निजी इच्छा से ही नियुक्ति करता है, तो अन्य सीनेट सदस्य सीनेटोरियल कर्टसी नामक नियम के अनुसार सम्भवतः राष्ट्रपति द्वारा की हुई नियुक्ति को अस्वीकार कर देंगे। सीनेटोरियल कर्टसी नाम के नियम के प्रवर्त्तन के सम्बन्ध में सबसे अच्छा उदाहरण १८३८-३९ का फ्लाइड एच० राबर्ट (Floyd H. Robert) का मामला है। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने राबर्ट को पश्चिमी वर्जीनिया (Western Virginia) के संघीय जिला न्यायालय का जज नियुक्त कर दिया। इस नियुक्ति पर वर्जीनिया (Virginia) राज्य के दोनों सीनेट-सदस्यों ने आपत्ति की। राष्ट्रपति ने उन दोनों सीनेट सदस्यों की आपत्ति पर कोई ध्यान नहीं दिया और राबर्ट (Robert) का नाम सीनेट के पास पुष्टीकरण (Confirmation) के लिए भेज दिया। सीनेट ने अस्वीकृत कर दिया। यदि वे संघीय पद जिन पर नियुक्तियाँ करनी है, किसी ऐसे राज्य में हैं जिनमें राष्ट्रपति के दल के सीनेट-सदस्य नहीं हैं, तो राष्ट्रपति किसी सीमा तक स्वविवेक से काम ले सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति में भी राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह सम्बन्धित प्रदेश के दल-नायकों (Party Leaders) से उस सम्बन्ध में मन्त्रणा करे।

इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि विविध प्रकार के छोटे संघीय पदों पर भी नियुक्तियाँ की जाती हैं जिनके लिए सीनेट के अनुमोदन की आवश्यकता नहीं है। कांग्रेस के अधिनियमों द्वारा दी हुई, ऐसी नियुक्तियों की शक्ति केवल राष्ट्रपति में निहित है अथवा विभिन्न विभागों के अध्यक्षों में निहित है और संघीय नियुक्तियों में से लगभग ९५ प्रतिशत पद इस प्रकार के है। उनमें से अधिकतर अब क्रम-बद्ध सेवाएँ (Classified Services) समझी जाती है, और उन पर नियुक्तियाँ सिविल सर्विस के नियमों के अनुसार होती हैं।

वियुक्त करने का अधिकार (The Power to Remove)—जहाँ तक नियुक्तियों का प्रश्न है, संविधान स्पष्टतः आदेश देता है कि राष्ट्रपति सीनेट की मन्त्रणा पर अधिकारियों की नियुक्ति कर सकता है किन्तु वियुक्तियों (Removasl)

के सम्बन्ध में संविधान मौन है। वियुक्ति के सम्बन्ध में संविधान में केवल एक उपबन्ध है कि सार्वजनिक दोषारोपण (Impeachment) के द्वारा ऐसा सम्भव है किन्तु वियुक्ति की यह विधि (Process), भद्दी, दुःखदायी तथा भारी है। इसलिए वियुक्ति की समस्या ने गम्भीर स्वरूप धारण कर लिया, और कांग्रेस के प्रथम सम्मेलन (Session) में इस पर वाद-विवाद हुआ। किन्तु इस सम्बन्ध में मतभेद था कि वियुक्ति का अधिकार केवल राष्ट्रपति के हाथ में रहे, अथवा वह वियुक्ति केवल सीनेट की मन्त्रणा पर कर सकता है, अथवा यह अधिकार कांग्रेस का है कि वह आदेश दे कि किस प्रकार वियुक्तियाँ होंगी। अन्तिम रूप से यही निर्णय हुआ कि केवल राष्ट्रपति को ही पूर्ण अधिकार होगा कि वह किसी को भी वियुक्त कर सकता है और उसके लिए तदर्थ सीनेट की आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं है।

किन्तु तीन प्रकार के अधिकारियों को राष्ट्रपति वियुक्त नही कर सकता। प्रथम संघीय न्यायालयों के जज लोग हैं जो केवल सार्वजनिक दोषारोपण (Impeachment) के द्वारा ही वियुक्त किए जा सकते हैं। दूसरे प्रकार के विभिन्न बोर्डों (Boards) और आयोगों (Commissions) के सदस्यगण हैं जिनको कुछ विधायिनी (Legislative) शक्तियाँ तथा कुछ न्यायिक (Judicial) शक्तियाँ प्राप्त हैं, और परिनियम (Statutes) उनकी वियुक्ति पर नियन्त्रण लगाते हैं। तृतीय प्रकार के वे सब अधिकारी और कर्मचारी वर्ग हैं जिनकी नियुक्तियाँ सिविल सर्विस (Civil Service) के नियमों के अनुसार हुई हैं। उनको नहीं हटाया जा सकता है। "हाँ, केवल उन कारणों पर उनको वियुक्त किया जा सकता है जिनके द्वारा सिविल सर्विस की कार्यकुशलता (Efficiency) मे बाधा पड़े।

क्षमा-दान का अधिकार (The Power to Pardon)—राष्ट्रपति को क्षमादान तथा प्राणदण्ड-प्रविलम्बन का जो अधिकार है वह उसकी न्यायिक शक्तियों मे से एक है, और यह अधिकार अपवर्जी (Exclusive) है। संविधान, राष्ट्रपति को अधिकार देता है कि "वह प्राणदण्ड-प्रविलम्बन (Reprieves) तथा क्षमा-दान, संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध अपराधों के मामलों मे कर सकता है, किन्तु सार्वजनिक दोषारोपण (Impeachment) वाले मामलों में क्षमा-दान नही कर सकता।" निश्चित रूप से, राष्ट्रपति उन लोगों को क्षमा-दान नही कर सकता जो राज्यो के नियम-भंग करने के अपराधी है। सार्वजनिक दोषारोपण (Impeachment) के दोषियों को भी वह क्षमा नहीं कर सकता। अन्यथा उसकी क्षमा-दान की शक्तियाँ बड़ी विस्तृत है, और यदि वह चाहे, तो दोष-सिद्धि (Conviction) से पहले भी और दोष-सिद्धि के बाद भी क्षमा-दान कर सकता है।

वास्तविक प्रथा के अनुसार राष्ट्रपति स्वयं अपनी विवेक शक्ति का प्रयोग क्षमा प्रदान करने के लिए नही करता। उसने न्याय विभाग को बहुत बड़ी सीमा तक यह उत्तरदायित्व सौंपा हुआ है और वह उनकी सिफारिशो पर ही कार्य करता है।

राष्ट्रपति की सैनिक शक्तियाँ (The Military Powers of the President)—संविधान में कहा गया है कि राष्ट्रपति सेना और नौसेना का प्रधान सेनापति होगा और जिस समय राज्य-सैन्य (State Militia) को संयुक्त राज्य अमेरिका की सेवा के लिए आहूत किया जाएगा उस समय वह राज्य-सैन्य का भी प्रधान सेनापति होगा। विधि के उपबन्धों के अनुसार राष्ट्रपति को सैनिक तथा नौसैनिक अधिकारियों को सीनेट की मन्त्रणा पर नियुक्त करने का अधिकार है, और युद्ध-काल मे वह अपनी इच्छा से किसी भी सैनिक अथवा नौसैनिक अफसर को वियुक्त (Dismiss) कर सकता है। यद्यपि युद्ध घोषित करने का अधिकार केवल कांग्रेस को है किन्तु राष्ट्रपति विदेश-नीति के संचालन द्वारा ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकता है कि युद्ध की घोषणा नितान्त आवश्यकता के रूप में सम्मुख आ सकती है। राष्ट्रपति मैकिनले (McKinley) ने युद्ध-पोत (Battleship) हवाना (Havana) को भेज दिया जहाँ वह नष्ट कर दिया गया, और इसके कारण स्पेन (Spain) से युद्ध छिड़ गया। १९१८ में राष्ट्रपति विल्सन (Wilson) ने अमेरिकी सेनाएँ, साइबेरिया (Siberia) को मित्रराष्ट्रीय सेनाओं की सहायतार्थ भेज दी थी, यद्यपि उस समय संयुक्तराज्य अमेरिका तथा रूस (Russia) में युद्ध की स्थिति नहीं थी। हार्डिंग तथा कलिज (Harding and Coolidge) के समयों में केरीबियन देशों (Carribean Countries) में उपद्रवों को दबाने के लिए सशस्त्र सेनाएँ भेजी गई थीं। संयुक्त राज्य अमेरिका ने जर्मनी (Germany) के विरुद्ध १९४१ में युद्ध की घोषणा की थी किन्तु अमेरिका की नेवी (Navy) ने उन जर्मन पनडुब्बियों (Submarines) पर पहले से ही आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया था जो ब्रिटेन को जाने वाले जहाजों पर आक्रमण करती थीं। वास्तव में तो युद्ध १९४० मे ही प्रारम्भ हो चुका था। १९५० में राष्ट्रपति ट्रूमैन (Truman) ने कांग्रेस से अनुमति लिए बिना ही अमेरिकी सशस्त्र सेनाएँ कोरिया (Korea) में आक्रमण के विरुद्ध भेज दी थी।

जब युद्ध प्रारम्भ हो जाता है तब तो राष्ट्रपति की शक्तियों में अपार वृद्धि हो जाती है। यह शक्ति कार्यपालिका का प्रधान होने के नाते तथा सर्वोच्च सेनापति होने के नाते बढ़ती है। सर्वोच्च सेनापति होने के नाते वह निश्चय करता है कि सेनाएँ कहाँ एकत्रित की जाएँ और कहाँ जहाजी बेड़ा स्थापित किया जाए। उसी की आज्ञाओं पर, सैनिकों को युद्ध-हेतु बुलाया जाता है, जहाजी बेड़े को एकत्रित किया जाता है, और राज्यों की सेना (Militia) को तैयार होने का आदेश दिया जाता है। वह चाहे तो स्वयं किसी युद्ध का संचालन कर सकता है, और यदि चाहे तो लड़ाई के मैदान में स्वयं जाकर सैनिक हलचलों की कमान अपने हाथों में ले सकता है, यद्यपि व्यवहार मे वह ऐसा कभी करता नहीं। कांग्रेस भी यदि चाहे तो ऐसी अवस्था में रिक्त अथवा निरंक व्यवस्थापन (Blanket Legislation) पास करके राष्ट्रपति की शक्तियों में अपार वृद्धि कर सकती है जिसके द्वारा घरेलू एवं विदेशी मामलों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वविवेकी अधिकार (Discretionary

Authority) उसको मिल जाते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध में राष्ट्रपति विल्सन (Wilson) को अधिकार दिया गया था कि वह युद्ध मे काम आने वाली अनेक वस्तुओं तथा सेनाओं के भोजन योग्य खाद्य-पदार्थों के उत्पादन, खरीदारी और बिक्री पर नियन्त्रण रखे। उसके पास यह भी अधिकार था कि वह कारखानों, खानों अथवा पाइप लाइनों (Pipe Lines) को ले ले। वास्तव में उसके पास शक्ति का अपार स्रोत था जिसके बल पर वह व्यूह-रचना-नियोजन करता था, देश की सामरिक एवं औद्योगिक शक्ति को बढ़ाता था और देश की अर्थ-व्यवस्था को युद्ध के अनुकूल बना रहा था। द्वितीय विश्व-युद्ध मे कांग्रेस ने पुनः महान् अधिकार राष्ट्रपति को दे डाले और रूजवेल्ट (Roosevelt) एक प्रकार का संवैधानिक अधिनायक बन गया।

घरेलू मामलों में राष्ट्रपति सेनाओं के बल पर संघीय विधियों की क्रियान्विति करवा सकता है, यदि देश की विधि के विरुद्ध ऐसा विरोध है जो सामान्य व्यवहार-विधि (Civil Process) से नहीं दबाया जा सकता। राष्ट्रपति का यह भी संविधानिक कर्त्तव्य है कि संघ के प्रत्येक एकक राज्य को गणतन्त्री शासन-व्यवस्था का आश्वासन दे, आक्रमण से उसकी रक्षा करे और यदि किसी भाग में गृह-युद्ध की अवस्था उत्पन्न हो जाए तो सशस्त्र सेनाओं को बुलाकर सम्बन्धित राज्य के कार्यपालिका-प्रधान अथवा विधानमण्डल की तदर्थ प्रार्थना आने पर उस गृह-युद्ध की स्थिति का दमन कर दे जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भिक भाग में वर्णन किया जा चुका है।

राष्ट्रपति और वैदेशिक सम्बन्ध (The President and Foreign Affairs)—सविधान में स्पष्ट रूप से कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि राष्ट्रपति ही मुख्य रूप से वैदेशिक नीति का स्रष्टा है अथवा स्वीकार किया हुआ देश का वैदेशिक सम्बन्धों पर अधिकारी प्रतिनिधि (Spokesman) है। किन्तु साविधानिक निर्वचनों एवं व्यवहारों ने उसे इसी रूप में स्वीकार किया है और ये सब कर्त्तव्य उसी को सौंपे है। १९३६ के करटिस-राइट (Curtiss-wright) मुकद्दमे मे सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि "राष्ट्रपति ही पूर्ण रूप से संघीय शासन का वैदेशिक सम्बन्धों के निर्वहन में अधिकृत प्रवक्ता तथा साधन है। इस अधिकार के उपभोग के लिए राष्ट्रपति को कांग्रेस के अधिनियम की आवश्यकता नहीं है। इसको शासन के अन्य अधिकारों की भाँति प्रयोग किया जा सकता है, केवल शर्त यह है कि संविधान के उपबन्धों के अनुसार ये अधिकार प्रयुक्त होते रहें।" संविधान के उपबन्धों के अनुसार राष्ट्रपति राजदूतों, आयुक्तों एवं अन्य राजनीतिक अधिकारियों की नियुक्तियाँ करता है, जिनमें सीनेट का अनुमोदन आवश्यक होता है, और वह विदेशी राज्यों के साथ संधियां करता जिसमें यह आवश्यक है कि सीनेट के दो-तिहाई बहुमत से वह सन्धि प्रमाणित हो जानी चाहिए। वह विदेशी राजदूतों, आयुक्तों और अन्य विदेशी अधिकारियों का स्वागत करता है।

राष्ट्रपति द्वारा अपने देश के राजदूतों की नियुक्ति एवं विदेशी राजदूतों के स्वागत करने की शक्ति महत्त्वपूर्ण है क्योकि इसमें किसी विदेशी सरकार को मान्यता

देने की शक्ति निहित है। यह बात पूर्ण रूप से राष्ट्रपति के विवेक (Discretion) पर निर्भर है कि वह किसी नये राज्य अथवा नई सरकारों को मान्यता प्रदान करे अथवा न करे।

राष्ट्रपति को जो सन्धियाँ करने का अधिकार है उस सम्बन्ध में सीनेट का अनुमोदन आवश्यक है। परन्तु और कई प्रकार हैं जिनके द्वारा राष्ट्रपति सीनेट की उपेक्षा कर सकता है। इस प्रकार का पहला उदाहरण है कार्यपालिका-इकरारनामे (Executive Agreements)। कार्यपालिका इकरारनामे एक प्रकार की प्रतिज्ञाएँ हैं जो किसी विशेष काम के लिए दो देशों के कार्यपालिका-प्रधान आपस में करते हैं। इस सम्बन्ध में श्रेष्ठ उदाहरण है दो भले आदमियों के बीच इकरारनामा (Gentleman's Agreement) जो राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट और जापान के सम्राट् के बीच हुआ था। इसके अनुसार राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने प्रतिज्ञा की कि वह कांग्रेस पर प्रभाव डालेगा और कांग्रेस को मनाएगा कि अपवर्जी अथवा निषेधात्मक कानून बनाना बन्द कर दिया जाए और जापान के सम्राट् ने प्रतिज्ञा की कि वह कुलियों का परदेश गमन (Emigration) निषिद्ध करेगा। कुछ कार्यपालिका इकरारनामे प्रसिद्ध हुए हैं जैसे १९०१ का बॉक्सर नयाचार (*Boxer Protocol*), एटलांटिक चार्टर (Atlantic Charter), और 'डेस्ट्रायर वेसेज' इकरारनामा (Destroyer Bases Agreement)। कार्यपालिका इकारनामों के अतिरिक्त, कांग्रेस राष्ट्रपति को अधिकार दे सकती है कि वह अन्य राष्ट्रों के साथ इकरारनामे (Agreements) कर सकता है।

राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि वह गुप्त कूटनीति (Secret diplomacy) का आश्रय ले, और तदनुसार विदेशी शक्तियों के साथ गुप्त इकरारनामे कर ले, तथा एक विशिष्ट नीति की क्रियान्विति के लिए वचनबद्ध हो जाए। राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट ने १९०५ में जापान को एक उच्च दूत (High Emissary) भेजा और सुदूर पूर्व मे जापान के साथ कुछ महत्त्वपूर्ण मामलों पर समझौता किया। जापान ने प्रतिज्ञा की कि फिलीपाइन द्वीपसमूह में अमेरिका के राज्य को माना जाएगा। रूजवेल्ट ने प्रतिज्ञा की कि अमेरिका, कोरिया (Korea) मे जापान का प्रभुत्व (Sovereignty) स्वीकार करेगा। उसने जापान के प्रधान मन्त्री को यह भी बताया कि अमेरिका के लोग किसी भी स्थिति मे सुदूर-पूर्व में शान्ति रखने का प्रयास करेंगे, और "कैसी भी स्थिति उत्पन्न हो जाए, जापान विश्वास कर सकता है कि अमेरिका उस स्थिति के अनुरूप उसी प्रकार कार्यवाही करेगा मानो दोनों देश सन्धि बन्धन (Treaty Obligation) में आबद्ध हों।" यह समस्त बातचीत इतनी गुप्त रीति से हुई कि रूजवेल्ट की मृत्यु के पूर्व अमेरिका में कुछ भी प्रकट नहीं हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध में अमेरिका के भाग लेने के पूर्व तथा अनन्तर भी फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट ने ब्रिटिश प्रधान मन्त्री एवं अन्य मित्रराष्ट्रों के साथ कई बार गुप्त मन्त्रणाएँ की। इन सम्मेलनों (Conferences) मे जो इकरारनामे हुए, उनमें से कुछ को तो प्रकाशित कर दिया गया, किन्तु कुछ को गुप्त रखा गया।

राष्ट्रपति और संकट (The President and Emergencies)—संकट प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में आते हैं। अमेरिकी संविधान ने स्पष्ट रूप से किसी संकट की व्यवस्था नहीं की है। सर्वोच्च न्यायालय का भी यह मत है कि संकट से कोई शक्ति पैदा नहीं होती। राष्ट्रपति ने संकटकालीन शक्तियों का प्रयोग अपनी सैनिक शक्ति के आधार पर या देश में विधियों का उचित पालन होता रहे; इस उत्तरदायित्व के आधार पर किया है। संकटकाल में राष्ट्रपति को किस प्रकार आचरण करना चाहिए, इस सम्बन्ध में कांग्रेस की विधियाँ एक रूप नहीं हैं। साधारणतया कांग्रेस ने राष्ट्रपति को यह निर्धारित करने की शक्ति दे रखी है कि संकटकाल है या नहीं। लेकिन, राष्ट्रपति 'नियन्त्रणों और सन्तुलनों' (Checks and balances) के कारण इस शक्ति का निर्बाध रीति से प्रयोग नहीं कर सकता। इस पर तीन प्रतिबन्ध हैं—(१) वह वास्तविक संकट होना चाहिए; (२) वह ऐसा संकट होना चाहिए जिसके लिए कांग्रेस ने पहले कोई क़ानून न बनाया हो; (३) वह इस तरह अचानक उत्पन्न हुआ हो कि कांग्रेस को कार्यवाही करने का कोई अवसर न मिल पाया हो।

विधायिनी शक्तियाँ
(Legislative Powers)

राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली में, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों अलग-अलग शासन के मुख्य अंग बने रहते हैं। शासन के इन दोनों भागों को मिलाने का कोई उपाय नहीं है। किन्तु जहाँ राष्ट्रपति विधि की क्रियान्विति के लिए उत्तरदायी है, वहीं उसको व्यवस्थापन के निर्माण में भी कुछ अधिकार प्राप्त हैं। यह अधिकार, निश्चित (Positive) भी है और निषेधात्मक (Negative) भी।

१. राष्ट्रपति के संदेश (Presidential Messages)—संविधान अनुच्छेद २, धारा ३ में आज्ञा देता है कि "राष्ट्रपति समय-समय पर कांग्रेस को संघ की स्थिति के बारे में सूचना देता रहेगा और कांग्रेस के विचारार्थ ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत करेगा जो उसकी दृष्टि में आवश्यक एवं उपयोगी होगी। असाधारण स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर वह दोनों सदनों को बुला सकता है या दोनों में से केवल एक और यदि दोनों सदनों में स्थगन (Adjournment) के समय के सम्बन्ध में मतभेद हो जाए तो उस स्थिति में राष्ट्रपति दोनों सदनों को उतने काल के लिए स्थगित कर सकता है जितना वह उचित समझे।" इस स्पष्ट उपबन्ध के होने पर संविधान निश्चय ही व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के नेतृत्व को स्वीकार करता है और चार्ल्स बीयर्ड (Charles Beard) के शब्दों में, "निस्सन्देह यह कहना अत्युक्ति न होगा कि अनेक राष्ट्रपतियों की प्रतिष्ठा का आधार यह रहा कि वे कहाँ तक विधायिनी शक्तियों का उपयोग कर सकें, न कि यह कि वे कितने सफल प्रशासक रहे।"[1]

1. American Government and Politics, p. 185.

संविधान में उपबन्धित सूचना, वार्षिक सन्देश के रूप में कांग्रेस को प्रत्येक सत्र (Session) के प्रारम्भ में भेजी जाती है और सत्र के दौरान में विदेशी सन्देशों द्वारा यही सूचना समय-समय पर भेजी जाती है। राष्ट्रपति का सन्देश मौखिक रूप से दोनों सदनों की उपस्थिति में पढ़ा जा सकता है अथवा प्रलेख के रूप में दोनों सदनों को प्रेषित किया जा सकता है। वार्षिक सन्देश बड़ा अभिप्रायपूर्ण होता है और इसकी तुलना इंगलैण्ड में सिंहासन से दिये जाने वाले सम्राट् के भाषण से की जा सकती है। वार्षिक सन्देश में पूर्व वर्ष के शासन के क्रिया-कलापों का वर्णन रहता है, दल की नीतियों के सम्बन्ध में घोषणा रहती है, तथा ऐसे व्यवस्थापन (Legislation) की सिफारिश रहती है जिनकी राष्ट्रपति की सम्मति में देश को आवश्यकता रहती है। कभी-कभी इस सन्देश में ऐसी महत्त्वपूर्ण घोषणा निहित रहती है जिसके द्वारा किसी अन्य देश को किसी कार्यवाही के विरुद्ध चेतावनी दी जाती है। इसमें किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का विवेचन भी हो सकता है जिस प्रकार कि दिसम्बर १८२३ के राष्ट्रपति मनरो के सन्देश में मनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) निहित था; अथवा राष्ट्रपति रूजवेल्ट का चार-स्वतन्त्रताओं (Four Freedoms) का सिद्धान्त था, जिसके द्वारा १९४१ में अमेरिका की विदेश नीति के लक्षण बनाये गए थे।

इसी प्रकार व्हाइट हाउस (White House) से कांग्रेस को भेजे हुए अनेक लिखित संन्देश, जिनमें अनेक सार्वजनिक समस्याओं पर विवेचन रहता है, उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, यद्यपि प्रयत्क्ष में उतने महत्त्वपूर्ण दिखाई नहीं देते। इन सन्देशों को प्राय: क्लर्क (Clerk) अस्पष्ट उच्चारण में पढ़ता है, और फिर वे कांग्रेस-रेकार्ड (Congressional Record) में छप जाते हैं। इन सन्देशों में शासन की आवश्यकताओं एवं उचित विधान-निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया जाता है, और इस प्रकार राष्ट्रपति के सहयोगी, विधानमण्डल के सदस्यों से एक प्रकार की अपील की जाती है कि वे इच्छित अधिनियम पास करने की उचित कार्यवाही करें। प्राय: इन सन्देशों के साथ प्रस्तावित विधान के लिए विस्तृत प्रारूप (Draft) सलग्न होता है, और मैत्रीपूर्ण विधानमण्डल के सदस्य उन विधान प्रारूपों को उसी प्रकार स्वीकार करने की दिशा में उचित कार्यवाही करने लग जाते हैं।

२. कांग्रेस के असाधारण सत्रों को बुलाने का अधिकार (Power to call Extraordinary Sessions)—राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह महत्त्वपूर्ण एवं अत्यावश्यक स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर कांग्रेस के असाधारण सत्रों को आहूत कर सकता है। यदि कांग्रेस के दोनों सदनों में मतभेद हो, तो राष्ट्रपति उसे स्थगित भी कर सकता है। लेकिन यह स्थिति कभी उत्पन्न नहीं हुई है।

३. आय-व्ययक (The Budget)—राष्ट्रपति के कार्यालय में ही आय-व्ययक निदेशक (Director) और उसके द्वारा नियुक्त अधिकारियों द्वारा आय-व्ययक बनाया जाता है। यह आय-व्ययक, जो राष्ट्रपति द्वारा कांग्रेस को प्रस्तुत किया जाता है, सरकारी कार्यों और कार्यक्रमों के वार्षिक विनियोगों के विषय में विधायी कार्यों

के लिए पथप्रदर्शक सिद्ध होता है। १६२१ मे आय-व्ययक का महकमा (Bureau of the Budget) बनाया गया था और १६३६ से यह राष्ट्रपति के निदेश के अधीन आ गया। यह राष्ट्रपति के साधारण प्रवन्ध की महत्त्वपूर्ण शाखा है।

४. अध्यादेश निकालने का अधिकार (Power to Issue Ordinances)—राष्ट्रपति के व्यवस्थापन सम्बन्धी कर्त्तव्यों में उसकी अध्यादेश निकालने सम्बन्धी शक्ति को भी समझना चाहिए; अर्थात् वह शक्ति जिसके द्वारा वह ऐसी आज्ञाएँ निकाल सके जो विधि के समान मानी जाएँ। अध्यादेशों का निकालना, अर्थात् अधिशासी आज्ञाएँ (Executive orders) राष्ट्रपति की विधायिनी शक्तियों (Legislative Powers) में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं कि १६३५ में कांग्रेस ने फेडरल रजिस्टर ऐक्ट (Federal Register Act) पास किया जिसमें चाहा गया कि समस्त अधिशासी आज्ञाएँ, आज्ञप्तियाँ (Decrees) तथा घोषणाएँ जो सब पर लागू होंगी और जिनका कानून के समान महत्त्व है, नित्य प्रकाशित होने वाले फेडरल रजिस्टर (Federal Register) में प्रकाशित होनी चाहिएँ।

राष्ट्रपति की अध्यादेश निकालने की शक्ति की इस आधार पर आलोचना की गई है कि वह शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। इस सम्बन्ध मे सर्वोच्च न्यायालय का मत है कि कांग्रेस को वे मानक स्थिर कर देने चाहिएँ जिनके अनुसार राष्ट्रपति अध्यादेश निकाले।

निषेधाधिकार (The Veto Power)—निषेधाधिकार के द्वारा राष्ट्रपति के पास व्यवस्थापन (Legislation) के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण शक्ति है। संविधान के अनुसार समस्त विधेयकों (Bills), प्रस्तावों (Resolutions) (केवल प्रस्तावित सांविधानिक संशोधनो को छोड़ते हुए) के ऊपर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होने अत्यन्त आवश्यक है, तभी वह क़ानून का रूप धारण कर सकता है। यदि वह स्वीकृति प्रदान कर देता है तो उस पर अपने हस्ताक्षर कर देता है और वह विधि के रूप मे प्रस्थापित हो जाता है। यदि वह स्वीकृति प्रदान नही करता, तो उस विधेयक को उसी सदन मे अपनी आपत्तियो सहित दस दिन के भीतर वापस भेज देता है जहाँ पर वह आरम्भ हुआ था। उस स्थिति में कांग्रेस दो-तिहाई मतों के द्वारा दोनों सदनों मे उसे पुनः पास कराकर राष्ट्रपति के निषेधाधिकार के प्रयोगो के बावजूद कानून का स्वरूप दे देती है। यदि राष्ट्रपति दस दिन के भीतर रविवारों को छोड़कर विधेयक पर न तो हस्ताक्षर करे, न उस पर निषेधाधिकार का प्रयोग करे, तो वह विधेयक बिना राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के भी कानून का स्वरूप धारण कर लेता है। यदि राष्ट्रपति द्वारा हस्ताक्षरार्थ विधेयक प्राप्त होने के दस दिन के अन्दर कांग्रेस का सत्र स्थगित हो जाए, और यदि राष्ट्रपति उस पर कोई कार्यवाही नही करता, तो विधेयक स्वयं गिर जाता है। इसको पॉकेट वीटो (Pocket Veto) कहा जाता है, और यह पूर्ण एवं निर्विकल्प (Absolute) है। सत्र के अन्तिम दिनो मे अनेक विधि प्रस्ताव एवं प्रस्ताव कांग्रेस द्वारा पास किए जाते हैं ताकि समस्त संचित काम का निपटारा कर

दिया जाए। इस प्रकार के अनेक अन्तिम क्षण वाले विधेयक, जिनको राष्ट्रपति अस्वीकृत करना चाहे, अथवा जिनका उत्तरदायित्व वह अपने ऊपर न लेना चाहे; राष्ट्रपति की निष्क्रियता (Inaction) के फलस्वरूप कानून का स्वरूप धारण नहीं कर पाते। राष्ट्रपतियों ने पॉकेट वीटो (Pocket Veto) का प्रयोग प्राय: खुलकर किया है।

राष्ट्रपति—राष्ट्र का नेता
(The President as a National Leader)

राष्ट्रपति व्यक्तिगत रूप से दो अधिकारों से सज्जित है, अर्थात् वह समस्त देश का राजा भी है और प्रधान मन्त्री भी। एक ओर वह एक दल का नेता है, निर्वाचित बहुमत का प्रतिनिधि है, और यह बहुमत प्राय. उस दल का है जिसका वह नेता है। प्रारम्भ में कार्यपालिका का प्रधान किसी दल विशेष से सम्बद्ध नहीं होता था, और वाशिंगटन अपने आपको किसी दल से संम्बद्ध नहीं मानता था। किन्तु जब राजनीतिक दलों की निश्चित रूप से स्थापना हो गई, तो जेफ़रसन (Jefferson) के समय से राष्ट्रपति का चुनाव एक दल विशेष के नेता के रूप में होने लगा, और तभी से राष्ट्रपति का एक कर्त्तव्य 'दल का नेतृत्व' भी उसी रूप में समझा जाने लगा जिस प्रकार कि ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री का यह कर्त्तव्य समझा जाता है। आजकल एक दल का राजनीतिक नेता होने के कारण राष्ट्रपति को उतनी ही शक्ति एवं अधिकार प्राप्त है जितना अधिकार कि उसको संविधान के द्वारा दी हुई शक्ति ने प्रदान किया है। राष्ट्रपति का चुनाव दलगत निष्ठा के आधार पर उस शासन के मुख्य पद के लिए होता है जो दलगत राजनीति पर आधारित है; इसलिए उसको चारों ओर से उसी दल के लोग सलाहकारों के रूप में घेरे रहते है; और वह कांग्रेस में भी अपने दल के लोगों से ही मन्त्रणा करके नियुक्तियाँ करता है; नीति-निर्धारण मे भी वह अपने दल के नेताओं से ही सलाह लेता है; और अपने दल के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए ही वह अपनी सर्वोच्च विधायिनी शक्ति का उपभोग करता है।

किन्तु यह तस्वीर का केवल एक पहलू है। जहाँ तक वह सर्वोच्च प्रशासक है, उसका कर्त्तव्य है कि वह देश की प्रचलित विधियों की क्रियान्विति निष्ठापूर्वक करे, चाहे उन विधियों को कांग्रेस के डेमोक्रेटिक (Democratic) अथवा रिपब्लिकन (Republican) बहुमत ने पास किया हो। सर्वोच्च सेनापति के रूप में वह समस्त राष्ट्र का नायक है। वह युद्ध का संचालन किसी एक दल अथवा किसी एक वर्ग के हित-साधन के लिए नहीं करता। वह वास्तव में सभी के हित में कार्य करता है। सर्वसाधारण लोग राष्ट्रपति को समस्त संघ का नेता मानते है, यहाँ तक कि उसे अमेरिकी जीवन-व्यवस्था का प्रतीक मानते है। व्हाइट हाउस (White House) राष्ट्र की पवित्र इमारतों में से एक है। राष्ट्रपति, राष्ट्र का ही रूप है और साथ ही राष्ट्र का नेतृत्व भी करता है। सर्वसाधारण स्वभावत: सभी मामलों में उसके मार्ग-प्रदर्शन के आकांक्षी है। वही सर्वथा इस बात का प्रयत्न करता है कि संयुक्त

के लिए पथप्रदर्शक सिद्ध होता है। १६२१ मे आय-व्यय
the Budget) बनाया गया था और १६३६ से यह रा
था गया। यह राष्ट्रपति के साधारण प्रबन्ध की महत्त्वपू

४. अध्यादेश निकालने का अधिकार (Power to
राष्ट्रपति के व्यवस्थापन सम्बन्धी कर्त्तव्यों मे उसकी
शक्ति को भी समझना चाहिए; अर्थात् वह शक्ति जि
निकाल सके जो विधि के समान मानी जाएँ। अध्या
अधिशासी आज्ञाएँ (Executive orders) राष्ट्रपति
(Legislative Powers) में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान रख
ने फेडरल रजिस्टर ऐक्ट (Federal Register Act) प
कि समस्त अधिशासी आज्ञाएँ, आज्ञप्तियाँ (Decrees)
लागू होंगी और जिनका कानून के समान महत्त्व है, नित्य
रजिस्टर (Federal Register) में प्रकाशित होनी चाहि

राष्ट्रपति की अध्यादेश निकालने की शक्ति की
की गई है कि वह शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त के प्र
सर्वोच्च न्यायालय का मत है कि कांग्रेस को वे मानक स्थि
अनुसार राष्ट्रपति अध्यादेश निकाले।

निषेधाधिकार (The Veto Power)—निषेधा
के पास व्यवस्थापन (Legislation) के सम्बन्ध में महत्त्व
अनुसार समस्त विधेयकों (Bills), प्रस्तावों (Resolut
सांविधानिक संशोधनों को छोड़ते हुए) के ऊपर राष्ट्रपति
आवश्यक है, तभी वह कानून का रूप धारण कर सकता है
कर देता है तो उस पर अपने हस्ताक्षर कर देता है और
पित हो जाता है। यदि वह स्वीकृति प्रदान नहीं करता, तो
में अपनी आपत्तियों सहित दस दिन के भीतर वापस भे
आरम्भ हुआ था। उस स्थिति में कांग्रेस दो-तिहाई मतों के
पुनः पास कराकर राष्ट्रपति के निषेधाधिकार के प्रयोगों के
दे देती है। यदि राष्ट्रपति दस दिन के भीतर रविवारों को
ही हस्ताक्षर करे, न उस पर निषेधाधिकार का प्रयोग करे
राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के भी कानून का स्वरूप धारण कर
द्वारा हस्ताक्षरार्थ विधेयक प्राप्त होने के दस दिन के अन्दर
हो जाए, और यदि राष्ट्रपति उस पर कोई कार्यवाही नहीं
गिर जाता है। इसको पॉकेट वीटो (Pocket Veto) कहा
एवं निर्विकल्प (Absolute) है। सत्र के अन्तिम दिनों में
प्रस्ताव कांग्रेस द्वारा पास किए जाते हैं ताकि समस्त संचित

अध्याय ४

मन्त्रिमण्डल और प्रशासनिक विभाग

(The Cabinet and the Executive Departments)

मन्त्रिमण्डल का विकास और प्रकृति (Origin and Nature of Cabinet)— दस प्रशासनिक विभागों के अध्यक्ष सब मिलाकर राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हैं। वे विभाग हैं—परराष्ट्र विभाग (State), अर्थ विभाग (Treasury), रक्षा विभाग (Defence), गृह विभाग (Interior), कृषि विभाग (Agriculture), न्याय विभाग (Justice), डाक विभाग (Post Office), वाणिज्य विभाग (Commerce), श्रम विभाग (Labour), स्वास्थ्य, शिक्षा एवं लोक-कल्याण विभाग (Health, Education and Welfare)। संविधान में राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं है। उसमें तो केवल यह कहा गया है कि "राष्ट्रपति अपने प्रशासनिक विभागों के अध्यक्षों से अपने-अपने विभागों के क्रियाकलापों के सम्बन्ध में किसी विषय पर लिखित जानकारी प्राप्त कर सकता है।"[1] किन्तु संविधान के निर्माताओं के दिमाग में यह बात घर कर गई थी कि नीति-निर्धारण में मन्त्रणा की आवश्यकता होती है यद्यपि "इस सम्बन्ध में उन्होने संविधान मे कोई उपबन्ध रखना प्रत्यक्षत: आवश्यक नहीं समझा क्योकि यह मान लिया गया था कि राष्ट्रपति को इतनी बुद्धि होगी कि वह महत्त्वपूर्ण मामलों में अवश्य मन्त्रणा लेना चाहेगा।"[2] किन्तु उन्होंने सीनेट को अवश्य ही नियुक्तियों एवं सन्धि करने के सम्बन्ध में इस प्रकार का अधिकार प्रदान किया।

प्रारम्भ में वाशिंगटन का विचार था कि सीनेट वही काम करेगा जो तत्कालीन औपनिवेशिक विधानमण्डलों के उच्च सदन करते थे; अर्थात् वह मन्त्रणा-परिषद् (Advisory Council) का कार्य करेगा और उसको कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका सम्बन्धी दोनों प्रकार के उत्तरदायित्वों का निर्वहन करना होगा। संविधान ने सीनेट को मन्त्रणा-परिषद् प्रायः मान ही लिया था, जबकि उपबन्धित किया गया कि राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह सीनेट की मन्त्रणा पर उसकी सहमति से सन्धियाँ एवं नियुक्तियाँ करे। वाशिंगटन ने इंडीज़ के मामलों (Indies Affairs) में सीनेट से मन्त्रणा माँगी किन्तु सीनेट ने उसका तिरस्कार किया। इसके बाद इंग्लैण्ड और उपनिवेशों के न्यायालयों को प्रमाण मानते हुए राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से मन्त्रणा स्वरूप कुछ सहायता चाही किन्तु इस बार भी उसके साथ रूक्षता का व्यव-

---

1. अनुच्छेद II, खण्ड २, धारा १।
2. Zink, H.: A Survey of American Government, p. 254.

राज्य अमेरिका की समृद्धि बढ़े। प्रजातन्त्र में भी लोगों को एक नेता की आवश्यकता होती है। "उनको एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो अव्यक्त शासन एवं अधिकार की प्रतिमूर्ति हो, जो राजनीति को सरल बना दे; जो राज्य के संरक्षक एवं लोकरंजक रूप को स्वयं सामने रखे, और जो सभी से सम्बन्ध रखता हो।" वास्तव में समस्त राष्ट्र की आँखें राष्ट्रनायक (First Citizen) की ओर लगी रहती हैं।

Suggested Readings

Agar Herbert : *The United States, The President, The Parties, and the Constitution.*

Beard, C. A. : *American Government and Politics* (1947). Chap. VII.

Brogan, D. W. : *The American Political System* (1948) Pt. IV, Chap. I.

" " : *An Introduction to American Politics* (1954), Chap. VIII.

Bronlow, L. : *The President and the Presidency* (1949).

Corwin, E. S. : *The Constitution and What it Means Today* (1948).

" " : *The President, Office and Power* (1940).

Hayman, S. : *The American President* (1954)

Laski, H. J. : *The American Presidency* (1952).

Munro, W. T. : *Government of the United States* (1947), Chap. X and XII.

Ogg, F. A. and Ray, P. O. : *Essentials of American Government* (1952), Chap. XX.

Wilson, W. : *The President of the United States* (1916).

Zink, Harold : *Government and Politics in the United States*, Chaps. XIV and XV.

सुरक्षित नही रखे जाते। राष्ट्रपति आइजनहावर ने मन्त्रिमण्डल के कार्य के संगठन के लिए एक मन्त्रिमण्डल सचिवालय (Cabinet-Secretariat) की स्थापना की थी। संक्षेप मे, मन्त्रिमण्डल के सदस्य के कोई ऐसे संसृष्ट (Corporate) अधिकार नही हैं जिनको प्रथा के अनुसार सभी जगह माना जाता हो। यह बात दो कहानियों से स्पष्ट हो जाएगी, जिनमे से एक अमेरिका के सम्बन्ध मे है और दूसरी इग्लैण्ड के सम्बन्ध मे। एक बार अब्राहम लिंकन ने अपना एक प्रस्ताव अपने सात मन्त्रियों के सामने रखा और उन सब ने उसका विरोध किया। उसके बाद लिंकन ने कहा, "सात मत विरोध में, एक मत पक्ष में, अतः एकमत के पक्ष वालों की जीत हुई।" इस अवस्था के मुकाबले मे लॉर्ड मेलबोर्न (Lord Melbourne) की बात रखी जाती है। उसने अनाज नियमों (Corn Laws) के सम्बन्ध मे किसी प्रश्न पर मन्त्रिमण्डल के मत मांगे और कहा, "इस बात को मैं कोई महत्त्व नहीं देता कि हम क्या कहते हैं। किन्तु हम सभी मन्त्रियों को एक ही बात कहनी चाहिए।" अमेरिका के मन्त्रिमण्डल के सदस्य, प्रशासन की सामान्य नीति के समर्थन में वक्तृताएँ दे सकते है। वे किसी विशिष्ट नीति के आरम्भक भी हो सकते हैं, और यदि राष्ट्रपति उसको स्वीकार कर ले, तो वे उस नीति के स्रष्टा भी अपने आपको कह सकते हैं। किन्तु सामान्यतः अमेरिका के मन्त्रिमण्डल का सदस्य, राष्ट्रपति की कृपाकोर पर पूर्णतः अवलम्बित है। चाहे कोई मन्त्री कितना ही योग्य एवं प्रसिद्ध हो, किन्तु वह निश्चय ही राष्ट्रपति के सम्मुख सदैव प्रच्छन्न (Eclipsed) रहेगा।"

सदस्यों का चुनाव (The Selection of Members)—संयुक्त राज्य अमेरिका मे मन्त्रिमण्डल एक प्रकार से राष्ट्रपति का परिवार है। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री को अपने विश्वस्त साथियों के चुनने में कुछ छूट हो सकती है फिर उसका दल कुछ विशेष व्यक्तियों का मन्त्रिमण्डल मे लिया जाना पसन्द करता है। और देश भी यही चाहता है, किन्तु ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के विपरीत, अमेरिका का राष्ट्रपति समान विचारों वाले मन्त्रियों की टीम (Team) का निर्माण नही करता। अमेरिका का राष्ट्रपति जिन विचारों के अनुसार अपने मन्त्रियों को चुनता है, वे उन विचारों से सर्वथा भिन्न हैं जिनके अनुसार संसदीय शासन-प्रणाली का प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रियों का चुनाव करता है। यह हो सकता है कि राष्ट्रपति जिन मन्त्रियो को चुनता है उनमें से कुछ मन्त्रियों को वह स्वयं जानता भी न हो। राष्ट्रपति विल्सन की अपने गृह-मन्त्री लिण्डले गैरीसन (Lindley Garrison) से कभी भेंट नही हुई थी। वह ऐसे मन्त्रियों की भी नियुक्ति कर सकता है जो उसके दल से सम्बन्धित न हों, यद्यपि १७६५ से दलगत समैक्य (Party Solidarity) के सिद्धान्त का प्रायः कठोरता से पालन किया गया है।[1] क्लीवलैंड (Cleveland) ने वाल्टर जी० ग्रैशम (Walter G.

1. वाशिंगटन ने जेफरसन (Jefferson) को परराष्ट्रमंत्री बनाया और हैमिल्टन ''ton) को अर्थमंत्री बनाया। किन्तु शीघ्र ही अनबन प्रारम्भ हो गई और यह सोचा जाने विभागों के अध्यक्ष पद ऐसे लोगों को सौंपे जाएँ, जो समान राजनैतिक विचारधारा के हों।

हार किया गया। इसलिए वाशिंगटन ने शासन के प्रमुख अधिकारियों से महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर मन्त्रणा करना प्रारम्भ कर दिया और १७९१ के बाद तो उसने प्रायः नियमित सम्मेलन प्रारम्भ कर दिए जिनमें मुख्य विभागीय अध्यक्षों के साथ न केवल उनके सम्बन्धित विभागों के बारे में उनसे मन्त्रणा ली जाती थी, अपितु सामान्य नीति निर्धारण के प्रश्नों पर भी उनसे राय माँगी जाती थी। इस प्रकार कार्यपालिका कार्यक्रम के निर्वहन मे मन्त्रिमण्डल विशिष्ट भाग लेने लगा और वह एक स्थायी व्यवस्था (Institution) के रूप में स्थापित हो गया। यद्यपि अनेक राष्ट्रपतियों ने मन्त्रिमण्डल से सलाह लेने की अपेक्षा अपने व्यक्तिगत मित्रों और परामर्शदाताओं से राय लेना ज्यादा पसन्द किया है, फिर भी मन्त्रिमण्डल अमेरिकी शासन-व्यवस्था का एक अभिन्न अंग है और साधारणतः राष्ट्रपति उससे सलाह लेते ही रहते हैं। कहना न होगा कि मन्त्रिमण्डल का उपयोग राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है।

मन्त्रिमण्डल की विशेषताएँ (Features of the Cabinet)—यद्यपि विधि[1] में मन्त्रिमण्डल (Cabinet) का कोई स्थान नही है, फिर भी संयुक्त राज्य अमेरिका की वैधानिक शासन-व्यवस्था में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग रखता है। अमेरिका में मन्त्रिमण्डल उस प्रकार का नही है जैसा कि संसदीय शासन-प्रणाली (System of Parliamentary Government) मे होता है। अमेरिकी मन्त्रिमण्डल के सदस्य कांग्रेस के सदस्य नहीं होते, न वे कांग्रेस के वाद-विवादों मे भाग लेते हैं; न वे कांग्रेस में उपस्थित रहकर व्यवस्थापन सम्बन्धी किसी कार्य मे हाथ बँटाते हैं, न शासन की नीति का समर्थन ही करते हैं। उन्हें इस बात की भी आवश्यकता नहीं होती कि कांग्रेस उनमें अपना विश्वास प्रगट करे। वे मुख्य रूप से राष्ट्रपति के परामर्शदाता (Advisers) है। राष्ट्रपति को अधिकार है और वह प्रायः अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा अस्वीकृत कर देता है। वह चाहे तो मन्त्रियों से मन्त्रणा ले अथवा न ले। यदि वह मन्त्रणा लेता है, तो वह चाहे तो मन्त्रियों से अलग-अलग विषयों पर अलग-अलग मन्त्रणा कर सकता है अथवा समूचे मन्त्रिमण्डल से एक साथ भी मन्त्रणा कर सकता है।

सामान्य रूप में मन्त्रिमण्डल की बैठक सप्ताह में एक बार होती है और इसकी बैठकों में किन विषयो पर विचार हो, यह निर्णय राष्ट्रपति करता है।[2] समस्त कार्यवाही निश्चित रूप से अनौपचारिक (Informal) होती है और वाद-विवाद के कोई निश्चित नियम नही हैं। मन्त्रिमण्डल मे मत-गणना प्रायः कभी नही होती और इसकी कार्यवाही के वृत्त (Minutes) अथवा अभिकृत अभिलेख (Official Records)

---

1. केबिनेट शब्द का इस रूप में १८०३ के मारबरी विरुद्ध मैडीसन (Marbury V. Madison) वाले मुकद्दमे में चीफ जस्टिस मार्शल (Marshall) ने प्रयोग किया था।

2. राष्ट्रपति टाफ्ट ने कहा था, "प्रथा यह है कि राष्ट्रपति अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के सम्मुख वे प्रश्न रखता है जिन पर वह मन्त्रियों की मन्त्रणा लेना चाहता है; और मन्त्रिगण अपने-अपने विभागों की उन बातों को उपस्थित करते है जिन पर वे मंत्रिमण्डल में विचार एवं मंत्रणा करना चाहें।"

सुरक्षित नहीं रखे जाते। राष्ट्रपति आइज़नहावर ने मन्त्रिमण्डल के कार्य के सगठन के लिए एक मन्त्रिमण्डल सचिवालय (Cabinet-Secretariat) की स्थापना की थी। संक्षेप में, मन्त्रिमण्डल के सदस्य के कोई ऐसे संसृष्ट (Corporate) अधिकार नहीं है जिनको प्रथा के अनुसार सभी जगह माना जाता हो। यह बात दो कहानियो से स्पष्ट हो जाएगी, जिनमें से एक अमेरिका के सम्बन्ध में है और दूसरी इग्लैण्ड के सम्बन्ध मे। एक बार अब्राहम लिंकन ने अपना एक प्रस्ताव अपने सात मन्त्रियों के सामने रखा और उन सब ने उसका विरोध किया। उसके बाद लिंकन ने कहा, "सात मत विरोध में, एक मत पक्ष में, अतः एकमत के पक्ष वालों की जीत हुई।" इस अवस्था के मुकाबले में लॉर्ड मेलबोर्न (Lord Melbourne) की बात रखी जाती है। उसने अनाज नियमों (Corn Laws) के सम्बन्ध मे किसी प्रश्न पर मन्त्रिमण्डल के मत माँगे और कहा, "इस बात को मैं कोई महत्त्व नहीं देता कि हम क्या कहते हैं। किन्तु हम सभी मन्त्रियो को एक ही बात कहनी चाहिए।" अमेरिका के मन्त्रिमण्डल के सदस्य, प्रशासन की सामान्य नीति के समर्थन मे वक्तृताएँ दे सकते है। वे किसी विशिष्ट नीति के आरम्भक भी हो सकते है, और यदि राष्ट्रपति उसको स्वीकार कर ले, तो वे उस नीति के स्रष्टा भी अपने आपको कह सकते है। किन्तु सामान्यतः अमेरिका के मन्त्रिमण्डल का सदस्य, राष्ट्रपति की कृपाकोर पर पूर्णतः अवलम्बित है। चाहे कोई मन्त्री कितना ही योग्य एवं प्रसिद्ध हो, किन्तु वह निश्चय ही राष्ट्रपति के सम्मुख सदैव प्रच्छन्न (Eclipsed) रहेगा।"

सदस्यों का चुनाव (The Selection of Members)—संयुक्त राज्य अमेरिका मे मन्त्रिमण्डल एक प्रकार से राष्ट्रपति का परिवार है। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री को अपने विश्वस्त साथियों के चुनने में कुछ छूट हो सकती है फिर उसका दल कुछ विशेष व्यक्तियों का मन्त्रिमण्डल मे लिया जाना पसन्द करता है। और देश भी यही चाहता है, किन्तु ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के विपरीत, अमेरिका का राष्ट्रपति समान विचारों वाले मन्त्रियों की टीम (Team) का निर्माण नही करता। अमेरिका का राष्ट्रपति जिन विचारों के अनुसार अपने मन्त्रियों को चुनता है, वे उन विचारों से सर्वथा भिन्न है जिनके अनुसार संसदीय शासन-प्रणाली का प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रियों का चुनाव करता है। यह हो सकता है कि राष्ट्रपति जिन मन्त्रियों को चुनता है उनमें से कुछ मन्त्रियों को वह स्वयं जानता भी न हो। राष्ट्रपति विल्सन की अपने गृह-मन्त्री लिण्डले गैरीसन (Lindley Garrison) से कभी भेंट नही हुई थी। वह ऐसे मन्त्रियों की भी नियुक्ति कर सकता है जो उसके दल से सम्बन्धित न हों, यद्यपि १७९५ से दलगत समैक्य (Party Solidarity) के सिद्धान्त का प्रायः कठोरता से पालन किया गया है।[1] क्लीवलैंड (Cleveland) ने वाल्टर जी० ग्रैशम (Walter G.

1. वाशिंगटन ने जेफरसन (Jefferson) को परराष्ट्रमंत्री बनाया और हैमिल्टन (Hamilton) को अर्थमंत्री बनाया। किन्तु शीघ्र ही अनबन प्रारम्भ हो गई और यह सोचा जाने लगा कि विभागों के अध्यक्ष पद ऐसे लोगों को सौंपे जाएँ, जो समान राजनैतिक विचारधारा के समर्थक हों।

हार किया गया। इसलिए वाशिंगटन ने शासन के प्रमुख अधिकारि प्रश्नों पर मन्त्रणा करना प्रारम्भ कर दिया और १७६१ के बाद तो मित सम्मेलन प्रारम्भ कर दिए जिनमें मुख्य विभागीय अध्यक्षों उनके सम्बन्धित विभागों के बारे में उनसे मन्त्रणा ली जाती थी, अपि निर्धारण के प्रश्नों पर भी उनसे राय माँगी जाती थी। इस प्रकार कम के निर्वहन मे मन्त्रिमण्डल विशिष्ट भाग लेने लगा और वह ए (Institution) के रूप मे स्थापित हो गया। यद्यपि अनेक रा मण्डल से सलाह लेने की अपेक्षा अपने व्यक्तिगत मित्रों और परा लेना ज्यादा पसन्द किया है, फिर भी मन्त्रिमण्डल अमेरिकी शासन अभिन्न अंग है और साधारणत: राष्ट्रपति उससे सलाह लेते ही र होगा कि मन्त्रिमण्डल का उपयोग राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर

मन्त्रिमण्डल की विशेषताएँ (*Features of the Cabinc* में मन्त्रिमण्डल (Cabinet) का कोई स्थान नहीं है, फिर भी संयु की वैधानिक शासन-व्यवस्था मे यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग रखत मन्त्रिमण्डल उस प्रकार का नही है जैसा कि संसदीय शासन-प्र Parliamentary Government) में होता है। अमेरिकी म कांग्रेस के सदस्य नही होते, न वे कांग्रेस के वाद-विवादो मे कांग्रेस में उपस्थित रहकर व्यवस्थापन सम्बन्धी किसी कार्य शासन की नीति का समर्थन ही करते है। उन्हे इस बात की होती कि कांग्रेस उनमें अपना विश्वास प्रगट करे। वे मुख्य रूप मर्शदाता (Advisers) है। राष्ट्रपति को अधिकार है और वह की मन्त्रणा अस्वीकृत कर देता है। वह चाहे तो मन्त्रियों से मन्त्र यदि वह मन्त्रणा लेता है, तो वह चाहे तो मन्त्रियों से अलग-अल अलग मन्त्रणा कर सकता है अथवा समूचे मन्त्रिमण्डल से एक सकता है।

सामान्य रूप में मन्त्रिमण्डल की बैठक सप्ताह मे एक बा बैठकों मे किन विषयो पर विचार हो, यह निर्णय राष्ट्रपति कर वाही निश्चित रूप से अनौपचारिक (Informal) होती है और निश्चित नियम नही हैं। मन्त्रिमण्डल मे मत-गणना प्राय: कभी कार्यवाही के वृत्त (Minutes) अथवा अभिकृत अभिलेख (

1. केबिनेट शब्द का इस रूप में १८०३ के मारबरी विरुद्ध मै Madison) वाले मुकद्दमे में चीफ जस्टिस मार्शल (*Marshall*) ने

2. राष्ट्रपति टाफ्ट ने कहा था, "प्रथा यह है कि राष्ट्रपति अ के सम्मुख वे प्रश्न रखता है जिन पर वह मन्त्रियों की मन्त्रणा लेना चाह अपने विभागों की उन बातों को उपस्थित करते हैं जिन पर वे मंत्रि करना चाहें।"

अलग गौरव और प्रभाव रहता है फिर भी मन्त्रिमण्डल की बैठक कम-से-कम सप्ताह में एक बार अवश्य होनी चाहिए; और यह दो प्रकार के कार्य सम्पन्न करता है। प्रथमतः, वहाँ शासन की विस्तृत नीतियों पर विचार होता है। राष्ट्रपति चाहे, तो प्रायः, अपने मन्त्रिमण्डल से शीर्ष नीति (Top Policy) पर मन्त्रणा कर सकता है। राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की सलाह मानने पर बाध्य नहीं है, फिर भी वाद-विवाद से लाभदायक जानकारी और राय का पता चल जाता है; विचार स्पष्ट होते हैं और इससे प्रशासन की नैतिक अवस्था (Morale) में सुधार होता है। मन्त्रिमण्डल के विचार-विनिमय के फलस्वरूप राष्ट्रपति को उत्साह तथा बल मिलता है, और इस प्रकार वह जनसाधारण के प्रति अधिक उत्तरदायी हो जाता है। किन्तु अमेरिका के मन्त्रिमण्डल का मूल्यांकन करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि यह राष्ट्रपति के परामर्शदाताओं का एक निकाय है। यह सहयोगी मन्त्रियों की मन्त्रणा परिषद् (Council of Colleagues) नहीं है, जिसके साथ राष्ट्रपति को काम करना आवश्यक हो अथवा जिनकी सहमति पर वह किसी प्रकार आश्रित हो। प्रोफेसर लास्की के मतानुसार "अमेरिका की केबिनेट में जो वाद-विवाद होते है उनमें राष्ट्रपति मन्त्रियों के विचार तथा मत एकत्रित करता है और उनसे अपने विचारों को स्पष्टता देता है किन्तु इस विचार-विनिमय के फलस्वरूप सामूहिक निर्णय (Collective Decision) का प्रयत्न नहीं किया जाता।"[1]

दूसरे प्रकार के काम जो मन्त्रिमण्डल करता है वे साधारण और नैत्यिक (Routine) हैं। राष्ट्रपति विभिन्न विभागों के क्रिया-कलापों में समन्वय उत्पन्न करता है, अन्तःविभागीय विवादों का निर्णय करता है जो इतने विशाल और उलझे हुए प्रशासन में होने अनिवार्य है। इन विवादों के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति यह करता है कि वह अलग-अलग विभागीय अध्यक्षो एव एजेन्सी अध्यक्षों (Agency Chiefs) से मिलता है; उनकी शिकायतो एवं कठिनाइयो को सुनता है और फिर मन्त्रिमण्डल को आदेश देता है कि सम्यक् समन्वय (Co-ordination) स्थापित किया जाए। इसलिए मन्त्रिमण्डलों के सम्मेलन एवं वाद-विवादों के फलस्वरूप विभागीय मतभेद और भ्रम दूर हो जाते हैं।

प्रशासनिक संगठन

(Administrative Organisation)

संवैधानिक एवं परिनियत उपबन्ध (Constitutional and Statutory Provisions)—अमेरिका का संविधान, प्रशासन की रचना के सम्बन्ध में पूर्ण मौन है। संविधान मे केवल यह लिखा है—"राष्ट्रपति प्रत्येक कार्यपालिका विभाग के मुख्य पदाधिकारी का, उसके पद के कर्त्तव्य से सम्बद्ध विषय के ऊपर लिखित रूप में

1. The American Presidency, p. 92.

Gresham) को परराष्ट्र मन्त्री (Secretary of State) नियुक्त किया, यद्यपि ऐसा समझा जाता था कि वह राष्ट्रपति पद के लिए रिपब्लिकन दल की ओर से प्रत्याशी के रूप में खड़ा होगा। थियोडोर रूजवेल्ट (Theodore Roosevelt) एवं टाफ्ट (Taft) दोनों ने युद्ध मन्त्रियों के पदों पर डेमोक्रेटिक दल के व्यक्तियों को नियुक्त किया; और राष्ट्रपति हूवर (Hoover) ने डेमोक्रेटिक दल के महान्यायवादी (Attorney General) को नियुक्त किया। इस सम्बन्ध में दो अन्य प्रसिद्ध उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं—राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने हैनरी एल० स्टिमसन (Henry L. Stimson) को युद्ध मन्त्री चुना और फ्रैंक नाक्स (Frank Knox) को १६४० में नौ-सेना मन्त्री (*Secretary of Navy*) *बनाया यद्यपि दोनों ही प्रमुख रूप से* रिपब्लिकन दल के सदस्य थे, और फ्रैंक नॉक्स तो चार वर्ष पूर्व उपराष्ट्रपति के पद के लिए अपने दल की ओर से प्रत्याशी के रूप में खड़ा किया गया था। राष्ट्रपति कैनेडी ने डीन रस्क (Dean Rusk) को परराष्ट्र विभाग का मन्त्री बनाए रखा। सर्वप्रथम उसकी नियुक्ति आइजनहावर ने जॉन फोस्टर डलेस (John Foster Dulles) की मृत्यु के बाद की थी।

जहाँ राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल का-निर्माण करता है, वह उसको अपनी इच्छा से हटा भी सकता है। यह ठीक है कि राष्ट्रपति की पसन्द पूर्ण स्वच्छन्द नहीं है जैसा बहुत से लोग अक्सर सोचते हैं। दल की आवश्यकताओं का अंकुश उसके ऊपर लगा रहता है। भौगोलिक प्रतिनिधित्व, अनुभव एवं इसी प्रकार अनेक विचारों एव प्रभावों को इस सम्बन्ध मे सामने रखना पड़ता है। विल्सन (Wilson) को बाध्य होकर ब्रायन (Bryan) को उन्हीं कारणो से परराष्ट्र मन्त्री बनाना पड़ा, जिनसे बाध्य होकर ग्लैडस्टन (Gladstone) ने १८८० में चेम्बरलेन (Chamberlain) को अपने मन्त्रिमण्डल में लिया था, और लॉर्ड पामर्सटन (Palmerston) को बाध्य होकर अपनी केबिनेट मे कौबडन (Cobdon) को लेना पड़ा था। किन्तु जहाँ विल्सन के एक बार पैर जमे कि उसने बिना किसी परेशानी उठाये ब्रायन (Bryan) को अपदस्थ कर दिया। ऐसा संयुक्त राज्य अमेरिका में ही सम्भव है क्योंकि अमेरिका मे इंग्लैण्ड की तरह मन्त्रिमण्डलीय संकट (Cabinet Crisis) की कोई सम्भावना नहीं होती। लिंकन और विल्सन जैसे शक्तिशाली राष्ट्रपतियों की बात तो दूर रही; कम प्रभुत्व वाले राष्ट्रपति भी अपनी केबिनेट के किसी सदस्य को अपदस्थ कर सकते हैं जिस प्रकार कि राष्ट्रपति आर्थर ने ब्लेन (Blaine) को अपदस्थ कर दिया, यद्यपि ब्लेन रिपब्लिकन दल का सर्वाधिक लोकप्रिय एवं सशक्त नेता था। इससे हम इसी स्पष्ट निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे केबिनेट, राष्ट्रपति के हाथों में खिलौना मात्र है।

केबिनेट की उपयोगिता (Utility of the Cabinet)—फिर भी केबिनेट का प्रभाव और महत्त्व है। आज भी अनेक राजनीतिज्ञ मन्त्रिमण्डल के सदस्य होने की उत्कट अभिलाषा रखते हैं। यद्यपि हर एक प्रशासन मे मन्त्रिमण्डल का अलग-

को दिया है उस पर राष्ट्रपति किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं लगा सकता।"[1] *किन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं है। जैसा कि वर्णन किया जा चुका है,* राष्ट्रपति समस्त प्रशासन का नायक है। उसको वियुक्त (Removal) करने का अधिकार है, और विधियों ने भी उसको महान् स्वविवेकी शक्तियाँ प्रदान की हैं जिनके बल पर उनके पास अनेक तरीके हैं और वह अपने मन की बात करा सकता है। सिद्धान्त रूप में चाहे कुछ भी कहा जाए, किन्तु राष्ट्रपति की शक्तियों का रहस्य व्यवहार में निहित है। मन्त्री चूँकि राजनीतिक पद-भोक्ता (Political Appointee) होता है अतः उससे आशा की जाती है कि वह अपने विभागीय कार्यों में अपने दल की तथा राष्ट्रपति की नीतियों का समावेश कराए।

जैसा कि पहले भी बताया गया था, विभाग का अध्यक्ष न्याय-व्यवस्थापक (Legislator) भी है, क्योंकि किसी हद तक वह अपने अधीनस्थ विभाग के सम्बन्ध में आज्ञाएँ जारी करने की स्वतन्त्रता का उपभोग करता है।

किसी विभाग का मन्त्री (Secretary) विधान निर्माण के ऊपर भी अप्रत्यक्ष रूप से *प्रभाव डाल सकता है। वह प्रतिवर्ष कांग्रेस के पास अपने विभाग के* क्रिया-कलापों के सम्बन्ध में स्पष्ट एवं निरूपित रिपोर्ट भेजता है। उसको प्रायः कांग्रेस की विविध समितियों के सम्मुख भी उपस्थित होना पड़ता है जहाँ वह कांग्रेस के समक्ष विचारार्थ उपस्थित विधान के सम्बन्ध में स्पष्ट अर्थ बता सके, मांगी हुई समस्त सूचनाएँ दे सके तथा उस सम्बन्ध में प्रश्नों का उत्तर दे सके।

इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि बहुत से विभागीय अध्यक्ष ऐसी शक्तियों का भी उपभोग करते हैं जो न्यायिक हैं। शासन के क्रिया-कलापों में अपार वृद्धि हो जाने के कारण और अधीनस्थ विधान निर्माण तथा नियमों एवं विनियमों की रचना सम्बन्धी शक्तियों के कारण यह आवश्यक समझा गया है कि कतिपय विभागीय अध्यक्षों को अधिकार दे दिया जाए कि वे अधीनस्थ निम्न प्रशासनिक विभागों से आए हुए मामलों की अपील सुनें और उन पर अपना निर्णय दें।

संघीय सरकार के कर्मचारी और योग्यता की पद्धति

(Federal Personnel and the Merit System)

दो प्रकार की नियुक्तियाँ (Two Types of Appointments)—जिन सेवकों को प्रशासनिक कर्त्तव्य करने पड़ते है, उनको दो भागों में बाँटा जा सकता है। राजनीतिक पद-भोक्तागण (Political Appointees) और वे लोग जो कार्यपालिका-सिविल-सर्विस से सम्बन्धित हैं। सेक्रेटरी (Secretaries), उप-सचिव *(Under-Secretaries), सहायक सचिव (Assistant Secretaries), ब्यूरो के प्रधान* (Bureau Chiefs), डिवीज़नों के प्रधान (Division Heads), तथा बोर्डों के एवं आयोगों के सदस्यगण (Members of the Boards and Commissions);

---

1. As quoted by Beard, Charles in American Government and Politics, op. cit. p. 233.

मत प्राप्त कर सकता है।" संविधान में यह भी लिखा है कि "विधि द्वारा कांग्रेस छोटे अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार केवल राष्ट्रपति को दे सकती है, अथवा न्यायालयों को दे सकती है अथवा विभागीय अध्यक्षों को सौंप सकती है।" इसी अस्पष्ट एवं अपुष्ट (Slender) आधार पर कांग्रेस ने विभागों, आयोगों (Commissions) एवं अन्य संघीय सत्ताओं (Authorities) की रचना की है।

इस समय सरकार की अधिशासनिक शाखा में निम्नलिखित प्रशासनिक संगठन हैं—(१) १० अधिशासनिक विभाग जिनके अध्यक्ष (डाक विभाग तथा न्याय विभाग के अतिरिक्त) सचिव है। डाक विभाग के अध्यक्ष पोस्ट मास्टर जनरल तथा न्याय विभाग के अध्यक्ष अटार्नी जनरल है, (२) अधिशासनिक एजेंसियाँ जिनके प्रधान प्रशासक हैं; (३) बोर्ड और आयोग। ये दो प्रकार के होते हैं—नियामक और अ-नियामक तथा परामर्शक; (४) सरकारी निगम।

विभागों का संगठन (Organisation of the Departments)—प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष एक सेक्रेटरी अथवा मन्त्री (Secretary) है किन्तु जैसा कि हम कह चुके है, पोस्ट आफिस विभाग का अध्यक्ष पोस्ट मास्टर जनरल कहलाता है और न्याय विभाग का अध्यक्ष महान्यायवादी (Attorney General) कहलाता है। ये मन्त्रिगण मन्त्रिमण्डल (Cabinet) के भी सदस्य होते हैं और इस प्रकार वे सीधे राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी हैं। ये मन्त्री मुख्य रूप से राजनीतिक अधिकारी हैं जो व्हाइट हाउस (White House) में अधिकारारूढ़ पक्ष (Party in Power) की नीति अभिव्यक्त करते हैं। यदि राष्ट्रपति विरोधी दल में से भी कोई मन्त्री चुन लेता है, तो वह ऐसा व्यक्ति होता है जो राष्ट्रपति का मित्र हो और उनकी नीति के प्रति मित्र-भाव रखता हो। सचिव के नीचे अवर सचिव और सहायक सचिव होते है। इन विभागों को कार्य-संचालन मे सुविधा की दृष्टि से ब्यूरो, डिवीजन आफिस और सर्विसों मे बाँट दिया जाता है।

सचिव के अधिकार और कर्त्तव्य (Their Powers and Duties)—विभागीय अध्यक्ष की शक्तियों एवं कर्त्तव्यों की व्याख्या करते हुए भूतपूर्व अर्थमन्त्री जॉन शेरमन (John Sherman) ने कहा था, "संविधान और विधियों ने राष्ट्रपति को महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्रदान की हैं किन्तु इसी प्रकार विधि ने विभागीय अध्यक्षों को भी वे शक्तियाँ एवं अधिकार प्रदान किए है। जो शक्तियाँ विधि ने विभागीय अध्यक्षों को सौंपी है उन पर राष्ट्रपति उसी प्रकार नियन्त्रण नहीं रख सकता जिस प्रकार विभागीय अध्यक्ष राष्ट्रपति के ऊपर उसके कर्त्तव्यों के निर्वहन के सम्बन्ध मे कोई नियन्त्रण नही लगा सकते। यदि कोई विभागीय अध्यक्ष अपने कार्यों से जी चुराता है तो उसको या तो राष्ट्रपति वियुक्त (Remove) कर सकता है अथवा उसको सार्वजनिक दोषारोपण के द्वारा भी हटाया जा सकता है। किन्तु विधि ने जो स्वविवेक अधिकार (Discretion) शासन के विभागीय अध्यक्ष अथवा अधीन कर्मचारी वर्ग

को दिया है उस पर राष्ट्रपति किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं लगा सकता।"[1] किन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं है। जैसा कि वर्णन किया जा चुका है, राष्ट्रपति समस्त प्रशासन का सचालक है। उसको वियुक्त (Removal) करने का अधिकार है, और विधियों ने भी उसको महान् स्वविवेकी शक्तियां प्रदान की हैं जिनके बल पर उनके पास अनेक तरीके हैं और यह अपने मन की बात करा सकता है। सिद्धान्त रूप में चाहे कुछ भी कहा जाए, किन्तु राष्ट्रपति की शक्तियों का रहस्य व्यवहार में निहित है। मन्त्री चूंकि राजनीतिक पद-भोक्ता (Political Appointee) होता है अतः उससे आशा की जाती है कि वह अपने विभागीय कार्यों में अपने दल की तथा राष्ट्रपति की नीतियों का समावेश कराए।

जैसा कि पहले भी बताया गया था, विभाग का अध्यक्ष न्याय-व्यवस्थापक (Legislator) भी है, क्योंकि किसी हद तक वह अपने अधीनस्थ विभाग के सम्बन्ध में आज्ञाएं जारी करने की स्वतन्त्रता का उपभोग करता है।

किसी विभाग का मन्त्री (Secretary) विधान निर्माण के ऊपर भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाल सकता है। वह प्रतिवर्ष कांग्रेस के पास अपने विभाग के क्रिया-कलापों के सम्बन्ध में स्पष्ट एवं निरूपित रिपोर्ट भेजता है। उसको प्रायः कांग्रेस की विविध समितियों के सम्मुख भी उपस्थित होना पड़ता है जहां वह कांग्रेस के समक्ष विचारार्थ उपस्थित विधान के सम्बन्ध में स्पष्ट अर्थ बता सके, मांगी हुई समस्त सूचनाएं दे सके तथा उस सम्बन्ध में प्रश्नों का उत्तर दे सके।

इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि बहुत से विभागीय अध्यक्ष ऐसी शक्तियों का भी उपभोग करते हैं जो न्यायिक हैं। शासन के क्रिया-कलापों में अपार वृद्धि हो जाने के कारण और अधीनस्थ विधान निर्माण तथा नियमों एवं विनियमों की रचना सम्बन्धी शक्तियों के कारण यह आवश्यक समझा गया है कि कतिपय विभागीय अध्यक्षों को अधिकार दे दिया जाए कि वे अधीनस्थ निम्न प्रशासनिक विभागों से आए हुए मामलों की अपील सुनें और उन पर अपना निर्णय दें।

संघीय सरकार के कर्मचारी और योग्यता की पद्धति

(Federal Personnel and the Merit System)

दो प्रकार की नियुक्तियां (Two Types of Appointments)—जिन सेवकों को प्रशासनिक कर्त्तव्य करने पड़ते हैं, उनको दो भागों में बांटा जा सकता है। राजनीतिक पद-भोक्तागण (Political Appointees) और वे लोग जो कार्य-पालिका-सिविल-सर्विस से सम्बन्धित हैं। सेक्रेटरी (Secretaries), उप-सचिव (Under-Secretaries), सहायक सचिव (Assistant Secretaries), ब्यूरो के प्रधान (Bureau Chiefs), डिवीज़नों के प्रधान (Division Heads), तथा बोर्डों के तथा आयोगों के सदस्यगण (Members of the Boards and Commissions);

1. As quoted by Beard, Charles in American Government and Politics, op. cit. p. 233.

इनकी गिनती उन २½ मिलियन अथवा २५ लाख स्त्री और पुरुषों में थोड़ी ही है जो राष्ट्रीय शासन में विभिन्न सिविल (Civil) पदों पर कार्य करते हैं। इतने अधिक कर्मचारियों का प्रबन्ध करना बहुत बड़ी समस्या है।

स्पॉइल्स सिस्टम (The Spoils System)—एक पीढ़ी से भी अधिक काल तक प्रशासनिक अधिकारों एवं सेवकों का चुनाव एवं उनकी नियुक्तियाँ योग्यता के आधार पर उसी परम्परा के अनुसार होती रही जो राष्ट्रपति वाशिंगटन ने स्थापित की थी। किन्तु राजनीतिक दलो के विकास के साथ जब कोई स्थान रिक्त होता था अथवा जब कोई नये पदों का सृजन होता था तो उसके लिए नियुक्ति करते समय राजनीतिक विचारों को विशेष महत्त्व दिया जाता था, योग्यता को कम। किन्तु इन विचारो का प्रभाव केवल इन्ही २५ प्रतिशत सेवको की नियुक्तियों पर पड़ता था जो सीधे राष्ट्रपति के नियन्त्रण में थीं। दलगत निष्ठा के कारण बहुत अधिक लोगों को वियुक्त भी नहीं किया गया। हाँ, राष्ट्रपति जेफरसन (Jefferson) के राष्ट्रपति शासन-काल के प्रथम दो वर्षों में थोड़े से व्यक्ति अलग किए गए थे। किन्तु १७८९ से १८२९ तक का काल 'सुयोग्य प्रशासन का काल' (Period of Relative Administrative Efficiency) कहा जाता है।

किन्तु ज्योंही एण्ड्रू जैक्सन राष्ट्रपति हुआ, नियुक्तियो के सम्बन्ध में समस्त सिद्धान्त एवं समस्त व्यवहार बदल गए। नये राष्ट्रपति ने ४ मार्च, १८२९ को अपना पद सँभाला तो उसने पाया कि अनेक राष्ट्रीय महत्त्व के पदों पर राजनीतिक विरोधी दल के सदस्य अधिकार किए बैठे हैं। उसी वर्ष के दिसम्बर में कांग्रेस को भेजे गए अपने प्रथम सन्देश मे एण्ड्रू जैक्सन ने सिफारिश की कि नियुक्तियाँ चार वर्ष की अवधि से अधिक के लिए न की जाएँ। प्रो० ऑग (Prof. Ogg) के अनुसार, "१८२० के पदावधि अधिनियम (The Tenure of Office Act of 1820) ने स्पॉइल्स सिस्टम (Spoils System) के लिए मार्ग साफ कर दिया क्योंकि इसके द्वारा जिला न्यायवादी अधिकारियों तथा सीमा शुल्क अधिकारियो (District Attorneys and Collectors of Customs) के लिए एवं अन्य प्रकार के अधिकारियों के लिए चार वर्ष की पदावधि निश्चित हो गई; जिसके द्वारा प्रत्येक राष्ट्रपति को बहुत से नये पदों पर नियुक्तियाँ करने का अवसर मिल गया और अब यह कारण ज्ञात करने की आवश्यकता नही रह गई थी कि उन्ही पदो पर से योग्य पदाधिकारियों को क्यों हटाया जा रहा है।"[1]

अपने प्रथम वार्षिक सन्देश में राष्ट्रपति एण्ड्रू जैक्सन ने कांग्रेस के सम्मुख चार कर्त्तव्य निर्देश किए : प्रथमतः, कोई भी साधारण योग्यता एवं परिश्रमशीलता का व्यक्ति किसी भी सार्वजनिक पद के कर्त्तव्य-निर्वहन के योग्य हो सकता है; द्वितीयतः, प्रजातन्त्र के सिद्धान्त इस बात के पक्ष मे हैं कि नियुक्तियाँ बारी-बारी से (by rotation) हों; तृतीयतः, जो पदाधिकारी बड़े लम्बे समय तक अपने पद पर बने रहते है वे अधिकार की चेतना (Sense of power) के कारण दूषित हो जाते हैं, जो

1. Essentials of American Government, p. 322.

स्थिति प्रजातन्त्र के लिए बड़ी भयप्रद है। ऐसे व्यक्तियों के अनुभव से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है; चतुर्थतः, नए चुने हुए अधिकारियों द्वारा दल के व्यक्तियों की नियुक्तियाँ प्रजातन्त्र को उत्साहित करती है। "नए राष्ट्रपति ने विरोधी अधिकारियों को एक दम ही नही अलग कर दिया। फिर भी समस्त नई नियुक्तियों पर अपने दल के ही व्यक्ति लिए गए और इसके अतिरिक्त अपनी पदावधि के प्रथम वर्ष मे ही उसने ७०० के लगभग अधिकारी नियुक्त कर दिए। इससे पूर्व कभी इतनी सख्या मे अधिकारी एक ही वर्ष में नहीं निकाले गए थे।"

राष्ट्रपति जैक्सन के लिए प्राय: यह चुटकुला (Epigram) कहा जाता है : जीतने वाले की लूट-खसोट माफ (To the Victors belong the Spoils)। *यह चुटकुला सीनेट सदस्य विलियम एल० मरसी (William L. Mercy) ने १८३२* मे प्रयुक्त किया था; किन्तु ज्योंही यह चुटकुला मरसी (Mercy) के मुँह से निकला कि सभी की जबानों पर यही चुटकुला रहने लगा। इस चुटकुले ने जैक्सन के समर्थकों के दृष्टिकोण को सब की निगाहो मे नीचा कर दिया। और अब निश्चित रूप से "नई *नियुक्तियाँ तथा वियुक्तियाँ (Removals) राष्ट्र में, राज्य में एवं नगर में दलगत* निष्ठा के आधार पर होने लगी थी और यह व्यवस्था लगभग मान्य-सी हो चली थी।" १८२६ से लेकर गृह-युद्ध की समाप्ति तक स्पॉइल्स सिस्टम (Spoils System) खूब फला-फूला। पदों के भ्रष्टाचार (Jobspoils) के साथ-साथ अन्य भ्रष्टाचार भी फैले, जैसे ठेके (Contracts), रिश्वतखोरी (Grafts) आदि-आदि। गृह-युद्ध के काल मे लोकमत, स्पॉइल्स सिस्टम (Spoils System) से संबन्धित कुछ उग्रतम भ्रष्टाचारों के विरुद्ध हो गया और जब एक निराश पदसाधक (Office Seeker) के हाथों राष्ट्रपति गारफील्ड की हत्या हो गई, तो इससे लोकमत इतना उभरा जितना कि स्पॉइल्स सिस्टम की बुराइयो के कारण पहले कभी नही उभरा था। यद्यपि स्पॉइल्स सिस्टम (Spoils System) पूरी तरह से अब भी नष्ट नहीं हुआ है,[1] फिर भी इस दिशा मे गृह-युद्ध के बाद बीस वर्षों में महत्त्वपूर्ण सुधारों का प्रस्ताव हुआ और वे स्वीकृत हो गए।

सिविल सर्विस में सुधार (Civil Service Reform)—गृह-युद्ध के पूर्व [illegible] कुछ सुधारवादी विभागो ने प्रयत्न किया था कि नौकरी के [illegible] पर नियुक्त करने के लिए परीक्षा का सहारा लिया जाय। [illegible] तथा १८५५ के तत्सम्बन्धी अधिनियमो ने निश्चित किया कि लिपिक [illegible] (Clerks) [illegible] श्रेणियाँ होंगी और उन सबके लिए वेतन-क्रम निर्धारित [illegible]। किन्तु [illegible] से भी इस दिशा मे पर्याप्त लाभ नही हुआ। राष्ट्रपति [illegible] १८७१ मे कांग्रेस के एक अधिनियम के द्वारा राष्ट्रीय सिविल [illegible] (National Civil Service Commission) [illegible]

1. आज भी कुछ पद योग्यता के आधार पर [illegible] उनको पर्याप्त योग्यता वाले कार्य-साधक नहीं मिल रहे हैं [illegible] से क्षमा कर दिया गया।

इच्छित पद के योग्य योग्यता जांचने के लिए एक प्रतियोगी परीक्षा की विस्तृत व्यवस्था की। १८७२ मे प्रथम प्रतियोगी परीक्षा (Competitive Examination) हुई किन्तु नियुक्तियो के अभाव में अथवा उपयुक्त प्रत्याशियो के अभाव में (Lack of Appropriate Candidates) राष्ट्रपति को बाध्य होकर १८७५ में यह व्यवस्था त्यागनी पड़ी।

जुलाई १८८१ में राष्ट्रपति गारफील्ड की हत्या कर दी गई। इसके कारण १८८३ मे पेंण्डिलटन अधिनियम (Pendleton Act of 1883) पास किया गया। यही अधिनियम अब भी वह मौलिक विधि है जिसके आधार पर समस्त अधिशासी सिविल सर्विस (Executive Civil Service) के लिए नियुक्तियां की जाती है। इस अधिनियम ने उपबन्धित किया है कि तीन सदस्यों का एक सिविल सर्विस आयोग (Civil Service Commission) होगा जिसमें एक दल के दो सदस्यो से अधिक न होंगे और जिसकी नियुक्ति सीनेट के अनुमोदन सहित राष्ट्रपति करेगा। यह कमीशन प्रतियोगी परीक्षा द्वारा नियुक्तियां करेगा। राजनीतिक निष्ठा के कारण किसी के साथ भेद-भाव नही बरता जाएगा। इस अधिनियम ने राष्ट्रीय सरकार के कर्मचारियो की सेवाओं को दो वर्गों मे विभक्त कर दिया है : (१) अवर्गीकृत सेवाएँ (Unclassified Service)। (२) वर्गीकृत सेवाएँ (Classified Service)। यद्यपि नियुक्तियां अब भी राष्ट्रपति या विभागीय अध्यक्ष ही करते है किन्तु श्रेणिबद्ध सेवाओं के लिए नियुक्ति केवल उन्ही प्रत्याशियों मे से किसी की हो सकती है जो कमीशन की सफल प्रत्याशियों की सूची में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते है। इसके अतिरिक्त वर्गीकृत कर्मचारियों के लिए राजनीति मे सक्रिय भाग लेने के लिये मनाही है। पर साथ ही उनकी नौकरियों पर राजनीतिक गति विधि का प्रभाव नही पड़ने दिया जाता है।

प्रारम्भ में यह सुधार सुदूरगामी नही था और इसका प्रभाव १४,००० पदो से अधिक पर नही पड़ा। किन्तु शताब्दी के अंत तक प्रभावित पदसेवियो की संख्या मे पर्याप्त वृद्धि हो गई और १९३७ तक तो समस्त पदों में से ६० प्रतिशत से अधिक पद सिविल सर्विस कमीशन के क्षेत्राधिकार में आ गए। रैम्सपैक ऐक्ट (Ramspeck Act) के अनुसार, जो पहली जनवरी, १९४२ से प्रभावी हुआ, बहुत से न्यू डील (New Deal) के पद भी जो अब तक योग्यता के आधार (Merit System) से अलग थे, अब सिविल सर्विस कमीशन के अधिकार-क्षेत्र मे आ गए। इसका प्रभाव लगभग १,००,००० पदो से अधिक पर पड़ा।[1] उस समय सिविल सर्विस कमीशन के सभापति ने घोषणा की कि राष्ट्रीय सरकार ने सेवकों मे से ८० प्रतिशत से अधिक सेवको के पद प्रतियोगिता के आधार पर भरे हैं।

सिविल सर्विस सुधारवादी संघ (Civil Service Reform League) ने १९३७ में स्पष्ट कहा था कि इस दिशा में सुधार करने के प्रयत्नों में कांग्रेस अड़गा

---

1. Ogg, F. A. and Ray, P. O. : Essentials of American Government, p. 325.

लगाती है। उस संघ ने आगे कहा कि जब कभी कांग्रेस ने अतिरिक्त पदों के सृजन करने की वैधिक आज्ञा प्रदान की है, तो कभी उन पदों को वर्गीकृत पद घोषित नहीं किया है। ऐसे उदाहरण उस समय अति स्पष्ट प्रतीत होते थे जब कोई दल बहुत दिनों अधिकारशून्य रहने के बाद अकस्मात् कांग्रेस में अधिकार-युक्त हो जाता था। उदाहरण-स्वरूप जब १८८५, १९१३ और १९३३ मे डेमोक्रेटिक दल सत्तारूढ़ हुआ; अथवा जब १८९७ और १९०१ मे रिपब्लिकन दल सत्तारूढ़ हुआ था।[1] १९३६ में रूज़वेल्ट राष्ट्रपति बना और उसके बाद उसकी न्यू डील (New Deal) नीति ने योग्यता प्रतियोगिता (Merit System) को गहरा आघात पहुँचाया। १२ वर्ष की अधिकार-शून्य अवधि के बाद डेमोक्रेटिक दल सत्तारूढ़ हुआ था, "और उस दल के सभी आम व खास व्यक्ति (Rank and File) पदों के भूखे थे।" आर्थिक पुनरुद्धार से सम्बन्धित बहुत-सी नई एजेन्सियो के कार्यालय (Agencies) खुले। इसके फलस्वरूप अनेकानेक नये पद सर्जित हुए। उन नये पदों में से अधिकतर पदों को कांग्रेस ने नये प्रत्याशियों के लिए योग्यता-प्रतियोगिता की शर्त से मुक्त कर दिया, और इस प्रकार स्पॉइल्स प्रथा (Spoils System) के लिए मार्ग साफ कर दिया। राष्ट्रपति ने अपनी प्रथम आज्ञा में, जैसा कि अभिलेख से ज्ञात होता है, वर्गीकृत सेवाओं मे से ऐसी सेवाओ को निकाल लिया जैसे विदेशी एवं गृह वाणिज्य के ब्यूरो कार्यालयों से सम्बन्धित सेवाएँ (Bureau of Foreign and Domestic Commerce) जिनको रूज़वेल्ट के पूर्ववर्ती राष्ट्रपतियों ने वर्गीकृत सेवाओ में स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार बहुत से पदों को परिनियमों (Statutes) द्वारा योग्यता-प्रतियोगिता से छूट मिल गई और बहुत से पुराने पदों पर स्पाइल्स प्रथा (Spoils System) के आक्रमण हुए जिनके कारण समस्त सेवाओ की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ा। १९३६ के मध्य में समस्त सेवाओं में योग्यता-प्रतियोगिता के आधार पर पूर्त्त होने वाली सेवाओं का अनुपात केवल ६० प्रतिशत रह गया था।

किन्तु फिर सुधारों के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। १९३७ में राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत प्रशासनिक प्रबन्ध पर सिफारिश करने वाली समिति ने सिफारिश की कि योग्यता-प्रतियोगिता सेवाएँ न केवल उच्च पदों के लिए आवश्यक कर दी जाएँ बल्कि छोटे पदो के लिए भी योग्यता-प्रतियोगि । (Merit System) आवश्यक हो जाए ताकि दक्षता प्राप्त (Skilled) कार्यकर्त्ता एवं श्रमिक वर्ग भी वर्गीकृत सेवाओं में मान लिए जाएँ। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी कांग्रेस को बलपूर्वक कहा कि सिवाय कुछ थोड़े से नीति-निर्णायक पदों के अन्य सभी पदो पर योग्यता-प्रतियोगिता के आधार पर नियुक्तियाँ हों। १९३८ में राष्ट्रपति ने न्यू डील (New Deal) सम्बंधी उन सभी पदों को जो नीति-निर्धारण से सम्बन्ध नहीं रखते थे, वर्गीकृत सेवाओं (Classified Service) में मान लिया। बाकी सब कमी रैम्सपैक अधिनियम (Ramspeck Act) ने पूरी कर दी। इस अधिनियम ने राष्ट्रपति को अधिकार प्रदान किया कि वह अपने विवेकानुसार सभी पदों को वर्गीकृत सेवाओं मे सम्मि

2. Ibid, p. 325.

कर सकता है, केवल उन पदों को छोड़ते हुए जिन पर राष्ट्रपति को सीनेट के अनुमोदन सहित सीधे नियुक्ति करने का अधिकार है तथा कुछ अन्य ऐसे पदों को छोड़ते हुए जिनमें किसी एक विशिष्ट योग्यता व कला की आवश्यकता रहती है। १९५१ में, जिस वर्ष के प्रामाणिक आँकड़े भी प्राप्त हैं, ऐसी सेवाएँ जो योग्यता-प्रतियोगिता के आधार पर चुनी जाती थीं समस्त सेवाओं के अनुपात में ९२ प्रतिशत थीं। जब १९५३ में आइजनहावर राष्ट्रपति बने थे, केवल १७,३८२ पद ही संरक्षण के लिए थे। शेष २,५००,००० पद योग्यता के आधार पर थे। इस प्रकार, अब अमेरिकी शासन में योग्यता का सिद्धान्त ही अन्तर्भावी है।

Suggested Readings

Beard, C. A. : *American Government and Politics* (1947), Chap. X.

Brogan, D. W. : *The American Political System* (1948), Chap. II.

Corwin, E. S. : *The President : Office and Powers* (1948), Chaps. III and IV.

Ferguson, J. H. and M.C. Henry, D. E. : *The American System of Government* (1950), Chaps. XXI and XXII.

Greaves, W. B. : *Public Administration in Democratic Society* (1950), Chaps. VIII—XIV.

Hyman, S. : *The American President* (1954), Chap. XIII.

Laski, H. J. : *The American Presidency* (1952), Chaps. I and IV.

Marx, F. M. (Ed.) : "*Federal Executive Reorganisation—A Symposium*", *American Political Science Review*, XL pp. 1124-1168 (Dec. 1946), XLI pp. 48-84 (Feb. 1947).

Ogg, F. A. and Ray, P. O. : *Essentials of American Governnment* (1952), Chaps. XIX, XXI and XXII.

Swarthout, John M. and Bartley Earnest R. : *Principles and Problems of American National Government*, Chaps. XVI, XVII.

White, L. D. : *Introduction to the Study of Public Administration* (1949), Chaps. XXII—XXXI.

अध्याय ५

कांग्रेस : संगठन एवं संरचना

(Congress: Strucure and Com po sition)

कांग्रेस के कर्त्तव्य (Role of Congress)—संविधान का प्रथम अनुच्छेद शासन के व्यवस्थापक भाग की रचना की आज्ञा देता है जिसका नाम है "संयुक्त राज्य अमेरिका की कांग्रेस" और वह समस्त विधायिनी शक्तियाँ कांग्रेस मे विनियोजित करता है। इस प्रकार कांग्रेस द्वारा पारित अधिनियम देश की सर्वोच्च विधि है। संविधान के निर्माता यह नही चाहते थे कि कांग्रेस को इतनी बढ़ी-चढ़ी शक्तियाँ प्रदान की जाएँ। शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त के कारण जो कि अमेरिकी सविधान का आधार है, शासन के किसी एक विभाग को इतनी शक्तियाँ देना उचित भी नहीं था। फिर भी, कांग्रेस की शक्ति के सम्बन्ध मे सन्देह की गुंजाइश नही है।

द्विसदनात्मक कांग्रेस (Congress is Bicameral)—फिलैडेलफ़िया प्रसभा (Philadelphia Convention) के सदस्यों में इस सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं था कि राष्ट्र की व्यवस्थापिका सभा के दो सदन होने चाहिएँ। जिन कारणोंवश द्विसदनात्मक कांग्रेस स्वीकार की गई, वे उस महान् समझौते (Great Compromise) में निहित हैं एवं उसके प्रतिफल हैं, और सम्भवत: उसके बिना संघ की स्थापना ही नहीं हो पाती। प्रसंधान (Confederation) के अनुच्छेदों के अनुसार समस्त राज्य समान स्तर के थे। वे नए प्रशासनिक ढांचे को स्वीकार ही न करते जब तक कि व्यवस्थापिका के एक भाग में उनका पुराना स्तर स्वीकृत न हो जाता; और जिसमें कि वे संघटक राजनीतिक एकक (Constituent Political Units) के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार न किए जाते। इसके विपरीत, बड़े-बड़े राज्य जिन्होंने संघ में संघटित होने का प्रयत्न प्रारम्भ किया था, किसी व्यवस्था को उस समय तक स्वीकार न करते *जब तक कि उनको उनकी अधिक जनसंख्या के आधार पर उचित* आनुपातिक प्रतिनिधित्व न प्राप्त होता। अत: कांग्रेस का निर्माण करने में दो विचार सम्मुख रखे गए—एक तो सभी राज्यों को राजनीतिक एकक मान लिया गया; और दूसरे जनसंख्या के आधार पर भी कांग्रेस की संरचना हुई। इस प्रकार, सीनेट की रचना राज्यों को एकक मानकर की गई, तथा प्रतिनिधि सदन की रचना जनसंख्या के आधार पर की गई। सीनेट का आकार छोटा रखा गया, इसके सदस्यों की पदावधि लम्बे समय तक के लिए रखी गई और इसका चुनाव दूसरी विधि से रखा गया, जिसमें अधिक आयु तथा अधिक लम्बे संवास की योग्यताएँ एवं अर्हताएँ रखी गईं। सीनेट को कुछ निश्चित अधिकार प्रदान किए गए, जिस प्रकार नियुक्तियों में कुछ

अधिकार, सन्धियाँ करने में अधिकार एवं न्यायिक शक्तियों के उपभोग में अधिकार किन्तु वे अधिकार प्रतिनिधि सदन को प्रदान नही किए गए।

प्रतिनिधि सदन
(The House of Representatives)

सरचना एवं सगठन (Composition and Organisation)—संविधान मे इस सम्बन्ध मे कुछ नही कहा गया है कि प्रतिनिधियो की संख्या कितनी होनी चाहिए; वह तो अनुच्छेद १, खण्ड २ में केवल इतना ही आदेश देता है कि प्रत्येक तीस हजार व्यक्तियों के लिए एक प्रतिनिधि से अधिक नही होगा,[1] और उसने यह भी कहा है कि प्रत्येक राज्य का कम-से-कम एक प्रतिनिधि अवश्य होगा चाहे उसकी जनसंख्या कितनी ही कम क्यों न हो।[2] संविधान ने यह भी उपबन्धित किया है कि चुनाव, लोगों द्वारा प्रति दूसरे वर्ष हुआ करेगा।[3] संविधान मे यह भी कहा गया है कि किस समय या समयों पर, किन स्थानों पर एवं किस प्रकार चुनाव हुआ करेगा, इसको प्रत्येक राज्य के विधानमण्डल स्वयं निश्चित करेगे किन्तु कांग्रेस किसी भी समय विधि द्वारा इस सम्बन्ध मे आवश्यक नियम बना सकती है अथवा पुराने नियमों में परिवर्तन कर सकती है।[4]

प्रथम प्रतिनिधि सदन में ६५ सदस्य थे और १९६४ में इसकी प्रतिनिधि-संख्या ४३५ थी। हाँ, यदि कांग्रेस चाहे तो विधि द्वारा प्रतिनिधियो की समस्त संख्या मे परिवर्तन हो सकता है। प्रतिनिधि सदन के प्रतिनिधि के लिए निम्नलिखित आवश्यक अर्हताएँ होनी चाहिए: उसकी अवस्था २५ वर्ष से कम की नहीं होनी चाहिए, वह कम-से-कम सात वर्षों से अमेरिका का नागरिक रहा हो; यह भी आवश्यक है कि वह जिस निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता हो, उसका निवासी हो। प्रथा ने प्रतिनिधि के निवास स्थान के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण अर्हता प्रतिपादित कर दी है। संविधान तो केवल वैधिक न्यायानुसार उस राज्य में निवास चाहता है, किन्तु अब प्रथा के अनुसार उसका अर्थ यह लिया जाता है कि वह प्रतिनिधि उसी निर्वाचन-क्षेत्र (Congressional District) का आवश्यक रूप से निवासी हो। निवास-स्थान सम्बन्धी नियम का प्रथा के अनुसार कम-से-कम प्राविधिक दृष्टि से पूरा पालन किया जाता है। इस सम्बन्ध में कोई रियायत नही की जाती। सोल ब्लूम (*Sol Bloom*) की मृत्यु के कारण न्यूयार्क निर्वाचन-क्षेत्र से कांग्रेस के रिक्त स्थान के लिए चुनाव लड़ने का फ़ैसला करने के कारण फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट जू० (*Franklin D. Roosevelt Jr.*) को उस निर्वाचन-क्षेत्र में एक मकान किराये पर लेना पड़ा था और घोषणा करनी पड़ी थी कि वह स्थान उसका कानूनी रहने का स्थान है।

---

1. अनुच्छेद १, खण्ड २।
2. अनुच्छेद १, खण्ड २।
3. अनुच्छेद १, खण्ड २।
4. अनुच्छेद १, खण्ड ४।

निर्योग्यताएँ (Disqualifications)—संविधान ने कुछ निर्योग्यताएँ भी उपबन्धित की हैं। संविधान आज्ञा देता है कि कोई व्यक्ति संयुक्त राज्य की सेवा में रहते हुए कांग्रेस के किसी भी सदन का सदस्य उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि वह उस पद पर बना हुआ है। इस उपबन्ध को स्वीकृत करने में यह उद्देश्य था कि जहाँ तक सम्भव हो सके, कार्यपालिका विभाग को व्यवस्थापिका विभाग से अलग रखा जाए।[1] द्वितीयत: यह भी चाहा गया था कि कोई भी सीनेट अथवा प्रतिनिधि सदन का सदस्य अपने सदस्यता काल में किसी ऐसे सार्वजनिक पद (Civil Office) पर नियुक्त न किया जाए जो उसी काल में बनाया जाए अथवा जिस पद का वेतन उसी सदस्यता काल में वह सदस्य अपने व्यवस्थापिका सदस्यता-प्रभाव के कारण बढ़वा ले।[2] इस उपबन्ध का उद्देश्य यही है कि कांग्रेस नए पदों का सृजन न करे अथवा वर्तमान पदों का वेतन उन सदस्यों के स्वार्थ लाभ के लिए न बढ़ावे जो उन पदों पर अपनी नियुक्तियों के इच्छुक हों।

सत्र (Sessions)—१९३३ में बीसवें संशोधन के स्वीकृत किए जाने से पूर्व प्रतिनिधियों की सदस्यता-अवधि चुनाव सम्पन्न हो चुकने के उपरान्त ४ मार्च को प्रारम्भ होती थी यद्यपि वे लोग अगले दिसम्बर तक सत्र के रूप में एकत्र नहीं होते थे। हाँ, यदि विशेष सत्र आहूत किया जाता था, तो वे दिसम्बर से पहले भी एकत्र हो सकते थे।[3] ऐसी स्थिति में पुरानी कांग्रेस अपने पद पर बनी रहती थी और चार महीने तक काम चलाती रहती थी। यद्यपि उस समय से पूर्व ही नई कांग्रेस का चुनाव सम्पन्न हो चुकता था। इस प्रकार चुनाव में हारे हुए बहुत से सदस्य भी अपने निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए विधि निर्माण करते रहते थे यद्यपि उन निर्वाचन-क्षेत्रों ने उन सदस्यों को दुबारा चुनाव के लिए उपयुक्त नहीं समझा था। इन हारे हुए सदस्यों को प्राय: लंगड़ी बतख (Lame Ducks) कहा जाता था। बीसवें संशोधन ने ऐसी स्थिति में निहित बुराइयों को समझा और अब कांग्रेस के लिए यह आवश्यक है कि वह वर्ष में कम-से-कम एक बार सम्मिलित हो और ३ जनवरी की दोपहर को अवश्य सम्मिलित हो या यदि कांग्रेस इस तिथि के बजाय कोई अन्य दिन निश्चित करे तो उस दिन सम्मिलित हो। इस प्रकार कांग्रेस के सदस्य जो नवम्बर में चुने जाते हैं, प्राय: दो महीने बाद अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं।

विशेष सत्र (Special Sessions)—राष्ट्रपति चाहे तो किसी एक सदन का अथवा दोनों सदनों का विशेष सत्र आहूत कर सकता है। विशेषकर सीनेट को नियुक्तियों के अनुमोदन के लिए अथवा संधि को प्रमाणित करने के लिए विशेष सत्र के रूप में आहूत किया जाता है। नियमत:, राष्ट्रपति, कांग्रेस के विशेष सत्र को किसी राष्ट्रीय महत्त्व के कार्य के लिए ही बुलाता है, और ऐसी स्थिति में प्राय:

---

1. अनुच्छेद १, खण्ड ६, धारा २।
2. अनुच्छेद १, खण्ड ६, धारा २।
3. अनुच्छेद १, खण्ड ४, धारा २।

१६१०-११ का विद्रोह (The Revolution of 1910-11)—१६१०-११ के विद्रोह के पूर्व, जो सदन के सभापति के विरुद्ध हुआ था, सभापति ही सब स्थायी समितियों (Standing Committees) एवं प्रवर समितियों (Select Committees) को नियुक्त करता था, और इन समितियों में वे ही सदस्य नियुक्त किए जाते थे, जो सभापति की इच्छा के इशारे पर चलने वाले समझे जाते थे। चूँकि विधान निर्माण वास्तव मे समितियो का ही काम है, इस पर विधान तैयार करने में सभापति को वास्तविक शक्तियाँ प्राप्त थी। नियम-समिति (Rules Committee) का भी सभापति होने के नाते वह उन्ही विधायी नियमों (Measures) को विचारार्थ सूची में सम्मिलित करता था जिनको वह पास कराना चाहता था। इसके अतिरिक्त १६१० तक उसको स्वीकृति (Recognition) का अधिकार था जिसके अनुसार वह किसी विषय पर वाद-विवाद की अनुमति दे भी सकता था, और नहीं भी दे सकता था। इस अधिकार के फलस्वरूप सभापति प्राय: उन विधायी नियमों पर वाद-विवाद की आज्ञा नही देता था जिन पर उसका विरोध होता था अथवा जिन विषयों पर अल्पमत-दल के सदस्य वाद-विवाद चाहते थे, उस वाद-विवाद को सीमित कर देता था।

जब बार-बार सभापति ने सदस्यों के वाद-विवाद सम्बन्धी अधिकार पर निषेधाधिकार का प्रयोग किया, और उसी के साथ पहले से ही अपने कमरे में जाना और वहाँ सलाह-मशविरा करके वाद-विवाद की स्वीकृति प्रदान करना जारी रखा; तब इस सबके फलस्वरूप १६१० में सभापति कैनन के व्यवहार (Cannonism)[1] के विरुद्ध विद्रोह हुआ, जिसका नेतृत्व रिपब्लिकन दल के एक पक्ष ने किया जिनको विद्रोहियों (Insurgents) की संज्ञा प्रदान की गई। डेमोक्रेटिक दल वालों ने उसका समर्थन किया। डेमोक्रेटिक दल के अल्पमत नेताओं और प्रगतिशील रिपब्लिकन विद्रोहियों (Progressive Republican Insurgents) के सहयोग के फलस्वरूप वाद-विवाद के नियमों में कई संशोधन स्वीकृत हुए। नियम समिति में से सभापति को हटा दिया गया और समस्त स्थायी समितियों के चुनाव का अधिकार प्रतिनिधि सदन को ही दे दिया गया। सभापति से उसका स्वीकृति का अधिकार (Power of Recognition) भी छीन लिया गया जिसके विरुद्ध लोगों को विशेष शिकायत थी। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सभापति की शक्तियों को इतना गहरा आघात पहुंचा कि अब उस पद का उतना रौब-दाब नहीं रह गया है।

प्रतिनिधि सदन के सभापति के आधुनिक कर्त्तव्य (Present Functions of the Speaker)—फिर भी, सभापति अब भी सदन में गौरवयुक्त स्थिति का उपभोग करता है, तथा इस पद के अधीन अनेक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य हैं। वह सदन की बैठकों (Sittings) का सभापतित्व करता है, सदन की कार्यवाही को नियमित एवं व्यवस्थित करता है और साथ ही सदन की सुव्यवस्था और गौरव-गरिमा बनाए रखता

1. Joseph G. Cannon was Speaker in 1903-1910.

अपना उद्देश्य काफी समय पूर्व ही प्रकट कर देता है ताकि कांग्रेस तथा देश का ध्यान सम्बन्धित राष्ट्रीय उद्देश्य की ओर केन्द्रित कर सके। संविधान आज्ञा देता है कि कांग्रेस के दोनों सदन एक साथ स्थगित किए जा सकते हैं। १६४३ के एक प्रस्ताव के अनुसार सीनेट और प्रतिनिधि सभा के बहुमत दल के नेताओं अथवा अल्पमत-दल के नेताओं के संयुक्त अभ्यावेदन पर भी कांग्रेस का सत्र हो सकता है।

सभापति (The Speaker)—प्रतिनिधि सदन के आन्तरिक संगठन के सम्बन्ध में संविधान केवल यही उपबन्धित करता है कि "प्रतिनिधिगण सदन के सभापति तथा अन्य अधिकारियों का चुनाव करेंगे।"[1] संविधान उनकी शक्तियों, अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का निरूपण बिल्कुल नहीं करता। न वह यह चाहता है कि सभापति प्रतिनिधि सदन का सदस्य हो यद्यपि अब तक प्रत्येक सभापति चुनाव के समय प्रतिनिधि सदन का प्रतिनिधि अवश्य रहा है।

प्रत्येक नई कांग्रेस के जीवन-काल के प्रारम्भ में सभापति का चुनाव होता है और बहुमत-दल के द्वारा नामांकित व्यक्ति सदैव सदन द्वारा चुना जाता है। इंग्लैण्ड की लोक-सभा के सभापति के चुनाव से अमेरिका के प्रतिनिधि सदन के सभापति के चुनाव मे अन्तर है। जहाँ इंग्लैण्ड में स्पीकर का चुनाव सर्वसम्मत होता है, अमेरिका में प्रतिनिधि सदन के सभापति का चुनाव सर्वसम्मत नहीं होता। यह भी आवश्यक नही है कि पूर्वगामी प्रतिनिधि-सदन का सभापति ही पुनः चुना जाए यद्यपि यह परम्परा पूर्णरूपेण स्थापित हो चुकी है कि यदि कांग्रेस मे उसी दल का पुनः बहुमत है, तो पूर्वगामी प्रतिनिधि सदन का सभापति ही सभापति पद के लिए पुन: चुना जाएगा। यदि विरोधी दल का बहुमत हो जाए तो सभापति अवश्य बदल जाएगा। निश्चय ही सभापति चुनते समय ज्येष्ठता पर विचार किया जाता है किन्तु व्यक्तिगत लोकप्रियता और राजनीतिक साहाय्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ हैं।

इंग्लैण्ड की लोक-सभा (House of Commons) का स्पीकर जहाँ निष्पक्ष एवं न्याय-युक्त होता है, वहाँ अमेरिका के प्रतिनिधि सदन का सभापति अपने दल के नेता के रूप में कार्य करता है और अपने पद की शक्तियों एवं अधिकारों से अपने दल के कार्यक्रम की उन्नति करता है। सभापति पद के इस दिशा में विकसित होने के दो मुख्य कारण हैं। संविधान ने प्रतिनिधि सदन के लिए अधिकारी नेता का उपबन्ध नहीं किया। "स्पष्टतः १७८७ के राजनीतिज्ञों ने यह मान लिया था कि सदन स्वयं अपना नेतृत्व करेगा।" ज्यों-ज्यों प्रतिनिधि सदन की सदस्य-संख्या बढ़ती गई और ज्यों-ज्यों इसके व्यवस्थापक कार्य-कलापों में वृद्धि होती गई, त्यों-त्यों प्रतिनिधि सदन के मार्ग-दर्शन एवं नेतृत्व की आवश्यकता बढ़ती गई और अन्त मे प्रतिनिधि सदन का सभापति बहुमत दल का नेता माना जाने लगा।" उसके हाथ में इतनी अधिक शक्ति आ गई थी कि वह एक अधिनायक (Dictator) माना जाने लगा।

1. अनुच्छेद १, खण्ड २।

सदन में बराबर-बराबर मत पड़े हों और ऐसा भी वह सदन की प्रचलित रीतियों के अनुसार ही करता है।

ब्रिटिश लोक-सभा का स्पीकर उन पद पर अपने निर्वाचन के तुरन्त बाद अपनी दल-गत निष्ठा त्याग देता है। किन्तु इसके विपरीत अमेरिकी प्रतिनिधि सदन का सभापति सदन में खुल्लम-खुल्ला अपने दल के क्रिया-कलापों से सक्रिय रूप में सम्बन्धित रहता है। सदन मे बहुमत वाले दल का नेता होने के नाते सभापति को प्रायः व्हाइट हाउस (White House) मे बुलाया जाता है जहाँ पर वह राष्ट्रपति के साथ समस्त विधायी मामलो (Legislative Matters) पर मन्त्रणा करता है।

स्पीकर, अपेक्षतया, आज कमजोर है पर फिर भी उसके पास कई एक हथियार ऐसे हैं जिनके द्वारा विधान निर्माण के मार्ग को प्रभावित किया जा सकता है। परम्परा तथा प्रथा के अनुसार वह सदन में बहुमत दल का मुखिया है, चुने हुए व्यक्तियों द्वारा चुना हुआ व्यक्ति है; और राष्ट्रपति के उत्तराधिकार मे उसका स्थान दूसरा है। अतएव संघीय शासन-व्यवस्था मे उसका पद बड़ी प्रतिष्ठा वाला है और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सीनेट
(The Senate)

सरचना (Composition)—सीनेट एक छोटा निकाय है। हर राज्य (State) से दो के हिसाब से चुने गए इसके सदस्यों की सख्या १०० है जो छ. वर्ष के लिए चुने जाते हैं और इनमें से एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्षों बाद हट जाते है। परन्तु ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि प्रत्येक राज्य के दोनो सीनेट-सदस्यो की पदावधि का अन्त एक ही समय मे नही होता। फलतः सीनेट का जीवन अविच्छिन्न ही बना रहता है, क्योंकि किसी भी कांग्रेस के लिए केवल एक-तिहाई सदस्य ही चुनाव लड़ते है। अपनी लम्बी पदावधि और पुन. निर्वाचित होने की पर्याप्त सम्भावनाओं के कारण, सीनेट सदस्य की स्थिति प्रतिनिधि भवन के सदस्य के मुकाबले मे अच्छी है। प्रतिनिधि सदन का जीवन-काल केवल दो वर्ष है किन्तु उसके मुकाबले मे सीनेट सदस्य को एक पदावधि में भी पर्याप्त अनुभव हो जाता है; वह विधान निर्माण प्रक्रिया पर अधिकार कर लेता है, और किसी हद तक उसमें नेतृत्व के गुण आ जाते हैं। सीनेट सदस्य के लिए यह बिलकुल असाधारण बात नहीं है और वह १८ से २४ वर्ष तक सीनेट की सेवा करता रहता है। सीनेट प्रायः अविच्छिन्न ही बना रहता है; यह भी पर्याप्त लाभदायक चीज है। प्रतिनिधि भवन प्रति दो वर्ष बाद जिस स्थिति मे आ जाता है, वैसी स्थिति सीनेट की कभी नही होती। प्रतिनिधि सदन प्रति दो वर्ष के बाद पूर्ण-रूपेण नया निकाय बनता है जिसके अधिकतर सदस्य नए होते है और प्रतिनिधि सदन की व्यवस्था प्रति दो वर्ष बाद नए सिरे से करनी पड़ती है। किन्तु इसके विपरीत सीनेट सदैव अविच्छिन्न और सुव्यवस्थित एवं सुगठित बना रहता

है। यदि सदन मे कोलाहल अथवा विघ्न (Disturbance) अथवा नियम भंग (Disorderly Conduct) की अवस्था उत्पन्न हो जाए, तो उसको अधिकार है कि वह या तो सदन की कार्यवाही को स्थगित कर दे अथवा सदन के सशस्त्र परिचारक (Sergeant-at-arms) को आज्ञा दे कि सदन की अशान्ति को दूर कर दे। किन्तु सभापति किसी सदस्य की निन्दा नही कर सकता, न उसको किसी प्रकार की सजा दे सकता है। *यह कार्यवाही केवल सदन ही कर सकता है।* इसके अतिरिक्त वही उन सदस्यो को प्रस्वीकृत करता है जो मंच पर बोलने के लिए आना चाहते हैं। यद्यपि मच पर बोलने के लिए आने के सम्बन्ध में सदन के नियमों ने कुछ अनुबन्ध अथवा अभिसविदा (Stipulations) लगाए हैं, फिर भी सभापति काफी हद तक इस सम्बन्ध मे स्वविवेक के अनुसार निर्णय करने मे स्वतन्त्र रहता है।

सभापति को ही अधिकार है कि वह सदन के नियमों का निर्वचन करे। यद्यपि उसको सुस्थापित पूर्वभावियों (Established Precedents) के अनुसार आचरण करना पड़ता है, किन्तु यह उसके अधिकार मे है कि वह उनको न भी माने और नए पूर्वभावी की रचना करे, बशर्ते कि सदन उसके नए पूर्वभावी को स्वीकार कर ले। प्रतिनिधि सदन का बहुमत यदि चाहे तो सदन के सभापति के किसी नियम सम्बन्धी निर्वचन (Interpretation) को अस्वीकृत कर सकता है, किन्तु प्रायः प्रतिनिधि सदन अपने इस परमाधिकार (Prerogative) का प्रयोग नहीं करता। इसलिए, प्रतिनिधि सदन का सभापति का निर्णय (Ruling) उसी अर्थ मे अन्तिम (Final) नहीं है जिस अर्थ मे इंग्लैण्ड की लोक-सभा (House of Commons) के स्पीकर (Speaker) का निर्णय अन्तिम माना जाता है। वह प्रश्नों पर मत माँगता है एव उन समस्त अधिनियमों, निवेदनों (Addresses), संयुक्त प्रस्तावों, आदेश लेखों (Writs), अधिपत्रो (Warrants) एवं समनों (Subpoenas) पर हस्ताक्षर करता है जिनका आदेश सदन करे। सभापति ही प्रवर समितियो (Select Committees) तथा सम्मेलन समितियो (Conference Committees) की नियुक्ति करता है और उसी को अधिकार है कि विधेयकों (Bills) को समितियो के पास भेजे यद्यपि आजकल विधेयक सदन के लिपिक (Clerk) द्वारा विषय के अनुसार विभिन्न समितियों के पास सीधे भेज दिये जाते हैं। यदि कभी ऐसा अवसर आ जाए जब यह बात स्पष्ट रूप से निर्णय न की जा सके कि अमुक विधेयक के लिए अमुक समिति के पास भेजना उचित है अथवा नही, तो ऐसी स्थिति मे सभापति निर्णय करता है।

प्रतिनिधि सदन का सदस्य होने के नाते सभापति को सदन के अन्य सदस्यों की ही भाँति भाषण देने अथवा मत व्यक्त करने का अधिकार है, यद्यपि वह वोट (Vote) उस समय तक नही देता जब तक कि या तो मत-पत्रक (Ballot) द्वारा सदन में मत लिए जा रहे हो अथवा जब किसी प्रश्न पर बराबर-बराबर मत पड़े हो। किन्तु यह स्मर्त्तव्य है कि ब्रिटिश कामन-सभा अथवा लोक-सभा का स्पीकर कभी भी वाद-विवाद मे भाग नही लेता और वह अपना वोट उसी स्थिति में देता है जबकि

सदन में बराबर-बराबर मत पड़े हो और ऐसा भी वह सदन की प्रचलित रीतियों के अनुसार ही करता है।

ब्रिटिश लोक-सभा का स्पीकर उस पद पर अपने निर्वाचन के तुरन्त बाद अपनी दल-गत निष्ठा त्याग देता है। किन्तु इसके विपरीत अमेरिकी प्रतिनिधि सदन का सभापति सदन मे खुल्लम-खुल्ला अपने दल के क्रिया-कलापो से सक्रिय रूप मे सम्बन्धित रहता है। सदन मे बहुमत वाले दल का नेता होने के नाते सभापति को प्राय: व्हाइट हाउस (White House) मे बुलाया जाता है जहाँ पर वह राष्ट्रपति के साथ समस्त विधायी मामलो (Legislative Matters) पर मन्त्रणा करता है।

स्पीकर, अपेक्षतया, आज कमजोर है पर फिर भी उसके पास कई एक हथियार ऐसे हैं जिनके द्वारा विधान निर्माण के मार्ग को प्रभावित किया जा सकता है। परम्परा तथा प्रथा के अनुसार वह सदन मे बहुमत दल का मुखिया है, चुने हुए व्यक्तियों द्वारा चुना हुआ व्यक्ति है; और राष्ट्रपति के उत्तराधिकार मे उसका स्थान दूसरा है। अतएव संघीय शासन-व्यवस्था मे उसका पद बड़ी प्रतिष्ठा वाला है और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सीनेट
(The Senate)

सरचना (Composition)—सीनेट एक छोटा निकाय है। हर राज्य (State) से दो के हिसाब से चुने गए इसके सदस्यो की संख्या १०० है जो छ: वर्ष के लिए चुने जाते हैं और इनमे से एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्षो बाद हट जाते है। परन्तु ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि प्रत्येक राज्य के दोनो सीनेट-सदस्यो की पदावधि का अन्त एक ही समय में नही होता। फलत. सीनेट का जीवन अविच्छिन्न ही बना रहता है, क्योकि किसी भी कांग्रेस के लिए केवल एक-तिहाई सदस्य ही चुनाव लड़ते है। अपनी लम्बी पदावधि और पुनः निर्वाचित होने की पर्याप्त सम्भावनाओं के कारण, सीनेट सदस्य की स्थिति प्रतिनिधि भवन के सदस्य के मुकाबले में अच्छी है। प्रतिनिधि सदन का जीवन-काल केवल दो वर्ष है किन्तु उसके मुकाबले मे सीनेट सदस्य को एक पदावधि में भी पर्याप्त अनुभव हो जाता है; वह विधान निर्माण प्रक्रिया पर अधिकार कर लेता है, और किसी हद तक उसमें नेतृत्व के गुण आ जाते हैं। सीनेट सदस्य के लिए यह बिल्कुल असाधारण बात नहीं है और वह १८ से २४ वर्ष तक सीनेट की सेवा करता रहता है। सीनेट प्राय: अविच्छिन्न ही बना रहता है; यह भी पर्याप्त लाभदायक चीज है। प्रतिनिधि भवन प्रति दो वर्ष बाद जिस स्थिति मे आ जाता है, वैसी स्थिति सीनेट की कभी नही होती। प्रतिनिधि सदन प्रति दो वर्ष के बाद पूर्ण-रूपेण नया निकाय बनता है जिसके अधिकतर सदस्य नए होते हैं और प्रतिनिधि सदन की व्यवस्था प्रति दो वर्ष बाद नए सिरे से करनी पड़ती है। किन्तु इसके विपरीत सीनेट सदैव अविच्छिन्न और सुव्यवस्थित एवं सुगठित बना रहता

है। इसके दो-तिहाई सदस्य तो सदैव पुराने सदस्य बने रहते हैं। इस प्रकार सीनेट के पूर्व भावी एवं उसकी परम्पराएँ, नदी की धारा के सतत प्रवाह के समान सदैव चलती रहती हैं।

समान प्रतिनिधित्व (Equality of Representation)—जैसा कि पहले भी वर्णन किया जा चुका है, सीनेट मे सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है और संविधान ने इस राजनीतिक सिद्धान्त को पूर्ण मान्यता प्रदान की है। संविधान का कथन है कि "किसी भी राज्य को बिना उस राज्य की स्वेच्छा के सीनेट में उसके समान प्रतिनिधित्व से वंचित नही किया जाएगा।"[1] समान प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त वास्तव में एक महान् समझौता था, जिसके फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका के संघ का निर्माण हुआ और जो उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के बीच सन्तुलन स्थापित करने मे सहायक सिद्ध हुआ।

अर्हताएँ (Qualifications)—सीनेट की सदस्यता के लिए जो अर्हताएँ निश्चित की गई है, वे सिद्धान्ततः वही है जो प्रतिनिधि भवन के सदस्यो के लिए है यद्यपि मात्रा मे थोड़ा-सा भेद है। सीनेट सदस्य के लिए आवश्यक है कि वह ३० वर्ष से कम आयु का न हो; जिस राज्य की ओर से चुना जाए उस राज्य का निवासी हो; और संयुक्त राज्य का नागरिक कम-से-कम नौ वर्ष तक रह चुका हो। संविधान के निर्माताओ ने सोचा था कि लम्बी पदावधि और ऊँची अर्हताएँ सीनेट को अधिक शक्ति और गौरव-गरिमा प्रदान करेंगी, किन्तु यह शक्ति एवं गौरव प्रतिनिधि सदन को प्राप्त नही हो सकेगा। साथ ही सीनेट में अधिक ऊँची योग्यता पायी जाएगी।

इस सम्बन्ध मे संविधान मौन है कि सीनेट सदस्य राज्य के अमुक भाग का निवासी होना चाहिए। किन्तु कतिपय राज्यो मे ऐसी प्रथा स्थापित हो गई कि दोनों सीनेट-सदस्य राज्य के विभिन्न भागों में से लिए जाएँगे। कभी-कभी जब किसी राज्य मे बड़ा नगर होता है तो यह प्रथा पड़ गई कि एक सीनेट सदस्य उस बड़े नगर का हो और दूसरा देहात का। बहुत काल तक मेरीलैण्ड राज्य (Maryland) मे वैधानिक उपबन्ध था कि उस राज्य के दोनो सीनेट सदस्यो मे से एक सदस्य पूर्वी समुद्री किनारे का निवासी हो, तथा दूसरा पश्चिमी किनारे का निवासी हो।

निर्वाचन-विधि (Mode of Election)—सीनेट, सदस्यो की निर्वाचन विधि के सम्बन्ध में प्रसभा (Convention) के सदस्यों में तीव्र मतभेद था। अन्त मे जो विधि अपनायी गई उसके अनुसार प्रत्येक राज्य मे विधानमण्डलो द्वारा सीनेट सदस्यों का चुना जाना निश्चित हुआ। इस विधि को अपनाने के दो मुख्य कारण थे। प्रथमतः, संविधान के निर्माताओं ने सोचा कि विधानमण्डलो द्वारा चुनाव के

1. अनुच्छेद ५।

फलस्वरूप राज्यों की सरकारों एवं राष्ट्रीय सरकार के बीच यह चुनाव विधि जोड़ने वाली कड़ी का काम देगी और इस प्रकार राज्यों का संघ सुदृढ़तर होगा। उस समय राज्यों की सरकारें केन्द्रीय शासन के प्रति इतनी द्वेषपूर्ण थी कि सविधान के निर्माताओं ने हर सम्भव उपाय द्वारा यह प्रयत्न किया कि किसी प्रकार नई-नई स्थापित सरकार का स्वरूप ऐसा बने जिससे राज्यो का केन्द्र के साथ सम्बन्ध अक्षुण्ण रहे। द्वितीयतः, ऐसा विश्वास किया गया था कि विधानमण्डलों द्वारा चुने जाने पर अधिक योग्य सीनेट सदस्य चुने जाएंगे क्योंकि विधानमण्डलों के सदस्य प्रत्याशियों की योग्यताओं से अधिक परिचित होंगे जबकि सर्वसाधारण को इतना ज्ञान नहीं हो सकता।

किन्तु संविधान के निर्माताओं को जो इस प्रकार के व्यवहृत अथवा परोक्ष निर्वाचन से लाभ की आशा थी, वह पूर्ण नही हुई क्योंकि दल-यन्त्र (Party Machinery) के विकास के साथ सीनेट सदस्य के विषय में असली पसन्द अब राज्य दल सभा (State Party Convention) में अथवा प्रमुख विधायी राजनीतिक समिति (Legislative Caucus) में की जाने लगी जिन दोनों पर बड़े मालिकों (bosses) का नियन्त्रण होता था। इस प्रकार के निर्वाचन के फलस्वरूप लम्बी और हठपूर्ण तनातनी बनी रही जिसका प्रायः फल होता था गत्यवरोध (Deadlocks)। फलस्वरूप लोगों ने संविधान में संशोधन करने के लिए जी तोड़ आन्दोलन (Spirited Movement) किया, और कठिन परिश्रम के पश्चात् १९१३ में १७वाँ संशोधन स्वीकृत हुआ। इस संशोधन द्वारा निर्णय किया गया कि प्रत्येक राज्य में से जो दो सीनेट सदस्य लिए जाएँगे "वे उसी राज्य के सर्व-साधारण लोगों द्वारा छः वर्षों की अवधि के लिए चुने जाएँगे।" वे ऐसे ही लोगों के वोट से चुने जाते है जो कि राज्यीय विधानमण्डल के निम्न सदन के सदस्यों को चुन सकते हैं। इस संशोधन ने यह भी अनुबन्धित किया कि यदि किसी कारणवश सीनेट का स्थान रिक्त रहा तो जिस राज्य की सीट रिक्त है, उस राज्य का राज्यपाल (Governor) अस्थायी नियुक्ति के द्वारा उस रिक्त स्थान की पूर्ति उस समय तक के लिए कर सकता है जब तक उस राज्य के लोग स्वयं एक सीनेट सदस्य न चुन लें।

अध्यक्ष (The Presiding Officer)—सीनेट का अध्यक्ष-पद संयुक्त राज्य का उपराष्ट्रपति ग्रहण करता है, और यद्यपि उसका पद अति गौरवान्वित है, किन्तु वह स्वयं सामान्य सभापति अथवा मध्यस्थ (Moderator) के सिवा कुछ नही है। वह सीनेट का सदस्य नही होता और वह स्वभावतः किसी ऐसे दल से सम्बन्धित हो सकता है जिसका सीनेट में बहुमत न हो। वह सीनेट की समितियों की नियुक्तियाँ नहीं करता इसलिए वह व्यवस्थापन पर बिल्कुल प्रभाव नही डाल सकता, और वह अपनी राय (Vote) उसी स्थिति मे देता है जब दोनों पक्षों के मत बराबर हों। इसके अतिरिक्त वह किसी सदस्य को बोलने की स्वीकृति (Power of Recognition) देने के अधिकार से वंचित है और इसलिए वह वाद-विवाद को नियन्त्रित नही

कर सकता। सीनेट के अध्यक्ष को सभी सदस्यों को बोलने की अनुमति उसी क्रम के अनुसार देनी होगी जिसके अनुसार वे उठे हों। परम्परा यह है कि अध्यक्ष दोनों दलों के सभी सदस्यों के साथ समान व्यवहार करेगा और निष्पक्षता के साथ उन्हें वाद-विवाद मे भाग लेने देगा।

सीनेट अपने सदस्यों में से ही एक अस्थायी अध्यक्ष (President Pro-tempore) चुनता है जो उपराष्ट्रपति (Vice-President) की अनुपस्थिति मे अध्यक्ष पद पर काम करता है। अस्थायी अध्यक्ष, यद्यपि सामान्यतः सीनेट द्वारा ही चुना जाता है किन्तु वास्तव में उनका चुनाव आन्तरिक गुटबन्दी एवं बहुमत का निर्णय है, और वह प्रतिनिधि सदन के सभापति के समान ही बहुमत दल या पार्टी का सदस्य होता है। सीनेट का सदस्य होने के नाते वह सभी मामलों पर राय दे सकता है। यदि उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति बन जाए जिस प्रकार जॉन्सन राष्ट्रपति कैनेडी के कत्ल होने पर राष्ट्रपति बन गया था तो वह स्थायी तौर पर सीनेट का अध्यक्ष आसन ग्रहण कर लेता है।

फिलिबस्टर (Filibuster)—सीनेट में वाद-विवाद प्रायः अपरिमित है। १९१७ तक सीनेट सदस्य के बोलने के अधिकार पर कोई बन्धन नहीं था, और वह जब तक चाहता, बोल सकता था। सीनेट सदस्य अपने इस अधिकार का लाभ सत्र (Session) के अन्त में प्रायः उठाते थे और इसके द्वारा वे किसी ऐसे विधायी नियम के निर्माण में *अभिबाधक नीति या अड़ंगा (Filibustering)* लगाते थे जिसका वे विरोध करना चाहते थे। इसका अर्थ यह था कि सीनेट की कार्यवाही मे देर की जाए ताकि उस विधायी नियम (Measure) पर मत न लिए जा सकें। अनेक महत्त्वपूर्ण विधायी नियम (Measures) त्याग दिए गए जबकि इस प्रकार से अभिबाधा या अड़ंगे (Filibustering) की धमकी दी गई। कांग्रेस के एक अधिवेशन के अन्तिम दिनों में एक सीनेट सदस्य जिसका सम्बन्ध विसकोन्सिन (Wisconsin) राज्य से था, लगातार सोलह घण्टों तक बोलता रहा, ताकि एक मुद्रा अधिनियम पर कार्यवाही को रोका जाए। "६४वीं कांग्रेस के अन्त में (मार्च १९१७) कतिपय सीनेट सदस्यों ने मिलकर अभिबाधा डाली अथवा अड़ंगा लगाया ताकि सीनेट उस विधेयक पर मत-गणना न कर सके, जिसके द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया जाना अभीष्ट था कि अमेरिका के सौदागरी जहाजों को रक्षा साधनों से सज्जित किया जाए। उन अभिबाधकों अथवा अड़ंगा लगाने वालों ने इस बात का विचार नहीं किया कि लगभग सभी सीनेट सदस्य चाहते थे कि वह विधेयक पास होना चाहिए।"

इसका फल यह हुआ कि शीघ्र ही कुछ दिनों के बाद सीनेट ने एक नया नियम स्वीकार किया जिसके अनुसार दो-तिहाई मतों से किसी विधायी नियम के ऊपर चल रहे वाद-विवाद को नियन्त्रित किया जा सके और प्रत्येक सीनेट सदस्य को एक घण्टे से अधिक बोलने न दिया जाए। इस नियम को प्रथम बार १९३६ में

प्रयुक्त किया गया और वार्साई सन्धि (Treaty of Versailles) पर चल रहे वाद विवाद को समाप्त कर दिया गया। तब से इस प्रकार वाद-विवाद को समाप्त (Closure) करने की प्रथा को तीन बार और दुहराया गया है। "सीनेट के मंच पर सबसे अधिक समय तक लगातार आज तक जिसने बोला है वह ऑरीगन (Oregon) राज्य का सीनेट सदस्य वेन मोर्स (Wayne Morse) था जो १९५३ में कतिपय प्रश्नकर्त्ताओं की सहायता से २२ घण्टे २६ मिनट तक लगातार बोलता ही रहा।" प्रश्न करने की विधि यह है कि तीन या चार सीनेट सदस्य सहयोग कर लें तो वाद-विवाद अनिश्चित काल तक चलता रह सकता है। वे केवल यह करते हैं कि वे एक दूसरे से लम्बे-लम्बे प्रश्न करते हैं जिससे उनके साथियों को पर्याप्त समय के लिए आराम मिल जाता है। जब तक वे लोग बोलने के अभिप्राय से खड़े रहेंगे, वाद-विवाद को समापन-क्रिया (Closure, or Cloture) द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है। १९१७ के समापन नियम को १९४९ में संशोधित किया गया जिसका कारण यह था कि नागरिक अधिकारों सम्बन्धी विधेयक पर कुछ लोगों ने बाधा डालनी (Filibustering) चाही थी। संवरण नियम (Closure Rule) को पुनः संशोधित किया गया है जो सीनेट की किसी भी कार्यवाही पर लागू हो सकता है; किन्तु उसमें नियमों में हेर-फेर के सम्बन्ध में अपवाद है और किसी समापन (Closure) प्रस्ताव को स्वीकार किए जाने के लिए समस्त सीनेट के सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत प्राप्त होना चाहिए अर्थात् ६७ मत समापन प्रस्ताव के लिए पर्याप्त हैं। समापन की पुरानी विधि के लिए उपस्थित सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत आवश्यक था। १९४९ के संशोधन के फलस्वरूप समापन (Closure) नियम का प्रयोग अधिक कठिन हो गया था। परन्तु संवरण नियमों (Closure Rules) में परिवर्तन करने के लिए निरन्तर प्रयत्न होते रहे। दक्षिण के सीनेट के सदस्यों ने, जिन्होंने असैनिक अधिकार विधेयक (Civil Rights Bill) के विरुद्ध अभिबाधा लगाने की ठानी हुई थी, सदा ही इसका विरोध किया। १९५९ में बहुमत दल के नेता जॉन्सन (Johnson) के एक प्रस्ताव के अनुसार १९४९ के पूर्व काफार्मूला (pre-1949 formula) स्वीकार कर लिया गया। इसके द्वारा उपस्थित सदस्यों के ही दो-तिहाई-मतों द्वारा समापन क्रिया काम मे लाई जाने लगी।

सीनेट के विशेष कर्त्तव्य (Special Functions of the Senate)—जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, संविधान के निर्माता सीनेट को कांग्रेस के उच्च सदन मात्र से कुछ विशेष अधिक बनाना चाहते थे। वे इसको इंग्लैंड की प्रिवी परिषद् के समान बनाना चाहते थे और यही कारण था कि उन्होंने संविधान में यह उपबन्ध रखा कि कतिपय कार्यपालिका के निर्णयों में सीनेट की मन्त्रणा और सहमति आवश्यक होगी; उदाहरणार्थ नियुक्ति-सम्बन्धी निर्णय अथवा सन्धि-नियम सम्बन्धी निर्णय इत्यादि। राष्ट्रपति वाशिंगटन ने अपनी प्रथम पदावधि में सीनेट की मन्त्रणा ली थी और उसकी इच्छा थी कि सीनेट उसकी मन्त्रणा-परिषद् (Advisory Council) के रूप में कार्य करे। किन्तु सीनेट ने मन्त्रणा-परिषद् बनना अस्वीकार

कर दिया और तब राष्ट्रपति, संविधान के उपबन्ध के अनुसार सीनेट की सहमति प्राप्त कर लेता था और इस प्रकार "सीनेट का परमाधिकार केवल सहमति (Consent) मात्र रह गया न कि मन्त्रणा देना (Advice)।"

फिर भी सीनेट को अधिकार है कि वह कार्यपालिका के विभिन्न कृत्यों को अनुमोदन अथवा सहमति प्रदान करे, साथ ही उसको प्रतिनिधि सदन के समान व्यवस्थापन सम्बन्धी अधिकार हैं और सार्वजनिक दोषारोपण (Impeachment) इत्यादि के मामलों में न्यायिक अधिकार है—इन सब ने सीनेट को अपूर्व एवं अनोखी शक्ति प्रदान की है जिसके फलस्वरूप लोकप्रिय प्रतिनिधि सदन की आभा मन्द पड़ गई है।

१. **राष्ट्रपति के नियुक्ति सम्बन्धी अधिकार में सीनेट का भाग (Share in the Appointing Power)**—केन्द्रीय शासन के लिए अधिकारियों की नियुक्ति करने सम्बन्धी शक्ति मे राष्ट्रपति और सीनेट दोनो का भाग है। राष्ट्रपति किन्हीं पदों के लिए व्यक्तियों को नामांकित करता है और सीनेट उनको साधारण बहुमत के आधार पर अनुमोदन प्रदान करता है। इस सम्बन्ध मे आन्तरिक उद्देश्य यह था कि राष्ट्रपति की अनियन्त्रित शक्तियों पर परीक्षणों एवं सन्तुलनों (Checks and Balances) के द्वारा अंकुश रखा जाए और इस प्रकार विभिन्न पदों पर केवल योग्य तथा ईमानदार व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाए। संविधान के निर्माता सीनेट को केवल निषेधात्मक अधिकार देना चाहते थे जिसके आधार पर वह राष्ट्रपति के नामांकनो (Nominations) को अस्वीकृत कर सके।[1] किन्तु सीनेटोरियल कर्टसी (Senatorial Courtesy) की प्रथा ने किसी राज्य के सीनेट सदस्यों को, जिसमे नियुक्ति करना अभीष्ट हो, दोनों प्रकार की अर्थात् स्पष्ट एवं यथार्थ (Positive) तथा निषेधात्मक (Negative) शक्तियां तथा कर्त्तव्य प्रदान कर दिए हैं। जिस प्रकार इन सम्बन्ध में व्यवहार होता है, वह बिल्कुल सीधा है। जब राष्ट्रपति द्वारा नामांकित नाम सीनेट में प्राप्त हो जाते है, तो वे खुले रूप मे उस समिति के पास भेज दिए जाते है जिसके क्षेत्राधिकार मे वह नाम आता है। यदि नामांकन का विरोध हो तो उसके पक्ष अथवा विपक्ष मे बोलने वालों की सुनवाई होती है। समिति में बहुमत अनुकूल होने पर सीनेट को रिपोर्ट दे दी जाती है। बहुत कम अवसरो पर प्रतिकूल रिपोर्ट भेजी जाती है। सीनेट मे तब मतदान होता है और यदि वह नामांकन की पुष्टि नही करती तो फिर नियुक्ति सम्भव नही।

परन्तु नियुक्ति के वास्तविक प्रकार ने संविधान के अनुबन्धों मे बहुत परिवर्तन कर दिया है। इस प्रणाली को अच्छी प्रकार से समझने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के मुख्य अधिकारियो को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है: प्रथमत. वे अधिकारी जो समूचे देश को एक मान कर कार्य करते है। जैसे सर्वोच्च

1. See Ante Chapter, III. Also refer to Garner's Government in the United States, p. 191

न्यायालय के न्यायाधीश, मन्त्रिमण्डल के सदस्य इत्यादि। द्वितीयत:, किसी विशेष राज्य के संघीय अधिकारी; जैसे संघीय जिला जज (Federal District Judges) कुछ विशेष श्रेणी के पोस्ट मास्टर, मार्शल इत्यादि। राष्ट्रपति द्वारा की गई प्रथम प्रकार के अधिकारियों की नियुक्ति बहुत कम अवसरों पर रद्द की जाती है यद्यपि हाल ही में कुछ ऐसे मामले भी हैं जहाँ ऐसी नियुक्तियाँ भी अस्वीकार्य कर दी गई हैं।

द्वितीय प्रकार की नियुक्तियाँ सीनेटोरियल कर्टसी के अन्तर्गत आती है। प्रथा के अनुसार राष्ट्रपति को उस राज्य के वरिष्ठ सीनेटर से परामर्श करना चाहिए जहाँ नियुक्ति की जानी है। यदि वह राष्ट्रपति के दल का नही तो दूसरे सीनेटर से परामर्श हो। यदि दोनों ही राष्ट्रपति के अपने दल के नही तो वह परामर्श के लिए बद्ध नही पर फिर भी वह प्रायः परामर्श करता ही है। राष्ट्रपति भले ही परामर्श न करे पर वह ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति नही करता जो उस राज्य के सीनेटर का शत्रु हो। सीनेट परम्परा से प्राप्त अपने परमाधिकार के प्रति बडी ईर्ष्यालु है और वह कभी भी ऐसी नियुक्ति का अनुमोदन नहीं करता जो सम्बन्धी सीनेटर के लिए व्यक्तिगत रूप मे घृणित और अप्रिय हो। इस प्रकार की अवाञ्छित नियुक्तियों के नामाकन के रद्द होने के कई उदाहरण है। १९५१ में राष्ट्रपति ट्रूमैन (Truman) इलिनाइज (Illinois) के वरिष्ठ सीनेटर पाल डगलस (Paul Douglas) के विरोध के कारण उस राज्य के लिए दो संघीय जिला जजो के नामांकनों को सीनेट द्वारा अनुमोदन प्राप्त कराने मे असमर्थ रहा था।

२. राष्ट्रपति के संधि करने सम्बन्धी अधिकार में सीनेट का भाग (Share in the treaty-making power)—राष्ट्रपति को संधियाँ करने का जो अधिकार है उसमे सीनेट का भी अधिकार है। वे समस्त संधियाँ जो राष्ट्रपति स्वय करे अथवा उसके नाम में की जाएँ, सीनेट के सम्मुख अनुमोदन के लिए प्रस्तुत की जाती है, और तदर्थ सीनेट के सदस्यो के दो-तिहाई मत मिलने पर ही संधि स्वीकृत हो सकती है। सविधान के निर्माताओ ने संभवत: चाहा होगा कि राष्ट्रपति और सीनेट-सदस्य साथ-साथ बैठकर और मिल-जुलकर सन्धि का निर्णय करेंगे। यह बात संविधान मे प्रयुक्त शब्दों—सीनेट की 'मन्त्रणा एवं सहमति' (Advice and Consent)—से स्पष्ट हो जाती है। एक बार वाशिंगटन (Washington) स्वयं सीनेट में गया जहाँ वह एक ऐसी सन्धि के बारे में सीनेट के सदस्यों की मन्त्रणा एव सहमति चाहता था जिसे वह दक्षिणी इण्डियनों के साथ करना चाहता था। जब सीनेट ने वाशिंगटन को झिड़क दिया तो "उसे क्रोध आ गया और उसने कहा कि सीनेट में मेरा आना व्यर्थ रहा।"[1] तब से किसी भी राष्ट्रपति ने सीनेट के साथ सीधे मन्त्रणा नही की है। फिर भी संधियाँ करने मे अथवा संधियों का अनुमोदन करने में सीनेट का महत्त्वपूर्ण भाग रहता है। यदि राष्ट्रपति द्वारा की हुई किसी संधि के सीनेट द्वारा अस्वीकृत होने का

1. As quoted in Government by the People, p. 422.

भय हो तो राष्ट्रपति पर-राष्ट्र-विभाग-सम्बन्ध-समिति (Foreign Relations Committee) के सदस्यों से पहले ही मन्त्रणा कर लेता है, और उनके विचार जान लेता है। सत्य तो यह है कि परराष्ट्र मन्त्री (Secretary of State) प्राय: सीनेट की परराष्ट्र विभाग-सम्बन्धी-समिति के साथ मिल-जुलकर काम करता है। सीनेट प्राय: सन्धियाँ स्वीकार कर ही लेता है लेकिन कभी-कभी उसने कुछ बहुत अधिक महत्वपूर्ण सन्धियों को अस्वीकार भी किया है। उदाहरणार्थ, सीनेट ने वर्साय की सन्धि को अस्वीकार कर दिया था।

३. सीनेट सार्वजनिक अभियोग न्यायालय के रूप में (The Senate as a Court of Impeachment)—सीनेट का दूसरा विशेष कर्त्तव्य यह है कि वह सार्वजनिक अभियोगों के सम्बन्ध में न्यायालय का कार्य करता है। संविधान में उपबन्ध है कि राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति और सिविल सर्विस के सभी अधिकारी अपने पदों से हटाए जा सकते हैं यदि उन पर देशद्रोह (Treason), घूँस (Bribery), अथवा अन्य दोष तथा किसी दुर्व्यवहार के कारण सार्वजनिक अभियोग (Impeachment) लगाया जाए और उसके कारण उन्हें दोषी प्रमाणित कर दिया जाए। प्रतिनिधि सदन अभियोग लगाता है और सीनेट न्यायालय के रूप में अभियोग की सुनवाई करता है। ऐसे अवसर पर सीनेट न्यायालय का रूप धारण कर लेता है और आज्ञा-पत्र जारी करता है, गवाहों को बुलाता है और शपथ रखवाता है। जब राष्ट्रपति पर अभियोग लगाया जाता है तो सर्वोच्च न्यायालय का चीफ़ जस्टिस उस न्यायालय का सभापतित्व ग्रहण करता है। प्रतिनिधि सदन द्वारा नियुक्त प्रतिनिधियों की एक समिति सीनेट के समक्ष वकील के रूप में उपस्थित होती है और वह अभियुक्त (Impeached) अधिकारी पर अभियोग लगाती है।

दोषसिद्धि के लिए सीनेट के दो-तिहाई सदस्यों के मत आवश्यक हैं और सीनेट या तो सजा के रूप में सम्बन्धित अधिकारी को पद से वियुक्त (Removal) कर सकता है, अथवा भविष्य के लिए किसी सार्वजनिक पद के लिए अयोग्य घोषित कर सकता है। यह इस प्रकार की सजाएँ नहीं दे सकता, जैसे कारावास (Imprisonment) अथवा जुर्माना (Fine)। किन्तु जिस व्यक्ति के विरुद्ध सीनेट में दोषारोपण सिद्ध हो चुका है, और जो अपने पद से पृथक् कर दिया गया है, उसके विरुद्ध साधारण न्यायालय भी कार्यवाही कर सकते हैं और दोष लगा सकते हैं। उस स्थिति में साधारण न्यायालय विधि के अनुकूल उसी प्रकार की कार्यवाही करेंगे जैसा अन्य दोषियों के सम्बन्ध में होता है। महाभियोग की प्रक्रिया इतनी पेचीदा है कि उसका बहुत कम प्रयोग किया जाता है। अब तक उसका केवल १२ बार प्रयोग हुआ है और ४ बार महाभियोग सफल रहा है। १८६८ मे राष्ट्रपति एंड्रू जॉनसन (Andrew Johnson) पर महाभियोग लगाया गया था, लेकिन वह केवल एक मत से ही बच गया।

सीनेट : उसकी शक्ति के कारण
(Senate : The Causes of Its Strength)

४. कांग्रेस की गौण शाखा नहीं (Not a Subordinate Branch of Congress)—संविधान के निर्माताओं ने जो तीन मुख्य कर्तव्य सीनेट को करने को दिए उनके अतिरिक्त यह भी उपबन्धित किया गया कि सीनेट एक व्यवस्थापिका सभा (Legislative body) भी है। किन्तु यह समान अधिकारपूर्ण समन्वयकारी निकाय (Co-ordinate body) है न कि कांग्रेस का अधीन निकाय। इस प्रकार यह देश के लिए विधान निर्माण करने में प्रतिनिधि सदन के समकक्ष शक्तियों का उपभोग करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में ऐसा कोई नियम नहीं है जैसा कि इंग्लैण्ड[1] में है, जो निम्न सदन (House of Representatives) को ऐसा अधिकार प्रदान कर दे कि वह उच्च सदन (Senate) के ऊपर निषेधाधिकार का प्रयोग कर सके। अमेरिका में प्रतिनिधि सदन सीनेट के ऊपर एक बात में उच्च स्थिति का उपभोग करता है, वह है वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में; और इस सम्बन्ध में संविधान केवल यही कहता है कि वित्तीय विधेयकों का सूत्रपात प्रतिनिधि सदन मे ही होना चाहिए। किन्तु संविधान यह भी कहता है कि सीनेट वित्तीय विधेयको में अन्य विधेयकों की भांति संशोधन कर सकता है। इसका अर्थ है कि सीनेट वित्तीय विधेयकों को स्वीकार कर सकता है, उनमें संशोधन कर सकता है, उनका रूपान्तर कर सकता है अथवा उनको अस्वीकृत कर सकता है और कभी-कभी तो सीनेट किसी वित्तीय विधेयक में इतनी काट-छांट कर देता है और इतना संशोधन कर देता है कि प्रतिनिधि सदन द्वारा प्रारम्भ किए गए विधेयक का नाम तो वही बना रहता है, बाकी और सब कुछ बदल जाता है। ऐसा सीनेट ने कुछ वर्ष पूर्व एक प्रशुल्क विधेयक (Tariff Bill) के साथ किया था। इस प्रकार सीनेट, संशोधन के रूप में बिल्कुल नए वित्तीय विधेयक का सूत्रपात भी कर सकता है। जिस प्रशुल्क विधेयक (Tariff Bill) के बारे में ऊपर वर्णन किया गया है, वह इतना अधिक एवं पूर्णतया संशोधित हुआ कि उस विधेयक में से सभी कुछ काट-छांट कर दिया गया; केवल एक विधि सम्बन्धी धारा रह गई। वैधिक सिद्धांत के अनुसार वित्तीय विधेयकों का सूत्रपात प्रतिनिधि सदन मे होना चाहिए किन्तु व्यवहार मे सीनेट भी वही कर सकता है; और जैसा कि डाक्टर मनरो (Dr. Munro) कहता है, "सीनेट वह कर्तव्य करने लगा है जिनको संविधान नहीं चाहता था कि यह करे।"[2]

विनियोग विधेयकों (Appropriation Bills) के सम्बन्ध में संविधान मौन है और इस मौन का अर्थ निकलता है कि संविधान के निषेध के अभाव में विनियोग विधेयकों (Appropriation Bills) का सूत्रपात सीनेट में ही हो सकता है और इन विनियोग विधेयकों में राष्ट्रीय आय-व्ययक (National Budget) भी, यदि सीनेट

1. १९११ का संसद् अधिनियम (Parliament Act of 1911) जो १९४९ में संशोधित हुआ, उसको पढ़िए।
2. *Ibid.*

चाहे तो सम्मिलित किया जा सकता है। किन्तु प्रथा यह स्थापित हो गई है, और प्रतिनिधि सदन ने अत्यन्त यत्नपूर्वक इसकी रक्षा की है कि विनियोग विधेयकों के प्रारम्भ करने का अधिकार केवल निम्न सदन को रहेगा। फिर भी इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में सीनेट प्रतिनिधि सदन (House of Representatives) के समकक्ष है।

५. परीक्षा एवं जांच समितियाँ (The Investigation Committees)—सीनेट ने प्रायः कई बार बहुत से मामलों में जांच-पड़ताल का कार्य अपने ऊपर लिया है। संविधान के अनुसार कांग्रेस को विशिष्ट जांच-पड़ताल सम्बन्धित शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा लोगों की भावनाओं (Ideas), अभिप्रायों (Opinions) और विभिन्न समाचारों को एकत्रित किया जा सके, साथ ही सर्वसाधारण की ऐसी मन्त्रणा प्राप्त की जा सके जो विधान निर्माण करने की दिशा में लाभदायक हो सके। परीक्षा अथवा जांच समिति अपना अनुसंधान सम्बन्धी कार्य वाशिंगटन में रहकर भी कर सकती है अथवा देश के कोने-कोने में घूम सकती है; और वहाँ सरकारी अथवा गैरसरकारी गवाहों को बुला सकती है; गवाहों से ऐसे लिखित प्रमाण भी मांग सकती है जो आवश्यक जानकारी एवं स्वीकृत तत्त्वों के एकत्रित करने में सहायक सिद्ध हों।

समितियों द्वारा अनुसन्धान कराने का एक और भी उद्देश्य है—यह है प्रशासन के ऊपर चौकसी रखना (Overseeing of Administration)। समिति संयुक्त राज्य के किसी भी अधिकारी-मन्त्रिमण्डल के सदस्य से लेकर साधारण लिपिक (Routine Clerk) तक को बुलाकर सार्वजनिक प्रकाश (In Public) में, अथवा व्यक्तिगत रूप (In Private) में गवाही मांग सकती है। निश्चय ही प्रशासन के ऊपर जांच-पड़ताल रखने का यह प्रभावी तरीका है। डा० मनरो (Dr. Munro) कहता है, "किन्तु यह कहना कि जांच अथवा परीक्षा समितियाँ केवल विधान निर्माण के सम्बन्ध में तथ्य एकत्रित करती हैं, केवल कल्पना मात्र है। वे तथ्य एकत्रित करने की आड़ में अगले चुनाव के लिए सम्भावनाएँ और आवश्यकताएँ देखती फिरती हैं।"[1] इसलिए इन समितियों की जांच-पड़ताल का उद्देश्य वास्तविक रूप से राजनीतिक होता है। सीनेट सदस्य ही समस्त देश और कांग्रेस की राजनीति पर छाए रहते हैं, और इसकी जांच-पड़ताल सम्बन्धी समितियाँ राजनीतिक रूप से प्रबल होती हैं। प्रारम्भ से लेकर अब तक अनेक बार प्रसिद्ध जांच-पड़तालें हो चुकी हैं, और निकट भूतकाल मे द्वितीय युद्ध के दौरान ट्रूमैन समिति (Truman Committee) स्थापित हुई थी, जिसने व्यर्थ बरबादी एवं अयोग्यता (Waste and Inefficiency) के बारे मे जांच की थी, तथा बहुत से आवश्यक सुझाव दिए, और सम्भवतः इ समिति के कार्य की प्रशंसा के कारण ही इस समिति का सभापति ट्रूमैन अगले चुनाव में राष्ट्रपति बना। विशेष जाच-पडताल समितियों को वे सभी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं जो स्थायी समितियों (Standing Committees) को मिली होती हैं, केवल

1. Munro, W. B.: The Government of the United States, p. 303.

अंतर इतना है कि वे साधारणतया किसी विधेयक को प्रारम्भ नहीं कर सकतीं।

सीनेट सदस्यों की जांच-पड़ताल सम्बन्धी समिति से सभी छोटे और बड़े अधिकारी घबड़ाते है, और वे विरोधी कांग्रेस के सदस्यों के कठिन प्रश्नो से भय खाते है। यह स्वाभाविक है कि प्रशासन से जहां-तहां गलतियां रह ही जाती हैं; और जब वे गलतियां पकड़ ली जाती है, तो उनको राजनीतिक उद्देश्यों से बढ़ा-चढ़ाकर प्रकाशित किया जाता है। ये जांचें और परीक्षाएँ (Investigations) जितनी अधिक प्रकाशित की जाएँगी उतनी ही सफल मानी जाएँगी। किन्तु सीनेट के द्वारा जांच-पड़तालें खुले आम (Directly in the Spotlight) होती है और प्रायः समस्त कार्यवाही अखबारो और टेलीविजन (Television) की तस्वीरों से प्रकाशित की जाती है; और इन समितियों के साथ-साथ पत्रकारों की भीड़ें चलती है। हाल ही मे कुछ जांच-पड़ताल करने वाले सीनेट सदस्यों ने स्वयं प्रकाश में आने का इतना गूढ़ प्रयास किया है कि वे कही-कहीं गवाहों के चरित्र पर लाछन लगाने, उन्हे दिक करने और उनके साथ दुर्व्यवहार करने में तथा खुला हुआ पक्षपात करने में भी नही चूके हैं।[1] कांग्रेस के सदस्य भी ऐसी स्थिति पसन्द नही करते। इसमें सुधार की आवश्यकता है।

६. सम्मेलन समितियां (Conference Committees)—यदि कांग्रेस के दोनों सदनों में किसी बात पर मतभेद हो जाए तो एक सम्मेलन समिति (Conference Committee) के द्वारा मतभेदों को दूर करने का प्रयास किया जाता है। इस समिति का निर्माण करने के लिए दोनों सदनों में से बराबर-बराबर संख्या में सदस्य लिए जाते है—प्रायः तीन-तीन सदस्य, किन्तु विशेष हालत में पांच-पांच सदस्य भी लिए जाते हैं—और ये मिलकर मतभेद को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक सदन एक इकाई के रूप में मत देता है और इन सम्मेलन सदस्यों को अपने-अपने सदनों से भी आदेश दिए जा सकते है। यह स्वाभाविक है कि सीनेट सदस्य ही, जो परिपक्व राजनीतिज्ञ होते है, और जिनको अधिक संसदीय अनुभव होता है, अन्त में सफल होते हैं। सीनेट सदस्य जिस हद तक एकमतता एवं दृढता प्रदर्शित करते हैं, उसके कारण सम्मेलन सदस्यों को प्रायः सीनेट की भी सहायता प्राप्त होती है। सत्य तो यह है कि सीनेट अपने सम्मेलन समिति के प्रतिनिधियों को निर्णय करने की एवं विचार-विनिमय करने की पूरी छूट देता हैं जबकि प्रतिनिधि सदन प्रायः अपने प्रतिनिधियों को आदेशों से जकड़े रखता है।

७. सीनेट सदस्यों का देश की राजनीति पर प्रभाव (Political Role of the Senators)—गवर्नमैंट ऑफ दि पीपल (Government of the People) नामक पुस्तक के लेखक युगल लिखते हैं कि "साधारण प्रतिनिधि सदन के प्रतिनिधियों से, सीनेट के सदस्य 'विभिन्न जाति के राजनीतिक जीव' (Different breed of political Animal) होते हैं।"[1] प्रतिनिधि सदन के सदस्यों के मुकाबले मे सीनेट सदस्य

1. Government of the People, p. 441.

अधिक लोगों का एवं अधिक प्रदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं, और इस प्रकार जल्दी ही उनके ऊपर बदलते हुए जनमत का शीघ्र प्रभाव नहीं पड़ता, न किसी विशेष स्थान के निर्वाचकमण्डल के व्यक्तिगत जाति स्वभाव अथवा देह स्वभाव का शीघ्र प्रभाव उनके ऊपर पड़ता है। इसके विपरीत प्रतिनिधि सदन के सदस्य को अपने संकुचित निर्वाचन-क्षेत्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना पड़ता है और उसके ऊपर कतिपय स्थानीय हितों (Local Interest Groups) तथा दल के थोड़े से स्थानीय नेताओं का प्रभाव होता है। अधिकतर सीनेट सदस्य अपनी राजनीतिक सूक्ष्म बुद्धि के लिए सारे देश में विख्यात होते हैं। उनके मतों (Opinions) का कुछ मूल्य होता है, और कभी-कभी राष्ट्रपति भी अनुभवी (Veteran) सीनेट सदस्यों की बात मानने पर मजबूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त अपने-अपने राज्य की राजनीतिक पार्टियों में वे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कभी-कभी तो वे अपने-अपने राज्यों में राजनीतिक दलों के पूर्ण अधिनायक होते हैं। और अपने दल में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान इस कारण होता है कि केन्द्रीय शासन का संरक्षण एवं अनुग्रह (Patronage) उन्हें प्रायः सदैव प्राप्त रहता है। सीनेट को राष्ट्रपति द्वारा की हुई नियुक्तियों पर अनुमोदन का जो अधिकार प्राप्त रहता है, उसका सांविधानिक महत्त्व भी है और राजनीतिक महत्त्व भी। सांविधानिक महत्त्व इस कारण है कि इस प्रकार परीक्षणों और सन्तुलनों (Principles of the Checks and Balances) के सिद्धान्त की क्रियान्विति होती है; और राजनीतिक महत्त्व इस कारण है कि प्रत्येक सीनेटर के पास अपने-अपने राज्य में की गई बड़ी नियुक्तियों के ऊपर प्रायः पूर्ण निषेधाधिकार (Veto Power) है।

८. सीनेट का समैक्य (Senate Solidarity)—इसी के साथ यह भी समझने की आवश्यकता है कि सीनेट में पूर्ण समैक्य रहता है। "एक प्रकार से, सीनेट पारस्परिक सुरक्षा समाज है।"[1] प्रत्येक सीनेट सदस्य हर सम्भव उपाय से सीनेट सदस्यों के अधिकारों एवं विशेषाधिकारों की रक्षा करता है चाहे दलगत विचारों में विभिन्नता क्यो न हो और जब कभी किसी ओर से सीनेट के समैक्य (Solidarity) को आघात पहुँचा—जैसे कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने १९३८ में सीनेटोरियल कर्टसी नामक पुरानी प्रथा को तोड़ा और सीनेट की प्रतिष्ठा को हानि पहुँचाई—तुरन्त समस्त सीनेटर सदैव मिल जाते हैं।

९. सीनेट की स्वतन्त्र प्रवृत्ति और राजनीतिक अनुभव (Independent Spirit and Political Experience of the Senate)—जिन कारणों से सीनेट के सदस्यो की स्थिति अधिकारपूर्ण एवं प्रवृत्ति स्वतन्त्र बनी हुई है, उनमे से एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि उनकी पदावधि छः वर्ष है। कई सीनेट सदस्य ऐसे हैं जो ३-४ बार चुनाव जीत लेते है। यह लम्बी पदावधि उन्हें अपूर्व गौरव प्रदान करती है।

संविधान के निर्माताओं ने सोचा था कि सीनेट एक प्रतिगामी (Conser-

---

1. Government of the People, p. 420.

vative) संस्था बनेगी, इसी कारण उन्होंने सीनेट को कुछ विशेष शक्तियाँ प्रदान कीं। सीनेट ने उनकी इस आशा को पूरा कर दिया है। चार्ल्स बायर्ड (Charles Beard) लिखता है कि "सर्वसाधारण, सांविधानिक उपायों की पूर्ण रक्षा और हिवक उद्धत एवं हठधर्मीपूर्ण विचारों एवं कृत्यों के सशक्त विरोध की आशा केवल सीनेट-सदस्यों से ही कर सकते हैं, प्रतिनिधि सदन के सदस्यों से नहीं।"

१०. सीनेट का विदेश नीति पर प्रभाव (Influence on the Foreign Policy)—विदेश-नीति के सम्बन्ध मे सीनेट, कांग्रेस का प्रवक्ता रहा है और प्रतिनिधि सदन इसका छोटा साझी (Junior partner) रहा है। इसका कारण यह रहा है कि सीनेट का किसी सन्धि के ऊपर अनुमोदन अत्यावश्यक है, और साथ ही इसको राष्ट्रपति द्वारा राजदूतों, मन्त्रियों तथा अन्य उच्च अधिकारियों की, की हुई नियुक्तियों पर निषेधाधिकार (Veto Power) प्राप्त है। जाँच-पड़ताल के अधिकार (Investigations) के द्वारा भी सीनेट विदेश-नीति पर प्रभाव डाल सकता है। नी समिति (Nye Committee) की जाँच-पड़ताल के द्वारा ही १९३० में तटस्थता (Neutrality) सम्बन्धी विधान तैयार हुआ। १९५१ में सीनेट ने जनरल मैकआर्थर की वियुक्ति (Dismissal) के प्रश्न को लेकर जो जाँच-पड़ताल (Investigations) की थी, उसी के फलस्वरूप राष्ट्रपति ट्रूमैन की सुदूरपूर्व विदेश नीति पर कड़े कटाक्ष हुए थे और इस कारणवश शासन को अपनी नीति स्पष्ट करनी पड़ी थी।

निष्कर्ष (Conclusion)—स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि अपने इस [illegible] जीवन-काल मे सीनेट ने अपनी प्रधानता को [illegible] है। लॉर्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने ठीक ही कहा था कि "सीनेट [illegible] है कि [illegible] संविधान के निर्माताओं की मुख्य इच्छा को [illegible] सीनेट [illegible] आकर्षण केन्द्र (Centre of Gravity) [illegible] है। सीनेट एक ऐसा [illegible] निकाय है जो एक ओर प्रतिनिधि [illegible] रखता है तथा जो दूसरी ओर राष्ट्रपति [illegible] इन दोनों शक्तियों के बीच में [illegible] सीनेट [illegible] शक्तियों का प्रतिद्वन्द्वी है बल्कि [illegible] है। [illegible] सीनेट की सहमति के बिना [illegible]। यदि [illegible] विरोध करे तो राष्ट्रपति भी [illegible]। [illegible] निषेधात्मक सफलता प्राप्त हुई है [illegible] और इसने अपने आपको [illegible] में सीनेट और प्रतिनिधि [illegible] हैं, किन्तु दोनों सदनों [illegible] वृद्धि की है। जहाँ [illegible] और प्रतिष्ठा [illegible] में वृद्धि की है। [illegible] बल्कि संसार [illegible]

Suggested Readings

Beard, C. : *American Government and Politics* (1947) Chaps. IV and V.

Brogan, D. W. : *The American Political System* (1948), Part V, Chaps. III and IV.

Bryce, Lord : *The American Commonwealth,* Vol. I, Chaps. X-XIII.

Haynes, G. H. : *The Senate of the United States : Its History and Practice* (1938), Vol. I, Chaps. III-VII.

Munro, W. B. : *The Government of the United States,* (1947), Chaps. XVII-XX.

Ogg, F. A. and Ray, P. O. : *Essentials of American Government,* (1942), Chaps. XIII-XIV.

Wilson, W. : *Congressional Government* (1885).

Young, R. : *This is Congress* (1943), Chap. III.

Zink, H. : *A Survey of American Government.* (1950) Chaps. XVI-XVII.

अध्याय ६

काँग्रेस (क्रमशः)

(Congress—*Continued*)

काँग्रेस के कर्त्तव्य और अधिकार

(Functions and Powers of Congress)

कांग्रेस की शक्तियाँ (Powers of Congress)—सीनेट तथा प्रतिनिधि सदन दोनों से मिलकर संयुक्त राज्य अमेरिका की काँग्रेस अथवा राष्ट्रीय विधान-मण्डल का निर्माण हुआ है। संविधान का प्रथम अनुच्छेद समस्त विधायिनी शक्तियाँ काँग्रेस को सौंपता है और फिर यथाक्रम उन कर्त्तव्यों को गिनाता है जो काँग्रेस को करने हैं और उन शक्तियों का भी निरूपण करता है जो इसके अधिकार में रहेंगी। यदि संविधान के निर्माता गण प्रारम्भ से ही शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त (Doctrine of Separation of Powers) को अपना लेते, तो काँग्रेस केवल एक विधान-निर्माता निकाय बनकर रह गया होता। किन्तु 'परीक्षणों और संतुलनों' के सिद्धान्त ने काँग्रेस को विधान निर्माण के अतिरिक्त भी कुछ कार्य सौंप दिए हैं; और ये कर्त्तव्य किसी भी प्रकार काँग्रेस के विधायी कर्त्तव्यों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। "व्यापक अर्थों में कहा जा सकता है कि काँग्रेस ही वह साधन है जिसके द्वारा सर्वसाधारण राष्ट्र की नीतियों का निर्माण करते हैं; घोषणा करते हैं और उनकी क्रियान्विति की जाँच-पड़ताल व देख-भाल करते है।" काँग्रेस के अ-विधायी कर्त्तव्यों मे निम्न कर्त्तव्य सम्मिलित हैं—(१) संविधायी-कर्त्तव्य (Constituent), (२) निर्वाचकीय-कर्त्तव्य (Electoral), (३) कार्यपालिका-कर्त्तव्य (Executive), (४) न्यायिक-कर्त्तव्य (Judicial), (५) आदेशक एवं पर्यवेक्षीय-कर्त्तव्य (Directive and Supervisory), (६) खोज-पड़ताल सम्बन्धी कर्त्तव्य (Investigative)। विधायी कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि काँग्रेस अकेली ही विधान निर्माता निकाय नही है, यद्यपि संविधान के प्रथम अनुच्छेद में ऐसा ही लिखा है।[1]

अ-विधायी कर्त्तव्य

(Non-Legislative Functions)

संविधायी कर्त्तव्य (Constituent functions)—संविधान के संशोधन की प्रक्रिया का वर्णन करते समय हमने लिखा था कि संशोधन प्रस्ताव काँग्रेस के दो-तिहाई बहुमत अथवा दो-तिहाई राज्यों की प्रार्थना पर काँग्रेस द्वारा बुलाये गए

1. इस पुस्तक में पूर्व के अध्याय देखिए।

Suggested Readings

Beard, C. : *American Government and Politics* (1947) Chaps. IV and V.

Brogan, D. W. : *The American Political System* (1948), Part V, Chaps. III and IV.

Bryce, Lord : *The American Commonwealth,* Vol. I, Chaps. X-XIII.

Haynes, G. H. : *The Senate of the United States : Its History and Practice* (1938), Vol. I, Chaps. III-VII.

Munro, W. B. : *The Government of the United States,* (1947), Chaps. XVII-XX.

Ogg, F. A. and Ray, P. O. : *Essentials of American Government,* (1942), Chaps. XIII-XIV.

Wilson, W. : *Congressional Government* (1885).

Young, R. : *This is Congress* (1943), Chap. III.

Zink, H. : *A Survey of American Government.* (1950) Chaps. XVI-XVII.

अध्याय ६

काँग्रेस (क्रमशः)

(Congress—*Continued*)

काँग्रेस के कर्त्तव्य और अधिकार

(Functions and Powers of Congress)

काँग्रेस की शक्तियाँ (Powers of Congress)—सीनेट तथा प्रतिनिधि सदन दोनो से मिलकर संयुक्त राज्य अमेरिका की काँग्रेस अथवा राष्ट्रीय विधान-मण्डल का निर्माण हुआ है। संविधान का प्रथम अनुच्छेद समस्त विधायिनी शक्तियाँ काँग्रेस को सौंपता है और फिर यथाक्रम उन कर्त्तव्यों को गिनाता है जो काँग्रेस को करने हैं और उन शक्तियों का भी निरूपण करता है जो इसके अधिकार में रहेंगी। यदि संविधान के निर्मातागण प्रारम्भ से ही शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त (Doctrine of Separation of Powers) को अपना लेते, तो काँग्रेस केवल एक विधान-निर्माता निकाय बनकर रह गया होता। किन्तु 'परीक्षणों और संतुलनों' के सिद्धान्त ने काँग्रेस को विधान निर्माण के अतिरिक्त भी कुछ कार्य सौंप दिए हैं; और ये कर्त्तव्य किसी भी प्रकार काँग्रेस के विधायी कर्त्तव्यों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। "व्यापक अर्थों में कहा जा सकता है कि काँग्रेस ही वह साधन है जिसके द्वारा सर्वसाधारण राष्ट्र की नीतियों का निर्माण करते है; घोषणा करते हैं और उनकी क्रियान्विति की जाँच-पड़ताल व देख-भाल करते है।" काँग्रेस के अ-विधायी कर्त्तव्यों मे निम्न कर्त्तव्य सम्मिलित हैं—(१) संविधायी-कर्त्तव्य (Constituent), (२) निर्वाचकीय-कर्त्तव्य (Electoral), (३) कार्यपालिका-कर्त्तव्य (Executive), (४) न्यायिक-कर्त्तव्य (Judicial), (५) आदेशक एवं पर्यवेक्षीय-कर्त्तव्य (Directive and Supervisory), (६) खोज-पड़ताल सम्बन्धी कर्त्तव्य (Investigative)। विधायी कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि काँग्रेस अकेली ही विधान निर्माता निकाय नही है, यद्यपि संविधान के प्रथम अनुच्छेद मे ऐसा ही लिखा है।[1]

अ-विधायी कर्त्तव्य

(Non-Legislative Functions)

संविधायी कर्त्तव्य (Constituent functions)—संविधान के संशोधन की प्रक्रिया का वर्णन करते समय हमने लिखा था कि संशोधन प्रस्ताव काँग्रेस के दो-तिहाई बहुमत अथवा दो-तिहाई राज्यो की प्रार्थना पर काँग्रेस द्वारा बुलाये गए एक

1. इस पुस्तक के पूर्व के अध्याय देखिए।

सम्मेलन के द्वारा उपस्थित किया जा सकता है। चाहे कोई भी विधि अपनायी जाए, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि संविधान का एक शब्द भी बिना कांग्रेस के कोई अन्य सत्ता नहीं बदल सकती। कांग्रेस ही यह बताती है कि क्या संशोधन हो, वह किस प्रकार हो तथा अनुसमर्थन कितने समय में हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त कांग्रेस का यह भी मुख्य कर्त्तव्य है कि वह प्रारम्भिक संविधान का प्रसार करे और उसका निर्वचन करे, और जैसा कि हम पूर्व विवेचन कर चुके हैं, इसी के कारण संविधान गतिशील रहा है।

निर्वाचकीय कर्त्तव्य (Electoral functions)—कांग्रेस के निर्वाचकीय कर्त्तव्य भी हैं। नियमित रूप से हर चार वर्ष बाद कांग्रेस का सम्मिलित सत्र होता है जिसमें राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति के पक्ष में डाली गई वोटें गिनी जाती हैं। यदि किसी भी प्रत्याशी को समस्त राष्ट्रपतीय निर्वाचक मतों का बहुमत प्राप्त नहीं होता तो प्रतिनिधि सदन प्रत्येक मत देने वाले राज्य को एकक मानकर राष्ट्रपति का चुनाव उन तीन प्रत्याशियों में से करता है जिनको सबसे अधिक मत प्राप्त हुए हों। यदि किसी भी प्रत्याशी को उप-राष्ट्रपति के समस्त निर्वाचक मतों का बहुमत प्राप्त नहीं होता, उस स्थिति में सीनेट सबसे अधिक मत पाने वाले दो प्रत्याशियों में से उप-राष्ट्रपति का चुनाव करता है। इस प्रकार के चुनाव द्वारा केवल एक उप-राष्ट्रपति का अब तक चुनाव हुआ है, वह भी १८३७ में जब तक कि दल-प्रथा पूर्णरूपेण विकसित नहीं हुई थी। ऐसी घटना की पुनरावृत्ति अब नहीं हो सकती। कांग्रेस, विधि अनुसार निर्णय करती है कि राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति की मृत्यु हो जाने पर या किसी कारण अयोग्य हो जाने पर कौन राष्ट्रपति होगा अथवा कौन उप-राष्ट्रपति होगा। कांग्रेस को यह भी अधिकार है कि वह इस सम्बन्ध में विधि द्वारा निर्णय करे कि किस समय अथवा किन स्थानों पर अथवा किस प्रकार सीनेट और प्रतिनिधि सदन के सदस्यों का चुनाव होगा।[1] कांग्रेस ही अपने सदस्यों की अर्हताओं (Qualifications) की जांच-पड़ताल करती है, यहाँ तक कि उनके चुनावों की विध्यनुकूलता की भी स्वयं परीक्षा करती है।[2] यदि कांग्रेस के सदस्यों के बहुमत द्वारा किसी सदस्य अथवा सदस्यों का चुनाव न्यायसंगत नहीं हुआ है तो कांग्रेस ऐसे सदस्यों को सदस्यता से वंचित कर सकती है।[3] उदाहरणस्वरूप १९२६ में सीनेट ने विलियम एस० वेयर (William S. Vare) को सीनेट की सदस्यता से वंचित कर दिया क्योंकि उसने चुनाव आन्दोलन में अत्यधिक धन व्यय किया था।

कार्यपालिका कर्तव्य (Executive Functions)—कार्यपालिका कर्त्तव्यों में नियुक्तयाँ और संधियाँ आती हैं। कार्यपालिका कर्त्तव्यों को हम आदेशक एवं पर्यवेक्षी (Directive and Supervisory) शीर्षक के अन्तर्गत लेते हैं। कार्यपालिका

1. अनुच्छेद १, खण्ड ४।
2. अनुच्छेद १, खण्ड ५।
3. इस प्रथा की वैधानिकता पर आक्षेप किए गए हैं, यद्यपि इसके समर्थन में अनेक पूर्व-भावी हैं।

के कर्त्तव्यों को दो शाखाओं में बाँटने से स्पष्टतया समझने मे सुविधा होगी। राष्ट्रपति द्वारा जो लगभग १५ हजार अधिकारी नियुक्त किए जाते है और जिनके लिए सीनेट अनुमोदन प्रदान करता है, उनके सम्बन्ध में, जैसा कि हमने सीनेट के विशेष कर्त्तव्य (Special functions of the Senate) नामक शीर्षक के अन्तर्गत अध्ययन किया था, कांग्रेस भी महत्त्वपूर्ण योग देती है। वैसे तो सीनेट सदस्य एव प्रतिनिधिगण दोनों ही, किन्तु सीनेट सदस्य, विशेष रूप से इन नियुक्तियों मे से अधिकतर नियुक्तियों पर प्रभाव डालते हैं। जो सीनेट सदस्य राष्ट्रपति के दल के होते है, वे इस बात की प्रतीक्षा नही करते कि राष्ट्रपति उनसे पूछे कि वे किस प्रत्याशी को अमुक पद पर नियुक्त करना चाहते हैं। ज्योंही कोई स्थान रिक्त होता है, वे अपनी ओर से पहल करते हैं और स्वय अपनी इच्छा के प्रत्याशी का नाम प्रस्तुत करते हैं; और प्रायः अधिकतर वे अपने मन की करा लेते है। यदि किसी राज्य से कोई भी सीनेट सदस्य राष्ट्रपति के दल का न हो, तो उस स्थिति में प्रतिनिधि सदन के प्रतिनिधि ऐसे प्रत्याशी के लिए अपनी ओर से सुझाव करते है, और इसको वे अपना अधिकार मानते है। कभी-कभी जब उसी दल के सीनेट सदस्य उपस्थित हो तो भी ऐसा समझौता हो जाता है जिसके अनुसार सीनेट सदस्य एवं प्रतिनिधिगण दोनों मिल-जुलकर राष्ट्रपति के संरक्षण मे भाग बाँट लेते हैं।

सीनेट का एक मुख्य कार्य है राष्ट्रपति के द्वारा की हुई सन्धियो को अनुमोदित करना।[1] सन्धियों के मामले में राष्ट्रपति को पूर्ण अधिकार प्राप्त है परन्तु सीनेट द्वारा किए जाने वाले अनुमोदन के मार्ग को सुगम बनाने के लिए विवेकशील और दूरदर्शी मुख्य कार्यपालिका अध्यक्ष (Chief executive heads) सीनेट के प्रमुख सदस्यों से परामर्श कर लेते हैं और उनकी राय ले लेते है।

कांग्रेस के दोनों सदन ही संयुक्त राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विशेष रुचि रखते हैं। अपने सन्देश में राष्ट्रपति अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर प्रकाश डालता है और कांग्रेस, अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों पर व्यय होने वाले धन की स्वीकृति प्रदान करती है। युद्ध की घोषणा केवल कांग्रेस ही कर सकती है। आजकल संयुक्त राज्य के शासन की प्रवृत्ति यह हो रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो (International obligations) की पूर्ति, व्यवस्थापना के माध्यम से हो, न कि सन्धियों के द्वारा; और इससे स्पष्टतया यह ध्वनि निकलती है कि सीनेट और प्रतिनिधि सदन दोनों मिलकर शासन के संचालन में भाग लें।

न्यायिक कर्त्तव्य (Judicial Functions)—राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति एवं राष्ट्रीय अधिकारियों के विरुद्ध सार्वजनिक दोषारोप (Impeachment) की कार्य-

---

1. इस पुस्तक में पिछले पाठ में 'सीनेट के विशेष कर्त्तव्य' नामक शीर्षक के अध्ययन कीजिए।

वाही प्रतिनिधि सदन ही प्रारम्भ कर सकता है और उस स्थिति मे सीनेट न्यायालय का रूप धारण करता है।

प्रत्येक सदन अपने-अपने सदस्यों के विरुद्ध तो अनुशासनात्मक कार्यवाही करने में स्वतन्त्र है ही, साथ ही किसी हद तक स्वतन्त्र व्यक्तियों के विरुद्ध भी ऐसी कार्यवाही की जा सकती है। कांग्रेस के सदस्यों के विरुद्ध सार्वजनिक अभियोग (Impeachment) नहीं लाया जा सकता क्योंकि वे सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार संयुक्त राज्य के सिविल अधिकारी नहीं होते। इसलिए दोनों सदन मिलकर सोचते हैं और निर्णय करते है कि कांग्रेस के सदस्यों में अनुशासन कैसे रखा जाए, और किसी कांग्रेस के सदस्यों को अपने सदन के दो-तिहाई बहुमत-निर्णय से कांग्रेस से निकाला जा सकता है, यद्यपि ऐसा प्रायः कभी नही होता।

कांग्रेस के प्रत्येक सदन को नैसर्गिक अधिकार है कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को सजा दे सकता है जिसके व्यवहार से कांग्रेस की कार्यवाही में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप अथवा व्यवधान पड़ा हो। उदाहरणार्थ यदि कोई गवाह, कांग्रेस की किसी समिति के समक्ष किसी प्रश्न का उत्तर देने से इन्कार कर दे, तो वह सदन जिसकी समिति की उपेक्षा की गई है, न्यायालय के रूप में कार्य कर सकता है और उस गवाह के ऊपर सदन के तिरस्कार (Contempt) का अभियोग लगाया जा सकता है। सम्बन्धित सदन सशस्त्र परिचारक (Sergeant-at-Arms) को आज्ञा देकर उस व्यक्ति को गिरफ्तार करा सकता है। किन्तु उस व्यक्ति को केवल उतने समय के लिए ही हिरासत मे रखा जा सकता है जब तक कि कांग्रेस का सत्र चलता रहे। फिर भी प्रायः कांग्रेस अपने इस अधिकार का प्रयोग नही करती। इस प्रकार के मामले संयुक्त राज्य के महान्यायवादी (Attorney General) के पास भेज दिए जाते हैं और वह विधि अनुसार सदन के तिरस्कार (*Contempt*) के अभियोग में उचित सजा की व्यवस्था कर देता है।

आदेशक एवं पर्यवेक्षक कर्त्तव्य (Directive and Supervisory Functions)—कांग्रेस का अन्य कर्त्तव्य यह है कि वह प्रशासन के कार्यों में जाँच पड़ताल अथवा आदेश एवं पर्यवेक्षण कर सकती है। इसमे सन्देह नही कि राष्ट्रपति और उसके मन्त्रिमण्डलीय सदस्य ही वास्तव में प्रशासन को आदेश देते है और उसके कार्यों का पर्यवेक्षण करते हैं किन्तु कांग्रेस ही तो समस्त प्रशासनिक, निकायो अथवा संस्थाओं की सृष्टि करती है। संविधान इन प्रशासनिक संस्थाओं की रचना एवं सगठन के बारे मे बिल्कुल मौन है। संविधान इन प्रशासनिक सस्थाओं की शक्तियों अथवा कर्तव्यो की भी स्पष्ट व्याख्या नही करता। कांग्रेस के अधिनियम ही व्याख्या करते है कि प्रशासनिक विभागों की आकृति एवं रचना किस प्रकार से होगी अथवा उनका संगठन किस प्रकार होगा, अथवा उनको क्या शक्तियाँ प्राप्त होंगी। इसके अतिरिक्त कांग्रेस ही तो इन विभागों को धन देती है जिसके द्वारा वे अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य चलाते हैं। इस सबके फलस्वरूप कांग्रेस को अधिकार मिल जाता है कि वह विभागों के कार्य के ऊपर पर्यवेक्षण रखे; विभागों से नाना प्रकार की प्रशासन-

सम्बन्धी सूचनाएँ प्राप्त करती रहे, विभागों को विविध कार्य और कर्त्तव्य करने को देती रहे, यहीं तक नहीं, विभागों के कतिपय क्रिया-कलापों में कमी करने का आदेश दे दे; और धनराशि स्वीकृत न करके चाहे तो विभागों को बिलकुल समाप्त कर दे। १६४६ के व्यवस्थापक पुनर्गठन अधिनियम (Legislative Reorganisation Act, 1946) ने दोनों सदनों की स्थायी समितियों के ऊपर सब विधियों (laws) के पालन के विषय में सतत् जागरूक रहने के महत्त्व पर जोर दिया है। यही कारण है कि कन्ट्रोलर-जनरल (Controller General) राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी न होकर कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी बनाया गया है। कांग्रेस किसी एक विशेष स्थिति में, कभी-कभी प्रस्ताव पास करके, प्रशासन को उस मामले में एक विशेष मार्ग का अनुसरण करने के लिए निर्देश भी कर सकती है।

खोज-पड़ताल सम्बन्धी कर्त्तव्य (Investigative)—हमने सीनेट की खोज-पड़ताल करने वाली समितियों के बारे में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला था,[1] और हमने यह भी बतलाया था कि ये समितियाँ किस प्रकार प्रशासन को अपनी सीमाएँ उल्लंघन नहीं करने देती किन्तु इस प्रकार की समितियों की नियुक्ति केवल सीनेट ही नहीं करता। तथ्य यह है कि कांग्रेस की खोज-पड़ताल करने वाली समितियाँ तभी से अपना कार्य कर रही हैं जब से कांग्रेस का जन्म हुआ है। कांग्रेस को अधिकार है कि वह जब कभी आवश्यकता अनुभव करे किसी भी ऐसे विषय में खोज-पड़ताल कर सकती है जिसका सम्बन्ध, कांग्रेस के विधान-निर्माण, संशोधन, निर्वाचकीय, आदेशक एवं पर्यवेक्षी (Directive and Supervisory) अथवा अन्य कर्त्तव्यों से है। एलेक्जेंडर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) तथा अर्थ विभाग (Treasury Department) की जाँच-पड़ताल द्वितीय कांग्रेस ने कराई थी। और तभी से प्राय: राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल के पदों और कार्यालयों की भी बार-बार जाँच-पड़ताल हुई है।

कांग्रेस द्वारा जाँच-पड़ताल करते रहने से प्रशासन उत्तरदायी बना रहता है। किसी देश के प्रजातन्त्रात्मक विधानमण्डल का यह उचित कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उस देश के शासन के विभिन्न क्रिया-कलापों पर दृष्टि और नियन्त्रण रखे जिसका वह समर्थन करता है, और वह शासन की नीतियाँ तथा कार्य-कलाप सर्वसाधारण को बताता रहे। संसदीय शासन-प्रणाली में ऐसे बहुत से उपाय हैं जिनके द्वारा शासन के ऊपर नियन्त्रण रखा जा सकता है और उसको विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी बनने पर बाध्य किया जा सकता है। किन्तु राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली में ऐसे उपाय सम्भव नहीं है, और किसी बात का विशिष्ट उत्तरदायित्व किसी एक पर नहीं लाया जा सकता है। इसलिए विधानमण्डल द्वारा खोज-पड़ताल एवं पर्यवेक्षण अत्यन्त आवश्यक उपाय हैं, चाहे वे किसी हद तक भद्दे मालूम पड़ते हैं और इनके द्वारा कार्य-

1. इस पुस्तक में अध्याय ५ देखिए।

पालिका एवं प्रशासनिक विभाग संकोचपूर्ण परिस्थिति में पड़ जाते हैं और उनको कठिन जवाबदेही का शिकार बनना पड़ता है।

कई अमरीकी कांग्रेस के इस खोज-पड़ताल के अधिकार को अमरीकी सिद्धान्त के विरुद्ध मानते हैं, और उन्होंने इन अधिकारों को न्याय रक्षण न देने के लिए भी तर्क दिया है। वास्तविक तौर पर यद्यपि संविधान मे भी ऐसी खोज-पड़ताल के लिए कोई विधान नहीं है तथापि अमरीकी व्यवस्थापक-प्रणाली में इन खोज पड़तालों की जड़ें बड़ी दूर तक गई हुई है। चूँकि इनके द्वारा ही पुरानी विधियाँ अपर्याप्त सिद्ध हुई हैं और नई विधियों की आवश्यकता पड़ी है अतः यह खोज-पड़ताल की सतत सम्भवता ही है जिसने पदों के दुरुपयोग, अकार्यकुशलता और अधिकारों के गलत प्रयोगों मे कमी कराई है न कि खोज-पड़ताल ने स्वयं ऐसा किया है।

विधायी कर्त्तव्य

(Legislative Functions)

कांग्रेस मुख्यत: एक व्यवस्थापक संस्था है (Congress is Primarily a Legislative Body)—यद्यपि कांग्रेस को अनेक अ-विधायी कर्त्तव्य (Non-legislative Functions) करने पड़ते है जिनका महत्त्व भी है, किन्तु वास्तव में कांग्रेस मुख्यतः एक विधानमण्डल ही है; और संविधान कांग्रेस को ही समस्त विधायी शक्ति (Legislative Power) जो संघीय शासन के लिए सौंपी गई है (Herein granted) विनिर्दिष्ट करता है। इन शब्दों (Herein granted) के दो महत्त्वपूर्ण अर्थ है। प्रथमतः, इन शब्दों से ध्वनि निकलती है कि जहाँ शासन की शक्तियाँ नियन्त्रित है वहाँ कांग्रेस की शक्तियाँ भी नियन्त्रित है और उन वर्जित शक्तियों का वर्णन संविधान के दो लम्बे एवं विस्तृत खण्डों (Sections) में दिया हुआ है।[1] लगभग १८ विभिन्न वर्गों में वे विषय दिए गए हैं जिन पर कांग्रेस को अधिनियम बनाने का अधिकार है अथवा प्रथम सूची की शक्तियाँ संघीय सरकार को अभ्यर्पित हैं। द्वितीयतः, जिन विषयों पर कांग्रेस का अधिकार नही बताया गया है उनका वर्णन दूसरी सूची में किया गया है; किन्तु साथ ही संविधान स्पष्टतः वर्णन कर देता है कि कांग्रेस अथवा संघीय सरकार के लिए कौन-कौन से विषय वर्जित है।[2] इससे सामान्य निष्कर्ष यह निकलता है कि कांग्रेस उन शक्तियों का उपभोग कर सकती है जो उसे अभ्यर्पित (Expressly granted) हैं अथवा जिनका स्पष्ट निषेध नही किया गया है, और अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों को प्रदान की गई हैं।

विवक्षित शक्तियाँ (Implied Powers)—इस प्रकार कांग्रेस की विभिन्न शक्तियों को लगातार गिना कर संविधान अन्त में कांग्रेस को अधिकार देता है कि वह

1. अनुच्छेद १, खण्ड ७ एवं ८।
2. अनुच्छेद १, खण्ड ६।

सभी नियम बना सकती है "जिनकी समस्त वर्णित शक्तियों की क्रियान्विति में आवश्यकता पड़ेगी अथवा उन अन्य शक्तियों की क्रियान्विति में आवश्यकता पड़ेगी, जिनको संविधान ने संयुक्त राज्य अमेरिका के शासन को अथवा उसके किसी विभाग को विनिर्दिष्ट किया है।"[1] संविधान की स्थापना के कुछ ही वर्षों बाद कांग्रेस ने कुछ ऐसे विषयों पर नियम पारित करने चाहे, जिनके बारे में संविधान मौन था; विशेषकर हैमिल्टन (Hamilton) के विचारानुसार संयुक्त राज्य अमेरिका के स्टेट बैंक के सम्बन्ध मे। हेमिल्टन का कथन था कि बैंक के स्थापित करने का अधिकार निश्चित रूप से इस अधिकार में विवक्षित है जिसका सम्बन्ध संयुक्त राज्य के द्वारा कर्जा लेने अथवा कर्जा चुकाने से है। उसने दावे के साथ बल दिया कि राष्ट्रीय बैंक चाहे आवश्यक न सही किन्तु उचित माध्यम होगा जिसके द्वारा कांग्रेस की महत्त्वपूर्ण शक्तियों और अधिकारों की क्रियान्विति होगी जिस प्रकार कि मुद्रा टंकन (Coinage of money) के अधिकार की क्रियान्विति के लिए टकसाल (mint) की स्थापना नितान्त आवश्यक मानी जाती है। जेफरसन तथा उसके साथियों का विचार था कि कांग्रेस किसी ऐसे अधिकार का उपभोग नहीं कर सकती जो संविधान ने उसको स्पष्टतः प्रदान नहीं किया है। किन्तु अन्त मे जो उदार दृष्टिकोण प्रभावी हुआ उसके फलस्वरूप और उदारतापूर्ण संविधान के उस निर्वचन के फलस्वरूप जो तत्कालीन चीफ जस्टिस मार्शल (Marshall) और उसके सहयोगियों ने किया, कांग्रेस ने बेधड़क विवक्षित अथवा ध्वनित (Implied) शक्तियों का सहारा लेकर अपने अधिकार का खुल कर प्रयोग किया है तथा बहुत से महत्त्वपूर्ण विषयों पर अधिनियम बना डाले हैं। इसका फल यह हुआ है कि केन्द्रीय शासन की शक्तियो मे वृद्धि हुई है जिससे उसने उन महान् दायित्वों को निबाहा है जिनके लिए उसकी स्थापना की गई थी।

विवक्षित शक्तियों के सिद्धान्त को संविधान के कुछ संशोधनों से भी बल मिला है जिनमे स्पष्टतः उपबन्धित किया गया है कि "कांग्रेस को अधिकार होगा कि वह उन विवक्षित शक्तियों की क्रियान्विति आवश्यक अधिनियम (Legislation) के द्वारा करावे।"[2] इस सम्बन्ध में मतभेद है कि कौन-कौन से वैधिक नियम आवश्यक एवं उचित ठहराए जाएँ तथा कौन-कौन से अनावश्यक एवं अनुचित माने जाएँ अथवा प्रगणित (Enumerated) शक्तियों की क्रियान्विति के लिए कौन-कौन से वैधिक नियमों को समुपयुक्त (Appropriate) ठहराया जावे। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा है कि यदि यह मान लिया जाए कि कांग्रेस को अधिकार है, तो उस सम्बन्ध में कांग्रेस के दोनों सदन स्वतन्त्र है और वे किसी भी उपाय अथवा साधनों (Instrumentalities) से किसी भी शक्ति या अधिकार को क्रियान्वित कर सकते हैं बशर्ते कि संविधान द्वारा उसका निषेध न हो और जहाँ तक वे सब उपाय संविधान की आज्ञा और अभिप्राय (Letter and spirit of the constitution) से सगत

1. अनुच्छेद १, खण्ड ८, धारा १८।
2. संविधान के संशोधन XIII, XIV, XV, XIX और XX को देखिए।

(Consistent) तथा समुपयुक्त (Appropriate) हों।[1] इसके अतिरिक्त यह निर्णय करना कि कोई विधि संविधान के अर्थों में आवश्यक है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय यह है कि "यह राजनीतिक प्रश्न है जिसका उत्तर केवल कांग्रेस ही दे सकती है और इस सम्बन्ध में न्यायालय कोई निर्णय (Ruling) नहीं कर सकते।"[2] सर्वोच्च न्यायालयों के इन निर्णयों के फलस्वरूप स्पष्टतः कांग्रेस की शक्तियों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। संविधान में सार्वजनिक कल्याण के सम्बन्ध में जो उपबन्ध है, उसके फलस्वरूप भी कांग्रेस की शक्तियों एवं अधिकारों में वृद्धि हुई है। संविधान कहता है कि "कांग्रेस को अधिकार होगा कि वह संयुक्त राज्य की रक्षा व्यवस्था एवं सार्वजनिक लोक-कल्याण की दिशा में उचित कर्त्तव्य पालन करे।" इसका अर्थ है कि राष्ट्रीय अथवा संघीय शासन के पास संविधान द्वारा प्रदत्त देश की रक्षा-व्यवस्था एवं लोक-कल्याण व्यवस्था के लिए वे समस्त शक्तियां मौजूद हैं जो न संविधान में स्पष्टतः एवं विशेष रूप से प्रगणित हैं और न विवक्षित हैं। कहना न होगा कि कांग्रेस ने सार्वजनिक लोक-कल्याण सम्बन्धी गूढ़ सांविधानिक उपबन्ध के सहारे विभिन्न समस्याओं को लिए हुए कई मामलों पर विधियों का निर्माण कर लिया है। सामाजिक सुरक्षा अधिनियम (Social Security Act) ऐसी विधियों में से एक उदाहरण है।

आपात शक्तियां (Emergency Powers)—कांग्रेस तथाकथित आपात शक्तियों पर भी भरोसा रखती है। आर्थिक संकट तथा युद्ध के दिनों में कांग्रेस ने कई एक विषयों पर आपात विधान पारित किए हैं जो उसके क्षेत्राधिकार से परे थे। पर वास्तव में कांग्रेस की कोई आपात शक्तियां नहीं हैं और न ही संविधान ने उनकी कोई व्यवस्था ही की है। अतः कांग्रेस अपने में पहले से ही निहित शक्तियों पर भरोसा रखती है। यह बात अलग है कि उन शक्तियों के प्रयोग की आवश्यकता या तो बहुत कम है या आम तौर पर उनके प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कांग्रेस को संविधान ने जो शक्तियां अभ्यर्पित की है, वे कांग्रेस की वास्तविक शक्तियों का आभास नहीं देतीं। कांग्रेस को जो अठारह स्पष्ट शक्तियाँ (Express powers) प्राप्त है, उनमें से दो शक्तियों का सम्बन्ध करारोपण (Levying of taxes), राज्य-धन के व्यय (Spending public money) एवं संघीय शासन की ओर से कर्ज लेने से है। तीसरी शक्ति का सम्बन्ध पर-राष्ट्रों के साथ अथवा अन्तर्राज्यीय वाणिज्य से है। इन तीन पदों अथवा मदों (Items) का ही इतना आश्चर्यकारी फैलाव हुआ है कि जहाँ संविधान की किसी छपी हुई प्रति में यह पद छः पंक्तियों में छप जाएँगे, वहीं उक्त तीन पद सैकड़ों और हजारों ऐसे सुदूरगामी परिनियमों (Statutes) के आधार बन

1. मैक-कुलीच विरुद्ध मैरीलैण्ड (Mc. Culloch V. Maryland) 1819 वाले मामले में चीफ जस्टिस मार्शल का प्रसिद्ध निर्णय पढ़िए।

2. इसी पुस्तक में पिछले अध्याय में देखिए।

गए है जिनको कांग्रेस ने समय-समय पर शासन-व्यवस्था के लिए अधिनियमित किया है। संविधान मे वाणिज्य के सम्बन्ध में जो धारा है, उसका सहारा लेकर पिछले दो दशकों (decades) में अनेक अधिनियम बने है जिनसे व्यापारिक प्रथाओं का विनियमन, संगठित श्रमिक संस्थाओ के हितों की रक्षा; कोयला-खान-उद्योगों का वर्गीकरण; तथा स्कन्ध (Stock) एवं अनाज बाजारों में स्थायित्व हुआ है। कांग्रेस की शक्तियों में वर्द्धन सार्वजनिक लोक-कल्याण सम्बन्धी धारा के कारण भी हुआ है और अंतिम रूपेण राष्ट्रीय रक्षा का आधार लेकर काँग्रेस की शक्तियाँ अपरिमित हो गई है। जब देश में आर्थिक संकट काल अथवा मन्दी (Economic depression) का भय छा गया, उस समय कुछ लोग सोचते थे कि काँग्रेस के पास देशव्यापी मन्दी से छुटकारा दिलाने के लिए पर्याप्त शक्तियों का अभाव है। आज-कल ऐसे डर की कोई सम्भावना नहीं है। "सच तो यह है कि आज बहुत से लोगों को यह भय है कि कांग्रेस के ऊपर अत्यधिक उत्तरदायित्व लाद दिया गया है, विशेष-कर उन क्षेत्रों में जो पहले या तो सर्वसाधारण के नियन्त्रण में थे अथवा राज्यो के अधिकार में थे।"

विधि-निर्माण की प्रक्रिया
(The Making of Laws)

विभिन्न प्रकार के विधेयक (Kinds of Bills)—विधेयक को पास करने की प्रक्रिया पर विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि विधेयकों (bills) और संयुक्त प्रस्तावों (Joint resolutions) के बीच का भेद समझ लिया जाए और इसके बाद विधेयकों के बीच में जो भेद है, उस पर विचार किया जाए। सीनेट तथा प्रतिनिधि सदन दोनों का अधिकतर कार्य विधेयकों अथवा संयुक्त प्रस्तावों के द्वारा होता है। इन दोनों मे प्राय: कोई अंतर नहीं है सिवाय इसके कि संयुक्त प्रस्तावो का विषय अथवा उद्देश्य संकुचित होता है और वे थोड़े ही समय तक प्रभावी रहते हैं। अन्यथा संयुक्त प्रस्ताव, विधेयकों के ही समान होते है, उनकी भी वही प्रक्रिया होती है और एक-सी ही हालत में दोनों प्रभावी होते है। किन्तु संयुक्त प्रस्ताव (Joint resolutions), संवर्ती प्रस्तावों (Concurrent resolutions) और प्रति-निधि सदन के साधारण प्रस्तावों अथवा साधारण सीनेट प्रस्ताव (Simple house or senate resolutions) से भिन्न होते हैं। संवर्ती प्रस्तावो के द्वारा दोनों सदन अपना स्वरूप (Attitude), अभिप्राय (Opinion) तथा लक्ष्य अथवा प्रयोजन (Objective) प्रकट करते है। किन्तु उनका वैधिक महत्त्व नही के बराबर है और उनको राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए नहीं रखा जाता। प्रतिनिधि सदन का साधारण प्रस्ताव, अथवा साधारण सीनेट प्रस्ताव सम्बन्धित सदन के अभिप्राय (Opinion), उद्देश्य (Purpose) अथवा इच्छा (Intention) को प्रकट करते हैं, और उनके लिए यह आवश्यक नही है कि उनको दूसरा सदन अनुमोदित करे। उनका भी कोई वैधिक महत्त्व नही है और इस कारण उनको भी राष्ट्रपति के पास उनकी स्वीकृति के लिए नही भेजा जाता।

स्वयं विधेयक भी कई प्रकार के होते हैं, और उनमें भेद होता है। कुछ विधेयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं और उनमें शासन की नीति का वृहत् आयोजन निहित होता है। इनमें नीति का विस्तारपूर्वक दिग्दर्शन रहता है, और इस प्रकार का विधेयक कभी-कभी ७५ छपे हुए पृष्ठों से भी अधिक में छापा जाता है। उपर्युक्त विधेयकों को सार्वजनिक विधेयक (Public bills) कहा जा सकता है। किन्तु अन्य विधेयकों में प्राइवेट मामले निहित होते हैं, और इनको प्राइवेट विधेयक समझना चाहिए। किन्तु अमेरिका में इंग्लैण्ड की तरह मन्त्रिमण्डल का नेतृत्व विधेयकों के सम्बन्ध में नहीं है, जहाँ सार्वजनिक विधेयकों को शासन ही पुरःस्थापित (Introduce) करता है, शासन ही उनका मार्ग-दर्शन करता है और शासन ही उन विधेयकों में निहित बुराई-भलाई का प्रतिभू बनता है। किन्तु अमेरिका की कांग्रेस में वहाँ की सरकार का कोई दखल नहीं है और सभी विधेयक कांग्रेस के सदस्यों द्वारा ही पुरःस्थापित किये जाते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में विधेयकों तथा संयुक्त प्रस्तावों के भेद की तरह इसमें भी भेद व्यवहार के रूप में प्रायः नहीं बरता जाता।

विधेयकों की पुरःस्थापना (Introduction of Bills)—अमेरिका में इंग्लैण्ड की भाँति सरकारी विधेयक नहीं होते। अमेरिकी कांग्रेस मे विधेयकों को पास कराने में मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का कोई हाथ नहीं होता। प्रायः ऐसा समझा जाता है कि विधेयकों की पुरःस्थापना या तो सीनेट सदस्य अथवा प्रतिनिधि लोग ही करते हैं। यह पूर्ण सत्य नहीं है, यद्यपि कुछ वैधिक प्रस्ताव निश्चय ही दोनों में से किसी एक सदन में पुरःस्थापित किए जाते हैं। वास्तव में अधिकतर विधेयक कार्यपालिका द्वारा पुरःस्थापित किए जाते हैं, अर्थात् या तो राष्ट्रपति की ओर से अथवा किसी कार्यपालिका विभाग की ओर से अथवा किसी स्वतन्त्र एजेन्सी-कार्यालय की ओर से। कुछ विधेयक, प्रभावपूर्ण वर्गों अथवा ऐसे लोगों की प्रेरणा पर पुरःस्थापित किए जाते हैं जिन्का शासन से कोई सम्पर्क नहीं होता। फिर भी, चाहे किसी विधेयक के सम्बन्ध मे प्रेरणा किसी ओर से भी हुई हो; किन्तु इसकी वास्तविक पुरःस्थापना किसी कांग्रेसी सदस्य के नाम से ही होना आवश्यक है। इस प्रकार सीनेट अथवा प्रतिनिधि सदन के सदस्य एक प्रकार के मध्यस्थ के रूप में कार्य करते है, न कि विधेयकों के वास्तविक पुरःस्थापक के रूप में।

जो सदस्य किसी विधेयक का पुरःस्थापक बनना स्वीकार करता है, वह विधेयक की प्रति अपने नाम से या तो सदन के क्लर्क की मेज पर रखे बक्स (Hopper) में डाल देता है, अथवा सीनेट के सचिव की मेज पर रखे बक्स मे डाल देता है। कोई भी विधेयक किसी भी सदन में पुरःस्थापित किया जा सकता है; केवल वित्तीय विधेयकों के लिए संविधान की यह आज्ञा है कि वे केवल प्रतिनिधि सदन में ही पुरःस्थापित किये जा सकते हैं। उक्त बिल पर तुरन्त नम्बर डाला जाता है और सरकारी मुद्रणालय को छपने के लिए भेज दिया जाता है; और अगली सुबह को सदस्यों को प्रलेख आगार (Document room) में दे दिया जाता है। इस प्रक्रिया के बाद प्रथम विधेयक-प्रक्रम (First stage of Bill) समाप्त हो जाता है। इसको विधेयक का

प्रथम वाचन समझना चाहिए।

समिति प्रक्रम (Committee stage)—इसके बाद विधेयक समुपयुक्त समिति के पास भेज दिया जाता है। विधेयक अधिकतर स्वयमेव समुपयुक्त स्थायी समिति के पास चला जाता है क्योंकि विधेयक का शीर्षक ही प्रकट कर देता है कि किस स्थायी समिति के पास उसे भेजा जाए। कुछ स्थितियों में स्पीकर यह निर्णय करता है कि विधेयक को किस समिति के पास भेजा जाए।

समिति प्रक्रम में समिति, विधेयकों की प्रारम्भिक परीक्षा करती है और यह निर्णय किया जाता है कि उक्त विधेयक उचित है अथवा नहीं। जिन विधेयकों को विचार्य समझा जाता है उनको निकाल लिया जाता है, बाकी समस्त विधेयकों को नत्थी कर दिया जाता है; इसका अर्थ है कि निर्योग्य विधेयकों की हत्या कर दी जाती है। प्रत्येक अधिवेशन में विधेयक जिस विशाल संख्या मे उपस्थित किए जाते हैं उसको देखते हुए उनमें से लगभग ५० प्रतिशत से लेकर ७५ प्रतिशत तक विधेयकों को समाप्त कर देने की प्रथा अत्यन्त उपयोगी है। अधिक महत्त्वपूर्ण विधेयकों की विस्तारपूर्वक परीक्षा की जाती है, उस सम्बन्ध मे सरकारी और गैर-सरकारी स्रोतों से जानकारी प्राप्त की जाती है। समिति को तत्सम्बन्धी प्रत्येक जानकारी प्राप्त करने का अधिकार है। कभी-कभी उपसमिति का निर्माण किया जाता है और उसके समक्ष उक्त विधेयक, पूर्ण अथवा उसके कुछ विशिष्ट अंश विचारार्थ भेज दिए जाते है। ये उप-समितियाँ प्रायः नियमित समितियों की तरह ही होती हैं, जो विधेयक मे से सार-सार चुन लेती हैं और वे ही यह निर्णय करती है कि किसी विधेयक मे क्या संशोधन उपस्थित किए जा सकते हैं और अन्य प्रकार से उस विधेयक के सम्बन्ध मे अपना उत्तरदायित्व पूर्ण करती है। १९४६ मे कांग्रेस ने प्रत्येक समिति की सहायता के लिए कुछ अन्वेषक अधिकारी-गण (research staff) की व्यवस्था कर दी।

जिन समितियों को महत्त्वपूर्ण विधेयकों पर विचार करने का आदेश दिया जाता है, वे प्रायः सार्वजनिक सभाओं का आयोजन करती है, जहाँ उक्त विधेयक मे रुचि रखने वाले लोग उपस्थित होते हैं, और वे विचार्य विधेयक के पक्ष या विपक्ष में तर्क उपस्थित करते है। गवाहों के लिखित बयानों के अतिरिक्त समितियों के सदस्य अनेक प्रश्न करते है जिनके द्वारा वे और अधिक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। स्थायी समितियाँ सार्वजनिक रूप से तो जानकारी प्राप्त करती हैं, इसके अतिरिक्त उनके ऊपर प्रायः बाहरी दबाव और प्रभाव भी पड़े बिना नहीं रहते। कभी-कभी स्वयं राष्ट्रपति समितियों के चोटी के सदस्यों को पत्र लिखकर अथवा बातचीत के द्वारा महत्त्वपूर्ण विधेयकों पर उचित विचार करने के लिए प्रेरणा प्रदान कर सकता है। प्रशासनिक कार्यालयों (Administrative agencies) के अधिकारीगण भी समितियों से मिलने की और अपने विचार उनको बताने की प्रार्थना कर सकते है, अथवा वे किसी विधेयक के पक्ष वा विपक्ष मे सविस्तार विचार प्रकट कर सकते है। वे समिति के ऊपर दबाव डाल सकते है कि उनके

है और सत्र विशेष के विधायी कार्यक्रम को तय कर लिया जाता है। कांग्रेस की दोनों सभाओं में इसी कार्यक्रम के अनुसार कार्य होता है।

सदन में विधेयक को पास करने की प्रक्रिया (Procedure on the floor)—जिस विधेयक को समिति, रिपोर्ट सहित सदन में भेज देती है, उसको मुख्य तीन सूचियों (Calendars) में से किसी एक समुपयुक्त सूची में रख दिया जाता है। विधान-सभा की सूची अथवा कैलेण्डर (Calendar) वह अभियोग सूची (Docket) है, अथवा उन विधेयकों की वह सूची है जिन्हें समितियाँ सदन के विचारार्थ प्रतिवेदन (report) सहित वापस भेज देती है। प्रतिनिधि सदन इस प्रकार की तीन अभियोग सूचियाँ (Dockets) रखता है जिसमें विभिन्न प्रकार के विधेयक रखे जाते हैं—(१) एक समस्त सदन की समिति की अभियोग सूची (Calendar) होती है जिसका विषय 'संघ की स्थिति' (State of Union) है, इस सूची में वे समस्त सार्वजनिक विधेयक रखे जाते है जिनका सम्बन्ध राजस्व से होता है अथवा किसी ऐसे दोषारोपण या अभियोग (Charge against) से होता है जो शासन के विरुद्ध लगाया जाए। इस सूची को संघ-सूची (Union Calendar) भी कहते है। (२) दूसरी सदन की सूची (House Calendar) होती है जिसमे वे समस्त अवित्तीय सार्वजनिक विधेयक रखे जाते है, जिनका सम्बन्ध न तो राजस्व से हो, न सम्पत्ति अथवा रुपए-पैसे से हो। (३) तीसरी समस्त सदन की समिति की सूची (Calendar) होती है जिसमें सभी प्राइवेट विधेयक (Private bills) रखे जाते हैं। इसको प्राइवेट सूची (Private Calendar) भी कहते हैं। इन सूचियों में विधेयकों को उसी क्रम के अनुसार नत्थी किया जाता है जिस क्रम मे वे समितियों से प्राप्त होते हैं, और वे समस्त विधेयक कांग्रेस के स्थगन (Adjournment) तक उसी सूची में उसी प्रकार रखे रहते हैं। हाँ, उनको विचारार्थ ही उससे (कांग्रेस के स्थगन से) पूर्व हटाया जा सकता है।

दोनों सदन इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि अल्प मत को अवश्य सुना जाय। प्रतिनिधि सदन मे पक्ष और विपक्ष को समान समय मिलता है। सीनेट में यह सुविधा असीमित वाद-विवाद के रूप में दी जाती है।

प्रतिवेदन स्तर (Committee reporting)—जब प्रतिनिधि सदन में विधेयक के विचारार्थ उपस्थित करने का समय हो जाता है, उस समय सदन सामान्यतया समस्त सदन की समिति (Committee of the Whole) के रूप मे सम्मिलित होता है। १९३० के पूर्व, सीनेट समस्त सदन की समिति (Committee of the Whole) का प्रयोग प्रतिनिधि सदन की अपेक्षा अधिक बार किया करता था; किन्तु आजकल सीनेट के सामान्य विधेयकों पर विचार करने के सम्बन्ध में इस व्यवहार को समाप्त कर दिया है, केवल जिस समय सन्धियों पर वाद-विवाद होता है, तभी समस्त सदन की समिति का प्रयोग होता है। समस्त सदन की समितियाँ दो प्रकार की होती हैं: प्रथम, समस्त सदन की वह समिति होती है जिसमें अ-सार्वजनिक (Private) विधेयकों पर विचार किया जाता है; और द्वितीयतः, समस्त

सदन की समिति 'संघ की स्थिति' (State of Union) के सम्बन्ध में होती है जिसमें केवल सार्वजनिक विधेयकों (Public bills) पर विचार किया जाता है। जब प्रतिनिधि सदन समस्त सदन की समिति (Committee of the Whole) के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तो सदन का सभापति (The Speaker) अपना आसन छोड़ देता है और किसी अन्य सदस्य से प्रार्थना करता है कि वह सभापति का आसन ग्रहण करे। कम-से-कम १०० सदस्यों की उपस्थिति से गणपूर्ति हो जाती है। समस्त सदन की समिति में वाद-विवाद खुल कर और औपचारिक रूप से होता है। केवल मौखिक ढंग से मत गणना (Divisions) की जाती है जिसमें सदस्य या तो केवल खड़े होकर अथवा मौखिक बोल कर (By tellers) अपना-अपना मत देते हैं। इस बात का कोई लिखित प्रमाण नहीं रखा जाता कि किस सदस्य ने किस पक्ष में मत दिया। विवाद-ग्रस्त विषय को किसी अन्य व्यक्ति या समिति के पास मत जानने के लिए भेजने (To refer) की आज्ञा नहीं दी जाती, न समस्त सदन की समिति विवाद-ग्रस्त विषय को आगे के लिए टाल सकती है। जब वाद-विवाद समाप्त हो जाता है, और समस्त सदन की समिति, मतों द्वारा स्वयं भंग होने की आज्ञा देती है, तब सदन का स्पीकर पुन: अपनी ही कुर्सी पर आ विराजता है और पुनः सभापति की गदा (Mace) चौकी (Pedestal) पर सभापति के आसन के दाहिनी ओर रख दी जाती है।

समस्त सदन की समिति आहूत करने का तरीका वास्तव में महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसके द्वारा समस्त वित्तीय विधेयकों और अन्य महत्त्वपूर्ण विधेयकों पर इस प्रकार विचार हो सकता है, कि प्रत्येक सदस्य को, जो बोलना चाहे, अथवा उस सम्बन्ध में संशोधन उपस्थित करना चाहे, अवसर मिल जाता है।

सदन के नियमों के अनुसार प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन (Readings) आवश्यक हैं। प्रथम वाचन का अभिप्राय विधेयक के शीर्षक का जर्नल (Congressional Record and the Journal) में मुद्रित हो जाना है। प्रथम वाचन के पश्चात् विधेयक समुपयुक्त समिति के पास चला जाता है। यदि समिति अपने प्रतिवेदन सहित उस विधेयक को वापस भेज देती है, तो उसको द्वितीय वाचन के लिए सदन की सूची (Calendar) में रख दिया जाता है। द्वितीय वाचन उस समय होता है जब सदन में, उस पर विचार किया जाता है अथवा जब समस्त सदन की समिति (Committee of the Whole) में उस पर विचार किया जाता है। यही विधेयक का वास्तविक वाचन होता है, जहाँ पूर्ण वाद-विवाद एवं संशोधन प्रस्तुत करने की पूर्ण सुविधा रहती है। कुछ संशोधन तो सामान्य होते हैं किन्तु कुछ संशोधन सुदूर परिवर्तनकारी (Considered amendments) होते हैं और उनका उद्देश्य विधेयकों में परिवर्तन करना ही होता है। कुछ संशोधन केवल दर्शनार्थ (Pro-forma) होते हैं जिनमें किसी खण्ड या धारा में एक-दो शब्दों का हेर-फेर मात्र रहता है। विधेयक के संचालन में समिति की चोटी के वही सदस्य जिन्होंने इसका समर्थन किया था, सदन में उसका मार्ग-दर्शन करते हैं। उक्त समिति में जो अल्पमत सदस्य थे जिन्होंने समिति में उक्त विधेयक का विरोध किया था, सदन में भी

उसका विरोध करते है। वाद-विवाद का यह समय प्रायः पूर्व-निश्चित होता है और इस प्रकार विधेयक के समर्थकों और विरोधियों में समय आधा-आधा बाँट दिया जाता है।

जब वाद-विवाद एव विचार समाप्त हो जाता है, तो सदन का स्पीकर कहता है—'विवाद-ग्रस्त प्रश्न एकाग्रता (Engrossment) एवं तृतीय वाचन की स्थिति में है।" यदि विधेयक स्वीकृत हो जाता है तो उसे एकाग्र स्थिति (Engrossed) के अनुकूल तथा तृतीय वाचन समाप्त समझ लिया जाता है। इसके बाद विधेयक अपने अन्तिम स्तर पर पहुँचता है। यदि वह स्वीकृत हो जाता है तो इसको प्रतिनिधि सदन के स्पीकर के हस्ताक्षरों सहित सीनेट को भेज दिया जाता है।

सीनेट द्वारा कार्रवाई (Action by the Senate)—एकाग्र स्थिति (engrossed) में विधेयक सन्देशवाहक द्वारा सीनेट के पास भेजा जाता है जहाँ यथोचित सम्मान द्वारा उसे स्वीकार किया जाता है। नियमानुसार सीनेट का अध्यक्ष उसे स्थायी समिति को सौंप देता है। प्रतिनिधि सदन के समान सीनेट समिति भी उस पर विस्तार से विचार करती है और अन्त मे संशोधन सहित अथवा उसके बिना प्रतिवेदन (report) प्रस्तुत करती है। उसके पश्चात् विधेयक समिति सूची (Calendar) पर रखा जाता है।

सीनेट के प्रक्रिया के नियम सदन के नियमों से भिन्न हैं। प्रतिवेदन करने वाला सीनेट का सदस्य विधेयक पर तुरन्त विचार करने के लिए सदन की स्वीकृति के लिए निवेदन कर सकता है। यदि कोई आक्षेप (objection) न हो और विधेयक विवादास्पद भी न हो तो सीनेट इसके उद्देश्य तथा प्रभाव की संक्षिप्त व्याख्या करते हुए इसे पारित कर देता है। कोई भी सीनेट सदस्य संशोधन पेश कर सकता है। यदि विधेयक पर तुरन्त विचार करने के प्रति किसी का आक्षेप हो तो वह एक दिन के लिए पड़ा रहता है और उसे कैलण्डर पर रख देते हैं। सीनेट मे विधेयकों के लिए एक प्रकार की ही समिति सूची (Calendar) है जबकि प्रतिनिधि सदन मे ऐसा नही है।

हर विधायी दिन के प्रातःकालीन कार्यक्रम की समाप्ति पर सीनेट विधेयकों की समिति सूची पर विचारार्थ कार्य आरम्भ करता है। जिन विधेयकों पर आक्षेप नहीं होता वे क्रमानुसार लिए जाते हैं और प्रत्येक सीनेटर को किसी भी प्रश्न पर बोलने के लिए पाँच मिनट दिए जाते हैं। किसी भी स्तर पर आक्षेप किए जा सकते है। यदि बिल पर आक्षेप हो जाए और उसका नाम कैलण्डर से हट जाय तो इसका यह अर्थ आवश्यक नही कि वह गिर गया है। सीनेट का बहुमत दल निश्चय करता है कि बिल पर कब बहस हो और उस पर विचारार्थ प्रस्ताव पेश किया जाता है। इस प्रकार के प्रस्ताव पर अड़ंगा (Filibuster) लगाया जा सकता है। समापन के लिए यदि १६ सीनेटर हस्ताक्षर कर दें और प्रस्ताव पर उपस्थित सदस्यों मे से दो-तिहाई मत प्राप्त हो जाएँ तो समापन क्रिया हो सकती है। इस स्तर पर भी संशोधन प्रस्ताव रखे जा सकते है। समिति द्वारा पूर्व प्रस्तावित संशोधन और इन संशोधनों पर पृथक् से विचार होता है।

संशोधनों के विषय में होने वाली कार्रवाई के अन्त में विधेयक एकाग्रता और तृतीय वाचन के लिए तैयार हो जाता है। अध्यक्ष तब विधेयक पर मौखिक मत लेता है। बिल को पारित करने के लिए बहुमत आवश्यक है। मौलिक एकाग्रस्थिति में विद्यमान सदन का बिल, यदि कोई एकाग्रस्थिति में संशोधन हों तो उनके साथ, सीनेट की कार्रवाई के सन्देश से युक्त, प्रतिनिधि सदन को लौटा दिया जाता है।

सदन मे लौट आने के बाद वह विधेयक सम्बन्धित कागजपत्रों के साथ अगली कार्रवाई के लिए स्पीकर की मेज पर रखा जाता है। यदि संशोधन साधारण हों तो वे सदन द्वारा स्वीकृत कर लिए जाते हैं और विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षरों के लिए उसके सम्मुख रखने योग्य बन जाता है। यदि संशोधन विवादास्पद हों और सदन को वे स्वीकार्य न हों तो फिर कोई सदस्य उस विषय में कॉन्फ्रैंस के लिए कह सकता है। कॉन्फ्रैंस पर उन्ही विषयों पर विचार होता है जिन पर मतभेद हो। कॉन्फ्रैंस का परिणाम प्राय: समझौते में निकलता है। यदि उसमे समझौता न हो सके तो सदस्य अपने-अपने सदनों में रिपोर्ट भेज देते है।

कोई भी विधेयक तब तक विधि नहीं बन सकता जब तक दोनों सदनो मे उसका एक जैसे रूप में अनुमोदन न हो। अन्त में जब विधेयक दोनों सदनों का अनुमोदन प्राप्त कर लेता है तब वह राष्ट्रपति के पास उसकी स्वीकृति के लिए जाता है। राष्ट्रपति अनुमोदित (Approved) लिख कर और हस्ताक्षर कर अपनी स्वीकृति प्रदान करता है और विधेयक विधि बन जाता है। यदि राष्ट्रपति विधेयक के लिए निषेधधिकार (Veto) का प्रयोग करना चाहता है तो वह विधेयक पर आक्षेप प्रकट करके उनके साथ उसे उस सदन मे लौटा देता है जहाँ वह पहली बार प्रस्तुत किया गया था। यदि दोनों सदन अपने-अपने यहाँ दुबारा उसे दो-तिहाई मतों से पारित कर लें तो वह राष्ट्रपति के हस्ताक्षरों के बिना भी कानून बन जाता है। अन्यथा नहीं। कांग्रेस के सत्र के रहते-रहते राष्ट्रपति द्वारा विधेयक का १० दिन तक बिना हस्ताक्षर के रखा जाना भी उसको कानून का रूप प्रदान करना है क्योंकि इस परिस्थिति में भी विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बिना भी विधि बन जाता है। पर यदि कांग्रेस का सत्र १० दिन के भीतर स्थगित हो जाय और राष्ट्रपति के हस्ताक्षर विधेयक पर न हुए हों तो विधेयक की हत्या हो जाती है। इस क्रिया को पॉकेट वीटो (Pocket Veto) कहते है।

कांग्रेस का मूल्यांकन
(General Appraisal of Congress)

१७८७ के संविधान के निर्माताओं को कांग्रेस से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। यह सोचा गया था कि शासन के तीनों भागों में कांग्रेस ही सबसे सशक्त होगी। कांग्रेस के क्रिया-कलाप और इसकी सफलताओं से पता लगता है कि वह संसार के सबसे अधिक सफल विधानमण्डलों में से एक है। फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि संविधान के निर्माताओं की जो महान् आशाएँ कांग्रेस से थीं, उस अर्थ में कांग्रेस ने प्रारम्भ

से ही उन आशाओं को पूर्ण नहीं किया। "सत्य तो यह है कि कांग्रेस की प्रतिष्ठा बराबर गिरती ही गई; इसका प्रभाव क्षीणतर होता रहा है, और इसकी यह पुरानी कमजोरी रही है कि यह किसी कार्य-विशेष को दृढ़ता के साथ पूरा नहीं कर सकी है; जबकि राष्ट्रपति पद का गौरव बराबर बढ़ा है और सर्वोच्च न्यायालय ने सामान्य रूप से अपनी प्रतिष्ठा को स्थायी अवश्य रखा है।"

कांग्रेस सच्चे अर्थों में राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्था नहीं है (Not a really national representative body)—कांग्रेस की हीनतर प्रतिष्ठा का मुख्य कारण यह है कि कांग्रेस सच्चे अर्थों में राष्ट्र का प्रतिनिधि निकाय नहीं है। वास्तव में कांग्रेस राज्यों के शिष्टमण्डलों का एक समूह है। "राष्ट्रपति पद के विकास के विपरीत, कांग्रेस का विकास प्रायः प्रादेशिक उद्देश्यों को लेकर हुआ है। कांग्रेस का प्रायः यही मुख्य कार्य रहा है कि समझौते के द्वारा विरोधी प्रादेशिक हितों मे सामंजस्य स्थापित कराया जा सके। राष्ट्रीय विधान निर्माण करते समय कांग्रेस का ध्येय यह देखना रहा है कि किसी विधान का प्रभाव किसी क्षेत्र-विशेष पर क्या होगा अथवा उसकी प्रतिक्रिया उस प्रदेश मे क्या होगी जहाँ से प्रतिनिधि या सीनेट सदस्य आए है और जहाँ उनको वापस जाना है, न कि यह देखना कि किसी विधान का समस्त राष्ट्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा अथवा राष्ट्र का हित मंगल उसके द्वारा कहाँ तक हो सकेगा।"[1] कांग्रेस के इस क्षेत्रीय एवं स्थानीय रवैये (Attitude) के कारण यह अशक्त एवं *पिछड़ी हुई संस्था के रूप में विकसित हुई है; और निस्सन्देह इस कमजोरी से राष्ट्र*-पति की स्थिति को लाभ पहुँचा है; और राष्ट्रपति-पद राष्ट्रीय एकता का प्रतीक समझा जाने लगा है।

स्थानीय एवं क्षेत्रीय हितों का शासन (Locality Rule)—कांग्रेस और उसके सदस्यों के सम्मुख स्थानीय एवं क्षेत्रीय हितों की बात ही मुख्य रूप से रहती है। सविधान में भी यही लिखा है कि सीनेट सदस्य और प्रतिनिधिगण उसी राज्य के निवासी होंगे जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, और प्रथा इससे भी आगे है जिसके अनुसार प्रतिनिधि उस राज्य के निवासी तो होंगे ही, साथ ही उनको उसी निर्वाचक जिले का निवासी भी होना चाहिए जिसका प्रतिनिधित्व वे करना चाहते हैं। प्रतिनिधि सदन का सदस्य सदैव याद रखता है कि प्रति दो वर्षों बाद उसके निर्वाचकगण उसको परखेंगे। इस चेतना के फलस्वरूप वह सदैव यही सोचता है कि किस बात से उसके निर्वाचकगण प्रसन्न होंगे। इसका स्पष्ट फल यह है कि प्रत्येक कांग्रेस सदस्य सचेत रह कर राष्ट्रीय हितों को तिलाञ्जलि दे देता है किन्तु स्थानीय अथवा क्षेत्रीय हितों की रक्षा करता है।

इंग्लैंड की संसद् का सदस्य दल के सचेतक (Whip) की अवहेलना करने का साहस नहीं कर सकता, और वह दल के अनुशासन अथवा आज्ञा के विरुद्ध नहीं *जा सकता, चाहे दल का निर्णय किसी विषय पर उसके निर्वाचकगण की इच्छाओं*

---

1. An Anatomy of American Politics, p. 79.

यह देख कर क्षोभ होगा कि व्यवस्थापिका का अपार समय छोटी-मोटी व्यर्थ की बातों पर नष्ट किया जाता है और प्रतिनिधि सदन मे विशेष रूप से बड़े-बड़े महत्वपूर्ण विषयों पर बड़ी ही अनुचित जल्दबाजी की जाती है। इसके अतिरिक्त अभिबाधक नीति अथवा अड़ंगेबाजी (Filibuster) और सन्धियों के अनुमोदन के लिए दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता भी कांग्रेस और उसके बहुमत के मार्ग मे बहुत भीषण रुकावटें हैं जिनके कारण निश्चित उद्देश्य की पूर्ति में बाधा पड़ती है। दोनों सदनों की कार्य करने की रीति भी कुछ ऐसी दूषित है कि उससे अल्प मत वालों को बढ़ावा मिलता है और वे सदनों के कार्य मे वाद-विवाद के नियमों के औचित्य की ओर बार-बार ध्यान दिलाकर (Frequent points of order); व्यर्थ समय नष्ट करने वाले प्रस्तावों को रख कर (Time-consuming motions); वाद-विवाद मे असंगत प्रसंग प्रस्तुत करके और बार-बार गणपूर्ति (Quorum) की याद दिला कर बाधा उपस्थित करते हैं।

कांग्रेसी सदस्य न केवल व्यवस्थापक (Legislator) है, बल्कि उससे आशा की जाती है कि वह अपने निर्वाचकमण्डल की ऐसे-ऐसे विभिन्न क्षेत्रों मे सेवा करे जिनका व्यवस्थापिका से बिलकुल सम्बन्ध नही है। इसका फल यह होता है कि बहुत ही थोड़े सदस्य व्यवस्थापन-कार्य में सम्यक् समय लगा पाते है।

लॉबी का प्रभाव (The Influence of Lobby)—कांग्रेस के सदस्य के इर्द-गिर्द ऐसे लोगों का समूह अक्सर मंडराया करता है जो उन पर किसी व्यवस्थापन (Legislation) के विषय में उसके पक्ष में रहने के लिए या उसे रद्द करने के लिए दबाव डालता रहता है। इस कार्य को सम्पादन करने के लिए किसी प्रकार की घूंस इत्यादि देने का काम नही किया जाता परन्तु यह कार्य इतनी सूक्ष्मता या बारीकी से किया जाता है कि बेचारा व्यवस्थापक लॉबी के प्रभाव को पड़ता हुआ जान नही पाता। इस प्रकार के कार्य करने वालों को लॉबीइस्ट (Lobbyists) कहते हैं। ये लोग किन्हीं विशेष समुदायों के प्रतिनिधि होते है जो आर्थिक दृष्टि से अथवा अन्य किसी स्वार्थ से कांग्रेस के सामने प्रस्तुत व्यवस्थापन में स्वार्थ दृष्टि रखते हैं। कांग्रेस सदस्य इन लोगों के प्रभाव से बच नहीं पाते क्योंकि ये हर जगह मौजूद होते है और इनकी प्रार्थना या धमकी उनके कानों में सदा गूंजती रहती है। लाबीइंग के काम से लाभ भी होता है परन्तु बहुधा इस कार्य को करने के अच्छे तरीके न होने के कारण राष्ट्रीय व्यवस्थापक निकाय के रूप में कांग्रेस की प्रतिष्ठा तथा सचाई को धक्का लगा है।

न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review)—न्यायिक पुनरीक्षण में भी व्यवस्थापकों की हिम्मत पस्त रहती है। संविधान ने विधान-निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति सर्वोच्च न्यायालय को सौंप दी है और कांग्रेस सदस्य जब किसी विधेयक का सूत्रपात करते हैं तो उनको न केवल यह सोचना पड़ता है कि उनके निर्वाचकगण क्या चाहते हैं अथवा वे क्या सहन कर सकते हैं, बल्कि उनको यह भी सोचना पड़ता है कि कांग्रेस जो भी विधेयक जिस रूप में पास करेगी, उसको सर्वोच्च न्यायालय

और उनके हितों के विरुद्ध ही क्यों न हो। अमेरिका में न तो सीनेट सदस्य और न प्रतिनिधि अपने राज्य अथवा अपने निर्वाचन-क्षेत्र के लोगों की इच्छा के विरुद्ध जाने का साहस करेंगे और उनकी हिम्मत नहीं है कि वे स्थानीय अथवा क्षेत्रीय हितों को तिलाञ्जलि देते हुए अपने दल की आज्ञा एवं अनुशासन स्वीकार करें। अमेरिका में कांग्रेस का सदस्य जानता है कि यदि वह चुनाव मे हार गया तो उसकी कांग्रेसी सदस्यता की जीवन-वृत्ति (Congressional career) समाप्त हो जाएगी।

कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में विच्छेद (Divorce between the Executive and Legislature)—राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली में शासन के स्पष्ट विभाग होते है। इंग्लैंड मे संसद् केवल एक औपचारिक व्यवस्थापक निकाय है। वहाँ ससद् का वास्तविक कर्त्तव्य यह है कि वह मन्त्रिमण्डल के निर्णयों का अनुमोदन करे और उनको शक्ति प्रदान करे। किन्तु कांग्रेस की स्थिति इसके बिलकुल विपरीत है। संयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस के दोनो सदनों का मुख्य कार्य विधान निर्माण करना है। सीनेट अथवा प्रतिनिधि सदन दोनों अपने क्षेत्रों में राष्ट्रपति से प्रेरणा नहीं लेते। कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के इस पृथक्करण के कारण अमेरिका मे नीति सम्बन्धी एकता का अभाव रहता है।

कांग्रेस की अदूरदर्शी नीति (Short-sighted policy of Congress)—इसका स्पष्ट फल यह है कि चारों ओर असङ्गतता (Incoherency) और अनुत्तरदायित्व (Irresponsibility) का बोलबाला है। बेइन्तिहा विधान-निर्माण चल रहा है जिसके कारण अदूरदर्शी काम सम्पन्न होते है। कांग्रेस ने सम्भवतः कभी भी दूरदर्शी एवं स्थायी नीति का परिचय नहीं दिया है, इसमे केवल वे अवसर अपवाद है जबकि किसी सशक्त राष्ट्रपति के दबाव के कारण कांग्रेस ने दूरदर्शिता का परिचय दिया हो। जब कभी शासन पर कांग्रेस छायी रही, उतने काल में वर्गों एवं क्षेत्रों के हित सर्वप्रधान रहे जैसी कि गृह-युद्ध के पूर्व स्थिति रही, अथवा जिस प्रकार कि गृह-युद्ध के बाद भ्रष्टाचारियों (Spoilsmen) की चढ़ बनी थी। "यदि विधि की उचित मान-मर्यादा रखी जाए अर्थात् विधि को समस्त जाति अथवा राष्ट्र के नैतिक जीवन की कसौटी एवं नैतिक जीवन से सम्बन्धित कानून समझा जाए, तो कांग्रेस ने निश्चित रूप से मूढ़ता एवं मन्दता का परिचय दिया है और उसने विधि को उस रूप मे न देखा, न समझा।"[1] यही कारण रहा है "जो कांग्रेस, प्रगति में सर्वसाधारण से पीछे रह गई है और जिसके कारण यह सभी लोगों के मजाक की चीज बन गई; सुसंस्कृत एवं व्युत्पन्न (Enlightened) लोगों मे निराशा का कारण बन गई और क्रूर एवं निर्दय (Ruthless) लोगों के लिए आशा की किरण स्वरूप बन गइ।"[2]

कांग्रेस का अयोग्य संचालन (Inefficient working of Congress)—यदि कोई व्यक्ति स्थूल दृष्टि से भी कांग्रेस के क्रिया-कलापों पर नजर डाले तो उसे

1. The Anatomy of American Politics, p. 83.
2 *Ibid.*

यह देख कर क्षोभ होगा कि व्यवस्थापिका का अपार समय छोटी-मोटी व्यर्थ की बातों पर नष्ट किया जाता है और प्रतिनिधि सदन में विशेष रूप से बडे-बड़े महत्वपूर्ण विषयों पर बड़ी ही अनुचित जल्दबाजी की जाती है। इसके अतिरिक्त अभिबाधक नीति अथवा अडंगेबाजी (Filibuster) और सन्धियों के अनुमोदन के लिए दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता भी कांग्रेस और उसके बहुमत के मार्ग मे बहुत भीषण रुकावटें हैं जिनके कारण निश्चित उद्देश्य की पूर्ति मे बाधा पडती है। दोनों सदनों की कार्य करने की रीति भी कुछ ऐसी दूषित है कि उससे अल्प मत वालों को बढ़ावा मिलता है और वे सदनों के कार्य मे वाद-विवाद के नियमो के औचित्य की ओर बार-बार ध्यान दिलाकर (Frequent points of order); व्यर्थ समय नष्ट करने वाले प्रस्तावों को रख कर (Time-consuming motions); वाद-विवाद में असंगत प्रसंग प्रस्तुत करके और बार-बार गणपूर्ति (Quorum) की याद दिला कर बाधा उपस्थित करते हैं।

कांग्रेसी सदस्य न केवल व्यवस्थापक (Legislator) है, बल्कि उससे आशा की जाती है कि वह अपने निर्वाचकमण्डल की ऐसे-ऐसे विभिन्न क्षेत्रों मे सेवा करे जिनका व्यवस्थापिका से बिलकुल सम्बन्ध नही है। इसका फल यह होता है कि बहुत ही थोड़े सदस्य व्यवस्थापन-कार्य में सम्यक् समय लगा पाते हैं।

लॉबी का प्रभाव (The Influence of Lobby)—काँग्रेस के सदस्य के इर्द-गिर्द ऐसे लोगों का समूह अक्सर मंडराया करता है जो उस पर किसी व्यवस्थापन (Legislation) के विषय में उसके पक्ष मे रहने के लिए या उसे रद्द करने के लिए दवाव डालता रहता है। इस कार्य को सम्पादन करने के लिए किसी प्रकार की घूंस इत्यादि देने का काम नही किया जाता परन्तु यह कार्य इतनी सूक्ष्मता या बारीकी से किया जाता है कि वेचारा व्यवस्थापक लॉबी के प्रभाव को पड़ता हुआ जान नही पाता। इस प्रकार के कार्य करने वालों को लॉबीइस्ट (Lobbyists) कहते है। ये लोग किन्हीं विशेष समुदायों के प्रतिनिधि होते है जो आर्थिक दृष्टि से अथवा अन्य किसी स्वार्थ से कांग्रेस के सामने प्रस्तुत व्यवस्थापन में स्वार्थ दृष्टि रखते हैं। कांग्रेस सदस्य इन लोगों के प्रभाव से बच नही पाते क्योंकि ये हर जगह मौजूद होते हैं और इनकी प्रार्थना या धमकी उनके कानों में सदा गूंजती रहती है। लाबीइंग के काम से लाभ भी होता है परन्तु बहुधा इस कार्य को करने के अच्छे तरीके न होने के कारण राष्ट्रीय व्यवस्थापक निकाय के रूप में कांग्रेस की प्रतिष्ठा तथा सचाई को धक्का लगा है।

न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review)—न्यायिक पुनरीक्षण से भी व्यवस्थापकों की हिम्मत पस्त रहती है। संविधान ने विधान-निर्माण के सम्बन्ध मे अन्तिम शक्ति सर्वोच्च न्यायालय को सौंप दी है और कांग्रेस सदस्य जब किसी विधेयक का सूत्रपात करते हैं तो उनको न केवल यह सोचना पड़ता है कि उनके निर्वाचक-गण क्या चाहते हैं अथवा वे क्या सहन कर सकते है, बल्कि उनको यह भी सोचना पड़ता है कि कांग्रेस जो भी विधेयक जिस रूप में पास करेगी, उसको सर्वोच्च न्यायालय

कहाँ तक स्वीकार करेगा यदि उस विधेयक की विध्यनुकूलता पर न्यायालय मे आक्षेप किया जाए। कोई भी पहले से यह नही सोच सकता कि सर्वोच्च न्यायालय का क्या रुख होगा किन्तु शंका तो बनी ही रहती है। इस शंका के फलस्वरूप वे विधान-निर्माण की ओर पूरा ध्यान नही लगा पाते।

आर्थिक एव सामाजिक हितों का एकीकरण (Unification of economic and social interests)—देश की आधुनिक स्थिति को देखते हुए यह स्पष्ट है कि *अमेरिका में आर्थिक एवं सामाजिक हितों का एकीकरण बड़ी तेजी से हो रहा है।* अब वर्गीय अथवा क्षेत्रीय आर्थिक प्रश्नों की ओर लोगों का ध्यान कम है और सभी विचारो एवं वर्गों के लोग सार्वजनिक हित कल्याण के लिए मिल कर काम करने के इच्छुक है। पिछले चार राष्ट्रपतीय चुनावो ने स्पष्ट दिखाया है कि केवल दक्षिणी *राज्यों के लोगों की अन्ध भावुक अवस्था (Blind emotional attitude of the* South) को अपवाद स्वरूप छोड़ते हुए अब देश की राष्ट्रीय राजनीति में वर्ग-हित और क्षेत्र-हित प्रायः बिलकुल नहीं है और अब आर्थिक प्रश्नो पर देश को क्षेत्रीय अथवा भौगोलिक आधार पर विभाजित करना कठिन होगा।

इसका स्पष्ट फल यह हुआ है कि सर्वसाधारण में नई राष्ट्रीय चेतना का आविर्भाव हुआ है, और उन्हे कांग्रेस की ओर से विशेष आशाएँ नही हैं। वे अमेरिकी विधानमण्डल पर अत्यधिक विश्वास करने में झिझकते है, क्योंकि कांग्रेस जहाँ अब भी स्थानीय हितों की संरक्षिका है, वही अपनी टालमटोल अथवा दीर्घसूत्रता (Procrastination), अनिश्चित अथवा अवसरवादी समझौते के द्वारा राष्ट्रीय हितों को खतरे मे डालती है। वे राष्ट्रपति को राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रीय समन्वय अथवा अविभाज्यता (National unity and national solidarity) का प्रतीक समझकर उसी की ओर आशावान दृष्टि से निहारते है।

कांग्रेस को शक्तिशाली बनाने के उपाय
(Strengthening the Congress)

कांग्रेस के कार्यपालिका के साथ सम्बन्ध (Relations with the Executive)—*राष्ट्रपति समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि है, समस्त प्रशासन का प्रधान है* और साथ ही सर्वसाधारण की आम पसन्द का नेता है। सर्वसाधारण अथवा कांग्रेस दोनों ही राष्ट्रपति के नेतृत्व मे विश्वास करते है, यद्यपि राष्ट्रपति और कांग्रेस में विवाद भी रहता है किन्तु राष्ट्रपति का नेतृत्व उसी स्थिति मे स्थापित हो सकता है जबकि कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका मे उचित सम्बन्ध पैदा हो। यह समन्वय तभी प्राप्त हो सकता है जब कांग्रेस शक्तिशाली बने। इसका अर्थ है कि कांग्रेस अपनी उस स्वाभाविक एवं अंतर्वर्ती प्रवृत्ति को दूर करे जो उसे राष्ट्रपति-विरोधी बनाती है।

इस समन्वय को प्राप्त करने के दो उपाय हैं। कुछ लोगो का मत है कि यदि कभी अमेरिका का संविधान पुनः निर्मित हुआ तो निश्चित रूप से अमेरिका में संसदीय शासन-प्रणाली का सूत्रपात होगा जिसमें कार्य[illegible] व्यवस्थापिका में आवश्यक

समन्वय रहता है। किन्तु ऐसा होना कठिन है। इसलिए ऐसे उपाय करने चाहिएँ जिनसे राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली में आवश्यक सुधार हो जाए। इस दिशा में पहला कदम यह होना चाहिए कि कांग्रेस राष्ट्रपति का नेतृत्व स्वीकार करे। किन्तु इस सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिए कि राष्ट्रपति के नेतृत्व का यह अर्थ नहीं होगा कि कांग्रेस, राष्ट्रपति अथवा कार्यपालिका द्वारा पुरःस्थापित सभी प्रस्तावों को दासी रूप में स्वीकार करे। कांग्रेस को कार्यपालिका की प्रत्येक सिफारिश पर अपना स्वतन्त्र विचार एवं विवेकपूर्ण निर्णय करना चाहिए। इसके द्वारा यह स्थिर हो जाता है कि राष्ट्रपति राष्ट्र की सर्वोच्च विधायिनी शक्तियों का उपभोग करेगा। कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के पारस्परिक सम्बन्ध और भी सुधर सकते हैं तथा व्यवस्थित हो सकते हैं, यदि दोनों सदन अपने नियमों में सशोधन कर लें और मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को सीनेट तथा प्रतिनिधि सदन में बैठने दें और वहाँ उनको व्यक्तिगत रूप में प्रश्नों का उत्तर देने दें।

व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में समन्वय लाने की दिशा में तीन योजनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। एक योजना स्वर्गीय सीनेट सदस्य एम० ला० फॉलेट, जूनियर (M. La Follette, Jr.) ने प्रस्तुत की थी। इस योजना के अनुसार कांग्रेस के नेताओं और मन्त्रिमण्डल के मुख्य मन्त्रियों का एक निकाय बनना चाहिए जो साथ बैठकर राष्ट्रीय नीति की मोटी रूप-रेखा तैयार करे। यदि इन दोनों प्रकार के सदस्यों (कांग्रेस के तथा मन्त्रिमण्डल के) में बार-बार मन्त्रणाएँ एवं विचार-विनिमय होगा तो वे एक-दूसरे को समझ सकेंगे; और इस प्रकार व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में मिल कर टीम की तरह कार्य करने की आदत पड़ेगी। इन सम्मेलनों का सभापतित्व राष्ट्रपति करेगा। इस योजना का स्वागत किया गया था, और इसका चारों ओर से समर्थन हुआ। १९४६ में कांग्रेस के पुनर्गठन के सम्बन्ध में जो संयुक्त समिति बनी थी उसने यह सिफारिश की थी, किन्तु कांग्रेस ने इस सुझाव को अस्वीकृत कर दिया।

इस सम्बन्ध में द्वितीय योजना लगभग १०० वर्ष पुरानी है और इस योजना का सुझाव है कि मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को कांग्रेस में स्थान दिए जाएँ। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति ही करता रहेगा किन्तु उन्हें वाद-विवाद में भाग लेने की आज्ञा होगी और वे दोनों सदनों में प्रश्नों के उत्तर देने के लिए बाध्य होंगे; किन्तु उन्हें वोट देने का अधिकार नहीं होगा। यह बताया गया था कि इस प्रकार की व्यवस्था से संविधान में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होगी। इस योजना को कुछ बदलते हुए, सीनेट सदस्य ई० केफौर (Senator E. Kefauver) ने प्रस्ताव किया कि दोनों सदनों की कार्यवाही में प्रश्न-समय (Question time) की व्यवस्था कर देनी चाहिए। इस प्रश्न-समय में भी मन्त्रिमण्डल के सदस्य एवं अन्य चोटी के प्रशासनिक अधिकारीगण सदन में उपस्थित रहें और किसी सदस्य द्वारा प्रश्न किए जाने पर उत्तर दें। ऐसा विचार किया गया था कि इस सुधार के फलस्वरूप प्रशासकों (Administrators) और कांग्रेस सदस्यों (Congressmen) में सहयोग का विस्तार होगा।

अध्याय ७

संघीय न्यायपालिका

(Federal Judiciary)

संघीय न्यायपालिका की आवश्यकता (Need of the Federal Judiciary)—प्रसंधान के अनुच्छेदों (Articles of Confederation) ने, जैसा कि हम वर्णन कर चुके हैं राष्ट्रीय न्यायपालिका की कोई व्यवस्था नहीं की थी। हैमिल्टन ने कहा था कि यह पुराने शासन की भारी कमजोरी थी क्योंकि, उसके अनुसार, विधियाँ व्यर्थ की चीज हैं जब तक कि न्यायालय न हों जो उन विधियों के अर्थ बतावें और उनकी क्रियान्विति की व्याख्या करें। प्रसंधान अथवा परिसंघ (Confederation) के काल में, समस्त न्यायिक विवाद, राज्यों के न्यायालय ही निपटाते थे, और चूँकि प्रत्येक राज्य में अलग-अलग न्याय-व्यवस्था थी, इसलिए प्रायः परस्पर-विरोधी निर्णय हुआ करते थे और इस कारण अनिश्चितता एवं अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी और अनेक उलझनें सामने आने लगी थी। इसलिए, संविधान के निर्माताओं ने अपने सम्मुख मुख्य उद्देश्य यह रखा कि एक ऐसी न्याय-व्यवस्था को जन्म दिया जाए जो स्थापित होने वाले नए शासन की स्थिरता को बनाए रखे; साथ ही जो उस समय अस्त-व्यस्तता (Chaotic Conditions) फैली हुई थी उसका अन्त किया जाए। वे यह भी समझते थे कि भविष्य में राज्यों में आपसी विवाद अधिक होंगे, अतः एक ऐसे सर्वमान्य मध्यस्थ (Outside Umpire) की आवश्यकता होगी जो समस्त राज्यों के हितों से ऊपर हो और जो उन सभी राज्यों के विवादों को निपटाये। इसी प्रकार ऐसे प्रश्न भी सम्मुख आएँगे जिनका सम्बन्ध संयुक्त राज्य के परराष्ट्र सम्बन्धों से होगा अथवा जिनका सम्बन्ध विदेशों से की गई सन्धियों से होगा, और इस प्रकार की सभी बातों को राज्यों के न्यायालयों के सुपुर्द नहीं किया जा सकता, चाहे राजनीतिक रूप से वही उचित जान पड़े। यदि राज्यों के आपसी विवाद अथवा परराष्ट्र के साथ की गई सन्धियों से उत्पन्न विवाद राज्यों के न्यायालयों को सौंपे जाएँगे तो इसका अर्थ होगा कि समस्त देश की शान्ति और समृद्धि को तेरह परस्पर-विरोधी राज्यों की सत्ताओं के विवेक एवं निर्णय पर छोड़ा जा रहा है। पुनः यह भी सोचा गया कि संविधान के विभिन्न उपबन्धों का निर्वचन भी भविष्य में विवाद का कारण बन सकता है और कांग्रेस द्वारा पारित विधियों के निर्वचन पर भी विभेद हो सकता है। यदि इस प्रकार के विवादों को विभिन्न राज्यों के न्यायालयों पर छोड़ दिया जाएगा तो इसका अर्थ होगा अव्यवस्था एवं गतिरोध को आमन्त्रण देना, क्योंकि प्रत्येक राज्य-न्यायालय भिन्न और परस्पर-विरोधी निर्णय देगा। अन्त में संविधान के निर्माता अधिक पूर्ण एकता और न्याय स्थापन करने की योजना बना रहे थे। अतः

एक योजना और भी है। इस योजना के अनुसार राष्ट्रपति को अपने मन्त्री लोग, काँग्रेस के चोटी के नेताओं में से छाँटने चाहिएँ और उनसे भी मन्त्रणा प्राप्त करनी चाहिए, साथ ही अपने मन्त्रिमण्डल के महत्त्वपूर्ण सदस्यों से भी मन्त्रणा करनी चाहिए। इस विधि के अनुसार चलने पर संविधान में कोई परिवर्तन करना आवश्यक नहीं होगा, शर्त केवल यह है कि उक्त कांग्रेस के सदस्यों को प्रशासनिक विभागों का अध्यक्ष न बनाया जाए। इस योजना के समर्थकों का कथन है कि इस प्रकार के सलाहकारों अथवा मन्त्रियों का निकाय अधिक सशक्त, साथ ही अधिक साविधानिक (Institutionalised) होगा। प्रोफेसर कॉरविन (Prof. Corwin) जो इस योजना का समर्थक है, कहता है "कि ऐसे मन्त्रियों के निकाय (Body of Advisers) में वे लोग होगे जो राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रपति से दबकर नहीं रहेगे, जिनकी राजनीतिक सफलता का आधार राष्ट्रपति की राजनीतिक सफलता के आधार से भिन्न होगा और जो राष्ट्रपति की विचार-चपलता (Presidential whim) पर स्वतन्त्र अंकुश रख सकेंगे, जिसका आजकल पूर्ण अभाव है।"[1]

Suggested Readings

Brogan, D. W. : *The American Political System* (1948), Part Five, Chaps. I and IV.

Burns, J. M. and Peltason, J. W. : *Government by the People* (1954), Chaps. XV, XVII.

Corwin, E. S. : *The President, Office and Powers* (1948), Chap. VII.

Laski, H. J. : *The American Presidency* (1952), Chap. III.

Ogg, F. A. and Ray, P. O. : *Essentials of American Government* (1952), Chaps. VI, VII, VIII.

Tourtellot, A. B. : *The Anatomy of American Politics* (1950), Chap. III.

Wilson, W. : *Congressional Government*, Chap. V.

Young, R. : *This is Congress* (1943), Chaps. II, V-VI, VIII.

Zink, H. : *A Survey of American Government* (1950), Chaps. XV, XVII, XIX.

1. Corwin, E. S. : The President, Office and Powers, p. 362.

ऐसी स्थिति मे एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष संघीय न्यायपालिका की आवश्यकता बिलकुल स्पष्ट थी।

संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय का उपबन्ध (Constitution provides for a Supreme Court)—इन विचारों एवं तर्कों के आश्रित, संविधान के रचयिताओं ने संविधान के अनुच्छेद ३ में संघीय न्यायपालिका का उपबन्ध किया और ऐसा करते समय उन्होने न्यायपालिका को कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बराबर दर्जा दिया। सविधान में इसका सक्षिप्त वर्णन है, और न्यायपालिका के संघटन अथवा उसकी रचना के विषय मे विस्तृत विवेचन नही है। तृतीय अनुच्छेद केवल यही उपबन्धित करता है कि समस्त न्यायपालिका शक्ति एक न्यायालय मे विहित होगी अथवा अन्य छोटे न्यायालयों मे विहित होगी जिनको कांग्रेस समय-समय पर अपनी आज्ञानुसार स्थापित करे। इस प्रकार कांग्रेस को अधिकार दिया गया है कि वह सर्वोच्च न्यायालय के लिए आवश्यक न्यायाधीशों की संख्या निर्धारित करे, साथ ही अतिरिक्त न्यायालयो की ज्यों-ज्यो और जिस प्रकार आवश्यकता पड़े, स्थापना करे। इन सभी न्यायालयो के न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता एवं स्थिरता बनाए रखने के लिए सविधान ने निश्चित किया है कि वे सदाचार-पर्यन्त अपने पदों पर स्थायी रूप से बने रहेंगे, और उनका जो वेतन आदि निश्चित किया जाएगा उसे उनकी पदावधि में किसी प्रकार भी कम नही किया जा सकता।

संघीय न्यायपालिका के ऊपर कांग्रेस का नियन्त्रण (Power of Congress to control federal judiciary)—ऊपर वर्णन किए हुए सांविधानिक उपबन्धों के बावजूद कांग्रेस के पास अब भी कुछ ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा वह संघीय न्यायपालिका के ऊपर नियन्त्रण रख सकती है। यह माना कि कांग्रेस न तो सर्वोच्च न्यायालय को भंग ही कर सकती है न न्यायाधीशों के वेतन को कम कर सकती है न किसी न्यायाधीश को अपने पद से वियुक्त ही कर सकती है जब तक कि उसके विरुद्ध सार्वजनिक अभियोग (impeachment) सिद्ध न हो जाए। फिर भी कांग्रेस कई प्रकार से प्रभाव डाल सकती है और परिवर्तन कर सकती है। कांग्रेस विधि पास करके और यह उपबन्ध करके कि किसी न्यायाधीश की मृत्यु हो जाने पर अथवा उसके त्याग-पत्र आ जाने पर रिक्त पद मन्सूख कर दिया जाएगा, न्यायाधीशों की निश्चित संख्या में कमी कर सकती है। अथवा कांग्रेस किसी ऐसी योजना को स्वीकार कर सकती है जैसी कि राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट ने रखी थी जिसका आशय या कि सर्वोच्च न्यायालय के लिए छः तक नए न्यायाधीशों की नियुक्ति कर ली जाए यदि किसी समय ७० वर्ष की आयु पूर्ण करने वाले न्यायाधीश ६ मास के अन्दर अपने पदों से त्याग-पत्र न दें। इस प्रकार राष्ट्रपति ने चाहा कि न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि हो जाए और न्यायाधीशो के पदों पर योग्य एवं उचित व्यक्तियों की नियुक्तियाँ हो सकें। अधीन न्यायालयो के सम्बन्ध में तो कांग्रेस का उन पर वास्तविक एवं पूर्ण-प्राय नियन्त्रण है। राष्ट्रपति जेफरसन (Jefferson) के कार्यकाल में सन् १८०२ में कांग्रेस ने पूर्व वर्ष मे पारित एक विधि को भंग कर दिया जिसके द्वारा सोलह सर्किट न्यायाधीशों (Circuit Judges) के पदो को सर्जित किया गया था

और जिन पदों पर अपनी पदावधि की समाप्ति पर राष्ट्रपति एडम्स (Adams) ने ऐसे व्यक्तियों की नियुक्तियाँ की थी जो संघवाद (Federalist Conviction) के समर्थक थे। कांग्रेस, आवश्यक विधि पास करके और अपीलीय प्रथा को बन्द करके आज्ञा कर सकती है कि कुछ प्रकार के मामले सर्वोच्च न्यायालय के सामने न जाएँ। किन्तु इस प्रश्न के सभी पक्षों पर विचार करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि "आपात कालों को छोड़ कर शेष कालों मे, संघीय न्यायपालिका काफी हद तक राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के प्रभाव से स्वतन्त्र रहती है।"

न्यायाधीशों की नियुक्ति एवं पदावधि (Appointment and tenure of Judges)—संविधान तो केवल यही निर्दिष्ट करता है कि राष्ट्रपति एवं सीनेट सर्वोच्च न्यायालय के लिए न्यायाधीश नियुक्त करें और कांग्रेस को अधिकार देता है कि वह छोटे अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार या तो केवल राष्ट्रपति को दे सकती है, या न्यायालयों को दे सकती है अथवा विभागीय अध्यक्षों को दे सकती है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के सभी न्यायाधीशों का नामाकन (Nomination) राष्ट्रपति करता है और उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति सीनेट की सलाह और अनुमोदन पर करता है। छोटे न्यायालयों के न्यायाधीशों के सम्बन्ध में व्यवहार यह रहा है कि समस्त छोटे संघीय न्यायालयों के न्यायाधीशों की गणना छोटे अधिकारियो मे नही की जाती, अतः उनकी नियुक्ति भी राष्ट्रपति और सीनेट ही कर सकते है।

संविधान इस सम्बन्ध मे मौन है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की क्या योग्यताएँ और अर्हताएँ होनी चाहिएँ, अर्थात् उनकी आयु, नागरिकता, वैधिक योग्यता, राजनीतिक विचार एवं उनकी पिछली पृष्ठभूमि किस प्रकार की होनी चाहिए। प्रायः ऐसा हुआ है कि डेमोक्रेटिक दल के राष्ट्रपतियों ने रिपब्लिकन न्यायाधीशों को बेंच (bench) के लिए अथवा रिपब्लिकन राष्ट्रपतियों ने डेमोक्रेटिक न्यायाधीशों को बेंच के लिए नियुक्त किया है। न्यायाधीशगण सदाचार-पर्यन्त अपने पदों पर बने रहते है और उनको सार्वजनिक दोषारोपण (Impeachment) के द्वारा ही हटाया जा सकता है। केवल सेम्युएल चेज (Samuel Chase) नाम का एक ही न्यायाधीश ऐसा है जिस पर कभी सार्वजनिक दोषारोपण लगाया गया था, यद्यपि वह भी निर्दोष पाया गया।

संघीय न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र
(Federal Jurisdiction)

संघीय न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र (The Sphere of Federal Courts)—केन्द्रीय सरकार की समस्त शक्तियाँ प्रत्यायुक्त (Delegated) होने के कारण मर्यादित हैं। इसलिए संघीय न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र केवल कुछ ऐसे ही विषयों तक सीमित है जिनको संविधान ने स्पष्टतः या तो गिनाया है अथवा जो विषय संविधान में उपलक्षित (Implied) हैं। शेष समस्त विषयों पर राज्यों के [illegible] अधिकार है। संघीय न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र की पूरी जानकारी [illegible] अनुच्छेद ३ में दी हुई है।

१. संविधान, विधियों और संधियों से सम्बन्धित मुकदमे (Cases arising under the Constitution, Laws and Treaties)—"संयुक्त राज्य अमेरिका की न्यायिक व्यवस्था उन सभी विवादों पर पूर्ण रूप से लागू होगी जिनका सम्बन्ध संविधान से सम्बन्धित संयुक्त राज्य की विधि एवं न्याय से होगा अथवा जिनका सम्बन्ध पिछली सन्धियों से होगा अथवा उन सन्धियों से होगा जो उन शर्तों के अनुसार भविष्य में की जाएँगी।" इसका अर्थ है कि केवल न्याय योग्य मुकदमे (Cases of a Justiciable character) ही संघीय न्यायालयों में आ सकते हैं। किन्तु संघीय न्यायालय कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका सम्बन्धी विवादों पर निर्णय नहीं दे सकते। ऐसा तभी हो सकता है जबकि इस प्रकार के किसी विवाद में संघीय संविधान का, अथवा किसी संघीय विधि का अथवा किसी ऐसी संधि का निर्वचन (Interpretation) निहित हो जिसमें संयुक्त राज्य एक पक्ष हो। यदि कोई यह दावा करे कि किसी कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका के अधिनियम के द्वारा उन व्यक्ति के उन मौलिक अधिकारों का हनन हुआ है जिनकी संविधान ने गारण्टी की है, अथवा जिसकी विधियों ने या संयुक्त राज्य की संधियों ने गारण्टी की है तो वह व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा के हेतु सगत अधिकारी अथवा सत्ता के विरुद्ध दावा दायर कर सकता है। अतएव यह स्पष्ट है कि कांग्रेस तथा राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को प्रस्तावित व्यवस्थापन की सांविधानिकता पर अपने विचार प्रकट करने के लिए नहीं कह सकते। साथ ही कांग्रेस को यह अधिकार भी प्राप्त नहीं है कि वह न्यायपालिका को न्यायिक कार्य के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य सौंप सके।

२. राजदूतों, राजनीतिक अधिकारियों और वाणिज्य दूतों से सम्बन्धित मुकदमे (Cases affecting ambassadors, other public ministers and consuls)—द्वितीयतः, संघीय न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र में वे मुकदमे भी आते हैं जिनका सम्बन्ध उन राजदूतों (Diplomats) से होता है जो विदेशी राज्यों की ओर से सयुक्त राज्य में कार्य करते है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सुप्रख्यापित सिद्धान्त के अनुसार विदेशी राज्यों के राजदूतों अथवा राजनीतिक अधिकारियों के ऊपर किसी ऐसे देश के न्यायालयों मे मुकदमा नही चलाया जा सकता जहाँ वे अपने देश की ओर से भेजे हुए कार्य कर रहे हों। संविधान मे इस उपबन्ध का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि राज्यों के न्यायालयों के ऊपर अंकुश रहे कि वे अतर्राष्ट्रीय विधि के प्रतिकूल आचरण न करें। यदि कोई कूटनीतिक अधिकारी किसी अपराध का दोषी हो तो सम्बन्धित देश की सरकार से प्रार्थना की जा सकती है कि उसे वापस बुला लिया जाए अथवा उसको देश से निकल जाने का भी आदेश दिया जा सकता है; किन्तु जब तक वह अपने देश का नियुक्त राजनीतिक दूत है, तब तक उसके विरुद्ध कोई कानूनी कार्यवाही नहीं हो सकती।

३. नाविक मुकदमे (Admiralty cases)—नाविक एवं सामुद्रिक मुकदमों का सम्बन्ध उन अमेरिकी जहाजों से है जो दूर-दूर समुद्रों में यात्रा करते हैं अथवा सयुक्त-राज्य के अंतर्गत नौ-गम्य नदियों अथवा नहरों (Navigable waters of the United States) में यात्रा करते है, और इनसे सम्बन्धित विवाद माल ढोने के

किराए, नाविकों का वेतन, दो जहाजों की टक्कर से हानि एवं समुद्री बीमे के बारे मे हो सकते है। युद्ध-काल मे नाविक मुकदमे, उन नावों और जहाजों से सम्बन्धित भी हो सकते है जो समुद्रों मे पकड़ लिए जाएँ। संघीय न्यायालयों को नौवैधिक क्षेत्र (Admiralty jurisdiction) प्रदान करने के दो प्रधान कारण थे। प्रथमतः, नौविधि (Admiralty), न्यायशास्त्र (Jurisprudence) की एक सुस्पष्ट शाखा है और यह सामान्य विधि एव अपक्षपात विधि या न्याय (Common law and equity) से विषय, तत्त्व एवं क्रियान्विति मे भिन्न है। द्वितीयतः, विदेशों के साथ वाणिज्य केन्द्रीय विषय है और इसी कारण संविधान के रचयिताओं ने यही ठीक समझा कि नाविक एवं सामुद्रिक विवाद सघीय न्यायालयों को सौंपे जाएँ।

४. ऐसे मुकदमे जिनमें संयुक्त राज्य अथवा कोई एकक राज्य एक पक्ष के रूप मे विवादग्रस्त हो (Cases in which the United States or a State is a party) – संघीय न्यायालयो के अधिकार-क्षेत्र मे वे सब विवाद भी आते हैं जिनमे संयुक्त राज्य अमेरिका एक पक्ष से विवादग्रस्त हो; अथवा जिनमें संयुक्त राज्य के दो एकक राज्यों मे विवाद हो अथवा जब विवाद किसी एकक राज्य और किसी अन्य एकक राज्य के नागरिक के बीच हो। प्रारम्भ मे संविधान मे यही व्यवस्था की गई थी कि कोई नागरिक किसी दूसरे एकक राज्य के विरुद्ध सघीय न्यायालय मे दावा ला सकता था अथवा विदेशी नागरिक किसी एकक राज्य के विरुद्ध नालिश संघीय न्यायालय में कर सकता था। किन्तु १७९८ मे स्वीकार किए गए ११वें संशोधन ने स्पष्टतः आज्ञा दी है कि सघीय न्यायालय किसी दूसरे एकक राज्य के नागरिक द्वारा दूसरे एकक राज्य के विरुद्ध दावे को स्वीकार न करें, और न ऐसे दावे स्वीकार करें जो किसी विदेशी नागरिक द्वारा किसी राज्य के विरुद्ध लाए जाएँ। इस प्रकार के दावे अब केवल सम्बन्धित एकक राज्यों के न्यायालयों में ही विधि अनुसार उपस्थित किए जा सकते हैं। यदि वैधिक आज्ञा या उपबन्ध नहीं है तो न्यायालय ऐसे दावे स्वीकार नही कर सकते है। किन्तु संघीय न्यायालयों में एकक राज्यों के विरुद्ध ऐसे दावे दायर किए जा सकते हैं, जिन मुकद्दमों मे संयुक्त राज्य या कोई अन्य एकक राज्य अथवा कोई विदेशी राज्य एक पक्ष मे हों।

५. विभिन्न एककों के नागरिकों के बीच विवाद (Controversies between citizens of different States)—"विभिन्न एकक राज्यों के नागरिकों के बीच के विवाद भी संघीय न्यायालयों के क्षेत्राधिकार में आते हैं। अर्थात् यदि एक ही राज्य के नागरिक विभिन्न राज्यों द्वारा अनुदत्त भूमि के लिए दावे कर रहे है; अथवा एक राज्य अथवा उसके नागरिकों का विदेशी राज्यों या विदेशी राज्यों के नागरिकों या प्रजाओं के विरुद्ध दावा हो तब भी ये सब संघीय न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र मे आ जाते हैं।" इसका तात्पर्य है कि यदि कोई विवाद विदेशियों अथवा विदेशी नागरिकों का विभिन्न एकक राज्यों के नागरिकों के विरुद्ध है तो उन पर भी संघीय न्यायालय विचार कर सकते हैं। इस अनुच्छेद के अर्थों में निगम (Corporation) अथवा कम्पनी (Company) को भी उसी एक राज्य का नागरिक माना गया है जिसमें वे समामेलित (Incorporated) हों।

अपवर्जी एवं संवर्ती अधिकार-क्षेत्र (Exclusive and concurrent jurisdiction)—जिस प्रकार के विवादों का ऊपर वर्णन किया गया है वे संघीय न्यायालयों के विचार-क्षेत्र मे आ सकते हैं, किन्तु संविधान यह नहीं कहता कि इस प्रकार के सभी विवादों मे संघीय न्यायालयों का अपवर्जी अधिकार-क्षेत्र है। सत्य तो यह है कि सविधान ने संघीय न्यायालयों को कोई अपवर्जी अधिकार-क्षेत्र दिया ही नही है। काँग्रेस को इस सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वह न्यायिक अधिकार-क्षेत्र जिस तरह भी चाहे न्यायालयो को सौंप दे; और यदि काँग्रेस चाहे तो संघीय न्यायालयो से कुछ बातो मे समस्त न्यायिक अधिकार-क्षेत्र छीन भी सकती है। जैसी स्थिति इस समय है, संघीय न्यायालयों को निम्न प्रकार के विवादों में पूर्ण अपवर्जी अधिकार प्राप्त हैं—

(१) वे समस्त विवाद जिनका सम्बन्ध संयुक्त राज्य की विधियों के विरुद्ध अपराधों से हो; (२) दण्डयोग्य वे सभी मुकद्दमे जो संयुक्त राज्य की विधि के अधीन प्रस्तुत किए जाएँ, तथा वे सभी विवाद जिनका सम्बन्ध नाविक अथवा सामुद्रिक अधिकार-क्षेत्र (Admiralty and maritime Jurisdiction) से हो; अथवा जिनका सम्बन्ध एकस्व (Patent) एवं प्रतिलिपि (Copyright laws) से हो; (३) समस्त नष्टनिधित्व अथवा दिवालों से सम्बन्ध रखने वाले विवाद (All bankruptcy proceedings); (४) दीवानी के वे समस्त मुकद्दमे (Civil actions) जिनमे संयुक्त-राज्य अथवा उसका कोई एकक राज्य एक पक्ष हो किन्तु इस प्रकार के विवादों में वे अपवाद है जो किसी एकक राज्य और उसी के नागरिक के बीच हो; और (५) वे सभी दावे और मुकद्दमे जो विदेशी राजदूतों, वाणिज्य दूतों और उन अन्य राजनीतिक अधिकारियों के विरुद्ध लाए जाएँ जिन्हें कूटनीतिक मुक्ति प्राप्त है।

किन्तु प्रायः सभी प्रकार के अन्य मुकद्दमों पर, जिन पर संघीय न्यायालयो का अधिकार-क्षेत्र है, संघीय एवं राज्यीय न्यायालयों का समान रूप से अधिकार है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के सभी विवादों में जो आवश्यकतः दीवानी के मामले ही होते है, और जो कम-से-कम ३,००० डालर या इससे अधिक के लिए होते है, वादी (Plaintiff) को अधिकार रहता है कि वह चाहे तो इस प्रकार की नालिश संघीय न्यायालय मे करे अथवा जिस राज्य मे वह निवास करता है उस राज्य के न्यायालयों में से किसी न्यायालय में करें अथवा उस राज्य के किसी न्यायालय मे करे जिसमें प्रतिवादी (Defendant) निवास करता हो। किन्तु इस सम्बन्ध में प्रतिवादी को छूट रहती है कि वह यदि चाहे तो ऐसे किसी मुकद्दमे को किसी संघीय न्यायालय में भेजने के लिए प्रतिवेदन कर सकता है यदि वह नालिश किसी राज्य के न्यायालय में की गई है, किन्तु शर्त यह है कि इस प्रकार की प्रार्थना आने के पूर्व ही राज्य के न्यायालय ने उस नालिश के सम्बन्ध में अपना निर्णय न कर लिया हो।

संघीय न्यायालयों को ऐसे मुकद्दमे लेने का अधिकार नही है जिनमे दोनों पक्ष विभिन्न जाति अथवा नागरिकता से सम्बन्ध रखते हों अथवा जिनमें मुद्दों की रकम

३,००० डालर से कम हो। ऐसे मुकद्दमों का निर्णय एकक राज्यों के न्यायालयों मे ही होगा।

संघीय न्यायालय लेख (Federal Court Writs)—सविधान द्वारा प्रदत्त राष्ट्रीय न्यायिक शक्ति के प्रयोग में संघीय न्यायालय को बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), आदेश (Injunction) तथा उत्प्रेषण (Certiorai) नामक लेखों (Writs) के निकालने का भी अधिकार प्राप्त है।

संघीय न्यायालयों के प्रकार
(Types of Federal Courts)

संवैधानिक न्यायालय (Constitutional Courts)—सवैधानिक न्यायालय वे न्यायालय है जिनको संविधान के अनुच्छेद ३ की आज्ञा के अनुसार स्थापित किया गया है और जिनमें संयुक्त राज्य की समस्त न्यायिक शक्ति निहित है। संवैधानिक न्यायालयों मे सर्वोच्च न्यायालय, अपीलीय सर्किट न्यायालय (Circuit Courts of Appeal), एवं जिला न्यायालय (District Courts) हैं। संविधान मे केवल सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था है और उसमे कांग्रेस को आज्ञा दी गई है कि वह निम्न न्यायालयों की स्थापना कर सकती है। इसलिए छोटे न्यायालयों की स्थापना सविधानतः आवश्यक नही है। उनकी रचना एवं स्थापना हुई है और कांग्रेस द्वारा पारित परिनियमों (Statutes) ने इन न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र की व्याख्या भी की है। इन परिनियमों का श्रीगणेश १७८९ के न्यायिक अधिनियम (Judiciary Act of 1789) में हुआ था। इस प्रकार हम देखते है कि कांग्रेस निम्न न्यायालयो का उत्सादन अथवा अन्त कर सकती है, किन्तु सर्वोच्च न्यायालय का उत्सादन नही किया जा सकता।

व्यवस्थापक न्यायालय (Legislative Courts)—व्यवस्थापक न्यायालयों का निर्माण कांग्रेस द्वारा होता है। ये संविधान के अनुच्छेद ३ के आधार पर स्थापित नही हुए है। ये न्यायालय संयुक्त राज्य की न्यायिक शक्ति का प्रयोग नहीं करते हैं क्योंकि ये एक विशेष प्रकार के न्यायालय है जिनका काम कांग्रेस को प्राप्त-अधिकार द्वारा बनाए गए कानूनों के प्रशासन में सहायता देना है। संयुक्त राज्य कस्टम्स कोर्ट (United States Customs Court), संयुक्त राज्य कस्टम्स तथा पेटेण्ट अपील्स कोर्ट (U. S. Customs and Patent Appeals Court), मिलिटरी अपील्स कोर्ट (Military Appeals Court) ऐसी ही कुछ व्यवस्थापक अदालतो के उदाहरण हैं। ये न्यायालय न्यायिक प्रक्रिया का पालन करते हैं। साविधानिक और व्यवस्थापक न्यायालयों में अन्तर उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता और क्षेत्राधिकार के कारण है। यद्यपि दोनों न्यायालयों के न्यायाधीशों को नियुक्त करने का प्रकार एक जैसा ही है परन्तु साविधानिक न्यायालयों के न्यायाधीश केवल सार्वजनिक दोपारोपण के द्वारा ही हटाए जा सकते है जबकि व्यवस्थापक न्यायालय के न्यायाधीश सार्वजनिक दोपारोपण के अतिरिक्त अन्य तरीकों से भी हटाए जा सकते हैं क्योंकि व्यवस्थापक न्यायालय के न्यायाधीश नियतावधि के लिए भी नियुक्त किए जाते हैं।

ग्यारह है अर्थात् प्रत्येक न्यायिक संघ के लिए एक संघीय न्यायालय, और इस प्रकार समस्त देश दस न्यायिक संघों में विभाजित कर दिया गया है और एक अतिरिक्त न्यायालय कोलम्बिया जिले के लिए रखा गया है। काग्रेस के एक अधिनियम द्वारा इन संघीय न्यायालयों की स्थापना हुई थी क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय के ऊपर अत्यधिक कार्य-भार आ पड़ा था और पिछला काम इतना जमा हो गया था कि अवशिष्ट कार्य को देखते हुए सर्वोच्च न्यायालय तीन वर्ष पीछे हो गया था, इसलिए यह अभीष्ट था कि सर्वोच्च न्यायालय को कुछ सुविधा काम निपटाने की दी जाए। सर्वोच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को एक संघीय न्यायालय का कार्य-भार दिया जाता है, किन्तु किसी-किसी न्यायाधीश को दो संघीय न्यायालय लेने पड़ते है क्योंकि संघीय दस हैं और समस्त न्यायाधीशों की कुल संख्या केवल ९ है। प्रत्येक संघीय न्यायालय मे तीन से लेकर छः तक संघीय न्यायाधीश होते हैं, और गणपूर्ति (Quorum) के लिए कम-से-कम दो संघीय न्यायाधीशों की उपस्थिति आवश्यक है। सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश भी एक संघीय न्यायाधीश की जगह अपने संघीय न्यायालयों मे कार्य कर सकता है। जिला न्यायाधीशों (District Judges) को भी संघीय न्यायालयों में काम करने के लिए बुलाया जा सकता है; किन्तु वे किसी भी स्थिति में ऐसे अभियोगों पर निर्णय नहीं देंगे जिन पर जिला न्यायालयों में वे निर्णय दे चुके हों।

संघीय अपीलीय न्यायालयो का अधिकार-क्षेत्र मुख्यतः पुनरावेदन के सम्बन्ध में है अर्थात् संघीय न्यायालयों के सम्मुख केवल निम्न न्यायालयों से ही अपीलें आती है और संघीय न्यायालयों के निर्णय प्रायः अन्तिम होते है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के पास केवल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मुकद्मे रह जाते हैं और उन्हें सर्वोच्च न्यायालय शीघ्रता के साथ निबटा देता है। संघीय न्यायालय उन मामलों का भी पुनरीक्षण (Review) करते है जो व्यवस्थापक न्यायालयों, अर्ध न्यायिक (Quasi Judicial) बोर्डों और अधिकारपूर्ण निकायो (Commissions) से आते है, साथ ही संघीय न्यायालय इनकी आज्ञाओं की पुष्टि करते है। सर्वोच्च न्यायालय यदि चाहे तो उत्प्रेषण लेख (writ of certiorari) के अन्तर्गत किसी भी ऐसे मामले को संघीय न्यायालय से मँगवा सकता है जिसका सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण सांविधानिक अथवा वैधिक विषय से हो।

जिला न्यायालय (District Courts)—संघीय न्यायालयों मे सबसे निचले दर्जे का न्यायालय जिला न्यायालय होता है। समस्त देश ८४ जिलों मे विभाजित किया गया है। प्रत्येक जिले मे एक जिला न्यायालय है। कुछ राज्य ऐसे हैं जो छोटे होने के कारण जिले मान लिए गए हैं। कुछ राज्य दो या तीन जिलो में विभाजित कर दिए गए हैं; और जिलो को पुनः डिवीजनों में बाँट दिया गया है। प्रत्येक जिले मे कम-से-कम एक जिला जज होगा यद्यपि कुछ जिले ऐसे भी हैं जिनमे प्रति जिले में सात जज या न्यायाधीश तक है, और प्रत्येक जज का न्यायालय अलग है।

सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court)—शीर्ष स्थान पर सर्वोच्च न्यायालय है और उसकी स्थापना संविधान के उपबन्ध के अनुसार हुई है। प्रथम बार १७८९ के न्यायिक अधिनियम (Judiciary Act of 1789) के अनुसार इसकी स्थापना हुई और इसमें एक सर्वोच्च न्यायाधीश तथा ५ निम्न न्यायाधीश रखे गये। इसके जजों की संख्या सदैव घटती-बढ़ती रही है और १८६९ में निश्चित किया गया था कि सर्वोच्च न्यायालय मे एक प्रमुख न्यायाधीश तथा आठ न्यायाधीश होंगे और वही संख्या अभी तक चल रही है। इसकी बैठक वाशिंगटन (Washington) मे होती है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति सीनेट की मन्त्रणा एवं अनुमोदन पर करता है। संविधान ने न्यायाधीशों की योग्यता एवं अर्हता के बारे में मौन धारण किया है अतः राष्ट्रपति किसी भी ऐसे व्यक्ति को उक्त पदो पर नियुक्त कर सकता है जिसके हक मे सीनेट का अनुमोदन प्राप्त हो सकता है। संघीय न्यायालयों के न्यायाधीश सदाचार-पर्यन्त अपने पदों पर बने रहते है, और उनकी वियुक्ति (Removal) केवल सार्वजनिक अभियोग (Impeachment) के द्वारा ही हो सकती है। सत्तर वर्ष की आयु प्राप्त होने पर न्यायाधीश लोग त्याग-पत्र दे सकते है अथवा अवसर प्राप्त (Retire) कर सकते हैं और वे जीवन-पर्यन्त पूरे वेतन के हकदार रहेंगे बशर्ते कि उन्होने अपने पदों पर दस या इससे अधिक वर्षों तक कार्य किया हो। यदि वे अवकाश प्राप्त करते हैं किन्तु त्याग-पत्र नही देते, तो ऐसी स्थिति में वे संघीय न्यायाधीश बने रहते हैं और उनको पुन. काम पर लिया जा सकता है। मुख्य न्यायाधीश का वेतन २५,५०० डालर होता है तथा अन्य न्यायाधीशों का वेतन २५,००० डालर होता है। उनका वेतन कांग्रेस के अधिनियम द्वारा निश्चित होता है; किन्तु उनका वेतन बढाया तो जा सकता है पर किसी न्यायाधीश की पदावधि में उसका वेतन कम नहीं किया जा सकता। सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र मौलिक और पुनरावेदन मूलक (Original and appellate) दोनों प्रकार का है किन्तु उसका मौलिक अधिकार-क्षेत्र अत्यन्त मर्यादित है। मौलिक अधिकार-क्षेत्र में दो प्रकार के अभियोग आते है—(a) वे अभियोग जिनका सम्बन्ध राजदूतों, राजनीतिक प्रदूतों और वाणिज्य अधिकारियों से होता है, और (b) जिन अभियोगों मे कोई एकक राज्य वादी या प्रतिवादी होता है, वे भी सर्वोच्च न्यायालय के मौलिक अधिकार-क्षेत्र की परिधि में आते हैं। उसका पुनरावेदन अधिकार-क्षेत्र (Appellate Jurisdiction) उन मामलों तक विस्तृत है जो संघीय न्यायपालिका की सत्ता के अन्तर्गत आते हैं; "किन्तु पुनरावेदन सम्बन्धी अधिकार-क्षेत्र में कुछ अपवाद हैं और कांग्रेस द्वारा पारित विनियमों का पुनरावेदन अधिकार-क्षेत्र पर प्रभाव पड़ता है।" इस उपबन्ध के अनुसार कांग्रेस ने सर्वोच्च न्यायालय के पुनरावेदन अधिकार-क्षेत्र की विस्तृत व्याख्या कर दी है। राज्यीय न्यायालयो (State Courts) और निम्न संघीय न्यायालयों से अपील सर्वोच्च न्यायालय मे आती है।

संघीय अपीलीय न्यायालय (The Federal Courts of Appeals)—सर्वोच्च न्यायालय के नीचे संघीय अपीलीय न्यायालय[1] होते हैं जिनकी कुल संख्या

1. १९४८ से पहले इसे सर्किट अपील न्यायालय कहा जाता था।

ग्यारह है अर्थात् प्रत्येक न्यायिक संघ के लिए एक संघीय न्यायालय; और इस प्रकार समस्त देश दस न्यायिक संघों में विभाजित कर दिया गया है और एक अतिरिक्त न्यायालय कोलम्बिया जिले के लिए रखा गया है। कांग्रेस के एक अधिनियम द्वारा इन संघीय न्यायालयों की स्थापना हुई थी क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय के ऊपर अत्यधिक कार्य-भार आ पड़ा था और पिछला काम इतना जमा हो गया था कि अवशिष्ट कार्य को देखते हुए सर्वोच्च न्यायालय तीन वर्ष पीछे हो गया था, इसलिए यह अभीष्ट था कि सर्वोच्च न्यायालय को कुछ सुविधा काम निपटाने की दी जाए। सर्वोच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को एक संघीय न्यायालय का कार्य-भार दिया जाता है, किन्तु किसी-किसी न्यायाधीश को दो संघीय न्यायालय लेने पड़ते है क्योंकि संघीय दस हैं और समस्त न्यायाधीशों की कुल संख्या केवल ९ है। प्रत्येक संघीय न्यायालय में तीन से लेकर छः तक संघीय न्यायाधीश होते हैं, और गणपूर्ति (Quorum) के लिए कम-से-कम दो संघीय न्यायाधीशों की उपस्थिति आवश्यक है। सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश भी एक संघीय न्यायाधीश की जगह अपने संघीय न्यायालयों मे कार्य कर सकता है। जिला न्यायाधीशों (District Judges) को भी संघीय न्यायालयों में काम करने के लिए बुलाया जा सकता है; किन्तु वे किसी भी स्थिति में ऐसे अभियोगो पर निर्णय नहीं देंगे जिन पर जिला न्यायालयों में वे निर्णय दे चुके हों।

संघीय अपीलीय न्यायालयो का अधिकार-क्षेत्र मुख्यतः पुनरावेदन के सम्बन्ध मे है अर्थात् संघीय न्यायालयों के सम्मुख केवल निम्न न्यायालयों से ही अपीलें आती है और संघीय न्यायालयों के निर्णय प्रायः अन्तिम होते है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के पास केवल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मुकद्मे रह जाते है और उन्हे सर्वोच्च न्यायालय शीघ्रता के साथ निबटा देता है। संघीय न्यायालय उन मामलों का भी पुनरीक्षण (Review) करते हैं जो व्यवस्थापक न्यायालयों, अर्ध न्यायिक (Quasi Judicial) बोर्डों और अधिकारपूर्ण निकायों (Commissions) से आते है, साथ ही संघीय न्यायालय इनकी आज्ञाओं की पुष्टि करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय यदि चाहे तो उत्प्रेषण लेख (writ of certiorari) के अन्तर्गत किसी भी ऐसे मामले को संघीय न्यायालय से मँगवा सकता है जिसका सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण सांविधानिक अथवा वैधिक विषय से हो।

जिला न्यायालय (District Courts)—संघीय न्यायालयों में सबसे निचले दर्जे का न्यायालय जिला न्यायालय होता है। समस्त देश ८४ जिलों मे विभाजित किया गया है। प्रत्येक जिले मे एक जिला न्यायालय है। कुछ राज्य ऐसे हैं जो छोटे होने के कारण जिले मान लिए गए हैं। कुछ राज्य दो या तीन जिलों मे विभाजित कर दिए गए हैं; और जिलो को पुनः डिवीजनो में बाँट दिया गया है। प्रत्येक जिले मे कम-से-कम एक जिला जज होगा यद्यपि कुछ जिले ऐसे भी हैं जिनमें प्रति जिले मे सात जज या न्यायाधीश तक है, और प्रत्येक जज का न्यायालय अलग है।

केवल थोड़े से अभियोगों को छोड कर जो सर्वोच्च न्यायालय मे ही प्रारम्भ होते है, और वे भी विशेष रूप से ऐसे होते हैं जिनका प्रारम्भ अथवा सूत्रपात व्यवस्थापक न्यायालयों में हुआ था, शेष सभी दीवानी अथवा फौजदारी अभियोग संयुक्त राज्य की विधियों के अनुसार इन्ही जिला न्यायालयों में प्रारम्भ होते हैं। जिला न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र मौलिक (Original) है और पुनरावेदन अथवा अपील के अभियोग जिला न्यायालयो मे नही आते। हाँ, कभी-कभी ऐसा अवश्य होता है कि कुछ अभियोग जिनका प्रारम्भ किसी एकक राज्य के न्यायालय में हुआ हो, जिला न्यायालयो मे तबदील (Transferred) कर दिए जाते है। प्रायः जिला न्यायालयों में केवल एक न्यायाधीश ही अभियोगों का निर्णय करता है। किन्तु १९३७ से अधिकतर ऐसे अभियोगों की सुनवाई के लिए, जिनमें संघीय परिनियमों (Statutes) की साविधानिकता को चुनौती दी जाती है कम-से-कम तीन न्यायाधीशो का एक साथ बैठना आवश्यक है। ऐसे निर्णयों के विरुद्ध पुनरावेदन (Appeal) सीधे सर्वोच्च न्यायालय मे जाएगी और राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने संघीय न्यायालयों के पुनर्गठन के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव रखा था उसका सम्बन्ध इसी प्रकार के संघीय न्यायालयो से था। अन्यथा, साधारणतः अपील अथवा पुनरावेदन पहले संगत अपीलीय न्यायालय में जाता है।

न्यायिक पुनरीक्षण
(Judicial Review)

न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार (The Power of Judicial Review)—अमेरिका का सर्वोच्च न्यायालय समार में सबसे शक्तिशाली न्यायिक उपकरण या साधन (Agency) है। सर्वोच्च न्यायालय की प्रतिष्ठा और उसके अमेरिकी जीवन पर गहरे प्रभाव का एक-मात्र कारण सर्वोच्च न्यायालय की संविधान के निर्वचन की शक्ति को समझना चाहिए। मि० फ्रैंकफर्टर (Mr. Frankfurter) न्यायाधीश ने और भी अधिक स्पष्ट शब्दो मे कहा कि "सर्वोच्च न्यायालय ही संविधान है।" जब न्यायाधीश, सविधान का निर्वचन करते हैं, तो वे नीति निर्धारित करते हैं और इस प्रकार न्यायालय ही उन सामाजिक एवं आर्थिक प्रश्नो का निपटारा करते हैं जिनको देश की समस्याओं के रूप में हल करना अभीष्ट है। सर्वोच्च न्यायालय ही कांग्रेस द्वारा पारित अथवा एकक राज्यीय व्यवस्थापिका द्वारा पारित किसी नियम को अथवा कार्यपालिका के किसी आदेश को या तो स्वीकार कर लेते है अथवा उसको असांविधानिक घोषित कर सकते है यदि वह अधिनियम अथवा आदेश संविधान के विरुद्ध हो। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय सयुक्त राज्य की सांविधानिक शासन-प्रणाली का संरक्षक है।

अमेरिकी संविधान के निर्माता सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरीक्षण की शक्ति देना चाहते थे या नही, इस सम्बन्ध में विद्वानो में मतभेद है। संविधान के रचियताओं की जो भी इच्छा रही हो, किन्तु इस समस्या को प्रमुख न्यायाधीश मार्शल (Chief Justice Marshall) ने १८०३ मे प्रसिद्ध मारबरी विरुद्ध मैडीसन

इस समस्या का एक और भी पक्ष है। जब संविधान का निर्वचन किया जाता है और उसकी भाषा एवं शुद्ध अर्थों पर विचार किया जाता है, तो न्यायाधीशगण उस सम्बन्ध में शासन की वर्तमान नीति पर विचार करते हैं। जब कांग्रेस द्वारा पारित कोई अधिनियम सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख विचारार्थ आता है तो उस समय न्यायाधीशों के सम्मुख दो विकल्प होते हैं कि या तो उक्त अधिनियम में निहित सामान्य नीति को स्वीकार किया जाए अथवा उसको तिरस्कृत किया जाए। यदि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने एक बार किसी नीति को अस्वीकृत कर दिया तो फिर उसका स्वीकार किया जाना प्रायः असम्भव होगा जब तक कि पुनर्गठित सर्वोच्च न्यायालय किसी अन्य समय पर उस सम्बन्ध में विभिन्न मत न अपनावे। सर्वोच्च न्यायालय जनमत के प्रति बिल्कुल जागरूक नहीं है। "यदि संविधान इस कारण सर्वोच्च है कि वह जनता की इच्छाओं का दर्पण है तो वे प्रतिनिधिगण ही जो जनता के विचारों के प्रत्यक्ष दर्पण है, संविधान के निर्वचन के सबसे अधिक एवं उचित अधिकारी हैं।" इसलिए इस सम्बन्ध में उचित रूप से ही यह शंका की जाती है कि केवल उन पाँच न्यायाधीशों को ही, जो सर्वोच्च न्यायालय में बहुमत निर्माण करते हैं, क्यों ऐसी सत्ता प्रदान कर दी गई है जो वे कांग्रेस एवं राष्ट्रपति को आदेश देते है कि वे क्या करें अथवा क्या न करें, जबकि कांग्रेस एवं राष्ट्रपति दोनों सर्वसाधारण के प्रतिनिधि है परन्तु न्यायाधीशों की नियुक्ति कतिपय उग्र पक्षपातपूर्ण राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विचारों के कारण समस्त जीवन के लिए होता है। सर्वोच्च न्यायालय के अनुचित पक्षपात और वैधिक सूत्रों एवं नियमों की अत्यधिक अधीनता एवं आश्रय के कारण ही संयुक्त राज्य अमेरिका की सामाजिक प्रगति में भारी बाधा पड़ी है।

प्रमुख न्यायाधीश ह्यूज (Hughes) का यह कथन है कि "हम संविधान के अनुसार कार्य करते हैं, किन्तु संविधान वास्तव में वह है जो न्यायाधीश उसको बताते है," अथवा जैसा कि न्यायाधीश फ्रैंकफर्टर (Frankfurter) ने अधिक भद्दे शब्दों में कहा कि "सर्वोच्च न्यायालय ही संविधान है"; इन दोनों मान्यताओं को तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि कतिपय न्यायाधीश मँजे हुए राजनीतिज्ञ है और "जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश बनने के बाद भी राष्ट्रपति बनने की इच्छा रखते है।"[1] इस कथन में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि किसी-किसी अवसर पर न्यायाधीशों में से एक या दो न्यायाधीश राष्ट्रपति पद के लिए लालायित प्रत्याशी अवश्य रहते है।

सुधारों के लिए सुझाव (Suggestions for Reform)—इस प्रकार न्यायिक पुनरीक्षण की प्रथा पर बारम्बार आक्षेप किए गए हैं और इस दिशा में अनेक सुधार सुझाये गए है। एक सुझाव यह है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के केवल बहुमत पर अथवा मतों के द्वारा भी कांग्रेस द्वारा, ... परिनियमों (Statutes)

1. Laski, H. J.: [illegible]

का असांविधानिक घोषित करना बन्द किया जाए।[1] कांग्रेस द्वारा पारित महत्त्वपूर्ण विधेयकों को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा असांविधानिक घोषित कर देने से—केवल चार के विरुद्ध पाँच मतों के बल पर—सर्वोच्च न्यायालय की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती, बल्कि ऐसे निर्णयों से सर्वोच्च न्यायालय की पक्षपातहीनता एवं अभ्रान्ति (Infallibility) में सन्देह बढ़ जाता है। इसलिए यह प्रस्ताव किया गया है कि न्यायिक पुनरीक्षण के प्रयोग के सम्बन्ध में यह आवश्यक नियम बना दिया जाए कि सर्वोच्च न्यायालय के ९ में से ७ न्यायाधीशों की राय पर ही न्यायिक पुनरीक्षण प्रभावी हो। बताया गया है कि इस प्रकार का सुधार कांग्रेस के अधिनियम के द्वारा हो सकता है। किन्तु इसमें सन्देह है और सम्भवतः सर्वोच्च न्यायालय ऐसे अधिनियम को 'सांविधानिक' स्वीकार नहीं करेगा। इस दिशा में दो अन्य प्रस्ताव सुझाए गए हैं। एक सुझाव यह भी है कि संविधान में संशोधन करके न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार समाप्त ही कर दिया जाए। द्वितीय सुझाव यह है कि ऐसा उपबन्ध किया जाए जिसके द्वारा यदि सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक पुनरीक्षण के द्वारा किसी अधिनियम को असांविधानिक घोषित करे तो उसी को कांग्रेस पुनः पास करके सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरीक्षण को व्यर्थ कर सके, जिस प्रक्रिया के अनुसार कांग्रेस, राष्ट्रपति के निषेधाधिकार को व्यर्थ करने में समर्थ है। किन्तु इसके लिए भी संविधान में संशोधन करना अभीष्ट होगा।

इस दिशा में जो सुधार सुझाये गए हैं, उनमें से वे सुधार प्रभावी नहीं होंगे जिनके लिए संविधान में संशोधन करना अभीष्ट होगा, क्योंकि इसके फल संदिग्ध होंगे और इसके लिए टेढ़े-मेढ़े उपायों का आश्रय लेना होगा। १६वें संशोधन के प्रभावी होने में लगभग २० वर्ष का समय लगा और तब कहीं सर्वोच्च न्यायालय के प्रभाव का नाश हो पाया। किन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि ऊपर सुझाए हुए संशोधनों में से किसी ओर भी सार्वजनिक रुचि और उत्साह प्रकट नहीं हुआ है और अधिकतर अमेरिका-निवासी न्यायिक पुनरीक्षण की प्रथा को, जिस रूप में कि वह अमेरिकी शासन-व्यवस्था का अंग बन गई है, आवश्यक समझते हैं।

न्यायालयों के सुधार के सम्बन्ध में रूजवेल्ट के प्रस्ताव (Roosevelt's proposals)—राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट की सर्वोच्च न्यायालय से जो अनबन हो गई थी, वह हाल ही की घटना है जिसमें नाटकीय ढंग से एक राजनीतिज्ञ ने सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयत्न किया था। राष्ट्रपति हूवर (Hoover) ने अपना पद मार्च १९३३ में रिक्त किया। उस समय चारों ओर देश में आर्थिक अवसाद या मन्दी का बोलबाला था। उसी दिन जब राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अपना पद सम्भाला, उसने नये आर्थिक कार्यक्रम का सन्देश दिया और वचन दिया कि वह देश को आर्थिक संकट से बचा ले जाएगा। उसके नेतृत्व में कांग्रेस ने दूरगामी नियम अत्यन्त शीघ्रता के साथ बनाये और पारित किए। किन्तु १९३५ के आते-आते

---

1. यदि किसी विवाद पर न्यायाधीशों के बराबर मत हों तो निचले न्यायालय का निर्णय मान्य रहेगा।

ये वैधिक उपबन्ध सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख आने लगे। सर्वोच्च न्यायालय ने नये आर्थिक कार्यक्रम (New Deal) से सम्बंधित पांच परिनियमों (Statutes) को अक्तूबर, १६३५ से प्रारम्भ होने वाले न्यायालय के सत्र में असांविधानिक घोषित कर दिया। सब मिला कर सर्वोच्च न्यायालय ने राष्ट्रपति रूजवेल्ट के साथ अनबन के काल में केवल तीन वर्षों में नये आर्थिक कार्यक्रम से सम्बन्धित १२ परिनियम अथवा उनके उपबन्धों को असांविधानिक घोषित कर दिया। १६३७ के प्रारम्भ में, जब राष्ट्रपति और सर्वोच्च न्यायालय के बीच लड़ाई उग्र रूप धारण करती जा रही थी, राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कांग्रेस के समक्ष न्यायपालिका को सुधारने का अपना प्रस्ताव एवं कार्यक्रम प्रस्तुत किया। राष्ट्रपति के चुनाव आन्दोलन में राष्ट्रपति या डेमोक्रेटिक पार्टी ने सर्वोच्च न्यायालय के पुनर्गठन का कोई आभास नहीं दिया था। इसलिए ४ फरवरी १६३७ को राष्ट्रपति ने जो सन्देश कांग्रेस को दिया, जिसमें सर्वोच्च न्यायालय के पुनर्गठन सम्बन्धी प्रस्ताव निहित थे, उससे सारे देश में नाटकीय ढंग से खलबली मच गई। इन प्रस्तावों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव यह था कि राष्ट्रपति को अधिकार मिले कि वह सर्वोच्च न्यायालय के ऐसे प्रत्येक न्यायाधीश के स्थान पर एक न्यायाधीश नियुक्त कर ले जिसने १० वर्ष न्यायालय की सेवा कर ली है और जो ७० वर्ष की आयु पार करने पर भी न्यायालय के न्यायाधीश पद पर बना हुआ है। इसमें यह शर्त भी जोड़ दी गई कि किसी भी हालत में समस्त न्यायाधीशों की संख्या १५ से अधिक नहीं होने दी जाएगी। रूजवेल्ट के प्रस्ताव का उद्देश्य यह था कि सर्वोच्च न्यायालय का कायाकल्प किया जाए और इसको अधिक कार्य-कुशल बनाया जाए ताकि यह अपना समस्त कार्य कुशलतापूर्वक पूरा करता चले।

यह प्रस्ताव पूर्ण रूप से पराजित हो गया। इसके फलस्वरूप केवल एक लाभदायक परिणाम निकला कि कांग्रेस ने आज्ञा दे दी कि सर्वोच्च न्यायालय के जिन न्यायाधीशों ने १० वर्ष अपने पदों पर कार्य कर लिया है और ७० वर्ष की आयु पूर्ण कर चुके है, वे अवकाश ग्रहण कर सकते हैं; और तब भी उनको पूरा वेतन मिलता रहेगा। यद्यपि यह रूजवेल्ट की राजनीतिक पराजय थी फिर भी ऐसा माना गया है कि उसने युद्ध जीत लिया।

Suggested Readings

Board, C. A. : *American Government and Politics* (1947), pp. 46-58, Chap. VIII.

Brogan, D. w. : *The American Political System* (1948), Part I, Chap. II.

Carr, R. K. : *The Supreme Court and the Judicial Review* (1942).

Corwin, E. S. : *Court Over Constitution: A Study of the Judicial Review as an Instrument of Popular Government*, (1948).

Cushman, R K. : *Ten Years of Supreme Court* (1937-1947), "*American Political Science Review*" Vol. XLII (Feb. 1948), pp. 32-67.

Ferguson, J. H. and Mc. Henry, D. E. : *The American System of Government* (1950), pp. 63-66, Chap. XVI.

Harris, R. J. : *The Judicial Power of the United States* (1940).

Laski, H. J. : *The American Democracy*, (1953), pp. 73-78; 110-116; 671-73.

Ogg, F. A. and Ray, P. O. : *Essentials of American Government*, (1952), pp. 42-46, Chap. XXIII.

Swisher, C. B. : *The Constitutional Power in the United States* (1947), Chap. IX.

कार्यक्रम में उन्नति ही होती जा रही है और आज तो इस संविधान से बाहर की चीज अर्थात् राजनीतिक दल-व्यवस्था ने समस्त राष्ट्र के राजनीतिक जीवन को मथ डाला है।

अमेरिका में दलगत व्यवस्था का आधार (The Basis of American Party System)—यह स्मरण रखना चाहिए कि अमेरिका की दलगत व्यवस्था का आधार राजनीतिक दल नहीं है। "अमेरिका में दलों का संगठन ऐसे मनुष्यों के समुदाय को लेकर नहीं बना जो शासन के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्तों में विश्वास रखते हों अथवा जो इन सिद्धान्तों को प्रशासन और व्यवस्थापन में व्यावहारिक रूप से निहित करना चाहते हों।" फिलैडेलफिया की प्रसभा में जो दो मुख्य दल थे उनके विभाजन का आधार बड़े और छोटे राज्यों को लेकर था और उनमें भी मुख्य रूप से गुलामी की प्रथा को लेकर था, जो विभाजन की पृष्ठभूमि का निर्माण करती थी। अमेरिकी गणराज्य के प्रारम्भिक काल में आर्थिक एवं क्षेत्रीय हितों तथा उन हितों की प्रतिक्रिया के रूप में दलों का उदय हुआ। संघात्मक दल (Federalist Party), न्यू इंग्लैंड (New England) और मध्यवर्ती राज्यों के व्यापारिक, आर्थिक और औद्योगिक हितों का संरक्षक था; और रिपब्लिकन दल (The Republican Party) कृषकों, बगीचों के मालिकों और उत्तरी देहातों तथा दक्षिणी किसानों के हितो को देखता था।

हैमिल्टन और जैफरसन दोनों की ही हार्दिक इच्छा थी कि सशक्त एव स्वतन्त्र राष्ट्र का निर्माण हो और दोनों ने ही अपनी पूरी शक्ति इस शुभ इच्छा की पूर्ति में लगा दी, किन्तु शक्ति और स्वतन्त्रता प्राप्त करने के दोनों के अलग-अलग मार्ग थे। हैमिल्टन शक्तिशाली केन्द्रीय शासन का समर्थक था और इसी के लिए वह बराबर प्रयत्न करता रहा। वाशिंगटन का अर्थमन्त्री (Secretary of the Treasury) रह चुकने के कारण वह केन्द्रीय शासन को वास्तविक और सुदृढ़ आर्थिक आधार पर स्थापित करना चाहता था, और इस कारण वह अपने प्रतिद्वन्द्वी से आर्थिक लाभ की स्थिति में था।

इसके विपरीत टॉमस जैफरसन (Thomas Jefferson) का हैमिल्टन के विचारों से तीव्र विरोध था। इस कारण मन्त्रिमण्डल में फूट थी। जैफरसन ने त्याग-पत्र दे दिया और अपनी सारी शक्ति एक ऐसे दल के संगठन में लगा दी जो हैमिल्टन का और उसके साथियों का प्रभावपूर्ण विरोध कर सके। जैफरसन का विरोध इस कारण था कि शासन का समस्त ध्यान वाणिज्यप्रधान एव व्यवसायियों के हितसाधन की ओर था और देहात व किसानों के हितों को उपेक्षित किया जा रहा था। वह अमेरिका में किसानों का प्रजातन्त्र स्थापित करना चाहता था और उसका विचार था कि संघ के समर्थकों का सारा प्रोग्राम एक अल्पजन शासन (Oligarchy) को जन्म देगा जिसमे कतिपय धनी लोगों का राज्य होगा और उस राज्य मे केवल धनी लोगों का हित साधन होगा। इस बुराई को दूर करने का उसे कोई अन्य उपाय नहीं सूझा

अध्याय ८

राजनीतिक दल

(Political Parties)

अमेरिकी संविधान के निर्माताओं का राजनीतिक दलों के प्रति विरोध (Opposition of the Fathers to the Party System)—लोकतन्त्र की सफल क्रियान्विति के लिए राजनीतिक दलों को अपरिहार्य माना जाता है। लेकिन अमेरिकी संविधान के निर्माता इस बात पर सहमत थे कि राजनीतिक दलबन्दी के फलस्वरूप राष्ट्रीय समैक्य को भारी आघात पहुंचता है क्योंकि उसके द्वारा कलह, विग्रह, छल-कपट और चालाकी को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए फिलैडेलफिया प्रसभा (Philadelphia Convention) ने शासन को दलीय शासन-प्रणाली से श्रेष्टतर बनाने की दिशा में यह उपबन्ध कर दिया कि शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त (Device of Division of Power) एवं परीक्षणो और सन्तुलनों के सिद्धान्त (System of Checks and Balances) का शासन में सूत्रपात हो, जिनका एक प्रधान उद्देश्य यह था कि किसी दल का अत्यधिक प्रभाव शासन पर न रहे चाहे वह प्रभाव श्रेष्ठ उद्देश्यो को लेकर भी क्यों न हो।

किन्तु संविधान के निर्माताओं की इच्छा के विरुद्ध संघ की स्थापना के कुछ ही वर्षों के भीतर दलगत विभिन्नता एवं दलीय भावना स्पष्टतः दिखाई देने लगी। १७९६ के राष्ट्रपतीय चुनाव में जो संघ का तृतीय राष्ट्रपतीय निर्वाचन था और इस दृष्टि से प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचन था कि उसमें वाशिंगटन प्रत्याशी के रूप में खड़ा नहीं था; दो स्पष्ट राष्ट्रीय दल थे जिनमें से एक दल जॉन एडम्स (John Adams) का समर्थक था, तथा दूसरा टॉमस जैफरसन का समर्थक था। १८०० तक शासन में दलों का स्थायित्व भली प्रकार हो गया था, यहाँ तक कि संविधान में १२वां संशोधन करना पड़ा ताकि प्रधान निर्वाचकगणों (Electoral College) के द्वारा निर्वाचन-विधि उचित रूप से व्यवस्थित हो जाए।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि तभी से राजनीतिक दलों ने अमेरिका के राजनीतिक जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। कभी-कभी तो राजनीतिक दलों ने सारे अमेरिकी जीवन को आक्रान्त कर डाला है। राष्ट्रीय आपात कालो में राजनीतिक दल कुछ समय के लिए शान्त दिखाई पड़ते हैं या यदि कभी निर्दल राष्ट्रपति ह्वाइट हाउस की गद्दी पर आ विराजे तो वह कुछ समय के लिए राजनीतिक दलों को महत्त्वहीन कर सकता है, अन्यथा राजनीतिक दलगत व्यवस्था का ह्रास कभी भी नहीं हुआ। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढी में राजनीतिक दलों के

हैं जितनी कि यूरोप में, जिसके कारण वहाँ इन आधारों पर गुटबन्दी अधिक उग्र रूप से दृष्टिगोचर होती है किन्तु अमेरिका में उसका उतना उग्र रूप नहीं है। तृतीयतः, द्विदल पद्धति औपनिवेशिक राज्यों की परम्परा है जो लगातार अविच्छिन्न रूप से चल रही है। चतुर्थतः, अमेरिका की द्विदल पद्धति उस देश की निर्वाचन-प्रणाली है विशेपकर निर्वाचकगणों एवं *एकल-सदस्य-जिला-चुनाव पद्धति (Single-member district* plan) का परिणाम है जिसके अनुसार व्यवस्थापिका के सदस्य चुने जाते है। निस्सदेह यह सत्य है कि निर्वाचकगणों द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव अत्यधिक कठिन और अप्रजातान्त्रिक हो जाएगा यदि कोई सुदृढ और सुव्यवस्थित तृतीय दल भी मैदान मे आ जाए। यदि निर्वाचकगण (Electoral college) मे बहुमत प्राप्त नही होता, उस स्थिति में प्रतिनिधि सदन कार्यपालिका प्रधान का निर्वाचन सबसे अधिक तीन मत पाने वालों मे से किसी प्रत्याशी का कर लेता है। इस प्रकार प्रत्येक राज्य एक वोट देता है। एकल-सदस्य-जिला-चुनाव पद्धति (Single-member district scheme) के द्वारा छोटी-छोटी पार्टियाँ चुनाव मैदान मे आने का साहस नही करती। इन दो दलों के अलावा समय-समय पर अमेरिका मे कुछ अन्य दल भी उठे है, लेकिन उनका कोई विशेप महत्त्व नहीं है। वास्तव मे असन्तुष्ट तत्त्व तृतीय दलो का निर्माण करते है, परन्तु शक्तिशाली दलों के बीच में उनकी अपनी सत्ता नष्ट हो जाती है। कभी-कभी यह भी देखा गया है कि ये दल प्रमुख दलों मे सन्तुलन का कार्य करते है। गृह-युद्ध (Civil wars) के पश्चात् कोई छह अवसरो पर इस प्रकार के तृतीय दलों ने प्रभावशाली परिणाम दिखाए है। हाल ही के एक उदाहरण के अन्तर्गत राबर्ट एम० ला० फौले (Robert M. La Follette) राष्ट्रपति पद के लिए १९२४ में चुनाव लड़ना है जिसमें प्रगतिशील उम्मीदवार होने के नाते उसे साढ़े चालीस लाख मत प्राप्त हुए थे। अतः यद्यपि तृतीय दलों के उम्मीदवारों को कोई पद प्राप्त नही होता तथापि वे नई नीतियों के संस्थापक बन जाते हैं। यही नीतियाँ कुछ वर्षों बाद पुरानी पार्टियों द्वारा अपने कार्यक्रम में कभी-कभी सम्मिलित कर ली जाती हैं और यह बात तृतीय दलों के निर्माताओं के लिए सन्तोष का कारण बन जाती है।

अमेरिकी राजनीतिक दलों का इतिहास
(History of American Parties)

डेमोक्रेटिक दल (The Democratic Party)—डेमोक्रेटिक दल की स्थापना १५० वर्ष पूर्व टॉमस जेफरसन ने वाशिंगटन के प्रशासन-काल में की थी। इस दल के विभिन्न नाम रहे हैं, जैसे संघ-विरोधी दल (Antifederalists), रिपब्लिकन्स (Republicans), डेमोक्रेटिक रिपब्लिकन्स (Democratic Republicans) और डेमोक्रेट्स (Democrats); और अत्यन्त कठिन परिस्थितियो में से यह दल अब तक जीवित रहा है। अपने प्रारम्भिक जीवन-काल में इस दल ने रक्षित प्रशुल्कों (Protected tariffs), जहाजों के अधोगमन अथवा प्रशमन (Ship Subsidies), साम्राज्यवाद (Imperialism), और केन्द्रीय सरकार की शक्तिवर्द्धन आदि विषयों

और उसने माँग की कि राज्यों के अधिकारों में वृद्धि की जाए और केन्द्रीय शासन को कतिपय थोड़ी-सी शक्तियाँ दी जाएँ।

यह अजीब-सी बात मालूम होगी कि जैक्सन (Jackson), पोक (Polk), क्लीवलैण्ड (Cleveland), विल्सन (Wilson) और फ्रैंकलिन रूजवेल्ट (Franklin Roosevelt) अपने दल के संस्थापक जेफरसन से भिन्न मत रखते थे और वे केन्द्रीय शासन की शक्तियों में वृद्धि चाहते थे और संविधान की धाराओं का विस्तृत अर्थों में निर्वचन करते थे। किन्तु जैफरसन की विचारधारा को समझने के लिए उस काल की राजनीतिक एवं उस काल की अ-राजनीतिक स्थिति को भी समझना होगा। यातायात के साधनों का अभाव; प्रान्तीय अथवा क्षेत्रीय प्रेम; राष्ट्रीय भावना का पूर्ण अभाव; साथ ही कुछ अन्य प्रान्तो का नए राष्ट्र के साथ पूर्ण सारूप्य अथवा एक-चित्तता (Identity) इन सबने एक साथ मिल कर राष्ट्रीय भावनाओं के विकास मे बाधा पहुँचाई और इस कारण लोगों ने केन्द्रीय शासन को समस्त राष्ट्र के हितों का सरक्षक नही समझा। इसलिए जैफरसन ने बल दिया कि अधिकतर शक्तियाँ राज्यों के लिए सुरक्षित रखी जाएँ और तभी सर्वसाधारण के हितों की रक्षा हो सकेगी।

अमेरिका के दोनों ही बड़े दल हितों के समुदाय थे और अब भी हैं और उनकी शक्ति का आधार स्थानीय हित है। सामान्यतः संयुक्तराज्य को इस समय चार भागों में बांटा जा सकता है। उद्योगप्रधान उत्तर-पूर्वी भाग मुख्यतः रिपब्लिकन दल का गढ़ है। कृषिप्रधान दक्षिण प्रदेश पूर्णतः डेमोक्रेटिक दल का शक्ति-स्थल है। मध्य-वर्ती देश बड़े-बड़े फार्मों का ऐसा क्षेत्र है जिस पर दोनों दलों की समान आशाएँ बनी रहती हैं। आधुनिक शताब्दी का अन्य विकास यह भी है कि पश्चिमी अमेरिकी भू-भाग का राजनीतिक प्रभाव बढ़ रहा है। यह भूभाग अब तक मुख्यतः कृषिप्रधान और चरागाहों का स्थान था किन्तु वही अब तेजी से उद्योगप्रधान बनता जा रहा है। दोनों ही दल यह प्रयत्न करते हैं कि इन दोनों अनिश्चित क्षेत्रों को अपने पक्ष में कर लें। यही दोनों क्षेत्र वास्तव मे राष्ट्रपति अथवा कांग्रेस के चुनाव में बहुमत देते हैं और जहाँ तक दोनों दल इन अनिश्चित क्षेत्रों में अपना प्रभाव-क्षेत्र और राजनीतिक संघटन सुदृढ और अपने हित मे कर सकते है वहाँ तक उनकी सफलता निश्चित हो सकती है। किन्तु जब तक उत्तरी भूभाग मुख्यतः रिपब्लिकन है और दक्षिणी भूभाग मुख्यतः डेमोक्रेटिक है तब तक देश में दलों की राजनीति का आधार-क्षेत्र विशेष अथवा भूभाग ही बना रहेगा।

द्विदल पद्धति (The Two Party System)—अपने सारे जीवन-काल में संयुक्त राज्य अमेरिका में केवल नगण्य छोटे-मोटे दलों को छोड़ते हुए मुख्यत. दो राजनीतिक दल ही रहे हैं। द्विदल पद्धति के इस प्रकार विकसित होने के कई कारण बताए गए हैं। प्रथमतः, बताया गया है कि अंग्रेजी भाषा-भाषी देशों के लोग अव्याव-हारिक काल्पनिक (Doctrinaire) नहीं होते हैं और वे समझौतावादी अधिक हैं। द्वितीयतः, वंश, जाति, राष्ट्रीयता और धर्म की समस्याएँ अमेरिका में उतनी प्रबल नहीं

शासन-काल मे भी दल सुखपूर्वक समय यापन नहीं कर सका क्योंकि ग्रांट (Grant) के प्रशासन-काल में इस दल के ऊपर भ्रष्टाचार के कई आरोप लगे। इस दल को आन्तरिक मतभेदों ने भी झकझोर डाला, जैसे पूर्वी और पश्चिमी अमेरिका के विभेद अथवा पूर्ण अपरिवर्तनवादी (Conservative) व्यापारियो एव कुछ कम अपरिवर्तनवादी किसानों और श्रमिको मे विभेद; अथवा सुधारवादी उदार रिपब्लिकनों (Reform-minded Liberal Republicans) एव स्टैण्ड पैटरों (Stand-patters) मे विभेद; अथवा दल के नियमित सदस्यों (Party regulars or stalwarts) एव दल के स्वतन्त्र सदस्यों अथवा अवसरवादी सदस्यो (Party independents or half breeds) मे विभेद अथवा इनके सबके विभिन्न समूहो मे परस्पर विभेद। किन्तु इतनी विभिन्नताओं, फूट और विभाजन के बावजूद यह दल स्थिरता के साथ न केवल खड़ा रहा बल्कि जीता क्योंकि सयोगवश अथवा उद्योगपूर्वक इस दल के नेतागण इस दल के विभिन्न मतों को एक साथ रख सके और उनके विभाजन को काबू में रख सके। पिछली शताब्दी के अन्त मे जब महत्त्वपूर्ण श्रमिक एव देहाती वर्ग दल को त्यागने वाले थे, उस समय विलियम मैकिनले (William McKinley) के प्रयत्नो के फलस्वरूप दल विघटित होने से बचा। जब अगले वर्षों मे सुधारवादियों ने दल की नीति की अनुदारता (Conservatism) के विरुद्ध आवाज उठाई तो थियोडोर रूजवेल्ट (Theodore Roosevelt) ने, जो स्वय प्रगतिशील अथवा प्रगामी रिपब्लिकन था, दल के कार्यक्रम को प्रगतिशील दिशा प्रदान की।

रिपब्लिकन दल संविधान को उदार अर्थों मे ग्रहण करता है, विशेषकर उन अनुच्छेदों को जिनका सम्बन्ध केन्द्रीय सरकार की शक्तियों से है। इस दल ने राज्यो को शक्तियाँ प्रदान करने के सम्बन्ध मे डेमोक्रेटिक दल की अपेक्षा कम उदारता प्रदर्शित की है। साथ ही इस दल ने रक्षित प्रशुल्कों (Protective tariffs), संघीय शासन के नेतृत्व में आन्तरिक सुधारों, उपनिवेशों की वृद्धि, वयोवृद्ध नेताओं (Veterans) के लिए उदार पेंशनें; व्यापारिक जहाजी बेड़े के लिए उदार सरकारी सहायता; काले हब्शियों के लिए वोट देने का अधिकार और सोने की प्रमाप मुद्रा (Gold monetary standard) के सम्बन्ध मे अत्यधिक उदार दृष्टिकोण अपनाया है।

दलों का मतभेद, आधारभूत सिद्धान्तों पर नहीं (Party divisions no longer clear cut)—आजकल दलों का मतभेद किसी आधारभूत सिद्धान्त पर नहीं है और उनके कार्यक्रमो के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खीची जा सकती। अमेरिकावासियों का अब कृषिप्रधान उद्यम नही है और देश की राष्ट्रीय आय में ज़मीन की पैदावार का स्थान अत्यन्त क्षीण है। मध्य पश्चिम और दक्षिण के विशाल भूभाग; जो किसी समय खेतिहर प्रजातन्त्र (Agrarian democracy) के समर्थक थे, अब उद्योगप्रधान प्रदेश बन गए हैं और तदनुसार उनके राजनीतिक विचारों में भी परिवर्तन आ गया है। उनकी आवश्यकताएँ भी बदल गई हैं, इसलिए वे ऐसे शासन के इच्छुक है जिसके दृष्टिकोण में परिवर्तन हो। इसके अतिरिक्त उद्योग, व्यापार और कृषि एक-दूसरे के अन्योन्याश्रित एवं अतिछादी (Overlap-

के विरुद्ध आवाज उठाई थी और इस विरोध के लिए संविधान के उपबन्धों का सहारा लिया था। प्रारम्भ में इसका ऐतिहासिक एवं अत्यधिक प्रभाव, देश के कृषकों में था यद्यपि बाद मे बहुत से आयात करने वाले व्यवसायी और शहरी शिल्पकार भी इस दल मे सम्मिलित हो गए। जब १८१६ के आस-पास संघात्मक दल (Federalist Party) छिन्न-भिन्न हो गया तो डेमोक्रेटिक दल ने काफी समय तक देश मे एक-छत्र राजनीतिक सत्ता का उपभोग किया। जैक्सन (Jackson) के काल मे दल मे फूट पड़ गई और डेमोक्रेटिक दल के विरोध मे सशक्त ह्विग दल (Whig) आ गया। गृह-युद्ध के बाद यह दल विरोधी दल के रूप में जमा रहा और कई दशकों तक अल्प मत दल के रूप में पड़ा रहा लेकिन कभी-कभी जोर के साथ काँग्रेस मे उभर भी आता था और दो बार राष्ट्रपति क्लीवलैण्ड (Cleveland) के नेतृत्व में, दो बार राष्ट्रपति वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) के नेतृत्व में और चार बार फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट के नेतृत्व में इस दल ने राष्ट्रपति के शासन पर अधिकार जमाया। कैनेडी ने भी अपने दल की काँग्रेस के पर्याप्त बहुमत के कारण व्हाइट हाउस (White House) में आसन जमाया था और १९६४ के चुनावों में लिण्डन जॉन्सन ने संयुक्त राज्य अमेरिका के इतिहास मे सबसे अधिक लोक बहुमत प्राप्त किया था। ऐसा अनुभव किया गया है कि नई पौध का झुकाव डेमोक्रेटिक दल की ओर अधिक है और अधिक शिक्षित व्यक्ति रिपब्लिकन दल की ओर झुकाव रखते है।

रिपब्लिकन दल (The Republican Party)—आज की जो रिपब्लिकन पार्टी है, वह वास्तव में प्रारम्भिक काल की बडी पार्टियों की उत्तराधिकारिणी है। प्रारम्भ में हैमिल्टन के नेतृत्व में संघात्मक दल था जिसने सशक्त केन्द्रीय सरकार का समर्थन किया था और संविधान के उदार निर्वचन पर आग्रह किया था; किन्तु इस दल ने १८१२ के युद्ध में कई अक्षम्य असावधानियाँ कीं अत. इसका अन्त हो गया। उसके बाद यह दल राष्ट्रीय रिपब्लिकन (National Republican) दल के नाम से उभरा और उसके बाद जैक्सन काल में यह दल ह्विग दल के नाम से सामने आया। रिपब्लिकन दल की स्थापना १८५४ में हुई और दल ने १८५६ के राष्ट्रपति चुनाव में जॉन सी० फ्रीमॉण्ट (John C. Fremont) को राष्ट्रपति पद के लिए नामांकित किया और गुलाम प्रथा के विरुद्ध कड़ा रुख अपनाया। किन्तु फ्रीमॉण्ट डेमोक्रेटिक कोलीशन (Democratic coalition) के मुकाबले में हार गया क्योंकि डेमोक्रेटिक दल की दशा सुदृढ़ थी। चार वर्षों के बाद रिपब्लिकन दल की ओर से लिंकन (Lincoln) राष्ट्रपति पद पर आ विराजा। इस बार रिपब्लिकनों ने चुनाव-घोषणा-पत्र में 'गुलाम प्रथा के अन्त', और आन्तरिक सुधारों का आश्वासन दिया था। इन आन्तरिक सुधारों में किसानों के लिए इमारत सहित बगीचों और फार्मों का एवं श्रमिकों तथा शिल्पियों के लिए ऊँचे वेतन का आश्वासन निहित था। १८६० से १९१३ तक इस पार्टी के हाथों में लगातार शासन की बागडोर रही। इस बीच केवल आठ वर्ष के लिए यह दल सत्ताहीन रहा जबकि १८८५-१८८९ तक और १८९३-१८९७ तक डेमोक्रेटिक दल का क्लीवलैंड राष्ट्रपति रहा। किन्तु अपने इस लम्बे

शासन-काल में भी दल सुखपूर्वक समय यापन नहीं कर सका क्योंकि ग्रांट (Grant) के प्रशासन-काल में इस दल के ऊपर भ्रष्टाचार के कई आरोप लगे। इस दल को आन्तरिक मतभेदों ने भी झकझोर डाला, जैसे पूर्वी और पश्चिमी अमेरिका के विभेद अथवा पूर्ण अपरिवर्तनवादी (Conservative) व्यापारियों एवं कुछ कम अपरिवर्तनवादी किसानों और श्रमिकों में विभेद, अथवा सुधारवादी उदार रिपब्लिकनों (Reform-minded Liberal Republicans) एवं स्टेण्ड पैटरों (Stand-patters) में विभेद; अथवा दल के नियमित सदस्यों (Party regulars or stalwarts) एवं दल के स्वतन्त्र सदस्यों अथवा अवसरवादी सदस्यों (Party independents or half breeds) में विभेद अथवा इनके सबके विभिन्न समूहों में परस्पर विभेद। किन्तु इतनी विभिन्नताओं, फूट और विभाजन के बावजूद यह दल स्थिरता के साथ न केवल खड़ा रहा बल्कि जीता क्योंकि सयोगवश अथवा उद्योगपूर्वक इस दल के नेतागण इस दल के विभिन्न मतों को एक साथ रख सके और उनके विभाजन को काबू में रख सके। पिछली शताब्दी के अन्त में जब महत्त्वपूर्ण श्रमिक एवं देहाती वर्ग दल को त्यागने वाले थे, उस समय विलियम मैकिनले (William McKinley) के प्रयत्नों के फलस्वरूप दल विघटित होने से बचा। जब अगले वर्षों में सुधारवादियों ने दल की नीति की अनुदारता (Conservatism) के विरुद्ध आवाज उठाई तो थियोडोर रूजवेल्ट (Theodore Roosevelt) ने, जो स्वयं प्रगतिशील अथवा प्रगामी रिपब्लिकन था, दल के कार्यक्रम को प्रगतिशील दिशा प्रदान की।

रिपब्लिकन दल संविधान को उदार अर्थों में ग्रहण करता है, विशेषकर उन अनुच्छेदों को जिनका सम्बन्ध केन्द्रीय सरकार की शक्तियों से है। इस दल ने राज्यों को शक्तियाँ प्रदान करने के सम्बन्ध में डेमोक्रेटिक दल की अपेक्षा कम उदारता प्रदर्शित की है। साथ ही इस दल ने रक्षित प्रशुल्कों (Protective tariffs), सघीय शासन के नेतृत्व में आन्तरिक सुधारों, उपनिवेशों की वृद्धि, वयोवृद्ध नेताओं (Veterans) के लिए उदार पेंशनें; व्यापारिक जहाजी बेड़े के लिए उदार सरकारी सहायता; काले हब्शियों के लिए वोट देने का अधिकार और सोने की प्रमाप मुद्रा (Gold monetary standard) के सम्बन्ध में अत्यधिक उदार दृष्टिकोण अपनाया है।

दलों का मतभेद, आधारभूत सिद्धान्तों पर नहीं (Party divisions no longer clear cut)—आजकल दलों का मतभेद किसी आधारभूत सिद्धान्त पर नहीं है और उनके कार्यक्रमों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। अमेरिकावासियों का अब कृषिप्रधान उद्यम नहीं है और देश की राष्ट्रीय आय में जमीन की पैदावार का स्थान अत्यन्त क्षीण है। मध्य पश्चिम और दक्षिण के विशाल भूभाग; जो किसी समय खेतिहर प्रजातन्त्र (Agrarian democracy) के समर्थक थे, अब उद्योगप्रधान प्रदेश बन गए हैं और तदनुसार उनके राजनीतिक विचारों में भी परिवर्तन आ गया है। उनकी आवश्यकताएँ भी बदल गई हैं, इसलिए वे ऐसे शासन के इच्छुक हैं जिसके दृष्टिकोण में परिवर्तन हो। इसके [illegible] उद्योग, व्यापार और कृषि एक-दूसरे के अन्योन्याश्रित एवं अविछारी (O[illegible]

के विरुद्ध आवाज उठाई थी और इस विरोध के
लिया था। प्रारम्भ में इसका ऐतिहासिक एवं
यद्यपि बाद में बहुत से आयात करने वाले व्य
दल मे सम्मिलित हो गए। जब १८१६ के
Party) छिन्न-भिन्न हो गया तो डेमोक्रेटिक
छत्र राजनीतिक सत्ता का उपभोग किया। जै
फूट पड़ गई और डेमोक्रेटिक दल के विरोध
गया। गृह-युद्ध के बाद यह दल विरोधी दल
तक अल्प मत दल के रूप में पड़ा रहा लेकिन
भी आता था और दो बार राष्ट्रपति क्लीव
बार राष्ट्रपति वुडरो विल्सन (Woodro
बार फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट के नेतृत्व में इस
जमाया। कैनेडी ने भी अपने दल की कांग्रे
हाउस (White House) में आसन जमाया
जॉन्सन ने संयुक्त राज्य अमेरिका के इतिहास
किया था। ऐसा अनुभव किया गया है कि न
और अधिक है और अधिक शिक्षित व्यक्ति
रखते है।

रिपब्लिकन दल (The Republican
पार्टी है, वह वास्तव में प्रारम्भिक काल की
प्रारम्भ में हैमिल्टन के नेतृत्व मे संघात्मक दल थ
समर्थन किया था और संविधान के उदार निर्वच
दल ने १८१२ के युद्ध में कई अक्षम्य असावधानि
उसके बाद यह दल राष्ट्रीय रिपब्लिकन (Nation
उभरा और उसके बाद जैक्सन काल में यह दल हि
रिपब्लिकन दल की स्थापना १८५४ में हुई और द
मे जॉन सी० फ्रीमॉण्ट (John C. Fremont) को र
किया और गुलाम प्रथा के विरुद्ध कड़ा रुख अपनाया
कोलीशन (Democratic coalition) के मुकाबले मे
दल की दशा सुदृढ़ थी। चार वर्षों के बाद रिपब्लिक
(Lincoln) राष्ट्रपति पद पर आ विराजा। इस बार रि
पत्र में 'गुलाम प्रथा के अन्त', और आन्तरिक सुधारों का
आन्तरिक सुधारों में किसानों के लिए इमारत सहित व
श्रमिकों तथा शिल्पियों के लिए ऊँचे वेतन का आश्वासन।
१९१३ तक इस पार्टी के हाथों में लगातार शासन की बागडोर
आठ वर्ष के लिए यह दल सत्ताहीन रहा जबकि १८८५-१८
१८९७ तक डेमोक्रेटिक दल का क्लीवलैंड राष्ट्रपति रहा।

राष्ट्रवादी अथवा राष्ट्रीयता का स्वांग भरते हैं, सशक्त सेना और नौसेना का समर्थन करते हैं, साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में हस्तक्षेप और युद्ध का समर्थन करते है किन्तु रिपब्लिकन लोग एक प्रकार से कम दिखावा करते है और वे धैर्य, हुशियारी और सावधानी की सलाह देते हैं, यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में अपने देश को पथक् रखना चाहते है।

Suggested Readings

Beard, C. A. : *American Government and Politics*, (1947), Chap. III.

Bone, H. A. : *American Politics and Party System*, (1949), Chaps. I—X.

Brogan, D. W. : *An Introduction to American Politics*, (1954), Chaps. II—V.

Brogan, D. W. : *The American Political System*, (1948) Part Two; Chaps. I—IV.

Stannard, H. : *The Two Constitutions*, (1950), Chap. VI.

Tourtellot, A. B. : *An Anatomy of American Politics*, (1950), Chaps. V—VIII.

Zink, H. : *A Survey of American Government*, (1950), Chaps. VIII—IX.

ping) है। इन तीनों में पूर्ण विच्छेद असम्भव है। केवल उद्योगों मे ही तीव्र भेद हैं और उन औद्योगिक विभेदों और कमजोरियों को दूर करने के अनेक उपाय सुझाये गये है। उदाहरणस्वरूप मोटरगाड़ी उद्योग तथा मिले-जुले उद्योग रक्षित प्रशुल्क (Protective tariffs) नही चाहते किन्तु विदेशों मे पूँजी लगाने वाले लोग रक्षित प्रशुल्क के हामी है।

अमेरिका के आर्थिक जीवन की जटिलताओं के कारण ही डेमोक्रेटिक दल वालों ने अपनी स्थिति मे परिवर्तन कर लिया है। उन्होंने अपनी पुरानी जिद छोड़ दी है जिसके अनुसार वे राजस्व पर ही प्रशुल्क चाहते थे और अब वे परस्पर लाभकारी व्यापारिक इकरारनामों (Reciprocal trade agreements) के कुछ परिवर्तित रूप द्वारा प्रशुल्कों के रक्षण के समर्थक है। इस कार्यक्रम का रिपब्लिकन दल (Republican Party) भी समर्थक है। प्रोफेसर बीयर्ड के अनुसार, "इसका फल यह है कि किसी एक ही दल के विभिन्न पक्षों में और उनके दृष्टिकोणों में कही अधिक मतभेद हैं। किन्तु अपेक्षाकृत दोनों दलों के कार्यक्रम में उतना मतभेद नही है। इस मतभेद की अपेक्षाकृत मात्रा सीनेट के पर्यवेक्षण से विशेष समझ में आ जाएगी क्योंकि उसमें कृषि-प्रधान राज्यों को अत्यधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त है।"[1]

लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने अमेरिकी दल पद्धति का मनन करने के बाद निष्कर्ष निकाला कि "दोनों बड़े दलों को दो बोतलें समझो। दोनों बोतलो पर दो विभिन्न लेबिल (Label) लगे हुए समझो जिसका अर्थ होगा कि उन लेबिलों के अनुसार दोनों बोतलों में विभिन्न प्रकार की शराब है किन्तु वास्तव में वे दोनों बोतलें खाली समझनी चाहिएँ।" बीयर्ड (Beard) कहता है कि "यह सच नही है कि दोनो दलों में नामों के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है।"[2] इस सम्बन्ध में दो बातों पर विशेषरूप से ध्यान देना चाहिए। प्रथम यह है कि दोनों ही दल परम्परा के भक्त हैं जिसके कारण दोनों दलो के समर्थक अन्धे होकर अपनी-अपनी पार्टी का समर्थन करते ही जाते हैं। द्वितीयत: पुराने विचारो के अनुसार ही विभिन्न वर्ग अपने-अपने विचार और हित निश्चित करते है और इस प्रकार मतदाताओं में स्पष्ट विभेद पैदा करते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अमेरिका के दोनों राजनीतिक दल पूँजीवाद के समर्थक हैं। दोनों में केवल यह अन्तर है कि जहाँ रिपब्लिकन यह सोचते हैं कि शासन पूँजीवाद को छेड़े नही तो पूँजीवाद फलेगा-फूलेगा; वहीं डेमोक्रेट दल का कहना है कि यदि पूँजीवाद को जीवित रहना है तो उसको अपने आपको सामाजिक, कला, विज्ञान सम्बन्धी एवं आर्थिक परिवर्तनों के अनुरूप ढालते रहना चाहिए और यदि पूँजीवाद अपना लचीलापन (Flexibility) खो देगा तो यह स्वयं नष्ट हो जाएगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में डेमोक्रेटिक दल वालों का अजीब दृष्टिकोण है और वे

1. American Government and Politics, p. 67.
2. Beard : American Government and Politics, p. 68.

सभा (Congress of Vienna) ने स्विट्ज़रलैण्ड की तटस्थता मान ली थी और १६२० में राष्ट्रसंघ (League of Nations) ने पुनः उसको स्वीकार कर लिया था, अतः स्विट्ज़रलैण्ड की विदेशनीति दोनों विश्व-युद्धों में तटस्थता की आड़ लिए रही।

स्विट्ज़रलैण्ड संसार का प्रथम देश था जिसमें सबसे पहले लोकतन्त्र की स्थापना हुई, और आज भी यूरोप में वही एक ऐसा राष्ट्र है जो सदैव गणतन्त्र रहा है। जिस समय संयुक्त राज्य अमेरिका (United States of America) स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में प्रकट हुआ, उस समय स्विट्ज़रलैण्ड को अपनी पांच सौ वर्ष पुरानी गणतन्त्रीय परम्परा पर गर्व था। स्विट्ज़रलैण्ड की गणतन्त्रीय संस्थाओं का संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है जिन्होंने प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली अपनायी है। इसके अतिरिक्त यही एक ऐसा शासन है जिसमें प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct democracy) के सिद्धान्तों के अनुसार शासन के क्रिया-कलाप चलते हैं। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के सिद्धान्त प्रथम बार सयुक्त राज्य मे १८६८ में दक्षिणी डैकोटा (South Dakota) राज्य में प्रारम्भ किए गए, और तब से लोकप्रिय प्रभु-सत्ता निर्दोष प्रमाणित हुई है। इस प्रकार स्विट्ज़रलैण्ड ने ऐसी सुन्दर शासन-प्रणाली को जन्म दिया है जो किन्हीं सीमाओं तक अमेरिकी अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के समान स्थायी है और संसदीय शासन-प्रणाली के समान उत्तरदायी है।

प्राकृतिक विलक्षणताएँ (Physical characteristics)—स्विट्ज़रलैण्ड अनेकानेक घाटियों का देश है और उस देश के लोग ऊँचे पहाड़ों के दोनों ओर निवास करते हैं और उनके बीच में ऊँची-नीची विषम पहाड़ों की चोटियाँ और लम्बे-चौड़े बर्फ के मैदान हैं। विस्तृत पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण, उस देश की लगभग एक-चौथाई भूमि किसी प्रकार की पैदावार के अयोग्य है। बचे-खुचे भू-भाग का अधिकतर भाग चरागाहों या जंगलों के लिए उपयुक्त है और समस्त भूमि का प्रायः ३५ प्रतिशत भाग ही खेती के योग्य रह जाता है। सब मिलाकर सारी जनसंख्या का २२·२ प्रतिशत भाग ही देश की कृषि पैदावार पर जीवित रह सकता है।

प्रकृति ने खनिज-पदार्थों के सम्बन्ध में भी देश के ऊपर कृपा नहीं की है। देश में न तो तेल के स्रोत हैं, और न कोयले की खानें हैं, और कच्चे माल का भी प्रायः पूर्ण अभाव है। देश की ऊँची-नीची सतह होने के कारण परिवहन और यातायात कठिन है। प्रकृति ने केवल एक कृपा की है कि जल-विद्युत् शक्ति के महत्वपूर्ण साधन दिए हैं।

प्रकृति की इस प्रतिकूलता के बावजूद स्विस निवासी बहुत परिश्रमी हैं और उन्होंने अपने परिश्रम के जोर से अपनी आर्थिक स्थिति को बहुत अच्छा कर लिया है। स्विट्ज़रलैंड उद्योग-प्रधान देश है और वहाँ की जनता न अधिक अमीर है तथा न अधिक गरीब। इस देश के विषय मे यह बड़ी प्रशंसनीय बात है कि यह अब अपनी आवश्यकता की ८० प्रतिशत वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न करता है और केवल २० प्रतिशत ही बाहर से आयात करता है।

स्विट्ज़रलैण्ड का शासन

(The Government of Switzerland)

अध्याय १

देश और जनता

(The Country and its People)

स्विस लोकतन्त्र की विलक्षणता (Special interest in Swiss democracy)—स्विट्ज़रलैण्ड (Switzerland) यूरोप का भौगोलिक केन्द्र भी है और जातीय (Ethnological) केन्द्र भी। यह देश चारों ओर से अन्य देशों से घिरा हुआ है और पश्चिम यूरोप के बीचों-बीच स्थित है। इसका क्षेत्रफल लगभग १५,६७६ वर्गमील है और जनसंख्या लगभग ४५ लाख है। इस देश की सीमा लगभग १,००० मील से भी अधिक लम्बी है जो तीन बड़े पड़ोसी देशों इटली, जर्मनी और फ्रांस (Italy, Germany and France) से मिलती है, साथ ही आस्ट्रिया (Austria) और लाइटेंस्टीन (Liechtenstein) के छोटे भागों से भी मिलती है। उत्तर और पूर्व में जर्मनो से, पश्चिम में फ्रांसीसियो से और दक्षिण में इटली निवासियों से कोई भी प्राकृतिक सीमा इसको पृथक् नही करती। मध्य में स्थित ऊँचे पर्वतो ने इस देश को कई अन्तर्राष्ट्रीय नदियों का उद्गम स्थान बना दिया है, जो नदियाँ दस विदेशी देशों की भूमि पर या तो बहती हैं या उसको छूती हैं।

समस्त स्विस जनता एक ही जाति के लोगों से मिल कर नही बनी है। स्विस जाति कई प्रजातियों, कई भाषाओं और कई धर्मों से मिल कर बनी है, यहाँ तक कि सभी की सभ्यता भी एक नही है। फिर भी इस विभिन्नता में ही स्विस राष्ट्र की एकता है, और इस प्रजातीय, धार्मिक और भाषा-सम्बन्धी विविधता के बावजूद भी स्विट्ज़रलैण्ड, संसार के समक्ष न केवल विलक्षण एकता का उदाहरण उपस्थित करता है वल्कि ऐसा अपूर्व उदाहरण उपस्थित करता है जिससे इस देश के निवासी यूरोप के सभी देशों के निवासियों से अधिक संयुक्त और सबसे अधिक देशभक्त है। द्वितीयतः, अपनी भौगोलिक स्थिति और छोटे आकार के फलस्वरूप, स्विट्ज़रलैण्ड सदैव यूरोप के युद्धों से अलग रहा है और तटस्थता सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टी के फलस्वरूप यह देश सदैव संसार की हलचलों का केन्द्र रहा है। १८१५ की वियेना

सभा (Congress of Vienna) ने स्विट्जरलैण्ड की तटस्थता मान ली थी और १९२० में राष्ट्रसंघ (League of Nations) ने पुनः उसको स्वीकार कर लिया था, अतः स्विट्जरलैण्ड की विदेश नीति दोनों विश्व-युद्धों में तटस्थता की आड़ लिए रही।

स्विट्ज़रलैण्ड संसार का प्रथम देश था जिसमें सबसे पहले लोकतन्त्र की स्थापना हुई, और आज भी यूरोप में वही एक ऐसा राष्ट्र है जो सदैव गणतन्त्र रहा है। जिस समय संयुक्त राज्य अमेरिका (United States of America) स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में प्रकट हुआ, उस समय स्विट्ज़रलैण्ड को अपनी पाँच सौ वर्ष पुरानी गणतन्त्रीय परम्परा पर गर्व था। स्विट्जरलैण्ड की गणतन्त्रीय संस्थाओं का संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है जिन्होंने प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली अपनायी है। इसके अतिरिक्त यही एक ऐसा शासन है जिसमे प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct democracy) के सिद्धान्तों के अनुसार शासन के क्रिया-कलाप चलते हैं। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के सिद्धान्त प्रथम बार संयुक्त राज्य मे १८९८ में दक्षिणी डैकोटा (South Dakota) राज्य मे प्रारम्भ किए गए, और तब से लोकप्रिय प्रभुसत्ता निर्दोष प्रमाणित हुई है। इस प्रकार स्विट्जरलैण्ड ने ऐसी सुन्दर शासन-प्रणाली को जन्म दिया है जो किन्हीं सीमाओं तक अमेरिकी अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के समान स्थायी है और संसदीय शासन-प्रणाली के समान उत्तरदायी है।

प्राकृतिक विलक्षणताएँ (Physical characteristics)—स्विट्ज़रलैण्ड अनेकानेक घाटियों का देश है और उस देश के लोग ऊँचे पहाड़ों के दोनों ओर निवास करते है और उनके बीच मे ऊँची-नीची विषम पहाड़ों की चोटियाँ और लम्बे-चौड़े बर्फ के मैदान है। विस्तृत पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण, उस देश की लगभग एक-चौथाई भूमि किसी प्रकार की पैदावार के अयोग्य है। बचे-खुचे भू-भाग का अधिकतर भाग चरागाहों या जंगलो के लिए उपयुक्त है और समस्त भूमि का प्रायः ३५ प्रतिशत भाग ही खेती के योग्य रह जाता है। सब मिलाकर सारी जनसंख्या का २२·२ प्रतिशत भाग ही देश की कृषि पैदावार पर जीवित रह सकता है।

प्रकृति ने खनिज-पदार्थों के सम्बन्ध में भी देश के ऊपर कृपा नही की है। देश में न तो तेल के स्रोत हैं, और न कोयले की खानें हैं, और कच्चे माल का भी प्रायः पूर्ण अभाव है। देश की ऊँची-नीची सतह होने के कारण परिवहन और यातायात कठिन है। प्रकृति ने केवल एक कृपा की है कि जल-विद्युत् शक्ति के महत्त्वपूर्ण साधन दिए है।

प्रकृति की इस प्रतिकूलता के बावजूद स्विस निवासी बहुत परिश्रमी हैं और उन्होंने अपने परिश्रम के ज़ोर से अपनी आर्थिक स्थिति को बहुत अच्छा कर लिया है। स्विट्जरलैंड उद्योग-प्रधान देश है और वहाँ की जनता न अधिक अमीर है तथा न अधिक गरीब। इस देश के विषय मे यह बड़ी प्रशंसनीय बात है कि यह अब अपनी आवश्यकता की ८० प्रतिशत वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न करता है और केवल २० प्रतिशत ही बाहर से आयात करता है।

बहु-भाषा सम्बन्धी विभिन्नताएँ (Linguistic Differences)—देश के लोगों की विभिन्न भाषाओं के सम्बन्ध मे स्विटजरलैण्ड में विभिन्नता पाई जाती है और इस दशा में स्विस राष्ट्र में कई ऐसे तत्वो का अभाव है जिनसे कि राष्ट्रीय दृढ़ता और सास्कृतिक एकता को प्रश्रय मिलता है। स्विट्जरलैण्ड की लगभग तीन-चौथाई जनसंख्या जर्मन भाषा-भाषी है, लगभग पांचवां भाग फ्रेंच भाषा-भाषी है और शेष लोग इटालियन भाषा बोलते हैं, और कुछ थोड़े-से लोग रोमांश (Romanche) भाषा बोलते हैं; जो प्राचीन लैटिन भाषा से सम्बन्धित है। किन्तु इस सम्बन्ध मे यह भी याद रखना होगा कि देश की भौगोलिक स्थिति के कारण तीनों भाषा-भाषी क्षेत्र और तीनों भाषाओं के बोलने वाले लोग पूर्णतया विभिन्न उपमण्डलों अथवा प्रान्तों में विभाजित है। इस प्रकार टिसिनो (Ticino) प्रान्त (Canton), प्रायः पूर्णतया इटालियन भाषा-भाषी कैण्टन है जिसमें ९० प्रतिशत लोग इटालियन बोलते हैं। जैनेवा (Geneva) मे ८० प्रतिशत से अधिक लोग, वौड (Vaud) में ८६ प्रतिशत से अधिक लोग, और न्यूचैटिल (Neuchatel) में ८६.९ प्रतिशत लोग पूर्णतया फ्रेंच भाषा-भाषी है और शेष प्रान्तो में केवल बर्न (Berne) और फ्रिबर्ग (Fribourg) को अपवाद मानते हुए, पूरी तरह जर्मन-भाषा-भाषी लोग बसते हैं। बर्न (Berne) प्रान्त में भी जर्मन भाषा-भाषी लोग फ्रेंच भाषा-भाषी लोगों की अपेक्षा ५ : १ के अनुपात में अधिक हैं और इसके विपरीत फ्रिबर्ग (Fribourg) प्रान्त के फ्रेंच भाषा-भाषी जर्मन भाषा-भाषी लोगो की अपेक्षा २ : १ अनुपात में अधिक हैं। ग्रिसन्ज (Grisons) प्रान्त में रोमाश (Romanche) भाषा-भाषियों का पूर्ण बहुमत है।

१८४८ के संविधान को स्वीकार कर लेने के बाद से देश की तीनों मुख्य भाषाओं को परिसंघ (Confederation) की अधिकृत भाषाओं के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। विभिन्न प्रान्त अथवा मण्डल (Cantons) अपनी इच्छानुसार किसी भी भाषा या भाषाओं को अधिकृत भाषा स्वीकार कर सकते हैं। आधुनिक स्विस जीवन की एक मुख्य विशेषता यह है कि प्रान्तों में भाषा सम्बन्धी एकता बढ़ती जा रही है और एक भाषा के लोग दूसरी भाषा के लोगों में पैठते जा रहे हैं। स्विट्जरलैण्ड के प्रायः सभी शिक्षित लोग दो या तीनों भाषाएं जानते और बोलते हैं। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि स्विट्जरलैण्ड त्रिभाषी देश है और उस देश के लोगों में भाषा सम्बन्धी विभिन्नता को दूर करने का सरकारी तौर पर अथवा प्राइवेट रूप में कोई संगठित प्रयत्न नही किया जा रहा है। न उस देश मे भाषा के आधार पर किसी प्रकार का प्रचार होता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्विस लोगों के समृद्ध देश में भाषा सम्बन्धी शान्ति का राज्य है और उस देश में भाषा सम्बन्धी विभिन्नता को राष्ट्रीय एकता के स्थिरीकरण के लिए आवश्यक समझते हैं।

धार्मिक विभिन्नताएँ (Religious differences)—स्विट्जरलैंड की धार्मिक विभिन्नता ने भूतकाल में गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न कर दी थीं, और इसके कारण गृह-युद्ध हुआ और विदेशी हस्तक्षेप हुआ। किन्तु सौभाग्य से देश की राष्ट्रीय एकता के कारण धार्मिक और भाषा सम्बन्धी क्षेत्र अलग-अलग होते हुए भी एक-दूसरे से

प्रेम भाव रखते हैं। १२ कैण्टनों (Cantons) में प्रोटेस्टेण्टों (Protestants) की संख्या कैथोलिकों (Catholics) से कहीं अधिक है, और उन १२ कैण्टनों मे नो कैण्टन जर्मन भाषा-भाषी है और तीन कैण्टन फ्रेंच भाषा-भाषी। इसके विपरीत दस कैण्टनो मे कैथोलिक (Catholics) की जनसंख्या प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बियों से कहीं अधिक है जिनमें सात कैण्टन जर्मन भाषा-भाषी हैं, दो फ्रेंच भाषा-भाषी हैं और एक इटालियन भाषा-भाषी है। इसके अतिरिक्त अधिकतर प्रोटेस्टेण्ट-बहुमत-कैण्टनो में सुदृढ़ कैथोलिक (Catholic) अल्पसंख्यक वर्ग है और इसके विपरीत दस कैथोलिक बहुमत-कैण्टनों में से आठ कैण्टनो में, कैथोलिक लोग (Catholic) समस्त जनसंख्या के ८० प्रतिशत ही हैं। सामूहिक रूप में जनसंख्या में ५७ प्रतिशत लोग प्रोटेस्टेण्ट हैं और ४१ प्रतिशत कैथोलिक।

अपनी धार्मिक विभिन्नताओं के सम्बन्ध मे भी स्विस लोगों का यही दृष्टिकोण है जो भाषागत विभिन्नताओं के सम्बन्ध में है। धार्मिक अल्पसंख्यक वर्ग का आदर किया जाता है और जैसा कि पहले भी वर्णन किया जा चुका है, धार्मिक अल्पसंख्यक वही नहीं हैं जो भाषा सबन्धी अल्पसंख्यक हैं। १८४८ मे स्विस लोगों के लिए जो संघीय संविधान स्वीकार किया गया और १८७४ मे जिसका संशोधन किया गया, उसके उद्देश्यो में एक मुख्य उद्देश्य यह भी था कि कैथोलिकों (Catholics) और प्रोटेस्टेण्टों (Protestants) के बीच मे जो धार्मिक विभेदो की दीवारें थीं, उनको तोड़ दिया जाए और देश के सभी सम्प्रदायों मे सच्ची स्विस नागरिकता की भावना भर दी जाए; और समस्त स्विस जाति के सभी लोगो को कतिपय मौलिक अधिकारो की गारंटी दी जाए और इस सबन्ध मे न तो इस बात का विचार किया जाए कि कोई नागरिक किस धर्म में विश्वास रखता है और न इस बात का विचार किया जाए कि वह देश के किस क्षेत्र में निवास करता है। जिस समय संविधान ने समस्त जाति की आर्थिक समृद्धि के लिए सभी पर पूर्ण विश्वास किया, और सब लोगों में राष्ट्रीय चेतना का संचार किया, तो इसके फलस्वरूप सभी लोगो में और सभी वर्गों में राष्ट्रीय भक्ति और प्रेम का सचार हुआ। आज स्विट्जरलैण्ड में पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता है और प्रत्येक स्विस नागरिक मानता है कि सभी को अपने मन का धर्म मानने और पालन करने का अधिकार है। धार्मिक अल्पसंख्यकों को सताना स्विस लोग जानते ही नहीं, और स्विट्जरलैण्ड में ऐसा कोई व्यक्ति नही है जो यह सोचता हो कि किसी विशेष धर्म में विश्वास रखने से ही राष्ट्रीय एकता को समुन्नत किया जा सकता है।

स्विस जाति, एक संयुक्त राष्ट्र है (The Swiss, A United Nation)—इस प्रकार स्विट्जरलैण्ड विरोधाभासों का देश है। इस देश ने ऐसी संघीय राज्य-व्यवस्था को जन्म दिया है जिसमें राज्यों के परस्पर-विरोधी हितो को कोई स्थान नहीं है, फिर भी राज्यों की समानता अथवा ऐकात्म्य पर कोई बुरा प्रभाव नही पड़ा है। इस देश की शासन-व्यवस्था उस राजनीतिक आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को चुनौती है, जो राष्ट्रों को संस्कृति और भाषा के आधार पर आत्म-निर्णय का अधिकार प्रदान

करता है और यह देश इस सम्बन्ध में अत्यन्त उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करता है कि राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय प्रेम के आगे आत्म-निर्णय का सिद्धान्त उपेक्षायोग्य है। श्री वुड्रो विल्सन (Woodrow Wilson) ने १८६६ में लिखा था कि "स्विट्ज़रलैण्ड के सारे कैण्टनों ने मिलकर सारे संसार को यह दिखा दिया कि किस प्रकार जर्मनीवासी (Germans), फ्रांसवासी (Frenchmen) और इटलीवासी (Italians), केवल यदि वे एक-दूसरे की स्वतन्त्रता की उसी प्रकार रक्षा करें जिस प्रकार कि वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं, तो एक-दूसरे की पारस्परिक सहायता द्वारा और परस्पर सहिष्णुता द्वारा ऐसे संघ का निर्माण कर सकते हैं जो पूर्णतया सुदृढ़, स्थायी और स्वतन्त्र है।"[1] और यह नहीं भूलना चाहिए कि विल्सन (Wilson) स्वयं आत्म-निर्णय के सिद्धान्त (Principle of self-determination) का प्रवर्त्तक था।

स्विट्ज़रलैण्ड में केवल भाषा और धर्म सम्बन्धी विभिन्नताएँ ही नहीं हैं। उस देश के निवासियों के व्यवसाय भी भिन्न हैं; उनके जीवन की दशाएँ भी भिन्न हैं; उनकी कल्पनाएँ, भावनाएँ, आदतें और विचार सभी कुछ भिन्न है। इसके अतिरिक्त उनमें क्षेत्रीय और स्थानीय अभिमान भी है जिसके कारण वे अपनी पुरानी प्रथाओं और आदतों को छोड़ने में असमर्थ हैं, और उनके क्षेत्रीय अभिमान, उन प्रभावों पर अभिबाधा डालते हैं जो एकता और संगठन की दिशा में सहायक हो सकते हैं। किन्तु इन स्विस विभिन्नताओं के बावजूद स्विस जाति की सांविधानिक एकता और नैतिक एकता बराबर वर्द्धमान है। स्विस लोग, आदर्श रूप से संयुक्त एवं अत्यन्त राष्ट्रप्रेमी राष्ट्र का निर्माण करते हैं।

एकता के लिए प्रयत्न
(The Struggle for Unity)

प्रारम्भिक इतिहास (Early History)—एण्ड्रे सीजफ्रायड का कथन है कि स्विट्ज़रलैण्ड एकीकरण (Unification) के द्वारा नहीं बना बल्कि वृद्धीकरण (Aggregation) के द्वारा उसका विकास हुआ। प्रारम्भ में स्विट्ज़रलैण्ड में कतिपय स्वतन्त्र राज्य थे जिनमे किसी नियामक केन्द्रीय शक्ति का अभाव था। इन स्वतन्त्र राज्यों मे आल्प्स (Alps) पर्वत के आस-पास विभिन्न जातियों के लोग रहते थे। इन पहाड़ी घाटियों के निवासी न तो एक ही जाति के थे; न उनका एक ही इतिहास था, न वे एक ही भाषा बोलते थे यद्यपि वे सब एक ही प्रकार का जीवन निर्वाह करते थे।

किन्तु १३वीं शताब्दी के अंत में तीन छोटी-छोटी ट्यूटानिक जातियों (Teutonic communities) ने एक संधि की जिसमें निश्चित किया गया कि तत्कालीन जागीरदारों (Feudal Lords) के अमानुषिक अत्याचारों से बचने के लिए सभी मिल कर परस्पर एक-दूसरे की सहायता और रक्षा करेंगे। उन जागीरदारों में सबसे कठोर

1. The State, p. 301.

आस्ट्रिया (Austria) देश के हैप्सबर्ग शासक (Hapsburg rulers) थे, जो स्वयं स्विस वंशज थे और जो उस काल मे पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) के सम्राट् भी थे। हैप्सबर्ग शासकों ने अपने जागीरदारी अधिकारों को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु मोर्गरटन (Morgarten) के १३१५ के युद्ध में तीन संघटित (Confederated) कैण्टनों (Cantons) ने हैप्सबर्गों का सफल विरोध किया। अगले चालीस वर्षों में पाँच अन्य कैण्टन (Cantons) प्रारम्भिक तीन कैण्टनों के परिसंघ में सम्मिलित हो गए। इस परिसंघ (Confederation) ने १३८६ में आस्ट्रिया को पुनः हराया और इस प्रकार वस्तुतः अपनी स्वतन्त्रता प्रमाणित कर दी। इसके बाद लगभग २५० वर्षों तक परिसंघ दृढ़ता के साथ जमा रहा, यद्यपि कभी-कभी कैण्टनों के आपसी मतभेद विग्रह की सम्भावना उत्पन्न कर देते थे, जिससे परिसंघ की स्थिति खतरे में पड़ जाती थी। धार्मिक सुधार (The Reformation) के काल में जो धार्मिक मतभेद उग्र रूप धारण कर गए, उसमे भी पृथक्तावादी तत्वों को प्रोत्साहन मिला। आधे कैण्टनो (Cantons) के लोगो ने प्रोटेस्टेण्ट मत स्वीकार कर लिया किन्तु शेष आधे कैण्टनों के लोग कैथोलिक ही बने रहे। किन्तु इस धार्मिक उथल-पुथल के बावजूद परिसंघ बचा रहा क्योंकि सामूहिक परस्पर रक्षा के हितो ने सभी एकक सदस्य कैण्टनों को सम्मिलित ही रखा। १६४८ मे वेस्टफेलिया की सधि (Treaty of Westphalia) के फलस्वरूप, परिसंघ, पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) की अधीनता से मुक्त हो गया और इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर ली गई। इस समय, परिसघ (Confederation) के एकक कैण्टनों की संख्या १३ हो चुकी थी।

प्राचीन परिसंघ का स्वरूप (Nature of the ancient confederation)—इस प्रकार धीरे-धीरे आधुनिक स्विस भूभाग के अधिकांश भाग पर परिसघ का नियन्त्रण स्थापित हो गया। यद्यपि अवयवी कैण्टन विदेशी सत्ता के नियन्त्रण के विरुद्ध तो सफलतापूर्वक लड़ते रहे और अपनी एकता को कायम रख सके, किन्तु शीघ्र ही उनमें आपस में कलह प्रारम्भ हो गई। सभी कैण्टन अपने-अपने आन्तरिक प्रबन्ध में अपने आपको स्वतन्त्र सत्ता समझते थे। प्रत्येक कैण्टन में विभिन्न शासन-व्यवस्थाएँ थी। कतिपय देहाती कैण्टनों (Rural Cantons) में पूर्ण प्रजातन्त्र था। वहाँ का शासन प्रजा की सभाओं द्वारा होता था; किन्तु कुछ बर्न (Berne) जैसे कैण्टन उच्च जनतन्त्र (Oligarchies) थे जिनमे कुलीन जनों का आधिपत्य था; और कुछ अन्य कैण्टन ऐसे थे जिनमे उच्च जनतन्त्र (Oligarchy) तो था किन्तु उस पर किसी हद तक प्रजातन्त्र की छाप थी।

इस समस्त काल में स्विट्जरलैण्ड ऐसा परिसंघ रहा जिसके सभी अवयवी कैण्टन केवल युद्ध अथवा युद्ध से रक्षा के हेतु ही परिसंघ को मानते थे; अतः परिसंघ का नियन्त्रण केवल विदेश सम्बन्धी मामलों, युद्ध और शान्ति सम्बन्धी मामलो और अन्तःकैण्टन विवाद से सम्बन्धित मामलों तक सीमित था। इन सभी मामलों पर राज्य-परिषद् (Diet) निर्णय करती थी जो कभी किसी कैण्टन में अनियमित समयों

पर समवेत होती थी। जो प्रतिनिधि राज्य-परिषद् (Diet) के सदस्य थे, वे कैण्टनों के प्रतिनिधि होते थे और वे अपने-अपने कैण्टनों के आदेशानुसार कार्य करते थे। राज्य-परिषद् (Diet) में बड़े कैण्टनों जैसे बर्न अथवा ज्यूरिच (Zurich) को औपचारिक प्राथमिकता दी जाती थी; किन्तु यह बात अन्य कैण्टनों को अप्रिय लगती थी और वे बराबरी के अधिकार के लिए आग्रह करते थे और "वे राज्य-परिषद् (Diet) में इस प्रकार सम्मिलित होते थे मानो वे किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे स्वतन्त्र एवं प्रभु-सत्ता के प्रतिनिधि के रूप मे सम्मिलित हुए हों।" इस परिषद् (Diet) के निर्णयों को उस समय तक सभी के ऊपर वैधिक रूप से लागू नहीं माना जाता था, जब तक कि उक्त निर्णय सर्वसम्मत न हों। सत्य है कि कैण्टन (Cantons) राज्य-परिषद् (Diet) को सन्देह की दृष्टि से देखते थे और इस सन्देह के फलस्वरूप सुदृढ़ स्थानीय आस्थाएँ और क्षेत्रीय हित सभी लोगों में घर कर गए।

इस सम्बन्ध मे यह भी जान लेना उचित होगा कि कतिपय कैण्टनों ने विजय करके नये भू-भाग जीत लिए थे और वे उन विजित प्रदेशों को अपना अधीन राज्य (Subject areas) समझने लगे थे; और उन विजित प्रदेशों की प्रजा को वे सभी अधिकार देने को तैयार नही थे जिन अधिकारों को उक्त विजयी कैण्टन अपने नागरिकों के लिए आवश्यक समझते थे।

फ्रेंच राज्य-क्रान्ति और पूर्वावस्था की प्राप्ति (French Revolution and Restoration)—इसके बाद फ्रेंच राज्य-क्रान्ति आई और उसने सभी स्थानीय संस्थाओं को समाप्त कर दिया। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति की सेनाओं ने छलपूर्वक १७९८ में कमजोर और वैर-भावयुक्त परिसंघ के ऊपर हैल्वेटिक गणराज्य (Helvetic Republic) की स्थापना कर दी; किन्तु स्विस लोगों ने फ्रांस द्वारा थोपे हुए संविधान के विरुद्ध ऐसा सम्मिलित विरोध प्रदर्शित किया कि १८०३ के ऐक्ट ऑफ मेडिएशन (Act of Mediation of 1803) के द्वारा नैपोलियन (Napoleon) को कैण्टनों का संविधान वापस करना पड़ा और इस प्रकार कैण्टनों को अपनी पूर्वावस्था प्राप्त हो गई। इस अधिनियम के अनुसार छः नए कैण्टनों की स्थापना हुई, जो एक समान प्रजा वाले विजित प्रदेशो को लेकर बनाए गए थे और जो फ्रेंच और इटालियन भाषा-भाषी क्षेत्र थे। नैपोलियन के पतन के पश्चात् वियेना की महासभा (Congress of Vienna) ने स्विट्ज़रलैण्ड को पुराना परिसंघ तथा १८वीं शताब्दी के समस्त कैण्टन (Cantonal institutions) दे दिए और समस्त भूभाग में तीन अन्य कैण्टन और मिला दिए। इस प्रकार स्विस परिसंघ (Swiss Confederacy) में समस्त कैण्टनों की संख्या २२ हो गई।

यद्यपि नये संविधान ने केन्द्रीय शासन की कोई व्यवस्था नहीं की, फिर भी राज्य-परिषद् (Diet) की स्थापना हो गई जिसमें प्रत्येक कैण्टन का नया प्रतिनिधि सम्मिलित होता था; और जो अपने कैण्टन के आदेशानुसार निर्णय पर मत दे सकता था। परिषद् (Diet) को अधिकार था कि वह युद्ध की घोषणा कर सकती थी, शान्ति कर सकती थी, विदेशों के लिए राजदूतों की नियुक्ति कर सकती थी, और

युद्ध के लिए कैण्टनों की सैनिक सेवाओं में से सैनिक एकत्र कर सकती थी। परिषद् (Diet) को यह भी अधिकार था कि यदि स्विट्ज़रलैण्ड के किसी भाग में अशान्ति की स्थिति उत्पन्न हो जाए तो वहाँ सशस्त्र सेना भेज सकती थी। किन्तु सभी कैण्टन पूर्ण आन्तरिक स्वायत्तता का उपभोग करते थे, और कतिपय कैण्टन आन्तरिक स्वायत्तता का लाभ उठा कर अब अपने-अपने क्षेत्र में कुलीनतन्त्र (aristocracy) स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे। कुछ कैण्टनों को यह भी अधिकार मिल गया था कि वे ऐसी संधियाँ कर सकते थे जो परिसंघ (Confederation) के हितों के विरुद्ध न हों अथवा अन्य कैन्टनों के हितों को आघात न पहुँचाती हो।

आधुनिक स्विट्ज़रलैण्ड का जन्म (Birth of Modern Switzerland)— स्विट्ज़रलैण्ड के ऊपर फ्रांस का शासन वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि १७९८ से लेकर १८१५ तक के काल में ही आधुनिक स्विट्ज़रलैण्ड का आधार स्थापित हुआ। ऐक्ट ऑफ मेडिएशन (Act of Mediation) के फलस्वरूप स्विट्ज़रलैण्ड के तेरह कैण्टनों में छः कैण्टन और मिल गए। पुनः, १८१५ में तीन अन्य पूर्ण फ्रेंच भाषा-भाषी कैण्टन स्विट्ज़रलैण्ड को मिले, इस प्रकार स्विट्ज़रलैण्ड का आधुनिक आकार बना। इसी काल में राज्य मे तीन अधिकृत भाषाएँ स्वीकार की गईं, और भाषाओं के सम्बन्ध में वही स्थिति इस समय भी है। फ्रांस की उदारवादी, प्रजातन्त्रात्मक और संघात्मक विचारधारा का स्विस शासन-व्यवस्था पर स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ने लगा। इसलिए १८१५ के संघीय समझौते (Federal Agreement) के द्वारा विभिन्नता में एकता (Unity in diversity) स्थापित हुई।

फ्रांस में १८३० में जो उदारवादी क्रांति (Liberal revolution) हुई थी, किसी सीमा तक उसके फलस्वरूप स्विट्ज़रलैण्ड में प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जो चाहता था कि कैण्टनों के संविधानों में परिवर्तन किया जाए। १८३२ में राज्य-परिषद् (Diet) ने फैडरल पैक्ट अथवा एग्रीमेण्ट (Federal Pact) की शर्तों का पुनः परीक्षण करने के लिए अथवा नया फैडरल एग्रीमेंट (Federal Agreement) तैयार करने के लिए एक कमीशन (Commission) नियुक्त किया। किन्तु कैण्टनों में गम्भीर धार्मिक विभेदों के कारण उक्त कमीशन कोई काम न कर सका। १८४५ में सात कैथोलिक बहुमत वाले कैण्टनों ने अपना अलग संघ (League) बनाया जिसका नाम सोंदरबन्द (Sonderbund) रखा गया। इस संघ (League) की संस्थापना से गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया, किन्तु गृह-युद्ध एक मास में समाप्त कर दिया गया।

सात कैथोलिक कैण्टनों की हार वास्तव में, राष्ट्रीय एकता के आन्दोलन की विजय थी। देश की आन्तरिक कलह से प्रभावित होकर और १८४८ के यूरोपीय उदारवादी आन्दोलन से प्रभावित होकर स्विस राज्य-परिषद् (Diet) ने नया संविधान स्वीकार किया जिसके द्वारा सुदृढ़ और पूर्ण संगठित केन्द्रीय शासन की स्थापना का प्रयत्न किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान को किसी सीमा

तक उदाहरण मानते हुए सितम्बर १८४८ के संविधान ने स्विट्जरलैण्ड में संघीय शासन की स्थापना की।

१८४८ का संविधान (The Constitution of 1848)—१८४८ का संविधान समझौते का फल था। यह संविधान प्रकट करता था कि इसमें नए विचारों का विकास था, साथ ही पुराने विचारों और व्यवहारों की रक्षा का प्रयास किया गया था। अवयवी एकक कैण्टनों की यह दृढ इच्छा थी कि वे पूर्ण स्वायत्तशासी प्रभु-राज्य बने रहें। अन्त में एक समझौता सम्पन्न हुआ और २२ अवयवी कैण्टन उस सीमा तक प्रभु-राज्य बने रहे जहाँ तक कि संघीय संविधान अवयवी राज्यों को प्रभु-सत्ता प्रदान कर सकता है। संघीय अथवा केन्द्रीय राज्य की शक्तियाँ विदेशों के साथ सम्बन्धों, युद्ध और कतिपय इस प्रकार के आर्थिक मामलों जैसे डाक-व्यवस्था, सीमा-शुल्कों, मापों और बाटों (Measures and Weights) के सम्बन्ध में प्रभावी रही, साथ ही कतिपय ऐसे मामलों पर भी केन्द्रीय नियन्त्रण रहा जिनके द्वारा सम्मिलित कार्य-वाही की जा सके और राष्ट्रीय एकता का पथ प्रशस्त किया जा सके। समस्त संघ की कार्यपालिका शक्ति एक संघीय परिषद् (Federal Council) में विहित की गई जिसमें वे सात सदस्य होने को थे जिनका चुनाव संघीय विधानमण्डल या संघीय सस्था (Federal Assembly) द्वारा होने को था।

व्यवस्थापिका शक्ति, संघीय विधान सभा या विधानमण्डल (Federal Assembly) में विहित की गई। संघीय संसद् अथवा विधानमण्डल द्विसदनात्मक रचा गया और उसका उच्च सदन राज्य-परिषद् (Council of States) था जिसमें प्रत्येक कैण्टन से बराबर-बराबर प्रतिनिधि लिए गए थे। उस विधानमण्डल का द्वितीय सदन राष्ट्रीय परिषद् (National Council) था जो जनसंख्या के आधार पर रचा गया था। राष्ट्र की न्यायपालिका, संघीय न्यायमण्डल अथवा संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) में विहित की गई, किन्तु इस मण्डल को यह अधिकार नहीं दिया गया कि वह देश की विधियों को असांविधानिक घोषित कर सके। संविधान ने अवयवी कैण्टनों को अपने प्रदेशों के सम्बन्ध में पूर्ण प्रभुता की गारंटी की और केन्द्रीय शासन को अधिकार दिया कि यदि विभिन्न कैण्टनों में कोई ऐसा विवाद हो जिसके फलस्वरूप उनमें अशान्ति अथवा युद्ध का भय हो, तो केन्द्रीय सरकार तुरन्त हस्तक्षेप करे और ऐसी दशा में हस्तक्षेप करने के लिए इस बात की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है कि हस्तक्षेप उसी समय किया जाए जब कोई कैण्टन तदर्थ प्रार्थना करे।

१८७४ का संविधान (The Constitution of 1874)—१८४८ का संविधान २६ वर्षों तक प्रभावी रहा। इसी काल में सभी लोगों की प्रवृत्ति केन्द्रीय-करण की ओर बढ़ रही थी यद्यपि फेडरेलिस्ट लोग (Federalists) अथवा संघवादी लोग अब भी यही चाहते थे कि कैण्टनों को भी कतिपय सामाजिक और नागरिक सेवाओं का प्रभार दिया जाए। किन्तु इसके विपरीत रैडीकल लोग (The Radicalists) अपनी माँगों पर दृढ़ थे और वे कैण्टनों को सामाजिक और नागरिक सेवाओं

सम्बन्धी अधिकार भी नही देना चाहते थे। वे तो वास्तव में यह चाहते थे कि समस्त स्विस प्रजा को कतिपय अविच्छेद्य (Inalienable) अधिकार और स्वतन्त्रताएँ मिलनी चाहिएँ और उन अविच्छेद्य अधिकारो और स्वतन्त्रताओं की गारटी एकीकृत एवं केन्द्रीय विधि के द्वारा होनी चाहिए। वे यह भी चाहते थे कि रेलों का केन्द्रीय अधिकार में राष्ट्रीयकरण हो जाना चाहिए और विधानमण्डल के कृत्यों के सम्बन्ध मे वे चाहते थे कि समस्त विधेयकों को जनमत सग्रह (Referendum) के बाद स्वीकार किया जाए। जनमत सग्रह से उनका तात्पर्य यह था कि विभिन्न कैण्टनों में बसने वाली जनसंख्या द्वारा जनमत संग्रह न हो, अपितु सारी स्विस जनसंख्या एक और संयुक्त राष्ट्र के रूप मे जनमत संग्रह करे, और उसी का निर्णय विधान निर्माण मे अन्तिम हो।

रैडीकलों के आन्दोलन (Radical Movement) को पर्याप्त बहुमत का समर्थन मिला, जिस कारण १८४८ के संविधान में कतिपय परिवर्तन आवश्यक हो गए। संघीय संसद् अथवा विधान सभा (Federal Assembly) ने नया संविधान तैयार किया और जनमत संग्रह द्वारा उसको आवश्यक अनुमोदन प्राप्त हो गया। अप्रैल १८७४ मे नया स्विस संविधान स्वीकृत हुआ, जिसमे ३,४०,००० मत और १४½ कैण्टन पक्ष मे थे किन्तु केवल १,९८,००० मत और ७½ कैण्टन विपक्ष में थे।

जो नया संविधान २९ मई, १८७४ को प्रभावी हुआ, वही इस समय स्विट्जरलैण्ड का संविधान है। इस संविधान ने संघीय सरकार का समस्त सेना के ऊपर पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर दिया और साथ ही वाणिज्य विधि (Commercial Law) के सम्बन्ध में आवश्यक परिवर्तन करने के लिए अधिकार प्रदान कर दिया। १८७४ से लेकर अब तक सविधान में कई बार संशोधन हुए हैं। इन संशोधनों के फलस्वरूप संघीय सरकार की शक्तियों का और अधिक केन्द्रीयकरण हुआ है और इन संशोधनों ने आर्थिक क्षेत्र मे और सामाजिक क्षेत्र में नए शासन को पर्याप्त उत्तरदायित्व सौंप दिए है, और साथ ही विधान के निर्माण में जनमत सग्रह (Referendum) प्रारम्भ करके लोगों को और अधिक प्रत्यक्ष भाग प्रदान किया है। १९३५ में एक आन्दोलन हुआ जिसके द्वारा चाहा गया कि संविधान का पुनः संशोधन हो। इस आन्दोलन के समर्थक चाहते थे कि कैण्टनो की शक्तियों में वृद्धि की जाए और विधानमण्डलो में औद्योगिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त (Principle of Occupational Representation) के अनुसार सदस्य चुने जाएँ और अन्ततोगत्वा स्विट्जरलैण्ड मे निगमात्मक राज्य (Corporative State) की स्थापना हो जाए। किन्तु यह माँग अस्वीकृत कर दी गई।

अध्याय २

स्विस परिसंघ की मौलिक विशेषताएं

(Basic Features of the Swiss Confederation)

स्विस परिसंघ (The Swiss Confederation)—स्विट्ज़रलैण्ड का लोकतन्त्र, जिसको स्विस परिसंघ (Swiss Confederation) भी कहते है, निम्नलिखित २२ प्रभुसत्ताधारी कैण्टनों से मिल कर बना है : ज्यूरिच (Zurich), बर्न (Berne), लुक्रीन (Lucrene), उरी (Uri), स्क्वीज़ (Schwyz), अन्टरवाल्डेन (Unterwalden), ग्लेरिस (Glaris), ज़ुग (Zug), फ्रिबर्ग (Freiburg), सोलोथर्न (Solothurn), बेसिल (Basel), स्कासेन (Schaffhausen), एपेन्जेल (Appenzell), सेंट गॉल (St. Gall), ग्रिसन्स (Grisons), ग्रीरगौ (Aargau), थरगौ (Tahurgow), टिसनो (Ticino), वौड (Vaud), वैले (Valais), न्यूचैटिल (Neuchatel), और जैनेवा (Geneva)। निम्न तीन कैण्टन अन्टरवाल्डेन (Unterwalden), बेसिल (Basel), और एपेन्जेल (Appenzell), पुन: अर्द्ध कैण्टनों में विभाजित कर दिए गए हैं और प्रत्येक अर्द्ध कैण्टन भी पूर्ण स्वतन्त्र है; और वह किसी अन्य पूर्ण कैण्टन से केवल दो बातों मे भिन्न है। प्रथमतः, अर्द्ध कैण्टन संघ के उच्च सदन राज्य-परिषद् (Council of States) को केवल एक प्रतिनिधि भेजता है जब कि प्रत्येक कैण्टन को दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। द्वितीयतः, प्रत्येक अर्द्ध कैण्टन को उन सभी प्रश्नो पर जिनका सम्बन्ध संविधान में संशोधन करने से है, केवल आधे मत का अधिकार है। उक्त तीन कैण्टनों का उप-विभाजन कतिपय धार्मिक, ऐतिहासिक एवं अन्य कारणों से आवश्यक हो गया। इसलिए यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि स्विस परिसंघ (Swiss Confederation) मे २५ कैण्टन हैं; और प्रत्येक कैण्टन का अपना निजी संविधान है, अपने अलग नागरिकता के नियम हैं और अपनी निजी विधियाँ, प्रथाएँ, परम्पराएँ, इतिहास और अपने निजी विचार हैं।

स्विट्ज़रलैण्ड सच्चे अर्थों में संघ है (Switzerland is really a federation)—यद्यपि स्विस संविधान के अनुच्छेद १ मे इसको स्विस परिसंघ (Swiss Confederation) की संज्ञा दी गई है, किन्तु वास्तव में स्विट्ज़रलैण्ड सच्चे अर्थों में संघ है। परिसंघ (Confederation) का अर्थ है राज्यों का एक काम-चलाऊ संघ (Loose league of States) जिसमे केन्द्रीय सत्ता का अभाव होता है और जिसके विघटन की पूर्ण संभावना रहती है। किन्तु, जैसा कि संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है, "स्विस परिसंघ (Swiss Confederation) की स्थापना का उद्देश्य यह था कि अवयवी कैण्टनों (Cantons) के संघ को सुदृढ़ बनाया जाए और उस

के द्वारा स्विस राष्ट्र की एकता, शक्ति और सम्मान की रक्षा और वृद्धि की जाए।" उसी प्रस्तावना में आगे कहा गया है कि स्विस राष्ट्र में पूर्ण समँवय प्राप्त करने के लिए ही देश में संघीय संविधान की स्थापना की जा रही है। यदि यह भी मान लिया जाए कि प्रस्तावना कानूनी अर्थों की व्याख्या नही करती है, फिर भी यह संविधान की इच्छा अवश्य व्यक्त करती है और साथ ही प्रस्तावना से उन लोगो की और उन सभी कैण्टनों की सम्मिलित इच्छा का बोध होता है जिन्होंने जनमत संग्रह के द्वारा इस संविधान को स्वीकार किया था। सत्य यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के तेरह राज्यों की तरह स्विट्ज़रलैण्ड के कैण्टन भी अपनी पुरानी प्रभुसत्ता को किसी सीमा तक इस शर्त पर त्यागने को तैयार थे यदि उसके फलस्वरूप परिसंघ की केन्द्रीय सरकार को इतनी शक्ति मिल जाए जो वह राष्ट्रीय महत्त्व के समस्त कर्त्तव्यों का सुविधापूर्वक निर्वहन करने मे समर्थ हो सके। परिसंघ के उद्देश्यो मे केन्द्रीय शासन की शक्तियाँ संक्षेप में दी गई हैं। संविधान के अनुच्छेद २ में कहा गया है—"परिसंघ की स्थापना का उद्देश्य यह है कि विदेशी आक्रमण के विरुद्ध पितृ-भूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा की जाए; देश के अन्दर शान्ति और व्यवस्था बनी रहे; अवयवी एककों (Confederates) की स्वतन्त्रता और उनके अधिकारों की रक्षा की जाए; और सभी कैण्टनों में सामान्य लोक-कल्याण का पोषण किया जाये।" इस प्रकार, केन्द्रीय सरकार के अधिकार-क्षेत्र मे वे सभी मामले आते हैं जिनका सम्बन्ध विदेशों के साथ कूटनीतिक सम्बन्धों से, शान्ति और युद्ध से, संधियों और मैत्री से होता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार ही चलार्थ (Currency), यातायात के साधन (Communications), वाणिज्य, तोल के बाटों और नापों के राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) और देश-निकाला अथवा निर्वासन (Expatriation), उच्च शिक्षा, प्राकृतिक संसाधनों (Natural resources) की सुरक्षा एवं अन्य आर्थिक मामलों की देख-भाल करती है।

स्विटजरलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधानो मे एक प्रकार से सादृश्य भी आ जाता है क्योंकि दोनो जगह ऐसे किसी मामले के विवाद पर, जिसके ऊपर प्रयोग की जाने वाली सत्ता केन्द्रीय सरकार को हस्तान्तरित कर दी गई है, संघीय सत्ता सर्वोच्च मानी जाती है, और फिर दोनो मे विवाद उत्पन्न होने पर संघीय सरकार का निर्णय मान्य होता है। संघ की इसी भावना का उद्देश्य राष्ट्रीय सरकार को प्रतिष्ठा और शक्ति प्राप्त कराना है। यदि ऐसा न हो तो संघवाद के तत्त्व का ही लोप हो जायगा।

अमेरिकी और स्विस प्रणालियों में दो मुख्य असमानताएँ भी हैं। प्रथमतः, स्विट्जरलैण्ड में संघीय व्यवस्थापन की सांविधानिकता के बारे मे न्यायिक पुनरीक्षण की व्यवस्था नही है। उसकी व्यवस्थापिका शाखा ही सर्वोच्च है और उसकी अपनी सांविधानिक शक्तियों की व्याख्या ही अन्तिम होती है और वही लागू की जाती है। द्वितीयतः, अमेरिका में संघीय प्रशासन प्रायः ऐसी स्थिति में होता है जहाँ विधियों का प्रशासन कर सके, परन्तु स्विट्जरलैण्ड में संघीय व्यवस्थापन का पालन

कराने का भार कैण्टन सरकारों पर आ पड़ा है। इनके पास कानून को लागू करने की अपनी कोई व्यवस्था नहीं है और यदि है भी तो वह बहुत थोड़े साधनों वाली है।

केन्द्रीयकरण की ओर (Growth towards Centralisation)—ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, केन्द्रीय सरकार की शक्तियों मे वृद्धि होती रही। निम्न चार मुख्य बातों ने केन्द्रीयकरण की दिशा में मुख्य रूप से प्रभाव डाला है—युद्ध, आर्थिक अवसाद, सामाजिक सेवाओं के लिए निरन्तर बढ़ती हुई माँग और यातायात के साधनों तथा उद्योगों में केन्द्रीयकरण और प्रौद्योगिकीय क्रान्ति। ये चारों बातें अकेले स्विट्ज़रलैण्ड देश के ऊपर ही प्रभाव नही डालती। ये सब बातें स्विट्ज़रलैण्ड के अतिरिक्त अन्य संघो में भी पाई जाती हैं। चूँकि स्विट्ज़रलैंड तीन बलवान पड़ोसी राष्ट्रों से घिरा हुआ है, अर्थात् फ्रांस, इटली और जर्मनी, इस कारण केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को बल मिला। १९१४ मे और विशेषकर १९३९ मे केन्द्रीय संसद् ने केन्द्रीय शासन को अपरिमित और स्वेच्छाचारी शक्तियां दे डाली जिसके आधार पर देश की स्वतन्त्रता एकता और तटस्थता की रक्षा की जा सकी और देश की आर्थिक स्थिति, उसके आर्थिक हित और भोजन-व्यवस्था सुचारु रूप से व्यवस्थित रही। इन सर्वग्राही शक्तियों के कारण स्विस लोगों की स्वतन्त्रताओ और अधिकारों को गहरा आघात पहुँचा किन्तु सभी ने इस स्थिति को इसलिए सहन कर लिया कि इसी के द्वारा सभी की स्वतन्त्रता और प्रभु-सत्ता की रक्षा हो सकती थी। नाजी समर्थक और साम्यवाद समर्थक, दोनों प्रकार के सगठनों को दबा दिया गया। अगस्त १९३५ में बर्न विश्वविद्यालय (Berne University) के प्रोफेसर प्रोज़िग (Professor Prozig) को इसीलिए पदच्युत कर दिया गया क्योंकि स्विस राष्ट्रीय समाजवादी दल (Swiss National Socialist Party) के नेता होने के नाते उन्होंने हिटलर के प्रति वफादारी की शपथ ली थी। स्विस जाति की उत्कट राष्ट्रीय भावना का इस तथ्य से पता चल जाएगा कि अप्रैल १९३७ में न्यूचैटिल (Neuchatel) नाम के कैण्टन ने जनमत-संग्रह के द्वारा यह निश्चित किया—और ऐसा निर्णय देश के इतिहास में प्रथम बार किया गया—कि साम्यवादी संस्थाओं का दमन होना चाहिए क्योंकि साम्यवादी लोग अत्यधिक राष्ट्र-विरोधी कार्यों में संलग्न थे। स्विस समाचारपत्रों ने शासन की नीति का पूर्ण समर्थन किया और अपने ऊपर कठोर नियन्त्रण (Censorship) स्वयं लगाए रखा और इस प्रकार देश की प्राचीन तटस्थता की नीति के पालन मे सहायता पहुँचाई। इसलिए, समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

कैण्टनों का संघ में स्थान (Federal Status of the Cantons)—संघीय सरकार की शक्तियों मे निरन्तर वृद्धि को अनेक लेखकों ने भय की दृष्टि से देखा है। जब युद्धजन्य आपातकाल समाप्त हो गया अथवा जब देश आर्थिक अवसाद (Economic depression) से मुक्ति पा गया, उस समय ऐसी आशा की जाती थी कि संघीय शक्तियों और अधिकारों मे कुछ कमी की जाएगी। किन्तु यह आशा पूर्ण नही हुई।

अब भी स्विस जाति का आर्थिक जीवन कई प्रकार से नियन्त्रित है और इसके साथ ही संघीय नौकरशाही का प्रभाव वर्द्धमान है और फलस्वरूप लोगों में इस प्रवृत्ति के विरुद्ध आम शिकायत है। एण्ड्रे (Andre) कहता है कि "इस वर्द्धमान केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति में यह भय निहित है कि ज्यों-ज्यों केन्द्रीय शक्ति अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ाएगी, त्यों-त्यों कैण्टनों की प्रभुता नष्ट होती जाएगी और अन्त में वे साधारण जिले प्रशासन मात्र रह जाएँगे और केन्द्रीय शासन की प्रत्येक आज्ञा को मानना भर ही उनका काम रह जाएगा।" किन्तु कुछ लोगों का विचार है कि एण्ड्रे (Andre) के कथन अतिशयोक्ति की पुट है। स्विस परिसंघ (Swiss Confederation) की नीति प्रारम्भ से ही और विशेषकर १८४८ में, जब से कि स्विट्ज़रलैंड एक वास्तविक संघीय राज्य बना, सदैव यही रही है कि कैण्टनों की स्वायत्तता की पूर्ण रक्षा की जाए और प्रत्येक कैण्टन का पृथक् अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहे।

कैण्टन संघीय राज्य के ऐसे अवयवी एकक हैं जो संघ की स्थापना के पूर्व भी स्वतन्त्र थे। सत्य तो यह है कि संघीय राज्य की स्थापना ही इसके अवयवी एककों को संयुक्त करने और उनकी रक्षा करने के उद्देश्य से की गई थी। कैण्टनों की शक्तियां मौलिक हैं, और वे उन सभी शक्तियों और अधिकारों का प्रयोग करते है जो केन्द्रीय शासन को हस्तान्तरित नहीं की गई हैं।

यद्यपि कैण्टनों की प्रभुता (Sovereignty) का ह्रास हुआ है और परिसंघ के प्रभाव-क्षेत्र में वृद्धि हुई है, फिर भी परिसंघ को सारे अधिकार और सारे सम्मान और परम्पराएँ कैण्टनों से ही प्राप्त हुई हैं। कैण्टन ही संघीय शासन-व्यवस्था के मौलिक अवयव हैं और उन्हें अब भी कतिपय विशेषाधिकार प्राप्त हैं। आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा कैण्टनों ही के अधिकार-क्षेत्र में आती हैं। आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा, सार्वजनिक शिक्षा-व्यवस्था, सार्वजनिक निर्माण, राष्ट्रीय सड़को की व्यवस्था, सामाजिक साहाय्य की व्यवस्था, ग्राम चुनावों का नियन्त्रण और स्थानीय स्वशासन ये सभी चीजें कैण्टनों के अधिकार-क्षेत्र में हैं। स्विट्ज़रलैण्ड की नागरिकता तब तक प्राप्त नहीं की जा सकती जब तक किसी कैण्टन की नागरिकता प्राप्त न की जाए। नागरिको के अनेक नागरिकता सम्बन्धी अधिकार कैण्टनों की विधियों के आधार पर ही निर्णीत होते हैं। केन्द्रीय सरकार के अनेक मामले कैण्टनों की सरकारों द्वारा निर्णीत किए जाते है। दीवानी और फौजदारी की विधियों के मुकदमे, जो वास्तव मे संघीय विषय हैं, उन न्यायालयों द्वारा निर्णीत किए जाते है जिन पर पूर्णतया कैण्टनों का नियन्त्रण है। संघीय सरकार तो केवल कतिपय सैनिक विनियम तैयार करती है और कुछ उच्च सैनिक अफसरों की नियुक्ति करती है, किन्तु उन विनियमों की क्रियान्विति अथवा राष्ट्रीय सेना के लिए सेनादल एकत्र करना अथवा प्रत्येक सैनिक के लिए फौजी शस्त्रास्त्रों और अन्य सामान की व्यवस्था ये सभी चीजें कैण्टनों के अधिकार-क्षेत्र मे आती है। संघीय न्यायालय का अपना कोई न्यायिक अधिकारी नहीं है। अतः संघीय न्यायालय को अपने निर्णयो अथवा आदेशो की क्रियान्विति के लिए कैण्टनो के शासनों पर आश्रित रहना पड़ता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्विस संविधान संघीय कृत्यों के निर्वहन में कैण्टनों के अधिकार-क्षेत्र को मान्यता देता है। राज्य-परिषद् (Council of States) मे सभी कैण्टनों को समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व मिला हुआ है और इस सम्बन्ध में यह अमेरिका की सीनेट के तुल्य है। राष्ट्रीय परिषद् (National Council) में लोगों को प्रतिनिधित्व उसी अनुपात में मिला है, जितने के प्रत्येक कैण्टन में निर्वाचक है; किन्तु शर्त यह है कि प्रत्येक कैण्टन को चाहे वह कितना भी छोटा हो कम-से-कम एक डिप्टी (Deputy) या सदस्य भेजने का अधिकार होगा। कैण्टनों को *संघीय संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में भी मान्यता प्रदान की गई है। संविधान* के उपबन्धों में किसी प्रकार के संशोधन पर उस समय तक कोई विचार नहीं किया जा सकता जब तक कि संशोधन प्रस्ताव समस्त देश के नागरिकों के बहुमत द्वारा और साथ ही कैण्टनो के बहुमत द्वारा भी स्वीकार न किया गया हो।

स्विस संविधान, एक लम्बा प्रलेख (A *Comparatively longer document*)—स्विस सविधान अमेरिका के संविधान के आधार पर निर्मित किया गया था, किन्तु यह अमेरिका के संविधान से भी काफी लम्बा प्रलेख है। इसमे प्रायः सभी बातें पर्याप्त विस्तार के साथ दी गई हैं, यहाँ तक कि ऐसी-ऐसी बातों को भी स्थान दिया गया है, जैसे मछली पकड़ना अथवा शिकार खेलना; मानसिक उद्यमों के करने वाले लोगो की योग्यताएँ, दरिद्र लोगो की बीमारी और अन्त्येष्टि, पशुओं की बीमारियाँ, जुआघर और लाटरी, आदि, आदि। वास्तव में ये सभी विषय सामान्य विधेयकों अथवा विनियमों के अधिकार-क्षेत्र मे आने चाहिए थे न कि सांविधानिक विधि में। इस अत्यधिक विस्तृत विवेचन का सम्भवतः यही तात्पर्य था, कि संविधान के निर्माता *कैण्टनों और सघीय सरकार के बीच शक्तियों का स्पष्ट वितरण चाहते थे।*

प्रजातन्त्रीय राज्य की भावना (Spirit of Republicanism)—सारे स्विस संविधान मे प्रजातन्त्रीय राज्य की उत्कट भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। वास्तव मे स्विस जीवनचर्या ही प्रजातन्त्रात्मक है। स्विस सविधान का छठा अनुच्छेद आदेश करता है कि सभी कैण्टनों को संविधानों की गारण्टी मिले, किन्तु "उसके लिए यह शर्त रखी गई कि सभी कैण्टनो के लिए यह आवश्यक होगा कि वे अपने-अपने क्षेत्रों में अपने राजनीतिक अधिकारो का लोकतन्त्रीय अथवा प्रतिनिधिक अथवा प्रजातन्त्रीय (Republican or representative or democratic) व्यवस्था के अनुसार प्रयोग करेंगे।" इस उपबन्ध के अर्थ उस समय और भी स्पष्ट हो जाते हैं जब इसके साथ अनुच्छेद ४ भी पढ़ा जाए, जो आदेश देता है—"विधि के सम्मुख सभी *स्विस लोग* समान हैं। स्विट्ज़रलैण्ड मे न तो कोई किसी के अधीन है, न किसी को किसी प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त है।" इस उपबन्ध के सम्बन्ध मे क्रिस्टोफर ह्यूज (Christopher Hughes) कहता है कि "यह उपबन्ध निश्चित रूप से स्विट्ज़रलैण्ड मे विधि का शासन स्थापित करता है और यह समस्त संविधान मे अत्यधिक प्रभावी विधि का नियम है।"[1] आधुनिक स्विट्ज़रलैंड के निर्माताओं की 'यह हार्दिक इच्छा थी कि

1. The Federal Constitution of Switzerland, (1954), pp. 6-7.

व्यक्ति को कुलीनतन्त्रीय, व्यावसायिक (Mercantalistic) और चर्च सम्बन्धी उन बन्धनों और मर्यादाओं से मुक्ति दिलाई जाए जिन्होंने शताब्दियों से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित कर रखा है।"[1] इसलिए उन्होंने समस्त कुलीनतन्त्रीय (Aristocratic) और विशिष्ट जनतन्त्रीय विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया और सभी स्विस लोगों को विधि के समक्ष समानता की गारण्टी दी। प्रत्येक स्विस नागरिक को, जो बीस वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका है और जिसको किसी निर्योग्यतावश नागरिकता के अधिकारों से वंचित नही किया गया है, अपने देश के शासन में भाग लेने का अधिकार है; साथ ही सभी लोगों के बहुमत से ही संविधान स्वीकृत हुआ और बहुमत की माँग पर संविधान में संशोधन किया जा सकता है।

इस प्रकार स्विट्ज़रलैण्ड मे न तो कोई प्रजा है, न किसी के पास स्थिति, जन्म, व्यक्तित्व, अथवा कुटुम्ब के आधार पर कोई विशेषाधिकार हैं और देश की समस्त राजनीतिक संस्थाएँ—चाहे वे संघीय हों, या कैण्टनो की हो या सामाजिक हो—चुनावों के ऊपर आधारित हैं और यदि संविधान में कोई परिवर्तन अभीष्ट हो, अथवा शासन में भी लोगो का प्रत्यक्ष भाग—ये सब राष्ट्र के राजनीतिक व्यवहार के मौलिक सिद्धान्त हैं। प्रजातन्त्र का सिद्धान्त अथवा राष्ट्र के हाथों मे प्रभुसत्ता प्रत्यक्ष ही स्विस प्रजातन्त्र का मुख्य सिद्धान्त है, और सर्वसाधारण ने इस सिद्धान्त को धार्मिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है।

स्विस संविधान में अधिकार-पत्र का अभाव (Does not contain a Bill of Rights)—स्विस संविधान मे औपचारिक अधिकार-पत्र (Bill of Rights) नहीं है। फिर भी बीसियों अनुच्छेद सारे प्रलेख मे बिखरे पडे है जो व्यक्तियों को ईमान, सद्विवेक और धर्म, प्रचार की स्वतन्त्रता, संगठन निर्माण करने की स्वतन्त्रता, आवेदन करने की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति धारण करने की स्वतन्त्रता और विधि के समक्ष सभी की समानता आदि की गारण्टी करते हैं। संविधान के निर्माताओं की सम्भवतः यह इच्छा थी कि नागरिकों के साविधानिक अधिकारों[2] का संकुचित अर्थ लिया जाए और वे उन अधिकारों में केवल स्वतन्त्रता के अधिकारों अर्थात् समानता, व्यापार की स्वतन्त्रता, धर्म और संगठन की स्वतन्त्रता को लेना चाहते थे। किन्तु जैसा कि ह्यूज (Hughes) कहता है, "सभी सांविधानिक अधिकारो मे विधि के समक्ष समानता वाला अधिकार एक मजाक है।"[3] संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) ने अनुच्छेद ४ का निर्वचन इस प्रकार किया है कि सांविधानिक अधिकारों मे राजनीतिक अधिकार और स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकार, सभी सम्मिलित हैं।[4] अनुच्छेद

1. Rappard, W. E. : The Government of Switzerland, op. cit., pp. 108-109.

2. Article 113, Clause 3. "संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) उन अपीलों को भी सुनता है जिनका सम्बन्ध नागरिकों के सांविधानिक अधिकारों के अतिक्रमण से हो।"

3. The Federal Constitution of Switzerland, op. cit. p. 7.

4. Ibid, p. 123.

४ उन राजनीतिक और स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकारों को भी स्वीकार करता है जिनको कैण्टनो के संविधान में भी या तो स्पष्टतः या उपलक्षण के द्वारा स्वीकार किया गया है।

धर्म के सम्बन्ध में उपबन्ध (Provisions relating to Religion)— स्विट्ज़रलैण्ड मे धर्म के नाम पर जो प्राचीन काल से झगड़े चले आ रहे थे, उनकी *सम्भावनाओं को सदैव के लिए समाप्त करने के लिए संविधान ने कतिपय उपबन्ध* प्रस्तुत किये है। मनमाने धार्मिक विश्वास और पूजा की स्वतन्त्रता की प्रत्येक कैण्टन की सीमाओं में सभी नागरिकों के लिए गारण्टी की गई है किन्तु धार्मिक विश्वास और पूजा, सदाचार और सार्वजनिक शान्ति की मर्यादाओं का अतिक्रमण न करते हो। किसी भी नागरिक को किसी धर्म-विशेष के अपनाने के लिए बाध्य नही किया जा सकता, न उसको किसी विशेष प्रकार की धार्मिक पूजा के लिए बाध्य किया जा सकता है, न उसको किसी धार्मिक शिक्षा पर चलने के लिए बाध्य किया जा सकता है। किसी व्यक्ति के नागरिक अथवा राजनीतिक अधिकारो को किसी धार्मिक पादरी अथवा धार्मिक आज्ञा के आधार पर कम नही किया जा सकता। उसी के साथ कोई भी व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वास के आधार पर किसी ऐसे उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिए मना नही कर सकता, जिसकी, स्विट्ज़रलैण्ड की नागरिकता के आधार पर उक्त व्यक्ति से आशा की जाती हो। इसके अतिरिक्त किसी ऐसे कर देने के लिए किसी व्यक्ति को बाध्य नही किया जा सकता, जो किसी ऐसी धार्मिक संस्था को चलाने के लिए प्रयुक्त होता हो जिसका वह व्यक्ति अनुयायी न हो। स्विस प्रदेश में बिना संघीय सरकार की आज्ञा के बिशप का कोई नया पद (Bishopric) सृजित नही किया जा सकता। धार्मिक सस्थाओं के अधिकार-क्षेत्र समाप्त कर दिए गए है।

प्रजातन्त्र और स्विट्ज़रलैण्ड प्रायः पर्यायवाची शब्द (Democracy and Switzerland are almost synonymous)—जेम्स ब्राइस (James Bryce) अपनी पुस्तक गवर्नमेंट ऑफ स्विट्ज़रलैण्ड (Government of Switzerland) के प्रारम्भिक अध्याय मे लिखता है, "आधुनिक प्रजातन्त्रों में कौन देश सच्चा प्रजातन्त्र है, यदि इसका उत्तर देना हो तो यही कहना होगा कि स्विट्ज़रलैण्ड ही सच्चा प्रजातन्त्र है और *उसी का अध्ययन करना चाहिए। प्रथमत, स्विट्ज़रलैण्ड सबसे* प्राचीन प्रजातन्त्र है क्योकि इसमे ऐसी जातियां निवास करती है जिनमे लोकप्रिय शासन का प्रादुर्भाव उस काल मे हुआ जिसमे कि संसार के अन्य किसी देश में लोकतन्त्र का अभाव था। और इस देश ने प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों का जितना विकास किया है और उन पर लगातार जितना सफल प्रयोग इस देश मे किया गया है, उतना किसी अन्य यूरोपीय राज्य मे नही किया गया।"[1] वास्तव मे स्विस प्रजातन्त्र का सिद्धान्त "पहले जाति के छोटे वर्गो से प्रारम्भ होता है। तब कैण्टनों के ऊपर प्रभावी होता है और उसी अर्थ मे पहले कैण्टनों से प्रारम्भ होता है तब सघ प्रभावी पर होता है।"[2]

1. Modern Democracies, Vol. I, p. 367.
2. The Government of Switzerland, p. 111.

राजनीतिक सत्ता का आधार स्थानीय स्वशासनिक संस्थाएँ हैं, और लोकप्रिय जनमत प्रारम्भिक इकाई से प्रारम्भ होकर समस्त देश पर छा जाता है। स्विट्ज़रलैण्ड छोटे-छोटे देहाती और शहरी नमुदायों अथवा प्रजातियों (Communities) का देश है; और प्रारम्भ मे ही नगर संस्था (Commune) ऐसा साधन उपस्थित करती थी जो लोगों को स्वशासन की दिशा मे आवश्यक शिक्षा प्रदान करती थी। आज भी कम्यून या नगर संस्था (Commune) राष्ट्र की राजनीतिक इकाई है और उसके सार्वजनिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु है। कम्यून (Commune) के द्वारा देश मे सर्वसाधारण को नागरिक प्रशासन की प्राथमिक शिक्षा प्रदान की जाती है और इसी के द्वारा लोगो में नागरिक कर्त्तव्य का ज्ञान कराया जाता है।

संघीय सविधान का प्रलेख प्रारम्भ से लेकर अन्त तक ऐसी ही प्रजातन्त्रात्मक भावनाओं से भरा पड़ा है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि स्विट्ज़रलैण्ड और प्रजातन्त्र, ये दोनों शब्द अब पूर्णतया पर्यायवाची शब्द है। सत्ताओं के केन्द्रीयकरण के बावजूद १८९१ में सांविधानिक आरम्भक (Constitutional Initiative) की जिस प्रथा का श्रीगणेश हुआ अथवा १९१९ में राष्ट्रीय परिषद् (National Council) के चुनाव के सानुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional representation) की जो व्यवस्था की गई और १९२१ में अन्तर्राष्ट्रीय संधियो के सम्बन्ध में जो ऐच्छिक जनमत संग्रह की व्यवस्था की गई; ये सब सिद्ध करते हैं कि सर्वसाधारण के वे प्रजातन्त्रात्मक उद्देश्य, जिन्होंने आधुनिक स्विस लोकतन्त्र की १८४८ में स्थापना की थी, अब भी ज्यों-के-त्यों मौजूद हैं। ११ सितम्बर, १९४९ का सैंतालीसवां संशोधन प्रजातन्त्र की ओर वापस आने का संकेत था, और अब संघीय सरकार के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह सीधे सघीय अथवा केन्द्रीय कर (Taxes) लगा सके। अब संघीय विधान-मण्डल अथवा संघीय संसद् (Federal Assembly) के लिए सम्भव नही है कि वह बिना सर्वसाधारण की इच्छा जाने, एक वर्ष से अधिक के लिए कोई आपात्-कालिक आदेश जारी कर सके। रैपर्ड (Rappard) ने ठीक ही कहा है कि, "निस्संदेह अप्रतिहत एवं दुर्निवार आर्थिक प्रभावो (Irresistible Economic Influences) के कारण प्रजातन्त्र के बाह्य रूपो में कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ता है, किन्तु प्रजातन्त्र की भावना ज्यों-की-त्यो वही है।"[1]

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के साधन अथवा उपकरण (Instruments of direct democracy)—स्विस लोगों का राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में प्रजातन्त्र में जो विश्वास है, वह सर्वसाधारण द्वारा प्रत्यक्ष लोकप्रिय शासन के साधनों अथवा उपकरणों के व्यापक प्रयोग मे स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का सबसे प्राचीन उपकरण उन्मुक्त नगर सभाएँ (Landsgemeinde or open town meetings) है जिनमे प्रत्येक वयस्क पुरुष बोल सकता है, अथवा देश के लिए नियम बना सकता है अथवा अधिकारी चुन सकता है। यह ५०० वर्षों से भी अधिक पुरानी शासन-

1. The Government of Switzerland, p. 111.

प्रणाली अब भी उन चार कैण्टनों में पायी जाती है जो दो कैण्टनों, एपेन्ज़ेल (Appenzell) और अन्टरवाल्डेन (Unterwalden) को विभाजित करके बने हैं और पांचवें कैण्टन ग्लेरस (Glarus) में भी पाई जाती है। अन्य सभी कैण्टनों में *प्रतिनिधिक लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली का प्रचलन है जिनमें प्राय: प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र* के आधुनिक उपकरणों अर्थात् लोकप्रिय जनमत संग्रह (Popular referendum) और लोकप्रिय आरम्भक (Popular Initiative) का प्रयोग किया जाता है। इन उपकरणों का प्रयोग उन मामलों मे भी किया जाता है जिनका सम्बन्ध परिसंघ से होता है।

उदारवाद अथवा स्वतन्त्र विचारों का सिद्धान्त (Liberalism)—स्विस सविधान का एक अन्य सिद्धान्त, उसके उदारवाद अथवा स्वतन्त्र विचारवाद में निहित है। संविधान के निर्माताओ के ऊपर १९वी शताब्दी की स्वतन्त्र विचारधारा का अत्यधिक प्रभाव पडा था और संविधान की भाषा और वाक्यावलि पग-पग पर उस दर्शनशास्त्र के अमिट प्रभाव को इंगित करती है। संविधान की इच्छा थी कि व्यक्ति को उन सभी अंकुशकारी और मर्यादित करने वाले प्रभावों से मुक्त रखा जाए जो उस काल की चर्च सम्बन्धी और कुलीनतन्त्री व्यवस्था के कारण लोगों को आक्रान्त कर रहे थे। सभी राजनीतिक विशेषाधिकार समाप्त किये जा चुके हैं। संविधान ने प्रतिवेदन (Petition), धर्म, भाषण, समाचारपत्रों और संगठनों के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता दी है, साथ ही विधि के समक्ष सभी समान हैं, इसकी भी गारण्टी की है। व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता की पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन दिया गया है। संविधान ने स्वीकार किया है कि राज्य का कर्त्तव्य है कि सभी के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करे, और इसलिए सार्वजनिक पाठशालाएं सभी धर्मों के मानने वालों के लिए आयोजित की गई हैं। संविधान में यह भी उपबन्धित किया गया है कि सार्वजनिक पाठशालाओं में शिक्षा इस प्रकार दी जाए जिससे किसी के धार्मिक *विश्वासों को ठेस न पहुँचे।*

गतिशील संविधान (A Dynamic Constitution)—फिर भी स्विस सविधान एक जीवित गतिशील प्रलेख है और लिखित सविधान की सीमाओं में यह *अनुकूलता अथवा संयोजनीयता (Adaptability) का अनोखा उदाहरण उपस्थित* करता है। इस सविधान का समय समय पर इस प्रकार संशोधन किया गया है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो संविधान समय के साथ-साथ अब भी उसी प्रकार लोकप्रिय *आकांक्षाओं का साकार प्रतीक है जिस प्रकार कि आरम्भ में था।* राष्ट्रीयता की नीति और विभिन्न कैण्टनों अथवा एकक राज्यों के क्रिया-कलापो मे वृद्धि स्पष्टतया इंगित करते है कि देश कल्याणकारी राज्य (Welfare State) बनने जा रहा है। *सत्य यह है कि १८७४ के संविधान के पास होने के उपरान्त स्विट्ज़रलैण्ड मे पूर्ण* बल, व्यक्ति की व्यावहारिक मुक्ति और स्वतन्त्रता पर दिया गया है न कि सैद्धान्तिक रूप में उसकी स्वतन्त्रता को केवल मान लेने भर पर। इस प्रकार १८७७, १९०८ *और १९२० के श्रमिक अधिनियमों के द्वारा व्यक्ति की* औद्योगिक शोषण के विरुद्ध

रक्षा की गई है और १८६७, १६०५ और १६१३ के विविध स्वास्थ्य सम्बन्धी अधिनियमों से व्यक्ति की बीमारियों के विरुद्ध रक्षा की गई है। और १८८५, १६०८ और १६३० के नशाबन्दी अधिनियमों द्वारा एवं १६२० के जुआ निरोधक अधिनियम के द्वारा भी व्यक्ति की रक्षा व्यक्ति के विरुद्ध की गई है। स्विस लोगों ने सदैव अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से मोह रखा है और जब कभी शासन ने लोगों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विरुद्ध कोई कदम उठाया है, तभी सर्वसाधारण ने इस प्रकार के किसी सुरक्षात्मक विधेयक को जनमत-संग्रह के द्वारा अस्वीकृत कर दिया है। १८८४,१८६६ १६०३, १६२२, १६-३, १६२६, १६३५, १६३७ और १६३६ में कतिपय ऐसे विधेयकों पर जनमत-संग्रह किया गया जिनके द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करके समाज की सुरक्षा करना अभीष्ट था, किन्तु इन जनमत-संग्रहों में सर्वसाधारण ने उदारवाद अथवा सत्य विचारों की रक्षा का दृष्टिकोण (Liberal Attitude) अपनाया और इन निर्णयों में यह प्रदर्शित किया कि वे किसी भी स्थिति में अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करेंगे।

संघीय कार्यपालिका (Federal Executive)—स्विस संविधान कार्यपालिका शक्तियाँ स्विस संघीय परिषद् (Federal Council) में विहित करता है। इस परिषद् में सात सदस्य होते हैं जो चार वर्षों की अवधि के लिए संघीय ससद् अथवा विधान सभा (Federal Assembly) द्वारा चुने जाते हैं। स्विस संघीय कार्यपालिका में सभी सदस्य समान शक्तियों का उपभोग करते हैं और उनमें से किसी को भी स्थिति शीर्ष स्थानीय नहीं होती। समस्त कार्यपालिका-शक्ति, समूची परिषद् को सौंपी जाती है, न कि किसी एक व्यक्ति को। जिस अधिकारी को परिसंघ का प्रधान कहा जाता है, *वह स्विस संघीय परिषद् (Federal Council) के सात सदस्यों में से* कोई भी एक हो सकता है, और उसको संघीय संसद् या विधान सभा (Federal Assembly) केवल एक वर्ष के लिए चुनती है। परिसंघ के प्रधान अथवा राष्ट्रपति का पद संघीय परिषद् (Federal Council) के सदस्यों को बारी-बारी से प्राप्त होता है, *इसलिए राष्ट्रपति और परिषद् के अन्य सदस्यों में कोई अन्तर नहीं होता।* किसी भी हालत में स्विस राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रधान नहीं है, न परिषद् में उसे परिषद् के अन्य सदस्यों की अपेक्षा किसी प्रकार की वरीयता प्राप्त होती है, और वह किसी भी प्रकार परिषद् के अन्य सदस्यों की अपेक्षा राष्ट्र के शासन-संचालन के लिए अधिक उत्तरदायी नहीं होता। वह तो केवल राष्ट्र की सर्वोच्च अधिशासी समिति (Executive Committee) का सभापति मात्र होता है, और इस स्थिति में वह औपचारिक प्रधान के रूप में कतिपय अनुष्ठानिक क्रिया-कलाप (Ceremonial duties) अवश्य करता है। इस प्रकार स्विट्जरलैण्ड की कार्यपालिका एक बहुल प्रकृति की कार्यपालिका (Collegium) है जो एक साथ देश का सर्वोच्च शासन भी है और राष्ट्र की प्रधान कार्यपालिका भी।

संघीय विधानमण्डल (Federal Legislature)—केन्द्रीय विधानमण्डल द्विसदनात्मक है। स्विस परिसंघ के विधानमण्डल का उच्च सदन अथवा राज्य सभा

(The Council of States) कैण्टनों का प्रतिनिधित्व करती है और अमेरिका की सीनेट (Senate) के समान है। राष्ट्रीय परिषद् (National Council) सर्व-साधारण का प्रतिनिधि सदन है। राष्ट्रीय परिषद् (National Council) की चुनाव विधि और सदस्यों की पदावधि प्रत्येक कैण्टन में अलग-अलग है। स्विस विधानमण्डल के दोनों सदनों की शक्तियाँ समान हैं, इस आधार पर डा० स्ट्रौंग (Dr. Strong) कहता है कि, "स्विस विधानमण्डल भी स्विस कार्यपालिका के समान ही अनोखा है।" संसार में स्विस विधानमण्डल ही ऐसा विधानमण्डल है जिसके उच्च सदन के कर्त्तव्य निम्न सदन के कर्त्तव्यों के पूर्ण समान ही है।

किन्तु स्विस विधानमण्डल की दो विशेषताओं को समझ लेना चाहिए। प्रथमतः, संविधान के निर्माताओं ने शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त (Doctrine of the Separation of Powers) को कोई महत्त्व नहीं दिया और इसीलिए संघीय संसद् (Federal Assembly) को सभी प्रकार की अर्थात् व्यवस्थापिका (Legislative), कार्यपालिका (Executive) और न्यायिक (Judicial) शक्तियाँ दे डाली। द्वितीयत., स्विट्जरलैण्ड में विधानमण्डल द्वारा पास किए गए किसी भी अधिनियम पर, पूर्व इसके कि वह विधि का रूप धारण करे, जनता का मत जनमत संग्रह के साधन (Instrument of the referendum) के द्वारा लिया जाता है।

संघीय न्यायमण्डल (Federal Judiciary)—संविधान ने संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) की रचना का आदेश किया है, और यद्यपि बहुत से लोग इसी को स्विट्जरलैण्ड का सर्वोच्च न्यायालय कहते है किन्तु वास्तव मे संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) के पास उन शक्तियों का पूर्ण अभाव है जो सर्वोच्च न्यायालय के पास होनी चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय की तरह, स्विट्जरलैण्ड का संघीय न्यायाधिकरण संविधान का संरक्षक नहीं है क्योंकि यह संघीय विधान सभा द्वारा पारित किसी भी विधि को असांविधानिक घोषित नहीं कर सकता। संविधान ने संघीय संसद् अथवा संघीय विधान सभा (Federal Assembly) को ही यह अधिकार दिया कि वह संविधान का स्वय निर्वचन करे। किन्तु संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) को यह अधिकार अवश्य दिया गया है कि वह ऐसी किसी भी विधि को रद्द कर सकता है जो कैण्टनों द्वारा पारित की गई हो। द्वितीयतः, संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) केवल एक न्यायालय मात्र है; न कि राष्ट्रीय न्याय-व्यवस्था के ऊपर सर्वोच्च न्यायालय। इसलिए फेडरल ट्रिब्यूनल अथवा संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) को वह पदवी नहीं दी जा सकती जो संघीय सर्वोच्च न्यायालय अथवा फेडरल कोर्ट (Federal Court) को मिलनी चाहिए।

कठोर संविधान (A Rigid Constitution)—स्विस संविधान कठोर है और इसके संशोधन की प्रक्रिया जटिल है परन्तु व्यवहार में यह प्रक्रिया इतनी कठिन नहीं जितनी कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका मे है। संशोधन का तरीका १८७४ के संविधान के अध्याय ३ मे, जिसका संशोधन ५ जुलाई, १८६१ को हुआ है, सूक्ष्मतया

वर्णित है। संशोधन का अर्थ सम्पूर्ण संशोधन है और आंशिक संशोधन भी है। स्विस संविधान के संशोधन की प्रक्रिया का नीचे वर्णन किया जा रहा है।

संविधान का संशोधन

(Amending the Constitution)

संविधान के संशोधन के लिए जो प्रक्रिया निर्धारित की गई है, वह इस प्रकार है—

(१) यदि संघीय विधानमण्डल (Federal Legislature) के दोनों सदन अर्थात् राज्यसभा (Council of States) और राष्ट्रीय परिषद् (National Council) मिल कर निर्णय करें और प्रस्ताव पास करके संविधान में पूर्ण संशोधन अथवा आंशिक संशोधन करने के लिए निश्चय करें, तो यदि पूर्ण संशोधन (Total revision) करना है तो वे दोनों सदन प्रस्तावित नये संविधान का प्रारूप तैयार कर सकते हैं और यदि आंशिक संशोधन करना है तो उसी संशोधन का प्रस्ताव तैयार कर सकते हैं; और फिर उस संशोधन को सर्वसाधारण और कैण्टनों के जनमत-संग्रह (Referendum) के लिए प्रस्तुत करते हैं। यदि जनमत-संग्रह में सर्वसाधारण का बहुमत उस संशोधन को स्वीकार कर लेता है, और यदि कैण्टनों का बहुमत भी उसे स्वीकार कर लेता है तो प्रस्तावित संशोधन स्वीकृत समझा जाता है। कैण्टनों की इच्छा जानने के लिए मत गिनते समय प्रत्येक कैण्टन को एक मत (Vote) माना जाता है; और प्रत्येक अर्द्ध कैण्टन को आधा मत माना जाता है।

(२) किन्तु यदि संघीय विधानमण्डल का केवल एक सदन प्रस्तावित संशोधन के लिए सहमत है और दूसरा सदन उक्त संशोधन के लिए सहमत नहीं है, उस स्थिति में—

(i) पहले यह निर्णय करना आवश्यक हो जाता है कि प्रस्तावित संशोधन की वास्तव में आवश्यकता भी है अथवा नहीं। यह निर्णय सर्वसाधारण जनमत-संग्रह (Referendum) के द्वारा करते हैं;

(ii) यदि सर्वसाधारण बहुमत द्वारा प्रस्तावित संशोधन को स्वीकार कर लेते हैं, तो संघीय संसद् या विधानमण्डल के लिए नए चुनाव किए जाते हैं। इस प्रसंग में यह याद रखना चाहिए कि कैण्टनों की स्वीकृति आवश्यक नहीं है;

(iii) नये चुनाव हो चुकने के बाद, नव-निर्वाचित राज्य-सभा (Council of States) और राष्ट्रीय परिषद् (National Council) प्रस्तावित संशोधन पर विचार करते हैं :

(iv) यदि संघीय विधानमण्डल के दोनों सदन उक्त संशोधन को स्वीकार कर लेते हैं, जो प्रायः निश्चित-सा ही होता है, तो प्रस्तावित संशोधन सर्वसाधारण और कैण्टनों (Cantons) के जनमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत किया जाता है; और

(v) यदि वह सर्वसाधारण के बहुमत और कैण्टनों के बहुमत द्वारा स्वीकृत हो जाता है, तो उक्त संशोधन क्रियाकारी हो जाता है।

सांविधानिक आरम्भक (Constitutional Initiative)—संविधान का पूर्ण संशोधन (Complete revision) अथवा आंशिक संशोधन (Partial revision) सर्वसाधारण के आरम्भक के द्वारा भी हो सकता है। आरम्भक से अभिप्राय है कि किसी संशोधन के लिए कम-से-कम ५०,००० स्विस नागरिक आवेदन-पत्र दें। यदि पूर्ण संशोधन (Total revision) अभीष्ट है तो बाकी प्रक्रिया वही होगी जो उस स्थिति में होती है, जबकि संघीय विधानमण्डल का एक सदन संशोधन के लिए सह-मति दे दे किन्तु द्वितीय सदन उसके विरोध में जाए। अर्थात्

(i) पहले यह निर्णय आवश्यक हो जाता है कि प्रस्तावित संशोधन की वास्तव में आवश्यकता भी है अथवा नहीं। यह निर्णय सर्वसाधारण जनमत-संग्रह के द्वारा करते हैं;

(ii) यदि वह सर्वसाधारण जनमत-संग्रह में बहुमत द्वारा प्रस्तावित संशोधन को स्वीकार कर लेते है, तो संघीय विधानमण्डल के लिए नये चुनाव होते हैं;

(iii) नव-निर्वाचित संघीय संसद् अथवा विधानमण्डल प्रस्तावित संविधान का प्रारूप तैयार करते हैं और यदि वे इसको (प्रस्तावित संशोधित संविधान को) स्वीकार कर लेते हैं;

(iv) तो वह (प्रस्तावित संशोधित संविधान) सर्वसाधारण और कैण्टनो के जनमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत किया जाता है;

(v) यदि वह सर्वसाधारण के बहुमत और कैण्टनों के बहुमत द्वारा स्वीकृत हो जाता है, तो उक्त संशोधित संविधान क्रियाकारी हो जाता है।

किन्तु जब आवेदन-पत्र में आंशिक संशोधन (Partial revision) की प्रार्थना की गई है, उस स्थिति मे उसके बाद की प्रक्रिया इस बात पर निर्भर करती है कि संशोधन को आवेदन-पत्र में विधेयक रूप में प्रस्तुत किया गया है अथवा साधारण शब्दों में। यदि साधारण शब्दों में संशोधन की मांग की गई है तो उसका यह अर्थ है कि कम-से-कम ५०,००० नागरिक किसी संशोधन की मांग कर रहे है। किन्तु इसके विपरीत यदि कोई विशिष्ट मांग की जाती है, तो वह विधेयक के रूप में की जाती है, जिसमें सभी खानापूरी विस्तार के साथ की जाती है।

जब किसी संशोधन की मांग साधारण शब्दों में की जाती है, तो संघीय संसद् अथवा विधानमण्डल, यदि वह उक्त संशोधन के अनुकूल हो, तुरन्त उन लोगों की इच्छा के अनुसार जिन्होने उक्त संशोधन का प्रस्ताव किया है, उस संशोधन को विधेयक के रूप में तैयार करता है। तदनन्तर उस विधेयक पर जनता का मत एकत्रित किया जाता है, और कैण्टनों का मत जाना जाता है। किन्तु यदि संघीय विधानमंडल उक्त संशोधन के अनुकूल नहीं है, उस स्थिति में संघीय परिषद् (The Federal Council) उस संशोधन के प्रश्न को सर्वसाधारण के निर्णय के लिए प्रस्तुत करती है

और पूछती है कि क्या आंशिक संशोधन (Partial revision) होना चाहिए अथवा नहीं। यदि जनमत-संग्रह द्वारा नागरिकों का बहुमत संशोधन के पक्ष में है तो संघीय संसद् आरम्भक (Initiative) के अनुरूप प्रस्तावित संशोधन को एक विधेयक के प्रारूप की शक्ल में तैयार करती है और उसके बाद सर्वसाधारण और कैंटनों के जनमत-संग्रह के लिए उक्त विधेयक भेज दिया जाता है।

जब आंशिक संशोधन के लिए कोई प्रस्ताव विस्तृत विधेयक (Complete bill) के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो संघीय संसद् (Federal Assembly) उक्त विधेयक को अपना अनुमोदन देने के पश्चात् सर्वसाधारण और कैण्टनों के जनमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत करती है। यदि संघीय संसद् उक्त विधेयक के प्रति अनुकूल है तो संसद् सिफारिश कर सकती है कि सर्वसाधारण के जनमत-संग्रह में उक्त विधेयक को अस्वीकृत किया जाए अथवा संघीय संसद् (Federal Assembly) उक्त संशोधन के स्थान पर अपना प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकती है और फिर प्रारम्भिक संशोधन-प्रस्ताव के साथ अपने तत्सम्बन्धी प्रस्ताव को भी जनमत-संग्रह के हेतु भेज सकती है। किन्तु दोनों ही स्थितियों में सभी नागरिकों का बहुमत और कैण्टनों का बहुमत आवश्यक होगा।

और अधिक स्पष्टीकरण करने के लिए, वह समस्त प्रक्रिया जो सर्वसाधारण के आरम्भक (Initiative) पर आंशिक संशोधन के लिए की जाती है, इस प्रकार है—

(१) यह आंशिक संशोधन की मांग सूत्र रूप में न होकर साधारण शब्दों में की गई है, तो संघीय संसद् (Federal Assembly) यदि वह उक्त संशोधन को स्वीकार करती है, तो उक्त संशोधन के सम्बन्ध में विधेयक तैयार करती है और उस विधेयक को सर्वसाधारण और कैण्टनों की स्वीकृति (ratification) के लिए भेज देती है।

(२) यदि संघीय संसद (Federal Assembly) उक्त संशोधन को स्वीकार नहीं करती, तो उस स्थिति में :—

(i) आंशिक संशोधन सम्बन्धी प्रश्न, सर्वसाधारण के निर्णय के लिए भेज दिया जाता है। इस समय कैण्टनों के मत जानने की आवश्यकता नहीं होती।

(ii) यदि अधिकतर मतदाता-नागरिक संशोधन के पक्ष में है, तो वही संघीय संसद् (Federal Assembly) जिसने पहले प्रस्तावित संशोधन के विरुद्ध मत दिया था, अब लोकप्रिय जनता द्वारा आरम्भ किए गए (initiated) प्रस्ताव को विधेयक के रूप में तैयार करती है और इसके बाद इस विधेयक को सर्वसाधारण और कैण्टनों के जनमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत करती है।

(३) यदि प्रस्तावित संशोधन का प्रस्ताव सूत्र रूप में प्रस्तुत किया गया है अर्थात् विधेयक के रूप में उपस्थित किया गया है, उस स्थिति में पहले संघीय संसद् को उक्त विधेयक पर स्वीकृति प्रदान करनी होती है, और उसके बाद विधेयक को सर्वसाधारण और कैण्टनों के जनमत-संग्रह के लिए भेज दिया जाता है। किन्तु यदि

संघीय ससद् प्रस्तावित संशोधन के पक्ष में नही है, तो यह जनमत-संग्रह के लिए निम्न सिफारिशें कर सकती है।

(*i*) *प्रस्तावित संशोधन अस्वीकृत किया जाए, अथवा;*

(ii) संघीय संसद् (Federal Assembly) उक्त संशोधन के स्थान पर अपना निजी प्रस्ताव तैयार करके उस प्रारम्भिक संशोधन प्रस्ताव के साथ, जिसको आरम्भक द्वारा प्रस्तावित किया गया था, सर्वसाधारण और कैण्टनो के निर्णय के लिए भेज सकती है।

संशोधन प्रणाली का मूल्यांकन (Estimate of the method of amendment)—१८७४ से अब तक पूर्ण संशोधन (Total revision) के लिए केवल दो बार प्रस्ताव किया गया—एक बार तो १८८० में जबकि ५०,००० नागरिकों की प्रार्थना पर आंशिक संशोधन की प्रार्थना की मान्यता नहीं थी और पुनः १६३५ मे जब कि स्विट्जरलैण्ड के नाजियों (Nazis), दक्षिणपक्षी कैथोलिकों और अन्य लोगो ने सविधान में पूर्ण संशोधन का प्रस्ताव किया था। ये दोनों ही संशोधन प्रस्ताव स्वीकृत हो गए। यदि इन दोनों अवसरों मे से किसी अवसर पर संशोधन की माँग अस्वीकृत हो गई होती तो अत्यन्त भयावह स्थिति उत्पन्न हो सकती थी। यह समझ मे आना कठिन है कि आधुनिक परिस्थितियो में स्विस ससद् किसी प्रकार इतने लम्बे समय के लिए अपना सारा नैतिक कार्य स्थगित कर देती और नया सविधान तैयार करती। इसलिए प्रस्ताव किया गया है कि यदि कभी संविधान का पूर्ण संशोधन (Total revision) करना पड़े तो उसके लिए दूसरी संविधान निर्मात्री सभा का चुनाव होना चाहिए।

संविधान के आशिक संशोधन (Partial revision) तो कई बार हो चुके है। किन्तु ऐसे संशोधन बहुत ही कम हुए हैं जिन्होने सविधान के आवश्यक भागों को बदला हो; विशेष रूप से प्रायः सभी संशोधनो के द्वारा केन्द्रीय शासन के अधिकारों में वृद्धि की गई है, मुख्यतः व्यापारों और उद्योगों के सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार को विशेष अधिकार प्रदान किए गए है। अन्य कतिपय संशोधनो के द्वारा नागरिको के नैतिक और चारित्रिक गठन पर बल दिया गया है, विशेषकर शराब पीने और जुआ खेलने आदि के विषय में। जिन संशोधनों के द्वारा संविधान के आवश्यक भागों पर प्रभाव पड़ा है, उनमें कुछ निम्न है—कॉन्स्टीट्यूशनल इनीशिएटिव, १८६१ (Constitutional Initiative, 1891); एडमिनिस्ट्रेटिव जूरिस्डिक्शन, १६१४ (Administrative Jurisdiction, 1914); डेलीगेशन टू डिपार्टमेण्ट्स, १६१४ (Delegation to Departments, 1914); प्रोपोर्शनल रिप्रिजेन्टेशन, १६१८ (Proportional Representation, 1918); ट्रीटी रेफरेण्डम, १६२१ (Treaty Referendum, 1921); आल्टरिंग दी नम्बर ऑफ इनहैबिटेण्ट्स पर नेशनल काउन्सलर, १६३१ और १६५० (Altering the number of inhabitants per National Councillor, 1931 and 1950); नेशनल काउन्सलर अथवा राष्ट्रीय परिषद् का कार्य-काल और तदनुरूप संघीय परिषद् और चांसलर का कार्य-काल चार वर्ष करने वाला संशोधन

१९३१ (Raising the term of office of National Councillor, and hence of Federal Councillor and Chancellor to four years, 1931); रूल्स फॉर डिक्लेयरिंग एरेट्स अर्जेण्ट एमेन्डिंग आर्टिकल ८९ इन १९३९ एण्ड १९४० (Rules for declaring arretes 'urgent' amending Article 89 in 1939 and 1940)। जिन संशोधनों के द्वारा संघीय शक्तियों में वृद्धि हुई है, उनमें विशेष रूप से निम्न संशोधन उल्लेख्य हैं—फेडरल सिविल एण्ड पीनल कोड आर्टिकल्स ऑफ १८९८ (Federal Civil and Penal Code Articles of 1898) और दि इकॉनामिक आर्टिकल्स ऑफ १९४७ (The Economic Articles of 1947)।

स्विस संविधान की एक उल्लेख्य विशेषता यह है कि इसका विकास केवल औपचारिक सांविधानिक संशोधनों द्वारा हुआ है। स्विट्जरलैण्ड मे न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial review) की प्रथा के अभाव मे, इस देश मे न्यायिक निर्णयों और पूर्व-भावियों (Precedents) के आधार पर संविधान का विकास बिल्कुल भी नही हुआ है। संघीय संसद् (Federal Assembly) द्वारा पारित किसी भी विधि को संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) असाविधानिक घोषित नहीं कर सकता। स्विस लोगों की मान्यता है कि अन्तिम प्रभुसत्ता या तो सर्वसाधारण के हाथो मे रहनी चाहिए अथवा विधानमण्डल में सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों के हाथों मे रहनी चाहिए। १९३९ में आरम्भक प्रस्ताव (an initiative proposal) इस आशय से प्रस्तुत किया गया था कि सघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) को अधिनियमों के पुनरीक्षण का अधिकार प्रदान किया जाए, किन्तु जनमत-सग्रह (referendum) में वह प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया।

इस सम्बन्ध मे यह तथ्य भी ध्यान मे रखना चाहिए कि स्विस लोग अपनी मौलिक विधि अर्थात् सविधान मे संशोधन करना आसान समझते है किन्तु विरोधी संसद् द्वारा पारित किसी सविधि (Statute) को बदलवाना उतना सहज नही है।[1] इसका कारण यह है कि स्विस लोगों को सामान्य विधेयकों के सम्बन्ध मे आरम्भक (initiative) का अधिकार नही है। वे किसी भी सघीय विधि या आज्ञा के विरुद्ध ३०,००० नागरिकों के आवेदन-पत्र को देकर उस पर जनमत-संग्रह की मांग कर सकते है, किन्तु वे संघीय सत्ता के विरुद्ध कभी भी यह मांग नही कर सकते कि अमुक विधि को स्वीकार कर लिया जाए, या रद्द कर दिया जाए अथवा संशोधित किया जाए। इसीलिए स्विट्जरलैण्ड मे संविधान के संशोधन के लिए सर्वसाधारण की ओर से भी उतनी ही बहुलता के साथ प्रस्ताव आए हैं, जितनी कि संघीय परिषद् (Federal Council) और संघीय संसद् (Federal Assembly) की ओर से।

---

1. Rappard, W. E.: The Government of Switzerland, op cit., p. 60.

अध्याय ३

कैण्टनों का शासन और स्थानीय स्वशासन
(The Cantonal and Local Government)

नगर संस्थाएँ और कैण्टन (The Communes and the Cantons)—स्विस प्रजातन्त्र का सिद्धान्त, जैसा कि बताया जा चुका है यह है कि "वे लोग कैण्टनों से अधिक कम्यूनों (Communes) से प्रेम करते हैं और संघ से अधिक कैण्टनों को प्रेम करते हैं।" एण्ड्रे सीजफ्रायड (Andre Siegfried) लिखता है कि "सामान्य नागरिक की निगाहों में कैण्टन, परिसंघ की अपेक्षा कही अधिक वास्तविक एवं जीवित सत्ता है क्योंकि परिसघ उसके लिए मृत प्रशासनिक यन्त्र से अधिक कुछ नही है। इसमे सन्देह नहीं कि प्रत्येक नागरिक को स्विस नागरिकता पर गर्व है किन्तु स्विस नागरिक होने से पहले वह ज्यूरिच (Zurich) आदि किसी कैण्टन का निवासी है।" यद्यपि आजकल राजनीतिक शक्ति और राजनीतिक भक्ति का केन्द्रीयकरण हो रहा है, और इसके कारण लोगो के ऐतिहासिक व्यक्तित्व मे ह्रास हुआ है, और कैण्टनों के प्रति मोह धीरे-धीरे कम हो रहा है, फिर भी सविधान, अब भी कैण्टनों की प्रभुसत्ता को उस सीमा तक स्वीकार करता है "जहाँ तक कि संघीय संविधान कैण्टनों की प्रभुसत्ता को मर्यादित नही करता और इस प्रकार कैण्टन उन सभी शक्तियों का उपभोग करते है जिनको संघ को हस्तान्तरित नही किया गया है।"[1] कैण्टन अब भी वास्तव मे राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन के केन्द्र है। इसलिए स्विस लोग संघीय राजनीतिक संस्थाओं को उतना महत्त्व नही देते जितना कि कैण्टनों और नगर सस्थाओं की राजनीतिक संस्थाओं को देते हैं। सत्य तो यह है कि उस समय तक स्विस राजनीति समझी नहीं जा सकती जब तक कि स्विट्ज़रलैण्ड की स्थानीय सस्थाओं को न समझ लिया जाए।

कैण्टनों की सांविधानिक स्थिति (Constitutional position of the Cantons)—बाईस कैण्टन अथवा यूँ कहिए कि पच्चीस कैण्टन—क्योंकि तीन कैण्टनों को अर्द्धकैण्टनों मे विभाजित कर दिया गया था और उन सभी अर्द्धकैण्टनों की अपनी-अपनी सरकारें हैं—जनसंख्या और क्षेत्रफल के अनुसार पूर्णतया असमान है। कैण्टनों के अधिकार और उनकी शक्तियाँ प्रायः अमेरिका के राज्यों के समान है और आस्ट्रेलिया के संघीय राष्ट्रमण्डल के भी समान है। स्विस सविधान का अनुच्छेद ३ स्पष्टतः आदेश देता है कि समस्त अवशिष्ट शक्तियाँ कैण्टनों को अर्प्यर्पित की जाती हैं, और यह भी कहा गया है कि कैण्टन अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य

1. Article 3

हैं। प्रत्येक कैण्टन का अपना अलग संविधान हैं और अपना अलग शासन-तन्त्र है और अपनी-अपनी अलग कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायव्यवस्था है और अपनी-अपनी राज्य-कोष व्यवस्था है और सिविल सेवा निकाय है। स्विटजरलैण्ड में कैण्टन ही स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का नियन्त्रण करते है।

पच्चीस कैण्टनों और अर्द्धकैण्टनो के सविधान आवश्यकत: संघीय सविधान के उपबन्धों के अनुकूल ही है। परिसघ (Confederation) ने कैण्टनो के संविधानों की गारंटी की है किन्तु शर्त यह है कि—

(क) कैण्टन के संविधान का कोई उपबन्ध सघीय संविधान के किसी उपवन्ध के विरुद्ध न पड़ता हो;

(ख) कैण्टनों के संविधान को प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली के अनुरूप सभी को राजनीतिक अधिकार प्रदान करने होगे; और

(ग) कैण्टनों के संविधान वहाँ की जनता को स्वीकार्य हों और यदि कभी उस प्रदेश की जनता का बहुमत उक्त संविधान मे कोई संशोधन करना चाहे तो उसके संशोधन के लिए आवश्यक कदम उठाना होगा। इन तीन मर्यादाओं के अन्तर्गत कैण्टन अपने-अपने संविधान बना सकते हैं और जब चाहें उनमें सशोधन किया जा सकता है। प्रारम्भ में कैण्टनों के संविधानों के बार-बार संशोधन हुए, और कई संविधानों का तो पूर्ण संशोधन करना पड़ा था। इन संशोधनों का फल यह हुआ है कि अब प्रायः प्रत्येक कैण्टन में समान राजनीतिक संस्थाएँ हैं और समान राजनीतिक अधिकार हैं; हाँ चार अर्द्धकैण्टनों में और एक कैण्टन मे, इस प्रकार पाँच एककों मे प्रजातन्त्र का स्वच्छ स्वरूप (Pure Democracy) है।

दो प्रकार के कैण्टन (Two types of Cantons)—कैण्टन दो प्रकार के हैं। निम्न पाँच कैण्टन, प्रजातन्त्र के स्वच्छ स्वरूप हैं—ओबवाल्डेन (Obwalden), निडवाल्डेन (Nidwalden), आन्तरिक एपेन्जिल (Appenzell Interior), एपेन्जिल वाह्य (Appenzell Exterior) और ग्लैरस (Glarus)। प्रथम दोनों अर्द्ध कैण्टनें है और वे दोनों मिल कर अन्टरवाल्डेन (Unterwalden), कैण्टन का निर्माण करते हैं। तृतीय और चतुर्थ भी अर्द्धकैण्टन है और वे दोनो मिल कर एपेन्जिल (Appenzell) नाम के कैण्टन का निर्माण करते है। ग्लैरस (Glarus) पूर्ण कैण्टन है। अर्द्धकैण्टन नाम के राज्य की स्थापना और विकास का कारण यह था कि इन कैण्टनों में आन्तरिक झगड़े इस सीमा तक पहुँच चुके थे कि वे सिवाय प्रादेशिक बँटवारे के अन्य किसी भी प्रकार निर्णीत नहीं हो सके। ओबवाल्डेन (Obwalden) और निडवाल्डेन (Nidwalden) दोनों ने अपनी सम्मिलित संसद् अथवा वार्षिक सभा लैण्ड्सजैमीन्ड (Landsgemeinde) को १४३२ मे भंग कर दिया। १५९२ में रिफार्मेशन अथवा धार्मिक आन्दोलन (Reformation) के फलस्वरूप एपेन्जिल के भी दो प्रादेशिक टुकड़े हो गए और एक अर्द्धकैण्टन कैथोलिकों (Catholics) का रहा और दूसरा प्रोटेस्टेण्टों (Protestants) का। शेष १९ कैण्टनों में प्रतिनिधिक प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली का प्रचलन है।

लैण्ड्सजेमीन्ड (Landsgemeinde)—ग्लैरस (Glarus) नाम के कैण्टन और चार अर्द्धकैण्टनों ने जो एपेन्जिल (Appenzell) और अण्टरवाल्डेन (Unterwalden) नाम के कैण्टनों के विभाजन के फलस्वरूप स्थापित हुए हैं, अब भी अपनी सारी राजनीतिक शक्ति अपनी पाँच सौ वर्ष पुरानी नागरिकों की उन्मुक्त सभा लैण्ड्सजेमीण्ड (Landsgemeinde) में स्थापित कर रखी है, जो विधि निर्माण करती है, और अधिशासी एवं प्रशासनिक अधिकारियों का चयन करती है। दूसरे शब्दों में सर्वसाधारण ही अपनी राजनीतिक प्रभु सत्ता का प्रत्यक्ष प्रयोग उन्मुक्त खुली सभा में स्वयं ही, बजाए अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम द्वारा, करते हैं।

उन्मुक्त खुली हवा में होने वाली सभा जिसको लैण्ड्सजेमीण्ड (Landsgemeinde) भी कहते हैं, प्रतिवर्ष रविवार के प्रातःकाल में अप्रैल या मई के महीने मे या तो राजधानी के सार्वजनिक मैदान में या पास के किसी चरागाह में होती है। सिद्धान्ततः सभी वयस्क पुरुष नागरिकों की उपस्थिति अनिवार्य होती है किन्तु व्यवहार मे ऐसा नही होता। उस सभा का सभापतित्व कैण्टन के शासन का प्रधान करता है और उस सभा का वातावरण एकदम गम्भीर होता है जिसमें प्रार्थनाएँ और ईश्वर-भक्ति के गीत गाए जाते हैं और कभी-कभी सामूहिक सौगन्धें (Collective Oaths) ली जाती हैं। इस सभा में न तो विरोध, न उत्तेजना, न किसी प्रकार के भावावेश का प्रदर्शन किया जाता है। सभा की समस्त कार्यवाही सुव्यवस्थित और गौरवपूर्ण होती है, और इस सभा को देखने के लिए प्रायः स्विट्ज़रलैण्ड के अन्य भागों में भी अनेक बच्चे आते है।

यह सभा (Landsgemeinde) सभासदों के उठे हुए हाथो को गिन कर और उन्ही को मत मान कर कैण्टन के शासन के प्रधान को तथा कार्यपालिका परिषद् के सदस्यों को तथा संघीय राज्य सभा अथवा उच्च सदन (Council of States) के लिए कैण्टन के प्रतिनिधियो को, न्यायाधीशों को तथा अन्य अधिकारियों को चुनती है। परम्परा यह है कि वर्तमान पदाधिकारी जब तक चाहें अपने-अपने पदों के लिए दुबारा चुन लिए जाते है। यही सभा, लेखा अथवा खाता को एवं आय-व्ययक (Budget) को स्वीकृति प्रदान करती है, साथ ही उन विधेयकों पर विचार करती है जो इसके सामने उपस्थित किए गए हों। इस सभा को कैण्टन के संविधान में भी परिवर्तन करने का अधिकार है।

कैण्टन के सांविधानिक ढाँचे में एक संसद् जिसको लैण्ड्रैट (Landrat) अथवा कैण्टन की परिषद् भी कह सकते हैं, होती है और एक कार्यपालिका, रीगेरंग्राट (Regierungsrat) अथवा कार्यकारिणी परिषद् (Council of States) भी होती है। संसद् अथवा लैण्ड्रैट (Landrat) चार वर्ष के लिए उन्मुक्त वार्षिक सभा (Landsgemeinde) के द्वारा नही चुनी जाती, अपितु अन्य निर्वाचकमण्डलों द्वारा चुनी जाती है। यह कैण्टन की परिषद् (Landrat) वास्तव में सहायक विधान सभा है और इसके सामने वे सब मामले आते हैं जो उन्मुक्त सभा (Landsgemeinde)

के सामने नहीं लाए जा सकते। साथ ही इसी के द्वारा अध्यादेश (Ordinances) पास किए जाते है, छोटे विनियोग स्वीकृत किए जाते है, यही सभा लेखा-परीक्षा करती है। अन्यान्य छोटे-मोटे अधिकारी भी यही चुनती है। यही (Landrat) विधान निर्माण के सम्बन्ध में पूरी तैयारी करती है और उसको उन्मुक्त सभा (Landsgemeinde) के सम्मुख उपस्थित करती है। यह कार्य-प्रणाली इसलिए अपनायी जाती है कि कही उन्मुक्त सभा जल्दी-जल्दी में गलत निर्णय न कर जाए। एक बार तो कैण्टन की परिषद् (Landrat) ने यह प्रयत्न किया था कि व्यवस्थापन सम्बन्धी सारे क्रिया-कलाप और अधिकार अपने हाथों में ले लो और उन्मुक्त सभा (Landsgemeinde) के समक्ष कोई भी विधान सम्बन्धी प्रश्न उसकी आज्ञा के बिना न जाने पाए। किन्तु पर्याप्त संघर्ष के बाद ही सर्वसाधारण अपने *व्यक्तिगत आरम्भक (Initiative) अधिकार* की रक्षा कर सके थे। अब यह नियम-सा बन गया है कि एक या दो नागरिक भी कोई विधेयक उपस्थित कर सकते है बशर्ते कि कैण्टन के अधिकारियो को इस सम्बन्ध में पूर्व सूचना दी जा चुकी हो।

रीगेरंग्राट (The Regierungsrat) अथवा कार्यकारिणी परिषद् (Administrative Council or Council of States) मे सात सदस्य होते है जिनको उन्मुक्त महासभा (Landsgemeinde) चुन कर भेजती है। यही कैण्टन की कार्यकारिणी परिषद् (Executive Council) है, और इस परिषद् का प्रधान लैण्डामान (Landamman) अथवा शासन का अध्यक्ष (Head of the Government) होता है। इस परिषद् का प्रधान, लैण्डामान (Landamman) ही उन्मुक्त महासभा (Landsgemeinde) का भी सभापतित्व करता है।

प्रतिनिधि कैण्टन
(Representative Cantons)

अन्य सभी कैण्टनों में गणतन्त्रीय प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का शासन प्रचलित है।

बृहत् परिषद (The Great Council)—समस्त व्यवस्थापन सम्बन्धी एवं प्रशासन के निरीक्षण सम्बन्धी अधिकार कैण्टन की एकल सदनात्मक (Unicameral) प्रतिनिधिक बृहत् परिषद् को सौंपे गए हैं जिसको कैण्टन की बृहत् परिषद् (Great Council) अथवा कैण्टन की परिषद् (Cantonal Council) भी कहते है। सभी कैण्टनों के विधानमण्डल परम्परानुसार एकल सदनात्मक ही हैं। चूंकि आरम्भक (Initiative) और जनमत-संग्रह (Referendum) ये दो ऐसे साधन अथवा उपकरण है जिनके द्वारा सर्वसाधारण का व्यवस्थापन के ऊपर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, इसलिए व्यवस्थापन के ऊपर द्वितीय सदन द्वारा परीक्षण (Check) और निरीक्षण की आवश्यकता नही समझी गई।

कैण्टनों के विधानमण्डलों की सदस्य-संख्या कैण्टनो की जनसंख्या की अपेक्षा अत्यधिक है। कुछ कैण्टनों में विधानमण्डलो के सदनों की संख्या संविधान ने निश्चित

कर दी है। उदाहरणतः, ज्यूरिच (Zurich) का संविधान अपने विधानमण्डल में ८० सदस्यों का उपबन्ध करता है। साधारणतः, किसी कैण्टन की जनसंख्या और उसके विधानमण्डल में निर्वाचित सदस्यों की संख्या के अनुपात में पर्याप्त अन्तर है; कहीं तो २५० निवासियों पर एक सदस्य चुना जाता है और कहीं ४,००० निवासियों पर एक सदस्य चुना जाता है। विधान सभाओं के सदस्यों की पदावधि में भी भेद है। अधिकतर कैण्टनों में यह पदावधि चार वर्ष है किन्तु कुछ कैण्टनों में यह अवधि एक वर्ष से लगा कर छः वर्षों तक है। किन्तु कैण्टनों में व्यवस्थापिका का जीवन-काल प्रायः लम्बा रखने की ओर लोगों का अधिक झुकाव है क्योंकि स्विस लोग जल्दी-जल्दी चुनाव करना उचित नहीं समझते। स्विस कैण्टन के विधानमण्डल में आवश्यकतः एक वार्षिक अधिवेशन अवश्य होना चाहिए जिसमें आय-व्ययक (Budget) पास किया जा सके। कुछ कैण्टनों में ऐसी भी प्रथा है कि सार्वजनिक बहुमत पर कैण्टनों के विधानमण्डल को भंग किया जा सकता है। किन्तु अब जब से सभी कैण्टनों में जनमत-संग्रह (Referendum) की प्रथा चालू हो गई है, अब अन्य किसी प्रकार से विधानमन्डल को भंग करने की आवश्यकता नहीं रह गई है। कैण्टनों में व्यवस्थापकों (Legislators) को निश्चित वेतन नहीं मिलता किन्तु नाममात्र को थोड़ा सा भत्ता प्रतिदिन के हिसाब से मिलता है।

कैण्टनों की शक्तियों और अधिकारों में निम्न विषय आते हैं—कैण्टन के प्रशासन का नियन्त्रण और पर्यवेक्षण, वार्षिक आय-व्ययक (annual budget), कर्ज और करारोपण के ऊपर नियन्त्रण, आपातकाल की घोषणा करने का अधिकार, और आवश्यकता आ पड़ने पर कैण्टन की सेनाओं का आह्वान, क्षमादान, अन्तःकैण्टन सन्धियों (Inter-Cantonal treaties) का अनुसमर्थन; देशीयकरण; अधिकतर कैण्टनों में प्रमुख न्यायाधीशों की नियुक्ति और ऐसे अन्य अधिकारियों की नियुक्ति जिनको शिक्षा, चर्च सम्बन्धी कर्त्तव्यों और बैंक व्यवस्था का प्रभार सौंपा गया हो।

जनमत-संग्रह और आरम्भक (Referendum and Initiative)—प्रत्येक प्रतिनिधिक कैण्टन ने सांविधानिक आरम्भक और अनिवार्य सांविधानिक जनमत-संग्रह की व्यवस्था की है। इसका यह अर्थ है कि संघीय संविधान की आज्ञा से प्रत्येक कैण्टन के लिए यह आवश्यक है कि यदि संविधान में कोई संशोधन या परिवर्तन अभीष्ट है तो उस संशोधन के लिए सर्वसाधारण की अनुमति अनिवार्य होगी।[1] संविधान में उस स्थिति में भी संशोधन हो सकता है, यदि कभी नागरिकों का पूर्ण बहुमत तदर्थ माँग करे।[2] किन्तु सभी कैण्टन संविधान के उपबन्धों से भी आगे बढ़ जाते हैं और वे व्यवस्थापन सम्बन्धी जनमत संग्रह भी करते हैं और कुछ अन्य प्रयोग भी करते हैं जो प्रत्येक कैण्टन में भिन्न प्रकार के हैं, जैसे आय-

1. Article 6.
2. *Ibid*, Article 6.

व्ययक सम्बन्धी जनमत-संग्रह (Budget referendum), अथवा ऐसी विधियों के लिए अनिवार्य जनमत-संग्रह जिनके द्वारा कुछ निश्चित राशि से अधिक का व्यय हो सकता है। सामान्य विधेयकों के सम्बन्ध मे आरम्भक (Initiative) की भी प्रथा है। इन लोकप्रिय उपकरणों के प्रयोग का फल यह है कि नागरिकों को एक वर्ष में चार बार, कभी आठ बार और कभी इससे भी अधिक बार मतदान करना पड़ता है और हर बार नागरिकों को कई-कई विषयो पर मतदान करना पड़ता है।

कैण्टन की कार्यपालिका शक्ति (Cantonal Executive Power)— प्रत्येक कैण्टन का शासन एक सामूहिक कार्यपालिका (Collegial executive body) द्वारा होता है जिसको स्विट्ज़रलैण्ड के जर्मन भाषा-भाषी क्षेत्र में गवर्नमेंट कौंसिल (Government Council) कहते हैं और फ्रेंच भाषा-भाषी क्षेत्र मे कौंसिल ऑफ स्टेट (Council of State) कहते हैं। कार्यपालिका की सामूहिक पद्धति स्विस परम्पराओं के अनुकूल है और समस्त स्विट्ज़रलैण्ड में, कैण्टनों में और संघ में भी यही प्रचलन है। इस गवर्नमेंट कौंसिल अथवा कौंसिल ऑफ स्टेट मे ५ से लेकर ११ तक सदस्य होते हैं और इसमें कैण्टन के सभी दलों के प्रतिनिधि प्रायः सम्मिलित होते हैं। कभी-कभी प्रयत्नपूर्वक सभी दलों को आनुपातिक प्रतिनिधित्व दिया जाता है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि कैण्टन की कार्यपालिका एक प्रकार की कामचलाऊ सभा (Business board) है जो राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित नहीं होती। इस कार्यपालिका के सदस्य एक वर्ष से लेकर पांच वर्ष तक के लिए चुने जाते हैं; किन्तु अधिकतर कैण्टनो मे इसका कार्य-काल चार वर्ष है।

कार्यकारिणी परिषद् का चेयरमैन अथवा लैण्डामान (Landamman) प्रायः कभी भी एक वर्ष से अधिक के लिए नहीं चुना जाता, और उसकी एक वर्ष की पदावधि समाप्त हो जाने पर वह तुरन्त ही पुनः नहीं चुना जा सकता। कुछ कैण्टनों में चेयरमैनों का चुनाव कैण्टनों के विधानमण्डलो द्वारा किया जाता है, किंतु कुछ कैण्टनों में चेयरमैन को कार्यकारिणी परिषद् (The Regierungsrat) के सदस्य भी चुनते है और शेष कैण्टनों में सर्वसाधारण ही चुनते हैं। किन्तु चेयरमैन को कोई विशेष अधिकार प्राप्त नही हैं। सत्य यह है कि चेयरमैन भी कार्यकारिणी के अन्य सदस्यों की ही भांति एक सदस्य होता है।

कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य (Councillors) प्रायः दुबारा चुन लिए जाते हैं और स्विस परम्परा यह है कि अच्छे अधिकारियों को उस समय तक अपने पदों से नहीं हटने देना चाहिए जब तक कि उनका स्वास्थ्य ठीक रहे और उनमे काम करने का जोश रहे। इसलिए यद्यपि पार्षदों की पदावधि अल्पकालिक होती है, फिर भी इस पद को आजीवन पद समझा जाता है। कैण्टनो के पार्षदों का काम भी लगभग उसी प्रकार का है जिस प्रकार का कि संघीय पार्षदों (Federal Councillors) का। सभी पार्षदों में विभिन्न विभाग वितरित कर दिए जाते हैं, और प्रायः

प्रत्येक पार्षद एक विभाग का अध्यक्ष होता है। इन पार्षदों को कैण्टन के विधानमण्डलों में उपस्थित होना पड़ता है, और कैण्टन के प्रशासन के सम्बन्ध में प्रतिवेदन करना पड़ता है, वाद-विवाद में भी भाग लेना पड़ता है, आवश्यक विधेयकों का प्रस्ताव करना पड़ता है और जब विधानमण्डल इस दिशा में आज्ञा दे तो विधेयक का प्रारूप भी इन्ही को तैयार करना पड़ता है। वे भी संघीय पार्षदों की तरह उस स्थिति में त्याग-पत्र नहीं देते यदि उनके किसी प्रस्ताव को विधानमण्डल अस्वीकृत कर देते है

इसमें संदेह नहीं कि कैण्टन की कार्यकारिणी परिषद् कैंटन के विधानमण्डल के अधीन है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि पार्षदों को अपनी स्थिति और योग्यता के कारण कैंटन की वृहत् परिषद् (Great or Cantonal Council) में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। कार्यकारिणी परिषद् को अपने लम्बे अनुभव और पद के स्थायित्व के कारण ऐसी शक्ति और अधिकार प्राप्त हो जाता है, जिसके कारण कार्यकारिणी परिषद्, कैंटन के विधानमण्डल को आवश्यक दिशा प्रदान करती है।

नगर और जिले
(Communes and Districts)

नगर (The Communes)—आजकल स्विट्ज़रलैण्ड में ३११८ नगर अथवा कम्यून है जो क्षेत्रफल और जनसख्या के हिसाब से एक-दूसरे से भिन्न है। इन कम्यूनों को, उन मर्यादाओं के अन्दर जो कैण्टनों के संविधानों ने लगाई हो, अथवा कैण्टनों की संविधियो (Statutory Laws) ने लगाई हों, स्वशासन का अधिकार है। उन शक्तियों और अधिकारो के प्रयोग मे, जो इन कम्यूनों को सौंपे गये हैं—जैसे शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, निर्धनों को साहाय्य (Poor relief), जल-व्यवस्था, पुलिस आदि—कम्यूनों (Communes) को उतनी ही स्वायत्तता प्राप्त है और उनके प्रशासन का ढाँचा भी उसी प्रकार का है जिस प्रकार का कि कैण्टनो का है। किसी कम्यून की समस्त वयस्क पुरुष नागरिको की नगरपालिका (Assembly) में समस्त स्थानीय मामलों की देख-भाल और सभी मामलों से सम्बन्धित निर्णय और कम्यून के मुख्य अधिकारियों की नियुक्ति आदि से सम्बन्धित अधिकार निहित रहते है। नैत्यिक प्रशासनिक कार्यवाही के लिए और कम्यून के नियमों को क्रियाकारी करने के लिए सभी कम्यून-निवासी एक नगर-परिषद् (Council) का चुनाव करते है। स्विट्ज़रलैण्ड के फ्रेंच भाषा-भाषी क्षेत्र में और विशेषकर बड़े-बड़े कम्यूनों मे सभी नागरिकों की सभा अपना कार्य सीधे स्वयं नहीं करती। इसके विपरीत समस्त नागरिकों की सभा कम्यून या नगर-परिषद् चुन लेती है और ये नगर-परिषदें ही नगर के नागरिकों की बडी सभा की ओर से सारे काम-काज चलाती हैं। इसलिए फ्रांस के कम्यूनों या नगरों मे दो परिषदें होती है जिनमें एक बड़ी होती है जो सामान्य नीति निर्धारित करती है और सभी महत्त्वपूर्ण मामलों का निपटारा करती है। द्वितीय परिषद् जो कुछ छोटी कार्यकारिणी परिषद् या समिति होती है और जिसका अध्यक्ष मेयर

(Major) होता है, उसको कम्यून के नियमों और विधियों की क्रियान्विति के सम्बन्ध में उत्तरदायित्वों का निर्वहन करना पड़ता है। कम्यून की बड़ी परिषद् को हम नगर संसद् (Municipal Parliament) भी कह सकते हैं और इसके निर्णय प्राय: जनमत संग्रह के द्वारा भी किए जाते है।

ज़िले (The Districts)—कैंण्टन और कम्यून के अन्तर्वर्ती एक राजनीतिक संस्था और है जिसे ज़िला (District) कहते हैं। किन्तु कुछ स्थानों को छोड़कर ज़िलों में प्राय: राजनीतिक संस्थाएँ उस रूप में विकसित नहीं हुई हैं जिस प्रकार कि कम्यूनों में हैं। ज़िला तो केवल एक प्रशासनिक इकाई मात्र है। ज़िले के मुख्य अधिकारी का चुनाव सर्वसाधारण के द्वारा किया जाता है और कुछ स्थानों में ज़िले के मुख्य अधिकारी की सहायता के लिए एक ज़िला परिषद् होती है जिसका काम मन्त्रणा देना है। ज़िले का मुख्य अधिकारी, ज़िले में, कैंण्टन के शासन का प्रतिनिधि है और वह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की सहायता से कैंण्टन के शासन की आज्ञाओं की क्रियान्विति कराता है और विधियों का पालन कराता है और यही एक प्रकार से कैंण्टन और कम्यून के बीच की कड़ी है जो कैंण्टन और कम्यून को जोड़ता है।

स्विट्ज़रलैण्ड के स्थानीय स्वशासन में कतिपय ऐसी विशेषताएँ हैं जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। प्रत्येक स्विस नागरिक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले किसी कम्यून की नागरिकता प्राप्त करे तभी वह कैंण्टन की नागरिकता प्राप्त कर सकता है और उसके बाद स्विट्ज़रलैण्ड की नागरिकता प्राप्त कर सकता है। किसी भी विदेशी का स्विट्ज़रलैण्ड में देशीयकरण उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि कोई कम्यून उसको अपना नागरिक बनाना स्वीकार न कर ले। द्वितीयतः, प्रत्येक, नागरिक की जन्म-कम्यून (Home Commune) ही उसके लिए और उसके परिवार के लिए उत्तरदायी है। "संघीय संविधान मान लेता है कि यदि कोई परिवार पूर्ण रूप से दरिद्र और निर्धन हो जाए तो उस परिवार का जन्म-कम्यून (Home Commune) उस परिवार का पोषण करेगा, चाहे वह परिवार कहीं भी रहता हो, यद्यपि उसका जन्म-कम्यून (Home Commune) उस परिवार को आदेश दे सकता है कि वह अपने राजनीतिक घर को लौट आवे।"[1] इसके अतिरिक्त प्रत्येक कम्यून की अपनी अलग जागीर (Estate) होती है जो उस जागीर अथवा सम्पत्ति से भिन्न होती है जिसको सभी नागरिक कर देते है। इस जागीर (Estate) का प्रबन्ध कम्यून के सदस्य करते है न कि कम्यून के निवासी। विधि के अनुसार एक तो स्थानीय कम्यून होती है जिसमें प्रत्येक नागरिक को वोट के समान अधिकार होते है और उस स्थानीय कम्यून मे बसने के तीन मास पश्चात् उसको कर देना आवश्यक हो जाता है; और दूसरी उस नागरिक की जन्म-कम्यून (Commune of origin, or Home Commune) होती है।[2] इसके अतिरिक्त अनेकों मुख्य नगरपालिकाएँ (More

1. Rappard, W. E.: The Government of Switzerland, op. cit., p. 53.
2. *Ibid.*

important municipalities) बहुत से आर्थिक कार्यक्रम अपने हाथों में ले लेती हैं जिसको समाजवादी प्रवृत्ति कहा जा सकता है। स्विट्ज़रलैण्ड में इस प्रकार के नागरिक समाजवाद का विकास, अब स्विट्ज़रलैण्ड के राजनीतिक जीवन का एक आवश्यक अंग बन गया है, यद्यपि देश में कोई भी ऐसी समाजवादी संस्था या समाजवादी दल (Socialist Party) नहीं है जिसने अपना विशिष्ट स्थान देश की राजनीति में बनाया हो।

स्विट्ज़रलैण्ड के स्थानीय स्वशासन की महत्ता और उसके स्वरूप की समीक्षा करते हुए लॉर्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने कहा था, "कम्यून (Commune), स्विट्ज़रलैण्ड के प्रशासनिक भवन का न केवल आधार है बल्कि सर्वसाधारण ने कम्यूनों के प्रशासनिक व्यवहार से जो शिक्षा प्राप्त की है, वही स्विस लोगों की उस सारी सफलता का कारण है जो उन लोगों ने अपनी लोकतन्त्रीय संस्थाओं को चलाने में प्राप्त की है। यूरोप के किसी भी देश में प्रशासन का समस्त उत्तरदायित्व इस सीमा तक सर्वसाधारण के हाथों में नहीं छोड़ दिया गया है। स्वयं स्विस लोग इस पर बल देते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि इस प्रशासन के द्वारा नागरिकों को सार्वजनिक कर्त्तव्यों का ज्ञान होगा, उनमें नागरिकों के कर्त्तव्यों की भावना का उदय होगा और स्थानीय स्वशासन के द्वारा शासन जो कुछ भी करेगा उससे समस्त जाति का लाभ होगा और इससे न तो स्थानीय हितों को कोई हानि हो सकती है, न केन्द्रीय शासन को इस प्रकार का अवसर मिलेगा कि वह केन्द्रीय अधिकारों का बहुत सख्ती से प्रयोग करे अथवा केन्द्रीय सत्ता एककों के ऊपर अनुचित रूप से छा जाए।"[1]

अध्याय ४

स्विस संघीय शासन का स्वरूप
(The Frame of National Government)

संघीय कार्यपालिका
(The Federal Executive)

कार्यपालिका का संगठन (Organisation of the Executive)—स्विट्जरलैंड के परिसंघ की सर्वोच्च कार्यपालिका शक्ति और समस्त देश के शासन-संचालन का भार एक सात सदस्यों के निकाय (Commission) में निहित है जिसको संघीय परिषद् (Bundesrat, or Federal Council) कहते हैं और जो बर्न (Berne) में अवस्थित है। इस सात सदस्यों वाली संघीय परिषद् को संघीय संसद् (Federal Assembly) चुनती है। संघीय संसद् दो सदनों की संसद् है जिसके दोनों सदन राष्ट्रीय परिषद् (National Council) और राज्य-सभा (Council of States) हैं। संघीय परिषद् (Federal Council) का एक सदस्य राष्ट्रीय परिषद् द्वारा चुना जाता है जो संघीय परिषद् का चेयरमैन होता है और वही संघ अथवा परिसंघ का प्रधान होता है और दूसरा संघीय पार्षद उप-प्रधान चुन लिया जाता है।

संघीय परिषद् का कार्यकाल उतना ही होता है जितना कि राष्ट्रीय परिषद् (National Council) का; क्योंकि संघीय परिषद् प्रत्येक नई राष्ट्रीय परिषद् के प्रारम्भ में चुनी जाती है; और प्रत्येक आम चुनाव के बाद फिर नये सिरे से चुनी जाती है। सामान्यतः चार वर्ष की पदावधि में यदि संघीय परिषद् में कोई स्थान रिक्त हो जावे, तो राष्ट्रीय परिषद् की अगली बैठक में वह रिक्त स्थान पदावधि के शेष समय के लिए भर लिया जाता है। यद्यपि संविधान की ऐसी आज्ञा नहीं है, फिर भी संघीय पार्षद (Federal Councillors) प्रायः सदैव संघीय संसद् (Federal Assembly) के सदस्य होते है। जब संघीय संसद् के कोई सदस्य संघीय परिषद् में चुन कर चले जाते हैं, उस समय उनको संसद् की सदस्यता त्यागनी पड़ती है। संविधान का उपबन्ध है कि "संघीय परिषद् में एक कैण्टन से एक से अधिक सदस्य[1] नहीं होने चाहिएँ।" इसके विपरीत परम्परा यह है कि बर्न (Berne), ज्यूरिच (Zurich) और वौड (Vaud) नाम के तीनों कैण्टनों से एक-एक पार्षद अवश्य लिया जाए। किन्तु यह परम्परा १८७५ से १८८१ के काल में और पुनः १९४२ से १९४७ तक के काल में टूट गई। अब ऐसी सामान्य व्यवस्था हो गई है कि संघीय परिषद् में चार जर्मन भाषा-भाषी पार्षद हों, दो पार्षद फ्रैंच भाषा-भाषी हों और एक पार्षद टिसिनो नाम के इटालियन भाषा-भाषी कैण्टन से लिया जाए। इस प्रकार की पार्षद वितरण

1. Article 94.

हैं। सामान्यतः संघीय पार्षदों का औसत कार्य-काल दस वर्ष से अधिक है किन्तु सिन्योर गिसेप मोटा (Sigaor Guiseppe Motta) जैसे कई पार्षद हो चुके हैं जिन्होंने पर्याप्त-लम्बे काल तक (१६११-१६४०) संघीय परिषद् की सदस्यता भोगी।

इस लम्बी पदावधि के दो मुख्य कारण हैं। एक तो यह है कि स्विस लोग इस बात को अत्यधिक अनुचित समझते हैं कि मतभेद के कारण किसी योग्य और सफल प्रशासन की सेवाओं से वंचित रहा जाए। डा० डायसी (Dr. Dicey) स्विट्ज़रलैण्ड की संघीय परिषद् की संयुक्त-स्कन्ध-प्रमण्डल के संचालकगण (Board of Directors of Joint Stock Company) से तुलना करता है और कहता है कि संघीय परिषद् के सदस्यों में परिवर्तन करने की उस समय तक आवश्यकता नहीं है जब तक कि वे लोग कुशलतापूर्वक कार्य कर रहे है जिस प्रकार कि उक्त प्रमण्डल के सचालकगणों मे उस समय तक कोई परिवर्तन अवांछनीय है जब तक कि व्यापार नफे के साथ और उचित रीति से चलता रहता है। द्वितीयतः, जब कोई पार्षद या तो मर जाता है या त्याग-पत्र दे देता है, तो उसके स्थान की पूर्ति करने वाले लोगों की संख्या भी अधिक नहीं होती क्योंकि व्यवहारतः प्राय. बिना किसी अपवाद के पार्षदों का चुनाव संघीय ससद् के सदस्यों मे से ही होता है और यह ससद् कोई बहुत बडा निकाय नहीं है। इसके अतिरिक्त संविधान की आज्ञा है कि किसी एक ही कैण्टन[1] के दो पार्षद संघीय परिषद् में, नही हो सकते; और प्रथा यह है कि बर्न (Berne), ज्यूरिच (Zurich) और वोड (Vaud) नाम के तीनो कैण्टनों में से एक-एक पार्षद अवश्य होना चाहिए। अन्त में पार्षद के पद का वेतन भी आकर्षक नहीं है और पद से जुड़ी हुई सुविधाएँ भी थोड़ी ही हैं।

संघीय प्रशासन का संगठन (Organisation of Federal Administration)—समस्त संघीय प्रशासन का कार्य सात विभागों मे बँटा हुआ है। ये सात विभाग सात संघीय पार्षदों की संख्या के अनुरूप ही हैं। सात पार्षदों (Councillors) में सातो विभागों का वितरण आपसी समझौते द्वारा हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक पार्षद एक अलग विभाग का अध्यक्ष होता है और चूँकि पार्षद की पदावधि पर्याप्त लम्बी होती है, वह सुविधा और बचत के हिसाब से लगातार एक ही विभाग का अध्यक्ष बना रहता है। हाँ, नाममात्र को प्रति वर्ष उसका उसी विभाग के लिए नामाकन अवश्य कर दिया जाता है।

यद्यपि संघीय परिषद् का सारा कार्य-कलाप विभिन्न विभागों में बाँट दिया गया है और इस परिषद् के सदस्य विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते हैं फिर भी सविधान की आज्ञा है कि "सभी कार्यपालिका निर्णय संघीय परिषद् के नाम में और उसी की आज्ञा से किए जाएँगे।"[2] इस उपबन्ध के द्वारा संघीय परिषद् का स्वरूप सामूहिक हो जाता है। इसके अनुसार परिषद् सम्मिलित रूप से उत्तरदायी निकाय बन जाती

1. Article 95.
2. Article 103.

है। पुनः संविधान आदेश देता है कि संघीय परिषद् उसी समय कोई निर्णय या अन्य कार्यवाही करेगी जबकि उसके कम-से-कम चार पार्षद (Councillors) उपस्थित हो।"[1] संघीय प्रशासन के सम्बन्ध मे १९१४ की विधि में आदेश दिया गया है कि संघीय परिषद् (Federal Council) के विचार-विनिमय एकान्त में अथवा असार्वजनिक होंगे, और निर्णय हाथ उठा कर और हाथ गिन कर बहुमत के आधार पर होंगे और निर्णय के पक्ष में कम-से-कम तीन मत होने चाहिएँ और उपस्थित पार्षदों का बहुमत, बहुमत वाले पक्ष की ओर होना चाहिए और यह भी उपबन्धित किया गया कि संघीय परिषद् के प्रधान का मत निर्णायक होगा।[2]

संघीय परिषद् के सम्मिलित उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे आलोचना की गई है और कहा गया है कि सात संघीय पार्षद तो हैं किन्तु सच्चे अर्थों में संघीय परिषद् का अभाव है। यह ठीक है कि चार विभिन्न दलों के सदस्य कठिनता से सम्मिलित नीति निर्धारित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त पार्षदों के लिए आवश्यक नहीं कि वे एक दूसरे का समर्थन करें। उनके लिए यह भी आवश्यक नही है कि वे एक से विचार रखते हों; और प्रायः ऐसे अवसर आए हैं जब कि परिषद् के सदस्यों ने संसद् मे एक दूसरे का उस समय विरोध किया है जब किसी नीति के विषय में तीव्र मतभेद हो। इसके अतिरिक्त सभी निर्णय बहुमत के द्वारा होते हैं। फिर भी परिषद्.. के सदस्य अपने-अपने दलों के सिद्धान्तों पर अधिक हठ नही करते। इसलिए यह सब, कुछ तो स्विस जाति की समझौतावादी आदत के कारण और कुछ बहुमत के प्रति आदर-भाव के कारण निभ जाता है। दूसरे, पार्षद यह भी जानते हैं कि सब महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का अन्तिम निर्णय संसद् (Assembly) द्वारा ही होता है जो कि सर्वप्रभुत्व सम्पन्न निकाय है और पार्षद भी जिसके सेवक हैं।

राष्ट्रपति या अध्यक्ष (The President)—यह अधिकारी जिसका सांविधानिक पद, 'परिसंघ का राष्ट्रपति अथवा अध्यक्ष' (President of the Confederation) है, सात संघीय पार्षदो में से एक पार्षद ही होता है और संघीय संसद् (Federal Assembly) उसको एवं उपाध्यक्ष (Vice President) को एक वर्ष के लिए चुन कर नामांकित करती है। स्विस प्रजातन्त्र की यह मान्यता है कि स्विस संघीय परिषद् के सदस्य लोग बारी-बारी से अध्यक्ष-पद के लिए नामांकित किए जाएँ और इस सम्बन्ध में संविधान स्पष्टतया उपबन्धित करता है कि अवकाश ग्रहण करने वाला अध्यक्ष (President) पुनः उसी वर्ष न तो अध्यक्ष होगा न उपाध्यक्ष; और उसी प्रकार वही सदस्य दो लगातार वर्षों तक उपाध्यक्ष नहीं चुना जाएगा।[3] प्रथा यह है कि उपाध्यक्ष (Vice President) ही अध्यक्ष का पद ग्रहण करता है और ये दोनों पद संघीय परिषद् के सदस्यों को बारी-बारी से ज्येष्ठता के आधार पर प्राप्त होते है। नए संघीय पार्षद अपने वरिष्ठों के नीचे काम करते रहते हैं तब कहीं जाकर राष्ट्रपति

1. Article 100.
2. Articles 4, 6 and 7 of the Law of 1914.
3. Article 98.

या अध्यक्ष बन पाते हैं और जो एक बार अध्यक्ष हो लेते है वे राष्ट्रपति या अध्यक्ष बन चुकने के बाद फिर वरीयता की सूची मे सबसे नीचे पहुंच जाते हैं। इससे अर्थ निकलता है कि कोई पार्षद एक बार से अधिक तो अध्यक्ष पद पर पहुँच सकता है किन्तु उस पद पर लगातार एक वर्ष से अधिक नही बना रह सकता। उदाहरणार्थ एम० गिसेप मोटा (M. Guisseppe Motta) पाँच बार अध्यक्ष बना था।

यद्यपि परिसंघ का अध्यक्ष एक अत्यन्त गौरवयुक्त पद है और अध्यक्ष को अपने सहयोगियों की अपेक्षा कुछ वरीयतां दी जाती है, फिर भी वह वरीयता केवल एक औपचारिक वरीयता है। वह किसी भी हालत मे राष्ट्र का प्रधान नही है। वह समकक्षो मे प्रथम (Primus inter Pares) भी नही है क्योकि एक वर्ष के बाद वह अन्य संघीय पार्षदो के ही समान हो जाता है। न वह मुख्य प्रशासक ही है और उसको अपने सहयोगियों की अपेक्षा कोई विशिष्ट अधिकार प्राप्त नही है। वह देश के प्रशासन के लिए अन्य पार्षदों की अपेक्षा किसी भी प्रकार अधिक उत्तरदायी नही है। समस्त निर्णय संघीय परिषद् (Federal Council) ही एकल सत्ता (Single Authority) के रूप में करती है। राष्ट्र का अध्यक्ष तो सामान्य चेयरमैन मात्र है और वह संघीय परिषद् (Federal Council) की बैठकों का सभापतित्व अवश्य करता है। चेयरमैन होने के नाते उसको निर्णायक मत (Casting Vote) का अधिकार है और वह भी उसी स्थिति में जबकि दोनों पक्षों के मत बराबर पड़े हों। जो कुछ अधिकारी सत्ता (Official Authority) का वह उपयोग करता है, वह सब उसको सात विभागों में से एक विभाग के अध्यक्ष होने के नाते प्राप्त होती है। उसका वेतन भी उसके अन्य सहयोगियों के समान होता है। हाँ, अतिथियों के मनोरंजन में होने वाले व्यय के लिए ३,००० फ्रैंक का अतिरिक्त भत्ता उसे अवश्य मिलता है। रहने के लिए उसके पास न तो कोई विशाल सरकारी प्रासाद है और न ही उसके पास कोई सरकारी कार है। अत: स्विस लोगों का अपने तात्कालिक (Just Now) अध्यक्ष का नाम भूल जाना अस्वाभाविक न होगा भले ही उन्हे संघीय परिषद् के अधिकांश सदस्यों के नाम याद रहें।

यदि स्विट्जरलैण्ड के परिसंघ के राष्ट्रपति अथवा प्रधान की ऐसी ही शक्तियाँ हैं, तो फिर अवसर पूछा जाता है कि राष्ट्रपति के पद की आवश्यकता ही क्या है। उसका उत्तर सहज है। कुछ ऐसे औपचारिक कर्त्तव्य हैं जैसे महाराजाओं अथवा अन्य देशों के आयुक्तों का आदर-सत्कार जिनको संघीय परिषद् के सातो आदमी एक साथ नही कर सकते। इसके अतिरिक्त कुछ औपचारिक राष्ट्रीय कर्त्तव्य हैं जिनको करने के लिए भी किसी एक व्यक्ति की आवश्यकता है। १९१४ के संघीय प्रशासन के संगठन के सम्बन्ध में जो विधि (Law on the Organization of Federal Administration of 1914) स्वीकृत हुई उसमें राष्ट्रपति के कर्त्तव्यों का उल्लेख है। इस विधि ने राष्ट्रपति को अत्यन्त मर्यादित आपातकालिक शक्तियाँ प्रदान की हैं; सामान्य से निरीक्षक अधिकार प्रदान किए हैं और वही समस्त संघीय चांसलरी (Federal Chancellory) के लिए उत्तरदायी है। उसी विधि मे यह भी दिया गया

है कि राष्ट्रपति ही देश में और विदेशों में परिसंघ का प्रतिनिधि और अधिवक्ता है। प्रारम्भ में उस प्रथा के अनुसार, जिसको राष्ट्रपतीय विभाग कहते हैं, परिसंघ का राष्ट्रपति ही विदेश विभाग का भी अध्यक्ष होता था। किन्तु राष्ट्रपति के प्रतिवर्ष बदल जाने से विदेश विभाग भी संघीय परिषद् के सदस्य में बारी-बारी से घूमता रहता था। इसका फल यह होता था कि प्रशासन सम्बन्धी एक विभाग के संचालन और निर्देशन में निरन्तरता अथवा अविच्छिन्नता नहीं थी यद्यपि इसी विभाग अर्थात् परराष्ट्र विभाग में ही सबसे अधिक निरन्तरता और अविच्छिन्नता की आवश्यकता है। संघीय परिषद्-सदस्य न्यूमर ड्रोज (Numar Droz) के प्रभाव से, विदेश विभाग को राष्ट्रपतीय विभाग से अलग रखने का प्रयत्न किया गया और इसका परीक्षण १८८७ से १८९४ के काल में किया गया। १९१५—१९१७ तक पुनः यह प्रयोग किया गया और १९२० से तो लगातार यह स्वीकार किया गया है। आजकल कोई संघीय पार्षद (Federal Councillor) उसी विभाग में अवसर प्राप्त करने के समय तक बना रह सकता है जिसमें सबसे पहले उसकी नियुक्ति हुई थी।

संघीय परिषद् की शक्तियाँ (*Powers of the Federal Council*)—संविधान के अनुच्छेद १०२ में संघीय परिषद् की शक्तियों की एक लम्बी सूची दी हुई है जो निम्न हैं—

(१) संघीय परिषद् (Federal Council) स्विस परिसंघ की सर्वोच्च कार्यकारी सत्ता है और संघीय विधियों और आज्ञाओं के अनुसार समस्त परिसंघ के प्रशासन को नियन्त्रित करती है।

(२) संघीय परिषद् का यह उत्तरदायित्व है कि परिसंघ के संविधान की आज्ञाओं, विधियों और राजाज्ञाओं और संघीय सन्धियों का यथावत् पालन हो। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों की क्रियान्विति के लिए संघीय शासन अपने अधिकारियों की *नियुक्ति नहीं करता। ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति और ऐसी सन्धियों की क्रियान्विति* नियमतः कैण्टनों की सरकारें करती हैं। संघीय परिषद् को अधिकार है कि यदि उसके पास ऐसा विश्वास करने का कारण है कि कैंटन की सरकार संघीय विधियों, राजाज्ञाओं और अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों की न्याय्य क्रियान्विति में सहयोग नहीं देती तो वह हस्तक्षेप करे और उचित कार्यवाही करे। इस सम्बन्ध में उचित कार्यवाही *करने के लिए संघीय परिषद् अपनी ओर से भी पहल कर सकती है* अथवा यदि किसी को कोई शिकायत हुई हो और उसकी ओर से अपील आई हो, उस पर भी कार्यवाही की जा सकती है; किन्तु शर्त यह है कि अपील इस प्रकार की न हो कि वह संविधान के अनुच्छेद ११३ के अन्तर्गत संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) के अधिकार-क्षेत्र में जाती हो। उन विवादों की श्रेणियों के सम्बन्ध में जो *संघीय न्यायाधिकरण के अधिकार-क्षेत्र में ही आते हैं*, संघीय परिषद् (Federal Council) अपनी ओर से आरम्भ करके ऐसी कार्यवाही कर सकती है जिससे संविधान की आज्ञाओं का पालन आवश्यक हो जाए और जिससे गैर-कानूनी कार्यवाही बन्द हो जाए और यदि सम्भवतः उस कार्यवाही से हानि हो गई हो तो उस हानि की भी

पूर्ति हो जाए; किन्तु इस कार्यवाही का उस अपील पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा जो अन्ततोगत्वा संघीय न्यायाधिकरण में न्यायतः जा सकती है।[1]

संघीय परिषद् ने अपने इस अधिकार का प्रयोग बड़ी ही युक्ति और विवेक के साथ किया है और इस सम्बन्ध में संविधान के निर्वचन में उदारता से काम लिया गया है। जब कभी ऐसे भी अवसर आए हैं कि कैण्टन की ओर से पर्याप्त अवज्ञा प्रदर्शित की गई है, तब भी संघीय परिषद् ने जिस प्रकार सम्बन्धित कैण्टन को बाध्य किया और जिस प्रकार के अंकुश कैण्टन के विरुद्ध प्रयोग किए गए, वे गाधीवादी कार्यवाही (Gandhian Technique) की श्रेणी में आते हैं। कैण्टन को जो आर्थिक सहायता संघीय शासन से मिलती है उसको बन्द कर दिया जाता है और सशस्त्र सेनाएँ भेज दी जाती हैं "जो अपना काम बिना खून बहाए पूरा करती हैं क्योंकि ये सेनाएँ न तो जनता को लूटती हैं, न आग लगाती हैं, न किसी को मारती हैं बल्कि शान्तिपूर्वक कैण्टन में भेज दी जाती हैं और उन सेनाओं का व्यय कैण्टन को देना पड़ता है और शनैः-शनैः ये सेनाएँ और इनका व्यय-भार कैण्टन के ऊपर आ पड़ता है और कैण्टन के दिमाग खुद-ब-खुद दुरुस्त हो जाते हैं। निश्चय ही यह लोगों को विधि के आज्ञाकारी बनाने की दिशा में नया प्रयोग है, किन्तु मितव्ययी स्विस के लिए यह अत्यन्त प्रभावी प्रयोग सिद्ध हुआ है।"[2]

(३) संविधान के उपबन्ध के अनुसार कैण्टनों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने संविधानों और तत्सम्बंधी संशोधनों को संघीय संसद् (Federal Assembly) के समक्ष रखें और स्वीकृत करावें। इसका यह अर्थ है कि संघीय संसद् को आदेश देना होगा और उक्त संविधान अथवा तत्सम्बन्धी संशोधन को या तो स्वीकृत करना होगा अथवा अस्वीकृत करना होगा। संघीय परिषद् का यह कर्त्तव्य है कि वह कैंटनों के संविधानों से सम्बन्धित संघीय संसद् की स्वीकृति का पर्यवेक्षण करे।[3] यह स्वीकृति (guarantee) दे दी जाती है किन्तु शर्त यह है कि (१) कैण्टन का संविधान किसी प्रकार संघीय संविधान के उपबन्धों के विरुद्ध न हों, और (२) कैण्टन की संस्थाएँ प्रतिनिधिक हों और प्रजातन्त्रात्मक हो, और (३) कैण्टनों की राजनीतिक संस्थाएं सर्वसाधारण की इच्छा की प्रतीक हों।

(४) संघीय परिषद् विधेयकों और अन्य विधि प्रस्तावों को संघीय संसद् (Federal Assembly) के समक्ष उपस्थित करती है और उन प्रारम्भिक विधेयकों अथवा प्रस्तावों पर अपना मत व्यक्त करती है जो राष्ट्रीय परिषद् अथवा राज्य सभा (National Council or Council of States) अथवा कैण्टनों ने इसके सम्मुख विचारार्थ भेजे हों। सामान्य प्रक्रिया यह है कि संघीय परिषद् एक संदेश अथवा प्रतिवेदन भेजती है और उसी के साथ प्रारूप भेजती है और संघीय संसद् से उसी प्रारूप

1. Hughes, C. : The Federal Government of Switzerland, op. cit., p. 112.

2. Lowell, A. L. : Government and Parties in Continental Europe, op. cit., Vol. II, p. 197.

3. Article 102, Section 3.

के अनुसार कार्यवाही करने की आशा व्यक्त की जाती है। यही प्रारूप वह आधार प्रस्तुत करता है जिस पर संसद् के दोनों सदनों में विचार और वाद-विवाद होगा। इस प्रकार संघीय परिषद् विधेयक का सूत्रपात करती है और संघीय संसद् इस विधेयक के स्वरूप में संशोधन करती है। विधेयक प्रारम्भक के द्वारा सर्वसाधारण के द्वारा भी पुरःस्थापित किये जा सकते हैं और संसद् के बहुमत दल के द्वारा भी। संघीय संसद् के किसी भी सदस्य की इच्छा पर संसद् ऐसा प्रस्ताव पास कर सकती है और संघीय परिषद् से प्रार्थना कर सकती है कि वह प्रस्तावित विषय की ओर ध्यान दे और तदनुसार एक विधेयक प्रस्तुत करे। संघीय परिषद् प्रायः संसद् के किसी भी सदन को अथवा कैण्टन को किसी विधेयक के प्रारूप अथवा तत्सम्बन्धी कोई जानकारी माँगी जाने पर आवश्यक मन्त्रणा प्रदान करती है।

(५) संघीय परिषद् (Federal Council), संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) के निर्णयों की क्रियान्विति और कैंटनों के बीच चल रहे विवादों के सम्बन्ध में समझौते और पंचाटों (Arbitration awards) की भी क्रियान्विति का परीक्षण करती है। न्यायालयों के निर्णयों की क्रियान्विति और संविधान के अनेकों उपबन्धों और संघीय अधिनियमों की भी क्रियान्विति का परीक्षण कैंटनों के अधिकार-क्षेत्र में दे दिया गया है। यदि कैंटन इस दिशा में अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन नहीं करते तो अन्त में इस सम्बन्ध में संघीय परिषद् से तदर्थ अपील की जाती है।

(६) केवल उन कतिपय नियुक्तियों को छोड़ते हुए जिन पर संघीय संसद् अथवा संघीय न्यायाधिकरण अथवा किसी अन्य सत्ता का अधिकार हो, शेष सभी संघीय नियुक्तियाँ, संघीय परिषद् ही करती है। व्यवहार में संघीय परिषद् अपने नियुक्ति सम्बन्धी अधिकारों को प्रशासन के विभिन्न विभागों को प्रत्यायोजित कर देती है और विभिन्न निगमों और अन्य स्वतन्त्र सत्ताओं अथवा निकायों को सौंप देती है।

(७) संघीय परिषद् ही उन अनेकों सन्धियों का परीक्षण करती है जो या तो कैंटन आपस में करते हैं अथवा कैण्टन विदेशों के साथ करते हैं और यदि वे सन्धियाँ उचित ठहरती हैं तो उन पर स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है, अन्यथा संघीय परिषद् अवांछित सन्धि अथवा सन्धियों के विरुद्ध संसद् (Federal Assembly) में अपील करती है और उनके रद्द करने की सिफारिश करती है।[1]

(८) संघीय परिषद् ही स्विट्ज़रलैंड के परराष्ट्र सम्बन्धों का निर्वहन करती है और परिसंघ के विदेशी हितों की रक्षा करती है। वही देश की प्रतिरक्षा और तटस्थता के लिए उत्तरदायी है।

(९) संघीय परिषद्, परिसंघ की आन्तरिक सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था की भी देख-भाल करती है। वैसे तो यथार्थ में आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था कैंटनों का उत्तरदायित्व है। यदि आन्तरिक गड़बड़ी प्रारम्भ हो जाए तो संघीय हस्तक्षेप अनिवार्य हो जाता है। संघीय संसद् (Federal Assembly)

---

1. Article 85, Section 5.

निर्णय करती है कि क्या कार्यवाही की जाए और संघीय परिषद्, संघीय संसद् की आज्ञाओं की क्रियान्विति करती है।[1]

(१०) आपत्कालिक स्थिति में यदि संघीय संसद् का सत्र अथवा कार्यकाल न हो तो, संघीय परिषद् को अधिकार है कि शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए सेनाओं का प्रयोग जिस प्रकार उचित समझे करे। किन्तु संघीय परिषद् के लिए यह आवश्यक है कि यदि २,००० से अधिक सैनिकों की तदर्थ आवश्यकता पड़ी हो, या यदि उन सैनिकों को तीन सप्ताह से अधिक युद्ध-मग्न रहना पड़ा हो, तो तुरन्त संसद् का सत्र (Session) आहूत करे।

(११) संघीय परिषद् के नियन्त्रण में समस्त संघीय सेना और उसके प्रशासन की सभी शाखाएं रहती है जिन पर संघ का नियन्त्रण है।

(१२) संघीय परिषद् कैण्टनों द्वारा पारित सभी विधियों और उनके सभी अध्यादेशों का परीक्षण करती है। कैण्टनों के लिए अपनी सभी विधियों और अध्यादेशों का संघीय परिषद् से स्वीकृत कराना आवश्यक है। साथ ही संघीय परिषद् कैण्टनों के प्रशासन की उन शाखाओं पर भी नियन्त्रण रखती है जहाँ का नियन्त्रण परिषद् के अधिकार-क्षेत्र में है।

(१३) संघीय परिषद् संघीय वित्त साधनों का प्रबन्ध करती है और प्राग्गणन (Estimates), आय-व्ययक (Budget) और संघीय आय और व्यय का लेखा तैयार करती है।

(१४) संघीय परिषद् ही संघीय प्रशासन के समस्त अधिकारियों और सेवकों के शासनिक आचरण पर नियन्त्रण रखती है।

(१५) संघीय परिषद् अपने समस्त कार्यों और क्रिया-कलापों की रिपोर्ट संघीय संसद् (Federal Assembly) के समक्ष प्रत्येक साधारण सत्र (Session) में प्रस्तुत करती है, देश की आन्तरिक स्थिति के सम्बन्ध में भी प्रतिवेदन करती है और परिसंघ (Confederation) के विदेशों के साथ सम्बन्धों के ऊपर भी प्रकाश डालती है और संघीय संसद् के विचारार्थ ऐसे प्रस्ताव अथवा विधेयक प्रस्तुत करती है जिनको वह सर्वसाधारण के कल्याणार्थ लाभदायक और आवश्यक समझती है। यदि कभी संघीय संसद् अथवा संसद् का कोई सदन विशेष जानकारी प्राप्त करना चाहे तो संघीय परिषद् आवश्यक रिपोट भेजती है।

(१६) संघीय परिषद् की शक्तियों और अधिकारों के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि इसके पास कुछ न्यायिक शक्तियां भी हैं। यह सर्वसाधारण अथवा प्राइवेट व्यक्तियों की उन अपीलों पर भी विचार करती है जो वे लोग विभिन्न प्रशासनिक विभागों के निर्णयों के विरुद्ध अथवा संघीय रेल विभाग के प्रशासन के निर्णयों के विरुद्ध करते हैं। इसका उन अपीलों पर भी अधिकार है जो कैण्टनों की सरकारों के उन निर्णयों के विरुद्ध आती हैं जो प्रारम्भिक पाठशालाओं में विभेदों

1. Article 85, Section 7. Also refer to Article 16.

"अथवा उन संधियों पर विवादों से सम्बन्धित हैं जो व्यापार, एकस्व, सैनिक, करारोपण, आदि; अथवा जो लोगों के रोजगार और बसने से, प्रतिदिन काम आने वाली चीजों पर कर से निराक्राम्य शुल्कों (Customs), कैण्टनों के चुनावों और सैनिकों के सुख-सुविधा सम्बन्धी सामान से सम्बन्धित हों।"[1]

स्विस कार्यपालिका, स्विस विधानमण्डल की अनुचर (Executive subordination to the Legislature)—इसमे संदेह नही कि संघीय परिषद् की शक्तियाँ विशाल हैं। किन्तु वैधिक रूप से परिषद् संसद् की अनुचर है। यह मुख्यत: स्विस संविधान के उस सिद्धान्त के अनुसार है कि कार्यपालिका शासन की स्वतन्त्र अथवा नियामक शाखा (Co-ordinate branch) नही है। संघीय संसद् (Federal Assembly) ही संघीय पार्षदों का चयन करती है और उनका कार्यकाल वही है जो राष्ट्रीय परिषद् (National Council) का है। जब कभी राष्ट्रीय परिषद् संविधान के अनुच्छेद १२० के अनुसार संविधान के पूर्ण संशोधन (Total revision) के लिए भंग कर दी जाती है, उस स्थिति में संघीय परिषद् का भी विधानमण्डल के जीवनकाल के शेष समय के लिए पुन: निर्वाचित होना आवश्यक है। परिसंघ के प्रधान अथवा राष्ट्रपति और उप-प्रधान अथवा उप-राष्ट्रपति भी संघीय संसद् (Assembly) द्वारा ही नामांकित किए जाते है।

संघीय परिषद् के काम मुख्यत: प्रबन्ध सम्बन्धी है। नीति का आरम्भ और नीति का निणय संघीय संसद् ही करती है। संविधान के अनुच्छेद ७१ का आदेश है कि "संघीय संसद् ही परिसघ मे सर्वोच्च सत्ता है।" और सत्य भी यही है। संघीय परिषद् कोई कार्य स्वेच्छा से आरम्भ नहीं कर सकती। जब यह विदेशी मामलों में अथवा सशस्त्र बलों अथवा सेनाओं के सम्बन्ध में अथवा सामान्य सार्वजनिक प्रशासन के सम्बन्ध में अपनी निजी शक्तियों का प्रयोग करती है तो या तो उक्त शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में संसद् उसको अधिकार प्रदान कर चुकती है अथवा संसद् की तदर्थ अनुमति अथवा अनुसमर्थन बाद मे प्राप्त करना आवश्यक होता है। संसद् व्यवहारत: संघीय परिषद् को समस्त आपातकालीन शक्तियाँ दे डालती है किन्तु इसका यह अर्थ भी है कि वह अपनी अनुसमर्पित शक्तियों को संघीय परिषद् से किसी भी समय वापस माँग सकती है। इसके अतिरिक्त, संसद् प्राय: प्रस्तावो अथवा आदेशों के रूप में संघीय परिषद् के कृत्यों को नियन्त्रित करती रहती है और परिषद् को मार्ग-दर्शन देती रहती है। परिषद् के लिए आवश्यक है कि वह संसद् को अपने क्रिया-कलापों के सम्बन्ध मे वार्षिक रिपोर्ट देती रहे। ससद् में इस रिपोर्ट पर प्रशासनिक विभागों के क्रम से विचार-विनिमय और वाद-विवाद होता है और उसके बाद संसद् स्वीकृत करती है। किसी संघीय संसद् (Federal Assembly) अथवा उसका कोई एक सदन चाहे तो संघीय परिषद् को किसी समय किसी सम्बन्ध मे विशिष्ट प्रतिवेदन (Special Report) भी देना पड़ेगा। संघीय पार्षद (Councillors), संसद् के सदस्य नहीं होते, फिर भी वे सारे व्यवस्थापक सत्रों में संसद् में उपस्थित रहते हैं,

1. Ghosh. R. C., The Government of the Swiss Republic, p. 80.

प्रश्नों के उत्तर देते हैं, अपने कृत्यों का स्पष्टीकरण देते हैं और वाद-विवाद में भाग लेते हैं। यदि संसद् उनकी बात को न माने, अथवा संघीय परिषद् के निर्णयों में परिवर्तन कर दे अथवा उनके विरोधी या कार्यकारी निर्णयों को पूर्णतया उपेक्षित कर दे फिर भी संघीय पार्षद (Councillors) न तो इसको राजनीतिक पराजय समझते हैं और न वे त्याग-पत्र देते हैं। इसके विपरीत संसद् की इच्छाओं के सम्मुख प्रणत हो जाते हैं और इस प्रकार उसको सर्वोच्च सत्ता स्वीकार कर लेते हैं और उसके बाद वे पूरी वफादारी के साथ संसद् की आज्ञाओं का पालन करने में जुटे रहते हैं। प्रोफेसर डायसी (Prof. Dicey) कहता है, "संघीय परिषद् से आशा की जाती है कि वह संसद् द्वारा निर्धारित नीति को, जो अन्ततोगत्वा राष्ट्र की ही नीति है, क्रियान्वित करेगी और परिषद् अवश्य ही संसद् की नीति के अनुसार ही आचरण करती है।" इसी सम्बन्ध में डायसी आगे कहता है, "परिषद् उसी प्रकार संसद् के आदेशों पर चलती है जिस प्रकार कि किसी दूकान के गुमाश्ते से यह आशा की जाती है कि वह अपने मालिक की आज्ञाओं का पालन अवश्य करेगा।"[1] इसी बात को लॉवेल (Lowell) ने अधिक बलपूर्वक इस प्रकार कहा है, "स्विट्जरलैण्ड की संघीय परिषद् का सदस्य एक वकील अथवा शिल्पी की तरह है, उसका परामर्श लिया जाता है, और प्रायः उस पर ध्यान भी दिया जाता है; लेकिन यदि उसका नियोजक उसके परामर्श के विरुद्ध ही कार्य करने का हठ करे, तो उस वकील अथवा शिल्पी से अपनी वृत्ति छोड़ देने की आशा नहीं की जा सकती।"

स्विस शासन-प्रणाली, संसदीय शासन-प्रणाली नहीं है (Not a Parliamentary type of Government)—इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्विट्जरलैण्ड की संघीय परिषद् संसदीय मन्त्रिमण्डल (Cabinet) नहीं है। सत्य यह है कि परिषद् को मन्त्रिमण्डल कहना अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। मन्त्रिमण्डल मे दलगत समैक्य का भाव प्रबल रहता है किन्तु स्विस परिषद् में उसका पूर्ण अभाव है। दलगत समैक्य के लिए आवश्यक है कि समस्त मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के समान राजनीतिक विचार हों और एक टीम (Team) की तरह सबका उद्देश्य हो और एक लक्ष्य हो। जो मन्त्री लोग मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हैं, वास्तव में अधिकारी होते हैं, वे संसद् के बहुमत दल से सम्बन्धित होते हैं और उनको दल के कार्यक्रम को पूर्ण करने के उद्देश्य से चुन कर वहाँ भेजा जाता है। सभी मन्त्री व्यक्तिगत रूप से और समस्त मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से अपने सभी अधिकारी कृत्यों के लिए विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी हैं और वे सब उसी समय तक अपने पदों पर रह सकते हैं जब तक कि संसद् का उन पर विश्वास है और संसद् का विश्वास ही देश के सर्वसाधारण का विश्वास है जिन्होंने उनके दल को बहुमत दल के रूप में चुनकर संसद् में प्रतिष्ठित किया। इसके विपरीत स्विस संघीय परिषद् के सदस्यों के लिए संविधानतः यह आवश्यक नहीं है कि वे संघीय संसद् के सदस्य हो और वे संघीय परिषद् के लिए नामांकित होने के पूर्व

1. The Law of the Constitution, op. cit., p. 611. Also refer to Bryce's Modern Democracies, Vol. I, p. 446.

संसद् के सदस्य हो भी—और वास्तव में वे पार्षद बनाए जाने के पूर्व संसद् सदस्य होते भी है—तो उनको पार्षद बनाए जाने पर तुरन्त त्याग-पत्र देना चाहिए। उनको संघीय परिषद् में इसलिए नहीं लिया जाता कि वे संसद् के बहुमत दल के सदस्य हैं; न इस आधार पर लिया जाता है कि वे राजनीतिक दलों के नेता है, अपितु उनको कुशल प्रशासक होने के कारण लिया जाता है और स्विस लोगो की इस प्रजातन्त्रीय भावना के अनुरूप लिया जाता है कि सभी पार्षद देश के सभी हितों का, सभी लोगों का और सभी प्रदेशो का प्रतिनिधित्व करते है। यह ठीक है कि वे संसद् के दोनो सदनों मे उपस्थित होते है; वाद-विवादों में रुचिपूर्वक भाग लेते हैं, और संसद् सदस्यो द्वारा पूछे गए प्रश्नो का उत्तर भी देते हैं,[1] किन्तु वे किसी नीति को निर्धारित नहीं करते। न वे मतदान में कोई भाग लेते हैं। इसमें सन्देह नही कि विधि की यही आज्ञा है कि संघीय परिषद् नियमित रूप से सभाएँ करे, उसकी मन्त्रणाएँ असार्वजनिक रूप से हों और इसके निर्णय पार्षदों के बहुमत के आधार पर हों।[2] संविधान यह भी आदेश देता है कि "सभी निर्णय संघीय परिषद् के ही नाम में और उसी की आज्ञा से प्रभावी होगे।"[3] फिर भी संघीय परिषद् समान जाति का अथवा समान विचार वालों का निकाय नहीं है और विभिन्न पार्षदों के बीच मत-विभिन्नता को मान्यता प्रदान की जाती है और कभी-कभी तो उनके विभिन्न मत प्रकाश में लाए जाते है। विधानमण्डल मे वे प्रायः एक दूसरे के विरोध मे बोलते हैं; यद्यपि यह स्विस प्रजातन्त्र के गौरव की चीज है कि इस प्रकार की विभिन्नताएँ कभी भी किसी प्रकार का संकट उत्पन्न नही करतीं। किन्तु मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली की यह रीति नही है क्योकि वहाँ मन्त्रियो में किसी प्रकार के मतभेद की अनुमति नहीं है।

संविधान, संघीय परिषद् को यह भी आज्ञा देता है कि सर्वसाधारण की हित-साधना मे यदि वह चाहे तो संसद् के विचारार्थ ऐसे विधेयक उपस्थित कर सकती है जिनको वह उचित समझे।[4] संसद प्रायः प्रस्ताव पास करके संघीय परिषद् से प्रार्थना भी करती है कि वह किसी विषय पर विधेयक तैयार करे; और सत्य तो यह है, कि वे सभी विधेयक जो परिषद् के द्वारा पुरःस्थापित नही किए जाते, नियमतः परिषद् मे ही अवश्य भेजे जाते है पूर्व इसके कि उन विधेयकों को समिति में भेजा जाए अथवा उन पर वाद-विवाद किया जाए। इस प्रकार, वास्तविक विधान निर्माण में परिषद् बहुत अधिक प्रभाव डालती है। इतने पर भी यह माना जा सकता है कि संघीय परिषद् वैधिक रूप से विधान निर्माण मे नेतृत्व करती है। इसका मुख्य कर्त्तव्य मंत्रणा देना भर है और यही मन्त्रिमण्डल और संघीय परिषद् में मुख्य भेद है।

---

1. Article 101.
2. Organization of Federal Administrative Law, 1914, Articles 4, 6 and 7.
3. Article 103.
4. Article 102, Section 4.

संसदीय मन्त्रिमण्डल में और स्विस संघीय परिषद् में वास्तविक अन्तर विधानमण्डल के साथ के सम्बन्धों में है। मन्त्रिमण्डल तो विधानमण्डल का जात है और वह तभी तक जीवित रह सकता है जब तक कि विधानमण्डल का विश्वासभाजन बना रहे। स्विट्जरलैण्ड में संघीय परिषद् और विधानमण्डल के बीच सम्बन्ध और ही सिद्धान्त पर आधारित हैं। यद्यपि किसी सीमा तक संघीय परिषद् और संघीय संसद् के बीच घनिष्ठता रहती है, और कुछ बातों में तो दोनों के सम्बन्ध उसी प्रकार के हैं जैसे कि संसदीय शासन-प्रणाली में मन्त्रिमण्डल और विधानमण्डल के बीच रहते हैं किन्तु मुख्य अन्तर यह है कि संघीय परिषद् का न तो संसद् पर नियन्त्रण है और न वह संसद् की नेता है। स्विट्जरलैण्ड में संसद् (Assembly) ही प्रभु है और परिसंघ में संसद् के ही पास सर्वोच्च सत्ता है।[1] संसद् की अपेक्षा परिषद् संसद् की अनुचर और उसके अधीन सत्ता है। स्विस संविधान स्विस कार्यपालिका को न तो स्वतन्त्र सत्ता बनाता है न नियामक सत्ता स्वीकार करता है। संघीय परिषद् संघीय संसद् के प्रति उन्हीं अर्थों में उत्तरदायी नहीं है जिन अर्थों में कि मन्त्रिमण्ड विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई पार्षद त्याग-पत्र दे दे तो भी इससे कोई संकट आने की सम्भावना नहीं है। यदि परिषद् द्वारा निर्धारित नीति संसद् अस्वीकार कर दे अथवा परिषद् द्वारा प्रस्तुत किए गए विधेयकों को संसद् न माने तो इसके फलस्वरूप संघीय परिषद् के सदस्यों या सदस्य को त्याग-पत्र देने की आवश्यकता नहीं है। वे अपने पदों पर बने ही रहते हैं चाहे संसद् परिषद् के विधेयकों को अथवा आज्ञाओं को स्वीकार करे या न करे। ऐसा इसलिए भी है क्योंकि संघीय पार्षद न तो नीति को निर्धारित करते हैं और न नीति के ऊपर उनका कोई नियन्त्रण ही है। और न संघीय परिषद् सामुदायिक रूप से किसी नीति के लिए उत्तरदायी ही है। यही संघीय परिषद् की स्थिति का सही-सही मूल्यांकन है।

स्विस शासन-प्रणाली राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली भी नहीं है (Not even a Presidential System of Government)—जहाँ स्विस संघीय परिषद् संसदीय मन्त्रिमण्डल से भिन्न है वहाँ वह राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली की कार्यपालिका भी नहीं है। सत्य तो यह है कि दोनों में कोई साम्य ही नहीं है। स्विस संघीय परिषद् अमेरिका की कार्यपालिका के समान शासन का स्वतन्त्र और पृथक् भाग नहीं है। अमेरिका का राष्ट्रपति पद एकल कार्यपालिका है और संविधान राष्ट्रपति को स्वतन्त्र और अपवर्जी शक्तियाँ प्रदान करता है और नीति के ऊपर भी केवल राष्ट्रपति को ही अधिकार है। इस प्रकार अमेरिका का राष्ट्रपति कार्यपालिका प्रधान तो है ही, स्वयं केवल अनन्य कार्यपालिका का निर्माण भी करता है। कांग्रेस, अमेरिकी राष्ट्रपति के सांविधानिक अधिकारों को किसी भी प्रकार मर्यादित नहीं कर सकती, न उसके किसी कृत्य को नियन्त्रित कर सकती है। अमेरिका में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका बिलकुल पृथक् हैं; उनमें केवल राष्ट्रपतीय संदेशों द्वारा ही संसर्ग होता है; अन्यथा न तो स्वयं राष्ट्रपति न उसके मन्त्रिमण्डल के सदस्य ही कभी कांग्रेस के किसी सदन में उपस्थित होते हैं। राष्ट्रपति के मन्त्री लोग (Secretaries), जो शासन के विभिन्न

1. Article 71.

विभागों के प्रशासनिक मुखिया होते हैं और जो राष्ट्रपति के तथाकथित मन्त्रिमण्डल (Cabinet) का निर्माण करते हैं, राष्ट्रपति के द्वारा ही नियुक्त किए जाते है और वे लोग अपने पदों पर राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त बने रहते हैं। यह राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह उन मन्त्रियों की सलाह कब ले; कहाँ ले और किस प्रकार ले। यह भी राष्ट्रपति की ही इच्छा पर निर्भर है कि वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा माने अथवा न माने। मन्त्रीगण राष्ट्रपति के परामर्शदाता (Advisers) होते है और वे मिल कर राष्ट्रपति के परिवार का सृजन करते है। राष्ट्रपति का पद कांग्रेस की कृपाकोर पर निर्भर नहीं है। वह अपनी लोकप्रियता के आधार पर चार वर्षों के लिए चुना जाता है और उसका पद चार वर्षों के बाद ही समाप्त हो सकता है। उसके पुनर्निर्वाचन पर अब संविधान ने कतिपय बन्धन लगा दिए हैं।

इसके विपरीत, संघीय परिषद् न तो शासन का स्वतन्त्र अथवा पृथक् भाग है न उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र नीति है। संघीय परिषद् के पास विधि के ऊपर कोई अंकुश अथवा निषेध शक्ति नही है जिसके द्वारा वह अपने अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ हो सकती। परिषद् पूरी तरह से विधानमण्डल के प्रभाव से स्वतन्त्र भी नहीं है। संघीय परिषद् और संघीय संसद् के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। सत्य तो यह है कि संघीय परिषद् को बहुत से लोग स्विस संसद् की अधिशासी समिति समझते हैं। चाहे कुछ भी कहा जाए यह निर्विवाद सत्य है कि संघीय परिषद् किसी भी अर्थ में स्वतन्त्र सत्ता नहीं है क्योंकि इसके प्रशासनिक कृत्यों पर संघीय संसद् का पर्यवेक्षण और निरीक्षण रहता है और संसद् परिषद् के निर्णयों को रद्द कर सकती है।

तो फिर संघीय परिषद् क्या है? (What is it then ?)—निष्कर्ष यह निकलता है कि स्विस संघीय परिषद् अथवा कार्यपालिका न तो संसदीय कार्यपालिका है और न राष्ट्रपतीय कार्यपालिका है। यह अपने ही में एक वर्ग है और संसार मे अपने ढंग की अकेली ही कार्यपालिका है, क्योंकि यह सामूहिक (Collegial) निकाय है जिसमें सात सदस्य होते हैं, जो देश की सर्वोच्च कार्यपालिका का निर्माण करते हैं। स्विस संविधान के निर्माताओं ने अमेरिका के नमूने पर समस्त कार्यपालिका शक्ति एक ही निर्वाचित व्यक्ति के हाथों मे दे देना उचित नहीं समझा। इसमें सन्देह नहीं कि वे निर्वाचित राष्ट्रपति के हाथों में समस्त कार्यपालिका सत्ता देने के कतिपय लाभों से अपरिचित न थे, जिसके द्वारा शासन में एकता, अविच्छिन्नता और कार्यकुशलता का समावेश होता है। किन्तु जैसा कि संविधान के निर्माताओं ने स्वयं कहा, "संविधान निर्मात्री समिति एक ऐसे पद के सृजन का प्रस्ताव कर ही नहीं सकती थी जो स्विस सर्वसाधारण के विचारों और आदतों तथा प्रथाओं के सर्वथा प्रतिकूल होता; क्योंकि राष्ट्रपति पद में इस देश के लोग राजतन्त्र अथवा अधिनायकवाद की प्रवृत्ति के दर्शन करते। स्विट्ज़रलैण्ड के लोग परिषदों के अभ्यस्त हैं। हमारी प्रजातन्त्रीय भावना किसी एक व्यक्ति के अपवर्जी और अनन्य व्यक्तिगत श्रेष्ठत्व के सर्वथा विरुद्ध है।"[1]

1. As quoted in Brooks' The Government of Switzerland, op. cit. p. 76.

स्विट्जरलैण्ड के शासन में बहुल कार्यपालिका अथवा व्यक्ति समूह की कार्यपालिका (Collegial Executive) का निर्माण करके संसदीय और राष्ट्रपतीय शासन प्रणालियों के विशिष्ट गुणों को लेने का प्रयत्न किया गया है। स्विस कार्यपालिका निस्सन्देह दोनों प्रकार की प्रणालियों का मिश्रण है और स्विस संविधान के निर्माताओं ने अपने देश को मौलिक शासन व्यवस्था दी जिसमें संसदीय शासन-प्रणाली के सभी गुण विद्यमान हैं और साथ ही जिससे राष्ट्रपतीय-शासन प्रणाली के दोष दूर कर दिये गए हैं। कहना न होगा कि यही वास्तव में स्विस संविधान का अद्वितीय गुण है। किसी भी अन्य आधुनिक गणतन्त्र में न तो कार्यपालिका-सत्ता व्यक्ति के स्थान पर परिषद् को सौंपी जाती है और न अन्य किसी स्वतन्त्र देश में कार्यरत कार्यपालिका राजनीति से इतना थोड़ा सम्पर्क रखती है।

स्विट्जरलैण्ड की बहुल अथवा सामूहिक कार्यपालिका के लाभ (Advantages of the Swiss Collegial Executive System)—बहुल अथवा सामूहिक कार्यपालिका की सांविधानिक स्थिति और कार्य वास्तव में प्रशंसनीय है क्योंकि इसमें संसदीय शासन-प्रणाली के मुख्य गुण विद्यमान हैं और उसके सभी दुर्गुण दूर हो गए हैं। स्विट्जरलैण्ड में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में परस्पर वही विश्वास और सहयोग रहता है जो संसदीय शासन-प्रणाली में रहता है। किन्तु मन्त्रिमण्डल के लिए यह लाभकारी होता है कि वह विधानमण्डल के एक बहुमत दल से अथवा ऐसे दो या तीन राजनीतिक दलों के संयोग से सम्बन्धित हो जो एक सामान्य एवं सम्मिलित राजनीतिक कार्यक्रम को पूरा करने के लिए कृतसंकल्प हों। किन्तु इसके विपरीत स्विस संघीय परिषद् देश के सभी विचारों, सभी प्रदेशों की प्रतिनिधि होती है और यह किसी विशिष्ट राजनीतिक कार्यक्रम को पूर्ण करने के लिए कृतसंकल्प नही है। इस प्रकार की सर्वसम्मत कार्यपालिका के होते हुए विरोधी दल की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। जब देश के प्रशासन में सभी वर्गों, सभी हितों और सभी विचारों का प्रभाव रहता है, तभी वास्तविक प्रजातन्त्र का जन्म होता है। संघीय परिषद् सुविख्यात निर्दलीय संस्था है और इसलिए इसका मुख्य कार्य संघीय संसद् को परामर्श देना और उस पर प्रभाव डालना है; "किन्तु यदि आवश्यकता आ पड़े तो यह विवादग्रस्त दलों में मध्यस्थता भी करती है, उनकी कठिनाइयों को दूर करती है और बीच-बचाव की भावना से उनमें समझौता कराती है।"[1] स्विट्जरलैण्ड में यह कठिन नहीं है क्योंकि वहाँ का जनमत आशा करता है कि प्रत्येक स्विस नागरिक सार्वजनिक हितों के सामने अपने निजी विचारों का दमन करेगा और इसलिए स्विट्जरलैण्ड में व्यक्तिगत लालसाएँ लोगों पर उतना प्रभाव नहीं डालतीं जितना कि अन्य स्वतन्त्र देशों में। इसलिए लॉवेल (Lowell) कहता है कि संघीय परिषद् को घड़ी की बड़ी कमानी (Main spring) समझना चाहिए और वह निश्चय ही राष्ट्रीय शासन रूपी घड़ी को गति देने वाला मुख्य पहिया है।[2]

1. Bryce : Modern Democracies, Vol. I, p. 393.

2. Government and Parties in Continental Europe, Vol. II, p. 205.

स्विट्ज़रलैण्ड की बहुल अथवा सामूहिक कार्यपालिका का एक अन्य लाभ यह है कि इसमें अविच्छिन्नता और स्थिरता है। स्विस संघीय परिषद् का जीवन विधान-मण्डल की कृपाकोर पर अवलम्बित नहीं है, इसलिए स्विट्ज़रलैण्ड में कार्यपालिका स्थायी और लगभग अविच्छिन्न है और यह सदैव सम्बद्ध और संगत नीति का अनुसरण करती रहती है। इसके अतिरिक्त स्विस शासन-प्रणाली में योग्य प्रशासक ही राष्ट्र की सेवा करते हैं। चाहे उनके राजनीति में अथवा किसी विशिष्ट विषय पर व्यक्तिगत विचार कुछ भी हों। ऐसी विभिन्नता में संसदीय शासन-प्रणाली में एकता, स्थिरता और अविच्छिन्नता सम्भव नहीं है।

इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि स्विस शासन-प्रणाली के द्वारा नीति सम्बन्धी अविच्छिन्नता प्राप्त होती है और परम्पराएँ स्थापित होती हैं। जब कार्यपालिका के सदस्य एक-एक करके और पर्याप्त समय के अन्तर से नियुक्त किए जाते हैं तो इससे संघीय परिषद् उन क्षणिक आतुरताओं से ऊपर उठ जाती है जो लोगों में हलचल उत्पन्न करती हैं। स्विट्ज़रलैण्ड में न तो दलीय कोलाहल रहता है और न वहाँ भावनाओं अथवा मतावेगों को उभारा जाता है। किसी प्रजातन्त्रीय राष्ट्र में इन दोनों अमूल्य परम्पराओं का रहना अति शुभ है और ऐसी ही परम्पराएँ नीति सम्बन्धी अविच्छिन्नता को प्रश्रय देती हैं। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि अविच्छिन्नता और परम्पराएँ प्रशासन को दूषित (groovy) बना देती हैं किन्तु स्विट्ज़रलैंड में जहाँ प्रत्येक नागरिक में देश-प्रेम रहता है और जहाँ परिषद्-सदस्यों पर सदैव सब की पहुँच है और जहाँ परिषद् लगातार संसद् के संसर्ग में रहती है, इस प्रकार का कोई भय नहीं है।

संघीय परिषद् की शक्तियों में वृद्धि (Growth in the Powers of the Federal Council)—देखने में संघीय परिषद् संघीय संसद् की अनुचर प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। लार्ड ब्राइस कहता है कि "व्यवहार में स्विस संघीय परिषद् का उतना ही प्रभाव एवं अधिकार है जितना कि अंग्रेजी मन्त्रिमण्डल का और कुछ फ्रांसीसी मन्त्रिमण्डलों की अपेक्षा तो निश्चय ही अधिक है, इसलिए कहा जा सकता है कि यह नेता भी है और अनुचर भी।"[1] पार्षदों के लम्बे कार्यकाल के कारण उनकी प्रशासनिक योग्यता, राजनीतिक निर्णय-क्षमता और उनके समादर में वृद्धि होती है। केवल इस कारण कि संघीय संसद् (Federal Assembly) ने परिषद् को अधिकतर व्यवस्थापक आरम्भन (Legislative Initiative) सौंप दिया है और चूँकि संसद् विधेयकों के सम्बन्ध में परिषद् की मन्त्रणा लेती है, इससे सभी पार्षदों को प्रायः ऐसे अनेक अवसर प्राप्त होते हैं जिनसे वे सार्वजनिक नीति पर प्रभाव डालते हैं और उसको नियन्त्रित करते हैं।[2] आधुनिक विधान निर्माण के लिए पर्याप्त रूप से विशेष योग्यता की आवश्यकता पड़ती है, इस कारण भी व्यवस्थापक आरम्भन

1. Modern Democracies, Vol. I, p. 367.

2. Refer to Rappard's The Government of Switzerland, op. cit., p. 82-85.

(Legislative Initiative) संघीय परिषद् जैसे विशेषज्ञों की समिति के अधिकार मे चला गया है।

स्विस सांविधानिक इतिहास यही बताता है कि संघीय परिषद् की शक्तियों मे निरन्तर वृद्धि हुई है। जब से आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था हुई है, तब से संघीय संसद् पर एक या दो दलों का ही प्रभुत्व नष्ट हो गया है। अब संसद् अनेक राजनीतिक दलों का अखाड़ा बन गई है। इसका फल यह हुआ है कि अब संसद् न तो पुरानी शक्ति रह गई है और न उतना आदर। और जो कुछ संसद् की हानि है, वही परिषद् का लाभ है। इसके अतिरिक्त, स्विट्जरलैण्ड मे केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही है इसलिए सभी केन्द्रीय संस्थाओं की शक्तियो और अधिकारों में वृद्धि हुई है किन्तु यदि संघीय संसद् से तुलना की जाए तो उसकी अपेक्षा संघीय परिषद् की शक्तियों में अधिक वृद्धि हुई है और वह अधिक स्वतन्त्र हुई है।

आजकल सारे संसार में यही प्रवृत्ति देखी जाती है कि कार्यपालिका शक्ति को बढ़ाया जाए, और इस संसार-व्यापी प्रवृत्ति ने भी स्विट्जरलैण्ड के शक्ति-सन्तुलन मे बाधा पहुँचाई है। एण्ड्रे (Andre) कहता है कि "संघीय परिषद् को हटाना अत्यन्त कठिन है और जहाँ तक उसके क्रिया-कलाप अत्यन्त जटिल है, उसके ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखना भी अत्यन्त कठिन है; इसलिए यह अर्द्ध अधिनायकत्व की शक्तियों का उपभोग कर रही है।" दोनों विश्व-युद्धों और १६३० के आर्थिक अवसाद (Economic Depression) ने मुख्य रूप से संघीय परिषद् की शक्तियों मे अपार वृद्धि की है। संघीय संसद् चाहती थी कि दोनों विश्व-युद्धों में स्विट्जरलैण्ड की परम्परागत तटस्थता अक्षुण्ण बनी रहे और देश की आर्थिक स्थिति युद्धों के समय में और बाद मे भी सन्तुलित रहे, इसलिए उसने संघीय परिषद् को उन विषयों पर भी समस्त अधिकार दे डाले जो अब तक संविधियों द्वारा नियमित होते थे। इन शक्तियो के प्रयोग में संघीय परिषद् ने ऐसे अध्यादेश जारी किए है जिनमें सर्वसाधारण की व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं और उनकी सम्पत्तियो पर भी प्रभाव पड़ा है। परिषद् ने सार्वजनिक सुरक्षा और सार्वजनिक आवश्यकता के नाम में ऐसी-ऐसी आज्ञाएँ (Decrees) जारी की है जिनका प्रभाव व्यक्तिगत विधियों (Private Laws) पर भी पड़ा है।

संघीय प्रशासन

(The Federal Administration)

समस्त संघीय प्रशासन को सात विभागों मे बाँट दिया गया है और प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष संघीय पार्षद (Federal Councillor) होता है। १६१४ की संघीय प्रशासन की संघटन सम्बन्धी विधि के अनुसार निम्नलिखित विभाग हैं—(१) राजनीतिक विभाग (The Political Department); (२) गृह विभाग (Department of the Interior); (३) न्याय और पुलिस विभाग (Department of Justice and Police); (४) सैनिक विभाग (Military Department);

(५) वित्त और प्रशुल्क विभाग (Department of Finance and Customs); (६) सार्वजनिक अर्थ विभाग (Public Economy); और (७) डाक-व्यवस्था और रेल विभाग (Posts and Railways)।

विभागीय कर्त्तव्य-क्षेत्र में निरन्तर परिवर्तन हो रहे हैं और १६१४ की विधि प्रत्येक विभाग के अधिकार-क्षेत्र को सही-सही नहीं बताती। इसके अतिरिक्त उक्त विधि का अनुच्छेद २३ संघीय परिषद् को अधिकार देता है कि वह स्वयं निर्णय करे कि विभागों को क्या-क्या मामले दिए जाएँ और यह भी आदेश देता है कि यदि विभागीय निर्णयों के विरुद्ध कतिपय स्थितियों में कोई आपत्ति हो तो उसकी अपील संघीय परिषद् के पास जाएगी।[1]

राजनीतिक विभाग के अधिकार-क्षेत्र में कुछ छोटे-मोटे राजनीतिक मामले आते हैं किन्तु मुख्यतः यह परराष्ट्र विभाग (Foreign Office) है; और यह परिसंघ के विदेशों के साथ सम्बन्धों का निर्वहन करता है, स्विट्ज़रलैण्ड की आन्तरिक शान्ति बहुत कुछ उसकी तटस्थता पर निर्भर रहती है। इसलिए राजनीतिक विभाग का कार्यभार वास्तव में कठिन होता है और स्विस लोगों ने उक्त विभाग के उत्तरदायित्व के लिए वास्तव में अत्यन्त उपयुक्त व्यक्तियों को ही चुना है।

गृह विभाग (Interior Department) के कर्त्तव्य विविध प्रकार के हैं और प्रायः संयुक्त राज्य अमेरिका के गृह विभाग के समान हैं। शेष विभागों में डाक-व्यवस्था और रेलवे विभाग (Posts and Railways) और सार्वजनिक अर्थ विभाग (Department of Public Economy) के ऊपर कुछ विचार करने की आवश्यकता है। परिसंघ (Confederation) का डाक-व्यवस्था, टेलीफोन व्यवस्था, टेलीग्राफिक व्यवस्था, वायरलैस (Wireless) व्यवस्था और रेल व्यवस्था पर स्वाम्य है और परिसंघ ही इन समस्त व्यवस्थाओं का संचालन करता है। रेलवे प्रशासन पृथक् सत्ता है यद्यपि वह डाक व्यवस्था और रेलवे विभाग के नियन्त्रण में कार्य करती है। रेलवे प्रशासन किसी सीमा तक स्वायत्तता का उपभोग करता है और उसका पृथक् आय-व्ययक (Budget) होता है। सार्वजनिक अर्थ विभाग (Department of Public Economy) के नियन्त्रण में उद्योग, कृषि और सामाजिक बीमा सेवा (Social Insurance) हैं। यही विभाग प्राकृतिक संसाधनों (Natural Resources) से देश को लाभान्वित कराने का प्रयत्न करता है और ऐसे उपाय निकालता है जिनसे देश का उत्पादन बढ़े।

सिविल सर्विस (The Civil Service)—यद्यपि केन्द्रीय शासन के क्रियाकलापों में वृद्धि के फलस्वरूप और केन्द्रीयकरण की आम प्रवृत्ति के फलस्वरूप स्विस सिविल सर्विस के अधिकारियों की संख्या में कुछ वृद्धि हुई है, फिर भी उन अधिकारियों की इतनी संख्या नहीं है जितनी कि अन्य देशों में है। इसका मुख्य कारण यह

---

1. Hughes, C.: The Federal Constitution of Switzerland, op. cit., p. 117.

है कि कैण्टनों में संघीय शासन के अधिकारी नहीं रखे जाते। कैण्टनों के स्थानीय अधिकारी ही संघीय आज्ञाओं की क्रियान्विति कराते हैं। कुछ थोड़े से डाक-व्यवस्था के कर्मचारियों, रेलों और कुछ प्रशासन सम्बन्धी अन्य शाखाओं के कर्मचारियों को छोड़ कर संघीय अधिकारी वर्ग अधिक नहीं है।

किन्तु दोनों विश्व-युद्धों के फलस्वरूप सिविल सेवकों की संख्या मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। इस वृद्धि का महत्त्व निम्न आँकड़ों से स्पष्ट हो जाएगा। १६३६ में स्विट्जरलैण्ड में सिविल सेवकों की कुल संख्या १०,८४२ थी और १६४८ मे वह संख्या २६,६३० हो गई। युद्ध के बाद उस संख्या मे कुछ कमी हुई और अगले वर्ष संख्या गिर कर २६,१३१ हो गई। अगले वर्षों में लगभग ८,००० सेवक अलग कर दिए गए। स्विट्जरलैण्ड मे केन्द्रीय शासन की शक्तियों मे वृद्धि को कैण्टनो की स्वायत्तता के लिए खतरा समझा जाता है।

प्रायः सभी संघीय सिविल सेवक संघीय परिषद् द्वारा ही नियुक्त किए जाते हैं और कर्त्तव्य-विमुख होने पर परिषद् ही उनको सेवा-भार से वियुक्त करती है। किन्तु इस श्रेणी में कतिपय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सेवक अपवाद हैं जिनकी नियुक्ति संसद् करती है। ऊँचे पदों पर तीन वर्षों की पदावधि के लिए नियुक्तियाँ की जाती हैं और उन पदों पर पुनः नियुक्ति की जा सकती है, यद्यपि पुनर्नियुक्ति केवल औपचारिकता मात्र होती है। इसलिए इन नियुक्तियों को स्थायी समझा जा सकता है। स्विट्जरलैण्ड मे नियुक्तियों के सम्बन्ध में अमेरिका की भाँति भ्रष्टाचार प्रथा (Spoils System) नहीं है।

शेष सभी नियुक्तियाँ प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर की जाती हैं। रेलवे के अधिकारी और अन्य सेवक रेलवे संघीय प्रशासन द्वारा नियुक्त किए जाते है। सिविल सेवकों की नियुक्ति, वियुक्ति और उनकी तरक्की की शर्तें और उनके विशेषाधिकार संघीय विधियों और संघीय परिषद् के अध्यादेशों के द्वारा नियन्त्रित की जाती हैं।

संघीय सचिवालय अथवा चांसलरी (The Federal Chancellory)—स्विट्जरलैण्ड मे संघीय चांसलरी (Federal Chancellory) नाम का भी एक विभाग है जिसका अध्यक्ष परिसंघ का चांसलर (Chancellor of the Confederation) होता है। यह विभाग (Federal Chancellory), संघीय संसद् (Federal Assembly), और संघीय परिषद् (Federal Council) के सचिवालयों से सम्बन्धित समस्त कार्य-व्यापार के लिए उत्तरदायी है।[1] यह सचिवालय (Chancellory) परिसंघ के राष्ट्रपति के अधीक्षण में कार्य करता है और इसके ऊपर अन्तिम नियन्त्रण संघीय संसद् (Federal Assembly) का रहता है। चांसलर का निर्वाचन संघीय संसद् के दोनो सदन चार वर्ष के लिए मिलकर करते है,[2] किन्तु व्यवहारतः वह कार्य-भार से अवसर प्राप्त करने की अवस्था तक अपने पद पर बना रहता है। इस पद

1. Article 105.
2. Articles 92 and 85, Section 4.

के चुनाव मे राजनीतिक विचारो का भी महत्त्व है और प्रत्याशी की भाषा और उसके धर्म पर भी विचार किया जाता है और इस पद के चुनाव में संसद् के गठन मे जो भाषा और धर्म सम्बन्धी[1] परिवर्तन होते हैं उनका प्रभाव पड़ता है। वाइस चांसलरो का चुनाव और उनकी नियुक्ति संघीय परिषद् करती है और वाइस चांसलर का स्थान एक प्रकार से रिक्त होने पर चांसलर के पद के लिए नैतिक अधिकार अवश्य हो जाता है।

चांसलर के व्यक्तित्व का कोई विशेष महत्त्व नहीं है क्योंकि उसके कर्त्तव्य प्राय: औपचारिक और यन्त्रवत् हैं। फिर भी उसके पद का महत्त्व है क्योंकि चांसलर एक प्रकार से संघीय सिविल सेवा निकाय का अवैतनिक अध्यक्ष होता है। ब्रिटेन मे इस प्रकार का कोई पद नहीं है, किन्तु कर्त्तव्यों की समानता के विचार से वह कुछ काउण्टी परिषद् (County Council) के क्लर्क से मिलता-जुलता है, और जहां तक चांसलर की आदरपूर्ण स्थिति का प्रश्न है, वह प्राय: लोक-सभा (House of Commons) के स्पीकर के समान समादरपूर्ण स्थिति का उपभोग करता है। उसके निम्न कर्त्तव्य हैं—

(i) संघीय परिषद् के क्लर्क के रूप में कार्य और संघीय परिषद् के सम्मेलनों के उपरान्त पत्रकारो को आवश्यक जानकारी प्राप्त कराना।

(ii) संसद् के दोनों सदनों के क्लर्कों का काम और जब संघीय संसद् का सम्मिलित सत्र हो, उसके क्लर्क का काम करना और तत्सम्बन्धी सारे काम को देखना—जब दोनों सदनों का अधिवेशन अलग-अलग एक ही समय में हो उस समय वाइस चासलर दूसरे सदन का काम देखता है। क्लर्क की स्थिति मे चासलर समस्त शार्टहैण्ड लिपि का निरीक्षण करता है, विभिन्न भाषाओं में अनुवाद का निरीक्षण करता है और साथ ही उसका काम "किसी सीमा तक ब्रिटिश लोक-सभा के सशस्त्र परिचारक (Sergeant-at-arms) के समान भी है।"

(iii) रेस्यूल डेस लुई (Recuiel des Lois) और फ्यूले फेडरेल (Feuille federale) का प्रकाशन और उसका निरीक्षण।

(iv) समस्त संघीय अधिनियमों पर पुन: हस्ताक्षर करना और संघीय मतदानों का संगठन करना।

(v) संघीय प्रशासन के संगठन और कार्य-प्रणाली से सम्बन्धित कतिपय कर्त्तव्यों का निर्वहन करना।

स्विस प्रशासन के गुण (Merits of Swiss Administration)—लॉर्ड ब्राइस ने स्विस शासन और स्विस प्रशासन के दो प्रमुख गुणों की चर्चा की है। प्रथम यह है कि स्विस प्रशासन पर व्यय कम होता है। प्रशासन पर होने वाले व्यय को सदैव ध्यान में रखा जाता है और प्रशासन पर होने वाले व्यय की धनराशि को अधिक बढ़ने नहीं दिया जाता। यह सत्य है कि दोनों विश्व-युद्धों के कारण व्यय

1. Hughes, C. : The Federal Constitution of Switzerland, op. cit , p. 119.

इतना अधिक बढ़ गया कि स्विट्जरलैंड के लिए सहन करना कठिन हो गया, किन्तु स्विस लोग स्वभावतः मितव्ययी और जिज्ञासु हैं और वे सार्वजनिक व्यय के ऊपर उतना ही कड़ा नियन्त्रण रखते हैं जितना कि कोई किसान अपने घर के खर्च पर रखता है; और इसीलिए स्विस लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी है और स्विट्जरलैंड को कभी आर्थिक संकट का सामना नहीं करना पड़ता है।

स्विस प्रशासन का दूसरा मुख्य गुण उसकी निर्दोपिता है। संघीय शासन और कैंटनों के शासन पूर्णतया भ्रष्टाचार रहित हैं और उस देश मे सार्वजनिक दोषारोपण (Public Scandals) प्रायः कभी नहीं होते। किन्तु यदि कभी किसी अधिकारी की सार्वजनिक निन्दा सुनी जाती है, तो दोषी व्यक्ति को चाहे वह कितना भी प्रभावशाली क्यों न हो, सदैव के लिए सार्वजनिक सेवा से संन्यास लेना पड़ता है।

स्विस प्रशासन की तीसरी विशेषता उसका लोकतन्त्रात्मक स्वरूप है। स्विट्जरलैंड ने यह प्रकट कर दिया है कि लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था अन्य शासन-व्यवस्थाओं से अधिक अच्छी तरह कार्य कर सकती है।

अध्याय ५

स्विस संघीय शासन का स्वरूप (क्रमशः)
(The Frame of National Government)—*Contd*

संघीय विधानमण्डल
(The Federal Legislature)

संघीय संसद् (*The Federal Assembly*)—संघीय विधानमंडल द्विसदनात्मक है और उसको संघीय संसद् कहते है। इसके दो सदन हैं—राज्य-सभा (The Council of States) और राष्ट्रीय परिषद् (The National Council)। संघीय संसद् (Federal Assembly) परिसंघ (Confederation) की सर्वोच्च सत्ता का, जहाँ तक कि सर्वसाधारण और कैण्टनों के अधिकारों का अतिक्रमण नहीं होता, उपभोग करती है।[1] अतः संसद् द्वारा पारित विधियों के ऊपर न तो परिसंघ के अध्यक्ष द्वारा निषेधाधिकार का प्रयोग किया जा सकता है और न ही वे किसी स्विस न्यायालय द्वारा असांविधानिक ठहराई जा सकती है। शासन के अन्य उपकरण भी संविधान के उपबन्धों के अनुरूप संघीय संसद् के अधीन है।

राज्य सभा
(The Council of State)

रचना और संगठन (Composition and Organization)—राज्य सभा परिसंघ के अवयवी एककों का समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व करती है और वह अमेरिका की सीनेट के समान है। प्रत्येक कैण्टन (Canton) को, चाहे उसका आकार और जनसंख्या कुछ भी हो, राज्य सभा में दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है और प्रत्येक अर्द्ध कैण्टन को एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है।[2] इस प्रकार राज्य सभा (Council of States) की कुल सदस्य संख्या ४४ है।

प्रत्येक कैण्टन अपनी प्रचलित विधियों और नियमों के अनुसार ही अपने संसद् सदस्यों (Deputies) के निर्वाचन की विधि, उनकी सदस्यता की पदावधि, और उनको मिलने वाले भत्ते आदि की धनराशि निश्चित करता है। संविधान निश्चित रूप से आदेश देता है कि "राज्य सभा के सदस्यों (Deputies) का भत्ता, वेतन आदि कैंटनो से प्राप्त होगा।" इसलिए न तो सदस्यों (Deputies) के निर्वाचन की सभी कैंटनों मे समान विधि है, न समान सदस्यता की पदावधि है, न सबको समान वेतन, भत्ता आदि मिलता है। कुछ कैण्टनों में सदस्यों (Deputies) को कैण्टनों के विधानमण्डल अथवा कैण्टनों की परिषदें चुन कर भेजती हैं, किन्तु अधिक-

1. Article 71.
2. Article 80.

तर कैण्टनों में सदस्यों अथवा डिप्टी लोगों (Deputies) का चुनाव सर्वसाधारण के द्वारा होता है। संसद् सदस्यों (Deputies) की सदस्यतावधि किसी कैण्टन में एक वर्ष है, किसी में दो वर्ष, किसी में चार वर्ष तक है और सामान्यत: सदस्यों (Deputies) की पदावधि तीन वर्ष है। दो कैण्टनें अपने सदस्यों (Deputies) को संघीय विधानमण्डल से उनकी पदावधि समाप्त होने के पूर्व भी वापस बुला सकती है।

राज्य सभा (Council of States) के लिए यह आवश्यक है कि वह एक वर्ष में कम-से-कम एक बार स्थायी आदेशों के अनुसार किसी पूर्व निश्चित दिन साधारण सत्र के रूप में सम्मिलित हो। संविधान का आदेश है कि या तो संघीय परिषद् (Federal Council) के आदेश पर अथवा एक-चौथाई राज्य सभा (Council of States) के सदस्यों (Deputies) की प्रार्थना पर अथवा पांच कैण्टनों[1] की प्रार्थना पर संघीय संसद् के एक सदन या दोनों का विशेष अथवा असाधारण सत्र (Session) आहूत किया जा सकता है। राज्य सभा (Council of States) प्रत्येक साधारण अथवा असाधारण सत्र के लिए अपना अलग चेयरमैन अथवा उप-चेयरमैन निर्वाचित करती है। किन्तु संविधान चाहता है कि चेयरमैन और वाइस चेयरमैन दोनों उस ही कैण्टन के निवासी न हों जिसका डिप्टी अथवा सदस्य (Deputy) इस सत्र से पूर्व के साधारण सत्र (Ordinary Session) का चेयरमैन रह चुका हो।[2] इस साविधानिक उपबन्ध का प्रभाव यह है कि चेयरमैन का पद विभिन्न कैण्टनों के सदस्यों (Deputies) को हर बार मिलता रहता है।[3] चेयरमैन (Chairman) राज्य सभा की बैठकों का सभापतित्व करता है और वही प्रतिदिन की कार्यवाही का क्रम निश्चित करता है। यदि किसी प्रश्न पर बराबर-बराबर मत आवें तो चेयरमैन का निर्णायक मत होता है, किन्तु चुनावों में वह उसी प्रकार मतदान करता है जिस प्रकार कि अन्य सदस्य।

राज्य सभा में निर्णय की गई कोई बात अखंडनीय उसी समय मानी जाएगी जबकि राज्य सभा के ४४ सदस्यों में से कम-से-कम २३ सदस्यों (Deputies) ने उसके पक्ष में मतदान किया हो;[4] और सभी प्रश्न मतदान करने वाले सदस्यों के पूर्ण बहुमत द्वारा निर्णय किए जाने पर ही निर्णीत किए जाते हैं।[5] राज्य सभा के

1. Article 86.

2. Article 82.

3. अर्द्ध कैण्टनों की स्थिति स्पष्ट नहीं है।

4. Article 87. इसका अर्थ है कि ४४ सदस्यों में से २३ उपस्थित होने चाहियें। राज्य सभा के चेयरमैन का कर्त्तव्य है कि वह सदस्यों की हाजिरी लेकर यह मालूम कर सकता है।

5. Article 88. स्विट्जरलैण्ड में पूर्ण बहुमत के अर्थ हैं आधे से अधिक अर्थात् मतदान करने वालों में से आधे से अधिक; उपस्थित सदस्यों में आधे से अधिक और समस्त राज्य सभा के सदस्यों में आधे से अधिक।

Hughes, C. : The Federal Constitution of Switzerland, op. cit., p. 99.

सदस्य गण (Deputies) किसी प्रश्न पर मत देते समय अपने कैण्टनों से आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक नही समझते;[1] और इस सांविधानिक उपबन्ध का यह अर्थ है कि राज्य सभा (Council of States) के सदस्यगण विभिन्न कैंटनों के हितो का प्रतिनिधित्व नहीं करते और उनको प्रत्येक प्रश्न के लिए कैंटनों द्वारा अलग-अलग मतदान सम्बन्धी आज्ञा प्रदान करना सहज नही है। क्रिस्टोफर ह्यूजेज (Christopher Hughes) कहता है कि संविधान के उक्त अनुच्छेद का यह उद्देश्य है कि सदस्य लोग स्वविवेक के अनुसार मतदान करें न कि कैंटनों के विधानमण्डलों के आदेशों के अनुसार[2] अथवा न अपने दलों के आदेशानुसार और न समुदायों (Associations) की आज्ञाओं के अनुसार।

राज्य सभा, एक कमज़ोर उच्च सदन (The Council of States a Weaker Chamber)—राज्य सभा के वही अधिकार और शक्तियाँ हैं जो राष्ट्रीय परिषद् की है। सब व्यवस्थापक प्रस्ताव दोनों सदनों द्वारा अनुमोदित होने चाहिएँ। मतभेद उत्पन्न होने पर यदि समितियों के प्रयत्न किसी समझौते तक पहुँचने में असफल हो जायें, तो विधेयक गिरा दिया जाता है। वित्तीय विषयों के मामलों मे भी किसी सदन को प्राथमिकता प्राप्त नहीं है।

स्पष्टत: स्विस संविधान के निर्माताओं ने यही सोचा था कि राज्य सभा (Council of States) अमेरिका की सीनेट के समान निकाय बनेगा और राष्ट्रीय शासन के आकार में इसको वही आदरपूर्ण स्थिति प्राप्त होगी। किन्तु राज्य सभा ने कई कारणों से संविधान के निर्माताओं की आशाओ को पूर्ण नही किया। स्विस राज्य सभा का इतिहास बताता है कि यह अमेरिका की सीनेट के विपरीत रही है। अमेरिकी सीनेट प्रारम्भ मे प्रतिनिधि सदन (House of Representatives) की अपेक्षा घटिया और कम प्रभावशाली सदन था। किन्तु जब प्रारम्भिक राजनीतिज्ञो की दूसरी पीढ़ी सीनेट में आई, तो इसकी वर्तमान प्रभावशाली स्थिति हो गई। इसके विपरीत स्विस राज्य सभा ने प्रारम्भ मे बड़ी आशाएँ दिलाई थी और इसकी प्रतिष्ठा भी महान् थी। किन्तु धीरे-धीरे इसकी स्थिति घटिया हो गई और फिर प्रतिभाशाली और उत्साही लोग राज्य सभा की अपेक्षा राष्ट्रीय परिषद् (National Council) की सदस्यता को श्रेष्ठतर समझने लगे। अमेरिका की सीनेट के विपरीत स्विस राज्य सभा के कोई निश्चित कर्तव्य नहीं हैं और सभी डिप्टियों (Deputies) का सदस्यता काल समान नही है, यहाँ तक कि कतिपय कैण्टनों के डिप्टी (Deputies) तो किसी भी समय वापस बुलाए जा सकते हैं। इस कारण होनहार और ऊँची आकांक्षाओं वाले नवयुवकों को राज्य सभा में कोई रुचि नहीं रह गई; इसलिए यदि वे राज्य सभा (Council of States) में पहुँच भी जाते थे तो केवल राष्ट्रीय परिषद् (National Assembly) की सदस्यता प्राप्त करने के उद्देश्य से ही इसमे कुछ समय रहते थे। जब कभी किसी विधानमण्डल के दो सदनों की समान

1. Article 91.
2. The Federal Constitution of Switzerland, op. cit., p. 104.

शक्तियाँ और समान कर्त्तव्य होते हैं, उस स्थिति में जिस सदन में सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि आते हैं, उसी में योग्य और प्रतिष्ठित राजनीतिज्ञ स्थान प्राप्त करते हैं क्योंकि सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचित इसी सदन के सदस्य समस्त राजनीतिक क्रिया-कलापों के आधार बन जाते हैं। और इसलिए इस सदन की अधिक प्रतिष्ठा होती है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि स्विस राज्य सभा (Council of States) की, स्विस राष्ट्रीय परिषद् (National Council) की अपेक्षा कम प्रतिष्ठा है और कम प्रभाव है।

किन्तु राज्य सभा राष्ट्रीय परिषद् का अधीन सदन नहीं है (But it does not enjoy a subordinate position)—किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि स्विस राज्य सभा उन अन्य देशों के उच्च सदनों की अपेक्षा जिनमें संसदीय शासन-प्रणाली है, घटिया दर्जे का निकाय है। राज्य सभा स्विट्जरलैण्ड में राष्ट्रीय परिषद् (National Council) के बराबर सांविधानिक, व्यवस्थापक और वित्तीय शक्तियों का उपभोग करती है। सभी विधियाँ दोनों सदनों की स्वीकृति से ही पारित हो सकती है। इसलिए राज्य सभा और राष्ट्रीय परिषद् दोनों में इस सम्बन्ध में मतैक्य होना चाहिए कि कौन-सा कार्यक्रम किस सदन में प्राथमिकता प्राप्त करेगा। आय-व्ययक (Budget) आदि के सम्बन्ध में वार्षिक कार्यवाही एक वर्ष तक पहले, राज्य सभा में प्रारम्भ होती है। फिर राष्ट्रीय परिषद् में उसी क्रम के अनुसार अगले वर्ष भर पहले राष्ट्रीय परिषद् में प्रारम्भ होगी, फिर राज्य सभा में। राज्य सभा किसी भी हालत में आज्ञाकारी निकाय नहीं है। यह सदन अथवा निकाय प्रायः राष्ट्रीय परिषद् द्वारा पारित आज्ञाओं अथवा विधेयकों पर आपत्ति करता है और न केवल आपत्ति व्यक्त करके रह जाता है बल्कि उस पर हठपूर्वक डटा रहता है। राष्ट्रीय परिषद् को राज्य सभा की व्यवस्थापक और वित्तीय शक्तियों के ऊपर निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त नहीं है।

राष्ट्रीय परिषद्
(The National Council)

रचना और सगठन (Composition and Organization)—स्विट्जरलैण्ड में प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण सदन राष्ट्रीय परिषद् (National Council) है जो स्विस सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों का सदन है। राष्ट्रीय परिषद् की रचना और संगठन संघीय संविधान के उपबन्धों के अनुसार किया गया है यद्यपि राज्य सभा के साथ ऐसा नहीं है। परिषद् में १९६ सदस्य हैं। ये सदस्य (Deputies) प्रत्यक्ष किन्तु गुढ़ मतदान द्वारा (By secret Ballot) चुने जाते हैं और १९१० में इस सदन के लिए समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर चुनाव होता है। प्रत्येक स्विस पुरुष नागरिक को, जिसने बीस वर्षों की आयु पूर्ण कर ली हो और जिसको किसी कारणवश उस कैण्टन की व्यवस्थापिका ने नागरिकता से वंचित न कर दिया हो जिसमें उसका निवास-स्थान हो, राष्ट्रीय परिषद् के लिए वोट देने का

अधिकार है ।[1] प्रत्येक कैण्टन अथवा अर्द्धकैण्टन निर्वाचन-क्षेत्र (Electoral Constituency) होते हैं और प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र को पूर्ण जनसंख्या के २४,००० व्यक्तियों पर एक स्थान दिया जाता है, २४,००० का भाग किन्तु १२,००० से अधिक व्यक्तियों वाला क्षेत्र भी २४,००० की जनसंख्या के समान ही माना जाएगा । किन्तु प्रत्येक कैण्टन अथवा अर्द्धकैण्टन को कम-से-कम एक सदस्य (Deputy) भेजने का अवश्य अधिकार होगा चाहे उसकी जनसंख्या कितनी भी कम हो ।

राष्ट्रीय परिषद् का चुनाव चार वर्ष के लिए किया जाता है । इसको भंग नहीं किया जा सकता, हां यदि संविधान का पूर्ण संशोधन करना है और जब इस सम्बन्ध में एक सदन दूसरे सदन से भिन्न मत रखता हो तो भंग किया जा सकता है । इस सदन की सदस्यता के लिए वही अर्हताएं रखी गई हैं जो मतदाताओं की अर्हताएँ है । किन्तु सभी धर्माधिकारी (Clergy), परिसंघ के सभी अधिवासी और मुख्य प्रशासनिक सेवकगण, राज्य सभा (Council of States) के सदस्यों और संघीय परिषद् (Federal Council) के सदस्यों आदि को वर्जित कर दिया गया है और वे राष्ट्रीय परिषद् (National Council) की सदस्यता के लिए प्रत्याशी के रूप में खड़े नही हो सकते ।

राष्ट्रीय परिषद् प्रत्येक साधारण अथवा असाधारण सत्र के लिए अपना चेयरमैन और उप-चेयरमैन चुनती है । किन्तु उन दोनों मे से कोई भी व्यक्ति अगले साधारण सत्र का चेयरमैन अथवा उप-चेयरमैन पुनः निर्वाचित नही हो सकता । सत्र (Session) का अर्थ वही लगाया गया है जो इस शब्द का अर्थ अनुच्छेद ८६ मे लगाया गया है । इस प्रकार राष्ट्रीय परिषद् का चेयरमैन एक वर्ष के लिए चुना जाता है । इस पद का आवश्यक रूप से एक के बाद दूसरे के पास जाना स्विस परम्परा के अनुरूप है, और ऐसा इसलिए किया जाता है कि एक ही आदमी में सारी शक्ति केन्द्रित न हो जाए । इस परम्परा में यह इच्छा भी निहित है कि यह पद सदैव एक ही दल अथवा एक ही कैण्टन अथवा एक ही भाषा-भाषी समुदाय के अधिकार में न पड़ा रहे । चेयरमैन की शक्तियां सामान्य-सी है । उसको निर्णायक मत प्राप्त है, किन्तु उस मत को वह बराबर-बराबर मतों की स्थिति में ही प्रयुक्त करता है, और यही सदन की सुस्थापित परम्परा है । किन्तु जब सदन किसी चुनाव के उद्देश्य से सम्मिलित होता है, उस स्थिति मे स्पीकर भी अन्य सदस्यों के समान ही मतदान करता है ।

सत्र और वाद-विवाद (Sessions and Debates)—राष्ट्रीय परिषद् का साधारण सत्र (Session) दिसम्बर के आरम्भ मे लगता है और उसके प्रायः ६ सम्मेलन होते है । इसके सत्र प्रायः छोटे होते है जो प्रायः एक बार मे तीन सप्ताह

---

1. Article 74. स्विट्ज़रलैंड में पूर्ण-पुरुष-वयस्क-मताधिकार (Manhood Suffrage) १८४८ में ही दे दिया गया था । स्त्रियों को मताधिकार नहीं है यद्यपि संविधान ने भी स्त्रियों को मताधिकार से वंचित नहीं किया है ।

तक चलते हैं। संघीय परिषद् आपातकाल की अवस्था में असाधारण सत्र भी आहूत कर सकती है। राष्ट्रीय परिषद् की बैठक गर्मियों मे प्रातःकाल आठ बजे प्रारम्भ होती है और जाड़ों में ९ बजे। परिषद् की उपस्थिति सभी सदस्यो के लिए अनिवार्य है और बिना अत्यावश्यक कारणों के किसी सदस्य का सदन में अनुपस्थित रहना, कर्त्तव्य से जी चुराना समझा जाता है। सदन तुरन्त कार्यवाही मे जुट जाता है और सामान्य स्विस संसद् सदस्य उन्ही अच्छे गुणों का प्रदर्शन करता है जो स्विस चरित्र के मुख्य लक्षण माने जाते है। स्विस डिप्टी (Swiss Deputy) ठोस (Solid) गम्भीर और समझदार होता है और आवेगरहित होता है, अथवा आवेग प्रदर्शित नही करता। वह प्रत्येक प्रश्न पर व्यावहारिक बुद्धि से सोचता है और प्रायः मध्य-मार्ग अपनाता है। इसलिए स्विस संघीय संसद् ससार मे सबसे अधिक नियमपूर्वक व्यावहारिक कार्य करने वाली संसद् है और अपना समस्त कार्य खामोशी के साथ करती रहती है। वाद-विवाद संयमित रहते है और नपे-तुले शब्दो मे थोड़ी-सी वक्तृताएँ होती हैं। आलंकारिक भाषा मे तड़कीली-भड़कीली वक्तृताएँ बिल्कुल नही होती और प्रचलित तालियों की गड़गड़ाहट या प्रशंसासूचक नारे अथवा निन्दापरक आवाजें कभी भी नहीं सुनाई देती। वाद-विवाद में अभिबाधा नहीं डाली जाती और विभाजन (Division) प्रायः बहुत ही कम होता है। राष्ट्रीय परिषद् के सदस्य (Deputies) चारों राष्ट्रीय भाषाओं में से किसी में भी बोल सकते हैं और प्रत्येक सार्वजनिक महत्त्व का प्रलेख जर्मन, फ्रेंच और इटालियन भाषाओं में छापा जाता है। सरकारी आशुलिपिकों (Stenographers) की व्यवस्था नहीं की जाती और प्रसिद्ध समाचार-पत्रों मे भी वाद-विवाद संक्षेप से छपते हैं। कभी-कभी यदि राष्ट्रीय परिषद् चाहे तो जबानी कुछ सूचना पत्रों को दे देती है और कुछ महत्त्वपूर्ण वाद-विवादों को छपवा देती है।

सम्मिलित बैठकें (Joint Sittings)—संघीय संसद् के दोनों सदन अपनी-अपनी सामान्य कार्यवाही के लिए अलग-अलग बैठक करते हैं किन्तु तीन निश्चित उद्देश्यों के लिए दोनों सदनों के सम्मिलित सत्र भी होते हैं—

(१) दोनों सदनों के सम्मिलित सत्र में ही संघीय परिषद् (Federal Council) के पार्षदों और उसके अध्यक्ष का, संघीय न्यायाधिकरण के न्यायाधीशों का, परिसंघ (Confederation) के सचिवालय-प्रधान (Chancellor) का, और संघीय सशस्त्र बलों (Federal Army) के सर्वोच्च सेनापति (General-in-Chief) का निर्वाचन होता है।

(२) विभिन्न संघीय सत्ताओं के बीच यदि अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में प्रतिरोध उत्पन्न हो जाए तो उसका निर्णय भी दोनों सदनों के सम्मिलित अधिवेशन मे ही होता है।

(३) क्षमादान भी दोनों सदन सम्मिलित अधिवेशन में ही निश्चित करते है। इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिए कि क्षमादान (Pardon) तो संसद् के दोनों

सदन सम्मिलित अधिवेशन[1] मे ही कर सकते हैं किन्तु राजद्रोहिक्षमा (Amnesty) के लिए दोनो सदनों के अधिवेशन अलग-अलग होने चाहिएँ। यह स्पष्ट नही है कि क्षमादान (Pardon) और राजद्रोहिक्षमा (Amnesty) में क्या अन्तर है।[2]

जिस समय दोनो सदनों का सम्मिलित सत्र होता है राष्ट्रीय परिषद् (National Council) का चेयरमैन सभापतित्व करता है, और सभी निर्णय दोनों सदनों के समस्त डिप्टियो अथवा सदस्यों (Deputies) के बहुमत पर किए जाते है।[3]

संसद् के दोनों सदनों के बीच गतिरोध (Deadlock between the two Houses)—संसद् के दोनों सदनों के बीच सम्बन्धों के निर्वहन के लिए विधि में सावधानी के साथ विविध अवयवों की प्रक्रिया (Elaborate Procedure) की व्याख्या की गई है (अनुच्छेद ५—७) जिससे दोनों सदनों के मतभेद (Divergences) दूर किए जा सकें। किन्तु ऐसी कोई प्रक्रिया नही है जिससे हठपूर्ण गतिरोध दूर किया जा सके। यदि गतिरोध दूर करने सम्बन्धी प्रक्रिया के अनुसार प्रयत्न करने के बाद भी दोनों सदनों मे से कोई भी सदन हठ न छोड़े तो उस समस्त परियोजना (Project) को ही त्याग देना चाहिए। यदि कुछ समय पश्चात् उसको पुनः पुरःस्थापित किया जाता है तो उसको फिर प्रारम्भिक स्तर से प्रारम्भ करना होगा। जहाँ निर्णय करना आवश्यक है, उसके लिए संविधान चाहता है कि दोनों सदन सम्मिलित अधिवेशन मे एकत्र हों और दोनों सदनों के समस्त डिप्टी या सदस्य (Deputies) एक सदन के सदस्यों के रूप में मत दें। चूँकि राष्ट्रीय परिषद् में राज्य सभा की अपेक्षा लगभग चौगुने सदस्य होते हैं इसलिए उसी की चलती है। किन्तु इस प्रकार के गतिरोध की स्विट्जरलैण्ड में सम्भावनाएँ बहुत ही कम हैं।

व्यवस्थापक प्रक्रिया (Legislative Procedure)—स्विस विधानमण्डल के दोनों सदनों के समक्ष जितने भी प्रस्ताव आते हैं वे दो प्रकार के होते हैं; प्रशासन सम्बन्धी विधेयक और अन्य अभिप्राय के विधेयक। प्रशासनिक विधेयक वे होते हैं जिनको, अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन में कार्यपालिका आवश्यकता समझती है। ऐसे प्रस्तावो का प्रारूप संघीय परिषद् तैयार करती है और वही संसद् मे पुरःस्थापित करती है और परिषद् के एक या एक से अधिक पार्षद संसद् में उपस्थित होते है और प्रस्तावित विधेयक की व्याख्या करते है और संसद् से सिफारिश करते हैं कि उक्त विधेयक पर विचार किया जाए और उसे स्वीकार किया जाए। विस्तृत अभिप्राय के विधेयको कि माँग सर्वसाधारण की ओर से भी आ सकती है और उनको संसद् (Federal Assembly) के किसी सदस्य के द्वारा भी पुरःस्थापित किया जा सकता

1. Article 92.

2. इस सम्बन्ध में दो मुख्य सम्भावनाएँ हैं। (i) राजद्रोहिक्षमा (Amnesty) अधिक व्यक्तियों पर लागू होती है किन्तु क्षमादान (Pardon) व्यक्तिगत क्षमा है; और (ii) राजद्रोहिक्षमा दोषारोपण सम्बन्धी निर्णय से पहले की जाती है किन्तु क्षमा (Pardon) दोषारोपण (Condemnation) के बाद की जाती है—Hughes, C.: The Federal Government of Switzerland, op. cit., p. 95.

3. Article 92.

है। यदि किसी विधायी परियोजना (Project) का सूत्रपात विधानमण्डल के किसी सदस्य द्वारा हुआ है, तो प्रथा यह है कि संसद् के दोनो सदन उक्त परियोजना के व्यावहारिक लाभों और उसमें निहित राजनीतिक बुद्धिमत्ता का परीक्षण करते है। यदि इस स्तर में उक्त प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है तो संघीय परिषद् को आज्ञा दी जाती है कि वह विधेयक का प्रारूप तैयार करे और संघीय परिषद् (Federal Council) सत्यनिष्ठा से संघीय संसद् की इच्छाओं के अनुसार कार्य करती है। वित्तीय विधेयकों पर संघीय परिषद् का पूर्ण नियन्त्रण रहता है और वित्तीय प्रस्तावो को संसद् के सदस्य पुरःस्थापित नहीं कर सकते। वित्तीय विधेयको की मांग सर्व-साधारण की ओर से भी नहीं आ सकती। अधिकतर विधेयकों को समितियो के सुपुर्द कर दिया जाता है। समितियों का गठन, संसद् में प्रतिनिधित्व-प्राप्त विभिन्न दलों की शक्ति के अनुपात से किया जाता है। प्रत्येक समिति का एक रिपोर्टर (Reporter) होता है और उसी के द्वारा संसद् के दोनों सदनों को बहुमत और अल्प मत की रिपोर्ट दी जाती है।

संघीय संसद् की शक्तियाँ
(Powers of the Federal Assembly)

जैसा कि पहले भी बताया गया था, संघीय संसद् की शक्तियों पर अपने ही अधिकार-क्षेत्र में प्रायः कोई साविधानिक बन्धन नहीं हैं। अनुच्छेद ८४ स्पष्टतः वर्णन करता है कि राष्ट्रीय परिषद् (National Council) और राज्य सभा (Council of States) उस समस्त कार्यवाही के करने में पूर्ण स्वतन्त्र होंगी जो आधुनिक संविधान ने परिसंघ (Confederation) के अधिकार-क्षेत्र में सौंपी है और जिसको किसी अन्य संघीय सत्ता को विशिष्ट रूप से नहीं सौंपा गया है। संविधान के निर्माताओं ने यह आवश्यक नहीं समझा कि संघीय संसद् की शक्तियों पर कोई विशिष्ट अंकुश लगाए जाएँ, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर सर्वसाधारण की इच्छा के अनुसार जनमत-संग्रह के द्वारा संसद् के प्रभाव को मन्दाभ किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त स्विट्जरलैण्ड जैसे छोटे से देश में जहाँ कि विधानमण्डल के सदस्यो की संख्या अत्यल्प कम है और जहाँ राजनीतिज्ञों की जाँच परम्परागत ईमानदारी के प्रमाणों के द्वारा होती है; संसद् के ऊपर किसी प्रकार के अंकुश की आवश्यकता नहीं है क्योंकि "जहाँ संसद् के सदन अपनी शक्तियों को, सांविधानिक सीमाओं का अतिक्रमण करके, बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे, तुरन्त जनमत ऐसी प्रवृत्ति को रोक देगा।"

स्विस विधानमण्डल की अन्य विशेषता यह है कि उसके दोनों सदन शक्तियों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में एक-दूसरे के बराबर हैं। विधेयकों को किसी भी सदन में उपस्थित किया जा सकता है और कोई भी सदन दूसरे सदन की शक्तियों का प्रति-निषेध (Veto) नहीं कर सकता। संघीय परिषद् के सदस्यों (Federal Councillors) को दोनों सदनों में उपस्थित होना पड़ता है और प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते है यद्यपि वे दोनों में से किसी भी सदन के सदस्य नहीं होते। कुछ उद्देश्यों जैसे

संघीय पार्षदों का चुनाव, अथवा संघीय सत्ताओं में अधिकार-क्षेत्र सम्बन्धी विवादों के निर्णयार्थ अथवा क्षमादान (granting of pardons) के लिए दोनों सदन एक ही हाल मे एकत्र होते है और सम्मिलित होकर एक सदन के रूप में मत देते है। इसके अतिरिक्त कुछ शर्तों के अनुसार संविधान में तभी संशोधन हो सकता है जब कि राष्ट्रीय परिषद् (National Council) और राज्य सभा (Council of States) दोनों तदर्थ सहमत हो।

स्विस विधानमण्डल की विशेषताओं के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि संविधान के निर्माताओं ने शक्तियों के पृथक्करण के पुराने सिद्धान्त पर कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने संघीय संसद् को समस्त शक्तियाँ—व्यवस्थापक, कार्यकारी और न्यायिक—दे डालीं। स्पष्ट है कि स्विट्जरलैण्ड में संसद् (Assembly) का शासन है।

विधायिनी शक्तियाँ (Legislative Powers)—संघीय संसद् उन सभी विधियों और आज्ञाओं को पारित कर सकती है जिनका सम्बन्ध उन विषयों से है जिनको संविधान ने संघीय सत्ताओं को सौंपा है और संसद् संघीय सत्ताओं के लिए चुनाव व्यवस्था सम्बन्धी विधियाँ भी पारित कर सकती है। संघीय संविधान की क्रियान्विति की गारण्टी के लिए और अन्य संघीय उत्तरदायित्वों के निर्वहन के लिए जिस प्रकार की भी विधियों की आवश्यकता होगी उनको संघीय संसद् पास कर सकती है। संसद् ऐसे अधिनियम भी पारित कर सकती है जिनसे देश की बाह्य आक्रमणों के विरुद्ध रक्षा, अथवा अपनी स्वतन्त्रता और तटस्थता की रक्षा के लिए आवश्यक व्यवस्था की जा सके। संसद् ऐसे अधिनियम भी पारित कर सकती है जिनसे कैण्टनों की प्रादेशिक स्वच्छन्दता और उनके संविधानों की क्रियान्विति, देश की आन्तरिक सुरक्षा और समस्त देश में शान्ति बनी रहे। संसद् ही परिसंघ की वार्षिक आय-व्ययक (Budget) सम्बन्धी विधि तैयार करती है और उसको पारित करती है; राज्यों अथवा कैण्टनों के लेखों (Accounts) को स्वीकृति प्रदान करती है और उनको ऋण लेने की अनुमति देती है। अन्ततः, संसद्, परिसंघ के प्रशासन से सभी आवश्यक जानकारी माँग सकती है और संसद् संघीय पार्षदों से भी आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकती है। संघीय परिषद् (Federal Council) संघीय संसद् को परिसंघ (Confederation) की आन्तरिक स्थिति और उसके विदेशों के साथ सम्बन्धों के विषय मे वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है। यदि संघीय संसद् अथवा उसका कोई सदन चाहे तो संघीय परिषद् को परिसंघ के विषय में विशेष रिपोर्ट (Special reports) भी देनी होगी।

स्विस संविधान का आदेश है कि संसद् द्वारा पारित समस्त विधियाँ और संसद् द्वारा स्वीकृत सभी प्रस्ताव जनमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत किए जाएँ बशर्ते कि उक्त विधि अथवा प्रस्ताव को संसद् ने विशेष आवश्यक (urgent) घोषित न कर दिया हो; किन्तु इस सम्बन्ध में उक्त विधि अथवा प्रस्ताव स्वीकृत होने के ६० दिनों मे या तो ३०,००० नागरिकों द्वारा अथवा आठ कैण्टनों द्वारा तदर्थ प्रार्थना आनी

आवश्यक है। यदि जनमत-संग्रह के फलस्वरूप, सर्वसाधारण का बहुमत उक्त विधि के विरुद्ध मत देगा तो उसे रद्द समझा जाएगा। १६३६ के पूर्व जो संघीय आज्ञाएँ सामान्य प्रकार की नहीं होती थी और जिनको विशेष आवश्यक घोषित कर दिया जाता था, उनको जनमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत नहीं किया जाता था। २२ जनवरी १६३६ के संशोधन ने किसी आज्ञा को विशेष आवश्यक (urgent) घोषित करने के सम्बन्ध में यह उपबन्धित किया कि केवल वही आज्ञाएँ विशेष आवश्यक (urgent) घोषित की जा सकेंगी जिनको अलग-अलग दोनों सदनों के बहुमतों ने पारित किया हो और जिनके प्रभावीकरण की अवधि निश्चित हो अर्थात् जो आज्ञाएँ निश्चित काल के लिए ही निकाली गई हैं।[1] अनुच्छेद ८६ को १६४६ में पुनः संशोधित किया गया और आधुनिक स्थिति यह है कि किसी भी संघीय आज्ञा के सम्बन्ध में ३०,००० नागरिक अथवा आठ कैण्टन जनमत-संग्रह की मांग कर सकते हैं; और इसका कोई विचार नहीं है कि उक्त आज्ञा को विशेष आवश्यक (urgent) घोषित किया गया था अथवा नहीं। इस प्रकार की संसदीय आज्ञा को यदि सर्वसाधारण एक वर्ष के अन्दर स्वीकार नहीं कर लेते तो वह स्वीकृति के एक वर्ष बाद स्वयं प्रभावहीन हो जाएगी। इस प्रकार की आज्ञा एक बार से अधिक संसद् द्वारा अधिनियमित नहीं की जाएगी।

कार्यपालिका शक्तियाँ (Executive Powers)—राज्य सभा (Council of States) और राष्ट्रीय परिषद (National Council) दोनों अपने सम्मिलित अधिवेशन में संघीय परिषद् (Federal Council) के सातों सदस्यों का, और उनके अध्यक्ष का निर्वाचन करती हैं; और संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) के न्यायाधीशों, संघीय बीमा निकाय के सदस्यों और सर्वोच्च सेनापति की भी नियुक्तियाँ करती हैं। अन्य अधिकारियों के चुनाव का अथवा उनके चुनाव की स्वीकृति का अधिकार संघीय संसद् को संघीय विधि की आज्ञानुसार दिया जा सकता है। संघीय संसद् ही समस्त सिविल सेवकों के क्रिया-कलापों का अधीक्षण करती है और यदि संघीय अधिकारियों में कभी अधिकार-क्षेत्र सम्बन्धी कोई विवाद खड़ा हो जाए तो संसद् ही प्रशासनिक झगड़ों को निपटाती है। संसद् ही संघीय विभागों और संघीय सचिवालय (Chancellory) के अधिकारियों का वेतन और भत्ता आदि निश्चित करती है; तथा स्थायी संघीय कार्यालयों के कर्मचारियों का वेतन भी संसद् ही निश्चित करती है।

संघीय सशस्त्र बलों पर भी संसद् का ही नियंत्रण है। संसद् ही युद्ध की घोषणा करती है और शांति सन्धि करती है और यही सन्धियों (treaties) और संमैत्रियों (alliances) का अनुसमर्थन करती है। यदि कैण्टनों ने आपस में सन्धियाँ की हैं अथवा यदि कैण्टनों ने विदेशों के साथ सन्धियाँ की हैं तो उनका संघीय संसद् द्वारा अनुसमर्थन आवश्यक है। किन्तु इसमें शर्त यह है कि इस प्रकार की कैण्टनों द्वारा की हुई सन्धियाँ संसद् के समक्ष केवल उन अपीलों के रूप में आती हैं जिनको या तो

1. Article 89, Section 3.

संघीय परिषद् ने या किसी अन्य कैण्टन ने प्रस्तुत किया हो। यदि कोई कैण्टन संघीय विधियों की क्रियान्विति अथवा संघीय उत्तरदायित्वों के निर्वहन में ढील डालता है तो संघीय संसद् ही निश्चित करती है कि दोषी कैण्टन के विरुद्ध क्या कार्यवाही की जाए और उक्त कैण्टन के प्रबन्ध में किस प्रकार हस्तक्षेप किया जाए। अनिश्चित काल के लिये अथवा १५ वर्ष से अधिक समय के लिए की गई अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के विषय में लोगों की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति जानने के लिए विधान में जनमत-संग्रह कराने का भी प्रबन्ध है। शर्त यही है कि ३०,००० वोट का अधिकार रखने वाले स्विस नागरिक या आठ कैण्टन इसकी माँग करें। लीग ऑफ नेशन्स (League of Nations) में स्विट्जरलैंड का प्रवेश जनमत-संग्रह के आधार पर ही निर्णीत हुआ था।

न्यायिक कर्त्तव्य (Judicial Functions)—संघीय संसद् क्षमादान (pardon) तो दोनों सदनों के सम्मिलित सत्र में करती है किन्तु राजद्रोहि-क्षमादान (amnesty) दोनों सदन अलग-अलग अधिवेशनों में करते हैं। यदि संघीय परिषद् (Federal Council) ने प्रशासनिक विवादों पर कोई निर्णय दिए हैं तो उनके विरुद्ध अपीलें भी संघीय संसद् के समक्ष आती हैं।

सांविधानिक संशोधन के सम्बन्ध में अधिकार (Constitution-amending Power)—संविधान के संशोधन की विधि और प्रक्रिया के सम्बन्ध में वर्णन किया जा चुका है।[1] जब दोनों सदन संविधान में संशोधन करने के लिए राजी हो जाते हैं—चाहे पूर्ण संशोधन के लिए या आंशिक संशोधन के लिए—तो प्रस्तावित संशोधन जनमत-संग्रह के लिए भेज दिया जाता है जिसे सर्वसाधारण या तो स्वीकार करें या अस्वीकृत करें। यदि दोनों सदनों में से एक सदन संशोधन के पक्ष में नहीं है, तो उक्त संशोधन सर्वसाधारण के निर्णय के लिए प्रस्तुत किया जाता है और उनसे पूछा जाता है कि वे संशोधन के पक्ष में है अथवा नहीं। यदि सर्वसाधारण का बहुमत संशोधन के पक्ष में हो तो संघीय संसद् के लिए नया आम चुनाव होता है ताकि संशोधन की कार्यवाही पूरी हो जाए। फिर संसद् में तत्सम्बन्धी आवश्यक कार्यवाही के बाद उस को सर्वसाधारण और कैण्टनों के जनमत-संग्रह के लिए भेज दिया जाता है।

स्विस संविधान ने सांविधानिक आरम्भक (Constitutional initiative) की भी व्यवस्था की है और इस दिशा में भी संसद् अपना पार्ट अदा करती है यद्यपि अंतिम निर्णय सर्वसाधारण के द्वारा ही होता है।

---

1. अध्याय २

अध्याय ६

स्विस संघीय शासन का स्वरूप (क्रमशः)

(The Frame of National Government)—*Contd.*

संघीय न्यायपालिका

(The Federal Judiciary)

संघीय न्यायाधिकरण (The Federal Tribunal)—स्विट्जरलैण्ड के संघीय न्यायाधिकरण की सृष्टि १८७४ मे की गई थी। यह एक नई चीज थी। इसमें सन्देह नहीं कि १८४८ के संविधान के संघीय अधिकार-क्षेत्र में न्याय-व्यवस्था के लिए एक न्यायालय की व्यवस्था की थी किन्तु इस न्यायालय को यह अधिकार नही था कि यदि परिसंघ (Confederation) और कैण्टनों की विधियों में विभिन्नता हो अथवा यदि कैण्टनों के बीच विविध विधियों के सम्बन्ध में विवाद हो तो वह निर्णय दे सके। इस प्रकार के विवाद जो अब संघीय न्यायाधिकरण द्वारा सुलझाए जाते है, पहले संघीय संसद् (Federal Assembly) और संघीय परिषद् (Federal Council) के सम्मुख जाते थे। यहाँ तक कि नागरिकों के अधिकारों सम्बन्धी मामले भी उस समय तक संघीय न्यायालय के सम्मुख नही जा सकते थे जब तक कि संघीय परिषद् या संघीय संसद् ही उस मामले को संघीय न्यायालय मे स्वयं न भेजे। १८७४ के संविधान ने संघीय न्यायालय की शक्तियों अथवा अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में कोई प्रभावी परिवर्तन नहीं किए, किन्तु व्यवहारतः उस न्यायालय के अधिकार में पर्याप्त वृद्धि हुई है। अनुच्छेद १०६ केवल यही आदेश देता है कि "एक संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) की स्थापना की जाए जो संघीय अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध मे न्याय की व्यवस्था करेगा।" वर्तमान संघीय न्यायाधिकरण ने १८७५ में अपना कार्य आरम्भ किया और "तब से कई बार इसके अधिकार-क्षेत्र में वृद्धि हुई है और इसके अधिकार-क्षेत्र में वृद्धि के साथ-साथ संघीय परिषद् के अधिकार-क्षेत्र में किसी सीमा तक संकोचन हुआ है।"[1]

संघीय न्यायाधिकरण की रचना तथा संगठन (Composition and Organization of the Federal Tribunal)—संविधान आदेश देता है कि, "विधि ही संघीय न्यायाधिकरण और उसके उपविभागों के संगठन की रीति; उसके सदस्यों और उप-सदस्यों की संख्या और उनकी पदावधि, और वेतन आदि के सम्बन्ध में निर्णय करेगी।"[2] न्यायाधीशों और उपन्यायाधीशों का चुनाव संघीय संसद् के दोनों

1. Hughes, C.: The Federal Constitution of Switzerland, p. 119.

2. Article 107, Section 2.

सदनों के सम्मिलित सत्र में होता है ।[1] संविधान न्यायाधीशों की योग्यताओं और अर्हताओं के सम्बन्ध में मौन है । उसमें तो केवल यही कहा गया है कि कोई भी स्विस नागरिक जो राष्ट्रीय परिषद् (National Council) की सदस्यता की अर्हता रखता हो, संघीय न्यायाधिकरण में नियुक्त किया जा सकता है ।[2] किन्तु संघीय संसद् एवं संघीय परिषद् के सदस्य तथा वे अन्य अधिकारी जो इन संस्थाओं के लिए चुने गए हों, एक ही समय में अपने पदों के साथ-साथ संघीय न्यायाधिकरण के भी सदस्य नही रह सकते । संघीय न्यायाधिकरण के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में संविधान ने केवल एक शर्त रखी है कि संघीय संसद् (Federal Assembly) जिस समय संघीय न्यायाधिकरण के न्यायाधीशों और उप-न्यायाधीशों की नियुक्ति करे तो यह ध्यान रखे कि परिसंघ की तीनों राष्ट्रीय भाषाओं को उचित और न्याय्य प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाए ।[3] किन्तु अब अत्यन्त योग्य और वैधिक योग्यता के व्यक्ति को ही छाँटा जाता है और "कभी-कभी राजनीतिक कारणों से भी चुनाव पर प्रभाव पड़ सकता है, फिर भी कभी यह नहीं कहा गया है कि स्विट्जरलैण्ड में न्यायाधीशों की योग्यता इंग्लैंड अथवा अमेरिका के न्यायाधीशों की अपेक्षा घटिया होती है या स्विट्जरलैण्ड में न्यायाधीशों की नियुक्तियों पर इंग्लैण्ड या संयुक्त राज्य में न्यायाधीशो की नियुक्तियों पर पड़ने वाले प्रभाव की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है ।"

१९४३ की न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी विधि ही संघीय न्यायाधिकरण के संगठन पर प्रकाश डालती है । इस विधि ने संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) के न्यायाधीशों की संख्या २६ से लेकर २८ तक निर्धारित की है और उसमें २६ न्यायाधीश कार्य करते हैं । साथ ही लगभग ११ से लेकर १३ तक उप-न्यायाधीश (Alternates or Deputy Judges) होते है । संघीय न्यायाधिकरण के न्यायाधीश संघीय संसद् द्वारा छः वर्षों के कार्यकाल के लिए निर्वाचित होते हैं । किन्तु संघीय पार्षदो (Federal Councillors) के समान न्यायाधीशों को भी पुनर्निर्वाचित कर लिया जाता है और वे जब तक अपने पदों पर रहना चाहे, रह सकते हैं । इससे न्यायाधीशों का कार्यकाल स्थायी-सा हो जाता है । इसके कारण न्यायपालिका की अधीनता का भय नही रहता । किन्तु यदि न्यायाधीशों का कार्यकाल अस्थायी होता तो उनके ऊपर बाह्य प्रभाव पड़ने का भय रहता । संघीय संसद् न्यायाधिकरण के अध्यक्ष एव उपाध्यक्ष का भी निर्वाचन करती है । इनमें से प्रत्येक का कार्यकाल दो वर्ष होता है । किन्तु इनका तुरन्त पुनर्निर्वाचन नही होता ।

न्यायाधीशों को ३०,००० फ्राक वार्षिक का वेतन[4] मिलता है और साथ में पेंशन लाभ । अध्यक्ष को २,००० फ्राक अतिरिक्त मिलता है । उप-न्यायाधीशों को दैनिक क्रम से, जितने दिन वे कार्य करते हैं उनके पैसे मिल जाते है । न्यायाधीशों

1. Article 92.
2. Article 108.
3. Article 107, Section 1.
4. Article 110.

को ६० वर्ष की आयु पूर्ण कर लेने पर पेंशन मिलती है, किन्तु शर्त यह है कि उन्होंने संघीय न्यायाधिकरण में कम-से-कम १० वर्ष सेवा की हो। सेवा-काल के हिसाब से पेंशन की धनराशि में ४० प्रतिशत से लेकर ६० प्रतिशत तक का अन्तर पड़ सकता है।

केवल संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) ही एक संघीय न्यायालय है। संघ के छोटे न्यायालय नहीं हैं। फौजदारी विधि के अनुसार कार्य करने वाले एसाइजेज (Assizes) न्यायालय हैं। इतने कम संघीय न्यायालय रखने का कारण यह है कि अधिकतर न्यायिक कार्य कैण्टनों के न्यायालयों में होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के समान, स्विस संघीय न्यायाधिकरण का बड़ा कर्मचारी वर्ग भी नहीं होता जो सारे देश में न्यायाधिकरण के निर्णयों की क्रियान्विति के लिए उत्तरदायी होता। स्विट्जरलैण्ड में न्यायाधिकरण के निर्णयों की क्रियान्विति के लिए संघीय परिषद् (Federal Council) उत्तरदायी है। संघीय परिषद कैण्टनों के अधिकारियों के द्वारा निर्णयों की क्रियान्विति की देख-भाल करती है। स्विट्जरलैण्ड के संघीय न्यायाधिकरण का ऐसा अपूर्व संगठन है जिसके कारण संघीय न्याय-व्यवस्थाओं अथवा न्यायपालिकाओं में इसको आदर के साथ देखा जाता है।

संघीय न्यायाधिकरण का अधिकार-क्षेत्र (Its Jurisdiction)—संघीय न्यायाधिकरण का अधिकार-क्षेत्र समस्त दीवानी, फौजदारी और सार्वजनिक विधि के ऊपर है। जैसा कि *अन्यत्र भी बताया गया था, संघीय न्यायाधिकरण संविधान* का संरक्षक अथवा निर्वचक नहीं है; न वह किसी संघीय विधि को असांविधानिक घोषित कर सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि संघीय संसद् द्वारा पारित किसी विधि को संघीय न्यायाधिकरण चुनौती नहीं दे सकता।

(१) दीवानी अधिकार-क्षेत्र (Civil Jurisdiction)—संविधान के आदेशों के अनुसार संघीय न्यायाधिकरण का दीवानी अधिकार-क्षेत्र परिसंघ तथा कैण्टनों के बीच तथा कैण्टनों के आपस की सभी नालिशों और विवादों तक विस्तृत है। यदि कोई व्यक्ति या निगम, परिसंघ (Confederation) के विरुद्ध नालिश करे बशर्ते कि व्यक्ति अथवा निगम, मुद्दई हो, और नालिश की धनराशि ४,००० फ्रांक से कम न हो, ऐसे विवाद भी संघीय न्यायाधिकरण के अधिकार-क्षेत्र में आवेंगे। संघीय न्यायाधिकरण ऐसे विवादों को भी सुनता है, जिनमें राष्ट्रीयता के अधिकारों के अतिक्रमण की शिकायत हो अथवा जिनमें नागरिकता के अधिकारों के हनन की शिकायत हो और जो विभिन्न कैण्टनों की कम्यूनों (Communes) से सम्बन्ध रखते हों।

संविधान ने संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) को जो दीवानी अधिकार-क्षेत्र सौंपा है, उसमें अनुच्छेद ११४ के उपबन्धों ने और अधिक वृद्धि की है, जिसके द्वारा परिसंघ (Confederation) को अधिकार मिला है कि वह न्यायाधिकरण (Tribunal) के सम्मुख अन्य विषयों के मामले (Other matters) भी रख सकता है। यही अनुच्छेद न्यायाधिकरण को और भी अधिकार प्रदान करते हुए आदेश देता है कि वाणिज्य (Commerce) और चलनशील सम्पत्ति के सौदों पर [इसका सम्बन्ध

ऋण विधि (Law of Obligation) से है जिसमें वाणिज्य विधि (Commercial Law) और विनिमय विधि (Law of Exchange) भी सम्मिलित है]; कर्ज और दिवालों, प्रतिलिपि-अधिकार की रक्षा और औद्योगिक आविष्कार आदि सम्बन्धी मामलों में समान विधि की क्रियान्विति करनी चाहिए। संसद् (Assembly) ने संघीय न्यायाधिकरण को प्रायः सामान्य अपीलीय न्यायालय भी बना दिया है जिसमें संघीय विधियों[1] के अन्तर्गत समस्त कैण्टनों के न्यायालयों से ऐसी अपीलें आती हैं जिनकी विवाद-ग्रस्त धनराशि ४,००० फ्रांक से अधिक हो।

(२) फौजदारी अधिकार-क्षेत्र (Criminal Jurisdiction)—फौजदारी विधि के मामलों में संघीय न्यायाधिकरण के अधिकार-क्षेत्र में निम्न प्रकार के विवाद आते हैं—

(क) ऐसे अभियोग जिनमें परिसंघ के विरुद्ध राजद्रोह और संघीय कर्मचारियों के विरुद्ध हिंसा-प्रयोग तथा संघीय संस्थाओं के विरुद्ध विद्रोह हो;

(ख) ऐसे अभियोग जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय विधियों के विरुद्ध अत्याचार तथा अपराध किए गए हों, और

(ग) ऐसे अभियोग जिनमें राजनीतिक कारणों से अत्याचार और अपराध किए गए हों और जो आन्तरिक विद्रोह और अराजकता के या तो कारण हों अथवा फल और जिनमें संघ के सशस्त्र हस्तक्षेप की आवश्यकता आ पड़ी हो; और

(घ) ऐसे अभियोग जिनमें संघीय सत्ता द्वारा नियुक्त अधिकारियों ने अन्याय किया हो और जिनको संघीय सत्ता ने उक्त अधिकारियों के विरुद्ध संघीय न्यायाधिकरण के समक्ष प्रस्तुत किया हो।

अनुच्छेद ६४ (i) परिसंघ को अधिकार देता है कि वह फौजदारी विधि के अनुसार आवश्यक अधिनियम पास करे। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, फौजदारी के मामलों के सम्बन्ध में संघीय न्यायाधिकरण समय-समय पर उन तीन विभिन्न केन्द्रों पर एसाइजेज (Assizes) नाम के न्यायालयों की व्यवस्था करता रहता है जिनमें फौजदारी मामलों के लिए समस्त देश को बांट दिया गया है। इन न्यायालयों (Assizes) में न्यायाधिकरण का एक भाग न्याय-व्यवस्था का कार्य करता है और उनकी सहायता के लिए पास-पड़ोस के गाँवों से छाँटे हुए जूरी (Juries) लोग बैठते हैं। किसी अभियुक्त के ऊपर दोष तभी प्रमाणित हो सकता है जब छः में पाँच जूरी सहमत हों।

संघीय न्यायाधिकरण फौजदारी अधिकार-क्षेत्र के निर्वहन के सम्बन्ध में चार भागों में विभक्त हो जाता है: दि फेडरल क्रिमिनल कोर्ट (The Federal Criminal Court), दि कोर्ट ऑफ एक्यूजेशन (The Court of Accusation) [यह न्यायालय फेडरल क्रिमिनल कोर्ट के विचारार्थ आवश्यक मामले प्रस्तुत करता है और यही पहली दृष्टि में निश्चय करता है कि मामला किस न्यायालय के अधि-

1. Article 111.

कार-क्षेत्र में जाना चाहिए]। तृतीय भाग कोर्ट ऑफ कैसेशन (Court of Cassation) है और अन्तिम एक्स्ट्राआर्डिनरी कोर्ट ऑफ कैसेशन ऑफ सेविन जजेज (Extraordinary Court of Cassation of Seven Judges) है।

(३) सांविधानिक अधिकार-क्षेत्र (Constitutional Jurisdiction)—संघीय न्यायाधिकरण को मर्यादित सांविधानिक अधिकार-क्षेत्र भी प्राप्त हैं। इस अधिकार-क्षेत्र में निम्न विवाद आते हैं—

(क) यदि एक ओर संघीय सत्ताएँ हों तथा दूसरी ओर कैण्टन हो और उन दोनों के बीच अधिकार-क्षेत्र अथवा न्यायिक क्षमता में विवाद हो तो ऐसे विवाद,

(ख) कैण्टनों के बीच सार्वजनिक विधि के सम्बन्ध में विवाद; और

(ग) नागरिकों के साविधानिक अधिकारों के अतिक्रमण सम्बन्धी अपीलें और प्राइवेट व्यक्तियों की अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों और संधियों के अतिक्रमण विषयक अपीलें।

संविधान में नागरिकों के सांविधानिक अधिकारों के सम्बन्ध में जो उपबन्ध दिया गया है उसमें संविधि के आधार पर वे अधिकार भी सम्मिलित कर लिए गए हैं जिनको कैण्टनों के संविधानों ने तथा संघीय संविधान ने मान्यता प्रदान की है। यदि इस प्रकार की कानूनी क्षमता के अधिकार-क्षेत्र को चुनौती दी गई है तो संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह संघीय संविधान को कैण्टनों के संविधानों की अपेक्षा मान्यता प्रदान करेगा और उसी प्रकार कैण्टनों की आज्ञाओं और सामान्य विधियों की अपेक्षा कैण्टनों के संविधान को मान्यता देगा।

(४) प्रशासनिक अधिकार-क्षेत्र (Administrative Jurisdiction)—अन्ततः, संघीय न्यायाधिकरण को कुछ मर्यादित प्रशासनिक अधिकार-क्षेत्र भी प्राप्त हैं। यह प्रशासनिक अभियोगों का भी निर्णय करता है और इसे सरकारी कर्मचारियों की कानूनी क्षमता (Legal Competence) को सन्निहित करने वाले झगड़े तय करने का भी अधिकार मिल गया है। यह बहुत से रेल प्रशासन सम्बन्धी विवादों पर भी निर्णय देता है और करारोपण (Taxation) सम्बन्धी प्रशासनिक मामलों में भी निर्णय देता है।

स्विस संघीय न्यायाधिकरण की संयुक्त राज्य अमेरिका की संघीय सर्वोच्च न्यायपालिका के साथ तुलना (Compared with the Federal Judiciary of United States)—इस पुस्तक के स्विस संविधान सम्बन्धी अध्याय २ में हमने यह बताया था कि स्विस संघीय न्यायपालिका, संयुक्त राज्य अमेरिका की संघीय न्यायपालिका से पर्याप्त अंशों में भिन्न है। स्विस संघीय न्यायाधिकरण (The Swiss Federal Tribunal) यद्यपि राष्ट्रीय न्यायालय है किन्तु उसके अधीन कोई न्यायालय नहीं है। वह अकेला है। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के अधीन सर्किट कोर्ट ऑफ अपील व डिस्ट्रिक्ट कोर्ट आदि कई न्यायालय होते हैं जो सारे देश में व्यवस्थित हैं। संघीय न्यायाधिकरण अथवा न्यायपालिका के अधीन कोई ऐसे अधिकारी वर्ग नहीं हैं

जो इसके निर्णयों की क्रियान्विति का निरीक्षण करें और अधीक्षण करें। संघीय न्यायाधिकरण अपने निर्णयों की क्रियान्विति के लिए संघीय परिषद् (Federal Council) का ऋणी है और संघीय परिषद् उक्त क्रियान्विति कैण्टनों की सरकारों द्वारा कराती है। किन्तु दोनों देशों की न्यायपालिकाओं की शक्तियों में वास्तविक अन्तर है। संविधान की स्पष्ट आज्ञा के अनुसार संघीय न्यायाधिकरण उस प्रत्येक विधि को मानने पर बाध्य है जो संघीय संसद् (Federal Assembly) द्वारा पारित की गई हो, और उस प्रत्येक सन्धि को भी मानने पर बाध्य है जिसको संसद् ने स्वीकृत कर लिया हो। अनुच्छेद ११३ आज्ञा देता है, "ऊपर वर्णित किए गए सभी मामलों में संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) संघीय संसद् द्वारा पारित सभी विधियों को, और सभी सर्वमान्य आज्ञाओं को तथा संसद् द्वारा अनुसमर्थित सभी सन्धियों को मान्यता देने पर बाध्य होगा।" इस प्रकार संघीय न्यायाधिकरण संघीय सविधियों (Federal Statutes) अथवा ऐसी संधियों की सांविधानिकता की जाँच-पड़ताल करने के लिए सक्षम नहीं है, जो सामान्यतया सभी के ऊपर लागू होती हैं। संविधान ने यह अधिकार संघीय संसद (Federal Assembly) को दिया है कि वही संविधान का, संविधान की आज्ञानुसार पारित विधियों का भी निर्वचन कर सकती है। इसलिए संसद् (Assembly) को अधिकार है कि वह स्व-पारित विधि का मनमाने अर्थों में निर्वचन कर सकती है और इस सम्बन्ध में किसी न्यायिक शक्ति को यह अधिकार नहीं होगा कि उन अर्थों में संशोधन कर सके। अमेरिका के विधि-विशेषज्ञ इस बात से चिढ़ते हैं और उनकी मान्यता है कि विधानमण्डल उन शक्तियों का अतिक्रमण नहीं कर सकता जो उसको संविधान ने प्रदान की हैं। अमेरिका का मत इस सम्बन्ध में आगे यह भी कहता है कि संविधान की आज्ञाओं का पालन सही-सही होना कठिन होगा यदि संविधान का निर्वचन (Interpretation) विधानमण्डल के ऊपर छोड़ दिया जाएगा; क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि स्वयं विधानमण्डल ही संविधान के उपबन्धों का अतिक्रमण और उल्लंघन कर रहा हो। संसद् द्वारा संविधान का निर्वचन तो ऐसा है कि मानो अपराधी को ही अपने मामलों में निर्णय देने के लिए न्यायाधीश बना दिया गया हो।

इसके विपरीत यूरोपीय देशों में इस सिद्धान्त का पालन होता है कि न्यायपालिका को कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों के आधीन रहना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि कतिपय स्विस विधि-विशेषज्ञ (Swiss Jurists) अमेरिका की न्याय-व्यवस्था को अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण मानते हैं, फिर भी स्विट्जरलैण्ड में बराबर यूरोपीय न्याय-व्यवस्था के अनुसार काम चल रहा है और इस दिशा में परिवर्तन की कोई आशा नहीं है। यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाए कि स्विस संघीय न्यायाधिकरण के पास न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial review) का अधिकार है किन्तु वह भी प्रभावी साधन नहीं है क्योंकि स्विट्जरलैण्ड में सर्वसाधारण, जो प्रभु-सत्ताधारी हैं, अपनी इच्छा को सीधे-सीधे जनमत-संग्रह और आरम्भक के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि स्विस संघीय न्यायाधिकरण का सरकारी अफ़सरों के ऊपर उतना नियन्त्रण नहीं है जितना कि संयुक्त राज्य में सर्वोच्च न्याया-

संघ का उस देश के सार्वजनिक अधिकारियों के ऊपर रहता है। बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें संघीय न्यायाधिकरण के अधिकार-क्षेत्र से बाहर हैं। इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना आवश्यक है कि यद्यपि संघीय सत्ताओं और कैण्टनो के बीच अधिकार-क्षेत्र सम्बन्धी विवाद संघीय न्यायाधिकरण द्वारा निर्णीत होते है, परन्तु यदि संघीय परिषद् (Federal Council) और संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) के बीच अधिकार-क्षेत्र सम्बन्धी विवाद हो तो उसका निर्णय संघीय संसद् (Federal Assembly) करेगी। इसलिए अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के समान स्विट्जरलैण्ड के संघीय न्यायाधिकरण के पास ऐसी शक्तियों का अभाव है जिनसे वह अपनी कानूनी और वैधानिक क्षमता को स्थापित कर सके।

संघीय प्रशासनिक न्यायालय
(The Federal Administrative Court)

१९१४ में संविधान[1] में संशोधन करके संघीय प्रशासनिक न्यायालय की स्थापना की गई थी। इस सांविधानिक आदेश ने प्रशासनिक न्यायालय को संघीय प्रशासन और कैण्टनों के प्रशासन से सम्बन्धित प्रशासनिक विवादों और अनुशासनात्मक कार्यवाहियों के ऊपर अधिकार-क्षेत्र प्रदान किया; किन्तु इस न्यायालय के सम्मुख कैण्टनों के प्रशासनिक मामले उसी स्थिति मे आ सकते है जबकि कैण्टनों ने संघीय प्रशासनिक न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र को स्वीकार कर लिया हो। १९२५ मे संघीय संसद् (Federal Assembly) ने प्रस्ताव द्वारा यह स्वीकार किया कि उक्त संघीय प्रशासनिक न्यायालय के कर्त्तव्यों को न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) ही निभाएगा।

इसलिए स्विस प्रशासनिक न्यायालय उन्हीं अर्थों में स्वतन्त्र न्यायालय नही है जिस प्रकार कि स्विस बीमा न्यायाधिकरण (Swiss Insurance Tribunal) है अथवा फ्रांस तथा अन्य यूरोपीय देशों के स्वतन्त्र प्रशासनिक न्यायालय है। यह संघीय न्यायाधिकरण का एक उपभाग है और इस प्रकार सामान्य न्यायालयो का ही एक भाग है, अन्तर केवल यह है कि प्रशासनिक न्यायालय की कार्य-प्रणाली अन्य न्यायालयों की कार्य-प्रणाली से भिन्न है।

1. Article 114.

अध्याय ७

जनमत संग्रह और आरम्भक
(The Referendum and the Initiative)

प्रत्यक्ष विधान (Direct Legislation)—प्रत्यक्ष विधान की व्यवस्था स्विस प्रजातन्त्र की अनोखी विशेषता है। लोकप्रिय विधान निर्माण की विधि से तात्पर्य है स्वयं नागरिकों द्वारा विधि-निर्माण का कार्य न कि सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों द्वारा सर्वमान्य विधियाँ पारित करना; और यह प्रथा उतनी ही प्राचीन है जितना कि स्विस इतिहास है। उन्मुक्त नगर-सभा (Landsgemeinde) और *नागरिकों की बृहत् सभाएँ प्रत्यक्ष विधान निर्माण के जीवित उदाहरण हैं।* उन्मुक्त नगर सभा अथवा नागरिकों की बृहत् सभा अब भी प्राचीन परम्पराओं और प्रथाओं की स्मृति स्वरूपा एपेन्जिल (Appenzell), अण्टरवाल्डेन (Unterwalden) और गेरियस (Garius) में प्रचलित है और इस प्रकार विधान निर्माण के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष कार्यवाही का विचार लोगो की स्मृति मे सदैव ताजा बना रहता है।

शेष कैण्टनो में आरम्भक (Initiative) और जनमत-संग्रह (Referendum) की व्यवस्था प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के साधन हैं। स्विस सर्वसाधारण ने इन व्यवस्थाओं को इस सीमा तक विकसित किया है कि अब वे पूर्णतया स्विस व्यवस्थाएँ ही बन गई हैं।

जनमत-संग्रह (The Referendum)—रेफेरेण्डम (Referendum) शब्द का अर्थ है 'अवश्य सम्मति माँगी जाए'। राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त के रूप मे इस शब्द का अर्थ उस व्यवस्था से है जिसके द्वारा विधानमण्डल द्वारा पास किए गए अधिनियम अथवा प्रस्तावित विधि—चाहे वह मौलिक विधि हो अथवा सामान्य विधि हो—पर जनता का मत लिया जाता है। यदि जनमत-संग्रह में मतदान करने वाले मतदाताओं के बहुमत से उक्त विधि पारित अथवा स्वीकृत हो जाती है तो उसे पारित समझा जाता है। यदि उसे अस्वीकृत कर दिया जाता है, तो उसे त्याग दिया जाता है।

जनमत-संग्रह दो प्रकार का हो सकता है। वैकल्पिक या ऐच्छिक (Optional or facultative) और अनिवार्य अथवा आवश्यक (Compulsory or Obligatory)। जब कोई अधिनियम विधानमण्डल द्वारा पास किए जाने के उपरान्त, पूर्व इसके कि वह कानून का रूप धारण करे, नागरिकों की निर्दिष्ट संख्या की प्रार्थना पर लोगों के सम्मुख स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है; तो ऐसे जनमत-संग्रह को वैकल्पिक अथवा ऐच्छिक जनमत-संग्रह

(Optional or facultative referendum) कहते हैं। किन्तु अनिवार्य अथवा आवश्यक जनमत-संग्रह के लिए विशिष्ट प्रकार के अधिनियमों को आवश्यक रूप से, पूर्व इसके कि वे कानून का रूप धारण करें, सर्वसाधारण के सामने उनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के लिए भेजा जाता है। जनमत-संग्रह का अनिवार्य या आवश्यक स्वरूप प्रजातन्त्रीय विधि है क्योंकि इसके द्वारा प्रत्येक विधि के सम्बन्ध में सर्वसाधारण का मत व्यक्त होता है। स्विस लोग भी जनमत-संग्रह के अनिवार्य स्वरूप को अधिक व्यावहारिक और श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि इस प्रकार जनमत-संग्रह की प्रार्थना पर सामूहिक हस्ताक्षर कराने से सम्बन्धित आन्दोलन का भय नहीं रहता और इस प्रकार के जनमत-संग्रह द्वारा जो विधियाँ पारित की जाती हैं उनका अत्यन्त स्थायी प्रभाव होता है।

जनमत-संग्रह के स्वरूप (Forms of Referendum)—संघीय संविधान और कैण्टनों के संविधान के संशोधनों की जनमत-संग्रह द्वारा स्वीकृति अनिवार्य है और इसके बिना कोई सांविधानिक संशोधन प्रभावी नहीं हो सकता। १८४८ में संघीय संविधान में किसी प्रकार के संशोधन के लिए अनिवार्य जनमत-संग्रह की व्यवस्था की गई और यह उपबन्ध (Provision) १८७४ के संविधान में भी ज्यों का त्यों बना रहा। आधुनिक संविधान में यह भी व्यवस्था है कि कैन्टनों के संविधानों को संघीय शासन द्वारा तभी मान्यता दी जाएगी जब वे इसी प्रकार जनमत-संग्रह के द्वारा स्वीकार करा लिए जाएँ।[1]

परिसंघ (Confederation) में सांविधानिक जनमत-संग्रह के लिए जो कार्य-प्रणाली अपनायी जाती है, उसका वर्णन किया जा चुका है।[2] राष्ट्रीय व्यवस्थापक जनमत-संग्रह (National legislative referendum) संघीय विधियों के ऊपर प्रभावी होता है, जिसमें आय-व्ययक (Budget) और आज्ञाएँ अपवाद हैं; और १६२१ में यह (Referendum) उन अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों पर भी आवश्यक है जो या तो अनिश्चित काल के लिए की गई हों अथवा पन्द्रह वर्षों से अधिक के लिए की गई हों। प्रत्येक संघीय विधि संघीय संसद् द्वारा पारित होने के पश्चात् संघीय सरकारी जर्नल (Official Journal) में प्रकाशित की जाती है और तब कैण्टनों को इस आशय से भेज दी जाती है कि उसे कानूनों में सूचनार्थ घुमाया जावे। इस प्रकार सूचनार्थ घुमाए जाने के ६० दिन पश्चात् या तो आठ कैण्टनें या ३०,००० नागरिक प्रार्थना कर सकते हैं कि उक्त विधि को जनमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत किया जाए।

कैण्टनों की ओर से कभी भी जनमत-संग्रह की माँग नहीं आई। प्रायः नागरिक ही इसकी माँग करते हैं। प्रस्तावित विधि के विरोधी उक्त सम्बन्ध में आन्दोलन करके सर्वसाधारण की रुचि इस ओर आकर्षित करते हैं और इसके सम्बन्ध में

1. Article 6.
2. अध्याय २।

आवश्यक हस्ताक्षर कराते हैं। आजकल हस्ताक्षर प्राप्त करने की विधि यह है कि मतदाताओं के पास डाक द्वारा जवाबी कार्ड भेजते हैं और मतदाता उक्त कार्ड पर हस्ताक्षर करके उसे लैटर बॉक्स (Letter box) मे छोड़ देते हैं। जब इस प्रकार भेजे हुए हस्ताक्षरों की संख्या को संघीय परिषद् पर्याप्त मान लेती है, तब परिषद् उक्त विधि को प्रकाशित कराती है और देश के सभी लोगों के पास सूचनार्थ भेजती है और प्रकाशित कराने तथा विधि को सबकी सूचनार्थ भेजने के चार सप्ताह बाद की कोई तिथि मतदान के लिए निश्चित करती है। सभाएँ होती हैं जिनमे संसद् के सदस्य और अन्य लोग या तो उक्त विधि के पक्ष मे अथवा विपक्ष में भाषण देते हैं। विवादग्रस्त विधि के उपबन्धों के सम्बन्ध मे पत्रों में लेख निकलते हैं। मतदान का प्रबन्ध कैण्टनों की सरकारें करती है किन्तु मतपत्रको (Ballot papers) की व्यवस्था संघीय सरकार करती है। मतदान रविवार को होता है और समस्त देश मे एक ही दिन होता है। मतदान (Polling) प्राय: शान्त होता है और किसी प्रकार की हुल्लड़बाजी नही होती। न आज तक कभी मतदान के सम्बन्ध में रिश्वत या भेष बदल कर दूसरे के लिए मतदान आदि शिकायतें सुनने में आई है।

केवल उन कैण्टनों को छोड कर जिनमें उन्मुक्त नगरसभाओं (Landsgemeinde) द्वारा जनमत-संग्रह अथवा विधान निर्माण होता है, बाकी सभी कैण्टनों में विधान निर्माण सम्बन्धी जनमत-संग्रह होते हैं। कुछ कैण्टनों में अनिवार्य जनमत-संग्रह होते हैं और कुछ में ऐच्छिक; जिन कैण्टनों मे जनमत संग्रह ऐच्छिक होता है; उनमें कतिपय नागरिको की प्रार्थना आने पर जनमत-सग्रह हो सकता है; और नागरिकों की तदर्थ संख्या हर एक कैण्टन में अलग-अलग है। कुछ कैण्टन ऐसे भी हैं जिनका जनमत-संग्रह महत्त्वपूर्ण वित्तीय विधियों के लिए अनिवार्य है और अन्य प्रकार की विधियों के लिए वैकल्पिक (Optional) है।

आरम्भक के रूप (Forms of Initiative)—जनमत-सग्रह का स्वरूप केवल निषेधात्मक है क्योंकि इसके द्वारा सर्वसाधारण, अपने संसद् के प्रतिनिधियो द्वारा पारित विधियों का निषेध कर सकते हैं। प्रत्यक्ष विधि-निर्माण के समर्थक, विशेषकर स्विस लोग कहते हैं कि केवल विधानमण्डल के ऊपर ही विधि-निर्माण करने का सारा उत्तरदायित्व नही छोड़ देना चाहिए। उनका कहना है कि नागरिकों को भी अधिकार होना चाहिए कि वे विधान के सम्बन्ध में प्रस्ताव रख सकें और यदि उनके द्वारा प्रस्तावित विधि सर्वसाधारण द्वारा स्वीकृत हो जाती है, तो उसको विधि के रूप में पारित समझा जाना चाहिए; चाहे विधानमंडल उसका विरोध भी करे। लोक-प्रिय व्यवस्थापन की इस रीति को आरम्भक (Initiative) कहते हैं। आरम्भक के द्वारा मतदाता ऐसे मामलों में प्रभाव डाल सकता है जहाँ विधानमंडल, सांविधानिक संशोधन विधि के सम्बन्ध मे कोई कार्यवाही करना न चाहता हो। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आरम्भक (Initiative) याचिका से भिन्न वस्तु है। याचिका (Petition) को तो केवल एक प्रकार के विशेष व्यवस्थापन की लोक-सम्मत माँग को विधानमण्डल के सामने रखने के लिए प्रयुक्त किया जाता है; भले ही विधान-

मण्डल उस मांग के अनुसार कार्य करे या न करे। परन्तु आरम्भक तो सर्वसाधारण की सर्वप्रभुत्व सम्पन्नता का प्रतिपादन करता है, क्योंकि वह विधानमंडल की राय की परवाह न करता हुआ भी प्रभावी होता है।

आरम्भक दो प्रकार के होते हैं—विधेयक के रूप मे (Formulative) और साधारण शब्दों में (In general terms)। यदि प्रस्ताव को साधारण शब्द में ही व्यक्त किया गया है, तो विधानमण्डल का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उक्त वैधिक प्रस्ताव का प्रारूप तैयार करे, उस पर विचार करे और उन विधियों को नागरिकों की निश्चित संख्या के आदेशानुसार पारित करे; जिसमे सर्वसाधारण द्वारा अनुसमर्थन की शर्त होगी। अर्थात् वह सर्वसाधारण के अनुसमर्थन के बाद ही पारित विधि का स्वरूप धारण करेगी। यदि प्रस्ताव विधेयक के रूप मे उपस्थित किया गया है, और सब प्रकार पूर्ण है तो विधानमण्डल का कर्त्तव्य हो जाता है कि उस पर विचार करे।

सांविधानिक आरम्भक का अधिकार परिसंघ (Confederation) मे भी है और कैण्टनो मे भी। आरम्भक (Initiative) की शर्तों के अनुसार कम-से-कम ५०,००० मतदाताओं को संघीय संविधान में संशोधन के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। वह प्रार्थना सामान्य शब्दो में भी की जा सकती है अथवा पूरी तरह तैयार किए हुए विधेयक के रूप मे भी। यदि संसद् सामान्य शब्दों में किए गए प्रस्ताव को ही स्वीकार कर लेती है, तो वह तुरन्त संशोधन का प्रारूप तैयार करती है और उस पर कैण्टनो का और जनता का मत एकत्र किया जाता है। किन्तु यदि संघीय संसद् उक्त संशोधन के विरुद्ध है तो ऐसी अवस्था मे उक्त संशोधन लोकमत जानने के लिए भेज दिया जाता है और सभी से यह मालूम किया जाता है कि संशोधन-प्रस्ताव के सम्बन्ध में आगे कार्यवाही की जाए अथवा नहीं। यदि प्रस्ताव को लोकमत का पक्ष मिल जाता है, तो यद्यपि संसद् ने इसी प्रस्ताव को एक बार अस्वीकृत कर दिया था फिर भी यह संसद् का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उक्त संशोधन को विधेयक के रूप में तैयार करे और उसको सर्वसाधारण और कैण्टनों का मत जानने के लिए प्रस्तुत करे। यदि सर्वसाधारण का मत उक्त संशोधन प्रस्ताव के विरुद्ध होता है तो विधेयक गिर जाता है।

यदि आरम्भक को विधेयक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और यदि संसद् उसको स्वीकार कर लेती है तो उक्त प्रस्ताव तुरन्त सर्वसाधारण के जनमत और कैण्टनों की तदर्थ स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। किन्तु यदि संसद् विधेयक के रूप में प्रस्तुत किए गए प्रस्ताव से सहमत नहीं है, तो संसद् मतदाताओं से कह सकती है कि उक्त प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया जाए अथवा उक्त प्रस्ताव के स्थान पर अपना प्रस्ताव तैयार कर सकती है और प्रारम्भिक प्रस्ताव के साथ-साथ अपना प्रस्ताव भेज सकती है।

यदि आरम्भक (Initiative) में संविधान के पूर्ण संशोधन (Complete revision) की मांग की गई है, तो उस सम्बन्ध मे वही कार्य-प्रणाली अपनायी है जिसका वर्णन इसी पुस्तक के अध्याय २ मे किया गया था।

जनमत-संग्रह के पक्ष में तर्क
(Arguments in favour of the Referendum)

(१) कहा जाता है कि लोकप्रिय प्रभु-सत्ता का सिद्धान्त प्रत्यक्ष व्यवस्थापन में मूर्त्त-स्वरूप धारण करता है न कि प्रतिनिधिक अथवा संसदीय प्रणाली में। संसदीय प्रणाली में वास्तविक जनमत प्राप्त करना प्रायः कठिन है क्योंकि संसदीय जनमत के ऊपर दलों के, समाचारपत्रों के, वक्तृताओं के, और प्रचार के प्रभाव पड़ते रहते हैं। जनमत-संग्रह, लोकप्रिय प्रभु-सत्ता को स्वीकार करता है और इसके द्वारा सर्वसाधारण की वास्तविक इच्छा का पता चल जाता है। इसलिए जनमत-संग्रह (Referendum) जनमत जान लेने का सबसे श्रेष्ठ बैरोमीटर है। इसके अतिरिक्त स्वयं नागरिक अपने प्रतिनिधियों की अपेक्षा अपने हितों को अच्छी तरह से समझता है। जिस विधि की माँग सीधे सर्वसाधारण द्वारा की जाती है, उसके पीछे सर्वसाधारण की नैतिक इच्छा भी रहती है और इस प्रकार पारित की हुई विधि का संसदीय प्रतिनिधियों द्वारा पारित की हुई विधि की अपेक्षा अधिक सर्वसम्मत और निश्चित पालन होता है।

(२) जनमत-संग्रह (Referendum) के समर्थक यह भी कहते हैं कि इसके द्वारा राजनीतिक दलों की आवश्यकता और महत्त्व कम हो जाता है और इससे दलीय भावनाओं (Partisan spirit) की प्रवृत्ति भंग होती है। इसके अतिरिक्त यह विधान-मण्डलों की चपलता और राजनीतिक यन्त्रों के असंयम के विरुद्ध अंकुश का काम देता है। अनेक बार विधानमण्डल द्वारा पारित विधियों और आज्ञाओं को सर्वसाधारण ने अस्वीकृत कर दिया है; और इससे पता चलता है कि विधानमण्डल, सदैव ही न तो सर्वसाधारण की इच्छा को जानते हैं और न उनकी इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनमत-संग्रहों से यह भी पता चल जाता है कि जिन विधियों के प्रति जनमत की स्वीकृति नहीं है, उनका पास होना अत्यधिक कठिन ही नहीं, असम्भव है। सत्य तो यह है कि जनमत-संग्रह ने सर्वसाधारण के हाथों में पूर्ण निषेधात्मक शक्ति (Veto) दे दी है।

(३) जनमत-संग्रह के द्वारा बहुमत दल की राजनीतिक उच्छृङ्खलता किसी सीमा तक दबी रहती है। संसदीय अथवा प्रतिनिधिक प्रणाली में विधि का वही स्वरूप रहता है जो संसद् का बहुमत दल चाहता है। उक्त विधि में अल्पमत वालों की इच्छा का ध्यान नहीं रखा जाता। किन्तु यदि विधि के अधिनियम बनने से पूर्व उक्त विधि को जनमत-संग्रह के हेतु प्रस्तुत कर दिया जाता है तो अल्पमतों को भी उक्त संबंध में अपने विचार व्यक्त करने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है; और उनको यह भी अवसर मिल जाता है कि उक्त विधि को संगठित विरोध द्वारा अस्वीकृत कर सकें। यही सच्चा प्रजातन्त्र है। इसके अतिरिक्त जनमत-संग्रह के द्वारा विधि पारित करने में कम समय लगता है।

(४) जब सर्वसाधारण यह अनुभव करने लगते हैं कि वे ही स्वयं देश के व्यवस्थापक (legislators) हैं तो उनमें देश-प्रेम और उत्तरदायित्व की भावनाओं का उदय होता है। इस तथ्य की अनुभूति ही नागरिकों की सच्ची राजनीतिक शिक्षा

है। प्रजातन्त्र का यही वास्तविक गुण है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष व्यवस्थापन की रीति अपरिवर्तनवादी है। सर्वसाधारण प्रायः कभी भी अपनी व्यवस्था मे आमूल परिवर्तन नही करेंगे जबकि वे जानते हैं कि वे स्वयं ही व्यवस्थापन के पंच भी है। वे यह भी जानते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर वे स्वयं अपनी विधियों मे अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन कर सकेंगे। इसीलिए प्रत्यक्ष व्यवस्थापन में दूरगामी परिवर्तन नही किए जाते।

(५) यदि कभी संघीय संसद् के दोनों सदनो मे गतिरोध उत्पन्न हो जाए तो जनमत-संग्रह के द्वारा ही ऐसे गतिरोधों को दूर किया जा सकता है। यह विधानमंडल की शक्तियों पर अंकुश है। स्विट्ज़रलैण्ड मे कार्यपालिका, विधानमण्डल के निर्णयों का निषेध (Veto) नही कर सकती। न एक सदन दूसरे सदन की उपेक्षा कर सकता है। दोनों सदनों की शक्तियाँ समान हैं। ऐसी स्थिति में विधानमण्डल के ऊपर कुछ-न-कुछ अंकुश चाहिए और जनमत-संग्रह (Popular Vote) ही वह अंकुश है।

(६) इस सम्बन्ध मे अन्तिम बात, जैसा कि ब्राइस (Bryce) कहता है, यह है, "प्रत्येक शासन में किसी-न-किसी स्तर पर एक ऐसी सत्ता अथवा शक्ति होनी चाहिए जिसका निर्णय अन्तिम हो, और जिसके निर्णय के विरुद्ध आगे कोई अपील न की जा सके। प्रजातन्त्र में ऐसी अन्तिम सत्ता केवल लोक-मत ही हो सकती है, जो सभी प्रकार के विवादों पर अन्तिम निर्णय दे सकता है।"

जनमत-संग्रह के विरुद्ध तर्क
(Arguments against the Referendum)

(१) जनमत-संग्रह के विरुद्ध मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि इसने विधान-मण्डलों की प्रतिष्ठा को कम किया है और इसके कारण अब विधानमण्डलो मे घटिया दर्जे के सदस्य आते है। जब प्रतिनिधिगण जानते हैं कि उनके निर्णयों को रद्द किया जा सकता है तो स्वभावतः वे अपने विधायी कर्त्तव्यों (Legislative duties) में बहुत कम रुचि लेंगे। इसके अतिरिक्त जनमत-संग्रह मे अन्तिम उत्तरदायित्व ऐसे लोकमत के ऊपर छोड़ दिया जाता है जो गुमनाम है, अस्थायी है और अमूर्त है; इस कारण वास्तविक उत्तरदायित्व का लोप हो जाता है। यदि कोई प्रस्ताव जनमत-संग्रह के द्वारा स्वीकृत हो जाता है, तो उसका श्रेय विधानमण्डल को न मिल कर सर्व-साधारण को ही मिलता है। यदि प्रस्ताव अस्वीकृत हो जाता है तो उसका दोष विधान-मण्डल को दिया जाता है। इस प्रकार दोनो ही स्थितियो में विधानमण्डल की प्रतिष्ठा घटती है और इसका फल यह होता है कि लोक-मत की निगाहों मे विधानमण्डल का आदर कम रह जाता है।

(२) एक सामान्य नागरिक का मस्तिष्क न तो इतना विकसित होता है और न वह इतना शिक्षित होता है कि विधान के सम्बन्ध मे अनेकों विषयों पर अपनी सही राय बना सके अथवा मत व्यक्त कर सके और विशेषकर ऐसी स्थिति में जबकि

इन दिनों विधान-निर्माण का कार्य अत्यन्त जटिल और कठिन हो गया है, जनमत-संग्रह उचित नहीं ठहरता।

(३) यदि किसी वैधिक प्रस्ताव के समर्थक या विरोधी लोग उक्त प्रस्ताव के सम्बन्ध में पत्रिकाओं और भाषणों के ही द्वारा सर्वसाधारण को पूरी जानकारी करा देने का प्रयत्न करते हैं, तो यह असफल प्रयास होगा। प्रत्यक्ष व्यवस्थापन के विरोधियों का कहना है कि सर्वसाधारण के हित वास्तव में उन चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में ही अधिक सुरक्षित रहते हैं जिनको योग्यता और प्रौढ़ विचार-शक्ति के आधार पर चुन कर भेजा गया था; न कि लोकप्रिय सर्वसाधारण के हाथों में जिनका सन्देहयुक्त मत जानने के लिए कोई प्रस्ताव जनमत-संग्रह में भेजा जाता है।

(४) जनमत-संग्रह का एक अन्य दोष यह है कि उसमें कोई विधेयक या तो स्वीकार किया जाता है और या रद्द किया जाता है; किन्तु संशोधनों के लिए कोई स्थान नहीं है।

(५) जनमत-संग्रह के विरुद्ध एक और तर्क है और इसमें पर्याप्त सार भी है, और वह यह है कि जनमत-संग्रह में बहुत ही कम लोग मतदान करते हैं। कहा जाता है कि जनमत-संग्रह के मतदान के फल से वास्तविक जनमत नहीं पाया जा सकता, क्योंकि अधिकतर जनमत-संग्रहों में किसी विधेयक के विरोधीगण अधिक संख्या में मतदान करते है, किन्तु समर्थकगण उतनी संख्या में नहीं जाते और जनमत-संग्रहों में बहुत बड़ी संख्या में लोग मतदान ही नहीं करते, इससे या तो यह निष्कर्ष निकलता है कि मतदाता लोगों को नागरिक कर्त्तव्यों का भान नहीं है अथवा यह निष्कर्ष निकलता है कि वे उक्त विषय पर मतदान करने की और मत व्यक्त करने की योग्यता ही नहीं रखते।

(६) एक अन्य तर्क जनमत-संग्रह के विरुद्ध यह है कि इसके द्वारा कभी-कभी अत्यन्त आवश्यक विधियों में अत्यन्त हानिकर देर हो जाती है। इस दोष के कारण जनमत-संग्रह के जिन शैक्षणिक लाभों पर बल दिया गया था, उनका कोई महत्त्व नहीं रहता। जब नागरिक स्वयं सार्वजनिक कृत्यों में रुचि नहीं लेते तो प्रत्यक्ष विधान-निर्माण एक तमाशा और दिखावामात्र बन कर रह जाता है।

(७) यदि जनमत-संग्रह के द्वारा कोई विधि केवल थोड़े से बहुमत के आधार पर स्वीकृत होती है जैसा कि १६३८ के फेडरल पीनल कोड (Federal Penal Code) और १६४७ के फेडरल इकॉनोमिक आर्टिकल्स (Federal Economic Articles) के सम्बन्ध में हुआ जबकि दोनों ५३ प्रतिशत के बहुमत से स्वीकृत हुए तो ऐसी विधियों का नैतिक समर्थन अधिक क्षीण हो जाता है। विधानमण्डलों के सम्बन्ध में कोई यह जानने का प्रयास नहीं करता कि उन्होंने किसी विधि को कितने प्रतिशत मत से पास किया।

(८) यह भी नहीं माना जा सकता कि प्रत्यक्ष व्यवस्थापन से दल-प्रणाली के दोष कम हो जाते हैं। तथ्य यह है कि जल्दी-जल्दी मतदान के कारण राजनीतिक दल अधिक क्रियाशील हो जाते हैं। जनमत-संग्रह के कारण राजनीतिक प्रतियोगिता

अधिक तीव्र हो जाती है और दलगत भावना का दबाव बढ़ जाता है। यद्यपि ऐसी प्रवृत्ति स्विट्जरलैण्ड में प्रबल नहीं हुई क्योंकि स्विस लोगों की आदतें और ही प्रकार की हैं। ३०,००० नागरिकों के हस्ताक्षर प्राप्त करने में जो प्रति हस्ताक्षर व्यय करना पड़ता है उसके कारण किसी विधि को चुनौती देना सहज नहीं है. और ऐसा केवल संसृष्ट संस्थाएँ (Corporate bodies) ही कर सकती है जैसे राजनीतिक दल, ट्रेड यूनियन (Trade Unions), और अन्य प्रभावी समुदाय। किन्तु इसके फलस्वरूप उक्त संसृष्ट संस्थाओं का नीतियों पर और अधिक प्रभाव पड़ता है।

(९) जनमत-संग्रह का एक स्पष्ट परिणाम यह है कि विधानमण्डल का प्रभाव घटा है किन्तु उसी अनुपात में कार्यपालिका का प्रभाव बढ़ा है। प्रथमत. संसद् अपनी विधायिनी शक्तियों को संघीय परिषद् को सौंप देना अच्छा समझती है बजाय स्वयं विधि तैयार करने के, "क्योंकि इससे संघीय संसद् (Federal Assembly) बहुत सीमा तक आलोचना से बची रहती है। इसलिए विधियों को इस प्रकार तैयार किया जाता है कि जहाँ तक सम्भव हो सके, जनमत-संग्रह की नौबत ही न आवे। द्वितीयतः, संघीय परिषद् (Federal Council) की आज्ञाओं (Arretes) को चुनौती नहीं दी जा सकती जबकि संसद् की विधियों और आज्ञाओं को चुनौती दी जा सकती है, इसलिए आपात काल में विधि-निर्माण सम्बन्धी सारा काम संघीय परिषद् (Federal Council) को ही करना पड़ता है।"[1]

(१०) ब्राइस (Bryce) कहता है कि "जनमत-संग्रह के विरुद्ध सबसे सुगम किन्तु सबसे सन्दिग्ध तर्क यह है कि इसके द्वारा राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति को व्याघात पहुँचता है।" सर हैनरी मेन (Sir Henry Maine) ने इसी तथ्य को अपनी पुस्तक 'दि पापुलर गवर्नमेंट' (The Popular Government) में १८८५ में समझा कर लिखा और इसका प्रभाव विशेष रूप में अंग्रेजों पर पड़ा क्योंकि अंग्रेज लोग स्वभावतः अपरिवर्तनवादी होते हैं। किन्तु यह तर्क स्विट्जरलैण्ड के परीक्षण में सही नहीं उतरा है। यह सत्य है कि पक्षपात अथवा अनावश्यक सावधानी के कारण संघीय संसद् द्वारा प्रस्तावित आर्थिक और सामाजिक सुधारों की दिशा में कम प्रगति हो सकी किन्तु फिर भी उक्त अपरिवर्तनवादिता अथवा प्राचीनता (Conservatism) से स्विट्जरलैण्ड (Switzerland) को कोई विशेष हानि नहीं हुई है।

आरम्भक के समर्थन में तर्क
(Arguments in favour of the Initiative)

जो तर्क जनमत-संग्रह के पक्ष में दिए गए थे, वे ही तर्क आरम्भक के भी पक्ष में है। किन्तु जहाँ तक आरम्भक की क्रियान्विति का प्रश्न है, वह जनमत-संग्रह की क्रियान्विति से भिन्न है। इसलिए आरम्भक (Initiative) पर अलग से विचार किया जाएगा।

---

1. Ibid. p. 101.

कहा जाता है कि आरम्भक (Initiative) लोकप्रिय प्रभु-सत्ता (Popular Sovereignty) का ही प्राकृतिक और आवश्यक विकास है। यह भी कहा जाता है कि यदि सर्वसाधारण अपनी सत्ताओं का उपभोग अपने प्रतिनिधियों के द्वारा करेंगे तो सर्वसाधारण प्रभु-सत्ताधारी न रह जाएँगे। नागरिक की इच्छा तो केवल अपनी आवाज और अपनी वोट (Vote) के द्वारा ही व्यक्त होती है, अन्य किसी माध्यम से नहीं।

चाहे किसी प्रतिनिधि का राजनीतिक नैतिक स्तर कितना भी ऊँचा हो और चाहे उसकी भावनाएँ कितनी ही ईमानदारीपूर्ण क्यों न हों, किन्तु यह सम्भावना सदैव बनी रहती है कि वह सर्वसाधारण का और उनके विचारों का सही-सही प्रतिनिधित्व न करता हो। जनमत-संग्रह तो सर्वसाधारण को केवल निषेध अधिकार (Negative right) देता है किन्तु आरम्भक (Initiative) लोगों को वास्तविक प्रत्यक्ष अधिकार प्रदान करता है जिसके द्वारा वे ऐसी विधियाँ स्वयं तैयार करें जिनकी उन्हें आवश्यकता हो। "यदि जनमत-संग्रह (Referendum) सर्वसाधारण की विधानमण्डल द्वारा पारित गलत विधियों अथवा विधानमण्डल के दुष्कर्मों के विरुद्ध रक्षा करता है तो उन्ही अर्थों मे आरम्भक विधानमण्डलों की भूलों की दवा है।"

यह भी कहा जाता है कि विधानमंडल प्राय: सर्वसाधारण की आवश्यकताओं की उपेक्षा करते हैं और वे जनमत के उन्नतिशील विचारों के बहुत पीछे रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे तो केवल दलीय कार्यक्रम को पूरा करने की धुन मे रहते हैं। "यदि ऐसा है, तो फिर, संसद् जो स्वयं सर्वसाधारण के द्वारा निर्वाचित निकाय है क्यों सर्वसाधारण के ही लिए मार्ग बन्द करती है और क्यो नही उनको अपनी इच्छानुरूप विधियाँ पारित कराने का अवसर दिया जाता।" जिस विधि का आरम्भ सर्वसाधारण की ओर से होगा उसके पीछे जनमत होगा और इसलिए उसका विशेष समादर होगा और इसलिए ऐसी विधि का शीघ्र पालन भी होगा। आरम्भकों से राजनीतिक विप्लवो की सम्भावना पर्याप्त कम हो जाती है क्योंकि इस प्रकार उन विधियो के पास करने में कम-से-कम देर लगती है जिनको सर्वसाधारण अपने कल्याण के लिए आवश्यक समझते हैं।

आरम्भक के विरुद्ध तर्क (Arguments against the Initiative)—जनमत-संग्रह की ही तरह आरम्भक भी विधानमण्डल की सत्ता और उसके उत्तरदायित्व को कम करता है। विधियों का निर्माण करना, विशेष रूप से विधेयकों का प्रारूप तैयार करना एक कठिन और जटिल कार्य है। इस कार्य के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता है जो केवल इस कार्य के करने वाले विशेषज्ञों और विधानमण्डलों के सदस्यों को लम्बे अनुभव के बाद प्राप्त होती है। एक साधारण नागरिक से यह आशा नही की जा सकती कि वह विधेयक के प्रारूप तैयार करने मे जिस कौशल की आवश्यकता होती है उसे जानता हो और फल यह होता है कि सार्वजनिक आरम्भक द्वारा लाए गए प्रस्ताव प्राय. अधूरे, भद्दे और असंस्कृत होते हैं जिनमे बहुत-

सी धाराएँ अस्पष्ट रह जाती है और बहुत-सी बातें दी ही नहीं जाती। जो विधेयक सर्वसाधारण द्वारा आरम्भ किये जाते हैं उनकी भाषा प्राय: अत्यन्त दूषित होती है और उन विधेयकों के कई-कई अर्थ निकल सकते है। कैण्टनों मे जहाँ वैधिक आरम्भक बार-बार प्रारम्भ किए जाते है, कभी यह देखने मे नही आया कि आरम्भक के द्वारा कभी कोई ऐसा सुधार हुआ हो जो विधानमण्डल मे पास किए गए अधिनियम से न हो सकता हो। इनके विपरीत, सर्वसाधारण ने अपनी इच्छा से जिन कुछ विधियों को पास करके सविधि पुस्तक में दर्ज किया है उनमें से कुछ निश्चित रूप से अबुद्धिमत्तापूर्ण हैं। ब्राइस (Bryce) कहता है, "कभी-कभी कैण्टनों की विधान सभाओं ने बुद्धिमत्तापूर्वक सर्वसाधारण को चेतावनी दी और कई बार उनको प्रस्तावित विधि की गलतियाँ सुझाई और उनके स्थान पर बेहतर विधेयक का सुझाव दिया जिसके फलस्वरूप दुर्भाग्यपूर्ण निर्णयों से बचाव हुआ और एक बार अविचारपूर्ण अधिकोषण विधि (Banking Law) को संघीय सत्ताओं ने इस आधार पर रद्द कर दिया था कि वह सविधान के उपबन्धों के विरुद्ध थी। कई बार स्वयं जनता ने इस प्रकार की उद्दण्ड योजनाओं को रद्द करके अपनी सूझ-बूझ का परिचय दिया है।"

निष्कर्ष (Conclusion)—स्विट्जरलैण्ड मे, प्रत्यक्ष विधान निर्माण के सम्बन्ध में विद्वानों मे और राजनीतिज्ञों मे भी तीव्र मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं कि यह सिद्धान्त और व्यवहार दोनों की सुविधा के अनुसार अत्यन्त पूर्ण विकसित व्यवस्था है किन्तु अन्य लोग यह कहते है कि इसमें सर्वसाधारण की राय ऐसे मामलों में माँगी जाती है जिनको वे समझते नही और वे इसकी इस कारण भी आलोचना करते हैं कि इसकी कार्य-प्रणाली व्यवहारत: बुरी सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त जनमत-संग्रह में जो अनावश्यक देर लगती है और अभिबाधाएँ डाली जाती है, उनको कुछ सुधारक लोग बुरा समझते है; और बहुत से मतदाता लोग कहते हैं कि व्यर्थ ही उनका सारा अवकाश का समय इन झंझटों में समाप्त हो जाता है। फिर भी स्विट्जरलैण्ड में कोई भी प्रत्यक्ष व्यवस्थापना की इन प्रणालियों को त्यागना पसन्द नहीं करेगा। रैपर्ड (Rappard) लिखता है, "यदि कोई आदमी स्विट्जरलैण्ड के सामान्य नागरिक से यह पूछे कि क्या वह और उसका देश प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के प्रयोगों से और उन प्रयोगों के फल से पूर्णतया संतुष्ट है तो वह निश्चय ही 'हाँ' में उत्तर देगा और सम्भव है कि वह नागरिक इस प्रसंग में 'प्रयोग' (Experiments) शब्द से अप्रसन्न हो जाए। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के प्रयोग का समय समाप्त हो चुका है और उसी के साथ आरम्भक और जनमत-संग्रह के शत्रुओं के पुराने विचार भी उसी प्रकार समाप्त हो गए है जिस प्रकार कि प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के कट्टर समर्थकों का अन्ध-समर्थन भी समाप्त हो चुका है।"[1]

1. The Government of Switzerland, op. cit., p. 74-75.

-

अध्याय ८

राजनीतिक दल

(Political Parties)

राजनीतिक दलों की प्रकृति (Nature of Political Parties)—स्विट्ज़रलैण्ड एक प्रजातन्त्र राज्य है, परन्तु प्रजातन्त्र में भी अकेला व्यक्ति निश्चय ही अशक्त होता है जब तक कि वह अपने राजनीतिक अधिकार का प्रयोग करने के लिए समान विचार रखने वाले अन्य साथी व्यक्तियों से नहीं मिलता। ज्योंही ऐसा होता है एक राजनीतिक दल जन्म ले लेता है जो कि प्रजातन्त्रात्मक शासन का एक आवश्यक उपकरण है।

स्विस संविधान में भी संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की तरह दलों को कोई स्थान नही दिया गया है। स्विट्ज़रलैण्ड में राजनीतिक दलों का विकास संविधान के आधारपर नहीं हुआ है। किन्तु स्विस सविधान में राजनीतिक दलों के सम्बन्ध मे अप्रत्यक्ष रूप से प्रसग अवश्य आया है क्योंकि राष्ट्रीय परिषद् (National Council) के चुनाव के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई है। १३ अक्तूबर, १९१८ को अनुच्छेद ७३ का जो संशोधित स्वरूप स्वीकृत हुआ उसके अनुसार "अब राष्ट्रीय परिषद् (National Council) के लिए चुनाव प्रत्यक्ष होते है। वे लोग समानता के सिद्धान्त पर चलते हैं और प्रत्येक कैण्टन अथवा अर्द्ध कैण्टन को एक निर्वाचन-क्षेत्र (electoral district) मान लेते हैं।" 'समानता के सिद्धान्त' (Principle of Proportionality) के कोई अर्थ ही न रह जाएँगे यदि इसका अर्थ दलों से न हो, क्योंकि उन्ही अर्थात् दलो के निर्वाचित प्रतिनिधियों के बीच में ही तो अनुपात अथवा समानता उस रूप मे स्थापित करना अभीष्ट है जिस रूप मे कि मतदाताओं में समानता अथवा अनुपात स्थापित है।

स्विट्ज़रलैण्ड मे भी अन्य यूरोपीय प्रजातन्त्रात्मक राज्यों की तरह विविध राजनीतिक दल ही राष्ट्रीय जनमत तैयार करते हैं और उसका विकास करते हैं। तथ्य यह है कि यूरोप के अन्य किसी देश में राजनीतिक दलों की उपस्थिति की उतनी सम्भावना नही है जितनी कि स्विट्ज़रलैण्ड मे है। इसके कारण स्पष्ट है। उस देश मे व्यापक मताधिकार है और सर्वसाधारण को जल्दी-जल्दी विविध सार्वजनिक विषयों पर मतदान करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त स्विट्ज़रलैण्ड मे अनेक विभिन्नताएँ पाई जाती है; जैसे जातिगत चरित्र, धर्म, भाषा, विविध उद्यम और एक-दूसरे के विरुद्ध आर्थिक हितों आदि से सम्बन्धित विविधताएँ, ये सब विविध दलो को जन्म देती है और इन्हीं अनेकों विविधताओं के कारण अनेकों राजनीतिक दलो में गठन-सम्बन्धी परिवर्तन भी बार-बार होने चाहिएँ। किन्तु स्विट्ज़रलैण्ड के सौभाग्य से

उस देश मे दलों की स्थापना न तो जाति के प्राधार पर होती है और न भाषा के आधार पर, "और किसी देश में भी राज्यो के स्थायित्व के ऊपर दलो के प्रदोल (Oscillation) का इतना कम प्रभाव नहीं पड़ता, जितना कम कि स्विट्जरलैण्ड मे पड़ता है।" प्राचीन धर्मोपदेशक अथवा पादरी लोग समाप्त हो चुके हैं और अब धर्म का राजनीति से सम्बन्ध पूर्णतया टूट चुका है।

राजनीतिक दलों का इतिहास (History of Political Parties)—स्विस परिसंघ (Confederation) का राजनीतिक इतिहास सात कैथोलिक कैण्टनों के सोंदरबंद (Sonderbund) नाम के संघ (League) के विघटन से, जिसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है;[1] और १८४८ के संविधान की स्वीकृति से प्रारम्भ होता है। इस संविधान ने समस्त कैण्टनों के पुन. सम्मिलन को पुष्ट कर दिया और उनमे घनिष्ठता और परस्पर प्रेम का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उस समय संघीय प्रबन्ध-संचालन मे राजनीतिज्ञों के दो समुदाय थे जिनको मुख्य रूप से प्रोटेस्टैंट मतावलम्बी जर्मन कैण्टनों से और प्रोटेस्टैंट मतावलम्बी फ्रेंच कैण्टनों से समर्थन प्राप्त होता था। राजनीतिज्ञों के ये दोनों समुदाय अथवा दल बाद मे क्रमानुसार लिबरल (Liberals) और रैडीकल (Radicals) कहलाए। लिबरल दल मे वयोवृद्ध जन थे जो उदार राजनीतिक दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों का समर्थन करते थे और परम्परागत यथेच्छा-कारिता पर बल देते थे तथा सभी के लिए नैतिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता चाहते थे और देश में गणराज्यीय राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे। परन्तु रैडीकल समुदाय (Radicals) नौजवानों का दल था और वे उन्नतिशील विचार रखते थे। वे लोग उच्च उदारवाद के पक्षपाती थे। वे राजनीतिक प्रजातन्त्रीय भावनाओं का प्रसार प्रारम्भक (Initiative) और जनमत-संग्रह (Referendum) जैसी व्यवस्थाओं के द्वारा कराना चाहते थे और उन्होने सभी के लिए आर्थिक स्व-तन्त्रता का नारा बुलन्द किया। किन्तु उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता पर किसी सीमा तक राज्य का नियन्त्रण अवश्य होने को था। अपने मतभेदों के बावजूद, लिबरल (Liberals) और रैडीकल (Radicals) लोगों ने मिल कर १८७४ का संघीय संविधान तैयार किया और इस ऐतिहासिक प्रलेख (Constitution) मे इन दोनों दलो के विभिन्न दार्शनिक विचारों का संगम है और इसलिए स्विट्जरलैण्ड का संविधान केन्द्रवादी (Centralistic), उदारवादी, धर्मनिरपेक्ष (Secular) और प्रजातन्त्रीय भावनाओं का पृष्ठपोषक है।

इन दोनों दलो के विरोध मे कैथोलिक कन्जर्वेटिव पीपल्स पार्टी (Catholic Conservative Peoples' Party) थी। इस दल मे वे लोग थे जिन्होंने १८४६ में सोंदरबंद (Sonderbund) नाम के कैथोलिक कैण्टनों के संघ की स्थापना की थी और जो १८४८ के विच्छेद युद्ध (War of Secession) के लिए उत्तरदायी थे। क्लैरीकल दल (The Clericals) अपने विचारों मे पूर्ण पोपवादी अथवा पोप के

1. See Ante, Chapter 1.

प्रभाव को बढ़ाने वाले (Ultra-montane) थे और वे कैण्टनों की स्वतन्त्रता के पक्ष-पाती थे। ज़र्चर (Zurcher) का कथन है कि "क्लैरीकल्स (The Clericals) दल ने १८४८ के सांविधानिक समझौते को अनिच्छा से ही माना था क्योंकि वास्तव में इस दल को उक्त समझौते को मानने पर बाध्य कर दिया गया था।" इस दल का समर्थन मुख्यत. उन कैण्टनों से प्राप्त होता है जिनमें कैथोलिक मतावलम्बी अत्यधिक संख्या में है। क्लैरीकल दल स्विट्जरलैण्ड की समस्त राजनीतिक पार्टियों मे सबसे अधिक उत्साहयुक्त, सबसे अधिक दृढ़ और सबसे अधिक सुसंगठित दल है। यह दल अब भी संघीय संविधान के उन कतिपय उपबन्धों का विरोध करता है जिनको वह कैथोलिक भावना-विरोधी और पोप-विरोधी समझता है। यह दल पूर्ण सत्तायुक्त राज्य का विरोधी है और परिवार, स्कूल और धर्म के सम्बन्ध में व्यक्ति को पूर्ण अधिकार देने का पक्षपाती है। संक्षेप मे यह दल केन्द्रीयकरण का विरोधी है।

इस प्रकार, १८७४ के प्रारम्भ में स्विट्जरलैण्ड में मुख्य रूप मे तीन राज-नीतिक दल थे। लिबरलों (*Liberals*) और रैडीकलों (*Radicals*) ने १८४८ से लेकर १८६० तक देश का शासन चलाया और इस काल में कैथोलिक कन्जर्वेटिव (Catholic Conservatives) दल विरोधी दल के रूप में बना रहा। लिबरल और रैडीकल दलों का संघीय संसद् में पूर्ण बहुमत बना रहा और संघीय परिषद् के सातों स्थान इन्हीं दलों के हाथों मे आ गये। किन्तु इस काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना यह है कि लिबरल दल की शक्ति क्षीण हो गई और उसी अनुपात में रैडीकलो का प्रभाव बहुत बढ गया। कुछ समय पश्चात् रैडीकल दल का संसद् के दोनों सदनो में पूर्ण बहुमत हो गया, किन्तु संघीय परिषद् में उनका बहुमत नहीं हो पाया, क्योंकि स्विस प्रथा यही रही कि संघीय पार्षदों को जब तक वे चाहें, पुन: निर्वाचित कर लिया जाए। किन्तु जब सभी लिबरलदलीय पार्षदों ने संघीय परिषद् को छोड़ दिया तो उनके रिक्त स्थानों पर स्वभावत: रैडीकल पार्षद आये और १८६० तक संघीय परिषद् (Federal Council) में केवल एक लिबरल (Liberal) पार्षद बच रहा।

रैडीकल और कन्जर्वेटिव दलों का मेल (Radical Conservative Coalition)—जब १८६१ में लिबरल दल का वह अकेला बचा-खुचा पार्षद भी संघीय परिषद् (Federal Council) से हट गया, तो संसद् ने, जिसमे रैडीकलों (Radicals) का बहुमत था, लिबरल पार्षद के स्थान पर कैथोलिक कन्जर्वेटिव दल (Catholic Conservative Party) के एक सदस्य को संघीय परिषद् के लिए चुना। लिबरल दल विरोधी दल बन गया। रैडीकलों और कन्जर्वेटिवों का मेल १८३१ में प्रारम्भ हुआ था, और वह अब भी ज्यों-का-त्यों चल रहा है, यद्यपि आजकल कुछ अन्य दलों को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है।

सोशलिस्ट पार्टी (Socialist Party)—१८८० के बाद स्विट्जरलैण्ड में स्विस सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (Swiss Social Democratic Party) का उदय हुआ। समाजवादी लोग (The Socialists) जैसा कि नाम से ही प्रकट है, कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के अनुगामी थे। उद्योगीकरण के विकास के साथ ऐसे

औद्योगिक केन्द्रों का भी विकास हुआ जैसे ज्यूरिच (Zurich), विन्टर्थर (Winterthur), बेसिल (Basel) आदि; और साथ ही बहुत बड़ी संख्या मे जर्मन शिल्पी जर्मनी छोड़ कर स्विट्जरलैण्ड में आ बसे; इन सब कारणों से समाजवादी सिद्धान्तों के प्रचार का अच्छा अवसर मिला और सोशल डेमोक्रेटिक दल की बड़ी उन्नति हुई। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद इस दल को ४१ स्थान प्राप्त हुए और १९३५ के आम चुनाव में इस दल को राष्ट्रीय परिषद् मे ५० स्थान प्राप्त हुए और इस प्रकार अगले चार वर्षों में यह दल राष्ट्रीय परिषद् मे सबसे शक्तिशाली दल बन गया; क्योंकि रैडीकल लिबरलों (Radical Liberals) को ४८ स्थान प्राप्त थे और कैथोलिक कन्जर्वेटिवों (Catholic Conservatives) को ४२ स्थान प्राप्त थे। १९३९ मे सोशलिस्ट दल को केवल ४५ स्थान मिल सके, इसका कारण यह था कि वामपक्षी रैडीकलों (Left Wing Radicals) का एक समुदाय दल से विलग हो गया। १९४३ मे पुन: यह दल जोर पकड़ गया और इसकी राष्ट्रीय परिषद् में सदस्य संख्या ५६ हो गई, किन्तु १९४७ में वह फिर गिर कर ४८ रह गई; और १९५१ के चुनाव मे इस दल की शक्ति ४९ रही।

स्विट्जरलैण्ड मे दल-प्रणाली की एक विशेषता यह है कि दलो के विकास मे अपरिवर्तनवादिता अथवा स्थितिपालकता (Conservatism) का बड़ा हाथ रहा है और कोई भी दल क्रान्तिकारी अथवा आमूल परिवर्तनवादी (Extremist) नही है। स्विस सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (Swiss Social Democratic Party) का समाजवाद पूर्णत: व्यावहारिक है; और क्रान्तिकारी समाजवाद नहीं है यद्यपि अपने प्रारम्भिक काल में यह दल उत्पादन के समस्त साधनों पर सामूहिक स्वामित्व का पक्षपाती था और वर्ग-संघर्ष को अनिवार्य समझता था और इसलिए यह दल हिंसक और असांविधानिक उपायों का आश्रय लेने में भी कोई दोष न देखता था। लेकिन चूँकि स्विट्जरलैण्ड एक पहाड़ी देश है जिसमें किसानों के पास छोटे-छोटे खेत हैं और उस देश के किसान खेती के काम मे ही लगे रहते हैं और उनके विचार देशभक्ति-पूर्ण हैं इसलिए समाजवाद के क्रान्तिकारी कार्यक्रम को किसी ने भी पसन्द नहीं किया। इसके अतिरिक्त कम्यूनों (Communes) और कैण्टनों में स्वतन्त्र उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिलता है; रेलों, सड़कों, जंगलों, पानी और शक्ति का राष्ट्रीयकरण हो गया है, इससे अब समाजवादी प्रोग्राम में किसी की रुचि नही रह गई है। इसलिए स्विट्जरलैण्ड के समाजवादी दल को अपना कार्यक्रम और देशों के समाजवादी कार्यक्रम की अपेक्षा कम क्रान्तिकारी बनाना पड़ा; और स्विस सोशलिस्ट डेमोक्रेटिक पार्टी (Swiss Socialist Democratic Party) अब केवल प्रजातन्त्रीय और सांविधानिक सिद्धान्तों में विश्वास करती है। उक्त दल ने अब खुल्लमखुल्ला समाजवाद के क्रमिक विकासवाद में अपना विश्वास प्रकट किया है।

स्विट्जरलैण्ड में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (Social Democratic Party) ही सबसे श्रेष्ठ और सुसंगठित राजनीतिक दल है और इसकी शाखाएँ सभी कैण्टनों में हैं। यह दल सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण और सभी व्यक्तिगत एकाधिकारों पर

सामूहिक अधिकार चाहता है; साथ ही मजदूरों के लिए अधिक वेतन, सामाजिक सुरक्षा; किसानों के ऋणों की अविलम्ब बेबाकी; बेकारी में सहायता; सबके लिए काम जुटाने का आश्वासन और स्त्रियों को मताधिकार देने का पक्षपाती है।

अन्य दल (Other Parties)—१६१८ के राष्ट्रीय आम चुनाव में आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सूत्रपात के कारण और भी राजनीतिक दल मैदान में आ गए है। दि फार्मर्स, वर्कर्स एण्ड मिडिल क्लास पार्टी (The Farmers, Workers and Middle Class Party) का गठन १६१८ में उस समय हुआ जबकि रेडीकलों (Radicals) में फूट पड़ गई और रेडीकल दल की कृषि-नीति से असन्तोष प्रकट किया गया। १६२६ में रेडीकलों और कन्जर्वेटिवों के संगठन (Coalition) को और विस्तृत किया गया और उसमें फार्मर पार्टी (Farmers' Party) का एक सदस्य ले लिया गया। इस दल के राष्ट्रीय परिषद् (National Council) में ३१ सदस्य थे। १६३५ में इस दल के अधिकार में केवल २१ स्थान रह गए और वही सदस्य संख्या अभी तक चल रही है, कभी कोई एक सीट कम हो जाती है, कभी बढ़ जाती है। इस दल की सदस्य सख्या में कमी होने का कारण यह था कि एक और किसान दल मैदान में आ गया जिसका नाम यंग फार्मर्स (Young Farmers) था और जिसको राष्ट्रीय परिषद् (National Council) में १६३५ में चार स्थान प्राप्त हुए; १६४३ में छ: स्थान प्राप्त हुए; १६४७ में पाँच स्थान प्राप्त हुए और १६५१ में चार स्थान प्राप्त हुए। फार्मर्स पार्टी (Farmers Party) अत्यधिक देशभक्तों का दल है और यह दल देश के रक्षा-साधनों को अत्यन्त सुदृढ़ बनाना चाहता है। इसका कार्यक्रम विशेष रूप से किसानों के हितो की रक्षा करना है और यह कृषि की उन्नति चाहता है तथा यह भी चाहता है कि किसानों को परिसंघ से आर्थिक सहायता मिले जिससे कृषि की उन्नति हो।

आजकल राष्ट्रीय परिषद् (National Council) में जिन अन्य छोटे राजनीतिक दलों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है, उनमे निम्न प्रमुख हैं : इण्डिपेण्डेण्ट पार्टी (Independent Party) जिसकी स्थापना १६३६ मे हुई, इण्डिपेण्डेण्ट सोशल डेमोक्रेट्स (Independent Social Democrats); निकोले ग्रुप (The Nicole Group) जो १६३६ में समाजवादियों से अलग होने पर बना, और साम्यवादी दल (The Communists)। साम्यवादियों को १६३१ और १६३५ मे राष्ट्रीय परिषद् में दो स्थान प्राप्त हुए; फिर १६३६ और १६४३ में उन्हें कोई स्थान नहीं मिला। १६४७ मे साम्यवादियों को पुन: सात स्थान प्राप्त हुए और आजकल उन्हें पाँच स्थान प्राप्त हैं।

स्विस दलीय व्यवस्था के लक्षण (Features of the Swiss Party System)—स्विट्जरलैण्ड की दलीय व्यवस्था आजकल फ्रांस की दलीय व्यवस्था से अधिक मिलती-जुलती है किन्तु वह इंग्लैण्ड अथवा फ्रांस की दल-व्यवस्था के समान नहीं है। हम पहले ही स्विट्जरलैण्ड मे अनेक राजनीतिक दल होने के कारणों पर प्रकाश डाल चुके हैं। स्विट्जरलैण्ड में राष्ट्रीय आधार पर दलों की व्यवस्था

नही है और इसका स्पष्टत: यही कारण है कि प्रजातन्त्रीय शासनों की तरह स्विट्-जरलैण्ड में दलीय शासन नही है। इस देश मे किसी राष्ट्रीय महत्त्व के पदाधिकारी के लिए राष्ट्रव्यापी चुनाव नही होते जिस प्रकार कि कुछ प्रजातन्त्रो मे राष्ट्रपति पद के लिए होते है। संघीय ससद् के लिए जो चुनाव होते हैं वे बहुत कुछ स्थानीय और क्षेत्रीय आधार पर होते हैं।

स्विट्जरलैण्ड का उदाहरण इस मत का भी खण्डन करता है कि प्रजातन्त्रीय शासन उस समय तक नही चल सकता जब तक कि निश्चित बहुमत वाला दल न हो अथवा जब तक कि बहुमत योग्य कई राजनीतिक दलो का संयोग (Coalition) न हो। संघीय परिषद् मे भी और प्राय सभी कैण्टनों की कार्यपालिकाओ मे भी अल्पमत दलो को प्रतिनिधित्व प्राप्त है। इस प्रतिनिधित्व के कारण अल्पमत दलों को शासन-सचालन के ऊपर प्रभाव डालने का अवसर मिल जाता है। स्विट्जरलैण्ड में पूर्ण दलीय शासन की स्थापना नही हो सकती। ससद् मे सदस्यो के ऊपर कोई दलीय नियन्त्रण नही है। सत्य तो यह है कि कोई भी प्रश्न, सिवाय उन मामलों के जिनका प्रभाव दलों के हितों पर पड़ता है अथवा जिनका सम्बन्ध धर्म से हो, दलीय आधार पर निर्णय नही किया जाता। इसका यह फल होता है कि स्विट्जरलैण्ड में दलीय पद्धतियों का अभाव है और इसीलिए न तो कैण्टनों की समितियाँ है, न दलों के सम्मिलन है और न दलो के बड़े सम्मेलन या प्रसभाएँ (Conventions) ही होते है।

स्विट्जरलैण्ट की दलीय पद्धति की एक अन्य विशेषता यह है कि दलों के नेता नहीं होते। दलों के नेताओं के अभाव का कुछ तो यह कारण है कि केन्द्र मे और अवयवी एककों मे जो कार्यपालिकाएँ है वे दलगत आधार पर नही बनीं, और द्वितीयत: इस कारण है कि विभिन्न दलों मे जो भेद हैं उनका आधार क्षेत्रीय हित है; न कि राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्न। लावेल (Lowell) ठीक ही कहता है, "यह कहना अधिक सही होगा कि सघीय प्रतिनिधियों को कैण्टनों के दलों के द्वारा चुना जाता हैं।" इसलिए दलो के नेताओं का प्रभाव कैण्टनो तक ही सीमित रहता है और उनकी शक्ति क्षेत्रीय है न कि राष्ट्रीय। दलीय नेताओं के न रहने का एक अन्य कारण यह भी है कि स्विट्जरलैण्ड में किसी के लिए भी यह अवसर नही है कि वह किसी के ऊपर किसी प्रकार का अनुग्रह कर सके अथवा कोई पद आदि दे सके। और स्विट्जरलैण्ट मे न तो किसी का राजनीति, व्यवसाय ही है न किसी दल के पास धनराशियाँ ही हैं।

स्विट्जरलैण्ड में राजनीति पर जितना कम व्यय होता है उतना शायद कही भी न होता होगा। दलों को धन की उसी समय आवश्यकता पड़ती है जब उनको वैज्ञानिक ढंग पर संगठित करना हो, निर्वाचन-क्षेत्रों मे प्रचार करने के लिए सभाएँ करनी हों अथवा किसी विशेष विषय पर साहित्य का वितरण और प्रचार करना हो। समाजवादियो सहित सभी राजनीतिक दल तीन मुख्य विषयों पर सहमत हैं—स्विस स्वतन्त्रता, स्विस तटस्थता और स्विस व्यापार-विस्तार। स्विट्जरलैण्ड

के राजनीतिक दलों में इन तीनों मौलिक विषयों की बारीकियों और उनको प्राप्त करने के साधनों के सम्बन्ध में तो मतभेद हो सकते हैं। किन्तु इन तीनों मौलिक लक्ष्यों के महत्त्व पर कोई मतभेद नहीं है। दलों में शासन हथियाने के सम्बन्ध में कोई स्पर्द्धा नहीं है। किसी अन्य दल के नेता की चुनावों में हार की न तो कोई इच्छा करता है और न इसके लिए प्रयत्न ही किया जाता है। वास्तव में इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न ही न हो, इसका भरसक प्रयत्न किया जाता है। इसलिए स्विट्ज़रलैण्ड में राजनीति का खेल गन्दा नहीं है और उसको अनुभवी और योग्य लोग ही खेलते हैं, और वे वास्तव में श्रेष्ठ और चरित्रवान् खिलाड़ियों की भावना से खेलते हैं।

कैण्टन दल (Cantonal Parties)—इस प्रकार स्पष्ट है कि स्विट्ज़रलैंड के राजनीतिक दलों में पाया जाने वाला उत्साह संसार के अन्य प्रजातन्त्र देशों के दलों में पाये जाने वाले उत्साह की अपेक्षा कम है। राजनीतिक-सगठन कम दृढ़ता से आपस में गुँथे हुए हैं और कार्य करने में भी कम उद्योगशील हैं। पर्वतीय तथा कृषि-क्षेत्रों में स्थानीय समस्याएँ ही जनता का ध्यान आकर्षित करती हैं। औद्योगिक क्षेत्रों की समस्याओं की विविधता के कारण तद्विषयक कैण्टनों की राजनीति का विवरण देना असम्भव सा हो जाता है। परिणामतः कैण्टनों में राजनीतिक दल आवश्यक रूप से वही नहीं होते जो परिसंघ में होते हैं। यहाँ तक कि उनके नाम भी एक जैसे नहीं होते। कैण्टनों के चुनाव कैण्टनों की समस्याओं को लेकर लड़े जाते हैं न कि राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर। स्विस लोग अपने प्रतिनिधियों को चुनते समय उनकी योग्यता का ध्यान रखते हैं और केवल उन पर ही विश्वास करते हैं जिनकी ईमानदारी और साहस को वे बहुत देर से जानते हों। दल के प्रति अत्यनुराग और वीर-पूजा (Hero-worship) उनकी प्रकृति के विरुद्ध बात है।

स्विस दल-प्रणाली के श्रेष्ठ परिणाम (Good Effects of Such a Party System)—जिस प्रकार की राजनीतिक दल-व्यवस्था स्विट्ज़रलैंड में है, उसका प्रभाव अवश्य ही शान्तिदायक, दृढ़ताकारी और प्रतिष्ठावर्द्धक होता है। दलों का सगठन किसी प्रलोभन के वश नहीं किया जाता और दलों में आन्तरिक विवाद की सम्भावनाएँ प्रायः बिल्कुल नहीं रहतीं। स्विस राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी विशेपता यह है कि स्विट्ज़रलैण्ड में दलों का स्थायित्व पूर्ण है। बड़े दल (majority parties) इस बात का कोई प्रयत्न नहीं करते कि उनका बहुमत ज्यों का त्यों बना ही रहे। अल्पमत दल इसलिए शान्त हो जाते हैं कि वे जानते हैं कि उनके दल के लिए यह कठिन होगा कि वे शासन पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकें। इसके अतिरिक्त स्विट्ज़रलैण्ड में राजनीति का संचालन प्रायः पूरी तरह दलीय भावना से रहित होता है। जब कभी किसी एक-दल की पीठ पर विशाल जनमत का हाथ भी होता है और जिस समय उस दल का बहुमत प्रायः निश्चित-सा हो जाता है, तो भी यह आवश्यक नहीं है कि उक्त बहुमत दल के सभी सदस्य सभी विषयों पर कन्धे से कन्धा मिला कर साथ-साथ कार्य कर सकें।

Suggested Readings

Bonjour, F. : *Real Democracy in Operation—The Example of Switzerland* (1929).

Bonjour, Offler and Potter : *A Short History of Switzerland* (1952).

Brooks, R. C. : *Government and Politics of Switzerland* (1918).

Bryce, J. : *Modern Democracies* (1929), Vol. I, Chap. XXVII—XXXII.

Buell, R. L. : *Democratic Government in Europe* (1955), p. 557-584.

Ghosh, R. C. : *The Government of the Swiss Republic* (1953).

Hughes, C. : *The Federal Constitution of Switzerland*, (1954).

Lowell, A. L. : *Governments and Parties in Continental Europe* (1918), Vol. II, Chaps. XI, XII.

Munro, W. B. and Ayearst, M. : *The Governments of Europe*, (1954), p. 735-750.

Rappard, W. E. : *The Government of Switzerland* (1936).

Shotwell, J. T. : *Governments of Continental Europe* (1952), p. 331-385.

सोवियत रूस की शासन-प्रणाली

(The Government of the U.S.S.R.)

अध्याय १

स्टालिन संविधान

(The Stalin Constitution)

प्रारम्भिक संविधान (Early Constitution)—स्टालिन सविधान से पूर्व १६१८ और १६२४ के दो अन्य संविधान सोवियत रूस में निर्मित हो चुके थे। १६१८ के संविधान को लेनिन (Lenin) और स्टालिन (Stalin) की देख-रेख में साम्यवादी दल (Communist Party) की केन्द्रीय समिति (Central Executive Committee) द्वारा नियुक्त एक आयोग (Commission) ने तैयार किया था, और १० जुलाई, १६१८ को साम्यवादी दल की ५वीं अखिल संघीय सोवियत (All Russian Congress of Soviets) ने इसका अनुमोदन किया था। इस संविधान ने जिस नए राज्य की स्थापना की उसका नाम रूसी सोवियत संघीय समाजवादी गणराज्य (Russian Socialist Federated Soviet Republic) रखा गया; और इस राज्य में पुराने ज़ारशाही साम्राज्य का लगभग तीन-चौथाई भाग था।

संविधान नव-स्थापित सामान्य जनों अथवा कर्मकारों (Proletariat) के अधिनायकवाद की लड़ाकू भावनाओं से ओत-प्रोत था और इसमें मुख्यतः वे सभी घोषणाएँ, नियम (Rules) और आज्ञाएँ सम्मिलित थी, जो अक्तूबर १६१७ की क्रान्ति और १६१८ के ग्रीष्म काल के बीच में निकाली गई थीं। संविधान का मुख्य उद्देश्य पूँजीवाद का पूर्ण दमन और समाज के पूँजीवादी ढाँचे का समूल नाश था। भूमि, प्राकृतिक संसाधन और उद्योग-धन्धे, ये सब सर्वसाधारण के अधिकार में इस प्रकार आ गए, मानो वे सभी की सम्मिलित सम्पत्ति हों; और राज्य की शक्ति साम्यवादी संस्थाओं (Soviets) में निहित कर दी गई, और रूस श्रमिकों, सिपाहियों और किसानों के प्रतिनिधियों और उनकी संस्थाओं का गणराज्य घोषित कर दिया गया।

सविधान का स्वरूप संघीय रखा गया। किन्तु यह एक नए प्रकार का संघवाद था। सविधान के निर्माताओं ने मार्क्सवाद के सिद्धान्तो के अनुसार यह आशा

की थी कि निकट भविष्य में समस्त संसार की एक संघ सरकार का निर्माण होगा, जिसमें संसार की विभिन्न राष्ट्रीयताओं का संघ होगा और दूर-दूर की प्रादेशिक भूमि उस राज्य में सम्मिलित होगी। संभावित संसारव्यापी क्रान्ति के बाद प्रभु-सत्ताधारी राज्यों को अपनी व्यवस्था की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से संविधान के निर्माताओं ने प्रस्तावित संघ में अवयवी एककों का संयोग मुक्त और ऐच्छिक रखा और उनको इस बात की छूट दे दी कि यदि वे चाहे तो सघ से विलग भी हो सकते है।

१९१८ का सोवियत रूस का सविधान केवल उसी प्रदेश पर प्रभावी था जो रूस का यूरोप में भू-भाग था। किन्तु १९२३ मे सघ का नाम सोवियत समाजवादी गणराज्यों का संघ (Union of Soviet Socialist Republics) अथवा यू० एस० एस० आर० (U. S. S. R.) पड़ा, जिसमें निम्न चार अवयवी एकक गणराज्य सम्मिलित थे : रूसी सोवियत संघीय समाजवादी गणराज्य (The Russian Socialist Federated Soviet Republics), यूक्रेन (The Ukraine), श्वेत रूस (White Russia) और ट्रांस कोकेशिया (Trans Caucasia)। उज्बेक (Uzbek) और तुर्कमेन (Turkmen) नाम के अवयवी गणराज्यों की रचना १९२४ में हुई और तदजिक (Tadzhik) गणराज्य की स्थापना १९२९ मे हुई; इस प्रकार सोवियत रूस के संघ मे सात गणराज्यीय एकक राज्य सम्मिलित थे।

१९२४ का संविधान सब बातों में १९१८ के संविधान के समान था, अन्तर केवल यह था कि इसमे तीन नए निकायो की रचना की गई थी : सघीय सोवियत (All Union Congress of Soviets); सघीय सोवियत केन्द्रीय समिति (All Union Central Committee) और प्रेसीडियम (All Union Presidium)। सघीय शासन (Federal Government) और अवयवी एककों के बीच शक्तियों का वितरण प्राय: उसी प्रकार हुआ था जिस प्रकार कि संयुक्त राज्य अमेरिका मे संघीय शासन और एकक राज्यों के बीच हुआ है। विनिर्दिष्ट शक्तियाँ (Specified Powers) केन्द्रीय शासन को सौपी गई थी और अवशिष्ट शक्तियाँ अवयवी गणराज्यों को सौंप दी गईं; किन्तु सघीय शासन को जो शक्तियाँ दी गईं, उनका अधिकार-क्षेत्र इतना विस्तृत था कि उन शक्तियों के अन्तर्गत समस्त सोवियत रूस (U. S. S. R.) का समस्त आर्थिक कार्यक्रम आ जाता है। सोवियत शासन-प्रणाली का मुख्य सिद्धान्त यह था कि देश के आर्थिक और राजनीतिक ढांचे मे पूर्ण समन्वय हो, इस प्रकार संघीय शासन के अधिकारों ने अवयवी एकक गणराज्यों के अधिकारो को पराभूत कर दिया। सघीय शासन को यह भी अधिकार दिया गया कि यदि संघीय शासन कभी ऐसा अनुभव करे कि किसी अवयवी एकक गणराज्य द्वारा पारित कोई विधि अथवा राज्याज्ञा संविधान के विरुद्ध है तो वह ऐसी किसी विधि अथवा आज्ञा (Law or decree) का प्रतिनिषेध (Veto) कर सकता है। अन्तत., यह भी निश्चित किया गया कि सघीय सोवियत (Union Congress) द्वारा निर्देशित कतिपय सिद्धान्तों के अनुसार ही अवयवी एकक गणराज्यों (Constituent Republics) को दीवानी और फ़ौजदारी विधि (Crivil and Ciminal Law), न्यायिक प्रक्रिया (Judicial Pro-

cedure), श्रम-व्यवस्थापन (Labour Legislation) और सार्वजनिक शिक्षा (Schools) के सम्बन्ध में चलना होगा, और उसी प्रकार आचरण करना होगा।

१६३६ का संविधान (The Constitution of 1936)—१६३६ में रूस मे नया संविधान स्वीकार किया गया जो सोवियत रूस का तृतीय संविधान था। इस संविधान को पहले सर्वसाधारण ही स्टालिन संविधान कह कर पुकारते थे और अब तो सरकारी तौर पर भी इसको प्रायः स्टालिन संविधान (Stalin Constitution) ही कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इस संविधान के निर्माताओं में स्टालिन ने मुख्य रूप से कार्य किया था। इसलिए, स्टालिन को ही इस संविधान का मुख्य निर्माता कहा जाता है। १६१८ और १६२४ के संविधानों में समाजवादी व्यवस्था का मूर्त स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया गया था। पाँचवीं संघीय सोवियत (Fifth All Russian Congress of Soviets) के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए लेनिन (Lenin) ने कहा था, "हमारे सम्मुख समाजवाद का वह स्वरूप नहीं है जिसको संविधि मे लेख-बद्ध किया जा सके।" १६१८ से लेकर १६२८ तक का काल, रूस के इतिहास में संघर्ष और कष्टों का काल था। किन्तु एन० ई० पी० (N. E. P.) के काल के अन्त में स्थिति बहुत सीमा तक सुधर गई थी। इसके बाद प्रथम पंचवर्षीय योजना (Five-Year Plan) आई। इस योजना का उद्देश्य था कि समाजवादी आदर्श पर समाज का पुनर्निर्माण किया जाए और सोवियत रूस के आर्थिक और राजनीतिक स्वरूप को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाए कि पूंजीवादी तत्वों को बिलकुल उखाड़ फेंका जाए।

संविधान का प्रारूपण (Drafting of the Constitution)—१६३५ के प्रारम्भ मे संघीय सोवियत केन्द्रीय कार्यपालिका समिति (The all Union Central Executive Committee) ने ३१ सदस्यों के एक आयोग (Commission) की नियुक्ति की और स्टालिन (Stalin) को उक्त आयोग का चेयरमैन (Chairman) नियुक्त किया गया। इस आयोग को आज्ञा दी गई कि एक संविधान तैयार किया जाए जिसमे वे सभी तथ्य एकीकृत किए जाएँ जिनके सम्बन्ध में अब तक सफलता प्राप्त की जा चुकी है। एक वर्ष से अधिक कठिन परिश्रम के उपरान्त आयोग ने सविधान का प्रारूप उपस्थित किया; जून १६३६ में उसको प्रकाशित किया गया और सर्वसाधारण के समक्ष सुझावों और संशोधनों के लिए प्रस्तुत किया गया। सविधान के प्रारूप ने सर्वसाधारण मे भारी खलबली मचा दी और सभी ने इसमें रुचि प्रदर्शित की और प्रायः सभी रूसी नागरिकों ने संविधान के खण्डन-मण्डन मे भाग लिया। कहा जाता है कि इस सविधान के सम्बन्ध मे पाँच लाख सभाएँ हुईं और उन सभाओं मे ३६० लाख व्यक्तियों ने भाग लिया। १,५४,००० संशोधन उपस्थित किए गए। सघीय सोवियत (Congress of Soviets of the U.S.S.R.) का असाधारण सत्र आहूत किया गया जिसने संविधान के प्रारूप को केवल ४३ मामूली संशोधनों सहित ५ दिसम्बर, १६३६ को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। इन ४३ सशोधनों में से केवल सात सशोधन तो कुछ परिवर्तनकारी थे अन्यथा सभी मे शाब्दिक हेर-फेर थे। इस प्रकार स्टालिन सविधान १६३७ से प्रभावी हो गया।

बाद के सांविधानिक संशोधन (Subsequent Constitutional Amendments)—आजकल जिस संविधान के अनुसार सोवियत रूस का शासन चल रहा है, वह १९३६ का संविधान ही है। आगामी राजनीतिक आवश्यकताओं ने यह आवश्यक कर दिया कि संविधान में कतिपय परिवर्तन किए जाएँ, किन्तु संविधान के मुख्य उपबन्ध अब भी वही हैं और स्टालिन संविधान में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ है। १९४४ मे संविधान में परिवर्तन करके प्रेसीडियम (Presidium) की रचना और संगठन सम्बन्धी कुछ संशोधन किया गया और लोक प्रबन्ध परिषद् अथवा कौंसिल ऑफ़ पीपल्स कमीसार्स (Council of Peoples' Commissars) में भी कुछ परिवर्तन किया गया। १९४६ में प्रेसीडियम के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या घटाकर पन्द्रह कर दी गई, इस प्रकार इसकी पूर्ण सदस्य संख्या ३३ हो गई। कौंसिल आफ़ पीपल्स कमीसार्स अथवा लोक प्रबन्धक परिषद् (The Council of Peoples' Commissars) का नाम पश्चिमी देशों की कार्यपालिकाओं के अनुरूप मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) रख दिया गया। श्रमिकों के काम के घण्टे सात के स्थान पर आठ कर दिए गए। कुछ संशोधन निःशुल्क शिक्षा के विषय में भी किए गए। जो प्रत्याशी सर्वोच्च सोवियत या सर्वोच्च परिषद् (Supreme Soviet) के लिए चुनाव में खड़ा होना चाहें उनकी आयु १८ वर्षों के बजाय तेईस वर्ष कर दी गई। अवयवी गणराज्यों को आज्ञा दे दी गई कि वे अपने-अपने स्वतन्त्र सैनिक दस्ते रख सकेंगे; विदेशी सत्ताओं के साथ सीधे सम्बन्ध रख सकेंगे; विदेशों के साथ समझौते और इकरारनामे कर सकेंगे और उनके साथ दौत्य सम्बन्ध भी स्थापित कर सकेंगे। द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद बदली हुई स्थितियों में इस प्रकार के सांविधानिक संशोधन आवश्यक हो गए थे।

नए संविधान के लिए सोवियत योजना (Soviet plan for new Constitution)—सर्वोच्च सोवियत ने अप्रेल १९६४ में ख्रुश्चेव (Khrushchev) के प्रस्ताव को स्वीकार कर एक नए संविधान का निर्माण करने के लिए निर्णय किया। प्रधान मन्त्री ने सर्वोच्च सोवियत को बताया कि १९३६ में स्वीकृत की गई पुरानी आधारभूत विधि (Old Basic Law) बहुत पुरानी पड़ जाने के कारण अधिक उपयोगी नहीं रही है क्योंकि समाजवाद ने विजय प्राप्त कर ली है और वह साम्यवाद के रूप में विकसित हो रहा है। उसने इस बात पर भी जोर दिया कि स्टालिन संविधान नई विदेश-नीति की माँग को पूरा करने के लिए उपयुक्त नहीं थी रहा है। ख्रुश्चेव ने यह भी घोषणा की कि नए संविधान की इसलिए आवश्यकता ताकि सोवियत संघ को उपनिवेशवाद से मुक्त हुए देशों से भी सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा मिल जाय। नए संविधान में लेनिन के शांति, श्रम, स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुता के सिद्धान्तों का भी समावेश होना चाहिए।

तदनुसार सर्वोच्च सोवियत ने ख्रुश्चेव की अध्यक्षता में ९७ व्यक्तियों का एक आयोग एक नए संविधान का निर्माण करने के लिए बनाया। ख्रुश्चेव के देश की राजनीति से बाहर निकल जाने के बाद आयोग का क्या हुआ यह आधिकारिक

रूप से, कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु स्टालिन संविधान को बदलने का कारण आज भी विद्यमान है। नया संविधान क्या रूप धारण करेगा यह समय ही बतायेगा। २० वर्ष पुराना स्टालिन संविधान अब भी लागू है।

सविधान में सशोधन करने की प्रक्रिया (Procedure for Amending the Constitution)—सोवियत रूस के सविधान मे संशोधन की प्रणाली अपेक्षाकृत सरल है। सविधान का अनुच्छेद १४५ संशोधन के सम्बन्ध में सही-सही प्रक्रिया वर्णित करता है। यदि सर्वोच्च सोवियत या सर्वोच्च परिषद् (Supreme Soviet) के दोनों सदन कम-से-कम दो-तिहाई मतों के बहुमत से संशोधन स्वीकार कर लें तो संविधान में संशोधन हो सकता है। कहने का सार यह है कि संविधान के संशोधन की माँग संघीय परिषद् (Council of the Union) और राष्ट्रीयताओं की परिषद् (Council of the Nationalities) नामक सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदनों के द्वारा अलग-अलग दो-तिहाई के बहुमत से पास होनी चाहिए।

संविधान का क्षेत्र (Scope of the Constitution)—सोवियत रूस एक संघीय राज्य है जिसमें १५ अवयवी एकक गणराज्य हैं :

(१) रूस का सोवियत सघात्मक समाजवादी गणराज्य;
(२) यूक्रेनियन सोवियत समाजवादी गणराज्य;
(३) बाइलोरशियन सोवियत समाजवादी गणराज्य;
(४) उज़बैक सोवियत समाजवादी गणराज्य;
(५) कज़ाख सोवियत समाजवादी गणराज्य;
(६) जार्जियन सोवियत समाजवादी गणराज्य;
(७) अजरबिजान सोवियत समाजवादी गणराज्य;
(८) लिथूनियन सोवियत समाजवादी गणराज्य;
(९) मॉल्डेवियन सोवियत समाजवादी गणराज्य;
(१०) लैट्वियन सोवियत समाजवादी गणराज्य;
(११) किरघीज़ सोवियत समाजवादी गणराज्य;
(१२) तदज़िक सोवियत समाजवादी गणराज्य;
(१३) आर्मीनियन सोवियत समाजवादी गणराज्य;
(१४) तुर्कमान सोवियत समाजवादी गणराज्य; और
(१५) एसटोनियन सोवियत समाजवादी गणराज्य।

संविधान की विशेषताएँ
(Features of the Constitution)

मज़दूरों और किसानों का समाजवादी राज्य (A Socialist State of Workers and Peasants)—संविधान का अनुच्छेद १ कहता है : "समाजवादी सोवियत गणराज्यों का संघ मज़दूरों और किसानों का एक समाजवादी राज्य है।" इसलिए स्टालिन सविधान ने राज्य की नई समाजवादी व्यवस्था के सिद्धान्तों का

निरूपण किया है और राज्य के सोवियत आधार पर बल दिया है। १९१८ और १९२४ के संविधानों ने समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के बारे मे मौन रखा है। उस समय समाजवाद का आधार तैयार हो रहा था। १९३६ में समाजवाद की पूर्णरूपेण स्थापना और व्यवस्था हो चुकी थी। स्टालिन के ही शब्दो मे व्यावहारिक समाजवाद के अर्थ सुनिए : "हमारे कारखाने और पुतलीघर बिना पूँजीपतियो के ही चल रहे है। सर्वसाधारण ही सारे औद्योगिक कार्यों का सचालन कर रहे है। इसी को हम व्यावहारिक समाजवाद कहते है। हमारे खेतों में कृषिकार लोग विना जमींदारों के काम करते हैं। कृषि कर्म का संचालन भी सामान्य लोग ही करते है। इसी को हम व्यावहारिक समाजवाद कहते है और इसी को हम स्वतन्त्र सामाजिक जीवन कहते है।" समस्त भूमि पर, समस्त खनिज-पदार्थों पर और उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य का पूर्ण अधिकार है और राज्य की ओर से सर्व-साधारण इन संसाधनों से लाभ उठाते है। कोई व्यक्ति किसी का न शोषण कर सकता है न किसी को सता सकता है। इसलिए समाजवादी समाज मे जो आपस मे सम्बन्ध है वही समाजवाद है। समाजवादी शोषण-मुक्त व्यवस्था में पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्तिगत हितों पर नहीं होते बल्कि परस्पर सहयोग और साहाय्य पर आधारित होते है। सभी लोग काम करते है और हर एक, व्यक्तिगत लाभ के लिए और काम करने वालों के समाज के लाभ के लिए काम करता है। सोवियत रूस मे उत्पादित वस्तुओ के बँटवारे का आधार यह सिद्धान्त है : प्रत्येक से अपनी योग्यतानुसार, प्रत्येक को अपने कार्यानुसार (From each according to his ability, to each according to his work)।

समाजवादी सम्पत्ति के रूप (Forms of Socialist Property)—गण-राज्य का संविधान दो प्रकार की समाजवादी सम्पत्ति मानता है, वे हैं राज्य की सम्पत्ति (State Property) और सहकारी तथा सामूहिक फार्म की सम्पत्ति (Co-operative and Collective Farm Property)। राज्य सम्पत्ति के अन्तर्गत भूमि, उसके खनिज पदार्थ, नदियाँ, जंगल, मिलें, कारखाने, खानें, रेल, जल तथा वायु परिवहन, बैंक, संचार व्यवस्था की सुविधाएँ, राज्य द्वारा संगठित बड़े उद्योग जैसे राज्य कृषि क्षेत्र (farms), मशीन तथा ट्रैक्टर स्टेशन इत्यादि, नगर-पालिका उद्योग, तथा नगरों और औद्योगिक बस्तियों के अधिकारा रहने के मकान आदि वस्तुएँ आती है।

सामूहिक फार्म (Collective farms)—कुछ सदस्यों का ऐच्छिक यूनियन या संघ है। उन लोगों को राज्य की ओर से कुछ भूमि सदा के लिए कुछ लिखित शर्तों के अनुसार दे दी जाती है। शर्त यह होती है कि उस भूमि पर सभी लोग सम्मिलित रूप मे मेहनत करेंगे। राज्य की ओर से उस भूमि पर कार्य करने के लिए बड़े-बड़े यन्त्र और मशीनें आदि दी जाती है तथा धन भी उधार दिया जाता है। इस प्रकार किसान लोग सामूहिक फार्म या प्रक्षेत्र के मालिक होते हैं और इस फार्म (Farm) का प्रबन्ध एक प्रबन्धक समिति करती है जिसको उक्त फार्म के सदस्य

किसान लोग चुनते हैं। यही समिति समस्त फार्म अथवा प्रक्षेत्र (farm) का प्रबन्ध करती है, विविध सदस्यों में काम बाँटती है, आमदनी का भी बँटवारा धन के रूप में अथवा कृषि उपज के रूप में करती है और वही अतिरिक्त अथवा फालतू माल (Surpluses) को बेचती है। किसान सदस्यों को अपना-अपना भाग उसी अनुपात में मिलता है जितने दिन उन लोगों ने काम किया हो, अथवा जिस कुशलता के साथ उन्होंने कार्य किया है। सोवियत रूस (*U. S. S. R.*) में वेतन निश्चित करने का सिद्धान्त यह है, "हर एक अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करे और हर एक को उसके कार्य के अनुसार वेतन मिलना चाहिए।" कार्य-कुशलता अथवा विशेष योग्यता के अनुसार मजदूरों में जो विविधता होती है उसको इस प्रकार पूरा किया जाता है कि कुछ स्थान अथवा पद योग्यता या क्षमता के हिसाब से ऊँचे पदों के समान मान लिए जाते हैं और उनको तदनुसार ऊँचा वेतन दिया जाता है।

सामूहिक फार्मों के ऊपर भी राज्य के कुछ दायित्व हैं। फार्म को राज्य के कोष में कुछ कर (Taxes) जमा करने पड़ते हैं और एक निश्चित मूल्य पर राज्य को अपनी उपज का कुछ भाग उस परिमाण में देना पड़ता है जो विधि ने निश्चित किया हो। फार्म को धन और उपज दोनों ही, उस सेवा के उपलक्ष्य में जो राज्य की मशीनें और ट्रैक्टर आदि करते हैं, राज्य को देने पड़ते हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का अस्तित्व और रोजगारी व्यक्ति (Existence of Private Property and Wage-earners)—सोवियत रूस की सामाजिक सम्पत्ति के स्वरूप से दो महत्त्वपूर्ण फल निकलते हैं। प्रथम यह है कि अब भी किसी-न-किसी रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति और प्राइवेट स्वाम्य उस देश में वर्तमान है। द्वितीय यह है कि उस देश में एक वर्ग, भृति कमाने वाला अथवा निजी रोजगार करने वाला है। संविधान का अनुच्छेद ९ व्यक्तिगत कृषकों और व्यक्तिगत कर्मकारों को आज्ञा देता है कि वे अपने-अपने प्राइवेट व्यावसायिक संस्थापन रख सकते हैं, किन्तु शर्त यह है कि अपने संस्थापन में वे स्वयं मेहनत करते हैं और वे अन्य लोगों की मजदूरी पर नहीं चलाए जाते। इस प्रकार संविधान ने स्पष्टतः छोटे पैमाने पर व्यक्तिगत उद्योगों और उपक्रमों को मान्यता दी है। उसी प्रकार अनुच्छेद १० नागरिकों के व्यक्तिगत सम्पत्ति के रखने के अधिकार को मानता है। "इस सम्पत्ति में नागरिकों के काम की आमदनी और बचत हो सकती है, उनके रहने के मकान और घर का सामान हो सकता है; घर का फर्नीचर, बर्तन और अपने व्यक्तिगत आराम और काम की चीजें हो सकती हैं।" मकान बनाने के लिए कर्मकार को सस्ते ब्याज की दर पर ५,००० से १०,००० रूबल तक कर्जा भी मिल सकता है।

आय-सम्बन्धी असमानता (Inequality of Incomes)—भृति के सम्बन्ध में निम्न सिद्धान्त, "हर एक अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करे और हर एक को अपने कार्य के अनुसार वेतन मिले," यह मान लेता है कि रूस में आय-सम्बन्धी असमानता वर्तमान है। इसमें सन्देह नहीं कि सोवियत रूस (*U. S. S R.*) में आय-सम्बन्धी असमानता उतनी उग्र नहीं है जितनी कि पूँजीवादी देशों में है। किन्तु उसी के साथ

सोवियत रूस में जो आय-सम्बन्धी असमानता है उसकी सर्वथा उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। १९५० में किसी कुशल शिल्पी का मासिक वेतन लगभग ६०० रूबल था जबकि सचालकों और मैनेजरों का मासिक वेतन, ६,००० रूबल से लेकर १६,००० रूबल तक था। आय-सम्बन्धी इतनी असमानता के होते हुए भी उच्च वेतनभोगी अधिकारियों को अन्य विशेष सुविधाएँ भी दी जाती हैं, जैसे रहने के अच्छे निवास-स्थान, मोटरकार और अनेक सुख-सुविधाएँ आदि, आदि। उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर काम करने वाले अधिकारियों के इस प्रकार के विशेषाधिकारों को अत्यावश्यक माना जाता है। अधिकारियों की इस श्रेणी मे अधिकतर वे लोग आते है जो या तो शासन के उच्च अधिकारी हैं अथवा फैक्टरियों के मैनेजर आदि।

रूस में वर्गविहीन समाज नहीं है (Not a Classless Society)—सोवियत रूस में यद्यपि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का नाश किया जा चुका है, किन्तु इसके यह अर्थ नहीं हैं कि वहाँ वर्गविहीन समाज की स्थापना हो गई है। सोवियत रूस का समाज श्रमिकों, कृषकों और बौद्धिक वर्गों से मिल कर बना है। समाज मे वर्ग-संगठन समाप्त करने से स्टालिन यह चाहता था कि समाज मे एक वर्ग का दूसरे वर्ग के द्वारा शोषण बन्द हो जाए अर्थात् वर्गों के परस्पर विरोध समाप्त हो जाएँ। १९३६ में संविधान के प्रारूप पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए स्टालिन ने कहा था "....हमारे समाज का वर्ग-संगठन भी बदल गया है.... ..इस प्रकार शोषण करने वाले वर्ग को समाप्त कर दिया गया है। अब मजदूर वर्ग, किसान वर्ग और बौद्धिक वर्ग हैं।" ये सभी मेहनत करके आजीविका कमाते हैं इसलिए इन वर्गों में कोई विरोध नहीं है। यद्यपि ये तीनों विभिन्न वर्ग है किन्तु एक-दूसरे के प्रति मैत्री-भाव रखते हैं; और सरकारी तौर पर यह मान लिया गया है कि सोवियत रूस मे श्रमिक वर्ग ही प्रमुख वर्ग है।

सोवियत संघवाद
(Soviet Federalism)

सोवियत रूस के शासन का संगठन इस प्रकार किया गया है कि यह १५ अवयवी एकक गणराज्यों का संघ है। सोवियत संघ समस्त अवयवी समाजवादी गणराज्यों को समान अधिकार प्रदान करता है और सभी एककों की संघीय सदस्यता पूर्णरूपेण ऐच्छिक है। सघ और अवयवी गणराज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट वितरण है। सघीय शासन की शक्तियों को संविधान के अनुच्छेद १४ में प्रगणित किया गया है। शेष शक्तियाँ अवयवी गणराज्यों को सौंप दी गई हैं और प्रत्येक अवयवी गणराज्य अपने अधिकार के प्रयोग में केन्द्रीय शासन से मुक्त है। "सोवियत रूस (U. S. S. R.) अवयवी गणराज्यों के प्रभु अधिकारों का सरक्षक है।"

सोवियत सघवाद की कुछ विशेषताएँ (Some Features of Soviet Federalism)—ऊपर उन कतिपय समानताओं का जिक्र किया गया है जो रूस के स्टालिन संविधान और संयुक्त राज्य अमेरिका के संघीय संविधान तथा अन्य देशों के

संघीय संविधानों में पाई जाती है। किन्तु सोवियत रूस का संघीय संविधान अन्य संघीय संविधानों से निम्न बातों में भिन्न है—

(१) सोवियत रूस (U. S. S. R.) विविध राष्ट्रीयताओं का राज्य है जिसमें ६० से अधिक जातियाँ और राष्ट्रीयताएँ निवास करती हैं। ये सभी राष्ट्रीयताएँ (Nationalities) एक-दूसरे से भाषा, रीति-रिवाज, इतिहास और संस्कृति एवं सभ्यता में विभिन्न है। बॉल्शेविक दल आत्म-निर्णय (Self-determination) के सिद्धान्त का प्रबल समर्थक था किन्तु लेनिन (Lenin) और स्टालिन (Stalin) दोनों ने देश को सुदृढ़ संघ बनाना चाहा, इसलिए उन्होंने इन विविध राष्ट्रीयताओं को संघ से पृथक् होने की छूट दे दी और समस्त सोवियत प्रजा को अपनी-अपनी संस्कृति को अपने आदर्शों के अनुसार विकसित करने की छूट दे दी और सभी को अपने राजनीतिक भविष्य के निर्णय का अधिकार दिया।

इस प्रकार स्टालिन संविधान इस दिशा में एक अनोखा उदाहरण उपस्थित करता है कि उसने अवयवी एककों को संघ से अलग हो जाने की छूट दे दी है। किन्तु संघवाद के सिद्धान्त के साथ-साथ आत्म-निर्णय का अधिकार दे देना, एक युक्तिपूर्ण रियायत थी। लेनिन (Lenin) ने स्वयं कहा था कि "हमारे संघवाद से विभिन्न राष्ट्रीयताओं का एकीकरण होगा और वे एक सुदृढ़ प्रजातन्त्रीय संघात्मक सोवियत राज्य का निर्माण करेंगी।" आत्मनिर्णय के अधिकार पर टिप्पणी करते हुए स्टालिन (Stalin) ने कहा था, "ऐसे भी अवसर आ सकते है जबकि आत्म-निर्णय के अधिकार का एक उच्चतर अधिकार से संघर्ष हो सकता है—वह उच्चतर अधिकार है श्रमिक वर्ग का अपनी शक्ति की रक्षा का अधिकार।" इसलिए एककों के संघ से विलग होने के सभी प्रयत्नों को निर्दयतापूर्वक दबा दिया गया, आज तो इस अधिकार का केवल आदर्शवादी महत्त्व ही रह गया है। अनेक लोगों को १९३७-१९३८ में देश-द्रोह और क्रान्ति-विरोधी हलचलों के अभियोगों पर देश से निकाल दिया गया और उन पर मुख्य आरोप यह था कि वे सोवियत संघ (Soviet Union) को छिन्न-भिन्न करना चाहते थे।

क्रान्ति के शीघ्र बाद शासन का संघीय स्वरूप स्थापित कर दिया गया था और सोवियत संघ का लगातार प्रत्यक्ष रूप से वही स्वरूप बना रहा है किन्तु साम्यवादी आदर्श अब भी पूर्ण एकता है और संघवाद उस एकता को प्राप्त करने का एक साधन है, अप्रत्यक्ष साधनों के द्वारा और अ-रूसी क्षेत्रों और प्रदेशों को मिला कर तथा शासन के संघात्मक स्वरूप को स्थायी बना कर और नव-विजित प्रदेशों को भी उनकी अपनी संस्कृति बनाए रखने का आश्वासन देकर एकता का आदर्श प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए सोवियत रूस में जो संघात्मक शासन है उसका अन्तिम उद्देश्य एकात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित करना है, अर्थात् रूस संघ के छद्म वेश में केन्द्रित राज्य स्थापित करना चाहता है।

(२) संघीय संविधान ने प्रत्येक अवयवी एकक गणराज्य को विदेशी राज्यों के साथ सीधे सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार दे दिया है और यह भी अधिकार

दिया है कि वे सीधे विदेशी राज्यों के साथ समझौते कर सकते हैं। उनके साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं और वाणिज्य दूतों को विदेशों में भेज सकते है, तथा विदेशों में अपने वाणिज्य दूतावास खोल सकते है। इसलिए प्रत्येक अवयवी गणराज्य स्वयं निर्णय करता है कि वह किन देशों के साथ सीधे दौत्य सम्बन्ध रखे। सघीय सरकार तो केवल यह देखती है कि किसी अवयवी गणराज्य के किसी विदेशी सरकार के साथ जो सम्बन्ध हैं उनकी प्रक्रिया कैसी है। सविधान के इस उपबन्ध के अनुसार ही यूक्रेन (Ukraine) और श्वेत रूस (White Russia) को सयुक्त राष्ट्रसघ (U. N. O.) मे स्वतन्त्र राज्यों के रूप में सदस्यता दे दी गई।

सविधान ने एकक गणराज्यों को यह भी आज्ञा प्रदान की है कि वे अपनी सेनाएँ, अपने शस्त्र और अपने-अपने झण्डे रख सकते हैं।

(३) सोवियत संघ का स्वरूप अत्यधिक जटिल है। सघ के अवयवी एकक गणराज्यों को पुन. इस प्रकार बाँटा गया है : प्रदेश (territories) ६; जनपद (Regions) १२४, स्वायत्त गणराज्य (Autonomous Republics) १५; स्वायत्त जनपद (Autonomous Regions) ६; राष्ट्रीय क्षेत्र (National Areas) १०; इन सब राष्ट्रीयताओं को राष्ट्रीयताओं की सर्वोच्च परिषद् (Soviet of Nationalities) में प्रतिनिधित्व प्राप्त है। प्रतिनिधित्व का क्रम इस प्रकार है। प्रत्येक अवयवी यूनियन गणराज्य २५ प्रतिनिधि (deputies) भेज सकता है; प्रत्येक स्वायत्तशासी गणराज्य (Autonomous Republic) ११ प्रतिनिधि (deputies) भेज सकता है, प्रत्येक स्वायत्त जनपद (Autonomous Region) ५ प्रतिनिधि भेज सकता है, प्रत्येक स्वायत्त राष्ट्रीय क्षेत्र (National Area) एक प्रतिनिधि (deputy) भेज सकता है।

(४) सिद्धान्ततः सभी अवयवी एकक गणराज्य बराबर हैं किन्तु व्यवहारतः इस प्रकार की समानता न तो वास्तविक है और न सम्भव हो सकती है। रूस का संघात्मक सोवियत समाजवादी गणराज्य (The Russian Soviet Federated Socialist Republic) सोवियत रूस (U. S S. R.) का सबसे बड़ा एकक गणराज्य है जिसमें सारे संघ का ⅞ भू-प्रदेश है, सारे संघ की आधे से अधिक जनसंख्या है और बाल्टिक सागर (Baltik Sea) से प्रशान्त महासागर (Pacific Ocean) तक विस्तृत है। सरकारी भाषा और सरकारी प्रचार से भी इसी गणराज्य की महत्ता व्यक्त होती है और नया राष्ट्रीय गीत भी यही कहता है कि रूस नाम के गणराज्य ने सदैव सोवियत रूस के समस्त स्वतन्त्र अवयवी गणराज्यों को अटूट बन्धन मे बाँधे रखा है। रूस के सोवियत संघात्मक समाजवादी गणराज्य (R. S. F. S. R.) को सोवियत रूस के अन्य एकक गणराज्यों मे जो प्रधानता प्राप्त है उसको इस तथ्य से समझा जा सकता है कि जब द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पूर्वी प्रशा का उत्तरी भू-भाग सोवियत रूस को प्राप्त हुआ तो उस भू-भाग को रूस के सोवियत संघात्मक समाजवादी गणराज्य (R. S. F. S. R.) मे मिलाया गया न कि उन अन्य एकक गणराज्यों मे जो उक्त भू-भाग से छूते थे।

केन्द्रित या एकीकृत प्रशासन (Centralized Administration)—किन्तु सोवियत रूसी संघ के एकक गणराज्यों को जो भी प्रभु-सत्ताधारी अधिकार प्रदान किए गए हैं और जिन अधिकारों की गारंटी संविधान ने की है, उन पर वास्तविक मर्यादाएँ थोप दी गई है और अंततोगत्वा सोवियत रूसी संघ का प्रशासन किसी भी समय पूर्ण केन्द्रित और एकीकृत हो सकता है जिसमें केन्द्रोन्मुखी (Centripetal) शक्तियाँ चरम सीमा को पहुँच जाती है। संविधान ने संघीय शासन (Union Government) को इतनी व्यापक शक्तियाँ प्रदान कर रखी हैं कि उनके बल पर वह समस्त देश की आर्थिक व्यवस्था को न केवल नियन्त्रित और विनियमित करता है अपितु, प्रत्यक्ष रूप से उसका प्रबन्ध भी करता है।-संविधान का अनुच्छेद ११ स्पष्ट रूप से कहता है कि समस्त सोवियत रूस के आर्थिक ढाँचे का स्वरूप केन्द्रीय आर्थिक योजना (State National Economic Plan) के अनुसार इस उद्देश्य से निर्मित होगा कि सार्वजनिक समृद्धि बढ़े, श्रमिक वर्ग के भौतिक और सांस्कृतिक जीवन के स्तर में उन्नति हो, सोवियत रूसी संघ की स्वतन्त्रता की रक्षा पक्की हो जाए और देश के रक्षा-साधनों को मजबूत किया जाए; और उसी योजना के अनुसार उक्त आर्थिक व्यवस्था का संचालन होगा। सोवियत रूस (U. S. S R.) में जो आर्थिक योजनाएं निर्मित होती हैं, वे समस्त देश के समस्त जीवन को आवृत कर लेती हैं; इस कारण संघीय अधिकारियों को ऐसे अनेक अवसर प्राप्त होते हैं जिनसे वे अवयवी एकक गणराज्यो के नैत्यिक प्रशासन मे भी विघ्नकारी प्रभाव डाल सकते हैं। इसके अतिरिक्त संघीय शासन का वित्तीय शक्तियों पर एकाधिकार है। संविधान का अनुच्छेद १४ संघीय शासन को अधिकार प्रदान करता है कि "वह समस्त सोवियत रूस (U. S. S. R.) का एक राज्य के रूप में आय-व्ययक (Budget) तैयार करे; साथ ही उन करों (Taxes) और राजस्वों (Revenues) की भी व्यवस्था करे जो केन्द्रीय संघ के भाग के हों अथवा एकक गणराज्यों के भाग के हों अथवा स्थानीय संस्थाओं के भाग के हों।" संक्षेप में कहा जा सकता है कि एकक गणराज्यो के वित्तीय साधनो पर भी केन्द्रीय शासन का पूर्ण नियन्त्रण है। "और यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि जिसका अधिकार किसी के वित्त पर होगा उसी का अधिकार उसकी इच्छाओं पर भी होगा।" इसीलिए व्यवहारतः अवयवी एककों की स्वायत्तता अत्यन्त सीमित और मर्यादित है।

संविधान के अनुच्छेद १४ में संघीय शासन के अधिकार-क्षेत्र को स्पष्ट कर दिया गया है। उन सीमाओं को छोड़ते हुए प्रत्येक अवयवी एकक गणराज्य अपने अधिकारों का प्रयोग करने में स्वतन्त्र है। किन्तु संविधान का अनुच्छेद २०, अवयवी एकक गणराज्यों की स्वतन्त्र सत्ता को किसी सीमा तक मर्यादित करता है। वह आदेश करता है, "यदि कभी किसी अवयवी एकक गणराज्य की विधि सोवियत रूसी संघ की विधि के विरुद्ध पड़ती हो तो सोवियत रूसी संघ की विधि को मान्यता प्रदान की जाएगी।" सोवियत रूसी संघ के शासन को यह भी अधिकार है कि वह किसी अवयवी एकक गणराज्य की कार्यपालिका द्वारा पारित अथवा उसकी संसद् (Soviet) द्वारा पारित किसी अधिनियम को रद्द कर सकता है।

इसके अतिरिक्त संविधान म संशोधन करने की शक्ति केवल सर्वोच्च ससद् (Supreme Soviet) को ही प्राप्त है। सर्वोच्च सोवियत, अथवा सर्वोच्च संसद् (Supreme Soviet) के ही नियन्त्रण में यह देखना है कि समस्त संघ में सर्वोच्च संविधान की क्रियान्विति ठीक प्रकार से हो रही है अथवा नहीं और वही यह देखती है कि अवयवी एकक गणराज्यों की विधियाँ सोवियत रूस (U. S. S. R) की विधियों के अनुरूप ही हैं अथवा नही । इन तथ्यो से यही निष्कर्ष निकलता है कि सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) में पूर्ण एकीकृत और केन्द्रीय शासन है। स्टालिन का कथन था कि हमारा समाजवाद एक देश का समाजवाद (Socialism in a Single Country) है और इसके अतिरिक्त सोवियत रूस मे लोक प्रबन्धक परिषद् अथवा मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के नियन्त्रण में यूनियन गणराज्यों और अखिल सोवियत यूनियन की सर्वोच्च कार्यकारी और प्रशासनिक शक्ति निहित है, इसलिए भी 'सोवियत एकक गणराज्यों के प्रभु सत्ताधारी अधिकार' एक दिखावा-मात्र हैं।

इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सोवियत रूस मे साम्यवादी दल की स्थिति सर्वोच्च और सर्वव्यापक है और यह संघ की केन्द्राभिग प्रवृत्ति को ही इंगित करती है। जहाँ तक समस्त नीति साम्यवादी दल की ओर से ही प्रेरित होती है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है कि शासन का स्वरूप संघीय है अथवा नहीं। अखिल रूसी संघ के साम्यवादी दल का राजनीतिक ब्यूरो (Polit Bureau) ही समस्त सोवियत यूनियन (U. S. S. R.) की नीति का निर्माण करता है और उसी नीति पर समस्त सत्ताएँ—अखिल संघीय और एकक गणराज्यीय सत्ताएँ—चलती है और शासनसूत्र चलाती हैं। "इस प्रकार सोवियत रूस में शासन का स्वरूप संघीय अवश्य है किन्तु उसका संचालन और निर्देशन एकात्मक और कठोर दल द्वारा होता है, इसलिए जो आज्ञाएँ वह दल देता है उन्ही का पालनमात्र सभी एकक गणराज्य करते हैं।"

सांविधानिक शासन-पद्धति के सम्बन्ध में सोवियत मान्यता (The Soviet Concept of Constitutionalism)—संसार के अन्य सभी देशों मे सांविधानिक विधि अथवा मौलिक विधि को विशेष मान्यता प्रदान की जाती है, और अन्य सब प्रकार की विधियाँ मौलिक विधि के अधीन होती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि संविधान ही किसी देश की सर्वोच्च विधि होती है। किन्तु सोवियत रूस (U.S.S.R.) मे ऐसा नही है। विशिस्की (Vyshinsky) कहता है, "सोवियत रूस में सर्वहारा-वर्ग (Proletariat) का अधिनायकत्व स्थापित हो चुका है और इस सर्वहारा-वर्ग अथवा श्रमिकों के सर्वाधिकारवादी राज्य पर संविधियाँ (Statutes) भी कोई मर्यादाएँ नही लगा सकती।"[1] इसका यह अर्थ हुआ कि सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकवाद का नियन्त्रण संविधान के उपबन्धों के अनुसार नही होता। प्रत्युत्, अधिनायकवाद ही यह

1. Andrei, Vyshinsky : The Law of the Soviet State (Trans. by H R. Noble), 1948, p. 48

निर्णय करेगा कि उसकी नैतिक और वैधिक व्यवस्था किस प्रकार की हो और उक्त व्यवस्था में संविधान को शीर्ष स्थानीय महत्ता प्रदान की जाए अथवा नहीं। इस प्रकार सोवियत संविधान सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकत्व (Dictatorship of the proletariat) के हाथों का खिलौनामात्र बन कर रह जाता है। संविधान का उक्त अधिनायकवाद के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं है, अपितु, स्वयं संविधान के ऊपर सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकवाद का नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया है। स्टालिन (Stalin) ने वास्तव में एक तथ्य ही वर्णित किया जबकि १६३६ में उसने कहा था: "हमारा संविधान हमारी अब तक की सफलताओं का दर्पण है।" इसका यह अर्थ है कि हमारी भविष्य में होने वाली सफलताओं को भी संविधान में स्थान दिया जाएगा और संविधान के पास ऐसी शक्तियों का अभाव है जिससे होने वाले परिवर्तनों को रोका जा सके। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि सोवियत रूस में न सांविधानिक शासन-पद्धति है, न असांविधानिक। शासन के किसी कृत्य को अथवा किसी अधिनियम को किसी वैधिक न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती और शासन जो कुछ विधि पास कर दे अथवा समय की स्थिति जैसी किसी समय बदल जाय, उसी के अनुसार संविधान भी बदल जाता है। स्टालिन (Stalin) ने भी कहा था, "हमारे राज्य का स्वरूप उसी प्रकार फिर बदल सकता है जिस प्रकार की परिवर्तित स्थिति देश में और बाहर पाई जाएगी।" किन्तु इसी बात को मोलोटोव (Molotov) ने और भी अधिक स्पष्टवादिता के साथ इस प्रकार कहा था, "साम्यवादी दल का सदैव यही प्रयत्न रहता है कि समाजवाद की भौतिक आवश्यकताओं और सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकत्व को दृढ़ करने के उद्देश्य से राज्य का स्वरूप तदनुसार बदलता रहे।"[1]

यहाँ तक कि संविधान में संशोधन कर लेना सामान्य-सी बात है। संशोधन प्रक्रिया साधारण है और उसमें कोई व्यवस्था सम्बन्धी अड़चन नहीं है। सर्वोच्च संसद् (Supreme Soviet) के दोनों सदनों में दो-तिहाई के बहुमत से कभी भी संविधान में संशोधन हो सकता है। किन्तु सर्वोच्च संसद् में अनुशासन और राष्ट्रीय एकता के नाम पर सभी सदस्य सभी प्रश्नों पर एकमत होते हैं इसलिए इस बात में कोई सन्देह नहीं होता कि जिस संशोधन का प्रस्ताव सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकत्व की ओर से किया जाएगा, वह अवश्य ही स्वीकृत होगा।

मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य (Fundamental Rights and Duties)— स्टालिन संविधान के अनुच्छेद ११८ से लेकर अनुच्छेद १३३ तक में जिन मौलिक अधिकारों और मौलिक कर्त्तव्यों का निरूपण किया गया है, वे इतिहास में एक असाधारण अधिकार-घोषणा-पत्र का निर्माण करते हैं। इस अधिकार-पत्र में पांच अधिकार ऐसे हैं जिनके कारण यह सारे संसार के अधिकार-पत्रों से निराला है:

(१) सोवियत रूस में सामाजिक और आर्थिक अधिकारों को प्रथम स्थान दिया जाता है और नागरिक अधिकारों को गौण स्थान दिया जाता है। सोवियत नेताओं

1. The New Soviet Constitution (1937), p. 21.

ने सदैव यही कहा है कि बोर्जुआ राज्यों (Bourgeois States) में प्रजातन्त्र धोखा-मात्र है। बिना आर्थिक स्वतन्त्रता के नागरिक स्वतन्त्रता बेकार है। वे कहते है, "किसी व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतन्त्रता का मूल्य ही क्या है यदि वह व्यक्ति बेरोजगार है अथवा भूखा घूमता है अथवा उसको अपनी योग्यता के अनुसार काम का अभाव है। सच्ची स्वतन्त्रता वही निवास करती है जहाँ शोषण का अन्त कर दिया गया है, जहां एक व्यक्ति को दूसरा सता नही सकता, जहाँ बेरोजगारी नही है, जहाँ कोई भीख नही माँगता और जहाँ इस बात का भय नहीं रहता कि कोई व्यक्ति कल को बेरोजगार हो सकता है, या अपने स्थान से हटाया जा सकता है या उसकी रोटी छीनी जा सकती है।"

(२) सोवियत नागरिक अधिकारों के साथ एक आवश्यक शर्त जुड़ी हुई है कि वे "अधिकार सर्वहारा-वर्ग के हितों से टकराते न हों और उन अधिकारो से देश की समाजवादी व्यवस्था को आवश्यकतः बल मिलता हो।" संविधान का अनुच्छेद १२५ भाषण, समाचारपत्रों और संगठन सम्बन्धी नागरिक स्वतन्त्रताओं का अधिकार प्रदान करता है किन्तु यह शर्त है कि उक्त अधिकारों का प्रयोग समाजवादी जीवन-चर्या और समाजवादी मान्यताओ के अनुरूप ही होना चाहिए। विशिस्की (Vyshinsky) ने उक्त अनुच्छेद पर प्रकाश डालते हुए कहा, "स्वभावतः हमारे राज्य में समाजवाद के शत्रुओं को भाषण स्वतन्त्रता अथवा समाचारपत्रो के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता आदि नही दी जा सकती।" इसलिए ऐसे मान्य और मौलिक नागरिक अधिकारों की भी संविधान गारण्टी नही कर सकता जो सर्वहारा-वर्ग के हितों अथवा रूस की सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध हों।

अनुच्छेद १२६ मे लोगों के सार्वजनिक संगठन सम्बन्धी उपबन्ध मे भी इसी प्रकार की शर्त लगा दी गई है। किन्तु उसी के साथ सांविधानिक अनुच्छेद ने साम्यवादी दल को विशेष स्थिति प्रदान की है और "उसको राज्य का और सर्व-साधारण का तथा सर्वहारा-वर्ग का मुख्य संगठन कह कर पुकारा गया है।" यह ठीक है कि संविधान की आज्ञाओं के अनुसार शासन ने "श्रमिको और उनके संगठनों को मुद्रणालय, कागज के ढेर, सरकारी इमारतें, सड़कें, पत्र-व्यवहार और यातायात की सुविधाएँ तथा इन अधिकारों के प्रयोग के लिए अन्य आवश्यकताओं को जुटाया है" किन्तु उक्त सांविधानिक अनुच्छेद का तर्कपूर्ण निर्वचन यही करना होगा कि यदि शासन नागरिकों को उक्त सुविधा देने से मना कर दे तो उक्त नागरिक अधिकारों का प्रयोग नही हो सकेगा। जिस समय स्टालिन संविधान स्वीकार किया गया था, स्टालिन ने कहा था, साम्यवादी दल के अतिरिक्त किसी अन्य प्रतिद्वन्द्वी राजनीतिक दल को देश में नहीं पनपने दिया जाएगा।" इसका स्पष्ट अर्थ है कि सोवियत संघ में केवल साम्यवादी दल के लिए ही स्थान है।

(३) वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में साम्यवादी मान्यता यह है कि: (क) वास्तविक स्वतन्त्रता तभी सम्भव है जबकि कोई व्यक्ति आर्थिक रूप से स्वतन्त्र है और उसके पास आर्थिक बाहुल्य है; और (ख) केवल साम्यवादी राज्य में ही

अधिक स्वतन्त्रता और आर्थिक समृद्धि सम्भव है। इसके विपरीत पश्चिमी प्रजातन्त्रों में राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रताओं को ही वास्तविक स्वतन्त्रताएँ समझा जाता है यद्यपि अब उन देशों में भी इस ओर ध्यान दिया जा रहा है कि सर्वसाधारण वर्ग को आवश्यकताओं से मुक्ति प्राप्त हो और सब प्रकार के भय से मुक्ति प्राप्त हो।

(४) सोवियत अधिकार-पत्र (Bill of Rights) की अन्य विशेषता यह है कि एक ही धारा में एक ही अनुच्छेद में समस्त अधिकारों और तदनुरूप कर्त्तव्यों का समावेश कर दिया गया है और वह सारी प्रक्रिया भी वर्णित कर दी है जिसके अनुसार अधिकारों और कर्त्तव्यों का प्रयोग हो सकता है। सोवियत रूस मे बिना कर्त्तव्यों के कोई अधिकार नही हैं और सोवियत नागरिकों के कर्त्तव्य उन्ही अधिकारो के अनुरूप हैं जो उन्हें प्रदान किए गए हैं। सोवियत नागरिको के अधिकारों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध मे सोवियत मान्यता यह है कि व्यक्ति को राज्य से लाभ भी होता है और व्यक्ति राज्य की सेवा भी करता है।

(५) उसी प्रकार अधिकारो के सम्बन्ध में, विशेषकर आर्थिक अधिकारों के सम्बन्ध में सोवियत मान्यता यह है कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करना चाहिए और व्यक्तियों की सेवा करनी चाहिए। सोवियत रूस मे कोई प्राकृतिक अधिकार नही हैं; अपितु समस्त अधिकार साम्यवादी सिद्धान्तानुसार आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के फल है। अधिकार निम्न है :

(i) काम का अधिकार (Right of Work)—सोवियत सविधान में काम का अधिकार एक अनोखी विशेषता है। अनुच्छेद १२ में काम को कर्त्तव्य कहा गया है और प्रत्येक स्वस्थ शरीरधारी व्यक्ति के लिए काम करना आदर का सूचक है। "जो व्यक्ति काम नही करेगा उसको खाना भी नहीं मिलेगा।" इसी बात को अनुच्छेद ११८ में विस्तार के साथ दिया गया है। "सोवियत रूस के नागरिकों को काम *का अधिकार है अर्थात् सभी नागरिकों को रोजगार अवश्य मिलेगा और जितना और* जैसा वे लोग कार्य करेंगे उसके हिसाब से उन्हे काम की मजदूरी अवश्य मिलेगी।"

(ii) आराम और छुट्टी का अधिकार (Right to Rest and Leisure)—प्रत्येक नागरिक को आराम का अधिकार है। आराम के अवसर इस प्रकार प्राप्त होते हैं कि फैक्टरियो और दफ्तरो मे काम करने वालों को दिन में आठ घण्टे काम करना पड़ता है; कठोर शारीरिक परिश्रम करने वालों को दिन मे छः घण्टे काम करना पड़ता है और ऐसी दूकानों पर दिन में चार घण्टे काम करना पड़ता है जहाँ काम अत्यधिक सख्त है। छुट्टी के अधिकार के सम्बन्ध में वेतन सहित वार्षिक छुट्टियाँ मिलती हैं और मनबहलाव के अनेक साधन उपलब्ध कर दिए गए हैं, जैसे क्लबघर विश्राम-गृह और स्वास्थ्य केन्द्र आदि।

(iii) भौतिक सुरक्षा का अधिकार (Right to Material Security)—इस अधिकार के अन्तर्गत बुढ़ापे की पेंशनें मिलती हैं और बीमारी और शारीरिक असमर्थता के लिए सहायता दी जाती है। मुफ्त डाक्टरी सेवा की भी व्यवस्था है और सारे देश में अनेक स्वास्थ्य केन्द्रों का जाल-सा बिछा हुआ है। जनवरी १, १९५५ से

यह विधि भी लागू हो गई है जिसके अनुसार कृषकों को भी बुढ़ापे की पेंशन मिलेगी। इससे अब यह स्पष्ट है कि सोवियत संघ के सब कर्मकारों के लिए बुढ़ापे की पेंशन की व्यवस्था कर दी गई है।

(iv) शिक्षा सम्बन्धी अधिकार (Right to Education)—इस अधिकार की पूर्ति सार्वजनिक अनिवार्य शिक्षा के द्वारा की गई है। प्रारम्भ में संविधान ने उच्च शिक्षा सहित मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था का आश्वासन दिया था। सितम्बर १९५६ से सब उच्चतर स्कूलों में शिक्षा मुफ्त है। सब शिक्षार्थियों को जो पढ़ाई में अच्छे हैं अपनी सारी पढ़ाई के दिनों में मासिक भत्ता मिलता है।

(v) अधिकारों के सम्बन्ध में स्त्रियाँ और पुरुष बराबर (Equality of men and women)—संविधान ने स्त्रियों को भी पुरुषों के ही समान आर्थिक क्षेत्र में, शासन के क्षेत्र में, सांस्कृतिक, राजनीतिक और अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों में पूर्ण अधिकार प्रदान किए हैं। राज्य ने माता और शिशुओं के हितों का विशेष ध्यान रखा है; बड़े परिवार वाली माताओं को विशेष राजकीय सहायता दी जाती है; अविवाहित माताओं को भी राज्य की ओर से सहायता दी जाती है; प्रसूतिका काल में माताओं को सवेतन छुट्टी प्राप्त होती है; और समस्त देश में प्रसूति-गृहों, बच्चों के लालन-पालन के स्थानों और शिशु शिक्षालयों का जाल-सा बिछा दिया गया है।

(vi) सभी नागरिकों को समानता का अधिकार (Equality of Citizens)—समस्त नागरिक सांविधानिक विधि के समक्ष बराबर हैं; चाहे वे किसी भी राष्ट्रीयता के हों, किसी भी जाति से सम्बन्धित हों और चाहे वे किसी लिंग के हों। यदि कोई नागरिक जातिगत अथवा राष्ट्रीयतागत पृथकता का प्रचार करता है अथवा उक्त आधारों पर परस्पर घृणा और ऊँच-नीच की भावना फैलाता है तो उसे एक जघन्य राजनीतिक अपराध के लिए कठोर दण्ड दिया जा सकता है।

(vii) धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता (Freedom of Conscience)—संविधान का अनुच्छेद १२४ आदेश करता है कि राज्य का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होगा। चर्च का राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका है और सभी को छूट है कि वे चाहे तो धर्म का प्रचार करें चाहे धर्म-विरोधी प्रचार करें।

(viii) राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रताएँ (Political and Civil Liberties)—संविधान ने समस्त नागरिकों को भाषण, समाचारपत्र, संगठन और सभाओं सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया है। इनके अतिरिक्त श्रमिक संघों (Trade Unions), सहकारी संस्थाओं (Co-operative Associations), युवक संगठनों और अन्य सभाओं की स्थापना की भी छूट दे दी गई है। सभी व्यक्ति, उनके निवास-स्थान और उनका पत्र-व्यवहार सब प्रकार की मर्यादाओं से परे हैं, यहाँ तक कि किसी व्यक्ति को उस समय तक गिरफ्तार नहीं किया जा सकता जब तक कि कोई उच्च न्यायिक अधिकारी (Procurator) तदर्थ आज्ञा न दे अथवा कोई न्यायालय इस प्रकार का निर्णय न दे।

(ix) शरणाधिकार (Right of Asylum)—संविधान आज्ञा देता है कि यदि कोई ऐसे विदेशी नागरिक सोवियत रूस में शरण चाहें जिन पर स्वदेश में श्रमिक वर्ग के हितों की रक्षा के विरुद्ध मुकदमा चल रहा हो अथवा किसी वैज्ञानिक खोज के कारण अथवा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील होने के कारण उन पर स्वदेश में मुकदमा चल रहा हो तो उनको सोवियत रूस में अभयदान और शरण दी जाए।

(x) व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार (Right to Private Property)—संविधान में मौलिक अधिकारों वाले अध्याय में सम्पत्ति विषयक अधिकार का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। फिर भी सम्पत्ति-धारण के प्रश्न को इतना महत्वपूर्ण समझा गया है कि संविधान के प्रथम अध्याय में पूरी तरह से यही विषय प्रतिपादित किया गया है।

मौलिक कर्त्तव्य (Fundamental Duties)—

(i) सोवियत संविधान और सोवियत विधियों का पालन—यह प्रत्येक सोवियत नागरिक का प्रथम कर्त्तव्य है। यह भी बताया गया है कि संविधान और विधियों के पूर्ण पालन से ही सोवियत रूस की उन्नति और समृद्धि होगी और सोवियत रूस (U. S. S. R.) की उन्नति और समृद्धि से सोवियत नागरिकों की उन्नति होगी।

(ii) श्रमिक वर्ग में अनुशासन की आवश्यकता (To Maintain Labour Discipline)—संविधान प्रत्येक नागरिक से आशा करता है कि श्रमिक वर्ग में पूर्ण अनुशासन बना रहेगा। श्रमिकों को चाहिए कि अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन में कर्त्तव्य भावना का प्रदर्शन करें और सभी के लाभ को दृष्टि में रखते हुए मेहनत और होशियारी के साथ काम करें।

(iii) सार्वजनिक सेवाओं में ईमानदारी की आवश्यकता (Honestly to Perform Public Duties)—प्रत्येक नागरिक को प्राणप्रण से राज्य के प्रति और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन ईमानदारी के साथ करना चाहिए।

(iv) समाजवादी व्यवस्था के नियमों के प्रति आदर (Respect for Rules of Socialist Intercourse)—इस कर्त्तव्य में आदेश है कि काम करना सभी का परम कर्त्तव्य है। किन्तु कोई व्यक्ति दूसरे का शोषण नहीं कर सकता और सार्वजनिक समाजवादी सम्पत्ति को कोई नागरिक हानि न पहुँचावे।

(v) समाजवादी सार्वजनिक सम्पत्ति की पूर्ण सुरक्षा (Safeguarding public, socialist property)—संविधान का आदेश है कि जो व्यक्ति सार्वजनिक समाजवादी सम्पत्ति को हानि पहुँचाते देखे जावेंगे, उनको समाज का शत्रु समझा जाएगा।

(vi) अनिवार्य सार्वजनिक सैनिक सेवा (Universal Military Service)—संविधान अनिवार्य सार्वजनिक सैनिक सेवा को रूसी नागरिकों का आदरपूर्ण और गौरवान्वित कर्त्तव्य मानता है। समस्त सोवियत पुरुष नागरिकों को सोवियत संघ के सशस्त्र बलों में आवश्यकतः एवं अनिवार्यतः सेवा करनी पड़ती है।

(vii) देश की रक्षा (Defence of the Country)—सभी नागरिकों का यह परम पुनीत कर्तव्य है कि वे प्राणपण से स्वदेश की स्वतन्त्रता की रक्षा करें। देश-द्रोह को अत्यन्त भयानक अपराध समझा जाता है और विधि ने इसके लिए कठोरतम दण्ड की आज्ञा दी है। देश-द्रोह अपराध में राज्य-विरोध, सैनिक सेवासपरित्याग, देश की सैनिक शक्ति को हानि पहुंचाना अथवा देश के गुप्त भेद शत्रु को भेजना इत्यादि सम्मिलित हैं।

संविधान की कुछ अन्य विशेषताएं
(Some other Features of the Constitution)

शक्तियों का पृथक्करण (Separation of Powers)—सोवियत लेखक शक्तियों के स्पष्ट पृथक्करण को उस सीमा तक पसन्द नहीं करते हैं जिस सीमा तक कि संयुक्त राज्य अमेरिका में परीक्षणों और सन्तुलनों के सिद्धान्त (Principle of Checks and Balances) के अनुसार किया गया है। उनका कथन है कि मॉण्टेस्क्यू (Montesquieu) ने शक्तियों के पृथक्करण को इस कारण आवश्यक माना था कि फ्रांस के नृशंस शासकों की अमर्यादित शक्ति पर अंकुश लगाया जाए। किन्तु सोवियत रूस में वर्ग-संघर्ष का अभाव है इसलिए शासन के एक विभाग (Branch of Government) पर दूसरे विभाग द्वारा बंधन लगाना उचित नहीं है। सोवियत रूस में तो शासन के प्रत्येक अवयव को एक ही दिशा में एक ही हित साधन की कामना में कार्य करना पड़ता है। १६१८ और १६२४ के संविधानों में शक्तियों का स्पष्ट पृथक्करण नहीं किया गया था; और शासन के समस्त क्रिया-कलाप संघ की सर्वोच्च परिषद् (All Union Congress of the Soviets) को और उसके द्वारा नियुक्त निकायों को सौंप दिए गए हैं। स्टालिन का संविधान (Stalin Constitution), इसके विपरीत, इस सिद्धान्त पर आधारित है कि शासन के विभिन्न क्रिया-कलापों की शासन के विभिन्न निकायों द्वारा क्रियान्विति होनी चाहिए। १६३६ में स्वयं स्टालिन ने कहा था, "समय आ गया है कि विधि-निर्माण का कार्य सर्वोच्च परिषद् ही करेगी, न कि शासन के विभिन्न निकाय जो अब तक विधि का निर्माण करते रहे हैं।" इसलिए संविधान का अनुच्छेद ३२ समस्त व्यवस्थापिका शक्ति सर्वोच्च परिषद् *(Supreme Soviet)* और *प्रेजीडियम (Presidium)* में *व्यवस्थित करता है* और मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) को केवल कार्यपालिका अधिकार प्रदान करता है। न्यायिक सत्ता सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) में विहित की गई है। तथापि, वास्तविकता यह है कि सोवियत रूस में शक्तियों का कोई पृथक्करण नहीं है। वहां शासन के सभी अंग अन्तिम विश्लेषण में साम्यवादी दल द्वारा संचालित होते हैं। उदाहरण के तौर पर विधियों (Laws) तथा आज्ञप्तियों (Decrees) की व्याख्या करना न्यायपालिका के अधिकार के अन्तर्गत नहीं आता अपितु यह अधिकार प्रेजीडियम में निहित है।

सामूहिक कार्यपालिका (Plural Executive)—कभी भी किसी सोवियत संविधान ने एक ही व्यक्ति को राष्ट्र का प्रधान या राष्ट्रपति नहीं चुना। औपचारिक

प्रधान के कतिपय कर्त्तव्य, जैसे विदेशी राजदूतों का स्वागत आदि प्रेजीडियम के प्रधान (Chairman of the Presidium) को करने पड़ते हैं किन्तु ये कर्तव्य केवल औपचारिक मात्र हैं। वास्तव में सोवियत रूस (U. S. S. R.) में राष्ट्रपति का पद नहीं है।

एकदलीय शासन (The One Party System)—सोवियत शासन-प्रणाली मे केवल एक ही दल को मान्यता प्राप्त है। विधि ने कभी भी केवल साम्यवादी दल को ही राजनीतिक मान्यता नही दी है। यह तो १६३६ के संविधान के साथ प्रारम्भ हुआ और वास्तव मे साम्यवादी दल को अपवर्जी मान्यता १६३६ के संविधान की देन हैं। अब तो साम्यवादी दल की पीठ पर संविधान की आज्ञा का हाथ है। यही दल समस्त सोवियत संघ में प्रधान और नियन्त्रक शक्ति है और संविधान कहता है कि "यही दल सर्वहारा-वर्ग की लड़ाई का सेनामुख है और यही दल देश में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करेगा और विकास करेगा।" संविधान यह भी आदेश करता है कि "साम्यवादी दल ही समस्त सर्वहारा वर्ग के संगठनों का एकमात्र संगठन होगा जिसको सर्वसाधारण की ओर से भी और राज्य की ओर से भी मान्यता प्रदान की जायगी। इस दल में राज्य के सभी राजनीतिक चेतना-युक्त प्राणी, सभी श्रमिक और कर्मकार संगठित होंगे।" संविधान ने जान-बूझकर किसी अन्य राजनीतिक दल की स्थापना का जिक्र ही नहीं किया है इसलिए इस मौन का भी यही अर्थ लगाया गया हैं कि सोवियत रूस मे साम्यवादी दल का ही एकाधिकार है।

जनता और व्यवस्थापन अधिकार (The Masses and the Legislation)—संविधान ने सार्वजनिक राष्ट्रीय जनमत-संग्रह (Poll or Referendum) की व्यवस्था की है। जनमत-संग्रह के लिए यह आवश्यक है कि या तो प्रेजीडियम की ओर से उपक्रम (Initiative) होना चाहिए, या सोवियत संघ के किसी एक एकक गण-राज्य की ओर से तदर्थ माँग आनी चाहिए। इस प्रकार सोवियत रूस के नागरिकों को कतिपय मर्यादाओं के अंतर्गत महत्त्वपूर्ण विषयों पर विधि पारित करने अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार दिया गया है। किन्तु जिस दिन से स्टालिन का संविधान प्रभावी हुआ है, आज तक कभी भी जनमत-संग्रह द्वारा किसी प्रश्न का निर्णय नही हुआ है।

सोवियत न्यायपालिका (Soviet Judiciary)—सोवियत न्यायिक पद्धति अन्य देशों की पद्धतियों से बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातों मे भिन्न है। इस सम्बन्ध में हम आगे चल कर विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना इंगित कर देना पर्याप्त होगा कि सोवियत न्यायालय अन्य प्रशासकीय विभागों के समान राज्य के नियमित प्रशासनिक ढाँचे के भाग है। सोवियत न्यायालयों के निम्न कर्तव्य है :—

"(क) सोवियत शासन के विरोधियों और शत्रुओं से लोहा लेना; (ख) नई सोवियत समाजवादी शासन-व्यवस्था को दृढ़ करना और शासन की सामान्य नीति की क्रियान्विति में सहायता प्रदान करना और समाजवादी अनुशासन को सर्वहारा-

वर्ग में स्थायी रूप से स्थापित करना।" सर्वोच्च सोवियत (Supereme Soviet) ने अगस्त १९३८ में जो विधि पारित की थी, उसमें सोवियत न्यायालयों के कर्त्तव्यों का निर्देश मिलता है।

केवल राजनीतिक अपराधों के लिए ही मृत्यु-दण्ड (Capital Punishment only for Political Offences)—सोवियत रूसी संघ में शान्ति काल में मई १९४७ में प्रेजीडियम (Presidium) ने आज्ञा करके मृत्यु-दण्ड निषेध कर दिया था। किन्तु १३ जनवरी, १९५० को उक्त आज्ञा (decree) का संशोधन हुआ और तब से देश-द्रोहियों (Traitors), भेदियों (Spies), विध्वंसकों और विनाशकारी तत्वों (Wreckers) को मृत्यु-दण्ड दिया जा सकता है।

प्रधान के कतिपय कर्त्तव्य, जैसे विदेशी राजदूतों का स्वागत आदि प्रेजीडियम के प्रधान (Chairman of the Presidium) को करने पड़ते हैं किन्तु ये कर्त्तव्य केवल औपचारिक मात्र है। वास्तव मे सोवियत रूस (U. S. S. R.) मे राष्ट्रपति का पद नही है।

एकदलीय शासन (The One Party System)—सोवियत शासन-प्रणाली मे केवल एक ही दल को मान्यता प्राप्त है। विधि ने कभी भी केवल साम्यवादी दल को ही राजनीतिक मान्यता नही दी है। यह तो १६३६ के संविधान के साथ प्रारम्भ हुआ और वास्तव मे साम्यवादी दल की अपवर्जी मान्यता १६३६ के संविधान की देन है। अब तो साम्यवादी दल की पीठ पर संविधान की आज्ञा का हाथ है। यही दल समस्त सोवियत संघ में प्रधान और नियन्त्रक शक्ति है और संविधान कहता है कि "यही दल सर्वहारा-वर्ग की लड़ाई का सेनामुख है और यही दल देश में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करेगा और विकास करेगा।" संविधान यह भी आदेश करता है कि "साम्यवादी दल ही समस्त सर्वहारा-वर्ग के संगठनों का एकमात्र संगठन होगा जिसको सर्वसाधारण की ओर से भी और राज्य की ओर से भी मान्यता प्रदान की जायगी। इस दल में राज्य के सभी राजनीतिक चेतना-युक्त प्राणी, सभी श्रमिक और कर्मकार सगठित होंगे।" संविधान ने जान-बूझकर किसी अन्य राजनीतिक दल की स्थापना का जिक्र ही नही किया है इसलिए इस मौन का भी यही अर्थ लगाया गया है कि सोवियत रूस में साम्यवादी दल का ही एकाधिकार है।

जनता और व्यवस्थापन अधिकार (The Masses and the Legislation)—संविधान ने सार्वजनिक राष्ट्रीय जनमत-संग्रह (Poll or Referendum) की व्यवस्था की है। जनमत-संग्रह के लिए यह आवश्यक है कि या तो प्रेजीडियम की ओर से उपक्रम (Initiative) होना चाहिए, या सोवियत संघ के किसी एक एकक गण-राज्य की ओर से तदर्थ माँग आनी चाहिए। इस प्रकार सोवियत रूस के नागरिकों को कतिपय मर्यादाओं के अतर्गत महत्त्वपूर्ण विषयो पर विधि पारित करने अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार दिया गया है। किन्तु जिस दिन से स्टालिन का संविधान प्रभावी हुआ है, आज तक कभी भी जनमत-संग्रह द्वारा किसी प्रश्न का निर्णय नही हुआ है।

सोवियत न्यायपालिका (Soviet Judiciary)—सोवियत न्यायिक पद्धति अन्य देशों की पद्धतियों से बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातों मे भिन्न है। इस सम्बन्ध मे हम आगे चल कर विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना इंगित कर देना पर्याप्त होगा कि सोवियत न्यायालय अन्य प्रशासकीय विभागों के समान राज्य के नियमित प्रशासनिक ढाचे के भाग है। सोवियत न्यायालयों के निम्न कर्त्तव्य है :—

"(क) सोवियत शासन के विरोधियों और शत्रुओं से लोहा लेना; (ख) नई सोवियत समाजवादी शासन-व्यवस्था को दृढ़ करना और शासन की सामान्य नीति की क्रियान्विति मे सहायता प्रदान करना और समाजवादी अनुशासन को सर्वहारा-

वर्ग में स्थायी रूप से स्थापित करना।" सर्वोच्च सोवियत (Supereme Soviet) ने अगस्त १६३८ में जो विधि पारित की थी, उसमें सोवियत न्यायालयों के कर्त्तव्यों का निर्देश मिलता है।

केवल राजनीतिक अपराधों के लिए ही मृत्यु-दण्ड (Capital Punishment only for Political Offences)—सोवियत रूसी संघ मे शान्ति काल में मई १६४७ मे प्रेजीडियम (Presidium) ने आज्ञा करके मृत्यु-दण्ड निषेध कर दिया था। किन्तु १३ जनवरी, १६५० को उक्त आज्ञा (decree) का संशोधन हुआ और तब से देश-द्रोहियों (Traitors), भेदियों (Spies), विध्वंसकों और विनाशकारी तत्त्वों (Wreckers) को मृत्यु-दण्ड दिया जा सकता है।

अध्याय २

केन्द्रीय शासन-व्यवस्था
(Government at the Centre)

सर्वोच्च सोवियत अथवा परिषद्
(The Supreme Soviet)

सर्वोच्च सोवियत अथवा परिषद् (The Supreme Soviet)—सोवियत संघ में सर्वोच्च सोवियत राज्य सत्ता का सर्वोच्च अंग है।[1] संघ शासन को संविधान के १४वें अनुच्छेद द्वारा प्रदान की गई समूची सत्ता का प्रयोग करने का अधिकार सर्वोच्च सोवियत को ही प्राप्त है परन्तु यह वहीं तक जहां तक कि वे शक्तियां संघ-शासन[2] के किसी दूसरे अंग के क्षेत्राधिकार में न आती हों। सोवियत संघ की विधायी शक्ति का उपयोग एक मात्र सर्वोच्च सोवियत अथवा सर्वोच्च परिषद्[3] ही करती है।

द्विसदनात्मक विधानमण्डल (Bicameral Legislature)—सर्वोच्च सोवियत अथवा सर्वोच्च परिषद् (The Supreme Soviet) में दो सदन होते है। इसके सदन क्रमात् संघीय परिषद् (Soviet of the Union) और जातीय-परिषद् (Soviet of Nationalities) के नामो से पुकारे जाते हैं। संघीय परिषद् सोवियत संघ (U. S. S. R.) के समस्त नागरिकों का प्रतिनिधित्व करती है। समस्त सोवियत संघ को निर्वाचन-क्षेत्रों मे बांट दिया गया है और प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र की ३,००,००० जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि (Deputy) निर्वाचित किया जाता है। जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) के लिए भी प्रतिनिधि जनता द्वारा सीधे निर्वाचित होते हैं लेकिन उसकी सीटें विभिन्न एककों मे निम्न माप के अनुसार बंटी हुई हैं। क्षेत्रफल और जनसंख्या चाहे कुछ भी हो, संघ का प्रत्येक गणराज्य जातीय परिषद् मे २५ सदस्य भेजता है। प्रत्येक स्वशासी गणराज्य (Autonomous Republic) ११ प्रतिनिधि भेजता है; प्रत्येक स्वशासी जनपद (Autonomous Region) ५ प्रतिनिधि भेजता है और प्रत्येक जातीय क्षेत्र (National Area) १ प्रतिनिधि भेजता है। १९६२ में सर्वोच्च सोवियत अथवा सर्वोच्च परिषद् (Supreme Soviet) के लिए जो चुनाव सम्पन्न हुए थे, उनमे संघीय परिषद् (Soviet of the Union) के लिए ७२० प्रतिनिधि (deputies) लिए गए थे, और ६४० प्रतिनिधि जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) के लिए

1. Article 30.
2. Article 31.
3. Article 33.

निर्वाचित किए गए थे। सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदन चार वर्षों के लिए निर्वाचित होते हैं यद्यपि द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण १९३७ के निर्वाचन के बाद १९४६ तक निर्वाचन नहीं हो सके थे।

सोवियत रूसी संघ के संघीय विधानमण्डल में दो सदन रखने के दो मुख्य कारण थे। संघीय परिषद् (Soviet of the Union) में समस्त संघ के सभी नागरिकों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है और यह समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि सदन है। संघीय परिषद् के प्रतिनिधि न तो जातीयता के आधार पर निर्वाचित होते है और न किसी विशिष्ट वर्ग अथवा हितों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R) में अनेक जातियाँ निवास करती है और इन अनेक जातियों के अपने-अपने विशिष्ट हित हैं जिनको सर्वोच्च सोवियत अथवा सर्वोच्च परिषद् में प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिए। जातीय परिषद् का उद्देश्य संघ मे सम्मिलित गण-राज्यों को तथा उन गणराज्यों में बसने वाली अनेक जातियों और प्रजातियों को और उनके हितों को प्रतिनिधित्व प्रदान करना है।

इसमें सन्देह नहीं कि संघीय शासन-प्रणाली के लिए द्विसदनात्मक विधान-मण्डल आवश्यक शर्त है। किन्तु किसी संघ में जिन उद्देश्यों को लेकर द्विसदनात्मक विधानमण्डल की रचना की जाती है, उन उद्देश्यों में और सोवियत रूसी सघ के द्विसदनात्मक विधानमण्डल रचने के उद्देश्यों में साम्य नही है। सोवियत रूसी सघ (U. S. S. R.) के विधानमण्डल में जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) की रचना अत्यन्त आवश्यक थी क्योंकि इसमें सोवियत रूस में बसने वाली उन अनेक जातीयताओं और प्रजातियों को प्रतिनिधित्व दिया गया है जिन्होने अपने-अपने स्वशासी राष्ट्रीय प्रदेशों और क्षेत्रों की स्थापना की है। सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) में देश की सभी जातीयताएं अपने-अपने हितों की बात सीधे व्यक्त कर सकती हैं और इस प्रकार सभी जातीयताएँ (Nationalities) अपने-अपने क्षेत्रों में आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक उन्नति कर सकती हैं।

दोनों सदनों के समान कर्तव्य (Equal in Functions)—संविधान ने सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदनों में कोई भेद नही बरता है। दोनों सदनों के समान अधिकार हैं। दोनों सदनों की शक्तियाँ और कृत्य समान हैं और दोनों ही सदन चार वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित किए जाते हैं। यहाँ तक कि दोनों सदन एक ही समय में सत्र में सम्मिलित होते हैं और एक ही समय में आहूत किए जाते है। सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदनों (Soviets) के लिए जितने भी प्रतिनिधि निर्वाचित होते हैं सभी सार्वजनिक, समान और प्रत्यक्ष मताधिकार के आधार पर गुप्त मत पत्रक (Secret ballot) द्वारा निर्वाचित होते हैं। इसके अतिरिक्त संविधान ने वित्तीय विधेयक और अवित्तीय अथवा साधारण विधेयक (legislative measure) में कोई भेद नही किया है; और कोई भी विधेयक यदि दोनों सदनों में साधारण बहुमत द्वारा पारित हो जाता है, तो विधि का रूप धारण कर लेता है। सोवियत रूसी संघ में दोनों सदनों को उच्च सदन अथवा निम्न सदन कह कर नहीं पुकारा

जाता । सत्य तो यह है कि संघीय परिषद् (Soviet of the Union) और जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) को इस सीमा तक समान दर्जा दिया गया है कि दोनों सदनों को ही समान सदस्य-संख्या प्रदान की गई है ।

रचना और संगठन (Composition and Organization)—सर्वोच्च सोवियत अथवा सर्वोच्च परिषद् (Supreme Soviet) के दोनों सदनों (Soviets) का निर्वाचन चार वर्ष के लिए सार्वजनिक, समान और प्रत्यक्ष मताधिकार के आधार पर गुप्त मत-पत्रक द्वारा होता है । सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) के वे सभी नागरिक जिन्होंने अट्ठारह वर्ष की आयु प्राप्त कर ली हो, और जो पागल अथवा किसी न्यायालय द्वारा दण्डित न हों अथवा अन्य किसी कारणवश मताधिकार से वंचित न हो, प्रतिनिधियों (Deputies) के निर्वाचन में भाग ले सकते हैं । सोवियत रूस का कोई भी नागरिक जिसने तेईस वर्ष की आयु पूर्ण कर ली हो, सर्वोच्च सोवियत के किसी भी सदन (Soviets) के लिए प्रत्याशी के रूप में खड़ा हो सकता है और सदस्य अथवा प्रतिनिधि निर्वाचित हो सकता है । संघीय परिषद् (Soviet of the Union) और जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) प्रायः दोनों ही की सदस्य-संख्या बराबर है । १९६२ के चुनावों में संघीय परिषद् (Soviet of the Union) में ७२० प्रतिनिधि (deputies) थे और जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) में ६४० प्रतिनिधि थे । जैसा कि पहले बताया जा चुका है, संघीय सोवियत (Soviet of the Union) समस्त देश का प्रतिनिधि सदन है और उक्त सदन का प्रत्येक प्रतिनिधि ३,००,००० नागरिकों पर चुना जाता है । इसके विपरीत जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) विभिन्न राष्ट्रीय हितों और समुदायों का प्रतिनिधित्व करती है और उक्त सदन का प्रतिनिधित्व इस प्रकार तय होता है कि प्रत्येक एकक गणराज्य के २५ प्रतिनिधि जातीय परिषद् में लिये जाते है । उसी प्रकार प्रत्येक स्वशासी गणराज्य (Autonomous Republic) ग्यारह प्रतिनिधि उक्त सदनों में भेजता है; प्रत्येक स्वशासी जनपद (Autonomous Region) पाँच प्रतिनिधि भेजता है और प्रत्येक जातीय क्षेत्र (National Area) एक प्रतिनिधि भेजता है । सर्वोच्च सोवियत एक दलात्मक विधानमण्डल है जिसके अधिकांश सदस्य साम्यवादी दल द्वारा मनोनीत किए जाते है । जो साम्यवादी दल द्वारा मनोनीत नहीं किए जाते वे श्रमिक संघों (Trade Unions), सहकारी संस्थाओं (Co-operative Associations), युवक-संगठनों (Youth Organisations) और सांस्कृतिक सभाओं द्वारा मनोनीत किए जाते हैं परन्तु उनके लिए साम्यवादी सिद्धान्तों पर विश्वास करना आवश्यक है क्योंकि रूस में किन्हीं अन्य राजनीतिक विचारधाराओं को धारण करना द्रोह माना जाता है ।

सर्वोच्च सोवियत के सत्र (Sessions of the Supreme Soviet)—जब नये आम चुनाव समाप्त हो चुकते हैं, सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदन एकत्र होते हैं और तुरन्त प्रमाणकारी समितियों (Credential Committess) का निर्वाचन करते हैं । ये प्रमाणकारी समितियाँ अपने-अपने क्षेत्रों में प्रतिनिधियों के परिचय-पत्रों अथवा

प्रमाण-पत्रों की जाँच-पड़ताल करती है। प्रमाणकारी समितियों (Credential Committees) द्वारा प्रमाणित हो जाने पर सर्वोच्च सोवियतें (Supreme Soviets) प्रतिनिधियों के चुनाव को या तो विधिवत् मानते हुए उन्हें प्रतिनिधि (deputy) स्वीकार कर लेती हैं अथवा उनके चुनाव को अवैध घोषित कर देती हैं। उसके बाद प्रत्येक सर्वोच्च सोवियत अपना-अपना चेयरमैन और दो उप-चेयरमैन (Vice-Chairmen) चुनती है। चेयरमैन ही प्रत्येक सर्वोच्च सोवियत का सभापतित्व करते हैं और सभा-भवनों में समस्त कार्यवाही को सुचारु रूप से संचालित करना उन्ही का उत्तरदायित्व है। जब कभी दोनों सदन (both Supreme Soviets) एक सदन के रूप में एकत्र होते हैं उस समय बारी-बारी से संघीय सोवियत (Soviet of the Union) और जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) के चेयरमैन सम्मिलित सोवियत का कार्य-संचालन और सभापतित्व करते है।

सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) की प्रेजीडियम (Presidium) वर्ष में दो बार दोनों सर्वोच्च सोवियतों को एक ही समय में सत्र में आहूत करती है। प्रेजीडियम को यह भी अधिकार है कि वह अपनी इच्छा पर अथवा किसी एक अवयवी एकक गणराज्य की प्रार्थना पर सर्वोच्च सोवियत का सत्र आहूत कर सकती है। संविधान इस सम्बन्ध में मौन है कि सर्वोच्च सोवियत का सत्र कब आहूत किया जाए अथवा कितने दिनों के लिए आहूत किया जाए। किन्तु प्रायः सर्वोच्च सोवियत का सत्र सात दिन से लेकर दस दिन तक चलता है और इस प्रकार वर्ष में दो बार प्रेजीडियम किन्हीं तारीखों में सर्वोच्च सोवियत के सत्रों को आयव्ययक (budget) पर विचार करने के लिए आहूत करती है।

सर्वोच्च सोवियत का विलयन (Dissolution)—प्रेजीडियम (Presidium) को अधिकार है कि वह सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदनों में मतभेद हो जाने पर अथवा उसके चार वर्ष के सामान्य कार्य-काल की समाप्ति पर सर्वोच्च परिषद् (Supreme Soviet) को भंग कर सकती है। चाहे किसी भी कारणवश सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) का विलयन हुआ किन्तु विलयन (dissolution) के बाद दो मास के भीतर-भीतर सर्वोच्च सोवियत के लिए नए चुनावों की व्यवस्था हो जानी चाहिए। नये सर्वोच्च सोवियत के सदनों को पुरानी प्रेजीडियम (Presidium) ही नये चुनावों के बाद तीन मास के भीतर आहूत करती है।

यदि कभी संघीय परिषद् (Council of the Union) और जातीय परिषद् (Council of the Nationalities) में मतभेद हो जाए तो संविधान ने समझौता समिति (Conciliation Commission) की व्यवस्था की है जिसमें सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदनों में से बराबर-बराबर प्रतिनिधि लिये जाते हैं। यदि समझौता समिति भी पूर्ण सहमत न हो तो दोनों सदन अथवा दोनों सर्वोच्च सोवियतें पुनः उक्त प्रश्न पर विचार करती हैं, और यदि तब भी वह मतभेद बना ही रहता है तो प्रेजीडियम दोनों सदनों को भंग कर सकती है और उनके लिए नए चुनावों का आदेश दे सकती है। किन्तु व्यवहार में, इस सीमा तक मतभेद के बने रहने की सम्भावना नहीं है।

शासन सम्बन्धी नीति का निर्धारण तो साम्यवादी दल (Communist Party) करता है न कि सर्वोच्च सोवियत और साम्यवादी दल का सर्वोच्च सोवियत के प्रतिनिधियों पर ऐसा पूर्ण नियन्त्रण रहता है कि मतभेद प्राय: पैदा ही नहीं होते।

सर्वोच्च सोवियत की शक्तियाँ
(Powers of the Supreme Soviet)

विधि निर्माण सम्बन्धी शक्तियाँ (The Legislative Powers)—सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet), साम्यवादी सोवियत रूस में राज्य-शक्ति का सर्वोच्च अंग है, अत: उसको संघीय शासन के प्रत्येक क्षेत्र में विधि-निर्माण का अधिकार है। सर्वोच्च सोवियत के अधिकार-क्षेत्र का विस्तृत वर्णन संविधान के अनुच्छेद १४ में दिया गया है। सत्य यह है कि संविधान समस्त विधायी कर्त्तव्य केवल सर्वोच्च सोवियत को ही सौंपना चाहता है। यदि सर्वोच्च सोवियत का दोनों सोवियतों अथवा सदनों द्वारा सामान्य बहुमत से कोई प्रस्ताव पास कर दिया जाता है तो वह विधि का रूप धारण कर लेता है। सर्वोच्च सोवियत द्वारा पारित विधियों को सोवियत रूसी संघ (U. S S. R.) की सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) की प्रेज़ीडियम (Presidium) के अध्यक्ष (President) और सेक्रेटरी के हस्ताक्षर सहित उन सभी भाषाओं में प्रकाशित कराया जाता है जो रूसी संघ के विभिन्न अवयवी एकक गणराज्यों में बोली जाती हैं।

सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) में ऐसी कोई सत्ता नहीं है जो सर्वोच्च सोवियत द्वारा पारित विधियों का निषेध (Veto) कर सके। इसके दो कारण हैं। प्रथमत: सोवियत रूसी संघ में सर्वोच्च सोवियत में ही राज्य की समस्त सर्वोच्च सत्ता निहित है; इसलिए यदि अन्य ऐसी कोई सत्ता सृजित की जाती जो सर्वोच्च सोवियत के कृत्यों पर मर्यादाएँ लगाती, तो उसकी सर्वोच्चता नष्ट हो जाती। द्वितीयत:, सर्वोच्च सोवियत जो कुछ भी निर्णय करती है वह निर्णय वास्तव साम्यवादी दल का ही निर्णय होता है; और साम्यवादी दल ही समस्त शासन यन्त्र का संचालन और नियन्त्रण करता है। किन्तु संविधान ने प्रेज़ीडियम को अधिकार दिया है कि वह या तो अपने उपक्रम (Initiative) पर अथवा रूसी संघ (U. S. S. R.) के किसी अवयवी एकक गणराज्य की माँग पर किसी स्व-प्रस्तावित विधेयक के सम्बन्ध में जनमत-संग्रह (Referendum) करा सकती है। किन्तु आज तक किसी भी स्व-प्रस्तावित विधेयक के सम्बन्ध में कभी कोई जनमत-संग्रह नहीं हुआ है।

सर्वोच्च सोवियत द्वारा पारित कोई विधि समस्त अवयवी एकक गणराज्यों के ऊपर पूर्ण प्रभावी होगी और यदि कभी सोवियत संघ की विधि और किसी एकक गणराज्य की विधि में विरोध हो, तो संघ (U. S. S. R.) की विधि को ही मान्यता प्राप्त होगी।

संविधान में संशोधन की शक्ति (Constitution amending Power)—सोवियत रूसी संघ में सर्वोच्च सोवियत ही सविधान में संशोधन करने की सविधायी शक्तियों का उपभोग करती है। संविधान में भी संशोधन करने की विधि सरल है। सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदनों के दो-तिहाई बहुमत के द्वारा सविधान में सशोधन किया जा सकता है। सर्वोच्च सोवियत को यह भी अधिकार है कि वह संविधान का नियमित पालन करावे और यह भी देखे कि सोवियत संघ की विधियो तथा अवयवी एककों की विधियों में विरोध तो नहीं है।

वित्तीय कर्त्तव्य (Budgetary functions)—सर्वोच्च सोवियत समस्त रूसी संघ (U. S. S. R.) के लिए एक संचित आय-व्ययक (Consolidated Budget) तैयार करती है और आय-व्ययक विधि की क्रियान्विति सर्वोच्च सोवियत का उत्तरदायित्व है। सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) ही यह निर्णय करती है कि कौन-कौन राजस्व और कर (revenues and taxes) संघ में जाएँगे तथा वही सभी एकक गणराज्यों के आयव्ययकों और स्थानीय संस्थाओं के आय-व्ययकों की व्यवस्था करती है। सर्वोच्च सोवियत ही धन उधार ले सकती है और वही ऋण दे सकती है और राष्ट्रीय अर्थ-योजनाओं का निर्णय केवल सर्वोच्च सोवियत ही कर सकती है। यह उसका सांविधानिक विशेषाधिकार है।

नये गणराज्यों, नये क्षेत्रों और प्रदेशों को सोवियत संघ में मिलाने का अधिकार (Power to admit new republics and to create new areas)—सर्वोच्च सोवियत को अधिकार है कि वह नए गणराज्यों को सोवियत रूसी संघ मे मिला ले अथवा नए स्वशासी गणराज्यो, नए स्वशासी जनपदों या प्रदेशों और नए स्वशासी क्षेत्रो की स्थापना कर दे। अवयवी एकक गणराज्यों की सीमाओं मे यदि कोई परिवर्तन हो जाए, तो उसके लिए सर्वोच्च सोवियत का अन्तिम अनुसमर्थन आवश्यक है।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों और देश के रक्षा-साधनों में सम्बन्ध के अधिकार (Power over International matters and defence of the Country)—सर्वोच्च सोवियत ही निर्णय करती है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में सोवियत रूसी संघ किस सीमा तक भाग ले और रूसी संघ की जो सन्धियाँ विदेशों के साथ होती हैं, वे सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) के अनुसमर्थन की विषय हैं। सर्वोच्च सोवियत ही उस सामान्य प्रणाली का नियन्त्रण करती है जिसके अनुसार यूनियन गणराज्य (Union republics) विदेशी राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों का निर्वहन करते हैं। देश की रक्षा केन्द्रीय अधिकार का विषय है; इसलिए सर्वोच्च सोवियत ही सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) के रक्षा साधनों की व्यवस्था करती है और वही सोवियत संघ के सशस्त्र बलों का नियन्त्रण और संचालन करती है। संविधान ने प्रत्येक एकक गणराज्य को अधिकार दिया है कि वे अपनी-अपनी सेनाएँ रख सकते हैं। किन्तु सर्वोच्च सोवियत ही एकक गणराज्यों की सैनिक शक्ति पर नियन्त्रण रखती है, और सर्वोच्च सोवियत ही युद्ध और शान्ति के प्रश्नों पर अन्तिम निर्णय दे सकती है।

आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन का निदेशन (Direction of the Economic and Cultural life)—देश की गृह तथा विदेश नीतियों से सम्बन्ध रखने वाले सब महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय सर्वोच्च सोवियत करती है। आर्थिक तथा लम्बी योजनाओं का अनुमोदन इसी के द्वारा होता है। देश के आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन का निदेशन करते समय भूमि के अधिकार, जंगल, खनिज सम्पत्ति, तथा जल के प्रयोग सम्बन्धी आधारभूत सिद्धान्तों का निश्चय सर्वोच्च सोवियत करती है क्योंकि इन सब वस्तुओं पर लोगों का अधिकार है। इसके अतिरिक्त शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा, श्रमिक व्यवस्थापन, न्यायिक प्रणाली और कानूनी प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्तों की स्थापना भी सर्वोच्च सोवियत द्वारा ही होती है, और सोवियत संघ की नागरिकता और विदेशियों के अधिकार सम्बन्धी व्यवस्थापन, और विवाह तथा परिवार के व्यवस्थापन सम्बन्धी सिद्धान्तों का निर्धारण भी इसके अधिकार के अन्तर्गत आता है।

सर्वोच्च सोवियत के चुनाव सम्बन्धी कार्य (Electoral College)—सर्वोच्च सोवियत के चुनाव सम्बन्धी कार्य अत्यन्त प्रभावशाली दिखाई पड़ते हैं। सम्भवतः संसार के किसी अन्य बड़े देश के विधानमण्डल को इतने बड़े और महत्त्वपूर्ण चुनाव नहीं करने पड़ते। सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदन सम्मिलित सत्र में एकत्र होते हैं और तब सोवियत संघ (U. S. S. R.) की प्रेजीडियम (Presidium), कार्यपालिका अथवा मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers), सर्वोच्च न्यायालय के तथा अन्य न्यायालयों के न्यायाधीशों और प्रॉक्यूरेटर जनरल (Procurator General) का निर्वाचन करते हैं। प्रेजीडियम (Presidium) और मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) सर्वोच्च सोवियत के प्रति उत्तरदायी हैं। किन्तु सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) में मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व केवल आदर्श भर है क्योंकि संविधान ने राजनीतिक विचारों के संघर्ष को एवं विरोधी राजनीतिक दलों को मान्यता ही नहीं दी है। सर्वोच्च सोवियतें एवं अन्य सोवियतें प्रसन्न हैं और उन्हें इस बात का अभिमान है कि वे अ-संसदीय (Non-Parliamentary) और एकल दलीय निकाय हैं। तथ्य यह है कि सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) के मन्त्रि-परिषद् को साम्यवादी दल के प्रेजीडियम की केन्द्रीय समिति ही बनाती है या अपदस्थ करती है।

प्रशासन के ऊपर निरीक्षण और पर्यवेक्षण तथा उसकी आलोचना (Criticism and Supervision of Administration)—संविधान ने सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) को अधिकार दिया है कि वह प्रशासन के कार्यों का पर्यवेक्षण और निरीक्षण करने के लिए पर्यवेक्षक एवं लेखा-परीक्षक आयोगों की नियुक्ति करे। समस्त देश की सभी संस्थाओं को आदेश है और सभी अधिकारियों का यह कर्त्तव्य है कि वे इन आयोगों की आज्ञाओं का पालन करें और उसके सम्मुख निरीक्षणार्थ और पर्यवेक्षणार्थ सभी सामग्री और सब प्रलेख (documents) उपस्थित करें।

यह भी कहा जाता है कि सर्वोच्च सोवियत देश की समस्याओं पर वाद-विवाद और प्रशासन की आलोचना का अवसर प्रदान करती है। किन्तु वास्तव में शासन की आलोचना करना सम्भव नहीं है। सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) में ऐसा शासन नहीं है जो आलोचना का विषय हो। समाजवादी व्यवस्था या समाजवादी विचार-धारा की आलोचना करना एक प्रकार से राष्ट्रीय समैक्य और समाजवादी मान्यता को चुनौती है। फिर आलोचना वहीं सम्भव हो सकती है जहाँ विरोधी दल हो। सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) में विरोधी दल के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इसमें सन्देह नहीं है कि रूस की सर्वोच्च सोवियत में कुछ ऐसे लोग है जिनका किसी दल से सम्बन्ध नहीं है; और ऐसे व्यक्तियों की संख्या पर्याप्त है। १९५८ में संघीय सोवियत (Soviet of the Union) में १०६ निर्दल प्रतिनिधि (Non-partymen) थे और १३८ निर्दल प्रतिनिधि जातीय परिषद् (Soviet of the Nationalities) में थे। निर्दल व्यक्तियों का सम्बन्ध साम्यवादी दल से नहीं होता, किन्तु विश्वासतः वे साम्यवादी (Communist) तो अवश्य ही होते हैं। इसके अतिरिक्त इन लोगों को समुदाय बनाने की आज्ञा नहीं है और न वे किसी मामले पर सम्मिलित होकर मत व्यक्त कर सकते हैं। संविधान में केवल एक साम्यवादी दल को मान्यता प्रदान की है। इसलिए आलोचना यदि कोई करे तो केवल साम्यवादी दल ही कर सकता है। और चूँकि साम्यवादी दल के नेता ही शासन की नीति निर्धारित करते है, और वे ही शासन का नियन्त्रण और संचालन सभी कुछ करते हैं; यहाँ तक कि दल के नेता ही सर्वोच्च संसद् अथवा सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) के प्रतिनिधियों के ऊपर भी नियन्त्रण रखते है, तो फिर यह कैसे हो सकता है कि सर्वोच्च सोवियत शासन की आलोचना करे। इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सर्वोच्च सोवियत शासन की आलोचना नहीं करती।

सर्वोच्च सोवियत का शैक्षणिक महत्त्व (Supreme Soviet as the Source of Education and Inspiration)—यदि सर्वोच्च सोवियत का प्रशासन के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं है; या यदि सर्वोच्च सोवियत शासन की नीति की आलोचना नहीं कर सकती, तो भी इसका शैक्षणिक महत्त्व अवश्य है। यह ऐसा स्थान और अवसर प्रदान करती है जहाँ इतने बड़े देश के कोने-कोने से लगभग डेढ़ हजार प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं; और जो विभिन्न वेश-भूषा, विभिन्न राष्ट्रीयताओं, विभिन्न व्यवसायों और विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन प्रतिनिधियों को मास्को (Moscow) में एकत्र होना और वहाँ उच्चतम दलीय नेताओं की बातों को सुनना अत्यन्त स्फुरणकारी लगता होगा। साम्यवादी दल भी इस अवसर से लाभ उठाता है और प्रत्येक सम्भव प्रचार-साधन के द्वारा सारे देश को शासन की नीतियों और सफलताओं से अवगत कराता है। समाचारपत्र और रेडियो सभी वक्तृताओं की रिपोर्ट सविस्तार और निष्ठापूर्वक ज्यों-की-त्यों देते हैं; साथ ही समस्त वाद-विवाद शासन की सभी प्रस्तावित योजनाओं और शासन की सफलताओं को खूब बढ़ा-चढ़ा कर बताया जाता है। सभी प्रतिनिधि समाजवाद के सन्देश को अपने-अपने गणराज्य को ले जाते हैं, फिर वहाँ आकर अपने संगी-साथियों को बताते हैं

आर्थिक क्षेत्र में कितनी विशाल उन्नति की है और इस प्रकार वे अपने-अपने क्षेत्रों और प्रदेशो में समाजवाद की सफलताओं का सन्देश सुनाते हैं। सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद (Dictatorship of the Proletariat) केवल आर्थिक समृद्धि ही तो चाहता है, चाहे इस उद्देश्य की प्राप्ति में मानव-आत्मा और मानवीय सम्भावनाओं (Human Potentialities) का खून ही क्यों न होता हो।

विधायी प्रक्रिया (Legislative Procedure)—कोई विधेयक, सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) के किसी भी सदन में पुर:स्थापित किया जा सकता है। सामान्यत: किसी विधेयक की पुर:स्थापना मन्त्रि-परिषद् के उस सदस्य के द्वारा होती है जिसके विभाग से उक्त विधेयक का सम्बन्ध हो, यद्यपि सर्वोच्च सोवियत के सभी प्रतिनिधियों को विधेयक पुर:स्थापित करने का अधिकार है। १९३७ से सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदनों ने तीन स्थायी समितियों अथवा स्थायी आयोगों (Standing Committees or Standing Commissions) का निर्वाचन किया है (सोवियत रूसी संघ मे इन समितियों को स्थायी कमीशन ही कहते हैं)। वे तीन स्थायी आयोग या स्थायी कमीशन निम्न हैं : विधेयक आयोग (Legislative Bills Commission), आय-व्ययक सम्बन्धी आयोग (Budget Commission); और विदेश सम्बन्धी आयोग (Foreign Affairs Commission)। ज्योंही किसी विधेयक को पुर:-स्थापित किया जाता है, वह सम्बन्धित सदन (Soviet) के विधेयक आयोग (Legislative Bills Commission) मे भेज दिया जाता है। उक्त विधेयक के सम्बन्ध मे सारी कार्यवाही विधेयक आयोग (Bills Commission) में होती है, न कि सोवियतों के पूर्ण सत्रों मे। इसका मुख्य कारण यह है कि सर्वोच्च सोवियत तो वर्ष मे केवल दो सप्ताहों के लिए समवेत होती है। सर्वोच्च सोवियत के आयोगों (Commissions) के लिए यह आवश्यक नही है कि वे सर्वोच्च सोवियत के सत्रो के काल में ही सम्मिलित हों। आयोग (Commissions) प्राय: एकत्र होते हैं और वे विधेयक के ऊपर तफसील के साथ विचार करते हैं। वे उक्त सम्बन्ध में तथ्य और आंकड़े एकत्र करते हैं; फिर उस विधेयक की प्रत्येक धारा पर विचार करते हैं और उसमें सशोधन सुझाए जाते है। कभी-कभी तो आयोग सम्पूर्ण विधेयक को ही बदल डालते हैं। अन्त में उक्त विधेयकों को सम्बन्धित सदन अथवा सोवियत में प्रस्तुत किया जाता है। स्वयं कमीशन या आयोग भी अपनी ओर से विधेयक प्रस्तावित कर सकते है। यदि कोई विधेयक आयोग (Commission) की ओर से प्रस्तुत किया जाता है, तो प्राय: सोवियत उसको मान ही लेती है। सर्वोच्च सोवियत के किसी भी सदन मे विधेयक के ऊपर वाद-विवाद केवल औपचारिक-सा होता है।

सर्वोच्च सोवियत के कर्त्तव्य और उसका मूल्यांकन (Role of the Supreme Soviet)—संविधान में कहा गया है कि सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) मे सर्वोच्च सोवियत ही राज्य की शक्ति का सर्वोच्च उपकरण है। यह संघीय शासन के उन सभी क्षेत्रों के लिए विधि निर्माण कर सकती है जिन पर संघीय शासन का अधिकार है। इसके अतिरिक्त संविधान की यह भी आज्ञा है कि सर्वोच्च सोवियत में

रूसी संघ (U. S. S. R.) की सम्पूर्ण अपवर्जी विधायिनी शक्ति निहित है। किन्तु सिद्धान्त यह है, व्यवहार कुछ और। कोई भी इस बात को स्वीकार नहीं करेगा कि सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) की राज्यीय शक्ति का एकमात्र सर्वोच्च उपकरण है और न कोई यह स्वीकार करेगा कि सर्वोच्च सोवियत ही केवल एकमात्र सर्वोच्च विधान निर्मात्री निकाय है जबकि तथ्य यह है कि सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) वर्ष मे केवल दो बार समवेत होती है और यह भी प्रति बार आठ या दस दिन के सत्रो मे। सर्वोच्च सोवियत के लिए यह सम्भव नही है कि वह इतने छोटे अधिवेशनो मे उन समस्याओं को समझे और उन पर विचार करे जो इतने विशाल देश के सम्मुख आती हैं और जिन पर सर्वोच्च सोवियत के अनुमोदन की आवश्यकता है। विधान निर्माण का कार्य विशेष योग्यता चाहता है और यह बहुत भारी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है, किन्तु सर्वोच्च सोवियत के प्रतिनिधिगण न तो योग्य और अनुभवी ससदीय सदस्य ही होते हैं; और न उनको विधान निर्माण के सम्बन्ध मे विशेषज्ञता प्राप्त होती है इसलिए वे किसी विधि-सम्बन्धी वाद-विवाद को निर्णायक अवस्था तक ले चलने में पूर्णतया असमर्थ होते है। किन्तु जैसा कि बताया जा चुका है, सर्वोच्च सोवियत का काम वाद-विवाद करना नही है। इसका तो कर्त्तव्य यह है कि जो कुछ साम्यवादी दल ने निर्णय किया है उसको स्वीकार करे और उस पर अनुसमर्थन व्यक्त करे। सामान्य व्यवहार यह है कि मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के सदस्यगण या तो प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हैं या अपनी ओर से विधेयक प्रस्तुत करते हैं और समस्त राष्ट्र और शासन के समैक्य और दृढ़ता की मांग यह है कि सभी विधायी प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हो।

यह भी कहना गलत है कि सर्वोच्च सोवियत ही समस्त सोवियत संघ का एक-मात्र विधान निर्माता निकाय है। सोवियत रूस संघ (U. S. S. R.) में अधिकतर विधियाँ प्रेजीडियम (Presidium) द्वारा पारित आज्ञाएँ और आज्ञप्तियाँ (Decrees) होती है। कुछ विधियाँ उन आज्ञाओं और निर्णयों के रूप मे होती है जिनको साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति (Central Committee of the Communist Party) और मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) मिलकर सम्मिलित विचार-विनिमय के फलस्वरूप पारित करते हैं। विधि-निर्माण के सम्बन्ध में यह विकास अजीब-सा लगता है क्योंकि इसके कारण सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) विधान निर्माण के सम्बन्ध में एकमात्र अपवर्जी विधायिनी सत्ता नही रह जाती। इससे भी अधिक अजीब यह है कि यह विकास स्वयं स्टालिन (Stalin) के जीवन-काल मे ही परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो चुका था। १९३६ मे जिस समय संविधान स्वीकार किया जा रहा था, यह प्रस्ताव रखा गया था कि प्रेजीडियम (Presidium) को अस्थायी विधान निर्माण करने का अधिकार दे दिया जाए; किन्तु स्टालिन ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था।

सोवियत विद्वानों का कथन है कि सर्वोच्च सोवियत द्वारा पारित विधियों

सोवियत संघ में अधिक मान्यता और समादर प्राप्त होता है, किन्तु प्रेजीडियम (Presidium) अथवा मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) द्वारा पारित आज्ञप्तियो (Decrees), निर्णयों और आदेशों का सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) द्वारा अनुसमर्थन आवश्यक है। सिद्धान्तत., यह कथन कुछ-कुछ ठीक है; किन्तु व्यवहारतः प्रेजीडियम (Presidium) ने न केवल आज्ञप्तियाँ जारी की है, अपितु कई बार स्वयं संविधान मे परिवर्तन कर डाले है। आज्ञप्तियों (decress) और आदेशों (orders) को तब तक कभी रद्द नहीं किया गया जब तक कि स्वयं शासन ने इस ओर पहल न की हो। और चूकि उक्त आज्ञप्तियाँ, निर्णय या आदेश तुरन्त प्रभावकारी हो जाते है और उनके प्रभावकारी होने के लिए सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) के अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं है, इसलिए इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, चाहे उनको विधि कहिए, चाहे आज्ञप्ति कहिए, चाहे निर्णय कहिए और चाहे आदेश कहिए। यदि हम इनमे अन्तर करने का भी प्रयास करें तो भी कोई अन्तर करना बेमानी है क्योकि हम भली भाँति जानते हैं कि सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R) मे साम्यवादी दल ही सर्वेसर्वा शक्ति है और सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet), अथवा प्रेजोडियम (Presidium) यहाँ तक कि स्वयं संविधान भी साम्यवादी दल के अधीन है।

अध्याय ३

केन्द्रीय शासन-व्यवस्था (क्रमश)

(Government at the Centre)—*Contd*

प्रजीडियम

(The Presidium)

सामूहिक राष्ट्रपति (A Plural Presidency)—सोवियत रूसी संघ (U.S.S.R.) की सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) की प्रेजीडियम (Presidium) कई दृष्टियों से एक अजीब-सी और अद्वितीय संस्था है। सांविधानिक रूप में यह एक प्रकार का विरोधाभास है। सोवियत व्यवस्था में यह सामान्य-सी नैत्यिक संस्था है किन्तु संसार में अन्यत्र कहीं भी इसके मुकाबले की कोई संस्था न मिलेगी। प्रेजीडियम को जो शक्तियाँ प्राप्त है उनके आधार पर यह राज्यीय शक्ति का स्थायी एवं सर्वोच्च उपकरण है जिसको सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) की सर्वोच्च सोवियत चुनती है और जो सर्वोच्च सोवियत के प्रति उत्तरदायी है। स्टालिन (Stalin) ने इसको सामूहिक राष्ट्रपति (Collegiate President) कहा था। सोवियत रूस में प्रेजीडियम (Presidium) वह सारे कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य करती है जो अन्य राज्यों में राजा या राष्ट्रपति को करने पड़ते हैं। यह सोवियत संघ के उच्च अधिकारियों की नियुक्ति करती है, विदेशों में संघ के राजदूतों अथवा राज्य प्रतिनिधियों की नियुक्ति करती है; सोवियत संघ के पारितोषिक, सम्मान पद एवं पदक प्रदान करती है; सोवियत संघ की विधियों पर अन्तिम स्वीकृति प्रदान करती है, सर्वोच्च सोवियत अथवा सर्वोच्च परिषद् के सत्रों को समवेत करती है अथवा उसके सत्रों का विलयन (Dissolution) करती है। इस प्रकार प्रेजीडियम (Presidium) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) की सर्वोच्च कार्यपालिका सत्ता है, और चूँकि यह बहुसंख्यक निकाय है, इसको सामूहिक कार्यपालिका (Plural or Collective Executive) कहा जा सकता है।

प्रेजीडियम एक सांविधानिक विरोधाभास है और इसके कृत्य अनेक प्रकार के हैं क्योंकि सोवियत शासन में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को महत्त्व नहीं दिया गया है। प्रेजीडियम को सौंपे गए कृत्य मिश्रित प्रकार के हैं; उनमें से कुछ कार्यपालिका कृत्य हैं, कुछ विधायी कृत्य हैं और कुछ कृत्य न्यायिक प्रकृति के भी हैं। चूँकि प्रेजीडियम सदैव अधिकारारूढ़ रहती है और सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) केवल अल्प काल के लिए सत्र में रहती है अर्थात् वर्ष में केवल दो बार, और वह भी एक-एक सप्ताह के लिए, अतः प्रेजीडियम को अनेक ऐसे विधायी

प्रेजीडियम की शक्तियाँ (Powers of the Presidium)—प्रेजीडियम (Presidium) के अधिकार और शक्तियों का वर्णन संविधान के अनुच्छेद ४६ मे किया गया है।

प्रेजीडियम प्रतिवर्ष दो बार सर्वोच्च सोवियत अथवा सर्वोच्च परिषद् के सत्रों को समवेत करती है, यदि सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदनों अर्थात् संघीय परिषद् (Council of the Union) और जातीय परिषद् (Council of the Nationalities) में ऐसे तीव्र मतभेद उत्पन्न हो जाएँ कि समझौता न हो सके तो यह सर्वोच्च सोवियत का विलयन करती है, विलयन (dissolution) के दो मास के भीतर अथवा सामान्य कार्यकाल के समाप्त होने के दो मास के भीतर नए चुनावों का आदेश देती है और नव-निर्वाचित सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) के अधिवेशन को समवेत करती है।

प्रेजीडियम आज्ञप्तियाँ निकालती और सोवियत संघ की वर्तमान विधियों का निर्वचन करती है। प्रेजीडियम द्वारा पारित आज्ञप्तियों का वही मूल्य है जो विधियो का और वे समस्त सोवियत सघ के ऊपर समान रूप से लागू हैं। किन्तु यह शर्त है कि प्रेजीडियम द्वारा पारित आज्ञप्तियों का आधार संघ की विधियाँ ही होनी चाहिएँ। जब प्रेजीडियम प्रचलित विधियो का निर्वचन करती है, उस समय वह इन विधियों का उद्देश्य भी समझाती है। उन विधियों के सम्बन्ध में सर्व-साधारण के कर्त्तव्यों का भी विवेचन करती है और यह भी स्पष्ट करती है कि उक्त विधि के नियमों का पालन किस प्रकार होना चाहिए। सर्वोच्च सोवियत जो कुछ विधान पारित करती है उसको प्रेजीडियम के चेयरमैन अथवा सेक्रेटरी के हस्ताक्षरों सहित सोवियत संघ के एकक गणराज्यों की अधिकृत भाषाओं में प्रकाशित कराती है। प्रेजीडियम की यह शक्ति अन्य देशों की शासन-व्यवस्थाओं मे सम्राट् अथवा राष्ट्रपति की विधेयक के ऊपर अन्तिम स्वीकृति के समान है।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का संविधान विधेयक और विधि मे कोई अन्तर नही देखता। संविधान का अनुच्छेद ३६ आदेश देता है "यदि सोवियत रूसी सघ (U. S. S. R.) की सर्वोच्च सोवियत के दोनो सदन सामान्य बहुमत से किसी विधि को पारित कर दे तो यह विधि पारित मानी जाएगी।" इसका अर्थ है कि प्रेजीडियम के अधिकार मे किसी विधेयक को निषेध करने की इस प्रकार शक्ति नही है जिस प्रकार अन्य देशो मे कार्यपालिका प्रधानों को अधिकार प्राप्त है। किन्तु प्रेजीडियम यदि चाहे तो किसी प्रस्तावित विधान को जनमत-संग्रह के लिए भेज सकती है। किन्तु आज तक कोई भी जनमत-संग्रह नही हुआ है।

सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) ही मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) की नियुक्ति करती है और मन्त्रि-परिषद्, सर्वोच्च सोवियत के प्रति ही उत्तरदायी है किन्तु सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत अथवा सर्वोच्च परिषद् के सत्रों के अवकाश काल मे मन्त्रि-परिषद् की सिफारिश पर सर्वोच्च सोवियत के पश्चाद्वर्ती अनुसमर्थन (Confirmation) के अधीन प्रेजीडियम मन्त्रियो को

अथवा अपदस्थ कर सकती है; नए मन्त्रियों को नियुक्त कर सकती है और नए शासनीय विभाग खोल सकती है, तथा नये क्षेत्रों अथवा प्रदेशों का निर्माण कर सकती है। संविधान ने प्रेजीडियम को अधिकार प्रदान किया है कि वह सोवियत रूसी सघ की मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के आदेशों (dorers) और निर्णयों (decisions) को रद् कर सकती है, साथ ही सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) के एकक अवयवी गणराज्यो की मन्त्रि-परिषदों द्वारा पारित आदेशो और आज्ञाओ को भी रद् कर सकती है, यदि वे संघ की विधियो के विरुद्ध पड़ती हों। किन्तु इस सम्बन्ध मे यह जान लेना चाहिए कि स्टालिन के संविधान में कही भी मन्त्रियो को बर्खास्त अथवा अपदस्थ करना (Dismissal of Ministers) नहीं लिखा गया है। वह तो केवल मन्त्रियों को या तो पदों से अवसर ग्रहण कराता है अथवा उनकी नियुक्ति करता है।

यदि सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) का सत्र स्थगित है, तो ऐसे अवसर पर यदि देश के ऊपर कोई शत्रु देश आक्रमण कर दे अथवा यदि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि के दायित्वो के अनुसार पारस्परिक सुरक्षा के हितों की रक्षार्थ युद्ध करना पड़े तो युद्ध की घोषणा प्रेजीडियम (Presidium) ही करती है। प्रेजीडियम ही सोवियत रूसी संघ के सशस्त्र बलों (armed forces) की सर्वोच्च कमान (High Command) को नियुक्त तथा आवश्यकता पड़ने पर वियुक्त करती है, और आपात काल मे देश में आंशिक अथवा पूर्ण संगठन (Mobilization) की आज्ञा देती है और या तो सारे सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) में या अलग-अलग क्षेत्रो की देश की सुरक्षा की आवश्यकताओं के अनुरूप फौजी कानून (Martial law) की घोषणा करती है।

सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) की सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) की प्रेजीडियम (Presidium) ही सोवियत संघ के विदेशी सम्बन्धो का निर्वहन करती है। विदेशो के साथ की गई अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का अनुसमर्थन अथवा अस्वीकरण प्रेजीडियम ही करती है। विदेशो में सोवियत संघ के राजदूतों अथवा राज्य प्रतिनिधियों को प्रेजीडियम ही नियुक्त करती है और वही उनको वापस बुलाती है। प्रेजीडियम विदेशी दूतो का स्वागत करती है और उनके पद के प्रमाण-पत्रों को देखती है।

प्रेजीडियम ही सोवियत संघ के पारितोषिक, सम्मान पद एवं पदक, सैनिक पद, शौर्य पद और अन्य विशेष सम्मानसूचक पद प्रदान करती है। प्रेजीडियम ही उन समस्त लोगो के अपराधों को क्षमा कर सकती है जिनको सोवियत सघ (U. S. S. R.) के न्यायालयों से दण्ड मिला हो।

प्रेजीडियम के अधिकारो के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि संविधान ने सर्वोच्च सोवियत के प्रतिनिधियों को गिरफ्तारी के विरुद्ध सुरक्षा का आश्वासन दिया है। इसलिए किसी भी प्रतिनिधि को न तो गिरफ्तार किया जा सकता है और न उस पर उस समय तक मुकद्मा चलाया जा सकता है जब तक कि सर्वोच्च सोवियत तदर्थ

आज्ञा प्रदान न कर दे और यदि सर्वोच्च सोवियत अधिवेशन में समवेत न हो तो प्रेजीडियम की आज्ञा के बिना किसी प्रतिनिधि को न तो गिरफ्तार किया जा सकता है और न उस पर मुकदमा चलाया जा सकता है।

प्रेजीडियम के चेयरमैन का पद (The Chairmanship of the Presidium)—प्रेजीडियम कार्यपालिका प्रधान के जो कतिपय कृत्य करती है वे सब प्रेजीडियम के चेयरमैन द्वारा सम्पादित होते है, यद्यपि न तो संविधान ने और न विधि ने ही प्रेजीडियम के चेयरमैन को कोई विशेष अधिकार प्रदान किया है। फिर भी सर्वोच्च सोवियत जो विधियां पारित करती है उनका प्रवर्त्तन प्रेजीडियम के चेयरमैन के हस्ताक्षरों पर ही होता है और वही प्रेजीडियम की आज्ञप्तियों पर हस्ताक्षर करता है। वही विदेशी दूतों और आयुक्तों का स्वागत करता है और वही अन्य राष्ट्रों के प्रधानों से पत्र-व्यवहार करता है। उसका वही दर्जा है जो किसी राष्ट्र के प्रधान का दर्जा होता है। किन्तु प्रेजीडियम का चेयरमैन जो कुछ भी करता है वह प्रेजीडियम की ओर से ही करता है। इसलिए देखने मे प्रेजीडियम का चेयरमैन किसी अन्य देश के औपचारिक कार्यपालिका प्रधान के सदृश दिखाई देता है; किन्तु प्रेजीडियम के चेयरमैन की स्थिति औपचारिक उच्चता की ही है, वास्तव में उसको कोई राजनीतिक उच्चता प्राप्त नहीं है।

प्रेजीडियम की वास्तविक शक्ति (Authority of the Presidium)—डॉ० फ़ाइनर (Dr. Finer) का कथन है कि "प्रेजीडियम, सोवियत रूसी संघ (U.S.S.R.) की सतत प्रवर्त्ती सरकार है जो वैधिक रूप से भी और वास्तविक रूप में भी सदैव प्रवर्त्तन में रहती है।" किसी सीमा तक तो यह व्यवस्थापिका निकाय है और किसी सीमा तक यह कार्यकारिणी परिषद् (Executive Council) है, तथा इस रूप में यह मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के नित्य-प्रति के प्रशासन पर पर्याप्त प्रभाव डालती है। जहाँ तक प्रेजीडियम को आज्ञाप्तियाँ जारी करने का अधिकार है, इसकी स्थिति अत्यन्त उच्च हो गई है। जैसा कि बताया जा चुका है, प्रेजीडियम सदैव ऐसी आज्ञप्तियाँ जारी करती रहती है जिनका विधि के समान महत्त्व है। *ये आज्ञप्तियाँ कुछ तो प्रेजीडियम अपने अधिकार के प्रयोग में* जारी करती है जो इसको संविधान के अनुच्छेद ४९ में दिया गया है; किन्तु प्राय: ये आज्ञप्तियाँ अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती हैं और इस प्रकार सर्वोच्च सोवियत के अधिकार-क्षेत्र में कार्य करने लगती हैं और उन विषयों पर आज्ञप्तियाँ जारी कर दी जाती हैं जो विषय संविधान में सर्वोच्च सोवियत के अधिकार-क्षेत्र में दिए हैं। प्रेजीडियम (Presidium) को अधिकार है कि सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) के अधिवेशनों के विरामकाल में वह मन्त्रियों को अपदस्थ कर सकती है और उनके स्थान पर नए मन्त्रियों की नियुक्ति कर सकती है। यदि सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदनों में गतिरोध उत्पन्न हो जाए तो प्रेजीडियम नए चुनावों की आज्ञा दे सकती है। किन्तु प्रेजीडियम के हाथों में वास्तविक शक्ति उस समय तक रहती है जब तक कि सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) के दोनों सदनों का चुनाव नही हो चुकता।

ऐसा अवसर कभी नही आया जबकि प्रेज़ीडियम (Presidium) ने सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) का विलयन (Dissolution) किया हो। न कभी प्रेज़ीडियम ने किसी प्रश्न पर जनमत-सग्रह कराया है किन्तु इसने अपने अन्य विशेषाधिकारों का खुल कर प्रयोग किया है। राज्य की शक्ति के सर्वोच्च उपकरण के रूप में सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) को प्रेज़ीडियम (Presidium) ने मन्दाभ कर रखा है यद्यपि राज्य-संचालन की वास्तविक बागडोर केन्द्रीय साम्यवादी दल की उच्च समिति के हाथो में रहती है और जो लोग साम्यवादी दल का नियन्त्रण करते हैं और उसको राजनीतिक दिशा प्रदान करते है, उनका ही प्रेज़ीडियम में बाहुल्य है।

अध्याय ४

केन्द्रीय शासन-व्यवस्था (क्रमशः)

(The Government at the Centre)—*Contd.*

मन्त्रि-परिषद्

(The Council of Ministers)

मन्त्रि-परिषद् की प्रकृति (Nature of the Council of Ministers)—सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ मे शासन की मुख्य प्रवर्त्तक शक्ति मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) में निहित है। इसी मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) को १९४६ से पूर्व लोक-प्रबन्धक परिषद् (Council of the People's Commissars) कहा जाता था। यही सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.)[1] की सरकार है और यही राज्य की सर्वोच्च कार्यपालिका और प्रशासनिक सत्ता है।[2] देखने में सोवियत रूस की मन्त्रि-परिषद् संसदीय शासन-प्रणाली वाले किसी देश के मन्त्रिमण्डल जैसी प्रतीत होती है। इसका नाम भी लगभग वही है जैसा कि अन्य देशों में इसको पुकारा जाता है। यह भी इस प्रकार विधानमण्डल कहा जाता है और यह भी पूर्णतया सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) के प्रति प्रत्यक्षत, उस समय उत्तरदायी है जबकि सर्वोच्च सोवियत सत्र में समवेत हो और अप्रत्यक्षतः प्रेज़ीडियम (Presidium) के माध्यम से सर्वोच्च सोवियत के प्रति उस समय उत्तरदायी होती है जब कि सर्वोच्च सोवियत सत्र मे समवेत नहीं होती। किन्तु सिद्धान्त और व्यवहार में भेद होता है और एक बार कहना पड़ता है कि सोवियत संघ (U S. S. R.) में वैधिक सत्य को राजनीतिक असत्य कहते है। एकदलीय शासन-पद्धति में मन्त्रि-परिषद् (Ministry) की स्थापना मे कोई सन्देह नहीं रहता। इसके अतिरिक्त सोवियत संघ मे संसदीय दल अपने नेता का चुनाव नहीं करता, न नेता को शासन निर्माण करने के लिए बुलाया जाता है, न नेता अपने सहयोगी मन्त्रियों के नाम पेश करता है। सोवियत रूसी संघ (U. S. S. R.) की मन्त्रि-परिषद् को साम्यवादी दल की राजनीतिक ब्यूरो (Polit Bureau) नियुक्त करती है और इसीलिए मन्त्रि-परिषद् साम्यवादी दल के प्रति उत्तरदायी है न कि सर्वोच्च सोवियत के प्रति। मन्त्रि-परिषद् का चेयरमैन (Chairman of the Council of Ministers) सर्वोच्च सोवियत के संसदीय दल की इच्छा का व्यक्ति नहीं होता इसलिए उसकी तुलना संसदीय शासन-प्रणाली वाले किसी देश के प्रधान मन्त्री से नहीं की जा सकती।

1. Article 56.
2. Article 79.

सत्य तो यह है कि सोवियत मन्त्रि-परिषद् किसी भी हालत में मन्त्रिमण्डल के समकक्ष नहीं है। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में जिस प्रकार की शासन-प्रणाली प्रचलित है, उसमें हरेक निर्णय सर्वसम्मति से ही कराया जाता है। किन्तु इसके विपरीत संसदीय शासन-प्रणाली में, जो संसार के बहुत से देशों में प्रचलित है, विरोधी दल को आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इंगलैण्ड में सम्राट् के विरोधी दल को आजकल साविधानिक मान्यता प्राप्त है। किन्तु सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) मे सविधान ने विरोधी दल को आज्ञा नहीं दी है।

मन्त्रि-परिषद् की निर्माण-विधि (How the Council of Ministers is formed)—सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) की मन्त्रि-परिषद् सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) के दोनों सदनों द्वारा एक संयुक्त अधिवेशन मे निर्वाचित की जाती है। किन्तु यह निर्वाचन केवल औपचारिक होता है। साम्यवादी दल की राजनीतिक ब्यूरो ही, जिसको पॉलिट ब्यूरो भी कहते हैं, मन्त्रि-परिषद् और उसके चेयरमैन का नामाकन करती है। सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) तो राजनीतिक ब्यूरो के निर्माण का अनुसमर्थन करती है। जिस समय सर्वोच्च सोवियत सत्र मे नहीं होती, यदि उस समय मन्त्रि-परिषद् के कुछ स्थान रिक्त हो जायें, तो उनकी पूर्ति मन्त्रि-परिषद् के चेयरमैन या अध्यक्ष की सिफारिश पर प्रेजीडियम करती है और प्रेजीडियम ही किसी मन्त्री को सर्वोच्च सोवियत के सत्र मे न होने की अवस्था में पद से अलग भी कर सकती है किन्तु शर्त यह है कि इस प्रकार की किसी भी कार्यवाही के लिए प्रेजीडियम को सर्वोच्च सोवियत का अनुसमर्थन प्राप्त करना आवश्यक होगा।

मन्त्रि-परिषद् की रचना (Composition of the Council of Ministers)—सविधान के अनुच्छेद ७० में मन्त्रि-परिषद् की रचना के बारे में विवरण दिया गया है। *मन्त्रि-परिषद् में निम्न व्यक्ति सम्मिलित होते हैं*—

(१) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) की मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष।

(२) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) की मन्त्रि-परिषद् का प्रथम उपाध्यक्ष तथा उपाध्यक्षगण (Vice-chairmen)।

(३) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) की मन्त्रि-परिषद् के राज्य योजना आयोग (State Planning Commission) के अध्यक्ष।

(४) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) की मन्त्रि-परिषद् के सोवियत नियन्त्रण आयोग, कला सम्भरण समिति एवं राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था समिति के अध्यक्ष।

(५) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) की मन्त्रि-परिषद् के उच्च अर्थ-व्यवस्था नियन्त्रण आयोग के अध्यक्ष।

(६) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) की मन्त्रि-परिषद् के सर्वोच्च निर्माण-सम्बन्धी अध्यक्ष।

(७) सोवियत समाजवादी गण राज्य संघ (U. S. S. R.) के अन्य मन्त्री।
(८) सांस्कृतिक एवं कलाविषयक राष्ट्रीय समिति के अध्यक्ष।

मन्त्रि-परिषद् वास्तव में एक दीर्घ निकाय है जो सदैव वर्द्धनशील है। संक्षेप में इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि आजकल मन्त्रि-परिषद् मे ५१ मन्त्रालय (Ministries) है, इस प्रकार इसका १९२४ की अपेक्षा इस समय छ गुना अधिक विस्तार है। मन्त्रालयों (Ministries) में इस प्रकार वृद्धि के फलस्वरूप मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) में उपाध्यक्ष भी बढ़ गए है ताकि प्रत्येक उपाध्यक्ष (Vice-Chairman) आवश्यकता आ पड़ने पर समान कृत्यों वाले मन्त्रालयो के समूह पर नियन्त्रण स्थापित कर सके। इस समय मन्त्रि-परिषद् मे १३ उपाध्यक्ष हैं। मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के अध्यक्ष (Chairman) और उपाध्यक्षगण (Vice Chairmen) मिल कर आन्तरिक मन्त्रिमण्डल (Inner Cabinet) का निर्माण करते है। यह आन्तरिक मन्त्रिमण्डल (Inner Cabinet) ही समस्त मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के विभिन्न कृत्यो का उचित समन्वय और पर्यवेक्षण व निरीक्षण करता है। आन्तरिक अथवा अन्तरंग मन्त्रिमण्डल के सदस्य राजनीतिक ब्यूरो (Polit Bureau) के भी सदस्य होते है और चूंकि राजनीतिक ब्यूरो, नीति निर्धारित करने वाला निकाय है इसलिए अन्तरंग मन्त्रिमण्डल, साम्यवादी दल और शासन के बीच समन्वयकारी एवं सचालनकारी कड़ी का काम करता है। इस सम्बन्ध में अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के मन्त्री लोग अपने-अपने विषयों और क्षेत्रों के विशेषज्ञ होते है और उनको मन्त्रि-परिषद् मे अपने विषय की विशेष योग्यता के आधार पर ही लिया जाता है न कि राजनीतिज्ञ होने के नाते। वे साम्यवादी दल के नेता नहीं होते यद्यपि वे सभी आवश्यकतः साम्यवादी दल के सदस्य अवश्य होते है। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) मे विभिन्न मन्त्रालयो के कामों मे एकरूपता और समन्वय उत्पन्न करने की अन्य देशो की अपेक्षा अत्यधिक आवश्यकता रहती है।

मन्त्रि-परिषद् की शक्तियाँ (Powers of the Council of Ministers)—संविधान के अनुच्छेद ६८ ने मन्त्रि-परिषद् को जो अधिकार प्रदान किए है, वे अत्यन्त विस्तृत हैं। उनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(१) अखिल यूनियन के और यूनियन गणराज्यो के मन्त्रालयों तथा अन्य आर्थिक व सांस्कृतिक संस्थाओं के कार्यों का निर्देशन व संयोजन (Direction and Co-ordination)।

(२) राष्ट्र की आर्थिक योजनाओं व राष्ट्रीय आय-व्ययक (Budget) का कार्यवहन (execution) तथा देश की मुद्रा-व्यवस्था व मुद्रा-साख-पद्धति को शक्तिशाली बनाना।

व्यक्तिगत मन्त्रियों के निर्णयों और आदेशों को निलम्बित कर सकती है।

मन्त्रि-परिषद् का उत्तरदायित्व (Responsibility of the Council of Ministers)—१९३६ के संविधान ने स्पष्टतया व्यवस्था की है कि सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet), मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) की नियुक्ति करेगी और मन्त्रि-परिषद् सामान्यतया सर्वोच्च सोवियत के प्रति उत्तरदायी होगी और जब सर्वोच्च सोवियत सत्र में समवेत नहीं होगी उस समय मन्त्रि-परिषद सर्वोच्च सोवियत की प्रेजीडियम (Presidium) के प्रति उत्तरदायी होगी। संविधान का अनुच्छेद ७१ आदेश देता है कि सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ (U. S. S. R.) की सरकार या उसके किसी मन्त्री को, जिससे सर्वोच्च सोवियत का कोई प्रतिनिधि कोई प्रश्न करे लिखित या जबानी उत्तर तीन दिन के अन्दर उसी सदन में देना होगा जिस सदन के प्रतिनिधि ने प्रश्न किया हो। इसका यह अर्थ है कि संविधान ने न केवल मन्त्रीय उत्तरदायित्व को मान्यता दी है अपितु इसने सर्वोच्च सोवियत के प्रतिनिधियों को यह अधिकार भी दिया है कि वे मन्त्रि-परिषद् से या किसी मन्त्री से उसके अधिकार-क्षेत्र से सम्बन्धित मनचाही जानकारी प्राप्त कर सकते हैं, और जब कभी इस प्रकार कोई जानकारी माँगी जाएगी तो शासन के सम्बन्धित अग का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह पूछे गए प्रश्न का उत्तर लिखित या जबानी रूप में उसी सदन में जिसके प्रतिनिधि ने प्रश्न पूछा था, तीन दिन के अन्दर दे दे।

सोवियत मघ (Soviet Union) में मन्त्रीय उत्तरदायित्व एक सांविधानिक चाल अथवा औपचारिकता है। सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) या इसकी प्रेजीडियम (Presidium) का मन्त्रि-परिषद् की रचना अथवा उसके संगठन में कोई हाथ नहीं होता न मन्त्रियों के अपने पदों पर बने रहने में और न ही मन्त्रियो की नीति पर ही सर्वोच्च सोवियत या प्रेजीडियम का कोई नियन्त्रण होता है। सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) तो केवल साम्यवादी दल की राजनीतिक ब्यूरो अथवा पॉलिट ब्यूरो के निर्णयों को सही कर देती है। और इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि स्टालिन के सत्तारूढ़ होने के समय से लेकर उसकी मृत्यु तक राजनीतिक ब्यूरो जो कुछ भी निर्णय करती थी वह स्टालिन (Stalin) का ही निर्णय माना जाता था।

इसलिए सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) के मन्त्री लोग नियुक्त भी होते हैं और वियुक्त भी होते हैं किन्तु वे न तो विधानमण्डल के विश्वास-भाजन होने के कारण नियुक्त होते हैं और न विश्वास खो देने के कारण वियुक्त होते हैं; बल्कि वे इस कारण नियुक्त और वियुक्त होते हैं कि वे एक दल विशेष के प्रत्याशी होते हैं और उन लोगों के व्यक्ति होते हैं जो उक्त दल के ऊपर नियन्त्रण रखते हैं। किसी मन्त्री का अपने पद पर बना रहना अथवा उससे हट जाना इस तथ्य पर निर्भर करता है कि उस मन्त्री के उक्त दल के नेताओं से सम्बन्ध कैसे हैं।

मन्त्रालय
(The Ministries)

मन्त्रालय (The Ministries)—समस्त देश का अधिकतर शासन अलग-अलग मन्त्रालयों द्वारा चलाया जाता है। अखिल संघीय मन्त्रालयों के अध्यक्ष मन्त्री लोग होते हैं। मन्त्री लोग ही अपने अधीनस्थ विभागों का कार्य-संचालन करते हैं और उन्हें अधिकार है कि वे अपने प्रशासनिक क्षेत्र मे मनमाना आदेश दे सकते हैं किन्तु शर्त यह है कि उनके आदेश और आज्ञप्तियां अखिल संघीय विधियों के विरुद्ध नही होनी चाहिएँ और न मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) की आज्ञप्तियों के ही विरुद्ध होनी चाहिएँ। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, मन्त्रि-परिषद् को अधिकार है कि वह व्यक्तिगत मन्त्रियों के प्रधिशासी कृत्यों को रद्द कर सकती है। मन्त्रियों के लिए यह भी आवश्यक है कि उनसे जो भी प्रश्न सर्वोच्च सोवियत के जिस सदन में भी पूछे जाएँ, उनको तीन दिन के अन्दर उसी सदन में उत्तर देने होंगे।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में मन्त्रि-परिषद् के चेयरमैन की स्थिति अत्यन्त उच्च मानी जाती है और यदि चेयरमैन का साम्यवादी दल में पूर्ण प्रभाव होता है तब तो मन्त्रि-परिषद् के चेयरमैन की स्थिति अत्यन्त सुदृढ होती है जिस प्रकार कि लेनिन (Lenin) और स्टालिन (Stalin) की स्थिति अत्यन्त उच्च और प्रभावपूर्ण थी। किन्तु यह भी असम्भव नही है यदि मन्त्रि-परिषद् के चेयरमैन की वही दशा कर दी जाए जो रिकोव (Rykov) की हुई। रिकोव (Rykov) १९२४ से १९३० तक मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) का चेयरमैन था। किन्तु अन्त में वह अप्रिय हो गया और १९३८ मे उसके ऊपर देश-द्रोह का जुर्म लगाया गया और उसे फाँसी दे दी गई।

अधिकतर मन्त्री लोगों का विशेष राजनीतिक महत्त्व नही होता और विदेश मन्त्री (Foreign Minister) को छोड़ कर अन्य मन्त्रियों का न तो देश मे और न विदेश में कोई विशेष आदर होता है। किसी व्यक्ति के मन्त्रि-पद पर पहुँचने में न तो संसदीय दल का प्रभाव काम करता है और न कोई राजनीतिक प्रभाव ही प्रभावी होते हैं। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (Soviet Union) मे कोई भी व्यक्ति इतना अत्यावश्यक नहीं होता कि उसे त्यागा न जा सके। किसी व्यक्ति को मन्त्री पद पर नियुक्त करते समय दो विचार विशेष रूप से प्रभाव डालते हैं जिनमें एक विचार यह होता है कि उक्त व्यक्ति में सम्बन्धित कार्य के लिए वैयक्तिक योग्यता कितनी है क्योंकि सोवियत संघ में अनेक मन्त्रियों के पद विशेष योग्यता की अपेक्षा रखते हैं और दूसरा यह विचार भी प्रभाव डालता है कि उक्त व्यक्ति ने दल की कितनी सेवा की है। किन्तु मन्त्रियों में जल्दी-जल्दी परन्तु शान्ति के साथ परिवर्तन होते रहते हैं और उन परिवर्तनों को समाचारपत्रों में भी नहीं दिया जाता और इस प्रकार के परिवर्तनों के सम्बन्ध में कभी सफाई नहीं दी जाती।

दो प्रकार के मन्त्रालय (Two Kinds of Ministries)—सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) में दो प्रकार के मन्त्रालय (Ministries) है : (१) पहले प्रकार में अखिल संघीय मन्त्री (कमीसार्स) आते हैं जो उन मामलो का या तो प्रत्यक्ष रूप से या नियुक्त की हुई एजेन्सियों के माध्यम द्वारा प्रबन्ध करते है जिनका महत्त्व सम्पूर्ण संघ के लिए होता है और दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ये मन्त्री संघीय सरकार के अधिकार-क्षेत्र में आने वाले समस्त मामलों का प्रबन्ध करते हैं; (२) दूसरे प्रकार में यूनियन गणराज्यों के मन्त्री आते हैं। ये मन्त्री मुख्यतः यूनियन गणराज्यों की सरकारों के अधिकार-क्षेत्र में आने वाले मामलों का प्रबन्ध करते हैं। ये मन्त्रालय संघ के एकक गणराज्यों के मन्त्रालयों के द्वारा अपना कार्य करते है और प्रत्यक्षतः तो केवल कतिपय निश्चित[1] एवं उन्ही विषयों का ही निरीक्षण और संचालन करते है जो एक सूची में दर्ज है जिसको सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) की प्रेजीडियम ने स्वीकार कर रखा है। मन्त्रालयों के इन दोनो समुदायों में स्पष्ट भेद है कि अखिल संघीय मन्त्रालय राष्ट्रीय और अखिल संघीय मामलो के निर्णय करते है किन्तु दूसरे प्रकार के अर्थात् यूनियन-गणराज्य-मंत्री उन मामलों का प्रबन्ध एवं निर्णय करते हैं जो अखिल संघीय शासन और एकक गणराज्यों के शासन के सम्मिलित अधिकार-क्षेत्र में आते है। किन्तु दोनों प्रकार के मन्त्रालयों का भेद अत्यन्त क्षीण है; और प्रायः कई एक मन्त्रालयों को एक समुदाय से हटा कर दूसरे समुदाय में रखा गया है। डॉ० मनरो (Dr. Munro) ने इन दोनों प्रकार के मन्त्रालयों के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि अखिल संघीय मन्त्रालयों का प्रशासन मास्को (Moscow) में केन्द्रित है। किन्तु संघ के गणराज्यीय मन्त्रालयों के "प्रशासन कार्य का नियन्त्रण तो केन्द्रीकृत है किन्तु उसकी कार्य-प्रणाली और क्रियान्विति काफी हद तक विकेन्द्रीकृत (Decentralized) है।"

अखिल संघीय मन्त्रालय (All Union Ministries)—आजकल ३० अखिल संघीय मन्त्रालय सोवियत सघ में हैं। ये मन्त्रालय राष्ट्रीय शासन के उन विभागों का संचालन करते है जिनका अखिल संघीय महत्त्व है। इन मन्त्रालयों का अधिकार-क्षेत्र समस्त संघ पर छाया हुआ है और ये या तो प्रत्यक्ष रूप से स्वयं प्रशासन और प्रबन्ध करते है अथवा स्वयं एजेन्सियाँ नियुक्त करके उनके द्वारा प्रबन्ध संचालन करते है। प्रारम्भ में केवल पाँच अखिल संघीय मन्त्रालय थे। स्टालिन के सविधान (Stalin Constitution) ने आठ मन्त्रालयो की व्यवस्था की। १९४२ मे प्रेजीडियम (Presidium) ने पाँच अन्य अखिल संघीय मन्त्रालय उत्पन्न किए। १९४७ तक इन मन्त्रालयों की संख्या ३६ तक पहुँच गई, जिनमें भारी उद्योगों (Heavy Industries) से सम्बन्धित ही २७ नये मन्त्रालय सम्मिलित थे। सोवियत सविधान के अनुच्छेद ७७ के जून १७, १९५० के सशोधित रूप ने ३० मन्त्रालयों की व्यवस्था की है।

यूनियन गणराज्य मन्त्रालय (The Union Republican Ministries)—यूनियन गणराज्यीय मन्त्रालय "अखिल संघीय महत्त्व की उस राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था

1. Articles 74-76.

और राष्ट्रीय प्रशासन का सचालन करते हैं जिसका प्रबन्ध किया जा सकता है और जिसका इस प्रकार केन्द्र से विविध संघीय गणराज्यों के संघीय गणराज्यीय मन्त्रालयों द्वारा प्रबन्ध किया जाना वाछनीय है।" आजकल कुल संघीय गणराज्यीय मन्त्रालयों (The Union Republican Ministries) की संख्या २१ है।

परामर्शीय बोर्ड और नियोजनमण्डल (Advisory and Planning Boards)—इन मन्त्रालयों के अतिरिक्त अनेक परामर्शीय बोर्ड (Advisory Boards) है। कुछ मन्त्रालयों के अपने विशेष परामर्शीय बोर्ड है और कई उदाहरण ऐसे हैं जिनमे वे बोर्ड परामर्शीय कार्यों से अधिक कार्य करते हैं। इन बोर्डों में मुख्य रूप से श्रम-परिषद् (Council of Labour) और सुरक्षा-परिषद् (Council of Defence) है और राज्य नियोजन आयोग (State Planning Commission), उच्च शिक्षा सम्बन्धी समिति और सांस्कृतिक समिति (The Committee on Arts) है। सोवियत रूसी संघ मे 'गोस प्लान' अथवा राज्य नियोजन आयोग ('Gosplan' or the State Planning Commission) के निर्देशन में ही समस्त अर्थ-व्यवस्था का नियोजन हो रहा है। किन्तु, नियोजन के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति अथवा राजनीतिक ब्यूरो ही करते हैं।

किन्तु जब तक राज्य मौजूद है तब तक सोवियत विधि को भी मजबूती से दृढ़ रहना चाहिए ताकि वह पूँजीवाद का नाश कर दे और समाजवादी समाज के निर्माण में सहायक साधन बना रहे। सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकवाद की यह निर्देशक नीति है। अतः स्पष्ट है कि सोवियत विचारधारा के अनुसार विधि सदैव समाजवादी शान्ति के उद्देश्यों को बढ़ावा देने की नीति का एक साधन है, और इसकी राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के बचाव के लिए प्रयुक्त की जाने वाली प्राकृतिक विधि अथवा विधि के रूप में कोई स्थिति नहीं है।

सोवियत न्यायपालिका का उद्देश्य (Purpose of Soviet Judiciary)—अगस्त, १९३८ की एक विधि का आदेश है कि सोवियत न्यायालयों का सामान्य उद्देश्य यह है कि वे सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) के नागरिकों को देश-प्रेम की शिक्षा प्रदान करें और उनमे समाजवादी भावना जाग्रत करें; साथ ही सोवियत विधियों के प्रति पूर्ण निष्ठा और अन्यून आज्ञा-पालन का भाव भरें। इसके साथ ही न्यायालय नागरिकों को यह भी शिक्षा दें कि वे समाजवादी सम्पत्ति की रक्षा करें, श्रमिक लोग अनुशासनहीन न हों; वे राज्य और सर्वसाधारण के प्रति अपने कर्त्तव्य पूर्ण करें और समस्त सोवियत गणराज्यों (Commonwealth) के नियमो का पूर्ण पालन करें। इस प्रकार सोवियत न्यायालयो का मुख्य और मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वे "सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) की समाज व्यवस्था और शासन-व्यवस्था की रक्षा करें अर्थात् सार्वजनिक समाजवादी सम्पत्ति और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की रक्षा करें।" सोवियत न्यायालयों की आवश्यकता पर बल देते हुए लेनिन (Lenin) और स्टालिन (Stalin) दोनों ने कहा था कि न्यायालय समाजवाद के शत्रुओं के विरुद्ध खुल कर कार्यवाही करें। उनके विचार से समाजवाद के शत्रु सार्वजनिक शत्रु हैं, देश-द्रोही हैं, भेदिये हैं, विनाशक हैं। न्यायालयों का यह भी कर्त्तव्य बताया गया था कि वे नई सोवियत शासन-प्रणाली को सुदृढ़ बनावे, नए सोवियत अनुशासन का कर्मकार वर्ग द्वारा दृढ़तापूर्वक पालन करावें।" इसलिए विधि ने सोवियत न्यायालयो को आज्ञा दी है कि वे राज्य के फार्मों (State Farms) या सहकारी फार्मों (Co-operative Farms) या सामूहिक फार्मों (Collective Farms) की सम्पत्ति चुराने वालों को या श्रमिको अथवा राज्य के अनुशासन को भंग करने वालों को अथवा अन्य ऐसे सार्वजनिक अपराधियो को जैसे सट्टेबाजो (Speculators) को, बदमाशों को, गुण्डों को तथा ऐसे लोगों को जो राज्य को अथवा सामुदायिक या सहकारी फार्मों को अथवा अन्य सार्वजनिक सस्थाओ को किसी प्रकार हानि पहुँचाते हैं, कठोरतम दण्ड दें। दीवानी के न्यायालय (Civil Courts) नागरिको के उन राजनीतिक अधिकारो की रक्षा करते हैं जो सविधान ने उनको श्रम, निवास-स्थान, सम्पत्ति तथा अन्य हितो की रक्षार्थ प्रदान किए है।

अपराधियों को दण्डित करने का सोवियत उद्देश्य यह है कि इससे सोवियत नागरिको में क्रान्तिकारी चेतना भर दी जाए और वे उन विदेशी भेदियों और शत्रुओ से सावधान हो जाएँ जो देश में घुस आते हैं और जो सोवियत समाजवादी संघ को हानि पहुँचाना चाहते हैं। न्यायालयों का यह भी कर्तव्य है कि वे सोवियत नागरिकों

मे यह भावना कूट-कूट कर भर दें कि वे सोवियत विधियों का पूर्णतः पालन करें। हिटलर तथा मुसोलिनी जो पाठ अपने प्रजा-जनों को पढ़ाते थे वही पाठ सोवियत न्यायालय सोवियत नागरिकों को पढ़ाते हैं।

सोवियत न्याय-व्यवस्था की मुख्य विशेषताएं (Salient Features of the Soviet Judicial System)—(१) सोवियत न्यायपालिका अन्य मन्त्रालयों जैसे वित्त मन्त्रालय अथवा कृषि-मन्त्रालय की ही भाँति राज्य के नियमित प्रशासकीय ढाँचे का केवल एक भाग है। न्यायपालिका को शासन का एक पृथक् व स्वतन्त्र अग नही समझा जाता। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के न्यायालयों को प्रोक्यूरेटर जनरल (Procurator General) अथवा महान्यायवादी (Attorney General) के आदेशानुसार न्याय-व्यवस्था करनी होती है। प्रोक्यूरेटर जनरल अथवा महान्यायवादी का प्रमुख कृत्य है क्रान्ति द्वारा स्थापित की गई सामाजिक व्यवस्था को विरोधी व्यक्तियों अथवा वर्गों के आक्रमणों से बचाना और समस्त सामाजिक सम्पत्ति की रक्षा करना तथा उसको एवं उसके अधीनस्थ कर्मचारी वर्ग को यह देखना पड़ता है कि सोवियत संघ की सार्वजनिक सम्पत्ति का विनाश तो नही किया जा रहा अथवा सोवियत समाज-व्यवस्था विरोधी अपराध तो नहीं किये जा रहे हैं। सोवियत रूस के न्यायालय समाजवाद के शत्रुओं को नई सोवियत व्यवस्था के रक्षणार्थ अत्यधिक कठोर दण्ड देते हैं।

(२) सम्पूर्ण सोवियत संघ में एकसी फौजदारी और दीवानी कार्य-विधि और एकसी न्याय-व्यवस्था है। इसका अर्थ है कि बिना किसी प्रकार के सामाजिक उद्भव, धर्म, व्यवसाय, सम्पत्ति अथवा लिंग आदि भेद-भाव के समस्त नागरिकों की कानून के समक्ष समानता मान ली गई है।

(३) यद्यपि न्याय प्रशासन केन्द्रीय विषय नही है; फिर भी समस्त सोवियत संघ के समान फौजदारी और दीवानी कार्यविधि के अनुसार कार्य होता है। सोवियत न्यायाधीश अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र होते हैं और वे केवल देश की विधि के ही अधीन है। इसका यह अर्थ है कि न तो सघीय सत्ता को न किसी अवयवी गणराज्य की सत्ता को न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र मे हस्तक्षेप करने का अधिकार है और न कोई सत्ता न्यायालयों के निर्णयों को प्रभावित कर सकती है। न्यायाधीशों को प्रचलित सोवियत विधि के अनुसार ही निर्णय करने पड़ते हैं; किन्तु जैसा कि पोलिएँस्की (Poliansky) ने कहा है, "यह स्पष्ट है कि सोवियत न्यायाधीश स्वतन्त्र होने हुए भी राजनीतिक आदेश की अवहेलना नही कर सकते क्योंकि राजनीतिक आदेश भी सोवियत विधि के विरुद्ध नही हो सकते और सोवियत विधि भी सर्वसाधारण अथवा विधि निर्माताओं की ही इच्छा की प्रतीक है और विधि का संचालन सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकवाद के द्वारा ही होता है।"

(४) संविधान के अनुच्छेद १२७ ने व्यक्ति की अबाध्यता (Inviolabiltiy of Person) का पूर्ण आश्वासन दिया है। *संविधान आदेश करता है*, "किसी भी व्यक्ति को उस समय तक गिरफ्तार नहीं किया जा सकता जब तक कि प्रोक्यूरेटर

अथवा महान्यायवादी ने तदर्थ आज्ञा प्रदान न की हो अथवा किसी न्यायालय ने गिरफ्तारी का आदेश न दिया हो।" जब तक कि विधि ने ही वर्जित न किया हो, न्यायालय की समस्त कार्यवाही सार्वजनिक होनी चाहिए और अभियुक्त को पूरी छूट रहती है कि वह अपने बचाव का प्रबन्ध या तो स्वयं कर सकता है अथवा वकील द्वारा भी कर सकता है। केवल कुछ विधि विहित असाधारण मामलों में ही सार्वजनिक वैधिक कार्यवाही निषिद्ध की गई है; किन्तु इस अवस्था में न्यायालय का कार्य-संचालन तीन न्यायाधीश करते है और सर्वसाधारण के मनोनीत जूरी अथवा असेसर (People's Assessors) हट जाते हैं। न्यायालयों में स्थानीय भाषा का प्रयोग होता है और उन अन्तर्ग्रस्त व्यक्तियों को जो उस भाषा को नहीं समझते, दुभाषिए (Interpreter) रखने का अधिकार होता है।

(५) सभी न्यायाधीश अपने पदों पर विशिष्ट अवधि के लिए ही निर्वाचित होते हैं। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R) में सर्वोच्च न्यायालय और विशिष्ट न्यायालयों (Special Courts) और उसी प्रकार अवयवी एकक गणराज्यों और संघों के सर्वोच्च न्यायालयों के न्यायाधीशो का निर्वाचन पांच वर्ष की अवधि के लिए सम्बन्धित सर्वोच्च सोवियतों (Supreme Soviet) द्वारा होता है। क्षेत्रीय न्यायालयो के न्यायाधीशों का निर्वाचन भी उसी प्रकार क्षेत्रीय सोवियतों (Territorial Soviets) द्वारा पाँच वर्ष के लिए ही होता है किन्तु निम्नतम न्यायालयों (The People's Courts) के न्यायाधीशों को उन्ही जिलों के सर्वसाधारण तीन वर्षों की अवधि के लिए निर्वाचित करते हैं।

(६) सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) के सभी न्यायालयों में न्यायाधीश होते हैं और सर्वसाधारण के अभिनिर्धारक (People's Assessors) होते हैं; किन्तु सर्वसाधारण के अभिनिर्धारकों अथवा अनिपुण न्यायाधीशों को पंच (Jurors) समझना उचित न होगा। सोवियत न्याय-व्यवस्था में पंचों का कोई स्थान नही है। अनिपुण न्यायाधीश भी पूर्ण अधिकारयुक्त न्यायाधीश ही होते है किन्तु वे अस्थायी न्यायाधीश ही होते हैं। सामान्यत: प्रत्येक न्यायालय मे दो अनिपुण न्यायाधीश (Lay Judges) होते हैं और एक व्यावसायिक अथवा विशेषज्ञ न्यायाधीश होता है जो मौलिक अथवा प्रारम्भिक मामलों की सुनवाई में सभापतित्व या आसन ग्रहण करता है; किन्तु अपीलीय मामलों में सामान्यतः अधिक संख्या में न्यायाधीश लोग बैंठते हैं। अनिपुण न्यायाधीश विधि और तथ्यो से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर विचार करते हैं और विशेषज्ञ अथवा व्यावसायिक न्यायाधीश के साथ मिल कर निर्णय भी देते हैं। बहुमत के द्वारा ही निर्णय किए जाते हैं किन्तु प्राय: विशेषज्ञ अथवा व्यावसायिक न्यायाधीश की बात ही मानी जाती है।

(७) न्यायाधीशों और अभिनिर्धारकों का निर्वाचन उसी प्रकार और उतने ही समय के लिए होता है और दोनों को हटाया जा सकता है। किन्तु जहां न्यायाधीशों को उतनी अवधि के लिए जितनी के लिए कि उनका निर्वाचन हुआ था, न्यायालय के नियमित सदस्य के रूप में कार्य करना पड़ता है; प्रत्येक अभिनिर्धारक को वर्ष में

केवल दस दिन के लिए ही कार्य करना पड़ता है, हाँ यदि कोई विवाद लम्बा हो तो यह अवधि बढ़ भी सकती है; और इन दिनों में उसको अपने काम करने की जगह से पूरा वेतन ी मिलता रहता है। न्यायाधीशों अथवा अभिनिर्धारकों (Assessors) के लिए कोई निश्चित शिक्षा सम्बन्धी अर्हताएँ नहीं हैं किन्तु नियमतः न्यायाधीश लोग उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति होते हैं।

(८) न्यायाधीशों और अभिनिर्धारकों (Assessors) को अपने पदों से हटाया भी जा सकता है और वही निर्वाचकमण्डल उनके प्रत्यावर्तन (Recall) की माँग कर सकता है जिसने उनको निर्वाचित करके भेजा था। निम्न न्यायालयों के न्यायाधीशों और अभिनिर्धारकों के विरुद्ध जिला प्रोक्यूरेटर यदि चाहे तो सम्बन्धित अवयवी गणराज्य की प्रेज़ीडियम (Presidium) की आज्ञा लेकर फ़ौजदारी अभियोग ला सकते हैं। इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों और अभिनिर्धारकों के विरुद्ध सोवियत संघ (U. S. S. R.) का महान्यायवादी (Procurator General) संघीय प्रेज़ीडियम (Union Presidium) की आज्ञा लेकर न्यायिक कार्यवाही कर सकता है।

(९) २६ मई, १९४७ को सर्वोच्च प्रेज़ीडियम ने एक आज्ञप्ति द्वारा शान्ति काल में मृत्यु-दण्ड निषिद्ध कर दिया। किन्तु फिर प्रेज़ीडियम ने १२ जनवरी, १९५० को अपनी पुरानी आज्ञप्ति को संशोधित किया क्योंकि कई अवयवी एकक गणराज्यों ने, प्रदेशों और क्षेत्रों ने तदर्थ प्रार्थना की थी और अब की बार मृत्यु दण्ड को कठोरतम दण्ड मान कर देशद्रोहियों (Traitors), भेदियों और गुप्तचरों (Spies) और विनाशकारी तत्वों (Wreckers) के लिए मृत्यु दण्ड की पुनः व्यवस्था की गई।

(१०) सोवियत विधि इस सम्बन्ध में मौन है कि देशद्रोही, गुप्तचर और विनाशकारी तत्व कौन हैं। किन्तु सोवियत विधि की मान्यता है कि वह (सोवियत विधि) सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के प्रमुख वर्ग की इच्छा की प्रतीक है। इस प्रकार यह हो जाता है कि वे ही व्यक्ति देशद्रोही हैं जिनको साम्यवादी दल के नेता लोग सर्वसाधारण का शत्रु समझते हैं। रिश्कोव (Rytchkov) के १५ अगस्त, १९३८ के वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है। उसने कहा था, "राज्य चाहता है कि सभी न्यायालय समाजवाद के सभी शत्रुओं के विरुद्ध आम जिहाद बोल दें। न्यायालय देश के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करेंगे यदि वे ट्राट्स्कीवादियों (Trotskyites) और बुखारनवादियों (Bucharinites) आदि सभी देशद्रोहियों को सदैव के लिए नष्ट कर दें।" सोवियत संघ में यदि कोई व्यक्ति साम्यवादी दल की अधिकृत नीति के विरुद्ध मत व्यक्त करे तो उसकी जान खतरे में पड़ सकती है अथवा यदि कोई व्यक्ति सार्वजनिक शत्रु की निन्दा न करे अथवा यदि वह सोवियत संघ छोड़कर जाना चाहे तो उसकी जान को खतरा हो सकता है। यहाँ तक कि उन सिद्धान्तवादियो को भी, जो क्रान्ति की वैधानिकता के सिद्धान्त पर मतभेद रखते थे, स... जनिक शत्रु, विनाशक और ट्राट्स्की-भक्तों की संज्ञा दी गई। सोवियत संघ में

द्वारा प्रत्यक्ष गुप्त छन्दक अथवा मत पत्रक (By Direct Secret Ballot) द्वारा होता है। किन्तु लोक न्यायालय के न्यायाधीश अथवा अभिनिर्धारक (Assessor) को अपने पद से प्रत्यावर्त्तित (Recall) कराया जा सकता है। जब न्यायालय कार्य कर रहा हो तो अभिनिर्धारकों (Assessors) को पूरी न्यायिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, और उन्हें वही वेतन प्राप्त होता है जो न्यायाधीशों को मिलता है।

लोक न्यायालय पूरी तरह से प्राथमिक सुनवाई के न्यायालय हैं और दीवानी व फ़ौजदारी दोनों प्रकार के मामलों का निपटारा करते हैं और वे प्रायः अधिकतर मामलों का निपटारा करते हैं। किन्तु इन न्यायालयों के समक्ष केवल छोटे विवाद ही आते हैं। बड़े अभियोगों के सम्बन्ध में प्राथमिक सुनवाई के लिए सर्वोच्च न्यायालय अथवा अन्य बड़े न्यायालयों की शरण ली जाती है।

प्रादेशिक न्यायालय (The Territorial Courts)—लोक न्यायालयों अथवा जिला न्यायालयों (People's Courts) के ऊपर प्रादेशिक (Territorial), प्रान्तीय (Regional), क्षेत्रीय (Area) तथा स्वायत्तशासी प्रान्तों (Autonomous Regions) और स्वायत्तशासी राष्ट्रीय क्षेत्रों के न्यायालय (Courts of the Autonomous National Areas) हैं। ये न्यायालय, लोक न्यायालयों के ऊपर अपीलीय न्यायालय होते हैं तथा अधिक गम्भीर अपराधों पर भी इनका क्षेत्राधिकार होता है। इन न्यायालयों को उन विवादों के सम्बन्ध में भी प्राथमिक सुनवाई का अधिकार है "जिनका सम्बन्ध क्रान्ति-विरोधी क्रिया-कलापों से हो, अथवा प्रशासन और राज्य सम्बन्धी अपराधों से हो जबकि ऐसे अपराध राज्य के लिए खतरा उत्पन्न करते हों, अथवा सामाजिक सम्पत्ति की लूट-खसोट से हो अथवा आर्थिक विनाश से हो।" व्यवहार विधि अथवा दीवानी विधि (Civil side) के सम्बन्ध में प्रादेशिक न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र में ऐसे विवाद आते हैं जिनमें एक पार्टी राज्य हो और दूसरी ओर समाजवादी सार्वजनिक संस्थाएँ हों, कारखाने हों अथवा अन्य संगठन हों। इन न्यायालयों के न्यायाधीशों का निर्वाचन अपने-अपने प्रदेश अथवा क्षेत्र की श्रमिक-वर्गीय सोवियतों के द्वारा पाँच वर्ष की पदावधि के लिए होता है और उन निर्वाचित न्यायाधीशों को उन्हीं निर्वाचकमण्डलों द्वारा प्रत्यावर्त्तित (Recall) भी किया जा सकता है।

स्वायत्तशासी गणराज्यों और अखिल संघ के सर्वोच्च न्यायालय

(The Supreme Courts of Autonomous Republics and of Union)

गणराज्य (Republics)—प्रादेशिक न्यायालयों के ऊपर स्वायत्तशासी गणराज्यों के सर्वोच्च न्यायालय हैं। उनके मौलिक अधिकार-क्षेत्र में व्यवहार विधि (Civil) और दण्ड विधि (Criminal) से सम्बन्धित प्राथमिक सुनवाई के मामले भी आते हैं और वे अपने निम्न न्यायालयों के विरुद्ध अपीलें भी सुनते हैं।

प्रत्येक अवयवी एकक गणराज्य में सर्वोच्च न्यायिक सत्ता सर्वोच्च न्यायालय

होता है। सर्वोच्च न्यायालय अवयवी एकक गणराज्य की प्रादेशिक सीमाओं में स्थित समस्त न्यायालयों के कार्य का निरीक्षण करता है। अपील किए जाने पर गणराज्यीय सर्वोच्च न्यायालय अपने से एक दर्जा न्यून न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों और आदेशों का पुनरीक्षण और निरीक्षण करता है। इन न्यायालयों को ऐसे मामलों में भी मौलिक अधिकार-क्षेत्र प्राप्त हैं जो अत्यन्त भयंकर हों। ये न्यायालय ऐसे अभियोग भी सुन सकते हैं जिनमे गणराज्य के उच्च अधिकारी अभियुक्त हों। सोवियत रूस का प्रेजीडियम, प्रोक्यूरेटर (Procurator), गृह मामलों का मन्त्रालय, और सम्पूर्ण न्यायालय दूसरे मुकदमे भी सीधे ही गणराज्य के सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख रख सकते हैं।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court of the U. S. S. R.)—सोवियत रूस के न्यायिक सगठन में संघीय सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court of the Union) का स्थान शीर्ष स्थानीय है। इसमें एक अध्यक्ष (Chairman), एक उपाध्यक्ष (Vice Chairman), अनेक न्यायाधीश (आजकल ६८ न्यायाधीश) तथा २५ सहायक न्यायाधीश अथवा लोक अभिनिर्धारक (People's Assessor) हैं। इन सबका निर्वाचन सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) के द्वारा पाँच वर्षों के लिए होता है। अखिल संघीय सर्वोच्च न्यायालय निम्न पाँच विभागों (Collegiums or Divisions) में कार्य करता है अर्थात् फौजदारी अथवा दण्ड विधि विभाग, दीवानी अथवा व्यवहार विभाग; सैनिक विभाग; रेलवे यातायात विभाग और जल-यातायात विभाग। सर्वोच्च न्यायालय का अध्यक्ष, किसी भी मामले की सुनवाई के समय सर्वोच्च न्यायालय की कार्यवाही का सभापतित्व कर सकता है। उसको यह भी अधिकार है कि सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) के किसी भी न्यायालय में से किसी भी अभियोग को निकाल ले और फिर उसी को अपनी विरोध-रिपोर्ट सहित सर्वोच्च न्यायालय के पूर्ण अधिवेशन मे विचारार्थ प्रस्तुत करे।

सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) के सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र मुख्यतः पुनरावेदनमूलक और पुनरीक्षणमूलक है किन्तु अखिल संघीय महत्त्व के दीवानी और फौजदारी के मौलिक अभियोग भी इसके समक्ष आते हैं। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय अन्तिम होते हैं और उन निर्णयों का वही महत्त्व है जो देश की विधि का। यह निम्न न्यायालयों को न्याय प्रशासन के सम्बन्ध मे आवश्यक आदेश भी देता रहता है। साथ ही सर्वोच्च न्यायालय विधि और विधेयकों का निर्वाचन करता रहता है और विधान की व्याख्याएँ प्रस्तुत करता रहता है किन्तु इसको यह अधिकार प्राप्त नही है कि किसी विधि अथवा आदेश या आज्ञप्ति को असांविधानिक घोषित कर सके।

विशेष न्यायालय (Special Courts)—सैनिक न्यायाधिकरण (Military Tribunals), रेलवे न्यायाधिकरण (Line Courts for the Railway); जल-यातायात न्यायाधिकरण, इन तीनो का सम्बन्ध सोवियत सेना और नौसेना, तथा

सोवियत रेलवे तथा सोवियत जल यातायात-सम्बन्धी सेवाओं से है। ये विशेष न्यायालय सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) के सर्वोच्च न्यायालय के अधीन होते हैं और इन विशेष न्यायालयों की अपीलें सर्वोच्च न्यायालय में ही जाती हैं। सोवियत संघ में विशेष सैनिक न्यायाधिकरणों की इसलिए आवश्यकता समझी जाती है कि सोवियत संघ की सैनिक शक्ति बढ़े और सेनाओं में अनुशासन ठीक रहे। रेलवे-यातायात न्यायाधिकरणों और जल-यातायात न्यायाधिकरणों की आवश्यकता भी इसलिए पड़ती है कि उक्त देश की स्थिति ही कुछ ऐसी है। द्वितीय विश्व-युद्ध मे रेलवे-यातायात न्यायाधिकरणों को सनिक न्यायाधिकरणो मे परिवर्त्तित कर दिया गया था। इन विशेष न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र अपराध की प्रकृति और अपराधी की स्थिति पर भी निर्भर करता है। इस प्रकार सैनिक न्यायाधिकरणों के सम्मुख असैनिक लोगों के मामले भी आ सकते है। इन विशेष न्यायालयों (Special Courts) के न्यायाधीशों को सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) पाँच वर्ष के लिए निर्वाचित करती है।

प्रोक्यूरेटर-जनरल
(The Procurator General)

प्रोक्यूरेटर-जनरल का पद (The Office of the Procurator General)—प्रोक्यूरेटर-जनरल को अन्य देशों के महान्यायवादी अथवा अटोर्नी-जनरल (Attorney-General) के तुल्य समझा जा सकता है। किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) मे प्रोक्यूरेटर-जनरल का पद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण पद है। प्रोक्यूरेटर-जनरल का पद सविधान ने सज्जित किया है इसलिए उसके अधिकार और उसकी शक्तियाँ इतनी व्यापक हैं और उसका गुप्तचर संगठन इतना सर्वव्यापी है कि वह राज्यीय शक्ति का एक आवश्यक एवं मौलिक अग बन गया है। सोवियत संविधान के अनुच्छेद ११३ ने स्वयं प्रोक्यूरेटर-जनरल के पद की आवश्यकताओं और महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है, "सोवियत संघ (U. S. S. R.) के प्रोक्यूरेटर-जनरल के अधिकार में सर्वोच्च पर्यवेक्षण और निरीक्षण अधिकार होगा जिससे वह लगातार पता रखेगा कि सरकारी विभागों, संस्थाओं तथा अधीनस्थ पदाधिकारियो एवं नागरिकों द्वारा कानूनों का ठीक-ठीक पालन किया जाता है या नहीं। इसका अर्थ है कि प्रोक्यूरेटर-जनरल के पद की स्थापना का उद्देश्य ही यह है कि वह सर्वोच्च पर्यवेक्षक एवं निरीक्षक शक्तियों से सज्जित हो और निरन्तर देखता रहे कि सोवियत विधि का पालन सभी शासकीय विभाग और मन्त्रालय तथा सभी अधीनस्थ सस्थाएँ एवं पदाधिकारी तथा सभी सोवियत संघ के नागरिक उचित रूप से कर रहे है अथवा नहीं।"

सोवियत प्रोक्यूरेटर-जनरल का मुख्य निरीक्षण सम्बन्धी कर्तव्य यह देखना है कि सोवियत विधि का पालन कहा तक ठीक-ठीक ढंग से हो रहा है। इसके लिए उसको सम्भवतः सभी संस्थाओं में अपने स्वयसेवक चर (Groups of Aid) रखने

पड़ते हैं। वह उन स्वयंसेवक चरों को आवश्यक मन्त्रणाएँ देता रहता है और उनसे निरन्तर सम्पर्क बनाए रखता है। कहा जाता है कि प्रोक्यूरेटर-जनरल अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन बिना इस प्रकार के संगठन की क्रियाशील सहायता के कर ही नहीं सकता। प्रत्येक स्वयंसेवक-चर-मण्डल का एक नेता होता है और उस नेता की अध्यक्षता में वे प्रायः सम्मिलित होते हैं और उसी के निर्देशन में वे प्रायः कार्य करते हैं। इन स्वयंसेवक-चर-मण्डलों का काम यह है कि वे अनियमित कार्यवाही की सूचना प्रोक्यूरेटर-जनरल के कार्यालय को देते रहें और वहाँ से नियमित खोज-पड़ताल प्रारम्भ हो जाती है।

प्रोक्यूरेटर-जनरल के कर्त्तव्य (Functions of the Procurator General)—प्रोक्यूरेटर-जनरल और उसके कार्यालय के कार्य का न्यायालयों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। उसको समस्त सार्वजनिक सम्पत्ति का संरक्षक माना जाता है, इसलिए जहाँ कहीं चोरी, विनाश अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति का अपहरण आदि ऐसे अपराधों का सन्देह होता है जिन्हें सोवियत विरोधी अपराध समझा जाता है वहीं पहुँच कर प्रोक्यूरेटर-जनरल खोज-पड़ताल करता है। प्रोक्यूरेटर-जनरल ही नागरिकों के व्यक्तिगत अधिकारों का संरक्षक है और वही नागरिकों की व्यक्तिगत अबाध्यता का संरक्षण करता है। संविधान का आदेश है कि जब तक प्रोक्यूरेटर-जनरल का आदेश न हो अथवा जब तक किसी न्यायालय ने ऐसा निर्णय न दिया हो, तब तक किसी व्यक्ति को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। प्रोक्यूरेटर (Procurator) का यह अधिकार भी है और कर्त्तव्य भी कि शासकीय विभागों और उनके अधिकारियों की अनियमित एवं अवैधिक कार्यवाहियों और निर्णयों के विरुद्ध अपील करे। प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह किसी अन्याय के विरुद्ध प्रोक्यूरेटर (Procurator) से शिकायत कर सकता है।

प्रोक्यूरेटर-जनरल ही फ़ौजदारी के मामलों की जाँच-पड़ताल कराता है, उन स्थितियों की जाँच-पड़ताल कराता है जिनमें उक्त मामलों की खोज-पड़ताल की गई थी, मौखिक और लिखित गवाहियाँ एकत्रित करता है और उसके बाद यदि आवश्यक होता है तो दोषी व्यक्ति अथवा दोषी व्यक्तियों के विरुद्ध तथा उनके साथी अपराधियों के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करता है। यह देखना भी उसका कर्त्तव्य है कि अन्य खोज-पड़ताल करने वाली समितियाँ अपने वैधिक अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण तो नहीं करतीं। जिस समय कोई फौजदारी का मामला न्यायालय के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत होता है, उस समय प्रोक्यूरेटर ही न्यायालय के समक्ष सोवियत राज्य की ओर से अभियोजन अथवा प्राभियोजन (Prosecution) का कार्य करता है। मुकद्दमे की सुनवाई के समाप्त होने पर न्यायालय अपना निर्णय प्रोक्यूरेटर को दे देता है और उस समय प्रोक्यूरेटर-जनरल देखता है कि निर्णय उचित हुआ अथवा नहीं। यदि प्रोक्यूरेटर जनरल समझता है कि निर्णय गलत हुआ है तो वह उक्त निर्णय के विरुद्ध अपील दायर करता है, अन्यथा उक्त निर्णय की क्रियान्विति करता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रोक्यूरेटर-जनरल का कार्यालय समाजवादी न्याय्यता (Socialist legality) का प्रहरी है। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) के न्यायालयों की तरह, प्रोक्यूरेटर-जनरल भी सोवियत न्याय्यता को दृढ़ करता है और सोवियत समाजवादी विधि और आन्तरिक शान्ति को स्थायित्व प्रदान करता है। सोवियत संघ के प्रोक्यूरेटर-जनरल की शक्तियाँ, विशेषकर उसकी निरीक्षण और पर्यवेक्षण सम्बन्धी शक्तियाँ जिनके द्वारा वह सभी मन्त्रालयों और उनके अधीनस्थ संस्थाओं एवं सोवियत संघ (U. S S. R.) के समस्त अधिकारियों और नागरिकों से विधि का कठोरतापूर्वक पालन कराता है, सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों की अपेक्षा महान् हैं। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S R.) का सर्वोच्च न्यायालय, निम्न न्यायालयों के केवल न्यायिक क्रिया-कलापों का ही निरीक्षण करता है।

प्रोक्यूरेटर-जनरल की नियुक्ति विधि और उसके कार्यालय का संगठन (Mode of Appointment and Organisation of the Office)—प्रोक्यूरेटर-जनरल (Procurator-General) प्रोक्यूरेटर विभाग का अध्यक्ष होता है और उसकी शक्तियाँ असीम और अत्यन्त व्यापक होती हैं। संविधान ने प्रोक्यूरेटर-जनरल को उन विभागों से स्वतन्त्र माना है जिनका निरीक्षण और पर्यवेक्षण यह करता है। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) की सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) द्वारा प्रोक्यूरेटर-जनरल की नियुक्ति सात वर्ष के लिए की जाती है; और प्रोक्यूरेटर-जनरल केवल सर्वोच्च सोवियत के प्रति उत्तरदायी है। यहाँ तक कि सर्वोच्च मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) का भी प्रोक्यूरेटर-जनरल के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं है। किन्तु प्रोक्यूरेटर-जनरल की स्वतन्त्रता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह साम्यवादी दल अथवा उसकी राजनीतिक ब्यूरो से भी स्वतन्त्र हो।

चूँकि प्रोक्यूरेटर-जनरल का अधिकार-क्षेत्र समस्त सोवियत संघ के ऊपर व्याप्त है, इसलिए यह आवश्यक है कि उसके सहायक अधिकारी सारे देश में नियुक्त किए जाएँ ताकि सब कहीं विधि का पालन हो और विधि की एकरूप क्रियान्विति हो। इसलिए वह सभी अवयवी एकक गणराज्यों में और अन्य उपगणराज्यों और क्षेत्रों और प्रदेशों में पाँच-पाँच वर्षों की अवधि के लिए प्रोक्यूरेटरों की नियुक्ति करता है। इसके बाद अवयवी गणराज्यों के प्रोक्यूरेटर और प्रोक्यूरेटर-जनरल की सहमति से क्षेत्रीय प्रोक्यूरेटर, प्रादेशिक प्रोक्यूरेटर और नगर प्रोक्यूरेटर (Area, Regional and City Procurators) की नियुक्ति करते हैं। संघीय प्रोक्यूरेटर-जनरल (Procurator-General) ही प्रधान प्रोक्यूरेटरों (Chief Procurators) की नियुक्ति करता है जो सैनिक न्यायालयों, रेलवे यातायात न्यायालयों और जल यातायात न्यायालयों से सम्बन्धित होते हैं।

अध्याय ६

प्रादेशिक शासन

(Regional Government)

संघ के अवयवी एकक (Units of the Federation)—जैसा कि बताया भी जा चुका है, नवम्बर १९१७ में नवस्थापित क्रान्तिकारी सरकार का पहला उद्देश्य यह था कि रूस की विभिन्न प्रजातियों का एक संघीय राष्ट्र निर्मित किया जाए। सभी यह सोचते थे कि सोवियत संघ में अनेक परस्पर-विरुद्ध राष्ट्रीयताओं के रहते हुए सुदृढ सोवियत राज्य की कामना व्यर्थ होगी। इसलिए, इस उद्देश्य से कि इन समस्त राष्ट्रीयताओं की राजनीतिक आकांक्षाएँ पूर्ण हो जाएँ; साथ ही विरोधी और विभिन्न जातियों के लोगों मे विचार-साम्य और राष्ट्रीय चेतना का संचार हो जाए; लेनिन (Lenin) और उसकी बोल्शेविक पार्टी ने निश्चय किया कि एक ऐसे संघीय सोवियत राज्य की स्थापना की जाय जिसमे अवयवी एककों को अधिक-से-अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाए। सम्भवतः, रूस देश की विभिन्न जातियों और राष्ट्रीयताओं को इसलिए रियायत या छूट दी गई थी कि वे नई आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार कर लें। फलतः, चार तरह के राष्ट्रीय एकक राज्य निर्मित किए गए। वे थे—संघीय एकक गणराज्य; स्वायत्तशासी गणराज्य; स्वायत्तशासी जनपद अथवा प्रदेश; और राष्ट्रीय क्षेत्र। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R) मे विभिन्न प्रकार के राज्यत्व के द्वारा यह स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक जातीयता के विभिन्न हित है और इस प्रकार हरेक को पूरी-पूरी छूट दी गई है कि उसे अपने-अपने क्षेत्र में आर्थिक और सांस्कृतिक विकास का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त हो। किन्तु सोवियत संघ मे योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था है और एक विशेष क्रम-बद्ध जीवन है इसलिए ऐसी स्थितियो में विभिन्न जातीयताओ को कहाँ तक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास करने का अवसर प्राप्त हो सकेगा, यह बात समय के गर्भ मे छिपी रहेगी। फिर भी विभिन्न अवयवी एककों के विभिन्न स्वरूप स्पष्टतः सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ, (U. S. S. R.) में विभिन्न जातीयताओं वाले राज्यों के अवयव हैं।

सोवियत समाजवादी गणराज्य (Soviet Socialist Republic)—आजकल सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) में पन्द्रह अवयवी एकक गणराज्य हैं। प्रत्येक गणराज्य सघ, चाहे उसमें कितने भी लोग बसते हों, चाहे उसका क्षेत्रफल कितना भी हो, और चाहे उसके आर्थिक संसाधन कितने भी हों, अापस में अधिकारो की दृष्टि से बराबर हैं। प्रत्येक संघीय गणराज्य की अपनी सत्ता है और जहाँ तक संविधान की मात्रा का सम्बन्ध है, प्रत्येक संघीय गणराज्य 'प्रभु सत्ता' (Sovereignty) का उपभोग करता है। अपने-अपने प्रशासन के अधिकार-क्षेत्र में

प्रेजीडियम (The Presidium)—गणराज्यीय सर्वोच्च सोवियत के अधि-
वेशनों के विराम-कालों में उसका कार्य संघीय गणराज्य की प्रेजीडियम चलाती है।
प्रेजीडियम (Presidium) में ११ से लेकर १७ तक सदस्य होते हैं और वे चार
वर्षों के लिए निर्वाचित किए जाते हैं। प्रेजीडियम की शक्तियाँ और उसके अधि-
कारों का निरूपण संघीय गणराज्य (Union Republic) का संविधान ही कर
सकता है।

मन्त्रि-परिषद् (The Council of Ministers)—संघीय गणराज्य
(Union Republic) की मन्त्रि परिषद् की नियुक्ति उक्त गणराज्य की सर्वोच्च
सोवियत द्वारा होती है और मन्त्रि-परिषद् ही गणराज्य में राज्य शक्ति का सर्वोच्च
कार्यकारी और प्रशासनिक अंग है। गणराज्यीय मन्त्रि-परिषद्, गणराज्य की सर्वोच्च
सोवियत के प्रति उत्तरदायी है अथवा उक्त सर्वोच्च सोवियत के अधिवेशनों के
विराम कालों में संघीय गणराज्य (Union Republic) की प्रेजीडियम (Presi-
dium) के प्रति उत्तरदायी है। यह आवश्यक है कि गणराज्यीय मन्त्रि-परिषद् के
निर्णय और उसकी आज्ञाएँ सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.)
तथा संघीय गणराज्य (Union Republic) की विधियों के विरुद्ध न हों। संविधान
का अनुच्छेद ८१ आदेश देता है कि किसी संघीय गणराज्य (Union Republic)
की मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के लिए आवश्यक होगा कि वह
सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) की मन्त्रि-परिषद् की आज्ञाओं
और निर्णयों को क्रियान्वित करे। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U.S.S R.)
की मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) को अधिकार है कि वह इस बात का
निरीक्षण करे कि अवयवी गणराज्यों की मन्त्रि-परिषदें अखिल संघीय मन्त्रि-परिषदीय
आज्ञाओं को ठीक क्रियान्वित कर रही हैं या नहीं।

उसी प्रकार संघीय गणराज्य की मन्त्रि-परिषदों को यह अधिकार है कि वे
स्वायत्तशासी गणराज्यों के निर्णयों को चाहें तो निलम्बित कर दें। इसको यह भी
अधिकार है कि यह अपने अधीनस्थ प्रदेशों, क्षेत्रों और स्वायत्तशासी क्षेत्रों के सर्व-
हारा-वर्ग की सोवियत की अधिशासी समिति (Executive Committee of the
Soviet of the Working People Deputies) के निर्णयों को अस्वीकृत और
निषिद्ध कर सकती है।

संघीय गणराज्यों के मन्त्रालयों को निम्न विभागों में संगठित किया गया है।
संघीय गणराज्यीय मन्त्रालय (Union Republican Ministries) और गण-
राज्यीय मन्त्रालय (Republican Ministries) राज्य के सामान्य प्रशासन
का संचालन करता है और यह मन्त्रालय सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ
(U. S. S. R.) की मन्त्रि-परिषद् और उसके प्रतिस्वरूप संघीय गणराज्य के
मन्त्रालय (Union Republican Ministry) के भी अधीन रहता है। उसी प्रकार
गणराज्यीय मन्त्रालय राज्य के उस प्रशासन का संचालन करता है जो उसको सौंपा
जाता है और यह सीधे संघीय गणराज्य (Union Republic) की मन्त्रि-परिषद्
के अधीन होता है।

स्वायत्तशासी गणराज्य (Autonomous Republic)—१९३६ के स्टालिन के संविधान ने प्रत्येक राष्ट्रीयता को पूर्ण आश्वासन दिया है कि सभी को विकास और उन्नति के पूर्ण अवसर प्रदान किए जाएँगे। इसी आश्वासन की क्रियान्विति की दिशा में संविधान ने छोटे-छोटे प्रशासनिक एकक स्थापित किए है और ऐसे सभी प्रदेश और क्षेत्र सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के पूर्ण प्रभुसत्ता-युक्त मौलिक अवयवी एकक है। स्वायत्तशासी गणराज्य प्रथम अवयवी एकक है। ऐसा हो सकता है कि किसी संघीय गणराज्य (Union Republic) की सीमाओं में कुछ स्थानों पर ऐसी राष्ट्रीयताएँ निवास करती हों जो उक्त संघीय गणराज्य की बहुमत जनसख्या मे विभिन्न जाति की हों और उनमें अपने अलग-अलग राष्ट्रीय लक्षण हों। यदि ऐसी राष्ट्रीयताएँ जिनकी गणराज्य मे अलग स्थिति को स्वीकार करते हुए उन्हे एक मन्त्रालय प्रदान कर दिया गया है; और यदि वे स्वयं चाहे कि अपना अलग स्वायत्त शासन स्थापित करें तो उनको अपना स्वायत्तशासी गणराज्य स्थापित करने की आज्ञा प्रदान कर दी जाती है। प्रत्येक नये स्वायत्तशासी गणराज्य का नाम उस राष्ट्रीयता के नाम से सम्बद्ध रहता है जिसने उक्त स्वायत्तशासी गणराज्य की नीव डाली थी। उदाहरणस्वरूप रूस के सोवियत सघात्मक समाजवादी गणराज्य में बारह स्वायत्तशासी गणराज्य है और जार्जियन सोवियत समाजवादी गणराज्य (Georgian Republic) में दो स्वायत्तशासी गणराज्य है। उज़्बेक सोवियत समाजवादी गणराज्य (The Uzbek Republic) में और अजरबिजान सोवियत समाजवादी गणराज्य (Azerbaijan Union Republic) मे केवल एक-एक स्वायत्तशासी गणराज्य सम्मिलित है।

यद्यपि प्रत्येक स्वायत्तशासी गणराज्य (Autonomous Republic) संघीय गणराज्य का अवयवी अंग है फिर भी वह अपनी प्रादेशिक सीमाओं मे स्वतन्त्रता और प्रभुता का उपभोग करता है। इसका यह अर्थ है कि स्वायत्तशासी गणराज्य अपने आन्तरिक मामलो मे स्वतन्त्र शासन का उपभोग करते हैं। राज्य की समस्त प्रशासनिक कार्यवाही स्वायत्तशासी गणराज्य की अधिकृत भाषा मे ही होती है। प्रत्येक स्वायत्तशासी गणराज्य (Autonomous Republic) अपना अलग सविधान तैयार करता है किन्तु उस संविधान का उस संघीय गणराज्य (Union Republic) की सर्वोच्च सोवियत द्वारा स्वीकार किया जाना आवश्यक है, जिसके प्रादेशिक अधिकार में उक्त स्वायत्तशासी गणराज्य अवस्थित है। साथ ही स्वायत्तशासी गणराज्य का संविधान सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) के सविधान के विरुद्ध नही होना चाहिए और न संघीय गणराज्य (Union Republic) के संविधान के विरुद्ध ही होना चाहिए। स्वायत्तशासी गणराज्य (Autonomous Republic) का झण्डा वही रहता है जो संघीय गणराज्य का होता है; उसमें केवल स्वायत्तशासी गणराज्य का नाम और बढ़ा दिया जाता है।

स्वायत्तशासी गणराज्य अपने अधिकार-क्षेत्र मे अपनी विधियाँ प्रवर्तित कर सकता है। किन्तु साथ ही सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) संघीय गणराज्य (Union Republic) दोनों की विधियाँ भी स्वायत्तशासी

में प्रभावी रहती हैं। प्रत्येक स्वायत्तशासी गणराज्य के अपने नागरिकता सम्बन्धी नियम है। किन्तु प्रत्येक नागरिक स्वायत्तशासी गणराज्य का नागरिक होने के साथ-साथ अपने संघीय गणराज्य (Union Republic) का भी नागरिक है और सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) का भी नागरिक है। इसका अर्थ है कि सोवियत सघ (U. S. S. R.) के निवासियों की तिहरी नागरिकता है।

स्वायत्तशासी गणराज्य में प्रशासन का वही ढग है जो संघीय गणराज्य (Union Republic) में पाया जाता है। राज्य की सर्वोच्च शक्ति उक्त स्वायत्तशासी गणराज्य (Autonomous Republic) की सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) मे निवास करती है। सर्वोच्च सोवियत चार वर्षों के लिए निर्वाचित की जाती है, और यही प्रेजीडियम का निर्वाचन करती है और मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) की नियुक्ति करती है। स्वायत्तशासी गणराज्य की मन्त्रि-परिषद् के निर्णय और आदेश सघीय गणराज्य की मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers of its Union Republic) द्वारा निलम्बित किये जा सकते हैं।

स्वायत्तशासी प्रदेश अथवा जनपद (Autonomous Region)—किसी सघीय गणराज्य के कुछ ऐसे भाग हो सकते हैं जिनमें कुछ हजार के लगभग थोड़े से ही लोग निवास करते हों और जो स्वशासन के इच्छुक हो और इस प्रकार अपना स्पष्ट अस्तित्व चाहते हों। इस प्रकार के स्वेच्छा द्वारा निर्मित सघ को स्वायत्तशासी प्रदेश अथवा जनपद कह सकते है और ऐसे जनपद के साथ उस जाति का नाम जुड़ा हुआ रहता है जिसने ऐसे जनपद का निर्माण किया है।

इस प्रकार के स्वायत्तशासी जनपद की सम्पूर्ण राज्य शक्ति सर्वहारावर्ग के प्रतिनिधियो द्वारा निर्मित सोवियत (Soviet of the Working People Deputies) में निवास करती है। सर्वहारा-वर्ग के प्रतिनिधियों की सोवियत को अपने जनपदीय अधिकार-क्षेत्र में स्वशासन का पूरा साविधानिक अधिकार है। इसके मुख्य कर्त्तव्य सार्वजनिक शान्ति और आन्तरिक सुरक्षा, विधियों का उचित पालन, नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा और जनपदीय अथवा स्थानीय आर्थिक और सांस्कृतिक विकास का संचालन हैं। सर्वहारावर्ग के प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित सोवियत (Soviet of the Working People's Deputies) को यह भी अधिकार है कि वह ऐसी आज्ञप्तियां और आदेश निकाल सके जिनको सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) और संघीय गणराज्य (Union Republic) की विधियों ने स्वीकार किया है और जिन आदेशों के निकालने की आज्ञा दी है।

सर्वहारा-वर्ग के प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित सोवियत (The Soviet of the Working People's Deputies) स्वयं अपनी कार्यकारी समिति (Executive Committee) चुनती है जिसमे अध्यक्ष (Chairman), उपाध्यक्ष (Vice-Chairman), सेक्रेटरी और सदस्य होते हैं। यह कार्यकारी समिति जनपदीय सोवियत (Regional Soviet) के प्रति उत्तरदायी होती है। इन जनपदीय सोवियत और इसकी कार्यकारी समिति की शक्तियां और अधिकारों का निर्णय संघीय गणराज्य

(Union Republic) की सर्वोच्च सोवियत की विशेष आज्ञा के द्वारा होता है। संघीय गणराज्य की मन्त्रि-परिषद् को अधिकार है कि वह जनपदीय कार्यकारी समिति के निर्णयों और आज्ञाओं को निलम्बित कर सकती है।

राष्ट्रीय क्षेत्र (National Area)—स्वायत्तशासी जनपद (Autonomous Region) का अल्प भाग, राष्ट्रीय क्षेत्र (National Area) का निर्माण करता है और वह कुछ थोड़े से सोवियत लोगों की स्वेच्छा से बनता है। जो राष्ट्रीयता राष्ट्रीय क्षेत्र का निर्माण करती है वह अपने क्षेत्र के आन्तरिक मामलो मे स्वतन्त्र एव स्वशासन के अधिकार का उपभोग करती है।

प्रत्येक राष्ट्रीय क्षेत्र (National Area) की एक क्षेत्रीय सोवियत होती है जो उस क्षेत्र के सर्वहारा-वर्ग के प्रतिनिधियों के योग से निर्मित होती है और एक कार्यकारी समिति (Executive Committee) होती है। शासन के इन दोनों अंगो की शक्तियों का निर्णय एक अध्यादेश (Ordinance) द्वारा निश्चित होता है और वह अध्यादेश द्वारा किया गया निर्णय उस संघीय गणराज्य (Union Republic) की सर्वोच्च सोवियत की स्वीकृति का विषय है, जिसका उक्त राष्ट्रीय क्षेत्र अवयवी भाग है। क्षेत्रीय कार्यकारी समिति (Area Executive Committee) के आदेशों और निर्णयों को संघीय गणराज्य (Union Republic) की मन्त्रि-परिषद् रद्द कर सकती है।

अध्याय ७

साम्यवादी दल
(The Communist Party)

प्रेरक एव नियन्त्रक बल (Leading and Directing Force)—साम्यवादी दल नये रूस का प्रेरक बल है। यह तथ्य राजनीतिक रूप से भी और वैधानिक रूप से भी सत्य है कि साम्यवादी दल की स्थिति समस्त सोवियत जीवन मे केन्द्रीय है और सर्वाधिकार पूर्ण है। स्टालिन (Stalin) ने कहा था, "हमारे सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ (Soviet Union) मे सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद है और हमारे देश मे कोई भी राजनीतिक अथवा संगठन सम्बन्धी प्रश्न सोवियत अथवा अन्य प्रशासनिक अवयव उस समय तक निर्णय नहीं करते जब तक कि साम्यवादी दल का तदर्थ आदेश प्राप्त न हो जाए; इसलिए मानना पड़ेगा कि हमारी शासन-व्यवस्था मे साम्यवादी दल एक प्रेरक बल है।" सोवियत संविधान केवल एक ही राजनीतिक दल को मान्यता देता है और वह है साम्यवादी दल। स्टालिन के संविधान का अनुच्छेद १२६ आदेश देता है कि कर्मकार वर्ग के श्रमिक वर्ग और राजनीतिक चेतनायुक्त नागरिकों ने सगठित होकर सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ (Soviet Union) की बोल्शेविक पार्टी अथवा साम्यवादी दल की स्थापना की है और यह श्रमिक जनता के सब प्रकार के संगठनो का, उसकी समाजवादी पद्धति की शक्ति बढ़ाने और विकसित करने की लड़ाई में सार्वजनिक क्षेत्र मे और राज्य के क्षेत्र में भी अगुआ है। सोवियत सविधान के अनुच्छेद १४१ मे केवल साम्यवादी दल ही ऐसा दल माना गया है जो सोवियत निर्वाचनो में भाग ले सकता है। सविधान के इन आदेशों ने साम्यवादी दल को सोवियत शासन में अधिकारपूर्ण स्थिति प्रदान की है और अन्य सभी सगठनो का तो इसको अगुआ और नेता मान लिया गया है।

सोवियत रूस के साम्यवादी दल के सम्बन्ध मे लिखते हुए एन्ड्रे विशिंस्की (Andrei Vyshinsky) ने कहा है, "सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकवाद की स्थापना की दृष्टि से सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ को साम्यवादी दल की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में नियन्त्रक स्थिति ही राजनीतिक आधार प्रदान करती है।" साम्यवादी दल का सोवियत व्यवस्था पर कितना नेतृत्व और प्रभाव है, इसको दल के आज्ञापत्र (Charter) की प्रस्तावना मे समझा जा सकता है जिसको १८वी कांग्रेस ने संशोधित किया और २० मार्च, १९१९ को स्वीकृत किया। प्रस्तावना इस प्रकार है, "सोवियत सघ (Soviet Union or Bolsheviks) का साम्यवादी दल, संसार-व्यापी साम्यवादी आन्दोलन सगठन (Communist International) का भाग होने के नाते अखिल सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ (U. S. S. R.) का सगठित

सेनामुख अथवा मोर्चा (Organized vanguard) है और यह सबसे श्रेष्ठ वर्ग-संगठन है। अपने क्रियाकलापों में साम्यवादी दल मार्क्सवाद और लेनिनवाद के सिद्धान्तों का अनुसरण करता है। सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकवाद को सुदृढ़ बनाने के लिए, समाजवादी व्यवस्था को सुदृढ़ और विकासोन्मुख बनाने के लिए और साम्यवाद को विजयी करने के लिए साम्यवादी दल समस्त श्रमिक वर्ग, कृषक वर्ग, बौद्धिक वर्ग तथा सम्पूर्ण सोवियत समाज का नेतृत्व करता है। साम्यवादी दल सार्वजनिक क्षेत्र मे और राज्यीय क्षेत्र मे सर्वहारा-वर्ग के समस्त संगठनो का नियन्त्रक केन्द्रीय संगठन है और इसी से आशा की जाती है कि साम्यवादी समाज की सफलतापूर्वक स्थापना करेगा।" सोवियत रूस में साम्यवादी दल के इतने सर्वव्यापी अधिकार और कार्य-कलाप हैं कि कभी-कभी सोवियत शासन और साम्यवादी दल मे भेद करना कठिन हो जाता है।

एकाधिकारपूर्ण कठोर दल और प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद (The Monolithic Party and Democratic Centralism)—साम्यवादी दल समस्त सोवियत सघ में *एकमात्र एक-रूप और पूर्ण केन्द्रीकृत संगठन है जो अत्यन्त कठोर एवं एकाधिकार-पूर्ण* भी है। समस्त दल में केवल एक इच्छा और एक सचालन (One will and one direction) के द्वारा सारा कार्य चलता है। दल चाहता है कि उसके सभी सदस्य सदैव एकमत हों और सब कठोरतम अनुशासन के अधीन कार्य करे और दल यह भी चाहता है कि उसके सभी निर्णय नियमित ढंग से ठीक-ठीक समय पर बिना किसी हिचकिचाहट के क्रियान्वित किये जाएँ। दल में किसी प्रकार की गुटबन्दी सहन नहीं की जाती; और ऐसे सदस्य शीघ्र निकाल दिये जाते है जिनकी ओर से ऐसा सन्देह किया जाता है कि वे सर्वहारावर्गीय अनुशासन का पालन ठीक से नही कर रहे हैं। इसलिए साम्यवादी दल मार्क्स एवं लेनिन (Marxist-Leninist) के सिद्धान्तो के समर्थक लोगों का सुदृढ़ एवं पूर्ण संगठन है। साम्यवादी दल के १६३४ और १६३६ के नियमों को देखने से पता लगता है कि वे दल की संयुक्तता, 'समान इच्छा और समान कार्रवाई' प्रदर्शित करते हैं।

किन्तु साथ ही साम्यवादी दल को इस बात पर अभिमान है कि दल 'प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद' का उदाहरण है। इस सिद्धान्त के विकास के सम्बन्ध मे बड़ा उग्र मतभेद रहा। साम्यवादी दल के कुछ सदस्य चाहते थे कि केन्द्रीय दल स्थानीय दलीय सगठनों को अधिकतम स्वायत्तता प्रदान करें और सिवाय उनसे साधारण विकास और उन्नति सम्बन्धी रिपोर्ट मांगने के, उनके नैतिक कार्यों मे उसे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस विचार के विरुद्ध १६०३ में लेनिन (Lenin) ने यह विचार व्यक्त किया कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता और स्वायत्तता दे देने से दल के हित स्थानीय मात्र रह जाएँगे। इसलिए उसने दृढ़ता के साथ बल देकर कहा कि साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति को स्थानीय मामलों मे और यदि आवश्यकता पड़े तो स्थानीय हितों के विरुद्ध भी हस्तक्षेप करना चाहिए; यदि ऐसा करने से दल के उद्देश्य सफल होते हों अथवा यदि ऐसा हस्तक्षेप दल के हितों के लिए आवश्यक और लाभदायक जान पड़े।

लेनिन (Lenin) के विचार स्वीकार कर लिए गए और आजकल दल की केन्द्रीय प्रवृत्ति को स्पष्ट मान्यता दी जा रही है। आजकल प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद (Democratic Centralism) का यह अर्थ लिया जाता है कि दल के निम्न स्तर पर सार्वजनीन सदस्यता प्रदान की जाए और शीर्ष पर समस्त संचालन एक केन्द्रीय समिति को सौंप दिया जाए। मार्च, १९३९ में दल की १८वीं कांग्रेस ने दल का जो घोषणा-पत्र (Charter) स्वीकार किया वह इस प्रकार है :

(१) शीर्ष स्थान से नीचे तक दल के नेतृत्व सम्बन्धी निकायों का निर्वाचन;

(२) समय-समय पर दल के उपकरण अथवा निकाय अपने दलीय संगठनों को प्रतिवेदन प्रस्तुत करते रहें;

(३) दल में कठोर अनुशासन और अल्पमत का बहुमत की इच्छा के सामने पूर्ण आत्मसमर्पण;

(४) उच्चदलीय उपकरणों के निर्णयों की निम्न निकायों अथवा दलीय उपकरणों (Lower bodies) के ऊपर आवश्यक बाध्यता।

'प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद' (Democratic Centralism) का वास्तविक एवं अधिकृत सिद्धान्त यह है कि दलीय उपकरणों में वाद-विवाद की स्वतन्त्रता उस समय तक तो है जब तक कि नीति-सम्बन्धी निर्णय न हों; किन्तु एक बार जहाँ नीति निर्धारित हुई, उसके बाद सभी को पूर्ण रूप से उक्त नीति के अनुसार कार्य करना होगा। दलीय आज्ञापत्र अथवा चार्टर (Charter) में कहा गया है, "दलीय उपकरणों में अथवा समस्त दलीय संगठन में दल की नीति से सम्बन्धित प्रश्नों पर स्वतन्त्र विचार-विनिमय हो सकता है और यह प्रत्येक दलीय सदस्य का अटल अधिकार है और यह दल की प्रजातन्त्रीय भावना का तर्कपूर्ण फल है।" इसका यह अर्थ है कि नीति-सम्बन्धी निर्णय दल का शीर्ष करता है और समस्त दलीय शक्ति शीर्ष के पास केन्द्रित है। इसी को केन्द्रवाद कहते हैं। साम्यवादी दल की राजनीतिक ब्यूरो (The Politburo) ही समस्त दल की नीति का निर्माण करती है और इस प्रकार वहीं शासन की नीति का भी निर्माण करती है। किन्तु पोलिट ब्यूरो अथवा राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) में नीति-निर्देष्टा कौन है, यह बताना कठिन है। सम्भव है कि राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) में उन्मुक्त वाद-विवाद होता हो, और तब बहुमत की राय से नीति निर्मित होती हो; अथवा दल का अत्यन्त प्रभावशाली नेता ही नीति निर्मित करता हो। १९३६ से लेकर आगे उसकी मृत्युपर्यन्त सभी लोग स्टालिन (Stalin) की अथक प्रशंसा और चापलूसी करते रहते थे, चाहे कैसा भी अवसर हो और बातचीत का विषय कुछ भी हो। ज्हैन्डोव (Zhandov) की मृत्यु अगस्त १९४८ में हुई। उससे पूर्व उसको स्टालिन (Stalin) का सम्भावित उत्तराधिकारी समझा जाता था। एक बार उसने असाधारण अवस्था मे एक वक्तृता करते हुए, कह डाला, "हमारा स्टालिन महान् चिरजीवी हो! स्टालिन समस्त बोल्शेविक दल का, समस्त सोवियत सर्वहारा-वर्ग का, समस्त उन्नतिशील और प्रगतिशील मनुष्यमात्र का एक अपूर्व बुद्धि वाला, दिमाग और हृदय है।" ख्रुश्चेव (Khruschev) ने भी, जो

साम्यवादी दल की राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) का सदस्य था और जो उस समय प्रधान मन्त्री था, "स्टालिन (Stalin) को समस्त मनुष्य जाति का सर्वश्रेष्ठ एवं अपूर्व बुद्धि वाला मनुष्य बताया।" बेरिया (Beria) ने भी, जो राजनीतिक पुलिस दल का अध्यक्ष था और जिस पर बाद में राजद्रोह का अपराध लगाया गया और जिसको २३ दिसम्बर १९५३[1] को गोली मार दी गई, स्टालिन (Stalin) को मनुष्य जाति का सर्वश्रेष्ठ और अपूर्व बुद्धि वाला मनुष्य कहा था। इसलिए स्टालिन (Stalin) के जीवन-काल में वास्तविक नीति निर्माता वही रहा होगा न कि राजनीतिक ब्यूरो (Politburo)। इतने महत्त्वपूर्ण और प्रभावपूर्ण व्यक्ति के सम्मुख न तो कोई स्वतन्त्रतापूर्वक वाद-विवाद कर सकता है और न आलोचना ही की जा सकती है।

किन्तु दल में इतनी प्रजातन्त्रीय भावना अवश्य है कि व्यावहारिक वाद-विवाद की आज्ञा है; किन्तु वाद विवाद ऐसा होना चाहिए जो एकता पैदा करे। इस प्रकार लेनिन (Lenin) ने १९०६ मे लिखा था कि, "प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद मे आलोचना की छूट उस सीमा तक दी जा सकती है जहाँ तक कि उसके द्वारा एकता में बाधा न पड़े; और ऐसी किसी भी आलोचना को सहन नहीं किया जायगा जो साम्यवादी दल द्वारा निर्णीत नीति अथवा निर्णयों की क्रियान्विति को या तो नष्ट करती हो अथवा कठिन बनाती हो।" दलीय नियमों के अनुसार किसी भी सदस्य को पूरी छूट है कि वह जो कुछ उचित समझे कह सकता है; किन्तु वह अपने विचारों को किस रीति से व्यक्त करेगा इस पर कतिपय मर्यादाएं लगी हुई है। ऐसी व्यवस्था है कि अखिल संघीय स्तर पर दल को नीति पर उन्मुक्त विचार-विनिमय हो सकता है; किन्तु यह विचार-विनिमय और वाद-विवाद इस प्रकार होना चाहिए कि दल का अल्पमत विशाल बहुमत के ऊपर छा जाने का प्रयत्न न करे; अथवा यह वाद-विवाद दल मे गुटबन्दी को प्रोत्साहन न दे। यदि कोई कभी आलोचक बनने का साहस करता है तो उसे अपने विचारो के पक्ष में समर्थक बनाने का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिए अथवा कभी कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे उस पर गुटबन्दी प्रोत्साहित करने का अभियोग लगाया जा सके; क्योंकि यह अनुशासन-सम्बन्धी गुरुतर अपराध है और दलीय एकता के सिद्धान्त के विरुद्ध भी भारी अपराध है। वाद-विवाद मे कभी नीति के ऊपर प्रत्यक्ष आक्रमण नही करना चाहिए। जैसा कि हम देख चुके हैं, दल के उच्च स्तर नीति निर्धारित करते हैं और निम्न स्तर उसका पालन करते हैं; और इस प्रकार नीति का वास्तविक निर्माण राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) ही करती है। दलीय नीति पर आक्रमण करना, सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ (U. S. S. R.) मे घोर अपराध समझा जाता है और वह दलीय अनुशासन के अतिक्रमण के समान अपराध माना जाता है।

दलीय अनुशासन की यह भी कठोर मांग है कि दल के अन्दर पूर्ण प्रजातन्त्रात्मक अनुशासन रहे। साम्यवादी दल की सदस्यता सभी के लिए उन्मुक्त और

1. स्टालिन (Stalin) की मृत्यु ५ मार्च, १९५३ को हुई थी।

लभ्य नही है । केवल उन्हीं लोगों को दल की सदस्यता के लिए स्वीकार किया जा सकता है जो दल के कार्यक्रम में विश्वास करते हों, और जो दल के निर्णयों को स्वीकार करने और दल का चन्दा[1] देने को तैयार हों । दल के आज्ञापत्र (Party charter) की प्रस्तावना मे, दल के कार्य के सम्बन्ध में कहा गया है, "दल अपने सदस्यों से आशा करता है कि सभी लोग त्याग और सेवा-भाव से क्रियाशील सहयोग देंगे तथा दल के प्रोग्राम और नियमो के अनुसार कार्य करेंगे, तथा दल के और उसकी तमाम सम्बद्ध शाखाओं के निर्णयों को क्रियान्वित करेंगे, साथ ही दल में एकता और सहयोग बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे और सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) के सर्वहारा-वर्ग के भ्रातृत्वपूर्ण सम्बन्ध संसार के सभी देशों के सर्वहारा-वर्ग के साथ मैत्रीपूर्ण रखने का प्रयत्न करेंगे ।"

दल के अन्दर पूर्ण प्रजातन्त्रात्मक अनुशासन में दो बातें और आती है—(१) दल की सभी शाखाओं (Organs of the Party) का निर्वाचन होता है और (२) दल की प्रत्येक छोटी शाखा अपनी उस उच्च शाखा के प्रति उत्तरदायी है जिसने उस शाखा का निर्वाचन किया था । इसमें सन्देह नही कि दल की सभी शाखाएँ प्रातिनिधिक एवं निर्वाचित निकाय है । किन्तु समस्त देश के राजनीतिक जीवन मे जहाँ कहीं भी निर्वाचन होते हैं वे औपचारिकता-मात्र हैं । सोवियत सघ (Soviet Russia) के लम्बे इतिहास में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलेगा जब किसी पद के लिए दो प्रतिद्वन्द्वी प्रत्याशियों में टक्कर हुई हो । औपचारिक चुनावों के पहले प्रतिद्वन्द्वी प्रत्याशियों की योग्यताओं पर विचार किया जा सकता है किन्तु अन्तिम चुनाव-सूची में प्रत्येक पद के लिए केवल एक ही प्रत्याशी रह जाता है । इसके अतिरिक्त किसी प्रत्याशी की किसी पद के लिए योग्यता पर निम्न स्तर पर विचार कर लिया जा चुकता है । जितने ही उच्च स्तर पर विचार किया जाएगा, और वह पद, जिसके लिए विचार किया जाएगा, जितना ही उच्च होगा उतनी ही दल के उच्च नेता की बात महत्त्वपूर्ण मानी जाएगी, जिसको कभी भी टाला नही जाता ।

समस्त दलीय शाखाओं (Party bodies) का दलीय संगठनो के प्रति उत्तर-दायित्व केवल सैद्धान्तिक है । दलीय सम्मेलनों और दलीय महासभाओं के सम्मेलन अब अनियमित ढंग से और लम्बे-लम्बे समय के बाद होते है, यद्यपि दल के निश्चित् आदेश हैं और नियम हैं कि दल के सम्मेलन निश्चित् कालान्तरों में अवश्य होने चाहिएँ । न यही सम्भव है कि दल का अथवा उनकी किसी समिति का कोई अधिकारी अपने पद से आजकल की स्थिति मे हटाया जा सके, हाँ, यदि दल के शीर्ष स्थानीय नेता ही ऐसा चाहें तभी सम्भव हो सकता है । कांग्रेस तो, यदि अधिवेशन करती है, केवल दलीय नेताओं की इच्छाओं और निर्णयों को स्वीकार कर लेती है ।

---

1. दल का चंदा वास्तव में अधिक है । उदाहरणस्वरूप सदस्यता का चंदा मासिक आय पर सदस्यों और प्रत्याशी सदस्यों को इस प्रकार देना पड़ता है—

३०१ रूबल से लेकर ५०० रूबल मासिक आय पर २ प्रतिशत चन्दा, और ५०० रूबल से ऊपर आय वालों पर ३ प्रतिशत चन्दा ।

इस प्रकार व्यवहार में दल की एकता और दल के कठोर अनुशासन के दो अर्थ प्रकट हुए हैं—(1) दल-सदस्य का महत्वपूर्ण नीति-विषयक निर्णयों पर कोई प्रभाव नहीं है; और (2) नीति-निर्धारण सम्बन्धी समस्त उत्तरदायित्व कुछ थोड़े से व्यक्ति वर्ग को दे दिया गया है जिसको राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) कहते हैं। 1924 में स्टालिन (Stalin) का ट्राट्स्की (Trotsky) के साथ जो संघर्ष चल रहा था, उसमें स्टालिन ने एकाधिकारपूर्ण कठोर एकत्व दलीय दल (Monolithic Party) का विचार प्रकट किया था, यह वही पोलिट ब्यूरो (Politburo) द्वारा केन्द्रित दल का विचार था, और आज भी दल का यह निर्देशक सिद्धान्त है। यहाँ तक कि लेनिन (Lenin) का यह विचार भी कि "दल के सदस्य दल की नीति और दल के विचारों की आलोचना कर सकेंगे" सत्य नहीं है। स्टालिन (Stalin) ने रूसी साम्यवादी दल की बारहवीं महासभा में लूटोविनोव (Lutovinov) की दलीलों का जो जवाब दिया था उससे सिद्ध हो जाता है कि लेनिन का उपर्युक्त कथन सत्य नहीं निकला। स्टालिन (Stalin) ने कहा, "लूटोविनोव (Lutovinov) चाहते हैं कि दल में सच्चा प्रजातन्त्र पैदा हो। वे चाहते हैं कि यदि सब प्रश्न नहीं, तो कम-से-कम अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न प्रत्येक सैल (Cell) अथवा प्रारम्भिक दल उपकरण (Primary Party Organ) में निम्न स्तर से लेकर शीर्ष तक विचारार्थ रखे जाएँ और वे यह भी चाहते हैं कि प्रत्येक प्रश्न पर समस्त दल प्रत्येक स्तर पर विचार करे। किन्तु साथियो! इस प्रकार की व्यवस्था करने से हमारा दल केवल वाद-विवाद करने वाला एक क्लब अथवा गोष्ठीमात्र रह जाएगा; सदैव बकबक करता रहेगा किन्तु कभी भी कोई निर्णय न कर सकेगा। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि हमारा दल नीति-निर्माता और अधिकारी दल है और दल को निर्णय करने वाला रोल (Role) अपनाना चाहिए; क्योंकि हम अथवा हमारा दल सत्ताधारी दल है।" इस प्रकार दल की आन्तरिक तथाकथित लोकतन्त्रीय भावना (Intra-party democracy) केवल एक वैसी ही राजनीतिक चाल (Political myth) है जैसी अनेक अन्य चालें हैं और कठोर एकाधिकारपूर्ण एकत्व दलीय दल (Monolithic party) ने सिद्धान्ततः और व्यवहारतः सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (Soviet Union) में शीर्षस्थानीय महत्त्व (Apex) प्राप्त कर लिया है। रूस में जब से ख्रुश्चेव सत्तारूढ़ हुआ है, उसने सामूहिक नेतृत्व और आन्तरिक प्रजातन्त्र के सिद्धान्त पर बार-बार जोर दिया है। लेकिन, यह उसने भी स्पष्ट कर दिया है कि दल की नीति से जरा भी विचलन स्वीकार नहीं किया जाएगा।

दल की सदस्यता (Membership of the Party)—दलीय अनुशासन और दलीय एकता के साथ दो प्रश्न जुड़े हुए हैं। वे हैं 'दल का परिमाप' और दलीय सदस्यता के द्वार नियन्त्रण। साम्यवादी दल उन्मुक्त दल नहीं है; अपितु चुने तत्वों से बनी हुई एक बन्द और तंग-दिल सभा या समाज (Closed Society) है। इसको जान-बूझ कर छोटा दल रहने दिया गया है ताकि सभी सदस्यों का नैतिक स्तर उच्च बना रहे और सभी लोगों में कठोर अनुशासन की भावना रहे। बल देकर कहा जाता है कि दल की मुख्य शक्ति एकता और अनुशासन-पालन में है न कि बहुसंख्यक व

में। दल प्रत्येक सदस्य के ऊपर दबाव डालता है कि वह प्रत्येक दूसरे सदस्य के सम्मुख उदाहरण उपस्थित करे, अपने काम के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ उत्पादन का उदाहरण उपस्थित करे; अपने व्यवसाय में पूर्ण निपुणता प्रदर्शित करे; अपनी योग्यताओं को निरन्तर बढ़ावे, निरन्तर ज्ञानवर्द्धन की ओर अग्रसर रहे; कभी अनुशासनहीन न हो और राज्य की विधियों और आज्ञाओं का सदैव पालन करता रहे। संक्षेप में, प्रत्येक सदस्य से यह आशा की जाती है कि उसका सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत चरित्र श्रेष्ठ हो। ऐसी श्रेष्ठ योग्यता के व्यक्ति, जिनमे समाजवादी समाज के निर्माण की लगन है, प्रारम्भ में भी कम थे और इस समय भी ऐसे व्यक्ति कम ही हैं; इसलिए सदैव यही विश्वास किया गया है कि केवल ऐसे थोड़े से व्यक्ति ही दल की सदस्यता में लिए जाएँ।

इन कारणों से दल की सदस्यता आसानी से नहीं मिलती। नियम रहा है कि नया सदस्य बनने से पूर्ण उसके प्रार्थना-पत्र पर दल के पुराने सदस्य की सिफारिश होनी चाहिए कि नया सदस्यता-प्रत्याशी अच्छी योग्यता का व्यक्ति प्रमाणित किया जाता है। प्रत्येक सदस्य के प्रार्थना-पत्र पर कितनी सिफारिशें हों, यह निश्चित् नही रहा है। १९३९ मे सदस्यता-पत्रो को कई श्रेणियों में रखते थे। ये श्रेणियाँ इस आधार पर निर्मित की जाती थीं कि कौन सदस्यता-प्रत्याशी दल के सिद्धान्तों के प्रति कहाँ तक वफादार रहेगा। १९३९ में सदस्यता के सम्बन्ध मे सर्वत्र समान नियम प्रभावी हो गए और रुकावटें समाप्त कर दी गईं। सदस्यता-प्रत्याशियो के लिए यह आवश्यक है कि उनके सदस्यता के प्रार्थना-पत्र पर कम-से-कम एक वर्ष पुराने ऐसे तीन सदस्य सिफारिश करें जो प्रत्याशी को कम-से-कम एक वर्ष से अवश्य जानते हों। प्रवेश प्राप्त करने के बाद एक वर्ष की प्रत्याशिता (Candidacy) प्राप्त हो जाती है और इस एक वर्ष के काल मे प्रत्याशी सदस्य को दल का इतिहास, दल की नीति और इसके कार्य करने के ढंग आदि से अवगत होना पड़ता है और वह उन सब कार्यों को करता है जो दलीय उपकरण उसे करने को देते हैं। जो प्रत्याशी परीक्षाओं में पास ठहरते है, उनको प्रारम्भिक दलीय उपकरण (Primary Party Organization) की सामान्य मीटिंग (General meeting) के निर्णय से पूर्ण सदस्यता प्राप्त हो जाती है। किन्तु यह आवश्यक होता है कि प्रारम्भिक दलीय उपकरण का निर्णय या तो जिला-समिति या नगर-समिति द्वारा स्वीकृत कर लिया जाए।

युद्ध-काल मे नए सदस्यों का साम्यवादी दल में प्रवेश सरल था। इसका कारण यह था कि युद्ध में दल के अनेक सदस्य काम आ गए। दल के सदस्यों से भी आशा की जाती थी कि वे त्याग और वीरता की भावना का परिचय दें और जिन लोगों ने देश की रक्षार्थ वीरतापूर्ण सेवा की उनको उन्मुक्त रूप से दलीय सदस्यता में प्रवेश मिला। १ फरवरी, १९५६ की कुल सदस्य संख्या ७२,१६,५०५ थी। इनमे से ६७,६६,८९६ तो पूरे सदस्य थे और ४,१९,६०९ प्रत्याशी सदस्य थे।

यह निरीक्षण करते रहने के लिए कि सभी सदस्य, दल के कार्यक्रम के प्रति

वफादार रहें और दल के निर्णयो की ठीक-ठीक क्रियान्विति करें, समय-समय पर प्रत्येक सदस्य की गतिविधियों और कार्य-कलापों के सम्बन्ध में पुनरीक्षण और पर्यवेक्षण होता रहता है। इस प्रकार दल मे से बहुत से सदस्य निकाले भी जाते रहते हैं।

साम्यवादी युवक-संगठन (Youth Organizations)—साम्यवादी दल के नियमित संवर्ग (Cadre) के अतिरिक्त कुछ अन्य अतिरिक्त वर्ग भी हैं जिनमे साम्यवादी युवक-सगठन (Youth Organizations) मुख्य हैं।

ये युवक-संगठन तीन प्रकार के हैं—कॉमसोमॉल (Komsomols), यग पायनियर्स (Young Pioneers) और लिटिल अक्टूबरिस्ट्स (Little Octobrists)। ये संगठन न केवल साम्यवादी दल की छत्रछाया मे काम करते हैं और उसके सिद्धांतों का प्रचार करते है अपितु उनका मुख्य काम बालकों तथा किशोर युवकों और युवतियों को साम्यवादी विचारधारा में राजनीतिक कार्य करने के योग्य प्रशिक्षित करना होता है। साम्यवादी दल का मुख्य ध्यान युवकों और किशोरों की ओर केन्द्रित है, ताकि इन किशोर वयस्कों को सर्वहारावर्गीय नैतिकता से पूरी तरह अवगत कर दिया जाय। १५ वर्ष से लेकर २० वर्ष तक की आयु के युवक कॉमसोमॉल (Komsomols) अथवा अखिल संघीय लेनिनवादी एवं साम्यवादी युवक सघ (All Union Leninist Communist League of Youth) मे भर्ती हो सकते हैं। कॉमसोमॉल (Komsomols) अखिल संघीय लेनिनवादी साम्यवादी युवक संघ का रूसी भाषा में संक्षिप्त रूप है। सरकारी तौरपर इसको सोवियय संघ के साम्यवादी दल का सहकारी सदस्य दल और उसका आरक्षित सदस्य-दल (The Assistant of the Communist Party of the Soviet Union 'Bolsheviks' and its reserve) कहा जाता है। २,००,००,००० से अधिक युवक और युवतियाँ इस संगठन के सदस्य है। इनमें से १५०,००० से अधिक सदस्य सोवियत-प्रतिनिधि (Deputies to Soviets) हैं। ७,००० के लगभग सोवियत संघ के वीर (Heroes) माने जाते हैं। कॉमसोमॉल संगठन देश में प्रायः सब महत्त्वपूर्ण कार्यों को सबसे पहले अपने हाथों में लेते हैं ताकि अन्य कर्मकरों के लिए वह आदर्श स्थापित कर सकें।

६ वर्ष से लेकर १४ वर्षों तक के युवक और युवतियाँ पायनियर्स (Pioneers) कहलाते हैं। पायनियर्स (Pioneers) दल का संगठन प्रथम बार १६२३ में किया गया था। पायनियर्स के लिए १६३२ मे यह कार्य सोपा गया था कि वे अपने समाज मे और छोटे बच्चों में विद्याध्ययन में, श्रम-कार्य में, और जातीय सेवा-भाव मे समाजवादी दृष्टिकोण अपनावें और इस दृष्टिकोण से समवयस्क बालक और बालिकाओं को प्रभावित करें। पायनियर्स (Pioneers) सगठन में प्रवेश कठिन नही है, किन्तु बालक अथवा बालिका को प्रवेश के प्रथम दो मास मे विकास और उन्नति के लक्षण प्रगट करने चाहिएँ।

युवक-संगठनों मे तृतीय संगठन लिटिल अक्टूबरिस्ट्स (Little Octobrists) का है। आठ और ग्यारह वर्षों के बीच की आयु वाले लड़के और लड़कियों के

अपना सर्वसाधारण के साथ का सम्पर्क खो दे या उस सम्पर्क को कमज़ोर कर ले तो ऐसा दल अपना समर्थन एवं आत्मविश्वास खो बैठता है और वह नष्ट हो जाता है।" साम्यवादी दल की सफलता का रहस्य यह सार्वजनिक सम्पर्क ही है और इसी कारण इसका सगठन सारे देश मे जाल की तरह फैला हुआ है और सर्वत्र प्रादेशिक और क्षेत्रीय उपकरण है। साम्यवादी दल की उपमा पिरैमिड (Pyramid) से दी जा सकती है और उस पिरैमिड (Pyramid) का आधार प्रारम्भिक दल उपकरण (Primary Party Organs) हैं जिनको पहले मूलभूत एकक 'सेल' (Cell) कहा जाता था। "दल के नियमो के अनुसार प्रारम्भिक दल उपकरणो (Primary Party Organs) की स्थापना कारखानों, वर्कशापों, स्टेट फार्मो, मशीनो और ट्रैक्टरों के कारखानों, कलैक्टिव अथवा सामूहिक फार्मों (Collective Farms), अन्य आर्थिक संगठनों, सेना और नौसेना के रेजीमेण्टों, गांवो, कार्यालयो और शिक्षण संस्थाओ आदि-आदि में, जहां कम-से-कम तीन सदस्य हों, की जा सकती है।" यदि दल के सदस्य तीन से कम हों, तो प्रारम्भिक दल उपकरण की स्थापना कॉमसोमॉल (Komsomol) के प्रत्याशी सदस्य और सदस्यगण कर सकते है जिसका नेतृत्व उच्चतर दल उपकरण के नेताओं द्वारा होगा। दैनिक समाचार-पत्र 'प्रावदा' (Pravda) के अनुसार सारे सोवियत संघ मे २,५०,००० दलीय उपकरण (Party Organs) है।

दल-उपकरण मुख्य रूप से आन्दोलनकारी और संगठनकारी सगठन है। प्रारम्भिक दल उपकरण (Primary Party Organ) सर्वसाधारण में बैठ कर दल के नारे लगाते है और उसके निर्णयों को क्रियान्वित करते है और भविष्य में होने वाले दल के सदस्यों में, राजनीतिक प्रशिक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से, नियमित प्रचार करते है। सभी मामलों मे प्रारम्भिक दल उपकरण (Primary Party Organ) को उच्चतर दल उपकरणों के साथ सहयोग करना पड़ता है। इसको लगातार यह प्रयत्न करना पड़ता है कि सभी व्यापारो के लिए श्रमिकों को एकत्रित करें और उनको उत्तेजित करें ताकि उत्पादन की निश्चित् योजना पूर्ण हो और श्रमिकवर्ग में अनुशासन बना रहे। दलीय उपकरणो (Party Organs) की प्रतिष्ठावर्द्धन के हेतु नियम बना दिये गए है कि दलीय उपकरणों को अधिकार होगा कि वे किसी व्यापार अथवा वर्कशाप (enterprise) के प्रबन्ध को नियन्त्रित कर सकते है। संक्षेप मे प्रारम्भिक दल उपकरणों का मुख्य कार्य यह है कि वे देश के आर्थिक और राजनीतिक जीवन में क्रियात्मक भाग लें।

उच्चतर दल उपकरण (Higher Party Organs)—प्रत्येक प्रारम्भिक दल उपकरण एक निर्वाचित ब्यूरो या कार्यपालिका समिति (Executive bureau) चुनता है तथा एक सेक्रेटरी चुनता है जो सारा नैत्यिक काम-काज करता है। प्रारम्भिक दल उपकरण के ऊपर नगर अथवा जिला दल सम्मेलन (City or District Party Committees) होते है जो शहरों और देहातो, दोनों के लिए अलग-अलग होते हैं। नगर अथवा जिला दल सम्मेलन 'सेलो' (Cells) अथवा प्रारम्भिक उपकरणो द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों से मिल कर बनते हैं। नगर अथवा जिला

के स्थान पर 'चार वर्ष' हो गया है। यह भी नियम है कि अखिल सघीय अधिवेशनों के बीच में दलीय सम्मेलन (Party Conference) होना चाहिए। बीसवी कांग्रेस का अधिवेशन १९५६ में हुआ था जिसमें १,३५५ प्रतिनिधि थे।

केन्द्रीय समिति (The Central Committee)—साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति उसका सबसे महत्त्वपूर्ण अग है। इसमे अधोलिखित उपसगठन हैं—राजनीतिक ब्यूरो (The Politburo); सगठन ब्यूरो (The Orgburo); और सेक्रेटरियट (The Secretariat)। केन्द्रीय समिति का मुख्य महत्त्व इस बात मे है कि यह दल और शासन के बीच कडी का काम करती है। लेनिन ने कहा था, "हमारे गणराज्य में कोई भी राजनीतिक अथवा सगठन-सम्बन्धी प्रश्न किसी एक राज्यीय संगठन अथवा संस्था द्वारा उस समय तक निर्णीत नहीं हो सकता जब तक कि उक्त प्रश्न पर केन्द्रीय समिति अपने विचार व्यक्त न करे; और दल के नियमों के अनुसार केन्द्रीय समिति ही केन्द्रीय सोवियत के समस्त कार्य का संचालन करती है तथा समस्त सार्वजनिक संगठनों का भी दलीय समुदायों के द्वारा कार्य-सचालन एव मार्ग-दर्शन करती है।"[1]

केन्द्रीय समिति में १३३ पूर्ण सदस्य और १२२ अवान्तर सदस्य होते है और पार्टी के नए नियमों के अनुसार वर्ष में दो बार इसकी सभा अवश्य होनी चाहिए। पहले केन्द्रीय समिति के पूर्ण अधिवेशन (Plenary Sessions) प्रति वर्ष तीन या चार बार होते थे परन्तु अब नए पार्टी नियमो में कान्फ्रेंस का कोई उल्लेख नहीं है। इसके साधारण प्रस्ताव सदैव सार्वजनिक प्रकाश मे आ जाते है। केन्द्रीय समिति के प्रस्तावों को अन्य दलीय उपकरणों अथवा सगठनों में विचारार्थ रखा जा सकता है किन्तु 'उस स्थिति में उन प्रस्तावो को न तो आलोचना की जा सकती है न उन पर शोधन उपस्थित किये जा सकते हैं।"

राजनीतिक ब्यूरो (Politburo)—सम्पूर्ण केन्द्रीय समिति की सभाएँ पर्याप्त समय के बाद हुआ करती हैं और दल का वास्तविक कार्य दल के अन्य उपकरणों द्वारा चलाया जाता रहता है जिनमें राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह ठीक है कि कुछ समय से तो केन्द्रीय समिति केवल राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) के निर्णयों की पंजीकरणकर्ता उपकरणमात्र बन कर रह गया है किन्तु यह नही भूलना चाहिए कि राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) केवल एक समितिमात्र है और वह केन्द्रीय समिति का अधीन उपकरण है। केन्द्रीय समिति का अधीन उपकरण होने के नाते राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) अपनी शक्ति से कुछ नहीं कर सकता, वह तो केन्द्रीय समिति की शक्ति के अधीन ही कुछ करता है। किन्तु तथ्य यह है कि केन्द्रीय समिति जो कुछ कहती है वह सब कुछ राजनीतिक ब्यूरो की बात ही कहती है। सत्य तो यह है कि राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) ही सोवियत संघ मे वास्तविक नीति-निर्माता निकाय है। राजनीतिक

1. Party Rules of 1939. Article. 36

ब्यूरो (Politburo), ही दलीय संगठन रूपी पिरामिड (Pyramid) का शीर्ष है और इसी में दल की समस्त नीति निर्धारित होती है और इस प्रकार सोवियत शासन और सोवियत संगठनों की अन्तिम और सर्वोच्च नीति भी इसी में स्वीकृत होती है।

इस प्रकार राजनीतिक ब्यूरो के सदस्यों के हाथों में राज्य और दल की सर्वोच्च सत्ता निहित रहती है। स्टालिन (Stalin) कहा करता था कि, "राजनीतिक ब्यूरो दल का सर्वोच्च संगठन अथवा उपकरण है न कि राज्य का ; और दल समस्त राज्य की सर्वोच्च प्रेरक एवं नियन्त्रक शक्ति है।" राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) के दस नियमित सदस्य होते हैं और चार या पाँच अवान्तर सदस्य होते हैं।

संगठन ब्यूरो (Orgburo)—राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) से कम महत्त्व का संगठन अथवा ब्यूरो, संगठन ब्यूरो (Orgburo) है। संगठन ब्यूरो (Organizational Bureau) का निर्वाचन केन्द्रीय समिति द्वारा किया जाता है और इसमें पाँच सदस्य तो सेक्रेटेरियट (Secretariat) के होते हैं और दस अन्य सदस्य तथा अवान्तर सदस्य होते हैं। संगठन ब्यूरो (Orgburo) का मुख्य कार्य यह होता है कि वह साम्यवादी दल के आन्तरिक क्रिया-कलापों का संचालन करता है और उसको संगठन-सम्बन्धी मामलों की देख-रेख और दल का प्रशिक्षण, दल का संवर्ग (Cadre) आदि निश्चय करना होता है। संगठन ब्यूरो (Orgburo) ही सेक्रेटेरियट के निर्णयों को समस्त दलीय संगठन में कार्यान्वित कराता है।

सेक्रेटेरियट (Secretariat)—प्रारम्भ में सेक्रेटेरियट (Secrteariat) का कार्य यह था कि वह केन्द्रीय समिति के निर्णयों को कार्यान्वित किया करता था। "किन्तु आजकल सेक्रेटेरियट, साम्यवादी दल और सोवियत शासन-व्यवस्था[1] का अत्यन्त आवश्यक उपकरण (gear box) बन गया है।" स्टालिन (Stalin) स्वय १६२२ मे जनरल सेक्रेटरी बना और अपनी मृत्युपर्यन्त १६५३ तक इसी पद पर बना रहा। उसने सेक्रेटेरियट को बिल्कुल बदल कर दल की वास्तविक कार्यपालिका में परिणत कर दिया। चूँकि अनेक समस्याएँ समान रूप से राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) और संगठन ब्यूरो (Orgburo) के सम्मुख आती थी, अतः यह निश्चित् किया गया कि जनरल सेक्रेटरी का इन दोनों उपकरणों अथवा संगठनों (agencies) का सदस्य होना आवश्यक है; और इस प्रकार वह दोनों उपकरणो का समन्वयक (Co-ordinator) है। सेक्रेटेरियट (Secretariat) मे एक जनरल सेक्रेटरी और चार अन्य सेक्रेटरी होते हैं। स्टालिन की मृत्यु के बाद ख्रुश्चेव (Khruschev) उसके पद पर जनरल सेक्रेटरी बना। ख्रुश्चेव के निकल जाने पर अब ब्रेजनेव इस पद पर है।

दल नियन्त्रण आयोग (The Party Control Commission)—एक अन्य दलीय उपकरण 'दल नियन्त्रण आयोग' (The Party Control Commission) है। उसका काम है साम्यवादी दल और केन्द्रीय समिति के निर्णयों की पूर्ति और क्रियान्विति

1. Towster, op. citd., p. 160 n.

की जांच दलीय संगठनों और अन्य सोवियत आर्थिक संगठनों[1] द्वारा कराना। इसलिए दल नियन्त्रण आयोग का मुख्य कार्य यह है कि दल के निर्णयों की पूर्ति और क्रियान्विति को देखे और जो लोग साम्यवादी दल के प्रोग्राम और नियमों के विरुद्ध कार्य करते हों उनके विरुद्ध अभियोग लगावे। इन अर्थों में दल नियन्त्रण आयोग (Party Control Commission) एक दलीय अनुशासनात्मक निकाय है। प्रारम्भ में इस दल नियन्त्रण आयोग का निर्वाचन अखिल संघीय कांग्रेस द्वारा हुआ था, किन्तु आजकल इस आयोग की नियुक्ति केन्द्रीय समिति करती है।

Suggested Readings

Carter, G. M. and Others. : *The Government of the Soviet Union* (1954) World Press, Calcutta.

Fainshod, M. : *How Russia is Ruled* (1953).

Finer, H. : *The Theory and Practice of Modern Government* (1954), pp. 60-64; 234-237; 303-310; 541-544; 665-667.

Florinsky, M. T. : *Russia : A History and an Interpretation*, (1953).

Harper, S. N. : *The Government of the Soviet Union. The Soviet Union and the World Problems.*

Karpinsky, V. : *The Social and State Structure of the U.S.S.R.*

Leites, N. : *The Operational Code of the Politburo* (1951).

Lenin, V. I. : *The State and the Revolution.*

Marx M. and Others : *Foreign Governments* (1952), Part VI, Chap. 20-26.

Munro, W. B. and Ayearst, M. : *The Governments of Europe* (1954), Chap. 38-43.

Neumann, R. G. : *European and Comparative Governments* (1951). Part IV; Chapts. I-XIII.

Ogg, F. A. and Zink, H. : *Modern Foreign Governments* (1953), Chaps. 36-41.

Rappard W. F., Sharp W. R. and Others : *Source Book on European Governments* (1937).

Sohlesinger, R. : *Soviet Legal Theory* (1951).

Shotwell, J. T. and Others : *Governments of Constitutional Europe* (1952), pp. 667-862.

---

1. Party Rules of 1939, Articlles 34, 35.

Land of Socialism Today and Tomorrow. Reports and Speeches of the 18th Congress of the Communist Party of the Soviet Union, March 10-21, 1939, Moscow Foreign Languages Publishing House (1939).

Towster, J. : *Political Power in the U. S. S. R.* (1917-47)

Vyshinsky, A. Y. : *The Law of the Soviet State.*

Information Deptt. of the U. S. S. R. Embassy in India. : *The Fortieth Anniversary of the Great October Socialist Revolution; U. S. S. R. 100 Questions and Answers and Who Governs the Soviet Country.*

सर सैय्यद अहमद खा Indian National Congress के विरोधी थे और वे मुसलमानों को उसका सदस्य बनने से भी रोकते थे। उन्होंने असदिग्ध रूप से यह स्वीकार भी किया था कि तथाकथित Indian National Congress का विरोध करने का भारी काम उन्होने उठाया था,[1] और यह भी घोषित किया था कि "ससदीय प्रणाली की सरकार जिसकी कि माग काग्रेस करती थी, एक ऐसे देश के लिए अनुपयुक्त है जिसमे दो या इससे अधिक राष्ट्र विद्यमान हो और जो कम गिनती वालो के ऊपर अत्याचार करने के प्रति झुकाव रखते हों।"[2] Indian National Congress के सन् १८८७ के अधिवेशन के प्रधान बदरुद्दीन तैय्यबजी (Badruddin Tyabzi) को सर सैय्यद ने लिखा था कि "मैं नैशनल काग्रेस (National Congress) का अर्थ समझने मे असमर्थ हू।" यह बात उस समय लिखी गई थी जब तैय्यब जी ने सर सैय्यद का काग्रेस से समझौता कराने के लिए हार्दिक प्रयत्न किए थे। आगे चलकर सर सैय्यद ने कहा था कि, "क्या ऐसी कल्पना की जाती है कि भारत मे रहनेवाले भिन्न जात-पाँत वाले और भिन्न मतावलम्बियों का सम्बन्ध एक राष्ट्र से है। अथवा वे एक राष्ट्र बन सकते है, और उनके उद्देश्य और उनकी अभिकाक्षाएं एक और समान रूप धारण कर सकती है?" तैय्यब जी को यह भी बताया गया कि, "आप सम्भवत, इस मिथ्या नाम वाली नेशनल काग्रेस के कार्यों को भारत के लिए लाभदायक समझते है, परन्तु मुझे यह बात कहने मे खेद होता है कि ये कार्य केवल हमारे अपने सम्प्रदाय को हानि पहुचाने वाला ही नही अपितु समस्त भारत के लिए हानिकारक है। मुझे हर उस काग्रेस पर आपत्ति है, भले ही उसका कोई रूप हो, जो भारत को एक राष्ट्र समझती है।"[3]

इस प्रकार सर सैय्यद ने यह बड़ी बात बड़े जोरदार शब्दो में कह डाली थी कि भारत में एक से अधिक राष्ट्र विद्यमान है, और मुसलमान अपने भाषायी और भौगोलिक बन्धनों से बंधे हुए नही हैं अपितु वे अपने धार्मिक भ्रातृत्व-बन्धनों द्वारा बधे है। असाम्प्रदायिकता की विचारधारा पर इसलिये आलोचना की जाती थी क्योंकि यह बात इस्लाम धर्म-विरोधी थी। उनके लिए धर्म और राजनीति पृथक्-पृथक् वस्तुए नहीं थीं। अत, इन दो परस्पर लड़ाई करने वाले हिन्दू और मुस्लिम राष्ट्रों में सामान्य रूप से पायी जाने वाली कोई भी बात नही थी और जो, 'ब्रिटिश परम शक्ति द्वारा भारत मे लाई गई शान्ति के पूर्वगामी सघर्ष और अनैक्य के दिनों को नही भूले थे।"[4]

उस समय सर सैय्यद अहमद खा ने भारत के विभाजन के लिए नहीं कहा था और इतिहास के उस काल मे ब्रिटिशों द्वारा भारत छोड़े जाने की कोई सम्भावना भी नहीं थी।

---

1. Graham, *Life and Work of Sir Syed Ahmed Khan*, p 173.
2. Ghosh, P. C., The Development of the Indian National Congress, p. 148.
3. As cited in Ram Gopal's *Indian Muslims*, p. 67.
4. Sir Sayed Ahmad Khan's Speech, January 16, 1883. Imperial Legislative Council.

वस्तुतः, सर सैय्यद अंग्रेजों के बड़े प्रशंसक थे।[1] "उनका विचार था कि भारत मे ब्रिटिश शासन एक अत्यन्त अद्भुत घटना थी जैसी समार ने पहले कभी नही देखी।" उनका उद्देश्य भारत में प्रजातान्त्रिक सस्थाओं की स्थापना का विरोध करना था जिसके लिए हाल ही में स्थापित की गई Indian National Congress दबाव डाल रही थी क्योंकि सर सैय्यद समझते थे कि अधिक-सम्यक समुदाय अल्पसख्यक समुदाय के हितो की बिलकुल उपेक्षा कर देगा। उनका भय था कि यदि पाश्चात्य देशों से मिलते-जुलते लोकतान्त्रिक सिद्धान्त भारत मे प्रवेश पा गए तो आवश्यक रूप से इसका अर्थ हिन्दू राज की स्थापना मे निकलेगा और उन्होंने मुसलमानो को इस प्रकार की स्थायी परतन्त्रता की दशा को कभी स्वीकार न करने की शिक्षा दी थी। १९४२ मे चो० खालिकुज्जमा (Choudhary Khaliquzzaman) ने सर सैय्यद अहमद खा के भाषण की प्रति प्रो० कूपलैण्ड[2] (Prof. Coupland) को दी थी जब वह उत्तर प्रदेश के गवर्नर सर मोरिस हैलेट (Sir Maurice Hallet) द्वारा इलाहाबाद से लखनऊ लाए गए थे ताकि उनके साथ देश की राजनीतिक स्थिति के बारे मे विचार-विमर्श किया जा सके। चो० खालिकुज्जमा ने सर सैय्यद अहमदखा के भाषण की ओर निर्देश करते हुए कहा था कि, "प्रो० कूपलैण्ड और मेरे मध्य विचार-विमर्श के अधीन अपने आने वाली यह वक्तृता लगभग ६० वर्ष पहले दी गई थी, परन्तु विषय-वस्तु, उपयुक्तता और ओजस्विता की दृष्टि से यह इतनी नवीन प्रतीत होती है मानो यह कल ही दी गई हो।"[3] क्योंकि "दो-राष्ट्र का सिद्धान्त प्रतिपादन करने मे और एक ऐसे देश मे जहा की जनता एकरूपता लिये हुए नहीं है, बहुसख्यक शासन की कठिनाइयों की ओर इतनी तीक्ष्णता से ध्यानाकर्पण करने में उन्होंने भारतीय सवैधानिक विकास की समस्या की मुख्य-गाठ पर न केवल अपनी अगुली ही रख दी थी अपितु ध्वनितार्थ द्वारा उस समस्या के सम्भाव्य उत्तर का भी सुझाव दे दिया था, क्योंकि, यदि दो-राष्ट्र एक ही सिहासन पर आसीन नही हो सक्ते, तो फिर उन्हें आपस मे क्यो न विभक्त कर लेना चाहिए।"[4]

अलीगढ़ कालेज के ब्रिटिश प्रधानाचार्यो का सर सैय्यद अहमद खा को काग्रेस और हिन्दुओं के विरुद्ध करने मे मुख्य हाथ रहा था। मुसलमानो का दूर-दूर देशो[5] तक

---

1 सर सैय्यद ने अक्तूबर, १५, १८६९ को लन्दन से लिखे एक पत्र मे भारतीयो के लिए अत्यन्त घृणा प्रकट की थी। Refer to Graham, Sir Syed Ahmed Khan, pp 183-84

2. प्रो० कूपलैण्ड को नुफील्ड निधि (Nuffield Trust) द्वारा छात्रवृत्ति प्रदान की गई थी और प्राचीन काल के भारतीय सवैधानिक प्रलेखो का अध्ययन करने के लिए, वर्तमान और भविष्य के सविधानो की दशा का सर्वेक्षण करने के लिए और अपनी जाच-पड़ताल के परिणामों के विषय मे प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए उन्हे भारत भेजा गया था।

3. *Pathway to Pakistan*, off. cited, p. 270.

4. Penderel Moon, *Divide and Quit*, p. 12.

5. Strachey, A: India, Its Administration and Progress, p. 308.

साम्राज्य स्थापित करने वालों मे वर्णन किया गया था। १८८८ में, इण्डियन नैशनल कांग्रेस के सस्थापक ह्यूम (Hume) ने जब सामूहिक आन्दोलन प्रारम्भ किया था। तब मुसलमानों को पृथक् करने की ओर उन्हें प्रतिभार (counterpoise) के रूप मे प्रयुक्त करने की ब्रिटिश नीति ने एक निश्चित दिशा ग्रहण कर ली थी। जब भारत के वायसराय लार्ड डफरिन (Lord Dufferin) ने कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन पर मुसलमानो की अनुपस्थिति के विषय में जो प्रतिवेदन भेजा था तब उस प्रतिवेदन के उत्तर मे सेक्रेटरी आफ स्टेट (राज्य-सचिव) लार्ड क्रास (Lord Cross) ने ४ जनवरी, १८८७ को लिखा था कि, "धार्मिक भावनाओ का यह विभाजन हमारे लाभ के ही लिए है।" भारतीय राजनीति मे मुसलमानों को विशेष महत्त्व प्रदान करने के सिद्धान्त को प्रारम्भ करने के लिए लार्ड डफरिन (Lord Dufferin) उत्तरदायी था और उसने ही उनको पुन. स्मरण कराया कि, था "वे स्वय एक राष्ट्र है और एक अति शक्तिशाली राष्ट्र है क्योंकि उनकी सख्या पाच करोड से भी अधिक है।"[1] बंगाल का विभाजन लार्ड कर्जन (Lord Curzon) द्वारा हिन्दुओ और मुसलमानों के बीच दरार उत्पन्न करने के लिये एक मुख्य उपाय के रूप मे काम मे लाया गया था। १ अक्टूबर, १९०५ में ढाका के नवाब के महल मे एक भाषण देते हुए वायसराय ने बगाल के विभाजन की योजना की रूपरेखा खीची थी और कहा था कि, "मैं तुमको एक मुस्लिम प्रान्त दे रहा हूँ।"

लार्ड कर्जन तथा उसके उत्तराधिकारियों की यही चाल थी कि एक धर्म को दूसरे धर्म के विरुद्ध और एक वर्ग को दूसरे वर्ग के विरुद्ध किया जाय ताकि राष्ट्रीय एकता का चित्र छिन्न-भिन्न हो सके और साथ ही राष्ट्रीय समन्वय की भावनाओ को भी वियोजित किया जा सके। भारतीय राज्य-सचिव जॉन मीर्ले (John Morley) की आज्ञानुसार लार्ड मिण्टो (Lord Minto) ने पद-ग्रहण के शीघ्र ही पश्चात् सुधारो की उस योजना का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया जिससे कम से कम इण्डियन नेशनल कांग्रेस के सयत तत्त्वो की सन्तुष्टि की जा सके। किन्तु सुधारों की योजना में वायसराय की मुख्य चिन्ता और स्वार्थ ऐसे उपायों अथवा साधनों को खोज निकालना था जिनसे मुसलमानों को देश की राजनीति से पृथक् किया जा सके और उनके मन से राष्ट्रीयता की भावना को मिटाया जा सके। इससे पूर्व कि वाञ्छित सुधार कोई रूप ग्रहण कर ले, मुसलमानों को पृथक् करने की योजना ने एक ठोस स्वरूप ग्रहण कर लिया था। मुसलमानो द्वारा प्रतिनियुक्त कुछ व्यक्तियों को वॉयसरॉय से भेंट करने का और अपनी माँगे प्रस्तुत करने का षड्यन्त्र कराया गया। इस नाटक के मुख्य पात्र अलीगढ कालेज के प्रधानाचार्य आर्चिबाल्ड (Principal Archibald) और कर्नल डनलप स्मिथ (Colonel Dunlop Smith) वॉयसरॉय के निजी सचिव थे।

१ अक्टूबर, १९०५ को विभिन्न प्रान्तों से लिये गये ३५ प्रमुख मुसलमानों का एक प्रतिनिधिमण्डल महाराज आगा खा (His Highness The Aga Khan)

---

1. Indian Speeches of Lord Dufferin (Modern Review, 1911), Vol. I, p. 303.

के नेतृत्व मे वॉयसरॉय से मिला और उसने उसे एक मानपत्र प्रस्तुत किया जिसमे मुसलमान जाति के नाम पर दो मुख्य बातों की माग की गई। सर्वप्रथम बात यह थी कि किसी भी प्रकार के प्रतिनिधित्व मे मुसलमान जाति को वह स्थिति प्रदान की जानी चाहिए जो उनकी संख्या और उनके राजनीतिक महत्त्व के अनुरूप हो। ऐसा करते समय यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि 'साम्राज्य की प्रतिरक्षा के प्रति' उनकी देन का क्या मूल्य है, और क्या उनकी स्थिति उस स्थिति से संगत है जो आज से लगभग सौ वर्षो से कुछ अधिक समय पूर्व भारत मे थी। दूसरी बात यह थी कि १८९२ के अधिनियम के अधीन काम मे लाया जाने वाला मनोनीत करने और चुनाव का ढग मुस्लिम समुदाय को उचित प्रकार का प्रतिनिधित्व अथवा प्रतिनिधियों की पर्याप्त संख्या देने मे असफल रहा है और यदि आगामी सुधारों मे सरकार द्वारा चुनाव के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है तो फिर केवल मुस्लिमों के ही पृथक् निर्वाचक-वर्गों द्वारा उन्हे अपने प्रतिनिधियों को भेजने का अधिकार मिलना चाहिए।

लार्ड मिण्टो ने आगा खा प्रतिनिधिमण्डल द्वारा प्रस्तुत की गई मागो के साथ अपनी पूर्ण सहमति प्रकट की और विश्वास दिलाया कि किसी भी प्रकार की प्रतिनिधित्व प्रणाली मे चाहे उसका प्रभाव नगरपालिका अथवा जिला बोर्ड अथवा विधान परिषद् पर पड़ता हो, जिसमें किसी निर्वाचन संगठन को प्रविष्ट कराने या उसमे वृद्धि करने का प्रस्ताव रखा गया हो, मुस्लिम समुदाय को समुदाय के रूप मे ही प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। वॉयसरॉय ने मुस्लिम समुदाय के अतिरिक्त दावों के साथ भी सहानुभूति प्रकट की और प्रतिनिधिमण्डल के सदस्यों को बताया, "आप लोगो का यह दावा न्यायपूर्ण ही है कि आपकी स्थिति का अनुमान न केवल आपकी संख्या द्वारा लगाना चाहिए बल्कि ऐसा करते समय आपके समुदाय की राजनीतिक महत्ता और साम्राज्य के लिए की गई सेवा को भी सम्मुख रखना चाहिए।" उसने आगे चलकर कहा, "मै आप से पूर्ण सहमत हू। कृपा करके आप मुझे गलत न समझें; किन उपायो द्वारा समुदाय प्राप्त किए जा सकते हैं इसके बताने मे मेरा प्रयत्न नही है, परन्तु मेरा आपके समान ही दृढ विश्वास है कि भारत मे किसी भी प्रकार का वह निर्वाचन प्रतिनिधित्व बुरी तरह से असफल रहेगा जिसका उद्देश्य इस महाद्वीप की समुदायो से मिलकर बनी हुई जनता के विश्वास और परम्पराओं का ध्यान न रखते हुए व्यक्तिगत मताधिकार प्रदान करना हो।" अन्त मे वॉयसरॉय ने मुसलमानो को यह निश्चित विश्वास दिलाया कि "किसी भी प्रकार के प्रशासन मे जिसके साथ वह सम्बद्ध है उनके राजनीतिक अधिकारो और हितों का अभिरक्षण किया जायगा।"

प्रारम्भ मे लार्ड मॉर्ले (Lord Morley) ने भारत-सरकार द्वारा प्रस्तुत की गई पृथक् निर्वाचक-वर्गों की योजना का अनुमोदन नही किया, परन्तु अन्ततोगत्वा लार्ड मिण्टो के दबाव मे आकर उसे अनुमति प्रदान कर दी। आगा खा प्रतिनिधिमण्डल की वॉयसरॉय से भेंट के ठीक नब्बे दिन बाद मुस्लिम लीग (Muslim League) की स्थापना हो गई जिसका मुख्य उद्देश्य, जब कभी सम्भव होने पर सरकार द्वारा प्रस्तुत समस्त कार्यों का समर्थन करना, मुस्लिमो के हितों की रक्षा और वृद्धि करना, Indian National Congress के बढ़ते हुए प्रभाव का विरोध करना और मुस्लिम लीग के

दायरे के अन्दर सार्वजनिक जीवन के लिए नवयुवक और शिक्षित मुस्लिमो को आकर्षित करना था।

मॉर्ले-मिण्टो सुधारो ने मुस्लिमो को एक समुदाय के रूप मे पृथक् निर्वाचक-वर्ग और स्थानो की सुरक्षा दे डाली थी। पृथक् निर्वाचक-वर्ग प्रणाली शरारतपूर्ण थी क्योंकि इससे भारत की राजनीतिक एकता के टूटने का भय था और इसने १९४७ मे देश को वस्तुत विभक्त कर ही डाला। बगाल के विभाजन से पूर्वी बगाल और मुस्लिम बहुसख्यक आसाम के एक पृथक् प्रान्त को बनाकर कर्जन (Curzon) ने विषमय साम्प्रदायिक चेतना को जगा दिया था। मॉर्ले-मिण्टो सुधारो ने सारे देश के अन्दर साम्प्रदायिकता के विष-दन्तो को फैलाकर उसे एक अधिक ठोस रूप प्रदान कर दिया और बीसवी शताब्दी मे ब्रिटिश साम्राज्य को सबसे बडी विजय दिलवा दी। महात्मा गाधी ने उचित ही कहा था कि "मिण्टो-मॉर्ले सुधारो ने हमारा किया-कराया नष्ट कर दिया। यदि पृथक् निर्वाचक वर्गों की उस समय स्थापना न होती तो हम (हिन्दुओ और मुस्लिमो) ने अब तक अपने मतभेदो का निपटारा कर लिया होता।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली इतिहास और राजनीतिक सदाचार की समस्त महिताओं के विरुद्ध बात थी। यह पहले भी कभी कही विद्यमान नही थी और शायद साम्राज्यवाद के सबसे बुरे अनुयायियों के द्वारा भी और कही इस प्रकार से किसी देश के लोगो को बाटने के लिए इसके प्रयोग पर विचार नही किया गया था। किन्तु अग्रेजो ने भारतीयो को धर्मो और वर्गो मे बाटकर ऐसा कर दिखाया और परिणामत. प्रत्येक के विरुद्ध राजनीतिक गुटो का निर्माण करके लोगो को कट्टर पक्षपोषी के रूप मे चिन्तन करने की शिक्षा दी, नागरिको के रूप मे चिन्तन करने के लिए शिक्षित नही किया। इसके परिणाम भयकर निकले। जवाहरलाल नेहरू ने इस विषय मे अपने विचार इस तरह प्रकट किए, "मुसलमानों को शेष भारत से पृथक् करते हुए उनके चारों ओर एक प्रकार की एक राजनीतिक दीवार खडी कर दी गई जिसने शताब्दियों से चली आने वाली एकता पैदा करने वाली और मिलन की प्रक्रिया को भी उल्टा कर दिया .... पहले-पहल यह रुकावट अथवा अवरोधक छोटा सा रूप लिये हुए था क्योंकि निर्वाचक-वर्ग सीमित था, परन्तु मतदान के अधिकार की प्रत्येक वृद्धि के साथ यह अवरोधक भी बढने लगा जिसने सार्वजनिक और सामाजिक जीवन के समस्त ढाचे पर प्रभाव डाला क्योंकि इसका रूप एक घाव के समान था जिसके द्वारा सारी प्रणाली दूषित हो गई। नगरपालिका और स्थानीय स्वायत्त शासन विषमय बन गया और अन्त मे जाकर उसने अकल्पनीय मतभेदो को जन्म दिया। इसके साथ ही पृथक् से मुस्लिम श्रमिक सघो, छात्र सगठनों और व्यापारी मण्डलों का भी निर्माण होने लगा ... ये निर्वाचक वर्ग जो पहले-पहल मुसलमानो के लिए बनाए गए थे अब अन्य अल्पसख्यकों और समूहों मे भी फैल गए और भारत इन पृथक्तावादी सविभागो को लिये हुए एक कुट्टिम-चित्र (mosaic) बन गया। उनमे से ही सब प्रकार की पृथक्तावादी प्रवृत्तिया उत्पन्न हो गई और अन्तत: भारत-विभाजन की माग भी पैदा हो गई।"[1]

---

1. Jawahar Lal Nehru, The Discovery of India, pp. 295-96. Also refer to the Report of the Indian Statutory Commission, Vol. I, p. 29.

१९३० में सर मुहम्मद इकबाल (Sir Mohammad Iqbal) द्वारा मुस्लिम लीग को दिए गए एक भाषण मे देश को विभक्त करने की सर्वप्रथम स्पष्ट अभिव्यक्ति पायी जाती है। उस समय उनके मन मे मुख्यतया उस भाग का मानचित्र था जो आजकल पश्चिमी पाकिस्तान है। १९३० के ही नवम्बर और दिसम्बर मासो मे चौधरी रहमत अली (Choudhari Rahmat Ali) पहली गोलमेज कान्फ्रेंस (Round Table Conference) के दिनों मे लन्दन मे कई एक मुस्लिम नेताओ से मिले और उन्हे विभाजन की अपनी योजना विस्तार से बताई जिसका कि नामकरण उन्होंने पाकिस्तान किया था।[1] किन्तु मुस्लिम लीग की परिषद् ने उनके (सभापति सर मोहम्मद इकबाल के) भाषण पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया और ना ही उस विषय मे कोई ठोस प्रस्ताव प्रस्तुत किया।[2] बाद में चौ० रहमत अली, मुहम्मद असलम खा, शेख मुहम्मद सादिक और इनायतुल्लाह खां द्वारा लिखे गए *Now or Never*—अब या कभी नहीं नामक एक चार पृष्ठ के पर्णक (leaflet) को १९३३ मे कैम्ब्रिज (Cambridge) से निजी रूप से घुमाया गया जिसमें यह दावा किया गया कि "ऐसा ३ करोड ३० लाख भाइयो के नाम पर लिया गया है जो पाकिस्तान मे रहते हैं—जिससे हमारा अर्थ भारत के पाच उत्तरी एककों से है जिनका नाम पजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, काश्मीर, सिन्ध तथा बलूचिस्तान है।" उन्होंने गोलमेज कान्फ्रेंस मे निर्णीत सघ-योजना का विरोध किया और इस बात पर बल दिया कि "पाकिस्तान के मुसलमान, जो स्पष्टतया एक राष्ट्र है अपनी फ्रास के आकार वाली स्वदेश-भूमि और फ्रासीसी जनता के तुल्य जनसख्या के साथ इस बात की माग करते है कि उन्हे एक पृथक् राष्ट्र के दर्जे के रूप मे मान्यता प्रदान की जाये।"

संयुक्त प्रवर समिति के मुस्लिम प्रतिनिधियों ने पाकिस्तान को 'केवल एक छात्रों की योजना' ही समझा। उनमे से एक ने तो यहां तक कह डाला कि, "यह एक काल्पनिक और अव्यवहारिक योजना है।" १९३३ मे सर मुहम्मद शाह नवाज (Sir Mohammed Shah Nawaz) ने जो पजाब मुस्लिम लीग के सदस्य थे *Confederacy of India* नामक एक पुस्तक छापी और लेखक के स्थान पर नाम न बताते हुए एक पजाबी-(A Punjabi) को उसका लेखक बताया। उस पुस्तक मे बतायी गई योजना के अनुसार भारत को पाच प्रदेशों मे विभक्त किया गया था—(१) सिन्धु प्रदेश (The Indus Region), (२) हिन्दू भारत (Hindu India), (३) राजस्थान (Rajasthan), (४) दक्षिणी रियासते (Deccan States) और (५) बगाल (Bengal)। चौ० रहमत अली द्वारा पाकिस्तान की योजना के असदृश 'एक पजाबी' एककों के बिलकुल पृथक्करण की विचारधारा के पक्ष मे नहीं था। उसने विभिन्न एककों के बीच एक शिथिल सम्मेलन के पक्ष का समर्थन किया था, "पृथक् देशो को भारत के प्रसन्धान मे पुनः इकट्ठा करना चाहिए।" कुछ समय के पश्चात् पजाब के मुख्य मंत्री सर सिकन्दर हयात खा (Sir Sikander Hayat Khan) ने भी "भारतीय सघ की एक योजना की रूपरेखा"

---

1. P for Punjab, A for Afghanistan, K for Kashmir, S for Sind and Istan for Baluchistan.
2. Khaliquzzaman, Pathway to Pakistan, p. 238.

(Outlines of a Scheme of Indian Federation) प्रस्तुत की थी। उन्होंने भी भारत को सात प्रदेशों मे विभक्त करने का प्रस्ताव रखा था जो केन्द्र की सीमित शक्ति द्वारा ही आपस में जुड़े थे। सर सिकन्दर ने पाकिस्तान का नारा बुलन्द करने मे उत्पन्न होने वाले आन्तरिक खतरों को पहले से ही देख लिया था।

१९३५ के भारत सरकार अधिनियम (Govt. of India Act, 1935) ने पाकिस्तान 'मत' की ओर कोई ध्यान नही दिया। "जिन्नाह (Jinnah) और मुस्लिम लीग की पूर्ण स्वीकृति से अन्य साधनों द्वारा मुस्लिम हितों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया था।"[1] इसके द्वारा एक ऐसे संघ की स्थापना की कल्पना की गई थी जिसके अधीन प्रान्तो द्वारा प्रान्तीय स्वायत्तता का एक बहुत अधिक मात्रा मे उपभोग किया जाना था। सिन्ध को बम्बई प्रेजीडेन्सी से पृथक् कर दिया गया था और उसे एक अलग प्रान्त बना दिया गया और इस प्रकार कुल ११ प्रान्तों मे से बंगाल, पजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त (N.W.F.P) और सिन्ध-मुस्लिम बहुल प्रान्तों का निर्माण कर दिया गया। मुस्लिमों के लिए स्थानों की सुरक्षा के साथ-साथ पृथक् निर्वाचक वर्गों की प्रणाली चलती रही। यह बात भी कल्पित की गई थी कि देशी रियासतों अर्थात् रजवाड़ो को भी संघ मे सम्मिलित किया जायगा और उनके प्रतिनिधित्व मे पड़ने वाला प्रभाव केन्द्र पर सम-तुलितता स्थापित करेगा। जब कि प्रान्तो और चीफ कमिश्नरियों के लिये सब का एक बनना आवश्यक था, रजवाड़ों के लिए यह ऐच्छिक बात थी। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम का सन्धानीय भाग (Federal Part) केवल तभी प्रवर्तित किया जा सकता था, जब इमसे पूर्व दो शर्ते पूरी हो। एक तो यह कि रियासतों के शासकों द्वारा रियासतों की कुल जनसख्या के आधे से कम का प्रतिनिधित्व न हो और वे उच्च सघीय सदन में नियत किए जाने वाले स्थानों मे से आधे से कम के अधिकारी न हों और दूसरी यह कि ससद् के दोनों सदन सम्राट् को एक समावेदन प्रस्तुत करें जिसमें सघ स्थापना के लिए कहा गया हो।

इस प्रकार १ अप्रैल, १९३७ को भारत सरकार अधिनियम, १९३५ (Govt. of India Act, 1935) का प्रान्तीय भाग (Provincial Part) ही प्रवर्तित हुआ। सन्धानीय भाग को लागू करने को आवश्यक रूप से आस्थगित कर देना पड़ा। १९३९ तक रियासतों के शासको से उनके सधान-प्रवेश के बारे मे अभी बातचीत चल ही रही थी कि सितम्बर मे द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया। वॉयसरॉय ने सन्धानीय भाग को युद्ध की समाप्ति तक विलम्बित कर दिया। पर जो भी हो, देश मे युद्ध के बाद कई प्रकार की राजनीतिक परिस्थितियों के उत्पन्न होने के कारण इस भाग को फिर पुनरुज्जीवित नहीं किया जा सका। प्रान्तीय दिशा के विषय मे Indian National Congress ने चुनाव लड़ने के बाद जिन प्रान्तो मे पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लिया था उनके नाम ये थे—मध्य प्रान्त (The Central Provinces), सयुक्त प्रान्त (The United Provinces), बिहार (Bihar) और उड़ीसा (Orissa)। परन्तु बम्बई, उ०-प० सीमाप्रान्त, बगाल और आसाम मे Indian National Congress

1. Penderel Moon, *Divide and Quit*, p. 13.

सबसे बड़े एकल दल के रूप मे प्रकट हुई। मुस्लिम लीग को मुस्लिम बहुसख्यक प्रान्तों में भी जोरदार विजय प्राप्त न हो सकी। बल्कि उसकी यह विजय उन प्रान्तों मे हुई जहा मुस्लिम अल्पसख्या मे थे। सम्भवत. इसके चुने गए सदस्यों की सबसे बड़ी सख्या संयुक्त प्रान्त मे थी जहा मुस्लिम कुल जनसख्या के केवल १६ प्रतिशत थे और "अपनी संख्या के व्यनुपाती (disproportionate) होते हुए भी अपनी राजनीतिक महत्ता बनाए रखने में सफल हो गए थे।[1] इसी स्थान से वास्तव मे पाकिस्तान की पुकार प्रारम्भ हुई थी। जाविद इकबाल (Javid Iqbal) का कथन है कि, "इस बात का ध्यान मे आना बड़ा स्च्याकर्षक है कि मुस्लिम राष्ट्रीय चेतना मुस्लिम-बहुसख्यक प्रान्तो मे आने से पूर्व हिन्दू बहुसख्यक प्रान्तों मे विकसित हुई थी, मुस्लिम बहुसख्यक प्रान्तो मे इस्लाम का कार्य प्रतिरक्षी था। ये तो हिन्दू बहुसंख्यक-प्रान्तों के ही मुस्लिम थे जिन्होंने समस्त मुस्लिम भारत को इस बात के लिये चैतन्य किया कि 'इस्लाम खतरे मे' है।"[2]

तत्कालीन वॉयसरॉय लार्ड लिनलिथगो (Lord Linlithgow) द्वारा इस बात का निश्चित भरोसा दिलाने पर कि गवर्नर (Governors) प्रान्तों के दैनिक प्रशासन मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करेंगे कांग्रेस ने जून, १९३७ मे उ०-प० सीमा-प्रान्त, युक्त-प्रान्त, मध्य-प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, मद्रास तथा बम्बई में मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए अपनी सहमति दे डाली। १९३८ मे आसाम और सिन्ध मे कांग्रेस ने मिले-जुले मन्त्रिमण्डलों का निर्माण किया। बगाल और पजाब में गैर-कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल कार्य करते थे। प्रान्तीय विधान सभाओं के मुस्लिम लीगी सदस्य कुछ एक हिन्दू-बहुल प्रान्तों में और विशेषकर युक्त-प्रान्त मे यह आशा करते थे कि उन्हे कांग्रेस मिली-जुली सरकार बनाने के लिए निमन्त्रण देगी। परन्तु ऐसा नही किया गया। कांग्रेस ने विधान सभा में मुस्लिम-लीग दल को "एक पृथक् दल के रूप में कार्य न करने के लिए" कहा। पैण्डेरल मून (Penderal Moon) का कथन है कि, "यह बात एक बड़ी घातक गलती सिद्ध हुई और पाकिस्तान के निर्माण का मुख्य कारण बनी। परन्तु परिस्थितिवश ऐसा होना एक स्वाभाविक बात थी।"[3] मुस्लिम-लीग के नेताओं ने कांग्रेस के इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया और मि० जिन्नाह ने इस बात की घोषणा कर दी कि "कांग्रेस सरकार के अधीन मुस्लिम न तो न्याय और न ही निष्पक्ष व्यवहार की आशा कर सकते है" और साम्प्रदायिक शान्ति की समस्त आशा 'कांग्रेस-उग्रराष्ट्रिकता की चट्टानों' से टकराकर चूर-चूर हो गई है। तब से लेकर मुस्लिम लीग के लिए यह प्रचार करना एक धर्म बन गया कि किसी भी प्रकार की सयुक्त और स्वतन्त्र भारत सरकार में मुस्लिम कभी भी स्थायी रूप से अल्प-सख्या मे नही रहेगे और उस प्रकार की सम्भाव्यता को उलटने में उन्हे आवश्यक तौर पर जागरूक रहना चाहिए।

१९३७ और १९३९ के बीच के समय मे कांग्रेस मन्त्रिमण्डल अट्ठाईस महीनों तक सत्तारूढ़ रहे। भारत की स्वीकृति के बिना ही भारत को महायुद्ध में लपेट लिया गया.

---

1. Penderel Moon, *Divide and Quit*, p. 15.
2. Spann, R. N. (Ed.) *Constitution in Asia*, p. 135.
3. Penderel Moon : *Divide and Quit*, pp. 15-16.

और Indian National Congress ने उस महायुद्ध में किसी भी प्रकार का सहयोग देने के लिये इनकार कर दिया जो भारत के लोगों की स्वीकृति के बिना लड़ा जा रहा था और जिसका उद्देश्य भारत में और अन्य स्थानों में साम्राज्यवाद को समेकित करना था।" नवम्बर, १९३९ में जब काग्रेस के मन्त्रिमण्डलों ने त्याग-पत्र दे दिया तो मुस्लिम लीग ने काग्रेस द्वारा पद-त्याग को एक 'मुक्ति-दिवस' और ईश्वर के प्रति 'धन्यवाद-दिवस' के रूप मे मनाया। १९३९ मे लीग ने तीन प्रलेख अर्थात् दस्तावेज प्रकाशित किए जिनमे हिन्दुओं द्वारा मुस्लिमो के ऊपर किए गए अत्याचारों का वर्णन था और साथ ही काग्रेस के ऊपर गम्भीर दोषारोपण भी किया। पैण्डेरल मून (Penderal Moon) का उन दोषारोपणों के बारे में विचार प्रकट करते हुए यह कथन है कि, "(वहा) राई का पर्वत बनाकर दिखाया गया था और प्रतिदिन की नगण्य साम्प्रदायिक घटनाओं का चित्रण इस प्रकार रंगीन बनाकर किया गया था जिसका उद्देश्य केवल सार्वजनिक भावनाओं को ही उभारना था।"[1] प्रो० कूपलैण्ड (Prof Coupland) ने कहा था कि "एक निष्पक्ष अन्वेषक इसी निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि उनमे से कई दोष या तो बढ़ा-चढाकर बताए गए थे अथवा उनमें अत्यन्त गम्भीरता थी ··· और यह बात कदापि सिद्ध नही हुई कि काग्रेस सरकारों ने जान-बूझकर मुस्लिम-विरोधी नीतियाँ अपनायी थीं ··· कहना न होगा कि काग्रेस सरकार के विरुद्ध किए गए दोषारोपण पर प्रत्येक मुस्लिम ने बडी सरलता से विश्वास कर लिया।"[2]

मिस्टर जिन्नाह ने जिस तुरुप के पत्ते (Trump-Card) को खेलना था वह पीरपुर-प्रतिवेदन (Pirpur Report)[3] था "जिसमे उसको (पीरपुर के राजा को) बड़े परिश्रम से बताई गई उन घटनाओं के एकपक्षीय उदाहरण थे जिनमे हिन्दुओं ने मुस्लिमों के ऊपर आपत्तियो के पहाड तोडे थे और जहा हिन्दू-नेताओं का स्वाग भरने वाले अत्यन्त अज्ञात व्यक्तियों के वाक्याशों के उद्धरण थे जिन्होंने अनजाने में कभी मुसलमानों के विरुद्ध कुछ कह दिया था।"[4] और मि० जिन्नाह इन आधारों पर अपना

1. Penderel Moon, *Divide and Quit*, p. 23.

2. Coupland R., The Constitutional Problem in India, Part II, pp. 184-85.

3 पीरपुर के राजा सैय्यद मुहम्मद मेहदी (Raja Sayed Mohammed Mehdi) के सभापतित्व के अधीन मुस्लिम लीग कार्यकारिणी समिति ने मार्च, १९३८ मे एक जाच समिति की स्थापना की थी। चौ० खालिकुज्जमा लिखते है कि, "जहा तक मुझे ज्ञात है समिति के किसी अन्य सदस्य ने काग्रेस प्रान्तों में मुसलमानों की दशा के बारे में प्रतिवेदन तैयार करने के लिए सामग्री एकत्रित करने के महान् कार्य में उसकी सहायता नही की और पीरपुर के राजा को अपने इस भारी कर्तव्य को निबाहने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करनी पड़ी।"—Pathway to Pakistan, p. 228.

4 Sri Prakash, *Pakistan : Birth and Early Days*, p. 6. श्री प्रकाश पाकिस्तान को भेजे जाने वाले भारत के सर्वप्रथम उच्चायुक्त, High Commissioner, थे।

पाकिस्तान लेने पर तुले हुए थे। उसने श्रीप्रकाश को कहा था, "जैसे ही पाकिस्तान की स्थापना होती है समस्त सम्भाव्य समस्याएं तुरन्त ही हल हो जाएगी।"[1] यह बात १९३९ की थी। जब ११ सितम्बर, १९३९ को भारत सरकार अधिनियम, १९३५ का सन्धात्मक भाग (Federal Part) निलम्बित कर दिया गया तो उस समय मुस्लिम लीग ने एक प्रस्ताव पारित कर इस प्रकार के निलम्बन का स्वागत किया और इस बात की मांग की कि भारत की सवैधानिक समस्या पर फिर नए सिरे से विचार करना चाहिए, और लीग को इस बात का विश्वास मिलना चाहिए कि मुस्लिम लीग की स्वीकृति तथा अनुमोदन के बिना भारत के लिए सवैधानिक उत्थान सम्बन्धी प्रश्न पर कोई घोषणा नहीं की जायगी और न ही इनके बिना सम्राट् का शासन और ब्रिटिश ससद् किसी प्रकार के संविधान का निर्माण करेगी और अन्तिम रूप से उसे स्वीकार करेगी। जिस दिन काग्रेस सरकारों के त्याग-पत्र का दिन 'मुक्ति-दिवस' के रूप मे मुस्लिम लीग द्वारा मनाया गया था उसके एक दिन बाद, २३ नवम्बर को, वॉयसरॉय लार्ड लिनलिथगो (Lord Linlithgow) ने मिस्टर जिन्नाह को लिखा, "भारत मे किसी भी प्रकार के सवैधानिक विकास के स्थायित्व और सफलता के विषय मे मुस्लिम समुदाय की देन के महत्त्व के बारे मे सम्राट् की सरकार किसी प्रकार के भ्रम मे नहीं है। अतएव, आपको इस बात का भय नहीं होना चाहिए कि भारत मे आपके समुदाय की स्थिति अपने विचारों को जो महत्त्व आवश्यक रूप से प्रदान करती है उसको कम समझा जायगा।" २३ फरवरी, १९४० को मिस्टर जिन्नाह ने वॉयसरॉय को फिर लिखा जिसमें इस बात का विश्वास दिलाने की फिर माग की गयी थी कि, "हमारे अनुमोदन और स्वीकृति के बिना किसी अन्य दल के साथ अन्तरिम समझौता अथवा भारत के भावी सविधान के विषय में कोई वचनबद्धता नहीं की जायेगी।"

इसके पश्चात् मार्च १९४० मे मुस्लिम लीग का लाहौर मे अधिवेशन हुआ। अपने प्रधान-पद से भाषण देते हुए मिस्टर जिन्नाह ने हिन्दू-धर्म और इस्लाम-धर्म के बीच विद्यमान अन्तर पर बल दिया। उन्होंने कहा कि हिन्दू धर्म और इस्लाम ठीक अर्थों में धर्म नहीं है, बल्कि वास्तव मे वे विभिन्न और पृथक् सामाजिक व्यवस्थाए है और यह एक स्वप्न ही है कि हिन्दुओं और मुसलमानो द्वारा एक सामान्य राष्ट्रीयता विकसित हो सकती है··· हिन्दू और मुस्लिमो का दो प्रकार के धार्मिक दर्शनों, सामाजिक प्रथाओं और साहित्यों से सम्बन्ध है।··· एक एकल राज्य के अधीन इस प्रकार के दो राष्ट्रों को इकट्ठा जोत देना, जिनमे से एक राष्ट्र अल्पसख्यक है और दूसरा बहुसख्यक, आवश्यक तौर पर बढ़ते हुए असन्तोष को पैदा करने वाला होगा और साथ ही यह इस प्रकार के राज्य मार्च २३, १९४० को पारित किए गए एक प्रस्ताव में लीग ने प्रभुसत्ता सम्पन्न स्वतन्त्र पाकिस्तान की माग कर डाली। अन्य बातों के साथ-साथ प्रस्ताव इस प्रकार था, "प्रस्तावित किया जाता है कि अखिल भारतीय मुस्लिम लीग (All India Muslim League) के इस अधिवेशन का यह सुविचारित दृष्टिकोण है कि इस देश में कोई भी सवैधानिक योजना तब तक काम करने योग्य नहीं बन सकती और मुस्लिमों को स्वीकृत नहीं हो सकती जब तक यह निम्नलिखित आधारभूत सिद्धान्तो के आधार पर तैय्यार नहीं की

1. Ibid.

जाती, अर्थात् भौगोलिक दृष्टि से, साथ लगी हुई इकाइया प्रदेशो में सीमाकित की जाये। जो प्रदेश आवश्यकतानुसार प्रादेशिक समायोजन के साथ इस तरह से निर्मित किए जाने चाहिए ताकि वे क्षेत्र, जिनमे मुस्लिम सख्या की दृष्टि से अधिकता मे हों, जैसे भारत के उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी प्रदेश, 'स्वतन्त्र राज्य' (Independent States) वनने के लिए सम्मिलित किए जा सके जिनमे घटक, एकक स्वायत्तशासी और सर्वप्रभुता-सम्पन्न होंगे।" इस प्रकार, पाकिस्तान प्रस्ताव ने स्पष्टतया भारत के विभाजन की और मुस्लिम-बहुल प्रदेशो को जैसे कि उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी प्रदेश थे, स्वतन्त्र राज्यों के रूप मे इकट्ठा करने की माग रखी अर्थात पूर्ण सर्वप्रभुतासम्पन्न और स्वायत्तशासी शक्तियो के साथ पजाव, उ०-प० सीमाप्रान्त तथा बलूचिस्तान के सघ की माग की और पूर्व मे अन्य राज्यो के सघ की माग की जिसके पास भी इसी प्रकार की शक्तिया होनी थी।

पैण्डेरेल मून (Penderel Moon) इस वक्तव्य के लिए उत्तरदायी है कि, "जिन्नाह ने, निजी रूप से, लाहौर मे एक या दो व्यक्तियो को यह वताया था कि यह प्रस्ताव एक प्रकार की चाल है, और यह तथ्य कि छह वर्ष वाद वह पूर्ण विभाजन से कुछ कम वस्तु को स्वीकार करने के लिए तैय्यार था इस बात की ओर सकेत करता है कि १९४० मे वह विभाजन के लिए वास्तव मे अप्रतिसहार्यतया वचनवद्ध नही था। अतएव, कुछ अशो मे उस समय यह कोई चाल ही रही होगी ताकि जिसके द्वारा कांग्रेस से कुछ ऐसी छूट और निचोड ली जाए जिससे साझेदारी अधिक सह्य हो सके।"[1] जो भी बात रही १९४७ तक भावी घटनाओ का आकार स्पष्ट नही हुआ था। परन्तु सर सिकन्दर हयात खा "इस प्रस्ताव द्वारा गम्भीर रूप से उलझन मे पड़ गए थे।" उन्हें पाकिस्तान के विचार से वडी घृणा थी और अनादरपूर्ण भाव से वह उसे जिन्निस्तान भी कह देते थे। एक से अधिक वार उन्होंने सार्वजनिक रूप से कहा था कि पाकिस्तान का अर्थ "यहा मुस्लिम राज और अन्य जगह हिन्दू राज है," उनका इससे कुछ सरोकार नही है। बगाल के मुख्य मन्त्री मिस्टर फजलुल हक (Mr. Fazul-ul-Haq) भी पाकिस्तान-विरोधी थे। यद्यपि उसने सार्वजनिक रूप से इस माग का खण्डन नही किया था। उन लोगों के इस विषय मे विरोध की अन्दरली या वाहरली सीमा जो कुछ भी रही हो पर पाकिस्तान योजना मुस्लिमो को आकर्षित करती रही। "मुस्लिम जन-साधारण के लिये यह हिन्दुओं को लूटने की एक दुष्परिमापित और आकर्षक प्रत्याशा का सूचक था। अधिक स्वच्छ दृष्टि रखनेवाले और उच्चाभिलाषी राजनीतिज्ञो और असैनिक कर्मचारियो के लिए और कुछ पेशेवर आदमियों के लिए भी यह एक अच्छा अवसर था क्योंकि उन्होंने देख लिया था कि मुस्लिम राज मे वे, हिन्दु-प्रतियोगिता के लंगड़े वन जाने से (यदि वह विलकुल समाप्त न हो पाये) शक्ति और सम्पन्नता की उन स्थितियां पर पहुच सकते है, जो स्थितिया एकल मिश्रित हिन्दू-मुस्लिम राज्य मे उनके लिए अप्राप्य रहेंगी। इस प्रकार पाकिस्तान की पुकार ने शक्तिशाली स्वार्थों की

1. Penderel Moon, *Divide and Quit*, p. 21.

नून और व्यक्तिगत आशाओं को नचाया और एक बार भड़क उठने पर वे जल्दी से शान्त नहीं हो पाई।"[1]

१९४० में विन्स्टन चर्चिल (Winston Churchill) इंग्लैंड की राष्ट्रीय सरकार के प्रधान मन्त्री बने थे और मिस्टर एल० एस० एमेरी (Mr L S Amery) इण्डिया आफिस के मुखिया बने। ८ अगस्त, १९४० को वायसराय ने भारत के राजनैतिक भविष्य के बारे में एक वक्तव्य दिया। उसने ब्रिटिश सरकार के ऊपर रहने वाले कुछ दायित्वों और उत्तरदायित्वों के अधीन भारतीयों द्वारा स्वयं अपने हाथों अपना संविधान निर्माण करने के अधिकार को मान्यता प्रदान की। उसने घोषणा की कि युद्ध के बाद संविधान निर्माण करने वाले निकाय की स्थापना की जायगी। वायसराय का वक्तव्य मुस्लिम लीग को दिए गए निश्चित आश्वासनों से गर्भित था कि ब्रिटिश सरकार किसी भी ऐसी शासन-प्रणाली को सत्ता स्थानान्तरित नहीं करेगी जिसकी सत्ता "भारत के राष्ट्रीय जीवन के वृहत् और शक्तिशाली तत्त्वों द्वारा प्रत्यक्षतः नकारी जायगी।" युद्ध के दौरान में एक अन्तरिम उपाय के रूप में वायसराय "प्रतिनिधित्व करनेवाले कुछ भारतीयों को कार्यपालिका परिषद् में सम्मिलित होने का और युद्ध-मन्त्रणा परिषद् की स्थापना करने का निमंत्रण देगा। कांग्रेस द्वारा यह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया। नवम्बर, १९४१ में जापान द्वारा युद्ध में कूद पड़ने पर ब्रिटिश सरकार स्थिति की गम्भीरता पर विचार करने के लिए बाध्य हो गई। तदनुसार, मार्च ११, १९४२ को चर्चिल (Churchill) ने घोषणा की कि युद्ध मन्त्रि-परिषद् का एक सदस्य सर स्टैफोर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वीकृत संवैधानिक सुधार के कुछ प्रस्तावों की व्याख्या करने के लिए भारत जायगा और "व्यक्तिगत परामर्श द्वारा मौके पर अपने को सन्तुष्ट करेगा" कि "वे प्रस्ताव अपना उद्देश्य प्राप्त करने में सफल होंगे।"

क्रिप्स (Cripps) जो प्रस्ताव अपने साथ लाये थे वे ३० मार्च, १९४२ को प्रकाशित कर दिए गए। वे प्रस्ताव एक अन्तरिम और दीर्घावधि समझौता अन्तर्निहित करते थे। भारत का लक्ष्य अधिराज्य प्रास्थिति (Dominion Stuats) को प्राप्त करना घोषित किया गया। युद्ध-समाप्ति के फौरन बाद उन्हें लागू करने के लिए भारत में एक निर्वाचित निकाय की स्थापना के सम्बन्ध में कदम उठाए जाने थे जिस निकाय को भारत का नया संविधान निर्मित करने का कार्य सौंपा जाना था। संविधान बनाने वाले निकाय के साथ भारतीय रियासतों को भी सम्बद्ध करना था। इस प्रकार बनाए गए संविधान को ब्रिटिश सरकार द्वारा लागू किया गया था, परन्तु भारत का कोई भी प्रान्त यह अधिकार रखता था कि वह नए संविधान को अस्वीकृत कर दे और अपनी वर्तमान संवैधानिक स्थिति बनाए रखे परन्तु इस बात का प्रबन्ध कर लिया गया था कि इच्छा होने पर वह फिर बाद में शामिल हो सके। अप्रवेशी प्रान्तों के साथ, यदि वे ऐसी इच्छा प्रकट करें, ब्रिटिश सरकार एक ऐसे नये संविधान पर सहमत होने के लिए तैय्यार होगी जिसके द्वारा उन्हें भारतीय संघ जैसी वही पूर्ण प्रास्थिति प्राप्त हो सके। संविधान निर्मातृ निकाय तब ब्रिटिश सरकार से एक ऐसी संधि करेगा जो ब्रिटिश हाथों से भारतीय हाथों में

1. Penderel Moon, *Divide and Quit*, p. 22.

उत्तरदायित्व के सम्पूर्ण स्थानान्तरण से उठने वाले आवश्यक मामलों को अन्तर्हित कर लेगी और जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की प्रत्याभूति अर्थात् गारण्टी देगी। इस बात का विधान किया जाना कि किसी भी प्रान्त को संविधान अस्वीकार करने की स्वतन्त्रता होगी और ब्रिटिश सरकार से समझौता करके वह अपने लिए एक नया संविधान बना सकेगा, अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की माग स्वीकार करने के बराबर था। क्योंकि क्रिप्स-प्रस्तावों का उद्देश्य कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों को प्रसन्न करना था अतः वे किसी को भी प्रसन्न न कर सके और रद्द कर दिए गए।

क्रिप्स-प्रस्तावों के अस्वीकृत होने के पश्चात् देश की राजनीतिक स्थिति में अत्यन्त शीघ्रता से गिरावट आने लगी। कांग्रेस की कार्यकारिणी परिषद् ने जुलाई, १४, १९४२ के एक प्रस्ताव द्वारा इस बात की माग की कि ब्रिटिश सरकार फौरन ही भारत से अपनी सत्ता का अपत्याग कर दे और यदि यह माग अस्वीकृत कर दी जाय तो कांग्रेस एक विस्तृत अहिंसक संघर्ष करने के लिए बाध्य हो जायगी। यह बात 'भारत छोड़ो' (Quit India) नामक अन्तिम प्रस्ताव था। ९ अगस्त, १९४२ को सरकार ने कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के समस्त सदस्यों को महात्मा गांधी और कांग्रेस के कुछ अन्य चोटी के नेताओं के साथ कैद कर लिया। अखिल भारतीय और प्रान्तीय कांग्रेस समितियों को अवैध घोषित कर दिया गया और उसके पश्चात् सर्वदमन और सनिरोध की नीति का सूत्रपात कर दिया गया। सरकार की इस दमनकारी नीति का परिणाम दूरविस्तृत अन्तर्ध्वंस, हिंसा और अपराध में निकला। मिस्टर जिन्नाह भारत में होने वाली इन घटनाओं के बारे में बड़े भयभीत हो गए। स्वतन्त्रता के जोश से अनुप्राणित हुए लोगों की यह खुली क्रान्ति उनकी कल्पना से बाहर की वस्तु थी। कहीं मुस्लिम युवकों का जोश भी स्वतन्त्रता के लिए इसी तरह की अभिव्यक्ति न करे इस डर से मि० जिन्नाह ने मुसलमानों के ऊपर इस बात को अंकित करने का यत्न किया कि 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन केवल अंग्रेजों के ही विरुद्ध नहीं चलाया गया है अपितु इसका उद्देश्य भारत के मुसलमानों को स्थायी रूप से हिन्दुओं के अधीनस्थ करना भी है। मुस्लिम लीग की कार्यकारिणी समिति ने यह घोषणा की है कि, "यह आन्दोलन न केवल ब्रिटिश सरकार के ऊपर यह दबाव डालने के लिये चलाया गया है कि वह हिन्दू अल्पतन्त्र को शक्ति सौंप दे और इस प्रकार वह सरकार मुसलमानों और भारत के अन्य लोगों के साथ किए गए अपने प्रणों और नैतिक दायित्वों का पालन करने में अशक्त हो जाये बल्कि इसलिए भी चलाया गया है कि ताकि मुसलमान कांग्रेस की शर्तों और आज्ञाओं के सम्मुख सिर झुकाने और अपने आप को सौंप देने के लिए बाध्य हो जाय।" अक्टूबर, १९४३ में लार्ड वैवेल (Lord Wavell) लार्ड लिनलिथगो (Lord Linlithgow) के स्थान पर वॉयसराय नियुक्त हुए। १७ फरवरी, १९४४ को केन्द्रीय विधानमण्डल के सम्मुख भाषण देते हुए वायसराय ने कहा, "आप लोग भूगोल में परिवर्तन नहीं ला सकते। प्रतिरक्षा और कई प्रकार के आन्तरिक और बाह्य आर्थिक समस्याओं के दृष्टिकोणों से भारत एक इकाई है।" भारत की एकता का यह स्वर लीग के नारे 'विभक्त कर दो और छोड़ दो' से अत्यन्त उलट था।

मुस्लिम लीग द्वारा देश-विभाजन के सतत आग्रह ने कांग्रेस के कई सदस्यों में यह भावना पैदा कर दी कि "पृथक् हो जाओ और बात समाप्त कर लो" और सी०

और सिन्ध को छोडकर सब प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बनाए गए। पजाब मे सघियो (Unionists), सिक्खो और काग्रेस से मिलकर एक मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बनाया गया।

चुनावो के पूरा हो जाने के पश्चात् और प्रान्तों में मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हो जाने के बाद अब सितम्बर, १९४५ की घोषणा के दूसरे भाग को लागू किए जाने की बारी थी। १९४५-४६ की सर्दियो मे ब्रिटेन के विभिन्न दलों मे से चुनकर बनाया गया एक ससदीय प्रतिनिधिमण्डल (Parliamentary Delegation)—इस उद्देश्य को लेकर भारत आया ताकि वह सारे देश में घूम-फिरकर देश की सामान्य राजनीतिक स्थिति के बाद मे अपनी राय कायम कर ले। घर लोटने के बाद प्रतिनिधिमण्डल ने सामान्य रूप से ब्रिटिश जनता और विशेषकर के ससद् सदस्यों के सम्मुख भारत-यात्रा द्वारा अपने ऊपर पडी हुई छाप का अनौपचारिक रूप से वर्णन करना था। १८ फरवरी, १९४६ को ब्रिटिश सरकार ने ससद् मे एक महत्त्वपूर्ण घोषणा की। तीन कैबिनेट के मन्त्रियो का एक मिशन जो भारत के राज्य-सचिव (Secretary of State for India) लार्ड पैथिक लॉरेन्स (Lord Pethic Lawrence), व्यापार बोर्ड (Board of Trade) के अध्यक्ष सर स्टैफोर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) और मिस्टर ए० वी० एलैग्जैण्डर (Mr. A.V. Alexander) नौ-विभाग के प्रथम लार्ड (First Lord of the Admiralty) से मिलकर बनेगा, भारत की यात्रा करेगा ताकि वॉयसरॉय और भारत के प्रतिनिधि तत्त्वों से परामर्श करके भारत के सविधान बनाने वाले सयत्र की स्थापना के विषय मे निर्णय लिया जा सके। १५ मार्च, १९४६ को प्रधान मन्त्री मिस्टर क्लेमेण्ट एटली (Mr. Clement Atlee) ने कॉमन सभा मे अल्प-सख्यको को अपने भाषण मे यह आश्वासन दिए थे कि उन्हे "भय-मुक्त होकर जीने के योग्य" बना देना चाहिए पर साथ ही यह भी कहा था कि "हम अल्पसख्यको को बहुसख्यको की उन्नति के ऊपर निषेधाधिकार रखने की आज्ञा नही दे सकते।"

२३ मार्च, १९४६ को कैबिनेट-मिशन का पदार्पण कराची मे हुआ और यह २९ जून को वापिस लौट गया। मई के महीनों में काग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों की एक कान्फ्रेंस शिमला में हुई। परन्तु दोनों दलो के बीच कोई समझौता न हो सका और कैबिनेट-मिशन ने १६ मई को एक रूपरेखा-योजना के रूप मे अपने निर्णय की घोषणा कर दी जिसे सम्राट् की सरकार का अनुमोदन भी प्राप्त था। Indian National Congress द्वारा प्रस्तुत सयुक्त भारत की योजना को रद्द कर दिया गया। मुस्लिम लीग का पाकिस्तान की स्थापना सम्बन्धी प्रस्ताव भी अस्वीकृत कर दिया गया। कैबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तावित योजना एक ऐसा प्रयास था जिसमें काग्रेस और लीग के दृष्टिकोणों से समझौता किया जा रहा था। इसके द्वारा समस्त भारत के लिए एक निर्बल संघ की स्थापना को प्रस्तावित किया जा रहा था। जिसमे प्रान्तों के पास कार्यपालिकाओं और विधानमण्डलों के साथ समूहों के बनाने की शक्ति निहित की गई थी, "इस प्रकार वास्तव मे तीन-पंक्ति (Three-Tiered) वाले सघ की रचना की जा रही थी।" अर्थात् प्रान्तों को तीन पृथक् समूहों मे विभक्त किया जाना था—मुस्लिम बहुल प्रान्तों के दो खण्ड, एक उत्तर-पश्चिम मे और दूसरा उत्तर-पूर्व मे और

एक खण्ड हिन्दू-बहुल प्रान्तों का । प्रत्येक प्रान्त को नए संविधान के अधीन हुए चुनावों के बाद समूह से बाहर आने की छूट थी बशर्ते कि इसका विधानमण्डल बहुमत द्वारा ऐसा निर्णय करे ।

ब्रिटिश भारत और रियासतों का प्रतिनिधित्व करनेवाले संविधान-निर्मातृ निकाय ने इस योजना पर कार्य करना था । प्रत्येक प्रान्त के लिए उसकी जनसंख्या के आधार पर स्थान निश्चित कर दिए गए । मोटे तौर पर दस लाख के लिए एक स्थान के अनुपात से ऐसा किया गया । ऐसा करते समय तीन मुख्य समुदायों में से प्रत्येक समुदाय का प्रतिनिधित्व करनेवाले सदस्यों की संख्या को भी ध्यान में रखा जाना था अर्थात् सामान्य (General) वे जो न मुस्लिम थे और न सिक्ख, मुस्लिम और सिक्ख । चुनाव एकल संक्रमणीय मत (Single Transferable Vote) के प्रयोग से आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा चुनाव किए जाने थे । प्रत्येक समुदाय के प्रतिनिधि प्रान्तीय विधानमण्डल के निचले सदन में वर्तमान उस समुदाय के निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुने जाने थे । भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों को चुनने का प्रकार राजाओं से बातचीत करने के द्वारा निर्धारित किया जाना था । प्रारम्भिक अवस्थाओं में रियासतों का प्रतिनिधित्व वार्तातन्त्र समिति (Negotiating Committee) द्वारा किया जाना था । इस आधार पर संविधान-निर्मातृ निकाय के लिए ब्रिटिश भारत से २९६ सदस्य लिये जाने थे (सामान्य २१०, मुस्लिम ७८, सिक्ख ४, और ४ मुख्य आयुक्तों के प्रान्तों से) और भारतीय रियासतों से । इसके सदस्यों की संख्या ९३ से अधिक नहीं होनी थी ।

प्रारम्भिक बैठक के बाद संविधान निर्मातृ निकाय को तीन अनुभागों में विभक्त किया जाना था । प्रत्येक अनुभाग को प्रान्तों के समूहों से मिलता-जुलता होना चाहिए था—पंजाब, उ०-प० सीमा-प्रान्त और सिन्ध 'बी' (B) समूह में थे, बंगाल और आसाम 'सी' (C) समूह में थे, तथा मद्रास, बम्बई, मध्य प्रान्त, युक्त प्रान्त, बिहार और उड़ीसा से मिलकर 'ए' (A) समूह बना था । देहली, अजमेर-मारवाड़ और कुर्ग ने 'ए' (A) समूह में मिलना था और बलूचिस्तान ने 'बी' (B) समूह में । प्रान्तीय संविधान और समूह संविधान यदि कोई बनने थे तो प्रत्येक अनुभाग द्वारा ही पृथक् रूप से उन पर अन्तिम फैसला होना था । इसके बाद इन अनुभागों को संघ के संविधान का निर्धारण करने के उद्देश्य से फिर इकट्ठा होना था । छोटे अल्पसंख्यक समुदायों के हितों का अभिरक्षण एक मन्त्रणा समिति की स्थापना द्वारा किया जाना था जिसका कार्य मूलभूत अधिकारों की एक ऐसी सूची को सुलझाना था जो केन्द्रीय, प्रान्तीय और समूह संविधान में समाविष्ट कर ली जाती ।

अन्तरिम सरकार गवर्नर-जनरल (Governor General) और एक ऐसी परिषद् से मिलकर बननी थी जिसमें समस्त विभाग, जिसमें युद्ध सदस्य भी सम्मिलित थे, उन भारतीय नेताओं के हाथों में होने थे जिन पर भारतीयों का पूर्ण विश्वास था । संविधान-निर्मातृ निकाय "सत्ता के स्थानान्तरण से उठने वाली कुछ मामलों का प्रबन्ध करने के लिए" इंगलैण्ड से एक सन्धि भी करेगा । "ब्रिटिश भारत द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर रजवाड़ों के ऊपर सर्वोपरिता (paramauntcy) न तो ब्रिटिश राज-

मुकुट (Crown) द्वारा अपने पास रखी जायगी और न ही वह उत्तराधिकार प्राप्त करनेवाली सरकार को स्थानान्तरित की जायगी।"

न तो Indian National Congress और न ही मुस्लिम लीग पूर्णतया कैबिनेट-मिशन के प्रस्तावों से सहमत हो सकी। जुलाई १९४६ में सविधान सभा के चुनाव हुए और कांग्रेस को २०५ और लीग को ७३ स्थान प्राप्त हुए। इसके बाद ही देश में नाटकीय ढंग की घटनाओं का सूत्रपात हो गया। मुस्लिम लीग जिसने पहले कैबिनेट मिशन योजना स्वीकार कर ली थी अब दूरावधि योजना को स्वीकार नहीं करती थी और पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए उसने 'सीधी कार्रवाई' (direct action) नामक एक कार्यक्रम तैयार किया जिसे आवश्यकता पड़ने पर लागू किया जाना था। मिस्टर जिन्नाह (Mr. Jinnah) ने घोषणा की, "हमने संवैधानिक तरीकों को विदाई दे दी है"। ६ अगस्त को वॉयसरॉय ने जवाहरलाल नेहरू को अन्तरिम सरकार बनाने का निमन्त्रण दिया। इससे पूर्व कि नई सरकार पदारूढ होती अथवा इसके सदस्यों के नाम घोषित किए जाते, "कैबिनेट मिशन की असफलता के प्रारम्भिक परिणाम दिखाई देने लग पड़े थे।" १६ अगस्त को, जिस दिन को मुस्लिम लीग ने 'सीधी कार्रवाई के दिन' के रूप में मनाया था कलकत्ता में निर्दय दंगे और कत्लेआम हुए और दंगों के उन चार दिनों के समय में ५,००० आदमी मारे गए और १५,००० घायल हुए। बंगाल की मुस्लिम लीग सरकार और उसके मुख्य मन्त्री मिस्टर सुहरावर्दी (Mister Suhrawardy) ने सब प्रकार की सलाह के विरुद्ध सीधी कार्रवाई दिवस को सार्वजनिक छुट्टी का दिन घोषित कर दिया "और यद्यपि उन्हें सम्भावित झगड़े के विषय में चेतावनी दे दी गई थी तथापि उन्होंने स्पष्ट रूप से पर्याप्त सावधानी नहीं बरती थी। दंगों के प्रारम्भ होने के बाद भी कर्फ्यू लगाने के मामले में अकारण विलम्ब किया गया और यही देरी फौज बुलाने में भी की गई। ब्रिटिश गवर्नर के जूं तक नहीं रेंगी और वह निष्क्रिय रहा। १९३५ के संविधान के अधीन प्रान्त की शान्ति और व्यवस्था को किसी गम्भीर भय से बचाने के विशेष उत्तरदायित्व से युक्त हुए उसका कर्त्तव्य यह था कि वह फौरन बंगाल सरकार की उपेक्षा या लापरवाही का उपाय करने के लिए हस्तक्षेप करता और इन भयंकर अव्यवस्थाओं का दमन करता। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। अगले वर्षों में निष्क्रियता का यह स्पष्ट उदाहरण दूसरों के द्वारा जो इतने महत्त्वपूर्ण स्थानों पर नहीं थे नकल किया जाना था।"[1]

वॉयसरॉय का विचार था कि 'सीधी कार्रवाई दिवस' से उत्पन्न होने वाली स्थिति के खतरे कुछ कम हो जायेंगे यदि लीग को अन्तरिम सरकार (Interim Government) में सम्मिलित होने के लिए मना लिया जा सके और वह एक बार फिर सविधान सभा में प्रविष्ट होकर दूरावधि प्रस्तावों को स्वीकार करने के लिए मनायी जा सके। वह अंशतः सफल भी हो गया क्योंकि २६ अक्टूबर को लीग अन्तरिम सरकार में सम्मिलित हो गई, पर उसने न तो सविधान सभा में प्रवेश किया और न ही दूरावधि प्रस्तावों को स्वीकार किया। परन्तु यह दो विचित्र शय्या-साथियों का मिश्रण था।

1. Penderel Moon, *Divide and Quit*, p. 58.

वास्तव में यह दोहरा शासन था। जैसा कि लियाकत अली खां (Liaquat Ali Khan) ने कहा था कि वहा एक कांग्रेस संवर्ग (block) था और एक मुस्लिम सवर्ग (block) था, प्रत्येक पृथक् नेतृत्व के अधीन कार्य कर रहा था। सरदार पटेल के शब्दों में, जो स्वयं भी सरकार के सदस्य थे, परिणाम के बारे मे यह कहा गया था कि, "सत्ता स्थानान्तरण के मध्य मे वर्तमान केन्द्रीय सरकार की स्थिति ऐसी है मानो उसे लकवा मार गया हो।"

२० फरवरी, १९४७ को प्रधान मन्त्री क्लेमैण्ट ऐटली (Clement Atlee) ने कॉमन सभा मे यह घोषणा की कि सम्राट् की सरकार की यह सुनिश्चित इच्छा है कि एक निश्चित तिथि तक जो जून १९४८ के बाद की न हो, उत्तरदायी भारतीयों के हाथों मे सत्ता का हस्तान्तरण के लिए आवश्यक कदम उठाए जायें। सब दलों को अपने मतभेदों को भुलाने के लिए कहा गया ताकि वे कैबिनेट-मिशन के प्रस्तावों के अनुसार संविधान बना सके। परन्तु ऐसा करने में असफल होने की स्थिति मे सम्राट् की सरकार को यह विचार करना पड़ेगा कि ब्रिटिश-भारत मे केन्द्रीय सरकार की शक्तियों को, निश्चित तिथि पर किसे सौंपा जाय, क्या ब्रिटिश भारत के लिए किसी स्वरूप की केन्द्रीय सरकार को समूचे रूप में सौंपी जाये, अथवा किन्ही क्षेत्रो में वर्तमान प्रान्तीय सरकारों को सौंपी जायें, अथवा वे किसी ऐसे अन्य तरीके से सौंपी जायें जो अत्यन्त युक्ति-युक्त प्रतीत हो और भारतीय जनता के सर्वोत्तम हितों के अनुकूल हो।"

पैण्डेरेल मून (Penderal Moon) ने ठीक ही कहा है कि इस घोषणा का अर्थ विभाजन था, और वह भी अगले सत्रह महीनों में। लन्दन में भले ही कोई कैसा सोचे, परन्तु दिल्ली मे प्रत्येक को पता था कि कैबिनेट-मिशन के प्रस्ताव गोश्त के समान मृत थे। उनके आधार पर कोई सविधान नही बनाया जाना था; और हिन्दू और मुस्लिम झगडे के कारण कोई ऐसी केन्द्रीय सरकार नही होनी थी, जो समस्त ब्रिटिश भारत के ऊपर शक्ति-प्रयोग के लिए समर्थ होती और जिसको वर्तमान भारत-सरकार की शक्तिया स्थानान्तरित की जा सकती। जो शक्ति ब्रिटिश लोगों के पास थी उसे विभक्त करना होगा ताकि उसका स्वेच्छा से परित्याग हो सके, जैसा कि वास्तव में मिस्टर ऐटली (Mr. Atlee) के वक्तव्य ने स्वय अस्पष्ट रूप से पूर्वाभासित कराया था। ऐटली (Atlee) की घोषणा के बाद ही उ०-प० सीमाप्रान्त, पंजाब, बंगाल, आसाम और देश के अन्य भागों में दूर विस्तृत सुनियोजित हिसाएं, कत्ल और सम्पत्ति का नाश करने वाले कार्य किए गए। मुस्लिम लीग अधीन बन गई थी क्योंकि सर सैय्यद अहमद खां कह गए थे कि दो राष्ट्र—मुस्लिम और हिन्दू एक सिंहासन पर नहीं बैठ सकते।[1]

२० फरवरी, १९४७ की घोषणा के साथ-साथ ही लार्ड वेवैल (Lord Wavell) के स्थान पर लार्ड लुईस माउण्टबैटन (Lord Louis Mountbatten) की नियुक्ति की गई ताकि सत्ता के हस्तान्तरण की भूमिका तैयार की जा सके। २४ मार्च, १९४७ को माउण्टबैटन (Mountbatten) ने वॉयसरॉय का पद ग्रहण किया, और भारत की राजनीतिक स्थिति के अध्ययन में लगभग दो मास लगाए। इस अवधि मे उसने अभूतपूर्व

1. Penderel Moon, *Divide and Quit*, pp. 62-63.

भयंकरता लिये हुए साम्प्रदायिक दंगों को देख लिया था और नगरों तथा गावों में दोनों जगह एक जैसी पागलपन की आग सारे देश भर में फैली हुई थी। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि समझौता तुरन्त होना चाहिए और सत्ता का हस्तान्तरण भी जून, १९४८ से पहले ही किया जाना चाहिए। उसने देश के विभाजन की एक योजना बनाई और दल के नेताओं को, अत्यन्त गोपनीयता के साथ उसकी मुख्य रूपरेखा से अवगत भी कराया और सिद्धान्त रूप से उनकी सहमति भी प्राप्त कर ली। तब उसके पश्चात् ब्रिटिश सरकार का अनुमोदन भी प्राप्त कर लिया गया और ३ जून, १९४७ को उसे सार्वजनिक रूप से घोषित भी कर दिया और वह योजना "नेहरू, जिन्नाह और बलदेवसिंह द्वारा सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर ली गई।"

विभाजन तथा पाकिस्तान
(Partition and Pakistan)

माउण्टबैटन योजना (Mountabatten Plan) सीधी-सादी थी। भारत को दो अधिराज्यों (Dominions) में विभक्त किया जाना था। पर यह पाकिस्तान मिस्टर जिन्नाह के स्वप्नों का पाकिस्तान नहीं था। यह कटे हुए मिले हुए क्षेत्र की किस्म का था जिसके अन्तर्गत पंजाब और बंगाल का भी विभाजन किया जाना था। विभाजन को एक लोकतान्त्रिक रूप देने के लिए मुस्लिम-बहुल प्रान्तों में सार्वजनिक राय को विभिन्न और जटिल प्रबन्धों द्वारा अभिलिखित किया गया। उनके सामने यह प्रश्न रखा गया कि क्या संविधान वर्तमान संविधान सभा द्वारा बनाया जाय अथवा किसी पृथक् संविधान सभा द्वारा? इसका परिणाम पहले ही जाना हुआ था। उ०-प० सीमाप्रान्त, पंजाब और बंगाल के मुस्लिम-बहुल भाग, सिन्ध और बलूचिस्तान इन सब ने एक पृथक् विधान सभा के लिए निर्णय किया। आसाम के सिलहट (Sylhet) जिले ने, जो अत्यन्त मुस्लिम-बहुल था, एक जनमत संग्रह द्वारा मुस्लिम बंगाल में मिलने का निर्णय किया। इस प्रकार पाकिस्तान का जन्म हो गया। जो शेष रह गया था वह औपचारिकता मात्र थी। लार्ड माउण्टबैटन (Lord Mountbatten) की अध्यक्षता में एक उच्च-स्तरीय विभाजन परिषद् (Partition Council) स्थापित की गई। सर सिरिल रैडक्लिफ (Sir Cyril Radcliff) की अध्यक्षों में दो पंजाबों और दो बंगालों की सीमाओं के चिह्न लगाने के लिए दो सीमा आयोग (Boundary Commission) भी स्थापित किए गए।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, १९४७
(The Indian Independence Act, 1947)

२ जुलाई, १९४७ को भारतीय स्वतन्त्रता विधेयक (Indian Independence Bill) का प्रारूप, जिसके द्वारा माउण्टबैटन योजना के अनुसार राजनीतिक समझौता प्रवर्तित करना था, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं के विचारार्थ उनमें घुमाया गया। ५ जुलाई को ब्रिटिश संसद् में यह विधेयक पुरःस्थापित किया गया और

दोनों सदनों में इसके पारित हो जाने पर इसे १८ जुलाई को सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त हो गई।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने १५ अगस्त, १९४७ से भारत और पाकिस्तान—इन दो स्वतन्त्र अधिराज्यों के निर्माण का विधान किया था। प्रत्येक अधिराज्य मे सम्राट् द्वारा एक-एक गवर्नर-जनरल नियुक्त किया जाना था। प्रत्येक अधिराज्य के विधानमण्डल को सम्पूर्ण विधायी शक्तिया दी गई थी और ब्रिटिश संसद् का कोई भी अधिनियम दोनों में से किसी एक पर भी लागू नही होता था। ब्रिटिश भारत के ऊपर ब्रिटिश सरकार की सत्ता तथा भारतीय रियासतों के ऊपर राजमुकुट (Crown) का आधिपत्य, राजमुकुट के रियासतो के प्रति समस्त दायित्व और रियासतों में सन्धि, जागीर, प्रथा, समनुज्ञा (Sufferance) और अन्यथा कारणों से सम्राट् के द्वारा प्रयोग किए जाने वाले समस्त अधिकार, शक्तियां, प्राधिकार अथवा क्षेत्राधिकार सब के सब समाप्त हो गए। रियासतें अधिराज्यों की सरकारों के साथ अपने राजनीतिक सम्बन्धों के रखने के विषय में स्वतन्त्र हो गई थी। १५ अगस्त, १९४७ तक जूनागढ़, जम्मू और काश्मीर और हैदराबाद रियासतों के शासकों को छोड़कर शेष समस्त राजाओं ने या तो भारत में अथवा पाकिस्तान में मिलना स्वीकार कर लिया था। अन्ततोगत्वा, जम्मू और काश्मीर ने भी भारत मे प्रवेश करना स्वीकार कर लिया था और हैदराबाद भी पुलिस-कार्य (Police-action) द्वारा भारत में प्रविष्ट हो गया था। जूनागढ़ रियासत के लोगों द्वारा भारत संघ में प्रवेश किए जाने के पक्ष मे अपना निर्णय देने के बाद वहा का शासक भी पाकिस्तान भाग गया था।

पाकिस्तान का नया राज्य
(The New State of Pakistan)

पाकिस्तान का राज्य अपने जन्म के समय दो भागों से मिलकर बना था—पूर्वी पाकिस्तान तथा पश्चिमी पाकिस्तान। दोनो ही पुराने भारत से कटे थे। इन दोनों भागों को एक हजार मील का भारतीय प्रदेश पृथक् करता था। पूर्वी बगाल और आसाम के सिलहट जिले से मिलकर पूर्वी पाकिस्तान बना था। पश्चिमी पाकिस्तान मे उ०-प० सीमाप्रान्त, पश्चिमी पजाब, सिन्ध और बलूचिस्तान सम्मिलित थे। बहावलपुर, खैरपुर और बलूचिस्तान और सीमावर्ती प्रान्त की अपेक्षतया आठ छोटी रियासतें भी पाकिस्तान में मिल गई थी। १९६१ की जनगणना सख्या के अनुसार पाकिस्तान की जनसंख्या नौ करोड़ चालीस लाख थी। इनमे से ५ करोड़ पूर्वी पाकिस्तान में थे। पाकिस्तान मे जनसंख्या की वृद्धि उतनी ही विस्मयावह है जितनी कि वह भारत में है।

पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान एक दूसरे से न केवल एक लम्बे भारतीय प्रदेश द्वारा पृथक् किए गए है बल्कि कुछ अन्य कारण भी है जो उनको पृथक् रखने मे सहायक है। पूर्वी पाकिस्तान मे भाषा बंगाली है जो बंगाली लिपि में लिखी जाती है और जिसका सम्बन्ध संस्कृत से है। परन्तु पश्चिमी पाकिस्तान मे जो-जो भाषाएं बोली जाती है वे उर्दू, पंजाबी, सिन्धी, बलूची और पश्तो हैं। वे बहुतायत से फारसी लिपि मे लिखी जाती

और उनका शब्द-भण्डार फारसी और अरबी भाषाओं से सम्बद्ध है। पूर्वी पाकिस्तान के मुस्लिमों ने बड़ी दृढ़ता से अपनी भाषा के विषय में प्रस्तावित परिवर्तनों का विरोध किया है और फलतः आज उर्दू और बगाली पाकिस्तान की ये दो सरकारी भाषाएं हैं। इनके अतिरिक्त पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के मुस्लिमों में अपनी आदतों, जीवन-निर्वाह करने, वेश-भूषा और यहा तक कि भोजन के विषय में भी अत्यधिक अन्तर है। पाकिस्तान के इन दोनो पक्षों की सास्कृतिक परम्पराओं में भी पर्याप्त अन्तर है। पश्चिमी पाकिस्तान की २२ प्रतिशत जनसख्या नगरों में रहती है जबकि पूर्वी पाकिस्तान के ५·५ प्रतिशत लोग ही नगरों में रहते हैं। पूर्वी पाकिस्तान गगा और ब्रह्मपुत्र नदियों के नदी-मुख में स्थित है और प्रतिवर्ष यह प्रदेश बाढ़ और उससे उत्पन्न होने वाले विनाश का शिकार बनता है। थोड़े से ही उद्योग है और साधनों की भी कमी है। पटसन ही मुख्य रोक-उपज (Cash Crop) है। अधिकाश उद्योग पश्चिमी पाकिस्तान में हैं और पूर्वी पाकिस्तान को यह शिकायत है कि इसके हितों का पर्याप्त रूप से अभिरक्षण नहीं किया जा रहा है। तदनुसार पूर्वी पाकिस्तान मे रहन-सहन का स्तर बहुत निम्न है।

धर्म (Religion)—पाकिस्तान एक इस्लामी राज्य है और पश्चिमी पाकिस्तान के मन्त्री मिस्टर वाई० के० वाटू (Mr. Y. K. Watoo) के अनुसार पाकिस्तान का कोई नागरिक जो इस्लाम के लिए श्रद्धा नहीं रखता वह देश के प्रति सच्चा और निष्ठावान् नहीं हो सकता। मि० वाटू ने इस बात पर बल दिया था कि इस प्रकार से निष्ठा की परीक्षा की जानी आवश्यक है क्योंकि पाकिस्तान की स्थापना ही 'इन मूलभूत सिद्धान्तों'[1] के आधार पर हुई थी। १९४९ में पाकिस्तान के जन्म के कुछ समय बाद ही सविधान सभा ने एक उद्देश्य प्रस्ताव (Objectives Resolution) पारित किया जिसके अनुसार इस्लाम द्वारा प्रतिपादित लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता, समानता, सहनशीलता और सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों पर ही पाकिस्तान का भावी सविधान आधारित किया जाना था। इस बात का भी निश्चय किया गया कि भावी सविधान के अधीन पाकिस्तान के मुस्लिम व्यक्तिगत रूप और सामूहिक रूप से इस योग्य बना दिए जाने चाहिए कि वे इस्लाम की शिक्षाओं और आवश्यकताओं के अनुसार अपना जीवन व्यवस्थित कर लें। अतः पाकिस्तान मे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू में इस्लाम रमा हुआ है। इस्लाम के अभाव मे पाकिस्तान का कोई अर्थ नही है। पाकिस्तान के प्रथम प्रधान मन्त्री मिस्टर लियाकत अली खा (Mr. Liaquat Ali Khan) ने कहा था, "पाकिस्तान की नीव इसलिए पडी क्योंकि इस उप-महाद्वीप के मुस्लिम अपने जीवन को इस्लाम की शिक्षाओं और परम्पराओ के अनुसार ढालना चाहते थे; क्योंकि वे ससार को यह दिखाना चाहते थे कि इस्लाम आज के मानव-जीवन में प्रविष्ट हुए अनेक रोगों के इलाज के लिए एक सर्व-भेषज (panacea) है।"[2]

अल्पसंख्यक (The Minorities)—१९४७ में पाकिस्तान में सम्मिलित

1. Hindustan Times, New Delhi, October 19, 1967.
2. Constituent Assembly of Pakistan *Debates*, Vol. II, March 7, 1949.

क्षेत्रों की कुल जनसंख्या का एक-चौथाई भाग अल्पसंख्यकों का था। पाकिस्तान बनने के बाद लाखों मुस्लिम पाकिस्तान चले गए। उसी तरह लाखों ही हिन्दू अपने जीवन के डर से भारत आए। तब से अमुस्लिमों (non-Muslims) का अनुपात धीरे-धीरे घट रहा है क्योंकि इसका कारण इस्लामी राज्य में हिन्दुओं को प्राप्त होने वाली नियोग्यता और मुस्लिमों की बढ़ती हुई जनसंख्या है। १९६१ की जनगणना के अनुसार अमुस्लिमों की जनसंख्या कुल जनसंख्या का ११.९ प्रतिशत थी जबकि १९५१ में तुलना करने पर यह संख्या १४.१ प्रतिशत थी।

अध्याय २

राजनीतिक पृष्ठभूमि
(THE POLITICAL BACKGROUND)

पाकिस्तान का गवर्नर-जनरल (The Governor-General of Pakistan)—पाकिस्तान का प्रथम संविधान १९५६ में स्वीकृत किया गया। पाकिस्तान के निर्माण की तारीख अर्थात् १५ अगस्त, १९४७ के बाद के पूरे नौ वर्षों तक पाकिस्तान का शासन भारत सरकार अधिनियम, १९३५ (Govt. of India Act, 1935) के अनुबन्धो के अनुसार गठित किया गया और कार्य करता रहा। हां, इसमें आवश्यकता के अनुसार और समयानुसार कुछ एक परिवर्तन अवश्य कर लिये गए थे। पाकिस्तान के निर्माता मिस्टर मुहम्मद अली जिन्नाह इस नये अधिराज्य के प्रथम गवर्नर-जनरल नियुक्त किए गए थे। उनकी शक्ति भारत के वॉयसरॉय और गवर्नर-जनरल से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी जो ब्रिटिश शासन-काल में देश का वास्तविक शासक होता था। समस्त अभिप्रायों और उद्देश्यो की दृष्टि से प्रधान मन्त्री उसका प्रथम प्रतिनिधि होता था और लियाकत अली खा ने कायदे-आजम (Quaid-i-Azam) के नेतृत्व के अधीन यही काम निभाया था। वस्तुत., मिस्टर जिन्नाह पाकिस्तान के नए राज्य का मूर्त्तिमान स्वरूप थे। कीथ कैलार्ड (Keith Callard) का कथन है कि, "शक्ति का इतना आधिक्य पहले कभी किसी संवैधानिक शासक और स्वैतन्त्रियों (autocrats) के पास नही देखा गया था। उसका असैनिक प्रशासन और सेना पर पूरा अधिकार था। अपनी ही आज्ञा द्वारा वह वर्तमान सविधान का सशोधन कर सकता था और ऐसे कानून लागू कर सकता था जिनके ऊपर किसी न्यायालय की पुनरीक्षण शक्ति प्रभाव नही डाल सकती थी।" कायदे-आजम, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ नेता की ये समग्र शक्तियां जो उसके द्वारा प्रयोग में लाई जाती थीं और उसका वह अधिकार जिसका कि वह उपभोग करता था उनकी केवल नाममात्र और कोरे कागज पर ही रहने वाली शक्तिया और अधिकार नही थे। और न ही वे "संवैधानिक उत्तरदायित्वो के अभिसमयों द्वारा सीमित थीं। बल्कि इसके विपरीत, कैबिनेट अर्थात् मन्त्रिमण्डल के मन्त्री इस बात को स्पष्टतया समझते थे कि वे अपने पदों पर गवर्नर-जनरल के अभिकर्त्ताओ के रूप में बने हुए है, और विधान सभा शक्ति-रहित विरोधी पक्ष के साथ अपने अध्यक्ष के किसी भी कृत्य को ललकारने की वृत्ति मे नहीं थी।"[1] मिस्टर जिन्नाह पाकिस्तान के गवर्नर-जनरल तथा सविधान सभा के अध्यक्ष दोनो ही थे। मुस्लिमों को अपने नवीन निर्मित मुस्लिम राज्य और अपने उपकारकर्त्ता कायदे-आजम दोनो पर ही गर्व था। वे उसकी ओर अपने नए राष्ट्र के भाग्य का पथ-प्रदर्शन कराने के लिए देखते थे और देश को शक्तिशाली, ओजस्वी और विश्वासपूर्ण बनाने के लिए वे उस पर पूर्ण श्रद्धा रखते थे। "वहां अन्य कोई नही था,

---

1. Keith Callard, *Pakistan, A Political Study*, p 20.

वही पाकिस्तान था; और जहां कही वह जाता एक बडी भीड इस चापलूसी से उसका स्वागत करती जिसे एक प्रकार की पूजा भी कहा जा सकता था।"[1]

परन्तु पाकिस्तान के भाग्य में यही नही बदा था कि मिस्टर जिन्नाह एक समय तक राज्य रूपी जहाज के कर्णधार बने रहते। १९४८ के सितम्बर मे उनका देहान्त हो गया। ख्वाजा नाजिमुद्दीन (Khwaja Nazimuddin) जो तब तक पूर्वी बंगाल का मुख्य मन्त्री था स्वर्गीय मि० जिन्नाह के स्थान पर पदारूढ हुआ परन्तु वह कायदे-आजम के महत्त्व, प्रतिष्ठा, सत्ता और उनके द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली शक्ति की बराबरी नही कर सका। मिस्टर लियाकत अली खा ने प्रधान मन्त्री के पद से सम्बद्ध सत्ता और प्रतिष्ठा को सुधारने का यत्न किया और ससदीय प्रणाली की सरकार से संबंध रखनेवाले अभिसमयो को भी लागू करने का प्रयास किया ताकि गवर्नर-जनरल द्वारा मन्त्रिमण्डल को नियन्त्रण करने की पूर्व-प्रथा को उलटा जा सके। कानून के गवर्नर-जनरल की शक्तिया अब भी वहा विद्यमान थी, परन्तु १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम (Indian Independence Act, 1947), के कुछ संक्रमण-कालीन खण्डों को समाप्त होने दिया गया। संविधान सभा के उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) मिस्टर तमीजुद्दीन खां (Mr Tamizuddin Khan) उसके स्पीकर अर्थात् अध्यक्ष चुने गए। "कायदे-आजम की शक्ति के गवर्नर-जनरल, प्रधान-मन्त्री तथा संविधान सभा के अध्यक्ष के बीच विसर्जन के इस कार्य के १९५३ और १९५४ मे बडे महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलने थे।"

सविधान का निर्माण (Making of the Constitution)—१० अगस्त, १९४७ को पाकिस्तान की सविधान सभा की सबसे पहली बैठक कराची (Karachi) मे हुई। इसके उद्घाटन के समय सभा की कुल सदस्यता ६९ थी। विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान मे आनेवाले शरणार्थियों, रियासत बहावलपुर व खैरपुर, बलूचिस्तान रियासत सघ तथा उ०-प० सीमाप्रान्त की रियासतों को प्रतिनिधित्व देने के लिए सदस्यों की संख्या मे वृद्धि की गई और यह संख्या ६९ से बढ़कर ७९ हो गई। संविधान सभा का मुख्य कार्य यद्यपि पाकिस्तान के लिए एक सविधान का निर्माण करना था परन्तु इसके अतिरिक्त और जब तक संविधान लागू नही होता था, इसने भारत सरकार अधिनियम, १९३५ (Govt. of India Act, 1935) के अन्तर्गत सघीय विधान-मण्डल (Federal Legislature) के रूप मे भी कार्य किया। सविधान सभा के इस दुहरे कार्य ने और कायदे-आजम की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् आने वाले समय के बीच मे प्रभाव, सम्पत्ति, शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए राजनीतिक जीवन का निर्माण करनेवाले विविध स्वार्थों और व्यक्तियों के बीच एक भयंकर होड़ ने जन्म ले लिया था। वह अखाडा जिसमें इस होड ने पहले-पहल अपने आपको प्रकट किया वह उस सविधान बनाने की प्रक्रिया थी जिसने पाकिस्तान की राज्य-व्यवस्था को औपचारिक रूप मे अभिव्यक्त करना था।[2] अतएव संविधान सभा के कार्य का मार्ग सरल नही था।

1. Ibid, p.19.
2. Rushbrook Williams, L. F., *The State of Pakistan*, p. 135.

यह बडी मन्द गति मे कार्य करती और असख्य निरोधों को झेलती । १९४९ के मार्च मे कही जाकर उद्देश्य प्रस्ताव (Objectives Resolution) पारित हुआ था। इसके साथ ही इसने विधान किया था कि भावी सविधान इस्लाम द्वारा प्रतिपादित लोकतन्त्र, स्वातन्त्र्य, समानता, सहनशीलता तथा सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित होगा । यह भी प्रस्तावित हुआ था कि नए सविधान के अधीन पाकिस्तान के मुस्लिमों को व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से इस्लाम के उपदेशों और आवश्यकताओं के अनुसार अपने जीवन को व्यवस्थित करने के योग्य बना देना चाहिए । सभा द्वारा एक आधारभूत सिद्धान्त समिति (Basic Principles Committee) की भी नियुक्ति की गई थी जिसे उन मुख्य सिद्धान्तों के विषय मे प्रतिवेदन तैयार करने के लिए कहा था, जिन्हे भावी सविधान का आधार बनाया जाना था । इस समिति ने १९५२ मे सविधान सभा को अपनी रिपोर्ट दी थी ।

प्रान्तीय प्रतिद्वन्द्विताए, भाषा-विवाद तथा कई अन्य कठिनाइया कुछ एक ऐसी बाते थी जिन्होंने प्रशासन को और सविधान निर्मातृ निकाय और विधानमण्डल के रूप मे सविधान सभा के कार्य को पीड़ित करा हुआ था । रशब्रुक विलियम्स (Rushbrook Williams) लिखता है कि "बहुत थोड़े मेरे पाकिस्तानी मित्र इस बात का अनुभव करते हुए प्रतीत होते थे कि कोई भी सविधान अधिक लाभदायक नही हो सकता जब तक कि वह देश की आवश्यकताओं के अनुकूल न हो ; और मुझे यह प्रतीत होता था कि यह बात प्रयोग में लाये जाने वाले मानदण्डों मे से कम से कम ध्यान में रखी जाती थी ।"[1] मिस्टर जिन्नाह ने प्रान्तीयतावाद और भाषावाद के विरुद्ध अनेक बार कई चेतावनिया दी थी और ये दोनो ही अभिशाप, जो पाकिस्तान के दोनों पक्षों द्वारा इतने उत्साहपूर्ण ढग से बल्कि धर्मोन्मत्तता से प्रयोग मे लाए जाते थे, लियाकत अली खा को १९५१ मे उसकी हत्या होने तक उसकी समस्त प्रधान मन्त्रित्व की अवधि में भूत के समान डराते रहे। उसके दबंग और अत्यन्त ऊंची आकाक्षा रखनेवाले सहयोगी शासन के मुखिया के रूप में उसके नेतृत्व से बड़ी कठिनाई से समाधान कर पाते थे और प्राय: उसके परामर्श को ठुकरा देते थे । "उसके कुछ मन्त्रियो ने सविधान सभा में अपने पक्ष का पोषण करने वाले गुटो को बनाना प्रारम्भ कर दिया था; और मन्त्रिमण्डल मे बहुमत की राय से भेद रखने वाले अपने विचारों को वे अखबारों तक में प्रकाशित करा देते और यह रवैय्या ऐसे विवादास्पद मामलो मे भी देखने मे आया जैसा कि १९५०-५१ मे जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या भारत की तरह पाकिस्तान को भी अपने रुपये का अवमूल्यन कर देना चाहिए ?"[2]

उपर्युक्त परिस्थितियों मे ख्वाजा नाजिमुद्दीन गवर्नर-जनरल का पद छोडकर लियाकत अली खा के स्थान पर प्रधान मन्त्री बने । पिछले मन्त्रिमण्डल मे वित्त-मन्त्री गुलाम मुहम्मद (Ghulam Mohamm[illegible] उठाकर गवर्नर-जनरल के पद पर आसीन किया गया । नए प्रधान म[illegible] के अधिकाश सदस्यों

1. Ibid.
2. Rush[illegible] . F., ",

को बनाए रखा और एक भूतपूर्व असैनिक कर्मचारी चौ० मुहम्मद अली (Ch. Mohammad Ali) की पदोन्नति करके उसे वित्त मन्त्री बना दिया। "नाजिमुद्दीन एक धार्मिक और ईमानदार व्यक्ति था और उसकी आकृति अथवा शब्द अथवा निर्णय इस बात को बहुत कम प्रमाणित करते थे कि उसमें लोगों अथवा परिस्थितियों के ऊपर अपनी इच्छा थोप सकने की शक्ति थी।"[1] वस्तुत: उसके पास पिछली सरकार से विरासत में मिली समस्याओं से जूझने की शक्ति नहीं थी, साथ ही वह मन्त्रियों के उस कुलक से भी भिड़ने में अशक्त था जिन्होंने लियाकत अली खां के पदावधि काल में केन्द्रीय सरकार की प्रतिष्ठा को कमजोर बना दिया था। कुछ नई समस्याएं भी पैदा हो गई थीं जिनके कुछ एक कारण थे—फसल अच्छी न होने के कारण अन्न-संकट, शोधन-शेष (balance of payments) में संकट; तथा कपास, पटसन की कीमतों में भारी गिरावट आने के कारण आय-व्ययक सम्बन्धी कठिनाइयां और राजनीतिक-धार्मिक उथल-पुथल जिससे पश्चिमी पाकिस्तान की सरकार की स्थिरता के लिए ही खतरा पैदा हो गया था।[2] दृढ़ और तुरन्त कार्य उस क्षण की आवश्यकताएं थीं। गवर्नर-जनरल उस समय देश का रक्षक सिद्ध हुआ और उसने १७ अप्रैल, १९५३ को नाजिमुद्दीन सरकार को बर्खास्त कर दिया। गवर्नर-जनरल ने एक वक्तव्य में ख्वाजा नाजिमुद्दीन के मन्त्रिमण्डल पर यह दोष लगाया कि "वह देश के सम्मुख उपस्थित हुई कठिनाइयों के साथ जूझने में नितान्त अनुपयुक्त सिद्ध हुआ है।" वक्तव्य में आगे चलकर यह कहा गया था कि "जो आपात समय उपस्थित हुआ है उसके विषय में मैं अनुभव करता हूं कि मेरे लिए यह आवश्यक है कि मैं मन्त्रिमण्डल को पद त्याग करने के लिए कहूं ताकि एक नया मन्त्रिमण्डल बनाया जाये जो पाकिस्तान के प्रति अपने दायित्वों को निभाने में अधिक उपयुक्त हो।"

गवर्नर-जनरल ने तत्कालीन संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थित पाकिस्तान के राजदूत मुहम्मद अली (Mohammad Ali) को प्रधान मन्त्री बनने का और नई सरकार बनाने के लिए निमन्त्रण दिया। मुहम्मद अली बोगरा (Mohammad Ali Bogra) ने, जो बंगाली थे, इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और पद त्याग करने वाले मन्त्रिमण्डल के छह पुराने सदस्यों को लेते हुए अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर डाला। गवर्नर-जनरल के इस कार्य की जनता और समाचारपत्रों ने खूब सराहना की, परन्तु इसके द्वारा देश के राजनीतिक जीवन में एक गहरी दरार पैदा हो गई। नया प्रधान-मन्त्री गवर्नर-जनरल की अपनी व्यक्तिगत पसन्द थी। न तो वह किसी दल का नेता था और न ही वह मुस्लिम लीग के किसी सारवान् गुट्ट का नेता ही था। मुहम्मद अली बोगरा जनता और संसद के लिए एक अज्ञात व्यक्ति था और उसके विषय में यदि कोई बात ज्ञात थी तो वह यह थी कि अमेरिका में राजदूत पद ग्रहण करने से पूर्व वह संविधान सभा का एक आम सदस्य था। शक्तिशाली राजनीतिक नेताओं को बाहर निकालने

---

1. Keith Callard, *Pakistan, A Political Study*, p. 22.

2. Refer to the *Report of the Court of Inquiry into the Punjab Disturbances*, 1953.

मन्त्री बनाए गए। गुलाम मुहम्मद के स्थान पर जो कुछ समय से अस्वस्थ चले आ रहे थे मेजर जनरल इस्कन्दर मिर्जा गवर्नर-जनरल बनाए गए। सभा का दूसरा सत्र अगस्त में बुलाया गया और अब सभा पूरी गम्भीरता से संविधान निर्माण के कार्य में जुट गई। जनवरी, १९५६ में संविधान सभा के सम्मुख संविधान का प्रारूप प्रस्तुत किया गया और फरवरी १९५६ में वह अभी स्वीकृत कर लिया गया। २३ मार्च, १९५६ को पाकिस्तान के इस्लामी गणराज्य का संविधान लागू हो गया और अब देश का अधि-राज्य रूपी दर्जा समाप्त हो गया। संविधान सभा का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य पंजाब, उ०-प० सीमाप्रान्त, बलूचिस्तान, सिन्ध तथा रजवाड़ों के विविध क्षेत्रीय एककों को मिलाकर के एक प्रान्त बनाना था जिसके सम्पूर्ण क्षेत्र के लिए एक कार्यपालिका और एक विधानमण्डल का भी विधान किया गया था।

१९५६ के संविधान की मुख्य विशेषताएं (Important Features of the 1956 Constitution)—१९५६ के संविधान का नाम "पाकिस्तान के इस्लामी गण-राज्य का संविधान" रखा गया था और इसकी प्रस्तावना का प्रारम्भ इन शब्दों से होता था "दान त्याग-शील (Beneficient), दयालु (Merciful) अल्लाह (Allah) के नाम पर · · ·।" प्रस्तावना घोषित करती थी कि, "सर्वप्रभुता का स्वामी केवल सर्व-शक्तिमान अल्लाह है, और पाकिस्तान की जनता द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली शक्ति जिसकी सीमा उस परमात्मा ने निश्चित की है, एक पवित्र धरोहर के रूप में है।" पाकिस्तान के इस्लामी गणराज्य में इस्लाम द्वारा प्रतिपादित लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता, समानता, सहनशीलता और सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों का पूरी तरह पालन किया जायगा और पाकिस्तान के मुस्लिम, व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से, इस्लाम के उपदेशों और आवश्यकताओं के अनुसार जैसा कि पवित्र कुरान और सुन्नाह (Sunnah) में बताया गया है अपने जीवन को व्यवस्थित करने में समर्थ बना दिए जायेंगे। अल्प-संख्यकों को स्वतन्त्रता से अपने धर्म की घोषणा करने और उसका पालन करने का और अपनी संस्कृति को विकसित करने का आश्वासन दिलाया गया था। संविधान के दूसरे अध्याय में मूलभूत अधिकारों (Fundamental Rights) की एक सूची थी जिसमें और बातों के साथ-साथ ये बातें भी सम्मिलित की गई थी—अस्पृश्यता की समाप्ति, संस्कृति और भाषा का संरक्षण, किसी भी धर्म को घोषित करने, पालन करने और उसका प्रचार करने का अधिकार तथा प्रत्येक धार्मिक संगठन और उसके किसी भी सम्प्रदाय को अपनी धार्मिक संस्थाओं को स्थापित करने, बनाए रखने और प्रबन्ध करने का अधिकार था। अनुच्छेद २२ ने सर्वोच्च न्यायालय में मूलभूत अधिकारों की प्रत्याभूति अर्थात् गारण्टी देने की शक्तियां निहित की हुई थी। इस प्रकार अधिकारों को प्राप्त करने के लिए न्यायालय का द्वार खटखटाया जा सकता था। राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त (Directive Principles of State Policy) संविधान के भाग ३ में रखे गए थे और वे वादयोग्य नहीं थे। अनुच्छेद २४ राज्यों को निदेशित करता था, वह मुस्लिम देशों के बीच एकता के बन्धनों को मजबूत करने का यत्न करे। अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति तथा सुरक्षा को प्रोत्साहन दे, समस्त राष्ट्रों में सद्भावना और मैत्री बढ़ाए, और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को शान्तिमय साधनों से सुलझाने के लिए बढ़ावा दे।

संविधान द्वारा उन प्रदेशों का एक संघ स्थापित किया गया जो उस समय उसमें सम्मिलित थे, अथवा जिन्होंने पाकिस्तान मे मिलना स्वीकार किया था और इनमे इस प्रकार के अन्य प्रदेश भी सम्मिलित होते थे जिन्हें उसके बाद सम्मिलित किया जाना था अथवा जिन्हें पाकिस्तान में प्रवेश पाना था। इसके द्वारा केन्द्र मे और संघ के एकको पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान मे संसदीय प्रणाली की सरकार को स्थापित किया जाना अभिस्वीकृत किया गया था। पाकिस्तान की संसद् राष्ट्रपति (President) तथा राष्ट्रीय सभा (National Assembly) के रूप में नामोद्दिष्ट एकल सदन से मिलकर बनी थी। संघीय शासन नीति प्रथा के असदृश्य पाकिस्तान के केन्द्र मे विधानमण्डल का एक ही सदन रखना था। राष्ट्रीय सभा के सदस्य वयस्क मताधिकार के आधार पर पाच साल की पदावधि के लिए चुने जाने थे। पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान से राष्ट्रीय सभा में होने वाले प्रतिनिधि को समानता के सिद्धान्त के अधीन निर्धारित होना था। सभा के ३०० सदस्य थे यद्यपि दस वर्षों तक स्त्रियों के लिए अतिरिक्त १० स्थानों का विधान किया गया था। राष्ट्रपति को सभा का विघटन करने का तथा उसको आहूत करने का अधिकार प्राप्त था बशर्ते कि कम से कम एक अधिवेशन प्रत्येक वर्ष ढाका (Dacca) में हो।

गणराज्य के राष्ट्रपति का चुनाव राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय विधान-सभाओं के सदस्यों द्वारा किया जाना था। उसके लिए मुस्लिम और कम से कम ४० वर्ष का होना आवश्यक शर्तें थी। उसका पदावधि काल ५ वर्ष था और वह दो बार से अधिक राष्ट्रपति नही बना रहेगा। वह राष्ट्रीय सभा द्वारा अपनी कुल सदस्यता के तीन-चौथाई बहुमत से महाभियोग द्वारा अपने पद से च्युत किया जा सकता था। स्थान के रिक्त होने की अवस्था में अथवा राष्ट्रपति के कार्य करने में अशक्त होने के कारण राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष अर्थात् स्पीकर (Speaker) ने उसके स्थान पर कार्य करना होता था। प्रधान मन्त्री द्वारा अधिष्ठित एक मन्त्रिमण्डल का भी विधान किया गया था जिसका कार्य प्रधान मन्त्री को उसके कृत्यों का निर्वहन करने में सहायता और परामर्श देना था। राष्ट्रपति द्वारा अपने विवेक से राष्ट्रीय सभा के सदस्यों में से एक प्रधान मन्त्री की भी नियुक्ति की जानी थी जो उसकी राय में एक ऐसा व्यक्ति हो जिसकी राष्ट्रीय सभा के सदस्यों के एक बहुमत का विश्वास प्राप्त करने की बहुत अधिक सम्भावना रहे। मन्त्रिमण्डल राज्य के मन्त्रियों सहित सामूहिक रूप से राष्ट्रीय सभा के प्रति उत्तरदायी थे। प्रधान मन्त्री ने राष्ट्रपति की प्रसन्नता की अवधि मे ही अपने पद पर बने रहना था, परन्तु राष्ट्रपति को अपनी विवेक शक्ति का प्रयोग तब तक नही करना था जब तक वह सन्तुष्ट न हो जाय कि प्रधान मन्त्री को राष्ट्रीय सभा के सदस्यों के बहुमत का विश्वास प्राप्त नही है। अपने कृत्यों को करते समय राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार कार्य करना होता था, इसके अतिरिक्त इसमें उपयुक्त मन्त्री अथवा राज्य मन्त्री (Minister of States) के परामर्श भी सम्मिलित थे जो अवसरानुसार दिए जाने होते थे। ऐसा करने में अपवादस्वरूप ही कार्य थे जिन्हें वह स्वविवेक से संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति के प्रयोग से कर सकता था, प्रधान मन्त्री की नियुक्ति भी एक अपवाद कार्य था।

जहा तक पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान के प्रान्तों का मामला था स...

राष्ट्रपति द्वारा उनके गवर्नरों की नियुक्ति का विधान किया था और वे गवर्नर उनकी प्रसन्नता की अवधि में ही अपने पदों पर बने रह सकते थे। प्रान्तों में भी मन्त्रिमण्डलीय स्वरूप की सरकार थी जो संघ के लिए विहित सरकार की समस्त आवश्यक वस्तुओं में साम्य रखती थी। जैसा कि केन्द्र में था उसी तरह प्रान्तों में भी एकल सदन विधानमण्डल थे। प्रत्येक प्रान्तीय विधान सभा के ३०० सदस्य होते थे, जिसमें स्त्रियों के लिए १० अतिरिक्त स्थान अस्थायी रूप से सुरक्षित किए गए थे। कोई भी व्यक्ति एक ही समय में राष्ट्रीय सभा तथा प्रान्तीय विधान सभा का एक साथ सदस्य नहीं रह सकता था। किसी प्रान्त की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग यद्यपि निषिद्ध क्षेत्रों (Excluded Areas) तथा विशेष क्षेत्रों (Special Areas) पर लागू होता था, तथापि इन क्षेत्रों पर अधिकांशतः नियन्त्रण केन्द्रीय सरकार के लिए ही आरक्षित रखा जाता था।

संविधान ने तीन विधायी सूचियों का विधान किया था। संघ सूची (Federal List) प्रान्तीय सूची (Provincial List) और संवर्ती सूची (Concurrent List)। दो के बीच संघर्ष उपस्थित होने पर संसद् का कानून लागू किया जाना होता था। परन्तु प्रान्त की स्वीकृति प्राप्त होने पर संसद् प्रान्तीय सूची के विषय पर भी विधि निर्माण कर सकती थी। संसद् को यह शक्ति प्राप्त थी कि वह किसी सन्धि को प्रवर्तित कराने के लिए कानून बना सके। अवशिष्ट शक्ति (residuary power) प्रान्तों के पास होती थी।

न्यायपालिका के शिखर पर पाकिस्तान का सर्वोच्च न्यायालय विद्यमान था। इसके पास संघ और प्रान्तों के बीच झगड़ों में और प्रान्तों के बीच होने वाले कुछ एक झगड़ों में मूल क्षेत्राधिकार था। राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श के रूप में राय मांग सकता था। पाकिस्तान के प्रत्येक पक्ष में अपना-अपना उच्च न्यायालय था जिनमे प्रत्येक प्रकार के लेख (writs) जारी करने की शक्ति निहित थी। यदि राष्ट्रपति को इस बात का समाधान हो जाय कि पाकिस्तान की सुरक्षा अथवा आर्थिक जीवन अथवा उसके किसी भाग को युद्ध अथवा वाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक उपद्रवों का डर है जो प्रान्तीय सरकार के नियन्त्रण की शक्ति से परे है और उसके कारण एक गम्भीर आपात स्थिति बन गई है तो वह आपात-काल की उद्घोषणा कर सकता था। इस प्रकार की उद्घोषणा के अधीन राष्ट्रपति प्रान्तीय सरकार की शक्तियों को ग्रहण कर सकता था और तब संसद् प्रान्तों के लिए विधि निर्माण करती। राष्ट्रपति राष्ट्रीय आपात समय में मूलभूत अधिकारों को निलम्बित कर सकता था। राष्ट्रीय आपात की स्थितियों में सघ सरकार को प्रान्त के लिए कुछ एक निदेश देने के अधिकार भी प्राप्त थे।

संविधान में इस्लाम को व्यावहारिक वैध महत्त्व दिया गया था। कोई भी व्यक्ति जब तक कि वह मुस्लिम न हो राष्ट्रपति पद के लिए चुना नहीं जा सकता था। अनुच्छेद १९७ के अधीन राष्ट्रपति पर यह संवैधानिक दायित्व था कि वह वास्तविक इस्लामी आधार पर मुस्लिम समाज को फिर से निर्मित करने में सहायता देने के लिए उच्च अध्ययन के विषय में इस्लामी शोध तथा शिक्षा का एक संगठन स्थापित करे। अनुच्छेद १९८ के अन्तर्गत राष्ट्रपति के लिए (संविधान के लागू होने के एक वर्ष के अन्दर)

विशेषज्ञों द्वारा निर्मित एक आयोग की नियुक्ति करना आवश्यक था "जिसने वर्तमान कानूनों को इस्लाम की आज्ञाओं के समरूप लाने के लिए उपायों की सिफारिशें करनी थी।" इस आयोग ने पांच वर्ष के अन्दर-अन्दर राष्ट्रपति को प्रतिवेदन प्रस्तुत करना था। इस प्रतिवेदन को राष्ट्रीय सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया जाना था और तब सभा ने प्रतिवेदन पर विचार करके उस विषय मे कानून बनाने थे। जाविद इकबाल (Javid Iqbal) के अनुसार, "१९५६ के सविधान में इस्लाम की स्थिति एक वैधानिक कल्पना के मुस्लिम निर्माताओं की पाखण्डपूर्ण और अस्पष्ट अभिवृत्ति को झलकाती थी।"[1]
पाकिस्तान के मुख्य न्यायाधीश, मुहम्मद मुनीर (Muhammad Munir) ने अपने अवकाश-ग्रहण करने की पूर्व-संध्या को पश्चिमी पाकिस्तान के उच्च न्यायालय के विधि-मण्डल (Bar Association) को अपने विदाई-भाषण मे यह कहा था कि, "हमारे संविधान में, यद्यपि इसका उद्देश्य पाकिस्तान के इस्लामी गणराज्य का सविधान बनना था, मुश्किल से कोई इस्लामी बात संनिहित है। हा, इतना अवश्य है कि इसमें इस्लाम, रान और असुन्नाह ये शब्द बार-बार दुहराए गए है।"

१९५८ की क्रान्ति (The 1958 Revolution)—१९५६ का सविधान किस्तान के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक रोगों के लिए, जिनसे कि वह पिछले पूरे नौ वर्षों से पीड़ित हो रहा था, सर्वरोग-हर-औषधि सिद्ध नहीं हो सका। वास्तव में, केन्द्र तथा प्रान्तों में नए सविधान के अधीन आने वाली सरकारो ने देश के सम्मुख उपस्थित होने वाली समस्याओं को और भी बढा दिया। "क्योंकि दांव पहले से ऊंचे थे और पुरस्कारों की संख्या पहले से अधिक थी, शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता पहले से भी अधिक भीषण हो गई।" राजनीतिक दलों में वृद्धि हो गई और मत खुले आम खरीदे जाने लगे और पलक झपकते ही निष्ठा स्थानान्तरित की जाने लगी। जैसा कि रशब्रुक विलियम्स (Rushbrook Williams) का कथन है कि "पश्चिमी पाकिस्तान विधानमण्डल राजनीतिक षड्यन्त्र का दूसरा नाम समझा जाने लगा।" पूर्वी पाकिस्तान मे भी कोई इससे बढ़िया दशा नही थी। भीषण आन्तरिक प्रतिद्वन्द्विताए इतनी बढ़ गई थी कि प्रान्तीय विधान सभा के अध्यक्ष (Speaker) को बुरी तरह पीटा गया था और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) के ऊपर मरणात्मक आक्रमण किया गया जिससे कि वह मर भी गया। श्रमिकों में चारों ओर दूर-दूर तक अशान्ति फैली हुई थी और दंगे नित्य-प्रति की घटना बन गए थे। पश्चिमी पाकिस्तान के प्रति खुल्लम-खुल्ला शत्रुता की भावना पायी जाने लगी और यहां तक कि सार्वजनिक रूप से पाकिस्तान से पृथक् होने की सम्भावना पर भी विचार-विमर्श किया जाने लगा और उस विषय में मत तैयार किया जाने लगा। कराची घूसखोरी और भ्रष्टाचार के लिए बदनाम हो गया था। "तस्करी ने एक व्यापार के समान रूप धारण कर लिया था और वह प्रभावशाली लोगों के सरक्षण में अत्यन्त सगठित गुटों द्वारा की जाने लगी थी।" केन्द्र मे तथा प्रान्तों में मिली-जुली सरकारें बड़ी तेजी से आती-जाती थी। "कभी एक अकेला व्यक्ति ही अपने व्यक्तिगत आन्दोलन, चतुराई अथवा षड्यन्त्र द्वारा शक्ति प्राप्त करने

1. Spann, R. N. (Ed.), *Constitutionalism in Asia*, p. 144.

मे समर्थ हो पाता ; कभी अन्य अवसरों पर कुछ व्यक्तियो का समूह शक्ति प्राप्त कर लेने मे सफल हो जाता और पर्दे के पीछे रहकर रस्सियां खीचता, अथवा कभी एक छोटा मा राजनीतिक दल विदेशी विचारधारा को लेकर सरकारी संयन्त्र को चलाने मे निर्णयात्मक कारण बन जाता।"[1]

देश की आर्थिक दशा मे प्रवाह लगभग रुक-सा गया था और पाकिस्तान के सम्मुख विद्यमान मुख्य समस्याओ का भी कोई हल नही निकला था। शरणार्थियो और निष्क्रान्त सम्पत्ति का हल न होने से जीवन की आधारभूत आवश्यक वस्तुओं की कमी से, जैसे भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा और डाक्टरी सहायता आदि की कमी से उत्पन्न होने वाली समस्याए विना किसी हल के थी। "इसके विपरीत अनुज्ञा (permits), अनुज्ञप्तियो (licences) तथा मूल्य नियन्त्रण ने चोरबाजारी को बढ़ाने मे प्रोत्साहन दिया हुआ था, और इसके साथ ही तस्करी, भ्रष्टाचार और कुप्रशासन भी खूब जोरो पर थे। ये सब बाते ऐसी थी जिन्होंने देश में आवश्यक रूप से असफलता तथा निराशा की भावना को चारो ओर फैलाया। यहां तक कि इस्लामी राज्य वाला विचार भी धीरे-धीरे खिसकता हुआ प्रतीत होने लगा और अब इसकी ओर से ध्यान हटने लगा था और यह भग्नाश बन गया था जिसने अन्त में जाकर भ्रम-निवृत्ति की भावना को जन्म दे डाला था।"[2]

८ अक्टूबर, १९५८ की प्रात को जब पाकिस्तान के लोगों की नीद खुली तो उन्हे पता लगा देश मे एक क्रान्ति हो गई थी, पाकिस्तान के इस्लामी गणराज्य के सविधान को उत्सादित कर दिया गया था और सैनिक कानून लागू कर दिया गया था। सविधान के उत्सादन के कारण केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानमण्डल समाप्त हो गए थे। राजनीतिक दलो का विघटन कर दिया था। राष्ट्रपति ने स्वयं सर्वोच्च शक्ति ग्रहण कर ली थी और जनरल मुहम्मद अयूब खां को मुख्य सैनिक विधि प्रशासक (Chief Martial Law Administrator) के रूप मे नियुक्त किया गया। "इस घटना के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र को इतनी सान्त्वना मिली और उन्होंने क्रान्ति की प्रशसा इतने उत्साहपूर्ण ढग से की कि बेचारे राजनीतिक नेता सिवाय हाथ मारने, अज्ञातवास करने और भलाई की आशा करने के सिवाय कुछ न कर सके। वास्तव में, उनमें से कइयों के ऊपर सट्टा खेलने के लिए मुकदमा चलाया गया; परन्तु अधिकांश मामलों में उनसे यह कहा गया कि या तो वे मुकदमों का सामना करें अथवा वे कई वर्षों के लिये राजनीतिक जीवन से अवकाश ग्रहण कर ले। कइयो ने दूसरा विकल्प अपनाया और बिना किसी छेड़-छाड के बने रहे।"[3]

परन्तु राष्ट्रपति और मुख्य सैनिक विधि प्रशासक उस आपात काल के विषय मे एक दृष्टिकोण न रख सके जिसके द्वारा वे इकट्ठे हुए थे। राष्ट्रपति सैनिक कानून को

1. Javid Iqbal, Islamic State in Pakistan, Constitutionalism in Asia (R.N. Spann, Ed) p. 145.
2. Ibid.
3. Rushbrook Williams, L. F., *The State of Pakistan*, pp.183-84.

उस साधन के रूप मे देखते थे जिसके द्वारा वह राजनीतिक नेताओं को नपुंसक बना सकता था, जिन्हें वह घृणा की दृष्टि से देखता था और जैसा करने से वह सर्वोच्च कार्यपालिका की शक्ति अपने हाथों मे समेट सकता था। जबकि, जनरल अयूब खां स्वयं अपने शब्दों में "सैनिक विधि मे एक ऐसा सच्चा अवसर देखते थे जिसके द्वारा देश वापिस अपनी स्वस्थ दशा को प्राप्त कर सकता था और राष्ट्र को सम्पूर्ण नैतिक, आर्थिक और प्रशासनिक नीव पर पुनः प्रतिष्ठापित किया जा सकता था।"[1] जो भी तथ्य रहा हो, १९५८ के अक्टूबर की समाप्ति से पूर्व ही जनरल अयूब खां के पुराने मित्र राष्ट्रपति इस्कन्दर मिर्जा ने "त्याग-पत्र देना और देश छोड़ना स्वीकृत कर लिया"। अब जनरल मुहम्मद अयूब खा राज्य और सरकार दोनो के ही प्रधान बन गये। वास्तव मे राजनीति मित्र नहीं पहिचानती।

1. Rushbrook Williams, L. F. *The State of Pakistan*, pp. 183-84.

अध्याय ३

१९६२ का संविधान
(THE CONSTITUTION OF 1962)

राजनीतिक पृष्ठभूमि, १९५८–१९६२ (Political Background, 1958–1962)—१९५८ की क्रान्ति ने पाकिस्तान में ससदीय प्रणाली पर आधारित शासन को समाप्त कर दिया क्योकि वह देश के लिए इन समस्त वर्षों में घातक सिद्ध हो चुका था। एक राष्ट्रपति-मन्त्रिमण्डल (Presidential Cabinet) नियुक्त किया गया था जिसमे तीन सैनिक जनरल (Generals) भी सम्मिलित किए गए थे। वे थे लै० जनरल आजम खा, लै० जनरल के० एम० शेख और लै० जनरल बर्की (Lieutenant-Generals Azam Khan, K. M. Sheikh and Burki)। इनके अतिरिक्त आठ असैनिक व्यक्ति भी थे जिनकी संख्या बाद में बढ़कर दस हो गई थी। इस परिषद् में पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के गवर्नर भी पदेन (Ex-officio) सदस्य रूप मे ले लिये गए थे। दोनों प्रान्तो के गवर्नर अपने-अपने प्रान्तों के प्रशासन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी थे। "सैनिक शासन के प्रशासक के रूप में एक सैनिक जनरल को नागरिक प्रशासन का आधार बनाया गया था जो स्वय अपने नीचे विद्यमान सैनिक शासन अधिकारियों की एक उच्चोच्च परम्परा द्वारा कार्य करता था, जो उच्चोच्च परम्परा धीरे-धीरे धुधली पड़ती जाती थी जैसे-जैसे नयी शासन-व्यवस्था अपने आपको स्थिर बनाती जा रही थी।"[1] समय-समय पर कुछ एक चुने हुए उच्च अधिकारियो की सहायता से युक्त होते हुए राष्ट्रपति, मन्त्रिमण्डल के मन्त्री, गवर्नर और सैनिक शासन प्रशासक आपस में मिलने और उच्च-स्तरीय नीति-निर्णयो को करते। सार्वजनिक सेवाओ मे होने वाला परिवर्तन बड़ा अद्भुत था। अकुशलता तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध एक नियत आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया गया था। कर्मचारियो के कार्य के सम्बन्ध में की गई सूक्ष्म परीक्षा के कारण १३३ प्रथम श्रेणी के अधिकारियों, २२१ द्वितीय श्रेणी के और १,३०३ तृतीय श्रेणी के कर्मचारियों के विरुद्ध कार्रवाई की गई। लगभग ३,००० कर्मचारियो मे से कइयों को पद-विमुक्त किया गया, अथवा उन्हे आवश्यक रूप से अवकाश-ग्रहण कराया गया अथवा उनके वेतन-क्रम मे अवनति लाई गई। सेवाओं को इस प्रकार से झिझोड़ने के परिणाम यह निकले कि "अब सरकारी कार्यालय समय पर खुलते; अधिकारी अपने कर्त्तव्यों को ईमानदारी और शुद्ध भाव से करते; लिपिक सामान्य नागरिक के प्रति सज्जनता का व्यवहार करते और उनकी कठिनाइयों मे उनकी सहायता करते। अब ठीक प्रकार के अधिकारी से आगे भविष्य में मुलाकात करने के लिए घूस देने की आवश्यकता नही थी; उससे अब मौके पर

1. Kahin, George M. T. (Ed.), Major Governments of Asia, p. 439.

अध्याय ३

१९६२ का संविधान
(THE CONSTITUTION OF 1962)

राजनीतिक पृष्ठभूमि, १९५८–१९६२ (Political Background, 1958-1962)—१९५८ की क्रान्ति ने पाकिस्तान मे ससदीय प्रणाली पर आधारित शासन को समाप्त कर दिया क्योंकि वह देश के लिए इन समस्त वर्षो में घातक सिद्ध हो चुका था। एक राष्ट्रपति-मन्त्रिमण्डल (Presidential Cabinet) नियुक्त किया गया था जिसमे तीन सैनिक जनरल (Generals) भी सम्मिलित किए गए थे। वे थे लै० जनरल आजम खा, लै० जनरल के० एम० शेख और लै० जनरल वर्की (Lieutenant-Generals Azam Khan, K. M. Sheikh and Burki)। इनके अतिरिक्त आठ असैनिक व्यक्ति भी थे जिनकी सख्या बाद मे बढकर दस हो गई थी। इस परिषद् मे पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के गवर्नर भी पदेन (Ex-officio) सदस्य रूप मे ले लिये गए थे। दोनो प्रान्तो के गवर्नर अपने-अपने प्रान्तो के प्रशासन के सम्वन्ध मे राष्ट्रपति के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी थे। "सैनिक शासन के प्रशासक के रूप मे एक सैनिक जनरल को नागरिक प्रशासन का आधार बनाया गया था जो स्वय अपने नीचे विद्यमान सैनिक शासन अधिकारियो की एक उच्चोच्च परम्परा द्वारा कार्य करता था, जो उच्चोच्च परम्परा धीरे-धीरे धुधली पड़ती जाती थी जैसे-जैसे नयी शासन-व्यवस्था अपने आपको स्थिर बनाती जा रही थी।"[1] समय-समय पर कुछ एक चुने हुए उच्च अधिकारियो की सहायता से युक्त होते हुए राष्ट्रपति, मन्त्रिमण्डल के मन्त्री, गवर्नर और सैनिक शासन प्रशासक आपस में मिलने और उच्च-स्तरीय नीति-निर्णयों को करते। सार्वजनिक सेवाओ मे होने वाला परिवर्तन बड़ा अद्भूत था। अकुशलता तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध एक नियत आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया गया था। कर्मचारियों के कार्य के सम्वन्ध में की गई सूक्ष्म परीक्षा के कारण १३३ प्रथम श्रेणी के अधिकारियो, २२१ द्वितीय श्रेणी के और १,३०३ तृतीय श्रेणी के कर्मचारियों के विरुद्ध कारंवाई की गई। लगभग ३,००० कर्मचारियों मे से कइयों को पद-विमुक्त किया गया, अथवा उन्हें आवश्यक रूप से अवकाश-ग्रहण कराया गया अथवा उनके वेतन-क्रम में अवनति लाई गई। सेवाओं को इस प्रकार से झिझोड़ने के परिणाम यह निकले कि "अब सरकारी कार्यालय समय पर खुलते; अधिकारी अपने कर्त्तव्यों को ईमानदारी और शुद्ध भाव से करते; लिपिक सामान्य नागरिक के प्रति सज्जनता का व्यवहार करते और उनकी कठिनाइयो मे उनकी सहायता करते। अब ठीक प्रकार के अधिकारी से आगे भविष्य मे मुलाकात करने के लिए घूस देने की आवश्यकता नही थी; उससे अब मौके पर

---

1. Kahin, George M. T. (Ed.), Major Governments of Asia, p. 439.

ही मिला जा सकता था जिसके लिए कि वह तैयार रहता था। लाल-फीताशाही में पर्याप्त रूप से कमी देखी जाने लगी थी; सरकारी काम-काज में भी अब गति आ गई थी।"[1]

विनियमन द्वारा कीमतों मे कमी लाने के लिए, जमाखोरों और तस्करों को दण्ड देने के लिए कठोर कदम उठाए गए थे। असैनिक अधिकारियों के हाथों को सशक्त करने के लिए उनके साथ-साथ सैनिक अफसर भी नियुक्त किए गए थे ताकि इस बात का अच्छी तरह से विश्वास हो जाये कि सैनिक विधि-विनियमो का पालन होगा। गम्भीर अपराधों के लिए विशेष सैनिक शासन न्यायाधिकरणों का निर्माण किया गया। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही सप्ताहों में "सारा वातावरण आम दिनों जैसा हो गया था जिसके कारण साधारण नागरिक न्यायालय अब नए विनियमों की देख-भाल कर सकते थे। सरकार ने व्यापारी समुदाय को सहयोग देने वाला पाया था, व्यापारी समुदाय ने भी सरकार को इस बात में युक्तियुक्त पाया कि उसने उनको कीमतों मे नियन्त्रण रखने मे, सार्वजनिक हित को सामने रखते हुए, कामचलाऊ नफा रखने की आज्ञा दे दी थी। सेना दिन-प्रतिदिन के नियन्त्रण से अधिक से अधिक पीछे हट रही थी; नागरिक प्रशासन ने पुनः अपना कार्य अपने हाथ में ले लिया था; और सैनिक शासन के एक मात्र शेष चिह्न उन्ही विनियमों में पाए जाते थे जिन्हें आम न्यायालयो को लागू करना पड़ता था।"[2]

१९६२ के संविधान का निर्माण (The Making of 1962 Constitution)—अपने राष्ट्रपति-पद पर आरूढ़ होने की पहली बरसी पर जनरल अयूब खा ने आधारभूत लोकतन्त्र आदेश (Basic Democracies Order) जारी किया जिसमें निर्वाचित संघ परिषदों (Union Councils) की स्थापना का विधान किया गया था। पश्चिमी पाकिस्तान मे लगभग ४,००० आधारभूत लोकतन्त्र थे और पूर्वी पाकिस्तान में इनकी संख्या लगभग ४२,००० थी। ४ फरवरी, १९६० को हुए एक जनमत सग्रह में इन नव-निर्वाचित आधारभूत-लोकतान्त्रिको ने राष्ट्रपति मुहम्मद अयूब खा को अपने पद पर पांच वर्षो के लिए सुस्थिर कर दिया और उसे पाकिस्तान का एक नया सविधान बनाने के लिए अधिकृत कर दिया। राष्ट्रपति ने एक भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश मिस्टर मुहम्मद शहाबुद्दीन (Mr. Mohammad Shahbuddin) की अध्यक्षता के अधीन एक सविधान आयोग (Constitution Commission) की स्थापना की जिसका उद्देश्य सरकार को यह सलाह देना था कि पाकिस्तान मे परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों के अनुकूल लोकतन्त्र को किस बढ़िया तरीके से स्थापित किया जा सकता है। इस आयोग के निर्देश-पद (terms of reference) इस प्रकार थे, "१९५६ के सविधान की समाप्ति करनेवाली पाकिस्तान मे ससदीय प्रणाली की सरकार की प्रगतिशील असफलता की परीक्षा करना और असफलता के कारणों और उसकी प्रकृति को सुनिश्चित करना; इस बात पर विचार करना कि तथाकथित अथवा सदृश कारणों की किस अच्छे तरीके से पहिचान हो सकती है और उनकी पुनरुत्पत्ति को किस अच्छे तरीके से रोका जा सकता

1. Rushbrook Williams, L. F., *The State of Pakistan*, p. 189.
2. Ibid., p.188.

है; और आगे चलकर लोगों की बुद्धि, शिक्षा तथा देश मे राजनीतिक निर्णय का सामान्य स्तर, राष्ट्रत्व की भावना की वर्तमान स्थिति, लगातार विकास की मुख्य आवश्यकता और हाल ही के महीनों मे लाए गए संवैधानिक तथा प्रशासनिक परिवर्तनों का प्रभाव इन सब बातो को सम्मुख रखकर एक प्रतिवेदन के रूप में संवैधानिक प्रस्तावों को प्रस्तुत करना जिसमे यह सलाह भी दी गई हो कि निम्नलिखित उद्देश्यों को कौन से बढ़िया तरीको से प्राप्त किया जा सकता है: एक ऐसा लोकतन्त्र जो परिवर्तनशील परिस्थितियो के अनुकूल हो और जो न्याय, समानता तथा सहनशीलता के इस्लामी सिद्धान्तों पर आधारित हो; राष्ट्रीय एकता का संस्थापन; और शासन की एक दृढ़ तथा स्थायी प्रणाली।"

संवैधानिक आयोग जीवन के विविध क्षेत्रों मे पाए जाने वाले प्रसिद्ध लोगो से मिलकर बनाया गया था। इस आयोग ने लोगों में एक विशिष्ट प्रश्नावली वितरित की जिसका लगभग ६,००० से अधिक व्यक्तियों ने उत्तर दिया। आयोग ने व्यक्तिगत तौर पर पाकिस्तान के दोनो पक्षों में पांच सौ से अधिक व्यक्तियों से साक्षात्कार भी किया। पाकिस्तान के उलेमाओं के एक समूह ने भी एक उत्तर भेजा था और उनके इस कार्य की समाचारपत्रों मे पर्याप्त चर्चा रही थी क्योंकि उस उत्तर को देश के नवीनता-विरोधी व्यक्तियों की राय का प्रतिनिधित्व करनेवाला समझा गया था। उलेमाओं ने यह कहा था कि पाकिस्तान का भावी संविधान कुरान और सुन्नाह पर आधारित होना चाहिए। यह बात भी कही गई थी कि १९५६ से लेकर संविधान की कभी भी परीक्षा नही की गई थी और पुराने संविधान के अन्तर्गत आम चुनाव भी नहीं हुए थे। अतएव पाकिस्तान मे संसदीय प्रणाली की सरकार की असफलता के सिद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। बल्कि दूसरी ओर पाकिस्तान के लोग संसदीय प्रणाली के शासन से पूर्णतया परिचित थे और उसे पाकिस्तान के भावी संविधान में बने रहना चाहिए। प्रधानीय (Presidential) प्रकार की सरकार स्थापित होने से कई प्रकार की हल न होने वाली कठिनाइयां उत्पन्न हो जायेंगी, अत:, उसे अस्वीकृत कर देना चाहिए। पाकिस्तान के राजनीतिक नेताओं को ईश्वर से डरने के लिए कहा जाना चाहिए ताकि [illegible] र ईमानदारी से कर सकें और आवश्यक [illegible] र से अभिस्वीकृत कर लिया जाये।

मई १९६१ मे संविधान आयोग ने अपना प्रतिवेदन दे दिया था, बाद में इसे सार्वजनिक रूप से प्रकाशित भी कर दिया गया था। इसके विभिन्न पक्षों की परीक्षा करने के लिए राष्ट्रपति-मन्त्रिमण्डल की अनेक समितियां स्थापित की गईं और ऐसा १९६१ अक्टूबर तक होता रहा जब समूचे मन्त्रिमण्डल ने उसकी अन्तिम परीक्षा आरम्भ की। मन्त्रिमण्डल ने वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारियों के विचारों का भी पता लगाया। राष्ट्रपति ने यह इच्छा प्रकट की थी कि संविधान की भाषा सरल होनी चाहिए ताकि साधारण नागरिक भी उसे समझ सकें। उसका तर्क यह था कि पाकिस्तान के लोगों से उस संविधान के अनुसार कार्य करने की आशा नहीं की जा सकती जिसे वह भली प्रकार समझ ही न सकें। राष्ट्रपति की इस इच्छा के प्रति आदर प्रकट करते हुए यह महत्वपूर्ण दुस्तर कार्य मि० मन्जूर कादिर (Mister Manzur Qadir) को सौंपा गया जिसको

सहायता के लिए एक आस्ट्रेलियाई विशेषज्ञ मि० कायली (Mr. Quayle) भी नियत किए गए। १ मार्च, १९६२ को राष्ट्रपति ने सविधान पर हस्ताक्षर कर दिए और उसी दिन वह लागू भी कर दिया गया। इस सविधान मे राष्ट्रपति के सवैधानिक विचार सुप्रतिष्ठित थे।

१९६२ के सविधान के अन्तर्गत राष्ट्रीय सभा के लिए प्रथम चुनाव २८ अप्रैल को हुए और ६ मई, १९६२ को प्रान्तीय विधान सभाओं के लिए चुनाव हुए। ८ जून को राष्ट्रीय सभा का पहला सत्र प्रारम्भ हुआ और इस प्रकार सेना-शासन का अन्त हुआ। जुलाई मे राजनीतिक दल अधिनियम (Political Parties Act) के पारित होने पर राजनीतिक दलों पर लगा हुआ सशर्त प्रतिबन्ध भी उठा लिया गया। सेना-शासन के अन्तर्गत नियुक्त मन्त्री भी ८ जून को राष्ट्रीय सभा के लिए निर्वाचित सदस्यों द्वारा प्रतिस्थापित कर दिए गए। वित्त, विधि और गृह ये तीन विभाग अपवाद थे।

१९६२ के संविधान की मुख्य विशेषताएँ (Salient Features of the Constitution of 1962)—१९४७ मे पाकिस्तान की स्थापना के बाद १९६२ का सविधान पाकिस्तान का दूसरा सविधान था। अपने १९५६ में पूर्ववर्ती सविधान के समान इसके द्वारा भी यही घोषित किया गया था कि समस्त ब्रह्माण्ड के ऊपर सर्वप्रभुता सर्वशक्तिमान् अल्लाह् अर्थात् ईश्वर की ही सत्ता है और पाकिस्तान के लोगो द्वारा अल्लाह द्वारा निश्चित सीमा के अन्दर प्रयुक्त की जाने वाली शक्ति एक प्रकार की पवित्र धरोहर है। प्रस्तावना यह करती है कि जब कि पाकिस्तान के सस्थापक, कायदेआजम मुहम्मद अली जिन्नाह् ने यह घोषणा की थी कि पाकिस्तानी सामाजिक न्याय के इस्लामी सिद्धान्तो पर आधारित एक लोकतान्त्रिक राज्य होगा, यह लोगों की इच्छा है कि यह राज्य के लोगों के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा अपनी शक्तियों और प्राधिकार का प्रयोग करे। लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता, समानता, सहनशीलता और सामाजिक न्याय के सिद्धान्तो का, जैसा कि वे इस्लाम द्वारा प्रतिपादित किए गए है, पूर्णतया पालन किया जायगा। पाकिस्तान के मुस्लिमों को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से इस योग्य बना देना चाहिए ताकि वे पवित्र कुरान और सुन्नाह में बताए गए इस्लाम के उपदेशों और आवश्यकताओं के अनुसार अपने जीवन को व्यवस्थित कर सके।

संविधान पाकिस्तान के अल्पसंख्यको के न्याययुक्त हितों को भी अभिरक्षण प्रदान करता है जिसमें अपने धर्म की घोषणा करने तथा उसको व्यवहार में लाने का अधिकार तथा अपनी सस्कृति का विकास करने का अधिकार भी सम्मिलित है। यह समस्त नागरिको को मौलिक मानव-अधिकारो की भी प्रत्याभूति देता है जिनमें कानून के सम्मुख समानता; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, मत तथा समुदाय की स्वतन्त्रता; तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, जो राज्य की सुरक्षा के अधीन हो और सार्वजनिक हितों और नैतिकता के संगत हो, इत्यादि अधिकार समाविष्ट हैं। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की भी गारण्टी दी गई है।

सविधान 'पाकिस्तान गणराज्य' के राज्य की स्थापना करता है। इसकी प्रस्तावना मे यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि यह संविधान पाकिस्तान के राष्ट्रपति

है; और आगे चलकर लोगों की बुद्धि, शिक्षा तथा देश मे राजनीतिक नि
सामान्य स्तर, राष्ट्रत्व की भावना की वर्तमान स्थिति, लगातार विकास व
आवश्यकता और हाल ही के महीनों मे लाए गए संवैधानिक तथा प्रशासनिक प
का प्रभाव इन सब बातों को सम्मुख रखकर एक प्रतिवेदन के रूप में संवैधानिक
को प्रस्तुत करना जिसमें यह सलाह भी दी गई हो कि निम्नलिखित उद्देश्यो
से बढ़िया तरीकों से प्राप्त किया जा सकता है: एक ऐसा लोकतन्त्र जो परि
परिस्थितियों के अनुकूल हो और जो न्याय, समानता तथा सहनशीलता के
सिद्धान्तों पर आधारित हो; राष्ट्रीय एकता का संस्थापन; और शासन व
तथा स्थायी प्रणाली।"

सवैधानिक आयोग जीवन के विविध क्षेत्रों मे पाए जाने वाले प्र
मिलकर बनाया गया था। इस आयोग ने लोगों मे एक विशिष्ट प्रश्नावली
जिसका लगभग ६,००० से अधिक व्यक्तियो ने उत्तर दिया। आयोग
तौर पर पाकिस्तान के दोनो पक्षों मे पांच सौ से अधिक व्यक्तियों से
किया। पाकिस्तान के उलेमाओं के एक समूह ने भी एक उत्तर भेजा था,
कार्य की समाचारपत्रों मे पर्याप्त चर्चा रही थी क्योंकि उस उत्तर को
विरोधी व्यक्तियों की राय का प्रतिनिधित्व करनेवाला समझा गया
ने यह कहा था कि पाकिस्तान का भावी सविधान कुरान और
चाहिए। यह बात भी कही गई थी कि १९५६ से लेकर संविध
नही की गई थी और पुराने संविधान के अन्तर्गत आम
अतएव पाकिस्तान में ससदीय प्रणाली की सरकार की अस
ही नही उठता था। बल्कि दूसरी ओर पाकिस्तान के लोग
पूर्णतया परिचित थे और उसे पाकिस्तान के भावी सविधा
प्रधानीय (Presidential) प्रकार की सरकार स्थापित
न होने वाली कठिनाइया उत्पन्न हो जायेंगी, अतः, उसे
पाकिस्तान के राजनीतिक नेताओं को ईश्वर से डरने के
वे अपने कर्त्तव्यों को निष्ठापूर्ण ढंग से और ईमानदा
सशोधनों के बाद १९५६ के सविधान को फिर

मई १९६१ में सविधान आयोग ने अपना
सार्वजनिक रूप से प्रकाशित भी कर दिया गया
करने के लिए राष्ट्रपति-मन्त्रिमण्डल की अनेक
१९६१ अक्टूबर तक होता रहा जब समूचे
की। मन्त्रिमण्डल ने वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारि
राष्ट्रपति ने यह इच्छा प्रकट की थी कि सविधान
साधारण नागरिक भी उसे समझ सकें। उसका तर्क
उस सविधान के अनुसार कार्य करने की आशा नही की
समझ ही न सकें। राष्ट्रपति की इस इच्छा के प्रति आदर
दूसर कार्य मि० मन्जूर कादिर (Mister Manzur Qadir)

सरकार दोनों का मुखिया होता है। राष्ट्रपति की इच्छानुसार ही मन्त्री नियुक्त होते हैं अथवा हटाए जाते हैं। मन्त्रिमण्डल की वस्तुतः स्थिति ब्रिटिश शासन के दिनो में गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् (Executive Council) से मिलती-जुलती है। अतः, पाकिस्तान का राष्ट्रपति पद ठीक अमरीकी राष्ट्रपति पद के समान नही है। इसने "कुछ बातें अमरीकी उदाहरण से, कुछ डी० गॉल (De Gaulle) के फ्रांस से और बहुत स्पष्टता से ब्रिटिश भारत के वॉयसरॉय सम्बन्धी बातों से ली है।"[1]

प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्त शासन है। परन्तु यह प्रान्तीय स्वायत्त शासन १९३७ से १९५८ तक उपलब्ध होने वाले प्रान्तीय स्वायत्त शासन के प्रकार से भिन्न है क्योकि उन दिनों गवर्नर सामान्य परिस्थितियों मे, प्रान्त का संवैधानिक मुखिया होता था और वह अपने मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार कार्य करता था जो मन्त्री प्रान्तीय विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होते थे। १९६२ के सविधान के अधीन गवर्नर की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा अनिश्चित अवधि के लिए की जाती है, जो गवर्नर राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होता है। वह राष्ट्रपति के विवेक के अधीन कार्य करने वाला है। प्रान्तों मे मन्त्रियों की परिषद् वास्तव मे एक कार्यकारिणी परिषद् होती है जो गवर्नर द्वारा राष्ट्रपति के साथ सलाह करके नियुक्त की जाती है, अथवा पद-च्युत की जाती है। वह प्रान्तीय विधान सभा के प्रति उत्तरदायी नही होती।

राष्ट्रपति अयूब खां ने २७ अक्टूबर, १९५९ के आधारभूत लोकतन्त्र आदेश के अन्दर समाविष्ट आधारभूत लोकतन्त्र (Basic Democracies) की विचारधारा को प्रस्तुत किया था। आधारभूत लोकतन्त्र के सदस्यों को आधारभूत लोकतान्त्रिक कहते हैं और उनसे मिलकर निर्वाचक-गण बनता है। इस निर्वाचक-गण के ८०,००० से अधिक सदस्य हैं जिनकी आधी संख्या पूर्वी पाकिस्तान मे और आधी सख्या पश्चिमी पाकिस्तान में है। इसकी नीव प्राथमिक निर्वाचक-क्षेत्र होता है जिसमें ५०० से लेकर १,००० स्त्री-पुरुष होते है और इसमें वे सब सम्मिलित होते हैं जिनकी आयु २१ वर्ष की होती है और जिन्हें वोट अर्थात् मतदान देने का अधिकार होता है। सुविधा के अनुसार, आठ से दस तक प्राथमिक निर्वाचन-क्षेत्रों को गांवो में एक संघ-परिषद् (Union Council) का चुनाव करने के लिए समूहित कर दिया जाता है और इसी तरह छोटे नागरिक क्षेत्र के लिए उप-नगर समिति (Town Committee) और बड़े नगरो के लिए संघ-समिति (Union Committee) का चुनाव किया जाता है। प्रत्येक परिषद् अथवा समिति को आधारभूत लोकतन्त्र के नाम से पुकारा जाता है। कुल मिलाकर पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान में ८,२६६ आधारभूत लोकतन्त्रों की स्थापना की गई जिसमे ७,११४ सघ परिषदें हैं जो गांवों मे हैं। छोटे नागरिक केन्द्रों मे २१८ उप-नगर समितियां (Town Committees) हैं और नगरों में ८१६ संघ-समितिया हैं। उनमें ७५ छावनी क्षेत्र (Cantonment Areas) तथा ४३ विशेष क्षेत्र भी है।

पाकिस्तान का वर्णन एक संघ के रूप मे किया जाता है यद्यपि संविधान ऐसा

1. Kahin, George MCT (Ed.) Major Governments of Asia, p. 450.

फील्ड मार्शल मुहम्मद अयूब खां (Field Marshal Mohammad Ayub Khan) द्वारा अधिनियमित किया गया था और ऐसा उन्होने १६ फरवरी, १९६० को एक प्रधानीय जनमत संग्रह मे उनको प्राप्त हुए अधिदेश के अनुसार किया था। राष्ट्रपति, पांच वर्ष की पदावधि के लिए, निर्वाचक-गणों के सदस्यों द्वारा चुना जाता है। वह इस दोषारोपण पर कि उसने "जान-बूझकर सविधान का अतिक्रमण किया है अथवा वह भयकर दुराचार का दोषी है" महाभियोग द्वारा अपने पद से हटाया भी जा सकता है। मानसिक अथवा शारीरिक अशक्तता के आधार पर भी उसे पद-च्युत किया जा सकता है। यदि राष्ट्रपति अपने पद पर आठ वर्षों से अधिक समय से बना हुआ हो तो वह तब तक दुबारा चुनाव के लिए ग्राह्य नही समझा जाता जब तक कि राष्ट्रीय सभा और दो प्रान्तीय विधान सभाओं की एक संयुक्त बैठक में गुप्त मतदान द्वारा उसकी उम्मीदवारी अर्थात् अभ्यर्थिता का अनुमोदन नही हो जाता।

केन्द्रीय विधानमण्डल जिसे राष्ट्रीय सभा भी कहते है एकसदनात्मक है जिसमें १५६ चुने हुए सदस्य होते है। पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान से आने वाले सदस्यों की संख्या बराबर-बराबर है अर्थात् प्रत्येक प्रान्त के ७८-७८ सदस्य होते है। यदि यह सभा पहले ही विघटित न हो जाए तो इस सभा की कालावधि पांच वर्ष है। १९६२ मे निर्वाचित पहली सभा ने तीन वर्ष कार्य करना था। प्रत्येक प्रान्तीय विधान सभा के १५५ सदस्य है जिनमे राष्ट्रीय सभा के समान आधार पर चुनी जाने वाली स्त्रियों के लिए पाच सुरक्षित स्थान भी सम्मिलित हैं। किसी गवर्नर और प्रान्तीय सभा के बीच कोई विवाद उत्पन्न होने पर राष्ट्रपति की सहमति से गवनर प्रान्तीय विधान-सभा का विघटन कर सकता है।

यह सविधान ससदीय प्रणाली की सरकार की स्थापना नही करता और राष्ट्रपति अयूब ने सदा ही हर उस प्रणाली की निन्दा की थी जो विधानमण्डल को कार्यपालिका को बनाए रखने और उसे हटाने मे अनियन्त्रित शक्ति प्रदान करती थी। उसका यह दृढ विश्वास था कि पाकिस्तान का ब्रिटिश नमूने की संसदीय प्रणाली की ओर लौटना देश को उस दलगत राजनीति के हानिकारक शासन के मध्य मे फेक देगा जिसने पाकिस्तान को उनके जन्म से लेकर ही पीडित किया हुआ था। उसे लोकतन्त्र से घृणा नही थी। वस्तुतः उसे यह विश्वास हो चला था कि पाकिस्तान के लिए लोकतन्त्र आवश्यक था क्योंकि इसके बिना राजनीतिक स्थिरता आनी असम्भव थी। परन्तु वह अपने इस विश्वास पर भी बल देता था कि पाकिस्तान में स्थापित किया जाने वाला लोकतान्त्रिक यन्त्र अपने मे राजनीतिक स्थिरता को उत्पन्न करनेवाले विश्वास को भी साथ मे सम्मिलित करे और जिसे पाकिस्तानी लोग समझ सकें और जिसका प्रयोग कर सकें। अतः, उसने एक प्रकार के जनमत-सग्रह द्वारा, राज्य के एक मुखिया से युक्त शक्तिशाली कार्यपालिका को स्थापित करने का निश्चय किया था; एक प्रकार का एक अमरीकी राष्ट्रपति जिसका अपने लोगों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। उसका एक मन्त्रिमण्डल होना चाहिए, किन्तु उन्हें उसके मन्त्री होना चाहिए जो उसकी प्रसन्नता के दौरान कार्य करे और उसके कर्त्तव्यों को करने मे उसकी सहायता करें। पाकिस्तान मे राष्ट्रपति का मन्त्रिमण्डल राष्ट्रीय सभा के प्रति उत्तरदायी नही होता। राष्ट्रपति राज्य तथा

संविधान ने कुछ एक मौलिक सिद्धान्त भी बनाए हैं जिनका कानून बनाते समय दृढ़ता से पालन किया जाना आवश्यक है। इन सिद्धान्तों को विधि-निर्माण सिद्धान्तों (Principles of Law-making) के नाम से वर्णित किया गया है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय, दोनों ही, विधानमण्डल इस बात को सुनिश्चित करने के लिए उत्तरदायी हैं कि कोई भी कानून जिसे अधिनियमित किया गया है वह इन सिद्धान्तों की उपेक्षा, अतिक्रमण नहीं करता अथवा वह इन सिद्धान्तों से असंगत है। यदि यह सन्देह होता है कि कोई विशेष व्यवस्थापन विधि-निर्माण सिद्धान्तों से संगत अथवा है कि नहीं, तो राष्ट्रीय सभा, प्रान्तीय विधान सभा, राष्ट्रपति अथवा यदि चाहे, तो उसे इस्लामी विचारधारा की मन्त्रणा परिषद् (Advi- of Ideology) के पास सलाह और पथ- भी हो, किसी कानून की वैधता को केवल इसीलिए कि वह विधि-निर्माण सिद्धान्तों की उपेक्षा अथवा

कुछ नही कहता। केन्द्रीय सरकार को दी गई शक्तिया संविधान की तृतीय अनुसूची में गिनाई गई है। अन्य समस्त विषय प्रान्तों को सौंप दिए गए है और वे उन समस्त मामलों मे वहां तक स्वायत्तशासी हैं जहां तक वे समूचे रूप में पाकिस्तान की एकता और हितों में संगत बने रहें। राष्ट्रीय सभा को राष्ट्रीय हित में अवशिष्ट क्षेत्र में कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। इस प्रकार, सविधान ने केन्द्र को बिना आपात शक्तियो का आह्वान किए जहां वह आवश्यक समझे वहा कार्य करने की आज्ञा दी हुई है। केन्द्र और एककों के बीच शक्तियों का विभाजन नही किया गया है जैसा कि सर्वदा किसी सघ मे होता है। केन्द्र-प्रान्तो का सम्बन्ध मोटे तौर पर १९१९ के भारत सरकार अधिनियम के प्राक्रमणकारी (devolutionary) नमूने को लौट आया है।[1] परन्तु एक दृष्टि से पाकिस्तान संघ से मिलता-जुलता है। कोई संशोधन जिसका उद्देश्य किसी प्रान्त की सीमाओ मे हेर-फेर करना होता है तब तक राष्ट्रीय सभा में पुरःस्थापित नही किया जा सकता जब तक उसे प्रान्तीय विधान सभा के दो-तिहाई सदस्यों का अनुमोदन प्राप्त नही हो जाता। सविधान में सशोधन करनेवाले विधेयक के लिए भी राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित किया जाना आवश्यक है। राष्ट्रीय सभा द्वारा सशोधन विधेयक के पारित हो जाने के बाद वह राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए उसके पास भेजा जाता है और ऐसा होने पर तीस दिन के अन्दर-अन्दर राष्ट्रपति द्वारा अपनी स्वीकृति प्रदान करना आवश्यक हो जाता है। वह या तो अपनी स्वीकृति नही देता अथवा उस विधेयक को राष्ट्रीय सभा के पास अपने सन्देश के साथ जिसमे परिवर्तन के सुझाव होते हैं लौटा देता है। यदि राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति न दे और यदि वह विधेयक संशोधनो अथवा उनके बिना राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यों के तीन-चौथाई बहुमत द्वारा फिर पारित कर दिया जाये तो राष्ट्रपति या तो राष्ट्रीय सभा का विघटन कर सकता है अथवा उस मामले को निर्वाचक-गण के जनमत संग्रह के लिए प्रस्तुत कर सकता है। यदि निर्वाचक-गण के कुल सदस्यों का पूर्ण बहुमत विधेयक के पक्ष मे मतदान करता है तो यह समझ लिया जाता है कि राष्ट्रपति ने विधेयक को स्वीकृति दे दी है और उसे तुरन्त ही सविधान में संशोधन मान लिया जाता है।

पाकिस्तान के जन्म से लेकर ही उसे पीड़ित करने वाले प्रादेशिक झगड़ों से बचने के लिए सविधान ने इस बात का भी विधान किया है कि पूर्वी पाकिस्तान में राष्ट्रीय सभा का स्थान ढाका (Dacca) में स्थापित किया जाये और पश्चिमी पाकिस्तान मे रावलपिण्डी के निकट इस्लामाबाद (Islamabad) को पाकिस्तान की राजधानी बनाया जाय। ढाका को पाकिस्तान की दूसरी राजधानी भी घोषित किया गया है। बगाली तथा उर्दू देश की राष्ट्र-भाषाएं स्वीकृत की गई हैं और केन्द्रीय सरकार के समस्त क्षेत्रों में, जहा तक निकट से निकट व्यवहारिक हो सके, प्रान्तो के बीच समानता बनाए रखने के ऊपर बल प्रदान किया गया है।[2]

---

1. Kahin, George MCT (Ed), *Major Governments of Asia*, p 462.

2. अनुच्छेद १६।

संविधान ने कुछ एक मौलिक सिद्धान्त भी बनाए है जिनका कानून बनाते समय दृढ़ता से पालन किया जाना आवश्यक है। इन सिद्धान्तों को विधि-निर्माण सिद्धान्तो (Principles of Law-making) के नाम से वर्णित किया गया है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय, दोनों ही, विधानमण्डल इस बात को सुनिश्चित करने के लिए उत्तरदायी होंगे कि कोई भी कानून जिसे अधिनियमित किया गया है वह इन सिद्धान्तों की उपेक्षा, अथवा अतिक्रमण नही करता अथवा वह इन सिद्धान्तों से असगत है। यदि यह सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि कोई विशेष व्यवस्थापन विधि-निर्माण सिद्धान्तों से संगत अथवा उसके अनुसार है कि नही, तो राष्ट्रीय सभा, प्रान्तीय विधान सभा, राष्ट्रपति अथवा प्रान्तीय गवर्नर, यदि चाहे, तो उसे इस्लामी विचारधारा की मन्त्रणा परिषद् (Advisory Council of Islamic Ideology) के पास सलाह और पथ-प्रदर्शन के लिए भेज सकता है। जो भी हो, किसी कानून की वैधता को केवल इसीलिए प्रश्नास्पद नही बनाया जा सकता क्योंकि वह विधि-निर्माण सिद्धान्तो की उपेक्षा अथवा अतिक्रमण करता है अथवा अन्यथा उन सिद्धान्तों के अनुकूल नही है।

विधि निर्माण सिद्धान्तों ने इस बात का विधान किया है कि इस्लाम की भावना के प्रतिकूल किसी भी विधि का निर्माण नही किया जायगा। समस्त अधिनियमित कानून इस बात को सुनिश्चित करेगे कि पाकिस्तान के समस्त नागरिक कानून के सामने समान होंगे और वे कानून उनके साथ समान रूप से व्यवहार करेगे और उन्हे समान संरक्षण प्रदान करेंगे। परन्तु इस सिद्धान्त से हटा भी जा सकता है जहा स्वयं समानता के हित मे वर्तमान असमानताओं का समीकरण करना आवश्यक हो भले ही वे असमानताएं प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक अथवा किसी अन्य प्रकार की हों। इसके अतिरिक्त उस दशा मे भी इस मार्ग से हटा जा सकता है जब सार्वजनिक कार्यों को उचित प्रकार से करने के हित मे सार्वजनिक कार्यो को करनेवाले व्यक्तियों को वे शक्तिया, संरक्षण अथवा सुविधाएं प्रदान की जाएं जो अन्य व्यक्तियों को प्राप्य नही है। अथवा उस प्रकार के व्यक्तियो पर वे दायित्व अथवा अनुशासनात्मक नियन्त्रण थोपे जाये जिनके अधीन अन्य व्यक्ति नही होते। इस सिद्धान्त से तब भी हटा जा सकता है जब पाकिस्तान अथवा राज्य की सुरक्षा के हित में ऐसा किया जाना आवश्यक हो। जो भी हो, ऐसा करते समय इस बात का निश्चय कर लेना आवश्यक है कि किसी भी नागरिक को किसी अन्य नागरिक के मुकाबले में अनुचित अधिमान न मिले और कोई भी नागरिक किसी प्रकार की अयोग्यता, देयता अथवा दायित्व के अधीन न रखा जाय जो उसी श्रेणी के अन्य नागरिकों पर लागू न हों।

किसी भी नागरिक के विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने वाला कानून तब तक नही बनाया जायगा जब तक कि पाकिस्तान की सुरक्षा के हित मे, विदेशी राज्यों से मित्रता के सम्बन्धों को सुनिश्चित करने के लिए, सार्वजनिक व्यवस्था के हित में, अथवा न्याय के उचित प्रशासन को निश्चित करने के उद्देश्यों से अथवा औचित्य या अनैतिकता के उद्देश्यों से अथवा अपराधों के किए जाने को रोकने के उद्देश्य से ऐसा करना आवश्यक न हो जाय। कोई भी कानून मिलने की स्वतन्त्रता अथवा समुदाय या सघ बनाने के अधिकार के ऊपर तब तक प्रतिबन्ध नहीं लगाएगा

कुछ नहीं कहता। केन्द्रीय सरकार को दी गई शक्तियां संविधान की तृतीय अनुसूची में गिनाई गई हैं। अन्य समस्त विषय प्रान्तों को सौंप दिए गए हैं और वे उन समस्त मामलों में वहां तक स्वायत्तशासी हैं जहां तक वे समूचे रूप में पाकिस्तान की एकता और हितों से संगत बने रहें। राष्ट्रीय सभा को राष्ट्रीय हित में अवशिष्ट क्षेत्र में कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। इस प्रकार, संविधान ने केन्द्र को बिना आधार शक्तियों का आह्वान किए जहां वह आवश्यक समझे वहां कार्य करने की आज्ञा दी हुई है। केन्द्र और इकाइयों के बीच शक्तियों का विभाजन नहीं किया गया है जैसा कि संघीय विधान में होता है। केन्द्र-प्रान्तों का सम्बन्ध मोटे तौर पर १९१९ के भारत सरकार अधिनियम के प्राक्रमणकारी (devolutionary) नमूने को लौट आया है।[1] परन्तु एक दृष्टि से पाकिस्तान संघ से मिलता-जुलता है। कोई संशोधन जिसका उद्देश्य किसी प्रान्त की सीमाओं में हेर-फेर करना होता है तब तक राष्ट्रीय सभा में पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता जब तक उसे प्रान्तीय विधान सभा के दो-तिहाई सदस्यों का अनुमोदन प्राप्त नहीं हो जाता। संविधान में संशोधन करनेवाले विधेयक के लिए भी राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित किया जाना आवश्यक है। राष्ट्रीय सभा द्वारा संशोधन विधेयक के पारित हो जाने के बाद वह राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए उसके पास भेजा जाता है और ऐसा होने पर तीस दिन के अन्दर-अन्दर राष्ट्रपति द्वारा अपनी स्वीकृति प्रदान करना आवश्यक हो जाता है। वह या तो अपनी स्वीकृति नहीं देता अथवा उस विधेयक को राष्ट्रीय सभा के पास अपने सन्देश के साथ जिसमें परिवर्तन के सुझाव होते हैं लौटा देता है। यदि राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति न दे और यदि वह विधेयक संशोधनों अथवा उनके बिना राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यों के तीन-चौथाई बहुमत द्वारा फिर पारित कर दिया जावे तो राष्ट्रपति या तो राष्ट्रीय सभा का विघटन कर सकता है अथवा उस मामले को निर्वाचक-गण के जनमत संग्रह के लिए प्रस्तुत कर सकता है। यदि निर्वाचक-गण के कुल सदस्यों का पूर्ण बहुमत विधेयक के पक्ष में मतदान करता है तो यह समझ लिया जाता है कि राष्ट्रपति ने विधेयक को स्वीकृति दे दी है और उसे तुरन्त ही संविधान में संशोधन मान लिया जाता है।

पाकिस्तान के जन्म से लेकर ही उसे पीड़ित करने वाले प्रादेशिक झगड़ों से बचने के लिए संविधान ने इस बात का भी विधान किया है कि पूर्वी पाकिस्तान में राष्ट्रीय सभा का स्थान ढाका (Dacca) में स्थापित किया जावे और पश्चिमी पाकिस्तान में रावलपिण्डी के निकट इस्लामाबाद (Islamabad) को पाकिस्तान की राजधानी बनाया जाय। ढाका को पाकिस्तान की दूसरी राजधानी भी घोषित किया गया है। बंगाली तथा उर्दू देश की राष्ट्र-भाषाएं स्वीकृत की गई हैं और केन्द्रीय सरकार के समस्त क्षेत्रों में, जहां तक निकट से निकट व्यवहारिक हो सके, प्रान्तों के बीच समानता बनाए रखने के ऊपर बल प्रदान किया गया है।[2]

---

1. Kahin, George MCT. (Ed.), *Major Governments of Asia*, p. 462.

2. अनुच्छेद १६।

संविधान ने कुछ एक मौलिक सिद्धान्त भी बनाए है जिनका कानून बनाते समय दृढ़ता से पालन किया जाना आवश्यक है। इन सिद्धान्तो को विधि-निर्माण सिद्धान्तों (Principles of Law-making) के नाम से वर्णित किया गया है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय, दोनों ही, विधानमण्डल इस बात को सुनिश्चित करने के लिए उत्तरदायी होंगे कि कोई भी कानून जिसे अधिनियमित किया गया है वह इन सिद्धान्तों की उपेक्षा, अथवा अतिक्रमण नही करता अथवा वह इन सिद्धान्तों से असगत है। यदि यह सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि कोई विशेष व्यवस्थापन विधि-निर्माण सिद्धान्तो से सगत अथवा उसके अनुसार है कि नही, तो राष्ट्रीय सभा, प्रान्तीय विधान सभा, राष्ट्रपति अथवा प्रान्तीय गवर्नर, यदि चाहे, तो उसे इस्लामी विचारधारा की मन्त्रणा परिषद् (Advisory Council of Islamic Ideology) के पास सलाह और पथ-प्रदर्शन के लिए भेज सकता है। जो भी हो, किसी कानून की वैधता को केवल इसीलिए प्रश्नास्पद नही बनाया जा सकता क्योंकि वह विधि-निर्माण सिद्धान्तों की उपेक्षा अथवा अतिक्रमण करता है अथवा अन्यथा उन सिद्धान्तों के अनुकूल नही है।

विधि निर्माण सिद्धान्तों ने इस बात का विधान किया है कि इस्लाम की भावना के प्रतिकूल किसी भी विधि का निर्माण नही किया जायगा। समस्त अधिनियमित कानून इस बात को सुनिश्चित करेंगे कि पाकिस्तान के समस्त नागरिक कानून के सामने समान होंगे और वे कानून उनके साथ समान रूप से व्यवहार करेंगे और उन्हे समान सरक्षण प्रदान करेंगे। परन्तु इस सिद्धान्त से हटा भी जा सकता है जहा स्वयं समानता के हित मे वर्तमान असमानताओं का समीकरण करना आवश्यक हो भले ही वे असमानताएं प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक अथवा किसी अन्य प्रकार की हों। इसके अतिरिक्त उस दशा में भी इस मार्ग से हटा जा सकता है जब सार्वजनिक कार्यो को उचित प्रकार से करने के हित मे सार्वजनिक कार्यो को करनेवाले व्यक्तियों को वे शक्तिया, संरक्षण अथवा सुविधाए प्रदान की जाएं जो अन्य व्यक्तियों को प्राप्य नही हैं। अथवा उस प्रकार के व्यक्तियों पर वे दायित्व अथवा अनुशासनात्मक नियन्त्रण थोपे जायें जिनके अधीन अन्य व्यक्ति नही होते। इस सिद्धान्त से तब भी हटा जा सकता है जब पाकिस्तान अथवा राज्य की सुरक्षा के हित में ऐसा किया जाना आवश्यक हो। जो भी हो, ऐसा करते समय इस बात का निश्चय कर लेना आवश्यक है कि किसी भी नागरिक को किसी अन्य नागरिक के मुकाबले में अनुचित अधिमान न मिले और कोई भी नागरिक किसी प्रकार की अयोग्यता, देयता अथवा दायित्व के अधीन न रखा जाय जो उसी श्रेणी के अन्य नागरिकों पर लागू न हो।

किसी भी नागरिक के विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने वाला कानून तब तक नही बनाया जायगा जब तक कि पाकिस्तान की सुरक्षा के हित मे, विदेशी राज्यों से मित्रता के सम्बन्धों को सुनिश्चित करने के लिए, सार्वजनिक व्यवस्था के हित में, अथवा न्याय के उचित प्रशासन को निश्चित करने के उद्देश्यों से अथवा औचित्य या अनैतिकता के उद्देश्यों से अथवा अपराधों के किए जाने को रोकने के उद्देश्य से ऐसा करना आवश्यक न हो जाय। कोई भी कानून मिलने की स्वतन्त्रता अथवा समुदाय या संघ बनाने के अधिकार के ऊपर तब तक प्रतिबन्ध नही लगाएगा

जब तक पाकिस्तान की सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था, अपराधों, औचित्य अथवा नैतिकता के हित में, और लोगों के स्वास्थ्य अथवा सम्पत्ति की रक्षा के उद्देश्य के कारणों से ऐसा करना आवश्यक न बन जाय। जब तक सार्वजनिक हित अन्यथा माग न करे तब तक घूमने की स्वतन्त्रता और सम्पत्ति रखने के अधिकार पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जायगा। व्यवसाय, शिल्प, व्यापार अथवा नौकरी के अधिकार पर भी कोई रोक तब तक नही लगाई जायगी जब तक पाकिस्तान की सुरक्षा और औचित्य अथवा नैतिकता इस प्रकार की रोक लगाने की मांग न करे। अनुज्ञप्ति प्रणाली (Licensing system) द्वारा किसी पेशे अथवा शिल्प को विनियमित करने के लिए प्रतिबन्ध भी लगाए जा सकते है अथवा ऐसा तब भी किया जा सकता है जब किसी शिल्प, व्यापार, उद्योग अथवा सेवा को राज्य द्वारा अथवा उसके नाम पर किया जाना अभिप्रेत हो अथवा पाकिस्तान की उन्नति को निश्चित करने के उद्देश्य से अथवा उसके संसाधनों और उद्योगों के विकास के उद्देश्य से ऐसा करना आवश्यक हो।

कोई भी कानून ऐसा नहीं होना चाहिए जो किसी धार्मिक सम्प्रदाय के सदस्यों को अपने धर्म की घोषणा, पालन अथवा प्रचार अथवा उसके विषय में शिक्षा प्रदान करने अथवा उस उद्देश्य से संस्थाओं को चलाने में रोके। कोई भी ऐसा कानून नही होना चाहिए जो किसी व्यक्ति को अपने धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली धार्मिक शिक्षा अथवा धार्मिक कृत्य अथवा धार्मिक पूजा को छोड़कर किसी अन्य धर्म की शिक्षा, उसके कृत्यों तथा उसकी पूजा करने के लिए कहे। किसी कानून द्वारा किसी व्यक्ति पर वह कर न लगाया जाए जिसकी आमदनी उसके धर्म के उद्देश्य को छोड़कर किसी अन्य धर्म के उद्देश्यो पर हो। किसी कर के विषय में कोई छूट अथवा सुविधा प्रदान करते समय कोई भी कानून दो धार्मिक संस्थाओ के बीच भेदभाव न बरते। कोई भी कानून सार्वजनिक धन को किसी विशेष धार्मिक सम्प्रदाय को अथवा धर्म को लाभ पहुंचाने के उद्देश्य से व्यय न करे। हां, वह धन अवश्य अपवाद होगा जो उसी उद्देश्य से जुटाया गया हो।

जिस कानून द्वारा किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी अथवा उसका निरोध अधिकृत किया गया है उसे इस बात का निश्चय होना आवश्यक हो जाना चाहिए कि गिरफ्तार अथवा निरुद्ध व्यक्ति को, उसकी गिरफ्तारी अथवा उसके निरोध के समय, उन कारणों से सूचित कर दिया जाये जिनसे ऐसा हुआ हो अथवा उसकी गिरफ्तारी अथवा निरोध के फौरन ही बाद उसे यह सूचना मिल जाय। कानून द्वारा इस बात का भी प्रबन्ध करना चाहिए कि अपराधी व्यक्ति को तुरन्त ही किसी सक्षम न्यायालय के सम्मुख उपस्थित किया जा सके, जमानत पर उसे रिहाई मिल सके, उचित तथा पर्याप्त बचाव के लिए सुविधाएं और ऐसी ही अन्य सुविधाएं प्राप्त हो सकें जिनसे उसकी न्यायपूर्ण तथा उचित अन्वीक्षा हो सके। जो भी हो, यह सिद्धान्त उस कानून पर लागू नही होता जिसके द्वारा विदेशी शत्रुओं की गिरफ्तारी अथवा निवारक निरोध अधिकृत किया गया हो। परन्तु निवारक निरोध का विधान करने वाला कानून तब ही बनाया जाना चाहिए जब पाकिस्तान की सुरक्षा अथवा सार्वजनिक क्षेम अपेक्षित हो। इस कानून के अन्तर्गत किए गए व्यक्ति को, उसके निरोध के कारणो का उसी समय अथवा उसके निरोध

के तुरन्त बाद सूचित किया जाना आवश्यक है। केन्द्रीय कानून के विषय में, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश और राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए गए पाकिस्तान सेवा के वरिष्ठ अधिकारियों से मिलकर बनाए गए बोर्ड के और प्रान्तीय कानून के विषय में, सम्बद्ध प्रान्त के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश और प्रान्त के गवर्नर द्वारा मनोनीत वरिष्ठ अधिकारियों से बने बोर्ड के प्रमाण के बिना निरोध की अवधि तीन मास से अधिक नहीं होनी चाहिए।

किसी भी कानून द्वारा किसी व्यक्ति से किए गए किसी कार्य या भूल के लिये दण्ड दिया जाना अधिकृत नहीं किया जाना चाहिए यदि उस कार्य अथवा भूल करने के समय कोई कानून उसे दण्ड के योग्य न मानता हो। इसी प्रकार किसी मनुष्य को उसके किसी अपराध के लिए वही दण्ड और वह भी उसी रूप में मिलना चाहिए जिसका विधान उस अपराध को करते समय विद्यमान कानून में किया हुआ हो, परन्तु उसी समय उससे बढ़कर दण्ड देने वाले और किसी अन्य रूप में दण्ड का विधान करने वाले किसी अन्य कानून का विधान नहीं किया जाना चाहिए। कोई भी कानून ऐसा नहीं होना चाहिए जिसके अन्दर किसी की सम्पत्ति को जबरदस्ती प्राप्त करने अथवा उसका हथियाने का विधान किया गया हो परन्तु ऐसा किसी सार्वजनिक उद्देश्य से और युक्ति-युक्त मुआवजा देने पर किया जा सकता है। ऐसे मुआवजे की रकम या तो कानून द्वारा स्थिर की जानी चाहिए अथवा वह कानून उन सिद्धान्तों का विधान करे जिनके अनुसार और जिस प्रकार मुआवजे का निर्धारण होना हो। जो भी हो, इन सिद्धान्तों से उस समय हटा जा सकता है जब जीवन, स्वास्थ्य या सम्पत्ति के विषय में उनके प्रति किसी प्रकार के भय को रोकने के लिए अथवा उसे कम करने के लिए किसी सम्पत्ति के नाश की अनुमति के उद्देश्य के लिए, उसे अवाप्त करने के लिए अथवा उसको अधिकार में लेने के लिए यह करना आवश्यक हो। ऐसा तब भी किया जा सकता है जब किसी सम्पत्ति के स्वामी की भलाई के लिए उस सम्पत्ति का उचित प्रबन्ध, जो कि सीमित समय के लिए होगा, निश्चित किया जाना अभिप्रेत हो। यह सम्पत्ति किसी कानून के अधीन घोषित की गई निष्क्रान्त सम्पत्ति अथवा ऐसी समझी जाने वाली सम्पत्ति भी हो सकती है। सार्वजनिक उद्देश्य इस नाम के अन्तर्गत सार्वजनिक हित में किसी औद्योगिक, व्यापारिक अथवा अन्य उपक्रम (Undertaking) जो जनता के लाभ के लिए हो, अथवा जिसमें जनता का स्वार्थ हो और ऐसी कोई भूमि जिसका इस प्रकार के उपक्रम के लिये प्रयोग किया जाना है, इन सब की अवाप्ति का उद्देश्य सम्मिलित है।

कानून द्वारा बेगार लेने की आज्ञा नहीं देनी चाहिए। हां, केवल कानून के अन्तर्गत सजा-प्राप्त व्यक्ति और सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए अथवा जनता के हित में जबरन सेवा, चाहे वह जबरन भर्ती हो या किसी अन्य रूप में, अपवादस्वरूप होगी। किसी शैक्षणिक संस्था में प्रवेश पाने के किसी नागरिक के अधिकार को जाति, धर्म, जन्म-स्थान, अथवा जात-पांत के आधार पर किसी कानून द्वारा छीन नहीं लिया जायगा बशर्ते कि उस संस्था को सार्वजनिक राजस्व में से सहायता मिलती हो। परन्तु इस सिद्धान्त से तब हटाया जा सकता है जब प्राप्य शिक्षण सम्बन्धी सुविधाओं को शिक्षा में पिछड़े हुए किसी नागरिक वर्ग के लिए निश्चित तौर पर उपलब्ध करना आवश्यक हो।

मुख्यतया धार्मिक उद्देश्यों के लिए उद्दिष्ट किसी स्थान को छोड़कर जाति, धर्म, जात-पात अथवा जन्म-स्थान के आधार पर किसी व्यक्ति का किसी सार्वजनिक स्थान में जाना निषिद्ध नही होगा। कोई भी कानून किसी समुदाय के किसी अनुभाग पर अपनी विशिष्ट भाषा, लिपि अथवा सस्कृति बनाए रखने पर रोक नही लगाएगा। किसी भी व्यक्ति को पाकिस्तान मे दासता को किसी रूप में लाने की सुविधा अथवा उसे बनाए रखने की आज्ञा नही होगी। यही बात किसी भी रूप मे अस्पृश्यता के विषय में भी लागू समझी जायगी।

उपर्युक्त विधि-निर्माण सिद्धान्तों के अतिरिक्त, जो विधि-निर्माणकृत अधिकारियो के लिए स्पष्ट रूप से निषेध वचन है, सविधान ने नीति-विषयक सिद्धान्तों का भी विधान किया है। संविधान द्वारा यह निदेशित किया गया है कि राज्य-शक्तियों के समस्त अग और उनसे सम्बद्ध व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों को करते समय इन सिद्धान्तों का पालन करेंगे। नीति के ये सिद्धान्त भारतीय सविधान द्वारा निहित राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों (Directive Principles of State Policy) से मिलते-जुलते हैं। पाकिस्तान में 'नीति के सिद्धान्त तथा भारत में राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त' वाद योग्य नही है; और तदनुसार न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से बाहर है। राज्य-शक्ति के किसी अंग अथवा कानून के अन्तर्गत किए गए किसी कार्य पर केवल इसी आधार पर आपत्ति नही उठाई जा सकती कि वह कार्य संविधान मे निहित नीति के सिद्धान्तों के अनुसार नही है। पाकिस्तान के सविधान ने इस बात का विधान किया है कि इस बात के विषय मे निर्णय करने का उरदायित्व कि राज्य के किसी अग अथवा अधिकारी का कोई कार्य, अथवा राज्य के अंग अथवा उसकी शक्ति के नाम पर कार्य करनेवाले किसी व्यक्ति का कार्य नीति के सिद्धान्तों के अनुसार है या नही, राज्य के उसी अंग अथवा अधिकारी पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त, नीति के किसी विशेष सिद्धान्त का पालन किया जाना उस उद्देश्य के लिए प्राप्य ससाधनो पर ही निर्भर रहता है।

राज्य की यह नीति रहेगी कि वह पाकिस्तान के मुस्लिमों को, व्यक्ति तथा सामूहिक रूप से, अपने जीवन को इस्लाम के आधारभूत सिद्धान्तों और मौलिक विचार-धाराओं के अनुसार व्यवस्थित करने में समर्थ बनाएगी और उनके लिए उन समस्त सुविधाओ का प्रबन्ध करेगी जिनके द्वारा वे उन सिद्धान्तों तथा विचारधाराओं के अनुसार अपने जीवन का अर्थ समझने के योग्य बन सकें। पवित्र कुरान और इस्लामियत (Islamiat) के उपदेशों को प्रत्येक मुस्लिम के लिए अनिवार्य बनाना होगा। मुस्लिमों के मध्य एकता तथा इस्लामी नैतिक आदर्शो का पालन किया जाना प्रोत्साहित किया जाना चाहिए और इसके साथ ही जकत (Zakat) वक्फ (Wakfs) और मस्जिदों का उचित संगठन भी सुनिश्चित होना चाहिए।

राज्य द्वारा इस बात का प्रयत्न होना चाहिए कि सकुलित, जातीय, जनजातीय पन्थसीमित तथा प्रान्तीय पूर्वग्रहो को किसी प्रकार का बढावा न दिया जाय। अल्पसख्यको के न्याय-अधिकारो तथा हितों का उचित प्रकार से अभिसंरक्षण किया जाय और अल्प-संख्यक समुदाय के सदस्यो को पाकिस्तान की सार्वजनिक सेवाओ मे प्रवेश पाने के लिए

पर्याप्त अवसर प्रदान किए जायें। पिछड़े वर्ग के अथवा पिछड़े क्षेत्र में रहनेवाले लोगो के शैक्षणिक तथा आर्थिक हितों को प्रोत्साहित करने के लिए विशेष ध्यान देना चाहिए। शासन के समस्त अगों को इस दिशा में कदम उठाने चाहिएं कि वे अन्य लोगों के साथ कम-विशेषाधिकृत जातों, जातियों, जनजातियों तथा समूहो को बराबरी के स्तर पर ले आयें और ऐसा करने के लिए प्रान्त के अन्दर विद्यमान वे समूह आदि उस प्रान्त की सरकार द्वारा अभिज्ञात कर लिये जायें ताकि वह सब न्यून-विशेषाधिकृत वर्ग एक अनुसूची में सम्मिलित कर लिया जाय। शिक्षा, प्रशिक्षण, औद्योगिक विकास तथा अन्य प्रकारों द्वारा पाकिस्तान के सब क्षेत्रों तथा वर्गों के लोग इस योग्य बना दिए जायें ताकि वे पूरी तरह से राष्ट्रीय क्रियाकलापों के सब स्वरूपों मे भाग ले सकें जिसके अन्दर पाकिस्तान की सार्वजनिक सेवाओं में नौकरी पाना भी सम्मिलित है। अनपढ़ता का नाश किया जाना चाहिए और निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का शीघ्रातिशीघ्र विधान किया जाना चाहिए। काम के लिए न्यायपूर्ण और मानवीय दशाओं का प्रबन्ध होना चाहिए, बच्चों और स्त्रियों को उन पेशों में नही लगाया जाना चाहिए जो उनकी आयु तथा लिंग के लिए अनुकूल न हों और काम करने वाली स्त्रियों के लिए प्रसूति-लाभ का भी विधान किया जाना चाहिए।

साधारण आदमी के जीवन-स्तर को उठाने के द्वारा, कुछ एक व्यक्तियों के हाथों में सम्पत्ति तथा उत्पादन के साधनों तथा वितरण के अनुचित संकेन्द्रण को रोकने के द्वारा, क्योंकि इस प्रकार का संकेन्द्रण आम व्यक्ति के लिए हानिकारक और उसके हित मे नही होगा, और नौकरी करनेवालों और मालिको के बीच तथा जमीदारो तथा किसानो के बीच अधिकारों के न्यायपूर्ण समायोजन के द्वारा लोगों का कल्याण सुनिश्चित किया जाना चाहिए और ऐसा करते समय उनकी जात-पात, धर्म अथवा जाति की अनपेक्षा की जानी चाहिए। समस्त स्त्री-पुरुषो को काम करने का, अपनी आजीविका कमाने का और इसके साथ ही युक्तियुक्त आराम पाने का पर्याप्त अवसर मिलना चाहिए। उन सब व्यक्तियों को जो सार्वजनिक सेवाओं मे लगे हुए हैं, अथवा अन्यथा नौकरी में हैं, सामाजिक सुरक्षा तथा अनिवार्य सामाजिक आगोप (insurance) उपलब्ध होने चाहिए। भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा तथा डाक्टरी सहायता जैसी जीवन की मौलिक आवश्यकताएं उन नागरिकों को उपलब्ध करायी जानी चाहिएं, जो नागरिक, भले ही उनकी जात-पांत, धर्म अथवा जाति कुछ ही हो, स्थायी रूप से अथवा अस्थायी रूप से नैर्बल्य, अस्वस्थता, बीमारी अथवा बेरोजगारी के कारण अपनी आजीविका कमाने में असमर्थ हों।

प्रशासनिक कार्यालय तथा अन्य सेवाएं, जहां तक व्यावहारिक हो सके, वहां होनी चाहिएं जहां जनता को सुविधा हो और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। जाति, धर्म, जात-पांत, लिंग अथवा निवास या जन्म-स्थान के कारणों से पाकिस्तान में सार्वजनिक सेवाओं में किसी भी नागरिक का प्रवेश निषिद्ध नही होना चाहिए। जो भी हो, नीति के इस सिद्धान्त से उस दशा में हटा भी जा सकता है जहां सार्वजनिक हित मे यह वाञ्छित हो कि किसी विशिष्ट क्षेत्र के सम्बन्ध में उसी क्षेत्र में रहने वाले व्यक्ति द्वारा काम किया जाना चाहिए और जिस व्यक्ति ने वह खास कार्य करना है उसे

किसी विशेष लिंग का होना चाहिए। ऐसा तब भी किया जा सकता है जब ऐसा सुनिश्चित किए जाने के उद्देश्य से यह करना आवश्यक हो कि केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध में पाकिस्तान के सब भागों के व्यक्तियों को, और प्रान्तीय सरकार के सम्बन्ध में सम्बद्ध प्रान्त के सब भागों के व्यक्तियों को पाकिस्तान में सार्वजनिक सेवाओं में प्रवेश पाने का अवसर प्राप्त है। पाकिस्तान की सार्वजनिक सेवाओं के विविध वर्गों में काम करने वाले व्यक्तियों के पारिश्रमिकों की असमानता, युक्तियुक्त और व्यावहारिक सीमाओं के अन्दर, कम की जानी चाहिए। केन्द्रीय सरकार के समस्त क्षेत्रों में प्रान्तों के बीच समानता को व्यावहारिक रूप से जहां तक निकट बन सके, प्राप्त कर लिया जाना चाहिए। पाकिस्तान के समग्र भागों के व्यक्तियों को पाकिस्तान की प्रतिरक्षा सेवाओं में सेवा करने के योग्य बना देना चाहिए।

साहूकारा को बिलकुल उड़ा देना चाहिए। वेश्या-गमन, जुआ तथा हानिकारक औषधियों के प्रयोग को अनुत्साहित करना चाहिए। शराब के प्रयोग को दवाई के उद्देश्य को छोड़कर और अमुस्लिमों के विषय में धार्मिक उद्देश्य को छोड़कर बढ़ावा नहीं देना चाहिए। मुस्लिम देशों के बीच एकता के बन्धनों को बनाए रखना चाहिए और उन्हें मजबूत करना चाहिए, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को प्रोत्साहित करना चाहिए तथा समस्त राष्ट्रों के बीच सद्भावना तथा मित्रता के सम्बन्धों को बढ़ाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा सुलझाने के लिए उन उपायों के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

संविधान द्वारा इस्लामी विचारधारा की एक मन्त्रणा परिषद् (Advisory Council of Islamic Ideology) की स्थापना का भी विधान किया गया है। इस परिषद् में पांच सदस्यों से कम सदस्य नहीं होंगे और बारह से अधिक नहीं। सदस्यता की ठीक-ठीक संख्या राष्ट्रपति द्वारा ही निर्धारित की जा सकेगी। राष्ट्रपति इन व्यक्तियों का इस परिषद् की सदस्यता के लिए चुनाव करते समय इन व्यक्तियों के इस्लाम सम्बन्धी ज्ञान तथा उसके प्रति श्रद्धा और पाकिस्तान की आर्थिक, राजनीतिक, वैधिक तथा प्रशासनिक समस्याओं का उचित ध्यान रखेगा। सदस्य के लिए पदावधि काल तीन वर्ष रहेगा। यदि कोई सदस्य चाहे तो इसकी सदस्यता से त्याग-पत्र भी दे सकेगा और कोई सदस्य सदस्यता से हटाया भी जा सकेगा यदि परिषद् के कुल सदस्यों का एक बहुमत तद्विषयक प्रस्ताव पारित कर दे। इस परिषद् का कार्य उन उपायों के विषय में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों से सिफारिश करना होगा जिनके द्वारा पाकिस्तान के मुस्लिम, इस्लाम के सिद्धान्तों और विचारों के अनुसार, अपने जीवन के समस्त पक्षों को व्यवस्थित करने के योग्य बन जायें और उस दिशा में प्रोत्साहित हों। इसके अतिरिक्त यह परिषद् उसको सौंपे गए किसी भी प्रश्न के इस पक्ष पर कि क्या प्रस्तावित कानून विधि-निर्माण के सिद्धान्तों की अवहेलना अथवा अतिक्रमण करता है या अन्यथा दृष्टि से उनके अनुसार नहीं है, राष्ट्रीय परिषद्, प्रान्तीय विधान-सभा, राष्ट्रपति अथवा गवर्नर को मन्त्रणा प्रदान करेगी। यह परिषद् उस सम्बद्ध अधिकारी को जिसने सलाह पूछी है सात दिन के अन्दर-अन्दर यह भी सूचित करेगी कि उसके लिए कितने समय में मन्त्रणा देना सम्भव हो सकेगा। यदि राष्ट्रीय सभा, प्रान्तीय विधान सभा,

राष्ट्रपति अथवा कोई गवर्नर, जैसी भी स्थिति हो, यह समझे कि सलाह प्राप्त होने तक सार्वजनिक हित को ध्यान में रखते हुए प्रस्तावित व्यवस्थापन को स्थगित करना इष्टानुकूल अर्थात् लाभप्रद नहीं होगा, तो उस दशा मे इस प्रकार की सलाह मिलने से पूर्व भी कानून बनाया जा सकता है। इस परिषद् के कार्य सम्बन्धी नियम परिषद् द्वारा ही बनाए जाते है और उन्हे राष्ट्रपति का अनुमोदन प्राप्त होता है।

एक इस्लामी शोध सस्थान (Islamic Research Institute) की स्थापना का भी विधान संविधान ने किया है। इस सस्थान का उद्देश्य सच्चे इस्लामी आधार पर इस्लामी समाज के पुनर्निर्माण मे सहायक सिद्ध होने के लिए इस्लामी शोध-कार्यों तथा इस्लाम की शिक्षा मे शोध करने के कार्यों को अपने हाथ मे लेना है।

अध्याय ४

केन्द्र में शासन की संरचना

(THE STRUCTURE OF GOVERNMENT AT THE CENTRE)

राष्ट्रपति

(The President)

चुनाव तथा अर्हताएँ (Election and Qualifications)—१९६२ के संविधान द्वारा राष्ट्रपति के पद का विधान किया गया है। राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक है कि वह ३५ वर्ष का हो और मुस्लिम हो। जो व्यक्ति मुस्लिमेतर अर्थात् अमुस्लिम है वह पाकिस्तान का राष्ट्रपति नही चुना जा सकता। राष्ट्रपति-पद के लिए उम्मीदवार व्यक्ति के पास राष्ट्रीय सभा का सदस्य चुने जाने वाले व्यक्ति की अर्हताएं होनी आवश्यक शर्त है। यदि उम्मीदवार की सख्या तीन से अधिक हो जाय तो मुख्य चुनाव आयुक्त (Chief Election Commissioner) द्वारा राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष (Speaker) को इस बात की सूचना देना आवश्यक है और ऐसा होने पर, अध्यक्ष तुरन्त ही राष्ट्रीय सभा तथा प्रान्तीय विधान सभाओं की एक सयुक्त बैठक बुलाएगा ताकि चुनाव के लिए तीन उम्मीदवारों का चयन किया जा सके। राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय विधान सभाओ की सयुक्त बैठक में उपस्थित सदस्य गुप्त मतदान द्वारा चुनाव के लिए तीन उम्मीदवारों का चयन करेंगे। वह उम्मीदवार अथवा वे उम्मीदवार जो सयुक्त बैठक मे नही चुने जा सके हैं चुनाव के लिए अग्राह्य बन जाते है। राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार यदि चाहे तो सयुक्त बैठक में उपस्थित सदस्यो के सम्मुख भाषण दे सकता है या उन सदस्यो द्वारा उससे प्रश्न पूछे जा सकते है। जब राष्ट्रपति-पद पर आरूढ कोई व्यक्ति चुनाव के लिए उम्मीदवार हो तो उसकी उम्मीदवारी की उपेक्षा नही की जा सकती। जो व्यक्ति राष्ट्रपति-पद पर बना हुआ है और ऐसी स्थिति मे यदि वह लगातार पिछले आठ वर्षो से अधिक समय से है तो वह व्यक्ति राष्ट्रपति के रूप मे दुबारा चुने जाने के लिए अग्राह्य है। परन्तु यदि ऐसा कोई व्यक्ति राष्ट्रपति-पद के चुनाव के लिए उम्मीदवार है तो उस दशा में मुख्य चुनाव आयुक्त का यह कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष को इस तथ्य की सूचना दे और उसके बाद अध्यक्ष तुरन्त ही राष्ट्रीय सभा तथा प्रान्तीय विधान सभाओं की एक सयुक्त बैठक बुलाए ताकि उस व्यक्ति की उम्मीदवारी के विषय मे विचार किया जा सके। यदि उपस्थित सदस्यो का एक बहुमत गुप्त मतदान द्वारा उम्मीदवारी का अनुमोदन कर दे तो उस स्थिति में वह राष्ट्रपति दुबारा चुनाव के लिए ग्राह्य समझा जायगा।

राष्ट्रपति सम्बन्धी चुनाव मे मतदान का अधिकार, सवैधानिक रूप से, निर्वाचक-गण (Electoral College) के सदस्यों तक ही सीमित रखा गया है जिनकी सख्या प्रत्येक प्रान्त मे कम से कम ४०,००० है। प्रत्येक प्रान्त मे निर्वाचक

एककों की संख्या समान होनी चाहिए। प्रत्येक निर्वाचक एकक के लिए एक निर्वाचक सूची को बनाए रखना और उसकी स्थापना करना आवश्यक बात है। पाकिस्तान का कोई नागरिक जो इक्कीस (२१) वर्ष की आयु का हो गया हो, किसी निर्वाचक एकक का निवासी हो और जिसकी मानसिक स्थिति ठीक हो, वह उस निर्वाचक एकक की निर्वाचक सूची में अपने नाम को दर्ज कराने का अधिकारी बन जाता है। किसी निर्वाचक एकक की निर्वाचक सूची मे जिन व्यक्तियों का नाम आ जाता है उन्हें समय-समय पर अपने में से एक ऐसे व्यक्ति का चुनाव करना पड़ता है जो २५ वर्ष से कम आयु का न हो और इस प्रकार निर्वाचित व्यक्ति उस एकक के निर्वाचक-गण का एक निर्वाचक बन जाता है। दोनों प्रान्तों के समस्त प्रादेशिक एककों के निर्वाचक इकट्ठे मिलकर निर्वाचक-गणों की रचना करते हैं। निर्वाचक-गण के सदस्य ही राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं।

संविधान ने इस बात का विधान किया है कि राष्ट्रपति-पद के सामान्य ५ वर्ष के पदावधि काल की समाप्ति के चार मास पूर्व ही राष्ट्रपति सम्बन्धी चुनाव हो जाने चाहिएं। और उस तारीख से कम से कम १४ दिन पूर्व ही परिणामों की घोषणा कर दी जायगी परन्तु नया राष्ट्रपति अपने पद पर तब तक आरूढ़ नही होगा जब तक कि वह पद-रिक्त नही हो जाता। जब राष्ट्रपति राष्ट्रीय सभा का विघटन कर देता है तो नए राष्ट्रपति सम्बन्धी चुनाव राष्ट्रीय सभा के विघटन की तिथि से तीन मास के अन्दर-अन्दर अवश्य हो जाने चाहिएं, परन्तु वास्तविक मतदान विघटन की तिथि से दो मास व्यतीत हो जाने पर ही होना चाहिए। यदि कोई राष्ट्रपति अपने सामान्य पदावधि काल की समाप्ति से पूर्व ही राष्ट्रपति न रहे तो जिस दिन से वह राष्ट्रपति नही रहा है उस दिन से नब्बे दिनों के अन्दर-अन्दर राष्ट्रपति का चुनाव होना आवश्यक होगा। राष्ट्रपति राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष को लिखित सूचना भेजकर अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है। उप-राष्ट्रपति का विधान नही किया गया है। यदि राष्ट्रपति देश से बाहर गया हुआ हो अथवा उसका स्थान रिक्त हो तो राष्ट्रीय सभा का अध्यक्ष तब तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है जब तक वह बाहर से नही लौट आता अथवा किसी नए राष्ट्रपति का चुनाव नही हो जाता। इस स्थिति मे सविधान ने राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष की शक्तियों पर कुछ एक प्रतिबन्ध भी लगाए है उदाहरणतः वह राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता हुआ राष्ट्रीय सभा का विघटन नही कर सकता।

पद-च्युति (Removal from Office)—जान-बूझकर सविधान का अतिक्रमण करने के कारण लगाए गए महाभियोग (impeachment) द्वारा राष्ट्रपति को अपने पद से हटाया जा सकता है। गम्भीर दुराचार का दोषी होने के कारण और अशक्त होने के कारण भी राष्ट्रपति को पद-च्युत किया जा सकता है। राष्ट्रपति के ऊपर महाभियोग राष्ट्रीय सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। यदि राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यों मे से एक-तिहाई सदस्य स्वयं हस्ताक्षर करके एक लिखित नोटिस राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष के पास भेजे, जिसमें राष्ट्रपति द्वारा जान-बूझकर सविधान का अतिक्रमण करने के कारण अथवा उसके दुराचार का दोषी होने के कारण उसके

विरुद्ध महाभियोग उपस्थित करने वाले प्रस्ताव प्रस्तुत करने की इच्छा प्रकट की गई हो, तो अध्यक्ष तुरन्त ही उस नोटिस की एक प्रति राष्ट्रपति के पास भिजवाएगा। उस नोटिस में लगाए दोषों का ब्यौरा होना आवश्यक होगा। राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग लगाने वाला प्रस्ताव स्पीकर अर्थात् राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष के पास नोटिस भेजने की तारीख से १४ दिन समाप्त होने से पूर्व और उसी तारीख से ३० दिन के बाद पुर स्थापित नही किया जा सकता। यदि सभा का सत्र न हो रहा हो तो स्पीकर के लिए निर्दिष्ट अवधि के अन्दर प्रस्ताव पर विचार करने के लिए सभा का सत्र बुलवाना आवश्यक है। जब सभा राष्ट्रपति के महाभियोग पर विचार कर रही हो तो उस समय राष्ट्रपति के पास यह अधिकार है कि वह व्यक्तिगत रूप से सभा के सम्मुख उपस्थित हो सके और उसके सामने अपना प्रतिनिधित्व कर सके। यदि राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यो में से तीन-चौथाई सदस्य राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग उपस्थित करने वाले प्रस्ताव को पारित कर दे तो राष्ट्रपति तुरन्त ही अपने पद पर से हट जाता है और अगले दस वर्षों के लिए वह किसी भी सार्वजनिक पद पर आसीन होने के अयोग्य ठहरा दिया जाता है। यदि राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यो में से आधे से कम सदस्य प्रस्ताव के पक्ष मे मतदान करें, तो प्रस्ताव के सम्बन्ध मे हुए मतदान के परिणाम की घोषणा के तुरन्त बाद ही स्पीकर को राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग के प्रस्ताव का नोटिस देने वाले सदस्य राष्ट्रीय सभा की सदस्यता से हट जाते हैं।

अशक्तता के आधार पर भी राष्ट्रपति को पद-च्युत करने का विधान सविधान ने किया हुआ है। इसके द्वारा यह विहित है कि राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यो की एक-तिहाई सख्या राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष को स्वयं हस्ताक्षरित एक लिखित नोटिस दे सकती है जिसमें शारीरिक अथवा मानसिक अशक्तता के आधार पर राष्ट्रपति को अपने पद से विमुक्त करने के लिए कहा जा सकता है। नोटिस में अभिकथित अशक्तता का ब्यौरा दिया जाना आवश्यक है। ऐसा होने पर अध्यक्ष तुरन्त ही उस नोटिस की एक प्रति राष्ट्रपति को भिजवाएगा और साथ ही वह राष्ट्रपति को एक डाक्टरी परीक्षा बोर्ड द्वारा अपनी स्वास्थ्य-परीक्षा करवाने की भी प्रार्थना करेगा। इस बारे मे भी पद-च्युति सम्बन्धी प्रस्ताव असैम्बली अर्थात् सभा में स्पीकर को नोटिस मिलने की तारीख से १४ दिन समाप्त होने के पहले और उसी तारीख से ३० दिन के बाद पुर स्थापित नही किया जा सकेगा। सभा द्वारा प्रस्ताव के विचाराधीन होने की अवधि मे राष्ट्रपति को राष्ट्रीय सभा के सम्मुख उपस्थित होने तथा अपना प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है। राष्ट्रीय सभा मे प्रस्ताव पुर स्थापित होने से पूर्व यदि राष्ट्रपति अपनी स्वास्थ्य-परीक्षा के लिए अपने आपको भैपजिक-मण्डल (Medical Board) के सम्मुख उपस्थित नही करता तो उस स्थिति मे प्रस्ताव पर मतदान किया जा सकता है और यदि कुल सदस्यता का तीन-चौथाई भाग उस प्रस्ताव को पारित कर देता है तो राष्ट्रपति तुरन्त अपने पद पर नही बना रहता। यदि सभा मे प्रस्ताव पुर स्थापित होने से पूव ही राष्ट्रपति अपने आपको भैपजिक-मण्डल के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है तो फिर प्रस्ताव पर तब तक मतदान नही किया जाता जब तक भैपजिक-मण्डल को अपनी राय राष्ट्रीय सभा के सम्मुख रखने का अवसर प्राप्त नही हो जाता। यदि प्रस्ताव और भैपजिक-मण्डल की राय

पर राष्ट्रीय सभा में विचार करने के पश्चात् सभा द्वारा सभा के कुल सदस्यों के तीन-चौथाई बहुमत से प्रस्ताव पारित हो जाय तो राष्ट्रपति तुरन्त ही अपने पद पर से हट जाता है। उस अवस्था में जब राष्ट्रपति ने अपने आपको मैंपजिक-मण्डल के सम्मुख अपनी परीक्षा के लिए प्रस्तुत कर दिया हो और राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यों में से केवल आधे से कम सदस्यों ने ही अनिर्वाचित अक्षमता के आधार पर राष्ट्रपति को हटाने की मांग करने वाले प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया हो, तो प्रस्ताव पर किए गए मतदान की घोषणा के बाद ही सभा के अध्यक्ष को प्रस्ताव का नोटिस देने वाले सदस्य सभा के सदस्य नहीं रह पाते।

राष्ट्रपति की उन्मुक्तियाँ (Immunities of the President)—संविधान के अनुच्छेद ११६ में इस बात का विधान किया है कि राष्ट्रपति के पदारूढ़ रहने की अवधि में किसी भी प्रकार की दण्ड-कार्यवाही राष्ट्रपति के विरुद्ध न तो की जायगी और न चलायी जायगी। राष्ट्रपति के विरुद्ध किसी भी प्रकार की ऐसी व्यवहार-कार्यवाही भी नहीं की जायगी जिसमें उसके पदारूढ़ काल में उससे किसी प्रकार का प्रत्युपाय (Relief) मांगा गया हो। यह बात उस विषय में भी लागू होती है जब अपने पदारूढ़ होने से पूर्व या उसके पश्चात् अपने व्यक्तिगत रूप में उसके द्वारा कोई काम किया गया हो अथवा न किया गया हो, अथवा किया गया अभिप्रेत होता हो अथवा न किया गया अभिप्रेत होता हो। ऐसी व्यवहार-कार्यवाही करने से कम से कम ६० दिन पूर्व यह आवश्यक है कि उसके पास लिखित नोटिस पहुंचा हुआ हो अथवा विधि के अनुसार बताए गए तरीके से उसके पास भेजा हुआ हो जिसमें कार्यवाही की प्रकृति, उस मुकदमे का कारण, जिस पक्ष के द्वारा कार्यवाही की जानी हो उसका नाम, पता, निवास-स्थान और उस प्रत्युपाय का उल्लेख किया गया हो जिसका कि दावा किया गया है। ये सब बातें बतायी जानी चाहिएं। राष्ट्रपति जब तक पदारूढ़ है उसके विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से अथवा अन्यथा किसी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण से आदेशिका निर्गत न हो सकेगी।

अनुच्छेद ११७ आगे चलकर यह विधान करता है कि राष्ट्रपति अपनी शक्तियों के प्रयोग के विषय में, अथवा अपने पद के कर्त्तव्यों के पालन करने में, अथवा किए गए किसी कार्य के लिए अथवा अपनी इन शक्तियों के प्रयोग में अथवा अपने उन कर्त्तव्यों के पालन में उसके द्वारा कर्तुमभिप्रेत किसी कार्य के लिए किसी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण के सम्मुख उत्तरणीय नही है। हां, विधि के प्रतिकूल उसके द्वारा किया गया अथवा न किया गया कोई कार्य अवश्य अपवाद है। परन्तु इस अनुच्छेद का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि इससे किसी व्यक्ति के द्वारा केन्द्रीय सरकार अथवा प्रान्तीय सरकार के विरुद्ध उपयुक्त कार्यवाही करने के उसके अधिकार पर कोई प्रतिबन्ध लगाया है।

राष्ट्रपति का पारिश्रमिक तथा उसके विशेषाधिकार वही रहेंगे जिनका कि अपना कार्यकाल प्रारम्भ करने के तुरन्त पूर्व पाकिस्तान का राष्ट्रपति अधिकारी था।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ (Powers of the President)—राष्ट्रपति राज्य तथा सरकार दोनों का ही मुखिया है। वह एकल कार्यपालिका है; कार्यकारी

विरुद्ध महाभियोग उपस्थित करने वाले प्रस्ताव प्रस्तुत करने की इच्छा प्रकट की गई हो, तो अध्यक्ष तुरन्त ही उस नोटिस की एक प्रति राष्ट्रपति के पास भिजवाएगा। उस नोटिस में लगाए दोषों का ब्यौरा होना आवश्यक होगा। राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग लगाने वाला प्रस्ताव स्पीकर अर्थात् राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष के पास नोटिस भेजने की तारीख से १४ दिन समाप्त होने से पूर्व और उसी तारीख से ३० दिन के बाद पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता। यदि सभा का सत्र न हो रहा हो तो स्पीकर के लिए निर्दिष्ट अवधि के अन्दर प्रस्ताव पर विचार करने के लिए सभा का सत्र बुलवाना आवश्यक है। जब सभा राष्ट्रपति के महाभियोग पर विचार कर रही हो तो उस समय राष्ट्रपति के पास यह अधिकार है कि वह व्यक्तिगत रूप से सभा के सम्मुख उपस्थित हो सके और उसके सामने अपना प्रतिनिधित्व कर सके। यदि राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यों में से तीन-चौथाई सदस्य राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग उपस्थित करने वाले प्रस्ताव को पारित कर दें तो राष्ट्रपति तुरन्त ही अपने पद पर से हट जाता है और अगले दस वर्षों के लिए वह किसी भी सार्वजनिक पद पर आसीन होने के अयोग्य ठहरा दिया जाता है। यदि राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यों में से आधे से कम सदस्य प्रस्ताव के पक्ष में मतदान करें, तो प्रस्ताव के सम्बन्ध में हुए मतदान के परिणाम की घोषणा के तुरन्त बाद ही स्पीकर को राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग के प्रस्ताव का नोटिस देने वाले सदस्य राष्ट्रीय सभा की सदस्यता से हट जाते हैं।

अशक्तता के आधार पर भी राष्ट्रपति को पद-च्युत करने का विधान संविधान ने किया हुआ है। इसके द्वारा यह विहित है कि राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यों की एक-तिहाई संख्या राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष को स्वयं हस्ताक्षरित एक लिखित नोटिस दे सकती है जिसमें शारीरिक अथवा मानसिक अशक्तता के आधार पर राष्ट्रपति को अपने पद से विमुक्त करने के लिए कहा जा सकता है। नोटिस में अभिकथित अशक्तता का ब्यौरा दिया जाना आवश्यक है। ऐसा होने पर अध्यक्ष तुरन्त ही उस नोटिस की एक प्रति राष्ट्रपति को भिजवाएगा और साथ ही वह राष्ट्रपति को एक डाक्टरी परीक्षा बोर्ड द्वारा अपनी स्वास्थ्य-परीक्षा करवाने की भी प्रार्थना करेगा। इस बारे में भी पद-च्युति सम्बन्धी प्रस्ताव असेम्बली अर्थात् सभा में स्पीकर को नोटिस मिलने की तारीख से १४ दिन समाप्त होने के पहले और उसी तारीख से ३० दिन के बाद पुरःस्थापित नहीं किया जा सकेगा। सभा द्वारा प्रस्ताव के विचाराधीन होने की अवधि में राष्ट्रपति को राष्ट्रीय सभा के सम्मुख उपस्थित होने तथा अपना प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है। राष्ट्रीय सभा में प्रस्ताव पुरःस्थापित होने से पूर्व यदि राष्ट्रपति अपनी स्वास्थ्य-परीक्षा के लिए अपने आपको मैडिकल-मण्डल (Medical Board) के सम्मुख उपस्थित नहीं करता तो उस स्थिति में प्रस्ताव पर मतदान किया जा सकता है और यदि कुल सदस्यों का तीन-चौथाई भाग उस प्रस्ताव को पारित कर देता है तो राष्ट्रपति तुरन्त अपने पद पर नहीं रह सकता। यदि सभा में प्रस्ताव पुरःस्थापित होने से पूर्व ही राष्ट्रपति अपने आपको मैडिकल-मण्डल के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है तो फिर प्रस्ताव पर तब तक मतदान नहीं किया जाता जब तक मैडिकल-मण्डल को अपनी राय राष्ट्रीय सभा के सम्मुख रखने का अवसर प्राप्त नहीं हो जाता। यदि प्रस्ताव और मैडिकल-मण्डल की राय

पर राष्ट्रीय सभा मे विचार करने के पश्चात् सभा द्वारा सभा के कुल सदस्यो के तीन-चौथाई बहुमत से प्रस्ताव पारित हो जाय तो राष्ट्रपति तुरन्त ही अपने पद पर से हट जाता है। उस अवस्था में जब राष्ट्रपति ने अपने आपको मंत्रिक-मण्डल के सम्मुख अपनी परीक्षा के लिए प्रस्तुत कर दिया हो और राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यो मे से केवल आधे से कम सदस्यों ने ही अभिकथित अशक्तता के आधार पर राष्ट्रपति को हटाने की माग करने वाले प्रस्ताव के पक्ष मे मतदान किया हो, तो प्रस्ताव पर किए गए मतदान की घोषणा के बाद ही सभा के अध्यक्ष को प्रस्ताव का नोटिस देने वाले सदस्य सभा के सदस्य नही रह पाते।

राष्ट्रपति की उन्मुक्तियाँ (Immunities of the President)—सविधान के अनुच्छेद ११६ मे इस बात का विधान किया है कि राष्ट्रपति के पदारूढ़ रहने की अवधि में किसी भी प्रकार की दण्ड-कार्यवाही राष्ट्रपति के विरुद्ध न तो की जायगी और न चलायी जायगी। राष्ट्रपति के विरुद्ध किसी भी प्रकार की ऐसी व्यवहार-कार्यवाही भी नही की जायगी जिसमे उसके पदारूढ़ काल मे उससे किसी प्रकार का प्रत्युपाय (Relief) मांगा गया हो। यह बात उस विषय मे भी लागू होती है जब अपने पदारूढ़ होने से पूर्व या उसके पश्चात् अपने व्यक्तिगत रूप मे उसके द्वारा कोई काम किया गया हो अथवा न किया गया हो, अथवा किया गया अभिप्रेत होता हो अथवा न किया गया अभिप्रेत होता हो। ऐसी व्यवहार-कार्यवाही करने से कम से कम ६० दिन पूर्व यह आवश्यक है कि उसके पास लिखित नोटिस पहुचा हुआ हो अथवा विधि के अनुसार बताए गए तरीके से उसके पास भेजा हुआ हो जिसमे कार्यवाही की प्रकृति, उस मुकदमे का कारण, जिस पक्ष के द्वारा कार्यवाही की जानी हो उसका नाम, पता, निवास-स्थान और उस प्रत्युपाय का उल्लेख किया गया हो जिसका कि दावा किया गया है। ये सब बाते बतायी जानी चाहिए। राष्ट्रपति जब तक पदारूढ़ हैं उसके विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से अथवा अन्यथा किसी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण से आदेशिका निर्गत न हो सकेगी।

अनुच्छेद ११७ आगे चलकर यह विधान करता है कि राष्ट्रपति अपनी शक्तियों के प्रयोग के विषय में, अथवा अपने पद के कर्त्तव्यों के पालन करने में, अथवा किए गए किसी कार्य के लिए अथवा अपनी इन शक्तियों के प्रयोग मे अथवा अपने उन कर्त्तव्यों के पालन मे उसके द्वारा कर्तुमभिप्रेत किसी कार्य के लिए किसी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण के सम्मुख उत्तरणीय नही है। हा, विधि के प्रतिकूल उसके द्वारा किया गया अथवा न किया गया कोई कार्य अवश्य अपवाद हैं। परन्तु इस अनुच्छेद का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि इसने किसी व्यक्ति के द्वारा केन्द्रीय सरकार अथवा प्रान्तीय सरकार के विरुद्ध उपयुक्त कार्यवाही करने के उसके अधिकार पर कोई प्रतिबन्ध लगाया है।

राष्ट्रपति का पारिश्रमिक तथा उसके विशेषाधिकार वही रहेंगे जिनका कि अपना कार्यकाल प्रारम्भ करने के तुरन्त पूर्व पाकिस्तान का राष्ट्रपति अधिकारी था।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ (Powers of the President)—राष्ट्रपति राज्य तथा सरकार दोनों का ही मुखिया है। वह एकल कार्यपालिका है; कार्यकारी

के लिए प्रतिरक्षा मन्त्री लैफ्टिनैण्ट जनरल या इसके समकक्ष पद-स्थिति का कोई अवकाश-प्राप्त अधिकारी होगा, जब तक कि राष्ट्रपति के द्वारा स्वय इस पद-स्थिति को धारण न किया गया हो। अपनी प्रथम मन्त्रि-परिषद् मे राष्ट्रपति ने स्वयं अपने आप प्रतिरक्षा विभाग सँभाला था।

राष्ट्रपति द्वारा प्रान्तीय गवर्नरों की नियुक्ति की जाती है और वह भी अनिश्चित कार्यकाल के लिए और वे उसके निदेश के अधीन कार्य करते है। कोई भी गवर्नर राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त किये विना प्रान्तीय मन्त्री को पद-च्युत नही कर सकता। अनुच्छेद १२१ मे इस बात का विधान किया है कि यदि राष्ट्रपति की राय मे कोई गवर्नर अथवा कोई मन्त्री अपने कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे गम्भीर दुराचार का दोषी हो, तो वह उसे, जैसी स्थिति हो, गवर्नर के पद से अथवा मन्त्रि-पद से हटाने के साथ भी किसी भी सार्वजनिक पद को ग्रहण करने के लिए अयोग्य ठहरा सकता है। राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक है कि वह लिखित रूप में यह सूचित करे कि गवर्नर अथवा मन्त्री के पास यह विकल्प है कि या तो वह राष्ट्रपति द्वारा विहित अयोग्यता के कारण उतने समय तक के लिए सार्वजनिक पद को ग्रहण न करना स्वीकार कर ले, जो समय पांच वर्ष से अधिक न होगा, अथवा वह उस मामले की जांच-पडताल के लिए उसे न्यायाधिकरण को सौपना स्वीकार कर ले। यदि इस प्रकार की सूचना प्राप्त करने के सात दिन के अन्दर कोई गवर्नर अथवा मन्त्री अनर्हता को स्वीकार कर लेता है और तदनुसार राष्ट्रपति को सूचित कर देता है, तो वह राष्ट्रपति द्वारा निश्चित समय के लिए सार्वजनिक पद ग्रहण करने के लिए अनर्ह समझ लिया जाता है। परन्तु यदि वह अनर्हता स्वीकार नही करता तो राष्ट्रपति तुरन्त ही उस मामले को जाच-पडताल के लिए किसी न्यायाधिकरण को सौप देगा जिसके लिए सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करने के बाद नियुक्त किया जायगा। यदि न्यायाधिकरण गवर्नर अथवा मन्त्री को दोषी करार देता है तो वह व्यक्ति अपने पद से वर्खास्त किए जाने के साथ-साथ पाच वर्ष के लिए किसी सार्वजनिक पद को ग्रहण करने की अनर्हता से भी युक्त हो जाता है।

संविधान द्वारा पाकिस्तान के नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक के पद का भी विधान किया गया है जो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है। वह राष्ट्रपति को लिखित सूचना भेजकर अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है। यदि किसी समय यह पद रिक्त हो अथवा नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक अपनी बीमारी के कारण अथवा किसी अन्य कारण से अपना कार्य करने में असमर्थ हो तो राष्ट्रपति उसके स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को उसका काम करने के लिए और उस पद के कर्त्तव्यों का निर्वहन करने के लिए कह सकता है। राष्ट्रपति पाकिस्तान के महान्यायवादी की भी नियुक्ति करता है और वह उन कर्त्तव्यों का पालन करता है जिन्हे राष्ट्रपति उसे करने के लिए निदेशित करता है। वह भी राष्ट्रपति की प्रसन्नता की अवधि में कार्य करता है।

राष्ट्रपति के पास किसी भी समय राष्ट्रीय सभा को भग करने की शक्ति है, परन्तु साथ ही उसके लिए पुनर्निर्वाचन के लिए चुनाव लड़ना भी आवश्यक है। सभा के

विघटित होने की तिथि से राष्ट्रपति चार मास तक ही अपने पद पर बना रह सकता है। राष्ट्रपति राष्ट्रीय सभा को सम्बोधित कर सकता है और सन्देश भेज सकता है। राष्ट्रपति के मन्त्री तथा महान्यायवादी राष्ट्रीय सभा की अथवा उसकी समितियों की कार्यवाहियों मे भाग ले सकते है परन्तु वे उनमें मतदान नही कर सकते। राष्ट्रपति की पूर्व-स्वीकृति के बिना राष्ट्रीय सभा मे निवारक निरोध का विधान करनेवाले अथवा उससे सम्बन्ध रखनेवाले किसी विधेयक अथवा ऐसे किसी विधेयक के संशोधन को पुरःस्थापित नही किया जा सकता। जब कोई विधेयक राष्ट्रीय सभा द्वारा पास कर दिया जाता है तो उसे राष्ट्रपति के हस्ताक्षरों के लिए उसके सम्मुख रखा जाता है। संविधान द्वारा यह बात आवश्यक बताई गई है कि विधेयक के राष्ट्रपति के सम्मुख उसकी अनुमति के लिए प्रस्तुत किए जाने के ३० दिन के अन्दर या तो वह अनुमति प्रदान कर दे अथवा घोषित कर दे कि उसके द्वारा विधेयक को अनुमति प्रदान नहीं की गई है, अथवा वह विधेयक को अथवा उसके किसी विशेष उपबन्ध को अपने सन्देश के साथ लौटा दे और राष्ट्रीय सभा को उसके ऊपर पुनर्विचार करने के लिए कहे और सन्देश में उल्लिखित किसी सशोधन अथवा किन्ही संशोधनो के ऊपर भी विचार करने के लिए कहे। यदि राष्ट्रपति इन तीनो कार्यो मे से कोई भी कार्य नही करता तो ३० दिन व्यतीत होने के बाद यह समझ लिया जाता है कि विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हो गई है। यदि किसी मामले के विषय में राष्ट्रपति अथवा राष्ट्रीय सभा के बीच कोई विवाद उठ खड़ा होता है और राष्ट्रपति यह समझता है कि यह मामला जनमत-संग्रह के लिए निर्वाचक-गण के सम्मुख प्रस्तुत किया जाना चाहिए तो वह इसको एक प्रश्न के रूप में जनमत-संग्रह के लिए भेज सकता है। इस प्रश्न का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिसमें 'हां' अथवा 'न' के द्वारा उत्तर दिया जा सके। इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह प्रश्न निर्वाचक-गण के सदस्यो को ही, उनके अनुमोदन अथवा अन्यथा उत्तर जानने के उद्देश्य से, अभ्युद्दिष्ट किया जाता है, आम जनता के पास उस पर जनमत-संग्रह करने के लिए नही भेजा जाता।

जब राष्ट्रीय सभा का सत्र नही हो रहा होता तब उस अवस्था में राष्ट्रपति में कुछ एक विधायी शक्तियां भी निहित की गई है। यदि किसी समय राष्ट्रीय सभा का सत्र न हो रहा हो अथवा वह भंग की जा चुकी हो और राष्ट्रपति ने अपने आपको इस दिशा मे सन्तुष्ट कर लिया हो कि ऐसी परिस्थितियां है जिनके लिए तुरन्त व्यवस्थापन की व्यवस्था करनी आवश्यक है, तो उस दशा में यह आवश्यक और लाभप्रद प्रतीत होने वाले अध्यादेशों का निर्माण कर सकता है और उन्हे प्रख्यापित कर सकता है। इस प्रकार प्रवर्तित किए गए अध्यादेशों की शक्ति कानून के समान ही होगी पर उनको, जहां तक जल्दी से जल्दी व्यावहारिक हो, राष्ट्रीय सभा के सम्मुख अवश्यमेव प्रस्तुत करना पड़ेगा। यदि उस अध्यादेश को राष्ट्रीय सभा के प्रस्ताव द्वारा अनुमोदन प्राप्त हो जाता है तो उसे राष्ट्रीय सभा का अधिनियम समझ लिया जाता है अथवा बताई गई अवधि के बीत जाने पर उसका प्रभाव हट जाता है। यदि राष्ट्रीय सभा द्वारा न तो उसका अनुमोदन किया जाता है और न ही उसको अस्वीकृत किया जाता है और न राष्ट्रपति ही उस निर्दिष्ट समय से पूर्व उसका विखण्डन अथवा निरसन करता है तो उस अवस्था में निर्दिष्ट

अवधि के वीत जाने पर उसे निरस्त हुआ समझ लिया जाता है। यह विहित अवधि ४२ दिन की उस अवस्था में है जब अध्यादेश के प्रख्यापित किए जाने के बाद राष्ट्रीय सभा की प्रथम बैठक को हुए ४२ दिन हो जायें, अथवा अध्यादेश के प्रख्यापित होने के बाद १८० दिन व्यतीत हो जायें। इन दोनो में से जो छोटी अवधि है वही लागू समझी जाती है। राष्ट्रपति जिन विषयो के सम्बन्ध मे अध्यादेश जारी कर सकता है वे विषय वही होने चाहिए जिनके सम्बन्ध में राष्ट्रीय सभा व्यवस्थापन करने मे सक्षम है।

उपर्युक्त शक्तियो के अतिरिक्त राष्ट्रपति के पास आपात शक्तियां भी है। संविधान का अनुच्छेद ३० विधान करता है कि, "यदि राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाय कि गम्भीर आपात स्थिति विद्यमान है (क) जिसमे पाकिस्तान अथवा पाकिस्तान के किसी भाग को युद्ध से अथवा किसी वाह्य आक्रमण से खतरा पैदा हो गया है, अथवा (ख) जिसमें प्रान्तीय सरकार की नियन्त्रण शक्ति से बाहर किसी आन्तरिक गडबड द्वारा पाकिस्तान की सुरक्षा अथवा आर्थिक जीवन के लिए भय उत्पन्न हो गया है," तो वह उस दशा में आपातकालीन स्थिति की उद्घोषणा कर सकता है। इस प्रकार की उद्घोषणा के सम्बन्ध मे यह आवश्यक है कि जल्दी से जल्दी जहा तक व्यावहारिक है उसे राष्ट्रीय सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया जाना चाहिए। परन्तु यह आवश्यक नही कि उसे राष्ट्रीय सभा का अनुमोदन भी प्राप्त हो। यह उद्घोषणा तब तक लागू रहती है जब तक राष्ट्रपति इस बात से सन्तुष्ट है कि परिस्थितियों के कारण आपात-काल स्थिति का बना रहना न्याय्य है। जब उसे यह सन्तोष हो जाय कि जिन कारणों से उद्-घोषणा का निर्गत किया जाना आवश्यक हो गया था वे अब नही है तो वह उस उद्घोषणा को प्रतिसहृत कर सकता है। आपातकाल के दौरान मे राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश प्रख्यापित किए जा सकते हैं, भले ही राष्ट्रीय सभा का सत्र चल रहा हो और सभा के पास उनको रद्द करने की शक्ति नही हो। जब तक राष्ट्रीय सभा अध्यादेशों का अनुमोदन न कर ले अथवा राष्ट्रपति द्वारा वे पहले ही निरस्त न कर दिए जाए, राष्ट्रपति द्वारा प्रख्यापित किए गए आपातकालीन अध्यादेश आपात स्थिति की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। जब कोई अध्यादेश राष्ट्रीय सभा द्वारा अनुमोदित हो जाता है, जैसा कि उसके लिए जल्दी से जल्दी व्यावहारिक होने पर राष्ट्रीय सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है, तो वह राष्ट्रीय सभा का अधिनियम बन जाता है।

राष्ट्रपति के पास क्षमा-दान, प्राण-दण्ड, प्रविलम्बन (reprieves) और सजा में प्रास्थगन देने का भी अधिकार है और वह किसी न्यायालय, न्यायाधिकरण अथवा किसी अन्य प्राधिकारी द्वारा दी गई सजा को माफ, निलम्बित अथवा उसमें परिवर्तन कर सकता है।

राष्ट्रपति की मन्त्रि-परिषद् (President's Council of Ministers)—राष्ट्रपति की मन्त्रि-परिषद् संसदीय प्रणाली की सरकार में पाई जाने वाली मन्त्रि-परिषद् से भिन्न वस्तु है। संसदीय प्रणाली की सरकार में मन्त्रि-परिषद् की संसद् के बहुमत दल के सदस्यों में से नियुक्ति की जाती है और उस दल का नेता प्रधान मन्त्री बनता है

और प्रधान मन्त्री ही शासन का मुखिया बनता है। राज्य का प्रधान केवल सवैधानिक शक्तियां ही धारण करता है और वास्तविक कृत्य करनेवाले लोग मन्त्रि-गण होते हैं जो मन्त्रि-परिषद् के सदस्य होते हैं। वे तभी तक अपने पदों पर बने रह सकते हैं जब तक उन्हें संसद् का विश्वास प्राप्त होता है और वे उस निकाय के प्रति और उसके द्वारा लोगों के प्रति अपने समस्त सार्वजनिक कार्यों के लिए, व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से, उत्तरदायी होते हैं। संसद् के प्रति उत्तरदायित्व संसदीय सरकार के लिए अपरिहार्य वस्तु है।

पाकिस्तान का राष्ट्रपति स्वयं अपने मन्त्री नियुक्त करता है, किन्तु उनके लिए राष्ट्रीय सभा की सदस्यता आवश्यक नही। यद्यपि सदस्य न होते हुए भी उनके पास सभा मे बोलने का अधिकार होता है। यह बात अमरीकी राष्ट्रपति सम्बन्धी मन्त्रि-मण्डल के व्यवहार से एक भिन्न वस्तु है। अमरीका में राष्ट्रपति के मन्त्री कांग्रेस मे अपना स्थान ग्रहण नही करते, उन्हे वहा बोलने का भी अधिकार नही है, और वे कोई विधेयक भी पुर स्थापित नही कर सकते क्योंकि वे काग्रेस के सदस्य नही होते। पाकिस्तान के राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल की एक अन्य विशेषता यह है कि प्रत्येक मन्त्री का अपने विभाग के लिए एक संसदीय सचिव होता है जो राष्ट्रीय सभा का सदस्य होता है और वह सदन में बैठता है और मतदान करता है। अमरीका मे ऐसा कुछ नहीं होता। अतः, पाकिस्तान मे राष्ट्रपति की मन्त्रि-परिषद् प्रधानीय शासन-प्रणाली के अधीन उपलब्ध होने वाले राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल से बहुत अधिक भिन्नता रखती है जैसा कि वह संसदीय प्रणाली से भिन्नता बनाए हुए है ही। निस्सन्देह, पाकिस्तान का राष्ट्रपति मन्त्रियों की नियुक्ति करता है जो उसके प्रसन्नता काल में कार्य करते है ताकि उसके कर्त्तव्यों के पालन मे वे उसकी सहायता कर सकें और यह राष्ट्रपति पर निर्भर है कि मन्त्रियों द्वारा दी गई सलाह को स्वीकार कर ले अथवा न करे।

सविधान द्वारा राष्ट्रपति को प्रदान की गई मन्त्री को पद-च्युत करने की शक्ति के इलावा राष्ट्रपति के पास किसी मन्त्री को, केवल पांच साल तक के समय के लिए, किसी सार्वजनिक पद को ग्रहण करने के लिए अनर्ह ठहराने की भी शक्ति है बशर्ते कि उस मन्त्री ने राष्ट्रपति की राय में अपने कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में गम्भीर दुराचार का दोष किया हो। यदि मन्त्री को सार्वजनिक पद के लिए अनर्ह बनने का विकल्प स्वीकृत न हो तो उसे अपने पद से बर्खास्त किया जा सकता है और साथ ही वह पांच साल से अधिक न होने वाले समय के लिए भी सार्वजनिक पद के ग्रहण के लिये अनर्ह ठहराया जा सकता है। बशर्ते कि उसके दुराचार की जाच करने वाला और राष्ट्रपति द्वारा बैठाया गया न्यायाधिकरण उसको अपराधी करार कर दे। सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति के पास इस प्रकार की शक्तिया नही है। पाकिस्तान के राष्ट्रपति की अपनी मन्त्रि-परिषद् पर पकड़ वस्तुतः बड़ी मजबूत है। वह परिषद् उसके कुटुम्ब के समान नहीं है जैसी कि वह अमरीका मे है।

राष्ट्रपति की स्थिति (Position of the President)—पाकिस्तान का राष्ट्रपति राज्य तथा शासन दोनों का ही प्रधान होता है। राष्ट्रपति की मन्त्रि-परिषद्

हो रहे है कि इसे समाप्त कर दिया जाय परन्तु राष्ट्रपति अयूब ने इसे बनाए रखने का निश्चय किया हुआ है और उसने ऐसे उपायों को खोज निकालने का प्रयत्न भी किया था ।

राष्ट्रपति मे निहित विधायी शक्तियां वास्तव में विस्तृत है और उनमें सब बातें अन्तर्निहित हैं । वह चाहे तो राष्ट्रीय सभा द्वारा पारित विधेयक को स्वीकृति प्रदान कर सकता है, अथवा उसे देने से रोक सकता है, अथवा राष्ट्रीय सभा के पुनर्विचार के लिए समस्त विधेयक को अथवा उसके किसी उपबन्ध को सभा को लौटा सकता है। उसके पास अध्यादेश प्रख्यापित करने की भी शक्ति है जिनकी शक्ति उन्ही कानूनों के समान है जो राष्ट्रीय सभा द्वारा पारित किए जाते है बशर्ते कि राष्ट्रीय सभा का सत्र न हो रहा हो अथवा उसका विघटन हो चुका हो । आपात काल है या नही इसके लिए केवल राष्ट्रपति का ही समाधान होना और उसका निर्णय प्रमाण है । इस विषय में राष्ट्रपति के लिए केवल यही करना आवश्यक है कि वह उस उद्घोषणा की सूचना राष्ट्रीय सभा को देने के लिए उसे सदन की मेज पर रख दे । आपात काल कब तक बना रहेगा यह भी राष्ट्रपति के निर्णय पर ही निर्भर है। राष्ट्रीय सभा किसी भी अवस्था मे बीच मे नही आती । आपात काल के दिनों में राष्ट्रपति अध्यादेशों को प्रख्यापित कर सकता है भले ही उन दिनो राष्ट्रीय सभा का सत्र भी चल रहा हो और राष्ट्रीय सभा के पास उन अध्यादेशो का अनुमोदन करने की शक्ति भी नहीं होती। क्योंकि विधि-निर्माण के सिद्धान्तो में निगमित मौलिक अधिकार सविधान द्वारा प्रत्याभूत नही है । अतएव यदि किसी नागरिक की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाया गया हो तो उसके पास अपने कष्ट का निवारण करने का कोई साधन नही है। सवैधानिक तौर पर मौलिक अधिकारो की प्रत्याभूति न देने का लक्ष्य यही है कि सब प्रकार के राजनीतिक क्रिया-कलापो पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके । कोई विधेयक अथवा किसी विधेयक का संशोधन जिसका उद्देश्य निवारक निरोध का विधान करना हो तब तक राष्ट्रीय सभा मे पेश नही किया जा सकता जब तक उसके विषय में राष्ट्रपति की पूर्व-स्वीकृति प्राप्त न कर ली गई हो।

प्रतिरक्षा (defence) तथा वित्त (finance) जैसे जनता से सम्बन्ध रखने वाले दो महत्त्वपूर्ण विषय राष्ट्रीय सभा के क्षेत्राधिकार मे से हटा लिये गए हैं। उन्हे सीधे ही राष्ट्रपति की देख-रेख के नीचे रखा गया है । सविधान ने इस बात का विधान किया है कि बीस वर्षों के लिए पाकिस्तान का प्रतिरक्षा-मन्त्री एक अवकाश-प्राप्त अधिकारी होगा जो लैफ्टिनैण्ट जनरल (Lieutenant General) या इसके समकक्ष की पद-स्थिति का व्यक्ति रहा हो, बशर्ते कि राष्ट्रपति ने स्वयं इस पद-स्थिति को धारण न किया हो। राष्ट्रपति अयूब ने अपनी पहली मन्त्रि-परिषद् मे स्वय प्रतिरक्षा विभाग सँभाला था । राष्ट्रपति पाकिस्तान की प्रतिरक्षा सेनाओ का सर्वोच्च सेनापति है, और उसके पास प्रतिरक्षा सेवाओं का विस्तार करने और उन्हे बनाए रखने की शक्ति है और ऐसा वह उन सेवाओं के पश्चात्धृत कर्मचारी-समूह के लिए भी कर सकता है। वह उन सेवाओं में कमीशन (Commissions) भी प्रदान कर सकता है, मुख्य

सेनापतियों की नियुक्ति कर सकता है और उनके वेतन तथा भत्तों को निर्धारित कर सकता है।

संविधान ने राष्ट्रपति को जान-बूझकर संविधान का अतिक्रमण करने के दोषी होने पर अथवा गम्भीर दुराचार का दोषी होने पर उसके लिए महाभियोग द्वारा उसके ऊपर दोषारोपण करने का विधान किया है। उसे शारीरिक अथवा मानसिक अशक्तता के आधार पर अपने पद से च्युत भी किया जा सकता है। परन्तु इन दोनों बातों के लिए संविधान ने इतनी कड़ी शर्तें लगाई हैं कि राष्ट्रीय सभा का कोई सदस्य इसका साहस नहीं कर सकता। इन दोनों बातों के लिए राष्ट्रीय सभा की कुल सदस्य संख्या के एक-तिहाई सदस्यों द्वारा पद-च्युत सम्बन्धी प्रस्ताव का रखा जाना आवश्यक शर्त है और उसके पारित होने के लिए तीन-चौथाई सदस्यों का बहुमत प्राप्त करना भी आवश्यक शर्त है। परन्तु यदि पद-च्युति सम्बन्धी प्रस्ताव के पक्ष में आधे से भी कम सदस्यों के मत प्राप्त हों, तो राष्ट्रपति को हटाने वाले प्रस्ताव के मूल-प्रस्तावक स्वतः ही राष्ट्रीय सभा की सदस्यता खो बैठते हैं।

इस प्रकार, संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति का कोई भी प्रतिद्वन्द्वी नहीं है, यद्यपि भूतपूर्व विदेश मन्त्री जैड० ए० भुट्टो (Z. A. Bhutto) द्वारा हाल ही में जनता पार्टी (People's Party) की स्थापना के बाद पाकिस्तान की राजनीति में पर्याप्त उथल-पुथल-सी मची हुई प्रतीत होती है। नए दल का नारा है, "इस्लाम, समाजवाद, तथा लोकतन्त्र। अनेक विपक्षी दलों द्वारा मिलकर के पाकिस्तान लोकतान्त्रिक आन्दोलन (Pakistan Democratic movement) चलाए जाने का उद्देश्य पाकिस्तान में संसदीय लोकतन्त्र को दुबारा स्थापित करना है। मियां मुम्ताज दौलताना (Mian Mumtaz Daultana) जो कभी भूतपूर्व मुख्य मन्त्री थे और अब पाकिस्तान लोकतान्त्रिक आन्दोलन के प्रमुख सदस्य हैं, उन्होंने भारत में व्यवहार में आने वाली संसदीय लोकतन्त्र प्रणाली की सार्वजनिक तौर पर पुष्टि की है।[1] संवाददाताओं द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में मियां दौलताना ने कहा था कि, "कुछ एक भारतीय राज्यों में संसदीय प्रणाली के प्रचलन में पाई जाने वाली कठिनाइयों पर काबू पाया जा सकता है और पाकिस्तान में उसी प्रणाली को चलाने की आवश्यकता की निन्दा करने के लिए उन्हीं कठिनाइयों की दुहाई देने से कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा।" किन्तु प्रतिपक्ष से इस दिशा में लोकप्रिय समर्थन तैयार करने में बहुत आशा नहीं की जा सकती। राष्ट्रपति अयूब अब भी पाकिस्तान में अपने महान् व्यक्तित्व के कारण अन्य समस्त राजनीतिक नेताओं को नगण्य-सा बनाए हुए है। यदि कभी प्रतिपक्षी दलों के निर्वाचक-गणों को प्रभावित करने का अवसर प्राप्त भी हो जाय और उनकी अच्छी-खासी संख्या राष्ट्रीय सभा की सदस्यता भी प्राप्त कर ले, तब भी दो-तिहाई बहुमत के अभाव में संविधान को नहीं बदला जा सकेगा। लेकिन यह भी पर्याप्त नहीं है। राष्ट्रपति के पास संशोधनों को दुबारा विचार करने के लिए उन्हें लौटा देने की शक्ति अभी भी है। अथवा वह सभा का विघटन कर सकता है। उस दशा में उसका कार्य-काल भी समाप्त हो जाता है परन्तु ऐसा विघटन की तिथि से चार मास के बाद ही होता है।

1. The Statesman, New Delhi, December 6, 1967.

अध्याय ५

केन्द्र में शासन की संरचना (क्रमशः)

(THE STRUCTURE OF GOVERNMENT AT THE CENTRE [*Contd.*])

राष्ट्रीय सभा

(The National Assembly)

एकसदनात्मक विधानमण्डल (Unicameral Legislature)—संविधान ने केन्द्र में एकसदनात्मक विधानमण्डल का विधान किया है जिसका नाम राष्ट्रीय सभा (National Assembly) रखा गया है। एकसदनात्मक विधान-मण्डल का अर्थ लोकतान्त्रिक मांग तथा संघवाद के मूल सिद्धान्तों के निषेध में निकलता है। द्विसदनात्मकवाद एक स्थायी सिद्धान्त पर आधारित है कि शासन के प्रस्तावों के लिए जिनके परिणाम बडे व्यापक होते है, अनेक उपदेष्टाओं की आवश्यकता होती है। संघीय शासन का स्वरूप रखनेवाले राज्यों के लिए यह अनिवार्य वस्तु है। पाकिस्तान को किसी बहाने से संघ का रूप प्रदान करने के लिए पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान नामक दोनों प्रान्तों मे से राष्ट्रीय सभा की सदस्यता के लिए बराबर सख्या में सदस्यों का लिया जाना आधार माना गया है। पाकिस्तान की राजनीतिक समस्या का हल ढूढने के राष्ट्रपति अयूब के तरीके में एकसदनात्मक विधानमण्डल के निर्माण के कारणों का स्पष्टीकरण देखा जा सकता है। उसे विश्वास हो गया था कि पाकिस्तान के लिए लोकतन्त्र एक आवश्यक वस्तु थी क्योंकि उसके बिना राजनीतिक स्थिरता प्राप्त नही हो सकती थी। परन्तु वह अपने इस विश्वास पर भी बल प्रदान करता था कि यह लोकतन्त्र ऐसा होना चाहिए जिसे पाकिस्तानी समझ सकें और जिसका वह प्रयोग कर सके। विशेषतः, वह हर उस शासन के प्रकार को सन्देह की दृष्टि से देखता था जो विधान-मण्डल को कार्यपालिका को हटाने अथवा उसे किसी प्रकार से जकड़ने के लिए अनियन्त्रित शक्ति प्रदान करता था। "क्योंकि उसे डर है कि ऐसा करने से दलगत राजनीति के पहले जैसे हानिकारक शासन षड्यन्त्र तथा भ्रष्टाचार के लिए रास्ता खुल जायगा जिसने देश को लगभग नाश के लिए ग्रस्त कर दिया था।"[1] अतः, राष्ट्रपति द्वारा अधिनियमित संविधान पाकिस्तान की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखकर ही बनाया गया था। उसने लोगों को बताया, "आओ, हम अपने से न तो मजाक करें और न पुराने लकीर के फकीर बने रहे और न ही यह मान ले कि हम इस प्रकार की परिष्कृत प्रणाली का प्रयोग करने के लिए तैयार है, यह जानते हुए भी कि हमारे पूर्व-प्रयास असफल हुए थे। उसको पुनः आजमाना मूर्खता होगी जब तक कि हमारी परिस्थितियों मे आमूल परिवर्तन न हो जाएं।"

तदनुसार, १९६२ के संविधान द्वारा केवल एकसदनात्मक विधानमण्डल की

---

1. Rushbrook Williams, F. L., *The State of Pakistan*, p. 231.

ही स्थापना नही हुई थी अपितु इसने अप्रत्यक्ष चुनावों की प्रणाली का आरम्भ करके पीछे की ओर कदम मोड़ा था। कही पाकिस्तान के लोग लोकतान्त्रिक संस्थाओं की पूर्णतया समाप्ति के कारण बुरा न मनाएं और राष्ट्रीय सभा को उत्तरदायित्वपूर्ण होने का स्वरूप प्रदान करने के लिए मन्त्रियो के पास यह अधिकार है, भले ही वे सभा के सदस्य नहीं होते कि वे प्रश्नों का उत्तर दे सके और शासन के कार्यो और नीतियों का पुष्टिकरण कर सकें। सरकार अर्थात् शासन सभा के प्रति उत्तरदायी है और सभा के पास प्रस्ताव पारित करके सरकार को उलटने की भी शक्ति नही है, परन्तु सभा मे कार्य-संचालन सम्बन्धी प्रक्रिया के नियमों मे स्थगन प्रस्तावों और सकल्पों का विधान किया गया है जिनके द्वारा सदस्य शासन के कार्यो और नीतियों के विषय मे अपनी भावनाये अभिव्यक्त कर सकें।

सभा की संरचना तथा संगठन (Composition and Organisation of the Assembly)—केन्द्रीय विधानमण्डल, जिसे अब ससद् अर्थात् पार्लियामेण्ट नही कहा जाता, राष्ट्रपति तथा राष्ट्रीय सभा नामक एक सदन से मिलकर निर्मित हुआ है। सभा के कुल १५६ सदस्य हैं जिनमे ६ स्त्री सदस्य भी सम्मिलित है।[1] ये सदस्य बराबर की संख्या में पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान से निर्वाचित होते है अर्थात् प्रत्येक भाग से ७५ सर्वसाधारण और ३ स्त्री स्थानों के लिए सदस्य चुने जाते हैं। प्रत्येक भाग में ३ स्थान स्त्रियों के लिए सुरक्षित हैं, यद्यपि आम स्थानो से उनके चुने जाने पर किसी प्रकार की रोक नही है। सभा का साधारण कार्यकाल पाच वर्ष है। परन्तु १९६२ मे चुनी गई पहली सभा ने केवल तीन वर्ष ही कार्य करना था। राष्ट्रपति कभी भी सभा भग कर सकता है परन्तु उसे तुरन्त ही अपना पुनर्निर्वाचन कराना पडता है। सभा अपने साधारण काल की समाप्ति पर स्वतः ही विघटित हो जाती है, परन्तु इस कार्य-काल की समाप्ति से चार मास पूर्व चुनावों का होना आवश्यक है। यदि सभा का विघटन राष्ट्रपति द्वारा हुआ हो तो विघटन की तिथि से तीन मास के अन्दर चुनाव अवश्य होने चाहिए। राष्ट्रपति का अपना कार्य-काल विघटन की तारीख से चार मास पश्चात् समाप्त हो जाता है। किसी सभा के कार्य-काल की समाप्ति में ६ मास रहने पर रिक्त स्थानो की पूर्ति नही की जाती, अन्यथा निर्वाचन आयोग (Election Commission) द्वारा उप-चुनाव कराए जाते हैं।

राष्ट्रीय सभा के लिए चुनाव लड़नेवाले प्रत्याशियो अर्थात् उम्मीदवारो के

---

१. १६ दिसम्बर, १९६७ को राष्ट्रीय सभा द्वारा पारित किए गए सविधान के एक संशोधन द्वारा राष्ट्रीय सभा की सदस्य संख्या १५६ से २१८ कर दी गई है। राष्ट्रीय सभा मे दस स्थान भूतपूर्व राष्ट्रपतियो, अध्यक्षों (Speakers), गवर्नरों, मन्त्रियों अथवा कला, विज्ञान या साहित्य के क्षेत्रों के प्रचण्ड प्रकाण्ड पण्डितों के लिए आरक्षित किए गए है। पाच स्थान पूर्वी पाकिस्तान को मिलेंगे और पाच पश्चिमी पाकिस्तान को। राष्ट्रीय सभा में स्त्रियों के लिए दो और स्थान सुरक्षित किए गए हैं। ये संशोधन १९७० से लागू किए जायेंगे।

—The Tribune Ambala Cantt. Dec : 18, 1967.

लिए विहित अर्हताओं को पूरा करना आवश्यक है। उसे पाकिस्तान का नागरिक चाहिए और कम से कम उसकी आयु २५ वर्ष अवश्य होनी चाहिए और वह सवि और कानून द्वारा अग्राह्य न हो। कोई भी उम्मीदवार एक समय में एक से अधिक स्‍ के लिए चुनाव नहीं लड़ सकता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है "कि अपने लि स्थान की 'सुरक्षा' के लिए बहु-अभ्यर्थिताओं की पुरानी प्रथा का निषेध कर दिया गय है।"[1] यदि राष्ट्रीय सभा का कोई सदस्य प्रान्तीय सभा के लिए चुन लिया जाता है अथवा गवर्नर के रूप में उसकी नियुक्ति हो जाती है अथवा उसके द्वारा ऐसा कोई पद ग्रहण कर लिया जाता है जो उसे सभा की सदस्यता के लिए अनर्ह बना देता है अथवा जो बिना अवकाश लिये लगातार ३० दिन के लिए सभा की बैठकों में उपस्थित नहीं रहता तो उसका स्थान रिक्त घोषित कर दिया जाता है।

यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय सभा की बैठक हर ६ मास में एक बार अवश्य हो। संविधान द्वारा विहित हुआ है कि ढाका (Dacca) राष्ट्रीय सभा का मुख्य स्थान होगा। राष्ट्रपति सभा को आहूत करता है, सत्रावसान करता है तथा भंग करता है। संविधान ने राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष (Speaker) को यह शक्ति प्रदान की है कि वह उसके एक-तिहाई सदस्यों की प्रार्थना पर सभा का सत्र आहूत कर सके। ऐसी अवस्था के होने पर केवल अध्यक्ष ही के पास यह शक्ति है कि वह उस सत्र का अवसान कर सके। यदि पाकिस्तान के राष्ट्रपति, अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के स्थान रिक्त हों तो सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश सभा की बैठक बुला सकता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि राष्ट्रपति किसी भी समय राष्ट्रीय सभा का विघटन कर सकता है। परन्तु उसकी यह विघटन करने की शक्ति तीन बातों द्वारा सीमित की गई है। प्रथमतः, सभा के विघटन का अर्थ राष्ट्रपति के कार्य-काल की समाप्ति भी है। सभा के सदस्य तथा राष्ट्रपति दोनों ही मतदाताओं के सम्मुख जाते हैं; विघटन की तिथि से तीन मास के अन्दर सभा तथा चार मास के अन्दर राष्ट्रपति। द्वितीयतः, सभा अपने कार्य-काल के अन्तिम ६ मासों में विघटित नहीं की जा सकती। अन्ततः, जब राष्ट्रीय सभा द्वारा पाकिस्तान के राष्ट्रपति को पद-च्युत करने के सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव विचाराधीन हो तो उस स्थिति में सभा भंग नहीं की जा सकती।

राष्ट्रीय सभा स्वयं अपना अध्यक्ष चुनती है जो उसकी बैठकों की अध्यक्षता करता है। अध्यक्ष सभा के सम्पूर्ण कार्य-काल के लिए चुना जाता है बशर्ते कि उसे पूर्व बहुमत द्वारा हटा नहीं दिया जाता, परन्तु वह तब तक अपने पद पर बना रहता है जब तक उसके उत्तराधिकारी का चुनाव नई सभा द्वारा नहीं हो जाता। क्योंकि उप-राष्ट्रपति नामक कोई पद वर्तमान नहीं है अतः, पाकिस्तान के राष्ट्रपति के पद-च्युत होने की अवस्था में, चाहे वह उसके गम्भीर दुराचार का परिणाम हो अथवा उसकी शारीरिक अथवा मानसिक अशक्तता का, अध्यक्ष (Speaker) राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है। संविधान ने इस बात को सुनिश्चित कर दिया है कि आवश्यकता पड़ने पर अध्यक्ष ही कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। इसके अतिरिक्त, इस बात

---

1. Kahin, George MCT (Ed.), *Major Governments of Asia*, p. 453.

ने इस विवाद को भी उठा दिया है, जिसने कि पाकिस्तान की राजनीति को भी अपवित्र बना दिया था, कि नवनिर्वाचित राष्ट्रीय सभा की पहली बैठक की अध्यक्षता कौन करे। यद्यपि सविधान स्वय इस विषय मे मौन है परन्तु इस बारे मे एक दृष्टान्त स्थापित कर दिया गया है कि अध्यक्ष (Speaker) तथा राष्ट्रपति एक ही प्रान्त के व्यक्ति नही होने चाहिए; उन्हें दो भिन्न-भिन्न प्रान्तो का होना चाहिए।

अध्यक्ष को उसके कर्त्तव्यो के पालन में सहायता पहुचाने के लिए दो उपाध्यक्षों के पदों की स्थापना सविधान द्वारा की गई है, एक वरिष्ठ (Senior) उपाध्यक्ष पद की ओर एक कनिष्ठ (Junior) उपाध्यक्ष पद की। इन दोनों पदो मे किसी एक पद की रिक्तता होने पर उस पद के लिए तुरन्त चुनाव होना आवश्यक है। सभा स्वय अपनी प्रक्रिया के नियमो का निर्माण करती है। सभा के सदस्यों को भाषण तथा मतदान की स्वतन्त्रता प्रत्याभूत होती है और सदन की कार्यवाही को किसी न्यायालय में ललकारा नही जा सकता। प्रक्रिया के नियमो द्वारा एक नई बात का प्रवर्तन किया गया है और वह यह है कि स्पीकर अर्थात् अध्यक्ष को ऐसे आवश्यक प्रबन्धो को करने के लिए कहा गया है ताकि वह सभा के सदस्यो को विधायको के रूप मे उनके दायित्वो के विषय में शिक्षित कर सके। परन्तु अध्यक्ष के पास ऐसे कोई भी साधन नही हैं जिनके द्वारा वह सदस्यों को उन 'कक्षाओं' मे आने के लिए बाध्य कर सके। जो कक्षाए वह इस उद्देश्य से चलाना चाहता है। अध्यक्ष के पास सदन की कार्यवाही को नियन्त्रित करने तथा उचित शिष्टता का वातावरण प्रवर्तित करने की शक्ति है। नियन्त्रण न मानने वाले सदस्यों के सम्बन्ध मे उसके पास यह शक्ति है कि वह 'गम्भीर दुर्व्यवहार' का मामला सर्वोच्च न्यायालय को निर्दिष्ट कर सके। यदि सर्वोच्च न्यायालय सदस्य को दोषी घोषित कर दे, तो फिर वह सदस्य राष्ट्रीय सभा की सदस्यता से वचित हो जाता है।

सदन की १९ समितियां होती है और उनका निर्माण करते समय पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के बीच साम्य का ध्यान रखा जाता है। इसमे से १६ समितिया विभागीय होती है और शेष तीन अनिर्दिष्ट विषयों, प्रक्रिया तथा विशेषाधिकार के नियमो तथा सार्वजनिक लेखा से सम्बन्ध रखनेवाले कार्यो को करती है। लोक-लेखा समिति में सदस्यों की संख्या दस होती है पर अनिर्दिष्ट विषय समिति (Unspecified matters Committee) तथा प्रक्रिया तथा विशेषाधिकार नियम समिति (Rules of Procedure and Privileges Committee) के प्रत्येक के छः-छः सदस्य होते है।

राष्ट्रीय सभा के कृत्य (Functions of the National Assembly)—राष्ट्रीय सभा का मुख्य कार्य कानून निर्माण करना है। परन्तु इसकी शक्तिया सविधान के उपबन्धों द्वारा, जैसे कि वे विधि-निर्माण के सिद्धान्तों में समाविष्ट किए गए है, सीमित कर दी गई है। राष्ट्रीय सभा को विधि-निर्माण के सिद्धान्तो का पालन करने के लिए उत्तरदायी बनाया गया है। न्यायालयों को ये शक्तियां प्रदान की गई है ताकि वे इस प्रकार पारित कानूनो की ओर ध्यान रख सकें और कानूनों के भग में सुधार कर सकें। हा, यह बात अवश्य ध्यान मे रखनी चाहिए कि न्यायालय स्वयं कानून

की वैधता को ललकार नही सकते। विधायी प्रक्रिया सरल है। कोई भी विधेयक जब वह सभा मे पुरःस्थापित किया जाता है तो उस पर तीन अवसरों पर वाद-विवाद होता है। पहला अवसर वह होता है जब प्रस्तुत विधेयक में अन्तर्ग्रस्त सिद्धान्तो के ऊपर आम बहस होती है। यदि सभा विधेयक का अनुमोदन कर दे और वह प्रवर समिति के पास नही भेजा जाता तब वह वाद-विवाद की दूसरी अवस्था को प्राप्त होता है। इस अवसर पर विधेयक के प्रत्येक खण्ड पर वाद-विवाद होता है और तत्सम्बन्धी सशोधन भी पुरःस्थापित किए जा सकते है। अन्तिम अवस्था मे विधेयक के सशोधित रूप पर एक बार फिर वाद-विवाद होता है और उसके बाद मतदान होता है।

जब राष्ट्रीय सभा विधेयक को पारित कर दे तब वह राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए उसके पास भेजा जाता है। राष्ट्रपति को तीस दिन के अन्दर या तो विधेयक पर अपनी स्वीकृति देनी होती है अथवा उसे यह घोषित करना पड़ता है कि उसने अपनी स्वीकृति देने से इनकार कर दिया है, अथवा वह विधेयक को अपने इस सन्देश के साथ सभा को लौटा देता है कि विधेयक अथवा इसके किसी विशेष उपबन्ध पर पुनर्विचार किया जाए अथवा सन्देश में निर्दिष्ट किसी सशोधन पर विचार किया जाए। यदि राष्ट्रपति इन तीनो कार्यों मे से एक भी कार्य नही करता तो विधेयक कानून बन जाता है। यदि राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति प्रदान नही करता तो सभा इस बात मे सक्षम है कि वह राष्ट्रपति के निषेधाधिकार की चिन्ता न करके दो-तिहाई बहुमत से विधेयक को पुनः पारित कर दे। इस स्थिति मे राष्ट्रपति द्वारा दस दिन के अन्दर विधेयक को स्वीकृति देनी आवश्यक हो जाती है अथवा वह सभा का विघटन कर सकता है अथवा वह विधेयक को निर्वाचक-गण के पास जनमत सग्रह के लिए भेज सकता है। यदि निर्वाचक-गण (Electoral College) के सदस्य पूर्ण बहुमत से विधेयक के पक्ष मे मतदान कर दे, तो यह तुरन्त कानून बन जाता है। "राष्ट्रपति तथा राष्ट्रीय सभा के बीच उठने वाले सघर्ष मे, न तो आम चुनाव और न जनमत सग्रह ही, किसी विशेष विधायी प्रश्न के हल का वाछित तरीका प्रतीत होता है और निस्सन्देह राष्ट्रपति अपने विरुद्ध दो-तिहाई बहुमत की तैयारी को रोकने के लिए अपना अधिकाधिक प्रभाव प्रयोग मे लायेगा।"[1]

सभा की वित्तीय शक्तियो के बारे में बहुत कुछ कहने की आवश्यकता नही है। सभा इस दृष्टि से सरकार के ऊपर कोई नियन्त्रण नही रख सकती और पैसो के ऊपर उसकी पकड बडी कमजोर है। सविधान ने इस बात का विधान किया हुआ है कि राष्ट्रपति प्रत्येक वित्तीय वर्ष के सम्बन्ध मे राष्ट्रीय सभा के सम्मुख अनुमानित आय तथा अनुमानित व्यय का जो उस वर्ष के लिए केन्द्रीय समेकित निधि (Central Consolidated Fund) से किया जाना है, आय-व्ययक ब्यौरा रखवायेगा। सविधान के अनुसार आय-व्ययक के ब्यौरे मे समेकित निधि से किए जाने वाले व्यय, आवर्तक (recurring) व्यय तथा नवीन व्यय में अन्तर दिखाया जाना आवश्यक है। समेकित निधि के अन्तर्गत होने वाले व्यय मे राष्ट्रपति, मन्त्रियों, न्यायाधीशो तथा अन्यों के वेतनों तथा भत्तों पर होने वाला व्यय सम्मिलित है। आवर्तक व्यय व सामान्य व्यय वह हैं जो सरकार

1. Kahin George MCT, Major Governments of Asia, p. 455.

द्वारा प्रतिवर्ष किया जाता है। नवीन व्यय के अन्दर गत वर्ष के आवर्तक व्यय पर दस प्रतिशत से अधिक व्यय होने वाला व्यय तथा कई मदों पर होने वाला व्यय सम्मिलित किया जाता है। राष्ट्रीय सभा इन तीनों श्रेणियों के अन्दर होने वाले व्यय पर वाद-विवाद कर सकती है, परन्तु इसके द्वारा मतदान केवल नवीन व्यय के अनुदानों (विनियोजनों—appropriations) की मागों पर होता है। इसके अतिरिक्त वार्षिक आय-व्ययक वितरण मे विशेष दीर्घावधि योजनाओं पर होने वाले भावी व्यय का अनुमानित व्यय भी सम्मिलित हो सकता है और इसके लिए भी राष्ट्रीय सभा की स्वीकृति आवश्यक है। परन्तु एक बार स्वीकृति, जो अनुमानित व्यय के लिए होती है, मिल जाने पर दुबारा स्वीकृति की आवश्यकता नही पडती।

सरकार के जीवन मे आय-व्ययक पर होने वाला वाद-विवाद निर्णायक नहीं होता। आय-व्ययक का अनुमोदन न किया जाना यह अर्थ नही रखता कि सरकार की हार हो गई है। जैसा कि कहा जा चुका है, राष्ट्रीय सभा का कोष के ऊपर रहनेवाला नियन्त्रण नगण्य-सा है। समेकित निधि से होने वाले व्यय को उसे छूने की भी आवश्यकता नही। आवर्तक व्यय उसके हाथों मे सुरक्षित रहता है और जहा तक दीर्घावधि योजनाओं का सम्बन्ध है वहा जब एक बार व्यय को स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तब उसे परिवर्तित नही किया जा सकता। राष्ट्रीय सभा केवल तभी एक प्रकार का बखेडा खडा कर सकती है जब नए व्यय के लिए अनुदानों के सम्बन्ध में वाद-विवाद चल रहा हो। किन्तु यहां भी सदस्यों की शक्तिया सीमित कर दी गई है, क्योंकि राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना न तो अनुदानों के लिए मागों को और न ही किसी कर को लागू करने, समाप्त करने, माफ करने, परिवर्तन करने या विनियमित करने वाले किसी प्रस्ताव को प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके साथ ही सभा का कोई सदस्य राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना किसी ऐसे विधेयक को पुरःस्थापित नही कर सकता अथवा किसी ऐसे संशोधन को भी प्रस्तुत नही कर सकता यदि उसके कारण केन्द्रीय सरकार के राजस्वों अथवा अन्य धनों का व्यय किया जाना अन्तर्ग्रस्त होता हो।

आय-व्ययक सम्बन्धी वाद-विवाद भी एक साधारण-सा कार्य होता है। पलड़ा पलटने के लिए न तो तीक्ष्ण आलोचना होती है और न चिन्तापूर्ण क्षण ही। आय-व्ययक के प्रस्तुत किए जाने के तुरन्त बाद ही वाद-विवाद प्रारम्भ हो जाता है जिसके दो स्वरूप हो जाते हैं। प्रथम तो वह जिसके अन्तर्गत आय-व्ययक पर आम बहस होती है। इसके बाद अनुमानों की प्रत्येक माग पर बहस होती है "यद्यपि संसदीय समय कभी भी प्रत्येक मद के ऊपर की जाने वाली बहस की अनुमति नही देता है।" जब कर सम्बन्धी उपायों के विषय मे स्वीकृति दी जा रही होती है तब भी वाद-विवाद होता है। यह सामान्य अथवा विशेष प्रश्नों पर हो सकता है। वार्षिक आय-व्ययक विवरण को विचारित कर लेने के बाद राष्ट्रपति एक अधिकृत व्यय अनुसूचित (Schedule of Authorised Expenditure) नामक अनुसूची तैयार करवाता है और अपने हस्ताक्षरों द्वारा उसे प्रमाणित करता है। राष्ट्रपति द्वारा प्रमाणित अधिकृत व्यय की अनुसूची के प्राधिकार के अन्तर्गत आने वाले व्यय को छोड़कर केन्द्रीय समेकित निधि मे

कोई अन्य प्रकार का धन नहीं निकाला जा सकता। अधिकृत व्यय की अनुसूची राष्ट्रीय सभा की सूचना के लिए उसके सम्मुख प्रस्तुत की जाती है।

अन्ततः राष्ट्रीय सभा के विमर्शी कृत्यों की बारी आती है। इसका प्रथम अवसर तब प्राप्त होता है जब किसी विधेयक पर वाद-विवाद हो रहा होता है और जैसा कहा जा चुका है कि इस प्रकार के वाद-विवाद करने के तीन अवसर सभा को प्राप्त होते हैं। सभा के सदस्य सम्बद्ध मन्त्री से आवश्यक सूचना प्राप्त करने के लिए प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते है। यद्यपि मन्त्री कोरे उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता परन्तु आम तौर पर उत्तर दे दिए जाते है क्योंकि ऐसा करने से सरकार को अपनी नीतियों की पुष्टि करने का अवसर मिल जाता है और आलोचना का मुंहतोड़ उत्तर भी दिया जा सकता है। सरकार की नीति के विरुद्ध अथवा उसकी असफलताओं को प्रमुख रूप से सामने लाने के लिए स्थगन प्रस्तावों को भी प्रस्तुत किया जा सकता है। सभा के सदस्य, सरकार की नीतियों अथवा कार्यों के विषय में लोगों की भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए, अथवा तुरन्त ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण मामलों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करने के लिए, प्रस्तावों को भी प्रस्तुत कर सकते हैं।

राष्ट्रीय सभा की परीक्षा (National Assembly Examined)—अप्रत्यक्ष चुनावों से युक्त और वह भी एक ऐसे देश में, जो लोकतान्त्रिक आदर्शों को घोषित करने वाली संघीय शासन-नीति से युक्त है, एकसदनात्मक विधानमण्डल की स्थापना वास्तव में लोकतन्त्र के प्रति अविश्वास को प्रकट करती है और मौलिक संघीय सिद्धान्तों की पूर्ण उपेक्षा करती है। अतः, राष्ट्रीय सभा किसी भी अर्थ में, जनता की राय को मापने वाला यन्त्र नहीं कहलाया जा सकता और इसके सदस्यों के पास जनता की ओर से कोई अधिदेश (mandate) भी नहीं होता। जब मतदाता अपने प्रतिनिधियों के चुनाव में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं ले सकते तो वे राजनीति में केवल मन्द उत्साह दिखाते है और अन्त में जाकर सार्वजनिक मामलों की उपेक्षा कर देते है। चुनाव का अप्रत्यक्ष प्रकार भी दल-प्रणाली के दोषों को कम नहीं करता। दल-प्रणाली के दोषों को कम करना ही राष्ट्रपति अयूब का मुख्य आधार है जिसके कारण अप्रत्यक्ष चुनाव के प्रकार को महत्त्व दिया गया है। वास्तव में इस प्रणाली के द्वारा घूसखोरी और भ्रष्टाचार के अवसरों में वृद्धि हो गई है और निर्वाचकगण सदस्यों का सरलता से मन लुभाया जा सकता है, क्योंकि वर्तमान राजनीतिक नैतिकता की दशाओं के कारण वे आसानी से इस प्रकार के लोभों में आ जाते है। आगे यह भी है कि अरस्तू (Aristotle) के अनुसार कानून में आवेश-रहित तर्क होना चाहिए। इसका यह अर्थ है कि जिन लोगों को विधि-निर्माण का कर्तव्य सौंपा गया है उन्हें उतावले, शीघ्रता वाले और कुविचारित व्यवस्थापन से बचना चाहिए। व्यवस्थापन के लिए उचित मात्रा में सावधानी और चिन्तन दो पूर्वाकांक्षित वस्तुएं है, क्योंकि आवेश कानून के निर्माण में भयावह वस्तु है। द्वितीयतः, क्योंकि कानून ने सब को बराबर ही प्रभावित करना है, यह आवश्यक है कि विधानमण्डल एक प्रतिनिधि निकाय हो जिसमें विविध हितों को रखने वाले लोगों का प्रतिनिधित्व हो सके ताकि जनता के हर भाग की राय की सहमति प्राप्त हो सके। दोनों उद्देश्य दो सदनों में गठित विधानमण्डल द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं जिसमे

प्रतिनिधि सदन के लिए प्रतिनिधियों के चुनाव प्रत्यक्ष अर्थात सीधे तरीके से किए जाये। द्वितीय सदन द्वारा विभिन्न वर्गों और हितो को सरलता से प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। राष्ट्रीय सभा इन दोनों उद्देश्यों मे से किसी एक की भी पूर्ति नही करती।

राष्ट्रीय सभा, वस्तुत, एक विधायी निकाय है। विधायी कृत्य दो प्रकार का होता है--विधि-निर्माण तथा विमर्श। राष्ट्रीय सभा का विधान-निर्मातृ कृत्य असख्य सीमाओं द्वारा बाध दिया गया है और उसके विमर्शी कृत्यो के परिणाम भी महत्त्वपूर्ण नही है। वास्तव मे राष्ट्रपति ही राष्ट्रीय सभा को नियन्त्रित करता है। सामान्य समयों तथा आपात काल, दोनों मे राष्ट्रपति की विधायी शक्तिया राष्ट्रीय सभा की विधि-निर्मातृ शक्तियों को ग्रस्त कर लेती है। सविधान द्वारा राष्ट्रपति को यह शक्ति प्राप्त है कि यह राष्ट्रीय सभा द्वारा पारित किसी विधेयक को अपनी स्वीकृति न दे, अथवा वह उसको पुनर्विचार के लिए सभा को लौटा दे, अथवा अपने सन्देश द्वारा सभा से कुछ एक संशोधनों पर विचार करने के लिए प्रार्थना करे। राष्ट्रपति के पास सभा को विघटित करने की भी शक्ति है अथवा वह, राष्ट्रपति और राष्ट्रीय सभा के बीच सघर्ष उत्पन्न होने पर उस मामले को निर्वाचक-गण (Electoral College) के पास जनमत-संग्रह के लिए भी भेज सकता है। निर्वाचक-गण राष्ट्रपति का चुनाव करता है, साथ ही वह राष्ट्रीय सभा के सदस्यों को भी चुनता है और 'बँधे हुए लोकतन्त्र' की प्रणाली के अधीन उनके निर्णय के बारे में सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है।

राष्ट्रपति को कुछ विधायी शक्तिया भी सौंपी गई है जिनका प्रयोग वह उस समय करता है जब राष्ट्रीय सभा का सत्र चालू नही होता। जब सभा का सत्र नही हो रहा होता अथवा वह विघटित कर दी जाती है तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति को यह शक्ति प्राप्त है कि वह अध्यादेशों का प्रख्यापन कर सके। उन अध्यादेशों का प्रभाव राष्ट्रीय सभा द्वारा पारित कानूनों के समान ही होता है। अध्यादेश के विषय में यह आवश्यक है कि जब सभा दुबारा बुलाई जाती है तो वह उसके सम्मुख रखा जावे और यदि सभा उसका अनुमोदन कर दे तो वह केन्द्रीय विधानमण्डल का एक कानून बन जाता है। यदि सभा उसका अनुमोदन नहीं करती तो सभा की प्रथम बैठक की तिथि से ६ सप्ताह पश्चात् अथवा उसके प्रख्यापन के ६ मास पश्चात्, इन दोनों में से जो पूर्व हो, वह अध्यादेश प्रभावी नही रहता।

इसके बाद, आपात काल के दौरान में भी राष्ट्रपति को विधायी शक्तियों से सुसज्जित किया गया है। जहां तक आपात-काल की घोषणा का सम्बन्ध है वह तो राष्ट्रपति का ही एकमात्र अपवर्जी विशेषाधिकार है और राष्ट्रीय सभा किसी भी अवस्था में बीच मे नही पड़ती और राष्ट्रपति को केवल सभा की सूचना के लिए ही उस घोषणा को सभा की मेज पर रखना पड़ता है। आपात काल के मध्य मे जब सभा का सत्र भी चल रहा हो राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। ये अध्यादेश आपात काल के समाप्त होने के साथ ही समाप्त होते हैं, बशर्ते कि वे राष्ट्रीय सभा के द्वारा अनुमोदित न कर दिए गए हों अथवा स्वयं राष्ट्रपति द्वारा पहले ही समाप्त न कर दिए गए हों। ये अध्यादेश राष्ट्र के समस्त राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन को

अन्तर्निहित कर सकते है, यहा तक कि ये विधि-निर्माण के सिद्धान्तों में समाविष्ट अधिकारो का भी उल्लघन कर लेते है क्योकि वे सविधान द्वारा प्रत्याभूत नही होते और वाद-योग्य नही माने जाते। इसके अतिरिक्त सभा के सदस्य राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त किए बिना किसी विधेयक को अथवा ऐसे किसी विधेयक के सशोधन को जो निवारक निरोध का विधान करता हो अथवा उससे सम्बद्ध हो, पुर.स्थापित नही कर सकते।

उत्तरदायित्व तथा नियन्त्रण साथ-साथ ही रहते है और सरकार के ऊपर विधायी नियन्त्रण का अर्थ सदा कोष के नियन्त्रण में निकलता है। राष्ट्रीय सभा सरकार को नियन्त्रित नही करती। वास्तव मे स्थिति इससे कुछ विपरीत है क्योकि सरकार के नियन्त्रण मे ही राष्ट्रीय सभा रहती है। राष्ट्रपति की मन्त्रि-परिषद् राष्ट्रीय सभा के प्रति उत्तरदायी नही है। सविधान की शर्तों के अनुसार मन्त्रि-पद सभा की सदस्यता के असगत है। हा, इसमे कोई सन्देह नही कि मन्त्रियो को राष्ट्रीय सभा मे बोलने का अधिकार है, वे विधेयक पुर स्थापित कर सकते है, सरकार की नीतियो का समर्थन करते है और सदस्यो द्वारा पूछे गए प्रश्नो तथा पूरक प्रश्नों का उत्तर देते है। सदस्यो का यह अधिकार है कि वे स्थगन-प्रस्तावो, कष्टो के निवारण के लिए संकल्पों और यहा तक कि सरकार विषयक निन्दा-प्रस्तावो को प्रस्तुत कर सके। परन्तु वे सरकार को पाठ नही पढा सकते। निर्णायक मामलों मे भी सरकार की हार का अर्थ सरकार द्वारा पद-त्याग नही होता। राष्ट्रपति का पदावधि काल कैलेण्डर (पचाग) के साथ चलता है बशर्ते वह महाभियोग (impeachment) द्वारा अथवा किसी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक अशक्तता द्वारा पद-च्युत न कर दिया जाय। मन्त्रिगण केवल राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी है और उसकी प्रसन्नता के बीच ही अपने पद पर बने रहते हैं। सविधान के अनुसार उनके द्वारा ही राष्ट्रपति की मन्त्रि-परिषद् का निर्माण होता है।

किसी भी विधानमण्डल का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, राष्ट्रीय वित्त-साधनों का नियन्त्रण तथा विनियमन होता है। पाकिस्तान ने धन के मामलों मे सभा के कार्य को कई तरह से सीमित कर दिया है। सभा में मतदान किसी भी प्रकार का हो, "सरकार को प्रत्येक वित्तीय वर्ष मे कम से कम गत वर्ष जितना धन प्राप्त होना सुनिश्चित है और वह विश्वास से भविष्य के लिए योजना भी बना सकती है जब एक बार किसी दीर्घकालीन परियोजना को स्वीकृति प्राप्त हो जाती है।" नवीन व्यय के सम्बन्ध में सभा का अननुकूल मतदान, जिसके द्वारा अनुदानों की मागों को अस्वीकृत कर दिया जाता है, सरकार को पद-च्युत नही कर सकता। वर्तमान में पाकिस्तान मे द्विसदनात्मक विधानमण्डल प्रणाली से युक्त ससदीय सस्थाओं की स्थापना के विषय मे होने वाला आन्दोलन प्रचारित किया जा रहा है और मुख्य विपक्षी दलों ने इस बात के लिए आपस मे गठबन्धन भी कर लिया है। परन्तु वे अपने प्रयत्नों मे सफल हो सकेंगे या नही यह केवल अनुमान का ही विषय है। वर्तमान राष्ट्रीय सभा में विपक्षी तथा स्वतन्त्र सदस्यों की कुल संख्या २० ही है।

अध्याय ६

सर्वोच्च न्यायालय
(THE SUPREME COURT)

न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा अर्हताएँ (Appointment and Qualifications of Judges)—पाकिस्तान की न्यायपालिका के शिखर पर पाकिस्तान का सर्वोच्च न्यायालय अर्थात् उच्चतम न्यायालय स्थित है। इसमे एक मुख्य न्यायाधीश और उतने न्यायाधीश होते है जिनकी सख्या कानून द्वारा निश्चित की जाती है, अथवा जब तक कानून द्वारा उसका निर्धारण नही किया जाता वह राष्ट्रपति द्वारा निश्चित की जाती है। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है जबकि अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करने के बाद की जाती है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के लिए पाकिस्तान का नागरिक होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उसे या तो ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसने कम से कम पाच वर्ष तक पाकिस्तान के किसी उच्च न्यायालय (High Court) में न्यायाधीश के रूप मे काम किया हो अथवा जो पाकिस्तान के उच्च न्यायालय मे १५ वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) अथवा वकील (Pleader) के रूप मे काम करता रहा हो। मुख्य न्यायाधीश को अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राष्ट्रपति के सम्मुख विहित रूप मे शपथ उठानी पडती है। न्यायाधीश अपने पद की शपथ मुख्य न्यायाधीश के सम्मुख उठाते है। सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश जिसमे मुख्य न्यायाधीश भी सम्मिलित है ६५ वर्ष पर्यन्त अपने पद पर बना रहता है जब तक कि वह इससे पूर्व त्याग-पत्र न दे डाले अथवा सविधान के अनुसार पद-च्युत न किया जावे। यदि मुख्य न्यायाधीश का स्थान रिक्त हो जाता है, अथवा वह अनुपस्थित होता है, अथवा बीमारी के कारण या किसी अन्य कारण से वह अपने कृत्य निबाहने में असमर्थ हो तो राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के किसी अन्य न्यायाधीश को उन दिनों के लिए कार्य करने के लिये नियुक्त कर सकता है। किसी न्यायाधीश के सम्बन्ध मे उपर्युक्त स्थिति उत्पन्न होने पर राष्ट्रपति किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को, जो सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनने की अर्हताएं रखता है, तब तक अस्थायी तौर पर कार्य करने के लिए नियुक्त कर सकता है जब तक रिक्त स्थान स्थायी तौर पर भर नही दिया जाता अथवा पुराना व्यक्ति अपने कार्य पर लौट नही आता।

सविधान के तदर्थ (*ad hoc*) न्यायाधीशों की नियुक्ति का भी विधान किया हुआ है। यदि किसी समय सर्वोच्च न्यायालय, गणपूर्ति (quorum) के अभाव में अथवा किसी अन्य कारण से, अपनी बैठकें नही कर सकता और उस समय अस्थायी रूप से न्यायाधीशों की सख्या मे वृद्धि करना लाभप्रद प्रतीत होता हो, तो सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश, राष्ट्रपति के अनुमोदन और सम्बद्ध उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की सहमति से, उस उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को

अथवा प्रान्तीय विधानमण्डल के पास ऐसा करने की शक्ति नहीं है, अथवा इस आधार पर भी ललकारा नहीं जा सकता कि विधानमण्डल ने इस कानून को विधि-निर्माण के उन सिद्धान्तों के विपरीत बनाया है, जिन सिद्धान्तों को मौलिक अधिकारों में समाविष्ट किया जाता है। "परिणामस्वरूप न्यायालयों का कार्य अब कानून की व्याख्या करना और कानून के अन्तर्गत अधिकारों को प्रवर्तित करना ही रह गया है, वे विधायी कार्य को सीमित नहीं कर सकते अथवा वे कार्यपालिका को विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत की गई नीतियों को लागू करने से रोक नहीं सकते।"

प्रान्तीय शासन

(PROVINCIAL GOVERNMENT)

पाकिस्तान के प्रान्त (Provinces of Pakistan)—वर्तमान मे पूर्वी पाकिस्तान तथा पश्चिमी पाकिस्तान नामक पाकिस्तान के दो प्रान्त है। १९४७ में पाकिस्तान की स्थापना के तुरन्त पश्चात् इसमे शासन के १८ एकक थे जो अपने स्वरूप तथा प्रशासन मे अनेक प्रकार की विजातीयता लिये हुए थे। सर्वप्रथम चार गवर्नरी प्रान्त थे, पूर्वी बगाल (East Bengal), पश्चिमी पंजाब (West Punjab), उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त (North-West Frontier Provinces) और सिन्ध (Sind)। इन समस्त प्रान्तो की अपनी-अपनी विधान सभाए थी और ये प्रान्तीय स्वायत्तता (Provincial Autonomy) का उपभोग करते थे। बलूचिस्तान (Baluchistan) का प्रशासन मुख्य आयुक्त (Chief Commissioner) द्वारा किया जाता था जो सीधे ही केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी था। इसके अतिरिक्त चार रजवाडे (Princely States) भी थे जो रियासतें शीघ्र ही बलूचिस्तान राज्य सघ (Baluchistan State Union) में सम्मिलित कर ली गई थी। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त मे भी चार रियासते थी। इसके अलावा बहावलपुर (Bahawalpur) तथा खैरपुर (Khairpur) नामक दो कुछ बडी और अधिक विकसित रियासतें भी थी। अन्तत:, केन्द्रीय सरकार के नाम पर प्रान्तीय सरकारों द्वारा प्रशासित विस्तृत वन-जातीय प्रदेश (tribal areas) भी थे। १९४८ मे कराची (Karachi) नाम का जिला सघीय राजधानी बनने के कारण सिंध (Sind) से पृथक् कर लिया गया था।

इस प्रकार, यह स्पष्ट था कि केवल पूर्वी बगाल अकेला प्रान्त था, अत:, पश्चिमी पाकिस्तान मे ही किसी प्रकार की सजातीयता लाने के लिए कुछ एक प्रकार के तुरन्त परिवर्तन लाने आवश्यक थे। इस विषय मे परस्पर विरोधी रायें भी थी। पश्चिमी पाकिस्तान के छोटे एककों में सत्ताधारी तत्त्व अपनी पहिचान खोने में अनिच्छुक थे जबकि अन्य यह डर खाते थे कि किसी प्रकार के सविलयन (merger) से अथवा सघ निर्माण से 'पजाब को प्राधान्य मिलने के कारण स्थानीय हितों तथा परम्पराओं को धक्का पहुचेगा।' इस दिशा में सिन्ध तथा उ०-प० सीमाप्रान्त अधिक वाचिक थे। यह प्रश्न विवादास्पद बन चुका था कि प्रथम सविधान सभा (First Constituent Assembly) इसका हल ढूंढने में असमर्थ रही। इस सभा का विघटन होने के बाद सरकार ने प्रशासनिक आदेश द्वारा पश्चिमी पाकिस्तान को सम्मिलित करने का प्रस्ताव कर डाला था। विघटन का प्रश्न न्यायालय में ले जाया गया था और ऐसा करने से पश्चिमी पाकिस्तान के प्रश्न के अन्तिम निर्णय का मार्ग रुक गया था। यह उपाय तब द्वितीय सविधान सभा के पास ले जाया गया।

१४ अक्टूबर, १९५५ को पश्चिमी पाकिस्तान एक एकल प्रान्त बन गया। १९५९ में कराची से राजधानी को रावलपिण्डी ले जाने के निर्णय तक कराची की स्थिति भी विवादास्पद बनी रही थी। अन्त में जाकर, १ जुलाई, १९६१ को कराची को भी पश्चिमी पाकिस्तान में मिला लिया गया।

१९५६ के संवैधानिक समझौते का आधार पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान को बराबरी का दर्जा देने में था और यह बात वर्तमान ढांचे के नीचे अभी भी बनी हुई है। किन्तु विविध विरोधी राजनीतिक दलों में एक गहरी नाराजी बनी हुई है जो इस वर्तमान ढांचे के विरुद्ध और वे सब पश्चिमी पाकिस्तान का विखण्डन चाहते हैं। इस दिशा में सब से हाल की प्रतिरोध की आवाज जेड० ए० भुट्टो (Z A. Bhutto) ने उठी है जो पाकिस्तान का भूतपूर्व विदेश-मन्त्री रह चुका है और जिसने १९६७ के दिसम्बर के प्रारम्भ में जनता दल (People's Party) नामक एक दल की स्थापना की है। मि० भुट्टो का सुझाव है कि सम्बद्ध लोगों को इस प्रश्न को पुनः उठाने की आज्ञा मिलनी चाहिए। भुट्टो आशा करता है कि सिन्ध, उ०-प० सीमाप्रान्त, और बलूचिस्तान के भूतपूर्व प्रान्तों में लागू की गई योजना के प्रति जनता का सन्तोष उसकी सहायता करेगा जबकि पहला पश्चिमी पंजाब वर्तमान एकक के स्वरूप को बनाए रखना चाहता है। इसके अतिरिक्त शेख मुजीबुर्रहमान (Mujib-ur-Rehman) की पूर्वी पाकिस्तान के लिए छह-सूत्री योजना भी है जो पूर्वी पाकिस्तान के लिए अधिक स्वायत्तता की मांग करती है।

प्रान्तों में शासन का ढांचा (Structure of Government in the Provinces)—भारत के समान पाकिस्तान का भी समग्र देश के लिए एक अकेला संविधान है। यद्यपि पाकिस्तान संघीय आधार पर संघटित किया गया है तथापि संविधान संघीय होने का कोई बहाना नहीं करता। केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों के बीच शक्तियों का विभाजन ठीक उस प्रकार से नहीं जैसा कि संघ के लिए आवश्यक होता है। केवल एक ही केन्द्रीय सूची है और संविधान की तृतीय अनुसूची में आई हुई वह भी बड़ी छोटी है। इस सूची में प्रतिरक्षा, वैदेशिक कार्य, वैदेशिक व्यापार, राष्ट्रीय वित्त तथा आर्थिक योजना, संचार-व्यवस्था, आण्विक शक्ति और गैस और तेल सम्बन्धी विषय रखे गए हैं। अन्य सब विषय जिनकी गणना नहीं की गई है वे प्रान्तों के ऊपर छोड़ दिए गए हैं, परन्तु केन्द्रीय विधानमण्डल को उस अवशिष्ट क्षेत्र में व्यवस्थापन करने की क्षमता प्राप्त है जहां पाकिस्तान के राष्ट्रीय हित, देश की सुरक्षा, पाकिस्तान की आर्थिक तथा वित्तीय स्थिरता, योजना अथवा समन्वय अथवा पाकिस्तान के विभिन्न भागों में किसी मामले में एकरूपता की प्राप्ति के विषय में ऐसी आवश्यकता समझें। संविधान द्वारा प्रान्तीय विधान सभा को यह शक्ति प्रदान की गई है कि केन्द्रीय विधानमण्डल को, प्रस्ताव पारित करके, किसी भी मामले के विषय में जो स्वयं उसके क्षेत्राधिकार में पड़ता है, प्रान्त के लिए कानूनों का निर्माण करने के लिए अधिकृत कर दे। परन्तु इस शक्ति के अनुसार बनाया गया कोई कानून सम्बद्ध प्रान्तीय विधानमण्डल के किसी कानून द्वारा संशोधित किया जा सकता है अथवा समाप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार अवशिष्ट शक्तिया प्रान्तों में ही निहित की गई है। सविधान ने इस बात का भी विधान किया है कि क्या तृतीय अनुसूची मे न गिनाए गए किसी विषय पर कानून बनाने की शक्ति प्रान्तीय विधानमण्डल के पास है या नही इस निर्णय का उत्तरदायित्व स्वय विधानमण्डल पर ही निर्भर रहेगा। किन्तु जब सविधान 'राष्ट्रीय हित' मे जब कभी वह आवश्यक प्रतीत हो, केन्द्रीय विधानमण्डल को कार्यवाही करने के लिए अनुमति दे देता है तब प्रान्तो मे निहित अवशिष्ट शक्तिया नगण्य बन जाती है। यह कहना अधिक उचित होगा कि केन्द्रीय सरकार 'आपात-काल' शक्तियों के आवाहन की आवश्यकता के बिना ही प्रान्तीय क्षेत्राधिकार पर आक्रमण कर सकती है। अन्त में, जब कोई प्रान्तीय कानून केन्द्रीय कानून का विरोधी हो तो उस दशा में द्वितीय उक्त को ही मान्यता प्राप्त होती है और प्रान्तीय कानून उस सीमा तक जहां तक वह असंगत होता है अवैध माना जाता है।

प्रान्तीय कार्यपालिका (Provincial Executive)—किसी भी प्रान्त की कार्यपालिका सत्ता गवर्नर मे निहित की गई है जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा अनिश्चित अवधि के लिए की जाती है और जो उसकी आज्ञा के अधीन रहता है। कोई भी व्यक्ति किसी प्रान्त का गवर्नर नियुक्त नही किया जा सकता जब तक कि उसके पास वे अर्हताए नही जिनके आधार पर वह राष्ट्रीय सभा का सदस्य चुना जा सकता है। यदि कोई गवर्नर विदेश चला जाता है, अथवा बीमारी या किसी अन्य कारण से अपने कर्त्तव्यों को करने मे असमर्थ है तो राष्ट्रपति उसके स्थान पर कार्यकारी गवर्नर नियुक्त करेगा और उस स्थिति मे उसे अपने पद के कर्त्तव्यों को राष्ट्रपति के निदेशों के अनुसार करना पडेगा।

गवर्नर अपने मे निहित कार्यपालिका सत्ता का प्रयोग या तो सीधे स्वयं करता है या संविधान, कानून तथा राष्ट्रपति के निदेशानुसार अपने अधीनस्थ अधिकारियो के द्वारा उसको प्रयोग मे लाता है। वह उस तरीके का उल्लेख कर सकता है, जिसके द्वारा आज्ञाए तथा अन्य सलेख, जो गवर्नर मे निहित सत्ता अथवा शक्ति के अनुसार बनाये गये है और निष्पादित हुए है, अभिव्यक्त तथा प्रमाणीकृत किए जाएगे। वह प्रान्तीय शासन के कार्य-व्यापार के विभाजन तथा उसके सम्पादन को विनियमित कर सकता है। अपने कृत्यों को करने के लिए गवर्नर, राष्ट्रपति की महमति से मन्त्रियो की नियुक्ति कर सकता है जिनके द्वारा गवर्नर की मन्त्रि-परिषद् बनती होती है। इन मन्त्रियों के पास प्रान्तीय सभा का सदस्य चुने जाने की अर्हताएं होनी चाहिएं, किन्तु उन्हे उसका सदस्य होना आवश्यक नही होता। अतः, मन्त्रि-पद, केन्द्र के समान ही, प्रान्तीय विधान सभा की सदस्यता के साथ विसगत होता है। इन मन्त्रियों के पास सभा मे बैठने तथा उसकी कार्यवाही मे भाग लेने का अधिकार होता है, किन्तु वे मतदान के अधिकार से वंचित रहते है। न ही वे उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। गवर्नर की मन्त्रि-परिषद् वास्तव मे एक प्रकार की निष्पादन-परिषद् (Executive Council) होती है जो गवर्नर द्वारा, राष्ट्रपति से सलाह करके, नियुक्त की जाती है अथवा पद-च्युत की जाती है। मन्त्रियों के अतिरिक्त गवर्नर प्रान्तीय विधान सभा के सदस्यों मे से ससदीय सचिवों की नियुक्ति कर सकता है, पर इनकी संख्या गवर्नर द्वारा स्थापित सरकार के

से ३० दिन के अन्दर संकल्प (resolution) के रूप में अपना निर्णय देना आवश्यक है। यदि उन दिनो राष्ट्रीय सभा का सत्र न हो रहा हो तो राष्ट्रपति का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह सभा का सत्र आहूत करे ताकि उल्लिखित अवधि के अन्दर राष्ट्रीय सभा अपना निर्णय दे सके। यदि राष्ट्रपति ऐसा न करे तो तब स्पीकर अर्थात् अध्यक्ष ही सभा का सत्र आहूत करेगा। जैसा कि ऊपर कहा ही जा चुका है कि यदि राष्ट्रीय सभा विवाद के विषय मे गवर्नर के पक्ष मे निर्णय करे तो गवर्नर राष्ट्रपति की अनुमति से प्रान्तीय सभा का विघटन अर्थात् विखण्डन कर सकता है।

गवर्नर प्रान्तीय विधान सभा को सम्बोधित कर सकता है और उसके लिए सन्देश भी भेज सकता है। गवर्नर की परिषद् के मन्त्री तथा महान्यायवादी यह अधिकार रखते हैं कि सभा मे बैठ सकें और उसकी बैठक में अथवा उसकी किसी समिति की बैठक में होने वाली कार्यवाही मे भाग ले सकें, परन्तु उन्हे मतदान करने का अधिकार नही होता। निवारक निरोध का विधान करने वाला अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाला कोई विधेयक अथवा किसी ऐसे विधेयक का कोई संशोधन तब तक प्रान्तीय सभा मे न तो पुरःस्थापित किया जा सकता है अथवा प्रस्तुत किया जा सकता है जब तक उसके विषय में गवर्नर की पूर्व-स्वीकृति न प्राप्त हो जाये।

जब प्रान्तीय सभा कोई विधेयक पारित कर देती है तो वह गवर्नर की स्वीकृति के लिए उसके पास भेजा जाता है। गवर्नर के लिए ३० दिन के अन्दर उसे अपनी स्वीकृति प्रदान करना आवश्यक है, अथवा वह उस पर अपनी स्वीकृति रोक सकता है अथवा वह उसे पुनर्विचारार्थ सभा को लौटा सकता है। यदि गवर्नर इन तीनो कार्यों में से कोई एक भी कार्य नही करता तो विधेयक स्वतः कानून बन जाता है। यदि गवर्नर उसे अपनी स्वीकृति प्रदान नही करता तो सभा उस पर दुबारा विचार करने के लिए सक्षम है। यदि वह कुल सदस्यों की दो-तिहाई सख्या द्वारा फिर पारित कर दिया जाता है तो उसे गवर्नर की स्वीकृति के लिए उसके पास भेजा जाता है। यदि गवर्नर सभा के पुनर्विचारार्थ उसे सभा को लौटा देता है और सभा उसे गवर्नर द्वारा वाञ्छित तथा निर्दिष्ट सशोधनों के साथ या उसके बिना बहुमत द्वारा फिर पास कर देती है तो वह फिर गवर्नर के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। इस स्थिति में उसे दस दिन के अन्दर अपनी स्वीकृति देनी होती है अथवा राष्ट्रपति से उस विषय में राष्ट्रीय सभा का निर्णय प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करनी पड़ती है। यदि उन दस दिनो में वह दोनों में से एक कार्य भी नही करता तो विधेयक पर गवर्नर की स्वीकृति मानो वह दे दी गई है ऐसी मान ली जाती है। यदि राष्ट्रीय सभा विधेयक के पक्ष मे सकल्प पारित कर दे तो जिस दिन से वह राष्ट्रीय सभा द्वारा पारित किया गया है उसी दिन से ही यह मान लिया जाता है कि गवर्नर ने भी विधेयक को स्वीकृति दे डाली है।

जब प्रान्तीय सभा का सत्र नहीं हो रहा होता अथवा वह विघटित कर दी गई होती है तो उस अवधि में गवर्नर के पास विधायी शक्तिया भी होती हैं। यदि गवर्नर को इस बात का समाधान हो जाय कि इस प्रकार की परिस्थितिया हैं जिनमें तुरन्त व्यवस्थापन किया जाना आवश्यक है तो वह एक अध्यादेश जारी कर सकता है जिसका प्रभाव कानून के समान ही होता है। इस प्रकार प्रख्यापित किया गया अध्यादेश

जितनी जल्दी से जल्दी व्यावहारिक हो प्रान्तीय विधान सभा के सम्मुख अवश्य रखा जाता है। यदि सभा विहित अवधि की समाप्ति से पूर्व ही अपने संकल्प द्वारा अध्यादेश का अनुमोदन कर दे तो वह प्रान्तीय सभा का कानून बन जाता है। यह विहित अवधि सभा की पहली बैठक से लेकर ४२ दिन है और अध्यादेश के प्रख्यापन की तिथि से १८० दिन तक होती है। यदि सभा अध्यादेश को अस्वीकृत कर दे, अथवा वह उसका अनुमोदन नहीं करती और अध्यादेश विहित अवधि की समाप्ति से पूर्व गवर्नर द्वारा समाप्त नहीं कर दिया जाता तो विहित अवधि की समाप्ति होने पर उसको समाप्त हुआ समझ लिया जाता है।

विधान सभा की वित्तीय शक्तियां राष्ट्रीय सभा की शक्तियों के समान ही हैं, अपवाद यही है कि उनका सम्बन्ध केवल प्रान्तीय क्षेत्राधिकार से ही होता है। संविधान का अनुच्छेद ८९ विधान करता है कि अनुच्छेद ४० से लेकर अनुच्छेद ४७ तक के उपबन्ध प्रान्त के लिए भी लागू होंगे और उससे सम्बन्ध रखेंगे। केवल यही अन्तर होगा कि 'राष्ट्रपति' के नाम के स्थान पर 'गवर्नर' का नाम होगा और 'राष्ट्रीय सभा' के स्थान पर 'प्रान्तीय विधान-सभा' का नाम पढ़ा जायगा।

उच्च न्यायालय (High Courts)—प्रान्तीय न्यायपालिका के शिखर पर उच्च न्यायालय स्थित है और ऐसा विधान किया गया है कि प्रत्येक प्रान्त के पास अपना उच्च न्यायालय होगा। उच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश और उतने न्यायाधीश होंगे जिनकी संख्या कानून द्वारा निर्धारित की जायगी अथवा राष्ट्रपति द्वारा निश्चित होगी। उच्च न्यायालय के लिए न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, प्रान्त के गवर्नर और सम्बद्ध उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करने के बाद होती है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के लिए पाकिस्तान का नागरिक होना आवश्यक है और उसके पास उच्च न्यायालय में कम से कम १० वर्ष तक वकालत करने का अनुभव होना चाहिए, अथवा उसे पाकिस्तान में कम से कम तीन वर्ष का जिला न्यायाधीश के रूप में काम करने का अथवा उसके कृत्यों को करने का अनुभव होना चाहिए, अथवा वह पाकिस्तान में कम से कम दस वर्षों तक किसी न्यायिक पद पर कार्य करता रहा हो। न्यायाधीश ६० वर्ष की आयु तक ही अपने पद पर बना रहता है पर वह इससे पूर्व भी त्याग-पत्र दे सकता है। संविधान के अनुसार न्यायाधीश को भी पद-च्युत किया जा सकता है।

पूर्वी पाकिस्तान के उच्च न्यायालय का स्थान ढाका (Dacca) है। परन्तु मुख्य न्यायाधीश गवर्नर के अनुमोदन से उच्च न्यायालय की बैठक किसी और स्थान में भी निश्चित कर सकता है। पश्चिमी पाकिस्तान का उच्च न्यायालय लाहौर (Lahore) में है। इसका स्थायी स्थान कराची (Karachi) में भी है और पेशावर (Peshawar) में भी। पाकिस्तान के राष्ट्रपति की पूर्व-स्वीकृति प्राप्त किए बिना पश्चिमी पाकिस्तान के उच्च न्यायालय का न्यायाधीश न्यायालय के एक स्थायी स्थान से न्यायालय के दूसरे स्थायी स्थान में स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता। उच्च न्यायालय के उस न्यायाधीश को जिसने न्यायालय के स्थायी स्थान पर पांच वर्ष से कम समय के लिए कार्य किया हो बिना उसकी सहमति के न्यायालय अन्य स्थायी स्थान पर स्थानान्तरित नहीं किया जा

सकता बशर्ते कि स्थानान्तरण इस बात के लिए आवश्यक हो कि ऐसा करने से न्यायालय का काम उचित प्रकार से किया जाना सुनिश्चित हो जायगा।

अनुच्छेद ९८ उच्च न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से सम्बन्ध रखता है। इस बात का विधान किया गया है कि उच्च न्यायालय का वह क्षेत्राधिकार होगा जो उसको संविधान अथवा कानून द्वारा प्रदान किया जायगा। १९५६ के संविधान द्वारा बन्दी प्रत्यक्षीकरण (habeas corpus), अधिकार पृच्छा (quo warranto), परमादेश या परमलेख (mandamus) और प्रतिषेध (prohibition) के आदेश-लेख (writs) निर्गत करने के क्षेत्राधिकार के स्थान पर आदेश देने की शक्ति दे दी गई है। इन आदेशो का प्रभाव वही प्रतीत होता है जो विविध प्रकार के आदेश लेखों का था जिनका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं, परन्तु "क्योकि परम्परागत नामों का प्रयोग नही किया जाता है अतएव सामान्य विधि के क्षेत्र से बचा गया है।" यदि किसी उच्च न्यायालय को यह समाधान हो जाय कि विधि द्वारा कोई अन्य उपाय विहित नही किया गया है तो वह उस व्यक्ति को जो प्रान्त में केन्द्र से सम्बद्ध मामलों के बारे मे कृत्य कर रहा है, प्रान्तीय अथवा किसी स्थानीय अधिकारी को उस काम को करने से रोक सकता है जिसकी कि आज्ञा कानून द्वारा नही दी गई है, अथवा यह घोषित कर सकता है कि कोई किया हुआ कार्य, अथवा की गई कार्यवाही बिना वैध अधिकार के की गई है और अतएव उसका कोई भी वैध प्रभाव नही है। उच्च न्यायालय इस बात का आदेश दे सकता है कि कोई व्यक्ति जिसे हिरासत मे लिया गया है उसे उसके सम्मुख प्रस्तुत किया जाये ताकि यह सिद्ध हो सके कि उसे बिना वैध अधिकार के अथवा अवैध तरीके से हिरासत मे नही रखा जा रहा है। उच्च न्यायालय सार्वजनिक पद पर आरूढ़ किसी व्यक्ति को यह सिद्ध करने के लिए कह सकता है कि कानून के किस अधिकार के अधीन वह उस पद पर बने रहने के लिए दावा कर सकता है। किन्तु ऐसा कोई आदेश उस व्यक्ति की सेवा की शर्तो के लिए नही निकाला जा सकता जो पाकिस्तान की प्रतिरक्षा सेवा में कार्य करता हो अथवा प्रान्तीय सभा का सदस्य होने के नाते उसके विरुद्ध की गई किसी कार्यवाही के विषय मे भी उच्च न्यायालय द्वारा ऐसा नही किया जा सकता। यही बात पाकिस्तान की सेवा मे नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति की सेवा-शर्तों के विषय मे भी लागू होती है। इन उपबन्धों का उद्देश्य तथा परिणाम प्रशासनिक मामलों मे न्यायालयों के कार्यो को सीमित करना है और शासन के आवश्यक क्रिया-कलापों को आदेश लेख याचिकाओ की बाधाओं से बचाना है।

उच्च न्यायालयों के निर्णय जहा तक वे कानून के प्रश्नों का निर्णय करते है, अथवा कानून के सिद्धान्तों पर आधारित हैं अथवा उनका प्रतिपादन करते हैं अन्य समस्त अधीन न्यायालयों द्वारा अवश्यंपालनीय होते है। कोई भी उच्च न्यायालय, सम्बद्ध प्रान्त के गवर्नर की स्वीकृति से, उच्च न्यायालय के अथवा अपने अधीन न्यायालय के व्यवहार तथा उसकी प्रक्रिया को विनियमित करने के लिए नियम बना सकता है। उच्च न्यायालय अपने अवरिक अर्थात् अधीनस्थ अन्य समस्त न्यायालयों को अपने पर्यवेक्षण तथा नियन्त्रण मे रखता है।

उपसंहार

जनरल अयूब की सफलताएँ—सन् १९६२ में पाकिस्तान का नया संविधान जारी किया गया। इससे जनरल अयूब के अपने देश में अधिकार और विदेश में प्रभाव बहुत बढ़ गए। विदेशी मामलों मे पाकिस्तान अब संयुक्त राज्य अमेरिका का पिछलग्गू न रहा, उसने अपनी स्वतन्त्र, तटस्थ नही, नीति अपनायी। उसने चीन और रूस के साथ सम्बन्ध स्थापित किए जो समय के गुजरने के साथ-साथ मजबूत होते गए। पाकिस्तान को पश्चिमी तथा साम्यवादी दोनो देशो से आर्थिक सहायता मिलने लगी। सीटो (SEATO—South-East Asia Treaty Organisation अर्थात् दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि संगठन) और सैण्टो (CENTO—Central Treaty Organisation अर्थात् केन्द्रीय सन्धि सगठन) में पाकिस्तान का योगदान नाममात्र का रह गया।

७ अक्टूबर, १९५८ को जब जनरल अयूब ने पाकिस्तान के शासन की बागडोर सँभाली तो अपने देश का आर्थिक पुनर्निर्माण उसका सबसे बड़ा लक्ष्य हो गया। दो सप्ताह के अन्दर उसने एक भूमि सुधार आयोग की स्थापना की। इस आयोग ने जनवरी, १९५९ में अपना प्रतिवेदन दिया जिसे जनरल अयूब ने स्वीकार कर लिया। इस आयोग की सिफारिशों के अनुसार पश्चिमी पाकिस्तान के ६,००० जमीदारो को ५०० एकड से अधिक सिंचित और १,००० एकड से अधिक अ-सिंचित भूमि-क्षेत्र का परित्याग करना पड़ा। उन्हें लगभग ६० लाख एकड भूमि अपने पास रखने दी गई। २० लाख एकड अतिरिक्त भूमि डेढ़ लाख काश्तकारो में बाट दी गई। इससे ५ लाख लोगों को लाभ हुआ। काश्तकारी पद्धति में सुधार किया गया। टुकडों मे बँटी हुई लगभग ९० लाख एकड जोतों की चकबन्दी की गई। पूर्वी पाकिस्तान की विशेष परिस्थितियो को दृष्टि मे रखते हुए भूमि सुधार सम्बन्धी उपाय वहां इतने वडे पैमाने पर नही अपनाये गए। परन्तु सामान्यतः पाकिस्तान के खेती सम्बन्धी ढाचे में आधारभूत परिवर्तन किया गया।

पाकिस्तान के आर्थिक पुनर्निर्माण की दृष्टि से अयूब बड़े पैमाने पर आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन करना चाहते थे। उनके नेतृत्व में देश की व्यवस्था और स्थिरता के फलस्वरूप आर्थिक प्रगति का नया पथ प्रशस्त हुआ। अयूब-शासन ने आर्थिक आयोजन और योजना-निर्माताओं द्वारा निर्धारित लक्ष्यो की प्राप्ति पर बल दिया। इससे पाकिस्तान की आर्थिक दशा मे बहुत सुधार हुआ और आज पाकिस्तान तेजी से प्रगति करते हुए अफ्रीकी-एशियाई राष्ट्रो में से एक है। पाकिस्तान की दूसरी पंचवर्षीय योजना (१९६०–६५) मे इसकी अर्थ-व्यवस्था मे ५ प्रतिशत वार्षिक से अधिक वृद्धि हुई जो विश्व की सर्वोच्च वृद्धि में से एक है और योजना मे निर्धारित १२ प्रतिशत के लक्ष्य के विपरीत इसकी प्रति व्यक्ति आय १४·८ प्रतिशत बढ़ गई। भूमि-सुधारो के फलस्वरूप भूमि का जो सम-वितरण हुआ उससे खेती की उपज को बहुत बढ़ावा मिला। इन भूमि-सुधारो के साथ-साथ कई नई सिंचाई परियोजनाएं शुरू की गईं, जैसे कि मंगला बाध। इन परियोजनाओं के फलस्वरूप सन् १९७० तक पाकिस्तान खाद्य-पदार्थों की दृष्टि से आत्म-निर्भर हो जाएगा। कुछ भी हो, सन् १९६८-६९ के लिए कूती गई खाद्य-पदार्थों की १० लाख टन की घटी सन् १९६९-७० में ५ लाख टन रह जाएगी।

दूसरे सैनिक शासनों के विपरीत, अयूब प्रशासन ने व्यापार और उद्योग के राष्ट्रीयकरण या निजी क्षेत्र को उसके समुचित भाग से वंचित कर निजी क्षेत्र को समाप्त करने का कोई प्रयास नही किया। निस्सन्देह, अयूब ने 'इस्लामिक समाजवाद' की चर्चा की और इस ओर यह भी सकेत किया कि उसकी सरकार की यह दृढ नीति होगी कि वह "कुछ थोडे से लोगो के हाथो मे आय और सम्पत्ति के अत्यधिक केन्द्रण को रोके, सब को आर्थिक उन्नति के अवसर प्रदान करे और निजी उद्योगो को इस प्रकार विनियमित करे जिससे सारे समाज को लाभ हो।" निजी क्षेत्र पर कुछ विनियम और नियन्त्रण लागू किए गए परन्तु अयूब की 'इस्लामिक समाजवाद' की धारणा के अन्तर्गत निजी क्षेत्र को अपनाकर युक्तियुक्त भाग अदा करने से रोकने का कभी प्रयास नही किया गया। 'पाकिस्तान के लोगो को एक उत्तम जीवन-स्तर प्राप्त कराने' के प्रयासों के अन्तर्गत निजी क्षेत्र की सर्जनात्मक शक्ति को प्रोत्साहित किया गया।

परन्तु संविधान-निर्माण के क्षेत्र को छोडकर और किसी क्षेत्र मे जनरल अयूब का प्रभाव इतना अधिक अनुभव नही किया गया। सत्ता ग्रहण करने के दिन ही अयूब ने घोषणा की थी, "हमारा अन्तिम लक्ष्य लोकतन्त्र की पुन.स्थापना है, परन्तु यह लोकतन्त्र उस प्रकार का होगा जिसे जनता समझ सके और असली जामा पहना सके।" २७ अक्टूबर, १९५९ को जारी किए गए बुनियादी लोकतन्त्री आदेश का यही लक्ष्य था। ग्रामीण जनता के, राजनीतिक क्षेत्र मे, जो कि अब तक नगर-वासियों के लिए सुरक्षित था, प्रवेश की दृष्टि से शासन का एक चतुःश्रेणी ढाचा बनाया गया जिसमे संघ, तहसील, जिला और डिवीजन के स्तर पर एक परिषद् का निर्माण किया जाना था। सन् १९५९ की समाप्ति तक, संघीय परिषद् को आधार बनाकर ८०,००० बुनियादी डैमोक्रैट (पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान से बराबर-बराबर सख्या में) चुने गए। शीघ्र ही उन्होंने निर्वाचक मण्डल का रूप ले लिया। फरवरी, १९६० मे इन बुनियादी डैमोक्रेटों ने चुनाव मे भाग लिया और जनरल अयूब को पाकिस्तान का राष्ट्रपति चुना। सन् १९६२ में, जब नया संविधान जारी किया गया, तो एक केन्द्रीय और दो प्रान्तीय विधान सभाओं का चुनाव करने के लिए इन डैमोक्रेटो ने पुनः निर्वाचन मे भाग लिया। राष्ट्रीय विधान सभा और प्रान्तीय विधान सभाओं का चुनाव निर्दलीय आधार पर हुआ और ये तब तक उसी आधार पर जारी रही जब तक उसी वर्ष राजनीतिक दल अधिनियम के अन्तर्गत इस प्रकार के दलों के निर्माण की आज्ञा न दे दी गई।

परन्तु सन् १९६३-६४ से ह्रास के चिन्ह दिखाई देने लगे। जनरल अयूब की राजनीति असफल हो गयी और उसका राजनीतिक प्रभाव शीघ्र क्षीण हो गया। बुनियादी लोकतन्त्र, अप्रत्यक्ष चुनाव की पद्धति और तानाशाही स्वेच्छाचारी शासन के सारे ढाचे की कटु आलोचना की जाने लगी। राजनीतिक गतिविधियों, प्रेस तथा विद्यार्थियों पर प्रतिबन्धों के कारण जनता विक्षोभ से भर उठी। पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान में आर्थिक और प्रशासनिक असमता के प्रश्न ने पूर्वी पाकिस्तान को विरोधी बना दिया और क्षेत्रीय निष्ठाएँ उभरकर सामने आने लगीं। १९६८ के अन्त तक राष्ट्रपति अयूब का प्रभाव लगभग समाप्त हो गया। तथ्य तो यह है कि सारे देश मे, विशेषतः पूर्वी पाकिस्तान में, जहां प्रशासन बिलकुल ठप्प हो गया था, एक खुले विद्रोह की-सी स्थिति

पैदा हो गई। लाहौर में और दूसरे शहरों में जब विद्यार्थियों ने दंगे शुरू किए तो अयूब ने उन्हें कुछ रियायतें दीं परन्तु इससे न तो विद्यार्थियों को और न ही उनके आन्दोलन का समर्थन करने वाले राजनीतिक दलों को सन्तोष हुआ। तब देश के राजनीतिक दलों ने राष्ट्रपति अयूब को समझौता-वार्ता के लिए विवश किया और उसने उनकी संघीय संसदीय पद्धति तथा वयस्क मताधिकार पर आधारित प्रत्यक्ष निर्वाचनों की मांग को स्वीकार कर लिया।

परन्तु इस्लामाबाद में हुए गोलमेज सम्मेलन में कई प्रतिनिधियों ने जो असन्तोष व्यक्त किया, वह इस बात का सूचक था कि ये रियायतें काफी नहीं थीं। कई महत्वपूर्ण विषयों पर, जिनमें पूर्वी पाकिस्तान को स्वायत्तता प्रदान करना, पश्चिमी पाकिस्तान को उसके भाषायी और सांस्कृतिक एककों में बांटना और पश्चिमी पाकिस्तान तथा अधिक जनसंख्या वाले पूर्वी पाकिस्तान में वर्तमान समता में परिवर्तन करना सम्मिलित थे, कोई निर्णय न हो सका। पिछली शताब्दी में अपने शासन-काल में अयूब ने जिन सिद्धान्तों और नीतियों की पैरवी की थी, उनकी छीछालेदर में उसे वस्तुतः बहुत ठेस पहुंची। स्व० जिन्ना के नाम पर अपने देशवासियों से की गई उस 'एकता, विश्वास और अनुशासन' की अपील का जनता पर जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा जिसका नारा जिन्ना ने पाकिस्तान-निर्माण के समय बुलन्द किया था।

संविधान रद्द कर दिया गया—२५ मार्च, १९६९ को फील्ड मार्शल अयूब खान ने राष्ट्र के नाम रेडियो से प्रसारित एक सन्देश में कहा कि राष्ट्रपति के रूप में वह उनका अन्तिम भाषण था। उन्होंने तत्काल ही अपने पद का त्याग कर दिया और सत्ता प्रधान सेनापति जनरल याहिया खान को सौंप दी। ५२-वर्षीय जनरल ने तत्काल सारे देश में मार्शल ला की घोषणा कर दी और सशस्त्र सेना के तीनों भागों की कमान संभाल ली [illegible] अधिकार ग्रहण कर लिये और सेना के स्थल, जल [illegible] लिए नियुक्त किए।[1] घोषणा के अनुसार पाकिस्तान [illegible] रद्द कर दिया गया और यह घोषणा की गई कि राष्ट्रपति, राष्ट्रपति की मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों, प्रान्तों के राज्यपालों तथा उनकी मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों के पद तत्काल समाप्त किए जाते हैं। राष्ट्रीय विधान सभा और दोनों प्रान्तीय विधान सभाएं भंग कर दी गईं। देश के दोनों भाग प्रशासकों के संरक्षण में सौंप दिए गए।

मुख्य मार्शल ला प्रशासक ने मार्शल ला के अन्तर्गत २५ विनियम और ४ आदेश जारी किए। नए आदेशों के अन्तर्गत, पूर्व-स्वीकृति के बिना सार्वजनिक सभाओं तथा प्रदर्शनों के करने और हड़तालों तथा तालाबन्दियों पर रोक लगा दी गई। मार्शल ला में विनियमों या आदेशों का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को विनियमों के अन्तर्गत दण्ड देने की व्यवस्था की गई। मार्शल ला विनियमों या आदेशों के उल्लंघन के कारण किए गए अपराधों की जांच और दण्ड के लिए तथा साधारण कानून के अन्तर्गत किए गए

---

१. इनके नाम हैं: लैफ्टिनेंट-जनरल अब्दुल हमीद खान, वाइस एडमिरल एस० एम० अहसान और एयर-मार्शल एम० नूरखान।

अपराधों के दण्ड विधान के लिए मार्शल ला विनियमों के अन्तर्गत सैनिक न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था की गई।

सविधान के रद्द करने और मुख्य मार्शल ला प्रशासक के विनियमों और आदेशों के बावजूद, अध्यादेशो, मार्शल ला विनियमों, आदेशो, नियमों का सविधान के रद्द होने से पूर्व बनाए गए विनियमों, अधिसूचनाओ तथा अन्य लिखित आदेशों समेत सभी कानून जारी रहने थे। सविधान के रद्द होने से ठीक पहले विद्यमान सभी न्यायालय और न्यायाधिकरण जारी रहने थे और उन्होंने अपने उन सभी अधिकार-क्षेत्रों तथा अधिकारो का प्रयोग करना था जो वे उस स्थिति मे करते अगर सविधान रद्द न किया जाता।

किसी भी न्यायालय में मार्शल ला विनियम या आदेश या किसी जांच या सैनिक न्यायालय के किसी निर्णय या आदेश को चुनौती नही दी जा सकती थी और न ही मुख्य मार्शल ला प्रशासक या उसके अधीनस्थ अधिकार-क्षेत्र या अधिकारों का प्रयोग करने वाले किसी व्यक्ति के विरुद्ध समादेश-पत्र या आदेश जारी किया जा सकता था। जब तक मुख्य मार्शल ला प्रशासक अन्यथा निर्देश न करे, संविधान के अन्तर्गत नियुक्त, निर्मित या स्थापित सभी अधिकारी अपने उन सभी अधिकारों का प्रयोग करते रहेंगे जो वे सविधान रद्द न होने की स्थिति मे करते।

याहिया खान ने राष्ट्रपति पद की बागडोर सँभाली—जनरल याहिया खान ने, जिन्होंने २५ मार्च, १९६९ को राष्ट्रपति अयूब से राष्ट्रपति-पद की बागडोर सँभाली, ३१ मार्च, १९६९ को प्रसारित अपनी एक घोषणा में कहा कि उन्होने उसी दिन से राष्ट्रपति पद का कार्य-भार सँभाल लिया है जिस दिन से श्री अयूब ने राष्ट्रपति का पद छोडा। एक सरकारी घोषणा मे कहा गया कि "राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों और परिपाटियों के समुचित परिपालन की दृष्टि से मुख्य मार्शल ला प्रशासक के लिए राष्ट्रपति का पद सँभालना आवश्यक हो गया था। सरकारी सूत्रों के अनुसार, जनरल याहिया खान को राष्ट्रपति पद का भार उन कानून-विशेषज्ञों से परामर्श करने के उपरान्त सौंपा गया था जिनका सम्बन्ध राज्य के अध्यक्ष की नियुक्ति से था ताकि वे विभिन्न राजनयिक दायित्वों को पूरा कर सके, जैसे विदेशी राजदूतों के परिचय-पत्र स्वीकार करना। विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह आवश्यक समझा गया कि मुख्य मार्शल ला प्रशासक जिसे पाकिस्तान मे जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा नए संविधान के निर्माण से पूर्व राज्य और सरकार के अध्यक्ष के रूप में कार्य करना था, राष्ट्रपति के रूप में राज्य के अध्यक्ष का पद सम्भाले।

१९६२ के संविधान की आंशिक रूप में पुन स्थापना—४ अप्रैल, १९६९ को जनरल याहिया खान द्वारा एक अस्थायी संवैधानिक आदेश जारी किया गया जिसके अन्तर्गत १९६२ के संविधान के कुछ भागो की पुन.स्थापना की गई ताकि उनके सत्ता-ग्रहण को कानूनी रूप दिया जा सके और उन्हे ऐसे कानूनों तथा प्रावधानों के निर्माण का अधिकार हो जो वे राज्य के प्रबन्ध के लिए उचित समझें। आदेश मे कहा गया, "मुख्य मार्शल ला प्रशासक की घोषणा और उस द्वारा समय-समय पर बनाए गए किसी विनियम या आदेश के अन्तर्गत ८ जून, १९६२ को निर्मित पाकिस्तान के इस्लामी गणराज्य

के संविधान के रद्द करने के बावजूद, जब तक इस आदेश में अन्यथा व्यवस्था न की गई हो पाकिस्तान का शासन प्रायः १९६२ के संविधान के अनुसार चलाया जाएगा। आदेश में आगे कहा गया, "जब तक इस आदेश में अन्यथा व्यवस्था न की जाए, इस आदेश के प्रावधान घोषणा को रद्द करने के रूप में न होकर इसके अतिरिक्त होंगे। तथापि आदेश में यह कहा गया कि संविधान के भाग दो के अध्याय एक में वर्णित मौलिक अधिकारों के अनुच्छेद २, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १३, १४, १५ और १७ रद्द समझे जाएंगे। आदेश में आगे कहा गया कि किसी भी न्यायालय में चल रही कार्रवाइयां जहां तक वे उपर्युक्त अधिकारों के प्रवर्तन से संबद्ध है, खत्म समझी जाएगी। किसी भी न्यायालय या न्यायाधिकरण को मुख्य मार्शल ला प्रशासक या उसके अधीन अपने न्याय-क्षेत्र या अधिकारों का प्रयोग करने वाले किसी मार्शल ला अधिकारी के विरुद्ध कोई निर्णय, डिग्री, समादेश-पत्र या आदेश जारी करने और अभियोग चलाने का अधिकार न होगा।

आदेश में यह भी कहा गया कि राष्ट्रपति या प्रान्त के किसी राज्यपाल द्वारा जारी किया गया अध्यादेश १९६२ के संविधान में वर्णित क्षेत्र तक सीमित नहीं होगा। राज्यपाल की ओर निर्देश यह सूचित करता है कि संविधान के साथ प्रान्त के अध्यक्ष का पद भी पुन.स्थापित कर दिया गया है। किसी भी न्यायालय, न्यायाधिकरण या अन्य अधिकारी को निम्न पर किसी प्रकार की आपत्ति करने या करवाने का अधिकार नहीं होगा: (क) घोषणा, (ख) घोषणा या मार्शल ला विनियम या मार्शल ला आदेश के अनुसार जारी किया गया कोई आदेश या (ग) किसी विशेष सैनिक न्यायालय या समरी कोर्ट की जांच, उस द्वारा जारी किए गए आदेश या दण्ड।

आदेश राष्ट्रपति को यह अधिकार देता है कि वह आदेश द्वारा इस प्रकार के प्रावधान, जिनमें संवैधानिक प्रावधान भी सम्मिलित है, बना सकता है जिन्हें वह राज्य के प्रशासन के लिए उचित समझे।

जनरल याहिया खान का वचन—मुख्य मार्शल ला प्रशासक का पद सँभालने के तुरन्त बाद जनरल याहिया खान ने कठोर कार्रवाई शुरू कर दी। पचास मार्शल ला विनियम जारी किए गए जिनमें सार्वजनिक व्यवहार का कोई पक्ष नहीं छोड़ा गया और इनके भंग करने के दण्ड वस्तुतः बड़े कठोर थे। परन्तु जनरल याहिया खान ने यह कहा है कि संवैधानिक सरकार की स्थापना के लिए समुचित वातावरण तैयार करने के अतिरिक्त उनकी और कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है। उन्होंने लोकतन्त्र की पुन स्थापना और वयस्क मताधिकार के आधार पर स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से चुने गए प्रतिनिधियों को सत्ता हस्तांतरित करने की प्रतिज्ञा की है। अयूब खान के संविधान को रद्द करने के बाद, देश पर अपना संविधान लादने का उनका कोई इरादा नहीं है। पाकिस्तान के नए संविधान का निर्माण लोकतन्त्री पद्धति से होगा। ३१ मार्च, १९६९ को पाकिस्तान के उप मुख्य मार्शल ला प्रशासक वाइस एडमिरल सैय्यद मोहम्मद अहसान ने वाशिंगटन में, जहां वे दिवंगत राष्ट्रपति आइज़नहावर के अंत्येष्टि-संस्कार में अपने देश की ओर से सम्मिलित हुए थे, कहा कि "सैनिक सरकार बहुत थोड़े अरसे के लिए देश का शासन-सूत्र सँभालेगी" और ऐसी आशा की जाती है कि अगले वर्ष जनवरी में राष्ट्रपति का

चुनाव सम्पन्न हो जाएगा। उन्होने यह घोषणा की, "हमारा लक्ष्य तो जल्दी से जल्दी नए संविधान के निर्माण और जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों को सत्ता सौपने के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण करना है।"

जनरल याहिया खान ने अपना वचन पूरा करने की दृष्टि से हर अन्य सम्भव प्रयत्न शुरू कर दिया है और उन्होने पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों पाकिस्तानो मे राजनीतिक दलों के साथ बातचीत शुरू कर दी है। जनरल अयूब खान ने तो सन् १९५८ मे सभी राजनीतिक दलों पर पाबन्दी लगा दी थी परन्तु उन्होंने कोई पाबन्दी नही लगाई। पाकिस्तान की बुनियादी समस्याओ को सुलझाने में कितना समय लगेगा, यह केवल कल्पना का ही विषय है। परन्तु एक बात स्पष्ट है और जनरल याहिया खान इसे अच्छी तरह जानते है कि आज उनके देश की मनोदशा ११ वर्ष पहले की मनोदशा से बिलकुल भिन्न है। अयूब शासनकालीन पाकिस्तान के अनुभव के बाद वे यह भी जानते है कि न ही दीर्घकालीन सैनिक शासन और न स्वेच्छाचारी शासन पाकिस्तान की आधारभूत राजनीतिक समस्या का समाधान कर सकता है। निर्वाचन आयोग की समाप्ति इस बात की सूचक है कि निकट भविष्य में पाकिस्तान में संवैधानिक सरकार की पुनःस्थापना की कोई सम्भावना नही है, हालाकि राजनीतिक दलों के नेता, विशेषतः पूर्वी पाकिस्तान मे, याहिया खान के सैनिक शासन को चुनौती दे रहे है। जनरल याहिया खान देशवासियों की नब्ज को पहचानेंगे या अपने पूर्वगामी राष्ट्रपति के पद-चिह्नों पर चलेंगे, यह समय ही बताएगा। जब तक सैनिक तानाशाह अपनी अधीनस्थ सेना के एकनिष्ठ समर्थन से अपने संकल्प को कार्यरूप मे परिणत कर सकता है तब तक उसके विचारों के सम्बन्ध मे पहले से कोई भविष्यवाणी नही की जा सकती। आज याहिया खान पाकिस्तान के राष्ट्रपति और मुख्य मार्शल ला प्रशासक दोनों की बागडोर सँभाले हुए है।

अध्याय 1

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

The Historical Background

भूगोल [illegible] — [illegible] [illegible] [illegible] होक्काइडो [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ३३३,६६२ वर्ग किलोमीटर [illegible] है और यह २३ से लेकर ४५ अक्षांशों के बीच उत्तर की ओर २५०० किलोमीटर लम्बा, १,५०० मील तक उत्तर पूर्व-दक्षिण-पश्चिम दिशा के बीच फैला हुआ है। और [illegible] संयुक्त राज्य अमेरिका के आकार का [illegible] और [illegible] के आकार का [illegible] है, किन्तु इंग्लैंड [illegible] से [illegible] बड़ा है। उष्णकटिबन्धीय कटिबन्ध के पड़ने के कारण [illegible] [illegible] से उपलब्ध होता है। झीलों, नदियों और पर्वतों की बहुतायत होने के कारण यहाँ सुन्दर और रमणीय दृश्य प्रस्तुत करने वाले स्थानों की कमी नहीं है।

जापान का ८० प्रतिशत भाग पहाड़ी है। २००० मीटर की ऊँचाई से भी अधिक ऊँचे वहाँ २५० पर्वत हैं। सबसे ऊँचा पर्वत फूजी पर्वत (फूजी यामा) है जिसकी ऊँचाई ३,७७६ मीटर है। ये पर्वत पृथ्वी की बाहरी परत की अस्थिरता का परिणाम हैं। अब भी वहाँ लगभग ५० सक्रिय ज्वालामुखी हैं। गर्म पानी के सोते तो वहाँ हजारों की संख्या में हैं। जापान में चूंकि मैदानों की संख्या बहुत कम है अतएव वहाँ वे महत्त्वपूर्ण आर्थिक अर्थ को सूचित करते हैं क्योंकि उन्हीं मैदानों से एक बड़ी जनसंख्या के लिए पर्याप्त मात्रा में अन्न प्राप्त किया जाता है और उन्हीं पर सर्वदा विस्तृत होने वाले उद्योगों के लिए आश्रय ढूँढ़ा जाता है। समस्त भूमिक्षेत्र के १६ प्रतिशत भाग पर ही वहाँ कृषि होती है।

जापान में नदियाँ भी बहुत हैं, किन्तु वे आम तौर पर छोटी हैं और अधिकांश जहाजरानी के अयोग्य हैं। हाँ, सिंचाई के लिए और जल-विद्युत् बनाने के लिए वे अत्यधिक उपयुक्त हैं। २६,५०० किलोमीटर की लम्बाई वाले अत्यन्त अनियमित समुद्र-तट के होते हुए भी जापान में अच्छे प्राकृतिक बन्दरगाह पर्याप्त अधिक संख्या में हैं जो उद्योग, संचार और व्यापार की दृष्टि से बड़े लाभदायक हैं। प्रथम [illegible]

युद्ध के अन्त तक जापान ने संसार मे नौसैनिक और सामुद्रिक शक्ति के रूप मे अपना तृतीय स्थान बना लिया था।

जापान का जलवायु चावल की पैदावार के लिए अनुकूल है और यही जापानियों की भोजन-विषयक आधारभूत खेती-सम्बन्धी उपज है। जिन स्थानों मे बर्फ प्रायः गिरती रहती है वहाँ सर्दी की फसलें नही होती किन्तु दक्षिणी जापान में खेती करने का मौसम पर्याप्त रूप से लम्बा होता है। जापानी जलवायु की प्रमुख विशेषता उसकी वर्षा ऋतु है जो प्रारम्भिक ग्रीष्मकालीन समुद्री आँधियो से प्रारम्भ हो जाती है। फार्मोसा और चीन की यॉगसे (Yangtze) घाटी में प्रारम्भ होने वाले कम दवाव के क्षेत्र वर्षा ऋतु के प्रवर्तक बन जाते है। जापान में वर्ष भर में १००० से लेकर २५०० मिलिमीटर तक वर्षा पड़ती है।

इस प्रकार जापान एक ऐसा द्वीप-राज्य है जो मिश्रित भौगोलिक लक्षणों से संलक्षित है और इस तथ्य ने देश के राजनीतिक स्वरूप को गत दो हजारों वर्षो से भी अधिक समय तक अत्यधिक प्रभावित किया है। सर्वप्रथम, द्वीप और पहाड़ स्थल-सचार व्यवस्था को काफी कठिन बना देते है और फलतः, इसने लोगों मे प्रादेशिक दृष्टिकोण और मनोवृत्ति को पैदा कर दिया है। प्रत्येक प्रदेश की अपनी-अपनी विशिष्ट परम्पराएँ और उसका अपना इतिहास है और अतीत में प्रत्येक के पास किसी न किसी प्रकार का राजनीतिक ऐकात्म्य भी रहा है। १८६८ मे जापान अपने इतिहास मे पहली बार एक रूप किया गया और इस पुनरुद्धार (Restoration) के बाद उपर्युक्त प्रकार की प्रादेशिकता अथवा स्थानासक्ति और राजनीतिक विखण्डन अदृश्य हो गये। तथापि यह दृष्टिकोण लोगो के मन से नितान्त लुप्त नही हो गया। आज भी लोगो का राजनीतिक व्यवहार और इस रूप में देश की व्यावहारिक राजनीति राजनीतिक विकेन्द्रीयकरण के ऐतिहासिक रिक्थ और स्थानीयता से मुख्यतया प्रभावित हैं।

द्वितीयतः, पानी से घिरे हुए होने के कारण जापान को सुनिश्चित राष्ट्रीय सीमा प्राप्त हो गई जिसने उस देश के लोगो मे समूह-ऐकात्म्य की भावना तथा उग्र राष्ट्रीय विचारों को पैदा कर दिया।

जापान का राष्ट्रवाद लोकप्रसिद्ध है। फिर, चीन से प्राकृतिक रूप से चिपके हुए कोरिया मे भिन्न जापानियो ने अपनी संस्कृति का स्वयं विकास किया और ऐसा करते समय उन्होंने चीनी सभ्यता के केवल उन्ही तत्त्वों को चुना जो उनके स्वभाव के अनुकूल पड़ते थे और उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे। काल-क्रम मे ऐसे तत्त्व "जापानी संस्कृति में इतनी पूर्णता और इस प्रकार वे घुल-मिल गये थे कि वे अपना मूल स्वरूप ही खो बैठे और यहां तक कि उनके परिणाम भी प्रायः मूल से बिल्कुल विभिन्न और उनसे बढ़कर निकले।" जापानियों की सांस्कृतिक सजातिता ने उनमें सामाजिक एकता की ऐसी भावना भर दी है कि जापान के

इतिहास के किसी अवसर पर भी किसी प्रकार के जातीय वैर को पनपने का अवसर प्राप्त नही हुआ है। "अतः, उसके सम्पूर्ण इतिहास मे जातिवाद अज्ञात वस्तु रही है और जापानी राजनीति मे जातीय समस्याएँ कभी भी नही उठी है, क्योकि वहाँ किसी भी प्रकार का अल्पसंख्यकवर्ग जातीय समूहों का रूप धारण किए हुए कभी भी विद्यमान नही रहा है।"[1] हाल ही मे उपलब्ध आँकड़ो के अनुसार जापान की ९७,१९,०००[2] जनसख्या मे से केवल ०·७ प्रतिशत लोग ही पञ्जीकृत अल्पसंख्यक समूहों से सम्बन्ध रखते है। वार्ड (Ward) का कथन है कि, "ऐसा अन्य कोई भी बड़ा राष्ट्र देखने मे नही आया है जिसमे पहचान किये जाने योग्य अल्पसंख्यक तत्त्वों का इतना थोड़ा मिश्रण हो।" आगे चलकर वह कहते है कि, "यही बात आधुनिक काल मे जापानियो द्वारा प्राय दर्शित उनके उग्र राष्ट्रवाद की व्याख्या करने में भी सहायक सिद्ध होती है। उनके भौगोलिक पृथक्त्व या अलगाव, सामान्य भाषा और लम्बा इतिहास जातीय ऐकात्म्य से मिलकर विदेशियो के विरुद्ध एक अत्यन्त उग्र 'समूह' भावना को विकसित करने की सुविधा प्रदान करते है। इससे ऐसे राष्ट्र को जन्म मिला है जिसके अन्दर यद्यपि कई प्रकार के घरेलू भेद है तथापि जिसने अतीत मे प्रायः शेष ससार का बड़ी मजबूती और एकता से सामना किया है।"[3]

प्रकृति ने भी जापान को पर्याप्त सीमा तक प्राकृतिक सुरक्षा प्रदान की है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर १९४५ तक कोई भी जापान के ऊपर कभी भी सफलतापूर्वक आक्रमण नही कर सका था। अतः उसका राष्ट्रीय विकास विदेशी आक्रमणों के छिन्न-भिन्न करने वाले प्रभावों के बिना और देशीय स्वभाव की अभिव्यक्ति के अनुसार हुआ था। वार्ड (Ward) के अनुसार, "इस तथ्य से जापानियो के लिए दो मुख्य परिणाम निकले हैं। प्रथमतः, इसने उन्हे प्रायः एशियाई देशो अथवा शेष संसार से इच्छानुसार सम्पर्क की धारा को बनाए रखने या उसे बन्द रखने की शक्ति प्रदान कर दी है। उदाहरणतया, इसके द्वारा १८५४ से पूर्व लगभग २५० वर्षो तक उनके लिए जानबूझकर राष्ट्रीय एकान्तता की प्रभावपूर्ण नीति अपनाना सम्भव हुआ। द्वितीयतः इसने जापानियों को इस योग्य बना दिया है कि वे पूरी तरह और प्रायः, उग्र रूप से घरेलू राजनीति, घरेलू शक्ति-सघर्षो और परस्पर नाश करने वाले झगड़े की ओर ध्यान केन्द्रित कर सकें और इसके द्वारा राष्ट्र की बाह्य सुरक्षा पर पड़ने वाले प्रभाव के विषय मे या तो थोडी चिन्ता या कोई चिन्ता न करे। आधुनिक इतिहास के अन्य

1. Chitoshi Yanaga, *Japanese People and Politics*, p. 12.
2. On October 1, 1964. *Information Bulletin*, Embassy of Japan, New Delhi. January 15, 1965.
3. Ward Robert E, and Macridis, Roy C. (Editors), *Modern Political Systems: Asia*, p. 46.

बड़े राज्यों के बीच इस सीमा तक ले जाया जाने वाला राष्ट्रीय सुरक्षा सम्बन्धी यह उदाहरण अद्वितीय ही है।"[1]

लोग (The People)—जापानियों का उद्भव रहस्य से आच्छादित है। मूल जापानी द्वीपसमूह में कब बसने के लिए आए इस बात का निश्चय करने के लिए कोई निश्चयात्मक प्रमाण और निश्चित साक्षियां प्राप्य नहीं हैं। "जो भी हो, एक बात के विषय में नितान्त कोई भी सन्देह नहीं है। इतिहास के उदय के समय में भी जापानी लोग पहले से ही मिश्रित जाति के थे, न कि एकल जातीय संजाति के।"[2] सर्वप्रथम लोग जो नव-पाषाण काल में इन द्वीपों पर बसे 'ऐनु' (Ainu) कहलाए जाते थे। ये कौन थे और वास्तव में कहां से आए थे, यह सब अज्ञात है। पाषाण-युग के समय में कोरिया (Korea) में से होकर मंगोलिया (Mongolia) और मन्चूरिया (Manchuria) से आने वाले मंगोलिया-निवासी लोगों से मिलते-जुलते लोगों के क्रमबद्ध प्रव्रजनों अथवा देशांतरगमनों द्वारा ऐनु (Ainu) लोग अपने स्थान से हटा दिए गए और शनैः शनैः उत्तर की ओर खदेड़ दिए गए। ऐसे ही किसी अवर काल में हान (Han) लोगों का देशांतर-गमन हुआ और जापान के प्रागैतिहासिक काल की प्रारम्भिक अवस्थाओं में यह क्रम जारी रहा, "किन्तु संख्या की दृष्टि से इन लोगों के द्वारा जनसंख्या में की गई वृद्धि थोड़ी सी ही थी।" अतः यह स्पष्ट है कि जापानी लोगों की उत्पत्ति अत्यन्त भिन्न जातीय लोगों के मिश्रण से हुई है "जिसमें व्यावहारिक रूप से मानव जाति के सब प्रमुख मूलवंशों जैसे कॉकेशस-निवासियों, नीग्रो जाति और मंगोलिया निवासियों से मिलते-जुलते लोगों का मिलन है। इसके अतिरिक्त इसमें अन्य सब प्रकार के रूपान्तर, मिश्रण और उत्परिवर्तन भी सम्मिलित हैं।" इस प्रसंकर (hybrid) उद्भव के बावजूद भी जापानी लोग वर्तमान में एक ऐसे अद्भुत सजातीय राष्ट्र का रूप धारण किए हुए हैं जिनकी भाषा, संस्कृति और रहन-सहन का ढंग समान है और जिनको उन्होंने एक लम्बे सामान्य इतिहास के प्रवाह में प्राप्त किया है और ग्रहण किया है।

जापान संसार के सर्वाधिक साक्षर राष्ट्रों में से एक है। यहाँ तक कि १८८६ में भी समस्त जापानी बच्चों के लिए ३ से ४ वर्ष तक की प्रारम्भिक शिक्षा आवश्यक थी। १९०८ में इस शिक्षा की अवधि बढ़ाकर ६ वर्ष कर दी गई और १९४७ से ९ वर्ष की संयुक्त प्रारम्भिक और कनिष्ठ माध्यमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। इस प्रकार जब समस्त जनसंख्या का ९७-९८ प्रतिशत भाग साक्षर हो तो व्यावहारिक रूप में इसे सार्वभौम साक्षरता माना जा सकता है। ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में साक्षरता ९० प्रतिशत है। एशिया के अधिकांश देशों में साक्षरता २० से ३० प्रतिशत तक ही है।

1. Ward and Macridis, *Modern Political Systems : Asia*, op. cit., pp. 39-40.
2. Chitoshi Yanaga, *Japanese People and Politics*, p. 110.

विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र मे जापान द्वारा शीघ्र उन्नति और प्रशंसनीय उच्चता की प्राप्ति पश्चिम के हर राष्ट्र द्वारा भी अद्वितीय वस्तु मानी जा चुकी है। १६वी सदी के अन्तिम भाग मे जापान में ऐसे कई महा-प्रसिद्धि प्राप्त वैज्ञानिक हो चुके है जिनकी महत्त्वपूर्ण देनों ने वैज्ञानिक जगत् का ध्यान आकर्षित किया है। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व डा० हन्तारो नागोका (Dr. Hantaro Nagaoka) ने आणविक बीज या न्यष्टि की खोज का पूर्वनिरूपण करते हुए आणविक रचना का एक सिद्धान्त विकसित कर लिया था। १६३४ मे डा० हिडेकी युकावा (Dr Hideki Yukawa) ने सैद्धान्तिक आधारो पर प्राणु (proton) और विद्युदणु के बीच पिड (मध्याणु) की सम्भावित स्थिति का प्रतिपादन कर दिया था।

तकनीकी-विज्ञान अथवा प्रौद्योगिकी के विकास और उन्नति मे जापान ने आश्चर्यजनक प्रगति की। प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त तक जापान ने ससार की नौसैनिक और सैनिक शक्ति के रूप मे तीसरा स्थान प्राप्त कर लिया था। १६३० मे साकिची तोयोआडा (Sakichi Toyoada) द्वारा आविष्कृत स्वचालित यन्त्र करघे ने जापानी वस्त्रोद्योग मे क्रान्ति ला दी थी, और फलस्वरूप उसने लकाशायर (Lancashire) के वस्त्रोद्योग को अपने घर की ही मण्डी मे नस्तम्भित (निष्क्रिय) कर दिया था। जापान कृत्रिम तन्तुओं के उत्पादन के क्षेत्र मे भी ससार का अग्रगी था। भारी उद्योगो ने, जिसका कि प्रारम्भिक अवस्थाओ मे विकास धीमा था, प्रथम विश्वयुद्ध से लेकर शीघ्र उन्नति कर ली थी और द्वितीय विश्वयुद्ध मे जापान के सम्मिलित होने के कारण उसकी उत्पादन सुविधाओ और साधनो को भारी क्षति पहुँचने के बावजूद भी उसने आश्चर्यजनक ढग से समुत्थान प्राप्त कर लिया था। १६५५ से लेकर १६६२ तक इन सात सालों मे औद्योगिक उत्पादन के देशनाक (index) मे २ ७ गुना वृद्धि हुई थी।

परन्तु जापान मे अब भी काम म लगे हुए कुल लोगो का २७ प्रतिशत भाग कृषि कार्य करता है और यह संख्या पश्चिमी देशो मे खेती का काम करने वालो की संख्या से अपेक्षतया अधिक है। असख्य पहाड़ियो और पर्वतों से युक्त छोटे-छोटे ज्वालामुखी द्वीपों का समूह होने के कारण जापान में कृषि करने योग्य भूमि लगभग ६०,७२० वर्ग किलोमीटर है जो कुल भूमिक्षेत्र का १६ प्रतिशत भाग है। पहले पहल जापानी कृषक भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों पर गहन या घनी खेती करके भूमि से बहुत थोडी-सी आय उपार्जित करते थे। हाल के ही वर्षो मे अधिक गहन खेती, बढिया बीजों और सुधरे हुए उर्वरको के प्रयोग और यन्त्रों के कारण वहां पैदावार मे बहुत बडी वृद्धि हुई है। किन्तु कृषि के कार्य मे लगे हुए प्रति व्यक्ति की औसतन आय अब भी थोडी ही है। कुल राष्ट्रीय आय का १० प्रतिशत भाग ही खेती करने वाली जनसख्या की आय के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। कृषि और अन्य उद्योगो से होने वाली आयों के बीच विद्यमान अन्तर जापान मे उसकी सामाजिक समस्याओ

में से एक ऐसी समस्या है जिसने छोटे-छोटे उद्यमों द्वारा उत्पन्न असन्तुलन से युक्त होकर लोगों के राजनीतिक आचरण पर विशेष प्रभाव डाल दिया।

जापान में तीन प्रमुख धर्म हैं: शिन्टो-धर्म (Shintoism), बौद्ध-धर्म (Buddhism) और ईसाई धर्म (Christianity)। पूर्वजों की पूजा से सम्बन्ध रखने वाला शिन्टो धर्म परम्परा-प्राप्त धर्म है। यह साम्राजिक अथवा शाही पूर्वजों और पैतृक-मृतात्माओं के प्रति पूजा का विधान करता है और तदनुसार, इसका जापानी राष्ट्र की उत्पत्ति की पौराणिकता के साथ सम्बन्ध होने के कारण यह सरकार द्वारा स्वीकृत धर्म बन गया है। १८६८ मे मीजी पुनरुद्धार (Meiji Restoration) के तुरन्त पश्चात् सरकार ने एक शिन्टो (Shinto) कार्यालय स्थापित किया था और शिन्टो देवायतन (Shinto Shrine) को राष्ट्रीय संस्था घोषित कर दिया था। केन्द्रीय देवायतन मे देवी अमातेरासु ओमीकामी (Amaterasu Omikami) की स्थापना की गई थी जिसका अर्थ सुरलोक कान्तियुक्त महादेवी (Heaven Shining Great Goddess) है और इसे जापानी राष्ट्र की प्रवर्त्तक देवी माना जाता है। अतएव शिन्टो धर्म ने जापानियो के अन्दर राष्ट्र के प्रति धार्मिक पूजा का भाव भर दिया था और वही भाव उनकी उग्र देशभक्ति तथा अकल्पनीय बलिदानो का कारण बना जिन्हें जापानी लोग राष्ट्र की एकता और उसकी सर्वोच्चता बनाए रखने के लिए काम में लाए और जिनका प्रयोग करने के लिए वे बाध्य भी हुए। किन्तु १९४७ से शिन्टो धर्म सरकारी धर्म नहीं रह गया है और अब उसका दर्जा वही है जो जापान मे अन्य सब धार्मिक संस्थाओं का है।

५३८ ई० मे बौद्ध धर्म ने भारत से चीन और कोरिया के मार्ग द्वारा जापान मे प्रवेश पाया। देश मे इसके अनुयायियों की संख्या सबसे अधिक है, (१९६२ में ६५,११४,००० बौद्ध धर्मावलम्बी थे।) और इस धर्म ने देश और लोगों की सामाजिक संस्थाओ और आचार-व्यवहार पर बडा प्रभाव डाला है। ज्ञान और कलाओं की उन्नति करने मे भी इस धर्म की बड़ी देन रही है।

ईसाई धर्म पहले पहल जापान में सेण्ट फ्रांसिस जेवियर (St. Francis Xavier) द्वारा, जो कि एक जेसुट फादर (Jesuit Father) था, प्रविष्ट कराया गया था जब वह १५४९ में क्युशु (Kyushu) आया था। कुछेक जागीरदारो द्वारा प्रोत्साहित किए जाने पर यह पहले पहल पर्याप्त शीघ्रता से फैला परन्तु १६वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ईसाई धर्म पर प्रतिबन्ध लग गया था। १९वी शताब्दी के मध्य मे जापान ने जब विदेशी राष्ट्रो को अपने यहाँ आने की अनुमति दे डाली तब ईसाई धर्म फिर लौट आया। जापानी ईसाइयो और विदेशी प्रचारको ने ईसाई धर्म को पूरे जोर से फैलाना आरम्भ कर दिया था और परिणामत: ईसाई मतावलम्बियों की संख्या मे धीरे-धीरे पर्याप्त वृद्धि हो गई। १९१९ मे इनकी संख्या ८४८, ०८३ थी। ईसाई धर्म पाश्चात्य सभ्यता का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु समझी जाती

है जिसने मीजी पुनरुद्धार (Meiji Restoration) के पश्चात् जापानी जन-जीवन के समस्त पक्षो को आधुनिक रंग मे रग डाला है।

संवैधानिक विकास (Constitutional Development)—जापान के संवैधानिक इतिहास का विकास तीन अवस्थाओ के अन्तर्गत आता है : प्रथम अवस्था इतिहास के उदय से लेकर ११८५ ई० तक, दूसरी अवस्था ११८५ से १८६८ तक और तीसरी अवस्था १८६८ से आगे। चितोशी यनागा (Chitosh. Yanaga) इन तीन अवस्थाओ का क्रमशः पूर्व-जागीरदारी काल, जागीरदारी काल और उत्तर-जागीरदारी काल के नाम से वर्णन करते हैं। इन तीनो अवस्थाओ पर अन्तर्दृष्टि डालने के द्वारा "जापानी राजनीति और शासन की अतीत और वर्तमान पृष्ठभूमि और सामग्री का पता चल जाता है।"

पुरातन जापानी समाज अनेक वन जातियो (Clans) का सघ था और प्रत्येक वनजाति ऐसे घरानो से मिलकर बनी होती जो अपने उद्भव का सम्बन्ध एक सामान्य पुरखे से रखने का दावा करती थी और जिनका नेतृत्व सामान्य मुखिया करता था। ईसा से ९वी शताब्दी पूर्व के लगभग क्युशु (Kyushu) और किन्की (Kinki) [ओसाका (Osaka)—क्योटो (Kyoto)] क्षेत्रो मे शक्तिशाली और सुगठित राज्यो का विकास हो गया। उनमे से एक यामातो (Yamato) वंश द्वारा शासित था। वर्त्तमान शाही परिवार इसी वश से अवतरित हुआ है। २०० ई० के आस-पास यामातो (Yamato) वश की शक्ति और उसका प्रभाव शीघ्रता से बढना प्रारम्भ हो गया। चौथी शताब्दी के आरम्भ मे छोटे-छोटे राज्यों के आपस में मिल जाने के कारण, जिनका कि प्रधान एक सम्राट् था, जापानियों ने एक एकरूप राष्ट्र का स्वरूप धारण कर लिया था। किन्तु सम्राट् की सत्ता न तो प्रत्यक्ष थी और न ही निरंकुश। यह वनजातियो के मुखियाओ के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से प्रयुक्त की जाती थी। असकेन्द्रित अथवा प्रसृत राजनीतिक सत्ता की यह दशा सन् ६४५ तक बनी रही जब कि जापान ने पूर्व-जागीरदारी विकास की दूसरी अवस्था मे प्रवेश किया था। यह अवस्था ११८५ तक बनी रही और उस समय तक जागीरदारी या सामन्तवाद पूरी तरह से स्थापित हो चुका था। इस अवस्था के अन्दर वनजाति मुखियाओ से राजनीतिक सत्ता छीन लेने के कारण और उसे सम्राट् मे सन्निहित कर देने से राष्ट्रीय एकता को और अधिक शक्तिशाली वना लिया गया था।

पांचवी शताब्दी के प्रारम्भ के आस-पास जापान द्वारा चीनी संस्कृति और चीनी संस्थाओं का अनुकरण कर लेने पर जापान पर चीनी सभ्यता का बड़ा भारी प्रभाव पड गया था। ६०४ मे अप्राप्तवयस्क शासक (Regent) राजकुमार शोतोकु (Shotoku) ने चीनी भाषा मे अपने प्रसिद्ध "सत्रह अनुच्छेद वाले संविधान" की रचना की जिसमें सार्वजनिक कार्य-कलापों के प्रशासन मे अधिकारियो को ताल-मेल, आज्ञापालन, परिश्रम और ईमानदारी बरतने के लिए आज्ञा देते हुए इन चीनी

सम्राट् की सत्ता को केन्द्रित करने का यह प्रकार चीनी सिद्धान्त पर आधारित था, "आकाश के नीचे कोई भूमि ऐसी नहीं है जो सम्राट की न हो। भूमि रखने वालों में से कोई भी ऐसा नहीं है जो सम्राट् का आसामी (Vassal) न हो।"

उपर्युक्त सुधारों को पूरी तरह से सफल होने में लगभग आधी शताब्दी से भी अधिक समय लगा। शिन्टो धर्म की आज्ञा के अनुसार सम्राट् की मृत्यु के पश्चात् उसके निवास-स्थान में परिवर्तन किया जाना आवश्यक था अतएव परिणाम-स्वरूप यामातो दरबार (Yamato Court) का कोई निश्चित निवास-स्थान नहीं बना रहा। ७१० में इस प्रथा का त्याग कर दिया गया और वर्तमान क्योटो (Kyoto) नगर के पास नारा (Nara) नामक स्थान पर एक स्थायी जापानी राजधानी का निर्माण किया गया और इस प्रकार एक केन्द्रीय शासन की स्थापना की गई। केन्द्रीय शासन ने इस दिशा में चीन का ही आदर्श अपने सामने रखा और उसके समान दरबारी-पदस्थितियों और विस्तृत विधि-संहिता की प्रणाली जारी रखी।

इस प्रकार ६४६ में महान् सुधार के उपक्रम ने अन्ततोगत्वा जापान में एक शक्तिशाली राजतन्त्र की स्थापना में सहायता कर डाली। कन्फ्यूशियस सम्बन्धी और शिन्टो सिद्धान्तों का प्रयोग सम्राट् की शक्ति को बढ़ाने के लिए ही किया जाता। शिन्टो पूजा को वास्तविक रूप में केवल प्रशासनिक मामलों की तुलना में अधिक मान्यता दी जाती और उसे राज्य का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता। तदनुसार, सम्राट् में तीन कर्त्तव्यों का मिश्रण था। वह राष्ट्र का सबसे ऊँचा पुरोहित था, लोगों और उनकी भूमि के ऊपर प्रभु-सत्ता का प्रयोग करने वाला शासक था और राष्ट्र की सेना का मुख्य-सेनापति था।

किन्तु नवीं शताब्दी के अन्त में कुछ ऐसी स्थिति प्रकट होने लगी जो वर्तमान व्यवस्था को बिल्कुल उलटा कर देने में सहायक सिद्ध हुई। जाति-विशेषाधिकार की देशज परम्पराओं ने और स्थानीय स्वशासन ने अपने आपको पुनः स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया था जिसके कारण सम्राट् के शासन के लिए भय उत्पन्न हो गया था। फूजीवारा (Fujiwara) जाति द्वारा अभूतपूर्व शक्ति पकड़ लेने के अतिरिक्त, कर-मुक्त जागीरों की वृद्धि और प्रान्तों में सैनिक अभिजात वर्ग का उदय कुछ एक महत्त्वपूर्ण कारक थे जिन्होंने सम्राट् की शक्ति और उसके प्रभाव को कम करने में सहायता पहुँचाई। प्रारम्भ से ही धार्मिक जागीरें और कुछ अधिकारी कर देने से मुक्त थे। सम्राट् भूमि को पुनः कृषियोग्य बनाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने के लिए प्रारम्भ में उसे अस्थायी तौर पर कर-मुक्त बना देता किन्तु बाद में यही कर-मुक्तियाँ स्थायी घोषित कर दी जातीं। प्रान्तीय और दरबारी अधिकारियों को अपनी सेवाओं के प्रति फलस्वरूप कर-मुक्त जागीरें दी जाती थीं। सम्राट् भी प्रायः दरबारियों को भूमि उपहार के रूप में दिया करता। इस प्रकार से बढ़ती हुई कर-

जाति ने मुरोमाची (Muromachi), क्योटो (Kyoto) के स्थान पर सैनिक सरकार की स्थापना कर दी और उत्तरी दरबार का समर्थन करने लगी। कुछ समय तक इन दो प्रतिद्वन्द्वी दरबारों में सशस्त्र झगड़ा चलता रहा और १५६० में हिदेयोशी टोयोटोमी (Hideyoshi Toyotomi) द्वारा अन्तिम तौर पर पुनः व्यवस्था स्थापित कर दी गई। वह राष्ट्रीय एकता लाने में सफल हुआ और उसने जापानी प्रभाव को समुद्र के पार ले जाने के लिए भी यत्न किया। हिदेयोशी (Hideyoshi) द्वारा देश में शान्ति स्थापना और एकता लाने के प्रति किया गया कार्य इएयासु तोकुगावा (Ieyasu Tokugawa) द्वारा पुष्ट किया गया। यही व्यक्ति तोकुगावा शोगुनाते (Tokugawa Shogunate) का संस्थापक था।

तोकुगावा वंश ने जापान पर २६४ वर्षों तक राज्य किया। तोकुगावा शासन काल के अन्तर्गत सामन्त-तन्त्र का केन्द्रित राजनीतिक ढाँचा वास्तव में सामुराई (Samurai) द्वारा शासन किया जाता था। आने वाले शोगुनों (Shoguns) को, जो सर्वोच्च सैनिक अध्यक्ष होते थे, तोकुगावा परिवार में से सम्राट् द्वारा नियुक्ति प्राप्त होती थी और वे समस्त राष्ट्र पर शासन करते थे। शोगुनाते (Shogunate) की आज्ञा के अधीन सामन्त-प्रभु अपनी-अपनी भू-सम्पदाओं पर शासन करते थे और अपनी सम्पत्ति और अपने लोगों के ऊपर उनकी निरंकुश सत्ता होती थी। इसी अवधि में जापान ने एकान्तवास की नीति को स्वीकार कर लिया था जिसके कारण उसके द्वार बाह्य संसार के लिए प्रायः बन्द हो गए और इस प्रकार राष्ट्र का अन्य विदेशी राष्ट्रों के साथ सम्पर्क नष्ट हो गया था।

तोकुगावा शोगुनाते (Tokugawa Shogunate) शासन काल में सामुराई (Samurai), कृषकों, शिल्पियों और व्यापारियों के बीच शनैः-शनैः एक कठोर वर्ग भेद ने जन्म ले लिया था। लोगों के इन चार स्पष्ट वर्गों में विभाजन होने के साथ उनके प्रति व्यवहार की भिन्नता भी साथ हो चली और इस दिशा में बेचारे कृषक ही ऐसे थे जिन्हें सबसे अधिक कष्ट उठाना पड़ा, यद्यपि सामाजिक उच्चोच्च परम्परा में उनका स्थान शिल्पियों और व्यापारियों से कहीं ऊँचा था। सामुराई (Samurai), जो यद्यपि संख्या में सबसे कम थे, राजनीतिक सत्ता धारण करने वाले थे और समस्त प्रकार के राजनीतिक और सामाजिक विशेषाधिकारों का उपभोग करते थे। कृषकों को अपनी भूमि छोड़ने की आज्ञा नहीं थी और उनके कन्धों पर भारी करों का भार था जिन्हें भुगताना उनकी शक्ति से बाहर की बात थी। जो भी हो, इस युग की एक सबसे अच्छी बात यह थी कि तोकुगावा (Tokugawa) शासन-काल में विद्यमान अभूतपूर्व शान्ति ने निर्माण करने वाले उद्योगों और व्यापार में वृद्धि कर डाली। नए नगरों का उत्थान हुआ और व्यापारियों की समृद्धि ने उनके सामाजिक प्रभाव को बढ़ा दिया।

यह १८वीं शताब्दी का लगभग मध्य भाग था कि जापानी लोग पहले

पहल पश्चिमी राष्ट्रों के सम्पर्क मे आए। सर्वप्रथम १८५४ मे पुर्तगाली व्यापारी आए और उनके पश्चात् जीसुट (Jesuit) धर्म-प्रचारक और स्पेन निवासियो का एक समूह आया। डच (Dutch) और अंग्रेजों के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किए गए। धर्म-प्रचारको को, विशेषतया दक्षिण मे, जापानियो की एक अच्छी खासी संख्या को ईसाई धर्म मे दीक्षित करने मे सफलता प्राप्त हुई। पर धर्म-प्रचारकों की कार्यवाही ने शोगुनाते (Shogunate) को आशंकित कर दिया कि कही पश्चिमी शक्तियां धार्मिक निवेश द्वारा राजनीतिक हस्तक्षेप न करने लगे। तदनुसार, ईसाई-धर्म पर जापान मे पाबन्दी लगा दी गई और समस्त विदेशियो के लिए देश के द्वार बन्द कर दिए गए। अपवादस्वरूप केवल डच और चीनी व्यापारी रह गए थे जो नागासाकी (Nagasaki) नामक एक छोटे से द्वीप मे सीमित थे।

मीजी पुनरुद्धार, १८६८ (The Meiji Restoration, 1868) —१८वी शताब्दी के अन्त मे जापानी राजनीतिक और सामाजिक जीवन मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। देश पर इस बात के लिए उत्तरोत्तर दबाव पड़ रहा था कि वह विदेशी जहाजों के लिए अपनी बन्दरगाहें खोल दे और अब प्रतीत होने लग पडा था कि सरकार के पास अपने पूर्व निर्णय को बदलने के अतिरिक्त कोई चारा नही रह गया था। इसके साथ ही अब सर्वत्र सामन्त-तन्त्र के सामाजिक और राजनीतिक ढांचे के क्षय को सूचित करने वाले प्रत्यक्ष चिन्ह प्रकट हो रहे थे। तोकुगावा (Tokugawa) के विरुद्ध ऐतिहासिक जातीय शत्रुता अभिप्रायपूर्ण ढंग से मुख्य बन गई थी। इन समस्त कारकों ने जिनके साथ अपने गिरते हुए आर्थिक और सामाजिक स्तर के कारण सामुराई (Samurai) का असन्तोष भी सम्मिलित था, सम्राट् की सत्ता को फिर से स्थापित करने के आन्दोलन को जन्म दे दिया। इस आन्दोलन को तब और भी बल प्राप्त हो गया जब १८५४ मे जापान ने अलगाव की नीति को त्याग कर संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ मित्रता की संधि कर डाली और जिसके बाद अन्य यूरोपीय देशो के साथ भी इसी प्रकार की संधियां कर ली। शोगुन (Shogun) के शत्रुओं को जापानी लोगों पर इस बात का प्रभाव डालने के लिए एक अनुकूल अवसर हाथ लगा कि इस प्रकार की संधियों द्वारा जापान की अखण्डता को गम्भीर खतरा है और इसका परिणाम पश्चिमी साम्राज्यवादी शोषण होगा। इस आन्दोलन ने धीरे-धीरे जोर पकड़ा और इसके नेता यह घोषणा करते हुए कि "सम्राट् की अर्चना करो और बर्बरो को निष्कासित करो" सम्राट् के इर्द-गिर्द इकट्ठे हो गए। इस नारे ने निहित चिनगारी का वांछित प्रभाव पडा। तोकुगावा (Tokugawa) शासन आखिरकार नष्ट हो गया यद्यपि इसे सत्तारूढ़ रखने के लिए उन्मत्त प्रयत्न किये गए थे। १८६७ मे शोगुन तोकुगावा (Shogun Tokugawa) ने सैनिक शासन बाकूफू (bakufu) की समाप्ति की घोषणा कर दी और १८६८ में १६-वर्षीय सम्राट् मुटसितो (Emperor Mutshito) सिंहासन पर बैठ गया।

सम्राट् द्वारा सत्ता ग्रहण करने के तुरन्त पश्चात् 'पांच अनुच्छेद वाली अधिकार पत्र शपथ' (Five Article Charter Oath) निकाली गई जिसके द्वारा नए शासन की नीतियों का सार रूप मे वर्णन किया गया था। इसको तुरन्त प्रकाशित करना इसलिए आवश्यक समझा गया था ताकि प्रतिद्वन्द्वी दलों की आशकाओं को शान्त किया जा सके क्योंकि वे वातावरण को दूषित बना रहे थे। "पांच अनुच्छेद वाली अधिकार पत्र शपथ" (Five Article Charter Oath) इसका विधान करती थी कि—

(१) विचार-विमर्श करने वाली सभाओं की विस्तृत रूप में स्थापना होगी और समस्त विषयो का निर्णय सार्वजनिक मत द्वारा किया जायगा।

(२) राज्य का प्रशासन कार्य चलाने के लिये समस्त राष्ट्र एकरूप होकर कार्य करेगा।

(३) प्रत्येक व्यक्ति को अपना पेशा करने का अवसर प्राप्त होगा ताकि किसी प्रकार का असन्तोष न हो।

(४) अतीत की बुरी प्रथाएँ और चलन छोड़ दिए जायेंगे और न्याय का आधार प्रकृति के न्यायपूर्ण कानून होंगे।

(५) सम्राट् के शासन की नींवो को शक्तिशाली बनाने के लिए समस्त संसार से वैदुष्य तथा विद्या को ग्रहण किया जायगा।

पुनरुद्धार और मीजी सविधान (Meiji Constitution) के लागू होने के बीच के समय (१८६८-१८८९) को पूर्व-संसदीय काल के नाम से पुकारते है। चितोशी यनागा (Chitoshi Yanaga) के अनुसार यह संभव "सामन्त-तन्त्र और सविधानवाद के मध्य मे बीच की स्थिति अथवा संक्रमण अवस्था थी जिसमें निरंकुश राजतन्त्र की अन्तरिम प्रणाली के अधीन छोटे से अल्प-तन्त्र की प्रधानता थी।"[1] राजतन्त्र को स्थिर रखने के लिए हर प्रकार का यत्न किया गया ताकि सम्राट् की आज्ञा समस्त देश के एक कोने से दूसरे कोने तक मानी जा सके। शाही राजधानी को, जो ७९४ से लेकर क्योटो (Kyoto) में थी, उठाकर तोकुगावा शोगुनो (Tokugawa Shoguns) की राजधानी ईडो (Edo) मे ले जाया गया। इस राजनीतिक सत्ता के हस्तान्तरण को अंकित करने के लिए ईडो (Edo) का पुनः नामकरण किया गया और उसका नाम टोक्यो (Tokyo) रखा गया और शोगुन का प्रासाद भी सम्राट् द्वारा ले लिया गया। १८६८ मे एक "सविधान" भी लागू किया गया जिसमे पूर्व-सामन्त युग की चीनी-प्रेरित सस्थाओं को पुनः स्थापित करने का विधान था। समाज का परम्परागत विभाजन जो सामुराई (Samurai), कृषक, शिल्पी और व्यापारी इन चार वर्गों में किया गया था, और इनके साथ सामुराई

1. *Japanese People and Politics*, p. 118.

(Samurai) के अधिकार और विशेषाधिकार और तोकुगावा (Tokugawa) युद्ध-जागीरें ये सब समाप्त कर दिये गये। पुराने ढंग की भूमि पट्टा नियम प्रणाली को भी तिलांजलि दे दी गई। इनके स्थान पर, "सामूहिक सार्वजनिक शिक्षा, जबरन भर्ती, कानून के सम्मुख समानता, रेलमार्गों, आधुनिक जहाजरानी तथा आधुनिक सेना और नौ सेना[1] " ने पदार्पण किया।

पुनरुद्धार के बाद प्रथम दस वर्षों में यह परिवर्तन अत्यन्त सुगमता से नहीं हुआ था। चारों ओर बड़ा घोर विरोध हो रहा था। सामन्त-तन्त्र की दिशा में अल्पवयस्क सम्राट् द्वारा अधिष्ठित अल्प-तन्त्रीय निरकुंश राज-तन्त्र की ओर ले जाने वाले ये अति तीव्र-परिवर्तन कटु झगडों के विषय बन गए थे। लोग नए शासन और उसकी आर्थिक और राजनीतिक नीतियों के प्रति न तो मित्रतापूर्ण थे और न ही वे उससे सहानुभूति रखते थे। स्वयं शासन के अन्तर्गत होने वाले विरोध ने उसके कार्य को अत्यन्त कठिन बना दिया था और नए शासन को स्थिरता प्राप्त कराने में बाधा उत्पन्न कर दी थी। १८७७ में असन्तुष्ट सामुराई ने विद्रोह कर दिया। अतएव प्रथम दस वर्षों के अपने कार्य-काल में शासन का समस्त ध्यान किसानों के विद्रोहों को शान्त करने की ओर और बाधा पहुँचाने वाले विरोधी पक्ष को रास्ते से हटाने में लगा रहा।

जो भी हो, सरकार के विरुद्ध शक्ति के अन्तिम विफल प्रयोग के जो सातसुमा (Satsuma) विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ था, कुचले जाने पर परिस्थितियाँ कुछ कुछ ठीक बन गई थी। तदनुसार, यह सुअवसर था जब अन्तिम रूप से यह निश्चय किया जा सकता था कि शासन का कौनसा स्वरूप राष्ट्र के भविष्य को ढाले और उसका स्वरूप स्थिर करे। परन्तु इस प्रश्न पर सिद्धान्त रूप में मतभेद था। विरोधी पक्ष प्रतिनिधि संसद् को शीघ्र स्थापित किए जाने की मांग के प्रति काफी वाचिक था और लोगों की इच्छा को प्रकट करने के लिए राजनीतिक दलों का संगठन किया करता था। प्रारम्भ में शासन ने इस मांग को मान लेने के प्रति अपनी अनिच्छा प्रकट की, परन्तु अन्ततोगत्वा विरोधी पक्ष के दुर्निवार दबाव और सतत आन्दोलन के आगे उसे हार मान लेनी पड़ी। १८८१ में शासन ने घोषणा की कि १८९० में निर्वाचित संसद् का विधान करने वाले संविधान को लागू किया जायेगा। इस घोषणा के तुरन्त बाद ही अनेक राजनीतिक दलों का जन्म हो गया। २९ अक्तूबर, १८८१ को सर्वप्रथम लिबरल दल (Liberal Party) की स्थापना हुई और इसके पश्चात् १५ मार्च, १८८२ को सवैधानिक प्रगतिशील दल (Constitutional Progressive Party) की स्थापना हुई। इसके चार दिन बाद ही अर्थात् १९ मार्च को Constitutional Imperial Party का उदय हुआ।

1. Ward and Macridis (Editors), *Modern Political Systems*, p. 24

"समस्त दलों ने संविधान के भावार्थ को प्रभावित करने के लिए ही अपनी शक्तियों को सकेन्द्रित किया प्रत्येक अपने विचारों को प्रवृत्त कराने के प्रति तत्पर था।"

राजकुमार इतो हिरोबूमी (Prince Ito Hirobumi) को संविधान निर्माण का कार्य सौंपा गया। वह पश्चिमी देशों की संवैधानिक प्रणालियों की कार्यविधि का अध्ययन करने के लिए यूरोप गया और १८ मास बाहर रहने के बाद जापान लौटा। वह यूरोप के लगभग सभी देशों में गया परन्तु वह इस दृढ़ विश्वास के साथ लौटा कि प्रशा (Prussia) के संविधान से मिलता-जुलता संविधान ही जापान के सबसे अधिक उपयुक्त रहेगा। मार्च १८८४ में संविधान के अध्ययन के लिए शाही परिवार के मन्त्रालय में एक ब्यूरो (Bureau) की स्थापना की गई और यह इतो (Ito) की सीधी देखरेख में कार्य करने लगा। संविधान का प्रारूप बनाने के लिए प्रारम्भिक खोज को पूरा कर लेने में दो वर्ष लग गए। प्रारूप निर्माण समिति में इतो हिरोबूमी (Ito Hirobumi), इतो मियोजी (Ito Miyoji), इनूए त्सूयोशी (Inoue Tsuyoshi) और कानेको केन्तारो (Kaneko Kentaro) नामक सदस्य थे। "समिति योकोसूका (Yokosuka) से दूर नात्सूशिमा (Natsushima) के छोटे से द्वीप में अपने कार्य को करती थी जहाँ उसके सदस्य बिल्कुल एकान्त में रहते थे और जहाँ उन्हें अपने परिवार का सम्पर्क भी प्राप्त नहीं था। समय से पूर्व प्रकाशन से बचने के लिए नितान्त गोपनीयता रखी गई थी ताकि असफलता भले ही न मिले पर कहीं बाधा और विलम्ब का मुख न देखना पड़े।" डॉ० हैरमान रैसलर (Herman Raessler) जो टोक्यो शाही विश्वविद्यालय में संवैधानिक विधि के प्रोफेसर थे और जर्मनी के रहने वाले थे और ब्रिटिश राजनयज्ञ सर फ्रांसिस टेलर पिगॉट (Sir Francis Taylor Piggot) केवल ये दो विदेशी अधिकृत विद्वान थे जिनसे सलाह के लिए परामर्श किया गया था। प्रारूप समिति ने अपना कार्य १८८८ में समाप्त कर लिया और संविधान का प्रारूप प्रिवि काउन्सिल (Privy Council) को उसके अनुमोदनार्थ सौंप दिया गया। राजकुमार इतो (Prince Ito) प्रिवि काउन्सिल (Privy Council) का तत्कालीन प्रधान था। उसका अनुमोदन प्राप्त होने पर ११ फरवरी, १८८९ को संविधान सम्राट् के कल्याणमय उपहारस्वरूप जापानी राष्ट्र पर प्रतिपादित कर दिया गया। जापान में मीजी (Meiji) संविधान जापान द्वारा अपने आपको मित्र शक्तियों को समर्पण किए जाने तक प्रचलित रहा।

मीजी संविधान (Meiji Constitution) — १८८९ का संविधान शिण्टो मत के उद्धार का एक आयाकर्षक घोषणापत्र था। अनुच्छेद प्रथम विधान करता था कि "जापान का साम्राज्य अनादि काल से चली आने वाली अटूट सम्राटों की वंशावलि द्वारा शासित और नियमित रहेगा।" अनुच्छेद तृतीय कहता था कि, "सम्राट् पवित्र और अलंघ्य अथवा अनतिक्रम्य है।" ऐसे मन्त्रियों का भी विधान किया गया था जो सम्राट् को परामर्श देंगे और उसके प्रति उत्तरदायी होंगे।"

राजकुमार इतो (Prince Ito) ने मन्त्रिसम्बन्धी उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का डटकर विरोध किया था। उसका कथन था कि मन्त्रियों का डायट (Diet) के प्रति उत्तरदायी होने का अर्थ इस सिद्धान्त की अस्वीकृति होगी कि सम्राट् वास्तव मे शासक था। "कही ऐसा न हो कि खजाने की शक्ति का प्रयोग डायट (Diet) द्वारा कार्यपालिका को नियन्त्रित करने के लिए किया जाय, इतो (Ito) के सविधान ने इस बात का विधान किया था कि जब डायट (Diet) आय-व्ययक अधिनियम बनाने में असफल रहे तो सरकार गत वर्ष के आय-व्ययक को ही स्वीकार कर ले।"[1]

इस प्रकार मीजी (Meiji) संविधान द्वारा स्थापित सरकार के ढाँचे में सम्राट् केन्द्रीय व्यक्ति था और जापान के राज्य को उसकी शाही सस्था के रूप मे ही समझा जा सकता था। मन्त्रिगण सम्राट् को केवल परामर्श ही देते थे परन्तु निर्णय महामहिम सम्राट् के हाथ ही होता था। वास्तव में राज्य की कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका नामक समस्त शक्तियां सम्राट् मे ही सकेन्द्रित थी। सवैधानिक विधि के प्रसिद्ध अधिकृत विद्वान प्रो० फूजीइ शिन्ची (Prof. Fujii Shinchi) सम्राट् की शक्तियों और उसकी स्थिति का सार रूप मे वर्णन करते हुए कहते है कि "राज्य के कार्यों के ऊपर टेन्नो (Tenno) अर्थात् सम्राट् की सर्वोच्च शक्ति विस्तृत अर्थो मे उसी क्षेत्र को आच्छादित करती है जिस क्षेत्र को उसकी सर्वप्रभुतासम्पन्न शक्ति आच्छादित करती है जिसके अन्तर्गत व्यवस्थापन, प्रशासन और न्यायपालिका के क्षेत्र सम्मिलित है। टेन्नो (Tenno) के नाम पर न्यायालयों में प्रयुक्त की जाने वाली न्यायिक शक्ति, टेन्नो (Tenno) द्वारा व्यक्तिगत तौर पर ध्यान दिए जाने वाले मामलो से बाहर, विभिन्न प्रशासनिक साधनों द्वारा प्रयोग मे लाई जाने वाली कार्यपालिका शक्ति और शाही डायट (Imperial Diet) की सहमति से प्रयुक्त की गई व्यवस्थापिका शक्ति—ये समस्त शक्तियाँ टेन्नो (Tenno) की सर्वोच्च शक्ति में लीन थी। यद्यपि ये शक्तियाँ टेन्नो (Tenno) द्वारा वैयक्तिक रूप मे प्रयोग मे नही लाई जाती थी तथापि वे सबकी सब टेन्नो (Tenno) की सर्वोच्च शक्ति से ही उद्गत होती थी।" अतएव शासन के विविध उपभाग सम्राट् से ही सत्ता ग्रहण करते थे और केवल उन्ही शक्तियो का प्रयोग करते थे जो शासन की प्रत्येक शाखा को प्रदत्त की गई थी।

व्यवस्थापिका शाखा अर्थात् शाही डायट (Imperial Diet) द्वि-सदनात्मक थी। उच्च सदन को कुलीनों का सदन (The House of Peers) कहा गया था और यह सदन कुलीन, प्रतिनिधि कुलीन, अधिकतम कर-दाताओं के प्रतिनिधि और सम्राट् द्वारा नियुक्त किए गए व्यक्तियों से मिलकर बना होता था। कुलीन बनाने

---

1. Theodore McNelly, *Contemporary Government of Japan*, p. 16.

की प्रथा को इतो (Ito) ने १८८४ में प्रारम्भ किया था ताकि सम्राट् अपने लिए और नए शासन के लिए दरबारी कुलीनों, अपमानित सामुराइयों और धनी व्यापारियों से समर्थन प्राप्त कर सके। निम्न सदन के सदस्य जिसे प्रतिनिधि सदन कहा जाता था, अपेक्षतया एक छोटे निर्वाचक वर्ग द्वारा चुना जाता था जिसमें सम्मिलित होने के लिए एक न्यूनतम कर देना आवश्यक था।

न्यायपालिका भी सरकार का एक स्वतन्त्र विभाग नहीं था बल्कि उसे कार्यपालिका की एक भुजा बनाया गया था। न ही संविधान ने न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता के विषय में कोई विश्वास दिलाया था और इसके साथ ही न्यायिक पुनरीक्षण का भी कोई विधान नहीं किया गया था। तदनुसार, न्यायपालिका संविधान की अभिरक्षिका नहीं थी और उनके पास संविधान की पवित्रता बनाए रखने के लिए कोई शक्ति नहीं थी। हाँ, फ्रांस के समान प्रशासनिक मामलों के अधिनिर्णय के लिए एक पृथक् प्रशासनिक न्यायालय का विधान अवश्य किया गया था।

१८८८ में जारी किए गए एक शाही अध्यादेश (Imperial Ordinance) द्वारा प्रिवि परिषद् (Privy Council) की स्थापना की गई थी जो एक प्रधान, एक उपप्रधान और २५ काउन्सिल (परिषद्) सदस्यों से मिलकर बनी थी और ये सब नियुक्तियां 'राज्य के मन्त्रियों' के परामर्श पर सम्राट् द्वारा की गई थीं। संविधान इस बात का विधान करता था कि "प्रिवि परिषद् सम्राट् द्वारा सलाह लिए जाने पर राज्य के महत्त्वपूर्ण मामलों पर विचार-विमर्श करेगी।" १८६० के शाही अध्यादेश द्वारा प्रिवि परिषद् के कृत्यों का और भी अधिक स्पष्टीकरण कर दिया गया। इसके द्वारा प्रिवि परिषद् को यह अधिकार प्राप्त हो गया था कि वह सम्राट् को, शाही परिवार कानून, संविधान की व्याख्या, सैनिक कानून और शाही अध्यादेशों की घोषणा, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों और समझौतों, प्रिवि परिषद् के संगठन और उसके विचार-विमर्श के लिए प्रस्तुत अन्य मामलों पर सलाह दे सके। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को परिषद् के विचार-विमर्श में भाग लेने का अधिकार प्राप्त था और वे अपना मतदान भी कर सकते थे। बहुसंख्यक मत के आधार पर ही निर्णय लिए जाते थे। राजकुमार इतो हिरोबूमी (Prince Ito Hirobumi) प्रिवि परिषद को 'सम्राट् के संवैधानिक परामर्शदाताओं का सर्वोच्च निकाय' और 'संविधान का रक्षक' मानता था।

मीजी (Meiji) संविधान का एक अन्य विशेष लक्षण यह था कि इसमें एक अधिकार-पत्र (Bill of Rights) भी सम्मिलित था। समस्त मूलभूत अधिकारों को इसमें गिनाया गया था, जैसे विचार, भाषण, धर्म, सभा, समुदाय, प्रेस और सम्पत्ति सम्बन्धी स्वतन्त्रताएँ। किन्तु ये समस्त स्वतन्त्रताएँ केवल सम्पत्ति के अधिकार को छोड़कर इस कथन से मर्यादित थीं कि ये कानून के अधीन और उसकी सीमाओं के अन्दर प्राप्त होंगी, और कानून का अर्थ डायट द्वारा अधिनियमित व्यवस्थापन ही

नही था अपितु उसमें उन नियमो और अध्यादेशों का भी समावेश था जो समय-समय पर निर्गत होते रहते थे। अत. लोगो के अधिकारो और स्वतन्त्रताओ का वास्तविक प्रयोग संकुचित स्वरूप और सकुचित विस्तार लिए हुए था।

उपर्युक्त संविधान यद्यपि अट्ठावन वर्ष तक बना रहा परन्तु इसमे कभी भी सशोधन नहीं किया गया। पुनरुद्धार और मीजी (Meiji) सविधान की सफलताएँ, प्रधान मन्त्री के कार्यालय से सम्बद्ध साख्यिकी ब्यूरो (Bureau of Satistics) द्वारा निर्गत एक प्रकाशन के शब्दो मे बडी अच्छी तरह सार रूप मे इस प्रकार कही जा सकती है। "मीजी पुनरुद्धार (Meiji Restoration) किसी बाँध के टूट कर बह निकलने के समान था जिसके पीछे शताब्दियो की शक्ति और बल जमा हो चुका था। पश्चिम को आधुनिक उद्योगो, आधुनिक राजनीतिक सस्थाओं और आधुनिक समाज के नमूने से युक्त आधुनिक राष्ट्र बनने मे अनेक शताब्दियाँ लगी थी, किन्तु जापान ने इन सब वस्तुओ को कुछ एक दशाब्दियो मे ही प्राप्त करने का बीडा उठा लिया था। शक्तियों के सहसा उन्मुक्त होने से उत्पन्न होने वाले उभार और उत्तेजना ने समुद्र पार भी अपना प्रभाव प्रतीत करवाया। १८९४-९५ के चीन-जापान युद्ध में और १९०४-५ के रूस-जापान युद्ध मे जापान विजेता होकर निकला। प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त तक जिसमे जापान १९०२ की ऐंग्लो-जापानी सधि के अन्तर्गत सम्मिलित हुआ था, वह ससार की महाशक्तियो मे से एक मान लिया गया था।"[1]

एक आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र के रूप मे और संसार की सबसे बड़ी शक्तियो मे से एक होने में जापान की उन्नति यद्यपि अत्यन्त आश्चर्यजनक और तीव्र थी तथापि कुछ एक समस्याएँ ऐसी थीं जो राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के सम्मुख १९२५ के आस-पास आईं। १९२९ के विश्वव्यापी आर्थिक अवसाद ने इन समस्त समस्याओं मे और भी तेजी ला दी। कुछ एक तत्व, जो विशेषतया सेना मे पाये जाते थे, इस बात के पक्ष में थे कि जापान के सम्मुख आ रही कठिनाइयों का एकमात्र हल समुद्र-पार विस्तार है और अन्ततोगत्वा यही तत्त्व राष्ट्रीय नीति पर छाये रहे और उसे नियन्त्रित करते रहे। सैनिकवादियो और अत्यन्त राष्ट्रवादियों ने जापान के ऐसे साम्राज्य बनने के विषय में भविष्यवाणी कर दी थी जो अन्त मे जाकर पूर्वी एशिया पर छा जाएगा। तदनुसार, उन्होंने जातीय विशेषता के पौराणिक सिद्धान्तो का, राष्ट्रीय श्रेष्ठता का और दैवी प्रमाणित साम्राज्यवाद का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। मंचूरिया के ऊपर जापान के अधिकार को उन्होंने बड़ी चालाकी से स्थापित करवा लिया और चीन में अन्य सैनिक साहसपूर्ण कार्यों को करने का भी प्रयत्न करने लगे और आखिरकार राष्ट्र को प्रशान्त महासागर के युद्ध

1. p. 4.

में धकेल कर भयंकर हार के परिणाम से ग्रस्त हो गए। युद्ध के पश्चात् जापान को मित्र राष्ट्रों के अधिकार के अधीन रखा गया और १९४७ में लोकतन्त्र और शान्ति के आदर्शों पर आधारित एक नया संविधान; जिसकी कल्पना अधिकार करने वाली शक्तियों ने की थी, उस देश में लागू कर दिया गया। १९५२ में जापान को पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई, और कुछ वर्षों के अनन्तर उसने राष्ट्र-संघ में भी प्रवेश पा लिया।

अध्याय २

नया संविधान (१९४७)

[The New Constitution (1947)]

पोट्सडम घोषणा और जापान का अध्यासन (The Potsdam Declaration and Occupation of Japan)—२६ जुलाई, १९४५ को जर्मनी के पोट्सडम नगर में राष्ट्रपति ट्रूमैन और प्रधानमन्त्री क्लीमैंएट एटली (जो अभी अभी श्री विन्सटन चर्चिल के पश्चात् प्रधान मन्त्री बने थे) ने च्याङ्ग काई-शेक की सहमति से एक घोषणा निर्गत की थी जिसमें जापान के समर्पण सम्बन्धी शर्तें उल्लिखित थी। वस्तुतः यह अमेरिका की कृति थी क्योंकि इसका प्रारूप संयुक्त राज्य अमेरिका ने ही बनाया था और मूलतः उस पत्र पर आधारित था जो राज्य विभाग के दो अधिकारियों ने तैयार किया था। रूस ने पोट्सडम घोषणा पर हस्ताक्षर नही किए थे क्योकि वह उस समय जापान से युद्ध करने वालों मे से नही था। दो सप्ताह पश्चात् जब रूस भी युद्ध मे कूद पड़ा तो उसने पोट्सडम घोषणा में अन्तर्विष्ट सिद्धान्तों के प्रति अपना अनुमोदन व्यक्त कर दिया। चूंकि पोट्सडम की समर्पण की शर्तों का १९४७ के संविधान के साथ महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है अतएव उन्हे सम्पूर्ण रूप से यहाँ उद्धृत किया जाता है।

"हमेशा के लिए उन लोगों की सत्ता और प्रभाव को निरस्त कर देना चाहिए जिन्होंने जापान के लोगों को विश्व-विजय के कार्य के नाम पर ठगा और उन्हे भ्रम मे रखा। क्योंकि हमारा आग्रह है कि शान्ति की नई व्यवस्था, सुरक्षा और न्याय तब तक असम्भव रहेंगे जब तक कि अनुत्तरदायी सैनिकवाद संसार से खदेड़ नही दिया जाता।

"जब तक कि इस प्रकार की नई व्यवस्था स्थापित नही हो जाती और जब तक कि इस बात का विश्वसनीय प्रमाण नही मिल जाता कि जापान की युद्धोत्पादक शक्ति नष्ट हो गई है, जापान के प्रदेश में भिन्न राष्ट्रों द्वारा अभिहित स्थान अधिकार के अन्दर बने रहेंगे ताकि उन आधारभूत उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके जिन्हें हम प्रस्तुत कर रहे है।

काहिरा (Cairo) घोषणा[1] की शर्तों का पालन किया जायेगा और जापानी

---

१. रूजवेल्ट, च्याङ्ग और चर्चिल की १ दिसम्बर, १९४३ को काहिरा (Cairo) घोषणा ने

प्रदेश की सीमा होन्शू (Honshu), होक्कैडो (Hokkaido), क्युशु (Kyushu), शिकोकू (Shikoku) द्वीपों और अन्य ऐसे छोटे द्वीपों तक सीमित रहेगी जिनका निश्चय हम करेंगे।

"जापानी सैनिक पूर्णतया नि:शस्त्र किए जाने के पश्चात् अपने-अपने घरों को लौट सकेंगे ताकि उन्हें शान्तिमय और उत्पादी जीवन बिताने का अवसर प्राप्त हो सके।

"हमारी यह इच्छा नहीं है कि जापानी एक जाति के रूप में गुलाम बना दिए जायें अथवा एक राष्ट्र के रूप में उन्हें नष्ट कर दिया जाय, किन्तु समस्त युद्ध अपराधियों के साथ कठोर न्याय किया जायेगा, इनमें वे लोग भी सम्मिलित होंगे जिन्होंने हमारे बन्दियों के साथ अत्याचार किया है। जापानी सरकार जापानी लोगों में प्रजातन्त्रीय प्रवृत्तियों की रक्षा और उसकी सुदृढ़ता के रास्ते में आने वाली सब बाधाओं को दूर करेगी। भाषण, धर्म और विचार की स्वतन्त्रता के साथ-साथ मूलभूत मानव अधिकारों के प्रति आदर-भाव भी स्थापित किया जायेगा।

"जापान को ऐसे उद्योगों को बनाए रखने की आशा होगी जो उसकी अर्थ-व्यवस्था का पोषण कर सकें और वस्तु रूप में उचित हानिपूरणों के निष्पादन की अनुज्ञा दें, किन्तु उन उद्योगों के लिए नहीं जो उसे फिर युद्ध के लिए अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करें। इस दिशा में, नियन्त्रण से भिन्न उसे कच्चा सामान प्राप्त करने की आशा होगी। अन्ततः, जापान को विश्व व्यापारिक सम्बन्धों में भाग लेने की अनुमति होगी।

"ज्योंही उन उद्देश्यों की निष्पत्ति हो जायेगी और जापानी लोगों द्वारा स्वच्छन्दता-पूर्वक प्रकाशित इच्छा अनुसार शान्ति की ओर झुकाव रखने वाली और उत्तरदायी सरकार स्थापित हो जायेगी मित्र राष्ट्रों की अधिकारी सेनाएँ जापान से हटा ली जाएंगी।"

पोट्सडम घोषणा की शर्तों की स्वीकृति विषयक जापानी सरकार का पहला प्रस्ताव स्विस सरकार द्वारा १० अगस्त, १६४५ को पहुँचाया गया परन्तु साथ ही यह प्रस्ताव 'इस अवबोध अर्थात् समझौते से युक्त था कि कथित घोषणा में ऐसी कोई माँग नहीं है जो किसी प्रकार से महामहिम के सर्वप्रभुतासम्पन्न शासक के रूप में उसके विशेषाधिकारों के प्रतिकूल सिद्ध हो।" मित्र-राष्ट्रों ने संकेतित विषय पर

इस बात का विधान किया था कि जापान से वे सब द्वीप छीन लिए जायेंगे जो उसने प्रशान्त महासागर में प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ से लेकर छीन लिए हैं या जिन पर अधिकार कर लिया है। इसके अतिरिक्त जापान द्वारा चीन से चुराए गए मंचूरिया, फौरमोसा और पैस्काडारस् नामक समस्त स्थान चीन गणतन्त्र को लौटा दिए जायेंगे। जापान इन अन्य समस्त प्रदेशों से भी निकाल दिया जायेगा जो उसने बलपूर्वक और लालच के कारण अपने अधिकार में कर लिए हैं। कोरिया कालक्रम से मुक्त और स्वाधीन बन जायेगा।

अपने उत्तर में सम्राट की स्थिति कुछ अप्रत्यक्ष रूप से निम्नलिखित शब्दों में प्रगट की। "समर्पण के क्षण से सम्राट् और जापानी सरकार की सत्ता मित्र-शक्तियों के सर्वोच्च सेनानायक के अधीन हो जायगी जो समर्पण की शर्तों को प्रभावी बनाने के लिए ऐसे कदम उठायगा जिन्हें वह उचित समझे। जापान की सरकार का अन्तिम रूप पोट्सडम घोषणा के अनुसार स्वच्छन्दतापूर्वक प्रकाशित की गई जापानी लोगों की इच्छा द्वारा स्थापित होगा।" इसका स्पष्ट अर्थ यही था कि जापान पर अधिकार कर लेने के पश्चात् भी दो प्रतिबन्धों (शर्तों) को ध्यान में रखते हुए मित्र शक्तियाँ जापान में राज्य-तन्त्र का बने रहना पसन्द करेंगी। प्रथम प्रतिबन्ध तो यह था कि सम्राट् मित्र शक्तियों के सर्वोच्च सेनापति की सत्ता के अधीन रहेगा और दूसरा यह कि शासन के भावी स्वरूप और उसके अन्तर्गत सम्राट् द्वारा किये जाने वाले कार्य का निश्चय जापानी लोग स्वयं करेंगे।

जापान ने इन दो आश्वासनों को भी स्वीकार कर लिया कि उसके आत्म-समर्पण के बाद सम्राट् का शासन जारी रहेगा और जापानी सरकार बनी रहेगी। २ सितम्बर, १९४५ को मित्र शक्तियों और जापानी प्रतिनिधियों ने टोक्यो की खाड़ी में यू० एस० एस० मिसूरी (U. S. S. Missouri) जहाज के ऊपर समर्पण के सलेख (Instrument of Surrender) पर हस्ताक्षर कर दिए। जनरल डगलस मैकार्थर (General Douglas MacArthur) को जापान पर अधिकार करने के कार्य का संचालन करने के लिए मित्र शक्तियों का सर्वोच्च सेनापति नियुक्त किया गया और साथ ही उसे समर्पण की शर्तों को कार्यान्वित करने के लिए कहा गया जो संक्षेप में विसैन्यीकरण, निःशस्त्रीकरण और लोकतन्त्रीकरण के कार्यों के सिवाय और कुछ नहीं था।

यद्यपि मित्र-शक्तियों का जापान पर पूर्णरूपेण अधिकार हो गया था और उनके सर्वोच्च सेनापति की सत्ता निरंकुश थी तथापि जापानी शासन पूर्ववत् चलता रहा और सम्राट् राष्ट्र का प्रधान बना रहा। मित्र शक्तियों ने या यूँ कहिए सर्वोच्च सेनापति ने कभी भी जापान पर सीधा शासन नहीं किया। यह स्थिति जर्मनी से बिल्कुल भिन्न थी। सर्वोच्च सेनापति और जापानी सरकार के बीच रहने वाला सम्बन्ध (United States Initial Post-surrender Policy for Japan) नामक एक नीति पत्र (Policy Paper) में स्पष्टतया उल्लिखित कर दिया गया था।[1] इस बात का निश्चय कर लिया गया था कि :

---

१. जिन दिनों पोट्सडम कान्फ्रेंस अभी हो ही रही थी उन्हीं दिनों अमरीकी सरकार के अन्दर पराजित जापान के सम्बन्ध में नीति निर्माण के क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हलचल हो रही थी। राज्य, युद्ध और नौ सेना समन्वय समिति (SWNCC) ने "United States Initial Post-surrender Policy for Japan" नामक एक नीति पत्र निकाला था। राष्ट्रपति ने इसका अनुमोदन कर दिया था और यही उस नीति का आधार बना जिसे जनरल मैकार्थर ने क्रिया रूप में परिणत करना था।

"सम्राट् और जापानी सरकार की सत्ता सर्वोच्च सेनापति के अधीन रहेगी और उसी के पास समर्पण की शर्तों को क्रियान्वित कराने की और जापान पर अधिकार और नियन्त्रण कराने के लिए स्थापित की गई नीतियों का पालन कराने की समस्त शक्तियां होंगी।"

"जापानी समाज के वर्तमान गुण को और अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपनी सेनाओं और संसाधनों की अल्पतम वचनबद्धता का प्रयोग करने की अमरीकी इच्छा को ध्यान में रखते हुए सर्वोच्च सेनापति, सम्राट् समेत जापानी सरकार के संयन्त्र और अभिकरणों द्वारा, उसी सीमा तक अपनी सत्ता का प्रयोग करेगा जिस सीमा तक वह सन्तोषजनक ढंग से संयुक्त राज्य अमेरिका के उद्देश्यों की पूर्ति करने में सहायक होगी। उसके निर्देशों के अधीन जापानी शासन को घरेलू प्रशासन के मामलों में शासन की साधारण शक्तियां का प्रयोग करने की अनुमति होगी। परन्तु यदि समर्पण की शर्तों को क्रियान्वित कराने के समय सम्राट् या अन्य जापानी अधिकारी सन्तोषजनक ढंग से सर्वोच्च सेनापति की आवश्यकताओं की पूर्ति न करे तो सर्वोच्च सेनापति का यह अधिकार और कर्त्तव्य होगा कि वह उस नीति में परिवर्तन करने के लिए सरकारी संयन्त्र या अधिकारियों में परिवर्तन करे अथवा प्रत्यक्ष रूप में स्वयं कार्य करे। इसके अतिरिक्त, यह नीति सर्वोच्च सेनापति को इस बात के लिए वचनबद्ध नहीं करती कि वह जापानी सम्राट् अथवा किसी अन्य जापानी सत्ता द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका के उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में देखने वाले विकासशील परिवर्तनों का विरोध करने पर भी उनका (सम्राट् इत्यादि का) समर्थन करें। नीति यही होगी कि जापान में सरकार के विद्यमान स्वरूप का प्रयोग किया जाय, न कि उसका समर्थन किया जाय। जापानी लोगों द्वारा अथवा शासन द्वारा शासन के स्वरूप में सामन्त तथा प्राधिकारवादी अपनी प्रवृत्तियों में परिवर्तन करने की दिशा में किए जाने वाले परिवर्तनों की आज्ञा होगी और उनका पक्षपात किया जायगा। इन परिवर्तनों के प्रभावी बनने की स्थिति में यदि जापानी लोगों अथवा सरकार द्वारा लोगों के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग संनिहित हो तो सर्वोच्च सेनापति केवल तभी दखल दे जब उसे अपनी सेनाओं की सुरक्षा और अधिकार करने के सम्बन्ध में समस्त अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति के विषय में अपने आपको आश्वस्त करना आवश्यक हो।"

अतः जापानी सरकार एक उपकरण थी जिसके द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने उद्देश्यों को प्राप्त करना था। सर्वोच्च सेनापति की सत्ता सब प्रकार से पूर्ण थी और यह उसका "अधिकार और कर्त्तव्य" था कि वह उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने द्वारा आवश्यक और समुचित समझे जाने वाले परिवर्तनों को ठीक प्रकार से और जल्दी से जल्दी लागू करे। जापानी सम्राट् अथवा किसी अन्य जापानी सत्ता द्वारा समर्पण की शर्तों की ठीक प्रकार से क्रियान्विति न होने के कारण सर्वोच्च सेनापति की आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर वह सरकारी संयन्त्र

अथवा सेवि-वर्ग में आवश्यक समझे जाने वाले परिवर्तन लाने के लिए आज्ञा दे सकता था अथवा सीधा ही स्वयं कार्य कर सकता था। इस विषय मे काम मे लायी जाने वाली वास्तविक प्रक्रिया यह थी कि सर्वोच्च सेनापति की सत्ता के अधीन निर्देश निर्गत होते थे और जापानी सरकार को उनका पालन करना पड़ता था। अधिकार करने से सम्बद्ध अधिकारी जापानी सरकार के कार्यों पर कड़ी नज़र रखते थे ताकि इस बार में आश्वस्त रहा जा सके कि दिए गए निर्देशो का पूरी तरह पालन किया जा रहा है। "इसके साथ-साथ सरकार और अधिकार करने से सम्बन्ध रखने वाले अधिकारियों के बीच अनौपचारिक सम्बन्ध के स्वरूपों का भी लगभग समान महत्त्व था जिनके अन्तर्गत जनरल मैकार्थर द्वारा जापानी प्रधान मन्त्री को दिए गए वे सुझाव आते थे, जो अधिकार करने से सम्बद्ध अधिकारियो और जापानी अधिकार-मानियो (Bureaucrats) के बीच होने वाली कान्फ्रेन्सो मे दिए जाते थे, या जहाँ काम के घण्टों के बाद जापानियों और अमरीकियो के बीच वह निजी बातचीत समाविष्ट होती थी जिसमें दोनों ही शान्तिमय विकास द्वारा उत्पन्न समस्याओं को हल करने में पारस्परिक हित देखते थे।"[1]

विसैन्यीकरण अपेक्षतया एक सरल समस्या थी और अधिकार करने से सम्बन्ध रखने वाले अधिकारियो ने उसे बड़ी शीघ्रता से और कुशलता से हल कर लिया। १६४८ के अन्त तक जापान मे पूरी तरह से विसैन्यीकरण हो गया था। पर लोकतन्त्रीकरण एक जटिल समस्या थी और इसके कारण बहुत-सी कठिनाइयाँ सामने आईं। लोकतन्त्रीकरण का कोई भी कार्यक्रम तब तक अव्यवहार्य और व्यर्थ सा प्रतीत होता था जब तक कि जापानी जनसमुदाय का एक अच्छा खासा भाग, विशेषत: उसके आलोचक तत्त्व, लोकतन्त्र के मूल्य मे विश्वास पैदा नही कर लेते और उसको लागू करने का समर्थन करना प्रारम्भ नही कर देते। ताकि लोग लोकतन्त्रीय व्यवस्था को भली प्रकार समझ सकें, इस दिशा मे पहला प्रयत्न ४ अक्टूबर, १६४५ को किया गया जब कि "राजनीतिक, नागरिक और धार्मिक स्वतन्त्रताओं के ऊपर प्रतिबन्धों का अपनयन" (Removal of Restrictions on Political, Civil and Religious Liberties) नाम से मूलभूत निदेशमाला जारी की गई। इसके साथ ही जापान सरकार को आदिष्ट किया गया कि वह तुरन्त ही समस्त राजनीतिक कैदियों को मुक्त कर दे, उन समस्त सरकारी अभिकरणों को समाप्त कर दे जो प्रतिबन्धो और भेदभाव बनाए रखने के लिए उत्तरदायी हो, इनसे सम्बन्ध रखने वाले ऐसे समस्त अधिकारियों को भी अपने पद से हटा दे और किसी भी प्रकार के महत्त्वपूर्ण पद पर होने वाली उनकी भावी नियुक्तियों पर भी रोक लगा दे। इन सब बातो का उद्देश्य सब प्रकार के विशेषाधिकारों और निहित स्वार्थों का अन्त करना था और स्वतन्त्रता की एक ऐसी जनवायु पैदा करनी थी जिसमें

1. Maki, John M., *Government and Politics in Japan*, p. 49.

जापानियों के लिए एक ऐसी स्थिति बन जाय जहाँ वे आधारभूत मानवीय अधिकारों की माँग कर सकें और उन्हें सुरक्षित रख सकें, ऐसी स्थिति जो अभी तक जापानियों के पास नहीं थी और जिसके पैदा होने पर उन्हें अपना राजनीतिक भविष्य निर्धारित करने का अवसर प्राप्त हो सके।

शीघ्र ही इसके पश्चात् जनरल मैकार्थर ने ११ अक्टूबर, १९४५ को जापान के प्रधान मन्त्री को सूचित किया कि, "पोट्सडम घोषणा की सफलता के लिए सदियो से चली आ रही पारस्परिक सामाजिक व्यवस्था जिसके अधीन जापानी लोग रहते चले आ रहे है, ठीक की जायगी।" तदनुसार, सर्वोच्च सेनापति ने जापानी सरकार को निम्नलिखित सुधारों को तुरन्त लागू करने के लिए आज्ञा दी ; स्त्रियों को मतदान का अधिकार देकर उनके दासत्व से मुक्ति, श्रम-संगठनों को प्रोत्साहन, अधिक उदार शिक्षा के लिए स्कूलों का खोला जाना, उन प्रणालियों की समाप्ति जो "गुप्त पूछताछ और तिरस्कार द्वारा लोगों को लगातार भयाकुल करती रहती थी।" और आर्थिक संस्थाओं का लोकतन्त्रीकरण जो वितरण और व्यापार को विस्तृत करने के लिए एकाधिकारों में कमी पैदा करने के द्वारा किया जाना था। शिदेहारा (Shidehara) सरकार ने अधिकार करने से सम्बद्ध अधिकारियो से विचार-विमर्श करके सामाजिक और राजनीतिक सुधारों से सम्बन्ध रखने वाले आवश्यक कानूनों के निर्माण की दिशा मे तुरन्त कदम उठा लिये ताकि मित्र शक्तियों की नीति को कार्यान्वित किया जा सके।

१५ दिसम्बर, १९४५ को सर्वोच्च सेनापति द्वारा निर्गत एक अन्य निदेश ने इस बात की माँग की कि राज्य-धर्म 'शिन्टो' को समाप्त कर दिया जाय। इसका उद्देश्य यही था कि "सम्राट्, जो अभिकथित दैवी गुणों से युक्त होने के कारण निरकुश शासक बना हुआ था, अब केवल एक साधारण मानव बन जाय जो राष्ट्र के और लोगों की एकता के प्रतीक के रूप मे कार्य करे।"[1] इस निदेश के दो सप्ताह बाद जिसमें 'शिन्टो' की समाप्ति की माँग की गई थी, सम्राट् ने १९४६ के नये वर्ष के संदेश में यह घोषणा की कि सिंहासन और लोगों के बीच रहने वाले बन्धन "कोरी कल्पित गल्पो और पौराणिक कथाओं पर आश्रित नहीं रहते है। उनका इस झूठी सबोधना पर भी विधान नहीं होता है कि सम्राट् दैवी वस्तु है और जापानी लोग अन्य जाति के लोगो की अपेक्षा श्रेष्ठ है और उनके भाग्य में ससार के ऊपर शासन करना लिखा है।" इस प्रकार, अति राष्ट्रीयतावाद और सैन्यवाद का विचारधारा सम्बन्धी आधार जो कि सदियों से सिंहासन का धर्म रहा था जापान से मिटा दिया गया। इसके पश्चात् महान् शोधन-कार्य चला। ४ जनवरी, १९४६ को सर्वोच्च सेनापति ने जापानी सरकार को आज्ञा दी कि वह उन समस्त लोगो को, जो युद्धापराधी होने के सदेह मे गिरफ्तार किए गए थे, अपने पदो से

1. Maki, John M, *Government and Politics in Japan*, p. 50.

हटाने और उनसे अपवर्जित करने की योजना बनाए। इन लोगों में शाही जापानी सशस्त्र सेना के कमीशन प्राप्त अफसर और अन्य लोग थे जिन्होंने सेना-पुलिस और गुप्तचर विभाग में कार्य किया था, युद्ध और सेना मन्त्रालय के उच्च पदों पर प्रतिष्ठित असैनिक अधिकारी थे, अन्तर्राष्ट्रीयतावादी, आतंकवादी, अथवा गुप्त देशभक्त संगठनों के प्रभावशाली सदस्य थे, शाही शासन सहायक संघ (The Imperial Rule Assistance Association) के क्रियाकलापों मे प्रभावोत्पादक लोग और अन्य मिलते-जुलते सगठनों के सदस्य थे, जापानी विस्तार से सम्बन्ध रखने वाले वित्तीय और विकास सम्बन्धी सगठनों के अधिकारी थे, अधिकृत प्रदेशों के गवर्नर और अतिरिक्त सैन्यवादी और अति राष्ट्रीयतावादी लोग थे।

जापानी संविधान की पुनरावृत्ति का प्रथम प्रयत्न (First effort to revise the Japanese Constitution)—पोट्सडम घोषणा का घोषित उद्देश्य जापानी लोगों द्वारा स्वच्छन्दतापूर्वक प्रकाशित की गई इच्छा के अनुसार शान्ति की ओर झुकाव रखने वाली और उत्तरदायी सरकार की स्थापना किया जाना था और अधिकार करने वाली सेनाओं की वापसी के लिए यह पूर्ववर्ती शर्त बनाई गई थी। ४ अक्टूबर, १९४५ को जनरल मैकार्थर ने हिगाशी कुमी (Higashi Kumi) मंत्रिमण्डल में उप-प्रधान मंत्री राजकुमार कोनोयी फूमीमारो (Prince Konoye Fumimaro) से आग्रह किया कि वह मीजी (Meiji) सविधान की पुनरावृत्ति करने के लिए पहल करे। राजकुमार कोनोयी (Prince Konoye) को बाद के शिदेहारा (Shidehara) मंत्रिमण्डल में नहीं लिया गया किन्तु वह सम्राट् से इस आयोग को प्राप्त करने मे सफल हो गया कि वह इस बात की खोज करे कि क्या सविधान मे पुनरावृत्ति की आवश्यकता है और यदि है तो किस सीमा तक ? कोनोयी ने उस समय टोक्यो में स्थित Mr. George C. Atches Jr., SCAP[1] के राजनीतिक परामर्शदाता और अमरीकी राज्य विभाग के तीन अधिकारियों के साथ कई एक निजी कान्फ्रेंसो में बातचीत की। इन अधिकारियों ने कोनोयी का ध्यान मीजी (Meiji) संविधान के उन बहुत सारे भागों की ओर दिलाया जिनके विषय मे वे अनुभव करते थे कि पुनरावृत्ति की आवश्यकता है, किन्तु उस समय सम्राट् नामक संस्था की समाप्ति की ओर कोई संकेत नहीं किया गया।[2] जो भी हो, मित्र देशों के अधिकारियों के बीच मे यह आम भावना पायी जाती थी कि कोनोयी के अभिकथित युद्धदोषी होने के कारण संविधान में सुधारों से सम्बन्ध रखने वाली किसी योजना के साथ उसका कोई संबंध नहीं होना चाहिए। यह कहा जाता था कि अमरीकी राज्य सरकार के अधिकारियों और कोनोयी के बीच होने वाली कान्फ्रेंसों ने सर्वोच्च सेनापति को क्रुद्ध कर दिया था और उसने उन्हें इस बात के लिए आदेश दे दिया था

1. Supreme Commander Allied Powers.
2. Thedore McNelly, *Contemporary Government of Japan*, pp. 37-38.

कि वे अब कोनोयी (Konoye) से और अधिक बातचीत न करें। "१ नवम्बर को SCAP के मुख्य कार्यालय ने इस बात की घोषणा कर दी कि मैकार्थर ने जापानी सविधान मे सुधार करने के लिए कोनोयी (Konoye) को नहीं चुना है।"

किंतु कोनोयी (Konoye) ने अपना कार्य जारी रखा और नवम्बर के अन्त मे उसने सम्राट् को सवैधानिक सुधारो के सम्बन्ध मे अपना प्रतिवेदन दे डाला। उसने इस बात की सिफारिश की कि डायट (Diet) को शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से मीजी (Meiji) सविधान मे पुनरावृत्ति अपेक्षित है, किंतु इस प्रकार की पुनरावृत्ति सविधान के इस आधारभूत सिद्धान्त का नाश न करे कि सम्राट् मे ही प्रभुसत्ता निवास करती है। दिसम्बर मे कोनोयो पर युद्ध-अपराधी होने का दोष लगाया गया पर इससे पूर्व कि वह गिरफ्तार किया जा सके उसने आत्महत्या कर ली।

अक्टूबर मे ठीक उसी समय जब राजकुमार कोनोयी ने सम्राट् से इस बारे मे खोज करने के लिए कि सविधान मे पुनरावृत्ति की आवश्यकता है भी या नहीं अधिकार प्राप्त कर लिया था, जनरल मैकार्थर ने प्रधान मन्त्री शिदेहारा (Shidehara) को बुलाकर उन्हे विशेषतया इस बात के लिए परामर्श दिया था कि जापानी सरकार मे तुरन्त सुधार होना चाहिए और तदनुसार सविधान मे उदारता की आवश्यकता है। प्रधान मन्त्री ने युक्ति दी कि सविधान मे किसी प्रकार की पुनरावृत्ति की आवश्यकता नही है क्योंकि डायट (Diet) ने पहले से ही मतदान के क्षेत्र मे विस्तार करने के साथ-साथ अन्य सम्बद्ध सुधारों के विषय मे अधिनियम बना कर उद्देश्य की पूर्ति कर दी है। किन्तु मैकार्थर सहमत न हो सका। उसने प्रधान मन्त्री से अपना रोष भी प्रकट किया और उसे इस बात के लिए बाध्य कर दिया कि वह सुधार-सम्बन्धी प्रस्तावों की सिफारिश करने के लिए और संविधान की पुनरावृत्ति के लिए एक समिति बनाए।

मोत्सूमोटो जोजी (Motsumoto Joji) की अध्यक्षता मे बनाई गई सविधान सुधार सम्बन्धी समिति प्रारम्भ मे सविधान में ठोस परिवर्त्तनों का प्रस्ताव रखने के प्रति झुकाव नहीं रखती थी। किन्तु दिसम्बर के अन्त मे, दबाव पड़ने पर, इसे पुनरावृत्ति के सम्बन्ध मे कुछ एक ठोस प्रस्तावो का सुझाव देने के लिए बाध्य हो जाना पड़ा। इस समय तक राजनीतिक दलो ने भी सुधारो के विषय में अपने प्रस्ताव प्रस्तुत कर दिए थे। लिबरल (Liberal) और प्रगतिशील (Progressive) दलों ने यह प्रस्ताव रखा था कि डायट (Diet) की शक्तियो मे वृद्धि की जाय किन्तु इस शर्त के साथ कि इस सिद्धान्त को किसी प्रकार हानि न पहुँचे कि प्रभुसत्ता सम्राट् मे रहती है। सोशल डेमोक्रैटिक (Social Democratic) दल ने यह सुझाव दिया था कि जब कि प्रभुसत्ता राज्य मे रहती है, राजनीतिक सत्ता डायट (Diet) और सम्राट् में निहित होनी चाहिए और उस सत्ता के भी अत्यधिक महत्वपूर्ण भाग का

भागीदार डायट (Diet) को ही होना चाहिए। परन्तु दूसरी ओर साम्यवादियों ने गणतन्त्र की स्थापना के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किए। उन्होने यह भी कहा कि सम्राट् पर युद्ध अपराधी होने के नाते मुकदमा चलाया जाना चाहिए।

मैकार्थर संविधान (MacArthur Constitution)—१ फरवरी, १९४६ को मोत्सुमोटो (Motsumoto) समिति ने पुनरावृत्त संविधान का प्रारूप प्रस्तुत कर दिया पर वह सर्वोच्च सेनापति द्वारा रद्द कर दिया गया। उसने उसे प्रतिक्रियावादी बताया। अतः मैकार्थर ने SCAP के शासन विभाग को आज्ञा दी कि वह जापानी सरकार के लिए "पथ-प्रदर्शक" का कार्य करे। SCAP के शासन विभाग को दिए गए निर्देश में मैकार्थर का यह अनुदेश था कि 'पथ-प्रदर्शक' संविधान 'सम्राट्' नामक संस्था का विधान तो अवश्य करे परन्तु सम्राट् की शक्तियो का प्रयोग लोगो की इच्छानुसार किया जाय। शासन विभाग ने संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिए अधिकतम शीघ्रता से काम किया और एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर अपना कार्य समाप्त कर लिया। १३ फरवरी को इसे जापानी सरकार को दे डाला गया। ऐसा बताया जाता है कि SCAP के शासन विभाग के मुखिया, जनरल कोर्टनी व्हिटले (General Courtney Whitley) ने 'पथ-प्रदर्शक' संविधान के प्रारूप को प्रस्तुत करते समय मन्त्रिमण्डल के सदस्यो से इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि यदि वे उस संविधान मे समाविष्ट सामान्य सिद्धान्तो को स्वीकार नही करते तो जनरल मैकार्थर स्वयं सीधे ही जापान के लोगो के समक्ष वह संविधान रख देंगे और उस स्थिति मे 'सम्राट् के स्वरूप' की कोई प्रत्याभूति अर्थात् गारण्टी नही दी जा सकेगी।[1]

शिदेहारा (Shidehara) सरकार के पास प्रारूप को स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई विकल्प न था। जब उसे सम्राट् को दिखाया गया तो उसने भी यही कहा। तदनन्तर, प्रधान-मन्त्री ने अपने मन्त्रिमण्डल से इस प्रकार निवेदन किया कि, "हम इस प्रकार के संविधान को स्वीकार कर लेने से एक अत्यन्त गम्भीर बात के लिए अपने आपको वचनबद्ध कर रहे हैं। जब वह प्रारूप प्रकाशित होगा तो कुछ लोग तो प्रसन्नता प्रकट करेंगे और अन्य चुप्पी धारण कर लेंगे। पिछले प्रकार के लोग, निस्सन्देह हमारे प्रति अपने हृदय में बहुत अधिक रोष रखेंगे। जो भी हो, मुझे विश्वास है कि हमारे सामने उपस्थित परिस्थिति को ध्यान मे रखते हुए हम एकमात्र उपलब्ध रास्ते पर चलना स्वीकार कर रहे हैं।" इस बात से सबने एक गहरे धक्के का अनुभव किया और यह बात सब पर प्रकट थी कि प्राय: समस्त मन्त्रियों को अपनी आंखों से आंसुओं को पोंछना पड़ा था।

इस प्रकार, संविधान एक सिद्ध तथ्य बन गया। पर फिर भी औपचारिकता की पूर्ति करने के लिए प्रारूप मोत्सुमोटो (Motsumoto) समिति के पास भेजा

1. Theodore McNelly, *Contemporary Government of Japan*, p. 40.

गया ताकि वह 'पथ-प्रदर्शक' का कार्य कर सके। समिति ने उसमें कुछ एक छोटी-मोटी पुनरावृत्तियाँ की परन्तु उनके विषय मे भी उसे शासन विभाग से घना परामर्श करना पडा। ६ मार्च को प्रारूप इस तरह से सार्वजनिक रूप से प्रकाशित हुआ मानो वह शिदेहारा (Shidehara) सरकार की संविधान की वस्तुतः अपनी ही पुनरावृत्ति हो। इसे और अच्छी प्रकार से पुन विश्वासप्रद बनाने के लिए एक शाही प्रतिलिपि (Imperial script) द्वारा प्रारूप को अपनाने की घोषणा की गई। इसके साथ ही उन लोकतन्त्रीय सिद्धान्तो की भी व्याख्या की गई जिन पर वह संविधान आधारित किया गया था। जनरल मैकार्थर ने भी परिस्थिति का ध्यान रखा और इस बात को प्रमाणित करने के लिए कि संविधान जापानियों की ही अपनी कृति है न कि अमरीकियो की, संविधान के प्रारूप का अनुमोदन कर दिया।

मीजी (Meiji) संविधान के उपबन्धों के अनुसार संविधान का प्रारूप अन्ततः डायट (Diet) के अनुमोदन के लिए उसके सम्मुख प्रस्तुत किया गया। (Diet) के दोनों सदनों ने "सर्वदा इस बात का आदर करते हुए कि इसका स्रोत जापान ही है" उसके विषय मे बडे परिश्रम से पूर्णतया वाद-विवाद किया। डायट ने भी छोटे-मोटे परिवर्तन किए। किन्तु ये सब परिवर्तन अधिकार करने वाले अधिकारियों की अन्तिम अनुमति से ही हुए। ७ अक्टूबर, १९४६ को डायट ने इसका अनुमोदन कर दिया और ३ नवम्बर को संविधान लागू किया गया ताकि यह दिन सम्राट् मीजी (Emperor Meiji) के जन्मदिन से मेल खा सके। नया संविधान ६ मास बाद ३ मई, १९४७ को काम मे आने लगा। माकी (Maki) ने बड़े संक्षेप मे कहा है कि, अधिकारियो ने ही नए संविधान को जन्म दिया, निर्देशित किया, वास्तविक रूप मे "उसके प्रारूप तैयार करने को, विषय-वस्तु को और अनुमोदन करने की प्रक्रिया को नियन्त्रित किया।"[1] इस संविधान को यदि मैकार्थर संविधान कह दिया जाय तो यह बात युक्तियुक्त ही होगी।

१९४७ के संविधान की आधारभूत विशेषताएँ
(Basic Features of the Constitution, 1947)

संविधान एक प्रलेख के रूप में (The Constitution as a Document)—यद्यपि संविधान १८८९ के मीजी (Meiji) संविधान के संशोधन के रूप में स्वीकार किया गया था, परन्तु वास्तव मे यह एक प्रकार की सम्पूर्ण पुनरावृत्ति थी जिसने जापानी शासन की प्रकृति और ढाँचे में उग्र परिवर्तन कर दिया था। इसमें १०३ अनुच्छेद और ११ अध्याय हैं, जो सरल शैली और आसानी से समझ में आने वाली भाषा में लिखे हुए है। १९४७ का संविधान स्थूल सिद्धान्तो और विशेष ब्योरों की दृष्टि से हटाए जाने वाले १८८९ के संविधान से पूर्णतया भिन्न है। इसके

1. Maki, John M., *Government and Politics in Japan*, p. 80.

तीन मूलभूत सिद्धान्त ये है : जनता की सर्वप्रभुता, मूल अधिकारों की गारण्टी और युद्ध का त्याग। इनमें से अन्तिम संविधान की एक अत्यन्त विचित्र विशेषता है और इसलिए देश की सर्वाधिक संवैधानिक विवाद की वस्तु है। जापान का संविधान एकमात्र ऐसा उदाहरण है जो संवैधानिक रूप से युद्ध का प्रत्याख्यान करता है।

इस संविधान द्वारा स्थापित की जाने वाली सरकार के ढांचे ने जापान की उन संस्थाओं को पूरी तरह हटा दिया है जिन्हे जापान ने बडे अभिमान के साथ अनादि काल से पैतृक सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त किया था। मित्र-शक्तियों की यह मानी हुई नीति थी कि वे जापानियों द्वारा सिंहासन के चारो ओर विद्यमान माने जाने वाली दिव्यता के प्रतिबिम्ब को बिलकुल मिटा देंगे और इसके साथ ही लोगों के मन से राष्ट्रीय राज्य शासन विधि की विचार-धारा को भी पूर्णतया बाहर निकाल देंगे। शिदेहारा (Shidehara) मन्त्रिमण्डल ने आशा की थी कि लोक-तन्त्रीकरण की प्रक्रिया, जिसके लिए सर्वोच्च सेनापति ने पोट्सडम घोषणा के सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप मे अनुरोध किया था, अतीत को पूरी तरह नष्ट नही करेगी। वास्तव मे उन्हे यह आशा थी कि मात्सुमोटो समिति के प्रस्ताव विचार-विमर्श और समझौते के आधार बनेंगे ताकि पुरानी प्रणाली का कुछ भाग रखा जा सके। परन्तु सर्वोच्च सेनापति ने शिदेहारा सरकार के लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं छोड़ा कि वह संविधान के प्रारूप को स्वीकार कर ले जो उसकी आज्ञा के अधीन SCAP के शासन विभाग ने तैयार किया था। यद्यपि इस बात का दावा किया गया था कि संविधान का प्रारूप जापानी सरकार के लिए 'पथ-प्रदर्शक' का कार्य करेगा, परन्तु वास्तविकता यह थी कि यह वह संविधान था जिसे उन्हें स्वीकार करने के लिए कहा गया था और उसमें मात्सुमोटो समिति और डायट (Diet) द्वारा की गई छोटी-मोटी रद्दो-बदल भी SCAP के अनुमोदन से हुई थी। "अमरीकी प्रेरणा प्राप्त" यह संविधान अमरीकी राजनीति दर्शन के मूल सिद्धान्तों से भरा पड़ा है। चितोशी यानागा (Chitoshi Yanaga) का कथन है कि, "संविधान की प्रस्तावना पाठक को, स्वतंत्रता की घोषणा (Declaration of Independence), संघवादी लेख (the Federalist Papers), संविधान की प्रस्तावना (the Preamble to Constitution), गैटिसबर्ग भाषण (Gettysburg Address) और यहाँ तक कि अतलांटिक चार्टर (Atlantic Charater) जैसे ऐतिहासिक प्रलेखों के भाव और भाषा का स्मरण करते हैं।"[1]

जनता की सर्वप्रभुता (Sovereignty of the People)—इस संविधान की आधारभूत विशेषता जनता की सर्वप्रभुता है जिससे समस्त संविधान ओत-प्रोत है। यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है क्योंकि यह शाही सर्वप्रभुता के सिद्धान्त का

1. *Japanese People and Politics*, p. 125.

नाश करता है। मीजी (Meiji) सविधान सम्राट् की ओर से राष्ट्र के लिए उपहार स्वरूप था और इसकी प्रस्तावना घोषित करती थी कि, "राज्य पर सर्वप्रभुता का अधिकार हम (सम्राट्) ने अपने पुरखो से कुलपरम्परा के रूप मे प्राप्त किया है और हम (उसे) अपने वंशजों को सौंपेंगे।" आगे चलकर इसमें यह विधान किया गया था कि, "जापान का साम्राज्य अनादि काल से अटूट चली आने वाली सम्राटो की शृखला द्वारा शासित और प्रशासित होगा।" अनुच्छेद ४ विधान करता था कि, "सम्राट् साम्राज्य का मुखिया है जिसमे वर्तमान सविधान के नियमानुसार सर्वप्रभुता के अधिकार और उनका प्रयोग एकीकृत हुआ है।"

१६४७ के सविधान के अधीन सर्वप्रभुता की अधिकारी जनता बन गई है और सम्राट् राज्य का और लोगो की एकता का प्रतीकमात्र हो गया, और वह (सम्राट्) "अपनी प्रतिष्ठा उस जनता की इच्छा से प्राप्त करता है जिस जनता मे सर्वप्रभुता की शक्ति निवास करती है।"[1]

सर्वप्रभुता का सम्राट् से जनता मे यह संक्रमण सविधान की प्रस्तावना मे पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करता है जो उल्लेखित करती है कि, "हम, जापानी लोग राष्ट्रीय ससद् (National Diet) मे अपने विधि-पूर्वक निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा कार्य करते हुए, निश्चित तौर पर घोषणा करत है कि सर्वप्रभुता लोगो म निवास करती है और इस सविधान को दृढ़ता से प्रतिष्ठित करते है।" आगे चलकर इस बात का विधान हुआ कि, "सरकार जनता की एक पवित्र धरोहर है, जिसके लिए सत्ता जनता से प्राप्त होती है, जिसके लिए शक्तियों का प्रयोग लोगो के प्रतिनिधियो द्वारा होता है और जिसके लाभ जनता द्वारा उठाए जाते हैं।" प्रस्तावना मे दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि "जनता की सर्वप्रभुता मनुष्य जाति का एक सावभौम सिद्धान्त है जिस पर जापान का नया सविधान आधारित ह और जापान के लोग इस सविधान द्वारा उन समस्त सविधानो, विधियों, अध्यादेशो और राजाज्ञाओ को रद्द और समाप्त करते है जो इस सिद्धान्त से मेल नही खाते। तदनुसार यह सविधान राष्ट्रीय तथा स्थानीय स्तर पर जनता की इच्छा को प्रकट करता हुआ प्रतिनिधि एव उत्तरदायी सरकार की स्थापना करता है। जनमत संग्रह आरम्भण तथा प्रत्याह्वान (recall) नामक सस्थाएँ भी इसमे किसी न किसी रूप मे विद्यमान है।

लोगों के मूलभूत अधिकार तथा कर्त्तव्य (Fundamental Rights and Duties of the People)—सविधान लोगो को एक वास्तविक प्रभावशाली अधिकारो की सूची प्रदान करता है जो स्वयमेव जनता की सर्वप्रभुता का द्योतक है। सविधान का

1. Article 1.

तृतीय अध्याय केवल इन्हीं अधिकारों का बयान करता है। कुल १०३ अनुच्छेदों में से ३१ अनुच्छेद तृतीय अध्याय में हैं और इनके अन्दर नागरिक, राजनीतिक अधिकारों और कर्तव्यों का समावेश किया गया है यद्यपि कर्तव्यों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। अधिकारों की पूरी-पूरी गारण्टी दी गई है और संविधान उन्हें "अमर और अखण्ड" घोषित करता हुआ उनके अन्दर लोगों को राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समानता के अधिकारों के साथ-साथ उनके मताधिकार, कल्याण और स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकारों की भी गणना करता है। सारांश यह है कि संविधान में सर्वत्र श्रम के गौरव को महत्त्व प्रदान किया गया है। जापानी जनता का एक वर्ग अनुभव करता है कि संविधान द्वारा व्यक्ति के कार्य-भाग को दिया गया महत्त्व किसी कदर अत्यधिक है और उस विषय में वे कुछ परिवर्तन का सुझाव देते हैं। किन्तु यह सुझाव अनुकूल रूप से स्वीकृत नहीं किया गया है और जनता का बहुमत यह अनुभव करता है कि किसी प्रकार का परिवर्तन वाञ्छनीय नहीं है।

युद्ध का त्याग (Renunciation of War)—संविधान का एक विशेष परन्तु अदृष्टपूर्व लक्षण यह है कि वह सदा के लिए बिना किसी प्रकार के भ्रम के युद्ध का प्रत्याख्यान करता है। संविधान के द्वितीय अध्याय का शीर्षक जिसमें केवल एक ही अनुच्छेद है 'युद्ध का त्याग' रक्खा गया है। यह अनुच्छेद ९ कहता है कि "न्याय और व्यवस्था पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए निष्कपट रूप से आकांक्षा करते हुए जापानी लोग अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने के लिए राष्ट्र के सर्वप्रभुतापूर्ण अधिकार युद्ध को और शक्ति की धमकी अथवा प्रयोग को साधन रूप में सदा के लिए त्यागते हैं।" इनका भी विधान किया गया है कि, "पूर्वगत सन्दर्भ के उद्देश्य को पूरा करने के लिए स्थल, नौ तथा वायु सेनाएँ और इनके अतिरिक्त युद्ध-शक्य वस्तुएँ कदापि न बनी रहेंगी। राज्य के युद्धकरण के अधिकार को मान्यता नहीं दी जायेगी।"

वास्तव में इस प्रकार की परिकल्पना राज्य नीति का अत्यन्त अभिप्रेत लक्ष्य होना चाहिए बशर्ते कि अन्य समस्त राज्य भी अपने-अपने संविधानों में इसी प्रकार का विधान करें और उनकी सरकारें युद्ध का प्रत्याख्यान कर और अपने विवादों को शान्तिपूर्ण संधियों द्वारा सुलझा कर अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता के मार्ग पर अग्रसर हों। किन्तु अभी तक ऐसा विधान किसी ने भी नहीं किया है, यहाँ तक कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी नहीं जिसने कि जापान के संविधान में इसे स्पष्ट रूप से सुप्रतिष्ठित करने के लिए विशेष यत्न भी किया। जापान पर अधिकार करने वाले अधिकारियों ने जापान को सैनिक दृष्टि से पंगु बनाने के लिए संविधान में इस प्रकार का विधान किया था और साथ ही यह निर्दिष्ट किया था कि जापान कभी भी स्थल, नौ और वायु सेनाएँ नहीं रखेगा और न ही वह युद्ध-शक्य वस्तुओं को बनाए रखेगा। संविधान युद्धकरण के अधिकार को भी मान्यता प्रदान नहीं करता। जो भी हो, अनुच्छेद ९

के उपबन्धों का सरकार अब यह अर्थ लगाती है कि रक्षात्मक हथियारों को बनाए रखने की अनुमति है और सविधान केवल युद्ध और शक्ति की धमकी अथवा उसके प्रयोग को अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के साधनो के रूप में ही कानूनविरुद्ध ठहराता है । इस विषय में Theodore McNelly का कथन है कि, "वास्तुतः यह तर्क दिया जाता है कि आत्मरक्षा के लिए युद्ध और शक्ति की धमकी अथवा उसके प्रयोग की अनुमति है ।"[1]

संविधान की सर्वश्रेष्ठता (Supremacy of the Constitution)—अनुच्छेद ९८ स्पष्टरूप से इस बात का विधान करता है कि "यह संविधान राष्ट्र की सर्वोच्च विधि होगी और कोई भी विधि, अध्यादेश, शाही आज्ञा अथवा सरकार का अन्य अधिनियम अथवा उसका कोई भाग जो सविधान के उपबन्धो के विरुद्ध हो किसी प्रकार की कानूनी शक्ति अथवा मान्यता नही रखेगा ।" इसका यह अर्थ निकला कि १९४७ में सविधान के लागू होने पर वे समस्त कानून, अध्यादेश, शाही आज्ञाएँ और मन्त्रिमण्डल के आदेश जो उस समय वर्तमान थे और इस सविधान के उपबन्धों के विरोधी थे स्वतः ही अवैध बन गए और परिणामस्वरूप अप्रवर्ती हो गए । और फिर संविधान के प्रवृत्त होने पर डायट (Diet) द्वारा ऐसा कोई भी अधिनियम नहीं बनाया जायगा जो मूल-विधि से असंगत हो अथवा तदनुसार न हो । इसी प्रकार सरकार का कोई भी कार्य जो सविधान के उपबन्धो के विरुद्ध हो वैध नही ठहराया जायेगा । अनुच्छेद ९९ साफ तौर पर सार्वजनिक कार्यों मे लगे हुए लोगों को जैसे सम्राट् अथवा प्रतिराज (Regent), राज्य के मन्त्रियों, डायट (Diet) के सदस्यों न्यायाधीशों और अन्य समस्त सार्वजनिक अधिकारियों को सविधान का समर्थन और आदर करने के लिए उत्तरदायी ठहराता है । यह उनका संवैधानिक कर्तव्य है और उससे किसी प्रकार की च्युति उनको सविधान द्वारा अथवा उसके अन्तर्गत बने कानूनो द्वारा दण्डनीय बना देगी । अतः जापान में कोई ऐसा अधिनियम नही बनाया जा सकता अथवा शासन के किसी अभिकरण (agency) द्वारा ऐसा कोई काम नही किया जा सकता जो सविधान द्वारा अनुमत न हो । ताकि लोगो की स्वाधीनताओं और स्वतन्त्रताओं पर किसी प्रकार का आक्रमण न हो, इसकी सुरक्षा के लिए अनुच्छेद ९७ इस बात को दुहराता है कि सविधान द्वारा प्रत्याभूत मूल मानव अधिकार "मनुष्य के स्वतन्त्र बने रहने के लिए प्राचीन काल से चले आने वाले सघर्ष का फल हैं, स्थायित्व के लिए उन्हे कई प्रकार की कठिन परीक्षाओ मे से निकल कर जीवित रहना पड़ा है और धरोहर के रूप मे वे वर्त्तमान और भावी पीढ़ियो को सौंपे गए हैं ताकि वे सर्वदा के लिए अनतिक्रम्य रूप मे बने रहे ।"

अनाम्य संविधान (A Rigid Constitution)—सविधान की सर्वोच्चता इसी बात से सुनिश्चित रहती है कि यह साधारण विधि-निर्माण प्रक्रिया द्वारा परिवर्तनीय न हो । जापान का सविधान उसमें संशोधन किए जाने की प्रक्रिया का

1. *Contemporary Government in Japan*, p. 202.

विधान करता है जो साधारण विधि-निर्माण प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न है। इसका अर्थ यह हुआ कि संवैधानिक विधि वैधानिक विधि की बराबरी पर विद्यमान नहीं है और प्रथम प्रकार की विधि का स्तर द्वितीय प्रकार की विधि से ऊँचा है, अर्थात् संवैधानिक विधि मूल और सर्वोच्च है। अनुच्छेद ९६ विधान करता है कि संविधान संशोधन विषयक प्रस्ताव या तो पार्षदों के सदन (House of Councillors) में या प्रतिनिधियों के सदन (House of Representatives) में पुरःस्थापित किया जा सकता है। इस प्रस्ताव के लिए यह आवश्यक है कि यह प्रत्येक सदन के दो-तिहाई या इससे अधिक सदस्यों के बहुमत से पृथक् से अवश्य पारित हो। डायट (Diet) द्वारा संशोधन के पारित होने पर यह लोगों के पास जनमतसंग्रह के लिए भेजा जाता है ताकि उनका अनुसमर्थन प्राप्त हो जाय। यदि जनमतसंग्रह में मतदान करने वाले लोगों का बहुमत उसका अनुमोदन कर दे तो उसे संविधान के संशोधन के रूप में मान लिया जाता है और उसे तुरन्त लागू कर दिया जाता है।

अब तक संविधान में एक बार भी संशोधन नहीं हुआ है। उसको दुहराने के विषय में अनुदार सदस्यों (Conservatives) के भारी दबाव और डायट[1] (Diet) के कानून के अन्तर्गत संविधान के ऊपर बिठाए जाने वाले आयोग की स्थापना के बावजूद भी संविधान वैसा ही है जैसा वह १९४७ में था।[2] संविधान पर बिठाये गए आयोग ने अपने विचार-विमर्श को अभी तक अन्तिम रूप प्रदान नहीं किया है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक सदन के दो-तिहाई सदस्यों या इससे अधिक का एक सम्मत मत और इसके साथ ही जनमतसंग्रह होने पर बहुमत के सकारात्मक मत की प्राप्ति एक कठिन कार्य है। अतः संशोधन-प्रक्रिया की सापेक्ष कठिनाई के कारण जापान का संविधान युक्तियुक्त तौर पर एक अनाम्य संविधान का उदाहरण कहा जा सकता है।

यदि संविधान में अभी तक कोई संशोधन नहीं हुआ है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें विस्तार नहीं हुआ। डायट (Diet) द्वारा अधिनियमित विधियाँ संविधान की व्याख्याएँ और न्यायालयों द्वारा उसके उपबन्धों के विस्तार पर्याप्त रूप से संविधान की वृद्धि में सहायक सिद्ध हुए हैं। हाँ, व्याख्याओं और विस्तार की देन इतनी अधिक नहीं है। किन्तु डायट (Diet) द्वारा अनेक आधारभूत विधियों के पारित होने के कारण संविधान के उपबन्ध पर्याप्त रूप में अनुपूरित हो गए हैं। उदाहरण के तौर पर, शाही आवास विधि (The Imperial House Law), राष्ट्रीय संसद् (Diet) विधि (The National Diet Law), वित्त विधि (The Finance Law), मन्त्रिमण्डल विधि (The Cabinet Law), सार्वजनिक स्वायत्तशासन विधि (The Public Autonomy Law) इत्यादि, इत्यादि। चूंकि मूल-विधि में व्यवस्थापन

1. आयोग के वैधानिक अभिसंवादित कर्त्तव्य हैं : संविधान का अध्ययन, उससे सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं की छान-बीन और विचार-विमर्श, और "मन्त्रिमण्डल को परिणामों के विषय में प्रतिवेदन देना और उसके द्वारा डायट (Diet) को प्रतिवेदन प्रस्तुत करना।"

2. इस कानून के पारित होने के लगभग पन्द्रह मास बाद आयोग ने अपनी पहली सभा की।

की साधारण प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन किए जा सकते हैं अतः यह बात सविधान को किसी सीमा तक लचीला भी बना देती है।

न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review)—सविधान ने स्पष्टतया न्यायिक पुनरीक्षण की शक्ति सर्वोच्च न्यायालय में निहित की है, यद्यपि उसने एकीय (Unitary) शासन-पद्धति की स्थापना की है। अनुच्छेद ८१ विधान करता है कि किसी प्रकार की विधि, आदेश, विनियम अथवा अधिकारीय कार्य की संवैधानिकता सुनिश्चित करने की शक्ति का अन्तिम आश्रय सर्वोच्च न्यायालय है। इस दिशा में जापान ने सस्थाओं के एक अमरीकी तत्त्व का प्रवेश कराया है। किन्तु जहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक पुनरीक्षण की अपनी शक्ति संविधान से प्राप्त नही करता, वहाँ जापानी सर्वोच्च न्यायालय के पास संविधान की व्याख्या करने की और उसकी पवित्रता और सर्वोच्चता को बनाए रखने की शक्ति है।

जापान में सर्वोच्च न्यायालय ने अभी तक अधिकार करने से सम्बन्ध रखने वाले निदेशों को लागू करने के लिए कुछ एक पारित विधियों को छोड़कर किसी विधि, आज्ञा, विनियम अथवा अधिकारीय कार्य को अवैध या असवैधानिक नही ठहराया है, अपितु कुछ एक की संवैधानिकता की पुष्टि ही की है। १९५९ के सुनकावा (Sunkawu) के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने यह घोषणा की थी कि जापान में अमरीकी सेनाओं की विद्यमानता सविधान के अनुच्छेद ९ का अतिक्रमण नही करती। इस निर्णय ने इस सिद्धान्त को भी स्थापित किया कि तब तक कोई सन्धि "स्पष्ट रूप से असवैधानिक और अवैध नहो है जब तक वह न्यायालय को प्रदान की गई न्यायिक पुनरीक्षण की शक्ति के क्षेत्र से बाहर है।"

सम्राट, राज्य का प्रतीक (Emperor the Symbol of the State)—सविधान ने सम्राट् नामक संस्था की रक्षा तो की है परन्तु महामहिम (His Majesty) को उन समस्त शक्तियों, विशेषाधिकारो और परमाधिकारो से वचित भी कर दिया है जिनका वह उपभोग और प्रयोग पहले किया करता था। सविधान द्वारा अब वह राज्य के प्रतीक और जनता की एकता के रूप में घोषित किया जाता है।[1] शासन सम्बन्धी कोई भी शक्ति और सत्ता अब उसके पास नहीं है। वह केवल उन्ही 'कर्तव्यों' को करता है जो सविधान[2] में गिनाए गए है और वह भी इस उपबन्ध के अधीन कि राज्य के मामलों में सम्राट् के समस्त कार्यों के लिए मन्त्रिमण्डल की सलाह और अनुमोदन की आवश्यकता होगी और उसके[3] लिए मन्त्रिमण्डल उत्तरदायी होगा। क्योंकि सम्राट् "अपनी अवस्थिति जनता की इच्छा"[4] से प्राप्त करता है और वह राज्य सम्बन्धी कार्यो को उसी रूप से करता है जैसे वह संविधान में उल्लिखित है, उसे वैसा मन्त्रिमण्डल के परामर्श और अनुमोदन प्राप्त होने पर ही करना चाहिए।[5] सविधान यह भी विधान करता है कि बिना संसद् (Diet) के प्राधिकरण

1. अनुच्छेद १
2. अनुच्छेद ७
3. अनुच्छेद ४
4. अनुच्छेद १
5. अनुच्छेद ७

(authorisation) के किसी भी प्रकार की सम्पत्ति न तो शाही वंश (Imperial House) को दी जा सकती है या उसके द्वारा ग्रहण की जा सकती है और न ही उसमें से किसी प्रकार के उपहार दिए जा सकते हैं।[1]

संसदीय शासन-प्रणाली (Parliamentary System of Government)—संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने जापान में प्रधानीय शासन-प्रणाली के स्थान पर संसदीय शासन-प्रणाली को पसन्द कर उसे स्थापित करने का निश्चय किया था और तदनुसार राज्य-सचिव Mr. Byrnes ने SCAP के राजनीतिक परामर्शदाता Mr. George Atcheson, Jr. को ऐसा परामर्श दिया था। परन्तु जापान में संविधान द्वारा स्थापित संसदीय शासन का एक विशेष लक्षण यह है कि सम्राट् उन कार्यों को भी सम्पादित नहीं करता जो राज्य का संवैधानिक प्रधान होने के नाते उससे जुड़े हुए हैं। सम्राट् राज्य का और लोगों की एकता का प्रतीक है जिसे अपनी अवस्थिति जनता की इच्छा से प्राप्त हुई है। कार्यपालिका शक्ति मन्त्रिमण्डल में है और वह सामूहिक रूप से संसद् (Diet) के प्रति उत्तरदायी है। प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल का प्रधान होता है और मन्त्रियों में से प्रधान मन्त्री समेत अधिकांश को संसद् (Diet) का सदस्य अवश्य होना चाहिए। संसद् (Diet) प्रधान मन्त्री को नामोद्दिष्ट करती है और उसके त्याग पत्र देने पर मन्त्रिमण्डल समूचे तौर पर त्याग-पत्र देता है।[2] यदि प्रतिनिधि सदन (House of Representatives) अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर देता है अथवा विश्वास प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देता है तो मन्त्रिमंडल समूचे तौर पर त्यागपत्र दे देता है।[3] ये समस्त लक्षण संसदीय शासन-प्रणाली के हैं और मन्त्रिमंडल के सुचारु रूप से चलने वाले कार्य का निश्चय कराते हैं। इंग्लैंड में मन्त्रिमंडलीय शासन के ये सामान्य सिद्धान्त ऐसे अभिसमयों का परिणाम हैं जिनकी जड़ें बड़ी गहरी हैं। जापान में इन्हें विशेष रूप से संविधान में समाविष्ट किया गया है।

स्थानीय स्वायत्त शासन (Local Autonomy)—अन्ततः संविधान स्थानीय स्वायत्त शासन के सिद्धान्त को प्रमुख रूप से प्रविष्ट कराता है। स्थानीय शासन प्रशासनिक क्षेत्र और नगर, छोटे नगर और ग्राम म्युनिसपैलिटियों को संविधान ने स्वायत्त शासन के विस्तृत अधिकार प्रदान किए हैं। अनुच्छेद ९३ विधान करता है कि स्थानीय सार्वजनिक सत्ताएं (entities) अपने विमर्शी अंगों के रूप में सभाएं स्थापित करेंगी और समस्त स्थानीय सत्ताओं के मुख्य कार्यपालिका अधिकारी, उनकी सभाओं के सदस्य और ऐसे अन्य स्थानीय उपाधिकारी जो विधि द्वारा निश्चित होंगे, अपने अनेक लोकसमाजों के अन्दर सीधे सार्वजनिक मतदान द्वारा निर्वाचित होंगे। १९४७ की स्थानीय स्वायत्त शासन विधि (Local Autonomy Law, 1947), जो

1. अनुच्छेद ८
2. अनुच्छेद ७०, *Constitution of Japan, 1947.*
3. अनुच्छेद ६९, *Ibid.*

संविधान के अनुच्छेद ९२ की अनुपूर्ति करती है, प्रारम्भक (Initiative) और स्थानीय सत्ताओं के मतदाताओं द्वारा प्रत्यानयन (Recall) के प्रयोग का भी विधान करती है। जापान में अब तक इस प्रकार की प्रजातान्त्रिक शक्ति अज्ञात रही थी।

लोगों के अधिकार और कर्त्तव्य

(Rights and Duties of the People)

सविधान नागरिकों को नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की एक प्रभावशाली सूची अर्पित करता है और कुल १०३ अनुच्छेदों में से ३१ अनुच्छेद तीसरे अध्याय में है जिसका शीर्षक "लोगों के अधिकार और कर्त्तव्य" है। सम्भवतः यह संसार का एक अत्यधिक विस्तृत और महत्त्वाकांक्षी संवैधानिक कथन है जो इस बात को प्रत्याभूत करता है कि ये मानव अधिकार "जो इस पीढ़ी और भावी पीढ़ियों के लोगों को प्रदान किए गए हैं अमर और अनतिक्रम्य हैं।[1] आगे चलकर संविधान विधान करता है कि लोगों को प्रत्याभूत की गई स्वतन्त्रताएँ और अधिकार लोगों के सतत प्रयत्नों द्वारा बने रहेंगे और उन्हें आदिष्ट करता है कि वे "इन स्वतन्त्रताओं और अधिकारों के दुरुपयोग से बचेंगे और सार्वजनिक कल्याण के लिए उनके प्रयोग के लिए उत्तरदायी होंगे।"[2] इसका यह अर्थ हुआ कि सविधान स्पष्टतया नागरिकों के ऊपर यह प्रभाव डालता है कि प्रजातन्त्र का मूल्य जागरूकता अथवा सजग रहना है, और उनके पास अपने राजनीतिक भाग्य को निश्चित करने का अनन्यक्राम्य (Inalienable) अथवा अविच्छेद्य अधिकार है।[3] उन्हें अपनी किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता को और अधिकार को बुरी तरह से प्रयोग नहीं करना चाहिए बल्कि उनको अपनी भलाई और सार्वजनिक कल्याण के लिए काम में लाना चाहिए। तदनुसार, सविधान बिना किसी भेद-भाव के व्यक्ति के प्रति आदर पर जोर देता है और उसके जीवन, स्वतन्त्रता और सुख की खोज के अधिकार को प्रत्याभूत करता है बशर्ते कि वह सार्वजनिक कल्याण में बाधा सिद्ध न हो क्योंकि "सार्वजनिक कल्याण का विचार ही व्यवस्थापन और अन्य शासकीय मामलों में सर्वोपरि रहता है।"[4]

अनुच्छेद ११ द्वारा यह विधान किया जाना कि "जनता को किन्हीं भी मौलिक मानव अधिकारों का उपभोग करने से रोका नहीं जाएगा······जो अधिकार उसको अर्पित किए गए हैं और जो अमर और अनतिक्रम्य है", एक प्रकार की अधिकारों की शर्त रहित प्रत्याभूति अथवा गारंटी है और शासन को उनके अधिकारों

1. अनुच्छेद ११
2. अनुच्छेद १२
3. अनुच्छेद १४
4 अनुच्छेद १३

पर कोई रोक लगाने अथवा उनमें कमी करने के लिए रोक दिया गया है । परन्तु अनुच्छेद १२ और १३ रोक लगाते है । अनुच्छेद १२ जनता के लिए कुछ एक दायित्वों का विधान करता है । सर्वप्रथम दायित्व यह है कि लोग सतत प्रयत्न द्वारा अपने अधिकारो को बनाए रखें और उनके किसी भी प्रकार के दुरुपयोग से बचें । दूसरे यह कि वे अपने अधिकारो को सार्वजनिक कल्याण के लिए प्रयोग करने में उत्तरदायी बनें। अनुच्छेद १३ जहाँ इस बात की घोषणा करता है कि समस्त लोगों का व्यष्टि रूप मे आदर किया जाय वहाँ इस बात की भी शर्त लगाता है कि उनका जीने का, स्वतन्त्रता का, और सुख की खोज का अधिकार उसी सीमा तक रहेगा जब तक वह अधिकार सार्वजनिक कल्याण में हस्तक्षेप न करे । जापान मे इस विषय में कुछ भय प्रकट किया गया है कि सार्वजनिक कल्याण सम्बन्धी उपबन्ध का समावेश और अधिकारों का सार्वजनिक कल्याण के अधीन उपभोग किया जाना इन दोनों बातों का सम्भवतः गलत अर्थ लगाया जा सकता है और कही सार्वजनिक कल्याण के नाम पर लोगों की स्वतन्त्रताओं का अतिलंघन न कर दिया जावे अथवा उनमें कमी कर दी जाय । यह तर्क भी दिया जाता है कि सार्वजनिक कल्याण की संबोधना (Concept) सदा से ही भ्रामक रही है । सार्वजनिक कल्याण के नाम पर राज्य की प्रत्येक क्रिया और शासन के प्रत्येक कार्य का भले ही वह अत्यन्त क्रूर और अत्याचारपूर्ण रहा हो, सदा ही समर्थन किया जाता रहा है । और फिर जापान मे पुरानी स्वैरतन्त्री परम्पराएँ बपौती के रूप में चली आ रही है ।

परन्तु यह प्रश्न जैसे कि माकी (Maki) का कथन है, "प्रत्येक लोकतन्त्र में महत्वपूर्ण है क्योकि इसके अन्तर्गत व्यक्ति द्वारा स्वतन्त्रता का उपभोग और समस्त समुदाय का कल्याण इन दोनो के मध्य संतुलन-अन्तर्ग्रस्त होता है ।"[1] अधिकार किसी भी तरह दायित्वों से अलग नहीं किए जा सकते और मानव अधिकार बिना सीमाओं के रह नही सकते । संविधान जहाँ जापान के लोगों पर उत्तरदायित्वों को आरोपित करता है वहाँ साथ में शासन को इस बात के लिए भी उत्तरदायी ठहराता है कि वह लोगों के जीवन, स्वाधीनता और सुख की खोज के अधिकार का निर्वहण करे ।[2] कोई भी प्रतिनिधि और दायित्वपूर्ण शासन, जो जनता के प्रति उत्तरदायी है, उस सार्वजनिक कल्याण की ओट मे मूलभूत अधिकारों का अतिलंघन करने की सामर्थ्य नही रखता जिस सार्वजनिक कल्याण का वह पर्याप्त रूप से समर्थन नही कर सकता । शासन सदा ही परिनिरीक्षा (Scrutiny) के अन्दर रहता है और वह इस बात को भुला नही सकता कि आने वाला 'कल' चुनाव का दिन है और उसे अपने उस सार्वजनिक कल्याण की जवाबदेही करनी पड़ेगी जिसका वह पर्याप्त रूप से समर्थन नही कर

1. Maki, John M., *Government and Politics of Japan*, p. 87.
2. अनुच्छेद १३

सकता। जापान के सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात की पुष्टि की है कि स्वतन्त्रता में कमी करने के लिए सार्वजनिक कल्याण एक मान्य औचित्य है। किन्तु इसके साथ ही वह इस बात के लिए भी आग्रह करता है कि किसी शासक सत्ता द्वारा सार्वजनिक कल्याण के सिद्धान्त का प्रयोग स्वतन्त्रता को सीमित करने के लिए अमूर्त औचित्य के रूप मे नहीं हो सकता, इसका-प्रयोग तो केवल यथाविधि अधिनियमित व्यवस्थापना के अन्तर्गत और स्पष्टतया निश्चित परिस्थितियों के अधीन ही हो सकता है।[1]

बात यह प्रशंसनीय है कि गत उन्नीस वर्षों से जब से संविधान लागू हुआ है अब तक "व्यवस्थापिका, कार्यपालिका अथवा न्यायिक कार्य द्वारा संवैधानिकतया प्रत्याभूत स्वतन्त्रताओं में से किसी एक का भी अपक्षरण नहीं हुआ है।"[2]

विशिष्ट अधिकार (Specific Rights)—संविधान नागरिकों को जिन अधिकारों की गारण्टी देता है वे संक्षेप में यहाँ दिए जाते हैं: विचार; अन्तःकरण; धर्म; सभा; समुदाय; भाषण; प्रेस और समस्त अन्य प्रकार की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रताएँ, निवास और पेशे की पसन्द; किसी विदेशी देश मे जाने की और राष्ट्रीयता त्याग देने की इच्छा, शैक्षणिक स्वतन्त्रता[3]; जाति, धर्म, लिङ्ग, सामाजिक स्तर अथवा कुलोत्पत्ति के आधार पर राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक सम्बन्धों में भेदभाव से छूट[4]; विधि के सम्मुख और विधि के अधीन समानता; सार्वजनिक अधिकारियों को चुनने का और उन्हें बर्खास्त करने का अनन्यक्राम्य अधिकार; क्षति-पूर्ति के लिए; सार्वजनिक अधिकारियों को हटाने के लिए; कानूनों के अधिनियमन, हटाने अथवा संशोधन के लिए, अध्यादेशों अथवा विनियमों या अन्य मामलों के लिए याचिका देने का अधिकार, किसी सार्वजनिक अधिकारी के अवैध कार्य के परिणामस्वरूप होने वाली क्षति की पूर्ति के लिए राज्य अथवा सार्वजनिक सत्ता के विरुद्ध मुकदमा दायर करने का अधिकार[5]; परस्पर सहमति होने पर विवाह करने की स्वतन्त्रता; पति पत्नी के समान अधिकार, स्वस्थ और सांस्कृतिक जीवन के न्यूनतम स्तरों को बनाए रखने का अधिकार; अपनी योग्यता के अनुरूप समान शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार; काम करने का अधिकार; कर्मकरों के संगठन, मोल-तोल और सामूहिक रूप से कार्य करने का अधिकार; सम्पत्ति के स्वामित्व अथवा रखने का अधिकार; और कानून की सम्यक् प्रक्रिया का अधिकार।

ऊपर गिनाए गए अधिकारों और स्वतन्त्रताओं से यह पता चलता है कि संविधान में समानता की संबोधना को प्रमुख और व्यावहारिक स्थान मिला है।

1. Maki, John M., *Government and Politics in Japan*, p. 9.
2. *Ibid.*
3. अनुच्छेद १६—२३
4. अनुच्छेद १४
5. अनुच्छेद १४—१७

विशेष विनयाधिकारों को मिटा कर, कुलीन और कुलीन-वर्ग को मान्यता न देकर, किसी सम्मान अथवा किसी उपाधि को धारण करने वाले से बशर्ते कि वह सम्मान या उपाधि प्राप्त के जीवन भर के लिए सीमित न हो, किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार को प्रावर्जित करके सामाजिक समानता की गारण्टी या प्रत्याभूति दी गई है। किसी भी व्यक्ति को किसी अपराध के दण्ड के अतिरिक्त कारागार में अनैच्छिक दासता में नहीं रखा जा सकता। लिंगों की समानता, समान शिक्षा का अधिकार, और पति पत्नी के अधिकारों में समानता व्यक्ति के गौरव और उसकी सामाजिक उच्चता को बढ़ाते हैं। कानून के सम्मुख समानता को और भी अधिक बल प्रदान किया गया है। अधिकार और कर्तव्य वाले अध्याय में ३१ में से १० अनुच्छेद इस बात से सम्बन्ध रखते हैं जिसे हम कानून की सम्यक् आदेशिका—(process) का नाम दे सकते हैं। इसमें शामिल की जाने वाली बातें ये है: जीवन अथवा स्वाधीनता से वञ्चित किये जाने से मुक्ति अथवा विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार के आपराधिक दण्ड के आरोप से मुक्ति, न्यायालयों के पास जाने की स्वतन्त्रता; वारण्ट के बिना गिरफ्तार न किया जाना, दोषों के स्वरूप को तुरन्त सूचित किए बिना गिरफ्तारी अथवा निरोध का न होना, समुपदेशी (Counsel) माँगने का विशेषाधिकार, वारण्ट छोड़कर घर, कागज-पत्रों और घर की वस्तुओं की सुरक्षा, यातना अथवा क्रूर दण्डों के विरुद्ध सुरक्षा, निष्पक्ष न्यायाधिकरण द्वारा शीघ्र और सार्वजनिक अन्वीक्षा (trial) का अधिकार, गवाहों की परीक्षा और अपने लिए, सार्वजनिक खर्च पर, गवाह प्राप्त करने की आवश्यक प्रक्रिया का अधिकार, अपने ही विरुद्ध अभिसाक्ष्य देने की मजबूरी से मुक्ति, ऐसे किसी काम के लिए अपराधी ठहराए जाने से मुक्ति जिस समय उस काम का किया जाना वैध था, या जिस के लिए वह दोषमुक्त माना गया है, और दोहरे जोखिम से मुक्ति, और गिरफ्तारी अथवा निरोध के बाद दोष से अभिमुक्त होने पर राज्य पर प्रतिकार के लिए मुकदमा करने का अधिकार।

जिन बातों में हम राजनीतिक समानता की अभिव्यक्ति देखते हैं वे ये हैं: सार्वभौम वयस्क मताधिकार की गारण्टी जिसका प्रयोग सार्वजनिक अधिकारियों के चुनाव के लिए किया जाना है, जनता को सार्वजनिक अधिकारियों को चुनने का और उन्हें बर्खास्त करने का अनन्यक्राम्य अधिकार, समस्त सार्वजनिक अधिकारियों को समस्त समुदाय का सेवक घोषित करना, समस्त चुनावों में मतदान की गोपनीयता को सुनिश्चित करना और किसी भी मतदाता को, सार्वजनिक या निजी रूप में, उसकी पसन्द के लिए उत्तरदायी न ठहराना, और प्रत्येक व्यक्ति को क्षति निवारण के लिए, सार्वजनिक अधिकारियों को हटाने के लिए, कानूनों के अधिनियमन, विखण्डन अथवा संशोधन के लिए, अध्यादेशों अथवा विनियमों और अन्य मामलों के लिए याचिका देने का अधिकार प्रदान करना। संविधान इस बात के लिए भी

आश्वस्त करता है कि इस प्रकार की याचिका को पुरःस्थापित करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं बरता जायगा।

कर्त्तव्य (Duties)—संविधान व्यक्ति के कर्त्तव्यों के ऊपर भी बल प्रदान करता है यद्यपि ये कर्त्तव्य बहुत अधिक नहीं हैं। चितोशी यनागा (Chitoshi Yanaga) का कथन है कि "सदियों से चली आने वाली पारम्परिक अभिवृत्ति कर्त्तव्यों के ऊपर ही जोर देने की रही है और व्यावहारिक तौर पर अधिकारों को अपवर्जित किया जाता रहा है, और सामन्तवाद के अधीन विशेषतया यही स्थिति रही है। लोकतान्त्रिक विकास को बढ़ावा देने के उद्देश्य से यह आवश्यक था कि जापानी समाज में स्वैरतन्त्री परम्परा और उसके पीछे छोड़े गए परिणामों के अत्यधिक शक्तिशाली प्रभाव का प्रभावोत्पादक ढंग से मुकाबला करने के लिए व्यक्तिगत अधिकारों पर बल दिया जाय। इसका परिणाम नागरिकता के केवल थोड़े से आधारभूत दायित्वों के समावेश में निकला है।"[1] नागरिकों के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों के अन्तर्गत आने वाली बातें ये हैं; किसी स्वतन्त्रता या अधिकार के दुरुपयोग से बचना, अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का सार्वजनिक कल्याण के लिए प्रयुक्त किए जाने का उत्तरदायित्व, सतत प्रयत्नपूर्वक संविधान द्वारा प्रत्याभूत स्वतन्त्रताओं और अधिकारों को सुरक्षित और बनाए रखने का उत्तरदायित्व,[2] कार्य करने का दायित्व जो एक अधिकार भी है,[3] कर देयता,[4] और सब लोगों का यह दायित्व कि वे अपने रक्षण में विद्यमान समस्त लड़कों और लड़कियों को विधि द्वारा विहित साधारण शिक्षा दिलवाएँ।[5]

1. *Japanese People and Politics*, p. 353.
2. अनुच्छेद १२
3 अनुच्छेद २७
4. अनुच्छेद ३०
5. अनुच्छेद २६

अध्याय ३

कार्यपालिका

(The Executive)

इतिहास में सम्राट् (The Emperor in History)—चितोशी यनागा (Chitoshi Yanaga) ने सम्राट् के वास्तविक रूप का वर्णन किया है। उसका कथन है कि, "सम्राट् राष्ट्र के इतिहास, वपौती, सफलताओं, राष्ट्र के अतीत तथा वर्तमान की समस्त उत्तम बातों, उनकी निरन्तरता और स्थायित्व का जीता जागता प्रतीक रहा है, और है। वह इतिहास और धर्म का अवतार है। उसके व्यक्तित्व में राष्ट्र की आशाएं, आकांक्षाएं और भविष्य सार रूप में स्थित हैं। राज्य रूपी जहाज के मार्ग की सुरक्षा और स्थैर्य के क्षेमविधान करने के लिए वह आध्यात्मिक लंगर, नैतिक कर्ण (rudder) और राजनीतिक गतिविधि के सिद्धान्त को प्रकट करने वाला यन्त्र है। प्रतीक के रूप मे वह जनता के हृदयो मे निवास करता है, ऐसी जनता जो प्रत्येक अच्छी वस्तु को उसके सद्गुणों मे उपारोपित करती है।"[1] वह राष्ट्र के सम्मिलन का बिन्दु था जो वह अब भी है, और सूर्य की देवी Amaterasu Omikami से सीधा और अखण्डित वंश-क्रम में अवतरित हुआ माना जाता है। सम्राट् का यह रूप कि वह कामी (Kami) अर्थात् स्वर्ग से उतरा है, ईश्वरीय, पवित्र, पुण्यात्मा और सर्वविद् है राज्य की स्वीकृत विचारधारा बन गई और सम्राट् के इन गुणों को स्कूलों में भी पढाया जाने लगा। प्रत्येक स्कूल के आँगन के प्रवेश द्वार के निकट एक छोटा-सा मन्दिर होता था जिसमें सम्राट् के चित्र रखे जाते थे। हर बार जब स्कूल का बच्चा स्कूल मे प्रवेश करता था या बाहर जाता था तो उसके लिए यह आवश्यक था कि वह परदा हटाए और मन्दिर के आगे सिर नवाए। "राष्ट्रीय छुट्टियों वाले दिन प्रायः १० बजे प्रातः समस्त जापानियों से, चाहे वे देश के बाहर हों या अन्दर हों, 'टोक्यो में स्थित शाही महल की ओर मुख करके आदरपूर्वक सिर झुकाये जाने की आशा की जाती थी। जापानियों के लिए जब वे महल की भूमियों के मुख्य द्वार में से गुजरते थे, हर बार सिर नवाना एक प्रथा थी यद्यपि इसे कठोरता से लागू नहीं किया जाता था।"[2] सम्राट् के सम्बन्ध में उसके किसी भी पहलू पर विचार-विमर्श करना पाप समझा जाता था।

1. *Japanese People and Politics*, p. 129.
2. Maki John, *Government and Politics in Japan*, p. 113.

इस प्रकार जापानियों के लिए सम्राट् राज्य था, शाश्वत और अपरिवर्तनीय प्रभुता का घर था "जो प्रभुता स्वर्ग और पृथ्वी के साथ सहविस्तारी थी।" उसकी सत्ता सर्वोच्च थी और अनन्यक्राम्य थी, जिसके आगे सब धर्म समझ कर सिर झुकाते थे। १६२५ के शान्ति रक्षण अधिनियम (Peace Preservation Law, 1925) की व्याख्या करते समय, जिसके अनुसार, दूसरे विषयों के साथ-साथ, कोकुताई (Kokutai) या राष्ट्रीय राजनीति-व्यवस्था में परिवर्तन करने के पक्ष में कुछ भी कहने के लिए मनाही थी, सर्वोच्च न्यायालय ने घोषणा की थी कि सम्राट्, जो अनन्त युगों से अखण्डित वंश-क्रम से चला आ रहा है, जापान में शासन करता है और सर्वप्रभुता का प्रयोग करता है।

इस राजनीतिक निष्ठा के तथ्य और लोगों की अगाध श्रद्धा और भक्ति के बावजूद भी सम्राट् के हाथ मे बहुत थोड़ी-सी ही राजनीतिक शक्ति थी और महामहिम (His Majesty) ने आम तौर पर कभी भी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय नही लिए थे। कम से कम गत ७५० वर्षों में उसने सदा ही तत्कालीन आरूढ़ प्रभावी सरकार की सलाह को स्वीकार किया था और किसी भी प्रकार से वह सार्वजनिक नीति के निर्माण और निष्पादन के लिए उत्तरदायी नही था। सम्राट् राज्य का समारोहात्मक प्रधान था और केवल समारोहात्मक कार्यों को ही किया करता था। १८८६ के संविधान ने उसे निरंकुश शक्ति प्रदान कर दी थी। अनुच्छेद ४ का कथन था कि "सम्राट् साम्राज्य का प्रधान है, जिसमे सर्वप्रभुता के अधिकार संयुक्त है और वह उनको इस संविधान के उपबन्धों के अनुसार प्रयुक्त करता है।" किंतु तब भी उसने सदा अपने मन्त्रियो के परामर्श पर काम किया है। उसने कभी भी कोई गलत काम नही किया और न ही अपनी ओर से और अपने उत्तरदायित्व पर कोई सार्वजनिक कार्य किया। अतः मीजी संविधान के अन्तर्गत भी उसका वर्णन सांविधानिक राजा के रूप मे किया जा सकता है जो जापानी राष्ट्र की एकता और ठोसपन का एक अत्यन्त शक्तिशाली प्रतीक है। जापानी लोग सिंहासन की प्रशंसा करके अपने राष्ट्र की प्रशंसा करते थे और शाही परिवार उनकी देशभक्ति और देशभक्तिपरायणता के लिए एक लाभदायक केन्द्र का कार्य करता था। इस दृष्टि से जापान का सम्राट् इग्लैंड के राजा के समान था। चितोशी यनागा (Chitoshi Yanaga) लिखता है कि "विशेषतः जिन लोगों ने सम्राट् के प्रति कभी भक्ति-भाव का दर्शन नही किया है वे उसे प्रायः अविश्वसनीय ही समझते हैं। पाश्चात्य लोगों मे से सम्भव है इग्लैण्ड के लोग ही ऐसे है जो राजा के प्रति विद्यमान भावना को समझने वाले लोगों के अत्यन्त निकट आते है।"

सम्राट् का वर्तमान् स्वरूप (The Emperor as he is today)—कोकुताई (Kokutai) अथवा राष्ट्रीय राज्यशासन-विधि के सिद्धान्त को मिटाने के प्रयत्न मे जिसके अनुसार शासन करने की शक्ति अन्ततः सम्राट् मे निहित थी, अधिकार करने वाले सत्ताधिकारियों (Occupation Authorities) ने सम्राट् को शिष्ट रूप देने

की चेष्टा की। उन्होंने एक ऐसे संविधान का निरूपण किया जिसने सम्राट् को राज्य और लोगों की एकता का प्रतीक-मात्र बना दिया। सम्राट् को लोगों की इच्छा द्वारा ही अपनी स्थिति प्राप्त हुई क्योंकि उनमें ही प्रभुसत्ता निवास करती है।"[1] जनता की प्रभुसम्पन्नता शक्ति की रक्षा करने की दृष्टि से संविधान में संशोधन करने की अन्तिम शक्ति भी स्वयं जनता में ही निहित की गई है। इसका यह अर्थ हुआ कि सम्राट् नाम की संस्था समाप्त की जा सकती है बशर्ते कि जनता का बहुमत, अपने प्रतिनिधियों द्वारा कार्य करता हुआ और जनमत संग्रह द्वारा अनुसमर्थित किए जाने पर, ऐसा किया जाना चाहे। यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है और शायद जापानी लोग कभी भी सम्राट् नामक संस्था को समाप्त करने का साहस नहीं करेंगे, फिर भी यह एक वैध सत्य है कि वे यदि ऐसा चाहें तो वे ऐसा कर सकते हैं। यह विडम्बना ही है कि जिस सम्राट् ने १४ अगस्त, १९४५ को राष्ट्रीय राजनीति को विनाश से और राष्ट्र को सर्वनाश से बचाने के लिए अपने मन्त्रिमण्डल को मित्र शक्ति की आत्मसमर्पण की शर्तों को स्वीकार करने के लिए परामर्श दिया था, स्वयं इस बात के लिए विवश हो गया कि वह ऐसा संविधान स्वीकार करले जिसने उसकी राजनीतिक मृत्यु का विधान कर दिया था। ७ जनवरी, १९४६ के सम्राट् के नव वर्ष संदेश में अधिकार करने वाले सत्ताधिकारियों के मन की भावी घटनाओं की पूरी पूरी झलक मिलती थी। सम्राट् ने घोषणा की थी कि सम्राट् और जनता के मध्य रहने वाले बंधन सदा परस्पर विश्वास और स्नेह पर आश्रित रहे हैं न कि "जन-कथाओं और पौराणिक कथाओं पर, और न ही उनका इस मिथ्या धारणा पर विधान हुआ है कि सम्राट् ईश्वरतुल्य है और जापानी लोग अन्य जातियों से श्रेष्ठ हैं और वे अवश्य संसार पर शासन करेंगे।"[2] ऐसा बताया जाता है कि जिस दिन नया संविधान लागू किया गया Shimizu Cho ने, जो सम्राट् का संवैधानिक परामर्शदाता और संविधान को स्वीकृति प्रदान करने वाली प्रीवि-परिषद् का सभापति था, अपने आपको अतामी (Atami) नामक स्थान पर डुबा दिया। Shimizu Cho मृत्यु से पूर्व एक पत्र छोड़ गया था जिसमें लिखा था कि, "मैंने मरने का निर्णय किया है ताकि परलोक से मैं अपनी राष्ट्रीय शासन विधि को बचाने में सहायता कर सकूँ और सम्राट् की कुशलता की कामना कर सकूँ।"

सारा का सारा राष्ट्र प्रायः ऐसी ही विचारधारा रखता है। राष्ट्रसंघ शिक्षा तथा सांस्कृतिक संगठन (United Nations Educational and Cultural Organisation) द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण से यह पता लगा कि "युद्ध के बाद के

1. As cited in Chitoshi Yanaga's *Japanese People and Politics* pp. 137-138.
2. As cited in Theodore McNelly's *Contemporary Government of Japan*, p. 56.

जापान के ७४ प्रतिशत नवयुवक दृढता से विश्वास करते है कि सम्राट् कम से कम केवल कागज पर ही नहीं अपितु लोगो के दिल-दिमागों में राष्ट्र के प्रतीक के रूप मे विद्यमान है।"[1] पाश्चात्य राष्ट्रों, विशेषत: अमेरिका निवासियों के लिए यह बात धक्का पहुँचाने वाली थी क्योंकि वे १६४५ मे जापान की पराजय से पूर्व विद्यमान राजतन्त्र के प्रति सार्वभौम आदरभाव मे फेर-बदल करना चाहते थे । इस दिशा मे अनुदार लोग अत्यन्त क्रियाशील है और अपने पक्ष की वकालत करने के लिए वे अत्यन्त उत्साहयुक्त है। उनका कहना है कि सम्राट् को राज्य का और जनता की एकता का प्रतीक-मात्र रह जाने की स्थिति "ऐतिहासिक परम्पराओ और लोगों की भावनाओ के प्रति कुठाराघात है।" सविधान के कुछेक आलोचकों का कथन है कि जापान मे सवैधानिक राजतन्त्र नहीं है जैसाकि दावा किया जाता है। वे कहते है कि जापान गणतन्त्र है क्योंकि सम्राट् का प्रतीक रूप मे रहना, जनता से अपनी स्थिति को ग्रहण करना और उनका गणतन्त्र को समाप्त करने की भी अन्तिम शक्ति को धारण करना और सम्राट् को नाममात्र की शक्तियाँ प्रदान करने से भी इन्कार कर देना ये सब गणतन्त्र के ही लक्षण है, हालाँकि शाही सिंहासन राजवंश से सम्बन्ध रखता है। पर जो भी हो, गणतन्त्रीय शासन के रूप की यह व्याख्या तब तक गलत है जब तक शाही सिंहासन राजवंश सम्बन्धी बना रहता है। परन्तु सविधान द्वारा सम्राट् को दी गई स्थिति से समाधान करने के लिए अनुदार लोगो को किसी भी प्रकार से प्रेरित नहीं किया जा सकता है। तदनुसार १६५४ मे लिबरल (Liberal) और प्रोग्रेसिव (Progressive) दलों ने सविधान को दुहराने की समस्या का भली प्रकार अध्ययन करने के लिए जिसमें सम्राट् की शक्तियाँ और स्थिति के अध्ययन का भी विशेष निर्देश सम्मिलित था, पृथक्-पृथक् दो समितियाँ स्थापित की। दोनों समितियाँ इस निष्कर्ष पर पहुंचीं कि संविधान को तुरन्त दुहराने की आवश्यकता है और सम्राट् को ब्रिटिश सम्राट् के समान राज्य के संवैधानिक प्रधान के स्तर तक ऊपर उठा दिया जाय। शासन भी सविधान के सम्बन्ध में एक आयोग की नियुक्ति कर चुका है। अब तक इस दिशा मे कोई ठोस परिणाम देखने में नहीं आया है परन्तु जापान के लोगों में यह दृढ़ भावना अवश्य पाई जाती है कि सम्राट् को पुनः अपनी पूर्व स्थिति प्राप्त हो जाय। जापान के कुछ भागों मे किगेन्सेत्सु (Kigensetsu) अर्थात् राष्ट्रीय स्थापना दिवस नामक आन्दोलन जोर पकड़ रहा है। Kigensetsu ११ फरवरी को पड़ता है और ६६० ई० पू० प्रथम सम्राट् जिम्मु टेन्नो (Jimmu Tenno) द्वारा जापानी राज्य की स्थापना की परम्परागत वर्षगाँठ है। यह उत्सव जापानियों के शाही परिवार के प्रति आदर तथा स्नेह को प्रकट करता है। सम्राट्

1. *UNESCO*, Courier, August-Sept. 1954, 12—35. Also refer to "Japanese Popular Attitudes towards the Emperor" *Pacific Affairs*, Dec., 1952, pp. 235-44.

हिरोहितो (Hirohito) इस राजवंश की उत्तराधिकार परम्परा में १२४वें उत्तराधिकारी हैं। जापान पर एक ही वंश ने राज्य किया है जिसका परम्परागत उत्तराधिकार अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप से बना हुआ है।

सिंहासन का उत्तराधिकार (Succession to the Throne)—संविधान का अनुच्छेद २ विधान करता है कि शाही सिंहासन राजवंश सम्बन्धी है और डायट (Diet) द्वारा अधिनियमित शाही वंश कानून के अनुसार उस पर उत्तराधिकार होगा। मीजी (*Meiji*) संविधान के अनुसार शाही *डायट* (Imperial Diet), जो सिंहासन का उत्तराधिकार निश्चित करती है, न तो शाही वंश कानून में संशोधन कर सकती थी और न उसको समाप्त कर सकती थी। केवल सम्राट् ही, शाही परिवार परिषद् (Imperial Family Council) और प्रीवि परिषद् (Privy Council) की सलाह से, उसमें संशोधन कर सकता था किन्तु १९४७ के वर्तमान *संविधान के अधीन केवल डायट (Diet) को ही यह अधिकार प्राप्त है कि वह* १९४७ में अधिनियमित वर्तमान शाही वंश कानून में संशोधन कर सके अथवा उसे समाप्त कर दे। वर्तमान शाही वंश कानून ३ मई, १९४७ को ही नए संविधान के लागू होने के साथ-साथ प्रभावी हुआ था।

१९४७ का शाही वंश *कानून विधान करता है कि, "शाही सिंहासन पर शाही* वंश-परम्परा से सम्बन्ध रखने वाली मुख्य वंश-क्रम में जन्म लेने वाली पुरुष-सन्तान ही बैठेगी।" उत्तराधिकार के सम्बन्ध में मुख्य-वंश क्रम में रहने वाला ज्येष्ठाधिकार का नियम है और कानून दृढता से शाही-परिवार संरचना की परिभाषा करता है। गोद लेने की अनुमति नहीं है। यदि उत्तराधिकार के मुख्य वंश-क्रम में शाही परिवार *का कोई सदस्य नहीं है तो सिंहासन पर* वंशपरम्परा में शाही परिवार के अगले निकटतम सदस्य को बैठा दिया जाता है। ऐसा करते *समय वरिष्ठ वंश-क्रम में वरिष्ठ* सदस्य को पूर्ववर्तिता अथवा प्रधानता दी जाती है। शाही वंश परिषद् (Imperial House Council) जिसमें दस सदस्य[1] होते हैं, प्रधानमन्त्री द्वारा सभापतित्व की गई सभा में उत्तराधिकार के क्रम में परिवर्तन कर सकती है बशर्ते कि सिंहासन का उत्तराधिकारी असाध्य और भयंकर बीमारी से ग्रस्त हो। यदि सम्राट् ने अभी *वयस्कता (१८ वर्ष) प्राप्त न की हो, अथवा सम्राट् किसी भयकर रोग से ग्रस्त हो,* अथवा सार्वजनिक कार्यों के करने में सम्राट् के लिए कोई गम्भीर अड़चन हो तो प्रतिराज मण्डल (Regency) की स्थापना की जाती है। प्रतिराज सम्राट् के नाम पर अपने सारे कार्य करता है।

---

1. संरचना इस प्रकार है: शाही परिवार के २ सदस्य, डायट (Diet) के दोनों सदनों के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष, प्रधान-मन्त्री, शाही वंश अभिकरण का प्रधान, मुख्य न्यायाधीश तथा सर्वोच्च न्यायालय का एक अन्य न्यायाधीश। शाही परिवार के दो सदस्य शाही परिवार के अन्दर ही निर्वाचन द्वारा चुने जाते हैं और न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों द्वारा चुना जाता है।

शाही परिवार की वित्त-व्यवस्था (Imperial Household Finances)—वर्तमान मे शाही परिवार के कारबार पूरी तरह से डायट (Diet) के क्षेत्राधिकार और सत्ताधिकार के अन्तर्गत है। १९४५ से पूर्व शाही परिवार अत्यन्त धनवान था और भूमि और बडे उद्योगों के रूप मे वह बड़ी विस्तृत सम्पत्ति का मालिक था। सम्राट् वास्तव मे सबसे बड़ा Zaibatsu (Cartels) अर्थात् एकाधिकार सम्पन्न व्यक्ति था और देश की अर्थव्यवस्था पर उसका शक्तिशाली प्रभाव था। किन्तु अब उस विस्तृत सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग राज्य को हस्तान्तरित कर दिया गया है और शाही परिवार की आवश्यकताओं का विनियोजनों के द्वारा प्रबन्ध किया जाता है बशर्ते कि डायट (Diet) उनका अनुमोदन कर दे। संविधान का अनुच्छेद ८ स्पष्ट रूप से विधान करता है कि डायट (Diet) की प्राधिकृति बिना शाही वंश को न तो किसी प्रकार की सम्पत्ति दी जा सकती है और न उसके द्वारा स्वीकार की जा सकती है और न ही उस सम्पत्ति से किसी प्रकार के उपहार दिए जा सकते है।"

१९४७ में शाही परिवार का आकार कुछ कम हो गया जब ५१ राजकुमार और राजकुमारियों से युक्त ११ राजपरिवारों ने अपने पद और विशेषाधिकारों का त्याग कर दिया और वे साधारण नागरिक बन गए। आज शाही परिवार के अन्दर वर्तमान सम्राट् के और उसके तीन भाइयों के परिवार सम्मिलित हैं। १९४७ के संविधान ने उपाधियों को भी समाप्त कर दिया है और तदनुसार पूर्वकथित ११ राज-परिवार किसी भी प्रकार की उपाधि से युक्त नही है।

सम्राट् और उसके कर्तव्य (The Emperor and his Functions)—संविधान के अनुसार अनुच्छेद १, ३ और ४ सम्राट् की स्थिति को निश्चित करते है और अनुच्छेद ६ और ७ में उसके कर्तव्यों की सूची दी गई है। अनुच्छेद १ सम्राट् को "राज्य और जनता की एकता का प्रतीक बनाता है, जिसको वर्तमान स्थिति जनता की इच्छा द्वारा मिली है क्योंकि उसमे सर्वप्रभुता का निवास है।" इस अनुच्छेद का प्रभाव अनुच्छेद ३ और ४ में पर्याप्त रूप से प्रकट किया गया है। अनुच्छेद ३ निर्दिष्ट करता है कि "राज्य की बातों मे सम्राट् के समस्त कार्यों के लिए मन्त्रिमण्डल के परामर्श और अनुमोदन की आवश्यकता होगी और उसके लिए मन्त्रि-मण्डल उत्तरदायी होगा।" अनुच्छेद ४ विधान करता है कि "सम्राट् राज्य के मामलों के विषय में केवल वही कार्य करेगा जिनका विधान संविधान करता है और उसके पास शासन से सम्बन्ध रखने वाली शक्तियाँ नही होंगी।" इन सब उपबन्धो का संयुक्त प्रभाव निम्नलिखित रूप में सक्षेप मे कहा जा सकता है—

(१) कि सम्राट् अब शासन-सम्बन्धी किसी शक्ति या सत्ता का प्रयोग नहीं करता है।

(२) कि वह राज्य के मामलो के बारे में केवल कुछ ही कार्य करता है और ये कार्य स्पष्ट रूप से संविधान में उल्लिखित हैं। वह किसी भी प्रकार के

परमाधिकार का उपभोग नहीं करता और न ही वह किसी विशेषाधिकार या शक्ति का प्रयोग कर सकता है।

(३) कि सम्राट् के समस्त कार्यो के लिए मन्त्रिमण्डल का परामर्श और अनुमोदन आवश्यक है और इस प्रकार के समस्त कार्यों के लिए मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व है।

(४) कि सम्राट् राज्य और जनता की एकता का प्रतीकमात्र है।

(५) कि सम्राट् को अपनी स्थिति जनता की इच्छा द्वारा प्राप्त होती है जिसमें सर्वप्रभुता का निवास है। यदि जनता चाहे तो वह राजपद को समाप्त कर सकती है और उस दशा में सम्राट् को अपनी स्थिति से वियुक्त होना पड़ेगा।

अनुच्छेद ६, ७ राज्य की बातों के बारे में निम्नलिखित कार्यों का विशेष रूप से कथन करते हैं जिनको सम्राट् जनता के नाम पर मन्त्रिमण्डल का परामर्श और अनुमोदन मिलने पर करता है।

(१) डायट (Diet) द्वारा नामोद्दिष्ट प्रधान मन्त्री की नियुक्ति करना ;

(२) मन्त्रिमण्डल द्वारा नामोद्दिष्ट सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करना ;

(३) संविधान के संशोधनों, विधियों, मन्त्रिमण्डल के आदेशों तथा सन्धियों का प्रख्यापन ;

(४) डायट (Diet) के सदस्यों के आम चुनाव की घोषणा ;

(५) डायट का समाह्वान करना ;

(६) प्रतिनिधि सदन को भंग करना ;

(७) विदेशी राजदूतो और मन्त्रियो का स्वागत करना ;

(८) विधि द्वारा विहित अनुसमर्थन के संलेखो और राजनयिक दस्तावेजों या प्रलेखों का अभिप्रमाणन ;

(९) विधि द्वारा विहित राज्य के मन्त्रियों और अन्य अधिकारियों की नियुक्ति तथा पदच्युति का अभिप्रमाणन, और राजदूतों और मन्त्रियो की सम्पूर्ण शक्तियों और अधिकार-पत्रों का अभिप्रमाणन ;

(१०) उपाधियों का प्रदान करना ;

(११) साधारण तथा विशेष राजक्षमा, आम सजा में कमी, प्राण-दण्ड का स्थगन और अधिकारो के आरक्षण का अभिप्रमाणन; और

(१२) समारोह सम्बन्धी उत्सवों का निष्पादन

सम्राट् का कार्य-भाग (Role of the Emperor)—ऊपर गिनाए गए कृत्य उन समस्त कृत्यों का एक भाग हैं जो प्रायः राज्य के मुखिया से सम्बन्ध रखते है। किन्तु जापान का सम्राट् इन समस्त कृत्यों को जनता के नाम पर और मन्त्रीय परामर्श और अनुमोदन मिलने पर करता है। इनमें से किसी एक के विषय में सम्राट् स्वयं किसी प्रकार के उपक्रम, विवेक, अथवा प्रभाव का प्रयोग नहीं कर

सकता है। सविधान सम्राट् को न केवल शासन से सम्बन्ध रखने वाले किसी व्यक्तिगत कार्य को करने की मनाही करता है अपितु राजनीतिक तौर पर उसे इतना पगु बना देता है कि वह राज्य के मुखिया होने का अथवा राष्ट्र का प्रतिनिधि होने का भी दम नही भर सकता। Theodore Mc Nelly लिखता है कि, "ऐसा प्रतीत होता है कि १६३१ के British Statute of Westminster द्वारा ही 'राज्य का प्रतीक' इस पद का सुझाव दिया गया हो क्योकि यही विधान कहता है कि ब्रिटिश सम्राट् ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का प्रतीक है।"[1] परन्तु एक सर्वप्रभुत्व सम्पन्न राज्य के मुख्य कार्यपालक के विषय मे इस प्रकार के पद का प्रयोग उपयुक्त नही है।

इस प्रकार, सम्राट् की स्थिति केवल शून्य की ओर संकेत करती है और इग्लैंड के संवैधानिक राजा की तुलना में जापान का सम्राट् कही नही ठहरता, क्योकि इग्लैंड के सम्राट् का शासन की प्रक्रिया मे एक सुनिश्चित कार्यभाग है। जापान का सम्राट् समारोहात्मक कृत्यो को करने वाला है, इसके अतिरिक्त वह कुछ नही करता। प्रधान मन्त्री की नियुक्ति में यह किसी भी प्रकार के विवेक का प्रयोग नही कर सकता, सम्राट् को डायट (Diet) द्वारा नामोद्दिष्ट व्यक्ति की ही नियुक्ति करनी पड़ती है। न ही वह विघटन के विषय मे किसी प्रकार का प्रभाव डाल सकता है। सन्धियो पर भी सम्राट् के नाम पर न तो बातचीत होती है और न वे सम्पन्न होती हैं। सरकार द्वारा सम्पन्न की जाने पर और डायट (Diet) द्वारा अनुमोदित हो जाने पर सम्राट् केवल उनको जनता के नाम पर प्रख्यापित करता है। डायट (Diet) द्वारा कानूनो के पारित किए जाने पर उन्हें वैधता प्रदान करने के लिए सम्राट् की स्वीकृति की आवश्यकता नही है। इग्लैण्ड में कोई विधेयक कानून तब ही बनता है जब वह ससद् द्वारा पारित कर दिया जाता है और जब उस पर सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। संसद् द्वारा यथोचित विधि द्वारा पारित विधेयक को निषेधाधिकार के प्रयोग से रद्द करने की शक्ति सम्राट् के पास है, यद्यपि १७०७ से लेकर सम्राट् ने इसको कभी भी प्रयुक्त नही किया है। *जापान के सम्राट् के पास स्वीकृति रोकने* की कोई शक्ति नही है। डायट (Diet) द्वारा विधेयक के पारित हो जाने के पश्चात् वह स्वयमेव कानून बन जाता है। सम्राट् तो केवल उसे प्रख्यापित करता है। अन्ततः सम्राट् के पास क्षमा-दान का कोई परमाधिकार नही है। वह तो केवल सर्वसाधारण तथा विशेष क्षमा-दान, दण्ड मे कमी, प्राण-दण्ड में रोक तथा अधिकारों के पुनरुद्धार का अभिप्रमाणन ही करता है।

इसमें सन्देह नही है कि मन्त्रिमण्डल द्वारा सम्राट् को राज्य के विषयो के बारे में और राजनीतिक नीतियों के विषय में अपेक्षित सूचना पहुंचायी जाती है।

---

1. *Contemporary Government of Japan*, p. 59.

किन्तु बैजहॉट (Bagehot) द्वारा ब्रिटिश सम्राट् को सौंपे गए तीनों अधिकारो में से कोई भी अधिकार जापान के सम्राट् से पास नही है—वे अधिकार हैं "परामर्श देने का अधिकार, प्रोत्साहन देने का अधिकार और चेतावनी देने का अधिकार।" आगे चल कर बैजहॉट (Bagehot) ने कहा है कि, "बुद्धिमान् तथा समझदार सम्राट् को इन अधिकारों के अतिरिक्त और किसी अधिकार की आवश्यकता नहीं होगी।"[1] जापान के सम्राट् से कभी भी परामर्श नही लिया जाता और मन्त्रियों द्वारा शासन से सम्बद्ध किसी बात मे भी उसकी राय नही जानी जाती। वह केवल उन्ही कृत्यों को करता है जिनका विशेष रूप से संविधान में विस्तार से वर्णन किया गया है और वे कार्य भी वह जनता के नाम पर करता है जिनके द्वारा उसे अपनी स्थिति प्राप्त है। सम्राट् के इन सब कार्यों के लिए मन्त्री उत्तरदायी हैं। महत्त्वपूर्ण निर्णयों मे हस्तक्षेप करने के लिए या उन्हे प्रभावित करने के लिए उसके पास न तो कोई वैध अधिकार है और न कोई सैद्धान्तिक अधिकार। श्री एस्क्विथ (Mr. Asquith) ने ब्रिटिश सम्राट् के अधिकारो और कर्त्तव्यो पर ज्ञापन लिखते समय कहा है, "उसका (सम्राट् का) यह अधिकार भी है और कर्त्तव्य भी कि वह अपने मन्त्रियो को वह सारी जानकारी प्रदान करे जो उसे हो; उन सभी आक्षेपो से अवगत कराए जो मन्त्रियों द्वारा दी गई सलाह पर उचित रूप से लगाए जा सकते है और यदि सम्राट् की राय में कोई दूसरी नीति उपयुक्त जान पड़े तो उसे मन्त्री के समक्ष प्रस्तुत करे। मन्त्री लोगो को इस प्रकार की मन्त्रणाएँ सदैव आदरपूर्वक स्वीकार करनी पडती है और उन मन्त्रणाओ पर किसी अन्य क्षेत्र से दी गई मन्त्रणा की अपेक्षा अधिक समादर से विचार किया जाता है।"[2] जापान के सम्राट् का नैतिक प्रभाव अभी भी पर्याप्त है और विशेष परिस्थितियों मे ही यदि वह चाहे तो उसका प्रयोग कर सकता है, किन्तु वह उसका नितान्त व्यक्तिगत कृत्य होगा जिसके साथ उसके राजपद नाम की सस्था की प्रतिष्ठा का गौरव जुड़ा होगा। संवैधानिक तौर पर उसके पास इस तरह के हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही है। न ही सम्राट् राजनीतिक सघर्षो को सुलझाने के लिए मध्यस्थ के रूप मे कार्य कर सकता है अथवा अपनी प्रतिष्ठा का प्रयोग कर सकता है जैसा कि ब्रिटिश सम्राट् ने कई अवसरों पर किया है। सविधान इस बात के लिए आग्रह करता है कि सम्राट् राजनीति में अपना झुकाव प्रदर्शित न करे और सार्वजनिक राय के किसी गहरे रग को अभिव्यक्त न करे।

जो भी हो, इस बात को झुठलाया नही जा सकता कि सम्राट् के राजनीतिक दृष्टि से अशक्त बनने के बावजूद भी सिहासन के प्रति जनता का भाव पहले जैसे

1. Bagehot, W. *The British Constitution* (The world classics ed.) p 67
2. Spender, J. A., *Life of Lord Oxford and Asquith*, Vol. II, pp 29-30.

प्रकार का बना हुआ है। जापान का सम्राट् जापानी लोगों की एकता और ठोसपन का अत्यन्त शक्तिशाली प्रतीक था और वर्तमान में भी है। जापानी लोग सिंहासन की उत्कट आराधना द्वारा अपने राष्ट्र की ही आराधना करते हैं। सम्राट् राष्ट्र की दो हजार वर्षीय 'जापानीयता' (Japaneseness) की एकता और स्थिरता के प्रतीक-स्वरूप को लिए हुए है और इसलिए देशभक्ति और स्वदेशाभिमानी निष्ठा के लिए एक शक्तिशाली केन्द्र का विधान करता है। Chitoshi Yanaga का कथन है कि, "सम्राट् के प्रति समादर भाव प्रायः उन लोगों के लिए अविश्वसनीय है जिन्होंने उसकी अभिव्यक्ति स्वय नही देखी है। इसके अतिरिक्त यह अथाह है क्योंकि यह अभिव्यक्ति भावुकता लिए हुए है और व्यावहारिक रूप से धार्मिक है। सम्भवतः पाश्चात्य लोगों मे केवल ब्रिटिश लोग ही ऐसे है जो सम्राट् के प्रति जापानी भाव को समझने में उनके अत्यन्त निकट आ सकते है।"[1] अतः सम्राट् के कार्यभाग की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह राष्ट्र को एकत्रित करने का बिन्दु है और जापानी लोगो का बहुमत चाहता है और इस बात का यत्न करता है कि सम्राट् को राज्य के सवैधानिक मुखिया की स्थिति और पदवी तक ऊपर उठा दिया जाय। संसदीय प्रणाली वाले प्रजातन्त्र के लिए किसी प्रतिष्ठित और निष्पक्ष व्यक्ति की उपस्थिति आवश्यक है जो शासनिक प्रक्रिया में ब्रिटिश सम्राट् के समान सुनिश्चित कार्य कर सके।

मन्त्रिमण्डल

(The Cabinet)

मन्त्रिमण्डल-प्रणाली का अतीत पर्यालोचन (The Cabinet system in retrospect)—जापान में मन्त्रिमण्डल प्रणाली का प्रारम्भ १८८५ के शाही अध्यादेश से माना जाता है जिसके द्वारा मन्त्रिमण्डल की स्थापना हुई। किन्तु इसके द्वारा ऐसी मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली की सरकार स्थापित नही हुई जैसी कि ग्रेटब्रिटेन मे थी। वास्तव मे यह ग्रेट ब्रिटेन मे मन्त्रिमण्डलीय सरकार के विकास के असदृश था जहाँ मन्त्रिमण्डल का उद्विकास अन्तिम तत्त्व के रूप मे हुआ था। जापान मे "मन्त्रिमण्डल नामक संस्था सविधान के प्रख्यापन से चार वर्ष पूर्व और संसद् के अर्थात् डायट (Diet) के आरम्भ से पूरे पाँच वर्ष पूर्व स्थापित हुई थी।"[2]

किन्तु इस दिशा मे कार्य प्रारम्भ किया जा चुका था यद्यपि १८८६ के संविधान में स्वयं 'मन्त्रिमण्डल' और 'प्रधान मन्त्री' ये पद कही नही आए थे। अनुच्छेद ५५ केवल यही उल्लिखित करता था कि "राज्य के मन्त्री" होंगे जो सम्राट् को परामर्श देंगे और उसके प्रति उत्तरदायी होंगे। इस उपबन्ध से यह अर्थ लगाया जा सकता था कि मीजी संविधान (Meiji Constitution) ने सम्राट् को परामर्श

1. *Japanese People and Politics*, p. 130.
2. *Ibid.* p. 144.

देने के लिए एक प्रकार के मन्त्रिमण्डल की स्थापना की थी जो मन्त्रिमण्डल दिए गए परामर्श के लिए उसके प्रति उत्तरदायी था।

चूंकि 'राज्य के मन्त्रियो' का अर्थ 'मन्त्रियों की परिषद्' नही था और और वे केवल सम्राट् के प्रति व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी थे, यह आवश्यक नही था कि वे डायट (Diet) के सदस्य हो और उसके बहुमत दल से या मिली-जुली सरकार बनाने के लिए स्वीकृति प्रदान करने वाले संसदीय समूहों के सयोजन से सम्बद्ध हो। प्रारम्भ में सम्राट् अपना प्रधान-मन्त्री चुनता था जिसके लिए उसके परामर्शदाता सिफारिश करते थे। इन परामर्शदाताओ के अन्दर वरिष्ठ राजनीतिज्ञ, लार्ड कीपर ऑफ दि प्रिवी सील (Lord Keeper of the Privy Seal) और शाही परिवार का मन्त्री समाविष्ट होते थे। उसके पश्चात् प्रधान-मन्त्री सम्राट् से परामर्श करके मन्त्रियो को चुनता था। वर्तमान शताब्दी के दूसरे दशाब्द मे सम्राट् ने डायट (Diet) मे बहुमत दल के नेता को बुलाना प्रारम्भ कर दिया था और उसे अन्य मन्त्रियों के नामो की सिफारिश करने के लिए आज्ञा देता, किन्तु ऐसा सदैव नही होता। परन्तु प्रधान मन्त्री अपने ही राजनीतिक दल से मन्त्रियों को चुन कर अपना मन्त्रि-दल (Team) नहीं बनाता। राजनीतिक दलों की विविधता के अतिरिक्त कुछ और वातें भी होती थी जिन्हे प्रधान मन्त्री अपनी पसन्द करते समय अपने ध्यान मे रखता। उसे सदैव अल्पतंत्र की इच्छाओं और सेना के विचारों का विशेष ध्यान रखना पड़ता था। इस सब का स्पष्ट परिणाम कमजोर मन्त्रिमण्डल मे निकलता जिसे विभिन्न प्रकार के दवावों और प्रभावों के अधीन कार्य करना पड़ता था। नोवूताका इके (Nobutaka Ike) ने उचित ही कहा है कि, "अतः युद्ध-पूर्व मन्त्रिमण्डल की शक्ति सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनो मे अत्यन्त परिमित थी। तथापि, शासन के समस्त अङ्गों मे से मन्त्रिमण्डल ही ऐसी वस्तु थी जो सम्भवतः निरन्तर सार्वजनिक दृष्टि का लक्ष्य बनी रहती और प्रायः समस्त राजनीतिक व्यक्ति प्रधान मन्त्री अथवा मन्त्रिमण्डल के सदस्य के रूप मे अपनी नियुक्ति को अपनी जीवन-यात्रा की सर्वोत्तम सफलता समझने लगे थे।"

१९४७ के संविधान के अधीन मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली (Cabinet system under the Constitution, 1947)—'मन्त्रिमण्डल' तथा 'प्रधान मन्त्री' इन शब्दों का अब संविधानीकरण हो गया है और १९४७ का संविधान उन समस्त आधारभूत सिद्धान्तों को समाविष्ट करता है जो मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली की सरकार का सार है। कार्यपालिका शक्ति मन्त्रिमण्डल मे निहित है[1] और सम्राट् केवल राज्य और लोगो की एकता का प्रतीक है।[2] मन्त्रिमण्डल में उसके प्रधान के रूप में प्रधानमन्त्री होगा और राज्य के अन्य मन्त्री होगे जो प्रधानमन्त्री द्वारा नियुक्त होगे।[1] प्रधान-मन्त्री डायट के प्रस्ताव द्वारा डायट (Diet) के सदस्यो[2] में से नामोद्दिष्ट होगा

1. अनुच्छेद ६५

2. अनुच्छेद १

ग्रौर यह स्थान सदैव डायट के निचले सदन में बहुमत दल के अथवा बहुमत संयुक्त दल के नेता को मिलेगा। प्रधानमन्त्री तथा अन्य मन्त्री असैनिक व्यक्ति[3] होगे और उनकी बहुसंख्या डायट (Diet) के सदस्यों में से चुनी जायेगी। मन्त्रिमण्डल अपनी कार्यपालिका शक्तियो के प्रयोग के विषय में सामूहिक रूप से डायट (Diet[4]) के प्रति उत्तरदायी होगे और प्रधानमन्त्री यदि चाहे तो राज्य के मन्त्रियो को हटा सकता है।[5] मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र दे देना होगा जब तक निचला सदन या तो अविश्वास के प्रस्ताव को पारित कर दे या विश्वास के प्रस्ताव को रद्द कर दे।[6] अतः मन्त्रिमण्डल तब तक ही अपने पद पर बना रहता है जब तक उसे प्रतिनिधि सदन का विश्वास प्राप्त है। यद्यपि मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व प्रतिनिधि सदन के प्रति होता है तथापि प्रत्येक मन्त्री प्रधानमन्त्री के प्रति उत्तरदायी होता है और वे प्रधान मन्त्री की इच्छा पर अपने पद से हटाए जा सकते है। जिन हाथों से उसका निर्माण होता है उन्हीं हाथों वे समाप्त भी हो सकते है।[7]

मन्त्रिमण्डल की संरचना और संगठन (Composition and Organization of the Cabinet)—मन्त्रिमण्डल का आकार समयानुसार बदलता रहता है किन्तु प्रायः राज्य के १६ मन्त्री नियुक्त किए जाते है। सिद्धान्त रूप में समस्त मन्त्रियों का पद तथा स्तर समान होता है। परन्तु व्यवहार में केवल बारह के पास ही विभाग रहते हैं और वे विभिन्न मन्त्रालयो के अध्यक्ष होते है। विभाग रहित मन्त्रियों के पास मन्त्रालयों का कार्यभार नही रहता और उनमें अन्तर रखने के लिए उन्हे राज्य-मन्त्री कहा जाता है।

सप्ताह में दो बार मन्त्रिमण्डल की बैठक होती है। ये बैठकें प्रधान मन्त्री के सरकारी निवास-स्थान पर मङ्गलवार और शुक्रवार को होती है। मन्त्रिमण्डल की बैठकों मे प्रधान मन्त्री सभापति रहता है और उसकी अनुपस्थिति मे उप-प्रधान मन्त्री सभापतित्व करता है। अब यह रूढ़ व्यवहार हो गया है कि मन्त्रिमण्डल के निर्णय एकमत से हो। यदि कोई मन्त्री मन्त्रिमण्डल के निर्णय अथवा उसकी नीति से सहमत नही तो उसे अपने पद से त्यागपत्र दे देना चाहिए। मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही अत्यन्त गोपनीय होती है और उसका वृत्त नही रखा जाता। मन्त्रियों को स्पष्टतया आदेश होता है कि मन्त्रिमण्डल की बैठक मे होने वाली बातचीत को वे बाहर प्रकाशित न करें। एक निदेशक और दो उप-निदेशक की अधीनता में मन्त्रिमण्डल-सचिवालय मन्त्रिमण्डल के कार्य मे सहायता देता है, कार्य-सूची का

---

1. अनुच्छेद ६६
2. अनुच्छेद ६७
3. अनुच्छेद ६६
4. अनुच्छेद ६=
5. अनुच्छेद ६६
6. अनुच्छेद ६=
7. अनुच्छेद ६६

क्रम निश्चित करता है, प्रलेखों को तैयार करता है और अन्य विषयों का प्रबन्ध करता है। यह एक प्रथा सी बन गई है कि मन्त्रिमण्डल सचिवालय का निदेशक और व्यवस्थापन ब्यूरो (Legislation Bureau) के निदेशक और उप-निदेशक मन्त्रिमण्डल की बैठकों में उपस्थित हों, उसके विचार-विमर्शों में भाग लें परन्तु वे मतदान मे भाग नही ले सकते।

प्रधान मन्त्री के कार्यालय के अतिरिक्त १६ मन्त्रालय या विभाग स्थापित कर दिए गए है। प्रधान मन्त्री स्वयं अपने कार्यालय का प्रधान होता है और यह कार्यालय शासन का स्नायु-केन्द्र और कार्य करने का ढाँचा तैयार करता है। मन्त्रिमण्डल सचिवालय और विधायी ब्यूरो मन्त्रिमण्डल के सहायक अङ्ग हैं। इनमें प्रथम कथित का कार्य मन्त्रिमण्डल की बैठको की कार्य-सूची को तैयार करना और मन्त्रिमण्डल के अन्य विविध कार्यों को करना होता है। विधायी ब्यूरो सरकारी विधेयको की परीक्षा करता है और उनका प्रारूप तैयार करता है तथा इसके अतिरिक्त संधियों के प्रारूपो और अन्य समान महत्त्वपूर्ण मामलो की परीक्षा करता है। तीन अतिरिक्त मन्त्रालयिक अभिकरण भी है—राष्ट्रीय सेवि वर्ग अभिकरण (National Personnel Agency), संविधान आयोग (Commission on Constitution) और आर्थिक योजना अभिकरण (Economic Planning Agency), लेखा-परीक्षा बोर्ड मन्त्रिमण्डल के अधीन नही होता और संवैधानिक तौर पर इसका अन्तिम कर्तव्य यह है कि यह राज्य के व्यय और राजस्व के लेखे-जोखे की प्रतिवर्ष जाँच करे।

मन्त्रिमण्डल की दो प्रमुख समितियाँ है—मन्त्रालयिक सुरक्षा परिषद् और राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् (Ministerial Defence Council and National Defence Council)। मन्त्रालयिक सुरक्षा परिषद् के सदस्यो के नाम है—प्रधान मन्त्री, विदेश मन्त्री, वित्त मन्त्री, कृषि तथा वन मन्त्री, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा उद्योग मन्त्री, परिवहन मन्त्री तथा वह राज्य-मन्त्री जो आर्थिक योजना अभिकरण के निदेशक के रूप में कार्य करता है। राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् का गठन प्रधान मन्त्री, विदेश मन्त्री, वित्त मन्त्री, और सुरक्षा अभिकरण तथा आर्थिक योजना अभिकरण के निदेशको के रूप मे कार्य करने वाले राज्य मन्त्रियों को लेकर होता है। इन दोनों समितियों का प्रधान प्रधान मन्त्री होता है।

मन्त्रिमण्डल का औसतन जीवनकाल दस मास से थोड़ा ही अधिक होता है। विरोधाभासी जैसे कि लगता है कि मन्त्रिमण्डलो की अपेक्षा प्रधान मन्त्रियों में अधिक स्थायित्व रहता है। प्रधान मन्त्री का औसतन कार्यकाल २५ मास रहता है। मन्त्रिमण्डल की छोटी कार्यावधि के दो मुख्य कारण हैं—मन्त्रिमण्डल को नीति-विषयक दलाभ्यन्तर (intra-party) तथा गुट-बन्दी के अभ्यन्तर (intra-factional) रहने वाले मतभेद हैं और यही मतभेद मन्त्रिमण्डल के अन्दर लिए

यह मन्त्रिमण्डल का ही कार्य है कि वह विभिन्न मन्त्रालयों के कार्यों में तथा शासन के विभागों के कार्यों में समन्वय कराए। अन्त में, मन्त्रिमण्डल राज्य पर होने वाले समस्त व्यय और उस व्यय की पूर्ति के लिए आवश्यक राजस्व जुटाने के लिए भी उत्तरदायी है।

ऊपर कहे गए कृत्य मन्त्रिमण्डल के सामान्य कृत्य हैं जो प्रत्येक मन्त्रिमण्डल में अन्तर्निहित रहते हैं और सब जगह लागू होते हैं। जापान का संविधान पर्याप्त सावधानी के तौर पर अनेक कृत्यों का स्पष्ट उल्लेख करता है जिन्हें मन्त्रिमण्डल द्वारा किया जाना है। उनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण कृत्यों को अध्याय ५ में गिनाया गया है। अनुच्छेद ७२ के अनुसार, प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल का प्रतिनिधित्व करता हुआ :

(१) विधेयकों को डायट (Diet) में प्रस्तुत करता है,

(२) डायट (Diet) में आम, राष्ट्रीय तथा विदेशी मामलों पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है, और

(३) विविध प्रशासनिक शाखाओं पर नियन्त्रण और निगरानी रखता है।

अनुच्छेद ७३ विधान करता है कि मन्त्रिमण्डल अन्य सामान्य प्रशासनिक कृत्यों के अतिरिक्त निम्नलिखित कृत्यों को करेगा :—

(१) कानून को ठीक-ठीक प्रयुक्त करेगा और राज्य का काम-काज चलायेगा,

(२) विदेशी मामलों का प्रबन्ध करेगा और सन्धियाँ करेगा,

(३) कानून द्वारा स्थापित मानदण्ड के अनुसार असैनिक सेवाओं का प्रबन्ध करेगा,

(४) आय-व्ययक तैयार करेगा और उसे डायट (Diet) में उपस्थित करेगा,[1]

(५) संविधान के उपबन्धों तथा कानून के उपबन्धों का निष्पादन करने के लिए मन्त्रिमण्डल के आदेशों का अधिनियमन करेगा,

(६) साधारण माफी, विशेष माफी सजा में कमी, प्राण-दण्ड में कमी और अधिकारों के पुनरुद्धार के विषय में निर्णय करेगा,

(७) समस्त कानूनों और मन्त्रिमण्डल के आदेशों पर अधिकृत राज्य के मन्त्री के हस्ताक्षर होंगे और प्रधान मन्त्री द्वारा वे प्रतिहस्ताक्षरित होंगे :[2]

मन्त्रिमण्डल शासन के अन्य अंगों से सम्बद्ध कृत्यों को भी करता है।

---

1. अनुच्छेद ८६ भी कहता है कि, "मन्त्रिमण्डल प्रत्येक राजकोषीय (Fiscal) वर्ष के लिए आय-व्ययक तैयार करेगा और उसे डायट के विचारार्थ और निर्णयार्थ प्रस्तुत करेगा।

2. अनुच्छेद ७४

(क) राज्य के मामलों से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों के विषय में सम्राट् को परामर्श देता है,[1]

(ख) सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को नामोद्दिष्ट करता है,[2]

(ग) मुख्य न्यायाधीश को छोड़कर[3] सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों और निचली अदालतों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है जो सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मनोनीत व्यक्तियों की सूची में से की जाती है,[4]

(घ) डायट (Diet) के असाधारण सत्र के समाह्वान का निश्चय करता है,[5]

(ङ) प्रतिनिधि सदन के विघटन किए जाने पर पार्षदों के सदन का आपातिक सत्र आहूत करता है,[6]

(च) सम्राट् को प्रतिनिधि सदन के विघटन करने का परामर्श देता है,[7]

(छ) डायट (Diet) के सदस्यों के आम निर्वाचन सम्बन्धी प्रख्यापन के विषय में परामर्श देता है,[8]

(ज) डायट (Diet) के समाह्वान के विषय में परामर्श देता है,[9]

(झ) आय-व्ययक में अनपेक्षित कमियों की पूर्ति के लिए संचित निधि में से धन खर्च करता है और डायट (Diet) का अनुवर्ती अनुमोदन प्राप्त करता है,[10]

(ञ) प्रतिवर्ष डायट (Diet) को राज्य के व्यय और राजस्व का अन्तिम लेखा और लेखा-परीक्षा बोर्ड द्वारा तैयार किए गए लेखापरीक्षित प्रतिवेदन का विवरण प्रस्तुत करता है[11] और

(ट) राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति अथवा वित्त-व्यवस्था की दशा के विषय में डायट (Diet) और लोगों को, नियमित व्यवधानों में और कम-से-कम वर्ष में एक बार, प्रतिवेदन देता है।[12]

प्रधान मन्त्री

(The Prime Minister)

प्रधान मन्त्री का नामोद्देशन तथा नियुक्ति (Designation and Appointment of the Prime Minister)—ब्रिटिश संसद् का ऐसा कोई अधिनियम नहीं

---

1. अनुच्छेद ३ 2. अनुच्छेद ६ 3. अनुच्छेद ७९
4. अनुच्छेद ८० 5. अनुच्छेद ५३ 6. अनुच्छेद ५४
7. अनुच्छेद ७ 8. अनुच्छेद ७ 9. अनुच्छेद ७
10. अनुच्छेद ८७ 11. अनुच्छेद ९० 12. अनुच्छेद ९१

है जो इंग्लैण्ड में प्रधान मन्त्री के पद को स्थापित करता है।[1] परन्तु जापान का संविधान विशेष रूप से इसका विधान करता है और उसकी स्थिति का निर्धारण करता है। संविधान का अनुच्छेद ६ कहता है कि डायट (Diet) द्वारा नामोद्दिष्ट किए जाने पर सम्राट् प्रधान मन्त्री की नियुक्ति करेगा। यह बात अनुच्छेद ६७ में दुहरायी गई है, जहाँ इसमें यह बात और जोड़ी गई है कि प्रधान मन्त्री डायट (Diet) के प्रस्ताव द्वारा डायट (Diet) के सदस्यों में से नामोद्दिष्ट किया जायेगा। इसके साथ ही संविधान की दृष्टि में यह आवश्यक है कि प्रधान मन्त्री और अन्य मन्त्री असैनिक[2] व्यक्ति हों परन्तु यह इस बात का विधान नहीं करता कि प्रधान मन्त्री अवश्यमेव डायट (Diet) के निम्न सदन से ही हो। अतएव, कानूनी तौर पर यदि प्रधान मन्त्री उच्च सदन का सदस्य हो तो उस पर किसी प्रकार का सवैधानिक प्रतिबन्ध नहीं है। किन्तु १९४७ से लेकर, जब से कि संविधान प्रवर्तित हुआ है ऐसी स्थिति कभी नहीं आयी है और अब यह प्रथा भली प्रकार स्थापित हो गई है कि प्रधान मन्त्री को प्रतिनिधि सदन से ही आना चाहिए। प्रधान मन्त्री को प्रतिनिधि सदन का ही सदस्य होना चाहिए यह बात अनुच्छेद ६७ के परन्तुक (proviso) द्वारा ही ध्वनित होती है। यह विधान करता है कि यदि प्रतिनिधि सदन और पार्षद सदन आपस में सहमत न हों, और यदि दोनों सदनों की संयुक्त समितियों में किसी समझौते पर न पहुँचा जा सके, अथवा यदि प्रतिनिधि सदन द्वारा नामोद्देशन किए जाने के दस दिन के अन्दर-अन्दर पार्षद सदन नामोद्देशन करने में असफल रहे, तो प्रतिनिधि सदन का निर्णय ही डायट (Diet) का निर्णय होगा। इसके साथ ही मन्त्रिमण्डल का प्रतिनिधि सदन के प्रति उत्तरदायित्व भी जुड़ा हुआ है। चूंकि प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल का नेता होता है अतएव इस बात का अनुमान करना तर्कसंगत ही होगा कि वह ऐसे सदन का सदस्य हो जिसके प्रति मन्त्रिमण्डल संवैधानिक तौर पर उत्तरदायी हो।

डायट (Diet) के दोनों सदनों में प्रधान मन्त्री के नामोद्देशन के सम्बन्ध में पालन की जाने जाने वाली प्रक्रिया एक जैसी ही है। स्पष्टता के लिए इसे दो अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है। पहली अवस्था वह है जिसमें प्रत्याशियों का नाम निर्देशन किया जाता है। यदि किसी एकल दल का बहुमत हो तो उसका नेता ही स्वतः नामोद्दिष्ट किया जाता है क्योंकि प्रधान मन्त्री के नामोद्देशन के लिए उपस्थित सदस्यों के बहुमत तथा मतदान की आवश्यकता होती है। यदि किसी एकल दल का बहुमत नहीं है और उनमें से कुछ एक मिलकर एक मिला-जुला बहुमत

1. १९३७ के 'क्राउन के मन्त्री अधिनियम' (The Minister of the Crown Act of 1937) ने प्रथम बार प्रधान मन्त्री के पद को मान्यता दी जिसने प्रधान मन्त्री और सरकार के प्रथम मन्त्री (First Lord of the Treasury) के रूप में उसके वेतन के बारे में निश्चय किया गया।

2. अनुच्छेद ६६

बना लें तो फिर उसका नेता ही स्पष्ट रूप से वरण किया जायेगा। यदि यह सम्भव नहीं होता तो दल अपने-अपने प्रत्याशियों का नाम निर्देशन करते हैं। क्योंकि उस अवस्था में मतदान पूर्णतः दल की नीतियों के अनुसार होता है अतः किसी को भी बहुमत प्राप्त नहीं होता। उस अवस्था में वे प्रथम दो प्रत्याशी जिन्हें अधिकतम मत प्राप्त हुए हैं अन्तिम नाम निर्देशन के योग्य समझे जाते हैं और फिर जो उनमे बहुमत प्राप्त कर लेता है उसे ही नामोद्दिष्ट समझ लिया जाता है। समान मत प्राप्त करने की दशा मे लाटरी डाल कर निर्णय कर लिया जाता है। इस प्रकार प्रधान मन्त्री के नामोद्देशन प्रक्रिया की पहली अवस्था सम्पूर्ण समझी जाती है। इसके पश्चात् औपचारिक नामोद्देशन का प्रस्ताव उपस्थित किया जाता है और उस पर मतदान होता है। दोनों सदनों के मध्य असहमति होने की दशा में मतभेद दूर करने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त समिति नियुक्त की जाती है। यदि संयुक्त समिति किसी निर्णय पर पहुंचने मे असफल रहती है और मतभेद बना रहता है तब प्रतिनिधि सदन का निर्णय ही अन्तिम रूप से माना जाता है और वह निर्णय डायट (Diet) का ही निर्णय समझा जाता है। "ऐसी घटना वास्तव मे १६४८ में घटी जब प्रधान मन्त्री अशीदा (Ashida) ने अपने प्रतिद्वन्द्वी जोशीदा (Joshida) के ऊपर विजय प्राप्त की थी।" जो व्यक्ति अधिकृत रूप से डायट (Diet) द्वारा नामोद्दिष्ट होता है सम्राट् द्वारा नियुक्त किए जाने पर प्रधान मन्त्री बनता है। सम्राट् द्वारा नियुक्ति केवल एक रसमी कृत्य है क्योंकि वैधानिक तौर पर वह इस प्रकार की नियुक्ति को मना करने मे सक्षम नहीं है।

प्रधानमन्त्री की शक्तियां (Powers of the Prime Minister)—संवैधानिक दृष्टि से मुख्य कार्यपालिका तथा प्रशासन का मुखिया होने के नाते प्रधान मन्त्री की शक्तियों की मात्रा का भली प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है। संविधान का अनुच्छेद ६६ घोषणा करता है कि प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष होगा। वह मन्त्रियों की नियुक्ति करता है और उन्हें अपनी प्रसन्नता[1] तक ही अपने पदों पर बने देने रहने का अविवाद्य अधिकार रखता है। डायट को विधेयक प्रस्तुत करते समय, सामान्य राष्ट्रीय मामलों के विषय में प्रतिवेदन देते समय और विभिन्न प्रशासनिक विभागों पर नियन्त्रण और निगरानी करते समय वह मन्त्रिमण्डल का प्रतिनिधित्व करता है।[2] समस्त विधियां तथा मन्त्रिमंडल के आदेशों पर अधिकृत मन्त्री के हस्ताक्षर होते हैं और वही प्रधान मन्त्री द्वारा प्रतिहस्ताक्षरित होते हैं।[3] प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल की बैठकों का सभापतित्व करता है[4] और मन्त्रिमंडल के मन्त्रियों के मध्य क्षेत्राधिकार सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय करता है।[5] मन्त्रिमंडल द्वारा विचाराधीन

1. अनुच्छेद ६८, जापान का संविधान, १९४७
2. अनुच्छेद ७२, जापान का संविधान, १९४७
3. अनुच्छेद ७४, जापान का संविधान, १९४७
4. मन्त्रिमण्डल, विधि, अनुच्छेद ४
5. मन्त्रिमण्डल, विधि, अनुच्छेद ७

कार्य करने तक प्रधान मन्त्री किसी भी प्रशासनिक विभाग के अधिकृत कृत्य अथवा आदेश को स्थगित कर सकता है।[1] प्रधान मन्त्री के बिना विधि को मन्त्रियों की पहिचान अर्थात् अस्तित्व अज्ञात है। सविधान का अनुच्छेद ७० घोषणा करता है कि यदि प्रधान मन्त्री का पद रिक्त हो जाय तो समस्त मन्त्रिमंडल के लिए त्यागपत्र देना आवश्यक हो जायेगा। ये बातें प्रधान मन्त्री की विशेष सामर्थ्य के अन्तर्गत आती हैं कि वह डायट के निर्वाचनों की तिथि निश्चित करे, डायट का अधिवेशन बुलावे और अन्तर्राष्ट्रीय समझौते करे और उनका अनुसमर्थन करावे।[2] मन्त्रिमण्डल का प्रधान होने के नाते संविधानीकृत पद वाला होने पर और विशाल शक्तियों से युक्त होने पर प्रधान मन्त्री की स्थिति इंग्लैण्ड मे उसके प्रारूप (prototype) से किसी भी प्रकार कम नहीं है। मीजी (Meiji) सविधान के अधीन प्रधान मन्त्री की स्थिति समानों में सर्वप्रथम (primus inter pares) के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी। उसकी नियुक्ति शाही परमाधिकार का विषय थी और राज्य के समस्त अधिकारी, असैनिक और सैनिक जिनमें राज्य के मन्त्री भी सम्मिलित होते थे, सम्राट् द्वारा नियुक्त अथवा वियुक्त किए जाते थे।[3] अब प्रधान मन्त्री डायट (Diet) का सदस्य होता है और बहुसंख्यक दल का नेता होता है। उसमे अपने मन्त्रियों को नियुक्त करने का अधिकार निहित होता है और वे उसकी प्रसन्नता तक ही अपने पद पर बने रहते हैं। यद्यपि मन्त्रिमण्डल स्वयं सम्पूर्णतया सामूहिक रूप से डायट (Diet) के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रियो की नियुक्ति करते समय उसे अपने मनपसन्द व्यक्ति चुनने का अधिकार होता है, जो व्यक्ति उसकी राय मे शासन की एकता और स्थायित्व को सुनिश्चित करने मे समर्थ होंगे। यह हो सकता है कि पसन्द करते समय कुछेक राजनीतिक अपेक्षाएँ अथवा आवश्यकताएँ उसको प्रभावित करें परन्तु उस विषय मे उसका ही अन्तिम कथन मान्य होता है। सम्राट् को उसका ही निर्णय उसकी पसन्द और उसका अधिमान (preference) स्वीकृत करना पड़ता है। सम्राट् केवल एक रसमी कृत्य करता है और केवल मन्त्रियों की नियुक्ति और वियुक्ति को अभि-प्रमाणित करता है।

इस प्रकार प्रधान मन्त्री का यह सर्वधानिक अधिकार है कि वह अपने किसी सहयोगी को त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है और वह यदि ऐसा न करे तो वह उसे अपने पद से वियुक्त कर सकता है जैसा कि प्रधान मन्त्री कातायामा (Katayama) और प्रधान मन्त्री योशीदा (Yoshida) ने किया था। प्रधान मन्त्री जब चाहे अपने मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन कर सकता है और यह बात जापान मे अकसर देखने को मिलती है। प्रधान मन्त्री योशीदा (Yoshida) को सबमे अधिक मन्त्रियों को नियुक्तियाँ देने के कारण प्रसिद्धि प्राप्त है। "श्री किशी (Mr. Kishi) और श्री

1. मन्त्रिमण्डल विधि अनुच्छेद ८
2. *Statistical Handbook of Japan*, 1964, cited, p. 104.
3. अनुच्छेद १०, १८८९ का सविधान

ईकेदा (Mr. Ikeda) ने दो-दो बार अपने मन्त्रिमण्डलों के सदस्यों का आमूलचूल परिवर्तन इस प्रकार से किया कि पुनर्गठित मन्त्रिमण्डल (KaizonaiKaku) वस्तुतः नए ही लगने लगे।[1] दो और शक्तियाँ भी हैं जो संविधान ने प्रधान मन्त्री में निहित की हैं। जब कभी प्रधान मन्त्री का पद रिक्त हो जाता है तो मन्त्रिमण्डल को अशेषतः त्यागपत्र देना पड़ता है[2] और दूसरे प्रधान मन्त्री की स्वीकृति के बिना मन्त्रियों के पदावधि काल में उनके विरुद्ध कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती है।[3]

मन्त्रिमण्डल का प्रधान होने के नाते प्रधान मन्त्री ही मन्त्रिमण्डल की बैठकें बुलाता है और उनका सभापतित्व करता है। "ऐसा करते समय सदस्यों की बागडोर मजबूती से उसके हाथों में होती है।" मन्त्रिमण्डल की बैठकों की कार्यवाही को विनियमित करने वाले कोई नियम, लोकाचार और पूर्वोदाहरण नहीं हैं। न ही बैठक के लिए किसी प्रकार की गणपूर्ति (quorum) स्थिर की गई है, और फिर वहाँ मतदान कभी नहीं होता। निर्णयों का सदैव एक मत से होना आवश्यक है। सदस्य मन्त्रिमण्डल के सम्मुख रखे गये प्रश्नों पर अपने विचार प्रकट करते हैं, पक्ष-विपक्ष पर विचार-विमर्श करते हैं और किसी समझौते पर पहुँचने का यत्न करते हैं। प्रधान-मन्त्री "विचार-विमर्श के परिणामों का संक्षेप में वर्णन करता है और मतैक्य का निश्चय करता है।" मन्त्रिमंडल का प्रधान होने के नाते और पदारूढ़ दल का नेता होने के नाते प्रधान मन्त्री की स्थिति ऐसी महत्त्वपूर्ण होती है कि वह अपना निर्णय थोप सकता है। वह विशाल शक्ति का उपभोग करता है, विशेषतः आपात समय (emergency) में। प्रधान मन्त्री को यह अधिकार प्राप्त है कि वह राष्ट्रीय अथवा स्थानीय आपात काल की घोषणा कर सके। वह उन क्षेत्रों के सार्वजनिक अधिकारियों को भी प्रत्यक्ष रूप से आदेश देने के लिए सक्षम है जो क्षेत्र आपातकालीन घोषणाओं में समाविष्ट होते हैं।

डायट (Diet) में प्रधान मन्त्री मन्त्रिमंडल की आवाज होता है। संविधान द्वारा केवल उसे ही अधिकार प्राप्त है कि डायट (Diet) में विधेयक प्रस्तुत करे और सामान्य राष्ट्रीय मामलों और विदेशी सम्बन्धों के विषय में प्रतिवेदन दे। वह विविध प्रशासनिक विभागों पर भी नियन्त्रण और निगरानी रखता है। इस प्रकार, प्रधान मन्त्री सरकार के व्यापार या कारोबार का मुख्य प्रबन्धक होता है। मन्त्रिमंडल विधि उसको इस बात का भी अधिकार देती है कि वह दो मन्त्रियों के बीच क्षेत्राधिकार के झगड़े का निर्णय करे।[4] और यदि वह चाहे तो मन्त्रिमंडल की किसी विचाराधीन कार्यवाही के सम्बन्ध में किसी प्रशासनिक कार्यालय के अधिकृत कृत्य

1. Theodore McNelly, *Contemporary Government of Japan*, p. 85.
2. अनुच्छेद ७०, जापान का संविधान, १९४७
3. अनुच्छेद ७५, जापान का संविधान, १९४७
4. अनुच्छेद ४, मन्त्रिमण्डल विधि

अथवा आदेश को भी स्थगित कर सकता है।[1] मन्त्रिमंडल की ये शक्तियां और इसके साथ यह संवैधानिक विधान कि समस्त विधियों और मन्त्रिमंडल के आदेशों के लिए प्रधान मन्त्री के प्रतिहस्ताक्षर आवश्यक है—ये दोनों बातें मिल कर मन्त्रियो की स्थिति को अन्धकारमय बना देती है।[2] वस्तुतः प्रधानमन्त्री ही शासन का स्वामी होता है। और वही शासन को बनाने या बिगाड़ने वाला होता है और वह मन्त्रिमंडल की बैठकों मे नीतियो का निर्धारण करता है क्योंकि वह उसका प्रधान होता है। और जहां तक मन्त्रिमंडल के सदस्यों का सम्बन्ध है वह उनको नियुक्त करता है और उन्हें वियुक्त भी कर सकता है। अतः सारत-जापान के प्रधान मन्त्री की स्थिति का ठीक-ठीक वर्णन उस वर्णन से मिलता है जो जैनिंग्स (Jénnings) ने ब्रिटिश प्रधान मन्त्री का किया है "वह तो वास्तव मे सूर्य है जिसके चारों ओर उपग्रह चक्कर लगाते रहते है।"

सिविल सर्विस (Civil Service)—आधुनिक राज्य मे सिविल सर्विस शासन का हृदय होती है। मन्त्रिमंडल नीतियों का निर्माण करता है किन्तु प्रशासन का असली काम उन सहस्रों असैनिक कर्मचारियों द्वारा किया जाता है जो शासन के विभिन्न मन्त्रालयो और विभागों में कार्य करते है। किसी मन्त्री का जो किसी विभाग का अध्यक्ष होता है, यह काम नही होता कि वह उस विभाग को चलाए। उसका काम तो यह होता है कि वह यह देखे कि विभाग उस नीति का अनुसरण करे जो निर्धारित की गई है और वह उस विशेष दिशा मे कुशलतापूर्वक कार्य करे। वे लोग जो वास्तव मे विभाग का काम चलाते है और शासन की नीतियो को क्रियान्वित करते है, देश की सिविल सर्विस के नाम से पुकारे जाते हैं। उनका पद तथा कार्यावधि स्थायी होती है और वे केवल अपनी प्रशासनिक योग्यता के आधार पर ही चुने जाते हैं और तदनुसार उनका वर्गीकरण किया जाता है। उन्हें दलगत राजनीति के प्रति कोई रुचि नही होती और आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों के सम्बन्ध मे वे परिदृढ़ता से तटस्थ और कठोरता से पक्षपातरहित होते है। कार्यकाल की स्थायिता उन्हे सेवा की सुरक्षा प्रदान करती है और प्रशासन मे नौसिखिए मन्त्रियों को और विधानमंडल को विविध विषयो पर नीति को स्वरूप प्रदान करने मे और उसको व्यवस्थापित करने के लिए वे समस्त आवश्यक सूचनां प्रदान करते है। लास्की (Laski) ने उचित ही कहा है कि, "प्रत्येक राज्य अपने सार्वजनिक अधिकारियों के गुणों पर असाधारण रूप से निर्भर रहता है।" अतः जनता का कल्याण प्रायः बड़े और छोटे, सिविल सर्वेण्ट अथवा जनपदसेवक को सौंपे गए कर्त्तव्यों का 'उनके द्वारा ईमानदारी से निबाहने पर आश्रित रहता है। शासनिक क्रिया-कलापों को

1. अनुच्छेद ७, मन्त्रिमण्डल विधि
2. अनुच्छेद ७२, जापान का संविधान, १९४७

सीमा के विस्तार के कारण उनके कर्त्तव्य अत्यन्त पेचीदा और कष्टसाध्य बन गए है। जनपद सेवको (Civil Servants) के ऊपर पड़ने वाले नए उत्तरदायित्व उनसे अधिक विशेषज्ञतापूर्ण ज्ञान की, अपने कर्त्तव्यो को निबाहने में क्षिप्रता की, सामाजिक कुरीतियों का कुशल निदान और उनके उपयुक्त इलाज के सुझाव की, और परिणामतः चाहे जो सरकार आए या जाए उसको समान निष्ठा से सेवा करने की मांग करते है।

१९४६ से पूर्व सिविल सर्विस (The Civil Service before 1946)— सातवी शताब्दी तक जापान मे सिविल सर्विस नामक कोई वस्तु नहीं थी। पितृ-शासित जाति पद्धति ने सम्राट् की सत्ता को बड़ा दुर्बल बना दिया था और राजनीतिक ढाँचे को सशक्त बनाने के अपने प्रयत्न मे जापानी लोग प्रेरणा प्राप्त करने के लिए चीन की ओर देखते थे जो देश उस समय अपने गौरव के शिखर पर था। उन्हे पता लगा कि चीन की महत्ता और शक्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण कारक उस देश की अत्यधिक विकसित प्रशासनिक पद्धति थी। तदनुसार जापान ने चीन से अत्यन्त केन्द्रित प्रशासनिक पद्धति ग्रहण कर ली जिसके साथ कन्फ्यूसी (Confucian) परम्परा भी सम्मिलित थी जिसके अनुसार सरकारी अधिकारियो को उच्च गौरव या प्रतिष्ठा प्रदान की जाती थी। परन्तु इसमें एक प्रमुख अन्तर भी था। वह यह था कि जहाँ "चीन मे सिविल सर्विस की स्थापना इसलिए हुई थी ताकि कुलीनतन्त्र पर आधारित प्राचीन शक्ति के ढाँचे को नष्ट कर दिया जाय" वहाँ "जापान मे उसका प्रयोग राज-नीतिक ढाँचे को शक्तिशाली बनाने के लिए किया गया था जिसमें कुलीनतन्त्र की प्रधानता थी।" लगभग पाँच शताब्दियों से कुछ अधिक समय तक राष्ट्रीय कारबार का प्रशासन नागरिक कुलीनतन्त्र के हाथों मे सकेन्द्रित रहा जो राष्ट्रीय राजधानी मे शाही दरबार से कार्य करता रहा।

सामन्त-तन्त्र लगभग सात शताब्दियो तक जीवित रहा। इस अवधि के मध्य मे जिस प्रशासनिक पद्धति का विकास हुआ उसमे सैनिक तथा उच्चोच्चपरम्परा सम्बन्धी सगठन की प्रधानता थी और वह स्वामी और सेवक के मध्य स्वामिभक्ति के दृढ़ बन्धन पर आधारित था। इसे ठीक तौर पर सिविल सर्विस पद्धति नही कहा जा सकता था" किन्तु यह एक प्रकार की सामन्त नौकरशाही थी जो स्थिति या प्रतिष्ठा पर आश्रित थी और शासकीय स्थान कुलक्रमागत होते थे।" मीजी (Meiji) काल के प्रारम्भिक वर्षो मे राज्य के अधिकारी अधिकता से प्राचीन सामुराई (Samurai) वर्ग से लिए जाते थे परन्तु शीघ्र ही सरकारी अधिकारी वर्ग और सेवा में प्रवेश के तरीके के विरुद्ध असन्तोष की कड़ी भावना फैल गई। यह शिकायत की जाने लगी कि नौकरियाँ प्रायः उनके मित्रो को ही मिलती थी जो पहले से ही सेवा मे होते थे और योग्य और गुणवान युवकों को सार्वजनिक सेवाओं मे प्रवेश करने का अवसर ही नही मिलता था। इस आन्दोलन का वाँछित प्रभाव हुआ और १८८५ मे आधुनिक सिविल सर्विस की नीव पड़ी जिसके विषय में यह सिद्धान्त स्वीकार किया

गया कि समस्त सरकारी नौकरियों के लिए नियुक्तियाँ प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर की जाएँगी। द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी की सेवाओं की भरती के लिए १८८७ में प्रथम बार परीक्षा ली गई। प्रथम श्रेणी की सेवा की भरती के लिए कोई प्रतियोगिता परीक्षा नहीं रखी गई और इस सेवा के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल स्तर के मन्त्री, राजदूत और सर्वोच्च न्यायिक अधिकारी समाविष्ट होते थे जिनकी संख्या सिविल सेवकों की कुल संख्या के ५ प्रतिशत भाग से भी कम थी।

१९४७ के संविधान के अधीन सिविल सर्विस (Civil Service Under the Constitution of 1947)—मीजी (Meiji) संविधान के अनुसार सरकारी अधिकारी सम्राट् द्वारा नियुक्त किए जाते थे और वे सम्राट् की प्रसन्नता तक ही सेवाओं में बने रहते थे। शाही सिविल सर्विस की सेवा की शर्तें शाही अध्यादेशों द्वारा निर्धारित की जाती थी न कि शाही संसद् (Imperial Diet) द्वारा अधिनियमित विधियों द्वारा। चूँकि यह शाही सिविल सर्विस होती थी अतएव "जनता के साथ जापानी नौकरशाही का व्यवहार उद्धतता और असहनशीलता की प्रसिद्धि को प्राप्त कर गया था। सिद्धान्त रूप में अधिकारी सम्राट् के प्रति उत्तरदायी होते थे। अतएव प्रत्येक अधिकारी में शाही सत्ता का एक खण्ड निहित होता था।"[1] शाही दरबार के उत्सवों के अवसर पर प्रथम श्रेणी के अधिकारियों को कुलीनों के सदन के सभापति (President of the House of Peers) और प्रतिनिधि सदन के अध्यक्ष (Speaker of the House of Representatives) से पहल मिलती थी। और चूंकि अधिकारी "जनता के प्रति उत्तरदायी न होकर सम्राट् के प्रति उत्तरदायी होते थे, अतः अधिकारीवर्ग सार्वजनिक सम्बन्धों के मामले में कभी भी चिन्तित ही नहीं रहता था।"[2]

१९४७ के संविधान ने सार्वजनिक सेवा की समस्त भावना को परिवर्तित कर दिया है। अनुच्छेद १५ विधान करता है कि (१) जनता का यह अनन्यक्राम्य अधिकार है कि वह अपने अधिकारियों को चुन सके और उन्हें पदच्युत कर सके, (२) समस्त सार्वजनिक अधिकारी समस्त समुदाय के सेवक हैं न कि उसके किसी समूह विशेष के। यदि कोई सार्वजनिक अधिकारी किसी व्यक्ति का बुरा करता है और वह सम्बद्ध व्यक्ति उस अधिकारी के अवैध कार्य के कारण हानि उठाता है तो वह व्यक्ति विधि के अनुसार अपनी हानि के निवारण के लिए मुकदमा दायर कर सकता है।[3] राष्ट्रीय सेवा कानून (National Service Law) जो १९४७ में व्यवस्थापित किया गया था "सेविवर्ग प्रशासन के सेवानुसार स्तरों का विधान करता है।" १९४९ में स्थापित राष्ट्रीय सेविवर्ग प्राधिकारी (National Personnel Authority) के ऊपर जो राष्ट्रीय सार्वजनिक सेवा कानून को प्रशासित करता है, इस

1. Kahin, George McT. (ed.) *Major Governments of Asia*, p. 197.
2. *Ibid.*
3. अनुच्छेद १७, जापान का संविधान, १९४७.

बात का उत्तरदायित्व है कि वह सेवा मे लोकतन्त्रीय तरीकों का प्रवेश कराये, वैज्ञानिक सेविवर्ग प्रबन्ध का विधान करे और काम की वर्गीकरण पद्धति का निर्माण करे।

अब समस्त सार्वजनिक अधिकारी दो भागों मे विभक्त किए गए हैं, विशेष सरकारी सेवा और नियमित सरकारी सेवा। विशेष सरकारी सेवा के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल के सदस्य, डायट (Diet) द्वारा अनुमोदन प्राप्त किए जाने पर ही भरी जाने वाली नियुक्तियाँ, शाही दरबार के उच्च अधिकारी, न्यायाधीश, राजदूत और मन्त्रिगण, डायट के नौकर, सामान्य श्रमिक और राज्य निगमों के सेवक आते हैं। नियमित सरकारी सेवा मे राष्ट्रीय सरकार का सेविवर्ग, जिसमें प्रशासनिक और लिपिक वर्ग दोनो ही है, और विशेष सरकारी सेवा के अन्तर्गत गिनाई गई नौकरियों को छोड़कर अन्य सब नौकरियाँ सम्मिलित है।

राष्ट्रीय सार्वजनिक सेवा कानून विशेषतः नियमित सरकारी सेवा (Regular Government Service) से सम्बद्ध है। राष्ट्रीय सेविवर्ग प्राधिकारी (National Personnel Authority) जो सयुक्त राज्य अमेरिका के सिविल सर्विस आयोग को सामने रख कर प्रतिस्थापित किया गया है, राष्ट्रीय सार्वजनिक सेवा कानून को प्रशासित करता है। यह डायट (Diet) और मन्त्रिमण्डल से स्वतन्त्र रहकर कार्य करता है और इसमें तीन आयुक्त (Commissioner) होते है जिनमे से एक सभापति होता है। यह सभापति डायट (Diet) के अनुमोदन से मन्त्रिमण्डल द्वारा नियुक्त किया जाता है। राष्ट्रीय सेविवर्ग प्राधिकारी के कृत्य, अन्य बातो के साथ-साथ सिविल सर्विस परीक्षाओं को लेना, जगहो का वर्गीकरण, कर्मचारियों के प्रशिक्षण और कल्याण को प्रोत्साहन देना, कर्मचारियो की शिकायतो से सव्यवहार करना, काम के घण्टों, छुट्टी, अस्थायी अवकाशग्रहण, अनुशासन, बीमारी और कर्त्तव्य करते समय चोट लगने पर मुआवजे का निश्चय करना, विधि के अन्तर्गत निर्देशो को निर्गत करना जिनका पालन करना सब विभागो के लिए आवश्यक होता है, और मन्त्रिमण्डल और मन्त्रालयो से प्रशासनिक और वेतन सम्बन्धी सुधारो की सिफारिश करना होता है।

फैलते हुए सरकारी क्रिया-कलापों की माँग के साथ-साथ राष्ट्रीय सरकारी कर्मचारियों के आकार मे बड़ी भारी वृद्धि हो गई है। १६४० के युद्ध के ठीक पहले सैनिक और कुछ अस्थायी कर्मचारियो को छोड़कर राष्ट्रीय सरकार की वेतन सूची पर २३१, ८६८ व्यक्ति थे। १६६० मे यह सख्या १,४२८,०४६ तक पहुंच गई जो पहली सख्या से पाच गुना से भी अधिक थी। १६६३ मे यही सख्या बढकर १,८५१,७७७ हो गई। राष्ट्रीय कर्मचारियो की इस विशाल कुल संख्या में ५००० से कुछ अधिक ही उच्च सिविल सर्विस से सम्बन्ध रखते है जिनमें प्रशासनिक सेवा

के प्रथम, द्वितीय और तृतीय पदक्रम (grade) के कर्मचारी आते हैं। साधारणतया इन पदों तक पहुंच उन्ही लोगों तक सीमित रहती है जो उच्च सिविल सर्विस परीक्षा उत्तीर्ण करते है। इस सेवा की तैयारी और इसका प्रशिक्षण एक कठिन कार्य है।

उपर्युक्त संस्था सम्बन्धी परिवर्तनों के बावजूद भी, "जापानी नौकरशाही अभी भी परकार्यचर्चक और स्वय को महत्त्वपूर्ण समझने की भावना वाली बनी हुई है।"[1] जापानी सिविल सर्विस की प्रकृति के विषय मे संक्षेप में रार्बट ई० वार्ड (Robert E Ward) का कथन है कि, "कनिष्ठ कर्मचारियो द्वारा व्यक्तिगत उपक्रमों के प्रदर्शन का बहुत मूल्य नही लगाया जाता है। वरिष्ठों के प्रति निष्ठा और आज्ञाकारिता, चतुरता, धैर्य, अज्ञान और प्रशासन के अनन्त विस्तार और क्रिया पद्धति के लिए योग्यता ही आम गुण माने जाते है। व्यक्तिगत तथा नौकरी की सुरक्षा पूरी तरह से है, जनता के प्रति उत्तरदायित्व व्यावहारिक रूप से है ही नही।"[2] साधारणतया कन्फ्यूशियसवाद सरकारी अधिकारियों के कार्यभाग की बड़ी प्रशसा करता था और वर्तमान मे भी यह विचार बना हुआ है। आम जनता भी अधिकारियो की श्रेष्ठता पर और उनकी आज्ञा के पालन पर जोर देती है। और फिर सिविल सर्विस सामाजिक सीढी पर एक सीढी ऊपर है। अतएव चितोशी यानागा (Chitoshi Yanaga) का कथन है कि, "इस बात पर अधिक बल देने की आवश्यकता नही कि जबकि नए सविधान के अधीन इस बात को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है कि सरकारी अधिकारी सार्वजनिक सेवक है, तथापि इसके लिए कुछ न कुछ समय अवश्य लगेगा जबकि अधिकारी स्वयं नई वैध प्रास्थिति को सामाजिक और मनोवैज्ञानिक रूप से स्वीकार करेगे और आम जनता भी ऐसा करेगी।"[4]

जापान में ऊंची नौकरशाही का एक अन्य लक्षण यह भी है कि वह राजनीति मे अत्यन्त अन्तर्ग्रस्त है। जब से युद्ध हुआ है इस प्रकार की अन्तर्ग्रस्तता अत्यन्त स्पष्ट हो गई है। अब यह विश्वास किया जाने लगा है कि राजनीतिक जीवन-चलन प्रारम्भ करने के सबसे अच्छे प्रकारों मे से एक प्रकार यह भी है कि सिविल सर्विस मे प्रवेश पा लिया जाय। अवकाश ग्रहण कर लेने पर, जो अपेक्षातया पूर्व आयु मे प्राप्त कर लिया जाता है और पेन्शन के अपर्याप्त होने पर उच्च आकांक्षा वाले सिविल सेवक के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह राजनीतिक जीवन-चलन स्वीकार करने पर गम्भीरता से विचार करे ताकि उसकी आकाक्षाओं को पूर्ण सफलता प्राप्त हो सके।" वह पहले ही अपनी प्रशासनिक क्षमता सिद्ध कर चुका होता है और वह अपने स्वदेशीय समुदाय मे अच्छी-खासी प्रतिष्ठा वाला व्यक्ति होता है जहाँ लोग उसे अपने नगर का ही ऐसा लडका समझते हैं जो अच्छा बन गया है और वे उसके राजनीतिक

1. Kahin, George McT., *Major Governments of Asia*, p 198.
2. Ward and Macridis (Editors), *Modern Political Systems: Asia*, p 101.
3. *Japanese People and Politics*, p. 311.

जीवन-चलन में व्यक्तिगत अभिरुचि रखते हैं।"[1] राबर्ट ई० वार्ड (Robert E. Ward) द्वारा दिए गए एक विश्लेषण के अनुसार १९५९ में निचले सदन के ८४ सदस्य (समस्त सदस्य संख्या का १८%) और उच्च सदन के ८१ सदस्य (३२%) पहले के सिविल सेवक थे। १९५४ और १९६१ के मध्य पदारूढ़ मन्त्रिमण्डल के ३५% सदस्य सिविल सेवक थे।[2] और युद्धोत्तर प्रधानमन्त्रियों में से अधिकांश ने पहले सिविल सर्विस को एक लम्बे समय तक अपना जीवन-चलन बनाया हुआ था। उदाहरण के लिए शिदेहारा (Shidehara), योशीदा (Yoshida), आशीदा (Ashida), किशी (Kishi) और इकादा (Ikada) के नाम उल्लेखनीय हैं। थियोडोर मैकनैली (Theodore McNelly) का निष्कर्ष है कि "स्वाभाविक तौर पर नौकरशाह अपनी राय को साधारण मनुष्य की राय की अपेक्षा अधिक शिक्षित समझते हैं और मन्त्रि-परिषद् के मन्त्री, जिनका उद्गम नौकरशाही से होता है, प्रायः विधायकों, प्रैस तथा साधारण जनता के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं। इकोदा हयातो (Ikoda Hayato) प्रधान मन्त्री बनने से पूर्व अपनी चातुर्यहीनता के लिए बदनाम था।"[3]

---

1. Theodore McNelly, *Contemporary Government of Japan*, p. 93
2. Ward and Macridis (Ed.), *Modern Political Systems: Asia*, p. 102.
3. *Contemporary Government of Japan*, pp. 94-95.

अध्याय ४

संसद्

(The Diet)

संसद् (The Diet)—संविधान डायट अर्थात् संसद् (Parliament) को राज्य की शक्ति का सर्वोच्च साधन और राज्य के एकमात्र विधि निर्माण करने वाले साधन के रूप मे वर्णन करता है[1]। आगे चलकर यह कहता है कि संसद् दो सदनो से मिलकर बना है, प्रतिनिधि सदन (जिसका प्रसिद्ध नाम निम्न सदन है।) और पार्षद सदन[2] (उच्च सदन) से। ये दो उपबन्ध मीजी (Meiji) सविधान के तत्सम्बद्ध उपबन्धो से नितान्त भिन्न है। उस संविधान के अनुसार, केवल सम्राट् के पास ही सर्वप्रभुता का अधिकार था और राज्य शक्ति का वही अकेला अन्तिम भण्डार था, और वह शाही ससद् की सहमति से व्यवस्थापिका शक्ति का प्रयोग करता था। इसके अतिरिक्त सम्राट् और मन्त्रिमण्डल दोनो ही के पास आदेश निर्गत करने की शक्ति थी जिनके पीछे कानून का बल था। १९४७ के सविधान ने सर्वप्रभुता को जनता मे और डायट (Diet) अर्थात् ससद् में निहित कर दिया है जो जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति है और राज्य का एकमात्र विधि निर्माण करने वाला साधन है। इस प्रकार सरकार ने सम्राट्-केन्द्रित यन्त्र से बदल कर संसद्-केन्द्रित यन्त्र का रूप धारण कर लिया है[3]", और जनता के चुने हुए प्रतिनिधियो को यह कार्य सौंप दिया गया है कि वे, सामूहिक रूप से डायट (Diet) के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्मित राष्ट्रीय नीतियो पर विचार-विमर्श करें, उनका अन्तिम रूप मे अनुमोदन करे और उन्हें विधि रूप मे अधिनियमित करें ताकि वे लागू किये जाने के लिए और आज्ञा पालन के लिए विध्यनुकूल बने।

यद्यपि ससद् जनता की राय को प्रतिबिम्बित करती है, तथापि वह जनमत का पथप्रदर्शन भी करती है और उसका निर्माण करने वाली भी होती है। यह वह स्थान है जहाँ जनता के प्रतिनिधि अपनी शिकायतो को प्रकाशित करते है और उनका इलाज ढूँढते है। विपक्षी दल सरकार की नीतियों और कार्यो का विरोध करता है और उनकी आलोचना करता है जबकि सत्तारूढ दल उनकी व्याख्या करता है और उनका स्पष्टीकरण करता है ताकि जनता को समस्याएं समझ में आ

---

1. अनुच्छेद ४१ 2. अनुच्छेद ४२
3. Ward and Macridis (Editors), *Modern Political Systems: Asia*, p. 92.
4. अनुच्छेद ६५, जापान का संविधान, 1947.

जायें। यह एक ऐसी सरकार है जो लोकप्रसिद्धि पर आधारित है और दैनिक और समय-समय पर किए जाने वाले अभिनिर्धारण के अधीन है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि संसद् एक राष्ट्रीय वाद सभा है जहाँ हर प्रकार के विषयों पर वाद-विवाद होता है और उनकी विवेचना होती है और वह जनता को पर्याप्त राजनीतिक ज्ञान से सुसज्जित करती है ताकि वे इस बात का निश्चय कर सकें कि किस प्रकार की नीतियों और राजनीति को अपनाना पसन्द करेंगे। चूँकि संसद् की शक्तियाँ सरकार के क्रिया-कलापों के समस्त पक्षों तक फैली हुई हैं, अतः उसकी सत्ता सब बातों को अन्तर्निहित करती है। संसद् विचार-विमर्श करती है, व्यवस्थापन करती है, राज्य की वित्त-व्यवस्था को समोदित करती है और उस पर नियन्त्रण रखती है, प्रधान मन्त्री को नमोद्दिष्ट करती है जो सरकार बनाता है और उसे कई प्रक्रियाओं द्वारा नियन्त्रण मे रखता है। सरकार सदा ही डायट (Diet) अर्थात् संसद् की परिनिरीक्षा (Scrutiny) मे रहती है और अब संविधान द्वारा संसद् मे छान-बीन करने की शक्ति भी निहित कर दी गई है जो शक्ति मीजी (Meiji) संविधान के अधीन शाही डायट (Imperial Diet) को प्राप्त नही थी।[1]

द्विसदनात्मक विधानमण्डल (A Bicameral Legislature)—१८६० से लेकर जापान मे द्विसदनात्मक विधानमण्डल ही रहा है। मीजी संविधान के अधीन उच्च सदन को कुलीन सदन (House of Peers) के नाम से पुकारा जाता था और इसमें ४१६ सदस्य होते थे जो कुलीनो (Peers), प्रतिनिधि कुलीनों, उच्चतम-करदाताओं के प्रतिनिधियों और सम्राट् द्वारा नियुक्त किए गए लोगों से मिल कर बनता था।

"इसकी रचना को देखते हुए कुलीन सदन (House of Peers) की अत्यन्त अनुदारता स्वाभाविक थी और चूंकि इस सदन की शक्तियाँ प्रतिनिधि सदन की शक्तियों के समान थी अतएव यह अनेक वर्षो तक सरकार के लोक-नियन्त्रण के विरुद्ध प्राचीर या दीवार का काम देता रहा।[2]" निचला सदन अर्थात् प्रतिनिधि सदन थोडे से उस निर्वाचक-गण के द्वारा निर्वाचित किया जाता था जो ऊँचे कर देते थे। मूलतः इस सदन के ३०० सदस्य होते थे। स्त्रियो को मतदान का अधिकार नही था। १६०२ में कर देने की अर्हता मे कमी कर दी गई और इस प्रकार सदस्यता मे वृद्धि हो गई। १६२५ में सामान्य मताधिकार का अधिनियमन होने के कारण, जिससे २५ वर्ष की आयु से ऊपर समस्त पुरुषो को मतदान करने का अधिकार प्राप्त हो गया था, इस सदन की सदस्यता संख्या ४६६ पर निर्धारित हो गई। सदस्यो का पदावधि काल ४ वर्ष था। परन्तु प्रतिनिधि सदन

1. अनुच्छेद ६२, जापान का संविधान, १६४७
2. Kahin George McT. (Ed.), *Major Governments of Asia*, p. 189.

की शक्ति विषयक गम्भीर परिसीमाएं थी, विशेषतः वित्त सम्बन्धी मामलो मे ऐसा अधिक दृष्टिगोचर होता था।

अधिकार करने वाली सत्ताओ का और विशेषकर जनरल मैकार्थर का झुकाव इस ओर था कि कुलीन-सदन को समाप्त करके एकसदनात्मक विधानमण्डल स्थापित किया जाय और इसके स्थान पर इससे मिलती-जुलती कोई भी वस्तु न बनाई जाय। इसके अतिरिक्त व्यवसायो अथवा आर्थिक वर्गों के आधार पर रचित उच्च सदन के विरुद्ध जोरदार आपत्ति भी थी। किन्तु जापानी लोग स्वय द्विसदनात्मक पद्धति मे किसी प्रकार की छेड़-छाड़ करने के पक्ष मे नही थे। वे अनुभव करते थे कि किसी भी लोकतन्त्रीय व्यवस्था मे उच्च सदन शीघ्र और कुविचारित व्यवस्थापन के विरुद्ध एक अकुश के रूप मे आवश्यक वस्तु थी। तदनुसार यह प्रस्तावित किया गया कि एक पार्षद सदन (House of Councillors) स्थापित किया जाय जिसमे "विविध मण्डलो (Districts) अथवा पेशो के लिए चुने गए सदस्य और दोनो सदनो के सदस्यो से बनी हुई समिति के प्रस्ताव के आधार पर मन्त्रिमण्डल द्वारा नियुक्त किए गए सदस्य होगे।"[1] अन्ततः अधिकार करने वाले अधिकारियो ने द्विसदनात्मक पद्धति को रखना स्वीकार कर लिया जिसमे उच्च सदन की रचना निर्वाचित सदस्यो द्वारा होगी जो वर्गों के अथवा समाज के किसी अश का प्रतिनिधित्व करने के स्थान पर समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करेंगे।

पार्षद सदन
(The House of Councillors)

रचना (Composition)—पार्षद सदन जिसने कुलीन सदन का स्थान लिया था २५० सदस्यो से मिलकर बना है। सविधान ने पार्षदों की संख्या निश्चित नही की है। वह तो केवल यही कहता है कि, "प्रत्येक सदन की सदस्यता की संख्या विधि द्वारा निश्चित की जायेगी।"[2] विधि ने इसकी सख्या २५० निश्चित की है जिसमे से १५० भौगोलिक आधार पर चुने जाते है, अर्थात् उन ४६ निर्वाचन मण्डलों मे से जिनमें देश को विभाजित किया गया है और जो स्थानीय प्रशासनिक क्षेत्रों (prefectures) के अनुरूप होते है और शेष १०० राष्ट्र द्वारा स्वतन्त्र रूप से निर्वाचित किए जाते है। पूर्व-कथित को स्थानीय निर्वाचन क्षेत्रों के नाम से पुकारा जाता है और पश्चात्-कथित को राष्ट्रीय निर्वाचन क्षेत्रों के नाम से। किसी एक स्थानीय प्रशासनिक क्षेत्र को मिलने वाले स्थानो की संख्या मोटे तौर पर उसकी जनसख्य के अनुपात मे होती है और इस संख्या मे दो से लेकर आठ स्थानो तक का हेर-फेर होता है। एक मतदाता को दो मत डालने का अधिकार होता है, एक

---

1. As cited in Theodore McNelly's *Contemporary Government of Japan*, p. 102.
2. अनुच्छेद ४३, जापान का सविधान, १९४७

स्थानीय निर्वाचन क्षेत्र के प्रत्याशी के लिए और दूसरा राष्ट्रीय क्षेत्र के प्रत्याशी के लिए।

पार्षद सदन के सदस्य ६ वर्षों की पदावधि के लिए निर्वाचित किए जाते हैं जिनमें से आधे प्रत्येक तीन वर्षों के बाद निर्वाचित किए जाते है।[1] सदन कभी भी विघटित नहीं होता है। चूंकि पदावधि बंधी हुई नहीं है अतएव प्रत्येक तीन वर्षों के पश्चात् ७५ सदस्य स्थानीय निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जाते हैं और ५० राष्ट्रीय निर्वाचन क्षेत्रों से। युद्धोत्तर सातवें पार्षद सदन के चुनाव में जो जापान में ४ जुलाई, १९६५ को हुआ था १२५ (७५+५०) रिक्त स्थान भरे गए थे जो पदावधि की समाप्ति के कारण बने थे। इसमें ६ करोड़ ग्राह्य मतदाता मतदान करते हैं।[2] दो प्रकार के निर्वाचन क्षेत्रों को स्थापित करने का भाव यह था कि प्रतिनिधि सदन की तुलना में दूसरे सदन की रचना में असमानता हो और राष्ट्रीय स्तर के वे योग्य प्रत्याशी आकृष्ट किए जा सकें जो पक्षपाती राजनीति के हल्ले-गुल्ले में अपने आपको नहीं डालना चाहते हों।

डायट (Diet) अर्थात् संसद् (पार्षद सदन तथा प्रतिनिधि सदन) की सदस्यता की अर्हताएं विधि द्वारा निश्चित की गई है। परन्तु संविधान स्वयं इस बात को बल प्रदान करता है कि जाति, धर्म, लिंग, सामाजिक प्रास्थिति, वंशोत्पत्ति, शिक्षा, जायदाद और आमदनी के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायगा। ऐसा करने का भाव इस बात पर ज़ोर देना था कि किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार, जिन्हें मीजी (Meiji) संविधान के अधीन कुलीन सदन (House of Peers) की रचना करते समय पाया जाता था, अब बिल्कुल समाप्त कर दिए गए हैं और स्त्रियों के वही अधिकार हैं जो पुरुषों के हैं। पार्षद की न्यूनतम आयु ३० वर्ष निश्चित की गई है और उसके लिए उन समस्त अर्हताओं को पूरा करना आवश्यक है जो किसी मतदाता के लिए रखी गई हैं। किन्तु संविधान द्वारा इस बात की मनाही है कि कोई व्यक्ति एक साथ दोनों सदनों का सदस्य नहीं हो सकता।[3] सदस्यों की अर्हताओं के सम्बन्ध में होने वाले विवादों का निर्णय सदन स्वयं करता है और इस सम्बन्ध में किसी अन्य अधिकारी[4] से किसी भी प्रकार की अपील नहीं की जा सकती है। किसी सदस्य को सदन में स्थान न देने के लिए निर्णय के लिए ऐसे प्रस्ताव का पारित होना आवश्यक है जिसके पक्ष में सदन में उपस्थित सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत आया हो।[5]

सदस्यों को भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है और वे सदन के अन्दर दिए गए भाषणों, किए गए वाद-विवादों अथवा मतदानों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराए

---

1. अनुच्छेद ४६
2. *Information Bulletin*, Embassy of Japan, New Delhi, August 1, 1965.
3. अनुच्छेद ४८
4. अनुच्छेद ५५
5. *Ibid.*

जाते हैं ।[1] इसके अतिरिक्त, विधि के अन्दर आने वाले मामलों को छोड़कर उन्हें उन दिनों में पकड़ा भी नहीं जा सकता जिन दिनों सदन का सत्र चल रहा हो। सत्र प्रारम्भ होने से पूर्व पकड़े गए किसी सदस्य का सत्रावधिकाल में छोड़ा जाना आवश्यक हो जायेगा यदि सदन इस प्रकार की माँग करे।[2] सदस्यों को विधि द्वारा निश्चित[3] वार्षिक वेतन मिलता है जो सदन की बैठकों के दिनों में मिलने वाले भत्ते और निःशुल्क रेल के पासों के अतिरिक्त होता है। वे एक विशेष प्रकार का भत्ता प्राप्त करने के भी अधिकारी हैं ताकि वे, सदन के चालू रहने के दिनों में, दस्तावेज़ों को डाक में डालने और पत्र-व्यवहार में होने वाले व्यय को कर सकें। संविधान में अवकाश ग्रहण सम्बन्धी पेन्शन का भी प्रबन्ध है। स्थायी समितियों (Standing Committees) के सभापतियों को सरकारी कारें भी मिलती हैं।

सत्र (Session)—वर्ष[4] में एक बार नियमित सत्र के रूप में सदन की बैठक होनी आवश्यक है। साधारणतया इसका प्रारम्भ सम्राट् द्वारा दिसम्बर में होता है जब वह दोनों सदनों के संयुक्त सत्र में एक संक्षिप्त संदेश-भाषण करता है। सदन के विशेष सत्र मन्त्रिमण्डल द्वारा तभी आहूत होते हैं जब वह समझे कि ऐसा करना आवश्यक[5] है। यदि सदन के कुल सदस्यों में से एक-चौथाई या इससे अधिक सदस्य संख्या सदन के विशेष सत्र की माँग करें तो मन्त्रिमण्डल के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह सदन का विशेष सत्र[6] आहूत करे। जब प्रतिनिधि सदन का विघटन किया जाता है तो पार्षद सदन भी उसी समय बन्द कर दिया जाता है। जो भी हो, यदि देश[7] में राष्ट्रीय आपात अवस्था की दशा विद्यमान हो तो मन्त्रिमण्डल की इच्छा पर पार्षद सदन का आपातकालीन सत्र आहूत किया जा सकता है।

सदन का कामकाज चलाने के लिए सदन के कुल सदस्यों में से एक-तिहाई की उपस्थिति गण-पूर्ति के रूप में निश्चित की गई है।[8] सदन में होने वाला विमर्श जनता[9] के सामने होता रहता है और वह बैठक तभी गुप्त रूप में होती है जब उपस्थित सदस्यों का दो-तिहाई भाग ऐसा करने की माँग करे।[10] सदन के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी कार्यवाही को लेख-बद्ध करे जिसका छपना आवश्यक है और जिसे आम जनता भी प्राप्त कर सके, परन्तु उसमें कार्यवाही के उन भागों का रहना आवश्यक नहीं जो सदन की गुप्त बैठक में हुई हों और जिनका गोपनीय रहना

1. अनुच्छेद ५१
2. अनुच्छेद ५०
3. अनुच्छेद ४९
4. अनुच्छेद ५२
5. अनुच्छेद ५३
6. *Ibid.*
7. अनुच्छेद ५४
8. अनुच्छेद ५६
9. अनुच्छेद ५७
10. *Ibid.*

आवश्यक समझा गया हो। उपस्थित सदस्यों में से १/५ सदस्यों की माँग पर किसी मामले के विषय में ली गई मत संख्या का ब्यौरा कार्यवाही वृत्त में लिखा जाना आवश्यक हो जाता है।[1] समस्त निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से किए जाते हैं परन्तु इस दिशा में संविधान द्वारा विशेष उपबन्धित विषय अपवाद स्वरूप भी हैं। समान मत प्राप्त होने की दशा में सभापति अर्थात् अध्यक्ष अपने निर्णायक मत का प्रयोग करता है।[2]

अध्यक्ष (Presiding Officer)—पार्षद सदन स्वयं अपने सभापति और उपसभापति का चुनाव करता है। सभापति सदन की बैठकों की अध्यक्षता करता है और कार्यवाही पर नियन्त्रण रखता है। सभापति की अनुपस्थिति में उपसभापति अध्यक्षता का कार्य करता है। सदन स्वयं अपनी सभाओं के संचालन, कार्यवाही और अन्दर के अनुशासन के विषय में नियमों को बनाता है और यदि चाहे तो सदस्यों के उच्छृंखल आचरण के लिए उन्हें दण्डित कर सकता है। किसी सदस्य को सदन से निष्कासित करने के लिए सदन में उपस्थित सदस्यों में से दो-तिहाई द्वारा उस विषय का प्रस्ताव पारित किया जाना आवश्यक है।[3] समान संख्या में मत प्राप्त होने पर अध्यक्ष को निर्णायक मत देने का अधिकार है।[4]

पार्षद सदन के कार्य (Functions of the House of Councillors)—पार्षद सदन के कार्यों पर निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विमर्श किया गया है :—

विधायी कार्य (Legislative Functions)—संविधान ने पार्षद सदन और प्रतिनिधि सदन को समान विधायी कार्य सौंपे हैं। अनुच्छेद ४१ विधान करता है कि डायट अर्थात् संसद् राज्य शक्ति का सर्वोच्च विधायी साधन है और राज्य का एकमात्र कानून-निर्माण का साधन है। आगे चलकर अनुच्छेद ५९ यह कहता है कि दोनों सदनों द्वारा पारित किए जाने पर विधेयक कानून बन जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि दोनों सदनों में से किसी एक में वैधानिक क्रियाकार (legislative measure) पुरःस्थापित किया जा सकता है और जब वह दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाय तो वह कानून बन जाता है और तदनुसार उसे प्रवर्तित किया जाना आवश्यक हो जाता है। परन्तु संविधान पार्षद सदन को इतनी शक्ति सौंप कर भी प्रतिनिधि सदन की श्रेष्ठता ही स्थापित करता है। इस बात का विधान किया गया

1. *Ibid.*
2. अनुच्छेद ५६
3. अनुच्छेद ५८
4. अनुच्छेद ५६

है कि ऐसी दशा में जब पार्षद सदन का निर्णय प्रतिनिधि सदन के निर्णय से भिन्न हो और ऐसे भिन्न निर्णय पर दोनों सदनों की संयुक्त समिति द्वारा किसी प्रकार का समझौता न हो सके, तो वह डायट अर्थात् संसद् का कानून बन जाता है बशर्ते कि प्रतिनिधि सदन अपने उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से विधेयक को दुबारा पारित कर दे। संविधान ने इस बात का भी विधान किया है कि यदि पार्षद सदन प्रतिनिधि सदन से विधेयक की प्राप्ति पर ६० दिन के अन्दर उसके विषय में अन्तिम तौर पर कोई कार्यवाही न करे तो प्रतिनिधि सदन उसका यह अर्थ लगाले कि विधेयक पार्षद सदन द्वारा रद्द कर दिया गया है।[1] अतएव यह सिद्ध हो गया कि अन्तिम निर्णय करने का अधिकार प्रतिनिधि सदन (House of Representatives) के ही पास है।

वित्तीय कार्य (Financial Functions)—लोकतन्त्रीय सिद्धान्त और संसदीय प्रणाली के शासन के अनुरूप धनविधेयक पार्षद सदन में पुरःस्थापित नहीं होते है। संविधान ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि आय-व्ययक का सर्वप्रथम प्रतिनिधि सदन में पेश किया जाना आवश्यक है और जब वह वहाँ पारित हो जाय तब उसे वहाँ से पार्षद सदन के पास भेजा जाय। यदि पार्षद सदन का निर्णय प्रतिनिधि सदन के निर्णय से भिन्न हो और जब दोनों सदनों की संयुक्त समिति में किसी समझौते पर न पहुँचा जा सके अथवा जब पार्षद सदन, निम्न सदन द्वारा अनुमोदित आय-व्ययक की प्राप्ति के पश्चात् उसके विषय में ३० दिन के अन्दर कोई अन्तिम कार्यवाही न करे तो प्रतिनिधि सदन का निर्णय डायट अर्थात् संसद् की स्वीकृति मान ली जाती है।[2] अतः आय-व्ययक के विषय में पार्षद सदन का कार्य नगण्य है।

राज्य के व्यय और राजस्व का अन्तिम लेखा आवश्यक तौर पर लेखा-परीक्षा बोर्ड द्वारा प्रति वर्ष जाँच किया जाता है और मन्त्रिमण्डल द्वारा संसद् अथवा डायट के प्रत्येक सदन की स्वीकृति के लिए वहाँ प्रस्तुत किया जाता है। प्रतिनिधि सदन के समान पार्षद सदन के ऊपर भी यह उत्तरदायित्व है कि वह सरकार के परिशोधित लेखा (Settled Account) को स्वीकृति दे।[3]

प्रशासनिक कार्य (Administrative Functions)—मन्त्रिमण्डल डायट अर्थात् संसद् की कृति है और प्रधान मन्त्री उसका प्रधान होता है। संविधान के अनुसार यह आवश्यक है कि मन्त्रिमण्डल के समस्त सदस्य असैनिक व्यक्ति हों और प्रधान मन्त्री समेत उनकी अधिकांश संख्या डायट की सदस्यता लिए हुए हो। जो भी

---

1. अनुच्छेद ५६
2. अनुच्छेद ६०
3. अनुच्छेद ६०

हो प्रथा अब ऐसी बन चुकी है कि प्रधान मन्त्री आवश्यक तौर पर प्रतिनिधि सदन से सम्बन्ध रखता है और मन्त्रियों की एक बड़ी संख्या भी इसी सदन से चुनी जाती है। पार्षद सदन में से तीन अथवा चार से अधिक मन्त्री नहीं लिए जाते हैं। नि.सन्देह, प्रधान मन्त्री प्रतिनिधि सदन और पार्षद सदन के प्रस्ताव द्वारा ही नामोद्दिष्ट किया जाता है। परन्तु यदि प्रतिनिधि सदन और पार्षद सदन आपस में मतभेद रखते हों, और यदि दोनों सदनों की संयुक्त समिति में कोई समझौता न हो सके अथवा यदि पार्षद सदन, प्रतिनिधि सदन द्वारा नामोद्देशन किए जाने के दस दिन के अन्दर-अन्दर, नामोद्देशन करने में असफल रहे तो प्रतिनिधि सदन का निर्णय ही संसद् अर्थात् डायट का निर्णय माना जायेगा।[1] अतएव प्रधान मन्त्री के नामोद्देशन के विषय में अन्तिम निश्चय प्रतिनिधि सदन के ही हाथों है और उसकी पसंद के आगे पार्षद सदन को झुकना ही पड़ता है।

पार्षद सदन का सरकार के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं है और वह उसके विरुद्ध मतदान करके उसके लिए किसी प्रकार का संकट नहीं पैदा कर सकता। अनुच्छेद ६६ के अनुसार "मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से डायट के प्रति उत्तरदायी है" जिसका कानूनी अर्थ है कि वह दोनों सदनों, पार्षद सदन और प्रतिनिधि सदन के प्रति उत्तरदायी है। परन्तु, अनुच्छेद ६६ के साथ इसके पढ़े जाने पर उत्तरदायित्व का अर्थ प्रतिनिधि सदन के प्रति उत्तरदायी होने के लिए ही माना गया है। यह स्पष्टतया उल्लेख करता है कि जब प्रतिनिधि सदन मन्त्रिमण्डल में अविश्वास का प्रस्ताव पारित करता है अथवा उसमें विश्वास का प्रस्ताव अस्वीकृत करता है तो मन्त्रिमण्डल के लिए यह आवश्यक होगा कि समूचे तौर पर अपना त्यागपत्र दे डाले। ऐसा तब न होगा यदि १० दिन के अन्दर-अन्दर प्रतिनिधि सदन विघटित हो जाय।" इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि जब प्रतिनिधि सदन सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर दे अथवा विश्वास प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दे तो सरकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि यह तो वह त्यागपत्र दे दे अथवा निर्वाचकगण के निर्णय को प्राप्त करने के लिए प्रतिनिधि सदन के विघटन के लिए परामर्श दे। पार्षद सदन का विघटन नहीं किया जाता। प्रतिनिधि सदन के नये निर्वाचन द्वारा तब यह निर्धारित किया जाता है कि कौनसा दल सरकार का निर्माण करेगा।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शासन को प्रभावित करने में पार्षद सदन का कोई हाथ नहीं होता। पार्षद सदन के सदस्य प्रशासन के किसी भी पक्ष पर प्रश्नों के माध्यम से सूचना प्राप्त कर सकते है। संसदीय प्रणाली की सरकार के जीवन में 'प्रश्न का घण्टा' एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और इसके द्वारा सरकार को अपनी सीमाओं में रखने की दिशा में प्रयत्न होता है। सदस्य अपनी शिकायतों

1. अनुच्छेद ६७

निर्वाचकीय कार्य (Electoral Functions)—पार्षद सदन प्रतिनिधि सदन के साथ मिलकर अनेक निर्वाचकीय कार्य करता है। प्रधान मन्त्री के चुनाव के विषय मे अपनायी जाने वाली प्रक्रिया का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। संविधान प्रधान मन्त्री के नामोद्देशन के सम्बन्ध मे दोनो सदनों द्वारा भाग लेने के लिए निश्चित रूप से विधान करता है।[1] दोनों सदनो के सदस्यों की और उनके निर्वाचकों की अर्हताएँ डायट के कानून द्वारा निश्चित की जाती है। एकमात्र परिसीमा जो सविधान ने लगाई है, वह यह है कि जाति, धर्म, लिंग, सामाजिक प्रास्थिति, वंशोत्पत्ति, शिक्षा, जायदाद अथवा आमदनी के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव नही होगा।[2]

डायट अर्थात् ससद् निर्वाचन मण्डलो, मतदान के तरीके और दोनो सदनों के सदस्यों के चुनाव के तरीके से सम्बन्ध रखने वाले अन्य मामलों के विषय मे भी कानून बनाने के लिए समर्थ है।[3] प्रत्येक सदन को अपने सदस्यों की अर्हताओं से सम्बन्ध रखने वाले विवादों का निर्णय करने का भी अधिकार है। जो भी हो, किसी सदस्य को सदन में उसके स्थान से वञ्चित करने के लिए उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत या इससे अधिक के द्वारा प्रस्ताव का पारित किया जाना आवश्यक है।[4] पार्षद सदन स्वयं अपने सभापति, उप-सभापति और अन्य अधिकारियो का चुनाव करता है।

पार्षद सदन का मूल्यांकन (Evaluation of the House of Councillors)—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जनरल मैकार्थर (General MacArthur) की यह इच्छा थी कि एकसदनात्मक विधानमण्डल की स्थापना की जाय और तदनुसार संविधान का प्रथम प्रारूप वैसा ही बनाया गया था। किन्तु जापान के नेतागण इस प्रकार के प्रस्ताव के सख्त विरुद्ध थे ीर १९४७ के सविधान ने द्विसदनात्मक विधानमण्डल की स्थापना कर डाली। चूंकि सविधान ने ससदीय प्रणाली वाली सरकार की स्थापना की थी, अतएव, यह स्वाभाविक था कि लोकप्रिय सदन ही सत्ता का केन्द्र बना रहे और उच्च सदन केवल नियन्त्रक, सयत करने वाला और गरिमा पैदा करने वाला प्रभाव रखे, और उस सदन के द्वारा डायट को निरन्तरता और स्थायित्व प्राप्त भी हुआ। पार्षद सदन के सदस्य ६ वर्ष की पदावधि के लिए चुने जाते है जिनमें से एक-तिहाई प्रति तीन वर्ष के पश्चात् अवकाश ग्रहण कर लेते है। चूंकि इस सदन के लिए विघटन का कोई नियम नही है अतः इसके जीवन मे सातत्य (Continuity) बना रहता है और सदस्य प्रायः छः वर्ष की पूरी अवधि के लिए अपना कार्य करते रहते है। कानून इस बात को विहित करता है कि पार्षद-सदन के सदस्यो की आयु कम-से-कम ३० वर्ष हो और वे दो भिन्न प्रकार के

1. अनुच्छेद ६७
2. अनुच्छेद ४४
3. अनुच्छेद ४७
4. अनुच्छेद ५५

निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जायें, १०० राष्ट्रीय निर्वाचन क्षेत्रों से और १५० स्थानीय निर्वाचन क्षेत्रो (prefectural constituencies) से। ऐसा करने का उद्देश्य "प्रबुद्ध स्थानीय प्रतिनिधित्व से होने वाले प्रलाभों के साथ-साथ राष्ट्रीय दृष्टि से योग्य प्रत्याशियों की तालिका के प्रतिनिधित्व के प्रलाभो को इकट्ठा करना था।" किन्तु संविधान के १६ वर्षो तक काम में लाए जाने के बाद भी पार्षद सदन आयु तथा राजनीति के अर्थो मे प्रतिनिधि सदन से बहुत अधिक भिन्नता लिए हुए नही है।[1] व्यावहारिक तौर पर यह उतना ही पक्षपाती निकाय बन गया है जितना कि प्रतिनिधि सदन। इसमे सन्देह नहीं कि इसमे कुछ ऐसे भी योग्य राजनीतिज्ञ हे जो राष्ट्रीय निर्वाचन क्षेत्र से चुने गए है किन्तु "इनमे अधिकांश इस प्रकार चुने गए लोग, सम्भवतः, उन सगठनों का प्रतिनिधित्व करते है जिनकी शाखाएँ अथवा जिनका प्रभाव जापान के अनेक अत्यन्त घनी आबादी वाले क्षेत्रो मे है। उदाहरणार्थ श्रम संगठन, बडे व्यापार और राष्ट्रीय स्तर पर सगठित बद्धहित समूह।'[2] निर्दलीय अथवा स्वतन्त्र प्रत्याशियो की सख्या थोडी सी ही होती है और शेष राजनीतिक दलों द्वारा मनोनीत किए हुए होते है और उनके कठोर नियन्त्रण में रहते है। पार्षद सदन में दल स्थिति लगभग प्रतिनिधि सदन से अत्यन्त मिलती-जुलती हुई रहती है। उदाहरण के तौर पर लिबरल लोकतन्त्रीय दल (Liberal Democratic Party) का दोनो सदनों पर नियन्त्रण है और प्रतिनिधि सदन के कुल ४६७ सदस्यो मे से २६४ सदस्य इस दल के है[3], और इसी प्रकार पार्षद सदन के कुल २५० सदस्यों मे मे १४० सदस्य भी इसी दल के ही है।[4]

व्यवहार में यह देखने को मिला है कि पार्षद सदन, शीघ्रता मे किए जाने वाले और कुविचारित व्यवस्थापन के विरुद्ध नियन्त्रक प्रभाव का प्रयोग करने के उद्देश्य की पूर्ति नही कर सका है। जब एक ही दल दोनो सदनो का नियन्त्रण करता है और जब हर निर्वाचन के समय दल स्थिति प्रायः एक जैसी ही रहती है तो दोनो सदनों के बीच मतभेद की सम्भावना रह ही नही जाती और समस्त विधेयक स्वतः ही पारित हो जाते है। दल के अनुशासन की कठोरता किसी भी प्रकार के विरोध की आज्ञा नही देती और इसका परिणाम यह है कि पार्षद सदन एक प्रकार का लेखक सदन बन गया हे। जापानी जनता मे यह भावना बढती जा रही है कि वर्तमान

---

1. Theodore McNelly, *Contemporary Government of Japan*, p. 103.
2. Ward and Macridis (Ed.), *Modern Political Systems : Asia*, p. 92.
3. As per elections of November 1963. *Statistical Hand-Book of Japan*, 1964, p. 106.
4. As per election of July 4. 1965. *Information Bulletin*, Embassy of Japan, New-Delhi, August, 1, 1965, p 2.

पार्षद सदन की देन उस कार्य भाग के लिए बहुत थोड़ी सी है जिसकी कि उससे आशा की जाती है और तदनुसार, उसकी रचना के विषय में किसी प्रकार के सुधार की तुरन्त आवश्यकता है। इस दिशा में यह सुझाव दिया गया है कि पार्षद सदन को व्यवसायों अर्थात् पेशों और निर्वाचक वर्ग के अन्य तत्वों का प्रतिनिधित्व करने वाला रूप दिया जाय।

प्रतिनिधि सदन
(The House of Representatives)

रचना तथा पदावधि (Composition and Tenure)—प्रतिनिधि सदन डायट का निम्न सदन है और इसके ४६७ सदस्य होते हैं जो ४ वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते है। चूंकि सदन का विघटन किया जा सकता है इसलिए यह आवश्यक नही है कि यह पूरी ही अवधि तक कार्य करे। इस सदन के लिए आम चुनाव साढ़े छः महीने से लेकर तीन वर्ष आठ मास के समयान्तर से भी हो चुके है। प्रत्याशी तथाकथित ११८ मध्य आकार वाले निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जाते हैं, जहां प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से जनसख्या के आधार पर तीन से लेकर पांच तक सदस्यों का चुनाव होता है पर इसमे अमामी द्वीपसमूह (Amami Islands) निर्वाचन क्षेत्र एक अपवाद है जहाँ से एक ही सदस्य उसका प्रतिनिधित्व करता है। इस बात के बावजूद भी कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से अनेक सदस्य निर्वाचित होते हैं प्रत्येक मतदाता एक ही मत देता है। जापानी पद्धति सीमित मतदान का एक रूप है, अर्थात् मतदाता को थोड़े प्रत्याशियों के लिए मतदान देने की आज्ञा होती है यद्यपि निर्वाचन क्षेत्र में भरे जाने वाले स्थानों की संख्या अधिक रहती है।

अप्रैल १९५० का सार्वजनिक पद निर्वाचन कानून (Public Offices Election Law of April 1950) व्यावहारिक रूप में समस्त, स्त्री या पुरुष, जापानी नागरिकों को, जो २० वर्ष के हो गए है, मतदान का अधिकार प्रदान करता है। प्रतिनिधि सदन की सदस्यता के प्रत्याशी को २५ वर्ष का होना आवश्यक है और इसके साथ यह आवश्यक है कि वह उस प्रदेश में भी लगातार तीन मास से रह रहा हो जहाँ से वह चुनाव लड़ना चाहता हो। किन्तु स्थानीयता नियम का अर्थ जापान में निर्वाचन क्षेत्र में वास्तविक निवास नहीं होता है जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में वास्तविक निवास एक कठोर प्रथा है। "इसका सीधा-सादा अर्थ कानूनी अधिवास और वहाँ पञ्जीबद्ध होना है।" प्रतिनिधि सदन की सदस्यता के प्रत्याशी के लिए उन समस्त अर्हताओं को पूरा करना आवश्यक है जो मतदाताओं के लिए विहित की गई हैं। एक ही समय पर दोनों सदनों का सदस्य होने की मनाही है। साथ ही मे सदन का सदस्य सरकार के अधीन किसी अन्य पद पर काम नहीं कर सकता है। सदस्यों की अर्हताओं के सम्बन्ध में होने वाले विवादों का निर्णय प्रतिनिधि सदन

(House of Representatives) स्वय करता है। पर किसी सदस्य को सदन में स्थान न देने की मनाही के निश्चय के बारे में उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई या इस से अधिक बहुमत द्वारा तद्विषयक प्रस्ताव का पारित किया जाना आवश्यक है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि दोनों सदनों के सदस्यों को भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है और सदन के अन्दर दिए गए भाषणों अथवा किए गए मत-दानों के लिए वे सदन के बाहर उत्तरदायी नहीं ठहराए जाते है। जब डायट (Diet) का सत्र चल रहा होता है, तो फौजदारी के मामलों को छोडकर, दोनों सदनों के सदस्य गिरफ्तारी से मुक्त रहते हैं। ससद् अर्थात् डायट (Diet) का सत्र चालू होने से पूर्व गिरफ्तार किया गया सदस्य सदन की माँग पर सत्र की अवधि के मध्य में मुक्त कर दिया जाता है। सविधान इस बात का विधान करता है कि दोनों सदनों के सदस्यों को विधि के अनुसार राष्ट्रीय कोष से उचित वार्षिक वेतन प्राप्त होगा। कानून ने सत्र के दिनों में मिलने वाले दैनिक भत्तों, टोक्यो (Tokyo) और सदस्यों के घरों के बीच यात्रा के लिए मिलने वाले निःशुल्क रेल के पासों और कुछ विशेष भत्तों और अन्य सुविधाओं के अतिरिक्त एक बढ़िया वार्षिक तनख्वाह का भी विधान किया हुआ है। सदस्यों के लिए अवकाशग्रहण कालिक पैन्शन का भी प्रबन्ध है।

सत्र(Sessions)—संविधान ने स्पष्टतया ससद् अर्थात् डायट के दो प्रकार के सत्रों का उल्लेख किया है: नियमित अथवा साधारण सत्र और असाधारण या विशेष सत्र। डायट का साधारण सत्र साल[1] में एक बार समाहूत किया जाता है परन्तु मन्त्रि-मण्डल यदि चाहे तो जब कभी आवश्यकता पड़ने पर विशेष सत्र आहूत कर सकता है ताकि वह ऐसे आपातकालीन मामलों को हाथ में ले सके जिनके लिए दिसम्बर में होने वाले साधारण सत्र तक नहीं ठहरा जा सकता। यदि किसी भी सदन के एक-चौथाई सदस्य इस बात की माँग करे कि डायट का विशेष सत्र बुलाया जावे तो मन्त्रिमण्डल के लिए ऐसे सत्र का बुलाया जाना आवश्यक हो जाता है।[2] इसके अतिरिक्त विशेष सत्र का भी विधान है। अनुच्छेद ५४ के अनुसार जब प्रतिनिधि सदन का विघटन हो जाता है तो विघटन के दिन से ४० दिनों के अन्दर प्रतिनिधि सदन के लिए सदस्यों का आम चुनाव होना आवश्यक है और चुनाव के दिन से ३० दिनों के अन्दर डायट का आहूत होना भी आवश्यक है। डायट के इस विशेष सत्र का उद्देश्य यही है कि प्रधान मन्त्री का चुनाव हो जाय ताकि वह सरकार का निर्माण कर ले और विघटन के कारण समाप्त न हुए शेष काम का निपटारा हो जाय। जब प्रतिनिधि सदन विघ-टित हो जाता है तब पार्षद सदन के लिए तुरन्त स्थगित होना आवश्यक हो जाता है। किन्तु राष्ट्रीय आपात के समय में मन्त्रिमण्डल यदि चाहे तो आवश्यक विषयों के सम्बन्ध में कार्यवाही करने के लिए उसका आपात सत्र बुला सकता है। आपात सत्र

१. अनुच्छेद ५२, जापान का संविधान, १९४७
२. अनुच्छेद ५३, जापान का संविधान, १९४७

में पार्षद सदन द्वारा किए गए निर्णय अस्थायी होते हैं और वे प्रवृत्तिहीन (Null and Void) बन जाते है यदि उन्हें प्रतिनिधि सदन के अगले सत्र के प्रारम्भ होने के दस दिन के अन्दर-अन्दर सदन की स्वीकृति प्राप्त नही हो जाती, जो सत्र[1] आम तौर पर विशेष सत्र ही हुआ करता है।

सदन मे किसी भी प्रकार की कार्यवाही नहीं हो सकती यदि सदन के कुल सदस्यो की एक-तिहाई या उससे अधिक संख्या सदन में उपस्थित न हो[2] अर्थात् सदन के कुल ४६७ सदस्यो में से कम-से-कम १५६ सदस्यों की उपस्थिति सदन की वैध कार्यवाही के लिये अनिवार्य है। समस्त मामलों पर निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से होता है परन्तु वे मामले अपवाद है जिनके बारे मे संविधान ने किसी विशेष बात का विधान किया हुआ है।[3] किसी विषय पर बराबर मत मिलने पर सदन का अध्यक्ष स्पीकर (Speaker) और उसकी अनुपस्थिति मे उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) उस मामले का निर्णय करने के लिए अपने निर्णायक मत का प्रयोग करता है।[4]

सविधान ने इस बात की आज्ञा दी हुई है कि डायट (Diet) के प्रत्येक सदन की कार्यवाही खुले आम हो।[5] इसका यह अर्थ है कि डायट के प्रत्येक सदन के सत्रों मे जनता आ सकती है बशर्ते कि किसी सदन मे उपस्थित सदस्यो का दो-तिहाई बहुमत एक ऐसा प्रस्ताव पारित करे जिसके अनुसार सदन की बैठक को गुप्त रखने के लिए कहा जाय।[6] मीजी (Meiji) सविधान के अधीन केवल मन्त्रिमण्डल ही सदन की गुप्त बैठक की माँग कर सकता था। परन्तु १६४७ के सविधान के अन्तर्गत स्वयं सदन ही दो-तिहाई बहुमत द्वारा यह निर्णय लेता है कि सदन की बैठक गुप्त होनी चाहिए। डायट (Diet) के प्रत्येक सदन के लिए अपनी कार्यवाही को लेखबद्ध करना आवश्यक है। इस अभिलेख का छापा जाना भी जरूरी होता है ताकि जनता भी उसे जान सके किन्तु इसमे गुप्त सत्र की कार्यवाही के उन भागों को नही छापा जाता जिनके विषय में गोपनीयता को रखा जाना आवश्यक समझा गया हो।[7]

सदन का गठन (The Organisation of the House)—प्रतिनिधि सदन को रचना अर्थात् सगठन अत्यन्त सरल है। आम चुनावो के फौरन बाद जब सदन की बैठक होती है तो उसका प्रथम कार्य अध्यक्ष और उपाध्यक्ष (Speaker and Deputy or Vice-Speaker) का चुनाव करना होता है। सदन की बैठकों की अध्यक्षता स्पीकर करता है और उसकी अनुपस्थिति मे उपाध्यक्ष सभापति का कार्य करता है। अतएव सदन के गठन की दिशा मे सभापति अर्थात्

1. अनुच्छेद ५४
2. अनुच्छेद ५६
3. *Ibid.*
4. *Ibid.*
5. अनुच्छेद ५७
6. *Ibid.*
7. *Ibid.*

अध्यक्ष का चुनाव पहला कदम होता है क्योंकि उसके चुनाव के बाद ही सदन काम-काज कर सकता है। बैठकों, कार्यवाहियों तथा आन्तरिक अनुशासन के सम्बन्ध में सदन स्वयं अपने नियम बनाता है।[1] विचार-विमर्श के उद्देश्य से सदन या तो सम्पूर्ण सत्र के रूप मे अथवा समितियों के रूप में कार्य करता है। सदन की १६ स्थायी समितियाँ हैं और इनमे से अधिकांश समितियाँ सरकार के मन्त्रालयो अथवा विभागो के अनुरूप होती है। सदन यदि चाहे विशेष प्रकार की समस्याओ अथवा प्रस्तावो के अध्ययन के लिए विशेष समितिया नियुक्त कर सकता है। प्रत्येक दल को सदन मे प्राप्त दल संख्या के आधार पर समितियो में प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। प्रत्येक सदस्य के लिए यह आवश्यक है कि वह कम-से-कम एक स्थायी समिति का सदस्य हो परन्तु साथ ही उसे तीन समितियों से अधिक की सदस्यता प्राप्त नही होती।

अध्यक्ष (The Speaker)—मीजी (Meiji) संविधान के अन्दर प्रतिनिधि सदन के सदस्य अपना अध्यक्ष अर्थात् स्पीकर (Speaker) नही चुनते थे। सदन तीन सदस्यों को मनोनीत किया करता और सम्राट् (Emperor) उनमें से एक को अध्यक्ष (Speaker) का कार्य करने के लिए चुनता था। १९४७ का संविधान निश्चित रूप मे इस बात का विधान करता है कि प्रत्येक सदन अपना सभापति चुनेगा और साथ ही उसे इस बात की शक्ति प्रदान करता है कि वह किसी विषय के बारे मे बराबर मत प्राप्त होने की अवस्था मे अपने निर्णायक मत द्वारा उस विषय का निर्णय करे। स्पीकर का पद इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके बिना सदन मे किसी भी प्रकार का काम-काज नही चल सकता। "यहां तक कि प्रधान मन्त्री के नामोद्देशन के लिए भी तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब तक अध्यक्ष अर्थात् स्पीकर (Speaker) और उसके प्रतिनियुक्त (Deputy) अर्थात् उपाध्यक्ष का चुनाव नही हो जाता, हालांकि प्रधान मन्त्री का नामोद्देशन कार्य एक आवश्यक कार्य माना जाता है।"

साधारणतया स्पीकर प्रतिनिधि सदन के बहुमत दल का मनोनीत व्यक्ति होता है और वह सदन के सम्पूर्ण जीवनकाल अर्थात् ४ वर्ष के लिए चुना जाता है बशर्ते कि सदन का इस समय से पूर्व विघटन न हो गया हो। यदि पदारूढ़ दल को सम्पूर्ण बहुमत प्राप्त नही है और वह किसी अन्य दल या दलों की सहायता से केवल कामचलाऊ बहुमत प्राप्त कर लेता है तो उस दशा में अध्यक्ष के पद पर सरकारी दल के अतिरिक्त किसी अन्य दल का व्यक्ति भी चुना जा सकता है जैसा कि पांचवीं योशीदा (Yoshida) सरकार बनने के समय हुआ था। तदनुसार, प्रतिनिधि सदन का स्पीकर दलगत व्यक्ति होता है और स्पीकर के पद के लिए चुने जाने के बाद भी वह दल से अपने सम्बन्धों का त्याग नही करता है। न ही उसके विषय मे ब्रिटिश कॉमन सभा (British House of Commons) का वह नियम लागू होता है कि एक बार जो अध्यक्ष अर्थात् स्पीकर बन गया है सदा के लिए स्पीकर ही बना रहेगा। यह आवश्यक नहीं कि गत सदन मे जो स्पीकर रहा है वह नए चुनावो के बाद नए

१. अनुच्छेद ५८

सदन में भी पुनः स्पीकर चुना जाए भले ही वही दल बहुमत में आया हो और उसी दल की सरकार बनी हो। यह भी आवश्यक नहीं कि वह आम चुनावों में चुना ही जाय क्योंकि इंग्लैंड की प्रथा के असदृश जापान में स्पीकर का चुनाव निर्विरोध नहीं होता। सदन में अपने दुबारा चुने जाने को पक्का करने के लिए स्पीकर के लिए दलगत व्यक्ति बने रहना जरूरी हो जाता है ताकि वह अपने दल के हितों को बढ़ावा दे सके और विधायी कार्यक्रम को आगे बढाने में उस सरकारी दल की सहायता कर सके जिसके द्वारा वह मनोनीत किया गया है। अतः जापान में स्पीकर सदन में निष्पक्ष प्रमाणपुरुष (Umpire) और सदन के सदस्यों के अधिकारों का रक्षक नहीं होता चाहे वे सदस्य सरकारी पक्ष में अथवा विरोधी पक्ष से सम्बन्ध रखते हों। इस दृष्टि से उसका कार्यभाग संयुक्त राज्य अमेरिका के स्पीकर के कार्यभाग से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

स्पीकर प्रतिनिधि सदन की बैठकों की अध्यक्षता करता है। उसका सर्वप्रथम कार्य यही होता है कि वह सदन में व्यवस्था और शिष्टता बनाए रखे ताकि कार्यवाही सुचारु रूप से और कुशलता से चलती रहे और सदन के सम्मुख उपस्थित कार्य को जल्दी से जल्दी निपटाया जा सके। स्पीकर यदि चाहे तो किसी सदस्य को अपनी आज्ञाओं के उल्लंघन, अव्यवस्थित व्यवहार और अशिष्ट भाषा के प्रयोग के लिए सदन में बोलने के अधिकार से वंचित कर सकता है। यदि अव्यवस्थित व्यवहार जारी रहे तो वह सदन को स्थगित कर सकता है। परन्तु किसी सदस्य को उसके अशिष्ट व्यवहार के कारण सदन से बाहर निकालने के लिए संविधान इस बात की मांग करता है कि सदन उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई या इससे अधिक बहुमत से तद्विषयक प्रस्ताव को पारित करे।[1] यदि सदन में आने वाले दर्शक अव्यवस्थित व्यवहार का प्रदर्शन करें तो स्पीकर को यह शक्ति प्राप्त है कि वह ऐसे दर्शकों को बाहर निकालने की आज्ञा दे अथवा दर्शक दीर्घा (Visitors'gallery) को बिल्कुल ही खाली करवाने की आज्ञा दे डाले।

स्पीकर काम-काज के क्रम का निश्चय करता है, बहसों और प्रश्नों के लिए समय की सीमा निश्चित करता है, वाद-विवाद में भाग लेने के इच्छुक सदस्यों को बोलने की अनुमति देता है, समापन प्रक्रिया का प्रयोग करता है और इस प्रकार से वाद-विवाद की समाप्ति करता है। वह प्रस्ताव को मतदान के लिए प्रस्तुत करता है और परिणामों की घोषणा करता है। समान मत प्राप्त होने पर वह अपने निर्णायक मत का प्रयोग भी करता है और इस प्रकार प्रश्न का निर्णय करता है। सदन में विधेयक प्रस्तुत होने के तुरन्त बाद ही स्पीकर, नियमानुसार उसे सदन की उचित स्थायी समिति अथवा विशेष समिति के पास भेज देता है। सदन के बाहर विद्यमान समस्त अन्य अभिकरणों के साथ स्पीकर प्रतिनिधि सदन के आधिकारिक प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार करता है। वह निष्पादक सत्रों (executive sessions) को प्रस्तावित

१. अनुच्छेद ५८

करता है और डायट में मन्त्रिमंडल स्तर के मन्त्रियों को सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से नियुक्त किए जाने वाले सरकारी सदस्यों की नियुक्तियों को स्वीकृति प्रदान करता है। यदि वह चाहे तो सदन की किसी भी समिति के सम्मुख अपने आप को प्रस्तुत कर सकता है जिसमें संयुक्त कान्फ्रेंस समिति (Joint Conference Committee) भी सम्मिलित है और समिति के सम्मुख छान-बीन के लिए प्रस्तुत मामले के विषय मे अपने विचार और राय प्रदान कर सकता है। स्पीकर के पास यह भी शक्ति है कि वह उस समय सदन के किसी सदस्य का त्यागपत्र स्वीकार कर सकता है जिस समय सदन का सत्र चालू न हो।

प्रतिनिधि सदन की श्रेष्ठता (Supremacy of the House of Representatives)—संविधान ने स्पष्टतया प्रतिनिधि सदन की श्रेष्ठता को स्थापित कर दिया है और यह बात ससदीय प्रणाली की शासन व्यवस्था के सिद्धान्त और व्यवहार के अनुसार ही है। मन्त्रिमंडल की रचना और उसके पदारूढ रहने मे प्रतिनिधि सदन का मुख्य हाथ है। विधि-निर्माण की प्रक्रिया मे प्रतिनिधि सदन ही अन्तिम बात कह सकता है। उन अवस्थाओ मे जहाँ दोनो सदनों मे किसी प्रकार का समझौता न हो सके, अथवा जब पार्षद सदन विधायी अथवा वित्तीय मामलो मे देरी लगाए अथवा किसी भी प्रकार की कार्यवाही न करे तो प्रतिनिधि सदन पार्षद सदन के निर्णय का उल्लंघन कर सकता है। पार्षद सदन का वास्तविक कार्य एक निश्चित समय तक के लिए अधिनियमन मे विलम्ब करना ही है।

विधायी कृत्य (Legislative Functions)—जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि किसी विधायी क्रियाकार (legislative measure) को विधि बनने के लिए दोनों सदनों की प्रक्रियाओं में से होकर गुजरना आवश्यक है। परन्तु यदि एक सदन दूसरे सदन से मतभेद रखता हो और यदि दोनों सदनो की सयुक्त-समिति मे उस मतभेद पर समझौता न हो सके तो सविधान ने प्रतिनिधि सदन मे पार्षद सदन के निर्णय को लाँघने की शक्ति निहित कर दी है। अनुच्छेद ५९ उल्लिखित करता है कि प्रतिनिधि सदन द्वारा पारित किए गए किसी विधायी विधेयक के विषय में यदि पार्षद सदन का निर्णय प्रतिनिधि सदन के निर्णय से भिन्न हो और दोनो सदनों की सयुक्त समिति के प्रयत्नो के बावजूद भी वह मत भिन्नता बनी रहे तो वह विधायी विधेयक कानून बन जाता है बशर्ते कि प्रतिनिधि सदन में उपस्थित सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत उस विधेयक को दुबारा पारित कर दे। संविधान ने केवल प्रतिनिधि सदन को ही यह शक्ति प्रदान की है कि वह सयुक्त समिति की बैठक बुलावे।[1]

सविधान ने इस बात का भी विधान किया है कि यदि पार्षद सदन [illegible] प्रतिनिधि सदन द्वारा पारित विधेयक को उस सदन से प्राप्त [illegible]

1. अनुच्छेद ५९

अन्दर उस पर कोई अन्तिम निर्णय लेने में असफल रहा हो तो प्रतिनिधि सदन पार्षद सदन द्वारा उस विधेयक के विषय में किसी भी प्रकार की कार्यवाही न करने को उस सदन की अस्वीकृति समझ सकता है। यदि प्रतिनिधि सदन फिर उस विधेयक को उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई या अधिक बहुमत द्वारा पारित कर देता है तो वह डायट (Diet) का कानून बन जाता है और तदनुसार लागू कर दिया जाता है।[1] किन्तु वह विधायी क्रियाकार जो प्रतिनिधि सदन द्वारा रद्द कर दिया गया हो उस पर पार्षद सदन द्वारा न तो फिर विचार किया जा सकता है और न ही वह सदन उसे पुनर्जीवन दे सकता है। अतः यह सिद्ध ही है कि विधि निर्माण में अन्तिम अधिकार प्रतिनिधि सदन को ही प्राप्त है।

वित्तीय कार्य (Financial Functions)—प्रतिनिधि सदन को पार्षद सदन के साथ कोष पर नियन्त्रण शक्ति प्राप्त है। किन्तु यहाँ भी संविधान ने, बिना किसी सन्देह के पार्षद सदन के ऊपर प्रतिनिधि सदन की श्रेष्ठता स्थापित कर दी है। निस्सन्देह, उत्तरदायी शासन की प्रणाली के विषय में यह पूर्वापेक्षित वस्तु है। अनुच्छेद ६० के अनुसार आय-व्ययक (budget) सर्वप्रथम प्रतिनिधि सदन में ही पेश किया जाना चाहिए। आगे चल कर यह भी विधान किया गया है कि यदि पार्षद सदन का निर्णय प्रतिनिधि सदन के निर्णय से भिन्न हो, और जब दोनों सदनों की संयुक्त समिति के द्वारा भी किसी समझौते पर पहुंचा न जा सके, अथवा जब पार्षद सदन प्रतिनिधि सदन से उसके द्वारा स्वीकृत आय-व्ययक की प्राप्ति के ३० दिन के भीतर उस पर किसी प्रकार की कार्यवाही करने में असफल रहे तो उन दशाओं में प्रतिनिधि सदन की स्वीकृति ही डायट के दोनों सदनों की स्वीकृति बन जाती है। सन्धियों के अनुसमर्थन के विषय में भी यही बात विहित की गई है।[2]

संविधान के सातवें अध्याय में, जिसके अन्तर्गत अनुच्छेद ८३ से लेकर अनुच्छेद ९१ तक आते है, उन शक्तियों का उल्लेख किया गया है जिन शक्तियों को प्रतिनिधि सदन पार्षद सदन के साथ मिलकर राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के ऊपर प्रयुक्त करता है। डायट उस प्रकार को निर्धारित करती है जिसके द्वारा वित्त-व्यवस्था का प्रशासन किया जाता है, वह वर्तमान करों में परिवर्तन लाती है अथवा नए करों को लगाती है, धन के व्यय के लिए अधिकृत करती है, राज्य द्वारा लिए गए दायित्वों को धारण करती है, मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किए गए और प्रस्तुत किए गए प्रत्येक वित्तीय वर्ष के आय-व्ययक पर विचार करती है और उसे स्वीकार करती है, आय-व्ययक में अनपेक्षित कमियों की पूर्ति करने के लिए संचित निधि से किए जाने वाले व्यय के लिए अधिकृत करती है और स्वीकृति देती है, शाही परिवार के सम्बन्ध में होने वाले व्ययों के विनियोग का अनुमोदन करती है, मन्त्रिमण्डल द्वारा लेखापरीक्षा बोर्ड से राज्य के व्यय और राजस्व के लेखा परीक्षितलेखा को प्राप्त करती है, और राष्ट्रीय वित्त-

1. *Ibid*

2. अनुच्छेद ६१

व्यवस्था की दशा के बारे में नियमित अन्तरावधियो मे परन्तु वर्ष में कम से कम एक वार मन्त्रिमंडल द्वारा प्रतिवेदन प्राप्त करती हैं।

कार्यपालिका कृत्य (Executive Functions)—प्रतिनिधि सदन का तीसरा बड़ा कार्य कार्यपालिका को नियन्त्रण में रखना है। यह मन्त्रिमंडल की रचना करता है और मन्त्रिमंडल सामूहिक रूप से प्रतिनिधि सदन के प्रति उत्तरदायी है। यह बात जापान मे स्थापित मन्त्रिमंडल प्रणाली की सरकार का आधारभूत लक्षण है। प्रधान मन्त्री मन्त्रिमडल का प्रधान होता है। वैधानिक तौर पर वह डायट (Diet) द्वारा नामोद्दिष्ट हुआ करता है परन्तु वास्तविक व्यवहार मे वह प्रतिनिधि सदन की पसन्द होता है। सविधान ने विधान किया है कि यदि प्रतिनिधि सदन और पार्षद सदन में मतभेद हो और दोनों सदनों की संयुक्त समिति मे भी यदि कोई समझौता न हो सके, अथवा यदि पार्षद सदन, प्रतिनिधि सदन द्वारा अपनी पसन्द प्रकट किए जाने के दस दिन के अन्दर, नामोद्दिष्ट करने में असफल रहे तो उस अवस्था में प्रतिनिधि सदन का निर्णय डायट (Diet) का निर्णय समझा जाता है।[1] तब सम्राट् डायट द्वारा नामोद्दिष्ट व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नियुक्त कर देता है।[2]

प्रधान मन्त्री की नियुक्ति के साथ ही मन्त्रिमण्डल का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। संविधान का सीधा-सादा कथन तो यह है कि मन्त्रियों की अधिकांश संख्या डायट के सदस्यों में से चुनी जानी चाहिए[3] और उनमे से सब के सब असैनिक व्यक्ति होने चाहिएं।[4] परन्तु वास्तविक व्यवहार में पार्षद सदन से सम्बन्ध रखने वाले ३ या ४ मन्त्रियों को छोड़कर, शेष १२ या १३ मन्त्री अनिवार्य रूप से प्रतिनिधि सदन से चुने जाते है। और दल प्रणाली की स्थिरता के कारण वे प्रतिनिधि सदन के बहुमत दल से चुने जाते हैं जिसका मुखिया प्रधान मन्त्री होता है। राज्य विषयक मामलों में मन्त्रिमण्डल सम्राट् के समस्त कार्यों के लिए परामर्श देता है और उनका अनुमोदन करता है और उनके लिए उत्तरदायी है।[5] यद्यपि एक अकेला मन्त्री प्रधान मन्त्री द्वारा पदच्युत किया जा सकता है,[6] परन्तु समूचा मन्त्रिमण्डल केवल प्रतिनिधि सदन द्वारा ही बर्खास्त किया जा सकता है। अनुच्छेद ६९ विधान करता है कि यदि प्रतिनिधि सदन अविश्वास प्रस्ताव पारित कर देता है अथवा विश्वास प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देता है तो मन्त्रिमण्डल समूचे रूप मे त्यागपत्र दे देगा, बशर्ते कि प्रतिनिधि सदन का विघटन दस दिनों के अन्दर न हो जाय।

1. अनुच्छेद ६७, जापान का संविधान, १९४७
2. अनुच्छेद ६, जापान का संविधान, १९४७
3. अनुच्छेद ६८, जापान का संविधान, १९४७
4. अनुच्छेद ६६, जापान का संविधान, १९४७
5. अनुच्छेद ३, जापान का संविधान, १९४७
6. अनुच्छेद ६८, जापान का संविधान, १९४७

इसका यह अर्थ हुआ कि मन्त्रिमण्डल तभी तक पदारूढ़ रहता है जब तक उस पर प्रतिनिधि सदन का विश्वास बना रहता है। ज्योंही वह प्रतिनिधि सदन का विश्वास खो बैठता है उसे सामूहिक रूप में त्यागपत्र दे देना चाहिए ताकि विरोधी दल को सरकार बनाने का अवसर प्राप्त हो जाय। यदि सरकार त्यागपत्र नहीं देती तो वह प्रतिनिधि सदन के विघटन के लिए परामर्श देती है। पार्षद सदन कभी विघटित नहीं होता। प्रतिनिधि सदन के विघटन के दिन से चालीस दिन के अन्दर प्रतिनिधि सदन के सदस्यों का आम-चुनाव होना आवश्यक है।[1] मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का सब से बढ़िया तौर पर सुनिश्चय तभी हो सकता है यदि मन्त्रिमण्डल को उस सदन को विघटित करने का अधिकार प्राप्त हो जिसके प्रति वह उत्तरदायी है। अनुच्छेद ७० द्वारा मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व पर और अधिक बल प्रदान किया गया है। उसका कथन है कि जब प्रधान मन्त्री का पद रिक्त हो तो मन्त्रिमण्डल समुदाय में त्यागपत्र दे देगा। प्रधान मन्त्री के अभाव मे मन्त्रिमण्डल की पहचान, जिसका कि मुखिया स्वयं प्रधान मन्त्री है, कानून के लिए अज्ञात है और उसकी अनुपस्थिति में मन्त्रिमण्डल की सत्ता ही नहीं रहती। और प्रधान मन्त्री प्रतिनिधि सदन में बहुसख्यक दल अथवा दलों का नेता होता है।

उत्तरदायित्व और नियन्त्रण साथ ही रहते हैं। प्रतिनिधि सदन के पास ऐसे दो महत्त्वपूर्ण तरीके है जिनके द्वारा वह कार्यपालिका पर नियन्त्रण स्थापित करता है। पहला तरीका प्रश्नों और विप्रश्नो के माध्यम से काम मे लाया जाता है। इसके द्वारा सदन के सदस्यों को प्रशासन के अनेक विषयों के सम्बन्ध मे सूचना प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होता है और सत्ता के दुरुपयोग के विषय मे भी उसके निवारण का अवसर मिलता है। स्वर्गीय प्रो० लास्की ने बड़े संक्षेप मे कहा है कि "संसदीय प्रणाली की सरकार न केवल सरकारी कार्यो के सम्बन्ध मे प्राप्त की जाने वाली प्रकाशन (publicity) द्वारा जीती रहती है और मरती है अपितु उसका जीना मरना उस समस्त ज्ञान पर भी निर्भर है जो वह सामाजिक प्रवृत्तियों के कार्य के सम्बन्ध मे प्राप्त कर सकती है।" जापान के संविधान के अधीन यह आवश्यक है कि प्रधान मन्त्री डायट को साधारण राष्ट्रीय मामलो और विदेशी सम्बन्धों के विषय मे प्रतिवेदन दे।[2] मन्त्रिमण्डल भी, नियमित अन्तरावधियों में और कम-से-कम वर्ष में एक बार, डायट को और जनता को राष्ट्रीय वित्त व्यवस्था की दशा के बारे मे प्रतिवेदन देता है।[3] राष्ट्रीय वित्त व्यवस्था सम्बन्धी प्रतिवेदन प्रशासन के समस्त पक्षों और समस्याओं को समाविष्ट करता है। डायट द्वारा सब सन्धियों का अनुसमर्थित किया जाना भी आवश्यक है।[4]

1. अनुच्छेद, ५४ जापान का संविधान, १६४७
2. अनुच्छेद ७२, जापान का संविधान, १६४७
3. अनुच्छेद ६१, जापान का संविधान, १६४७
4. अनुच्छेद ७३, जापान का संविधान, १६४७

कार्यपालिका को नियन्त्रण में रखने का दूसरा साधन वह आलोचना है जो शासन की लगातार नक्तिन करके प्रतिनिधि सदन में की जाती है। प्रतिनिधि सदन एक प्रकार की वाद-विवाद करने वाली सभा है और यह वाद-विवाद तब होता है जब सदन के सामने प्रस्तुत किए गए विधेयकों पर विचार-विमर्श किया जाता है और वहन होती है। वास्तव में इस प्रकार के समस्त अवसरों पर शासन की समस्त नीतियों पर पुनरीक्षण होता है। चूंकि विधेयक की हार का अर्थ शासन की हार होना है, अतः विरोधी पक्ष का यही प्रयत्न रहता है कि सरकार का भाण्डाफोड़ किया जाय और यदि सम्भव हो सके तो उसे गद्दी से उतारा जाय। उधर सरकार अपनी नीतियों और कार्यों के समर्थन में जीतोड़ प्रयत्न करती है। आलोचना का एक अन्य अवसर तब प्राप्त होता है जब सदन राष्ट्रीय वित्त-व्यवस्था पर, विशेषतः व्यय के प्रस्तावों पर विचार-विमर्श करता है।

तदनुसार प्रतिनिधि सदन, विरोधी पक्ष की तीक्ष्ण आलोचना के साथ, कार्यपालिका शक्ति से युक्त मन्त्रिमण्डल को नियन्त्रण में रखने के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करता है। संविधान ने भी डायट के प्रत्येक सदन द्वारा छान-बीन करने वाली समितियों की स्थापना करने का विधान किया हुआ है। यदि ये समितियाँ चाहें तो शासन से सम्बद्ध किसी मामले की छान-बीन कर सकती है और साक्षियों की उपस्थिति, गवाही और अभिलेखों को प्रस्तुत करने की माँग कर सकती है।[1] समितियों द्वारा छान-बीन, प्रशासन को देख-रेख में रखने का और उस पर नियन्त्रण करने का एक प्रभावशाली तरीका है, यद्यपि यह बात शासन की एक ऐसी पद्धति में असंगत लगती है जिसमें मन्त्रीय उत्तरदायित्व उसका आधारभूत तत्त्व हो और जिसे संवैधानिक रूप से विहित किया गया हो। कहना न होगा कि समितियों द्वारा की गई छान-बीन को संयुक्त राज्य अमेरिका में बहुत आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता है।

न्यायिक कृत्य (Judicial Functions)—अनुच्छेद ६४ इस बात का विधान करता है कि डायट (Diet) 'दोनों सदनों के सदस्यों में से एक महाभियोग न्यायालय स्थापित करेगा जिसका उद्देश्य उन न्यायाधीशों की अन्वीक्षा करना होगा जिनके विरुद्ध उनकी पदच्युति की कार्यवाही संस्थापित कर दी गई है।' आगे चलकर अनुच्छेद ७८ यह विधान करता है कि न्यायाधीशों को बिना सार्वजनिक महाभियोग के पदच्युत नहीं किया जायेगा। इस प्रकार स्थापित किए गए महाभियोग न्यायालय में १४ सदस्य होते है जिनमें सात-सात सदस्य प्रत्येक सदन से लिए जाते है और यह न्यायालय उन न्यायाधीशों पर मुकदमा चलाता है जिनके विरुद्ध पदच्युति की कार्यवाही अभ्यारोप समिति (Indictment Committee) द्वारा

[1]. अनुच्छेद ६२, जापान का संविधान, १९४७

संस्थापित की गई है। अभ्यारोप समिति में भी दोनों सदनों के सात-सात सदस्य होते है। परन्तु कोई भी सदस्य एक साथ महाभियोग न्यायालय और अभ्यारोप समिति का सदस्य नही हो सकता।

संविधायी कृत्य (Constituent Functions)—संविधान में किए जाने वाले संशोधन दोनों ही सदनों मे पुरःस्थापित किए जा सकते हैं, और जब प्रस्ताव को प्रत्येक सदन की कुल सदस्य संख्या का दो-तिहाई बहुमत पारित कर दे तब उसे जनता की स्वीकृति के लिए जनमत संग्रह के लिए प्रस्तुत किया जाता है जिसमें यह आवश्यक है कि उसे समस्त डाले गए मतों का सकारात्मक बहुमत प्राप्त हो। इस तरह से प्रतिनिधि सदन और पार्षद सदन अपने-अपने सदस्यों के दो-तिहाई या इससे अधिक सदस्यो के मतैक्य द्वारा संविधान में संशोधनों को पुरःस्थापित कर सकते है।

निर्वाचकीय कृत्य (Electoral Functions)—प्रतिनिधि सदन पार्षद सदन के साथ मिल कर प्रधान मन्त्री का नाम नामोद्दिष्ट करता है। यदि दोनों सदनों मे मतभेद हो और यदि संयुक्त समिति द्वारा भी किसी समझौते पर न पहुंचा जा सके अथवा पार्षद सदन निम्न सदन द्वारा नामोद्देशन करने के दस दिन के अन्दर-अन्दर स्वयं नामोद्देशन करने में असफल रहे तो उन परिस्थितियों में प्रतिनिधि सदन का निर्णय ही डायट (Diet) का निर्णय माना जाता है। दोनों सदन कानून द्वारा सदस्यों और उनके निर्वाचकों की अर्हताओं (Qualifications) का निर्णय करते हैं परन्तु ऐसा निश्चय करते समय उसन एक शर्त यह रहती है कि जाति, धर्म, लिंग, सामाजिक प्रास्थिति, कुल-मूल, शिक्षा, जायदाद अथवा आमदनी के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव नही होना चाहिए। अपने सदस्यों की अर्हता सम्बन्धी विवादों का निर्णय प्रत्येक सदन स्वयं करता है। परन्तु किसी सदस्य को अपने स्थान से वञ्चित करने के लिए उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई या उससे अधिक बहुमत द्वारा तदर्थक प्रस्ताव पारित किया जाना आवश्यक है। निर्वाचन मण्डलों, मतदान के तरीकों और दोनों सदनों के सदस्यों के चुनाव के तरीकों से सम्बन्ध रखने वाले अन्य मामलों का निर्धारण डायट के कानून द्वारा ही होता है।

विधायी प्रक्रिया
(Legislative Procedure)

विधायी प्रक्रिया की विशेषताएँ (Peculiarities of Legislative Procedure)—जापान में विद्यमान विधायी प्रक्रिया संसदीय प्रणाली वाले शासन से युक्त अन्य देशों की विधायी प्रक्रिया से बिल्कुल भिन्न है। यह प्रक्रिया सरल और यथार्थ है। प्रत्येक विधेयक को केवल तीन अवस्थाएँ पार करनी होती हैं। वे अवस्थाएँ हैं— पुरःस्थापन, समिति अवस्था और सदन के सम्पूर्ण सत्र मे उस पर विचार। दोनों

सदनों में एक ही प्रकार की प्रक्रिया का पालन किया जाता है। जब दोनों सदनों द्वारा विधेयक पारित कर दिया जाता है तो फिर वह डायट का अधिनियम बन जाता है। सम्राट् तो केवल उसे प्रवर्तित करता है। उसके पास उसे निपिद्ध करने का कोई अधिकार नहीं है।

आम तौर पर विधेयक को पुरःस्थापित करते समय सदन के सम्पूर्ण सत्र के समक्ष उसके लक्ष्यों और उद्देश्यों की व्याख्या नहीं की जाती है। परन्तु यदि अर्थोपाय (Ways and means) समिति किसी विशेष विधेयक के बारे में इस प्रकार की व्याख्या को आवश्यक समझे तो किसी समिति के पास उसे सौंपे जाने से पूर्व वह व्याख्या कर दी जाती है। विधायी प्रक्रिया का एक और महत्त्वपूर्ण लक्षण विरोधी पक्ष द्वारा रुकावट डालने वाले हथकण्डों का प्रयोग है जिसके विविध स्वरूप है, और उनमें से कुछ एक तो व्यवस्थापन के इतिहास में अदृष्टपूर्व है। १९५५ से लेकर लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी (Liberal Democratic Party) में कभी न कम होने वाले बहुमत ने समाजवादियों (Socialists) और उनके मित्रों को एक स्थायी अल्पसंख्यक स्थिति में ला पटका है। चूँकि प्रतिनिधि सदन में होने वाला मतदान सदा दल नीति को सम्मुख रख कर होता है अतएव विरोधी पक्ष सरकारी विधेयकों के अधिनियमन में देरी ही लगाने के उद्देश्य मात्र से कृत-निश्चय बाधाएँ उपस्थित करता है। न केवल वे विघ्यवरोधन (filibustering) का ही आश्रय लेते है अपितु इन बाधाओं को दगों द्वारा और गलियों और सदन में हिंसा के प्रयोग द्वारा चरम सीमा पर पहुँचा देते है। अवरोध पैदा करने का एक और उपाय भी है। खिसियाना विरोधी पक्ष कभी-कभी डायट (Diet) के गलियारों का मार्ग रोधन कर देता है ताकि सदन के अध्यक्ष (Speaker of the House) को सदन में व्यवस्था स्थापित करने मे रोका जा सके। कई अवसरों पर अध्यक्ष को पुलिस की सहायता लेने के लिए बाध्य होना पड़ा ताकि वह उन सदस्यों को सशरीर हटा दे जो उसे सदन की बैठक को बुलाने मे रोक रहे थे। इसके अतिरिक्त एक और चाल यह भी है जिसके अनुसार विरोधी पक्ष दोनों सदनों के सम्पूर्ण सत्रों और समितियों की बैठकों का बॉयकॉट कर देता है।

विधेयकों के प्रकार (Kinds of Bills)—विधेयक दो प्रकार के होते है : सरकारी विधेयक और सदस्य विधेयक। यह हो सकता है कि सरकारी विधेयक और सदस्य विधेयक विषय-वस्तु के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न न हों और दोनों का ही सम्बन्ध सार्वजनिक मामलों मे हो। परन्तु सरकारी विधेयक को डायट के दोनों सदनों में प्रधान मन्त्री स्वयं पुरःस्थापित करता है अथवा मन्त्रियों में से कोई एक ऐसा करता है। सदस्य विधेयक डायट (Diet) के सदस्य द्वारा ही उद्भूत होता है। यदि सरकारी विधेयक की हार हो जाती है तो सरकार पर संकट आ जाता है जिसका परिणाम या तो मन्त्रिमण्डल के त्याग पत्र मे अथवा प्रतिनिधि सदन के विघटन मे निकलता है।

विधेयक का पुरःस्थापन (Introduction of the Bill)—कोई भी सरकारी विधेयक सदा ही मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति का परिणाम होता है और इसका उद्देश्य या तो किसी वर्तमान कानून में संशोधन करना होता है अथवा किसी नए कानून को बनाना होता है। उपर्युक्त दोनों बातों में से किसी एक को लेकर प्रस्ताव किसी एक मन्त्रालय से उद्भूत होता है जहाँ उसे अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है और वह विभागीय मार्गों में पूर्णतया ठीक कर लिया जाता है और फिर उसे सम्बद्ध मन्त्री की अन्तिम रूप से स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। इसके पश्चात् विधेयक का प्रारूप व्यवस्थापन ब्यूरो (Bureau of the Legislation) के पास जाता है जहाँ विशेषज्ञ उसकी विशेष परीक्षा करते हैं। यहाँ से वह मन्त्रिमण्डल के सचिवालय को प्राप्त होता है। अन्त में जाकर वह मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति के लिए उसके सामने प्रस्तुत किया जाता है।

यदि मन्त्रिमण्डल प्रारूप विधेयक को स्वीकृति प्रदान कर दे तो वह डायट के दोनों सदनों में पुरःस्थापित किए जाने के लिए तैयार समझा जाता है। जिस सदन में विधेयक को पुरःस्थापित करने की इच्छा की जाती है उसे प्रधान मन्त्री के नाम पर उस सदन के सभापति के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु अर्थ विधेयक (Money Bills) इसका अपवाद है क्योंकि वे प्रतिनिधि सदन में ही पुरःस्थापित किए जाने चाहिएँ। जब कोई विधायी विधेयक पार्षद सदन में पुरःस्थापित किया जाता है तो पुरःस्थापन के पाँच दिनों के अन्दर उसकी प्रतिलिपि को प्रतिनिधि सदन के सम्मुख प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है। यदि विधेयक प्रतिनिधि सदन में पुरःस्थापित हो तो इसी प्रक्रिया का तब भी पालन किया जाता है।

प्रतिनिधि सदन का स्पीकर (अध्यक्ष) अथवा पार्षद सदन का सभापति, जैसी भी स्थिति हो, अर्थोपाय समिति (Ways and Means Committee) की सिफारिश पर विधेयक को सदन की उपयुक्त समिति को सौंप देता है। यदि विधेयक को आवश्यक समझा जाता है तो कर्णधार समिति (Steering Committee) के निर्णय पर समिति द्वारा विधेयक की परीक्षा रहने दी जाती है। "यह प्रक्रिया विशेषकर सदस्य विधेयक के सम्बन्ध में प्रयुक्त की जाती है जिसके बारे में उस समिति से पहले ही यह समझौता हो जाता है जिस समिति ने उस पर विचार करना होता है।" साधारणतया विधेयक पर सदन के संपूर्ण सत्र में विचार नहीं होता। परन्तु यदि अर्थोपाय समिति इस बात को आवश्यक समझे तो इससे पूर्व कि यह सदन की समिति को सौंपा जाये विधेयक की व्याख्या सम्पूर्ण सत्र में कर दी जाती है।

समिति स्तर (Committee Stage)—किसी भी विधेयक के जीवन काल में समिति स्तर का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। विधेयक को या तो सदन की किसी स्थायी समिति को अथवा किसी विशेष समिति को सौंप दिया जाता

है और यदि समिति विधेयक को "उपयुक्त, आवश्यक अथवा वांछित नहीं समझती" तो उसके पास यह शक्ति है कि वह उसे एक ओर डाल दे। इस प्रकार इसका अर्थ विधेयक को समाप्त करना होता है। समिति सार्वजनिक सभाएँ करती है और यदि चाहे तो उनमें प्रधान मन्त्री, मन्त्रियों और सरकारी अधिकारियों की उपस्थिति को आवश्यक बना सकती है। उनके लिए यह आवश्यक है कि वे उन प्रश्नों का उत्तर दें जो उनसे पूछे जाए और विधेयक का स्पष्टीकरण अथवा उसकी व्याख्या करें। समिति यदि चाहे तो जनता के गण्यमान्य व्यक्तियों को विधेयक के बारे में अपनी राय प्रकट करने के लिए भी बुला सकती है। यह छान-बीन के लिए दौरा भी कर सकती है जिसमें विदेश यात्रा भी सम्मिलित है। डायट (Diet) का सेविवर्ग सर्वदा समिति को सहायता पहुँचाने के लिए तत्पर रहता है जिसमें परामर्श देने और पथ-प्रदर्शन करने के लिए विशेषज्ञ और अन्वेषक भी सम्मिलित होते हैं। समिति विधेयक की भली-भांति अन्वीक्षा और उसका अध्ययन करने के लिए राष्ट्रीय डायट पुस्तकालय (National Diet Library) की सेवाओं का भी उपयोग कर सकती है और कानूनी, सवैधानिक और प्रशासनिक मामलों के विषय में आवश्यकता पड़ने पर व्यवस्थापन ब्यूरो (Bureau of Legislation) से जब चाहे राय माँग सकती है। यदि विधेयक को एक समिति से अधिक समितियों द्वारा विचार की आवश्यकता पड़े तो उस पर इकट्ठा बैठ कर भी विचार कर लिया जाता है।

सदन द्वारा विचार (Consideration by the House)—जब विधेयक की भली-भांति परीक्षा और परिनिरीक्षा हो जाती है और वह समिति की स्वीकृति को प्राप्त कर लेता है तब वह सदन में पर्यालोचन अर्थात् विमर्श के लिए और मतदान के लिए रखा जाता है। समिति का सभापति समिति का प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है जिसमें अल्पमत का प्रतिवेदन यदि कोई हो तो वह भी सम्मिलित रहता है। उसके पश्चात् सदन प्रतिवेदन पर वाद-विवाद और विमर्श करता है। सदस्यों द्वारा संशोधन भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। विधेयक की समस्त धाराओं का वाचन होने और उन पर मतदान करने के बाद उस पर समूचे रूप से मतदान होता है। उसके लिए समान मत प्राप्त होने की दशा में सभापति अपना निर्णायक मत देता है।

विधेयक का कानून बनना (A Bill becomes a Law)—जब विधेयक किसी सदन में पारित हो जाता है तब उसे तुरन्त दूसरे सदन में भेज दिया जाता है जहाँ उसे पहले जैसी प्रक्रिया में से गुजरना पड़ता है। यदि दूसरा सदन भी उसे पारित कर दे तो विधेयक डायट का अधिनियम बन जाता है और उसे प्रवर्तित कराने के लिए उसे सम्राट् के पास भेज दिया जाता है। वह फिर कानून बन जाता है। यदि प्रतिनिधि सदन द्वारा पारित विधेयक को पार्षद सदन रद्द कर दे और यदि दोनों सदनों की संयुक्त समिति में किसी प्रकार के समझौते पर पहुंचा न जा सके अथवा पार्षद

विधेयक का पुरःस्थापन (Introduction of the Bill)—कोई भी सरकारी विधेयक सदा ही मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति का परिणाम होता है और इसका उद्देश्य या तो किसी वर्तमान कानून में संशोधन करना होता है अथवा किसी नए कानून को बनाना होता है। उपर्युक्त दोनों बातों में से किसी एक को लेकर प्रस्ताव किसी एक मन्त्रालय से उद्भूत होता है जहाँ उसे अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है और वह विभागीय मार्गों में पूर्णतया ठीक कर लिया जाता है और फिर उसे सम्बद्ध मन्त्री की अन्तिम रूप से स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। इसके पश्चात् विधेयक का प्रारूप व्यवस्थापन ब्यूरो (Bureau of the Legislation) के पास जाता है जहाँ विशेषज्ञ उसकी विशेष परीक्षा करते हैं। यहाँ से वह मन्त्रिमण्डल के सचिवालय को प्राप्त होता है। अन्त में जाकर वह मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति के लिए उसके सामने प्रस्तुत किया जाता है।

यदि मन्त्रिमण्डल प्रारूप विधेयक को स्वीकृति प्रदान कर दे तो वह डायट के दोनों सदनों में पुरःस्थापित किए जाने के लिए तैयार समझा जाता है। जिस सदन में विधेयक को पुरःस्थापित करने की इच्छा की जाती है उसे प्रधान मन्त्री के नाम पर उस सदन के सभापति के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु अर्थ विधेयक (Money Bills) इसका अपवाद है क्योंकि वे प्रतिनिधि सदन में ही पुरःस्थापित किए जाने चाहिएँ। जब कोई विधायी विधेयक पार्षद सदन में पुरःस्थापित किया जाता है तो पुरःस्थापन के पाँच दिनों के अन्दर उसकी प्रतिलिपि को प्रतिनिधि सदन के सम्मुख प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है। यदि विधेयक प्रतिनिधि सदन में पुरःस्थापित हो तो इसी प्रक्रिया का तब भी पालन किया जाता है।

प्रतिनिधि सदन का स्पीकर (अध्यक्ष) अथवा पार्षद सदन का सभापति, जैसी भी स्थिति हो, अर्थोपाय समिति (Ways and Means Committee) की सिफारिश पर विधेयक को सदन की उपयुक्त समिति को सौंप देता है। यदि विधेयक को आवश्यक समझा जाता है तो कर्णधार समिति (Steering Committee) के निर्णय पर समिति द्वारा विधेयक की परीक्षा रहने दी जाती है। "यह प्रक्रिया विशेषकर सदस्य विधेयक के सम्बन्ध में प्रयुक्त की जाती है जिसके बारे में उस समिति से पहले ही यह समझौता हो जाता है जिस समिति ने उस पर विचार करना होता है।" साधारणतया विधेयक पर सदन के संपूर्ण सत्र में विचार नहीं होता। परन्तु यदि अर्थोपाय समिति इस बात को आवश्यक समझे तो इससे पूर्व कि यह सदन की समिति को सौंपा जाये विधेयक की व्याख्या सम्पूर्ण सत्र में कर दी जाती है।

समिति स्तर (Committee Stage)—किसी भी विधेयक के जीवन काल में समिति स्तर का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। विधेयक को या तो सदन की किसी स्थायी समिति को अथवा किसी विशेष समिति को सौंप दिया जाता

है और यदि समिति विधेयक को "उपयुक्त, आवश्यक अथवा वांछित नहीं समझती" तो उसके पास यह शक्ति है कि वह उसे एक ओर डाल दे। इस प्रकार इसका अर्थ विधेयक को समाप्त करना होता है। समिति सार्वजनिक सभाएँ करती है और यदि चाहे तो उनमें प्रधान मन्त्री, मन्त्रियों और सरकारी अधिकारियों की उपस्थिति को आवश्यक बना सकती है। उनके लिए यह आवश्यक है कि वे उन प्रश्नों का उत्तर दें जो उनसे पूछे जाए और विधेयक का स्पष्टीकरण अथवा उसकी व्याख्या करें। समिति यदि चाहे तो जनता के गण्यमान्य व्यक्तियों को विधेयक के बारे में अपनी राय प्रकट करने के लिए भी बुला सकती है। यह छान-बीन के लिए दौरा भी कर सकती है जिसमें विदेश यात्रा भी सम्मिलित है। डायट (Diet) का सेविवर्ग सर्वदा समिति को सहायता पहुँचाने के लिए तत्पर रहता है जिसमें परामर्श देने और पथ-प्रदर्शन करने के लिए विशेषज्ञ और अन्वेषक भी सम्मिलित होते हैं। समिति विधेयक की भली-भाँति अन्वीक्षा और उसका अध्ययन करने के लिए राष्ट्रीय डायट पुस्तकालय (National Diet Library) की सेवाओं का भी उपयोग कर सकती है और कानूनी, सवैधानिक और प्रशासनिक मामलों के विषय में आवश्यकता पड़ने पर व्यवस्थापन ब्यूरो (Bureau of Legislation) से जब चाहे राय माँग सकती है। यदि विधेयक को एक समिति से अधिक समितियों द्वारा विचार की आवश्यकता पड़े तो उस पर इकट्ठा बैठ कर भी विचार कर लिया जाता है।

सदन द्वारा विचार (Consideration by the House)—जब विधेयक की भली-भाँति परीक्षा और परिनिरीक्षा हो जाती है और वह समिति की स्वीकृति को प्राप्त कर लेता है तब वह सदन में पर्यालोचन अर्थात् विमर्श के लिए और मतदान के लिए रखा जाता है। समिति का सभापति समिति का प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है जिसमें अल्पमत का प्रतिवेदन यदि कोई हो तो वह भी सम्मिलित रहता है। उसके पश्चात् सदन प्रतिवेदन पर वाद-विवाद और विमर्श करता है। सदस्यों द्वारा संशोधन भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। विधेयक की समस्त धाराओं का वाचन होने और उन पर मतदान करने के बाद उस पर समूचे रूप से मतदान होता है। उसके लिए समान मत प्राप्त होने की दशा में सभापति अपना निर्णायक मत देता है।

विधेयक का कानून बनना (A Bill becomes a Law)—जब विधेयक किसी सदन में पारित हो जाता है तब उसे तुरन्त दूसरे सदन में भेज दिया जाता है जहाँ उसे पहले जैसी प्रक्रिया में से गुजरना पड़ता है। यदि दूसरा सदन भी उसे पारित कर दे तो विधेयक डायट का अधिनियम बन जाता है और उसे प्रवर्तित कराने के लिए उसे सम्राट् के पास भेज दिया जाता है। वह फिर कानून बन जाता है। यदि प्रतिनिधि सदन द्वारा पारित विधेयक को पार्षद सदन रद्द कर दे और यदि दोनों सदनों की संयुक्त समिति में किसी प्रकार के समझौते पर पहुंचा न जा सके अथवा पार्षद

सदन विधेयक प्राप्त होने के ६० दिनों के अन्दर उस पर कोई कार्यवाही न कर सके तो वह विधेयक डायट का अधिनियम बन जाता है बशर्ते कि प्रतिनिधि सदन में उपस्थित सदस्यों का दो-तिहाई या उससे अधिक बहुमत उसे दुबारा पारित कर दे।

आय-व्यय (The Budget)—आय-व्ययक के अधिनियमन के सम्बन्ध में एक भिन्न प्रकार की प्रक्रिया का पालन किया जाता है। अनुच्छेद ६० के अनुसार आय-व्ययक का सर्वप्रथम प्रतिनिधि-सदन में प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है। उसे पार्षद सदन में पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता। प्रतिनिधि सदन में से होकर आय-व्ययक पार्षद सदन में जाता है। यदि पार्षद सदन का निर्णय प्रतिनिधि सदन के निर्णय से भिन्न हो और जब दोनों सदनों की संयुक्त समिति द्वारा किसी समझौते पर न पहुंचा जा सके, अथवा पार्षद सदन आय-व्ययक विधेयक की प्राप्ति के तीस दिन के अन्दर-अन्दर उस पर किसी भी प्रकार की कार्यवाही करने में असफल रहे तो उस दशा में प्रतिनिधि सदन का निर्णय ही डायट (Diet) का निर्णय होता है अर्थात् ऐसा मान लिया जाता है कि मानो डायट के दोनों सदनों ने ही आय-व्ययक को स्वीकृति दे दी है।

मन्त्रिमण्डल का यह संवैधानिक कर्त्तव्य है कि डायट (Diet) के विचारार्थ और निर्णय के लिए उसके द्वारा प्रत्येक वित्तीय वर्ष का आय-व्ययक तैयार किया जाय और उसे उसके सामने प्रस्तुत किया जाय। आय-व्ययक के निर्माण की विधि का सूत्रपात लगभग सितम्बर (September) में हो जाता है जब वित्त-मन्त्रालय विविध मन्त्रालयों द्वारा प्रस्तुत किए गए प्राक्कलनों की परीक्षा करता है। यह बड़ा कठिन कार्य होता है क्योंकि इसमें सूक्ष्म परीक्षा की आवश्यकता होती है ताकि बढ़ा-चढ़ाकर बनाए गए प्राक्कलनों की ठीक प्रकार से काट-छांट की जा सके। आय-व्ययक का प्रारूप जनवरी (January) के महीने तक तैयार हो जाता है ताकि उस पर मन्त्रिमण्डल विचार कर सके, और इस प्रकार के विमर्श के लिए मन्त्रिमण्डल की कई एक बैठकें भी हो सकती हैं। जब मन्त्रिमण्डल में सम्पूर्ण सहमति हो जाती है तब आय-व्ययक प्रस्तावों को पुनः मन्त्रालयों को लौटा दिया जाता है ताकि वे अपने प्राक्कलनों का पुनर्नवन (Overhaul) कर लें। उसके पश्चात् वित्त मन्त्रालय प्रत्येक मन्त्रालय से अन्तिम रूप में प्राक्कलन प्राप्त करता है। वित्त मन्त्री उन प्राक्कलनों को दृष्टि में रखकर आय-व्ययक तैयार करता है जिसके अन्दर अप्रैल से प्रारम्भ होने वाले आगामी वित्त वर्ष के राजस्वों और व्यय का कथन समाविष्ट रहता है। यह आय-व्ययक का प्रारूप मन्त्रिमण्डल की अन्तिम स्वीकृति के लिए फिर उसके सामने प्रस्तुत किया जाता है।

जनवरी के पिछले भाग में आय-व्ययक विधेयक को प्रतिनिधि सदन में पुरःस्थापित किया जाता है। इसके पुरःस्थापन के बाद ही प्रधान मन्त्री, विदेश मन्त्री, वित्त मन्त्री और आर्थिक नीति बोर्ड (Economic Policy Board) के निदेशक के भाषण होते हैं। साधारणतया, जिस दिन प्रतिनिधि सदन में आय-व्ययक विधेयक पुर-

स्थापित किया जाता है उसके अगले दिन ही वह पार्षद सदन को भी प्राप्त हो जाता है। जो भी हो नियमानुसार ऐसा करने मे पाँच दिनो से अधिक विलम्ब नही होना चाहिए। प्रधान मन्त्री, विदेश मन्त्री, वित्त मन्त्री और आर्थिक नीति बोर्ड (Economic Policy Board) के निदेशक भी पार्षद सदन में भाषण करते है और *उनके द्वारा आय-व्ययक से सम्बद्ध नीति के विविध पक्षो और उसकी विवक्षाओ की* व्याख्या की जाती है।

प्रधान मन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों के स्पष्टीकरण के पश्चात् स्पीकर *(Speaker) अर्थात् अध्यक्ष आय-व्ययक से सम्बद्ध ५१ सदस्यो वाली स्थायी समिति* के पास आय-व्ययक विधेयक को सौंप देता है। समिति राजस्वों और व्यय से संबंध रखने वाले समस्त प्रस्तावों की बडी सूक्ष्मता से परीक्षा करती है और प्रत्येक विषय की गहराई में जाती है। प्रधान मन्त्री, मन्त्रिगण तथा वित्त मन्त्रालय के अधिकारी *समिति के सम्मुख उपस्थित होकर समिति द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देते हैं,* स्पष्टीकरण करते है और अस्पष्ट और संशयात्मक बातों का निराकरण करते है। समिति एक आध दिन को छोड़कर जब वह अपने आपको उप-समितियों में बाँट लेती है, समूचे रूप में बैठती है। समिति की बैठकें जनता के लिए खुली होती हैं।

विचार-विमर्श पूरा होने के पश्चात् आय-व्ययक समिति (Budget Committee) का प्रधान प्रतिनिधि सदन के सम्मुख प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है। सदन तीन से चार सप्ताह तक आयव्ययक विधेयक पर विचार-विमर्श करता है। यह उसकी इच्छा पर निर्भर है कि चाहे वह आय-व्ययक समिति की सिफारिशें सम्पूर्णतया स्वीकार कर ले, चाहे संशोधनों सहित उन्हे स्वीकार करे। *यह आवश्यक नही है कि सम्पूर्ण सत्र का निर्णय वही हो जो आयव्ययक समिति का* निर्णय हो। ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। किन्तु प्रतिनिधि सदन द्वारा आय-व्ययक विधेयक का अस्वीकार किया जाना सरकार का पतन कर डालता है अथवा मन्त्रिमण्डल द्वारा सदन का विघटन करने का निर्णय लिया जा सकता है।

जिस रूप मे आय-व्ययक विधेयक प्रतिनिधि सदन द्वारा पारित किया गया होता है उसी रूप मे वह उसके विचारार्थ पार्षद सदन मे भेजा जाता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि यदि पार्षद सदन प्रतिनिधि सदन के निर्णय से सहमत नही है और यदि दोनों सदनों की संयुक्त समिति में किसी प्रकार का समझौता नही हो सकता, अथवा पार्षद सदन आय-व्ययक विधेयक की प्राप्ति के ३० दिन के अन्दर *उस पर विचार करने में असफल रहे तो प्रतिनिधि सदन का निर्णय अन्तिम होता* है और सविधान के शब्दों मे उसे डायट (Diet) अर्थात् संसद् का निर्णय माना जाता है। आय-व्ययक पहली अप्रैल से लागू माना जाता है। यदि किन्ही कारणों से आय-व्ययक विधेयक पहली अप्रैल मे पूर्व पारित न किया जा सके तो डायट (Diet)

के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह प्रत्येक मास के लिए अस्थायी अथवा अन्त.कालीन आय-व्ययक पारित करे जब तक कि आय-व्ययक अन्तिम रूप में पारित न हो जाय।

डायट (Diet) की समितियां (Committees of the Diet)—डायट (Diet) की समितियां जापान मे विधायी प्रक्रिया का हृदय हैं। उनका उद्गम तो मीजी (Meiji) सविधान मे भी पाया जा सकता है जिसके अनुसार इम्पीरियल डायट (शाही ससद्) के प्रत्येक सदन के लिए पांच स्थायी समितियां स्थापित की गई थीं। उस समय उन समितियों का इतना महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं होता था जितना कि वर्तमान मे है क्योंकि विधायी कार्य का बहुत सारा भाग दोनों सदनों के सम्पूर्ण सत्रों मे होता था। १६४७ के सविधान के अनुसार, मूलतः पार्षद सदन और प्रतिनिधि सदन में से प्रत्येक की २२ (बाइस) स्थायी समितियां बनाई गयी थी। कुछ समय पश्चात् इनकी सख्या घट कर १६, १६ हो गई जैसी कि वर्तमान मे स्थिति है। प्रत्येक सदन मे ऐसी स्थायी समितियां हैं जिनका सम्बन्ध मन्त्रिमण्डल, स्थानीय प्रशासन, न्यायिक विषय, विदेशी मामलों, वित्त, शिक्षा, कल्याण तथा श्रम, कृषि, वन तथा मत्स्यपालन, व्यापार तथा उद्योग, परिवहन, सचार, निर्माण, आय-व्ययक, लेखा, कर्णधारिता तथा अनुशासन से है। इनमे से अधिकांश समितियां शासन के मन्त्रालयों के तदनुरूप है।

किसी भी समिति मे ३०, ४० अथवा ५० तक सदस्य हो सकते हैं परन्तु अनुशासन और कर्णधार तथा लेखा समितियां इसका अपवाद हैं जिनकी सदस्य संख्या क्रमशः २० और २५ ही होती है। दोनों सदनों द्वारा अपने-अपने अध्यक्ष चुन लिये जाने के शीघ्र बाद अगला कार्य समितियों का चुनाव करना होता है। सम्बद्ध सदन का अध्यक्ष सदन की दलगत सख्या के आधार पर प्रत्येक समिति के लिये सदस्यों की नियुक्ति करता है। डायट (Diet) के कानून के अनुसार प्रत्येक सदस्य के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी न किसी स्थायी समिति का सदस्य हो परन्तु वह तीन समितियों से अधिक समितियों का सदस्य नहीं हो सकता। समितियों के सभापतित्व पद भी मोटे तौर पर उसी अनुपात से बांटे जाते हैं जिस अनुपात में किसी दल की सदस्य संख्या सदन में होती है। चूंकि प्रत्येक सदन मे कुल सदस्यता के लगभग दो-तिहाई भाग पर लिबरल डैमोक्रेटिक दल (Liberal Democratic Party) का अधिकार है अतः शासक दल का ही प्रायः समस्त स्थायी समितियों के सभापतित्व-पदों पर एकाधिकार बना हुआ है। समिति का सभापतित्व पद अत्यन्त अभिलषित वस्तु माना जाता है क्योंकि इसके साथ बड़ी प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है। "सभापति न केवल सरकार के विधायी कार्यक्रम को प्रभावित कर सकता है अपितु वह अपने पद से जुड़े हुए अनेक पूर्वपिधित गुणों और समादरों का उपभोग भी करता है। समिति का अध्यक्ष होने के नाते वह न केवल समिति की बैठकों का आरम्भ और समापन करता है

बल्कि वह कार्य सूची का निर्माण करता है, काम-काज के क्रम को निश्चित करता है, और विचार-विमर्श की गति का नियमन करता है। समिति के कार्य की विविध अवस्थाओं पर जिनमें प्रश्नों का पूछा जाना, वाद-विवाद और निर्णय सम्मिलित है उसका नियन्त्रण रहता है। समिति के समस्त बाह्य सम्बन्धों में और उसके द्वारा की जाने वाली बात-चीतों के विषय में उसका मुख्य-वक्ता और प्रतिनिधि होने के नाते वह एक आधार-व्यक्ति (Key figure) का रूप धारण कर लेता है।"[1]

स्थायी-समितियाँ विधि-निर्माण के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधनों का कार्य करती है और उनके पास यह शक्ति है कि चाहे तो वे विधायी प्रस्तावों को रद्द कर दें या फिर उन्हें सफल बनाने में सहायक सिद्ध हो। उनके ऊपर ही "सरकार द्वारा प्रस्तुत उन विधायी प्रस्तावों को चुनने का और उनके अनुमोदन और अविनियमन की सिफारिश करने का मुख्य उत्तरदायित्व पड़ता है।" व्यवस्थापन के समस्त प्रस्तावों को परीक्षा और परिनिरीक्षा की दुर्वह प्रक्रिया में से होकर गुजरना पड़ता है और उन्हे ठीक-ठीक रूप देने के लिए समितियां सार्वजनिक सभाएं बुलाती हैं जिनमें भिन्न-भिन्न विचारधाराओं और हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले गवाहों को गवाही देने के लिए बुलाया जाता है और अपने दृष्टिकोण को प्रमाणित करने के लिए सब प्रकार की विषय-वस्तु प्रदर्शों (exhibit) और प्रलेखों को सम्मुख रखा जाता है। किसी समिति के सम्मुख उपस्थित होने से इन्कार करना समिति के प्रति अवमान दोष से युक्त कर देता है।

स्थायी समितियां बड़ी कटु आलोचना का भी विषय रही हैं, विशेषतया उनकी सदस्य संख्या और उनके काम करने के प्रकार पर कटाक्ष किए जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि प्रत्येक सदन में समितियों की संख्या बहुत अधिक है और परिणाम-स्वरूप राष्ट्र के काम-काज सर्वथा व्यवच्छिन्न रूप से विभक्त कर दिए गए है। शासन समूची एकल वस्तु है और राष्ट्रीय समस्याओं का हल ढूंढ़ने के लिए इसके द्वारा एकीकृत कार्य किया जाना आवश्यक है। परीक्षा, जाँच-पड़ताल और निर्धारण का वास्तविक कार्य समितियों के अन्दर होने के कारण वे विधायक जो समिति के सदस्य नही है, तथ्यों के अनेक ब्यौरों और अन्य प्रासंगिक सूचना से अनभिज्ञ रह जाते हैं। यहाँ तक कि विधायी प्रक्रिया के नियमों के अनुसार सदन के सम्पूर्ण सत्र में विधेयक के लक्ष्यों और उद्देश्यो की व्याख्या भी नही की जाती है। तदनुसार, डायट (Diet) के सदस्यो में विधेयक के प्रति कोई उत्सुकता नही रह जाती। "इस कारण सदन में होने वाले आम वाद-विवाद को प्रभावपूर्ण ढंग से यदि नाटकीय रूप देना असम्भव नही रह जाता तो कठिन अवश्य हो जाता है। अतः वास्तविक रूप में आम वाद-विवाद की उपादेयता और प्रभावोत्पादकता प्रायः न्यून हो जाती है। यही बात कुछ एक विशेष अवसरों को छोड़ कर सम्पूर्ण सत्र में दीख पड़ने वाली अत्यधिक क्षीण

---

1 Ghitoshi Yanaga, *Japanese People and Politics*, p. 197

उपस्थिति के लिए भी उत्तरदायी है।"[1] इसके अतिरिक्त चूंकि स्थायी समितियाँ प्रायः मन्त्रालयों के अनुरूप होती हैं अतएव दोनों में अत्यन्त निकट सम्पर्क रहता है। अनेक जापानी विश्वास करते हैं कि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शाखाओं के बीच रहने वाला सम्पर्क कार्यपालिका के कार्य भाग को सशक्त बनाने के लिए उत्तरदायी है। इस प्रणाली की विशेषता संवादी मंत्रालय अथवा कार्यपालिका अभिकरण में उपयुक्त समिति के लिए पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर, भले ही जीवन चलन न सही, डायट (Diet) सदस्यों की नियुक्ति है। इसके द्वारा एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें हो सकता है कि समिति के सदस्यों की नौकरशाही निष्ठाओं का पलड़ा उनके विधायी उत्तरदायित्वों और राज्य शक्ति के सर्वोच्च साधन के सदस्यों के रूप में उनकी संवैधानिक स्थिति से भारी पड़ जाय।[2]

प्रत्येक सदन यदि चाहे तो सदन द्वारा पारित विशेष प्रस्ताव द्वारा विशेष समिति (Special Committee) की भी स्थापना कर सकता है। विशेष समस्याओं अथवा प्रस्तावों का अध्ययन करने के लिए तदर्थ (ad hoc) समितियाँ भी स्थापित की जाती है और जैसे ही उनका काम समाप्त हो जाता है उनका अस्तित्व नहीं रहता। परन्तु दूसरी ओर स्थायी समितियाँ सत्रावधि के लिये नियुक्त की जाती हैं और कोई विधेयक जो समिति की विषय-वस्तु से संगत हो उसे सौंप दिया जाता है। विशेष समिति का जीवन काल सदन के उस सत्र से जिसमे वह बनाई गई थी, आगे भी बढ़ाया जा सकता है। विशेष समिति का सभापति स्वयं उसके सदस्यों द्वारा नियुक्त किया जाता है और उसके सम्मुख आने वाले सारे मामलों पर निर्णय बहुमत द्वारा हो लिया जाता है। समान मत प्राप्त होने की स्थिति मे सभापति को निर्णायक मत देने का अधिकार है। स्थायी समितियों के समान विशेष समिति भी सार्वजनिक बैठकें बुलाती है और साक्षियाँ बुला सकती है और साथ ही किसी भी प्रकार के अभिलेखों और सामग्री को उपस्थित करने की माँग कर सकती है।

करती है।

वेदन सदन में प्रस्तुत किए जाते है। चितोशी यनागा (Chitoshi Yanaga) ने विशेष समितियो के महत्त्व के विषय मे अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "वस्तुतः, जहाँ तक सर्वसाधारण का सम्बन्ध है, यह विशेष समितियों का ही कार्य है जो अति विस्तृत ध्यान और रुचि आकर्षित करता है क्योंकि समिति द्वारा हाथ में लिए जाने वाले अधिकांश मामलों की आपातिक और संवेदनात्मक प्रकृति ही इसका कारण होती है।"[3] संविधान दो अन्य प्रकार की समितियों की भी स्थापना करता है : दोनों सदनों की संयुक्त समिति और जाँच-पड़ताल समितियाँ। अनुच्छेद

1. *Ibid.*
2. Maki, John, M., *Government and Politics in Japan*, p. 96.
3. *Japanese People and Politics*, p. 184.

५९ विधान करता है कि यदि किसी विधायी विधेयक के विषय में पार्षद सदन और प्रतिनिधि सदन एक-दूसरे से भिन्न निर्णय लेते हैं तो प्रतिनिधि सदन यदि चाहे तो मतभेद को सुलझाने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त समिति की बैठक बुला सकता है। इसी तरह स आय-व्ययक, सन्धियों, प्रधान मन्त्री के नामोद्देशन और सवैधानिक प्रश्नों के विषय मे पार्षद सदन और प्रतिनिधि सदन के बीच मतभेदो को सुलझाने के लिए भी एक संयुक्त समिति की स्थापना की जा सकती है। संयुक्त समिति मे २० सदस्य होते है जो दोनों सदनों मे से बराबर की सख्या मे लिए जाते है और जिन्हे प्रत्येक सदन के सदस्य अपने मे से निर्वाचित करते हैं। प्रत्येक सदन के निर्वाचित सदस्य अपना-अपना सभापति चुन लेते हैं और प्रत्येक सभापति बारी-बारी से सयुक्त समिति की बैठकों का सभापतित्व करता है।

सविधान के अनुच्छेद ६२ ने इस बात का विधान किया है कि डायट (Diet) का प्रत्येक सदन जाँच-पड़ताल समितियां की स्थापना करे। इन समितियों को शासन से सम्बन्ध रखने वाले मामलो की छान-बीन करने का अधिकार प्राप्त है और यदि ये चाहे तो गवाहो की उपस्थिति और उनकी साक्षियों की और अभिलेखो को प्रस्तुत करने की माँग कर सकती है। जब से सविधान लागू हुआ हैं इस प्रकार की कुछ एक समितियाँ स्थापित की जा चुकी है, उदाहरण के तौर पर सरकारी सम्पत्ति के अवैध निर्वर्तन से सम्बन्ध रखने वाली समिति। "कई मामलों मे सरकारी काम-काज की छान-बीन करने वाली समितियों का काम तथ्यो को जुटाना और अपनी उपपत्तियों के विषय में प्रतिवेदन प्रस्तुत करना होता है और इतना करके वे सन्तुष्ट हो जाती है। परन्तु कई मामलो मे वे एक कदम आगे बढ़ जाती है और वे उनके बारे मे अपना निर्णय देती है अथवा सिफारिशें करती हैं।"

इनके अतिरिक्त विधायी समिति एक और समिति है। यह दोनों सदनो की संयुक्त समिति है और १८ सदस्यों से मिलकर बनी हुई होती है, जिनमे से प्रतिनिधि सदन अपने सदस्यों में से १० सदस्यों को निर्वाचित करता है और पार्षद सदन ८ सदस्यों को। इस समिति का व्यवस्थापन कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसका कार्य तो इस बात को सुनिश्चित करना होता है कि डायट (Diet) का कार्य प्रभावपूर्ण ढंग से चलता रहे और प्रतिनिधि सदन और पार्षद सदन के मध्य काम-काज का सरल सम्बन्ध बना रहे। यह समिति डायट (Diet) के प्रत्येक सत्र के अवसर पर प्रतिनिधि सदन के अध्यक्ष (Speaker) और पार्षद सदन के सभापति को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है।

———

अध्याय ५

न्यायपालिका

(The Judiciary)

मीजी संविधान के अधीन न्यायपालिका (Judiciary under the Meiji Constitution)—मीजी (Meiji) काल में जापान में न्यायिक प्रणाली के अन्दर सम्पूर्ण परिवर्तन आ गया था। सामन्तवादी युग के अन्दर विकसित हुई प्राचीन पुरातन विधि-प्रणाली सम्बन्धी धारणाएं छोड़ दी गई थी और जर्मन तथा फ्रांसीसी विधिशास्त्रियों की सलाह से महाद्वीप विधि शास्त्र (Continental Jurisprudence) के आदर्श और आधार पर नई संहिताओं का अधिनियमन किया गया था। उसके अन्दर ऐंग्लो-सैक्सन (Anglo-Saxon) विधि शास्त्र को कोई स्थान प्राप्त नही था। तदनुसार, न्यायपालिका शासन की एक स्वतन्त्र शाखा नहीं थी अपितु कार्यपालिका की एक भुजा थी जो न्याय मन्त्रालय द्वारा प्रशासित की जाती थी। यद्यपि न्यायाधीशों के लिए यह आवश्यक समझा गया था कि वे पक्षपात रहित होकर कानून प्रशासित करें किन्तु मन्त्रालय पर रहने वाली उनकी निर्भरता बड़ी कठिनाई से उन्हे इस प्रकार की स्वतन्त्रता का प्रयोग करने की गारण्टी प्रदान करती थी। वहां किसी प्रकार का कानून का शासन नहीं था और विधि प्रणाली का आधार इस उक्ति पर आश्रित था कि जनता का कल्याण ही सर्वोच्च विधि है (Sulus populi suprema lex)। न्यायालयों के बूते से यह बाहर की बात थी कि वे किसी कानून को या किसी कार्यपालिका आज्ञा को अवैध करार दे सकें। न ही न्यायालय जनता की स्वतन्त्रताओं और अधिकारो की सुरक्षा कर सकते थे। सरकार और नागरिकों के बीच झगड़ो के ऊपर साधारण न्यायालयों का क्षेत्राधिकार नहीं था। प्रशासनिक अधिनिर्णयन (adjudication) प्रशासनिक वादकरण (Administrative Litigation) सम्बन्धी न्यायालय का ही विषय होता था।

जापान में तीन प्रकार के न्यायालय देखने को मिलते थे: साधारण दीवानी तथा फौजदारी अदालतें, प्रशासनिक वादकरण न्यायालय, और सैनिक न्यायालय। साधारण दीवानी और फौजदारी अदालतो के शिखर पर उच्चतम न्यायालय की विद्यमानता थी जिसके ४५ न्यायाधीश होते थे जो ९ संमण्डलों (Divisions) में विभक्त होते। प्रत्येक संमण्डल में ५ न्यायाधीश रहते थे। उच्चतम न्यायालय को मूल तथा अपीलीय क्षेत्राधिकार प्राप्त था। शाही परिवार के विरुद्ध द्रोह तथा

गम्भीर अपराधों के मामलो मे उच्चतम न्यायालय मूल क्षेत्राधिकार रखता था। अपीलीय दिशा में वह निम्न न्यायालयों से दीवानी तथा फौजदारी दोनों प्रकार के मामलों की अपीले सुनता था।

उच्चतम न्यायालय के बाद सात उच्च न्यायालयो की बारी आती है जो प्रत्येक प्रान्त के लिए एक-एक होता था। उच्च न्यायालय भी निचले न्यायालयो से अपीलें सुनते थे। उसके पश्चात् ५० मण्डल न्यायालय थे जो प्रत्येक प्रीफैक्चर (Prefecture) के लिए कम-से-कम एक के हिसाब से थे। मण्डल न्यायालय अधिक गम्भीर दीवानी तथा फौजदारी मुकदमो को सुनते थे। सब से निचले दर्जे पर स्थानीय न्यायालय आते है जिनकी संख्या लगभग ३०० थी और जिनका क्षेत्राधिकार छोटे-मोटे मामलो पर होता था।

प्रशासनिक अधिनिर्णयन न्यायालय को इसके फ्रांसीसी प्रतिरूप के आधार पर बनाया गया था और इसको राजकुमार इतो (Prince Ito) के इस विश्वास के आधार पर बनाया गया था कि, "यदि प्रशासनिक क्रिया-कलापों को न्यायपालिका (Judicature) की परिनिरीक्षा और उसके नियन्त्रण के अधीन रखा जाय और यदि न्यायालयों को प्रशासनिक कार्यों का पुनरीक्षण करने की और उन्हे अवैध करार देने की शक्ति दे दी जाय तो उस दशा मे कार्यपालिका न्यायपालिका के अधीन हो जायेगी और उससे कार्यपालिका शाखा को अखण्डता और कार्यसाधकता को हानि पहुंचेगी।"[1]

१९४७ के संविधान के अधीन न्यायिक प्रणाली की विशेषताएँ (Features of the Judicial System under 1947 Constitution)—जापान में अन्य विविध संस्थाओ के समान अधिकार करने वाले अधिकारियों (Occupation authorities) के प्रभाव के अधीन न्यायिक प्रणाली मे भी अत्यधिक परिवर्तन आ गया था। इस परिवर्तन का सम्बन्ध न्यायालयों की बनावट और न्यायिक प्रणाली से था और अमरीकियो द्वारा पोषित विधि और विधि शास्त्र के प्रजातान्त्रिक दर्शन मे मेल खाता था। नोबूताका इके (Nobutaka Ike) लिखता है कि "अधिकार की प्रकृति को सम्मुख रखते हुए सम्भवतः यह आश्चर्योत्पादक बात नही थी कि न्यायिक प्रणाली में ऐंग्लो-सैक्सन (Anglo-Saxon) मूल के अनेक विचार और प्रथाएं समाविष्ट कर ली गई थी जिसके द्वारा उसकी अनुस्थिति (Orientation) में परिवर्तन हो गया था जो अनुस्थिति औपचारिक रूप से मुख्यतया महाद्वीपीय (continental) थी।"[2] यहाँ तक कि पद की शपथ भी "आकार और भाषा मे बिल्कुल उसी प्रकार प्रस्तुत की गई है जैसी कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका मे उपलब्ध है।"[3] नीचे उन परिवर्तनों को

1. Chitoshi Yanaga, *Japanese People and Politics*, p. 355 f n.
2. Kahin, George McT. (Ed.), *Major.*

संक्षेप में दिया गया है जिन्हें वर्तमान मे जापानी न्यायिक प्रणाली की विशेषताएं माना जाता है।

(१) संविधान न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करता है और उसे शासन की स्वतन्त्र शाखा बनाता है। अनुच्छेद ७६, समस्त न्यायिक शक्ति को उच्चतम न्यायालय मे और उन अवर न्यायालयों में निहित करता है जिन्हें विधि द्वारा स्थापित किया गया हो। आगे चलकर यह विधान किया गया है कि कोई असाधारण न्यायाधिकरण स्थापित नही किया जायेगा और "न ही कार्यपालिका के किसी अंग अथवा अभिकरण को अन्तिम न्यायिक शक्ति दी जायगी।" न्यायपालिका की स्वतन्त्र स्थिति को बल प्रदान करने के लिए उच्चतम न्यायालय वस्तुतः देश के समस्त न्यायिक मामलों पर नियन्त्रण रखता है। अनुच्छेद ७७ के अनुसार उच्चतम न्यायालय मे नियम बनाने की शक्ति निहित की गई है जिसके अधीन वह प्रक्रिया के नियमों और न्यायवादियों (attorneys) से सम्बद्ध मामलो, न्यायालयो के आन्तरिक अनुशासन और न्यायिक मामलों के प्रशासन का निर्धारण करता है।"

(२) संविधान न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति करता है और न्यायपालिका की प्रतिष्ठा को सुनिश्चित करता है। यह आज्ञा देता है कि समस्त न्यायाधीश केवल सविधान और कानूनों द्वारा ही बंधे रहेंगे।[1] उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश मन्त्रिमण्डल द्वारा नामोद्दिष्ट किया जाता है और सम्राट् द्वारा नियुक्त किया जाता है।[2] यह प्रक्रिया इसीलिए बनाई गई है ताकि मुख्य न्यायाधीश को उस पद और प्रतिष्ठा के स्तर पर बिठा दिया जाय जिस पर प्रधान मन्त्री होता है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश मन्त्रिमण्डल[3] द्वारा नियुक्त किए जाते हैं जबकि अवर न्यायालयों के न्यायाधीश मन्त्रिमण्डल द्वारा व्यक्तियों की उस सूची में से नियुक्त किए जाते हैं जो उच्चतम न्यायालय द्वारा मनोनीत किए गए होते हैं।[4] न्यायाधीश केवल महाभियोग द्वारा ही हटाए जाते हैं या फिर जब तक वे न्यायिक तौर पर मानसिक अथवा शारीरिक दृष्टि से अपने आधिकारिक कर्त्तव्यों को करने में अक्षम घोषित नही कर दिए जाते हैं। कार्यपालिका के किसी अंग अथवा अभिकरण द्वारा न्यायाधीशों के विरुद्ध किसी प्रकार की अनुशासनात्मक कार्यवाही नहीं की जा सकती।[5]

(३) संविधान उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के विषय मे भी लोकप्रिय सर्वप्रभुता के सिद्धान्त का प्रयोग करता है। उनकी नियुक्ति के बाद होने वाले प्रतिनिधि सदन के सदस्यों के सर्वप्रथम आम चुनावों में जनता द्वारा उनकी नियुक्ति का पुनरीक्षण किया जाता है और उसके पश्चात् प्रत्येक दस वर्ष बाद ऐसा किया जाता

1. अनुच्छेद ७६
2. अनुच्छेद ६
3. अनुच्छेद ७९
4. अनुच्छेद ८०
5. अनुच्छेद ७८

है। यदि मतदाताओं का बहुमत नियुक्ति का अनुमोदन नही करता तो न्यायाधीश बर्खास्त कर दिया जाता है।[1] अवर न्यायालयो के न्यायाधीशो की नियुक्ति दस वर्ष की पदावधि के लिए की जाती है पर उसके बाद भी उन्हे पुनः नियुक्त किया जा सकता है। उच्चतम न्यायालय का कोई भी न्यायाधीश आज तक मतदान द्वारा अपने पद से वियुक्त नही किया गया है और अवर न्यायालयो के न्यायाधीश भी आवश्यक तौर पर पुनः नियुक्ति पा जाते है। तथापि यह एक सवैधानिक तथ्य है कि दोनो स्तरों पर उनकी पदावधि पुनरीक्षण के अधीन होती है।

(४) न्यायिक प्रशासन दण्डिक छान-बीन से बिल्कुल पृथक् है क्योंकि प्रोक्यूरेटर (Procurator) अर्थात् प्रोसीक्यूटर (Prosecutor) यानि अभियोजक का पद न्याय मन्त्रालय के नियन्त्रण के अधीन रखा गया है। परिणामस्वरूप न्यायाधीश तथा अभियोजक (Procurators) एक-दूसरे से स्वतन्त्र रहकर कार्य करते हैं, दोनों ही पृथक् और विशेष कार्य करने वाले है। अभियोजक एक प्रकार के असैनिक कर्मचारी हैं जो न्याय मन्त्रालय की देख-रेख और नियन्त्रण के अधीन कार्य करते हैं जबकि न्यायपालिका शासन का एक पृथक् तथा स्वतन्त्र विभाग है।

(५) जापान में पहली बार विधि के शासन (Rule of Law) के सिद्धान्त को प्रवेशित कराया गया है। वर्तमान मे सारे देश में केवल एक ही प्रणाली के न्यायालय है और एक ही प्रणाली का कानून है जिसके अधीन सारे लोग आते हैं। समस्त न्यायिक शक्ति उच्चतम न्यायालय और अन्य अवर न्यायालयों में निहित है और न्याय के प्रशासन के लिए कोई भी असाधारण न्यायाधिकार विद्यमान नही है। न ही कार्यपालिका के किसी अंग अथवा अभिकरण को अन्तिम न्यायिक सत्ता सौंपी गई है। तदनुसार प्रशासनिक वादकरण न्यायालय को समाप्त कर दिया गया था और अब प्रशासनिक वादकरण को आम न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के नीचे रख दिया गया है। खुले आम न्यायालय मे मुकदमे सुने जाते हैं और निर्णय भी सार्वजनिक तौर पर सुनाया जाता है। यदि न्यायालय एक मत होकर यह निश्चय करे कि मुकदमे की कार्यवाही की प्रकाशना सार्वजनिक व्यवस्था की अथवा नैतिक दृष्टि से हानिकारक होगी तो उस दशा मे मुकदमा गोपनीय रूप से भी सुना जा सकता है। किन्तु वे मुकदमे जिनका सम्बन्ध राजनीतिक अपराधों, समाचारपत्रों को ग्रस्त करने वाले अपराधों अथवा उन मामलों से हो जिनमें सविधान द्वारा जनता को प्रत्याभूत किए गए अधिकारों पर आपत्ति की गई हो, आवश्यक तौर पर जनता के सामने ही सुने जाने चाहिएँ।[2]

(६) बीते हुए समय की अपेक्षा वर्तमान दण्ड-प्रक्रिया-संहिता (Code of Criminal Procedure) और व्यवहार-प्रक्रिया-संहिता (Code of Civil Procedure) ने न्यायालयों को बहुत अधिक कार्य-भाग करने के लिए अवसर सौंपा है।

1. अनुच्छेद ७९ 2. अनुच्छेद ८२

अब केवल न्यायाधीशों द्वारा ही गिरफ्तारी और निरोध के अधिपत्र (Warrant) निर्गत किए जा सकते हैं, न्यायालय दण्डिक अर्थात् फौजदारी के मामलों में अपराधी के निर्दोष होने की पूर्वकल्पना को लेकर ही कार्य प्रारम्भ करते हैं, और अपराधस्वीकरण (confessions) की वैध मान्यता बहुत अधिक सीमित कर दी गई है। न्यायिक निर्णय अब सीधी-सादी बोल-चाल की भाषा में दिए जाते हैं और सर्वोपरि संविधान स्वयं ऐसी सीधी-सादी और तथ्यपूर्ण भाषा में लिखा गया है जिसे आम जापानी समझ सकता है।

(७) उच्चतम न्यायालय अन्तिम शरण वाला न्यायालय है जिसके पास किसी कानून, आज्ञा, विनियम अथवा आधिकारिक कृत्य की सवैधानिकता को निर्धारण करने की शक्ति है।[1] अतएव, संविधान सर्वोच्च है और उच्चतम न्यायालय को स्पष्टतया न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार प्रदान किया गया है।

(८) संविधान नागरिकों को मौलिक अधिकारों की गारण्टी प्रदान करता है और न्यायालय इस प्रकार के अधिकारों के अभिरक्षक है। अनुच्छेद ९७ उद्घोषित करता है कि मौलिक अधिकार सदा के लिए अनतिक्राम्य हैं और अनुच्छेद ९८ में यह बात जोर देकर कही गई है कि "यह संविधान राष्ट्र की सर्वोच्च विधि होगा और कोई विधि या कानून, अध्यादेश, शाही आज्ञा का प्रतिरूप (Imperial Rescript) या सरकार का अन्य अधिनियम, या उसका कोई भाग जो संविधान के उपबन्धों के प्रतिकूल होगा, वैध शक्ति या वैधता रखने वाला नहीं माना जायेगा।"

(९) न्यायिक प्रणाली की एक अन्य विशेषता घरेलू सम्बन्धों (Domestic Relations) के न्यायालयों की विद्यमानता है। ये न्यायालय अर्ध पंचायती और अर्ध न्यायिक न्यायाधिकरणों का रूप लिए हुए हैं जो न्यायाधीश और साधारण जन दोनों से मिलकर बने हैं और वे घरेलू सम्बन्धों और बाल-अपचारों के मामलों का निर्णय करते हैं।

(१०) अन्त में जैसा कि माकी (Maki) का कथन है कि "उच्चतम न्यायालय ने शक्तियों की पृथक्ता के सिद्धान्त का बड़ी कड़ाई से पालन किया है किन्तु इसके बराबर ही विधायी सर्वोच्चता के सिद्धान्त का भी आदर किया है।"[2] न्यायालय ने समस्त न्यायिक शक्ति के प्रयोग करने के एकमात्र अधिकार की अत्यन्त आग्रहपूर्वक रक्षा की है और न्यायालयों की स्वतन्त्रता में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप का बड़ी दृढ़ता से मुकाबला किया है। दूसरी ओर उच्चतम न्यायालय विधायी और कार्यपालिका कृत्यों को असंवैधानिक घोषित करने के लिए अविरोध भाव से इन्कार करता रहा है। न्यायालय ने इस सम्बन्ध में यह युक्ति दी है कि इन कृत्यों को असंवैधानिक घोषित करने का अर्थ शक्तियों के पृथक्त्व के सिद्धान्त का तथा विधायी श्रेष्ठता के

1. अनुच्छेद ८१
2. Maki, John M., *Government and Politics in Japan*, p. 107.

सिद्धान्त का अतिक्रमण करना होगा। "उस व्यवस्थापन का उचित उपाय, जो स्पष्टतया सर्वैधानिक नहीं है केवल राजनीतिक उपाय ही है—अर्थात् सर्वप्रभुता सम्पन्न लोग संसद् के विषय में और मन्त्रिमण्डल के विषय में मतदान द्वारा अपना निर्णय दे सकते है।"[1]

न्यायालयों का संगठन तथा उनके कृत्य (Organisation and Functions of the Courts)—उच्चतम न्यायालय, ८ उच्च न्यायालय, ४६ मण्डल न्यायालय (२३५ शाखाओं सहित) और ५७० संक्षेप न्यायालयों (Summary Courts) से मिलकर न्यायपालिका की रचना की गई है। इनके अतिरिक्त ४६ न्यायालय और है जिन्हें घरेलू सम्बन्ध अथवा परिवार न्यायालय कहते है जिनकी २३५ शाखाएँ है।

उच्चतम न्यायालय (The Supreme Court)—इस न्यायिक सरचना के शिखर पर उच्चतम न्यायालय है जो टोक्यो (Tokyo) में स्थित है। एक मुख्य न्यायाधीश और १४ अन्य न्यायाधीशों समेत कुल १५ न्यायाधीश इस उच्चतम न्यायालय मे होते है। मन्त्रिमण्डल द्वारा नामोद्देशन किए जाने पर सम्राट् द्वारा मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति होती है परन्तु समस्त अन्य न्यायाधीश मन्त्रिमण्डल द्वारा नियुक्त किए जाते हैं और सम्राट् द्वारा उनकी नियुक्तियाँ अभिप्रमाणित (attested) होती हैं। कानून ने इस बात का विधान किया है कि मुख्य न्यायाधीश समेत १५ न्यायाधीशों में से दस ऐसे विधि विशेषज्ञ होने चाहिएं जिनका अपने पेशे का अनुभव २० वर्ष से कम न हो और शेष ५ न्यायाधीश ऐसे होने चाहिएं जो विद्वान और अनुभवी व्यक्ति हों और जिनका अनुभव आवश्यक तौर पर कानून के ही क्षेत्र में हो। "ऐसा करने का यह अर्थ है कि राष्ट्र के सर्वोच्च न्यायाधिकरण के लिए विशेषज्ञता का अधिक लोकतान्त्रिक और विविध प्रतिनिधित्व हो सके।" उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रीय जनमत-सग्रह द्वारा पुनरीक्षण के अधीन है जो पहली बार उनकी नियुक्तियों के बाद आने वाले आम चुनावों मे किया जाता है और उसके पश्चात् दस साल बाद आने वाले सबसे पहले आम चुनावों के अवसर पर होता है। अब तक किसी भी न्यायाधीश की बर्खास्तगी अर्थात् वियुक्ति की घटना नहीं घटी है। किन्तु लोक-निरीक्षण की यह प्रणाली "अनुमानतः न्यायालयों को पक्षपाती राजनीति की विषमताओं में घसीट सकती है।"

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए कानून द्वारा निश्चित की गई आयु में जोकि ७० वर्ष है, अवकाश ग्रहण करना आवश्यक है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की न्यूनतम आयु ४० वर्ष निश्चित की गई है। न्यायाधीश तब तक

1. *Ibid*, pp. 107-108.

अपने पद पर से नहीं हटाए जा सकते जब तक उन पर सार्वजनिक महाभियोग न लगाया जाय अथवा जब तक न्यायिक तौर पर मानसिक या शारीरिक दृष्टि से वे अपने आधिकारिक कर्त्तव्यों को करने में असमर्थ या अक्षम न घोषित कर दिए जाएं। किसी भी कार्यपालिका उपकरण अथवा अभिकरण द्वारा न्यायाधीश के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही नही की जा सकती। संविधान इस बात की माँग करता है कि समस्त न्यायाधीश अपने अन्त.करण की आज्ञा का पालन करने में स्वतन्त्र रहेंगे, और उनकी स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त प्रतिफलों (compensations) की प्रत्याभूति दी गई है जिनको उनके पदावधि काल मे कम नहीं किया जा सकता है।[1]

उच्चतम न्यायालय अन्तिम आश्रय वाला न्यायालय है जिसे किसी भी कानून, आज्ञा, विनियम अथवा आधिकारिक कृत्य की संवैधानिकता को निर्धारण करने की शक्ति प्राप्त है। इस प्रकार स्पष्टतया उच्चतम न्यायालय में न्यायिक पुनरीक्षण की शक्ति निहित कर दी गई है। संवैधानिकता के प्रश्न से ग्रस्त समस्त मामलों मे समस्त १५ न्यायाधीशो से युक्त बड़ी बैंच (Grand Bench) अपीलें सुनती है जिसमें ६ न्यायाधीशो की उपस्थिति गणपूर्ति के लिए आवश्यक मानी जाती है। अन्य मामलों में जहाँ केवल कानून के प्रश्न ग्रस्त होते है, छोटी बैंच ही अपीलें सुनती है जिसमें ५ न्यायाधीश होते है और तीन न्यायाधीशो से गणपूर्ति मानी जाती है।

उच्चतम न्यायालय में उन नियमों को भी बनाने की शक्ति निहित की गई है जिसके अधीन वह प्रक्रिया और व्यवहार के नियम, और न्यायवादियों से सम्बन्ध रखने वाले मामलों, न्यायालयों का आन्तरिक अनुशासन और न्यायिक मामलों के प्रशासन के नियम निर्धारित करता है। लोक-अभियोक्तागण (Public Procurators) भी उच्चतम न्यायालय की नियम-निर्मात्री शक्ति के अधीन आ जाते हैं।[1] नि.सन्देह, यह एक अति-विस्तृत शक्ति है। उच्चतम न्यायालय यदि चाहे तो अवर न्यायालयो को अपनी नियम-निर्मात्री शक्ति सौंप सकता है। इस प्रकार से उच्चतम न्यायालय देश में समस्त न्यायिक प्रणाली पर देख-रेख और नियन्त्रण रखता है।" वैधिक गवेषणा तथा प्रशिक्षण संस्थान (Legal Research and Training Institute) नामक एक ऐसा महत्त्वपूर्ण संगठन है जिसके द्वारा न्यायालय न्यायिक नियन्त्रण की अपनी विस्तृत शक्तियाँ प्रयोग मे लाता है और जो संगठन कानून द्वारा उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अधीन स्थापित किया गया है। अन्य बातों के अतिरिक्त यह संस्थान हर उस व्यक्ति को प्रशिक्षित करने के लिये उत्तरदायी है जो कानूनी पेशे मे रुचि रखने वाला है। अतः कोई भी व्यक्ति न्यायाधीश, वकील, अथवा लोक-अभियोक्ता नही बन सकता जब तक वह इस संस्थान का स्नातक नही बन जाता अथवा वहाँ अपने सेवाकाल के अन्दर मिलने वाला प्रशिक्षण प्राप्त नही कर लेता। इसके अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय न्यायालयों में काम करने वाले

१. अनुच्छेद ७६

लिपिको और परिवार-न्यायालय के नौसिखियों के लिए इसी प्रकार की संस्थाओं का भी संचालन करता है। उच्चतम न्यायालय द्वारा मनोनीत किए गए व्यक्तियों की सूची में से अवर न्यायालय के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल द्वारा की जाती है।

उच्च न्यायालय (High Courts)—उच्चतम न्यायालय के बाद दूसरे स्थान पर उच्च न्यायालयों की बारी आती है जिनकी संख्या ८ है। किसी भी उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार उस प्रदेश तक होता है जो उसे सौंपा गया हो और तदनुसार उसका क्षेत्राधिकार प्रादेशिक होता है। प्रत्येक उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या एक दूसरे से भिन्न रहती है। टोक्यो के ६४ न्यायाधीश हैं जबकि सापोरो (Saporro) के कुल ७ ही हैं। न्यायालय ३ न्यायाधीशों वाली बेंच द्वारा कार्य करता है, परन्तु उस मुकदमे में जिसमें शासन का तख्ता पलटने वाले अपराधो की सुनवाई की जा रही हो यह बैंच ५ न्यायाधीशों वाली बन जाती है। न्यायाधीशो की नियुक्ति पहले-पहल दस साल के लिए होती है परन्तु इनकी दुबारा नियुक्ति पर कोई रोक नहीं है। उच्चतम न्यायालय द्वारा मनोनीत किए गए व्यक्तियों की सूची मे से मन्त्रिमण्डल उन्हें नियुक्त करता है। न्यायाधीशों के लिए यह आवश्यक है कि न्यायिक रूप में अथवा अभियोक्ता अथवा व्यवसायी वकील के रूप मे उन्हे कम-से-कम दस वर्षो का अनुभव प्राप्त हो।

उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार आवश्यक तौर पर पुनर्विचारी अर्थात् अपीलीय है और कई एक मामलों में उसके निर्णय अन्तिम होते है। न्यायालय का मूल क्षेत्राधिकार परिसीमित है जो शासन का तख्ता पलटने वाले अपराधों तक ही सीमित रहता है।

मण्डल न्यायालय (District Courts)—उच्च न्यायालयों के नीचे ५० मण्डल न्यायालयों की बारी आती है जिनके साथ घरेलू सम्बन्धों के न्यायालय भी जुड़े हुए है। प्रत्येक प्रशासनिक क्षेत्र (Prefecture) के लिये एक न्यायालय है पर होक्कैडो (Hokkaido) इसका अपवाद है क्योंकि वहाँ ४ न्यायालय है। इन न्यायालयों के न्यायाधीश भी उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशों के समान नियुक्त किए जाते है और उनके लिए भी उसी प्रकार की अर्हताएँ रखनी आवश्यक है। मण्डल न्यायालय मुख्य परीक्षा न्यायालय है और ये उन समस्त दीवानी मुकदमों पर सामान्य क्षेत्राधिकार रखते है जो विशेष तौर पर अन्य न्यायालयों को नही सौंपे गए हैं। न्यायालय मे एक ही न्यायाधीश मुकदमे को सुनता है परन्तु अधिक गम्भीर मामले अपवाद है जिनकी अन्वीक्षा तीन न्यायाधीशो की तालिका द्वारा की जाती है।

मण्डल न्यायालयों के साथ घरेलू सम्बन्धों के न्यायालय सलग्न हैं जिनकी संख्या ४९ हैं और जिनकी २३५ शाखाएँ भी हैं। ये न्यायालय जापान की ही विशेषता है और इनका उद्देश्य परिवार के अन्दर और सम्बधियों के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध को बढ़ावा देना है। घरेलू सम्बन्धी न्यायालय में, जिसका अब लोकप्रिय नाम

परिवार न्यायालय (Family Court) हो गया है, एक न्यायाधीश और दो बुद्धिमान् और अनुभवी आम आदमी होते हैं। ये न्यायालय घर के बाहर उन झगड़ों के समझौतों के लिए सुविधा प्रदान करते है जिनका सम्बन्ध सप्रमाण (probate) और तलाक, निर्वाहव्यय (गुजारा), प्रतिज्ञा भंग, उत्तराधिकार, सम्पत्ति विभाजन, गोद लेना, संरक्षकत्व और अन्य मिलते-जुलते मामलो से होता है और जिनकी गिनती घरेलू झगड़ों के अन्दर की जाती है। आम तौर पर प्रत्येक मामले में न्यायिक प्रक्रिया का अनुसरण नही किया जाता है क्योंकि न्यायालय के बाहर ही समझौता होने के अवसर विद्यमान रहते है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि परिवार-न्यायालय आधे पंचायती है और आधे न्यायिक है।

संक्षेप न्यायालय (Summay Courts)—सबसे अन्त में ५७० संक्षेप न्यायालयो की बारी आती है जो जापान के न्यायिक कोणस्तूप (pyramid) के आधार तल पर स्थित है। ये न्यायालय छोटे-मोटे दीवानी और फौजदारी मामलो को निपटाते है। दीवानी मामलों में विवादग्रस्त राशि ५००० येन से अधिक नही होनी चाहिए और फौजदारी मामलो में अपराधी को दी जा सकने वाली सजा एक महीने से कम की होनी चाहिए। अन्वीक्षा करते समय न्यायालय के अधिष्ठाता को विस्तृत छूट होती है। इस बात को यहां पर दुहरा दिया जाय कि अवर न्यायालयों के न्यायाधीश और उच्च न्यायालय और मण्डल न्यायालयो के न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय द्वारा मनोनीत किए गए व्यक्तियों की सूची मे से मन्त्रिमण्डल द्वारा नियुक्त किए जाते है, और उनकी नियुक्ति प्रथम बार दस वर्षों के लिए होती है, यद्यपि उनकी दुबारा नियुक्ति के लिए किसी प्रकार की रोक नही है। वे ७० वर्ष की आयु मे अवकाश ग्रहण करते हैं।

———

अध्याय ६

राजनीतिक दल

(Political Parties)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Background)—जापान में राजनीतिक दलों का जन्म १६४७ में संसदीय प्रणाली की सरकार की स्थापना के कारण नहीं हुआ था। उनका उद्गम तो १८७४ में देखा जा सकता है। यद्यपि वास्तविक अर्थों में उस समय राजनीतिक दलों की स्थिति नहीं थी। उन्हें राजनीतिक क्लब और गोष्ठियाँ कहा जा सकता था। जनवरी १८७४ के प्रारम्भ में इतागाकी (Itagaki) ने देशभक्त जनता दल (Patriotic Public Party) नामक एक राजनीतिक मण्डल का संगठन किया था जिसका उद्देश्य स्वतन्त्रता की प्राप्ति और लोकप्रिय अधिकारों की उपलब्धि के लिए एक आन्दोलन को चलाना था। इसके बाद तुरन्त 'लोकप्रिय प्रतिनिधि सभा की स्थापना के लिए एक स्मरणपत्र' सम्राट् को प्रस्तुत किया गया। इस बात ने देश में हलचल मचा दी और लोगों के ऊपर उसका बड़ा चुम्बकीय प्रभाव पड़ा। किन्तु सम्राट् की सरकार ने इस आन्दोलन को कुचलने के लिए कदम उठाए और (Patriotic Public Party) अपने जन्म लेने के दो मास बाद ही अस्तित्व-विहीन हो गई। १८७८ में दल को पुनरुज्जीवित किया गया और उसका स्वीकृत उद्देश्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना की मूल माँग के लिए आग्रह करना था। इसका कुछ भड़काने वाला प्रभाव हुआ। सरकार ने पहले-पहल दमनात्मक कदम उठाए ताकि आन्दोलन को कुचल दिया जाय, किन्तु शीघ्र ही उसने अपनी दमन नीति की व्यर्थता को समझ लिया और अन्ततोगत्वा उसे जनता की माँग के आगे झुकना पड़ा। १८ अक्टूबर, १८८१ को शाही आज्ञा-पत्र द्वारा यह घोषित किया गया कि १८६० में राष्ट्रीय सभा की स्थापना की जायेगी।

शाही आज्ञा-पत्र के जारी होने के छः दिन बाद ही लिबरल दल (Liberal Party) की स्थापना हो गई और यह लोकप्रिय सरकार की स्थापना के लिए अग्रगामी आन्दोलन बन गया। इस दल के निर्माण के बाद ही प्रोग्रेसिव (Progressive) दल का निर्माण हुआ और फिर इम्पीरियल (Imperial) दल का। प्रोग्रेसिव दल, जिसका लोकप्रिय नाम सुधार दल (Reform Party) भी था, ब्रिटिश नमूने की उदारता का समर्थन करता था और खुले आम बेंथम (Bentham) और जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) के दर्शन का प्रचार करता था। सरकार Liberal और Progressive दोनों दलों के क्रिया-कलापों और कार्यक्रम के

कारण खतरे का अनुभव करने लग पड़ी थी और लोगों के ऊपर उनके प्रभाव का प्रतिकार करने के लिए वह Imperial दल की नींवों को दृढ़ करने लगी। यह दल सब अर्थों में सरकार द्वारा समर्थित दल था। इस दल के सदस्य सरकारी अधिकारी, बौद्ध और शिण्टो धर्माचार्य और राष्ट्रीय विद्वान् होते थे जो सरकारी स्कूलों की उपज थे।

१८८५ में ये तीनों दल भंग हो गए, अंशतः इसका कारण लिबरल और प्रोग्रेसिव दलों के विरुद्ध बरती गई सरकार की दमन नीति थी और अंशतः इसका कारण दलों में विद्यमान अपनी आन्तरिक फूट थी। इतो (Ito), जो तब तक जर्मनी से लौट चुका था, राजनीतिक दलों के अत्यन्त विरुद्ध था और वह Imperial दल के नाश का कारण भी बना। १८८५ में इतो (Ito) प्रधान मन्त्री बना। उसने अपने विदेश मन्त्री इनूइ (Inoue) की सहायता से अपने पाश्चात्यीकरण के कार्यक्रम को आगे बढ़ाया जिसने नागरिक अधिकारों के समर्थकों को बड़े जोर-शोर से उत्तेजित किया "और साथ ही राष्ट्रवादियों और उग्रराष्ट्रवादियों (Chauvinists) को भी।" १८८७ में इनूइ (Inoue) द्वारा सन्धियों को दुहराने की समझौता-वार्ताओं में छूट देने के प्रयास को कृषि और व्यापार मन्त्री तानी (Tani) ने बुरा-भला कहा था, और जापानी समाज के विविध खण्डों ने भी बाद में सरकार की तीव्र आलोचना की थी। गोतो (Goto) ने भी लोगों की भावना को बड़े जोर-शोर से उभारा था और उन्हें सरकार के विरुद्ध विद्यमान शक्तियों से गठजोड़ करने के लिए उपदेश दिया था। भग्न हुए Liberal दल के सदस्य, राष्ट्रवादी और परिवर्तन विरोधी सब के सब एक हो गए और उन्होंने मिलकर बड़ा मिला-जुला दल (Great Coalition of Parties) बनाया।

सरकार ने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया और १६ दिसम्बर, १८८७ को एक शान्ति स्थापक अध्यादेश (Peace Preservation Ordinance) जारी किया गया जिसके द्वारा राजधानी के साढ़े-सात मील क्षेत्र के अन्दर सरकार विरोधी कार्यों में लगे हुए समस्त व्यक्तियों को निष्कासित करने का अधिकार प्राप्त हो गया था। इस अध्यादेश के फलस्वरूप लगभग ६०० व्यक्तियों को बाहर निकाल दिया गया। यह आन्दोलन तब बाहर के क्षेत्रों में भी फैल गया। इस बीच में इतो (Ito) अपने उस पुराने साथी ओकूमा (Okuma) को विदेश मन्त्री के रूप में सरकार में सम्मिलित कराने में सफल हो गया था जिनके साथ १८८१ में उसने राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिया था। "आने वाली सरकार में जिसका मुखिया कुर्डो (Kurdo) था, ओकूमा (Okuma) मन्त्रिमण्डल का मुख्य आधार बन गया और यदि वह उस पर छाया हुआ नहीं था तो वास्तव में नेतृत्व वह उसका अवश्य करने लग पड़ा था।"

१८८६ में मीजी संविधान के लागू होने के तुरन्त पश्चात् प्रधान मन्त्री कुराडो (Kurado) ने वरिष्ठ दल (Supraparty) की सरकार के सिद्धान्त में अपने विश्वास

की घोषणा कर दी और उसका समर्थन इतो (Ito) द्वारा किया गया जो उस समय प्रिवि परिषद् का प्रधान था। प्रधान मन्त्री ने इनोइ (Inoue), गातो (Gato) और इतागोकी (Itagoki) को अपनी ओर मिलाने में सफलता प्राप्त कर ली और वे सब के सब मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित कर लिए गए। चितोशी यनागा (Chitoshi Yanaga) का कथन है कि, "ये समस्त राजनीतिक नेता उदार सिद्धान्त और लोकप्रिय अधिकारों के पक्ष का पोषण करते हुए शासक अल्पतन्त्र के विरुद्ध संघर्ष करते रहे थे। किन्तु पर्याप्त प्रतिष्ठा प्रदान करने वाले सरकारी पदों द्वारा लुभाए जाने पर उन्होंने अपनी लड़ाई छोड़ दी और वे प्रसन्नता से उन लोगों से जाकर मिल गए जिनके पास सत्ता थी। उत्तरदायी सरकार के आदर्शों के प्रति अथवा राजनीतिक दलों के प्रति भी उनकी निष्ठा न केवल कमजोर और व्यावहारिक थी अपितु सरलता से खरीदी जाने वाली थी।[1] १८९० तक जापान में राजनीतिक दलों की यही प्रकृति रही।

जब १८९४ में चीन-जापान युद्ध प्रारम्भ हो गया तब सरकार के विरुद्ध विरोध बिल्कुल समाप्त हो गया। परन्तु युद्ध-समाप्ति के शीघ्र बाद ही दो मुख्य विरोधी दलों ने इस बात का अनुभव किया कि "वर्षों तक सरकार द्वारा उन्हें छला गया था, खरीदा गया था और शोषित किया गया था और अब यह आवश्यक था कि वे एक-दूसरे के साथ अपने व्यर्थ के और हानिकारक संघर्ष का त्याग कर दें और अपने सामान्य राजनीतिक शत्रु के विरुद्ध लड़ाई करने में एक-दूसरे के साथ मिल जाएँ। यह शत्रु सतसुमाचोशु गुट (Satsuma-Choshu-clique) था जिसके नियन्त्रण में सरकार थी।"[2] १८९८ मे उन्होंने एक नए दल की नींव डाली जो Liberal और Progressive दल के निष्क्रिय सदस्यों से मिलकर बना था।

शताब्दी की समाप्ति के आस-पास राजनीतिक दलों के अभ्युदय में एक अन्य नाटकीय विकास हुआ। राजकुमार इतो (Prince Ito) जो अभी तक राजनीतिक दलों का कड़ा विरोध करता चला आ रहा था, अचानक ही उनका समर्थक बन गया। उसने घोषणा की कि अच्छी और कुशल सरकार बनने के लिए राजनीतिक दलों की स्थिति अत्यन्त आवश्यक है और तदनुसार १९०० में उसने Association of Political Parties नामक एक दल की नींव डाली। १९१३ तक जो लोग Progressive दल से सम्बद्ध रहे थे अभी तक किसी अन्य दल को बनाने के लिए पुनः इकट्ठे नहीं हुए थे। वे मिले-जुले दल बनाकर ही [illegible] रहे थे। केवल १९१३ और १९२५ के बीच ही संवैधानिक संघ (Constitutional Association) का संगठन किया गया था जिसे वयोवृद्ध राजनीतिज्ञों और व्यापारी नेताओं का समर्थन प्राप्त था और जो संवैधानिक सरकार की व्यवस्था का समर्थन करता था। विश्व-युद्ध ने जापानियों के ऊपर लोकतान्त्रिक संस्थाओं के पक्ष में प्रभाव डाला था और ऐसा लगता था कि १९२८ तक जापान में [illegible]

1. *Japanese People and Politics*, p. [illegible]
2. *Ibid.*

सरकार स्थापित कर दी जायेगी। कातो ताकाकीरा (Kato Takakira) से लेकर, जो सवधानिक सघ का प्रधान था, इनुकी त्सुयोशी (Inuki Tsuyoshi) की १९३२ मे की गई हत्या तक, दल के नेता ही सरकार बनाते रहे। हां, जनरल तानाका गीची (General Tanaka Gichi) ने इस बीच में एक बार सरकार अवश्य बनाई थी।

इस काल का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण यह भी था कि राजनीतिक दल जाइबात्सु (Zaibatsu) नामक बडे औद्योगिक गुटो पर अत्यधिक निर्भर रहते थे जो उन्हें चुनाव लड़ने के लिए धन देता था। साथ ही कुछ एक बड़े व्यापारी सरकार का समर्थन प्राप्त करने के लिए विरोधी दलों का समर्थन करते थे और इस बात की कोई परवाह नहीं करते थे कि कौन-सा दल सत्तारूढ़ बनेगा। दलों और जाइबात्सु (Zaibatsu) के बीच इस मित्रता ने स्वाभाविक तौर पर जनता मे यह सन्देह पैदा कर दिया था कि सरकार का रवैया बड़े व्यापारियों के हितों मे पक्षपातपूर्ण था, और यह सन्देह संसद् (Diet) में अकसर लगाए गए घूसखोरी और भ्रष्टाचार के आरोपों द्वारा पुष्ट हुआ सा प्रतीत होता था, जो आरोप, मुख्यतया, उस समय वर्तमान विरोधी दल द्वारा लगाए जाते थे।"

बडे नगरों की संख्या में वृद्धि और उद्योगों का स्थानसीमन (localisation), श्रम संगठनो का निर्माण, शिक्षा का प्रचार, सफेदपोश श्रेणी के लोगों मे वृद्धि आदि कुछ अन्य कारण भी थे जिन्होने जापानी लोगों मे राजनीतिक चेतना पैदा कर दी थी और वे अब मताधिकार में वृद्धि और परिणामस्वरूप मतदान करने के अधिकार की मांग करते थे। किन्तु जैसा कि विरोधाभास प्रतीत होता था अधिकाश जापानी नेता निर्वाचकगण की वृद्धि करने के लिए अनमने से लगते थे। अधिकार-तन्त्री (bureaucrats) लोग भी इसको अपशकुन सूचक बात समझते थे। वे सोचते थे कि निर्वाचकवर्ग की वृद्धि से सामाजिक अस्थिरता पैदा हो जायगी जो देश और उसके निवासियों की उन्नति तथा विकास के लिए अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होगी। किन्तु अब बहुत देर तक जनता की मांग का प्रतिरोध नही किया जा सकता था और १९२५ में समस्त २५ वर्षीय और उससे अधिक आयु वाले जापानी पुरुषों को मत का अधिकार दे दिया गया।

किन्तु मताधिकार में विस्तार लाने के साथ ही संसद् (Diet) ने शान्ति-परिरक्षण कानून (Peace Preservation Law) पारित कर दिया जो उन लोगों के लिए दस वर्ष की सजा का विधान करता था जो सविधान में, सम्राट् नामक संस्था में, और निजी सम्पत्ति के स्वामित्व मे परिवर्तन करने का समर्थन करने वाली गोष्ठियो और सगठनों का सदस्य बनने के अपराधी हों। जो भी हो इस दण्डात्मक व्यवस्थापन ने उन्मूलनवादी (radical) दलों को बढने से नही रोका। समानता तथा सर्वसाधारण के अधिकतम कल्याण को लक्ष्य बना कर १९२५ मे कृषक-मजदूर दल (farmer-labour party) की स्थापना की गई। पीछे १८९२ में, जापान में समाजवाद ने प्रवेश पा लिया था और ऐसा तब हुआ था जब Liberal दल के

उन्मूलनवादी पक्ष ने अलग होकर Oriental Liberal दल की स्थापना कर ली थी। भिन्न-भिन्न नाम वाले समाजवादी दलो की जीवन-यात्रा में अनेक उथल-पुथल होने के बाद १९२२ में जापान में साम्यवादी दल ने प्रवेश पा लिया था। १९२३ में उस पर प्रतिबन्ध लग गया था, परन्तु १९२७ मे उसे फिर जीवित किया गया पर साथ ही १९२८ मे उसका बड़ी कठोरता से दमन भी किया गया और १९३२ तक उसके केन्द्रीय नेतृत्व को एकदम नष्ट कर दिया गया।

इस तथ्य के बावजूद भी कि भले ही इस समय के बीच Anarchist और Syndicalist समूहों समेत कई प्रकार के समाजवादी दल आए और चले गए थे किन्तु उन्होंने श्रमिक श्रेणी के ऊपर एक अमिट छाप छोड़ दी थी। वे मतदाताओं को अपनी ओर करने में मुख्यतया इस कारण असफल रहे कि एक तो उनमें आपसी आन्तरिक संघर्ष था और दूसरे सरकार का दमन चक्र चलता था। सार्वभौम पुंस्त्व मताधिकार के आधार पर सबसे पहले हुए १९२८ के चुनावों मे चार समाजवादी दलों ने यद्यपि ८८ उम्मीदवारों को खड़ा किया था परन्तु प्रतिनिधि सदन में वे केवल ८ स्थानों पर ही कब्जा कर सके। उसके पश्चात् वे निर्वाचकगण के इस नगण्य समर्थन को भी प्राप्त करने में असफल रहे और १९३० तक उन्हें बड़ा भारी धक्का लग चुका था।

परिवर्तन पसन्द न करने वाले दलों (Conservative) में भी आपस में बडी गम्भीर दलबन्दी थी। तदनुसार, उन्हें भी निर्वाचकगण की ओर से न तो युक्तियुक्त आदर प्राप्त था और न निरन्तर समर्थन ही। उनमे से किसी भी दल का कोई स्पष्ट और निश्चित कार्यक्रम नही था। संसद् (Diet) के प्रति उत्तरदायित्व के अभाव ने सरकार को अनुत्तरदायी बना दिया था और सदस्यो के पास सरकार को नियन्त्रण मे रखने के कोई प्रभावशाली साधन भी नही थे। अतः, सैन्यवादियों (Militarists) ने अवसर को हाथ से न जाने दिया। आर्थिक संकट द्वारा पैदा हुई आपत्ति, देश मे फैला हुआ राजनीतिक सकट, और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राजनयिक असफलताएँ इन सबके लिए उन्होने राजनीतिक दलो के निन्दनीय व्यवहार को और राजनीतिज्ञों को दोषी ठहराया। लोगों का भी विश्वास अब राजनीतिक दलों की इस योग्यता तथा सच्चाई में उठ गया था कि वे देश के सम्मुख उपस्थित राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ को हल कर सकते हैं। १९३२ में दल द्वारा किए गए शासन का अन्त हो गया। सैन्यवादियों ने जो अब सत्तारूढ़ हो चुके थे, इस प्रकार का दबाव डाला कि अन्ततोगत्वा १९४० में सब राजनीतिक दल पूर्णरूपेण बाहर हो गए। १९४० से १९४५ तक देश में शाही शासन सहायक संघ (Imperial Rule Assistance Association) नामक केवल एक ही निकाय विद्यमान रहा जिसे "अधिकेन्द्रित (totalitarian) दल का हल्का सस्करण भी कहा जा सकता था।"

युद्धोत्तर राजनीतिक दल

(Post-War Political Parties)

राजनीतिक दलों का पुनरुदय (Re-appearance of political parties)—लगभग १५ साल तक राष्ट्रीय रंगमंच से राजनीतिक दलों के हटे रहने के बाद १९४५ में वे उस समय फिर प्रादुर्भूत हुए जिस समय लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति को स्थापित करने की भूमिका के फलस्वरूप अधिकार करने वाले अधिकारियों (Occupation Authorities) ने ४ अक्तूबर, १९४५ को राजनीतिक, नागरिक और धार्मिक स्वतन्त्रताओं से प्रतिबन्ध हटाने के लिए एक आदेश निकाला था। जापानी शासन को कानून, निदेशों, आज्ञाओं, अध्यादेशों और विनियमों के उन समस्त उपबन्धों के लागू होने को समाप्त करने की आज्ञा दी गई जो विचार, धर्म, सभा, भाषण और समाचारपत्र की स्वतन्त्रताओं पर प्रतिबन्ध लगाते थे। इस निदेश ने जापानी सरकार को समस्त राजनीतिक कैदी छोड़ने के लिए भी आज्ञा दी थी। एक सप्ताह के बाद जनरल मैकार्थर (General MacArthur) ने यह भी इच्छा प्रकट की कि सरकार, यथाशक्य शीघ्रता से स्त्रियों को मताधिकार देकर दासत्व से मुक्ति दिलाए, श्रम संगठनों के निर्माण को बढ़ावा दे और आर्थिक संस्थाओं को लोकतन्त्रीय बनाने का प्रयास करे।

यह निदेश राजनीतिक क्रिया-कलापों को फिर से प्रारम्भ करने के लिए हरी झण्डी सिद्ध हुआ और परिणामतः राजनीतिक दलों का पुनरुदय हो गया। अप्रैल १९४६ में हुए प्रथम आम चुनावों में २६० दलों ने भाग लिया था और इनमें कोड़ियों वे संगठन सम्मिलित नहीं थे जिनकी गिनती राजनीतिक दलों में नहीं की जा सकती थी। बरसाती छत्तों या कुकुरमुत्तों के समान दलों की इस वृद्धि के पश्चात् केवल चार राजनीतिक दलों ने अन्त में जाकर अपनी स्थिरता को बनाए रखा। वे दल थे, Liberal दल, Progressive दल (दोनों ही दल अपने आकर्षक नाम के बावजूद भी परिवर्तन पसन्द करने वाले नहीं थे), Social Democratic दल और जापान साम्यवादी (Communist) दल। १९५५ में लिबरल और प्रोग्रेसिव दल दोनों ने मिलकर एक नये दल का रूप ले लिया और नए दल का नाम लिबरल डैमोक्रैटिक दल (Liberal Democratic Party) रखा गया। उन समाजवादियों के इस पुनरेकीकरण ने, जो समाजवादी सदा आपस में धुंआधार संघर्ष में लगे रहते थे, परिवर्तन पसन्द न करने वालों (conservatives) को भी अपने भविष्य के बारे में चेतन कर दिया। इस प्रकार १९५५ में एक ऐसी वस्तु का जन्म हुआ जिसे हम औपचारिक द्विदल पद्धति के नाम से वर्णित कर सकते थे। किन्तु समाजवादियों का यह एकीकरण केवल अस्थायी ही था। उसमें फिर दलबन्दी सम्बन्धी अलगाव पैदा हो गया और १९५९ में Socialist Democratic दल दो पृथक् दलों में विभक्त हो गया—Socialist दल (पुराना वाम पक्ष), और Democratic Socialist दल। निम्न-

लिखित तालिका २६ दिसम्बर, १९६० और २० दिसम्बर १९६३ में हुए चुनावों में प्रतिनिधि सदन[1] मे दल-स्थिति को दिखाने वाली है।

दल	२६ दिसम्बर १९६०	दल	२० दिसम्बर १९६३
Liberal Democratic दल	३०१	Liberal Democratic दल	२९४
Democratic Socialist दल	१६	Democratic Socialist दल	२३
Socialist दल	१४४	Socialist दल	१४४
Communist दल	३	Communist दल.	५
स्वतन्त्र	३	स्वतन्त्र	१
योग	४६७	योग	४६७

पार्षद सदन (House of Councillors) मे ४ जुलाई, १९६५[2] को हुए चुनावों के बाद दल स्थिति इस प्रकार थी :—

दल	प्राप्त स्थानों की संख्या
Liberal Democratic दल	१४०
जापान Socialist दल	७३
कोमीतो (Komeito) दल	२०
Democratic Socialist दल	७
जापान Communist दल	४
Daini-in club	०[3]
स्वतन्त्र	५
योग	२४९ (एक स्थान रिक्त है।)

1. *Statistical Hand-Book of Japan*, 1964, p. 106.
2. *Information Bulletin*, Embassy of Japan, August 1, 1965.
3. चुनाव से पूर्व ४ जुलाई, १९६५ को इस दल की ४ सीटें थीं।

जापानी दल प्रणाली की विशेषताएं (Characteristics of the Japanese Party System)—जापानी दल प्रणाली की कुछ खास विशेषताएं इस प्रकार हैं :—

(१) मीजी (Meiji) संविधान ने द्विसदनात्मक (Bicameral) विधानमण्डल की स्थापना की थी। यद्यपि प्रतिनिधि सदन प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता था तथापि इसके द्वारा मन्त्रिमण्डल प्रणाली की सरकार की स्थापना नहीं की गई थी। इसने केवल उसे विचारा ही था। १६०० में जब राजकुमार इतो ने दल निर्मित सरकार बनाने का राजनीतिक लाभ अनुभव किया था और यह घोषित कर दिया था कि संविधान कहीं भी दल निर्मित सरकार बनाने की मनाही नहीं करता तो उस समय राजनीतिक दलों ने देश के प्रशासन में पक्की जड़ें पकड़ ली थीं। १६२४ से लेकर १६३२ तक दल नेता ही सरकार बनाते रहे।

१६४७ के संविधान ने स्पष्टतया संसदीय प्रणाली की सरकार की स्थापना की है। सम्राट् (Emperor) राज्य का प्रतीक है और मन्त्रिमण्डल में कार्यपालिका शक्ति निहित की गई है। संविधान के अनुसार यह आवश्यक है कि प्रधान मन्त्री जो मन्त्रिमण्डल का मुखिया होता है, डायट (Diet) के सदस्यों में से ही नामोद्दिष्ट किया जाना चाहिए और मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित मन्त्रियों की बहुसंख्या भी डायट (Diet) के सदस्यों में से चुनी जानी चाहिए। संविधान इस बात का भी विधान करता है कि मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से डायट (Diet) के प्रति उत्तरदायी है और डायट (Diet) का विघटन भी हो सकता है। ये सब बातें दल निर्मित सरकार का लक्षण हैं जिसे एक इकाई के रूप में पदारूढ़ होना चाहिए और एक इकाई के रूप में पदत्याग करना चाहिए। मन्त्रिमण्डल का स्वरूप खिलाड़ियों की एक टीम के समान है जो प्रधान मन्त्री के नायकत्व के अधीन राजनीति रूपी खेल खेलते हैं। एक संयुक्त मोर्चे को प्रस्तुत करने के लिए वे एक साथ तैरते और डूबते हैं। अतएव, समानरूपता उनके अस्तित्व का सार है और मतैक्यता उनके पदारूढ़ रहने में स्थिरता सुनिश्चित करती है। इस रूप में दल प्रणाली मन्त्रिमण्डल सरकार का आधार होती है। इतना होने पर भी संविधान किसी भी स्थान पर दल प्रणाली का उल्लेख नहीं करता। जापान में भी यह उसी प्रकार संविधान से बाहर की वस्तु है जैसा कि संसदीय प्रणाली की सरकार रखने वाले अन्य लोकतन्त्रीय देशों में देखने को मिलता है।

(२) इस प्रकार की प्रणाली की सरकार द्वारा सुचारु रूप से कार्य करने के लिए यह बात वाञ्छित है कि द्विदल प्रणाली विद्यमान हो—एक तो पदारूढ़ होना चाहिए और दूसरे को विरोध में। परन्तु जापानी राजनीति में जो वस्तु विघ का

काम करती है, वह राजनीतिक दलों की बहुलता है। युद्ध पूर्वकाल में एक समय ३६० दल थे और जब १६४७ का संविधान लागू हुआ तो उस समय दलों की संख्या २६० से अधिक थी। वास्तव में उन्हें राजनीतिक दल के नाम से पुकारना ठीक नहीं था। वे तो केवल विविध समूह और समुदाय थे और जापानी चरित्र के विविध लक्षणों के परिणाम थे। राष्ट्रों की आदतें व्यक्तियों की आदतों के समान बहुत कम नष्ट होती हैं और बहुल दल प्रणाली पहले की तरह अब भी वर्तमान है जो देश के राजनीतिक जीवन में अत्यधिक जटिलता पैदा कर रही है।

(३) दलों के अलगाव और विलयन की घटनाएं जापान के दलों का एक नियत लक्षण है। विविधता और नवीनता के प्रति रुचि जापानियों को प्रभावित करती रहती है और ये दोनों बातें अलगाव की वृद्धि और दलों की संख्या में बाहुल्य का निरन्तर कारण बनी हुई हैं। "यदि सब नहीं तो इस प्रकार के अधिकांश सविलयन बेमेल समूहों द्वारा लाभ के लिए किए गए होते हैं और इन्हें सुविधा का विवाह कहा जा सकता है। यहाँ तक कि वे सदस्य जो किसी दल और खपची-दलों (Splinter parties) को छोड़कर चले गये थे वे फिर बिना किसी झमेले के दलों में वापस प्रविष्ट करा लिए गए हैं। राजनीतिक दल बड़ी सरलता से अपना नाम बदल देते हैं और ऐसा वे बिना अपनी नीतियों में परिवर्तन किए कर लेते हैं। कभी-कभी यह नाम परिवर्तन प्राय. नए मोहित किए गए सदस्यों को केवल अनुग्रहीत करने के लिए ही किया जाता है या केवल मनोवैज्ञानिक प्रभाव और छल पैदा करने के लिए किया जाता है कि दल फिर से नया कार्य आरम्भ कर रहा है।"[1]

(४) संविलयन की यह प्रक्रिया १६५५ में प्रमुख रूप से सामने आई जब अपरिवर्तनशीलों (Conservatives) और समाजवादियों दोनों ने अपने सदस्यों को समेट लिया और दो भिन्न राजनीतिक दल बना लिए। कुछ आशावादियों ने उत्सुकता से यह भविष्यवाणी की कि जापान में द्विदल पद्धति अब अन्तिम रूप में स्थापित कर दी गई थी। परन्तु दल-बन्दी ने शीघ्र ही समाजवादियों की एकता को भंग करना प्रारम्भ कर दिया और केवल चार वर्ष की थोड़े समय की सन्धि के बाद वे फिर बँट गए और उन्होंने दो पृथक् दल बना लिए। लिबरल डैमोक्रैटिक (Liberal Democratic) दल निःसन्देह, अभी तक संयुक्त बना हुआ है और १६५५ से यह शासक दल भी है, परन्तु अपरिवर्तनशीलो (Conservatives) में अब भी पहले के समान आन्तरिक झगड़े तीव्रता से फैले हुए हैं। वास्तव में अपरिवर्तनशील और समाजवादी दोनों ही "दलबन्दियों का समूह" (Congeries of factions) हैं और यदि पश्चात्कथित पृथक् हो गए हैं तो पूर्वकथित केवल इसीलिए संयुक्त रह रहे हैं क्योंकि इसमें राजनीतिक लाभ है। यदि वे पृथक् हो जाएं तो शासक के रूप में उनकी स्थिति नष्ट हो जायगी।

1. Chitoshi Yanaga, *Japanese People and Politics*, p. 239.

"जो भी हो, इस बात की भविष्यवाणी करना संशयपूर्ण होगा कि इस प्रकार की स्थिति अनिश्चित काल तक बनी रहेगी। १९५५ से यद्यपि यह स्थिति बनी हुई है, किन्तु हमे यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि जापान में ये वर्ष अप्रत्याशित सम्पन्नता और राष्ट्रीय संकट से मुक्त रहने के रहे हैं।"

(५) जापान के कोई भी दल जन संगठन के नहीं हैं। वे अधिकांशतः पेशेवर राजनीतिज्ञो के सघ हैं जिनके क्रिया-कलाप टोक्यो (Tokyo) में केन्द्रित हैं। वे पेशेवर राजनीतिज्ञो और प्रशासकों के चुने हुए समूह मे से कार्य करते है और उनके ध्यान का मुख्य केन्द्र प्रतिनिधि सदन होता है जो वास्तव में प्रधान मन्त्री का नामोद्देशन करता है और जिसमे से मन्त्रियो की बहुसख्या ली जाती है। वे बहुत कम अपने निर्वाचन क्षेत्रो मे उनको पुष्ट करने के लिए और लोगों का नेतृत्व करने के लिए जाते है। हो सकता है कि वहाँ कुछ एक बिखरे हुए मण्डल सम्बन्धी और स्थानीय दल कार्यालय हों परन्तु उनकी देन इन मूल दल-कार्यालयों के लिए नगण्य होती है। समस्त महत्त्वपूर्ण कार्य दल के मुख्य कार्यालय में किया जाता है। राजनीतिक दलों की संसद्-केन्द्रित प्रकृति उन्हें आवश्यक तौर पर संसदीय दलो का रूप प्रदान करती है। इस बात मे जापान फ्रांस के निकट आ जाता है।

(६) जापान की दल प्रणाली की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता सेवा मे लगे हुए और अवकाश-प्राप्त अधिकारियो का धीरे-धीरे दलों में और संसद् (Diet) मे प्रवेश प्राप्त करना है। जापान मे भली प्रकार मान्य एक राजनीतिक सूत्र यह भी है कि यदि राजनीतिक जीवन चलन प्रारम्भ करना हो तो असैनिक सेवा में प्रवेश प्राप्त करना चाहिए। कोई असैनिक सेवक (Civil Servant) जो मन्त्री बनने की महत्त्वाकाक्षा रखता हो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह किसी समय डायट (Diet) के स्थान के लिए चुनाव लड़े। "लगभग १९४९ से लेकर परिवर्तन पसंद न करने वाले दलो मे भूतपूर्व-अधिकारतन्त्रियों (ex-bureaucrats) की संख्या पर्याप्त मात्रा में बढ़ गई है और हाल ही के सालों मे वे Liberal Democratic दल से सम्बद्ध प्रतिनिधि सदन के सदस्यों के एक-चौथाई भाग का प्रतिनिधित्व करने लगे हैं।"[1] १९५७ और १९६० के बीच बनाए गए चार मन्त्रिमण्डलों में भूतपूर्व अधिकारियों के पास मन्त्रिमण्डल के लगभग आधे स्थान थे। युद्धोत्तर काल के प्रधान मन्त्रियों में से अधिकांश वे थे जिन्होने बड़े लम्बे समय तक असैनिक सेवा की थी, जैसे कि Shidehara, Yoshida, Ashida, Kishi और Ikeda. इसका परिणाम यह हुआ कि "जापानी राजनीति एक प्रकार के अधिकारतन्त्रीकरण (bureaucratization) के प्रभाव में आ गई है और इस कारण डायट में दल के क्रिया-कलापों का केन्द्रीयकरण हो गया है जिसने संसद् (Diet) के बाहर दल की शाखा के महत्व और कार्यभाग को भुला दिया है।

1. Kahin, George McT., *Major Governments of Asia*, p. 232.

(७) जापानी राजनीति में स्थानीयतावाद अब भी एक शक्तिशाली कारक है। निर्वाचक आम तौर पर उस उम्मीदवार अर्थात् प्रत्याशी के लिए मतदान करना पसन्द करते हैं जो उनसे सम्बन्ध रखता हो न कि दल और उसके कार्यक्रम के लिए। "मित्र और पड़ोसी" का सिद्धान्त मतदाताओं की पसन्द का निर्धारण करता है और निर्वाचकीय व्यवहार का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जो प्रत्याशी अत्यन्त पास मे रहने वाला है उसके द्वारा ही स्थानीय हितों का सबसे अच्छी तरह प्रतिनिधित्व किए जाने की सम्भावना है।

(८) जो भी हो, जापान के लिए यह श्रेय की बात है कि राजनीतिक दलों के सगठन का आधार धर्म द्वारा विहित नही किया गया है। वहाँ न तो धार्मिक गुट हैं और न धर्म-प्रधान दल हैं। वहाँ राजनीति का असम्प्रदायीकरण है और राजनीतिज्ञ राजनीतिक उद्देश्य से धर्म का प्रयोग नही करते।

दल और नीतियाँ
(Parties and Policies)

लिबरल डैमोक्रेटिक दल (Liberal Democratic Party)—सत्तारूढ़ Liberal Democratic दल की स्थापना १९५५ मे हुई थी जो परिवर्तन पसन्द न करने वाले वर्गो के सविलयन का परिणाम था। लिबरल दल और डैमोक्रेटिक दल (पहले का Progressive दल) समाजवादियो (Socialists) की एकता का प्रतिकार करने के लिए सयुक्त हुआ था। लिबरल डैमोक्रेटिक (Liberal Democratic) दल जिन उद्देश्यो को लेकर बना है वे ये है : जन प्रभुता के सिद्धान्त की रक्षा, व्यक्ति की योग्यता और गौरव के लिए आदर और उनका रक्षण, इसके साथ ही उसके अधिकारो और उसकी स्वतन्त्रताओं का रक्षण, स्वच्छ शासन, सम्राट् के राज्य का प्रतीक होने के स्थान पर उसकी स्थिति और प्रास्थिति को ऊँचा उठाने की दृष्टि से संविधान का दुहराया जाना, देश की प्रतिरक्षा के अधिकार का पुनः स्थापन, आत्म-रक्षा के लिए सीमित दुबारा शस्त्रीकरण, शैक्षणिक तथा तकनीकी विकास, विदेशी व्यापार मे विस्तार और नियोजित औद्योगिक उन्नति, औद्योगिक शांति और श्रमिकों का कल्याण तथा अधिक विस्तृत आधार पर सामाजिक सुरक्षा का प्रयोग, सयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations) के साथ निकटता से सम्बद्ध राजनयिकता जो एशिया को शेष संसार के अधिक निकट ला देगी, स्वतन्त्र विश्व के साथ सहयोग और विशेषतया संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ; चीन के जनवादी गणराज्य और सोवियत रूस के साथ सम्बन्धो को आम दिनो जैसा बनाने की दिशा मे सँभल कर कदम उठाना।

यह दल अपने आपको राष्ट्रीय दल के रूप में देखता है और जनता के हर वर्ग के लोगों से समर्थन प्राप्त करना चाहता है। परन्तु इस दल को केवल ग्रामीय समुदायों तथा सरकारी अभिकरणो मे उच्चस्तरीय प्रशासनीय सेविवर्ग और निगम कार्यपालकों का ही भारी समर्थन प्राप्त है। दल का मुखिया एक प्रधान (President)

होता है जो दल की कान्फ्रेंस द्वारा चुना जाता है जिसमें डायट (Diet) के दोनों सदनों के दल गत सदस्य और दल की प्रशासनिक क्षेत्र शाखाओं (prefectural branches) द्वारा चुने गए प्रतिनिधि सम्मिलित किए जाते है। दल के अन्य महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियों के नाम इस प्रकार है : महासचिव (Secretary General), निष्पादक बोर्ड (Executive Board) का सभापति (chairman), तथा राजनीतिक शोध समिति (Political Research Committee), राष्ट्रीय संगठन समिति (National Organization Committee) और दल अनुशासन समिति (Party Discipline Committee) के सभापति (Chairmen)। दल का मुख्य कार्यालय टोक्यो (Tokyo) मे है और यहाँ पर ही दल का अधिकांश कार्य किया जाता है। वास्तव में, अधिकांश नीति सम्बन्धी निर्णय के उद्देश्यों के लिए और दैनिक काम-काज के लिए दल मे उसके उच्च पदाधिकारी पूर्णरूप मे उन पर नियन्त्रण रखते हैं और जो आम तौर पर टोक्यो (Tokyo) के ही रहने वाले होते हैं, हालांकि अन्तिम सत्ता दल कान्फ्रेन्स अथवा कांग्रेस के ही पास होती है। दल का दावा है कि उसकी कुल पंजीकृत सदस्यसंख्या लगभग १,५००,००० है, किन्तु अमरीकी टीकाकारों का अनुमान है कि यह संख्या ३००,०००[1] सदस्यों के आस-पास है।

लिबरल डेमोक्रेटिक दल के हाथ मे १९५५ से सत्ता आई हुई है और चूंकि समाजवादी आपस मे बंटे हुए है अतएव Liberal Democratic दल को पद से वियुक्त किए जाने की कोई सम्भावना नही है। किन्तु यह दल स्वयं कई दल-बन्दियो के कारण फटा हुआ है और ऐसा अनुमान किया जाता है कि वर्तमान में दल के अन्दर १३ गुट[2] हैं और प्रत्येक के प्रतिनिधि सदन मे अपने-अपने अनुयायी हैं। रॉबर्ट ई० वार्ड (Robert E. Ward) के शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि "अतएव, Liberal Democratic दल के ठीक-ठीक नेतृत्व का वर्णन किया जाना कठिन बात है। बाह्य तौर पर दल का नेतृत्व उसका प्रधान (President) करता है जिसे चूंकि यह आम तौर पर बहुसंख्यक दल होता है, जापान का प्रधान मन्त्री बनने के लिए भी उद्यत रहना पडता है। किन्तु यदि हम अधिक निकटता से देखें तो हमे शीघ्र पता चल जाता है कि लिबरल डेमोक्रेटिक दल का वास्तव मे कोई एक नेता नही है। वस्तुतः इसको गुटो के एक शिथिल सम्मिश्रण के रूप मे देखना ही कई दृष्टियो से अधिक उचित होगा, जो गुट संयुक्त राष्ट्रीय दल बनने की अपेक्षा आन्दोलन करने और विधायी कूटचाल चलने के उद्देश्य से ही संयुक्त हुए है।[3]

---

1. Ward and Macridis (Editors), *Modern Political Systems: Asia*, p. 72. Also refer to Robert A. Scalapino and Junnosuke Masumi, *Parties and Politics in Contemporary Japan*, pp. 83-85.
2. Theodore McNelly, *Contemporary Government of Japan*, p 122.
3. Ward and Macridis (Editors), *Modern Political Systems : Asia* p. 73.

जापान समाजवादी दल (Japan Socialist Party) –श्री मोसाबुरे सुजुकी (Mr. Mosabure Suzuki) की प्रधानता के अधीन १९४५ में समाजवादी (Socialist) दल की स्थापना हुई। यह दल वर्षों से फूट हुए समाजवादी वाम और दक्षिण पक्षों के पुनर्मिलन का परिणाम था। किन्तु १९५९ में वे पुनः पृथक् हो गए और २४ जनवरी, १९६० को समाजवादी दल के निम्नमतावलम्बी दक्षिणपंथी सदस्यों द्वारा डेमोक्रेटिक सोशलिस्ट दल (Democratic Socialist Party) की स्थापना की गई। जापानी समाजवादी दल डायट (संसद्) का दूसरा सबसे बड़ा विधायी दल है जिसकी प्रतिनिधि सदन[1] में सदस्य संख्या १४४ है और पार्षद सदन[2] में ७३। समाजवादी दल के सत्तारूढ़ होने के अवसर बहुत कम है और इसे अनेक आने वाले वर्षों के लिए विरोधी पक्ष का कार्यभाग करना पड़ेगा।

समाजवादी दल की मंच नीति को इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है: जापान के विदेशी सम्बन्धों को पुनर्व्यवस्था जिसके अनुसार जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ समेत सामूहिक अनाक्रमण और परस्पर सुरक्षा प्रणाली की स्थापना पर बल प्रदान किया गया हो, वर्तमान सुरक्षा सेनाओं का सैन्य-वियोजन और लोकतन्त्रीय राष्ट्रीय पुलिस की रचना, लोकतन्त्र की स्थापना और कल्याणकारी और सांस्कृतिक राज्य की रचना के लिए प्रमुख औद्योगिक और आर्थिक संस्थाओं का समाजवादीकरण, स्वय-पोषित आर्थिक व्यवस्था की प्राप्ति और बेकारों को खपाने के लिए भूमि का विकास। यह दल अपने उद्देश्य को शान्तिपूर्ण क्रान्ति द्वारा प्राप्त करने का लक्ष्य रखता है। अर्थात् वे लोकतन्त्रीय रूपों के अनुसार डायट (Diet) में पूर्ण बहुमत प्राप्त कर ऐसा करना चाहते है। सर्वप्रथम एक समाजवादी प्रशासन स्थापित किया जायेगा और फिर पूंजीपति समाज धीरे-धीरे समाजवादी समाज में परिवर्तित किया जायेगा।

यह दल, वर्ग-समूह दल होने का दावा करता है जिसका केन्द्र श्रमिक वर्ग, और कठिन परिश्रम करने वालों का संघ है जो कृषकों, मछुओं, छोटे और मध्यम दर्जे के व्यापारी और औद्योगिक व्यवसायी, बुद्धिजीवी और बहुसंख्यक आम जनता के अन्य लोगों से मिल कर बना है। समाजवादी दल भी टोक्यो (Tokyo) में अत्यधिक केन्द्रित है जहाँ दल का एक बड़ा भारी मुख्य कार्यालय बना हुआ है। सब के शिखर पर राष्ट्रीय प्रसभा है जिसकी बैठक प्रतिवर्ष होती है और जो स्थानीय दल एककों और सम्बद्ध संगठनों के प्रतिनिधियों से मिलकर बनी हुई है। प्रसभा द्वारा केन्द्रीय कार्यपालक समिति (Central Executive Committee) का, उसके सभापति और महासचिव (Secretary General) का चुनाव होता है। यह प्रसभा नीति का अन्तिम स्रोत है और दल-मंच नीति की बातों को अपनाती है।

1. २० दिसम्बर, १९६३ के चुनावों के आधार पर
2. ४ जुलाई, १९६५ के चुनावों के आधार पर

डैमोक्रैटिक सोशलिस्ट दल (Democratic Socialist Party)—१९५५ में समाजवादियों के पुनरीकरण ने उन विचारधारा सम्बन्धी और व्यक्तिगत झगड़ों का अन्त नहीं किया था जिन्होंने जापान में समाजवादी आन्दोलन को प्रारम्भ से ही पीड़ित किया हुआ था। वे चार साल तक इकट्ठे रहे और आखिरकार १९५९ के अक्तूबर में वे उस समय अलग हो गए जब जापान समाजवादी दल के अन्दर निशिओ सुएहिरो (Nishio Suehiro) के नेतृत्व के नीचे रहने वाले एक समूह ने एक वक्तव्य निकाला कि, "जापान में ऐसे लोकतान्त्रिक समाजवादी दल की स्थापना के लिए आवश्यक अभिलाषा विद्यमान है जो दल, संसद्राजता (parliamentarianism) के सिद्धान्त पर टिका हुआ, चरम वामपन्थियों और दक्षिणपन्थियों, दोनों से ही संघर्ष करेगा और जो श्रम सगठनों का विशेष पक्ष अथवा पक्षपात किए बिना काम करने वाली जनता के समस्त भागों के सामान्य कल्याण को बढ़ावा देगा।" Nishio के नेतृत्व में रहने वाले Socialist Reconstruction League के सदस्य औपचारिक रूप से समाजवादी दल से पृथक् हो गए ताकि वास्तविक अर्थों में असली समाजवादी दल का सगठन किया जा सके। इस दल का असली जन्म २४ जनवरी, १९६० को हुआ और इसका नाम लोकतान्त्रिक समाजवादी दल (Democratic Socialist Party) रखा गया।

समाजवादियों के पृथक् होने के समय भिन्नमतावलम्बियों (dissidents) को प्रतिनिधि सदन के लगभग ३५ समाजवादी सदस्यों का समर्थन प्राप्त था और दिसम्बर १९६० के आम चुनावों से पूर्व यह संख्या बढ़ कर ४० हो गई थी। आम चुनावों में उनकी दशा अच्छी नहीं रही क्योंकि उन्हें केवल १७ ही स्थान मिल सके। दिसम्बर १९६३ के आम चुनावों में दल को २३ स्थान प्राप्त हो गए थे। Democratic Socialist दल का सगठन समाजवादी दल के संगठन से मिलता-जुलता है।

कार्यकारिणी समिति (Executive Committee) का सभापति दल का मुखिया होता है और साथ में महासचिव (Secretary General) होता है जो प्रशासन की देखरेख करता है। अन्तिम सत्ता दल कांग्रेस में ही निहित होती है।

लोकतान्त्रिक समाजवादी दल की नीति संक्षेप में निम्नलिखित है :

(१) दक्षिणपंथी और वामपंथी पूंजीवाद और अधिकेन्द्रितवाद (Totalitarianism) का विरोध;

(२) व्यक्ति के गौरव के प्रति आदर;

(३) स्वतन्त्र विदेश नीति का पालन; और

(४) नियोजित अर्थव्यवस्था और समाजवादी साधनों द्वारा कल्याणकारी राज्य की स्थापना।

साम्यवादी दल (Communist Party)—१९२२ में साम्यवादी दल का औपचारिक रूप से गठन किया गया था परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तक यह विधि-निषिद्ध संस्था बनी रही। इस दल ने १९४६ से लेकर समस्त आम चुनावों के अवसरों पर अपने उम्मीदवार खड़े किए है, परन्तु इसकी निर्वाचकीय और संसदीय सफलताएँ थोड़ी ही रही हैं। यह दल १९४९ में अपनी शक्ति के शिखर पर पहुँचा था जब उस वर्ष हुए आम चुनावों मे इसने कुल मतों के ५.६ प्रतिशत मत प्राप्त कर प्रतिनिधि सदन में ३५ स्थान प्राप्त कर लिए थे। १९६० के चुनावो मे इस दल को प्रतिनिधि सदन और पार्षद सदन दोनों सदनों में ३ स्थान प्राप्त हुए थे। १९६३ के चुनावों में साम्यवादी दल ने प्रतिनिधि सदन में ५ स्थान जीते थे और पार्षद सदन मे इस दल के पास अब ७ स्थान हैं। हाल ही में हुए एक सर्वेक्षण के अनुसार १९६० में साम्यवादी दल की सदस्यता लगभग ४७,०००[1] थी। जापान साम्यवादी दल के अन्दर सर्वोच्च सत्ता अखिल जापान दल कांग्रेस (All Japan Party Congress) के पास है। अब यह कांग्रेस प्रत्येक दो वर्ष के बाद बुलाई जाती है। कांग्रेस के लिए प्रतिनिधि दल-सदस्यों द्वारा अपने स्थानीय संगठनों के मार्फत चुने जाते हैं। कांग्रेस दल नीतियों का निर्माण करती है, शासित करने वाले विनियमो पर विचार-विमर्श करती है, और राजनीतिक कार्य के सिद्धान्तों का निर्माण करती है। चूँकि कांग्रेस नियमपूर्वक सभाएँ नहीं करती अतएव वास्तव मे वह नीति का सूत्रपात भी नही कर पाती। लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद का सिद्धान्त कठोरता से कार्य करता है। दल कांग्रेस केन्द्रीय समिति के सदस्यों और उम्मीदवारो को चुनती है। १९६१ मे ६० सदस्य और ३५ उम्मीदवार चुने गए थे। इसके अतिरिक्त ८ सदस्यों वाला एक केन्द्रीय समिति निदेशालय भी है। इस केन्द्रीय समिति की तीन मास मे कम-से-कम एक बार अवश्य बैठक होती है। केन्द्रीय समिति के सचिवालय मे दस सदस्य होते है जिसका प्रधान महासचिव (Secretary General) होता है। दल-कांग्रेस केन्द्रीय नियन्त्रण और निरीक्षण समिति (Central Control and Supervision Committee) का भी चुनाव करती है।

1. *Facts about Japan*, Public Information and Cultural Affairs Bureau, Ministry of Foreign Affairs, Japan.

अध्याय ७

स्थानीय शासन

(Local Government)

युद्धपूर्व काल में स्थानीय शासन (Pre-war Local Government)—मीजी (Meiji) पुनरुद्धार के शीघ्र बाद स्थानीय शासन की युद्धपूर्व प्रणाली स्थापित कर दी गई थी। उस समय देश २५० जागीरों मे बँटा हुआ था। उनको एक करके उनके स्थान पर प्रशासनिक क्षेत्र (prefectures) बना दिए गए थे। प्रशासनिक क्षेत्रों का प्रशासन करने के लिए शासक अथवा राज्याधिकारियों (Governors) की नियुक्ति की गई थी और इसे सम्राट् द्वारा सत्ता ग्रहण करने का प्रतीक माना गया था। इस बात का ध्यान रखा गया था कि किसी भी प्रशासनिक क्षेत्र (prefecture) का नाम सामन्तवादी युग के प्रान्तो के नाम पर न रहे। १८८८ और १८८६ में प्रथम शाही डायट (संसद्) के आहूत होने से पहले स्थानीय शासन से सम्बन्ध रखने वाले अनेक मौलिक कानून प्रवर्तित किए गए थे ताकि "डायट को स्थानीय शासन प्रणाली के निर्माण मे भाग लेने से रोका जा सके।"[1] इसका उद्देश्य यह था कि स्थानीय शासन पर जन-नियन्त्रण को रोका जा सके और केन्द्रीय सत्ता में स्थानीय शासन के मामलों के ऊपर शक्ति को केन्द्रित किया जा सके। परिणामस्वरूप, स्थानीय स्वायत्तता का सम्पर्क कमजोर पड़ गया था। प्रत्येक प्रशासनिक क्षेत्र का राज्याधिकारी अर्थात् शासक (Governor) गृहमन्त्री की सिफारिश पर सम्राट् द्वारा नियुक्त किया जाता था और शाही नियुक्ति (Appointee) के रूप मे वह टोक्यो में सरकार का आधिकारिक प्रवक्ता होता था। यद्यपि प्रत्येक प्रशासनिक क्षेत्र मे जनता द्वारा चुनी गई एक सभा होती थी जो शासक द्वारा प्रवर्तित आय-व्ययक पर विचार-विमर्श करती और मतदान करती, परन्तु सभा की शक्ति केवल मन्त्रणा तक सीमित थी "क्योकि गवर्नर या तो सभा पर छाया हुआ होता था अथवा सभा द्वारा अपनी इच्छाओं के अस्वीकृत किए जाने पर वह उसका उल्लंघन भी कर सकता था।" केन्द्रीय सरकार के मन्त्रालय विशेषत: गृह मन्त्रालय तथा वित्त मन्त्रालय, जिनका प्रशासनिक क्षेत्रीय मामलों से अत्यधिक सम्बन्ध रहता था, शासक के लिए निदेश और आज्ञाएँ देने की शक्ति रखते थे और वे गवर्नरों की कार्यवाहियों को निलम्बित अथवा रद्द भी कर सकते थे। "युद्धपूर्व जापान मे स्थानीय शासन के

1. Kahin, George McT. (Ed.), *Governments of Asia*, p. 201.

प्रचलित सिद्धान्तों मे स्थानीय स्वायत्तता और लोकतन्त्र की अपेक्षा केन्द्रीयकरण और नौकरशाही का अधिक बोलबाला था।"[1]

शुरू-शुरू मे छोटे नगरों और शहरों के महापौर (Mayors) गृह मन्त्रालय द्वारा मनोनीत किए जाते थे। १६२० के बाद आने वाले दशाब्द मे महापौर और उसके प्रतिनियुक्त (Deputies) म्युनिसिपल सभाओं (Municipal assemblies) द्वारा चुने जाने लगे थे। म्युनिसिपल सभाओं मे ३० या इससे अधिक सदस्य होते थे जो चार वर्ष की पदावधि के लिए चुने जाते थे। यह सभा महीने में एक बार बैठक करती, किन्तु काम-काज को शीघ्रता से निपटाने के लिए सभा के १० से १५ तक सदस्यों से मिलकर बनाई गई एक म्युनिसिपल परिषद् स्थापित की गई थी जो स्वयं सभा द्वारा चुनी जाती थी। यह म्युनिसिपल परिषद् काम-काज की मांग के अनुसार उतनी ही बार बैठकें करती जितनी बार उनकी आवश्यकता होती।

१६४७ के संविधान के अधीन स्थानीय स्वायत्तता (Local Autonomy under the Constitution, 1947)—अधिकार करने वाले अधिकारी (Occupation Authorities) इस बात पर तुले हुए थे कि देश मे पुरानी व्यवस्था को बिल्कुल उलट दिया जाय और देश की राजनीति संरचना (Structure) का सब स्तरों पर लोकतन्त्रीकरण कर दिया जाय। वे स्थानीय शासन को लोकतन्त्र और 'गृह शासन' प्रयोग के लिए अधिकतम अवसर प्रदान करने के लिए कृतनिश्चय थे। १६४७ के संविधान के ७वें अध्याय का नामकरण ही "स्थानीय शासन" किया गया था और जिसके अनुच्छेद ६२ से अनुच्छेद ६५ तक स्थानीय स्वायत्तता के सिद्धान्त की ही स्थापना करते थे। अनुच्छेद ६२ इस बात का विधान करता है कि स्थानीय सार्वजनिक सत्ताओं का संगठन और कार्य स्थानीय स्वायत्तता के सिद्धान्त के अनुसार विधि द्वारा निश्चित किया जायेगा। अनुच्छेद ६३ ने इस बात का विधान किया है कि स्थानीय सत्ताएँ अपने विमर्शी अंगों के रूप में सभाएँ स्थापित करेंगी और अपने विनियमों का अधिनियमन करेंगी। समस्त सार्वजनिक सत्ताओं के मुख्य कार्यपालक अधिकारी और उनकी सभाओं के सदस्य प्रत्यक्ष जनमत द्वारा निर्वाचित किए जाएँगे। अनुच्छेद ६४ स्थानीय सार्वजनिक सत्ताओं को अपनी सम्पत्ति, मामलों का प्रबन्ध करने और प्रशासन करने की शक्ति प्रदान करता है और उन्हें अपने विनियमों का अधिनियमन करने की भी शक्ति प्राप्त है। स्थानीय शासन के लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के संगत अनुच्छेद ६५ स्पष्टतया अभिसंवेदन करता है कि संसद् (Diet) किसी एक स्थानीय सत्ता पर लागू किए जाने वाला विशेष कानून तब तक अधिनियमित नहीं करेगी जब तक कि सम्बद्ध स्थानीय सार्वजनिक सत्ता के मतदाताओं की बहुसंख्या सहमति न दे डाले।

---

1. Theodore McNelly, *Contemporary Government of Japan*, p. 155.

स्थानीय सार्वजनिक सत्ताओं से सम्बन्ध रखने वाले समस्त मामले १९४७ के स्थानीय स्वायत्तता कानून (Local Autonomy Law of 1947) के उपबन्धों द्वारा निर्धारित तथा नियन्त्रित किए जाते है, जो कानून तब से कई बार दुहराया जा चुका है। इस प्रकार जापान मे शासन के तीन स्तर है—राष्ट्रीय सरकार, प्रशासनिक क्षेत्रीय (prefectural) सरकार तथा म्युनिसिपल सरकार। स्थानीय शासन के अन्दर प्रशासनिक क्षेत्रीय सरकार तथा म्युनिसिपल सरकार सम्मिलित की जाती है और इन दोनों स्तरों पर विद्यमान सरकारें संविधान के उपबन्धो और १९४७ के स्थानीय स्वायत्तता कानून के उपबन्धो द्वारा जिनका समय-समय पर संशोधन भी हुआ है, शासित होती है।

वर्तमान में जापान ४६ बड़े राजनीतिक उपसभागों (Sub-divisions) में विभक्त है जिन्हें प्रशासनिक क्षेत्र (prefectures) कहते हैं। इन ४६ प्रशासनिक क्षेत्रों में से एक महानगरी (Metropolis) अर्थात् राजधानी है, एक जिला है, दो नगर प्रशासनिक क्षेत्र है और ४२ ग्राम प्रशासनिक क्षेत्र है। १९६० मे ३७०० से अधिक ऐसे नगर, छोटे नगर और गाँव थे जो म्युनिसिपल शासन के अधिकारी थे। किन्तु हाल ही के व्यवस्थापन ने म्युनिसिपैलिटियों के समामेलन (amalgamation) को प्रोत्साहित किया है और तब से उनमें से बहुत-सी बचत और कार्यकुशलता के कारणों से एक-दूसरे मे मिल गई है।[1] १९६४ में इस सविलयन प्रक्रिया के फलस्वरूप उस वर्ष जापान में ५५६ नगर थे, १९७१ नगरियाँ अर्थात् कस्बे थे और ८७४ गाँव थे।[2] कुछ एक बडे नगरो का नाम "विशेष नगर" रखा गया है और उनको उन प्रशासनिक क्षेत्रो के शासन के नियन्त्रण से बहुत अधिक स्वतन्त्रता मिली हुई है जिनमे वे स्थित है।

स्थानीय शासन एककों के कृत्य दो प्रकार के होते है: प्रथम कुछ एक राष्ट्रीय कानूनो को प्रवर्तित कराना और दूसरे, स्वयं स्थानीय शासनों के लिए व्यवस्थापन अधिनियमित करना और उसे प्रवर्तित कराना। पहले प्रकार के कृत्यों के पालन के सम्बन्ध में स्थानीय शासन राष्ट्रीय सरकार के अभिकर्त्ता के रूप मे कार्य करता है और उस मन्त्रालय की देख-रेख में होता है जिसके लिए वह कार्य करता है। दूसरे प्रकार के कृत्यों में वे कार्य सम्मिलित किए जाते है जिनके बारे मे स्थानीय सत्ताएँ व्यवस्थापन करने मे और इस प्रकार अधिनियमित उप-विधियो को प्रवर्तित कराने मे सक्षम होती हैं। ये शक्तियाँ डायट (Diet) द्वारा पारित विधियों द्वारा स्थानीय शासन सत्ताओं को सौंपी गई होतीं हैं। संविधान स्थानीय शासन के कृत्यों की गणना नही करता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि स्थानीय सत्ताएं बिल्कुल राष्ट्रीय

1. *Town and Village Merger Acceleration Law.* इसका उद्देश्य नगरों की संख्या मे वृद्धि करना और कस्बों और गाँवों की संख्या में कमी करना था।
2. *Statistical Handbook of Japan*, 1964, Bureau of Statistics, Office of the Prime Minister.

सरकार की दया पर ही आश्रित होती है। संविधान के अनुच्छेद ६४ ने यह विहित किया है कि स्थानीय सार्वजनिक सत्ताएं यह अधिकार रखती है कि वे अपनी सम्पत्ति, मामलों और प्रशासन का प्रबन्ध कर सकें और विधि के अन्दर रहकर अपने विनियमों को अधिनियमित कर सकें। अनुच्छेद ६६ आगे चलकर यह भी विधान करता है कि डायट केवल एक स्थानीय सत्ता पर प्रयुक्त किया जाने वाला विशेष कानून तब तक अधिनियमित नही कर सकती जब तक सम्बद्ध स्थानीय सार्वजनिक सत्ता के मतदाताओं का बहुमत उसके लिए सहमत न हो जाय।

स्थानीय स्वायत्त शासन कानून (Local Autonomy Law) के अनुसार वे मामले जिनको स्थानीय शासन अपने हाथ मे लेने मे सक्षम है, इस प्रकार है: सार्वजनिक व्यवस्था को बनाए रखना, उस स्थान मे रहने वाले लोगो के स्वास्थ्य की रक्षा और उनकी सुरक्षा, उद्यानो (बगीचो) की स्थापना और उनका प्रबन्ध, खेल-भूमियाँ, नहरें, सिचाई तथा जल निकालने के मार्ग, जल-पौधे, मलप्रवाह पद्धति (sewerage) विद्युत् संयन्त्र, गैस संयन्त्र, सार्वजनिक परिवहन, जहाज ठहरने के स्थान (docks), घाट (piers), गोदाम (warehouses), स्कूल, पुस्तकालय, अजायबघर, अस्पताल, वृद्ध शरण गृह, जेलखाना, श्मशान घाट, कब्रिस्तान, दुर्घटना की सहायता, अवयस्को (minors), निर्धनों और अपंगो की रक्षा, भूमि का कृषि योग्य बनाया जाना, निवासियों की पहचान तथा पञ्जीकरण, परिधि निर्माण अर्थात् जोन बनाना (zoning), अन्य स्थानीय निकायो के साथ क्रिया-कलापो का समन्वय और स्थानीय करों का लगाना और उनकी वसूली। स्थानीय शासनो के लिए राष्ट्रीय मामलो को हाथ मे लेना निषिद्ध है। इन मामलो के अन्दर न्यायिक विषय, अपराध सम्बन्धी सजा, राष्ट्रीय परिवहन और संचार व्यवस्था, डाकखाने और ज्ञान और शोध की राष्ट्रीय संस्थाएं भी सम्मिलित की जाती है। वे कानूनों, मन्त्रिमण्डल के आदेशों और विधि द्वारा अधिकृत मन्त्रालयिक (ministerial) विनियमों का उल्लंघन करना यदि नही चाहे तो नही करते। कोई म्युनिसिपैलिटी किसी प्रशासनिक क्षेत्र (prefecture) की उपविधियो के प्रतिकूल यदि न जाना चाहे तो नही जाती। इसके साथ ही राष्ट्रीय सरकार भी स्थानीय सत्ताओं के क्षेत्राधिकार के अन्दर पड़ने वाले मामलों को हाथ में न लेना चाहे तो नही लेती।

मुख्य कार्यपालक (Chief Executives)—प्रत्येक प्रशासनिक क्षेत्र मे एक शासक (Governor) उसके कार्यपालक मुखिया के रूप मे होता है जबकि म्युनिसिपैलिटी मे वह शासक महापौर (Mayor) के नाम से जाना जाता है। दोनो ही अपने-अपने एककों के मतदाताओं द्वारा चार वर्ष की पदावधि के लिए चुने जाते हैं। वे अपने-अपने मतदाताओं द्वारा वापस बुलाए जा सकते है अथवा सम्बद्ध सभा द्वारा अविश्वास के प्रस्ताव के पारित होने पर अपने पद से वियुक्त किए जा सकते हैं। स्थानीय स्वायत्तता कानून के अनुसार जब शासक (Governor) राष्ट्रीय सरकार के नाम पर राष्ट्रीय कानूनो को प्रवर्तित कराने के हेतु से कार्य करता है तो उस

समय वह सम्बद्ध मन्त्री के निदेशों और उसकी देख-रेख के अधीन होता है। जब कोई महापौर (Mayor) राष्ट्रीय सरकार के नाम पर कार्य करता है तो वह न केवल मन्त्री के निदेशों और उसकी देख-रेख के अधीन कार्य करता है बल्कि ऐसा करता हुआ वह उस प्रशासनिक क्षेत्र के शासक के अधीन और उसकी देख-रेख मे भी रहता है जिसका एकक वह म्युनिसिपैलिटी होती है। यदि कोई शासक (Governor) कानून को प्रवर्तित नही कराता अथवा निदेशों का पालन करने मे असफल रहता है तो सम्बद्ध मन्त्री किसी न्यायालय से इस बात की प्रार्थना कर सकता है कि वह गवर्नर को उस यथापेक्षित कार्य को करने की आज्ञा दे। शासक अर्थात् गवर्नर के अपने को सौंपे गए कर्त्तव्यों और निर्गत आदेशों के पालन करने में लगातार असफल रहने की दशा मे सम्बद्ध मन्त्री यदि चाहे तो स्वयं कानून को प्रवर्तित करा सकता है और प्रधान मन्त्री यदि चाहे तो गवर्नर को पदच्युत कर सकता है। इसी प्रकार यदि किसी म्युनिसिपैलिटी का महापौर राष्ट्रीय कानूनों को अथवा प्रशासनिक क्षेत्र की उप-विधियों को, और उस सम्बन्ध मे निर्गत निदेशों को प्रवर्तित कराने में असफल रहता है तो उस प्रशासनिक क्षेत्र का गवर्नर किसी न्यायालय की आज्ञा द्वारा उसे आज्ञापालन के लिए बाध्य करा सकता है अथवा उसे पदच्युत कर सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि स्थानीय कार्यपालक को दो कार्य करने पड़ते हैं। वह राष्ट्रीय मामलो मे सरकार का अभिकर्ता (Agent) है, और निर्वाचित अधिकारी के रूप मे बुलाए जाने और पदच्युत किए जाने के अधीन, उस स्थान की जनता का अभिकर्ता है और स्थानीय मामलों में उनका प्रतिनिधि है।

स्थानीय सभाएँ (Local Assemblies)—प्रत्येक प्रशासनिक क्षेत्र (Prefecture) मे एक सभा और प्रत्येक म्युनिसिपैलिटी में एक परिषद् होती है। दोनों ही स्तरो पर यह एक जनता द्वारा निर्वाचित विमर्शी निकाय है। प्रशासनिक क्षेत्र की सभा का आकार ४० से लेकर १२० सदस्यों वाला होता है जो प्रशासनिक क्षेत्र के आकार पर निर्भर करता है। इसी प्रकार एक म्युनिसिपल परिषद् का आकार म्युनिसिपैलिटी की जनसंख्या पर निर्भर रहता है और यह १२ सदस्यो से लेकर १०० सदस्यों वाली होती है। सभा के तथा परिषद् के सदस्य चार वर्ष के कार्यकाल के लिये निर्वाचित किए जाते हैं और यह सभा तथा परिषद् क्रमशः गवर्नर तथा महापौर द्वारा विघटित की जा सकती है। मतदाता भी यदि चाहें तो उन्हें वापिस बुला सकते हैं अथवा वे समस्त निकाय के विघटन की मांग भी कर सकते हैं। स्थानीय विधायी निकाय यानि सभा तथा म्यूनिसिपल परिषद् के पास यह शक्ति है कि वे स्थानीय स्वायत्तता कानून द्वारा स्थानीय क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत सौंपे गए तथा ऊपर गिनाए गए समस्त विषयों पर उप-विधियों का निर्माण कर सकते हैं। इस बात को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि राष्ट्रीय संसद् (Diet) 'विधियों' (laws) को अधिनियमित करती है, जबकि स्थानीय निकायों द्वारा किया गया व्यवस्थापन 'उप-विधियाँ' कहलाई जाती हैं। स्थानीय विधायी निकायों की विधायी क्षमता के अन्तर्गत पड़ने

तक स्वायत्तशासी नही है जिस दर्जे तक कानून ने उसकी कल्पना की थी। व्यावहारिक रूप मे उनके ऊपर केन्द्रीय नियन्त्रण और देख-रेख की क्रमशः वृद्धि हुई है। विशेषत शिक्षा, पुलिस और स्थानीय वित्त-व्यवस्था के मामलों मे यह अधिक देखने को मिला है। १६६० में, स्वायत्त शासन अभिकरण (Autonomy Agency) प्रधान मन्त्री के कार्यालय का अभिकरण रहने के बाद एक स्वतन्त्र स्वायत्तशासन मन्त्रालय (Autonomy Ministry) बन गया जिसको स्थानीय शासन के ऊपर उचित निरीक्षण बनाए रखने का कर्तव्य सौपा गया था। स्थानीय शासन का कोई भी एकक आत्म-निर्भर नही है और अपने घाटे की पूर्ति के लिए वे केन्द्रीय सरकार द्वारा दी जाने वाली सहायताओ और अनुदानो पर निर्भर रहते है।" इस बढ़ी हुई सीमा तक आर्थिक निर्भरता ने और इसके साथ ही पथ-प्रदर्शन के लिए टोक्यो (Tokyo) और राष्ट्रीय सरकार की ओर देखने की दूर तक जड़ी हुई नौकरशाही आदत ने जापान के प्रशासनिक क्षेत्रो, नगरों, कस्बो और गाँवो द्वारा उपभुक्त की जाने वाली वास्तविक स्वायत्तता की मात्रा को बहुत अधिक कम कर दिया है।"

कनाडा सरकार

(The Government of Canada)

अध्याय १

संविधान का स्वरूप तथा सार

(Nature and Content of the Constitution)

अधिराज्य का जन्म (The birth of a Dominion)—१८६७ ई० में चार उपनिवेश जिन्होंने ओण्टेरियो, क्यूबक, नोवा स्कोशिया तथा न्यू ब्रन्सविक नामक संघीय प्रान्तों का रूप धारण किया, यहाँ-वहाँ छोटी-छोटी बस्तियों के रूप में फैले हुए थे तथा उनमें वनों, खेतो, मछली पकड़ने के स्थानों, उद्योगो तथा स्थानीय शिल्पो में काम करने वालो का गुजारा होता था। इन बस्तियो मे क्यूबक, माट्रीयल तथा ट्रोन्टो नाम के केवल तीन ऐसे नगर थे जिनके निवासियो की सख्या तीस हजार से कुछ अधिक थी। १२ प्रतिशत से अधिक लोग पाँच हज़ार से ऊपर की जनसंख्या वाले उपनगरो मे रहते थे। विभिन्न परिस्थितियो के कारण इन संघर्ष-रत उपनिवेशों तथा स्वाभाविक रूप से विरोधी राजनीतिक सगठनों के संघ को प्रोत्साहन मिला था। १८६१ ई० में मांट्रीयल मे जो अन्तर्प्रान्तीय महाभोज हुआ था, उसमें भोजनोपरान्त भाषण देते हुए जोजफ होवे (Joseph Howe) ने यह मत प्रकट किया था कि यदि विभिन्न उपनिवेशो के पदाधिकारी इसी प्रकार मिल कर काम करते रहे, तो उन्हे पता चल जाएगा कि वे अत्यन्त ही सुयोग्य व्यक्ति है तथा उनके बीच के अवरोध शीघ्र ही समाप्त हो गये है। इन शब्दो मे उस द्वितीय राजनीतिक अलौकिक घटना के मूल-तत्त्व विद्यमान थे जो उत्तरी अमेरिका महाद्वीप पर देखने मे आई। इससे पहली घटना तब घटित हुई थी, जबकि १३ राज्यों ने परस्पर मिल कर संयुक्त राज्य अमेरिका की नीव रखी थी।

ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका के इन उपनिवेशो के संघ से सम्बन्धित विचार का जन्म उस समय हुआ था जबकि अमेरिकी उपनिवेशो ने स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। परन्तु वे सहकारी परिस्थितियाँ जो इस विचार को कार्यान्वित करती, कभी घटित न हुई। लार्ड डरहम (Durham) ने संघ का समर्थन करते हुए, अपने प्रतिवेदन (Report) मे लिखा था, "मैने एक ही राज्य मे दो राष्ट्रों को

युद्ध करते पाया; मैंने सिद्धान्तों पर आधारित संघर्ष को नहीं, वरन् जातियों के संघर्ष को देखा; और मैंने अनुभव किया कि कानूनों अथवा संस्थाओं के सुधार से सम्बन्धित प्रयत्न उपयुक्त नहीं रहेंगे जब तक कि हम पहले उस घातक शत्रुता का अन्त नहीं कर देते जो निचले कनाडा को फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी—दो विरोधी विभागों में बाँट देती है।" दूसरे प्रान्तों में भी परिस्थिति अपेक्षाकृत अच्छी न थी और निचले कनाडा में इस परिस्थिति के साथ-साथ वे सभी समस्याएँ तथा कठिनाइयाँ भी थीं जो दूसरे उपनिवेशों में भी पाई जाती थीं।

डरहम प्रतिवेदन की दो प्रमुख सिफारिशें ये थीं कि एक तो ऊपरी और निचले कनाडा को फिर से मिला दिया जाए और दूसरे उत्तरदायी सरकार तुरन्त स्थापित की जाए। लार्ड डरहम का मत था कि कनाडा के दोनों भागों को मिला देने से ही निचले कनाडा का जातीय संघर्ष मिट सकता है और तब उत्तरदायी सरकार प्रभावी ढंग से वहाँ काम कर सकती है। परन्तु दोनों जातियों की पृथक् संस्कृतियों के कारण उत्तरदायी सरकार के लिए काम करना कठिन हो गया और अनन्त झगड़े पैदा हो गए जिनके फलस्वरूप राजनीतिक गतिरोध, आकस्मिक मन्त्रालय-परिवर्तन तथा सामान्य अस्थिरता की स्थिति पैदा हो गई। ऊपरी कनाडा मे जनसंख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व की माँग के फलस्वरूप राजनीतिक संतुलन बिगड़ने लगा। निचले कनाडा मे जो कम आबाद था, फ्रांसीसी लोगों को यह डर हो गया कि उनकी पृथक् संस्कृति का विनाश करने के लिए ही यह प्रयत्न किया जा रहा है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वास्तविक संघ में ही एक पृथक् जाति के रूप मे उनका अस्तित्व बना रह सकता है। उनके विचार में, एक बृहद् राजनीतिक इकाई में विभिन्न सांस्कृतिक दलों में समन्वय लाने के लिए केवल संघ ही सर्वोत्तम उपाय था। प्रोफेसर एलेक्जेंडर ब्रैडी (Prof. Alexander Brady) उन परिस्थितियों को युक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है जो संघ के जन्म में सहायक हुईं। वह कहता है, "उनके अस्तित्व को बनाए रखने का यही एकमात्र उपाय था; अन्य उपनिवेशवादियों के लिए यह औपनिवेशिक हीनता से स्वशासन की ओर पलायन था, जो उदार राष्ट्रीय स्थिति मे अपने साथ प्रसार का निरन्तर विस्तृत क्षेत्र लिए था।"

आर्थिक समस्याओं ने भी विभाजित कनाडा को परेशान किया। १९वीं शताब्दी के चौथे और पाँचवें दशकों मे नौपरिवहन-कानूनों (*Navigation Laws*) के रद्द किए जाने से तथा अधिमान्य प्रशुल्कों (Preferential tariffs) के परित्याग से संघ सम्बन्धी प्रस्ताव को नवीन तथा विश्वासप्रद बल मिला। सभी ने यह अनुभव किया कि संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ आपसदारी सन्धि (Reciprocity Treaty) की समाप्ति पर आर्थिक उलझनें और भी जटिल हो जायेंगी क्योंकि इसके फलस्वरूप कनाडा के उत्पादक ये बाज़ार खो बैठेंगे। इन कठिनाइयों तथा इनके साथ ही उत्पन्न होने वाली अन्य बाधाओं का एकमात्र समाधान यही था कि राजनीतिक तथा आर्थिक सीमाओं का विस्तार किया जाए जिसके फलस्वरूप सभी कनाडा-वासी परस्पर मिल-जुल कर अपनी परिस्थिति को "इस भयानक तथा प्रतियोगी संसार में यथासम्भव

सुदृढ़ बना सकें।" सुरक्षा का प्रश्न भी कोई कम महत्त्वपूर्ण न था। संयुक्त राज्य के बहुमुखी डरावे ने सभी उपनिवेशों के लिए मुसीबत खड़ी कर रखी थी : अनेक अमेरिकी राजनीतिज्ञों के रणोद्यत वक्तव्यों में, एक लम्बे गृहयुद्ध में रत देश की अपवादिक सैनिक-शक्ति में, ब्रिटिश-अमेरिकी झगड़ों द्वारा युद्ध की लपेट में आने के स्पष्ट खतरों में तथा कनाडा के उपनिवेश की इस धमकी में—यद्यपि एक प्रकार से यह धमकी सभी को थी—कि संयुक्त राज्य सभी खाली पड़े पश्चिमी प्रदेश पर अधिकार करके उत्तरी अमेरिका के इस समस्त उत्तर-पूर्वी भाग को शेष महाद्वीप से काट देगा—इस बहुमुखी डरावे की कल्पना की जा सकती थी।"

अन्ततः संघ से पूर्व का काल महान् आर्थिक उथल-पुथल का समय था जिसने सभी उपनिवेशों की आर्थिक व्यवस्था को विशृंखल कर दिया था। सीमित साधनों तथा यातायात और संचार के अविकसित साधनों के कारण उपनिवेश नई तकनीकी तथा औद्योगिक ज़रूरतों के अनुसार अपने आपको व्यवस्थित नहीं कर सके थे। प्रोफेसर क्रेटन (Creighton) के शब्दों में, "लकड़ी की जगह लोहे का तथा पानी की जगह वाष्प-शक्ति का प्रयोग वस्तुतः होने लगा। इन सभी परिवर्तनों ने उन प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्थाओं पर अत्यधिक दबाव डाला जो इन महान् तथा खर्चीले समायोजनों के लिए तत्पर न थीं।"

इन सभी परिस्थितियों का सामूहिक प्रभाव यह पड़ा कि १८६४ ई० की वसन्त ऋतु में कनाडा संघ के प्रश्न ने व्यावहारिक राजनीति का रूप धारण कर लिया जबकि डाक्टर चार्ल्स टप्पर (Dr. Charles Tupper) ने जो नोवास्कोशिया के प्रधान मन्त्री थे, अपने प्रान्तीय विधान-मण्डल में उन सदस्यों की नियुक्ति का प्रस्ताव रखा जो न्यू ब्रन्सविक तथा प्रिंस एडवर्ड द्वीप की सरकारों द्वारा नियुक्त सदस्यों से मिलें और एक सरकार तथा एक ही विधान-मण्डल के अधीन तीनों प्रान्तों का संघ बनाने के विषय पर विचार करें। नोवास्कोशिया के विधान-मण्डल ने सर्वसम्मति से टप्पर के प्रस्ताव का समर्थन किया। ऐसे ही प्रस्ताव न्यू-ब्रन्सविक तथा प्रिंस एडवर्ड द्वीप के दोनों समुद्रतटीय प्रान्तों के विधान-मण्डलों ने भी पारित कर दिए। पहली सितम्बर १८६४ ई० को चार्लोटी टाउन (Charlotte town) में एक सम्मेलन हुआ। ३० जून को कनाडा के प्रान्त में एक मिली-जुली सरकार का निर्माण किया गया जिसने ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका के उपनिवेशों का संघ बनाने के लिए भरसक यत्न करने का निश्चय किया। कनाडा सरकार ने प्रस्तावित चार्लोटी टाउन सम्मेलन को मङ्गलप्रद समझा और अपने मन्त्रिमण्डल के कहने पर लार्ड मांक (Monck) ने समुद्रतटीय प्रान्तों के लेफ्टिनैंट-गवर्नरों से पत्र-व्यवहार किया और पूछा कि क्या कनाडा का प्रतिनिधि-मण्डल भी उस सम्मेलन में सम्मिलित होकर उसकी संमन्त्रणाओं में भाग ले सकता है। प्रार्थना स्वीकार कर ली गई और कनाडा के आठ मन्त्रियों ने जिनमें मैक्डानल्ड, ब्राउन, कार्टर तथा गाल्ट भी सम्मिलित थे, सम्मेलन में भाग लिया। नोवास्कोशिया, न्यू-ब्रन्सविक तथा प्रिंस एडवर्ड द्वीप—प्रत्येक ने पाँच-पाँच प्रतिनिधि भेजे और इस प्रकार प्रतिनिधियों की कुल संख्या ३३ हो गई।

नियत समय पर सम्मेलन हुआ। कनाडा के प्रतिनिधियों ने सभी उपनिवेशों का एक बृहद् संघ बनाने के लिए अपने सुझाव रखे। समुद्रतटीय उपनिवेशों के प्रतिनिधियों ने उन सुझावों पर अलग से विचार किया जिनके विषय मे उनके विधान मण्डलों ने सहमति प्रकट की थी तथा उनके विषय में बातचीत करने का उन्हें अधिकार दिया था। परन्तु शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो गई कि उनका संघ अधिक सफल नही हो सकता। केवल बड़ा संघ ही एकमात्र उपयुक्त योजना है। सभी प्रतिनिधियों ने यह फैसला किया कि सभी प्रतिनिधि मण्डल, जिनमे न्यू-फाउडलैंड का प्रतिनिधि मण्डल भी सम्मिलित होगा, अक्टूबर में क्यूबक के स्थान पर फिर से एक औपचारिक सम्मेलन में भाग लें।

१० अक्टूबर, १८६४ ई० को क्यूबक में कनाडा के इतिहास में नवयुग का निर्माण करने वाला सम्मेलन आरम्भ हुआ। कनाडा ने बारह, न्यू-ब्रन्सविक तथा प्रिंस एडवर्ड द्वीप ने सात-सात, नोवास्कोशिया ने पाँच और न्यू-फाउंडलैंड ने दो प्रतिनिधि भेजे थे। इस प्रकार कुल संख्या ३३ थी। चार्लोटी टाऊन में जिस आधारभूत सिद्धान्त को मान लिया गया था, क्यूबक मे उसकी नि.संकोच पुष्टि कर दी गई और कहा गया कि नई सरकार संघात्मक होनी चाहिए। १८ दिनों से भी कम समय मे वे ७२ प्रस्ताव स्वीकार कर लिए गए जिन्होने तत्पश्चात् १८६७ ई० में पारित नार्थ अमेरिका ऐक्ट (उत्तरी अमेरिका अधिनियम) का रूप धारण कर लिया। कनाडा ससद् ने तो इन प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया परन्तु समुद्रतटीय प्रान्तो मे इनका काफी विरोध हुआ जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार को लन्दन में नोवास्कोशिया, न्यू-ब्रन्सविक तथा कनाडा के प्रतिनिधियों का सम्मेलन बुलाना पड़ा। परिणामस्वरूप १८६७ ई० का उत्तरी अमेरिका अधिनियम पारित हो गया। २१ मार्च को उसे राजकीय अनुमति मिली, २२ मई को उसकी उद्घोषणा की गई और पहली जुलाई को वह लागू कर दिया गया।

इस प्रकार पहली जुलाई १८६७ ई० को कनाडा अधिराज्य का जन्म हुआ जिसमे आण्टेरियो, क्यूबक (सगठित कनाडा को फिर से विभाजित कर दिया गया), न्यू-ब्रन्सविक तथा नोवास्कोशिया नामक चार प्रान्त सम्मिलित थे। सम्राज्ञी को यह भी अधिकार प्रदान किया गया कि वह प्रिवी परिषद् की सम्मति से तथा कनाडा की समद् और न्यू फाऊंडलैण्ड, प्रिंस एडवर्ड द्वीप और ब्रिटिश कोलम्बिया के विधानमण्डलों के समावेदनों (addresses) पर शेष उपनिवेशों तथा उनमें से किसी एक को अधिराज्य मे सम्मिलित कर सकती है। उसी सम्मति के आधार पर तथा कनाडा की संसद् के समावेदन पर रुपर्टलैण्ड तथा उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र को सम्मिलित करने का अधिकार भी सम्राज्ञी को सौंपा गया। उसी समय मेनीटोबा के प्रान्त को सम्मिलित किया गया और अगले वर्ष ब्रिटिश कोलम्बिया भी सघ मे आ मिला। दो वर्ष पश्चात् १८७३ ई० में प्रिंस एडवर्ड द्वीप सघ का सदस्य बना। १९०५ ई० मे दो अधिराज्य परिनियमों द्वारा पश्चिमी क्षेत्र का बहुत सा भाग अलबर्टा तथा सस्केशवान के

प्रान्तों को हस्तान्तरित कर दिया गया। अन्तत. १९४९ ई० में न्यूफाऊंडलैण्ड कनाडा अधिराज्य का दसवां प्रान्त बना।

कनाडा सघ का स्वरूप (Nature of the Canadian Federalism)—इस समय कनाडा दस इकाइयो से मिल कर बना है जो प्रान्त कहलाते है; कनाडा के दो भाग (ग्राण्टेरियो, क्यूबक), तीन समुद्रतटीय प्रान्त (न्यू ब्रुन्सविक, नोवा स्कोशिया तथा प्रिंस एडवर्ड द्वीप), चार पश्चिमी प्रान्त (मेनीटोवा, अलबर्टा, सस्केशवान तथा ब्रिटिश कोलम्बिया) और न्यूफाउडलैण्ड और कई क्षेत्र जो यूकोन क्षेत्र (Yukon Territory) तथा उत्तर-पश्चिमीय क्षेत्र (North-West Territories) के नाम से जाने जाते हैं और जो किसी भी प्रान्त मे सम्मिलित नही किए गए है।

कनाडा का सविधान—ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम, १८६७ तथा कतिपय अनुगामी सशोधित अधिनियम—कुछ निश्चित संघात्मक लक्षणों को प्रकट करता है। सर्वप्रथम, यह अधिराज्य तथा प्रान्तीय मण्डलो की शक्तियो का विभाजन करता है जब यह विधानमण्डलों को कुछ विषयों पर ऐकान्तिक विधायी नियन्त्रण दे देता है। अधिराज्य का शेप विपयो पर ऐकान्तिक विधायी नियन्त्रण है। जैसा कि उत्तरी अमेरिका अधिनियम मे लिखा है, इन विषयो की भी 'अधिक स्पष्टता के विचार से' यद्यपि विस्तृत रूप से नही, प्रगणना कर दी गई है। दूसरे, अधिराज्य तथा प्रान्तों के विधानमण्डल अपने-अपने कर्मचारी-दल रखते है और उनमे से किसी को भी विपयों के विभाजन से सम्बन्धित संविधान में कोई परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त नही। सविधान मे परिवर्तन करने की शक्ति इग्लैण्ड की ससद् के पास है। अन्ततः, कनाडा के न्यायालय अधिराज्य तथा प्रान्तो के कानूनों को इस बात पर अवैध भी घोपित कर सकते हैं कि वे सविधान द्वारा उनकी सरकारों को दिए गए क्षेत्राधिकार का उल्लंघन करते है। यह बात सविधान की श्रेष्ठता को निश्चित करती है।

परन्तु कनाडा-सविधान के जन्मदाता सघवाद के संकुचित विचारों से बँधे हुए नही थे और उन्होंने अमेरिकी सविधान के निर्माताओं का अनुसरण नही किया। जैफरसन (Jefferson) के काल से सयुक्त राज्य मे राज्यों के अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रश्न पर एक लम्बा तथा तीव्र वाद-विवाद चला आ रहा था और उसका अन्त दु खद गृह-युद्ध मे हुआ था। कनाडा के नेताओं को अपने पड़ोसियों के इस कटु अनुभव के कारण अपेक्षाकृत वृद्धिमान् होने का अवसर मिल गया था। क्यूबक सम्मेलन के अधिकाश प्रतिनिधि इस मत के थे कि अमेरिकी गणतन्त्र की भयानक परिस्थितियों से यह प्रमुख शिक्षा प्राप्त की जा सकती है कि प्रस्तावित सघ मे केन्द्राभिमुख शक्तियों को मजबूत बना दिया जाए। उन्होने निश्चित किया कि क्षेत्राधिकार के कुछ विपयों को तो घटक इकाइयों को दे दिया जाए और शेप विषय केन्द्रीय सरकार को सौप दिए जायें। सर जॉन मैकडानल्ड ने कहा था, "प्रसंधान (Confederation) का वास्तविक सिद्धान्त तो यह है कि प्रधान सरकार को तो प्रभुसत्ता के सभी

अधिकार सौंप दिए जायें तथा अधीन अथवा व्यक्तिगत राज्यों के पास केवल उन अधिकारों के अतिरिक्त जो विशेषकर उन्हें सौंपे गये हों, कोई शक्ति नहीं होनी चाहिए। "इस प्रकार, हमारे देश मे एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार, एक शक्तिशाली केन्द्रीय विधानमण्डल, तथा स्थानीय कार्यों के लिए छोटे विधान मण्डलों की विकेन्द्रित प्रणाली होनी चाहिए।" किसी दूसरे अवसर पर मैकडानल्ड ने बड़े विश्वास से कहा था, "हमने यहां एक विभिन्न प्रणाली को अपनाया है। हमने प्रधान सरकार की पुष्टि की है। हमने प्रधान विधानमण्डल को विधि-व्यवस्था के सभी प्रमुख विषय सौंप दिये हैं। इस प्रकार, हमने कमजोरी के उस स्रोत से अपने-आपको बचा लिया है जो संयुक्त राज्य में फूट का एक प्रमुख कारण रहा है।" इस प्रकार कनाडा संविधान में शक्तियों का वितरण अमेरिकी संविधान तथा उन घटनाओं द्वारा जो कि संघ के उद्घाटन के पश्चात् घटित हुईं, काफी प्रभावित हुआ है।

एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना का निश्चय लिये, कनाडा के जन्मदाताओं ने अधिराज्य की सत्ता को अन्य कई ढंगों से भी दृढ़ बनाया :—

१. प्रान्तों को जो अगणित अधिकार दिये गये हैं, वे स्थानीय प्रबन्ध के विषयों की एक साधारण सी सूची हैं। दण्ड-विधि, विवाह तथा विवाह-विच्छेद जैसे कुछ अधिकार जो संयुक्त राज्य में राज्यों के पास ही रहने दिये गये, कनाडा-संविधान में अधिराज्य को सौंप दिये गये।

२. वे सभी अधिकार जो स्पष्टतया प्रान्तों को नही सौंपे गये हैं, अधिराज्य को प्राप्त हैं। संयुक्त राज्य के संविधान मे कतिपय अगणित अधिकार तो राष्ट्रीय सरकार को और शेष राज्यों को सौंप दिये गये। दसवें संशोधन में स्पष्टतः लिख रखा है कि "वे अधिकार जो संविधान द्वारा केन्द्रीय सरकार को नही दिये गये हैं और न राज्यों को देने के लिये उनकी मनाही की गई है, वे अधिकार राज्यों के अथवा लोगों के माने जायेंगे।" क्यूबक सम्मेलन ने दूसरा मार्ग अपनाया और अवशिष्ट अधिकारों को अधिराज्य को सौंप दिया। और इस बात को पूर्णतया स्पष्ट करने के लिये, उन अधिकारों की एक लम्बी सूची तैयार कर दी गई जिन्हें अधिराज्य-क्षेत्राधिकार मे स्पष्टतः रखा जाना था। तत्पश्चात् ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम का ९१वाँ परिच्छेद राष्ट्रीय संसद् को अधिकृत करता है कि वह शान्ति, व्यवस्था तथा सुशासन के लिये उन सभी विषयों के बारे मे कानून बनाये जो इस अधिनयम के अनुसार प्रान्तों के विधान मण्डलों को नहीं सौंपे गये हैं।" यह एक ऐसी बृहद् धारा है जिसके कारण अधिराज्य-संसद् प्रान्तों के पास विषयों पर भी इस तर्क पर कानून बना सकती है कि वे कनाडा मे शान्ति-व्यवस्था तथा सु-शासन को प्रभावित करते हैं।

३. अधिराज्य सरकार को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह प्रान्तीय विधान मण्डल द्वारा पारित किसी कानून को एक वर्ष के भीतर अस्वीकार कर दे।

४. अधिराज्य सरकार को ही प्रत्येक प्रान्त में लैफ्टिनैंट-गवर्नर को नियुक्त

करने का तथा उसे पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त है। वह लैफ्टिनेंट-गवर्नर को यह भी आदेश दे सकती है कि वह प्रान्तीय विधेयकों को अपनी अनुमति रोक ले तथा उन्हें गवर्नर-जनरल के विचारार्थ रख ले। गवर्नर-जनरल, यदि उचित समझे, तो ऐसे विधेयकों की अनुमति नहीं देता।

५. प्रान्तों में सभी महत्वपूर्ण न्यायिक नियुक्तियाँ अधिराज्य-सरकार द्वारा की जाती हैं।

६. सीनेट के सदस्य अधिराज्य-सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं और चेम्बर में छोटे-बड़े प्रान्तों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं। तदनुसार संयुक्त राज्य के सीनेट से विपरीत, कनाडा का सीनेट प्रान्तीय हितों का सर्वथा अथवा मुख्यतः संरक्षक नहीं।

इस प्रकार कनाडा-संघ के निर्माता उस संघात्मक सिद्धान्त से मूलतः विचलित हो गये जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों के बीच में अधिकारों को विभक्त किया जाता है तथा बांटा जाता है। वह दोनों प्रकार की सरकारों को अपने-अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत समान पद वाला तथा स्वतन्त्र मानता है। एक संघात्मक शासन का अत्यावश्यक लक्षण यह होता है कि न तो केन्द्रीय सरकार और न क्षेत्रीय सरकारें ही अपने अस्तित्व के लिये अथवा उचित रूप से कार्य करने के लिये एक दूसरे को निःसहाय रूप से आश्रित नहीं बना देती परन्तु डासन (Dawson) के शब्दों में, "कनाडा के प्रान्तों को बहुत घटिया प्रकार की संस्थाएं बना दिया गया जिन्हें अधिक वृहद् नगरपालिकाओं की अपेक्षा कुछ थोड़ा-सा अधिक अधिकार और मान प्राप्त था।" क्यूबक सम्मेलन में जो विचार-विमर्श हुआ, उसमे प्रान्तीय विधानमण्डलों को बार-बार 'अधीनस्थ', 'लघु' तथा 'घटिया' संस्थाएँ कहा गया। ६ फरवरी, १८६५ ई० को कनाडा के संसद् मे क्यूबक प्रस्ताव पर भाषण देते हुए मैकडानल्ड ने कहा था, "हम... केन्द्रीय संसद् को शक्तिशाली बनाते है और अनुसंधान को पांच राष्ट्रों तथा सरकारों के स्थान पर एक राष्ट्र तथा एक सरकार का रूप देते हैं। सीमित तथा अपर्याप्त प्रकार से केवल थोड़ी सी सत्ता हमे एक दूसरे से सम्बद्ध करती है। इस प्रकार, यह एक संयुक्त प्रान्त होगा जिसमें स्थानीय सरकारें तथा विधानमण्डल प्रधान सरकार और प्रधान विधान मण्डल के आधान होंगे।" डाक्टर चार्ल्स टप्पर ने इस तथ्य की जो व्याख्या की है, वह और भी स्पष्ट है। उसने कहा, "हम निचले प्रान्तों में स्थानीय सरकारों को बनाये रखना चाहते है क्योंकि हमारे पास म्यूनिसिपल संस्थाएँ नहीं है।" उसने बड़ी सतर्कता के साथ यह भी जोड़ दिया था कि "जहाँ हमे स्थानीय सरकारों के अधिकारो को बहुत घटा देना चाहिए, वहाँ हमे इस विषय मे लोगो की अरुचियों को भी प्रमुखतः इकट्ठा नहीं कर लेना चाहिये।" इस प्रकार विचार करने पर, कनाडा में प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार के अधीन तो हैं, उसके समान पद वाली नहीं और इससे संघात्मक शासन-प्रणाली का उद्देश्य जाता रहता है।

अस्वीकृति तथा निषेध सम्बन्धी अधिकतर प्रान्तों के केन्द्रीय सरकार पर और भी नि:सहाय रूप से आश्रित बना देते हैं। उत्तरी अमेरिका अधिनियम अधिराज्य सरकार को यह अधिकार देता है कि वह प्रान्तीय विधान मण्डल को उसे सौंपे गये विषय पर भी कानून बनाने से रोक सकती है यदि अधिराज्य सरकार उन कानूनों मे निहित नीति को उचित नही समझती। "अस्वीकृति तथा प्रारक्षीकरण (Disallowance and Reservation) नामक अभियोग (१६३८ ई०) में, कनाडा के उच्चतम न्यायालय ने यह मत प्रकट किया था कि कनाडा अधिराज्य के अस्वीकृति तथा निषेध-सम्बन्धी अधिकार कानूनी तौर पर अनियन्त्रित है और वे वित्तीय तथा साधारण सभी प्रकार की विधि-व्यवस्था पर लागू होते है। इसका अर्थ है कि प्रान्तीय सरकारें पूर्णतया अधिराज्य सरकार पर आश्रित है।

ये सभी एकात्मक तत्त्व हैं और प्रोफेसर वेयर (Wheare) जो संघवाद के प्रसिद्ध विद्वान है, स्पष्ट कहते है, "सरकार को एक करने के लिये तथा उसके केन्द्रीयकरण के लिये क्या इससे भी अधिक शक्तिशाली कोई साधन हो सकता था?"[1] तत्पश्चात् प्रोफेसर वेयर इस विवादपूर्ण प्रश्न पर विचार करते है कि क्या कनाडा मे एकात्मक अथवा संघात्मक प्रकार का शासन है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन एकात्मक तत्त्वों के होते हुए भी, कनाडा के संविधान मे संघात्मक सिद्धान्त को पूर्णतया तिलांजलि नही दी गई; उसे वहाँ स्थान प्राप्त है और वह स्थान काफी महत्त्वपूर्ण है।" वह आगे लिखते हैं, "यदि हम अपने आप को सविधान की परिभाषित विधि तक ही सीमित कर लें, तो यह जानना कठिन हो जायेगा कि क्या हम इसे अत्यधिक एकात्मक रूपान्तरों सहित संघात्मक संविधान कहे अथवा इसे अत्यधिक सघात्मक रूपान्तरो सहित एकात्मक संविधान का नाम दे। मेरे विचार में कोई विशेषक शब्द जोड़े बिना इसे संघात्मक सविधान का नाम देने से सघात्मक सिद्धान्त के अर्थ का अनर्थ हो जावेगा। इसीलिये, मैं यह कहना अधिक उपयुक्त समझता हूँ कि कनाडा का सविधान 'अर्ध-संघात्मक' (quasi-federal) है।"[2]

परन्तु, एक दूसरे प्रसिद्ध विद्वान प्रो० केनेडी (Professor Kennedy) का यह निश्चित मत है कि, "कनाडा वास्तविक रूप मे एक संघ है।" उसके अपने शब्दों में, उसके निष्कर्ष कई एक कानूनी निर्णयों पर आधारित है और निम्नलिखित चार बातो के अन्दर उन निष्कर्षों का समावेश हो जाता है:—

१. अधिराज्य ससद् ब्रिटिश संसद् अथवा प्रान्तों की प्रतिनिधि नही। वह अपने क्षेत्राधिकार पर पूर्णतया समस्त अधिकार रखती है।

२. प्रान्तीय विधान मण्डल ब्रिटिश ससद् के प्रतिनिधि नहीं है। संविधान द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत उनकी सत्ता परिपूर्ण है और जैसा कि होज बनाम सम्राज्ञी (Hodge V. The Queen) अभियोग मे यह मत प्रकट किया गया था कि

1. Wheare, K. C. Federal Government, p. 20.
2. *Ibid*

इस प्रकार निर्धारित क्षेत्र के अन्तर्गत "स्थानीय विधानमण्डल सर्वोच्च सस्था है और उसे साम्राज्यिक संसद् अथवा अधिराज्य की संसद् के समान ही अधिकार प्राप्त है।"

३. प्रान्तीय विधानमण्डल अधिराज्य संसद् के प्रतिनिधि नहीं है और उनका स्तर म्युनिसिपल संस्थाओं से किसी प्रकार भी मिलता-जुलता नही। मैरीटाईम बैंक आफ कनाडा वनाम न्यू ब्रन्सविक का रिसीवर जनरल (Maritime Bank of Canada V. The Receiver General of New Brunswick) के ऋण-व्यवस्थापको में लार्ड वाटसन ने घोषणा की थी कि, "१८६७ ई० का अधिनियम किसी प्रकार से भी क्राउन के अधिकारों तथा विशेषाधिकारो को कम नही करता और न वह सम्राट् तथा प्रान्तों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धो को विशृंखल करता है। अधिनियम का उद्देश्य न तो प्रान्तो को एक-सूत्र मे बांधना था और न प्रान्तीय सरकारों को किसी केन्द्रीय सत्ता के अधीन बनाना था, वरन् उसका उद्देश्य तो एक संघात्मक सरकार का संगठन करना था, जिसमें उन सबके प्रतिनिधि सम्मिलित हों, तथा जिसे उन विषयों का सम्पूर्ण प्रवन्ध सौंप दिया जाये जिसमे उन सब का समान हित है तथा संघ में प्रत्येक प्रान्त अपनी स्वतन्त्रता और स्वायत्तता को बनाये रखे। ......उन विषयों के सम्बन्ध में जो ९२वें परिच्छेद के अनुसार प्रत्येक प्रान्त के लिये विशेषकर नियत हैं, वैसी ही स्थिति बनी रहेगी जैसी कि अधिनियम के पारित होने से पूर्व थी।"

४. प्रान्त स्वतन्त्र तथा स्वायत्त रहेगे। प्रो० केनेडी अधिराज्य शासन तथा प्रान्तों की स्थिति तथा स्तर का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि दोनों सरकारें "समान अधिकार रखती हैं तथा विधान द्वारा प्राप्त सामान्य अथवा विशेष अथवा अभिप्रात क्षेत्र के अन्तर्गत व्यक्तिश. रूप से प्रभुसत्ताधारी है।"[1] उसके मत मे यह व्याख्या ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम की प्रस्तावना से मिलती है जो इस प्रकार है—"अत: कनाडा, नोवास्कोशिया तथा न्यू ब्रन्सविक के प्रान्तों मे सघ में सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट की है।"

एक संघात्मक संविधान वास्तव में वही कुछ होता है जैसा न्यायाधीश उसे बतलाते हैं। संयुक्त राज्य के संविधान की व्याख्या करते हुए उच्चतम न्यायालय ने सघवाद के एक निश्चित सिद्धान्त को अपनाया था। यह मान लिया गया था कि राज्य उन सभी बातों में अपनी 'प्रभुसत्ता' को बनाये रखेंगे जो उनसे स्पष्टत: न ली गयी हों और इस प्रकार कांग्रेस की विधि-व्यवस्था उन अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करेगी जो राज्यों के पास रहेगे तथा राज्यों की भी विधि-व्यवस्था को उन अधिकारों मे हस्तक्षेप करने की आज्ञा नही होगी जिन्हे विशेष रूप से संघीय सरकार को सौप दिया गया है। उच्चतम न्यायालय को किसी भी ऐसे संघीय अथवा राज्य के कानून को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार प्राप्त है जो उसके विचार में, संविधान द्वारा लगाई गई सीमाओ का उल्लघन करता हो। इसके अतिरिक्त,

1. The Constitution of Canada, p. 408.

संविधान की व्याख्या करते समय, उच्चतम न्यायालय ने इस बात को भी सदा ध्यान में रखा है कि संविधान कोई साधारण कानून नहीं होता। यह तो आधारभूत विधि होती है जो शासन के यन्त्र की व्यवस्था करती है और इसकी व्याख्या तो उन परिस्थितियों के अनुसार ही की जानी चाहिये जिनका इसे सामना तथा समाधान करना होता है। केवल कानून के शब्दों पर तथा उसके निर्माताओं की धारणाओं पर विश्वास कर लेने से तो संविधान गतिहीन बन जायेगा तथा इस प्रकार, शासन के विभिन्न अंगों के परिवर्तनशील सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल बनने पर रोक लग जायेगी।

परन्तु कनाडा के उच्चतम न्यायालय और प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति ने अमेरिकी उच्चतम न्यायालय के पथ का अनुसरण नहीं किया है। उन्होंने ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम को एक ऐसी सविधि (Statute) के रूप में ही लिया है जिसकी अन्य संविधियों के समान ही व्याख्या की जा सकती है। विधिबद्ध व्याख्या के रूढ़िगत नियमों का पालन करते हुए, न्यायाधीशों ने ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम में शब्दों के केवल शाब्दिक अर्थों को ही लिया है और ऐतिहासिक तथ्यों, अथवा संविधान के निर्माताओं की धारणाओं अथवा देश की उन परिवर्तनशील सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की अवहेलना की है जिनके अनुकूल शासन के यन्त्र को अवश्य होना चाहिये। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम की व्याख्या के लिए किसी सीधे मार्ग को नहीं अपनाया गया है। लार्ड हाल्डेन (Lord Haldane) ने अटार्नी जनरल आफ आस्ट्रेलिया बनाम कोलोनियल शूगर रीफाइनिंग कम्पनी (Attorney General of Australia V. Colonial Sugar Refining Co.) के अभियोग में यह मत प्रकट किया था कि कनाडा के संविधान को, केवल मुक्त रूप को छोड़, सघीय नहीं कहा जा सकता। परन्तु उत्तरी अमेरिका अधिनियम की परस्पर विरोधी व्याख्याएँ होने पर भी, इतिहास ने कुछ और ही सिद्ध किया है। अमेरिकी संघ ने राज्य-अधिकारों के सिद्धान्त को लेकर अपना काम आरम्भ किया। आज भी हम वहाँ केन्द्रीय शक्ति मे निरन्तर वृद्धि पाते हैं और केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया वहाँ पूरे जोरों पर है। अर्थात्, राष्ट्रीय सरकार ने उन कार्यों पर भी प्रभुत्व अथवा नियन्त्रण कर लिया है जो पहले राज्य के क्षेत्राधिकार में समझे जाते थे। कनाडा ने अपना राजनीतिक जीवन जब आरम्भ किया तो पलड़ा 'केन्द्रीय सत्ता' की ओर झुका हुआ था। आज कनाडा के प्रान्तों को अमेरिकी संघ के राज्यों की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त हैं।

इस स्थिति का दायित्व बहुत सी बातों पर है परन्तु प्रमुख रूप से राजनीतिक सत्ताधारियों के दृष्टिकोण का इस स्थिति पर बहुत प्रभाव पड़ा है। सर जान मैकडानल्ड ने जो प्रारम्भिक काल के प्रमुख राजनीतिज्ञ माने जाते हैं तथा जो वास्तव में कनाडा-संघ के निर्माता थे, यह निश्चित मत प्रकट किया था कि प्रान्तीय विधानमण्डल अधीनस्थ संस्थाएँ है और लेफ्टिनैंट-गवर्नर अधिराज्य-सरकार के मनोनीत व्यक्ति हैं और उसको यह आशा थी कि वे लोग कर्त्तव्य-परायण कर्मचारियों की भाँति

अधिराज्य सरकार के हितों की पूरी-पूरी रक्षा करेंगे। मैकडानल्ड ने प्रान्तीय कानूनों को अस्वीकार करने की प्रथा भी स्थापित की और संघ के प्रथम दस वर्षों में २६ कानून अस्वीकार कर दिये गये। परन्तु उदारवादी दल ने जिसमें ओन्टेरियो के प्रधान मन्त्री (१८७२-१८९६), ओलिवर मोवट (Oliver Mowat) को विशेष स्थान प्राप्त था, मैकडानल्ड द्वारा अधिराज्य-अधिकारों के अत्यधिक प्रयोग तथा विशेषकर अस्वीकृति सम्बन्धी उसकी शक्ति का बड़ा विरोध किया तथा वह उनके विरुद्ध लड़ा था। उदारवादियों का मत था कि अपने क्षेत्राधिकार में प्रान्तों की वही उच्चतम स्थिति है जो अधिराज्य की अपने क्षेत्राधिकार में है। १८८७ ई० तक, अधिराज्य सरकार की केन्द्रीयकरण नीतियों के प्रति असंतोष चरम सीमा तक पहुँच चुका था। क्यूबक में पाँचों प्रान्तों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ था जिसमें प्रान्तीय सत्ता के सर्वांगीण स्वरूप का समर्थन किया गया था और (१) संघीय क्षेत्राधिकार में कमी, (२) अस्वीकृति के अधिकार की समाप्ति, (३) अधिराज्य सरकार के कर्मचारियों के स्थान पर सम्राट् के प्रतिनिधियों के रूप में लेफ्टिनेंट-गवर्नरों की मान्यता, (४) प्रत्येक प्रान्त द्वारा सीनेट के कुछ सदस्यों की नामजदगी—के लिये आन्दोलन करने पर वे सहमत हो गये।

जब उदारवादी दल ने १८९६ ई० में केन्द्र में शासन की बागडोर सम्भाली तो उसने सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाया और नये विकसित होते राष्ट्र में केन्द्रीयकरण से सम्बन्धित प्रचलित भय को कम करने का यत्न किया। उसने उन अधिकारों में से जो "ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम" ने अधिराज्य सरकार को सौंपे थे, किसी एक को भी अस्वीकार नहीं किया और न उस दल ने उन अधिकारों को लुप्त होने दिया। परन्तु तब से अस्वीकृति-सम्बन्धी अधिकार का बड़ी सावधानी से प्रयोग किया जाने लगा और एक सामान्य उपाय की अपेक्षा उसका कभी-कभार ही, अथवा ब्रैडी के शब्दों में, "संविधान की अन्तिम औषधि" के रूप में ही प्रयोग किया जाने लगा। वर्तमान स्थिति पर डासन ने भली प्रकार से प्रकाश डाला है। वह कहता है, "पिछले ३५ वर्षों में यदा-कदा ही अस्वीकृति अधिकार का प्रयोग किया गया है परन्तु अब यह उतना क्रियाशील नहीं रहा कि अधिराज्य को बार-बार उस भूल का ध्यान होता रहे जो १८६४ ई० में हो गई थी। अब तो सभी कनाडावासी यह समझने लगे हैं कि प्रान्तीय विधान-मण्डल की भूलों तथा अनीतियों का वास्तविक निर्णेता अधिराज्य सरकार नहीं वरन् निर्वाचक समूह है।" अब जब कि अधिराज्य सरकार ने निश्चित रूप से संघीय रूप धारण कर लिया है, वह परस्पर-विरोधी हितों को सन्तुलित करती है और इस प्रकार कानूनी अधिकारों को व्यवहार रूप में संघीय सिद्धान्त का अधीनस्थ बना देती है।

संसदीय शासन-प्रणाली के अभिसमय तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं। ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम अधिराज्य सरकार को लेफ्टिनेंट-गवर्नर नियुक्त करने का अधिकार देता है और कानून द्वारा लेफ्टिनेंट-गवर्नर उन मन्त्रियों की नियुक्ति करता है जो उसकी अनुमति से पदारूढ़ रहते हैं। परन्तु संसदीय शासन

प्रणाली के अभिसमय इस बात की मांग करते हैं कि लेपिटनैंट-गवर्नर केवल उन व्यक्तियों को ही मन्त्री नियुक्त करे जो विधानमण्डल मे बहुसंख्यक दल के सदस्य होते है तथा उसका उन पर विश्वास होता है। इस प्रकार, वास्तविक अधिकारी तो वे लोग होते है जिन्होने चुनाव में उन्हें बहुमत से चुना होता है। और अधिराज्य सरकार को उनकी पसन्द अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है तथा उन नीतियों का समर्थन करना पड़ता है जिनका उन्हे आदेश होता है। वास्तव मे, अधिराज्य सरकार भी इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकती क्योंकि वह भी लोगों द्वारा चुनी जाती है और उसे भी सत्ता प्राप्त करने के लिए समय-समय पर जनता के पास आना पड़ता है। संविधान की यह प्रथा क्यूबक सम्मेलन की इस धारणा को लगभग निरर्थक बना देती है कि अधिराज्य प्रान्तों पर लेपिटनैंट-गवर्नरों द्वारा भली प्रकार से अपना प्रभाव डाल सकेगा। इसी प्रकार यद्यपि अधिराज्य सरकार को प्रान्तों मे सभी महत्त्वपूर्ण न्यायिक नियुक्तियाँ करने का अधिकार प्राप्त है, फिर भी वह इस अधिकार का काफी सोच-विचार से प्रयोग करता है और न्यायालयों में उसने ऐसे व्यक्तियों को भरने का यत्न नहीं किया है जो प्रान्तीय अधिकारों के विरोधी हों। तदनुसार, प्रोफेसर वेयर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, "कनाडा राजनीतिक रूप से संघ है और कोई भी अधिराज्य-शासन जो संघीय तत्त्वों की अवहेलना करके कनाडा संविधान के एकात्मक तत्त्वों पर जोर देगा, अपना अस्तित्व नहीं रख सकेगा।"[1]

प्रोफेसर वेयर यह निश्चित करने के लिये कि क्या वह संघीय सविधान है अथवा नही, केवल संविधान की विधि पर ही निर्भर नही करते। उनके शब्दों में, "संविधान का व्यावहारिक रूप उसकी विधि की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हो सकता है कि एक देश का संविधान तो संघीय हो, परन्तु व्यवहार मे वह सविधान इस प्रकार कार्य करे कि उसका शासन संघीय न लगे अथवा एक ऐसा देश जिसका सविधान तो संघीय न हो, परन्तु वहाँ काम इस प्रकार से हो कि वह संघीय-शासन का उदाहरण प्रतीत हो।" प्रोफेसर वेयर का निष्कर्ष पूर्णतया स्पष्ट है। वह कहते हैं, "यह निष्कर्ष उपयुक्त प्रतीत होता है कि यद्यपि कनाडा-संविधान विधि के विचार से अर्ध-सघीय है, परन्तु व्यवहार रूप मे वह मुख्यतः संघीय है। दूसरे शब्दो मे इस प्रकार भी कह सकते हैं, यद्यपि कनाडा का संविधान संघीय नही है, परन्तु उसका शासन संघीय है।"[2]

कनाडा का शासन वास्तव मे संघीय है। एकात्मक तत्त्व वहाँ इस प्रकार से क्रियाशील है कि वे संघीय सिद्धान्त से मेल नही खाते। प्रान्तों को अब विस्तृत राजनीतिक तथा विधायी सत्ता प्राप्त है। उन अधिकारो के क्षेत्र में जो उन्हे सौप रखे हैं, वे व्यवहार रूप मे स्वतन्त्र है। प्रान्तीय कानूनो को अस्वीकार करने से सम्बन्धित अधिकार का बहुत कम प्रयोग होता है और वह केवल उन अधिनियमो तक ही सीमित है

1. Wheare, K. C., Federal Government, p. 21.
2. Wheare, K. C., Federal Government, p. 21.

उत्तरी अमेरिका अधिनियम के अनेक उपबन्धों का समय-समय पर संशोधन करते रहे है। कनाडा के संसद् के परिनियमों के अंतर्गत ऐसे शासनपत्रों (enactments) की गणना की जाती है, जैसे सिंहासन उत्तराधिकार अधिनियम (Succession to the Throne Act), सीनेट तथा कॉमन सभा अधिनियम (Senate and the House of Commons Act), सीनेट का स्पीकर अधिनियम (Speaker of the Senate Act), कॉमन सभा का स्पीकर अधिनियम (Speaker of the House of Commons Act), कॉमन सभा अधिनियम (House of Commons Act) और वेतन अधिनियम (Salaries Act) है। इसी प्रकार प्रान्तों के भी परिनियम हैं जिनका सम्बन्ध कार्यपालिका काउन्सिल (Executive Council), विधानमण्डल (Legislature), प्रतिनिधित्व (Representation), चुनाव (Election) आदि विषयों से होता है। कनाडा के गवर्नर जनरल के पद की स्थापना करने वाले लैटर्स पेटेण्ट (Letters Patent) तथा गवर्नर-जनरल के लिए निर्गत आज्ञाएँ भी संविधान की लिखित सामग्री (Written material) मानी जाती है। अतएव स्पष्ट है कि कनाडा के सविधान के स्रोत बिखरे पड़े हैं। यद्यपि स्थिति ऐसी ही है तथापि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि कनाडा में सविधान अधिनियम या कोई साविधानिक प्रलेख, जिसे सविधान कह सकते हैं, नहीं है। कनाडा का सविधान एक प्रकार से अमेरिका के संविधान जैसा ही है। फिलाडेल्फिया प्रसभा से निकलने वाला संविधान एक संक्षिप्त प्रलेख था परन्तु संविधान के निर्माताओं ने उसमें वृद्धि की पर्याप्त गुंजाइश रख ली थी। परिणामतः समय के साथ प्रथाओं, अभिसमयों, न्यायालयों के निर्णयो आदि कई कारणों द्वारा वह वृद्धि को प्राप्त भी हुआ। प्रत्येक देश मे विकास का यही क्रम रहता है और कनाडा भी इसका अपवाद नहीं है।

संविधान का संशोधन (Amendment of the Constitution)— आस्ट्रेलिया-सविधान अधिनियम के असदृश, ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम मे कोई संशोधी धारा सम्मिलित नहीं। अधिनियम मे इस त्रुटि का कारण स्पष्ट नहीं है यद्यपि यह माना जा सकता है कि "ब्रिटिश सविधि सामान्य प्रपत्र प्रतीत होती थी जिसके द्वारा किसी अन्य ब्रिटिश संविधान को बदला जा सकता है।"[1] परन्तु ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम मे ब्रिटिश ससद् के अधिनियम द्वारा सशोधित करने की प्रक्रिया बहुत से कनाडावासियों के मत में, कनाडा की स्थिति तुच्छ बना देती है। क्योंकि अपने स्वतन्त्र स्तर पर अनेक वर्षों तक जोर देने के पश्चात् उसे यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि स्वशासन की सर्वाधिक आधारभूत शक्तियो में से एक के प्रयोग के लिए वह बाह्य विधायी संस्था पर आश्रित है।

परन्तु ब्रिटिश संसद् जब और जैसे इसकी इच्छा हो, अधिनियम को संशोधित

1. Ibid p. 138. ज्ञानवर्द्धक अध्ययन के पाल जीरैन लाजुर्ई की पुस्तक Constitutional Amendment in Canada पढ़ी जा सकती है।

नहीं करती। १८७१ ई० से यह एक मान्य प्रथा बन गई है कि संशोधन की मांग कनाडा की संसद्—सीनेट तथा कामन सभा—द्वारा सम्राज्ञी को एक समावेदन के रूप में की जाती है जिसमें ब्रिटिश संसद् से एक संशोधी अधिनियम पारित करने की प्रार्थना की जाती है। ब्रिटिश संसद् ने सदा स्वयंचालित यन्त्र की भांति काम करके चुपचाप तथा शीघ्रतापूर्वक आवश्यक संशोधन पारित कर दिया है। इस प्रकार ब्रिटिश संसद् तो केवल अधिराज्य संसद् की इच्छाओं की सिद्धि का साधनमात्र है। संशोधित करने की वास्तविक शक्ति तो स्वयं कनाडा को ही प्राप्त है।

नित्य प्रयोग नहीं किया गया जैसा कि १६१६ ई० में डेविनशायर के ड्यूक (Duke of Devenshire) को बिना किसी प्रारम्भिक परामर्श के ही नियुक्त कर दिया गया था। १६२६ ई० के साम्राज्यिक सम्मेलन ने एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। इस सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि यदि गवर्नर-जनरल "ब्रिटेन के सम्राट् की सरकार का अथवा उसकी सरकार के किसी विभाग का प्रतिनिधि अथवा एजेण्ट" नहीं है तो ब्रिटिश सरकार का इस प्रकार के चयन से कोई मतलब नहीं होना चाहिये। तब से गवर्नर-जनरल की नियुक्ति अधिराज्य सरकार द्वारा की जाती है। कनाडा का प्रधान-मन्त्री सम्राट् अथवा सम्राज्ञी से नियुक्ति की सिफारिश करता है और इस प्रकार की सलाह प्रायः स्वीकृत हो जाती है। ग्रेट ब्रिटेन तो केवल यह देखता है कि नियुक्ति के लिये सिफारिश किया गया व्यक्ति उपलब्ध भी है अथवा नहीं। १६३६ में, प्रधान मन्त्री बैनिट (Bennet) ने दूसरा ढंग निकाला था, जब लार्ड ट्वीड्समूर (Tweedsmuir) के नाम पर विचार किया जा रहा था, तो बैनिट महोदय ने विरोधी दल के नेता मिस्टर मैकेन्जी किंग (Mr. Mackenzie King) के साथ सर्वप्रथम इस विषय में बातचीत की। उसका उद्देश्य यह था कि दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों की अनुमति मिल जाने पर एक पक्षरहित व्यक्ति की नियुक्ति हो सकेगी। यह विधि प्रथा का रूप धारण करती जा रही थी कि १६५२ ई० में प्रथम कनाडियन गवर्नर-जनरल, मिस्टर विंसेंट मैसी (Mr. Vincent Massey) की नियुक्ति की व्यापक आलोचना की गई। मिस्टर मैसी स्पष्ट रूप से उदारवादी दल के साथ सम्बन्धित थे और जब वह दल सत्तारूढ़ था, तो वह एक बार उसके मन्त्रिमण्डल के सदस्य भी रहे थे। कनाडा में बहुत से लोग इसे एक स्वस्थ प्रथा नहीं समझते कि कनाडावासियों में से ही किसी को गवर्नर-जनरल नियुक्त किया जाये। लैसली राबर्ट्स (Leslie Roberts) का कहना है कि उन्हें डर है, "कि यदि उनमें से ही किसी को नियुक्त करने की प्रथा चल पड़ी, तो शीघ्र ही गवर्नर-जनरल का पद सरकार के हाथ में सर्वोत्तम राजनीतिक प्रलोभन का रूप धारण कर लेगा।"[1]

डॉसन लिखता है कि "गवर्नर-जनरल के पदाधिकार की अवधि के विषय में यद्यपि कुछ सदिग्ध रूप से, परन्तु बड़े सरलपूर्ण ढग से कहा गया है कि वह सरकारी तौर पर छः वर्ष मानी गई है परन्तु प्रथानुसार वह पांच वर्ष समझी जाती है और कई बार वह सात वर्ष तक भी खिंच गई है।"[2] कनाडियन मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर सम्राज्ञी उसे पदच्युत भी कर सकती है। उसका वेतन दस हजार डालर प्रतिवर्ष है तथा उसे विभिन्न भत्ते, अपने उच्च पद के अनुसार अनेक सुविधाएँ तथा क्यूबक दुर्ग के एक भाग रिड्यू हाल (Rideau Hall) की सामान्य देख-रेख के व्यय भी मिलते हैं।

1. Canada, the Golden Hinge, p. 58.
2. The Government of Canada, p. 176.

गवर्नर-जनरल के अधिकार (Powers of the Governor-General)—गवर्नर-जनरल के अधिकार वास्तव में विस्तृत हैं परन्तु अपने स्वामी, सम्राट् की भांति गवर्नर-जनरल अब शासन नही करता और अपने शासन-कार्यों से अब उसका व्यक्तिगत कोई सम्बन्ध नही। सम्राट् के प्रतिनिधि के पद से सम्बन्धित कर्त्तव्यो और अधिकारो का वास्तविक प्रयोग तो कनाडा में सम्राज्ञी के उत्तरदायी मन्त्रियो को प्राप्य है। डासन लिखता है कि, "गवर्नर-जनरल उसी मार्ग का अनुसरण करने लगा है जिसे कुछ पीढ़ी पूर्व उसके प्रतापी अधिपति ने नि शित किया था और अब वह भी काफी अंश तक उसकी निर्योग्यताओ का भागीदार है। वह एक ऐसा वैधानिक प्रमुख जीवी है जिसने अपनी राजनीतिक अनिवार्यता को बनाये रखने का उपाय निकाल लिया है। कभी वह उच्चतम मुखिया था जिसके अधिकार अब मुख्यतः दूसरो को हस्तान्तरित हो गये हैं। इस पर भी उसने अपनी पूर्वकालिक सत्ता तथा महत्व को काफी अंश तक बचा रखा है।"[1]

ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम वह कार्यकारी शासन तथा सत्ता क्राउन[2] को दे देता है, जिसे गवर्नर-जनरल उस परिषद् की सहायता तथा परामर्श से प्रयोग में लाता है जो उसके द्वारा चुनी तथा बुलाई जाती है और जिसे वह अपनी इच्छा से पदच्युत भी कर सकता है।[3] परन्तु विधि ही व्यवहार नहीं और कार्यकारी अधिकारों का प्रयोग वास्तव में, सम्राज्ञी के नाम पर उन मन्त्रियों द्वारा किया जाता है जो अपनी सत्ता अधिराज्य-संसद् से प्राप्त करते हैं और अपने अधिकारों के प्रयोग के लिए वे उसी संसद् के प्रति उत्तरदायी होते है। एक वैधानिक मुखिया के रूप मे, संसदीय शासन-प्रणाली की स्थापित रीतियो द्वारा गवर्नर-जनरल के लिए मार्ग निर्देशित कर दिया गया है। वह प्रचलित मार्ग का अनुसरण करता है। जब वह कॉमन सभा मे बहुसंख्यक दल के नेता को बुला कर उसे मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य सौंप देता है और ये मन्त्री तब तक पदारूढ़ रहते हैं जब तक उनमे कॉमन सभा का विश्वास बना रहता है। गवर्नर-जनरल की वैधानिक स्थिति १६२६ ई० के साम्राज्यिक सम्मेलन द्वारा एक औपचारिक वक्तव्य में प्रकट की गई थी। वक्तव्य ने इस बात की पुष्टि की थी कि अधिराज्य का गवर्नर-जनरल ब्रिटिश सरकार के किसी विभाग का नही वरन् क्राउन का प्रतिनिधि है और अधिराज्य में सार्वजनिक कार्यों के प्रशासन से सम्बन्धित उसकी स्थिति अनिवार्य रूप से वैसी ही है जैसी कि ग्रेट ब्रिटेन में महामहिम सम्राट् की है।" गवर्नर-जनरल का नीति के निर्धारण तथा कार्यान्विति से कोई सम्बन्ध नहीं, और वह मन्त्रियों की मन्त्रणाओं में भी कोई भाग नही लेता। ड्यूक ऑफ अर्गाईल (Duke of Argyll) [1878-83] ने मन्त्रिमण्डल की सभाओं मे सम्मिलित होना बन्द कर दिया था और तब से इस प्रथा का निरन्तर पालन किया गया है।

---

1. *Ibid*, p. 165.
2. Article 9.
3. Article 11.

गवर्नर-जनरल अधिराज्य की स्थल, जल तथा वायु सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति है। संयुक्त राष्ट्र संघ में कनाडा के प्रतिनिधि की नियुक्ति गवर्नर-जनरल करता है तथा उन कम महत्त्वपूर्ण सन्धिपत्रों पर, जिन पर क्राउन प्रत्यक्षतः हस्ताक्षर नहीं करता, गवर्नर-जनरल के हस्ताक्षर होते हैं। वह उन साधारण अभिकर्त्ताओं तथा मन्त्रियों को नियुक्त तथा उनका स्वागत करता है जो सरकार द्वारा प्रत्यक्षतः नियुक्त नहीं किए जाते हैं और न उसके द्वारा उनका स्वागत होता है। १९२६ ई० तक, गवर्नर-जनरल ब्रिटिश सरकार की ओर से राजदूत-सम्बन्धी कतिपय कार्य करता था और साम्राज्य के अधिक व्यापक हितों की रक्षा का काम भी उसके जिम्मे था। परन्तु १९२६ ई० के साम्राज्यिक सम्मेलन ने न केवल किसी अधिराज्य की सरकार के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल की स्थिति को ही स्पष्ट कर दिया, वरन् उसे ब्रिटिश सरकार से भी पूर्णतया पृथक् घोषित कर दिया। १९२८ ई० में गवर्नर-जनरल के ऐसे सभी कार्य कनाडा-स्थित उच्चायुक्त को जो अब ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि स्वीकार किया जाता था, हस्तान्तरित कर दिए गए।

विध्यनुसार, गवर्नर-जनरल ही प्रान्तों के लेफ्टिनेंट-गवर्नरों की नियुक्ति करता है और उन्हें पदच्युत भी कर सकता है। व्यवहार में, ऐसी सभी नियुक्तियाँ तथा वियुक्तियाँ अधिराज्य मन्त्रालय द्वारा की जाती हैं। गवर्नर-जनरल सीनेट के अध्यक्ष, उच्च न्यायालय तथा प्राचीन न्यायालयों के न्यायाधीशों, आयुक्तों, पुरशासकों (Justices of the Peace) तथा विभिन्न प्रकार के पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है। और उसके अन्य विभिन्न कार्यों की भाँति ही, ये नियुक्ति सम्बन्धी कार्य भी वास्तव में उसके उन मन्त्रियों के हैं जो कॉमन सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

गवर्नर-जनरल संसद् को बुलाता, स्थगित करता तथा भंग करता है। परन्तु उसके अन्य विभिन्न अधिकारों के समान, गवर्नर-जनरल की ये भी अभिहित शक्तियाँ (Nominal powers) ही हैं। १९२६ ई० की बाइंग घटना (Bying Episode) ने अन्ततः यह निश्चित कर दिया था कि, संसद्-विसर्जन की माँग करने का अधिकार प्रधान मन्त्री का है और गवर्नर-जनरल इसके लिए इन्कार नहीं कर सकता। किसी विधेयक के लिए निषेधाधिकार का प्रयोग करना अथवा उसे सम्राज्ञी की स्वीकृति के लिए रोक लेने का अधिकार अब प्रयुक्त नहीं किए जाते। १९२६ ई० के साम्राज्यिक सम्मेलन, अधिराज्य-विधि-व्यवस्था की कार्य-प्रणाली से सम्बन्धित सम्मेलन में तथा व्यापारिक पोत कानून (१९२९) ने स्पष्टतया निश्चित कर दिया था कि ब्रिटिश पदाधिकारियों द्वारा अधिराज्य कानूनों की अस्वीकृति तथा गवर्नर जनरल द्वारा उनकी अनुमति रोक लेना इस बात से मेल नहीं खाता कि ब्रिटिश साम्राज्य में स्वतन्त्र समुदायों का स्तर समान है। ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम ने जो स्पष्ट बन्धन लगा रखा था कि कनाडा संसद् द्वारा पारित सभी अधिनियमों से ब्रिटिश सरकार को सूचित रखा जाए, उसका प्रतिपालन निष्ठापूर्वक १९४२ ई० तक होता रहा। तत्पश्चात् इस प्रथा का चुपके से त्याग कर दिया गया। १९४७ ई० में उस कनाडा संविधि को संशोधित करने वाला अधिनियम पारित किया गया कि

वर्तमान अधिनियमों की प्रतियाँ गवर्नर-जनरल तथा ब्रिटिश सरकार को भेजी जाय करे।

अतः कुछ ऐसी ही गवर्नर-जनरल की शक्तियाँ है। विध्यनुसार, प्रशासन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं जिसमें गवर्नर-जनरल हस्तक्षेप न कर सकता हो। परन्तु व्यावहारिक राजनीति में लॉर्ड बाईंग की घटना ने गवर्नर-जनरल की शक्तियो के प्रयोग से सम्बन्धित सारे वाद-विवाद तथा मत-भेद समाप्त कर दिए, और १९२६ के साम्राज्यिक सम्मेलन ने उसकी वैधानिक स्थिति की पुष्टि कर दी। फिर भी, कुछ ऐसे कार्य हैं जिन्हें गवर्नर-जनरल मन्त्रियों की सलाह से नही करता। इनमें से सबसे प्रमुख प्रधान मन्त्री की नियुक्ति है। संसदीय शासन-प्रणाली की स्थापित प्रथा के अनुसार गवर्नर-जनरल के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति नए प्रधान मन्त्री को अधिकृत नही कर सकता। गवर्नर-जनरल का यह कार्य आसान हो जाता है यदि संसद् में बहुसख्यक दल का कोई मान्य नेता हो। परन्तु यदि आकस्मिक मृत्यु के कारण अथवा पदग्राही के त्याग-पत्र के कारण प्रधान मन्त्री का स्थान रिक्त हो जाए, अथवा जब दल मे फूट पड़ने के कारण ऐसा हो जाए, और उसका कोई प्रत्यक्ष नेता न रहे तो तब गवर्नर-जनरल को ऐसे व्यक्ति को चुनने का स्वातन्त्र्य है जो कामन सभा में स्थायी बहुमत प्राप्त कर सकता हो तथा सरकार बनाने की स्थिति में हो। वह उन लोगों से परामर्श भी कर सकता है जो उसके विचार मे कुछ परामर्श दे सकते है। लार्ड एबरडीन (Aberdeen) ने १८९७ मे सर जान थाम्पसन (Sir John Thompson) का उत्तराधिकारी ढूंढते समय ऐसा ही किया था। गवर्नर-जनरल किसी अन्य कार्य विधि को भी अपना सकता है। वह सम्भावी प्रधान मन्त्रियों से बातचीत करके स्वयं पता लगा सकता है कि उनमें से कौन मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सकता है। १८९६ ई० मे लॉर्ड एबरडीन ने पहले सर डान्लड स्मिथ से बात करने के पश्चात् फिर सर चार्ल्स टप्पर को सर मैकेन्ज़ी नोबल के उपरान्त पद ग्रहण के लिए निमन्त्रित किया था। इन दो अवसरों के अतिरिक्त गवर्नर-जनरल को प्रधान मन्त्री का चुनाव करने में अपना निर्णय देने का मौका नहीं मिला परन्तु सम्भाव्यता अब भी है और ऐसा फिर हो सकता है जैसा कि १९१६ ई० तथा १९२३ ई० मे इंग्लैण्ड मे अथवा जुलाई १९४५ ई० में आस्ट्रेलिया मे हुआ था।

गवर्नर-जनरल का दूसरा कार्य यह है कि वह एक मध्यस्थ के रूप मे कार्य करता है और समय पड़ने पर राजनीतिक दलों के परस्पर राजनीतिक झगड़ों को सुलझाने के लिए अपने प्रतिष्ठा-प्रभाव को काम में लाता है। उसके परामर्श को मूल्यवान समझा जाता है तथा सामान्यतः उसे स्वीकार कर लिया जाता है क्योंकि गवर्नर-जनरल किसी प्रकार की भी राजनीतिक शक्ति का उपभोग नही करता। १९१७ ई० में ड्यूक ऑफ डेविनशायर ने सर राबर्ट बेडिन, सर विल्फ्रिड लारियर तथा अन्य चार नेताओं को राजभवन मे बुलाया था ताकि जबरी भर्ती, युद्ध-काल में निर्वाचनों का स्थगन तथा मिली-जुली सरकार बनाने की सम्भावनाओं आदि विवादग्रस्त विषयों पर बातचीत की जाये तथा मित्रवत् फैसला दिया जाये। इसी ढग से १९१४ ई० में सम्राट् ने इंगलैंड मे गृह-शासन विधेयक (Home Rule Bill) पर

समझौता कराने के लिये हस्तक्षेप किया था। गवर्नर-जनरलों ने भी कभी-कभी अधिराज्य तथा किसी प्रान्त के बीच झगड़ों को निपटाने के लिये हस्तक्षेप किया है जैसा कि लॉर्ड डफरिन ने ब्रिटिश कोलम्बिया तथा अधिराज्य के बीच उस कटुता को जो ब्रिटिश कोलम्बिया के संघ प्रवेश के तुरन्त पश्चात् ही पैदा हो गई थी, दूर करने का भरसक यत्न किया था। बीस वर्ष पश्चात् लॉर्ड एबरडीन ने मनीटोबा के महान्यायवादी तथा प्रधान मन्त्री से कई एक भेंटें की थीं।

कई बार गवर्नर-जनरल से यह भी आशा की जाती है कि वह अर्ध-राजनयिक अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करे। पूर्वकाल में गवर्नर-जनरल किसी निश्चित राजनयिक उद्देश्य से तथा लंदन सरकार के आदेश से संयुक्त राज्य की सरकारी यात्रा करता था। आजकल उनकी यात्रा न तो राजनयिक होती है और न ब्रिटिश सरकार के आदेश पर की जाती है। वें तो कनाडा सरकार की अनुमति से दो पड़ोसी देशों के मध्य मित्रता के गठबन्धन दृढ़ बनाने के लिये सद्भावना-यात्राएँ होती हैं। जैसा कि डासन कहता है, फिर भी यह सम्भव है कि "समय-समय पर होने वाली ये सामाजिक यात्राएँ उन विषयों का परीक्षामूलक ढंग से तथा अशासकीय रूप से पुनर्विलोकन करने के लिये प्रयुक्त होती हों जो दोनों राष्ट्रों के लिये समान लाभ के हों यद्यपि राजनयिक मेल-जोल के उद्देश्य से वे कोई अधिक लाभकारी नहीं होतीं।"

इंगलैंड के सम्राट् के समान ही, गवर्नर-जनरल सामाजिक ढाँचे का एक महत्त्वपूर्ण भाग होता है और इस प्रकार उसका पर्याप्त सामाजिक प्रभाव है। किसी भी उद्देश्य के लिये उसका संरक्षण बहुत बड़ा गुण समझा जाता है और उस उद्देश्य के लिये जनता का सहयोग निश्चित हो जाता है। उसका नाम विभिन्न क्रियाओं से जुड़ा रहता है तथा कला, संगीत, साहित्य, नाटक, सामाजिक सेवा, युवा आन्दोलन आदि अनेक क्षेत्र उसके ही संरक्षण में संगठित होकर अपना कार्य करते हैं। ये प्रतिष्ठापूर्ण (dignified) कृत्य, जैसा कि बैजहाट कहता है, सरकारी कृत्यों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रमुख कार्यकारी मुखिया होने के कारण, सामाजिक क्रियाओं से ही सम्बन्धित गवर्नर-जनरल के शिष्टाचारयुक्त कर्त्तव्य (ceremonial duties) होते हैं। वह संसद् का उद्‌घाटन करता है, विदेशी राजनयिक अभिकर्त्ताओं का स्वागत करता है और इस प्रकार वह कनाडा का सर्वाधिक व्यस्त निमन्त्रक होता है। वह कनाडा का सर्वाधिक यात्रानुभवी प्रतिष्ठित पुरुष है और उसे अवश्य ही वर्ष में दो बार अधिराज्य की यात्रा पर जाना पड़ता है। लैसली राबर्ट्'स के शब्दों में गवनर-जनरल प्रमुख रूप से सद्‌भावना का दूत है परन्तु वह ब्रिटेन के लिये सद्भावना पैदा करने का काम नहीं करता, परन्तु वह कनाडावासियों के मध्य सद्भावना की सृष्टि करता है तथा कनाडा के प्रति राष्ट्र के प्रतिष्ठित तथा सरकारी अतिथियों के मन में सद्भावना पैदा करने का यत्न करता है।

संक्षेप में, मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली राज्य के किसी नाममात्र मुखिया की जो केन्द्रीय तथा पक्षरहित व्यक्ति हो, कल्पना करती है और गवर्नर-जनरल उस

उद्देश्य की पूर्ति करता है। उसकी स्थिति का तुलना प्रायः इंगलैंड के सम्राट् से की जाती है और उसे उसके सदृश ही बना दिया जाता है। वास्तव मे, गवर्नर-जनरल का प्रभाव कुछ कम नही होता। किन्तु सम्राट् तथा उसके प्रतिनिधि के कृत्यों मे अति सूक्ष्म भेद पाया जाता है। गवर्नर-जनरल कनाडा सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता है और उसका पदवी काल अपेक्षाकृत थोड़े ही समय के लिये होता है, इसलिये उसे सम्राट् जैसा राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त नही हो सकता। सम्राट् तो राष्ट्र का मुखिया है। वह सभी का सम्राट् है और देश भक्ति के लिये एक लाभकारी केन्द्र का काम करता है। जैनिंग्ज के शब्दो में, "हम सरकार की निन्दा करते है परन्तु सम्राट् के लिये जय ध्वनि करते हैं।" सर रॉबर्ट बोर्डन ने उपयुक्त ही कहा था कि गवर्नर-जनरल एक 'मनोनीत राष्ट्रपति' होता है जो सम्राट् की भांति अत्यधिक आकर्षक ढग से लोक-भावना को कदाचित् ही अपील कर सकता है। 'वह सम्राट् के समान ही चाहे कितने ही शिष्ट ढग से कार्य क्यों न करे, फिर भी वह एक प्रतिनिधि ही है। फलतः वह एक प्रबल प्रतीक तथा राष्ट्र के दर्पण के रूप मे बहुत कुछ खो बैठता है। ऐसे प्रतीक के लिये कनाडावासियों को उससे परे सम्राट् की ओर देखना पड़ता है।" गवर्नर-जनरल अपने मन्त्रियों को अनौपचारिक परामर्श भी दे सकता है और सम्राट् की भांति ही उसे परामर्श देने का अधिकार, प्रोत्साहन देने का अधिकार तथा चेतावनी देने का अधिकार भी प्राप्त हैं। परन्तु सम्राट् जैसा उसका जीवन भर का लम्बा तथा परिपक्व अनुभव नही होता। सम्राट् तो वह राजनीतिक ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर लेता है जो उसे एक अनुभवी परामर्शदाता बना देता है और एक योग्य मन्त्री उससे परामर्श करने के लिये बाध्य ही नही होता वरन् वास्तविक इच्छा भी रखता है।

मन्त्रिमण्डल
(The Cabinet)

प्रिवी परिषद् तथा मन्त्रिमण्डल (The Privy Council and the Cabinet)—सारे राजनीतिक कार्य की प्रेरणा-शक्ति मन्त्रिमण्डल है। वही वह सर्वोच्च निर्देशक सत्ता है जो समस्त कार्यकारी शासन को नियमित तथा नियन्त्रित करती है, और विधानमण्डल के कार्य का अनुकूलन तथा पथ-प्रदर्शन करती है। तिस पर भी, जैसा कि इंगलैंड में है, उसे कनाडा मे कानूनी स्तर प्राप्त नहीं। वह संविधान अतिरिक्त संस्था है जिसके कार्यों को औपचारिक रूप से उस प्रिवी परिषद् के कार्य बना दिया जाता है जो कानूनी अस्तित्व लिये है। मन्त्रिमण्डल प्रणाली की समस्त व्यवस्था अभिसमयों पर आधारित है जो अलिखित होने पर भी सदा मान्य हैं तथा कानूनों जैसी स्पष्टता के साथ ही व्यक्त किये जाते हैं।

ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम प्रिवी परिषद् की व्यवस्था करता है। दूसरे अनुच्छेद में लिखा है कि "कनाडा सरकार को परामर्श तथा सहायता देने के लिए परिषद् होगी, जो कनाडा के लिये सम्राज्ञी की प्रिवी परिषद् (Queen's Privy Council for Canada) कहलायेगी, और जो लोग इस परिषद् के सदस्य होंगे,

समय-समय पर गवर्नर-जनरल द्वारा चुने तथा आमन्त्रित किये जायेंगे और प्रिवी पार्षद (Councillor) के रूप में शपथ ग्रहण करेंगे। इन सदस्यों को गवर्नर-जनरल समय-समय पर पदच्युत भी कर सकता है।" इस प्रकार कनाडा सरकार को परामर्श तथा सहायता देने के लिये जो कानूनी संस्था बनाई जाती है, वह प्रिवी परिषद् है। गवर्नर-जनरल ही चुनाव करता है तथा उसे आमन्त्रित करता है; वह उसी के द्वारा भंग की जाती है। परन्तु व्यवहार में, समस्त प्रिवी परिषद् गवर्नर जनरल को सहायता तथा परामर्श नहीं देती और न वह सारी की सारी उसके द्वारा भंग की जाती है। गवर्नर-जनरल के वास्तविक परामर्शदाता तो उस मन्त्रिमण्डल के सदस्य होते हैं जो प्रिवी परिषद् का सक्रिय भाग होता है। वही लोग प्रथानुसार कनाडा सरकार में उसे परामर्श तथा सहायता प्रदान करते हैं। मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य निस्सन्देह प्रिवी परिषद् के सदस्य होते हैं परन्तु प्रिवी परिषद् के सभी सदस्य मन्त्रिमण्डल के सदस्य नहीं होते। प्रिवी परिषद् में कोई ६० से ८० तक सदस्य होते हैं। २० के लगभग मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के अतिरिक्त, प्रिवी परिषद् में प्रिंस ऑफ वेल्स, ब्रिटिश प्रधान मन्त्री, लन्दन में कनाडा के उच्चायुक्त जैसे विशिष्ट व्यक्ति भी सम्मिलित रहते हैं। १९५३ ई० में कनाडा का प्रमुख न्यायाधीश, कॉमन सभा तथा सीनेट के अध्यक्ष, विरोधी दल का नेता—सभी प्रिवी परिषद् के सदस्य बना दिये गये और तब वे कनाडा द्वारा भेजे गये सरकारी शिष्टमण्डल के सदस्य बन कर रानी एलिज़ाबेथ के राज्याभिषेक में भाग लेने के लिये गये।

समस्त प्रिवी परिषद् की कोई बैठक नहीं होती और दो अवसरों को छोड़, १८६७ ई० से ही यह प्रथा चली आ रही है। सर्वप्रथम इसकी बैठक १९४७ ई० में हुई थी जबकि इसमें राजकुमारी एलिज़ाबेथ के विवाह के लिये सम्राट् की अनुमति की औपचारिक घोषणा की गई थी तथा दूसरी बार इसकी बैठक १९५२ ई० में हुई थी जबकि पिता की मृत्यु पर सम्राज्ञी एलिज़ाबेथ के सिंहासनारोहण की घोषणा सुनाई गई थी। इस प्रकार, प्रिवी परिषद् गवर्नर-जनरल की सलाहकार समिति के रूप में कार्य नहीं करती। सलाह देने का कार्य तो मन्त्रिमण्डल का है।

मन्त्रालय तथा मन्त्रिमण्डल (The Ministry and the Cabinet)—कनाडा में मन्त्रिमण्डल तथा मन्त्रालय प्रायः समानार्थक समझे जाते हैं और तथ्य यह है कि कनाडियन इतिहास के अधिकांश भाग में इन दोनों में कोई अन्तर नहीं रहा है। परन्तु इंगलैंड के समान ही, कनाडा में भी इन दोनों में भेद पाया जाता है और प्रधान मन्त्री द्वारा संगठित सरकार के सभी सदस्य मन्त्रिमण्डल का निर्माण नहीं करते। मन्त्रिमण्डल में तो प्रधान मन्त्री के कुछ विशेष साथी ही सम्मिलित होते हैं जो कि उच्च नीति के विषयों के बारे में निर्णय करने के लिये यदाकदा इकट्ठे मिलते हैं। अभी तक उन मन्त्रियों की संख्या जो मन्त्रिमण्डल के सदस्य नहीं होते, नगण्य रही है। केवल द्वितीय महायुद्ध से ही इस "आच्छायी समूह" (Penumbral Group) में काफी वृद्धि हुई है। युद्ध से पूर्व, केवल एक-दो ही ऐसे सदस्य होते थे, १९४३ ई० में सरकार के २७ सदस्यों में से २० तो मन्त्रिमण्डल में थे और ७ उससे बाहर थे जबकि

उन्होंने मत्यधिक निष्ठा से इसका पालन किया है। सौ वर्ष पूर्व, जोज़फ हो ने लिखा था, "सुदृढ़ प्रशासन के लिए किसी गोल मेज पर बैठे और शालीनतापूर्वक एक दूसरे से बर्ताव करते नौ व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ और अधिक की भी आवश्यकता है। उनमें एक-दूसरे के प्रति वह विश्वास होना चाहिए जो समान भावनाओं तथा सहृदयतापूर्ण विचारों से ओतप्रोत हो, तथा एक दूसरे के मित्रों द्वारा समाज, विधान-मण्डल और पत्र-संसार में उसका प्रचार किया गया हो। तभी उस महान् दल की सृष्टि होगी जो उनकी नीतियों को बनाये रखने के लिए तथा तत्सम्बन्धी कार्यों के लिए अटल कार्यशील बहुमत प्राप्त कर लेगा।"

परन्तु अपने साथियों के चुनाव में, कनाडा का प्रधान मन्त्री ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की भांति अनियन्त्रित चुनाव नहीं करता। कनाडा का मन्त्रिमण्डल बनाते समय यह ध्यान रखा जाता है कि वह प्रमुख जातियों, धर्मों तथा क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करता हो। कभी-कभी किसी सदस्य का प्रतिनिधित्व उसकी योग्यता की अपेक्षा अत्यधिक स्पष्ट होता है। डासन के शब्दों में, "इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि प्रधान मन्त्री द्वारा किया गया चुनाव काफी सीमित हो जाता है और उसे प्रायः कुछ सदस्यों को चुनते समय योग्यता की उपेक्षा करनी पड़ती है।" मन्त्रिमण्डल की रचना करते समय सर्वप्रथम यह देखना पड़ता है। कि प्रत्येक प्रान्त का यथासम्भव मन्त्रिमण्डल में कम-से-कम एक प्रतिनिधि अवश्य हो। इसके कारण मन्त्रिमण्डल भी संघीय स्वरूप धारण कर लेता है। प्रथम अधिराज्य-मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते समय इस प्रथा को प्रारम्भ किया गया था और तब से वह दृढ़ अभिसमय का रूप धारण कर चुकी है।

यह अभिसमय कि प्रत्येक प्रान्त का कम-से-कम एक प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल में अवश्य होना चाहिए, एक अन्य अभिसमय को अनिवार्य बना देता है अर्थात् दो बड़े-बड़े प्रान्तों में से प्रत्येक का एक से अधिक प्रतिनिधि होना चाहिये। क्यूबक से कम-से-कम एक प्रोटेस्टेण्ट अंग्रेज़ी भाषी प्रतिनिधि तथा तीन-चार फ्रांसीसी भाषी प्रतिनिधि होने चाहियें। इस प्रकार क्यूबक के कम-से-कम चार सदस्य होने चाहिये। ओण्टोरियो के भी चार सदस्य अवश्य होने चाहिये और यदि सम्भव हो, तो उनकी संख्या पाँच भी हो सकती है जिनमें से एक आयरिश जाति का रोमन कैथोलिक होना चाहिए। डॉसन लिखता है कि, "प्रान्तीय प्रतिनिधित्व प्रायः और भी स्पष्ट हो जाता है जब कि कुछ विभाग सामान्यतः कतिपय क्षेत्रों के लिये सुरक्षित समझे जाते हैं। इस प्रकार का प्रबुद्ध तथा योजनाबद्ध प्रतिनिधित्व एक ऐसे देश में व्यवस्थापिका को शक्तिशाली बनाने के लिए आवश्यक समझा जाता है जहाँ विभिन्न प्रकार के धार्मिक, भाषाई तथा आर्थिक वर्गों के हितों की ओर ध्यान देना पड़े। यह इस बात का विश्वास दिलाने में सहायक होता है कि निर्णय करते समय मन्त्रिमण्डल सभी प्रमुख हितों पर विचार करेगा तथा उनमें ऐसा समन्वय करेगा जिससे सभी की सतुष्टि हो जाये और राष्ट्रीय हितों की भी हानि न हो। १९२२ ई० में लार्ड मैकेन्ज़ी किंग ने कहा था, "मैं अनुभव करता हूँ कि प्रसंधान का एकमात्र उद्देश्य जाता रहेगा यदि कनाडा

अधिराज्य का कोई विशेष वर्ग, कोई महान् मत यह समझने लगे कि राष्ट्रीय नीतियों के निर्माण में उसे उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नही है।"

प्रधान मन्त्री
(The Prime Minister)

अनौपचारिक आधार(Informal basis)—जैनिंग्ज ने इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री को 'संविधान की प्रमुख शिला' का नाम दिया है। कनाडा के प्रधान मन्त्री की स्थिति भी वैसी ही है क्योंकि इंग्लैण्ड मे अपने आदि रूप के समान ही, वह देश भर में सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति होता है। वह मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है, वह उसे बदल तथा तोड़ सकता है। ग्रीव्ज (Greaves) के शब्दों में, "सरकार समस्त देश की स्वामी है और वह सरकार का स्वामी है।" और तिस पर भी, संविधान में प्रधान मन्त्री के पद का कनाडा मे विभिन्न संस्थाओं के समान ही, कोई उल्लेख नही। मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली में, अकेले एक व्यक्ति की महत्ता तथा अधिकार को पहले से ही मान लिया जाता है, और वह व्यक्ति प्रधान मन्त्री होता है। उसके अधिकार के क्षेत्र को निर्धारित करने वाली कानूनी शक्तियो का उल्लेख कहीं भी नही है परन्तु वैधानिक अभिसमय जिन पर शासन-यन्त्र दृढ़ता से टिका हुआ है, शासन का समस्त प्रभुत्व उसे सौंप देते हैं। प्रधान मन्त्री की संस्था को भग कर देने अथवा उसके अधिकारों को कम कर देने पर समस्त राजनीतिक ढांचा ही बिगड़ जायेगा।

प्रधान मन्त्री का चुनाव (The Choice of the Prime Minister)—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रधान मन्त्री का चुनाव सुव्यक्त है। गवर्नर-जनरल कामन सभा मे बहुसख्यक राजनीतिक दल के सर्वमान्य नेता को निमन्त्रण देता है और वही नेता प्रधान मन्त्री बनता है। परन्तु ऐसे अवसर पर जबकि यह चुनाव न तो स्पष्ट हो और न आसान ही, जैसा कि प्रधान मन्त्री की आकस्मिक मृत्यु होने पर अथवा त्याग-पत्र देने पर अथवा दल मे फूट पड़ जाने पर ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तो तब गवर्नर-जनरल को प्रधान मन्त्री के चुनाव में कुछ स्वातन्त्र्य रहता है। परन्तु ऐसे अवसर बार-बार नही आया करते और १८९६ ई० से गवर्नर-जनरल को अपनी इच्छा से प्रधान मन्त्री का चुनाव करने का अवसर प्राप्त नही हुआ है। फिर भी इससे यह अभिप्राय नही कि गवर्नर-जनरल का यह अधिकार लुप्त हो गया है। डॉसन लिखता है कि, "१९४४ ई० मे कनाडा मे जबरी भर्ती से सम्बन्धित सकट के फलस्वरूप गवर्नर-जनरल इस बात के लिए बाध्य हो सकता था कि वह मिस्टर मैकेन्ज़ी किंग का उत्तराधिकारी स्वयं चुने।"

प्रधान मन्त्री के अधिकार (Powers of the Prime Minister)—आर्थर मिगन (Arthur Meighen) ने कहा था, "प्रधान मन्त्री की शक्तियां महान् होती हैं। संसद् में प्रधान मन्त्री के कार्य तथा कर्त्तव्य न केवल महत्त्वपूर्ण ही होते हैं महत्ता में उच्चतम स्थान रखते है।" ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के अधिकारों उल्लेख करते हुए, लार्ड आक्सफोर्ड तथा लार्ड एस्क्विथ (Asquith) ने जो स्वयं

शताब्दी के प्रारम्भिक पन्द्रह वर्ष तक इस पद पर रहा था, कहा कि "यह पद वही बन जाता है जो इसका "अधिकारी इसे बनाने की इच्छा रखता है," और केवल कुछ पदाधिकारी ही ऐसी इच्छा को प्रकट कर सकते हैं कि वे शासन के सर्वोच्च पद के दायित्व तथा कर्त्तव्यों को महत्त्वपूर्ण समझते हों।"

प्रधान मन्त्री संविधान की प्रमुख शिला है और उसी के हाथ में शासन की बागडोर होती है। प्रधान मन्त्री ही सरकार का निर्माण करता है, पदों का वितरण करता है तथा अपने साथियों में हेर-फेर करने का पूरा-पूरा अधिकार रखता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अपने साथियों के चुनाव में, उसका अधिकार अति सीमित है परन्तु एक बार मन्त्रिमण्डल बन जाने पर, उसके सदस्यों पर प्रधान मन्त्री के नियन्त्रण पर आपत्ति नहीं की जा सकती। यह तो केवल प्रधान मन्त्री को ही अधिकार प्राप्त है कि वह अपने किसी सहयोगी को त्याग-पत्र देने के लिये अथवा उसे अन्य पद ग्रहण करने के लिये कहे। मंत्रीय दायित्व के प्रश्न का उल्लेख करते हुए, प्रोफ़ेसर डॉसन लिखता है, "कनाडा मन्त्रिमण्डल के सदस्य तीन प्रकार के अलग-अलग तथा स्पष्ट दायित्व स्वीकार करते हैं: एक तो गवर्नर-जनरल के प्रति दायित्व जिसका अब बहुत कम आक्रामक रूप में आह्वान किया जाता है; प्रधान मन्त्री तथा एक दूसरे के प्रति दायित्व, जो मन्त्रिमण्डल की 'एकता' का सृजन करता है, तथा तीसरा—व्यक्तिगत और सामूहिक—दायित्व कॉमन सभा के प्रति होता है।"

लार्ड अर्गाईल (Argyll) के समय से ही प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल की बैठकों में प्रधान का कार्य करता आ रहा है और उसका अध्यक्ष होने के कारण, ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की भाँति उसे विशेष प्रकार की वफ़ादारी प्राप्त रहती है। प्रधान मन्त्री ही निर्णायक मत का प्रयोग करता है क्योंकि यह अधिकार तो स्वाभाविक रूप से अध्यक्ष का ही होता है। यदि मन्त्रिमण्डल के विचार-विमर्श में मतभेद उत्पन्न हो जाये, तो प्रधान मन्त्री कुछ-न-कुछ विमर्श कराने में उसे काफी सहायक होता है। वह मन्त्रिमण्डल की कार्यावलि को भी निर्धारित करता है, और इस प्रकार मन्त्रियों द्वारा रखे गये सुझावों को स्वीकृति तथा अस्वीकृति प्रदान करता है। इस प्रकार प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल का नेतृत्व करता है। मन्त्रिमण्डल का नेता तथा पथ-प्रदर्शक होने के कारण ही प्रधान मन्त्री से प्रत्येक मन्त्री किसी महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव को प्रस्तुत करने से पूर्व विचार-विमर्श अवश्य करता है। वास्तव में, विभिन्न मन्त्रियों तथा मन्त्रालयों की नीतियों में समन्वय करने का काम मुख्यत: प्रधान मन्त्री द्वारा ही किया जाता है।

संसद् में बहुसंख्यक दल का नेता होने के कारण, प्रधान मन्त्री संसद् के विचार-विमर्श का पथ-प्रदर्शन करता है। वह कॉमन सभा का नेतृत्व करता है; नीति तथा कार्य सम्बन्धी सभी प्रमुख घोषणाएं उसके द्वारा की जाती हैं; वह विभागीय विषयों तथा गम्भीर समस्याओं पर सभी प्रश्नों के उत्तर देता है, अति महत्त्वपूर्ण विवादों को आरम्भ करता है अथवा उनमें हस्तक्षेप करता है, और अपने सहयोगी मन्त्रियों की भूलों का सुधार करता है। वह कॉमन सभा का समय निर्दिष्ट करता

है तथा उसकी अनुमति के लिये अपनी सरकार के कार्यों को सभा में प्रस्तुत करता है।

विदेशी नीति के विषय में प्रधान मन्त्री का विशेष दायित्व होता है और ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के समान ही, वह विशेष अवसरों पर समस्त नीति को स्वयं निर्धारित कर सकता है। सार्वजनिक हितों से सम्बन्धित सभी विषयो पर वह गवर्नर-जनरल तथा मन्त्रिमण्डल को मिलाने वाली कड़ी है। विशिष्ट रूप से प्रधान मन्त्री गवर्नर-जनरल का प्रमुख परामर्शदाता है। गवर्नर-जनरल को यह परामर्श देने मे कि संसद् कब बुलाई जाये और कब भग की जाये, उसी का प्रमुख दायित्व होता है।

प्रधान मन्त्री के पास विशेष कृपा का अपार स्रोत है। परिषद् की सभी महत्त्व-पूर्ण नियुक्तियों की सिफारिश, जिनमें लेफ्टिनेंट-गवर्नरों की नियुक्ति भी सम्मिलित है, प्रधान मन्त्री द्वारा ही की जाती है। वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों अथवा सभाओं में भी सम्मिलित हो सकता है तथा उनमे भाग ले सकता है और राष्ट्रमण्डलीय देशों के साथ मन्त्रिमण्डल के स्तर वाले विषय, भी उसी के द्वारा सञ्चालित किये जाते हैं।

प्रधान मन्त्री की स्थिति (Prime Minister's Position)—ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की स्थिति की सर्वाधिक उपयुक्त व्याख्या डाक्टर जैनिंग्ज द्वारा की गई थी यद्यपि लार्ड मार्ले के ये शब्द कि वह "समकक्षों मे प्रथम" है, परिनिष्ठित (Classical) हो गये हैं। डासन कहता है कि "प्रधान मन्त्री 'समकक्षों मे प्रथम' नहीं हो सकता क्योंकि उसका कोई समकक्ष ही नही होता।"[1] प्रधान मन्त्री की वास्तविक सत्ता तत्वतः बहुत अधिक होती है और उसकी शक्तियाँ असीम होती है। वह व्यक्ति जो अपने साथियों की नियुक्ति तथा वियुक्ति कर सकता है, और वास्तविक रूप मे, यद्यपि विधि मे ऐसा नहीं, राज्य का क्रियाशील मुखिया है, अपने समकक्ष व्यक्ति नहीं रख सकता। फलतः प्रधान मन्त्री "एक सूर्य है जिसके चारो ओर उपग्रह चक्कर लगाते रहते हैं।"

परन्तु प्रधान मन्त्री की स्थिति दल से बंधी रहती है। जब तक उसका दल पर प्रभाव बना रहता है, वह "सीमाओं के अन्तर्गत, उसकी नीति को निश्चित कर सकता है। परन्तु दल पर उसके इस प्रभुत्व का उस सम्पर्क से भी काफी सम्बन्ध रहता है जो वह मन्त्रिमण्डल मे अपने सहयोगी मन्त्रियों के साथ बनाये रखता है। डासन कहता है कि "समकक्षों में प्रथम' शब्दों में कुछ सत्य अवश्य है; ये शब्द इस सम्बन्ध की इस महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान दिलाते हैं कि दूसरे मन्त्री अपने प्रधान के केवल सहयोगी ही होते हैं, उसके आज्ञाकारी तथा अविवादी नौकर नही।"[2] वह प्रधान मन्त्री जो अपने साथियों को अपना अधीनस्थ कर्मचारी समझता है और उन्हे आदेश देता है अथवा उनके विभागीय कार्यों में निरन्तर हस्तक्षेप करता है, उसका शीघ्र ही पतन

1. Cabinet Government.
2. The Government of Canada, p. 221.

हो जाता है। प्रधान मन्त्री बॉविल ने ऐसा ही व्यवहार करने का यत्न किया था और उसने अनावश्यक हो दूसरे मन्त्रियों के विभागीय कार्य में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके सात मन्त्रियों ने विद्रोह करने का निश्चय किया जिसके फलस्वरूप उसे उनकी शर्तों को स्वीकार करना पड़ा। कनाडा के इतिहास में इस प्रमुख विद्रोह पर टिप्पणी करते हुए, डासन लिखता है, "मन्त्रि-मण्डल के सभी सदस्य सदन के प्रति उत्तरदायी होते हैं। यद्यपि वे अति प्रसन्नता से प्रधान मन्त्री के नेतृत्व को स्वीकार करते हैं और प्रायः उसके निर्णयों के आगे सिर झुकाते हैं, परन्तु कभी भी अपने व्यक्तिगत निर्णय अथवा दायित्व का पूर्णरूप से समर्पण नहीं कर सकते।" जैसा कि जैनिंग्ज ने कहा है, "प्रधान-मन्त्री का पद आवश्यक रूप से वही कुछ है जो उसका अधिकार उसे बनाना चाहता है और जैसा दूसरे मन्त्री उसे बनाने की आज्ञा देते हैं।" उसकी शक्ति तथा सम्मान अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करते हैं।

अध्याय ३

अधिराज्य संसद्

(The Dominion Parliament)

कनाडियन संसद् (The Canadian Parliament)—संघीय विधायी सत्ता कनाडा की संसद् में निहित है; जो संसद् सम्राज्ञी, एक उच्च सदन जिसका नाम सीनेट है, एक निम्न सदन जिसका नाम कॉमन सभा है इन तीनों को मिला कर बनी है। गवर्नर-जनरल क्रॉउन का प्रतिनिधित्व करता है। विधि-व्यवस्था की क्रिया में गवर्नर-जनरल का भाग अब औपचारिक से कुछ अधिक हो गया है क्योंकि उसे मन्त्रि-मण्डल का परामर्श अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। संसदीय शासन-प्रणाली का यही ढंग हुआ करता है। सीनेट तथा कॉमन सभा दो विभिन्न संस्थाएँ हैं जिनके अपने-अपने कार्य तथा लक्षण हैं। सीनेट सिद्धान्त रूप से एक स्वतन्त्र विधायी संस्था है और १८६७ ई० का ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम उसे बराबर अधिकार देता है परन्तु व्यवहार में उसे कॉमन सभा के वोटों में प्रदर्शित समर्थ तथा दृढ़ लोकमत के आगे प्रायः झुकना पड़ता है। जनतन्त्र इस बात की माँग करता है कि उच्च सदन को हठ नहीं करना चाहिए, यद्यपि उसे विरोध अवश्य करना चाहिए। इसी जनतन्त्रीय सिद्धान्त के पालनार्थ कनाडा का सीनेट बड़ी सावधानी से लोकप्रिय सदन के साथ टक्कर लेने से बचता रहा है। वास्तव मे उसने सदा कॉमन सभा की इच्छाओं के आगे सिर झुकाया है। वास्तव में, वह एक अभिलिखित सदन है और वास्तविक संसद् तो कॉमन सभा ही है। फिर भी विधि-निर्माण के लिए, जैसा कि विधान चाहता है, गवर्नर-जनरल, सीनेट तथा कॉमन सभा को मिल कर काम करना पड़ता है।

संसद् की विधायी सत्ता (Legislative authority of Parliament)—ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियमों १८६७-१९६० के परिच्छेद ९१ (Section 91) के अन्तर्गत उन सब विषयों को गिनाया गया है जिनके ऊपर कनाडा की संसद् की विधायी सत्ता विद्यमान है। यह एक बडी लम्बी सूची है जिसके अन्दर विविध विषय-वस्तुओं का समावेश है। इसके अतिरिक्त परिच्छेद ९५ के अन्तर्गत संसद् को, प्रांतीय विधान मण्डलों के साथ-साथ कृषि और देशान्तरवास (immigration) सम्बन्धी कानून बनाने का भी अधिकार है यद्यपि विरोध की स्थिति में संघीय विधान की ही प्रधानता होगी। १९५१ के ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम द्वारा यह घोषणा की गई कि संसद् कनाडा मे वृद्धावस्था की पेंशनों के सम्बन्ध में भी कानून बना सकती है, परन्तु इस प्रकार के कानून का प्रान्तीय कानूनों पर जो कि वृद्धावस्था के पेन्शनों से ही सम्बन्ध रखते हैं, कोई प्रभाव नही होगा।

सीनेट
(Senate)

द्विसदनवाद की आवश्यकता (Need for Bi-cameralism)—संयुक्त राज्य तथा आस्ट्रेलिया के सीनेटों के विपरीत, कनाडा में सीनेट का निर्माण नियमनिष्ठ संघीय कार्य करने के लिए नहीं हुआ था। यह कितनी विलक्षण बात है कि क्यूबक सम्मेलन में, प्रिंस एडवर्ड द्वीप के प्रतिनिधियों की ओर से ही यह सुझाव रखा गया था कि उच्चतर सदन मे छोटी-बड़ी सभी सम्मिलित इकाइयों का प्रतिनिधित्व निश्चित रूप से समान प्रतिनिधित्व वाले संघीय-आधार पर होना चाहिए। यह प्रस्ताव भी इसके प्रस्तावक द्वारा उसी समय काफी संशोधित कर दिया गया जबकि उसे प्रस्तुत किया गया था। आज छोटे-बड़े सभी प्रान्त मन्त्रिमण्डल मे प्रतिनिधित्व की अपेक्षा सीनेट मे प्रतिनिधित्व के विषय में बहुत कम चिन्तित हैं। डॉसन लिखता है, "छोटे प्रान्तों द्वारा इस प्रकार की मांग न करने की केवल यही व्याख्या हो सकती है कि सम्मेलन ने अमेरिकी संविधान की इस विशेषता को प्रान्तीय अधिकारों के सिद्धान्त में निहित एक अति विकट संकट के रूप में देखा था।"

संघीय सिद्धान्त से एक अन्य मोड़ सीनेट के सदस्यों की नियुक्ति सम्बन्धी ढंग था। क्यूबक सम्मेलन के सदस्य एक निर्वाचित-सदन वाले अमेरिकी अनुभव से विशेष प्रभावित नहीं हुए थे। उन्हें विश्वास था कि जब उत्तरदायी सरकार निम्नतर सदन से सम्बन्धित कर दी गई हो, तो यह वांछनीय प्रतीत नहीं होता कि एक निर्वाचित संस्था के रूप मे उच्चतर सदन को भी उसका व्यवहार्य प्रतिद्वन्द्वी बना दिया जाये। अतः, सम्मेलन ने यह निश्चय किया कि सीनेट के सदस्य गवर्नर-जनरल द्वारा जीवन भर के लिये नियुक्त कर दिये जायें।

और तभी यह नियत किया गया कि सीनेट को 'छोटा विधायी साझेदार' अर्थात् सुधारक तथा नियन्त्रक संस्था बना दिया जाये। सर जॉन मैकडानल्ड ने क्यूबक सम्मेलन में इस बात की पुष्टि की थी कि, "सीनेट अवश्य ही एक स्वतन्त्र सदन होना चाहिए जो अपनी इच्छा से कार्य करे क्योंकि नियामक संस्था के रूप में ही वह उपयोगी है। वह लोकप्रिय संस्था द्वारा आरम्भ की गई विधि-व्यवस्था पर शांत-भाव से विचार करता है और किसी ऐसे विमर्श-शून्य तथा अविवेकी कानून पर रोक लगाता है जो उस संस्था द्वारा पारित हो जाये, परन्तु वह लोगों की निश्चित तथा विदित इच्छाओं का विरोध कभी नहीं करेगा।" यह भी निश्चय किया गया कि सीनेट सम्पत्ति तथा पुरातनवाद का भी प्रतिनिधित्व करता है। पिछली शताब्दी के छठे दशक मे जब कि संघ के संविधान पर विचार हो रहा था, तो 'शुद्ध जनतन्त्र' के प्रति काफी अविश्वास पाया जाता था। मैकडानल्ड तथा उसके साथी अल्पमत के अधिकारों की रक्षा करने तथा उपेक्षित जनतन्त्रीय प्रवाह के विरुद्ध रोक लगाने के बहुत ही इच्छुक थे। वे एक ऐसी वैधानिक प्रणाली को स्थापित करना चाहते थे जहाँ 'केवल लोकप्रिय बहुमत' का ही अधिकार न हो और 'लोकप्रिय उत्साह की आकस्मिक बाढ़' पर रोक लगाई जा सके। सर जॉन ने कहा था, "अल्पमत के अधि-

कारों का भी अवश्य संरक्षण होना चाहिये और सम्पन्न लोग सदा कम सम्पन्न लोगों की अपेक्षा संख्या में कम होते है।"[1]

अतः कनाडा संविधान के निर्माताओं ने एक ऐसे द्वितीय सदन की स्थापना का विचार किया जो बहुसख्यक लोगो की नही वरन् विशेष स्थिति वाले लोगो की इच्छा को प्रकट कर सकें। सर जान मैंकडानल्ड ने यह दावा किया था कि क्यूबक-सम्मेलन में भाग लेने वाले सभी औपनिवेशिक नेताओ का यह विश्वास था कि उन्हे ब्रिटिश सविधान के सभी आधारभूत सिद्धान्तो को सुरक्षित कर लेना चाहिए अर्थात् वर्गों तथा सम्पत्ति को भी संख्या के साथ-साथ प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।" जब स्पष्ट रूप से सम्पत्ति सम्बन्धी धारा वाले निश्चित सदन को स्वीकार कर लिया गया, तो सीनेट लार्ड सभा के अति निकट हो गया और ब्रैडी के शब्दो मे, "सामाजिक हितों के सन्तुलित प्रतिनिधित्व से सम्बन्धित १६वी शताब्दी के ह्विग आदर्श को सुनिश्चित कर लिया गया।"[2]

रचना तथा अवधि (Composition and Term)—सीनेट मे इस समय सदस्यों की कुल संख्या १०२ है, प्रत्येक चार बड़े क्षेत्रों से चौबीस-चौबीस सदस्य और छः सदस्य न्यूफाऊंडलैंड से जीवन भर के लिए नियुक्त कर दिए जाते है। चार क्षेत्र इस प्रकार है:—(१) ओण्टेरियो, (२) क्यूबक, (३) समुद्र तटीय प्रान्त (नोवा स्कोशिया १०, न्यूबन्सविक १० और प्रिंस एडवर्ड द्वीप ४ सदस्य भेजता है) तथा (४) पश्चिमी प्रान्त (मैनीटोबा, ब्रिटिश कोलम्बिया, अलबर्टा और सस्केशवान छः-छः सदस्य भेजते हैं) न्यू फाऊंडलैंड जो १६४६ ई० मे अधिराज्य मे सम्मिलित हुआ था, छः सदस्य भेजता है। यदि कभी गवर्नर-जनरल की सिफारिश पर सम्राज्ञी यह उचित समझे कि ४ या ८ सदस्य सीनेट मे बढ़ा दिए जायें, तो गवर्नर-जनरल उनकी नियुक्ति कर सकता है परन्तु सीनेट सदस्यों की संख्या किसी भी समय पर ११० से अधिक नहीं होती।

ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम के २३वें परिच्छेद में लिखा है कि सीनेट का सदस्य कम-से-कम ३० वर्ष का अवश्य होना चाहिए, उस प्रान्त का जहाँ से उसकी *नियुक्ति हो रही है, निवासी हो, और ४ हजार डालर के मूल्य की वास्तविक अथवा* व्यक्तिगत सम्पत्ति का स्वामी हो। सीनेट के सदस्य की नियुक्ति यद्यपि जीवन भर के लिए की जाती है, निम्नलिखित मे से किसी एक भी कारण से उसे अपना स्थान छोड़ना पड़ता है: (१) यदि वह संसद् के दो सत्रों में लगातार सीनेट से अनुपस्थित रहा हो, (२) यदि वह किसी विदेशी सत्ता की अधीनता की शपथ ले लें अथवा अधीनता की घोषणा कर दे अथवा कोई ऐसा कार्य करे जिससे वह विदेशी सत्ता का नागरिक बन जाये, (३) यदि वह दिवालिया अथवा अपराधी बन जाये, (४) यदि उस पर देशद्रोह का अपराध सिद्ध हो जाये, अथवा वह घोर अपराध अथवा किसी

---

1. Alexander Brady : Democray in the Dominions, p. 71.
2. *Ibid*, p. 72.

घृणित पाप के कारण दण्डित हो जाये, (५) यदि वह किसी दूसरे प्रान्त में जाने के कारण पहले प्रान्त का निवासी न रहे, तथा (६) वह सीनेट से त्यागपत्र दे दे।

सीनेट के सदस्य का वेतन आजकल आठ हजार डालर है और दो हजार डालर उसे भत्ता मिलता है। सीनेट का अध्यक्ष गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त किया जाता है और उसे २३ हजार डालर वेतन मिलता है। १५ सदस्य इसकी गणपूर्ति (Quorum) करते हैं।

डासन लिखता है, "सीनेट की सदस्यता 'सदा कृपा-पात्र में, सर्वाधिक उत्तम फल समझी जाती रही है और बिना किसी द्विविधा के, दल की निष्ठावान सेवा के बदले मे दिये जाने वाले प्रतिफल के रूप में उसका प्रयोग होता रहा है।" नियमतः, नियुक्तियाँ पूर्णतया दलीय आधार पर की जाती हैं यद्यपि प्रत्येक प्रधान मन्त्री इस बात को स्वीकार करता है कि यह व्यवस्था असंतोषजनक है क्योंकि इससे संकुचित दलीय हितो को प्रोत्साहन मिलता है। इस पर भी प्रत्येक प्रधान मन्त्री इसका पालन किये जाता है। केवल एक ही ऐसा उदाहरण मिलता है जब कि सर जॉन ए० मैकडानल्ड ने एक प्रतिद्वन्द्वी जॉन मैकडानल्ड को, जो उदारवादी दल का था, नियुक्त किया। दलगत नियुक्तियो के कारण सीनेट की कार्यक्षमता घट जाती है। नियुक्ति-सम्बन्धी व्यवस्था का साराश देते हुए, डासन लिखता है, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन नियुक्त व्यक्तियो में से कई एक सीनेट के लिए प्रतिष्ठा का कारण होवे हैं; इसमें भी कोई सन्देह नही कि इस व्यवस्था के कारण दल से सम्बन्धित अनुशासन और सेवा को बहुत लाभ पहुँचता है; परन्तु यह बात भी निस्सन्देह सत्य ही है कि इन नियु-क्तियों का प्रमुख उद्देश्य सार्वजनिक भलाई नही, वरन् दलीय कृपा तथा लाभ हो जाता है और यही कारण है कि सीनेट साधारण जनता द्वारा कम आदर की दृष्टि से देखी जाती है।"

सीनेट की शक्तियाँ (Powers of the Senate)—ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम, १८६७ ई० सीनेट की शक्तियों को परिभाषित अथवा निश्चित नहीं करता। उसमे तो केवल इतना ही लिखा है कि मुद्रा के उगाहने तथा खर्च करने से सम्बन्धित सभी विधेयकों को प्रारम्भ करने की एकमात्र शक्ति कॉमन सभा को है। किसी विशेष धारा के अभाव मे सीनेट को कॉमन सभा के समान ही विधायी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती है। परन्तु सविधान के निर्माताओं के उद्देश्यों को ध्यान मे रखते हुए कि सीनेट ने कॉमन सभा की सम्भव त्रुटियो अथवा आवेगों पर रोक लगाने के लिए एक सुधारक तथा नियामक संस्था के रूप में कार्य करना है, तथा इस तथ्य के कारण कि मन्त्रालय व्यय के प्रमुख सरक्षक के रूप मे निम्न सदन के सामने उत्तरदायी है तथा वह तभी पदारूढ़ रह सकता है जब तक कि उसे उस सदन का विश्वास प्राप्त है, मंत्रालय सभी महत्त्वपूर्ण विधेयकों को कॉमन सभा में प्रारम्भ करता है और वहीं वह अपनी नीतियों की सफाई पेश करता है। सीनेट के वहिष्कार का एक महत्त्वपूर्ण कारण और भी है। इस शताब्दी के तीसरे दशक से तथा मिस्टर मैकेन्जी किंग द्वारा स्थापित दृष्टान्तों के फलस्वरूप केवल एक विभागहीन मन्त्री ही

सीनेट मे भाग लेता है । इस तथ्य के कारण कानून-निर्माण तथा नीति के नियन्त्रण मे सीनेट का महत्त्व बहुत घट जाता है। मन्त्री सभी महत्त्वपूर्ण विधेयक कॉमन सभा मे प्रारम्भ करते है जहाँ वे सदस्यो के रूप मे भाग लेते है तथा इन कानूनों की सफाई पेश कर सकते है।

इस प्रवृत्ति के कारण कि मन्त्री अपने सभी विधेयकों को पहले कॉमन सभा के आगे प्रस्तुत करते है, सीनेट विधि-निर्माण में प्रमुख भाग लेने से वचित हो जाता है। पिछले कुछ वर्षो मे असाधारण परिवर्तन हुआ है और १९४६-५३ के काल मे १३८ विधेयक सीनेट मे प्रारम्भ किये गये जबकि १९२४-४५ के काल मे केवल ३६ विधेयक ही प्रारम्भ किये गये थे। इस वृद्धि का कारण यह है कि १९४६-५३ के काल में "संसद् कनाडा की अनेक सविधियों का परीक्षण तथा एकीकरण करती रही है और मन्त्रिमण्डल ने बड़ी उदारता से सीनेट को इस कठिन कार्य मे भाग लेने की अनुमति दे दी थी।" परन्तु प्रोफेसर डासन के शब्दों मे, "इस प्रथा का अनिश्चित रूप से विस्तार नहीं किया जा सकता क्योंकि सीनेट में वास्तविक रूप में योग्य, कर्मठ तथा उद्यत सदस्य अपेक्षाकृत कम हैं।"[1] प्राइवेट विधेयक आम तौर पर सीनेट मे ही जन्म लेते है।

जब एक बार विधेयक कॉमन सभा मे पारित होने के पश्चात् सीनेट मे पहुंच जाते है, तब सीनेट के सदस्य उसमे संशोधन करने के प्रस्ताव कर सकते है और यदि चाहें, तो उसे अस्वीकार भी कर सकते है। सीनेट ने ऐसी स्थिति तो कभी आने नही दी कि अस्वीकृति तथा सशोधन के विषय मे उसकी शक्तियाँ अबाधित तथा लोकमत से स्वतन्त्र हैं, परन्तु "उसने कॉमन सभा का विरोध करने का साहस केवल इसी कारण किया है कि विधेयक न केवल अवांछनीय था वरन् निम्न सदन को यह विशेप प्रस्ताव पारित करने का जनता की ओर से आदेश भी न था।" १९२६ ई० में सीनेट ने वृद्ध-आयु पैंशन विधेयक अस्वीकार कर दिया परन्तु अगले वर्ष ही उसे स्वीकार कर लिया क्योंकि नये देशव्यापी चुनावों में निर्वाचक-समूह से आदेश ले लिया गया था और उस विधेयक को प्रारम्भ करने वाली सरकार ने पुनः पद ग्रहण किया था। इस प्रकार इंग्लैंड की भांति कनाडा मे भी एक प्रकार का 'आदेशात्मक अभिसमय' स्थापित हो गया है।

विधेयकों को सुधारते समय सीनेट वास्तव में लाभदायक कार्य करती है। कॉमन सभा से प्रायः ऐसे विधेयक आ जाते हैं जिनका प्रारूप ठीक प्रकार मे तैयार नही होता, जो जल्दी-जल्दी एकत्र किये जाते है तथा कुछ तो ऐसे होते हैं जिन पर अमल नहीं हो सकता। सीनेट के सदस्यों के पास कॉमन सभा के सदस्यों की अपेक्षा अधिक समय तथा कम परेशानियाँ होती हैं। सीनेट के कुछ एक सदस्य तो अपनी योग्यता तथा विशाल अनुभव के कारण विधेयकों मे उचित सुधार भी कर सकते है। दूसरे, उनके सामने किसी विशेष निर्वाचक-समूह को प्रसन्न करने का भी प्रश्न नहीं

1. Government of Canada, p. 343.

होता और वे गैलरी से भी बहुत कम बात करते हैं, वास्तव में, उनकी अवस्था में कोई गैलरी होती ही नहीं। सीनेट की स्थायी समितियों तथा विशिष्ट समितियों का जांच-पड़ताल-सम्बन्धी कार्य भी काफी प्रसिद्ध है। सीनेट में प्रस्तुत विषयों पर स्थायी समितियों में सविस्तार विचार किया जाता है और वहाँ जनता को भी अपने विचार प्रकट करने के लिए बुलाया जाता है और मन्त्रिमण्डल के सदस्य भी जानकारी देने के लिए विशेष प्रस्ताव की व्याख्या करने के लिए वहाँ आते हैं।

वित्तीय उपायों के विषय में, ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम स्पष्ट रूप से कहता है कि वित्तीय विधेयक कॉमन सभा में आरम्भ किये जाते हैं।[1] सीनेट की उनको संशोधित करने की शक्ति दोनों सदनों के बीच विवाद का विषय है। अ-नियम में भी इस बात के विषय में कुछ नहीं लिखा हुआ है। इंग्लैण्ड की कॉमन स-का अनुसरण करते हुए, कनाडा की कॉमन सभा भी इस बात पर ज़ोर देती है। सीनेट को वित्तीय विधेयकों को संशोधित करने का कोई अधिकार नहीं। कॉमन सभ-के स्थायी नियम स्पष्टतः इस बात का उल्लेख करते हैं कि, "कनाडा की संसद् द्वारा महामहिम सम्राट् को जो राजकीय ऋण तथा धनानुदान प्रदान किए जाते हैं, वे कॉमन सभा का ही उपहार माने जाते हैं और इस प्रकार के राजकीय ऋण तथा धनानुदान प्रदान करने वाले सभी विधेयक कॉमन सभा में प्रारम्भ किए जाने चाहिए क्योंकि निःसन्देह यह कॉमन सभा का अधिकार है कि वही विधेयकों में ऐसे अनुदानों के लक्ष्य, उद्देश्य, तर्क, शर्तें, सीमाएँ तथा प्रतिबन्ध जिनमें सीनेट परिवर्तन नहीं कर सकता, निर्देशित, सीमित तथा निर्धारित करे।"[2] सीनेट ने कॉमन सभा के इस अधिकार को रोषाकुल होकर अस्वीकार कर दिया है। ऐसा कहा जाता है कि केवल कॉमन सभा द्वारा ही प्रयुक्त इस प्रकार की शक्ति संविधान में परिवर्धन (addition) है। सीनेट की ओर से यह तर्क दिया जाता है कि जब ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम स्पष्ट रूप से कॉमन सभा में वित्तीय विधेयकों के प्रारम्भ किए जाने का संकेत करता है, तो सीनेट द्वारा वित्तीय बिलों के संशोधन अथवा अस्वीकृति के सम्बन्ध में अधिनियम की भूल इस बात का निश्चित प्रमाण है कि उसकी शक्ति पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाने का विचार नहीं किया गया था। सीनेट ने इस बात पर भी बल दिया है कि यदि उसे वास्तव में प्रान्तीय अधिकारों की रक्षा करनी है, तो इसे वित्तीय कानूनों में दखल देने का अधिकार अवश्य होना चाहिए।

वास्तव में, ये सैद्धान्तिक तर्क हैं। व्यवहार में, सीनेट ने कई बार वित्तीय विधेयकों में संशोधन किया है। प्रो० डासन लिखते हैं कि, "ऐसे अवसरों पर यह प्रायः देखने में आया है कि निम्न सदन ने सीनेट के संशोधनों को चुपचाप स्वीकार कर लिया है यद्यपि साथ में यह निरर्थक सी धारा भी जोड़ दी जाती है कि इस घटना को दृष्टान्त रूप में न लिया जाए।"[3] सीनेट खुल्लमखुल्ला किसी शुद्ध वित्तीय

1. Section 53.
2. House of Commons Standing Orders & Rules, No. 61
3. Government of Canada, op. cit., p. 349.

विधेयक को अस्वीकार नहीं करती। वह केवल उसे संशोधित करती है, और जब ऐसे संशोधन कर दिए जाते है जो कॉमन सभा को मान्य न हों, तो यह अस्वीकृति के समान ही होता है। ऐसी स्थिति में सीनेट की शक्ति लॉर्ड सभा की अपेक्षा श्रेष्ठ ही होती है जो १६११ के अधिनियमानुसार वैधानिक सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करता है।

विधायी तथा वित्तीय कार्यों के अतिरिक्त सीनेट ने विभिन्न समयों पर तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं की भी सफलतापूर्वक छान-बीन की है। १६४६ ई० मे सीनेट की एक विशेष समिति ने युद्ध आय-दर अधिनियम तथा अति-लाभ-कर अधिनियम की क्रिया-पद्धति की जाँच की थी और सराहनीय ढग से इस कार्य को सम्पन्न किया था। ऐसी जाँच सीनेट द्वारा ही सफलतापूर्वक की जा सकती है और प्रति वर्ष ऐसे अनेक अनुयोग (Enquiries) होते है जो सूक्ष्म परीक्षण तथा प्रबल सुधार की माँग करते है और सीनेट के पास उनके विषय मे छान-बीन करने के लिए समय, योग्यता तथा निर्भीकता होती है।

सीनेट—अपेक्षाकृत शक्तिहीन सदन (Senate, a Weaker Chamber)— सविधान के निर्माताओं ने सीनैट को 'लघु विधायी साझीदार' बनाने का निश्चय किया था और इस निश्चय का आभास दो वैधानिक उपबन्धों में मिलता है। एक तो कॉमन सभा की रचना से सम्बन्धित है जिसके अनुसार कॉमन सभा एक निर्वाचित सदन होगा। एक मनोनीत सीनेट बनाने के कारण चाहे कुछ भी रहे हों, यह एकमात्र धारा ही कॉमन सभा को सत्ता तथा श्रेष्ठता का निर्विवाद स्थान प्रदान करती है। एक निर्वाचित सदन लोकमत का दर्पण होता है और उसे उस नीति को अवश्य कार्यान्वित करना चाहिए जिसका जनता ने देशव्यापी चुनावों में समर्थन किया हो। यह जनतन्त्रीय सरकार का प्रथम सिद्धान्त है। दूसरे, प्रतिनिधित्व तथा कराधान साथ-साथ चलते हैं। उत्तरी अमेरिका अधिनियम का परिच्छेद ५३ कॉमन सभा को यह अधिकार देता है कि मुद्रा को उगाहने तथा खर्च करने से सम्बन्धित सभी विधेयक कॉमन सभा में ही प्रारम्भ होंगे।

इन दो वैधानिक उपबन्धों के अतिरिक्त, कॉमन सभा की सत्ता तथा श्रेष्ठता और उसके फलस्वरूप सीनेट की दुर्बलता संसदीय शासन-प्रणाली की प्रथाओं पर भी निर्भर करती है। इस प्रकार के शासन का आवश्यक लक्षण प्रतिनिधि-सदन के प्रति मन्त्रिमण्डल का दायित्व है और सविधान इस बात को निर्दिष्ट करता है कि प्रतिनिधि सदन कॉमन सभा है। एक बार जब ये तीनों आधारभूत तथ्य अपनी-अपनी जगह देख जाते हैं, तो सीनेट की स्थिति स्थायी रूप से निश्चित हो जाती है यद्यपि ऐसे क्रमों के विकास तथा समन्वय के लिए अब भी स्थान रह जाता है जो दोनों सदनों के क्षेत्रों मे पड़ते हों।

सीनेट मे कतिपय कार्यात्मक दुर्बलताएँ भी हैं। आलोचक इसे ऐसा गुप्त सौन्दर्य समझते हैं जो न तो कॉमन सभा द्वारा शीघ्रता में पारित उजड्ड तथा निर्विवेक कानूनों पर प्रभावी रोक ही लगाता है और न यह ठीक ढग से उनमें सुधार ही

कर सकता है। एक विवाद में भाग लेते हुए सर जार्ज ई० फॉस्टर ने कहा था, "बाजार में कौन यह जानने की चेष्टा करता है कि विभिन्न समस्याओं पर सीनेट का क्या मत है ? पत्रजगत् में कौन यह जानने की चेष्टा करता है कि क्या किसी विधायी विभाग पर अथवा उन परिस्थितियों पर जिनको किसी सफल परिणाम तक पहुंचने के लिए अति उत्तम तथा सयुक्त कार्य की आवश्यकता पड़ती है, सीनेट के भी कुछ विचार हैं, और यदि हैं, तो वे क्या हैं ?" दूसरे आलोचक सीनेट को केवल 'प्रति-ध्वनि-गृह' (House of Echoes) का नाम देते हैं। सर जे० ए० मैरियट लिखते हैं 'यह ध्यान देने योग्य बात है कि कनाडियन सीनेट कई ऐसे सिद्धान्तों को समन्वित करने का यत्न करता है जो यद्यपि पूर्णतया परस्पर-विरोधी नहीं हैं, फिर भी स्पष्टतया पृथक हैं। फलत इसने न तो कभी शिष्ट तथा पुश्तैनी सदन का सौन्दर्य ही प्राप्त किया है और न इसमें निर्वाचित सभा की शक्ति अथवा राष्ट्रीय विचार के विपरीत संघीय मत को प्रकट करने वाले सीनेट की उपयोगिता देखने में आई है। प्रान्तीय हितों को एक प्रकार का प्रतिनिधित्व देने के विचार से ही इसका संगठन किया गया था। इसलिए प्रारम्भ से ही दलीय नेताओं द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि वह केवल केन्द्रीय व्यवस्थापिका के हितों की रक्षा करे।"

प्रोफेसर डॉसन के अनुसार, "सीनेट ने, काफी नियन्त्रित होने पर भी, वास्तव में कुछ लाभदायक कार्य किया है। कॉमन सभा द्वारा भेजे गए कानूनों को वह सुधारता तथा उनकी जांच-पड़ताल करता है और अत्यधिक काम वाली कॉमन सभा से गैर-सरकारी कानून-निर्माण के बोझ का बहुत सा भाग वह ले लेता है। प्रान्तीय अथवा अन्य अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के कार्य में उसे कोई प्रत्यक्ष सफलता प्राप्त नहीं हुई है यद्यपि उसके निर्माण का यह एक प्रमुख कारण था। सामाजिक कानूनों के सम्बन्ध में उसकी वृत्ति को प्राय रूढ़िवादी कहा गया है परन्तु इसका प्रमाण विवाद-ग्रस्त है। संक्षेप में, सीनेट के अपने गुण हैं यद्यपि अपने वर्तमान रूप में उसके अस्तित्व के औचित्य को वे सिद्ध नहीं कर पाते।"[1] प्रोफेसर एलेक्जेंडर ब्रैडी का विचार है कि सीनेट की आपेक्षिक सफलता अथवा असफलता के विषय में मतभेद है। वह आगे कहता है, कि "उसके गुणों का न तो आदर ही किया गया है और न उन्हें मान्यता ही मिली है। परन्तु उसकी त्रुटियों का खूब प्रचार हुआ है। वह अपने प्रति व्यापक सम्मान तथा आदर को आकर्षित करने में असफल रहा है। समाचार-पत्र भी प्रायः उसकी अवहेलना करते हैं और यह नीतियों तथा विधिव्यवस्था पर अत्यधिक गहरा प्रभाव तो बहुत कम डाल पाता है।"[2] अतः सीनेट शक्तिहीन सदन होने के कारण तुलना में कॉमन सभा की प्रतिष्ठा, सत्ता तथा महत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता।

सीनेट की शक्तिहीनता के कारण (Causes of the Weakness of Senate)—जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, सीनेट के सामने प्रथम महान् कठिनाई

1. Democratic Government in Canada, p. 412-13.
2. Democracy in the Dominions, p. 72.

उसके सदस्यों की नियुक्ति से सम्बन्धित व्यवस्था थी। प्रोफेसर डॉसन कहता है, "अधिराज्य के संस्थापकों ने इस तथ्य को अवश्यम्भावी मान लिया था कि यदि मन्त्रि-मण्डल सीनेट के सदस्यों की नियुक्ति करेगा, तो वह दलीय हितों को प्राथमिकता देगा; परन्तु यह तो उन्हें भी आशा नहीं हो सकती थी कि दलीय कृतज्ञता इतनी सबल प्रवर्तक बन जाएगी।"[1] १८६७ ई० में की जाने वाली मौलिक नियुक्तियों के अतिरिक्त, जो सभी राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व करती थी, सीनेट की सदस्यता सदा सफलता प्राप्त दल के समर्थकों को पद-पुरस्कार के रूप मे दी जाती रही है और यह पदारूढ़ दल के उन कट्टर सदस्यों को दी गई है जिन्होने लम्बे समय तक तथा प्रशंसनीय सम्मान के साथ इसकी सेवा की हो। कॉमन सभा के भूतपूर्व सदस्य जो देशव्यापी चुनावों में हार गए हों, अथवा "बुढ़ापे के कारण पद-प्राप्ति के लिए संघर्ष न कर सकते हों," धनी लोग जिन्होने दिल खोल कर दल के व्यवस्थित आन्दोलनों मे धन लगाया हो तथा अन्य लोग जिन्होने दल की सहायता की हो, अपना पुरस्कार प्राप्त करते हैं और नियुक्त व्यक्तियों में उनकी काफी बड़ी संख्या है।

प्रोफेसर ब्रैडी के शब्दों मे, इसका परिणाम यह है, कि "नियुक्त व्यक्तियों की योग्यता, उत्साह अथवा अनुभव की गहनता चाहे कितनी ही हो—प्रायः वे विशिष्ट योग्यता के व्यक्ति होते है—इस पर भी वे इस लोक-निन्दा से नहीं बच पाते कि उन्होंने यह सदस्यता सेवा के लिए नहीं वरन् पुरस्कार रूप में पाई है।" वाम पक्षीय दल ऐसी दलीय नियुक्तियों की अत्यधिक आलोचना करते हैं और सदा इस बात पर जोर देते हैं कि अधिकांश सदस्य शक्तिशाली वाणिज्यिक निगमों के सचालक-मण्डलो में भी होते हैं। यहाँ कनाडियन सीनेट लॉर्ड-सभा से अस्पष्ट रूप से मिलता है। वह सम्पत्तिवान लोगों का गढ़ बन गया है और फलतः सीनेट के सदस्य प्रमुख रूप से ऐसे आर्थिक समूह का रूप धारण कर लेते हैं, जिसकी आधारभूत सामाजिक तथा आर्थिक सुधारों से सम्बन्धित प्रस्तावों से न तो सहानुभूति होती है और न हो सकती है। इसलिए, सीनेट की रचना ही मूलतः उसके सामान्य तथा निम्न प्रकार के उस आदर के लिए उत्तरदायी है जो लोगों द्वारा इस सदन को दिया जाता है।

सीनेट की रचना का एक दूसरा परिणाम 'अनुपयोगी निश्चेष्टता का वातावरण' है जो लार्ड ब्राइस ने लार्ड सभा में देखा था। आजीवन सदस्यता के कारण सीनेट में अनिवार्यतः ऐसे लोगों की संख्या बढ़ जाती है जो वास्तविक लाभकारी आयु को पार कर चुके होते है। इन अनुपयोगी सदस्यों की एक बड़ी संख्या अपने कर्तव्यों को युवक लोगों के प्रभावी ढंग से नहीं निभा सकती और युवक लोग सीनेट में इसलिए नही जाते कि वह उनके भावी जीवन के लिए किसी प्रकार की आशा उत्पन्न नहीं करता। वृद्ध व्यक्ति तो अपने जीवन के अन्तिम अध्याय को प्रारम्भ करने के लिए वहाँ चले जाते हैं। सर जार्ज ई० फॉस्टर ने, सीनेट का सदस्य बनने के पश्चात्, अपनी डायरी में लिखा था, "सीनेट कितना रूखा-फीका है। मृत्यु की ओर जाते हुए यह एक प्रवेश-द्वार के समान है।"

1. Government of Canada, p. 332.

सीनेट की सदस्यता, इस प्रकार उन लोगो के लिए शरणस्थल है जिनका सक्रिय जीवन लगभग पूर्ण हो चुका हो[1] तथा जो बुढापे मे प्रमुखतः अधिक उद्यमी जीवन की नहीं, सुखद और सुरक्षित जीवन की कामना करते हों। मिस्टर ग्राटून ओलिरी (Mr. Grattan O'Leary) ने इस तथ्य को सक्षेप मे इस प्रकार व्यक्त किया था, "सीनेट की सदस्यता कोई धन्धा नहीं, वरन् एक उपाधि है; यह एक वरदान है; सौभाग्य का कौशल है; यह सध्या के वृहद् पात्र पर अति सुन्दर विशुद्ध ललिमा खीचने के समान है अथवा कलकत्ता की दौड़ मे विजयी होने के सदृश है। यही कारण है कि हम इस सदस्यता को धन्धा मानना ठीक नही समझते और सीनेट को ऐसा स्थान नही समझते जहाँ लोगो को काम करना पड़े। निवृत्ति-वेतन काम के लिये नहीं दिए जाते।"

१९३० ई० मे, १०३ वर्ष की आयु मे सीनेट के सदस्य डीसल्युस (Dessaulles) की मृत्यु होने पर जो मृतक-परिचय दिया गया था, उसे नीचे अक्षरशः उद्धृत किया जाता है। यह सीनेट की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता का एक वाग्विदग्ध प्रमाण है :—

"सीनेटर डीसल्युस, जिनकी मृत्यु सेंट हर्किथी (St. Hyacinthe) में हुई, १९०७ से कनाडा की सीनेट के सदस्य चले आ रहे थे और उन्होने उल्लेखनीय कार्य किया। जहाँ तक सीनेट से सम्बन्धित लोगों को स्मरण है कि जब तक वह वहाँ रहे, उन्होंने एक बार भी विवाद मे भाग नही लिया और न कोई मत ही प्रकट किया; वरन् वह विवादो को बड़े ध्यान से सुनते थे और जब भी वोट डालने के लिए घण्टी बजती थी तो वह वहाँ पर उपस्थित होते थे। वह एक सहृदय वृद्ध व्यक्ति थे जिन्हे सभी दल उनकी वृद्धावस्था के कारण अति आदरणीय भाव से देखते थे।"

ऊपर लिखित बातों से भी अधिक अधारभूत तथ्य यह है कि इन दोनों सदनो की औपचारिक समानता के न होने पर भी, मंत्रालय कॉमन सभा के प्रति ही उत्तरदायी है और यह तभी तक पदारूढ़ रह सकता है जब तक कि उसे कॉमन सभा का विश्वास प्राप्त रहता है। वर्तमान शताब्दी के दूसरे दशक से पूर्व, सामान्यतः एक और कभी दो तथा कभी तीन सीनेटर भी मन्त्रिमण्डल मे ले लिये जाते थे और उन्हें निश्चित विभाग सौंपे जाते थे। परन्तु मैकेन्जी किंग ने दृष्टान्त स्थापित कर दिया और तब से सीनेट मे से केवल एक ही मन्त्री लिया जाता है और वह भी विभागहीन मन्त्री होता है। इससे कानून-निर्माण मे तथा नीति-नियन्त्रण में सीनेट का महत्त्व घट जाता है। मन्त्री उसी सदन में विधेयक प्रारम्भ करते हैं जिससे वे सम्बन्धित होते हैं और जहाँ वे अपनी नीतियो की सफाई दे सकते हैं तथा उनकी व्याख्या कर सकते हैं और यह कॉमन सभा ही है जहाँ व्याख्या तथा सफाई का कुछ अर्थ होता है।

जब सभी विधेयकों को संसद के अधिवेशन काल के प्रथम भाग में ही प्रारम्भ

---

1. १९५५ ई० में सीनेट में २६ सदस्यों में से ११ सदस्य अपनी नियुक्ति के समय ६० वर्षों से ऊपर के थे।

किया जाना हो, तो तब सीनेट के पास कोई कार्य नही होता। उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है अथवा अपनी बैठक को उस समय तक स्थगित करना पड़ता है जब कि उस अधिवेशन के विधेयक उसके सामने आयें। सीनेटर आर्थर मिगन (Arthur Meighen) ने शिकायत की थी कि "प्रतिवर्ष अधिवेशन-काल के अधिकाश भाग मे इस सदन से कोई लाभ नहीं उठाया जाता।" प्राय. यह देखने में आता है कि सिंहासन से होने वाले भाषण के उत्तर में अभिभाषण के पारित होने पर इसकी बैठक तुरन्त ही लम्बी अवधि के लिये स्थगित कर दी जाती है और जब इसकी बैठक होती है तो यह बड़े आराम से काम करता है और इसके विवाद प्राय छोटे होते है। उदाहरण-स्वरूप १६३८ ई० में सीनेट की बैठकें केवल ६१ दिन के लिए और १६३६ ई० में केवल ४७ दिन के लिए हुई थी। विवाद सामान्यतः हनसंड (Hansand) के प्रतिदिन के १० पृष्ठों से भी कम जगह घेरते है। प्रोफेसर डॉसन कहते हैं कि "कनाडियन संसद् के सदस्यों द्वारा की गई सेवाओं का मूल्य उस सरल विधि से नही आंका जा सकता जिसमें विवाद के पृष्ठ गिने जाते हैं। इस पर भी यह विश्वास करना कठिन है कि सीनेट के सदस्यों ने एकाग्रता के अद्भुत प्रभावों में अधिकांश तत्त्वों को खोये बिना ऐसी उल्लेखनीय संक्षिप्तता को प्राप्त किया है। उनकी टीका-टिप्पणी का अध्ययन करने से इस विचार की सत्यता की पुष्टि हो जाती है।"

सीनेट सम्पत्ति-सम्बन्धी, प्रान्तीय तथा अल्पसख्यक वर्गों के अधिकारो का संरक्षण करने में सफल नहीं रहा है यद्यपि कनाडा में इस उच्चतर सदन का निर्माण करते समय यही मौलिक उद्देश्य थे। प्रोफेसर मैके (Mackey) ने इस तथ्य का विशेषकर उल्लेख किया है और उसके निष्कर्ष हैं कि प्रान्तीय अधिकारों के समर्थक के रूप में सीनेट का कोई स्थिर अभिलेख नहीं और दलीय वर्ग सामान्यतः जातीय तथा प्रान्तीय वर्गों की अपेक्षा अधिक दृढ़ सिद्ध हुए हैं। "क्यूबक ही एक मात्र ऐसा प्रान्त है जो अतिक्रमण अथवा दुरुपयोग के विरुद्ध अपनी स्थिति तथा संस्कृति के सरक्षक के रूप में सीनेट में पूर्ण विश्वास रखता है। दूसरे प्रान्त सीनेट मे अपने प्रतिनिधित्व के विषय में बहुत कम चिन्तित हैं। वे तो मन्त्रिमण्डल में जो कनाडा में वास्तविक सघीय संस्था है, अपने प्रतिनिधित्व के प्रति अधिक चिन्तित हैं।" प्रोफेसर डॉसन कहता है कि "अन्य अल्पसंख्यक वर्गों के अधिकारों के सरक्षण मे सीनेट ने असामान्य तो नही, वरन् साधारण सेवा ही की है यद्यपि गैर-सरकारी विधेयकों के सम्बन्ध मे उसकी सतर्कता निजि-सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों तथा सार्वजनिक हितो को उपद्रवी नियमों के आक्रमण से सरक्षण प्रदान करने मे काफी सहायक रही है।"

सीनेट का उन्मूलन अथवा सुधार (Abolition or Reform of the Senate)—इस प्रकार सीनेट अपनी अड़चनों से ही पीड़ित है और इसे संसार में सब से दुर्बल द्वितीय सदन का नाम दिया गया है। इस पर भी, यह बिल्कुल व्यर्थ की संस्था नही है और इसके सदस्यों ने कानूनों के सुधार तथा संशोधन में सराहनीय कार्य किया है। सीनेट के सदस्यों पर प्रायः पक्षपात का आरोप लगाया जाता है, विशेषकर उस समय जब कि बहुसंख्यक वर्ग पदारूढ़ दल का विरोधी होता है। प्रो०

ब्रैडी ने कहा है, "इस पर भी वे साधारणतया कॉमन-सभा के सदस्यों की अपेक्षा दलगत निष्ठा से कम प्रेरित होते हैं तथा दलगत अनुशासन द्वारा भी कम बँधे होते हैं। उनमें भी पक्षपात की भावना पाई जाती है और वे भी अध्यक्ष के दायें-बायें—सरकारी तथा विरोधी दलों मे बँटे रहते है। परन्तु विधेयकों पर विचार करते समय वे अधिक निष्पक्ष होते है और समितियों में अपने कार्य को बड़ी सावधानी से करते है।" उन्हें किसी विशेष निर्वाचक समूह को प्रसन्न नही करना होता है और केवल दलगत हितों के कारण ही वे विरोध नहीं करते तथा वे गैलरी से बहुत कम बात करते है क्योकि सत्य तो यह है कि उनकी अवस्था में गैलरी तो बहुत कम होती है। इंग्लैण्ड मे लार्ड सभा के सदस्यों के समान, उनके लिये यह सदस्यता सुरक्षित होती है और उन्हें पदच्युत नही किया जा सकता है। इसलिये वे अपने भाषणों में मतदाताओं की प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रख कर सदन में नहीं बोलते। वे किसी के प्रति उत्तरदायी नही होते परन्तु कोई दूसरा भी उनके प्रति उत्तरदायी नही होता। इसका परिणाम यह है कि यद्यपि सीनेट में विवाद प्रायः संक्षिप्त होते हैं, परन्तु योग्यता तथा अनुभव पर आधारित होते हैं और विवाद के उच्च स्तर को स्थापित करते हैं। कॉमन-सभा सीनेट के सदस्यों द्वारा कही गई बातों की ओर उचित ध्यान देती है। वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में भी उनकी बात सुनी जाती है। तदनुसार, उसके उन्मूलन का तो प्रश्न ही नहीं उठता और जनतन्त्र को द्वितीय सदन की भी आवश्यकता रहती है। जब तक यह सिद्ध न हो जाये कि जनतन्त्र को द्वितीय सदन की आवश्यकता नहीं, कनाडा में उसका अन्त कर देना जनतंत्रीय कार्य नही होगा।

परन्तु प्रारम्भ से ही, सीनेट को सुधारने की माँग होती रही है, क्योंकि कोई भी इसे वर्तमान असंतोषजनक स्थिति में रखने के लिए इच्छुक नही। संसदीय शासन-प्रणाली वाले अन्य देशों की अपेक्षा कनाडा में द्वितीय सदन का निर्माण करने में काफी कठिनाई रही है। वास्तव में कनाडा की शासन-प्रणाली मे कतिपय विशेष कठिनाइयाँ पाई जाती है। समुद्रतटीय प्रान्तों की जनसंख्या को कनाडा के किसी अन्य प्रमुख भाग की अपेक्षा अधिक उदारता से प्रतिनिधित्व प्राप्त है और वे किसी भी ऐसी सुधार-योजना का स्वागत नही करेंगे जिससे उनके प्रतिनिधियों की संख्या में कमी हो। क्यूबेक तो सीनेट-सुधार से सम्बन्धित किसी भी प्रस्ताव का विरोध करेगा और वह सदा से ही प्रत्येक नई वैधानिक पद्धति के प्रति अविश्वासी रहा है और अंग्रेजी-भाषी कनाडा के हस्तक्षेप के विरुद्ध अपनी संस्कृति और संस्थाओं की सुरक्षा के लिए परम्परागत रूप से प्रतिरक्षी रहा है।

१९२७ ई० में सीनेट के सुधार के लिए जो अन्तर्प्रान्तीय सम्मेलन किया गया था, उसने निर्वाचित सदन के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया था और तदनुसार, वह मनोनीत होता रहा है। ब्रैडी के शब्दों में, "इस प्रकार, सीनेट पहले जैसा ही रहता है क्योंकि प्रभावशाली हित—और बहुत से तो विरोध करते हैं—इसका सुधार करना नही चाहते और जनसमूह की उदासीनता इसे सुरक्षा प्रदान करती है।" वास्तव में, सीनेट के उन्मूलन अथवा सुधार-सम्बन्धी प्रश्न विरोधी दल अथवा सरकारी दल के

लिए एक समस्या बन जाता है जबकि सदन में दल का संतुलन बिगड़ जाता है। सीनेट में जो नियुक्तियाँ की जाती है, वे न केवल प्रान्तो के प्रतिनिधित्व को ध्यान में रखकर की जाती हैं वरन् उनके द्वारा प्रान्तों में धार्मिक, जातीय तथा धार्मिक वर्गों को भी प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है और प्रधान मन्त्रियों ने इनके द्वारा प्राय. अल्प-संख्यक वर्गों के अस्थायी संतापों को भी दूर किया है।

वर्तमान ढांचे के अन्तर्गत ही कुछ सुधार करना असंभव नहीं। सीनेट में ही अधिक विधेयकों को आरम्भ करके उसे अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। साथ ही, लार्ड सभा की भाँति सीनेट की शक्तियों को भी सीमित कर देना चाहिए ताकि साधारण कानून पर वह केवल निलम्बमान निषेधाधिकार का प्रयोग कर सके और वित्तीय विधेयकों पर उसका नियन्त्रण न रहे। मन्त्रियो को किसी भी सदन मे विधेयक प्रारम्भ करने की तथा बोलने की आज्ञा होनी चाहिए यद्यपि वे अपने मत उसी सदन में देंगे जिससे वे सम्बन्धित होंगे, अथवा इंग्लैण्ड की उस प्रथा से लाभ उठाया जाये जिसके द्वारा सीनेट में अनेक निम्नतर श्रेणी के मन्त्रियो को स्थान दिया जावे अथवा यदि सीनेट मे अधिक मन्त्रियों को पुनः प्रवेश दिलाना हो, तो उनके निम्नतर श्रेणी के मन्त्रियों को कॉमन सभा में जगह दी जा सकती है।

कॉमन सभा
(The House of Commons)

कॉमन सभा का महत्त्व (Importance of the Commons)—"कनाडा की कॉमन सभा, यद्यपि वेस्टमिंस्टर पर आधारित सबसे प्राचीन विधायी सदन नहीं है, परन्तु ऐसा सर्वप्रथम सदन अवश्य है जहाँ पर संघीय उपनिवेशो के प्रतिनिधियों ने उन औपनिवेशिक विधान-मण्डलों से संसदीय परम्परा के उत्तराधिकारियो का आयोजन किया, जिन्होने १६वी शताब्दी मे उत्तरदायी शासन-व्यवस्था को तथा ८० वर्ष पुराने उस वाद स्थल (forum) को प्राप्त कर लिया था जहाँ फ्रांसीसी तथा अंग्रेज जातियों के व्यक्तियो ने अपनी संयुक्त समस्याओं पर विचार-विमर्श किया है तथा हितों के उस संवेदनशील सतुलन को प्राप्त कर लिया है जिस पर कनाडा का राष्ट्रीय राज्य टिका हुआ है।" कॉमन सभा राजकीय प्रशासन का प्रमुख जनतन्त्रीय अंग है जहाँ जनता की संकल्प-शक्ति व्यक्त होती है तथा वह अपनी अंतिम राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करती है। यह 'राष्ट्र की महान् जन-सभा' है जहाँ नीतियो पर विचार-विमर्श किया जाता है, तथा विधायी उपाय सोचे जाते हैं और यही वह संस्था है जहाँ व्यवस्थापिका अपने सार्वजनिक कार्यों के औचित्य को सिद्ध करती है तथा अनुमति लेती है।

रचना तथा संगठन (Composition and Organization)—कॉमन सभा अपने प्रतिनिधि-स्वरूप के कारण ही मूलभूत महत्त्व लिये है। आजकल कनाडा में पूर्णतया वयस्क मताधिकार है और सामान्यतः प्रत्येक पुरुष तथा प्रत्येक नारी को वोट देने का अधिकार है यदि वह २१ वर्ष का है, कनाडा का नागरिक है चुनाव से पूर्व बारह मास कनाडा में साधारणतया निवास करता रहा है तथा उस तिथि को जबकि निर्वाचन-सम्बन्धी लेख-पत्र प्रकाशित हुआ था निर्वाचन-क्षेत्र मे साधारणतया निवास

कर रहा है। ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम में प्रतिनिधियों की योग्यताओं का कोई उल्लेख नहीं परन्तु संविधि द्वारा उन्हें निर्धारित किया जाता है। वर्तमान विधि-बद्ध योग्यताएँ अति सरल हैं। कॉमन सभा के सदस्य अनिवार्य रूप से कनाडा के नागरिक तथा २१ वर्ष के होने चाहिएं। १८७४ ई० से सम्पत्ति-सम्बन्धी योग्यताओं का अन्त कर दिया गया। चार सदस्यों के अतिरिक्त सभी सदस्य एकल-सदस्य निर्वाचन-क्षेत्रों से चुने जाते हैं। हैलीफैक्स तथा क्वीन्ज़ के निर्वाचन-क्षेत्र दो-दो सदस्यों को चुनते हैं। सदस्यों की अधिकतम अवधि पाँच वर्ष है और सदस्यता की वास्तविक अवधि संसद्-विसर्जन पर निर्भर करती है। १९४९ ई० में संशोधित ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम के अनुसार, अधिकतम अवधि वास्तविक अथवा सशंकित युद्ध, आक्रमण अथवा विद्रोह के समय कनाडा की संसद् द्वारा बढ़ाई भी जा सकती है यदि ऐसी वृद्धि का कॉमन सभा के सदस्यों के एक-तिहाई भाग से अधिक सदस्यों द्वारा विरोध न किया गया हो।" सामान्य अवधि चार वर्ष की है। "यह, वास्तव में, कनाडा के राजनीतिक जीवन की एक परम्परा बन गई है कि कोई भी प्रधान मन्त्री, यदि सम्भवतः इसे टाला जा सके, संसद् की पूरे पाँच वर्ष की अवधि का पालन नहीं करता।" यह तथ्य अनुभव तथा अन्य व्यावहारिक बातों पर आधारित है।

१९५२ के अध्याय १५ के परिनियमों (Statutes) के अनुसार कनाडा की संसद् ने ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम के परिच्छेद ५१ का संशोधन किया जिसके द्वारा कॉमन सभा में प्रतिनिधित्व के विषय में एक नई प्रणाली का प्रबन्ध हुआ। इस संशोधन के फलस्वरूप एक नया प्रतिनिधित्व अधिनियम (Representation Act) पारित किया गया और तब कॉमन सभा के कुल सदस्यों की संख्या २६५ निश्चित की गई। इंग्लैंड में कॉमन सभा के सदस्यों के विपरीत, कनाडा में कॉमन सभा का सदस्य सदन से त्यागपत्र दे सकता है। सदस्यों को अब प्रति वर्ष दस हजार डालर मिलते हैं जिसमें २,००० डालर का कर-मुक्त भत्ता भी सम्मिलित है। सदन से अनुपस्थिति के कारण सदस्यों को दण्डित भी किया जाता है। कोई भी सदस्य २१ दिन छुट्टी ले सकता है। इससे अधिक अनुपस्थित रहने पर, प्रत्येक अनुपस्थिति के लिए ६० डालर के हिसाब से उसके कुल भुगतान में से दण्ड-राशि काट ली जाती है।

विरोधी पक्ष (The Opposition)—ब्रिटिश संसदीय प्रणाली पर आधारित संविधानों में विरोधी पक्ष का एक विशिष्ट स्थान है। कनाडा में प्रधानमंत्री, मन्त्रिमंडल जैसी कई अन्य संस्थाओं के समान विरोधी पक्ष की नींव भी अलिखित रूढ़ियों पर पड़ी है। कनाडा के निर्वाचकगण की पसन्द केवल यही निश्चय नहीं करती कि कनाडा पर कौन शासन करेगा, अपितु इस बात का निर्णय करके कि किस दल ने कॉमन सभा में दूसरे स्थान पर सबसे अधिक स्थान प्राप्त किए हैं, वह इस बात की भी नियुक्ति कर देती है कि प्रमुख दलों में से कौन आधिकारिक विरोधी पक्ष का कार्य करेगा। विरोधी पक्ष के नेता का काम सरकार और उसकी नीतियों की बुद्धिमत्तापूर्ण तथा रचनात्मक आलोचना प्रदान करना है। १९२७ के सीनेट

तथा कॉमन सभा अधिनियम के अन्तर्गत विरोधी पक्ष के नेता के लिए सदन के सदस्य होने के नाते क्षतिपूर्ति के अतिरिक्त वार्षिक वेतन की व्यवस्था की गई है। १६६३ में इसी अधिनियम में संशोधन द्वारा (प्रधान मन्त्री या कॉमन सभा के विरोधी पक्ष के नेता को छोड़ कर) प्रत्येक ऐसी पार्टी के नेता के लिए जिसकी प्रमाणित सदस्यों की संख्या सदन में १२ या इससे अधिक हो, वार्षिक भत्ते का प्रबन्ध किया गया है।

अंग्रेजी तथा कनाडियन कार्य-विधि में समानता (Similarity between the English and Canadian Procedure)—स्वरूप, नियमों तथा कार्य-विधि मे कनाडा की कॉमन सभा ने ब्रिटिश संसदीय रूढ़ियो तथा प्रथाओ को अपनाया है। सामान्य सिद्धान्त तो यह है कि जब तक कोई विधायी-व्यवहार अथवा कार्य-विधि की बात कनाडा की कॉमन सभा द्वारा संशोधित अथवा स्थानापन्न नहीं की जाती, तब तक अंग्रेजी प्रथाओं और रूढ़ियों का पालन किया जायेगा।

देश-व्यापी निर्वाचनों के तुरन्त पश्चात् गवर्नर-जनरल-परिषद् कॉमन सभा को निमन्त्रित करती है और शपथ लेने के पश्चात् सदस्य स्पीकर का चुनाव करते हैं। अभिसमय के अनुसार, स्पीकर के लिए प्रत्याशी का नाम प्रधान मन्त्री द्वारा प्रस्तावित किया जाता है। मन्त्रिमण्डल का कोई सदस्य उसका समर्थन करता है और प्रायः विरोधी दल अपनी अनुमति दे देते हैं। इंग्लैंड में पिछली संसद् का स्पीकर ही पुनः चुन लिया जाता है और दलगत परिवर्तनों अथवा उसके दल-निष्ठा की ओर कोई ध्यान नहो दिया जाता। परन्तु कनाडा में, इसके विपरीत, प्रत्येक सदन के लिए प्रायः नया स्पीकर चुना जाता है और वह अवश्य सरकारी दल का होना चाहिए। इस प्रथा के कारण प्राय: अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी कनाडा से बारी-बारी स्पीकर चुना जा सकता है। अभिसमय यह है कि यदि एक संसद् का स्पीकर अंग्रेज जाति का हो, तो अगली संसद् का स्पीकर अवश्य फ्रासीसी जाति का कनाडावासी हो और स्पीकर तथा डिपुटी-स्पीकर एक हो जाति के नहीं होने चाहिएँ।

कनाडा मे स्पीकर के कर्त्तव्य, इंग्लैंड में अपने प्रतिरूप के कर्त्तव्यों के समान ही दूभर होते हैं। वह सदन के वाद-विवादो का सभापतित्व करता है, मर्यादा को बनाये रखता है, सदन को प्रश्न पूछता है, किसी भी प्रस्ताव को पढता है तथा सदस्यों को अपमान से बचाता है। वह सदन की प्रथाओं तथा नियमों के अनुसार वाद-विवाद को चलाता है तथा सदन की शक्ति, प्रतिष्ठा, स्वतन्त्रता तथा विशेषाधिकारो का सरक्षक है। स्पीकर केवल बराबर का मुकाबला होने पर ही अपना वोट डालता है।

स्पीकर का चुनाव करने के पश्चात् सदन स्थगित हो जाता है परन्तु शीघ्र ही गवर्नर-जनरल द्वारा नियत किये गये समय पर पुनः एकत्र होता है जबकि विशेष पदाधिकारी (Usher of the Black Rod) यह घोषणा करता है कि गवर्नर-जनरल सीनेट में कॉमन सभा की उपस्थिति का इच्छुक है, तब गवर्नर-जनरल सिंहासन से भाषण पढ़ता है जिसमें सरकार की नीति की रूपरेखा प्रस्तुत की जाती है तथा उन कानूनों का उल्लेख होता है जो सरकार आगामी अधिवेशन में संसद् मे लाने

का विचार रखती है। भाषण के पश्चात्, कॉमन सभा के सदस्य अपने-सदन मे लौट आते है। सरकारी दल की ओर से धन्यवाद सम्बन्धी प्रस्ताव के समय भाषण पर वाद-विवाद होता है। इससे विरोधी दल को सरकार की आलोचना करने का अवसर मिल जाता है और सदन का नेता प्रधान मन्त्री उस नीति का पालन करने के लिए अपनी व्याख्या देता है। सदन द्वारा धन्यवाद के प्रस्ताव की स्वीकृति सरकार में विश्वास की अभिव्यक्ति है।

सार्वजनिक विधेयकों को पारित करने के लिए मूलभूत कार्यविधि की दशा में भी कनाडा इंग्लैंड का अनुसरण करता है और वैसे ही सरकारी विधेयकों, प्राइवेट सदस्यो के विधेयको तथा प्राइवेट विधेयकों में भेद किया जाता है। लोकसभा में उनके तीन वाचन होते है, फिर सीनेट मे तीन वाचन होते है और तब उन्हें स्वीकृति के लिए गवर्नर-जनरल को भेज दिया जाता है। दोनों सदनों में मतभेद हो जाने पर, प्रत्येक सदन के प्रतिनिधियो के बीच विचार-विमर्श करने के लिए और यदि सम्भव हो तो विभेदों को मिटाने के लिये सम्मेलन किया जाता है। यदि समझौता नही हो सकता, तो इस उपाय का त्याग कर दिया जाता है। कनाडा की समिति-प्रणाली भी ब्रिटिश-समिति प्रणाली से मिलती-जुलती है। उसमे भी समस्त सदन की समिति, प्रवर समितियाँ तथा स्थायी समिति होती है। इनकी कार्य-प्रक्रिया भी समान है।

कॉमन सभा के कार्य (Functions of the Commons)—सैद्धान्तिक रूप से, कॉमन सभा तथा सीनेट—दोनो सदनों को बराबर की विधायी शक्तियाँ प्राप्त है। परन्तु संसदीय शासन के स्थिर होने से तथा ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम १८६७ के दो विशिष्ट उपबन्धों के कारण, कॉमन सभा समस्त विधि-व्यवस्था की केन्द्र बन गई है तथा सीनेट की उपेक्षा कर दी गई है। विधेयको को किसी भी सदन मे प्रारम्भ किया जा सकता है परन्तु ऐसे विधेयक जो लोगो पर किसी प्रकार का भार डालते हों अथवा सरकारी कर्मचारियो के लिए अनुदान प्रदान करते हो, तो वे कॉमन सभा मे प्रारम्भ किये जायेंगे। कार्य-विधि के नियमो में इस बात का स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है कि, "कनाडा की संसद् द्वारा महामहिम को दिये गये सभी राजकीय ऋण तथा धनानुदान कॉमन सभा के उपहार-मात्र होते हैं और ऐसे ऋण तथा धनानुदान प्रदान करने वाले सभी विधेयक कॉमन सभा में ही प्रारम्भ किये जाने चाहिएँ क्योंकि निःसन्देह यह इस सदन का ही अधिकार है कि वह ऐसे सभी विधेयकों में अनुदानों के लक्ष्य, उद्देश्य, तर्क, शर्तें, सीमाएँ तथा प्रतिबन्ध जिन्हें सीनेट नही बदल सकता, निर्देशित, सीमित तथा नियुक्त करे।" वित्तीय विधेयक मन्त्रियों द्वारा प्रारम्भ किये जाने चाहिए।

कॉमन सभा को उन सभी प्रस्तावों का समर्थन करना चाहिए जिन्हें मन्त्रि-मण्डल प्रस्तुत करता है, परन्तु कानूनों को बनाते समय, विचार-विमर्श तथा आलोचना का अवसर प्रदान किया जाता है। जहाँ संसदीय शासन-प्रणाली पाई जाती है, वहाँ वास्तव में विचार-विमर्श का कार्य संसद् के विधायी कार्य का एक भाग होता है। विरोधी दल का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य प्रशासन तथा नीति-निर्माण से सम्बन्धित

विषयों की आलोचना करना है और इस प्रकार सरकार को अपने विचारों तथा व्यवहार की सफाई देने के लिए बाध्य करना होता है। बहुसंख्यक दल के सदस्यों द्वारा व्यक्त विचार भी मंत्रिमण्डल के प्रस्तावों में काफी संशोधन करा देते हैं। विरोधी दल भी कुछ साधारण रियायतें प्राप्त करने में सफल हो जाता है। कोई भी सरकार चाहे उसे कितना ही बहुमत क्यों न प्राप्त हो, विरोधी दल की आलोचना की उपेक्षा नहीं कर सकती। ऐसी सरकार जो विरोधी दल की अवहेलना करती है, बड़ा खतरा मोल ले लेती है क्योंकि सरकार की भूलें विरोधी दल को सुअवसर प्रदान करती हैं और वह लोकमत को अपने पक्ष में करने के लिए इन भूलों का प्रयोग करता है। सरकार अपने अनुयायियों की प्रतिक्रियाओं के प्रति भी उदासीन नहीं हो सकती। निर्वाचन-क्षेत्रों में, शुभचिन्तक वर्गों में अथवा पीछे बैठने वाले सदस्यों में अशांति प्रकट होने पर सरकार को अपनी योजनाओं तथा प्रस्तावों में परिवर्तन करना पड़ता है।

कॉमन सभा के संकटमय कृत्य का एक आवश्यक स्वरूप व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से सम्बन्धित अथवा सामान्य देख-रेख से सम्बन्धित उसका अधिकार है। कॉमन सभा के प्रति मन्त्रिमण्डल के दायित्व का अभिप्राय सदन पर सरकार का निरन्तर नियन्त्रण है। वास्तव में, नियन्त्रण तथा दायित्व साथ-साथ चलते हैं। कॉमन सभा दो प्रकार से अपना नियन्त्रण रखती है। सर्वप्रथम, सदन में सरकार के कार्यों के विषयों में जानकारी देने की निरन्तर मांग होती रहती है और यह मांग मौखिक अथवा लिखित प्रश्नों द्वारा की जाती है। सदन के सदस्यों को सामान्यतः सप्ताह में तीन दिन मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों से विभिन्न सार्वजनिक विषयों से सम्बन्धित प्रश्न पूछने का अवसर दिया जाता है। कभी-कभी अनुपूरक मौखिक प्रश्न भी पूछने की आज्ञा दी जाती है, परन्तु ऐसा प्रायः नहीं होता और न उनके विषय में कोई अधिक प्रोत्साहन ही दिया जाता है। सदन विभिन्न विभागों के प्रबन्ध के विषय में छान-बीन भी कर सकता है, और इस प्रकार सरकार की क्रियाएँ प्रकाश में आ जाती हैं।

दूसरे, नियमित रूप से सरकार के कार्यों की आलोचना की जाती है। कानून बनाते समय तथा सरकार की नीति पर विचार करते समय ऐसा किया जाता है। विरोधी दल को सरकार की नीति पर एक साथ आलोचना करने का सबसे उत्तम अवसर उस समय मिलता है जब वह सिंहासन से दिये गये भाषण पर वाद-विवाद करती है। सार्वजनिक वित्त पर वाद-विवाद—विशेषकर व्यय-सम्बन्धी प्रस्ताव भी विचार-विमर्श तथा आलोचना के लिये सुअवसर प्रदान करते हैं। उदाहरणस्वरूप, यदि विरोधी दल सरकार की विदेशी नीति का समर्थन नहीं करता, तो विदेशी विभाग के विनियोगों पर वाद-विवाद करते हुए वह आलोचना कर सकता है।

इन नियमित विवादों के अतिरिक्त, व्यवस्थापिका की आलोचना के लिये सामान्य अवसर उस समय भी मिलता है जब स्थगन प्रस्ताव पर वाद-विवाद किया जाता है। कोई भी सदस्य किसी अत्यावश्यक तथा महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार-

विमर्श करने के लिए सदन को स्थगित करने का प्रस्ताव रख सकता है। यदि स्पीकर यह निर्णय देता है कि विषय प्रति प्रावश्यक है और कम-से-कम २० सदस्य उसका समर्थन करते है, तो प्रस्ताव स्वीकार हो जाता है। यदि २० से कम और ५ से अधिक सदस्य उसका समर्थन करते हैं, तो सदन को निर्णय देने के लिए कहा जाता है। मन्त्रिमण्डल पर आलोचना करने का सबसे प्रत्यक्ष ढंग अविश्वास का प्रस्ताव है। अविश्वासन का प्रस्ताव वास्तव मे मंत्रिमण्डल के लिए अति सकटमय समय होता है क्योंकि इसी से उसके भाग्य का निर्णय होता है। जब तक किसी सरकार को निर्द्वन्द्व बहुमत प्राप्त रहता है, ऐसा प्रस्ताव पारित होने की कोई सम्भावना नही होती। फिर भी यह मन्त्रि-गण मे काफी घबराहट पैदा कर देता है। किसी सरकारी प्रस्ताव का संशोधन अथवा सरकारी कार्य की आलोचना भी तार्किक रूप से "अविश्वास" का विषय बन जाती है। कई बार ऐसा भी होता है कि सरकार स्वयं कदम उठाये और सदन से "विश्वास प्रस्ताव" की माँग करे जैसा कि जनवरी १६२६ ई० मे किया गया था।

कॉमन सभा एक सुविशिष्ट संस्था है। यही पर राष्ट्रीय प्रतिभा का प्रदर्शन होता है और यही सदस्य विशेष योग्यता प्राप्त करते हैं। कॉमन सभा वास्तव मे, मन्त्रिमण्डल का चुनाव नहीं करती परन्तु यह तथ्य कि मंत्रिमण्डल के लिये सदन मे बहुमत का समर्थन बना रहना चाहिये, सदन को चुनाव की नकारात्मक शक्ति प्रदान कर देता है। सदन अप्रत्यक्ष रूप में एक दूसरे ढंग से भी मन्त्रियों का चुनाव करता है। "सदन ही वह कठोर वातावरण पैदा करता है जिसमें मन्त्रालयिक प्रतिभा अपनी उत्तमता का परिचय देती हैं तथा पद-सम्बन्धी अधिकार को स्थापित करती है। सम्भावी मंत्री सदन में प्रायः कठिन शिष्यत्व प्राप्त करते है और जबकि बहुत से सदस्य तो दल के पदारूढ़ होने तक अथवा मन्त्रिमण्डल मे स्थान रिक्त होने तक मैदान छोड़ जाते हैं, कुछ योग्य व्यक्तियों को जो बच पाते है, मंत्री बनने से पूर्व अपनी योग्यता को विकसित करने का काफी अवसर मिल जाता है।" और जैसा कि प्रोफेसर लास्की ने कहा है, "अन्य कोई भी वैकल्पिक ढग नही है जो किसी प्रकार भी इस ढग की बराबरी कर सके।"[1]

कॉमन सभा अनेक समस्याओं पर जनता को शिक्षित करती है तथा उसका नेतृत्व करती है। कॉमन सभा के सामने जो समस्याएँ आती हैं, वे सभी देशव्यापी चुनावों के समय लोगों के सामने नही होती और इसलिये उनसे उस समय समाज्ञा प्राप्त नही की जा सकती। बहुत सी नई बातें हो जाती हैं और अनेक समस्याएँ उन राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के फलस्वरूप जन्म ले लेती हैं जिनकी पहले से कल्पना भी नहीं की जा सकती। कॉमन सभा में विभिन्न विषयों पर बात-चीत होती है, तर्क होते है, छान-बीन की जाती है, विरोध प्रकट किया जाता है तथा निर्णय दिये जाते हैं और कई बार उन पर कोई कदम उठाना स्थगित कर दिया जाता है। ऐसा करते समय यह लोकरुचि को जन्म देता है तथा देश भर में अधिक प्रबुद्ध मत

---

1. A Grammar of Politics, p. 300.

के पैदा करने में सहायक होता है। इंग्लैण्ड में इस कार्य-प्रणाली का उल्लेख करते हुए—और कनाडा पर भी यह कथन समान रूप से लागू होता है—प्रोफेसर जैनिग्ज कहते है, "इस प्रकार, वाद-विवाद, वेस्टमिस्टर से निरन्तर—घटते हुए लचीले प्रभाव को लिये विकीर्ण होता है। तर्क सम्प्रेषित किये जाते है, रोके जाते है, सरल बनाये जाते है और सम्भवतः उनको विकृत भी किया जाता है। एक 'सामान्य मत' का विकास होता है। वह नई तरंगों को जन्म देता है जो वेस्टमिस्टर की ओर मुड़ जाती हैं। वे धूम्र-स्थान पर और औपचारिक रूप से सदन में नये तर्कों को उत्पन्न करती है। अपनी बारी पर ये मत नई तरंगें पैदा करते हैं जो साधारण जनता को जा छूती है। इस प्रकार संसद् तथा जनता मे निरन्तर पारस्परिक आदान-प्रदान होता रहता है जो मतैक्य को जन्म देता है।......संसद् का उद्देश्य मन्त्रिमण्डल को लोकमत की समस्याओं के तथा लोकमत को शासन की समस्याओं के सम्पर्क मे रखना होता है।"[1]

अन्ततः, "कॉमन सभा राष्ट्रीय महत्त्व की एक अद्वितीय सस्था होती है जो उन विभिन्न हितों, जातियों, धर्मों, वर्गों, तथा धन्धों को संक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत करती है जिनके विचारों तथा भावनाओं को वह सन्निकट सत्यता के साथ व्यक्त करती है।" विभिन्नता की भूमि में वह एकता लाती है। सभी विचारो, धर्मों, भाषाओ, क्षेत्रों तथा धन्धों के लोगों के प्रतिनिधि एक जगह इकट्ठे होते हैं, बात-चीत तथा विचार-विमर्श करते है, विषयों की छान-बीन होती है और भेद मिटाये जाते है ताकि लोगो के सामने एकमात्र संयुक्त नीति रखी जा सके। इस प्रकार सदन, मिल (Mill) के शब्दों में, "राष्ट्र की शिकायतो की समिति है तथा मतों का सम्मेलन" है। उसके सदस्य विभिन्न प्रकार के *अनुभव तथा न्यादर्श के लिए अकपट तथा सक्रिय रूप से* राष्ट्रीय कल्याण की वृद्धि के लिए चिन्तित रहते हैं। इससे तत्कालीन शासन को बल मिलता है और मंत्रिमण्डल अत्यधिक विश्वास और निश्चय के साथ अपने सामने पड़े कार्य को कर सकता है। १६४० ई० के विवादमय दिनों मे मिस्टर मैकेन्जी किंग ने कहा था, "मैं आदरणीय सदस्यों से स्पष्टतः कह सकता हूँ कि ऐसे समय में ससद् का अधिवेशन मेरे लिये परेशानी का स्रोत न होकर सन्तोष का कारण है। मैं शुद्ध हृदय से यह कहता हूँ। मुझे यह जान कर बड़ा सन्तोष होता है कि ऐसी गम्भीर स्थिति मे, लोगों के प्रतिनिधि यहाँ उपस्थित है और सरकार के समान ही स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने विचारों को प्रकट कर सकते है और जिस ढग से संसद् कर रही है, वैसा समाचारपत्रों द्वारा करना संभव नही है। मै नही चाहूँगा कि देश तथा ससार आज जिस स्थिति मे है, उसमें ससद् के सदस्यों को विचार-विमर्श का अवसर दिये बिना तथा उन्हे शासन के कृत्यो की सूचना दिये बिना एक लम्बी अवधि बीत जाये।"

1. Parliamentary Reform, pp. 18-19,

अध्याय ४

न्यायपालिका

(The Judiciary)

न्यायालयों की व्यवस्था (The System of Courts)—कनाडा में न्यायालयों की व्यवस्था अपनी कतिपय विशेषताएं रखती है जो अधिराज्य के संघात्मक स्वरूप के कारण है। यहां उस अमेरिकी विचारधारा का अनुसरण नहीं हुआ है जिसके अनुसार एक संघ के अन्तर्गत न्यायालयों की व्यवस्था की जानी चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायालयों के दो वर्ग—संघीय तथा राज्य—मिलते हैं जो अलग-अलग संगठित किए गए है तथा ठीक प्रकार से विभाजित उनके अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र हैं। अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों मे संयुक्त राज्य का सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) तथा राज्यों मे उच्च अपीलीय न्यायालय (Supreme Courts of Appeal) अपील करने के लिए अन्तिम न्यायालय है। कतिपय परिस्थितियों में किसी झगड़े को एक न्यायालय से दूसरे मे बदला जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, यदि कोई अभियोग संविधान अथवा संघीय परिनियम की व्याख्या से सम्बन्धित हो, तो उसे राज्य-न्यायालय के क्षेत्राधिकार से संघीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार में भेजा जा सकता है। ऐसी अदला-बदली प्रायः नही होती और एक अभियोग उसी व्यवस्था में पूरा हो जाता है, जहां से वह प्रारम्भ हुआ था।

ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम दो प्रकार के न्यायालय संघीय तथा प्रान्तीय—स्थापित करता है परन्तु उनके मध्य की विभेद-रेखा लम्बात्मक न होकर क्षितिजीय है। अधिराज्य को अपील का एक सामान्य न्यायालय स्थापित करने का अधिकार है और वह "कनाडा के कानूनों के सुचारु प्रबन्ध के लिए कुछ और भी न्यायालय स्थापित कर सकता है।"[1] "प्रान्तों को दीवानी तथा फौजदारी दोनो प्रकार के प्रान्तीय न्यायालयों को संगठित करने के कारण न्याय-व्यवस्था पर अधिकार प्राप्त है। इन न्यायालयों में दीवानी रूप की कार्य-विधि भी सम्मिलित है।"[2] फौजदारी विषयों में कार्य-विधि अधिराज्य के अधिकार में है। अधिराज्य का (कुछ एक साधारण अपवादों को छोड़ कर)[3] अधिराज्य तथा प्रान्तों के न्यायालयों मे न्यायाधीशों की नियुक्तियों, वेतन तथा वियुक्तियों पर भी नियन्त्रण है। अधिकांश अभियोग किसी प्रान्तीय न्यायालय में प्रारम्भ होते हैं और कनाडा के सर्वोच्च न्यायालय तक उनकी अपील की जा सकती है। १९२९ ई० तक इंग्लैण्ड मे प्रिवी परिषद् की न्यायिक

---

1. अनुच्छेद १०१.
2. अनुच्छेद ९२, उप-परिच्छेद १४.
3. अनुच्छेद ९९—१००.

समिति तक अपील की जा सकती थी। कनाडा के राजकोषाधिकरण न्यायालय (Exchequer Court of Canada), को जो एक अधिराज्य-न्यायालय है, विशेष प्रकार का क्षेत्राधिकार सौंपा गया है, और तदनुसार वह अमेरिकी प्रकार का संघीय न्यायालय नहीं है।

१८६७ के ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम परिच्छेद ९९ के अन्तर्गत विशिष्ट न्यायालयों (Superior Courts) के न्यायाधीश अपने सदाचरण के समय में ही अपने पदों पर बने रह सकते हैं, परन्तु सीनेट तथा कॉमन सभा के कहने पर वे गवर्नर-जनरल द्वारा हटाए जा सकते हैं। १९६० के ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम के अनुसार, ये न्यायाधीश ७५ वर्ष के होने पर अपने पद से अलग हो जाते हैं। काउण्टी न्यायालयों के न्यायाधीशों की पदावधि का समय जज अधिनियम (Judges Act) द्वारा निश्चित होता है जिसका परिमाण काल सदाचरण है और उनके लिए काउण्टी या काउण्टी-संघ में जहां न्यायालय स्थापित है, रहना आवश्यक है।

संघीय न्यायपालिका (The Federal Judiciary)—ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम के परिच्छेद १०१ द्वारा संसद् को कनाडा में कानूनों के अधिक अच्छे प्रशासन के लिए समय-समय पर कनाडा के लिए सर्वसाधारण अपीलीय कोर्ट (Court of Appeal) को *बनाने और संगठन करने और अतिरिक्त न्यायालयों की* स्थापना के लिए अधिकार प्राप्त हैं। इस उपबन्ध के अन्तर्गत संसद् ने कनाडा का सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court of Canada), राजकोषाधिकरण न्यायालय (Exchequer Court of Canada) तथा नाना प्रकार के अन्य न्यायालय स्थापित किए हैं।

कनाडा का सर्वोच्च न्यायालय (The Supreme Court of Canada)—*आजकल कनाडा की न्यायालय-व्यवस्था का अग्रणी सर्वोच्च न्यायालय है।* ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम के अन्तर्गत १८७५ ई० में कनाडा अधिराज्य के लिए पुनर्विचारार्थ दीवानी तथा फौजदारी क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने के हेतु, इसकी स्थापना की गई थी। मौलिक रूप में, उसमें एक प्रमुख न्यायाध्यक्ष तथा पांच न्यायाधीश हुआ करते थे। १९२७ ई० में न्यायाधीशों की संख्या छः और १९४९ ई० में आठ तक बढ़ा दी गई। यह न्यायालय अब १९६२ के सर्वोच्च न्यायालय अधिनियम (Supreme Court Act, 1962) द्वारा नियमित होता है। इसका मुख्य न्यायाधीश भी अब कनाडा का मुख्य न्यायाधीश कहलाया जाता है। आजकल यह गवर्नर-जनरल-परिषद् द्वारा नियुक्त नौ न्यायाधीशों का एक न्याय-मण्डल है। ये न्यायाधीश सदाचरण-पर्यन्त ७५ वर्ष तक पदारूढ़ रह सकते हैं जबकि उन्हें अनिवार्य-रूप से कार्य-निवृत्त होना पड़ता है।

संसद् के दोनों सदनों द्वारा दिए गए संयुक्त समावेदन के पश्चात् गवर्नर-जनरल-परिषद् न्यायाधीशों को पदच्युत कर सकती है। प्रमुख न्यायाध्यक्ष को प्रति-

वर्ष २५ हजार डालर वेतन मिलता है तो अन्य न्यायाधीशों को २० हजार डालर दिए जाते हैं। न्यायालय ओटावा (Ottawa) में कार्य करता है और कनाडा भर में दीवानी और फौजदारी मामलों के साधारण अपील सम्बन्धी क्षेत्राधिकार इस न्यायालय के अन्तर्गत हैं। इसे गवर्नर-जनरल-इन-काउन्सिल (Governor-General-in-Council) द्वारा निर्दिष्ट विषयों पर विचार करना होता है और सलाह देनी पड़ती है। सीनेट अथवा कॉमन सभा के किन्हीं नियमों या आज्ञाओं के अन्तर्गत इस न्यायालय को निर्दिष्ट प्राइवेट विधेयकों पर भी सीनेट तथा कॉमन सभा को परामर्श देना पड़ता है।

प्रान्त में अन्तिम उपाय वाले उच्चतम न्यायालय के अन्तिम निर्णय के विरुद्ध भी सर्वोच्च न्यायालय में अपील लाई जा सकती है, बशर्ते कि मुकद्दमा १०,००० डालर के मूल्य से अधिक मामले से सम्बन्ध रखता हो। अन्तिम उपायस्वरूप प्रान्त के उच्चतम न्यायालय के अन्तिम निर्णय की अपील भी लाई जा सकती है यदि इस अपील की छूट प्राप्त हो। यदि अपील की छूट न भी हो तो भी सर्वोच्च न्यायालय अपील करने की छूट प्रदान कर सकता है भले ही निर्णय अन्तिम हो या न हो। अभियोग योग्य अपराधों के विषय में अपीलें फौजदारी संहिता (Criminal Code) द्वारा और संघीय न्यायालय से प्राप्त होने वाली अपीलें उन न्यायालयों को स्थापित करने वाले परिनियम द्वारा व्यवस्थित होती है।

फौजदारी तथा दीवानी अभियोगों में, संविधान-सम्बन्धी व्याख्या के लिए तथा ऐसे अभियोगों में, जहाँ अधिराज्य तथा प्रान्तों की संविधियों की वैधता विवादास्पद हो, सर्वोच्च न्यायालय अन्तिम अपीलीय न्यायालय है।

प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति (Judicial Committee) पिछले कुछ वर्षों तक फौजदारी अभियोगों के अतिरिक्त अन्य सभी अभियोगों के लिए कनाडा का अन्तिम न्यायालय थी। काफी देर से कनाडा में यह भावना जोर पकड़ रही थी कि प्रिवी परिषद् के आगे अपील करना राज्यत्व को प्राप्त राष्ट्र के लिए सम्मान की बात नहीं और कई बार इसकी समाप्ति के लिए निश्चित प्रयत्न भी किए गए। कई कारणों से इसे समाप्त न किया जा सका परन्तु जब १९३१ की वेस्टमिन्स्टर संविधि ने कनाडा की संसद् की क्षमता पर लगाए गए प्रतिबन्धों को हटा दिया तो १९३३ में फौजदारी अपीलों की सुनवाई को बन्द कर दिया। १९४९ ई० में कनाडा की एक संविधि ने प्रिवी परिषद् को भेजी जाने वाली सभी अपीलें बन्द कर दी हैं। अब सभी अभियोगों के लिए कनाडा के सर्वोच्च न्यायालय को अन्तिम अपीलीय न्यायालय बना दिया गया है। इसी न्यायालय के निर्णय अब अन्तिम निर्णय होते हैं।

राजकोषाधिकरण न्यायालय (The Exchequer Court)—प्रारम्भ में, राजकोषाधिकरण न्यायालय कनाडा के सर्वोच्च न्यायालय से काफी सम्बन्धित था परन्तु १८८७ ई० में उन दोनों को पृथक् कर दिया गया। अब इस न्यायालय में एक प्रधान तथा चार सदस्य होते हैं जिन्हें गवर्नर-जनरल-परिषद् नियुक्त करती है। वे सदाचरण-पर्यन्त ७५ वर्ष तक पदारूढ़ रह सकते हैं जबकि उन्हें अनिवार्य रूप से

निवृत्त कर दिया जाता है। संसद् के दोनों सदनों के संयुक्त समावेदन पर गवर्नर-जनरल-परिषद् उन्हें पदच्युत कर सकती है।

इस न्यायालय का मौलिक क्षेत्राधिकार प्रान्तीय न्यायालय के साथ तो क्राउन की आय से सम्बन्धित अभियोगों में है परन्तु संघीय विषयों में क्राउन के विरुद्ध किये गये अभियोगों में उसे एक-मात्र क्षेत्राधिकार प्राप्त है। इसका सम्बन्ध ऐसी अभियाचनाओं से है जो किसी सार्वजनिक उद्देश्य के लिये ली गई अथवा किसी सार्वजनिक निर्माण के कारण क्षतिग्रस्त सम्पत्ति के लिये क्राउन के विरुद्ध की गई हों तथा जो किसी सार्वजनिक निर्माण-कार्य पर कर्तव्य-पालन के समय क्राउन के किसी पदाधिकारी अथवा कर्मचारी की लापरवाही के फलस्वरूप किसी व्यक्ति की मृत्यु तथा चोट अथवा सम्पत्ति की हानि के कारण, क्राउन के विरुद्ध की गई हों। इसमें विशिष्टाधिकार (पेटेन्ट), प्रतिलिप्यधिकार (कापी राइट), व्यापार-चिह्न तथा औद्योगिक नमूना सम्बन्धी अभियोगों की भी सुनवाई होती है। कतिपय प्रकार के रेलवे अभियोग भी इसके अधिकार-क्षेत्र में हैं। राजकोपाधिकरण नाविक न्यायालय (Court of Admiralty) के रूप में भी कार्य करता है और इस रूप में उसे मौलिक तथा अपीलीय दोनों प्रकार के क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं।

प्रान्तीय उच्च न्यायालय (The Provincial Supreme Court)—प्रत्येक प्रान्त का अपना उच्च न्यायालय अथवा अपीलीय न्यायालय है जिसे प्रान्त में सभी अभियोगों पर क्षेत्राधिकार है परन्तु कनाडा के सर्वोच्च न्यायालय में उसके निर्णयों के विरुद्ध अपील की जा सकती है। गवर्नर-जनरल-परिषद् द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती है तथा वे भी सदाचरण-पर्यन्त पदारूढ़ रहते हैं। अन्य अधीन प्रान्तीय न्यायालयों की भांति, ये न्यायालय भी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अधिराज्य तथा प्रान्तीय नियन्त्रण में हैं। प्रान्तीय सरकार न्यायालयों का निर्माण, संगठन तथा नियन्त्रण करती है और दीवानी अभियोगों में कार्य-विधि का निश्चय करती है जबकि अधिराज्य सरकार न्यायाधीशों की नियुक्ति करती, वेतन देती तथा पदच्युत करती है।

काउण्टी न्यायालय (County Courts)—प्रत्येक काउण्टी में एक काउण्टी न्यायालय है यद्यपि एक काउण्टी के न्यायाधीश को दूसरी काउण्टी का काम दिया जा सकता है। काउण्टी के न्यायाधीश भी गवर्नर-जनरल-परिषद् द्वारा नियुक्त [illegible] जाते हैं और सदाचरण रहने पर वे 75 वर्ष तक पदारूढ़ रह सकते हैं [illegible] अनिवार्य रूप से निवृत्त कर दिया जाता है। प्रान्तीय उच्च न्यायालय की [illegible] न्यायालयों के निर्माण, संगठन तथा कार्य-व्यापार पर प्रान्तों का नियन्त्रण [illegible] जबकि अधिराज्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करता, वेतन देता तथा [illegible] काउण्टी न्यायालय के क्षेत्राधिकार में वे सभी दीवानी अभियोग, [illegible] तथा सम्बन्धित विषयों से, उदाहरणतया संविदा से पैदा होने वाले [illegible] कार्यों, अनधिकार प्रवेश, मार्ग के अधिकारों तथा साझेदारी [illegible] दोष—आते हैं। यदि दोनों पक्ष सहमत हो जायें, तो [illegible]

बड़ी रकम तक भी बढ़ाया जा सकता है। उन्हें लघु दाण्डिक अपराधों से सम्बन्धित अभियोग भी सुनने का अधिकार है और तब न्यायाधीश अभिनिर्णायकों के साथ बैठता है।

लघु प्रान्तीय न्यायालय (Minor Provincial Courts)—ये न्यायालय विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, और संगठन, रख-रखाव, नियुक्ति, वेतन तथा नौकरी की शर्तों आदि सभी बातों में उन पर पूर्ण प्रान्तीय नियन्त्रण होता है। उच्चतर न्यायालयों के विपरीत, इन पदाधिकारियों की पदावधि मनचाही होती है। लघु न्यायालय मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति, लघु व्यक्तिगत कार्यों, प्रसंविदा-उल्लंघन, ऋण आदि से सम्बन्धित छोटी-छोटी रकमों वाले अभियोग सुनते हैं। पुरशासक न्यायालय (Magistrate Courts) पुरशासक अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित किये जाते हैं जिनमें लघु दाण्डिक अभियोगों तथा विशेष संविधियों के अन्तर्गत कुछ दीवानी अभियोगों का निर्णय किया जाता है। अतत., बड़े-बड़े नगरों में किशोर न्यायालय (Juvenile Courts), परिवार न्यायालय (Family Courts), अपमृत्यु-विचारक न्यायालय (Coroner's Courts) तथा विवाचन न्यायालय (Court of Arbitration) आदि अन्य लघु न्यायालय भी देखे जा सकते हैं।

अध्याय ५

राजनीतिक दल

(Political Parties)

कनाडा में दल-व्यवस्था (Party System in Canada)—लोकतन्त्रात्मक शासन, जैसा कि वह कनाडा में समझा तथा कार्यरूप में लाया जाता है, सुसंगठित राजनीतिक दलों के बिना नहीं चल सकता। अन्य बहुत-सी संस्थाओं की भाँति जो इंगलैंड से ग्रहण की गई है, कनाडा के राजनीतिज्ञों ने संघ के प्रारम्भिक काल में ही राजनीतिक दलों के उसी रूप को अपना लिया तथा उन दलों को वही नाम—अनुदार (Conservative) तथा उदार (Liberal)—भी दिये। इसका अर्थ यह नहीं कि इन दो के अतिरिक्त अन्य कोई राजनीतिक दल नहीं। दूसरे वर्ग भी प्राय: जन्मे है, परन्तु उनमें से कोई भी इस स्थिति तक नहीं पहुँच सका है कि उदार तथा अनुदार दलों की महत्ता को प्रभावी चुनौती दे सके। दलों के कार्यक्रमों में प्रमुख मदें "सम्पूर्णतः संयोगवश" ही सम्मिलित की गई है। इस प्रकार अनुदार दल तो रक्षावादी (Protectionists) बन गया और उदार दल ने इस नीति का विरोध किया। यह वस्तुत: आश्चर्य की बात है कि विभिन्न भाषाएँ बोलने वाली तथा विभिन्न धर्मों का पालन करने वालो दो जातियों के देश में, ये विभेद दलगत-विभाजन का कारण नहीं बने, यद्यपि ये विभेद कभी-कभी सत्ता प्राप्त करने में सहायक हो जाते है जबकि द्विभाषावाद तथा जातिगत स्कूलों के प्रश्नों को लेकर साम्प्रदायिक तथा जातीय द्वेषों को कुशलतापूर्वक काम में लाया जाता है।

कनाडा में राजनीतिक दल-व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण लक्षण इस प्रकार है :—

(१) लोग दलों के प्रति लगाव के आधार पर स्पष्ट रूप से विभाजित नहीं। प्रत्येक दल में विभिन्न व्यवसायों के लोग पाये जाते है। धनी तथा कम धनी—क्योंकि कनाडा में निर्धन व्यक्ति तो पाये ही नहीं जाते—किसान, व्यापारी, उद्योगपति, दुकानदार तथा व्यवसायी लोग—सभी दोनों प्रमुख दलों में देखे जा सकते है। तदनुसार, कनाडा की दल-व्यवस्था किसी स्पष्ट विचारधारा पर आधारित नहीं है। दल की सदस्यता तो केवल संयोग का ही परिणाम कही जा सकती है।

(२) कनाडा में दलगत भावनाओं के कारण समाज में किसी प्रकार की कटुता नहीं पाई जाती। कनाडा में कोई भी दल अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकता जब तक वह अधिराज्य में दो अथवा दो से अधिक क्षेत्रों की सहायता प्राप्त नहीं करता। इसके फलस्वरूप, किसी भी राष्ट्रव्यापी दल को इन अनेक क्षेत्रों के दूर-दूर तक विकीर्ण उद्देश्यों और हितों के सामंजस्य को अपना प्रमुख लक्ष्य बनाना पड़ता है तथा विभिन्न हितों और मतों वाले लोगों को इकट्ठा करना पड़ता है। इसलिये दलों

के अन्तर्गत पाये जाने वाले मतभेद उन मतभेदों की अपेक्षा अधिक तीव्र होते हैं जो दोनो दलों के बीच पाये जाते हैं ।

(२) कनाडा ने लगातार द्विदल-प्रणाली का अनुसरण किया है। यहाँ तो पिछले तीस चालीस वर्षों से ही दो से अधिक दलों का संगठन हुआ है। कनाडा में राजनीतिक दलों ने अब तक अज्ञात विशिष्टता को प्राप्त कर लिया है। श्रमिक दल का जन्म होने से तथा निश्चित उद्देश्य लिये किसानों का एक पृथक् दल में संगठन होने के फलस्वरूप द्विदल प्रणाली को खतरा पैदा हो गया है क्योंकि वे अन्य समुदायो के इन दावो को चुनौती देते है कि वे राष्ट्र में पाये जाने वाले विभिन्न हितों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस समय कनाडा के चार राजनीतिक दल रो हैं :—अनुदार दल, उदार दल, श्रमिक दल तथा कृषक दल।

अनुदार दल (The Conservative Party)—अनुदार दल का जन्म १८५७ ई० से माना जा सकता है जबकि कनाडा प्रान्त मे पाये जाने वाले विभिन्न समूह अस्थायी रूप से एक हो गये और उनकी यह एकता तत्पश्चात् उदारवादी अनुदार दल (Liberal Conservative Party) के नाम से स्थायी सिद्ध हुई। इसमे उग्र टोरी, ऊपरी कनाडा से अनुग्र उदारवादी, फ्रासीसी उदारवादी तथा निचले कनाडा के अओजीभाषी सदस्य सम्मिलित थे। शीघ्र ही इस दल को जान ए० मैकडानल्ड का नेतृत्व प्राप्त हुआ। वह अपने उद्धत व्यक्तित्व द्वारा तथा कनाडा मे परिसंघ की स्थापना से सम्बन्धित दृढ़ इच्छा से प्रेरित होकर सदस्यों को एकसूत्र मे बाँधने मे सफल हो गया। उसने दूसरे वर्गों तथा प्रान्तों से भी सदस्य लिये और इस प्रकार एक वास्तविक राजनीतिक दल का निर्माण किया। इस दल ने तत्पश्चात् लोगों पर इतना प्रभाव डाला कि केवल पाँच वर्ष की एक अवधि के अतिरिक्त १८९६ ई० तक यह दल बराबर पदारूढ़ रहा।

जान ए० मैकडानल्ड तथा अनुदार दल के कार्य तथा दृष्टिकोण की तुलना सयुक्त राज्य अमेरिका के हैमिल्टन तथा संघवादियों से की जा सकती है। यह सत्य भी है क्योंकि मैकडानल्ड तथा अनुदार-दल में उसके क्रमानुयायी नेताओ ने हैमिल्टन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रति प्रायः हार्दिक श्रद्धांजलि प्रकट की थी। संघवादियो की भाँति, अनुदार दल के सदस्य भी केन्द्रीयकरण के पक्ष मे थे, सम्पत्तिवान, वाणि-ज्यिक तथा औद्योगिक हितों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे तथा सर्वोपरि, इनके साथ मिल कर उन्होंने राष्ट्र-निर्माण के व्यावहारिक कार्य को सम्पन्न करने मे सफलता भी प्राप्त की। केन्द्रीयकरण से सम्बन्धित शक्तियों तथा विभिन्न हितों, वर्गों तथा मतों के लोगो को एकमात्र राष्ट्र में सगठित करने की नीति तब व्यक्त हुई जबकि सरक्षण शुल्को की राष्ट्रीय नीति को अपनाया गया। महाद्वीप के आर-पार रेलवे का निर्माण किया गया तथा उसी उद्देश्य को लेकर अन्य नीतियो को प्रोत्साहन दिया गया। फलतः आधिक राष्ट्रवाद विभिन्न हितो तथा आकांक्षाओं वाले समूह मे लोगों को सयुक्त करने वाला अति उत्तम साधन समझा गया। आज भी इस दल की यही नीति

है और इसके कार्यक्रम में सामाजिक बीमा, शिशु-श्रम-उन्मूलन, न्यूनतम मजदूरी तथा काम के अधिकतम घंटों का निर्धारण आदि योजनाएँ सम्मिलित हैं।

उदार-दल (The Liberal Party)—उदार दल का प्रारम्भ संदिग्ध है परन्तु निःसन्देह उन सुधारवादियों द्वारा किया गया था जिन्होंने उत्तरदायी सरकार के लिये संघर्ष किया था। संघ की स्थापना के पश्चात् प्रान्तों में बिखरे वर्गों ने परस्पर मिलने तथा वास्तविक राजनीतिक दल बनाने के लिये कोई सक्रिय प्रयत्न नहीं किया था। बहुत से उदारवादियों ने तो संघ का विरोध किया था और जब उसकी स्थापना हो गई, तो वे उदासीन हो गये। परन्तु अनुदार दल की केन्द्रीयकरण से सम्बन्धित नीति ने उन्हें प्रान्तों के अधिकारों की रक्षा के लिये प्रेरित किया। उदारवादी अथवा क्लीर ग्रिट (Clear Grit) जैसा कि वे ऊपरी कनाडा में कहलाते थे, जैफरसन के विचारों से तथा उसके संघ-विरोधी दल से बहुत प्रोत्साहित हुए थे। उदारवादियों तथा संघविरोधियों में एक और भी समानता पाई जाती थी। दोनों दल स्पष्ट मूलगत प्रवृत्तियों वाले सीमावर्ती भूमि-सुधारक लोकतन्त्र पर आधारित थे। प्रो० डॉसन लिखता है कि "क्लीर ग्रिट लोगों पर जैफरसनवादियों के क्रमानुयायी, जैक्सन-लोकतन्त्रवादियों का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा था। वे किसी प्रकार की भी सम्पत्ति तथा विशेषाधिकार के विरुद्ध थे और वे लचीली मुद्रा, सर्वमताधिकार, बहुशः निर्वाचन तथा उन विभिन्न अन्य रिपब्लिकन उपायों का समर्थन करते थे जो सीमा के दक्षिण में काफी विख्यात थे। उदारवादियों के साथ जो दूसरा वर्ग मिला था, वह क्यूबक का "रूज दल" (Rouge Party) था। वह पादरी वर्ग का विरोधी था और उसने रोमन कैथोलिक चर्च को अपना विरोधी बना लिया था। संघ की स्थापना के पश्चात् वह आकार तथा महत्त्व में घट गया। इन दो वर्गों के साथ न्यूब्रन्सविक और नोवा स्कोशिया से कुछ सुधारवादी, सम्बन्धच्छेदवादी तथा निर्दलीय लोग भी मिल गये।

प्रशान्त परिवाद (Pacific Scandal) के पश्चात्, १८७३ ई० में उदार दल की प्रथम सरकार बनी जबकि उसके तीनों वर्ग—क्लीर ग्रिट, क्यूबक रूज तथा प्रगतिशील उदारवादी—एलेक्जेंडर मैकेन्जी के नेतृत्व में एकत्र हो गये यद्यपि ये वर्ग अपने-अपने नेताओं के प्रति भी निष्ठा बनाये रहे। इन परस्पर विच्छिन्न उदारवादियों की पराजय के तथा लगभग दो दशकों तक अधिकारच्युत रहने के कई कारण थे। जब १८८७ ई० में लारियर (Laurier) उदारवादी दल का नेता बना, तो उसने विभिन्न वर्गों को एक सूत्र में बाँधा और वास्तविक राष्ट्रीय दल का निर्माण किया। लारियर ने राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता का बहुत अधिक अनुभव किया था। "भाषण देने में दक्ष तथा दाँव-पेचों में निपुण लारियर ने अपने देशवासियों को अनुदार दल के प्रति आसक्ति से सावधान किया, उन्हें अपने ग्लैडस्टनी उदारतावाद से अवगत कराया तथा मैकडानल्ड जैसी कुशलता के साथ ही भौतिक विस्तार की नीतियों पर जोर देते हुए देश भर में उदारवादी दल के लिये समर्थन प्राप्त करने का यत्न किया। उसने मध्यमार्ग की उस भावना को श्रेष्ठता प्रदान की जिसके आधार

पर ही कनाडा में कोई राष्ट्रीय नेता टिका रह सकता है। सर्वोपरि, उसने उदारवादी दल को रूज वर्ग के पादरी-विरोध से मुक्त किया और इस प्रकार, फ्रांसीसी प्रान्त में अपने दल को दृढ़ता-पूर्वक स्थिर कर दिया।" लारियर का उत्तराधिकारी मैकेन्जी किंग था। उसने अपने नेता द्वारा स्थापित उच्च आदर्शों तथा परम्पराओं का अत्यधिक निष्ठा से अनुसरण किया। इसके परिणामस्वरूप मैकेन्जी किंग को क्यूबक में और भी अधिक समर्थन प्राप्त हो गया। १८८७ ई० से लेकर १९४८ ई० तक, पूरे ६१ वर्ष के लिये उदार दल के इन दो नेताओं ने ही उसके भाग्य का निर्माण किया जबकि इस काल में अनुदार दल के दस नेता हुए। "राजनीतिक दाँव-पेंच की इस अटूट निरन्तरता से, इस दल को अत्यधिक प्रतिष्ठा तथा प्रबल प्रभुत्व प्राप्त हुआ।" आज भी क्यूबक में यह दल बड़ा शक्तिशाली है तथा दूसरे क्षेत्रों में उसे पर्याप्त समर्थन प्राप्त है। वह कनाडा में सत्यत. सर्वाधिक राष्ट्रीय दल है। १९५७ ई० के चुनावों में अनुदार दल ने उसे पदच्युत कर दिया था।

उदार-दल निचले शुल्कों का समर्थन करता है और वह देश के आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करता। वह अब भी प्रान्तों के अधिकारों तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत कनाडा के प्रभुसत्ताधारी-पद का समर्थक है। वह न केवल ब्रिटिश साम्राज्य के सदस्यों के साथ ही वरन् विदेशों के साथ भी व्यापारिक समझौते करने पर बल देता है। अनुदार दल तथा उदार दल के कार्यक्रमों का विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि यदि अनुदार दल आर्थिक राष्ट्रवाद का, तो उदार दल राजनीतिक राष्ट्रवाद का समर्थक है और सत्य तो यह है कि राजनीतिक तथा आर्थिक राष्ट्रवाद साधारण सा अन्तर लिये जुड़वाँ बहिनों के समान है।

कृषक दल (The Farmers' Party)—१९वीं शताब्दी के आठवें तथा नौवें दशक में राष्ट्रीय दलों के दृढ़ीकरण से लेकर द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक, तृतीय दलों का भी समय-समय पर जन्म हुआ है और उन्होंने द्विदल-प्रणाली की स्थिति को आपद्ग्रस्त किया है। कृषक समुदाय जिसे सदा ही पर्याप्त निर्वाचकीय महत्त्व प्राप्त रहा था और जिसने समय-समय पर नागरिक क्षेत्रों को प्राप्त विशेषाधिकारों पर चोट की थी, गम्भीर चेतावनी दी। कनाडा में ग्रेंज (Grange) प्रथम कृषक-संस्था थी जिसके द्वारा कृषक हितों को व्यक्त किया गया तथा जिसने अन्य संस्थाओं को जन्म दिया। तब से प्रान्तों में अनेक ऐसे भूमि-सुधारक दलों का संगठन किया गया है जिन्होंने देश भर के कृषकों की एकता के लिये अपनी क्रियाओं का विस्तार किया है। बहुत से कच्चे माल, सभी खाद्य पदार्थों पर तथा कतिपय मशीनों पर तुरन्त टैरिफ-उन्मूलन, ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों से आये हुए माल पर अपेक्षाकृत कम करों में वृद्धि, व्यक्तिगत और निगम-आय तथा बड़ी जागीरों पर आरोही-कर, भूतपूर्व कर्मचारियों के लिये सहायक भूमि व्यवस्था, कोयले की खानों तथा सभी लोकहित सेवाओं का सार्वजनिक स्वामित्व तथा अन्य कई सार्वजनिक सुधार जैसे सरक्षण उन्मूलन, सीनेट-सुधार, आनुपातिक प्रतिनिधित्व, विधानमण्डलों से बाहर

नागरिकों को विधिनिर्माण का अधिकार, जनमत संग्रह, प्रत्याह्वान आदि सभी बातें करने के लिये, कृपकदल ने सुझाव रखे।

१९१९ ई० के प्रान्तीय निर्वाचन में ओण्टेरियो में इस आन्दोलन ने काफी प्रगति की जिसके फलस्वरूप वहाँ कृपक-श्रमिक सरकार बन गई। दो वर्ष पश्चात् अलबर्टा में संयुक्त कृपक दल (The United Farmers of Alberta) पदारूढ़ हो गया। उसी वर्ष अधिराज्य के चुनाव में कृपकों अथवा प्रगतिवादियों ने कॉमन सभा में ६५ सीटें जीत लीं। परन्तु शीघ्र ही उनकी शक्ति का ह्रास हो गया। इस असफलता का प्रमुख कारण यह था कि उदारवादियों ने उन्हें प्रत्यक्ष अभियान तथा अन्त सरण द्वारा अपने दल में मिलाने के लिए अथक प्रयत्न किये। १९२६ ई० तक उनकी संख्या २५ रह गई थी और वे २५ सदस्य भी दो विभिन्न वर्गों में बँटे हुए थे। आज-कल कृपक दल केवल एक प्रान्तीय दल ही बन कर रह गया है।

श्रमिक दल (Labour Party)—सगठित श्रमिकों ने किसानों की अपेक्षा कम सक्रिय तथा सृजनात्मक भाग लिया है। १९३९ से पूर्व, श्रमिक आन्दोलन औद्योगिक तथा राजनीतिक रूप से कमजोर था और उसका ऐसा कोई भी दल न था जिसे पर्याप्त निर्वाचकीय-बल प्राप्त हो। यही कारण था कि यह दल कुछ एक विधानमंडलों में थोड़े से प्रतिनिधियों को ही भेज सका था। सामाजिक-आर्थिक कारण ही इसके लिए उत्तरदायी हो सकते है। १९३२ ई० में श्रमिकों के समस्त राजनीतिक हितों को इकट्ठा करने के लिए कोऑपरेटिव कॉमनवेल्थ फेडरेशन (Co-operative Commonwealth Federation) का संगठन किया गया। यह सस्था सभी व्यवसायों के श्रमिकों को कुछ सामान्य अपील ही कर पाई। इसका कार्यक्रम समाजवादी है और यह संस्था एक ऐसी नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहती है जो अति-व्याप्त आर्थिक परिवर्तनों पर आधारित हो। यह सभी वित्तीय एजेन्सियों, यातायात, सचार तथा लोकहित सेवाओं के समाजीकरण; वृद्धावस्था, बीमारी, दुर्घटना तथा बेकारी के विरुद्ध सामाजिक बीमा; समुदाय-स्वतन्त्रता; समाजीकृत स्वास्थ्य-सेवाओं; फसल-बीमा; सहकारी समितियों को प्रोत्साहन; सीनेट-उन्मूलन आदि अनेक सुधारों का समर्थन करती है।

अध्याय ६

अधिराज्य-पद

(Dominion Status)

ब्रिटिश साम्राज्य (The British Empire)—अभी हाल के वर्षों में ब्रिटिश साम्राज्य में अनेक घटनाएँ घटी है। १६२१ ई० तक यह चरम सीमा तक विस्तृत हो चुका था। उसका क्षेत्रफल कोई १३,६००,००० वर्गमील था तो जनसंख्या ४४८,०००,००० के लगभग थी। इस संगणना में यूनाइटिड किंगडम, अधिराज्य, क्राउन उपनिवेश, इण्डिया का साम्राज्य तथा अधिदेश बनने वाला शत्रु से अधिकृत किया गया प्रदेश—सभी का क्षेत्रफल तथा जनसंख्या का जोड़ लगाया गया है। तब से इसकी शांतिमय क्षति की विधि भी अत्यन्त प्रदर्शनीय है। आयर तथा वर्मा के अधिराज्य अब गणराज्य बन गये हैं, ईरान और जार्डन के अधिदेशों ने राजतन्त्र अपना लिया है, फिलस्तीन का अधिदेश इजराईल का गणराज्य कहलाता है और मिस्र का रक्षित राज्य गणराज्य का रूप धारण कर चुका है।·१६६० में ब्रिटिश सोमालीलैंड ने अपने पड़ोसी धरोहर प्रदेश सोमालीलैंड (Trust Territory of Somaliland) के साथ मिल कर सोमालिआ (Somalia) के नाम से एक परिवर्धित और स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया। दक्षिणी केमरून्स (South Cameroons) भी १६६१ मे ब्रिटिश अधीनता से बाहर हो गया और राष्ट्रमण्डल को छोड़ कर और पड़ोसी गणराज्य केमरून से मिल कर केमरून संघीय गणराज्य बन गया। ३१ मई, १६६१ को दक्षिणी अफ्रीका ने भी गणराज्य बनने की घोषणा करके राष्ट्रमण्डल की सदस्यता त्याग दी। उन देशो तथा प्रदेशो के समूह ने जो अब कॉमनवैल्थ ऑफ नेशन्ज (राष्ट्रमण्डल) के नाम से प्रसिद्ध है, अपनी नामावलि में जो परिवर्तन देखे है, वे उन देशों में वैधानिक विकास तथा परस्पर-सम्बन्धो में परिवर्तनो का प्रमाण देते है। १६२६ ई० की बालफोर घोषणा मे, प्रधान मन्त्रियों ने इस बात की सहमति प्रकट की थी कि उनके देश "ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त समुदाय है और ब्रिटिश कॉमनवैल्थ ऑफ नेशन्ज के सदस्यों के रूप में परस्पर सम्बद्ध है।" १६४६ ई० की राष्ट्रमण्डलीय घोषणा मे, उनके उत्तराधिकारियों ने यह स्वीकार किया था कि ये देश जो ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्यों के रूप में संगठित थे, राष्ट्रमण्डल के स्वतन्त्र तथा सम-सदस्यों के रूप मे संगठित रहेगे। इस प्रकार, ब्रिटिश साम्राज्य चुपके से तथा शालीनतापूर्वक 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' मे बदल गया और 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' अधृष्ट रूप से 'राष्ट्रमण्डल' बन गया जबकि न तो किसी ने स्पष्टतः ऐसा कहा और न किसी को साम्राज्य, अथवा 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' अथवा 'राष्ट्रमण्डल' अथवा 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल तथा साम्राज्य' से सम्बन्धित होने की प्रसन्नता से ही वंचित किया

गया।[1]

उपनिवेशों से स्वायत्त अधिराज्यों तक (From Colonies to Self-governing Dominions)—स्वायत्त अधिराज्यों की अपूर्व स्थिति तथा शक्तियों का आदि-स्रोत प्रारम्भिक औपनिवेशिक वस्तियों में ढूंढा जा सकता है। इंग्लैण्ड से आने वाले प्रवासी अपने साथ न केवल अंग्रेजी भाषा ही वरन् नागरिक स्वतन्त्रता और स्वायत्त-शासन की वे आंग्ल-सैक्सन परम्पराएँ भी लाये जिनकी मैग्ना कार्टा, बिल ऑफ राइट्स, हेबियस कार्पस ऐक्ट द्वारा पुष्टि हुई थी। उन्होंने इन सभी परम्पराओं का वहाँ बीजारोपण कर दिया। वास्तव में उन्होंने अपनी नई वस्तियों में 'सामान्य विधि' के सम्पूर्ण ढाँचे की सृष्टि कर डाली। १७वीं तथा १८वीं शताब्दियों में क्राउन के समुद्रतटीय प्रदेशों पर वास्तविक नियन्त्रण तो बहुत ही कम था और मैसाचुसेट्स के उपनिवेशियों ने अपने-अपने ऊपर संसद् की सत्ता को मानने से एकदम इन्कार कर दिया। इस पर भी वे क्राउन से पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग करने के लिए तथा अपने अन्तर्राष्ट्रीय पद को स्थापित करने के लिए तैयार न थे। १३ उपनिवेशों के विद्रोह के पश्चात् तथा १७८२-८३ ई० में उनकी स्वतन्त्रता को अन्तिम मान्यता मिल जाने के पश्चात् ब्रिटिश-शासन पर इन बातों की काफी प्रतिक्रिया हुई। उसने अनुभव किया कि इस विपत्ति का कारण यह है कि पश्चिम के सम्भावी गणराज्यों पर उचित नियन्त्रण नहीं रखा जा सका। अहस्तक्षेप नीति का स्थान कड़े पर्यवेक्षण ने ले लिया। कई एक ऐसे अधिनियम पारित कर दिये गये जिन्होंने प्रतिनिधि-सरकार तथा राजनीतिक अभिव्यक्ति के उस सिद्धान्त को पूर्णतया उलट कर रख दिया जो अन्य राष्ट्रों के उपनिवेशों की तुलना में ब्रिटिश उपनिवेशों का विशेष लक्षण था। इस प्रकार से स्थापित निरंकुश शासन ने उन लोगों को विशेषकर कनाडा में नाराज कर दिया जो राजनीतिक स्वतन्त्रता के वातावरण में पले थे तथा काफी समय से प्रतिनिधि संस्थाओं का प्रयोग करते आ रहे थे। उन्होंने ब्रिटिश व्यवहार-विधि (British Civil Law), बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), अभिनिर्णायक द्वारा विचारण (Trial by Jury) और सर्वोपरि प्रतिनिधि-शासन का भोग करने की तीव्र माँग की।

१९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध भाग में ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका का निरन्तर आर्थिक और राजनीतिक विकास होता रहा और "जैसे-जैसे उपनिवेशों के महत्त्व तथा शक्ति में वृद्धि होती गई, सरकार के प्रति उनका असन्तोष भी बढ़ता गया।" बहुत से लोगों ने यह भविष्यवाणी की कि इन परिस्थितियों में उपनिवेशों को अपने अधिकार में रखने के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा किया गया कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो सकता और कुछ ही वर्षों में "अन्तर्निहित केन्द्रविमुख शक्तियाँ प्रबल हो जायेंगी और उपनिवेश फिर से अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर देंगे।"

जब लार्ड डरहम पाँचों प्रान्तों के प्रमुख गवर्नर बन कर कनाडा आये, तो उन्होंने "एक ही राज्य में दो राष्ट्रों को परस्पर युद्ध करते पाया।" अपने प्रतिवेदन में

1. Jennings, I., and Young, C. M., Constitutional Laws of the Commonwealth p. 1.

(जो डरहम प्रतिवेदन के नाम से प्रसिद्ध है) शांति तथा व्यवस्था को पुनःस्थापित करने के लिए उन्होंने ब्रिटिश सरकार को जो प्रमुख सिफारिशें कीं, वे इस प्रकार थीं—(१) ऊपरी तथा निचले कनाडा का पुनरेकीकरण, तथा (२) उत्तरदायी सरकार की अविलम्ब स्थापना। उनका विचार था कि उत्तरदायी सरकार ही उपनिवेशों की अधिकांश बुराइयों का अति प्रबल इलाज है। उन्होंने साम्राज्यिक तथा औपनिवेशिक सरकारों के बीच विषयों के विभाजन का सुझाव दिया। औपनिवेशिक प्रशासन का मुखिया होने के कारण गवर्नर औपनिवेशिक बातों में अपनी परिषद् के परामर्श से काम करेगा परन्तु ब्रिटिश सरकार का एजेण्ट होने के कारण वह ब्रिटिश सरकार की नीति तथा निर्देशों का पालन करेगा और देखेगा कि उसके औपनिवेशिक मंत्री और विधान-सभा साम्राज्यिक सरकार से सम्बन्धित बातों में हस्तक्षेप तो नहीं करते। लार्ड डरहम ने अपने प्रेषण-पत्र मे लिखा था, "वे बातें जिनका हमारे साथ संबंध है, बहुत कम है। शासन का स्वरूप; इंग्लैण्ड, अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों तथा विदेशों के साथ व्यापार और वैदेशिक सम्बन्धों का विनियमन; सार्वजनिक भूमियों की व्यवस्था आदि ही कुछ बातें है जिन पर इंग्लैण्ड का नियन्त्रण रहना चाहिए।" १८४० ई० के यूनियन अधिनियम द्वारा डरहम प्रतिवेदन की प्रमुख सिफारिश तथा अन्य छोटी-छोटी सिफारिशों को कार्यान्वित कर दिया गया परन्तु इस अधिनियम ने उत्तरदायी सरकार का कोई उल्लेख न किया।

१८४६ ई० मे इंग्लैण्ड मे सरकार बदलने पर अर्ल ऑफ ग्रे ने औपनिवेशिक कार्यालय संभाला। ग्रे डरहम के उत्तरदायी सरकार से सम्बन्धित सुझाव को कार्यान्वित करने के लिए तैयार था। जब सर जॉन हार्वे तथा लॉर्ड एलगिन को क्रमशः नोवास्कोशिया तथा कनाडा प्रान्त का गवर्नर नियुक्त किया गया, तो प्रारम्भिक कठिनाइयाँ दूर हो गई। औपनिवेशिक कार्यालय से भेजे गये प्रेषण-पत्रों मे ग्रे ने उस रूप-रेखा को स्पष्ट किया है जिसके अनुसार उसके मत मे उत्तरदायी-सरकार-सम्बन्धी परिवर्तन किया जाना चाहिए। प्रथम अवसर नोवा स्कोशिया में आया जबकि आम चुनाव के पश्चात् विधान सभा ने प्रशासन के विरुद्ध २५ जनवरी, १८४८ ई० को अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर दिया। दो दिन पश्चात् गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् ने त्याग-पत्र दे दिया और उसी दिन जे० बी० यूनेक (J. B. Unaicke) को नई सरकार बनाने के लिए कहा गया। उसी वर्ष मार्च में कनाडा प्रान्त की सरकार को इसी प्रकार हार खानी पड़ी और उसके स्थान पर तुरन्त ही नई सरकार पदारूढ़ हो गई। वही सिद्धान्त लगभग उसी समय न्यू ब्रन्सविक मे लागू किया गया और तीन वर्ष पश्चात् उसे प्रिंस एडवर्ड द्वीप मे स्वीकार कर लिया गया। न्यूफाउडलैंड को १८५५ ई० मे उत्तरदायी शासन प्राप्त हुआ। इस प्रकार बिना किसी विधायी मान्यता के, उत्तरदायी शासन सभी जगह स्थापित हो गया। यह पूर्णतया रीति-रिवाजों तथा प्रथाओं में विद्यमान है।

लार्ड डरहम तथा अन्य लोगो ने स्पष्टतया इस बात का अनुभव कर लिया था कि उत्तरदायी सरकार वहाँ तभी सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है, यदि साम्रा-

ज्यिक विषयों को स्थानीय विषयों से कुशलतापूर्वक अलग कर दिया जाये। परन्तु साम्राज्यिक तथा स्थानीय विषयों में विभेद-रेखा कभी भी स्पष्ट तथा सुव्यक्त नहीं रही है और गवर्नरों ने प्रायः अपनी विवेकाधीन शक्तियों का प्रयोग किया तथा प्रमुख साम्राज्यिक अथवा विदेशी हितों के संरक्षण हेतु, अपने उत्तरदायी मंत्रियों के विरुद्ध व्यवस्था दी। वास्तव में, डरहम ने स्वयं जो मोटे रूप में विभाजन किया था, वह औपनिवेशिक क्षेत्राधिकार की तथा इसलिए स्वशासन की ही परिधि था। परन्तु जैसा कि डाक्टर ईवट लिखते हैं, "अधिराज्य स्वशासन के सामान्य अधिकार को अपेक्षाकृत अधिक मान्यता प्राप्त हो गई, तथा गवर्नर और मन्त्रियों के बीच विवादास्पद प्रश्न यह हो गया कि गवर्नर के विवेकाधीन अधिकार का वास्तविक विस्तार क्या है तथा गवर्नर द्वारा प्रयुक्त क्राउन के आरक्षित अधिकार का स्वरूप क्या है?"[1] फिर भी, यह एक बड़ी मन्द प्रक्रिया थी। लगभग ७० वर्ष गुज़र जाने के पश्चात् कहीं १९२६ ई० तथा १९३१ ई० में तर्कसिद्ध लक्ष्य तक पहुँचा गया जबकि ग्रेट ब्रिटेन तथा अधिराज्यों में पूर्ण समता की औपचारिक घोषणा कर दी गई। उपनिवेश स्वायत्त अधिराज्य बन गए।

औपनिवेशिक से साम्राज्यिक सम्मेलनों तक (From Colonial to Imperial Conferences, 1887-1914)—साम्राज्यिक सम्मेलन जो १९०७ ई० से पूर्व औपनिवेशिक सम्मेलन कहलाते थे, स्वायत्त उपनिवेशों के विकास में तथा ग्रेट ब्रिटेन और उसके समुद्रपारीय अधिकृत प्रदेशों के बीच सहकारिता स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सम्राज्ञी विक्टोरिया की स्वर्णजयन्ती के समय १८८७ ई० में प्रथम औपनिवेशिक सम्मेलन किया गया था। सभी उपनिवेशों के प्रतिनिधियों ने इस सम्मेलन में भाग लिया था तथा ब्रिटिश सरकार के सदस्यों ने सम्मिलित हित के विषयों पर विचार-विमर्श किया था। द्वितीय औपनिवेशिक सम्मेलन दस वर्ष पश्चात् १८९७ ई० में हुआ था। इसमें कनाडा, न्यू साउथ वेल्ज़, विक्टोरिया, न्यूज़ीलैण्ड, क्वीन्ज़लैंड, केप कालोनी, दक्षिणी आस्ट्रेलिया, न्यूफाऊँडलैण्ट, तस्मानिया, पश्चिमी आस्ट्रेलिया तथा नेटाल के प्रधान मन्त्री सम्मिलित हुए थे। इस सम्मेलन का प्रमुख उद्देश्य उपनिवेशियों के प्रतिनिधियों से, अनौपचारिक तथा मित्रतापूर्ण ढंग से बिना ऐसे बन्धनकारी निर्णय लिए विचार-विनिमय करना था जिन्हें औपनिवेशिक सरकारें कार्यान्वित करने के लिए संकोच न करें। वास्तव में सम्मेलन में विवादास्पद विषयों पर सामान्यतः मत लेने में आनाकानी ही की गई परन्तु इसमें साम्राज्यिक संघ, साम्राज्यिक सुरक्षा तथा दोतरफा टैरिफ अधिमानों जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर अवश्य विचार किया गया।

१८९७ ई० के सम्मेलन ने निश्चित रूप से साम्राज्यिक संघ के विचार को असंगत घोषित कर दिया परन्तु उसने सुरक्षा, वाणिज्य तथा यातायात सम्बन्धी बातों में अन्तःसाम्राज्यिक सहकारिता के विषय में लाभकारी सुझाव दिए। सभी उपनिवेशों

1. Evatt, H. V., The King and His Dominion Governors, p. 29.

के प्रतिनिधियों की सामान्य वृत्ति नियमतः किसी निश्चित केन्द्रीयकरण-आन्दोलन के विरुद्ध थी तथा प्रत्येक स्वायत्त इकाई की पृथक् शक्तियों को बनाए रखने के पक्ष में थी।

१९०२ ई० में, सम्राट् एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक के समय, तृतीय औपनिवेशिक सम्मेलन किया गया। तब यह निर्णय किया गया कि पारस्परिक सहकारिता की भावना को बनाए रखने के लिए किसी स्थायी संस्था का संगठन किया जाए। १९०७ ई० का सम्मेलन अनेक कारणों के लिए बहुत प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम, उसे औपनिवेशिक से साम्राज्यिक सम्मेलन का नाम दे दिया गया। दूसरे, सम्मेलन ने "कनाडा का अति सुन्दर अभिनन्दन करने के पश्चात्, औपचारिक ढंग से यूनाइटेड किंगडम के अतिरिक्त राजकीय अधिकृत प्रदेशों के उन भागों को 'अधिराज्य' का नाम दिया जिन्होंने पूर्ण स्वायत्त शासन को प्राप्त कर लिया था, और जो अब पराधीन नहीं रहे थे।"[1] तीसरे, सम्मेलन में सुरक्षा के उपरान्त वैदेशिक नीति पर भी यथाक्रम विचार किया गया। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने पूर्णरूप से यह स्पष्ट कर दिया था कि इस नीति के लिए केवल वही उत्तरदायी है, परन्तु फिर भी इस नीति के विचार-विमर्श पर लगाए गए प्रतिबन्ध को धीरे-धीरे हटाया जा रहा था।

१९११ ई० के साम्राज्यिक सम्मेलन में विदेश-मन्त्री ने साम्राज्य की वैदेशिक नीति का काफी लम्बा तथा सतर्कतापूर्ण विवरण दिया। विश्व-युद्ध से पूर्ववर्ती वर्षों में, अधिराज्य सरकारों को समय-समय पर सुरक्षा तथा सम्बन्धित विषयों पर और अधिक जानकारी दी जाने लगी। युद्ध-प्रारम्भ के समय तक अधिराज्यों की स्थिति की संक्षिप्त आवृत्ति करते हुए, डॉसन लिखता है, "इस प्रकार, १९१४ ई० तक कनाडा तथा अन्य अधिराज्य आन्तरिक विषयों में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थे और वैदेशिक सम्बन्धों में भी वे प्रचुर अधिकार प्राप्त करते जा रहे थे। जहाँ तक वाणिज्यिक सन्धियों का सम्बन्ध था, वहाँ वास्तविक शक्ति अधिराज्यों को पहले ही हस्तान्तरित हो चुकी थी; और राजनीतिक सन्धियों के विषय में भी ऐसी ही कुछ प्रगति हो गई थी। छोटी-छोटी अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं में अधिराज्यों ने भी साधारण सा भाग लिया था। एक दूसरे को प्रभावित करने वाली साम्राज्यिक बातों में, प्रत्येक स्वायत्त भाग अपनी नीति का अनुसरण करता था यद्यपि वह अनौपचारिक रूप से यूनाइटेड किंगडम के साथ भी निरन्तर परामर्श करता रहता था और साम्राज्यिक सम्मेलनों द्वारा समय-समय पर सामान्य रूप से परामर्श हो जाता था। परन्तु वैदेशिक नीति के निर्माण में अधिराज्यों का वस्तुतः कोई हाथ न था, तथा युद्ध-घोषणा, शान्ति-स्थापना, राजनयिक एजेन्टों की नियुक्ति, तथा प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेना आदि महत्त्वपूर्ण बातों के विषय में तो अधिराज्यों को बिल्कुल ही नहीं पूछा जाता था।"[2]

---

1. Keith, A. B., *Dominion Autonomy in Practice*, p. 1.
2. Dawson, R. M., *The Government of Canada*, p. 58.

१९१७ ई० का साम्राज्यिक सम्मेलन (Imperial Conference of 1917)—प्रथम विश्व-युद्ध ने अधिराज्य-पद के विकास में एक नए युग का सूत्रपात किया। "इस आन्दोलन का प्रेरणा-स्रोत अधिराज्यों का उत्कृष्ट सैनिक प्रदान था, जिसके कारण प्रत्येक अधिराज्य में उसके व्यक्तित्व, शक्ति तथा महत्ता के विषय में तीव्र प्रकार की राष्ट्रीय चेतना जाग उठी। युद्ध के पहले एक दो वर्ष में तो यह भावना मन्द गति से पनपी परन्तु तत्पश्चात् तो यह बड़ी तीव्रता से भड़क उठी और उनकी तीव्रता बराबर बनी रही। इस भावना की अभिव्यक्ति सभी अधिराज्यों में व्याप्त इस सामान्य मत में हुई कि उनके इन प्रयासों तथा बलिदानों को उनकी सम्पन्नता के प्रमाण-स्वरूप मान्यता मिलनी चाहिए और इसलिए उन्हें अपने भविष्य-निर्माण पर पहले की अपेक्षा अधिक नियन्त्रण का अधिकार होना चाहिए।" १९१७ ई० के साम्राज्यिक सम्मेलन ने, तदनुसार, यह निश्चय किया कि (अधिराज्यों और इंग्लैण्ड के बीच) वैधानिक सम्बन्धों में कोई भी पुनर्व्यवस्थापन ऐसा होना चाहिए कि जहाँ वह एक ओर स्वायत्त-शासन की सभी वर्तमान शक्तियों तथा घरेलू विषयों पर पूर्ण नियन्त्रण को बनाये रखे, वहाँ दूसरी ओर, साम्राज्यिक राष्ट्रमण्डल से स्वतन्त्र अधिराज्यों को सम्पूर्ण मान्यता प्रदान करे, वैदेशिक नीति तथा वैदेशिक सम्बन्धों में अधिराज्यों को पर्याप्त भाग देना स्वीकार करे तथा ऐसी प्रभावी व्यवस्था करे जिसके फलस्वरूप समान साम्राज्यिक हितों वाले सभी महत्वपूर्ण विषयों में निरन्तर परामर्श किया जा सके तथा उस परामर्श पर आधारित तथा विभिन्न सरकारों द्वारा निर्धारित आवश्यक संयुक्त कदम उठाए जा सकें। सम्मेलन के इस प्रस्ताव के अनुसार, सभी अधिराज्यों के प्रधान मन्त्रियों को 'ब्रिटिश युद्ध-कालीन-मन्त्रिमण्डल, से 'साम्राज्यिक मन्त्रिमण्डल' के रूप में मिलने के लिए बुलाया गया। इस मन्त्रिमण्डल ने युद्ध नीति तथा युद्ध के साधारण संचालन से सम्बन्धित बातों पर विचार-विमर्श किया। अगले कुछ महीनों में भी अधिराज्यों के प्रतिनिधियों की ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से इसी प्रकार की कुछ और भी भेंटें हुईं। तत्पश्चात् उन्होंने पैरिस के शान्ति सम्मेलन में भी भाग लिया तथा शान्ति के सन्धि-पत्रों पर हस्ताक्षर किए। जब राष्ट्र-संघ (League of Nations) की स्थापना की गई, तो अधिराज्य उसके स्वतन्त्र [illegible] सदस्य बने, और संघ की प्रबन्धक समितियों पर उन्हें उनके अपने अधिकार के [illegible] मान्यता प्रदान की गई।

१९२६ ई० का साम्राज्यिक सम्मेलन तथा बलफोर घोषणा (Imperial Conference of 1926 and *Balfour Declaration*)—१९२६ ई० [illegible] सम्मेलन ने एक समिति की नियुक्ति की जिसके अध्यक्ष लॉर्ड बलफोर [illegible] अन्तर-साम्राज्यिक सम्बन्धों के विषय में सभी बातों की जाँच [illegible] समिति ने स्वायत्त शासित अधिराज्यों के राजनीतिक स्तर की [illegible] [illegible] स्तर तथा पारस्परिक सम्बन्धों में [illegible] ब्रिटिश [illegible] अन्तर्गत स्वतन्त्र राष्ट्र हैं, उन्हें समान पद [illegible] [illegible] बाह्य बातों में एक दूसरे के अधीन नहीं [illegible] [illegible] के कारण एक है तथा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल [illegible]

रूप से सम्बद्ध है।" इस कथन ने जो प्राय: बलफोर घोषणा कहलाता है, यूनाइटिड किंगडम तथा अधिराज्यों के पद में पूर्ण समानता को स्वीकार किया तथा मान्यता प्रदान की। यह समानता न केवल अन्तर्राष्ट्रीय बातों में ही, वरन् साम्राज्य के अन्तर्गत भी प्रत्यक्ष व्यक्त होती थी। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल को एक ही राजा के आधीन इकट्ठे रहना था और विधिवत् अथवा व्यावहारिक अधीनता का स्थान स्वतन्त्र सहयोगियो के मध्य साहचर्य तथा सहकारिता ने लेना था।

बलफोर घोषणा ने यह भी कहा था कि, "समान-पद का ही यह आवश्यक परिणाम है कि गवर्नर-जनरल क्राउन का प्रतिनिधि है और अधिराज्य में सार्वजनिक विषयों के प्रबन्ध से सम्बन्धित सभी आवश्यक बातों में उसकी वही स्थिति है जो ग्रेट ब्रिटेन में महामहिम सम्राट् की है, तथा वह न तो ग्रेट ब्रिटेन में महामहिम की सरकार का अथवा उस सरकार के किसी विभाग का प्रतिनिधि अथवा एजेण्ट है।" तत्पश्चात् सम्मेलन ने बलफोर घोषणा में निहित अनेक बातों पर विचार-विमर्श किया और घोषणा की कि :—

(क) ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा अधिराज्य कानून की अस्वीकृति तथा गवर्नर-जनरल द्वारा प्रारक्षण अव्यवहार्य है।

(ख) ऐसी अनेक ब्रिटिश संविधियों को जो अभी तक अधिराज्यों पर लागू है, रद्द कर देना वांछनीय है।

(ग) इंग्लैंड में प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति को न्यायिक अपीलें करने के अधिकार को बनाए रखना पूर्णतया अधिराज्यों की इच्छा पर छोड़ देना चाहिए।

(घ) प्रत्येक अधिराज्य को सम्राट् की ओर से परन्तु अधिराज्य संसद् के परामर्श से सन्धि करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

(ङ) न तो यूनाइटिड किंगडम ही और न कोई अधिराज्य ही अपनी सरकार की निश्चित अनुमति के बिना वैदेशिक बातों में कोई सक्रिय दायित्व ले सकता है।

(च) सभी भागों की वैदेशिक बातों में परस्पर विचार-विनिमय, परामर्श तथा कभी-कभी सहयोग से लाभ ही पहुँचेगा। इसलिए साम्राज्य के विभिन्न भागों में परस्पर परामर्श तथा संसर्ग की नई व्यवस्थाओं की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

१९३० ई० का साम्राज्यिक सम्मेलन (Imperial Conference of 1930)—इन घोषणाओं के होने पर भी, सम्मेलन ने फिर भी कई एक असमानताओं को छुआ तक नहीं। इसलिए अधिराज्यों तथा यूनाइटिड किंगडम के विशेष प्रतिनिधियों की एक सभा यह विचार करने के लिए बुलाई गई कि इन असमानताओं को कैसे दूर किया जा सकता है। यह प्रस्तावित सभा "अधिराज्य-अधिनियमों तथा व्यापार-पोत अधि-

नियमों की कार्य-प्रणाली सम्बन्धी-परिषद्" (Conference on the Operation of Dominion Legislation and the Merchant Shipping Legislation) कहलाती है। इस परिषद् ने १६२६ ई० में अपना प्रतिवेदन दिया जिस पर १६३० ई० के साम्राज्यिक सम्मेलन में विचार किया गया। साम्राज्यिक सम्मेलन ने प्रतिवेदन से सहमति प्रकट की और साम्राज्यिक संसद् द्वारा आवश्यक कानून पारित करने के लिए परामर्श दिया जिसके द्वारा बलफोर घोषणा में परिभाषित समान-पद को कानूनी मान्यता प्राप्त हो जाये तथा उस पद की प्राप्ति में अधिराज्यों के मार्ग में वैधानिक कठिनाइयाँ दूर हो जायें।

स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर
(Statute of Westminster)

स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर से सम्बन्धित विधेयक १२ नवम्बर, १६३० ई० को कॉमन सभा में रखा गया और कॉमन सभा तथा लॉर्ड सभा में विभिन्न स्तरों को पार करने के पश्चात् उसे ११ दिसम्बर, १६३१ को सम्राट् की अनुमति मिली। स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर एक ऐसा अधिनियम था जिसने १६२६ ई० तथा १६३० ई० के वर्षों में होने वाले साम्राज्यिक सम्मेलनों में पारित कतिपय प्रस्तावों को कार्यान्वित करना था। उसकी प्रस्तावना में स्पष्ट लिखा था कि "क्राउन ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के सदस्यों के बीच में स्वतन्त्र साहचर्य का प्रतीक है," और उसने घोषणा की कि "ये सभी देश क्राउन के प्रति संयुक्त वफादारी के कारण एक हैं, इसलिए यह बात राष्ट्रमण्डल के सभी सदस्यों की पारस्परिक मान्य वैधानिक स्थिति के अनुसार ही होगी, कि राज-सिंहासन के उत्तराधिकार तथा राजकीय पद्धति तथा पदवी से सम्बन्धित कानून में भविष्य में किसी प्रकार का भी परिवर्तन करने के लिए सभी अधिराज्यों की संसदों तथा यूनाइटिड किंगडम की संसद् से अनुमति ले ली जाया करे।" इस प्रकार यह स्वीकार कर लिया गया कि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में किसी भी संसद् को राजसिंहासन के उत्तराधिकार अथवा राजकीय पद्धति तथा पदवी में दूसरों की सहमति के बिना संशोधन करने का अधिकार नहीं। इस प्रकार सम्राट् की स्थिति ने नवीन स्वरूप धारण कर लिया। वह कनाडा तथा आस्ट्रेलिया का सम्राट् इसलिये न था क्योंकि वह यूनाइटिड किंगडम का सम्राट् था, वरन् वह कनाडा तथा आस्ट्रेलिया तथा यूनाइटिड किंगडम का सम्राट् अलग-अलग से था, कई एक सम्राट् एक ही व्यक्तित्व में निहित थे परन्तु प्रत्येक सम्राट् शेष से पूर्णतया पृथक् था।

प्रस्तावना में तीसरे अनुच्छेद ने घोषित किया, "अतः यह सर्वसम्मत वैधानिक स्थिति के अनुसार है कि यूनाइटिड किंगडम की संसद् द्वारा पारित कोई भी कानून आगे से किसी भी अधिराज्य को उस अधिराज्य की विधि-व्यवस्था के एक अंग के रूप में लागू नहीं किया जायेगा जब तक कि अधिराज्य की ओर से ऐसी प्रार्थना तथा अनुमति नहीं होगी।" स्टेट्यूट के परिच्छेद ४ ने यह भी व्यवस्था की कि यूनाइटिड किंगडम का कोई भी कानून भविष्य में किसी भी अधिराज्य में उस अधिराज्य के

कानून के एक भाग के रूप में लागू नहीं होगा जब तक कि उस अधिराज्य की ओर से ऐसी प्रार्थना न की जायगी। प्रस्तावना में ऐसी ही व्यवस्था स्टेट्यूट के परिच्छेद ४ की व्याख्या करती थी। परिच्छेद ४ को इसलिये पर्याप्त नहीं समझा गया क्योकि सम्भवत: न्यायाधीशों का यह मत हो सकता है कि यूनाइटिड किंगडम की संसद् प्रभुसत्ताधारी है और अन्य कोई भी संसद् उसके अधिकारों को सदा के लिये सीमित करने के लिये और इस प्रकार उसके क्रमानुयायियों को बाध्य करने के लिए कानून नही बना सकती। तदनुसार प्रस्तावना में तीसरा अनुच्छेद परिच्छेद ४ की पुष्टि करने के लिए सम्मिलित किया गया। प्रस्तावना ने वैधानिक अभिसमय मे ऐसी घोषणा कर दी। "इस विशेष अभिसमय का औपचारिक रूप से इसलिए उल्लेख किया गया है ताकि यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाये कि विधि व्यवस्था जो पूर्णतया कानूनी होती है, तिस पर भी अभिसमय का अतिक्रमण हो सकती है।"[1]

स्टेट्यूट के परिच्छेद २ ने "औपनिवेशिक कानून-वैधता-अधिनियम, १८६५ (Colonial Laws Validity Act) को रद्द कर दिया और अधिराज्य की संसद् को ऐसे साम्राज्यिक कानून विखण्डित करने का अधिकार दे दिया जो अधिराज्य में उसकी विधि-व्यवस्था के एक अंग के रूप में लागू हो सकें। इस व्यवस्था द्वारा तीन प्रश्न पैदा हुए सर्वप्रथम, इसके कारण अधिराज्य अपने संविधायी परिनियम को रद्द कर सकता था और इस प्रकार अधिराज्य संसद् को अपने संविधायी कानून को संशोधित अथवा रद्द करने का अधिकार मिल गया यद्यपि यह यूनाइटिड किंगडम की ससद् का एक अधिनियम था। तदनुसार, दक्षिण अफ्रीकी संघ तथा आयरिश फ्री स्टेट ने स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर के इस परिच्छेद को अपने संविधायी कानूनों को संशोधित करने के लिये प्रयुक्त किया। दक्षिणी अफ्रीका के उच्चतम न्यायालय के अपीलीय विभाग ने नल्वाना बनाम हॉफमीयर (Nalwana Vs. Hoffmeyer) अभियोग मे यह निर्णय दिया कि संघीय संसद् को ऐसा करने का अधिकार था। आयरिश फ्री स्टेट तो इससे भी दो कदम आगे बढ़ी जबकि उसने अपना नया संविधान बनाया और आयर बन कर अन्तत: राष्ट्रमण्डल से ही बाहर रहने का कानून पास कर दिया। कनाडा में प्रान्तों ने इस बात पर जोर दिया कि अधिराज्य-संसद् को ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम में संशोधन करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए और तदनुसार स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर मे परिच्छेद ७ को परिच्छेद २ द्वारा ऐसी किसी शक्ति को दिए जाने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार, यूनाइटिड किंगडम की संसद् ने ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम को संशोधित कर दिया।

दूसरा प्रश्न यह था कि क्या अधिराज्य-संसद् को राजकीय परमाधिकार में—विशेषकर प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति को अपीलें करने का अधिकार जो अंशत: कानून द्वारा और अंशत: परमाधिकार द्वारा नियन्त्रित था—संशोधन करने

1. Jennings and Young. Constitutional Law of the Commonwealth, p. 125.

का अधिकार है। प्रिवी परिषद ने स्वयं इस प्रश्न का उत्तर हाँ में दिया जबकि मोरे बनाम आयरिश फ्री स्टेट के अटार्नी-जनरल (Moore v. Attorney-General for the Irish Free State), ब्रिटिश कोयला निगम बनाम सम्राट् तथा ओण्टेरियो के अटार्नी-जनरल बनाम कनाडा के अटार्नी-जनरल अभियोगों में उसने निर्णय दिये। इस प्रकार स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर द्वारा दिये गये अधिकारों के फलस्वरूप, १९३३ ई० में कनाडा की संसद् प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति को फौजदारी अभियोगों की अपीलों का अन्त कर सकी।

तीसरा प्रश्न यह उठाया गया कि यूनाइटिड किंगडम के किसी वर्तमान अथवा भावी अधिनियम को संशोधित अथवा रद्द करने के अधिकार में स्वयं स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर को भी संशोधित अथवा रद्द करने का अधिकार भी सम्मिलित है। यद्यपि किसी भी अधिराज्य ने स्पष्ट शब्दों में ऐसा किया नहीं था परन्तु सिद्धान्त रूप से दक्षिणी अफ्रीका संघ ने स्टेटस ऑफ यूनियन ऐक्ट, १९३४ (Status of Union Act, 1934) पारित करके स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर को संशोधित कर दिया तथा न्यूजीलैंड ने यही बात स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर एडाप्शन अधिनियम १९४७ (Statute of Westminster Adoption Act) द्वारा की। वास्तव में इसे आयरिश फ्री स्टेट द्वारा आयर के संविधान में अथवा आयरलैंड गणतन्त्र अधिनियम, १९४८ द्वारा रद्द कर दिया गया। जैनिंग्ज तथा यंग लिखते हैं, "इस बात पर अवश्य जोर दिया जाना चाहिये कि ऐसे संशोधन तथा खण्डन केवल अधिराज्य के कानून में ही हो सकते हैं; किसी अधिराज्य संसद् को यह अधिकार प्राप्त नहीं कि यूनाइटिड किंगडम की विधि-व्यवस्था के अंग, इस स्टेट्यूट को संशोधित अथवा रद्द कर सके। इस प्रकार आयरलैंड का सम्बन्ध-विच्छेद यूनाइटिड किंगडम की विधि-व्यवस्था में उसकी अपनी संसद् के अधिनियम द्वारा अर्थात् आयरलैंड अधिनियम १९४९ (परन्तु आयरलैंड के कानून द्वारा नहीं) संभव बनाया जाना चाहिये था।" परन्तु दक्षिणी अफ्रीकी संघ ने तो अपने अधिनियम द्वारा ही सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।

तीसरे परिच्छेद द्वारा, स्टेट्यूट ने भी घोषणा कर दी कि किसी अधिराज्य संसद् को राज्यक्षेत्रातीत वैधता वाले कानून बनाने का भी अधिकार प्राप्त है। औपनिवेशिक नौसेना न्यायालय अधिनियम, १८९० तथा व्यापारिक पोत अधिनियम, १८९४ अधिराज्यों पर आगे से लागू नहीं होने थे।

अधिराज्य-पद का प्रयोग (Dominion Status in Application)—इस प्रकार, स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर ने बलफोर घोषणा में परिभाषित तथा १९३० ई० के साम्राज्यिक सम्मेलन में पुष्टि-प्राप्त समानता-पद के सिद्धान्त को कानूनी मान्यता दे दी। वैधानिक रूप से यह स्थापित हो गया कि अधिराज्यों को आन्तरिक तथा बाह्य विषयों में पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त है और वे सम्बन्ध जो उन्हें ग्रेट ब्रिटेन से बांधते हैं, अधीनता के नहीं, वरन् समानता के हैं। ग्रेट ब्रिटेन के शासकीय सम्राट् के प्रति अधिराज्यों की निष्ठा ने उन्हें ग्रेट ब्रिटेन के साथ अपने संबंधों में किसी प्रकार

का हीन पद प्रदान नही किया। वह उतना ही उनका सम्राट् था, जितना ग्रेट ब्रिटेन का। इस प्रकार, एक ही व्यक्ति में एक दूसरे से पूर्णतया पृथक् कई सम्राट् परिष्टित थे। अधिराज्य के प्रबन्ध से सम्बन्धित सभी बातों मे सम्राट् अधिराज्य मंत्रियों के परामर्श पर ही कार्य करता था। दक्षिणी अफ्रीका में संघीय संसद् ने १६३४ ई० मे "राजकीय कार्यवाही कृत्य तथा मुहर अधिनियम" (Royal Executive Functions and Seals Act) पारित किया जो स्टेटस ऑफ यूनियन ऐक्ट का सहायक अधिनियम था तथा जिसके फलस्वरूप संसद् के सभी कार्यकारी कृत्य सम्राट् अथवा गवर्नर-जनरल संसदीय-सदस्यों के परामर्श पर करने लगे। जब १६३६ ई० मे सम्राट् को स्वय कनाडा जाना था, और यह वांछनीय समझा गया कि वह सरकार के कुछ औपचारिक कार्यों मे स्वय भाग लेगा, तो एक कठिनाई पैदा हो गई क्योंकि विधि द्वारा, वह ये कार्य केवल ब्रिटिश मुहर द्वारा ही कर सकता था और ये मुहरें ब्रिटिश मन्त्रियो के नियन्त्रण में थी और उन्हें ब्रिटेन से बाहर नहीं ले जाया जा सकता था। तदनुसार, अधिराज्य ससद् ने "१६३६ ई० का मुहर अधिनियम" (Seals Act of 1939) पारित कर दिया जिसके फलस्वरूप सम्राट् कनाडा सरकार मे भी व्यक्तिगत रूप से भाग ले सकता था।

सम्राट् की स्थिति में इस परिवर्तन के फलस्वरूप गवर्नर-जनरल की स्थिति में भी परिवर्तन आ गया। वह अब यूनाइटिड किंगडम के सम्राट् का नही, वरन सम्बन्धित अधिराज्य के सम्राट् का प्रतिनिधित्व करता है। निस्सन्देह, गवर्नर-जनरल को सम्राट् अपने राजकीय हस्ताक्षरों से प्रकाशित एक स्व-पत्र द्वारा नियुक्त करता है परन्तु चुनाव करते समय महामहिम अधिराज्य मन्त्रालय के परामर्श द्वारा पथ-प्रदर्शित होता है। अधिराज्य-मन्त्रालय सम्राट् की नियुक्ति की सिफारिश करता है और इस प्रकार की गई सिफारिश प्रायः मान ली जाती है। यदि वह व्यक्ति ग्रेट ब्रिटेन का नागरिक है, तो ब्रिटेन की सरकार केवल यह देखती है कि इस नियुक्ति के लिये कहा गया व्यक्ति प्राप्य भी है अथवा नही। अधिराज्य मे सार्वजनिक विषयों के सचालन में गवर्नर-जनरल की स्थिति वैसी ही है जैसी कि ग्रेट ब्रिटेन मे सार्वजनिक विषयों के सचालन में सम्राट् की होती है। वह वैधानिक मुखिया होता है तथा सम्राट् के प्रतिनिधि-पद से सम्बन्धित सभी अधिकारों तथा कर्त्तव्यो का वास्तविक सेवन अधिराज्य में महामहिम के उत्तरदायी मन्त्रियों द्वारा किया जाता है।

अधिराज्यों को पूर्ण स्वतन्त्रता है कि जो अधिनियम वे चाहें, बना सकते हैं, अपने सविधायी कानूनों[1] मे संशोधन कर सकते हैं अथवा उन्हें रद्द कर सकते है और उनकी विधायी शक्तियों पर किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध नही है। किसी भी अधिराज्य-संविधि को इसलिये अवैध घोषित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह यूनाइटिड किंगडम के कानून के विरुद्ध है और इंग्लैण्ड की ससद् का कोई भी कानून अधिराज्य पर लागू नहीं हो सकता जब तक कि उसमें यह घोषित न कर दिया हो कि अधि-

1. Constitutional Laws of the Commonwealth, p. 132.

राज्य ने इस कानून-निर्माण के लिये प्रार्थना की है तथा अपनी अनुमति दी है। गवर्नर-जनरल को अधिराज्य-संसद् द्वारा पारित किसी भी कानून के लिये न तो निषेधाधिकार प्राप्त है और न वह उस कानून को सम्राट् की अनुमति के लिये ही रोक सकता है। अधिराज्य अपने-अपने कानूनों की व्याख्या करने में भी स्वतन्त्र है तथा ग्रेट ब्रिटेन द्वारा बिना किसी हस्तक्षेप के अथवा बिना उसकी अधीनता के अपने-अपने न्यायालयों में उनकी व्याख्या भी करा सकते है। कतिपय विधियाँ तथा अभिसमय ऐसे हैं जो अधिराज्यों की विधायी सत्ता पर कतिपय प्रतिबन्ध लगाते प्रतीत पड़ते हैं, परन्तु यदि कोई सीमाएँ हैं भी, तो वे वास्तविकता खो बैठी है क्योंकि अधिराज्यों को अब अपने कानूनों को रद्द करने, मिटाने अथवा सशोधन करने मे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है।

विध्यनुसार, अपीलों को अधिराज्यों से लंदन मे प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति मे भी ले जाया जा सकता है। परन्तु इसे 'प्रतिबन्ध' नही कहा जा सकता। अधिराज्य-ससद् को तो इस व्यवस्था को भी समाप्त कर देने का पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त है। कनाडा ने १९३३ ई० मे फौजदारी अपीलो को समाप्त किया और १९४९ ई० मे एक कनाडियन संविधान ने प्रिवी परिषद् को दी जाने वाली सभी अपीलों को बन्द कर दिया और अपने उच्चतम न्यायालय को सभी अभियोगो मे अन्तिम अपीलीय न्यायालय बना दिया। सम्राट् को दया का परमाधिकार प्राप्त है परन्तु ऐसे परमाधिकार को भी नियमित तथा मसूख करने के लिये अधिराज्य-ससद को खुली छुट्टी है।

समानता-पद के सिद्धान्त का विवेचन अधिराज्य के पारस्परिक सम्बन्धों तथा वैदेशिक विषयों के संचालन मे अधिक किया जा सकता है। इस सदर्भ मे, समानता-पद से अभिप्राय यह है कि राष्ट्रमण्डलीय सरकार ही अन्तिम रूप से निर्णय करेगी कि किसी भी विषय मे उसकी नीति क्या होनी चाहिये तथा वैदेशिक विषयों के सचालन मे वह कहाँ तक अन्य सरकारों से सहयोग कर सकती है। स्वाभाविक रूप से यह बात इस तथ्य का परिणाम है कि प्रत्येक सरकार अपनी उन नीतियों के लिये जिनका वह अनुसरण करती है तथा उस ढंग के लिए जिसमे उन्हे लागू किया जाता है, अपनी संसद् के प्रति उत्तरदायी होती है। निर्जीव राष्ट्र सघ के तथा आजकल सयुक्त राष्ट्रसंघ के मूल-सदस्यों के रूप में अधिराज्यों की सदस्यता उनके स्वतन्त्र-पद को स्थापित करने के लिए काफी महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक अधिराज्य को विदेशों मे उनका प्रतिनिधित्व करने के लिए अपने राजदूत नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त है। वे वाणिज्यिक तथा सहायक विषयों पर अपनी-अपनी नीतियों तथा कार्य क्रमों के अनुसार विदेशों के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक बात-चीत कर सकते हैं तथा करते है। अधिराज्यों को ऐसे संधि-पत्रों से सम्बन्धित बन्धनों को अस्वीकार करने का भी अधिकार प्राप्त है जिन पर उन्होने हस्ताक्षर न किये हों। उदाहरणस्वरूप किसी भी अधिराज्य ने १९२५ ई० के उस लोकार्नो सन्धि-पत्र द्वारा लगाये गये बन्धनों को स्वीकार नहीं किया था जिसके विषय मे ग्रेट ब्रिटेन ने अधिराज्यों से अनुमति लिये बिना बात-

चीत की थी तथा हस्ताक्षर भी कर दिये थे।

अधिराज्यों को उस युद्ध में जिसमें ग्रेट ब्रिटेन फँसा हो, सम्मिलित होने अथवा [illegible] करने का भी अधिकार प्राप्त है। यह तो अब एक प्रतिष्ठित सिद्धान्त है [illegible] को [illegible]राज्य को किसी ऐसे युद्ध मे राष्ट्रमण्डल की सहायता करने की आव[illegible] जो उसके अपने कार्य द्वारा न भड़का हो। १६३६ ई० में द्वितीय विश्व यु[illegible] प्रारम्भ होने पर अधिराज्यों के कृत्य ने १६१४ ई० की प्रथा के मुकाबले ने शिक्षाप्रद अन्तर को प्रस्तुत किया। आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंण्ड का विचार था कि ब्रिटिश युद्ध-घोषणा में वे भी सम्मिलित हैं। आयरलैण्ड ने अपनी निष्पक्षता की घोषणा कर दी। जनरल हर्टजोग (Hertzog) की दक्षिणी अफ्रीका सरकार ने संघीय संसद् में निष्पक्ष रहने का प्रस्ताव रखा परन्तु ८० मतों के मुकाबले मे ६७ मत पड़ने के कारण वह पारित न हो सका। हर्टजोग की सरकार ने त्याग-पत्र दे दिया और जनरल स्मट्स (Smuts) के नेतृत्व में नई सरकार बनी, और दक्षिणी अफ्रीका ने ६ सितम्बर, १६३६ ई० को युद्ध-घोषणा की जब कि इंग्लैण्ड ३ सितम्बर को ही युद्ध-घोषणा कर चुका था। कनाडा ने भी ७ दिन बीत जाने पर यही कुछ किया। ७ सितम्बर, १६३६ को संसद् मे भाषण देते हुए प्रधान मन्त्री मैकेन्जी किंग ने कहा था, "......मैं यहाँ यह भी कह दूँ कि आज जो कदम मेरी सरकार उठा रही है, वह कनाडा राष्ट्र की ओर से उठा रही है जिसे पूर्ण रूप से एक राष्ट्र की समस्त शक्ति तथा सत्ता प्राप्त है। यह कदम जो हम आज उठा रहे हैं तथा ऐसे ही और कदम जिनकी संसद् अनुमति देगी, इस देश की ओर से स्वेच्छापूर्वक उठाये जा रहे हैं तथा उठाये जायेंगे, क्योंकि हमे ग्रेट ब्रिटेन के मुकाबले में कोई औपनिवेशिक अथवा हीन पद नही, वरन् समानता का पद प्राप्त है। हम पूर्ण रूप से एक राष्ट्र हैं, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्य हैं तथा ब्रिटेन के समान ही हमें स्वतन्त्रता प्राप्त है और हमारा विश्वास है कि इस स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये हम सबको एक हो जाना चाहिए।"[1]

उत्तरवर्ती घटनाएँ निरन्तर एक ही दिशा मे होती रही है। स्वयं युद्ध, संयुक्त राष्ट्रसंघ की क्रियाओं का संगठन, उत्तर अटलांटिक सन्धि-संगठन (North Atlantic Treaty Organization), आस्ट्रेलिया-न्यूजीलैण्ड-संयुक्त राज्य-प्रशान्त महासागरीय सुरक्षा परिषद् (Australia-New Zealand-United States-Pacific Security Council) कोरिया युद्ध आदि सभी ने इस बात का अकाट्य प्रमाण दिया है कि अधिराज्य अब पूर्ण रूप से स्वतन्त्र राष्ट्र है। अन्ततः अधिराज्य किसी विशेष राज्य को मान्यता देने तथा न देने में भी स्वतन्त्र हैं। ग्रेट ब्रिटेन द्वारा मान्यता दिये जाने का अर्थ यह नहीं कि अधिराज्यो की मान्यता भी मिल गई है अथवा किसी एक अधिराज्य द्वारा ऐसा ही कोई कार्य दूसरों के लिए पालनीय नही हो जाता।

---

1. Mansergh, Nicholas, Documents and Speeches of British Commonwealth Affairs, Vol. 1,p. 468.

अन्तर्राष्ट्र-मण्डलीय सम्बन्ध (Intra-Commonwealth Relations)—वह पारस्परिक एकता और सहानुभूति तथा निकट की सहकारिता जो काफी लम्बे समय से राष्ट्रमण्डल के विभिन्न देशों के सम्बन्धों का विशेष लक्षण रही है, आज भी विद्यमान है यद्यपि अब ये गुण उन स्वायत्त देशों मे पाए जाते हैं जो एक-दूसरे से समानता के आधार पर व्यवहार करते है, प्रतिदिन किसी एक राजधानी से दूसरी राजधानी को गुप्त संदेश भेजे जाते हैं, एक देश से दूसरे देश को विशेष शिष्ट-मण्डल तथा प्रतिनिधि-मण्डल जाते हैं जो विकास-योजनाओं पर जानकारी इकट्ठी करते हैं, तथा व्यक्तिगत हित और लाभ की योजनाओ पर विचार-विमर्श किया जाता है। पारस्परिक सम्बन्ध के विषयों पर पदाधिकारियों की अदला-बदली की जाती है, विभिन्न स्तरो पर सभाएँ तथा विचार-विमर्श होते रहते हैं, यूरोपीय साझा बाजार जैसी अति महत्त्वपूर्ण बातों के विषय में निर्णय करने के लिए कभी-कभी प्रधान मन्त्रियो का सम्मेलन भी किया जाता है। आज भी, १९२६ ई० की बलफोर घोषणा के प्रायः उपेक्षित भाग के अनुसार ही राष्ट्रमण्डल की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या की जा सकती है, जिसमें कहा गया था, "स्वतन्त्र संस्थाएँ इसका जीवनदायिनी रक्त है तो स्वतन्त्र सहकारिता इसका यन्त्र है।" १८ जून, १९५३ ई० को कनाडा के विदेश मन्त्री मिस्टर लेस्टर पियरसन ने कनाडा तथा राष्ट्रमण्डल के दूसरे देशों के बीच सम्बन्धों को इस प्रकार स्पष्ट किया था, "बाह्य तथा आन्तरिक रूप से कनाडा वयस्क हो गया है परन्तु वह उस राष्ट्रमण्डल को छोड़ने की इच्छा नही रखता जिसमें उसका विकास हुआ है। पिछले युद्ध तथा उसके पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मेरे देश को जिन दायित्वों को निभाना पड़ा है, उनकी १९३९ ई० से पूर्व कल्पना भी न की जा सकती थी। हम अब अपने राष्ट्रवाद-सम्बन्धी दावे के प्रति इतने चिन्तित नही हैं जिसे हम अब तथ्य रूप में मान सकते हैं। हम तो उन ढंगों की खोज के बारे में अपेक्षाकृत अधिक चिन्तित है जिसके द्वारा अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए जो कुछ आवश्यक है, उसे किसी विपत्ति में डाले बिना, हम उन अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों मे भागीदार बनते हैं जिन्हें स्वतन्त्र देशों को स्वीकार करना पड़ेगा यदि स्वतन्त्रता को बनाए रखना है तथा सुरक्षा स्थापित रहनी है।······राष्ट्रमण्डल उल्लेखनीय सहकारिता तथा समूहिक कार्य के योग्य है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रमण्डल में मिल कर काम करने की, एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की—उस समय भी जब कि परस्पर सहमति न हो,—इच्छा सदा पाई जाती है। जब विभेद संसार को ग्रस्त किए हुए है, राष्ट्रों के बीच यह सामान्य मित्रता भी उसकी अपेक्षा अधिक मूल्य रखती है जो हम समझते हैं।"

सम्बन्ध-विच्छेद (Secession)—संविधायी-कानून के कतिपय विद्वान् इस विचार के हैं कि स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर की धाराओं के अनुसार, अधिराज्यो को राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध-विच्छेद का अधिकार भी प्राप्त हो गया है। डाक्टर कीथ का दृष्टिकोण इसके विपरीत है और वह कहते हैं कि "राष्ट्रमण्डल के विभिन्न भागों का यह मेल ऐसा है जिसे एकतरफा क्रिया द्वारा नही तोड़ा जा सकता।" जैनिंग्ज तथा यंग इस स्थिति को इस देश के कानून के दृष्टिकोण से तथा राष्ट्रमण्डल के

अन्य भागों—जिनमें यूनाइटिड किंगडम भी सम्मिलित है, के कानूनों के अनुसार देखते है। उनका मत है, "फलतः परिणाम यह है, कि कोई भी अधिराज्य (कनाडा तथा ग्रास्ट्रेलिया को छोड़ कर) अपने कानूनों के अन्तर्गत सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है, परन्तु यूनाइटिड किंगडम की संसद् द्वारा भी अधिनियम पारित किया जाना चाहिए ताकि यूनाइटिड किंगडम की विधि द्वारा भी सम्बन्ध-विच्छेद को सिद्ध किया जा सके।"[1] परन्तु यह आवश्यक ही नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में स्तर तो राष्ट्रों के समूह की मान्यता पर निर्भर करता है। यदि कोई अधिराज्य सम्बन्ध-विच्छेद कर ले, तो इस बात को अवश्य ही अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिल जाएगी और इस तथ्य को कि इस प्रकार के सम्बन्ध-विच्छेद से यूनाइटिड किंगडम के कानून में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, बहुत कम महत्त्व दिया जाएगा।

सम्बन्ध-विच्छेद इतना आधारभूत परिवर्तन है कि यूनाटिड किंगडम की संसद् इसकी स्वीकृति देने का कभी विचार भी नही कर सकती थी। साम्राज्यिक सम्मेलनों के प्रतिवेदनों में इसके विषय में कुछ भी नही लिखा गया यद्यपि इसके विषय में बहुत कुछ कहा गया था। १६२२ ई० के सविधान (जैसा स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर द्वारा संशोधित किया गया था) के संशोधित अधिकार के अन्तर्गत आयरलैंण्ड के विधान-संसद् द्वारा ग्रायर का संविधान, १६३७ मे पारित किया गया था। उसने घोषणा की थी कि आयरलैंड एक "सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न, स्वतन्त्र, लोकतन्त्रीय राज्य है।" परन्तु ग्रायर के सविधान ने "कार्यकारी सत्ता (वैदेशिक सम्बन्ध) अधिनियम, १६३६" [Executive Authority (External Relations) Act, 1936] को रद्द नहीं किया था जिसमें सम्राट् को ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देशों के बीच सहकारिता का प्रतीक स्वीकार किया गया था। तदनुसार, आयर ने राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया था, यद्यपि वह एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न, स्वतन्त्र, लोकतन्त्रीय राज्य बन गया था। परन्तु ईस्टर सोमवार. १६४६ को, वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध-विच्छेद करके अधिराज्य न रहा जब कि आयरलैण्ड-गणराज्य अधिनियम, १६४८ (Republic of Ireland Act, 1948) ने कार्यकारी सत्ता (वैदेशिक सम्बन्ध) अधिनियम, १६३६ ई० का स्थान ले लिया और घोषित कर दिया कि आयर एक स्वतन्त्र गणराज्य है और उसका नाम आयरलैण्ड गणराज्य (Republic of Ireland) है। दक्षिणी अफ्रीका ने १६६१ ई० मे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम १६४७ (Indian Independence Act, 1947) के अन्तर्गत भारत एक अधिराज्य बना और इसके फलस्वरूप उसे वे सभी अधिकार प्राप्त हो गये जो स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर के आधीन प्राचीन अधिराज्यों को प्राप्त थे। फलतः उसे भारत पर लागू होने वाले यूनाइटिड किंगडम के सभी कानून रद्द करने की शक्ति मिल गई और यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि उसे भारतीय स्वतन्त्रता-अधिनियम को रद्द करने की शक्ति है। प्रिवी-परिषद्-क्षेत्राधिकार-उन्मूलन-

---

1. Constitutional Laws of the Commonwealth, op. cit. p. 146.

अधिनियम, १६४६ (Abolition of Privy Council Jurisdiction Act) ने प्रिवी परिषद् के क्षेत्राधिकार का अन्त कर दिया। इस अधिनियम के अतिरिक्त संविधान-सभा ने किसी प्रकार भी भारत और यूनाइटिड किंगडम के सम्बन्धों को नियमित नहीं किया जब कि २६ जनवरी, १६५० को भारत का नया संविधान लागू कर दिया गया। संविधान ने भारत को "सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रीय गणराज्य" घोषित किया और संविधान के ३६५ वें अनुच्छेद ने भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम १६४७ तथा गवर्नमेंट ऐक्ट, १६३५ ई० को रद्द कर दिया और इस प्रकार "क्राउन के प्रति संयुक्त वफादारी द्वारा एकीकृत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल" से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। परन्तु भारत ने "सम्राट् को राष्ट्रमण्डल का मुखिया तथा उसे सदस्य-देशों के बीच स्वतन्त्र साहचर्य का प्रतीक मानते हुए" राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार क्राउन के प्रति वफादारी राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के लिये कोई आवश्यक पूर्व-प्रतिबन्ध न रही। क्राउन की स्थिति तो अब केवल "साहचर्य के प्रतीक" के रूप में ही रह गई है। यदि कोई सदस्य राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनना चाहता है, तो उसे क्राउन को "अन्य राष्ट्रमंडलीय-देश के साथ स्वतन्त्र साहचर्य के प्रतीक" के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा।

राष्ट्रमण्डल का यह स्वरूप सम्बन्ध-विच्छेद के प्रश्न को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है। यद्यपि संसार-व्यापी तनातनी के इस काल में किसी राष्ट्रमण्डलीय देश के सम्बन्ध-विच्छेद का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु फिर भी उस पर किसी प्रकार का कानूनी प्रतिबन्ध कोई नहीं है। प्रधान मन्त्री नेहरू ने १६ मई, १६४६ को भारत की संविधान-सभा में भाषण देते हुए इस बात को स्पष्ट कर दिया था। उन्होंने कहा था, "हम राष्ट्रमण्डल में इसलिये सम्मिलित होते है क्योंकि हम स्पष्टतया यह समझते है कि वह हमारे लिये तथा संसार के उन अन्य मामलों के लिये जिन्हें हम अग्रसर करना चाहते है, लाभकारी है। राष्ट्रमण्डल के दूसरे देश हमें सदस्य बनाये रखना चाहते है क्योंकि वे समझते है कि यह उनके लिये लाभकारी है। सभी यह समझते है कि राष्ट्रमण्डल में रहना सभी देशों के लिये लाभदायक है, इसीलिये वे इसमें सम्मिलित होते है। साथ ही, यह भी पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रत्येक देश को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है, ऐसा होना भी सम्भव है, कि वे इतनी दूर चले जायें कि राष्ट्रमण्डल को ही त्याग दें।" दक्षिण अफ्रीका का उदाहरण प्रधान मन्त्री नेहरू के मत का प्रमाण देता है।

राष्ट्रमण्डल की परिवर्तनशील धारणा (The Changing Concept of the Commonwealth)—इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध से राष्ट्रमण्डल की रचना में परिवर्तन होता रहा है और इसमें भी इसकी उस असाधारण प्रतिभा का प्रदर्शन हुआ है जिसके कारण वह अपने आपको परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार ढाल लेता है। आयरलैण्ड तथा दक्षिणी अफ्रीका ने तो सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है और ऐसा ही भारत और पाकिस्तान ने अधिराज्यों के रूप में किया। भारत और पाकिस्तान दोनों राष्ट्रमण्डल में हैं और यद्यपि दोनों क्राउन के प्रति आस्था भी नहीं रखते, फिर भी ये उसे स्वतन्त्र सदस्य-देशों के स्वतन्त्र साहचर्य के प्रतीक के रूप में

तथा राष्ट्रमण्डल के मुखिया के रूप में स्वीकार करते हैं। स्वतन्त्र साहचर्य के प्रतीक के रूप में तथा राष्ट्रमण्डल के मुखिया के रूप में सम्राट् का उल्लेख करते हुए, भारत के प्रधान-मन्त्री ने १० मई, १९४९ को अपने रेडियो भाषण में कहा था, "स्मरण रहे कि राष्ट्रमण्डल किसी भी अर्थ में एक 'परम-राज्य' नहीं है। हमने सम्राट् को इस स्वतन्त्र साहचर्य के प्रतीकात्मक मुखिया के रूप में ही स्वीकार करने की सहमति दी है। परन्तु सम्राट् का ऐसा कोई भी कर्त्तव्य नहीं जो राष्ट्रमण्डल में उसके इस पद से सम्बन्धित हो। जहाँ तक भारतीय संविधान का सम्बन्ध है, उसमें सम्राट् को कोई स्थान प्राप्त नहीं और हम उसके प्रति कोई आस्था भी नहीं रखते।" सरदार पटेल ने भी नई दिल्ली में पत्रकारों के सम्मेलन में भाषण करते हुए २८ अप्रैल, १९४९ ई० को यही मत प्रकट किया था। जब किसी संवाददाता द्वारा सरदार पटेल से पूछा गया कि राष्ट्रमण्डल के मुखिया के रूप में सम्राट् के कर्त्तव्य क्या होंगे, तो उन्होंने उत्तर दिया था, "जहाँ तक उसके कर्त्तव्यों का सम्बन्ध है, यही कहना पड़ेगा कि उनका कर्त्तव्य कोई भी नहीं। उसको तो केवल पद ही प्राप्त है।"

जार्ज षष्ठ की मृत्यु पर सहानुभूति का प्रस्ताव रखते हुए ११ फरवरी, १९५२ को कॉमन सभा में मिस्टर चर्चिल ने कहा था, "राजकीय उद्घोषणा में 'राष्ट्र' (Realm) शब्द को दी गई महत्ता की ओर सदस्य विशेष कर ध्यान देंगे। एक समय था—और वह समय बहुत दूर नहीं गया—जबकि 'अधिराज्य' (Dominion) शब्द को बड़ा आदर दिया जाता था। परन्तु अब, सहज रूप से तथा स्वेच्छा से, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल तथा साम्राज्य में सम्मिलित बहुत से राज्यों, राष्ट्रों तथा जातियों ने 'राष्ट्र' शब्द में अपनी एकता-सम्बन्धी भावना की अभिव्यक्ति पाई है जो बहुत सी अवस्थाओं में तो क्राउन के प्रति प्रत्यक्ष वफादारी के साथ अथवा उनके साथ गौरवमय अथवा सम्मानपूर्ण साहचर्य के साथ मिश्रित है।" राजसिंहासनारोहण के समय की गई उद्घोषणा में, 'अधिराज्य' शब्द की समाप्ति, राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्धों के अनेक विद्यार्थियों के विचार में ऐसा एक और कदम है जो 'अधिराज्य-पद के अन्त' की ओर उठाया गया माना जाता है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'अधिराज्य पद' में कोई गिरावट नहीं आती जब उसमें से 'अधिराज्य' शब्द को निकाल दिया जाता है। 'अधिराज्य' शब्द का प्रयोग भी स्वयं व्यवहार-सिद्ध है। सर्वप्रथम १९०७ ई० के साम्राज्यिक सम्मेलन में उसका प्रयोग इसलिये किया गया था कि साम्राज्य के पराधीन भागों तथा स्वायत्त भागों में भेद किया जा सके। 'स्वायत्त अधिराज्य' शब्दों को शीघ्र ही संक्षिप्त करके 'अधिराज्य' शब्द ही रहने दिया गया क्योंकि 'स्वायत्त' शब्द यदि परिभाषित नहीं था, परन्तु अवबुद्ध अवश्य था। १९०७ ई० से लेकर १९२६ ई० तक के वर्षों में 'स्वायत्त' शब्द से अधिकतर अर्थ 'यूनाइटिड किंगडम के अथवा अन्य किसी सरकार के नियन्त्रण से स्वतन्त्र' ही माना जाने लगा और १९२६ ई० में समानता-पद को अधिराज्यों का वास्तविक लक्षण घोषित कर दिया गया और इस प्रकार 'अधिराज्य' पद (Dominion Status) का प्रयोग होने लगा। अधिराज्यों के समानता-पद का अथवा अधिराज्य पद का कानूनी महत्त्व स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर में और भी स्पष्ट कर दिया गया।

चीन के जनवादी गणराज्य की सरकार

अध्याय १

चीन देश और वहाँ के निवासी

(The People and the Country)

अध्ययन का महत्व—चीन के जनवादी गणराज्य की एक कहावत है—'Tsou, tsou; ts'ou, ts'ou, kai, kai' ! (कर्म करो, कर्म करो, तुमसे त्रुटियाँ होंगी; उन्हें सुधारो, उन्हे सुधारो)। चालीस शताब्दियों तक मन्द गति से सुधार का क्रम चलने के बाद सन् १९४९ में साम्यवादियों ने चीन की राजसत्ता को अपने हाथ में ले लिया और इस प्रकार जैसा कि चीन के जनवादी गणराज्य के संविधान की प्रस्तावना मे कहा गया है, "दासता और अत्याचार के एक लम्बे इतिहास" का अन्त हुआ। चीन के जनवादी गणराज्य की नई सरकार ने अपने सामने यह मूल उद्देश्य रखा कि समाजवाद के आधार पर धीरे धीरे देश का उद्योगीकरण किया जाये और धीरे-धीरे कृषि, दस्तकारी और पूंजीवादी उद्योग तथा वाणिज्य के क्षेत्र मे समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की जाये। १९५४ तक देश में समाजवाद की स्थापना करने और आर्थिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ तैयार हो गईं। २० सितम्बर, १९५४ को प्रथम राष्ट्रीय जन काग्रेस (National People's Congress) ने पेकिंग के अपने प्रथम अधिवेशन मे चीन के जनवादी गणराज्य का संविधान स्वीकार किया। इस संविधान से "चीनी जनक्रान्ति और राजनैतिक व आर्थिक क्षेत्रों में उसकी सफलताओं" के लाभों के लिए पुष्टि मिल गई। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में, संविधान ने संक्रमण काल मे जनवादी गणराज्य की आवश्यकताओं और समाजवाद के आधार पर समाज की रचना करने को सम्पूर्ण जनता की इच्छा की पूर्ति करने का वचन दिया।"

संविधान स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा करता है कि चीन सोवियत समाजवादी गणराज्यों के संघ और जनवादी लोकतन्त्रों के साथ अटूट मित्रता मे बँध गया है। इसमें आगे बताया गया है कि समानता, पारस्परिक लाभ और एक दूसरे देश की प्रभुसत्ता और प्रादेशिक अखंडता के प्रति पारस्परिक सम्मान के सिद्धान्त के आधार पर सभी देशों के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने तथा बढ़ाने की चीन की नीति का, "जिससे सफलता मिली है, बराबर पालन किया जाता रहेगा।" अन्त-

राष्ट्रीय मामलों में संविधान ने चीन मे जनवादी गणराज्य की स्थापना का और "विश्वशान्ति तथा मानवता की प्रगति के शुभ कार्य के लिए" एक सुदृढ़ और स्थिर नीति अपनाने का वचन दिया।

जन लोकतन्त्रीय अधिनायकशाही की स्थापना के बाद कुछ ही वर्षों मे चीनी साम्यवादियो ने अपनी सफलता द्वारा पूरे ससार को आश्चर्यचकित कर दिया है। औद्योगिक उत्पादन कई गुना बढ़ गया है, सम्पूर्ण देश मे शक्तिशाली और प्रभावी सरकार की स्थापना हुई है, विशाल सेना का निर्माण हुआ है, वस्तुतः पूरे देश का सैन्योकरण हुआ है और औद्योगिक कर्मचारियो की रहन-सहन की दशाओ मे बड़ा सुधार हुआ है। किन्तु इस सबके लिये भारी मूल्य चुकाना पड़ा है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और स्वेच्छा के अधिकार को राज्य की इच्छा के सामने गौण कर दिया गया है, और उन पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। लोगों को स्वतन्त्र रूप से विचार करने की शक्ति कुंठित हो गई है और सम्पूर्ण चीनी जनता प्रचार के भार से दब गई है। सविधान मे जिस सास्कृतिक स्वतन्त्रता को उच्च स्थान दिया गया था तथा जिसके लिए गारंटी दी गई थी, वह सब लुप्त हो गई हैं। १९४९ से एक नवीन वर्ग पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ है और वह भी सहस्रों चीनियों के जीवन को नष्ट करके ताकि साम्यवादी दल को दृढ़तापूर्वक सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो सके, नये समाज मे औद्योगिक कर्मचारी को सम्मान का स्थान प्राप्त हो सके और मार्क्स के सिद्धान्त की सत्यता सिद्ध हो सके। अधिकाश लोग अब भी उसी रूप मे अपना जीवन व्यतीत कर रहे है जिस प्रकार युगो-युगो से उनके पूर्वज करते आये। इस लोकतंत्रीय अधिनायकशाही मे इस देश पर आधुनिकीकरण का प्रभाव बहुत ही कम पड़ पाया है।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में जितना लज्जापूर्ण इतिहास चीन के जनवादी गणराज्य का रहा है इतना शायद ही किसी देश का रहा हो। इसके सविधान मे आत्मश्लाघापूर्ण शब्दों मे कहा गया है कि चीन के साम्यवादी दल के नेतृत्व मे चीनी लोगो ने "जनक्रान्ति द्वारा साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और नौकरशाही पूंजीवाद के विरुद्ध अन्ततः एक महान् सफलता प्राप्त की।" अपने जीवनकाल के केवल तीन वर्षों के भीतर ही "विश्वशान्ति और मानवता की प्रगति के शुभ कार्य" का यह तथाकथित प्रबल योद्धा विस्तारवाद के कार्य मे लग गया। एक भूखे भेड़िये के समान चीन तिब्बत पर झपटा और उसे अधीन कर लिया। पूर्ण रूप से वहाँ अपना अधिकार जमा लेने के बाद वह भारतीय प्रदेश में घुस आया। मैकमोहन रेखा की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा का उल्लघन किया, भारतीय प्रदेश की कई हजार वर्गमील भूमि पर दावा किया और अन्त मे उसकी सीमाओं पर आक्रमण किया तथा बहादुर भारतीय जवानों के अमूल्य रक्त से पचशील को रंजित करके उसने बिना घोषणा के युद्ध छेड़ दिया। यह है तरीका चीन के जनवादी गणराज्य का "एक दूसरे देश की प्रभुसत्ता और प्रादेशिक अखंडता के सम्मान करने का।" सविधान की घोषणाएं सरकार की कूटचालें है और फिर भी चीन इस बात का दावा करता है कि वह जनवादी लोकतन्त्र है।

चीन देश और वहां के निवासी—ठीक-ठीक यह किसी को पता नहीं कि चीनियों की वास्तविक जनसंख्या क्या है। प्राय: उनकी जनसंख्या के जो आंकड़े बताये जाते हैं, उसके अनुसार उनकी संख्या ६५ करोड़ है और उनका देश ३८,००,००० वर्ग मील तक फैला हुआ है। उसके उत्तर मे हिमालय पर्वत की उपत्यकायें है और दक्षिण व पूर्व में सोवियत संघ है। चीन के जनवादी गणराज्य मे मुख्य चीन, उसके पच्चीस प्रांत, मंगोलिया का आन्तरिक स्वायत्तशासी प्रदेश, तिब्बत और पेकिंग, टीन्टसिन और शंघाई के तीन नगर सम्मिलित है। राजधानी पेकिंग है।

कुछ ही लाख चीनी उद्योगों में काम करते है। लगभग ८० प्रतिशत जनता ग्रामीण है और अनिवार्य रूप से कृषि पर निर्भर है। निरन्तर बढ़ने वाली जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वहां कृषियोग्य भूमि बहुत कम है। देश का अधिकांश भाग उजड़े हुए मैदानों, पथरीले पर्वतों और टेढ़े-मेढ़े रास्तों से घिरा हुआ है और कृषियोग्य भूमि के प्रत्येक भाग पर धान की खेती होती है। फसल खराब हो जाने पर लाखों भूख से मरने लगते हैं। अभी तक चीन की कोई सरकार ऐसा प्रबन्ध नहीं कर सकी है कि वह इन ऋतुओं के देवताओं पर नियन्त्रण पा सके। मि० माल्कम मैकडोनल्ड ने चीन के अपने चार सप्ताह के दौरे के उपरान्त ३ नवम्बर, १९६२ को हांगकांग मे बताया "चीनी जनता व सरकार मे विश्वास की भावना है किन्तु वे गफलत मे नहीं है। वे मानते हैं और स्वीकार करते हैं कि आधुनिक मामलों में वे अब भी अनुभवहीन हैं और विशाल जनसंख्या वाले देश को औद्योगिक और कृषि से आधुनिक रूप प्रदान करने का काम बहुत बड़ा है"[1] मि० मैकडोनल्ड ने भविष्यवाणी की कि "औद्योगिक रूप से आत्मनिर्भर होने मे चीन ने जितने वर्ष लगाये, उससे कहीं अधिक वर्ष उसे कृषि की दृष्टि से आत्मनिर्भर" होने में लगेंगे।[2]

संविधान का इतिहास

प्राचीन काल से मंचू काल तक का इतिहास—चीनी लोगो के विकास का इतिहास कई कालो मे विभाजित किया जा सकता है। उनकी सभ्यता यूनान और रोम की सभ्यताओं से भी प्राचीन है। तंग वंश (६१८-९०७ ई०) के उदय तक चीन के विभिन्न भागो पर कई वंशों का राज्य रह चुका था। तंग वंश के पश्चात् चीन पर कई अन्य वंशों का आधिपत्य रहा। सोलहवीं शताब्दी के अन्त मे मंचू वंश का उदय हुआ। इस वंश के बारह राजाओं ने चीन पर राज्य किया और उनके शासन-काल मे साम्राज्य संगठित हुआ और उसने खूब प्रगति व उन्नति की।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने १६६४ से चीन के साथ व्यापार आरम्भ किया और इस प्रकार व्यापार के क्षेत्र मे पुर्तगाली जो एकाधिकार जमाये हुए थे उसे समाप्त किया। ब्रिटिश व्यापारियों का एकमात्र उद्देश्य था अपने लिए बड़ी मात्रा में लाभ कमाना और इसी दृष्टि से उन्होंने अफीम के व्यापार को खुल्लम-खुल्ला प्रोत्साहन

1. दि स्टेट्समैन, नई दिल्ली, ४ नवम्बर, १९६२।
2. वही।

दिया, इस बात की किंचित् मात्र भी पर्वाह न करते हुए कि उसका चीनियों के स्वास्थ्य पर तथा उनकी अर्जन-शक्ति पर क्या प्रभाव पड़ेगा। अफीम के व्यापार के परिणाम-स्वरूप प्रथम (१८४१) और द्वितीय (१८५८) अफीम युद्ध हुए। अफीम युद्धों का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि सरकार नही चाहती थी कि ब्रिटिश व्यापारी चीनी लोगो के साथ अफीम का व्यापार करें जिसे उसने प्रतिषिद्ध घोषित कर दिया था। किन्तु दोनों युद्धों का वास्तविक कारण यह था कि ब्रिटिश व्यापारी विशेष अधिकार चाहते थे और चीनी सरकार के साथ बात-चीत करने के लिए बराबर का दर्जा चाहते थे। १८४१ का युद्ध नानकिंग की सन्धि के साथ समाप्त हुआ। इस सन्धि के परिणामस्वरूप अंग्रेजों को हांगकांग का द्वीप सौंप दिया गया, प्रतिकर के रूप में ब्रिटिश व्यापारियों को १५० लाख डालर दिये गये और ब्रिटिश व्यापार तथा निवास के लिए कैन्टन, एमीनाए, फूको, निंगपो और शंघाई के बन्दरगाह खोल दिये गये। इससे अंग्रेजों को बराबरी का दर्जा भी मिल गया। ये शर्तें बड़ी अपमानजनक समझी गईं और सम्पूर्ण देश में एक असन्तोष की लहर दौड़ गई। चीनी सरकार ने बाद में यही रियायतें अमरीकियों के लिए भी स्वीकार कर लीं।

दूसरा अफीम युद्ध अमरीकियों और फ्रांसीसियों के साथ चीन के संघर्ष में अंग्रेजों का अमरीकियों और फ्रांसीसियों का पक्ष लेने और साथ ही ब्रिटिश व्यापारियों द्वारा चीनी प्रदेश मे प्रतिषिद्ध तथा अन्य वस्तुओं को चोरी-छिपे लाने के फलस्वरूप प्रारम्भ हुआ। दूसरे युद्ध की समाप्ति पर चीन में विदेशियों को विशेषतः अंग्रेजों और फ्रांसीसियों को विशेष अधिकार प्राप्त हो गये। कुछ समय उपरान्त ये ही अधि-कार अमरीकियों को भी दे दिये गये। इन दोनों युद्धों का परिणाम यह निकला कि चीनी सरकार को राजनीतिक दृष्टि से बहुत नीचा देखना पड़ा और चीनी लोग आर्थिक दृष्टि से दिवालिया हो गये। इस सबका उत्तरदायी मंचू सरकार को ठहराया गया। प्रबुद्ध वर्ग के लोगों ने जनता को सरकार के विरुद्ध उभारने का प्रयत्न किया और कई स्थानों पर वे इस कार्य में सफल भी हुए। यद्यपि विदेशियों की सहायता से आन्दोलन दबा दिया गया किन्तु इससे पूरे देश मे एक उथल-पुथल सी मच गई और मंचू वंश को राजच्युत करने के लिए प्रयत्नों का एक सिलसिला सा चल पड़ा। इस बीच कोरिया के प्रश्न पर चीन और जापान के बीच एक युद्ध हुआ। जापान चाहता था कि कोरिया को एक स्वतन्त्र राज्य घोषित कर दिया जाये। चीन का कहना था कि कोरिया उसका प्रदेश है। चीन हार गया और कोरिया को स्वतन्त्र राज्य घोषित किया गया।

चीन को जापान के लिए युद्ध प्रतिकर भी देना पड़ा। किन्तु चीन-जापान युद्ध का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि चीन की अखण्डता को खतरा पैदा हो गया। पश्चिमी देशों ने चीन की मुसीबतों का लाभ उठाया और जापान को युद्ध प्रतिकर देने के लिए उन्होने व्यापारिक सुविधाओं के बदले में चीन को मुक्त रूप से उधार दिया। रूस, फ्रांस और जर्मनी ने अपना प्रभाव जमाने के लिए अपनी माँगें रखीं और प्रत्येक अपना-अपना उल्लू सीधा करने में सफल हुआ। किन्तु

अंग्रेजों के हितों के लिए बड़ा खतरा पैदा हो गया। १८९८ के स्पेन-अमरीकी युद्ध में अमेरिका ने फिलीपीन्स जीत लिया, जिससे पश्चिमी प्रशान्त महासागर और चीन मे भी उसकी रुचि हो गई। तत्कालीन राज्य सचिव श्री जॉन हे ने सभी राष्ट्रों को चीन के साथ व्यापार करने का समान अवसर प्रदान करने के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति निकाली। इन सब बातों से चीन बहुत ही रुष्ट हुआ जिसके परिणामस्वरूप वहाँ एक नये राष्ट्रवादी आन्दोलन का जन्म हुआ जिसका उद्देश्य देश को विदेशी शासन से मुक्त करना तथा मंचू शासन का उन्मूलन करके देश मे गणराज्य की स्थापना करना था।

सनयात सेन और नवीन चीनी राष्ट्रीयता—इस आन्दोलन का जन्मदाता सनयात सेन था। उसने यह आन्दोलन बड़े ही जोश से चलाया। परिणामस्वरूप १८९५ में उसे पकड़ने के लिए इनाम की घोषणा की गई और उसे चीन से भागना पड़ा। मुक्केबाजों का विद्रोह इस क्रान्तिकारी आन्दोलन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। मुक्केबाजों की एक गुप्त सस्था बनाई गई। इसका बाहरी उद्देश्य तो युवकों को शारीरिक व्यायाम और मुक्केबाजी की शिक्षा देना रखा गया किन्तु भीतरी उद्देश्य मंचू वंश को उखाड़ फेंकना था, जोकि उनकी दृष्टि मे विदेशी शक्तियों को चीन के समर्पण के लिए उत्तरदायी था। तदनुसार उन्होंने विदेशी राजदूतों और चीनी ईसाइयो पर आक्रमण करने आरम्भ किए और कुछ विदेशी राजदूतों को मार दिया। विदेशी शक्तियों ने मुक्केबाजों का मुकाबला करने के लिए आपस में मिलकर एक सेना बनाई। किन्तु वे अपने राजदूतो की रक्षा करने के अलावा और कुछ न कर सकी। ऐसी रिस्थिति में अमेरिका ने एक नई नीति निकाली "जिससे चीन मे स्थायी सुरक्षा और शान्ति की स्थापना हो सके, चीन की प्रादेशिक और प्रशासकीय एकता कायम रह सके, सन्धि या अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा विदेशी शक्तियों को प्रदत्त सभी अधिकारों की रक्षा हो सके और विश्व के सभी देश चीन की सभी माँगों के साथ समान और निष्पक्ष रूप से व्यापार कर सकें।" रूस ने अमेरिका की इस नीति को स्वीकार नही किया और मचूरिया पर अधिकार जमा लिया। मित्र देशों की सेनाएँ विदेशी राजदूतावासों की रक्षा के लिए पेकिंग पहुँच गईं जिससे सम्पूर्ण चीन एक तरह से उनके अधिकार में आ गया। परिणामस्वरूप ७ सितम्बर, १९०१ को 'बॉक्सर प्रोटोकॉल' पर हस्ताक्षर हुए।

'बॉक्सर प्रोटोकॉल' कोई सन्धि नही थी क्योकि उसकी पुष्टि की आवश्यकता न थी। वस्तुतः इस पर हस्ताक्षर होने से पूर्व ही चीनी सरकार ने इसकी शर्तें पूरी कर दी थी। शर्तों में उपबन्ध किया गया था कि जो व्यक्ति मारे गये उनके लिए प्रतिकर दिया जाये, अपराधियों को दण्ड दिया जाये, चार प्रतिशत ब्याज सहित चार सौ पचास तायल (Taels) का युद्ध प्रतिकर दिया जाये जिसका भुगतान किस्तों में उनतालीस वर्षों में किया जाये, पेकिंग और सेन के बीच खुले रूप से संचार की व्यवस्था के लिए बारह विशिष्ट स्थानों पर मित्र देशों की सेनाओं को कब्जा दिया जाये, वाणिज्यिक संधियों में संशोधन करके वाणिज्यिक सम्बन्ध ठीक किए जाएँ,

इत्यादि। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप मे 'बॉक्सर' ग्रान्दोलन दब गया किन्तु चीनियों की क्रांतिकारी भावना ग्रक्षुण्ण रही और कुछ समय उपरान्त शीघ्र ही सुधार ग्रान्दोलन सामने ग्राया। 'बॉक्सर' ग्रान्दोलन की भांति सुधार ग्रान्दोलन भी विदेशियों के विरोध मे था ग्रौर उसका उद्देश्य मचू शासन को समाप्त करना था। इसका उद्देश्य चीनी लोगो की सामाजिक, ग्रार्थिक ग्रौर राजनैतिक स्थिति को सुधार कर उनके सम्पूर्ण जीवन मे सुधार लाना था। पश्चिमी ढंग की शिक्षा प्राप्त चीनी नवयुवकों ने इसका नेतृत्व ग्रौर मार्गदर्शन किया ग्रौर जल्दी ही यह ग्रान्दोलन देश के सुदूरवर्ती भागों मे फैल गया। एक प्रान्त के बाद दूसरे प्रांत ने विद्रोह किया ग्रौर छः वर्षों से सिंहासनारूढ़ मचू सम्राट् गद्दी छोड़ कर भाग गया जिसके परिणामस्वरूप १९११ मे चीन में गणराज्य की स्थापना हुई।

सन यात सेन ने चीन से भाग जाने के बाद विदेश से क्रान्तिकारी ग्रान्दोलन का सचालन किया। जब मंचू सम्राट् सिंहासन छोड़ कर भाग गया ग्रौर सुधार ग्रान्दोलन में भाग लेने वाले विभिन्न व्यक्तियो द्वारा बुलाये गये शान्ति-सम्मेलन का ग्रधिवेशन चल रहा था तो सन यात सेन वापस ग्रा गया ग्रौर चीनी गणराज्य का ग्रस्थायी ग्रध्यक्ष निर्वाचित किया गया। किन्तु क्रान्तिकारी देश के विभिन्न भाग ग्रापस मे ही बँटे हुए थे। दक्षिण में यूग्रान सीह् काई दूसरे गणराज्य के ग्रध्यक्ष घोषित किए गये। सन यात सेन इस बात के लिए चिन्तित थे कि देश की एकता बनी रहे ग्रौर इसलिए उन्होंने यूग्रान के पक्ष में ग्रस्थायी ग्रध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया। १९१२ मे उनके नेतृत्व में क्यूमिन्टांग नामक राष्ट्रीय जनवादी दल का सघटन किया गया। यह दल बहुत ही शक्तिशाली बन गया जिससे चीन में फिर ग्रान्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। यूग्रान ने इग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, रूस ग्रौर जापान से बड़ी मात्रा में ऋण लिया ग्रौर १९१५ में ग्रपने ग्रापको सम्राट् घोषित कर दिया। क्यूमिन्टांग ने यूग्रान के विरुद्ध विद्रोह किया जिससे उसे राजतिलक की कार्यवाही को स्थगित करना पड़ा ग्रौर ग्रन्त मे गणराज्य की स्थापना हुई। किन्तु कुछ ही समय पश्चात् जून १९१६ में उसकी मृत्यु हो गई ग्रौर भूतपूर्व उपाध्यक्ष ली-यूग्रान हुंग गणराज्य के ग्रध्यक्ष बनाए गए। इस प्रकार एक बार क्यूमिन्टांग के नेतृत्व मे देश मे एकता स्थापित हुई।

प्रथम विश्वयुद्ध के ग्रारम्भ होते ही चीनी गणराज्य को नई कठिनाइयों ने ग्रा घेरा। चीन ने तटस्थता कायम रखने के लिए ग्रमेरिका से मदद मांगी। किन्तु जब जापान ने मित्र देशों की ग्रोर से युद्ध में प्रवेश किया तो उसने चीन के समक्ष इक्कीस मांगे रखी। ये मांगें चीन के लिए बड़ी हानिकारक थी किन्तु कोई चारा न था ग्रौर उसे इक्कीस मे से पन्द्रह मांगो को स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार सुदूर पूर्व मे जापान की स्थिति कल्पनातीत दृढ़ हो गई। १९२१ मे एक सन्धि हुई जिस पर नौ देशों[1] ने हस्ताक्षर किए। इस सन्धि की शर्तें इस प्रकार थी: (१) चीन की प्रभु-

1. ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, बेल्जियम, नीदरलैण्ड, पुर्तगाल, जापान, ग्रमेरिका चीन।

सत्ता, स्वतन्त्रता और प्रादेशिक तथा प्रशासनिक एकता का सम्मान किया जाये; (२) प्रभावी और स्थायी सरकार कायम करने और उनके विकास के लिए चीन को पूरा और निर्विघ्न अवसर प्रदान किया जाये; (३) सम्पूर्ण चीनी प्रदेश में सभी राष्ट्रों के लिए वाणिज्य और उद्योग का समान अवसर प्रदान करने के सिद्धान्त को प्रभावशाली ढंग से लागू करने के लिए सब अपना-अपना प्रभाव डालें; (४) चीन की वर्तमान स्थिति से लाभ उठा कर ऐसे अधिकार व विशेषाधिकार प्रदान न किए जायें जिनसे मित्र देशों के नागरिकों के अधिकारों को नुकसान पहुँचता हो और कोई ऐसा कार्य न किया जाये जिससे राज्य की सुरक्षा संकट में पड़ती हो। दूसरी सन्धि से चीन का प्रशुल्क सम्बन्धी स्वायत्त अधिकार भी स्वीकार कर लिया गया।

रूस की अक्तूबर क्रान्ति तथा १९१७ में रूसी राज्य की स्थापना से भी चीन की राजनीति पर प्रभाव पड़ा। कई प्रमुख चीनी राष्ट्रजनों ने सोचा कि सोवियत प्रकार के समाजवादी राज्य से ही चीन के राजनैतिक और आर्थिक दोष दूर हो सकते हैं। मार्क्स सिद्धान्त के समर्थक वामपक्षी क्रान्तिकारी बन गये। क्युमिन्टांग ने साम्यवादियों का विरोध किया जो रूसी प्रतिनिधि जोफे के मार्गदर्शन में थे। किन्तु १९२३ में सन यात सेन ने साम्यवादियों से मेल कर लिया। उनको इस बात की अनुमति दी गई कि वे अपने दलीय संगठन को कायम रखते हुए क्युमिन्टांग में सम्मिलित हो सकते हैं। रूसी लोग राष्ट्रीय स्वतन्त्रता स्थापित करने में उनकी सहायता करने के लिए बड़े आतुर थे। इसलिए उन्होंने चीन में एक नवीन क्रान्तिकारी गणराज्य का संगठन करने के लिए बोरोडिन को कैण्टन भेजा और जनरल ब्लूचर को क्रान्तिकारी सेना को प्रशिक्षित करने के लिए भेजा। च्यांग काई शेक, जो रूस में सन यात सेन का प्रतिनिधि था, ह्वाम्पा मिलटरी अकादमी का अध्यक्ष बनाया गया। इस अकादमी ने चीनी सेना के लिए नए-नए नेता दिए। साम्यवादियों के गहन प्रचार से और बड़ी संख्या में युवकों को साम्यवाद की शिक्षा देने से चीन के साम्यवादी होने की सम्भावनाएँ बहुत प्रबल हो गईं। सन यात सेन का स्वर्गवास १९२५ में हुआ और क्युमिन्टांग ने च्यांग काई शेक को अपना मुख्य नेता स्वीकार किया। किन्तु सनयात सेन की मृत्यु से चीन को एकता के सूत्र में बाँधने वाला कोई न रहा और शीघ्र ही साम्यवादियों तथा क्युमिन्टांग में खुले रूप से संघर्ष होने लगा।

च्यांग काई शेक एक योग्य सैनिक नेता था और उसकी सैनिक सफलताओं के परिणामस्वरूप चीन में एक नवीन एकता स्थापित हुई। पुराना गणराज्य और साथ ही नानकिंग संविधान समाप्त हो गया। अपना नेतृत्व और क्युमिन्टांग का प्रभाव जमाने के बाद च्यांग काई शेक ने अपने सैनिक पद से त्यागपत्र दे दिया और २५ अक्तूबर, १९२८ को कानून के मुताबिक उसने कैण्टन में एक नई राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की और स्वयं उसका अध्यक्ष बना। १२ मई, १९३१ को राष्ट्रीय जनवादी अभिसमय (National People's Convention) ने एक अस्थायी संविधान स्वीकार किया जिसका उद्देश्य सनयात सेन के जनवादी सरकार, जीविका और राष्ट्रीयता अर्थात् विदेशी नियन्त्रण से मुक्ति नामक तीन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करना था।

इसके बाद घटनाएँ कुछ द्रुतगति से घटीं। १९३१ में जापान ने मंचूरिया पर कब्ज़ा कर लिया और 'माचूकुस' के नाम से वहाँ एक अधीनस्थ सरकार की स्थापना की। राष्ट्रसंघ (League of Nations) जापान को अपने वचन का तथा १९२१ में नौ शक्तियों के बीच हुई वाशिंगटन की सन्धि की शर्तों का उल्लंघन करने से नहीं रोक पाया, जिस पर जापान ने स्वयं भी हस्ताक्षर किए थे। च्यांग काई शेक को बड़ी लज्जाजनक स्थिति का सामना करना पड़ा। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान जापान जर्मनी के साथ मिल गया और चीन अवसर देख कर मित्र देशों के साथ मिल गया। जापान ने युद्ध के दौरान चीन के कुछ प्रदेश पर कब्ज़ा कर लिया था। मित्र देशों की सक्रिय सहायता से चीन उस भाग को वापस लेने में सफल हुआ और उसने अपनी स्थिति इतनी दृढ़ की जिससे पाँच बड़ी शक्तियों में गिना जाने लगा और वह सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य बन गया। अमरीका ने भी साम्यवादियों का मुकाबला करने के लिए च्यांग काई शेक को अपनी सेना और धन से सहायता दी। किन्तु १९४७ में साम्यवादियों ने रूस की सहायता से च्यांग की सरकार को फारमोसा के द्वीप में खदेड़ दिया। यह साम्यवाद की विजय थी और चीन लाल झंडे के अन्तर्गत आ गया। चीन में जनवादी गणराज्य की स्थापना की गई।

अस्थायी संविधान—जब साम्यवादियों के हाथ में शक्ति आ गई तो उन्होंने अपनी सरकार को सरकार की कार्यविधियों का विश्लेषण करने वाले एक औपचारिक संविधान पर आधारित नहीं रखा और न उन्होंने अपने पाँच वर्ष के जीवन में इसके लिए कोई प्रयत्न किया। ६६२ प्रतिनिधियों की एक संस्था थी जिसका नाम चीनी जनवादी राजनैतिक परामर्शदाता सम्मेलन (Chinese People's Political Consultative Conference) था जिसमें साम्यवादी दल के साथ-साथ विभिन्न राजनैतिक दलों, विभिन्न प्रदेशों, लोक संगठनों, जन मुक्ति सेना (People's Liberation Army) और समुद्रपार चीनियों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। यह संस्था प्रतिनिधियों की दृष्टि से खिचड़ी संस्था थी किन्तु इसका एक सामान्य कार्यक्रम था जो माओत्से तुंग द्वारा निश्चित किया गया था और जनवादी लोकतन्त्रीय अधिनायकशाही सिद्धान्त पर आधारित था। पाँच वर्षों तक इसने अस्थायी संविधान का काम चलाया। ३१ अनुच्छेदों वाली सांविधानिक विधि (Organic Law) प्रख्यापित की गई। इससे ऐसी सरकार की रूप-रेखा तैयार की गई जिससे सामान्य कार्यक्रम की पूर्ति हो सके और जिसके आधार पर संविधान का प्रारूप तैयार किया जा सके।

संविधान का प्रारूप—जनवरी १९५३ में माओत्से तुंग के सभापतित्व में चीन के जनवादी गणराज्य के लिए संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिए एक समिति नियुक्त की गई। संविधान का प्रारूप 'सम्मेलन' में प्रस्तुत किया गया और 'सम्मेलन' ने उसे मार्च, १९५४ में स्वीकार किया। स्टालिन संविधान की भाँति और उसे जनता द्वारा निर्दिष्ट संविधान का रूप प्रदान करने के लिए उसे विभिन्न लोकतन्त्रीय दलों और समूहों तथा समाज के प्रत्येक वर्ग के लोक संगठनों के समक्ष चर्चा के लिए प्रस्तुत किया गया। यह चर्चा दो महीने तक चली और उसमें कुछ

का भी सुझाव दिया गया। संशोधित रूप मे सविधान का प्रारूप प्रकाशित किया गया और सर्वसाधारण की चर्चा के लिए जनता में परिचालित किया गया। "अनुमानतः १५,००.००० लाख व्यक्तियों ने लगभग दो महीने तक सामान्य लोक चर्चाओ में भाग लिया।" यहां भी वही प्रक्रिया अपनाई गई जो १६३६ मे रूस मे अपनाई गई थी। इन लोक-चर्चाओं से उद्भूत सुझावो के प्रकाश में सविधान के प्रारूप मे आगे सशोधन किए गये और ६ सितम्बर, १६५४ को केन्द्रीय जनवादी सरकार परिषद् (Central People's Government Council) ने उन्हें औपचारिक रूप से स्वीकार किया। इसके पश्चात् प्रथम राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन मे २० सितम्वर, १६५४ को अन्तिम प्रारूप प्रतिवेदित किया गया। इस संविधान के अनुसरण मे ४ नवम्वर, १६५४ को नवीन सरकारी संगठन स्थापित किया गया।

अध्याय २

संविधान की विशेषताएं

(Salient Features of the Constitution)

चीन के जनवादी गणराज्य के सविधान मे सक्षेप मे उपनिवेशवाद, सामन्तवाद और पूंजीवाद के उन्मूलन के लिए चीनी लोगों द्वारा किए गए संघर्ष का इतिहास दिया गया है। लिउ शाओ ची ने जन-कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में संविधान का प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए चीन की स्थिति के बारे मे पांच मुख्य परिवर्तनों का उल्लेख किया और कहा, "प्रथम, चीन अब विदेशी साम्राज्यवाद की अधीनता मे उपनिवेश या अधीन राज्य की स्थिति मे नही है। यह वस्तुत: स्वतन्त्र राज्य हो गया है......सौ वर्षों से अधिक समय तक चीनी लोगो ने विदेशी साम्राज्यवाद की अधीनता से अपने को मुक्त करने के लिए अपूर्व त्याग किए है। उनकी आकांक्षाएं पूरी हुई हैं......सोवियत संघ और जनवादी लोकतन्त्रों के साथ-साथ चीन विश्वशान्ति का प्रबल प्रहरी हो गया है। द्वितीय, हमारे देश से युगों से चला आने वाला सामन्तवाद अब लुप्त हो गया है......तृतीय, हमारे देश मे दीर्घकालीन अराजकता की दशा समाप्त हो गई है। देश में आन्तरिक शान्ति और अभूतपूर्व एकता की स्थापना हुई है......चतुर्थ, हमारे देश में काफी हद तक ऐसी स्थिति समाप्त हो गई है जिसमें लोगों को कोई राजनैतिक शक्ति प्राप्त नही थी। इसने उच्च स्तर के लोकतन्त्र की प्राप्ति की है......और अन्त में, चीन के महान् मित्र सोवियत सघ ने, जिसके साथ इसने तीस-वर्षीय मित्रता की संधि[1] की है, साम्राज्यवादियों और क्युमिन्टाग द्वारा नष्ट की गई अर्थव्यवस्था को ठीक करने में चीन की सहायता की है।

संविधान की प्रस्तावना में लिउ शाओ ची द्वारा गिनाए गए परिवर्तनो का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। वास्तव में प्रस्तावना चीन के साम्यवादी दल के नेतृत्व मे चीनी लोगों द्वारा प्राप्त की गई सफलताओं का लिपिबद्ध इतिहास है। इसमें बताया गया कि किस प्रकार संविधान बनाया गया और स्वीकार किया गया। इसमें चीनी लोगों की क्रांति के लाभों और चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना के समय से लेकर प्राप्त की गई राजनैतिक और आर्थिक सफलताओं का भी उल्लेख किया गया है। प्रस्तावना में "सोवियत समाजवादी गणराज्यों के संघ" के प्रति गहरी कृतज्ञता प्रकट की गई और "अन्य देशों के शान्तिप्रिय लोगों के साथ अटूट मित्रता" का वचन दिया गया है। चीन के जनवादी गणराज्य के संविधान की यह अपनी विशेषता है। प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है और उसका कोई वैधानिक महत्त्व नहीं है। किन्तु फिर भी उसका महत्त्व कम नहीं है। प्रस्तावना मे दस

1. १४ फरवरी, १९५० को हस्ताक्षर किए गए।

बात की घोषणा की गई है कि सरकार का क्या निश्चय है और उसे किन आदर्शों की पूर्ति करनी है। किन्तु चीन सरकार की वास्तविक नीति ठीक इसके विपरीत है। सोवियत सघ से 'अटूट मित्रता' का उसका दावा ढोंग मात्र है और 'विश्वशान्ति तथा मानवता की प्रगति के शुभ कार्य के लिए प्रयत्न करने' की इसकी घोषणा धोखा देने के लिए आवरण मात्र है। साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी निकृष्टतम साम्राज्यवादी सिद्ध हुए हैं और 'विश्वशान्ति तथा मानवता की प्रगति' के हितैषी युद्ध-लोलुपों के रूप मे सामने आए हैं जिनके अत्याचारों के लिए इतिहास सदैव साक्षी रहेगा।

बहुराष्ट्रीय राज्य—चीन का जनवादी गणराज्य एकल बहु-राष्ट्रीय राज्य है और यह केवल सयोग की बात है कि सोवियत सघ की भांति इसमें भी लगभग साठ जातियाँ हैं। प्रस्तावना में घोषणा की गई है कि चीन की सभी जातियाँ स्वतन्त्र और समान राष्ट्रों के परिवार के रूप में संघटित हैं और इस प्रकार की एकता से चीन को "साम्राज्यवाद के विरुद्ध, जातियों के भीतर जनवादी गणराज्य के दुश्मनों के विरुद्ध, प्रबल राष्ट्र-प्रेम और स्थानीय राष्ट्रीयता के विरुद्ध" लड़ने की शक्ति मिलेगी। आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के दौरान राज्य केवल विभिन्न जातियों की आवश्यकताओं का ही ध्यान रखेगा और समाजवाद के आधार पर देश का निर्माण करने मे वह उनकी मुख्य-मुख्य विशेषताओं का पूरा ध्यान रखेगा।

सविधान के अनुच्छेद ३ में सब जातियों के लिए समानता की गारटी दी गई है। वह किसी भी जाति के विरुद्ध विभेद या अनाचार का या ऐसे कार्यों का निषेध करता है जिनसे जातियों की एकता भग होती हो। सारी जातियों को अपनी बोली जाने वाली और लिखी जाने वाली भाषाओं का प्रयोग करने और उन्हें विकसित करने तथा अपने रीति-रिवाजों को कायम रखने या सुधारने की स्वतन्त्रता है। सविधान उन सब अल्पसंख्यक जातियों के लिए भी क्षेत्रीय स्वायत्तशासन का अधिकार देता है जो सम्मिलित जातियो के रूप मे रहती है। राष्ट्रीय स्वायत्तशासी क्षेत्र चीन के जनवादी गणराज्य के अभिन्न भाग है।

जनवादी लोकतन्त्रात्मक राज्य—चीन का जनवादी गणराज्य जनवादी लोकतन्त्रीय राज्य है जिसका नेतृत्व श्रमिक वर्ग के हाथ मे है और जो श्रमिको तथा कृपकों के सहगठन पर आधारित है। इसमें जनवादी लोकतन्त्रीय अधिनायकशाही की अर्थात् जनवादी लोकतन्त्र की पद्धति की स्थापना की गई है जो इस बात की गारंटी देता है कि चीन शान्तिपूर्ण तरीके से शोषण और दरिद्रता को दूर कर सकता है और एक समृद्ध तथा सुखी समाज का निर्माण कर सकता है। अतः सविधान का उद्देश्य श्रमिकों और कृपकों को मिला कर, जो देश मे सबसे अधिक संख्या में हैं, एक नए समाज का निर्माण करना है।

समाजवाद के आधार पर समाज का निर्माण—चीन में जनवादी गणराज्य की स्थापना के साथ ही साथ समाजवाद के आधार पर समाज के निर्माण का विचार नहीं किया गया। प्रस्तावना मे बताया गया है कि "चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना से लेकर समाजवादी समाज की रचना का काल संक्रमण-काल है।" इस

अवधि में राज्य का आधारभूत कार्य "शनैः-शनैः समाजवाद के आधार पर देश का उद्योगीकरण करना तथा कृषि, दस्तकारी और पूँजीवादी उद्योग तथा वाणिज्य के क्षेत्र में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना है।" संविधान के अनुच्छेद ४ में प्रस्तावना की इस बात को दोहराया गया है कि "चीन का जनवादी गणराज्य इस बात का विश्वास दिलाता है कि वह राज्य के अंगों तथा सामाजिक शक्तियों की सहायता से तथा समाजवाद के आधार पर उद्योगीकरण करके तथा समाजवाद को अपना कर शोषण के तरीकों का धीरे-धीरे उन्मूलन करेगा और समाजवाद के आधार पर समाज का निर्माण करेगा।" राज्य के जिस तन्त्र की सहायता से धीरे-धीरे समाजवादी समाज की स्थापना की जाएगी वह समाजवाद की स्थापना पूँजीवाद के निर्मम विनाश के लिए अदम्य उत्साह से अनुप्राणित लोकतन्त्रात्मक अधिनायकशाही है। सामाजिक शक्ति लोगों को बड़े पैमाने पर इस पद्धति की शिक्षा देने से प्राप्त होगी। हिटलर ने इस तरीके से काम लिया और वही तरीका स्टालिन ने अपनाया। चीनी साम्यवादी दल भी इसे अद्‌भुत कुशलता से काम में ला रहा है। वह इस बात का सुझाव देता है कि स्कूलों, समाचार-पत्रों, अध्ययन-गोष्ठियों में तथा घर की औरतों, किसानों, व्यापारियों और बुद्धि-जीवी लोगों के संघों में किन बातों की चर्चा की जानी चाहिए।

उत्पादन के साधनों का स्वामित्व—संविधान उत्पादन के साधनों का चार प्रकार का स्वामित्व स्वीकार करता है। राज्य का स्वामित्व प्रथम प्रकार का स्वामित्व है और "यह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मुख्य शक्ति है जिसके आधार पर राज्य समाजवाद को अपनाने का काम करता है।" राज्य सरकारी क्षेत्र के लिए प्राथमिकताएँ तय करता है और सभी खनिज संसाधनों और नदियों, साथ ही वनों, अविकसित भूमि तथा अन्य साधनों का, जो विधि द्वारा राज्य के होते हैं, अधिकार प्राप्त करता है। दूसरा क्षेत्र सहकारी अर्थव्यवस्था का है। जब इस पर सामूहिक रूप से श्रमिकों का स्वामित्व होता है तो यह समाजवादी रूप धारण कर लेता है और जब इस पर श्रमिकों का अंशतः स्वामित्व होता है तो यह अर्ध-समाजवादी होता है। श्रमिकों का अंशतः सामूहिक स्वामित्व संक्रमण काल की स्थिति का द्योतक है जिसके द्वारा किसान, दस्तकार और अन्य श्रमिक व्यक्तिगत रूप से श्रमिक वर्ग के सामूहिक स्वामित्व की ओर अग्रसर होने के लिए अपने आपको संगठित करते हैं।

तीसरे प्रकार का स्वामित्व श्रमिकों का होता है। राज्य विधि अनुसार भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों का स्वामित्व प्राप्त करने के लिए कृषकों के व्यक्तिगत अधिकार की रक्षा करता है। राज्य उत्पादन बढ़ाने में प्रत्येक कृषक का मार्गदर्शन करता है और उनकी सहायता करता है और उत्पादन व संभरण और बिक्री की योजना बनाने तथा ऋणदात्री सहकारी संस्थाएँ संगठित करने के लिए उन्हें प्रोत्साहन देता है। इसी प्रकार, राज्य विधि अनुसार उत्पादन के साधनों का स्वामित्व प्राप्त करने के मामले में दस्तकारों तथा अन्य गैर-खेतिहर मजदूरों के अधिकारों की भी रक्षा करता है। वह उपक्रम में सुधार लाने के लिए भी उनका मार्गदर्शन करता है और उत्पादन, संभरण तथा हाट-व्यवस्था सम्बन्धी सहकारी संस्थाओं का संघटन करने के

लिए उन्हें प्रोत्साहन देता है। 'धनी-कृषक अर्थव्यवस्था' के प्रति राज्य की नीति है, "बन्धन लगाना और धीरे-धीरे उसे समाप्त करना।"

अन्त में पूँजीवादी स्वामित्व आता है। संविधान मे इस बात की गारण्टी दी गई है कि विधि अनुसार उत्पादन के साधनों का स्वामित्व प्राप्त करने के सम्बन्ध मे पूँजीपतियों के अधिकारो की रक्षा की जाएगी। पूँजीवादी उद्योग तथा वाणिज्य के प्रति राज्य की नीति "उनका फायदा उठाना, उन पर बन्धन लगाना तथा उन्हें समाजवादी रूप देना है।" पूँजीवादी उद्योग और वाणिज्य की जो बातें राष्ट्र के कल्याण और लोगों की जीविका की दृष्टि से लाभदायक होती हैं, उनका राज्य उपयोग करता है और जो राष्ट्र के कल्याण और लोगों की जीविका की दृष्टि से लाभदायक नहीं होती उन पर राज्य बन्धन लगाता है और धीरे-धीरे पूँजीपतियों के स्थान पर समस्त जनता को स्वामित्व प्रदान करके वह राज्य अधिकृत पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अनुरूप उसके रूपान्तरण के लिए प्रोत्साहन देता है और मार्गदर्शन करता है। ऐसा वह राज्य के प्रशासनिक अंगों द्वारा नियन्त्रण करके, "अर्थव्यवस्था के सरकारी क्षेत्र द्वारा नेतृत्व प्रदान करके और श्रमिकों के हाथों मे निगरानी का काम देकर करता है।"[1] राज्य पूँजीपतियों को ऐसी गैर-कानूनी कार्यवाहियों से रोकता है जिससे लोकहित को आघात पहुँचता हो, सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था मे विघ्न पड़ता हो अथवा राज्य की आर्थिक योजना को धक्का पहुँचता हो।

सम्पत्ति का अधिकार—उपर्युक्त उत्पादन के साधनों के विभिन्न प्रकार के स्वामित्व से निजी सम्पत्ति का अधिकार स्वयसिद्ध है। राज्य कानूनी तौर से अर्जित आय, बचत, मकान तथा जीवन के अन्य साधनों को रखने के नागरिको के अधिकार की रक्षा करता है।[2] वह इस बात की भी गारण्टी देता है कि नागरिकों को विधि अनुसार गैर-सरकारी सम्पत्ति को उत्तराधिकार मे प्राप्त करने का अधिकार है।[3] तथापि राज्य विधि के उपबन्धों के अनुसार नगरों और देहातों में भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनो को सार्वजनिक हित के लिए खरीद सकता है, माँग सकता है अथवा उनका राष्ट्रीयकरण कर सकता है।[4] राज्य किसी भी व्यक्ति को अपनी निजी सम्पत्ति को ऐसे काम में आने से रोकता है जो लोकहित के विरोधी हो।[5]

सुयोजित अर्थव्यवस्था—धीरे-धीरे समाजवाद के आधार पर समाज की रचना करने के लिए योजनाएँ बनाना बहुत आवश्यक है और सविधान में इसका महत्त्व बताया गया है। अनुच्छेद १५ मे बताया गया है कि आर्थिक नियोजन द्वारा राज्य राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को ऐसा रूप प्रदान करता है जिससे उत्पादन-शक्तियों मे निरन्तर वृद्धि होती है और "इस प्रकार लोगों का भौतिक और सांस्कृतिक जीवन

1. अनुच्छेद १०।
2. अनुच्छेद ११।
3. अनुच्छेद १२।
4. अनुच्छेद १३।
5. अनुच्छेद १४।

समृद्ध होता है और देश की एकता व सुरक्षा दृढ़ होती है।" प्रथम पंचवर्षीय योजना १९५७ में समाप्त हुई और दूसरी १९६२ में समाप्त हुई। प्रथम योजना के लक्ष्य मुख्यतः औद्योगिक विस्तार से सम्बन्धित थे। औद्योगिक क्षेत्र में जो प्रगति हुई उसके आँकड़े बड़े प्रभावोत्पादक है और चीन की शक्ति के द्योतक हैं जिसका उपयोग वह अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कर रहा है। दूसरी योजना का उद्देश्य मुख्य रूप से कृषि सम्बन्धी उत्पादन बढ़ाना था और उसका एक लक्ष्य ह्वाग हो नदी को नियंत्रित करना था जिससे वह बाढ़ के पानी से खेतो को न भर सके और सिंचाई के काम आ सके।

श्रम का महत्त्व—सोवियत संविधान की भांति चीन में भी श्रम को पवित्र स्थान दिया गया है। संविधान मे यह निर्धारित किया गया है कि श्रम प्रत्येक समर्थ नागरिक के लिए सम्मान की वस्तु है और वह इस बात की गारंटी देता है कि आर्थिक विकास के द्वारा धीरे-धीरे लोगों को अधिक रोजगार दिया जायेगा, काम की दशाओं मे सुधार किया जायेगा तथा मजदूरी बढ़ाई जायेगी जिससे सब काम करने के अधिकार का लाभ उठा सकें। राज्य नागरिकों को अपने कार्य मे सक्रिय और सृजनात्मक भाग लेने के लिए भी प्रोत्साहन देता है।

मूलभूत अधिकार और कर्त्तव्य—सोवियत संविधान की भांति चीन के जनवादी गणराज्य के संविधान मे भी नागरिकों के मूलभूत अधिकारों और कर्त्तव्यों के बारे में एक पृथक् अध्याय है। किन्तु चीनी संविधान सोवियत संविधान से एक बात में भिन्न है। उसमें राजनैतिक और नागरिक अधिकारों को प्राथमिकता दी गई है। काम करने, विश्राम करने और अवकाश पाने तथा वृद्धावस्था और बीमारी या असमर्थता की अवस्था में आर्थिक सहायता प्राप्त करने के अधिकार उसमे है तो किन्तु उन्हें उतना प्रमुख स्थान नही दिया गया है। संविधान मे निर्धारित नागरिकों के कर्त्तव्य न्यूनाधिक वही हैं जो सोवियत संविधान मे निर्धारित किए गए हैं। सैनिक सेवा करना और अपने देश की रक्षा करना, संविधान का पालन करना, सार्वजनिक सम्पत्ति का आदर करना तथा उसकी सुरक्षा करना, काम के समय अनुशासन रखना, शान्ति और व्यवस्था रखना और समाज के नैतिक नियमों का पालन करना नागरिकों का पवित्र कर्त्तव्य है।

शक्ति जनता में निहित—गणराज्य की सारी शक्ति जनता में निहित है और उसका प्रयोग वह राष्ट्रीय जन-कांग्रेस और स्थानीय जन-कांग्रेसों (National People's Congress and Local People's Congress) के जरिये करती है। ये और राज्य के अन्य अंग लोकतन्त्रीय केन्द्रीय शासन के सिद्धान्त को व्यवहार मे लाते हैं। संविधान में यह भी उपबन्ध किया गया है कि राज्य के सभी अगों को लोगों के सहयोग से काम करना चाहिए, उनके साथ बराबर सम्पर्क बनाए रखना चाहिए, उनकी राय को सुनना चाहिए और उनकी निगरानी को स्वीकार करना चाहिए। किन्तु अनुच्छेद के अनुसार लोकतन्त्रीय केन्द्रीय शासन का सिद्धान्त इस बात से कहाँ तक मेल खाता है कि राज्य के सभी अगों को लोगो के सहयोग से काम करना चाहिए, इसका समा-

धान अनुच्छेद १९ में किया गया है। उसमें बताया गया है कि चीन का जनवादी गणतन्त्र जनवादी लोकतन्त्रीय प्रणाली की रक्षा करता है, सभी षड्यन्त्रकारी और क्रांति-विरोधी गतिविधियों का दमन करता है, और सभी देशद्रोहियों तथा क्रांति-विरोधियों को दण्ड देता है। कोई भी नीति अपनाये जाने के बाद उसके प्रति पूर्ण निष्ठा लोकतन्त्रीय केन्द्रीय शासन की प्रथम आवश्यकता है और दल द्वारा निर्धारित नीति से जरा-सा भी इधर-उधर जाना क्रान्ति-विरोधी कार्य है और जो ऐसा करने का साहस करता है, वह देशद्रोही है। संविधान का उद्देश्य है कि ऐसे व्यक्ति का निर्ममता से दमन किया जाये।

राज्य का सर्वोच्च शक्तिशाली अंग—राष्ट्रीय जन कांग्रेस (National People's Congress) राज्य का सर्वोच्च अंग है। देश में एकमात्र यही विधान सभा है। इसमें चार वर्ष की अवधि के लिए प्रान्तों, स्वायत्तशासी प्रदेशों, केन्द्रशासित म्यूनिसिपलटियों, सशस्त्र बलों और दूसरे देशों में रहने वाले चीनियों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होते है। राष्ट्रीय जन कांग्रेस एकसदनीय विधानमंडल है और इस मामले मे वह सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत से भिन्न है जो द्विसदनात्मक है। चीन के समान रूस बहुराष्ट्रीय राज्य है और वहाँ जातीय-सोवियत (Soviet of Nationalities) जो कि दूसरा सदन है, विशेषकर इसीलिए बनाया गया है ताकि दूसरी जातियों के विशेष प्रकार के आर्थिक तथा सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए विशेष प्रतिनिधित्व मिल सके।

सामूहिक कार्यपालिका—चीन के जनवादी गणराज्य में राष्ट्र के प्रधान की कार्यपालिका सत्ता राष्ट्रीय जन कांग्रेस की स्थायी समिति तथा चीन गणराज्य के चेयरमैन मे, जो चार वर्ष के लिये राष्ट्रीय जन कांग्रेस के द्वारा निर्वाचित होता है, निहित है। दोनों ही मिल कर राष्ट्र के प्रधान के कर्त्तव्यों का तथा शक्तियों का प्रयोग करते हैं। लिउ शाओ ची ने संविधान के प्रारूप पर प्रथम राष्ट्रीय जन कांग्रेस को प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए कहा था, "हमारे राष्ट्र का प्रधान सामूहिक है। न तो स्थायी समिति के पास ही और न गणराज्य के चेयरमैन के पास ही राष्ट्रीय जन कांग्रेस से बढ़ कर शक्तियाँ है।"

न्यायपालिका और प्रोक्यूरेटर-जनरल (Judiciary and the Procurator-General)—चीन में तीन प्रकार के न्यायालय है, सर्वोच्च जन न्यायालय (Supreme People's Court), स्थानीय जन न्यायालय (Local People's Court) और विशेष जन न्यायालय (Special People's Court)। न्यायाधीश चार वर्ष के लिए चुने जाते हैं। चीन की न्याय-पद्धति इस प्रकार की है जिससे जल्दी और कम खर्च मे न्याय हो सके। न्यायालय की कार्यवाही अल्पसंख्यकों की अपनी-अपनी भाषा मे होती है। मुख्य प्रोक्यूरेटर (Chief Procurator) सम्पूर्ण देश में राज्य परिषद् (State Council) के सभी विभागों, राज्य के सभी स्थानीय अंगों, व्यक्तियों और नागरिकों पर दण्ड सम्बन्धी अधिकार का प्रयोग करता है और कानून की रक्षा करता है।

प्रशासनिक एकक के विभिन्न स्तरों पर स्थानीय प्रोक्यूरेटर होते है जो मुख्य प्रोक्यूरेटर के निर्देशन और नियंत्रण मे कार्य करते हैं।

सविधान में संशोधन—राष्ट्रीय जन कांग्रेस द्वारा सब प्रतिनिधियों (deputies) के दो तिहाई बहुमत प्राप्त होने से सविधान में संशोधन किया जा सकता है। प्रक्रिया वही है जो रूस मे विद्यमान है परन्तु अन्तर यही है कि रूस में दोनों सदनों मे दो तिहाई बहुमत प्राप्त होने चाहिएँ।

राजनैतिक शरण—चीन के जनवादी गणराज्य मे प्रत्येक ऐसे विदेशी राष्ट्रजन को शरण पाने का अधिकार है जिसे उचित कार्य का समर्थन करने, शान्ति आन्दोलन में भाग लेने अथवा वैज्ञानिक कार्य करने से रोका जाये। इसका अर्थ यह है कि चीन भी रूस की भांति प्रख्यात क्रांतिकारियों का शरण-स्थान है।

मूलभूत अधिकार और कर्त्तव्य

चीन के जनवादी गणराज्य के संविधान मे मूलभूत अधिकारों और कर्त्तव्यों के बारे मे एक पृथक् अध्याय है। यह अध्याय सोवियत सविधान की भांति प्रशासनिक ढांचे के वर्णन के बाद रखा गया है किन्तु सोवियत सविधान से भिन्न उसका आरम्भ मताधिकार और अन्य नागरिक अधिकारों से किया गया है। आर्थिक अधिकारों को दूसरा स्थान दिया गया है। सोवियत संविधान मे स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि सोवियत संघ के नागरिक अधिकार "श्रमिक वर्ग के हितों के अनुरूप और समाजवादी व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए"[1] होने चाहिएँ। चीन के जनवादी गणराज्य के सविधान मे ऐसा नही कहा गया है। किन्तु उसमें भाषण देने की स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता और सभा करने की स्वतन्त्रता रखी गई है ताकि श्रमिक वर्गों के हितों की रक्षा हो सके। साथ ही यह भी उपबन्ध कर दिया गया है कि इन सब अधिकारों का प्रयोग इस प्रकार किया जाना चाहिए जो समाजवादी व्यवस्था के अनुकूल हो। इसके विपरीत करना क्रान्ति-विरोधी और देशद्रोही कार्य माना जायेगा जिसका सविधान के अनुसार दमन किया जाना बहुत आवश्यक होगा।[2]

राजनैतिक अधिकार—१८ वर्ष की आयु वाले चीनी गणराज्य के प्रत्येक नागरिक को मत देने और निर्वाचन में खड़े होने का अधिकार है, चाहे वह किसी भी जाति, वर्ग या लिंग का हो, कोई भी पेशा करता हो, किसी भी धर्म को मानता हो, कितना ही पढ़ा-लिखा हो, कितनी ही सम्पत्ति हो, समाज में उसका कोई-सा भी स्थान हो और कितने ही समय से चीन मे रहता हो। केवल पागल व्यक्तियों और कानून द्वारा वंचित लोगों को ही मत देने और निर्वाचन मे खड़े होने का अधिकार नही है। अनुच्छेद १६ के अनुसार सामन्तशाही जमीदारों और नौकरशाही-पूँजीपतियों को कुछ समय के लिए राजनैतिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया है। मत देने और चुनाव मे खड़े होने के मामले मे स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त हैं।

1. अनुच्छेद १२५।
2. अनुच्छेद १६।

पाँच स्वतन्त्रताएँ—प्रत्येक नागरिक को भाषण की स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता, सभा करने की स्वतन्त्रता, संघ बनाने की स्वतन्त्रता, जुलूस निकालने की स्वतन्त्रता और प्रदर्शन करने की स्वतन्त्रता है। राज्य नागरिकों को आवश्यक भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध कराता है ताकि वे इन स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकें। चीन के जनवादी गणराज्य का उद्देश्य जनवादी लोकतन्त्रीय पद्धति की रक्षा करना, देश-द्रोह सम्बन्धी और क्रांतिविरोधी सभी गतिविधियों का दमन करना और सभी देश-द्रोहियो और क्रांति-विरोधियो को दण्ड देना है। ऐसी अवस्था मे उपर्युक्त पाँचों स्वतन्त्रताओं का उपभोग इस सघ में होना चाहिए जिससे श्रमिक वर्ग के हितों को कोई आघात न पहुँचे और समाजवादी व्यवस्था सुदृढ़ हो। चीन मे स्थापित लोक-तन्त्रीय पद्धति का उद्देश्य पूँजीवाद का उन्मूलन करना और समाजवाद का निर्माण करना है। अत. सरकार इन अधिकारों का लाभ उठाने के लिए केवल उन व्यक्तियों, समूहों तथा संघों को ही आवश्यक भौतिक सुविधाएँ प्रदान करेगी जो समाजवाद का पक्ष लेते है और उसका समर्थन करते हैं। समाजवाद के विरोधियों को आवश्यक भौतिक सुविधाएँ नही दी जायेगी। वस्तुतः उनका दमन देशद्रोहियों और क्रांति-विरोधियों की तरह ही किया जायेगा।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता—व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नही किया जा सकता। जन न्यायालय (People's Court) के निर्णय या पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट (People's procuratorate) की स्वीकृति के बिना किसी नागरिक को गिरफ्तार नही किया जा सकता। नागरिकों के घरो पर कोई धावा नहीं कर सकता और पत्र-व्यवहार को गोपनीय रखा जा सकता है। ये उपबन्ध सोवियत संविधान के अनुच्छेद १२६ और १२८ के उपबन्धो से मिलते-जुलते है। यहाँ तक कि भाषा भी लगभग एक-सी है। रूस को देखकर हम चीन के बारे में भी यह पता लगा सकते है कि वहाँ लोग इन स्वतन्त्रताओं का लाभ कहाँ तक उठा पा रहे हैं। चीन मे सर्वत्र गुप्त पुलिस का राज्य और राज्य के सभी विभागों तथा नागरिकों के घरों पर प्रोक्यूरेटर (Procurator) की कड़ी निगरानी है। ऐसी अवस्था में ऐसा कोई स्थान नही रहता जहाँ हस्तक्षेप न किया जा सके। अनुच्छेद ९० के अनुसार चीन के जनवादी गणराज्य के नागरिकों को निवास-स्थान की तथा उसको बदलने की स्वतन्त्रता है।

धार्मिक स्वतन्त्रता—नागरिकों को धार्मिक स्वतन्त्रता है। इसके विपरीत सोवियत सघ के अनुच्छेद १२४ मे यह उपबन्ध किया गया हैं कि "नागरिकों को अपनी आत्मा के मुताबिक चलने की स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए सोवियत संघ में चर्च को राज्य से और स्कूल को चर्च से पृथक् रखा गया है।" धार्मिक उपासना की स्वतन्त्रता, उपासना और धर्म-विरोधी प्रचार की स्वतन्त्रता भी सब नागरिकों को स्वीकार की गई है। इस बात के प्रमाण मिले हैं कि चीन मे धार्मिक स्वतन्त्रता पर किसी प्रकार का कोई बन्धन नही लगाया जाता।

शिक्षा और वैज्ञानिक अनुसंधान का अधिकार—नागरिकों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। इसकी सुविधा प्रदान करने के लिए सरकार कई प्रकार के

स्कूल तथा अन्य सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी संस्थाएँ स्थापित करती है। राज्य नवयुवकों के शारीरिक और मानसिक विकास की ओर विशेष ध्यान देता है। राज्य वैज्ञानिक अनुसंधान, साहित्यिक और कलात्मक तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यों को करने की नागरिकों की स्वतन्त्रता की भी रक्षा करता है। राज्य शिक्षा, साहित्य और कला के क्षेत्रों में सृजनात्मक कार्य करने तथा अन्य क्रियात्मक कार्य करने के लिए भी नागरिकों को प्रोत्साहन देता है तथा उनकी सहायता करता है।

स्त्रियों को समता का अधिकार—चीन के जनवादी गणराज्य में स्त्रियों को राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और घरेलू जीवन में पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त है। राज्य उनके विवाहित जीवन, परिवार और माता तथा बच्चों की रक्षा करता है। राज्य की ओर से अविवाहित माताओं के संरक्षण के लिए चीन के संविधान में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जैसा कि रूस के संविधान के अनुच्छेद १२२ में है।

काम करने, विश्राम करने तथा अवकाश प्राप्त करने का अधिकार—सभी नागरिकों को काम करने का अधिकार है। आर्थिक विकास की योजना इस प्रकार बनाई जाती है जिससे धीरे-धीरे लोगों को अधिक रोजगार मिल सके और उनके काम करने की दशाएँ अच्छी हो सकें तथा उनकी मजदूरी बढ़ सके। श्रमिकों को आराम करने और अवकाश प्राप्त करने का भी अधिकार है। इस दृष्टि से राज्य श्रमिकों तथा कार्यालयों के कर्मचारियों के लिए घंटे और छुट्टियाँ निर्धारित करता है। साथ ही, राज्य श्रमिकों को भौतिक सुविधाएँ भी प्रदान करता है ताकि वे आराम कर सकें और अपना स्वास्थ्य बना सकें।

भौतिक सहायता प्राप्त करने का अधिकार—श्रमिकों को वृद्धावस्था और बीमारी या असमर्थ हो जाने की अवस्था में भौतिक सहायता प्राप्त करने का अधिकार है। तदनुसार राज्य सामाजिक बीमे, सामाजिक सहायता और सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था करता है और धीरे-धीरे इन सुविधाओं में वृद्धि करता है जिससे लोग इस अधिकार का अधिक से अधिक लाभ उठा सकें।

प्रतिकर प्राप्त करने का अधिकार—नागरिकों का यह अधिकार है कि यदि राज्य के किसी विभाग में काम करने वाला कोई व्यक्ति कानून तोड़ता है या कर्तव्य से विमुख होता है तो वे उसके विरुद्ध राज्य के किसी भी विभाग में किसी भी स्तर पर लिख कर या मौखिक रूप से शिकायत कर सकते हैं। यदि राज्य के किसी भी विभाग में काम करने वाले किसी भी व्यक्ति के कार्य से लोगों के अधिकार का हनन होता हो, तो उन्हें उसका प्रतिकर पाने का अधिकार है।

शरण पाने का अधिकार—चीन का जनवादी गणराज्य विदेशों में रहने वाले चीनियों के उचित अधिकारों और हितों की रक्षा करता है। यदि किसी विदेशी राष्ट्र-जन को एक न्यायपूर्ण कार्य का समर्थन करने, शान्ति आन्दोलन में भाग लेने या वैज्ञानिक कार्य करने से रोका जाता है तो उसे शरण पाने का अधिकार भी दिया गया है।

आधारभूत कर्त्तव्य—सोवियत संविधान की भाँति चीन के जनवादी गणराज्य का संविधान नागरिकों के लिए कुछ कर्त्तव्य भी निर्धारित करता है। इन सब कर्त्तव्यों के लिए सांविधानिक स्वीकृति मिली हुई है और राज्य का यह उत्तरदायित्व है कि वह नागरिकों से इन कर्त्तव्यों का पालन कराये। पहला कर्त्तव्य यह है कि सभी नागरिक संविधान और कानून के अनुसार चलें, काम के समय अनुशासन रखें, व्यवस्था रखें और सभा के नैतिक नियमों का पालन करें। सार्वजनिक सम्पत्ति की सबको रक्षा करनी चाहिए और उसे किसी प्रकार की कोई हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करना और उसका आदर करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। सबको कानून के अनुसार कर देना चाहिए। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह स्वदेश की रक्षा करे। साथ ही उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह कानून के मुताबिक सैनिक सेवा करे।

अध्याय ३

राज्य का ढाँचा

(Structure of the State)

राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस

(National People's Congress)

राज्य का सर्वोच्च अंग—सोवियत संघ के सुप्रीम सोवियत की भांति राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस राज्य की सर्वोच्च अंग है और देश की एकमात्र विधान सभा है। इसके कृत्य विविध रूपी हैं। इसको सांविधानिक, वैधानिक, कार्यकारिणी, निर्वाचन सम्बन्धी तथा न्याय सम्बन्धी सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। राष्ट्रीय कांग्रेस संविधान में संशोधन करती है, संविधान को लागू करती है, कानून बनाती है, राज्य के विभिन्न अधिकारियों का चुनाव करती है और हटाती है, युद्ध और शान्ति के प्रश्नों को तय करती है, आय-व्यय की जाँच करती है और अनुमोदन करती है, प्रान्तों की स्थिति और उनकी सीमाओं में फेर-बदल के लिए स्वीकृति देती है और वे सभी काम कर सकती है जो वह आवश्यक समझे। इसका मतलब यह है कि कांग्रेस सभी शक्तियों व अधिकारों की स्रोत है।

रचना और संगठन—राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस एक-सदनीय विधानमण्डल है। इसमें प्रान्तों, स्वायत्तशासी क्षेत्रों, केन्द्र-शासित म्यूनिसिपलटियों, सशस्त्र बलों तथा विदेश स्थित चीनी लोगों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि (Deputies) होते हैं। १८ वर्ष की आयु वाले प्रत्येक नागरिक को मत देने और निर्वाचन में खड़े होने का अधिकार है, चाहे वह किसी जाति, वर्ण या लिंग का हो, कोई भी पेशा करता हो, समाज में उसका कोई-सा भी स्थान हो, वह कितने ही समय से चीन में रह रहा हो, किसी भी धर्म को मानने वाला हो, कितना ही पढ़ा-लिखा हो तथा उसके पास कितनी ही सम्पत्ति हो। केवल पागल व्यक्तियों तथा कानून द्वारा वंचित लोगों को ही मत देने तथा निर्वाचन में खड़े होने का अधिकार नहीं है। अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधियों को मिलाकर सारे प्रतिनिधियों की संख्या और उनके निर्वाचन का ढंग निर्वाचन विधि द्वारा निर्धारित किया जाता है। इनकी पदावधि चार वर्ष है। संविधान में की गई व्यवस्था के अनुसार पदावधि समाप्त होने के दो मास पूर्व कांग्रेस भंग हो जानी चाहिए और उसकी स्थायी समिति को अगला निर्वाचन कर लेना चाहिए। यदि किन्हीं असाधारण परिस्थितियों के कारण नया निर्वाचन न हो सके तो वर्तमान सदस्यों की पदावधि अगली राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के प्रथम सेशन तक बढ़ाई जा सकती है।

कांग्रेस की बैठक उसकी स्थायी समिति द्वारा वर्ष में एक बार बुलाई जाती है। किन्तु स्थायी समिति या प्रतिनिधियों की कुल संख्या के पाँचवें भाग के बराबर सदस्यों के प्रस्ताव पर उसे कभी भी बुलाया जा सकता है। जब राष्ट्रीय जन कांग्रेस की बैठक होती है तो वह अपनी बैठकों के संचालन के लिए एक प्रेसीडियम (Presidium) चुनती है। कांग्रेस जातियों सम्बन्धी समिति (Nationalities Committee), विधेयक समिति, आय-व्ययक समिति, प्रमाणीकरण समिति (Credential Committee) तथा अन्य आवश्यक समितियाँ स्थापित करती है। अन्तराल-काल में जातियों सम्बन्धी समिति और विधेयक समिति, स्थायी समिति के निर्देशन में काम करती है। कानून तथा विधेयक मतदान करने वाले प्रतिनिधियों के साधारण बहुमत से पारित किये जाते हैं। किसी भी प्रतिनिधि को कांग्रेस की अथवा जब अधिवेशन न चल रहा हो तो उसकी स्थायी समिति की अनुमति के बिना गिरफ्तार नहीं किया जा सकता और न उस पर अभियोग चलाया जा सकता है। प्रतिनिधि अपने निर्वाचन एककों (Electoral Units) के प्रति उत्तरदायी होते हैं। ये एकक कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार प्रतिनिधियों को किसी भी समय हटा सकते हैं और उनके स्थान पर नये सदस्य चुन सकते हैं। राष्ट्रीय जन कांग्रेस की बैठकें सार्वजनिक होती हैं पर आवश्यकता पड़ने पर और जब कांग्रेस ऐसा निश्चय करे तो बैठकें गुप्त भी होती हैं। प्रतिनिधियों (Deputies) को राज्य परिषद् (State Council) मन्त्रालयों (Ministries) तथा राज्य परिषद् के आयोगों (Commissions of the State Council) से प्रश्न पूछने का अधिकार प्राप्त है और उपर्युक्त सब संस्थाएँ प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य हैं। स्थायी समिति के लिए भी राष्ट्रीय जन कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन पर अपने कार्य के विषय में प्रतिवेदन प्रस्तुत करना आवश्यक है।

कृत्य और शक्तियाँ—संविधान में गिनाये गये कृत्यों में से राष्ट्रीय जन कांग्रेस का पहला काम संविधान में संशोधन करना है। यद्यपि यह लिखित संविधान है किन्तु फिर भी उसमें संशोधन करने की प्रक्रिया बहुत सरल है। संशोधनों के लिए कुल प्रतिनिधियों के केवल दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है। कांग्रेस देश की एकमात्र विधान सभा है। विधियों तथा अन्य विधेयकों के लिए प्रतिनिधियों के साधारण बहुमत की आवश्यकता होती है। कांग्रेस संविधान को लागू करती है और यह देखती है कि कहीं उसके निर्णयों का उल्लंघन तो नहीं हुआ है। वह ऐसे सभी निर्णयों को रद्द करती है जो संविधान के विरुद्ध हों। संविधान और कानून के अनुसार चलना प्रत्येक नागरिक का मूलभूत कर्त्तव्य है।

कांग्रेस चीन के जनवादी गणराज्य के सभापति (Chairman) तथा उपसभापति (Vice Chairman) का निर्वाचन करती है, गणराज्य के सभापति की सिफारिश पर राज्य परिषद् के प्रधान मन्त्री का और प्रधान मन्त्री की सिफारिश पर राज्य परिषद् के अन्य सदस्यों का चयन करती है। वह गणराज्य के सभापति की सिफारिश पर उपसभापति तथा राष्ट्रीय रक्षा परिषद् के अन्य सदस्यों का भी चयन करती है, सर्वोच्च जन न्यायालय के अध्यक्ष (President) और सुप्रीम

पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट (Supreme People's Procuratorate) के मुख्य प्रोक्यूरेटर का निर्वाचन करती है। उसे चीन के जनवादी गणराज्य के सभापति और उप-सभापति को, राज्य परिषद् के प्रधान मन्त्री, उपप्रधानमन्त्रियो, मन्त्रियो, आयोगो के अध्यक्षो तथा महासचिव को, राष्ट्रीय रक्षा परिषद् के उपसभापति तथा अन्य सदस्यों को, सर्वोच्च जन न्यायालय के अध्यक्ष और मुख्य प्रोक्योरेटर को भी पद से हटाने का अधिकार है।

कांग्रेस राज्य के आय-व्ययक और वित्तीय प्रतिवेदन के लिए स्वीकृति देती है और राष्ट्र की आर्थिक योजनाओं के बारे मे निर्णय करती है। यह प्रान्तो, स्वायत्त-शासी प्रदेशों तथा केन्द्रशासित म्यूनिसिपलटियो की स्थिति व सीमाओ मे फेर-दल के लिए स्वीकृति देती है। यह युद्ध व शान्ति के प्रश्न तय करती है, और वे सभी काम कर सकती है जिन्हे कांग्रेस आवश्यक समझे। इस उपबन्ध से यह सिद्ध है कि कांग्रेस सर्वशक्ति सम्पन्न है और चीन के गणराज्य का सर्वोच्च अंग है।

कांग्रेस अपनी एक स्थायी समिति चुनती है। यह राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की स्थायी रूप से काम करने वाली समिति है। स्थायी समिति अपने कार्यों के लिए कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी है और उसको अपनी रिपोर्ट देती है। कांग्रेस को अपनी स्थायी समिति के सदस्यो को वापस बुलाने का अधिकार है। राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस और जब अधिवेशन न चल रहा हो तो उसकी स्थायी समिति आवश्यकता पड़ने पर विशिष्ट मामलों की जांच करने के लिए जांच आयोग नियुक्त कर सकती है। राज्य के सभी अंगो, जनवादी संगठनों और सम्बन्धित नागरिकों के लिए यह जरूरी है कि जब आयोग जांच कर रहे हों तो वे उन्हे आवश्यक जानकारी उपलब्ध कराएँ। अन्त मे, कांग्रेस राजनैतिक अपराधियों के क्षमादान के प्रश्नों को भी तय करती है।

इस प्रकार राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त को नहीं मानती है। राज्य के सभी कार्यक्षेत्रो पर इसका अधिकार है। यह राज्य के अध्यक्ष अर्थात् गणराज्य के सभापति और साथ ही प्रधान मन्त्री और विभिन्न मन्त्रियों की नियुक्ति करती है तथा उन्हे पद से हटाती है।। सर्वोच्च जन न्यायालय के अध्यक्ष और मुख्य प्रोक्यूरेटर को भी वह नियुक्त करती व हटाती है। राष्ट्रीय रक्षा परिषद् भी उसकी बनाई हुई है और जब तक कांग्रेस चाहती है, तब तक वह बनी रहती है। इन सब बातों के अलावा कांग्रेस संविधान में भी संशोधन करती है और संविधान को लागू करती है।

विधायी प्रक्रिया (Legislative Procedure)—विधेयक, चीन-जनवादी गणराज्य के सभापति (Chairman), उप-सभापति (Vice Chairman), राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधियो, प्रेज़ीडियम, कांग्रेस की स्थायी समिति तथा कई अन्य समितियों और राज्य परिषद् द्वारा राष्ट्रीय-जन-कांग्रेस के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि सोवियत रूस की तरह चीन में भी सार्वजनिक विधेयक तथा प्राइवेट विधेयक में कोई अन्तर नही है और यह भी आवश्यक नहीं कि केवल सरकारी अंगों द्वारा ही विधेयक प्रस्तुत किया जाए। चीन में यह भी आवश्यक नहीं कि विधेयक

सब वाचनों (Readings) और सब अवस्थाओं को पार करे।

काग्रेस के सम्मुख प्रस्तुत विधेयक विचार-विमर्श के लिए प्रेजीडियम द्वारा कांग्रेस के अधिवेशन में रखे जाते हैं अथवा समितियों द्वारा विचार किये जाने के बाद कांग्रेस के किसी अधिवेशन में प्रस्तुत किए जाते हैं। विचार-विमर्श के तुरन्त बाद ही मतदान होता है क्योकि राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन संक्षिप्त और वह भी साधारणतया वर्ष मे एक बार ही होता है। विधेयक गुप्त मतदान द्वारा अथवा हाथों को खड़ा करके पारित होते हैं। कांग्रेस द्वारा पारित विधियां सभापति द्वारा प्रख्यापित होती हैं। उसके पास ऐसी विधियों के ऊपर निषेधाधिकार को प्रयोग करने का अधिकार नही है।

स्थायी समिति

स्थायी समिति सोवियत संघ के प्रेजीडियम से मिलती-जुलती है। इसके लिए जो अधिकार मिले हुए हैं, उसके मुताबिक वह राज्य का सर्वोच्च कार्यकारिणी अंग है। यह राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की ओर से जिसकी बैठक वर्ष में एक बार थोड़े समय के लिए होती है, स्थायी रूप से कार्य करती है। यह जो काम करती है उनमे से बहुत से कार्यपालिका सम्बन्धी हैं और राज्य के कार्यपालिका विभाग के अध्यक्ष द्वारा या उसके नाम मे किए जाते है।

स्थायी समिति की रचना—सविधान के अनुच्छेद ३० में स्थायी समिति की स्थिति के बारे में उपबन्ध किया गया है और अनुच्छेद ३१ में उसके कृत्य और अधिकार गिनाये गए है। यह राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की स्थायी कार्यकारिणी सस्था है। इसमें सभापति, उपसभापति, महासचिव और अन्य सदस्य होते हैं। यह सोवियत संघ के प्रेजीडियम के समान एक बहुसंख्यक निकाय है परन्तु इसमें सदस्यों की संख्या सम्भवतः उससे दुगनी है—६५ से अधिक। ये सभी कांग्रेस द्वारा चुने जाते हैं और उसके द्वारा ही वापस बुलाये जा सकते हैं। समिति कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी होती है और उसके लिए ही अपनी रिपोर्ट देती है।

स्थायी समिति की सभाएं मास में दो बार होती हैं और सभापति द्वारा बुलाई जाती हैं। आवश्यकतानुसार सभाएं घटाई-बढ़ाई जा सकती हैं। सभापति के बहुत समय तक अस्वस्थ रहने पर उपसभापतियों में से एक सभापति का कार्य करने के लिए चुन लिया जाता है। वह तब तक कार्य करता है जब तक नया सभापति नहीं चुन लिया जाता। महासचिव (Secretary General) के निदेशन में स्थायी समिति का कार्यालय कार्य करता है।

कृत्य और अधिकार—स्थायी समिति राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के सदस्यों के निर्वाचन का संचालन करती है। पदावधि समाप्त होने के दो महीने पूर्व राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस भंग हो जाती है। उस बीच स्थायी समिति को अगली कांग्रेस के सदस्यों का निर्वाचन पूरा कर लेना चाहिए। यदि असाधारण परिस्थितियों के उपस्थित होने से निर्वाचन न होने पाये तो वर्तमान सदस्यों की पदावधि अगली कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन तक बढ़ाई जा सकती है। स्थायी समिति वर्ष में एक बार कांग्रेस

की बैठक बुलाती है। स्थायी समिति के आवश्यक समझने पर या प्रतिनिधियों की कुल संख्या के पाँचवें भाग के बराबर प्रतिनिधियों के प्रस्ताव करने पर कांग्रेस की बैठक कभी भी बुलाई जा सकती है। जब कांग्रेस का अधिवेशन न चल रहा हो तो जातियों सम्बन्धी समिति और विधेयक समिति स्थायी समिति के निर्देशन में कार्य करती हैं। ऐसी अवस्था मे स्थायी समिति विशिष्ट मामलों की जाँच के लिए जाँच आयोग भी नियुक्त कर सकती है। अतः सत्र-काल में स्थायी समिति की स्वीकृति के बिना कोई भी गिरफ्तार नही किया जा सकता है और न उस पर अभियोग चलाया जा सकता है।

स्थायी समिति विधियों की व्याख्या करती है और आज्ञप्तियाँ जारी करती है। यह राज्य परिषद्, सर्वोच्च जन न्यायालय और सुप्रीम पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट (Supreme People's Procuratorate) के काम की देख-भाल करती है। यह संविधान, विधियों तथा आज्ञप्तियों का उल्लघन करने वाले राज्य-परिषद् के निर्णयों और आदेशों को रद्द करती है। यह प्रान्तों, स्वायत्तशासी प्रदेशो और केन्द्रशासित म्यूनिसिपलटियों के सरकारी अधिकारियों द्वारा जारी किये गये अनुचित निर्णयो को रद्द करती है अथवा उनमें संशोधन करती है। जब राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस का अधिवेशन न चल रहा हो, तो समिति देश पर सशस्त्र आक्रमण होने पर युद्ध की स्थिति की घोषणा करने अथवा आक्रमण के विरुद्ध सयुक्त सुरक्षा सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय सधि के दायित्व को पूरा करने के बारे मे निर्णय करती है। वह सेना को पूरी तरह से या आंशिक रूप से युद्ध के काम मे प्रवृत्त करने के बारे मे या सम्पूर्ण देश में अथवा कुछ क्षेत्रों में फौजी कानून लागू करने के बारे में भी निर्णय करती है।

जब राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस का अधिवेशन नहीं चल रहा हो तो समिति किसी भी उप-प्रधान मन्त्री, मन्त्री, आयोग के अध्यक्ष या राज्य-परिषद् के महासचिव को नियुक्त कर सकती है अथवा हटा सकती है। यह सर्वोच्च जनवादी न्यायालय की न्यायसम्बन्धी समिति के उपाध्यक्षों, न्यायाधीशों और अन्य सदस्यों को तथा सुप्रीम पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट की प्रोक्योरेटोरियल समिति के उपमुख्य प्रोक्योरेटर, प्रोक्योरेटरों व अन्य सदस्यो को नियुक्त करती व हटाती है। समिति विदेशों मे पूर्णशक्तियुक्त राजदूतों को नियुक्त व उनको वापस बुलाने के बारे में निर्णय करती है और अन्य विदेशी राज्यों के साथ हुई संधियों की पुष्टि या उत्सादन के बारे में निर्णय करती है। यह सैनिक, राजनयिक और अन्य विशेष पदवियाँ देती है और राज्य की ओर से सम्मान के पदक देने के बारे मे भी विचार करती है। यह क्षमादान के प्रश्नों पर भी विचार करती है। इसके अलावा यह राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा सौंपे गये अन्य अधिकारों का भी प्रयोग करती है।

स्थायी समिति राज्य की शक्ति का स्रोत है—सविधान के अनुसार राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस राज्य का सर्वोच्च शक्तिसम्पन्न अंग है। किन्तु सोवियत संघ के प्रेसीडियम की भांति वास्तविक शक्ति स्थायी समिति के हाथ में है। यह वास्तव में और कानून की दृष्टि से भी चीन की स्थायी सरकार है। यद्यपि स्थायी समिति कांग्रेस

द्वारा स्थापित की जाती है, उसके सदस्य कांग्रेस द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं और कांग्रेस द्वारा वापस बुलाये जा सकते हैं, यह कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी है और उसको ही अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है, किन्तु चूंकि कांग्रेस की बैठक वर्ष में केवल एक बार होती है और वह भी बहुत थोड़े से समय के लिए, अतः व्यवहार रूप में राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के सारे अधिकार स्थायी समिति को हस्तान्तरित हो गये हैं। इसके कृत्य अनगिनत है और इसका क्षेत्राधिकार सर्वव्यापी है। यह कांग्रेस के सदस्यों के निर्वाचन का प्रबन्ध करती है और राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के अधिवेशन बुलाती है। विधियो की व्याख्या करने के मामले मे स्थायी समिति का निर्णय अन्तिम है और इसके अलावा यह आज्ञप्तियाँ भी जारी करती है। यह राज्य परिषद् के काम की देखभाल करती है और सविधान का उल्लंघन करने वाले उसके निर्णयों व आदेशों को रद्द करती है। यह प्रान्तों, स्वायत्तशासी प्रदेशो और केन्द्रशासित म्यूनिसिपैलटियों के सरकारी अधिकारियों द्वारा जारी किए गए अनुचित निर्णयों को भी रद्द करती है अथवा उनमे सशोधन करती है।

अपने कृत्यों तथा अधिकारो के कारण स्थायी समिति की स्थिति बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हो गई है। स्थायी समिति के लिए यह बड़े श्रेय की बात है कि उसने अपनी शक्तियों का बड़े ही प्रभावशाली ढग से प्रयोग किया है यद्यपि साम्यवादी दल के भीतरी भाग के निदेशन पर ही चलती है। जो दल का संचालन करते हैं, उन्हे स्थायी समिति में उचित स्थान दिया जाता है और यही मुख्य कारण है जिससे स्थायी समिति राज्य का सर्वोच्च अंग बनी हुई है।

पदक देता है, क्षमादान की घोषणा करता है और क्षमा प्रदान करता है, युद्ध की स्थिति की घोषणा करता है, सेना को युद्ध के कार्य में प्रवृत्त करता है और फौजी कानून लागू करता है।

राज्य के अध्यक्ष के रूप में सभापति विदेशी राज्यों के समक्ष चीन के जनवादी गणराज्य का प्रतिनिधित्व करता है, विदेशी राजनयिक प्रतिनिधियों का स्वागत करता है और स्थायी समिति के निर्णयों के अनुसरण में विदेशी राज्य में सर्वशक्तिसम्पन्न राजदूत नियुक्त करता है व उन्हें वापस बुलाता है और विदेशी राज्यो के साथ हुई सधियों की पुष्टि करता है। वह देश के सशस्त्र बलों के लिए सेनापति का काम करता है और रक्षा परिषद् का सभापति पद ग्रहण करता है। आवश्यकता पड़ने पर वह सुप्रीम स्टेट कान्फ्रेंस बुलाता है और उसका सभापतित्व करता है। गणराज्य का उपराष्ट्रपति, स्थायी समिति का सभापति, प्रधान मन्त्री तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्ति सुप्रीम स्टेट कान्फ्रेंस में भाग लेते हैं। सभापति महत्त्वपूर्ण विषयों पर सुप्रीम स्टेट कान्फ्रेंस के विचार राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस, स्थायी समिति, राज्य परिषद् या अन्य सम्बन्धित निकायों को उनके विचार व निर्णय के लिए प्रस्तुत करता है।

राज्य परिषद्

रचना—राज्य परिषद् ही केन्द्रीय सरकार है और राज्य के सर्वोच्च अधिकार की कार्यपालिका है। इसमें प्रधान मन्त्री, उप-प्रधान मन्त्री, मन्त्री, आयोगो के अध्यक्ष और महासचिव होते है। इसमें १६ उप-प्रधान मन्त्री (Vice-Premiers) तथा ३० से कुछ अधिक मन्त्री और राज्य आयोगो के अध्यक्ष होते है। राज्यपरिषद् का संगठन विधियों द्वारा निश्चित किया गया है। २१ सितम्बर, १९५४ को पारित आर्गेनिक ला (Organic Law) द्वारा ३५ मन्त्रालयों तथा आयोगों का निर्माण किया गया था। नए मन्त्रालयों या आयोगों को बनाना या उनको मिटाना या विद्यमान मन्त्रालयों या आयोगो का एक दूसरे में विलीन करना प्रधान मन्त्री की सिफ़ारिश पर राष्ट्रीय जन कांग्रेस या उसकी स्थायी समिति द्वारा निर्णीत होता है। राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस सभापति की सिफारिश पर प्रधान मन्त्री के चयन के बारे मे और प्रधानमन्त्री की सिफ़ारिश पर राज्य-परिषद् के अन्य सदस्यों के चयन के बारे में निर्णय करती है।

राज्य परिषद् की बैठकें—प्रतिमाह राज्य परिषद् का पूर्ण अधिवेशन होता है। परन्तु उसकी कार्यपालिका सभाएं अधिक बार होती है। प्रधान मन्त्री राज्य परिषद् के कार्य का निदेशन करता है और इसकी बैठको की अध्यक्षता करता है। पूर्ण अधिवेशन में प्रधान मन्त्री, उप-प्रधान मन्त्री, मन्त्री, आयोगों के अध्यक्ष तथा महासचिव उपस्थित रहते है परन्तु कार्यपालिका सभाओ (Executive meetings) मे प्रधान मन्त्री, उप-प्रधान मन्त्री तथा महासचिव रहते हैं। राज्य परिषद् द्वारा प्रकाशित कोई प्रस्ताव अथवा आज्ञा सर्वप्रथम राज्य परिषद् के पूर्ण अधिवेशन अथवा कार्यपालिका सभा में स्वीकृत होनी चाहिए।

कृत्य और अधिकार—राज्य परिषद् प्रशासन सम्बन्धी कानून बनाती है, निर्णय और आदेश निकालती है और सविधान, विधियों तथा आज्ञप्तियों के अनुसरण

में उनका निष्पादन करती है। यह राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस या उसकी स्थायी समिति को विधेयक प्रस्तुत करती है और सम्पूर्ण देश में मन्त्रालयों, आयोगों तथा स्थानीय प्रशासनिक अंगों के कार्य में समन्वय स्थापित करती है। यह स्थानीय प्रशासनिक अंगों द्वारा जारी किये गये अनुचित निर्णयों व आदेशों को रद्द करती है, राष्ट्र की आर्थिक योजनाओं तथा राज्य के आय-व्ययक के उपबन्धों को लागू करती है तथा घरेलू और विदेशी व्यापार का नियन्त्रण करती है।

राज्य परिषद् सांस्कृतिक, शैक्षिक और सार्वजनिक स्वास्थ्य के कार्यों का संचालन करती है, जातियों तथा विदेश-स्थित चीनियों के मामलों की देखभाल करती है, शान्ति व व्यवस्था कायम करती है और नागरिकों के हितों की रक्षा करती है, वैदेशिक कार्यों का संचालन करती है, रक्षा-बलों के निर्माण में सलाह देती है, स्वायत्त-शासी प्रदेशों व म्यूनिसिपैलिटी की स्थिति तथा सीमाओं में फेर-बदल के लिए स्वीकृति देती है। परिषद् कानून के उपबन्धों के अनुसार प्रशासनिक कर्मचारियों को नियुक्त करती व हटाती है और उन सब अधिकारों का प्रयोग करती है जो उसे राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस या उसकी स्थायी समिति द्वारा सौंपे जायें।

प्रधान मन्त्री राज्य परिषद् के कार्य की देखभाल करता है और उसकी बैठकों का सभापतित्व करता है। उप-प्रधान मन्त्री उसके कार्य में सहायता देते है। मन्त्री और आयोग-अध्यक्ष अपने-अपने विभागों के कार्य की देख-रेख रखते है। वे अपने-अपने विभागों के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत ही तथा विधियों और आज्ञप्तियों, राज्य परिषद् के निर्णयों व आदेशों के अनुसरण में ही आदेश व निदेश दे सकते है। राज्य परिषद् राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी होती है और उसी को अथवा अंत:सत्र-काल में उसकी स्थायी समिति को अपनी रिपोर्ट पेश करती है। राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के प्रतिनिधियों को राज्य परिषद्, मन्त्रालयों और आयोगों से प्रश्न पूछने का अधिकार है जिनका उत्तर देना उनके लिए अनिवार्य है।

राज्य-परिषद् का मूल्यांकन—राज्य परिषद् के अधिकार बहुत व्यापक हैं। ऐसा कोई प्रशासन-क्षेत्र नही है जिस पर उसका नियन्त्रण न हो। संविधान के अनुसार यह राज्य का सर्वोच्च कार्यपालिका व प्रशासनिक अंग है। यह राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा बनाई जाती है और अपने कार्यों व कर्त्तव्यों के लिये यह उसके प्रति ही तथा अन्त:सत्रकाल में उसकी स्थायी समिति के प्रति ही उत्तरदायी है। राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के प्रतिनिधियों को प्रश्न पूछने का अधिकार देकर परिषद् तथा उसके मन्त्रियों और आयोगों का उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ा दिया गया है। किन्तु इन उपबंधों से चीन में उत्तरदायी सरकार की स्थापना नही हुई है। प्रधान मन्त्री सरकार का प्रधान अधिकारी नही है और जो व्यक्ति प्रशासन चलाते है, वैधानिक कार्यक्रम तैयार करते है, राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस में उसे पास कराते है तथा अपने कार्यों के लिए सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से उसके प्रति उत्तरदायी होते है, उनका वह नेतृत्व नही करता। मन्त्री एक दल के रूप में काम नही करते और प्रधान मन्त्री के प्रति [illegible] नहीं होते। प्रधान मन्त्री का भी अपने साथियों के चुनाव में कोई

हाथ नहीं होता और न वह राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस मे बहुसंख्यक सदस्यों का नेता होता है । उसे कांग्रेस भंग करने का भी कोई अधिकार नही होता। जहाँ तक मन्त्रियों का सम्बन्ध है, संविधान में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि वे प्रधान मन्त्री की सहायता करते हैं। चीन का प्रशासनिक ढाँचा और समाज का पूरा ढाँचा केन्द्रवाद पर निर्भर है। वहाँ प्रधान मन्त्री और मन्त्री दोनों को वही काम करना होता है और उसी नीति पर चलना होता है जो दल के भीतरी लोग निर्धारित कर दें। यह लोकतन्त्रीय केन्द्रवाद हो सकता है किन्तु उसमें लोकतन्त्र के सिद्धान्तों और प्रथाओं का अभाव होता है। लोकतन्त्रीय तानाशाही मे उन सिद्धान्तों के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं होती।

चीन में साम्यवादी दल के अलावा और कोई भी राजनैतिक दल नहीं रह सकता और न वहाँ उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो सकती है क्योंकि उत्तरदायी सरकार के लिए एक से अधिक दलों का होना जरूरी है और उसमें उसके स्थान पर दूसरी सरकार बनाने के लिए चर्चा तथा आलोचना के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। चीन के जनवादी गणराज्य में संविधान द्वारा जनवादी लोकतन्त्रीय प्रणाली की रक्षा की गई है तथा उसमे सारे देशद्रोही और क्रांतिविरोधी कार्यों के दमन और सभी देशद्रोहियों तथा क्रांतिविरोधियों को दण्ड की व्यवस्था की गई है। तदनुसार वहाँ लोकतन्त्रीय अधिनायकशाही के अलावा और किसी दूसरी प्रकार की सरकार का समर्थन करने की अनुमति नही है। ऐसा करना क्रांतिविरोधी कार्य है और क्रान्तिविरोधी होना देशद्रोही कार्य है तथा उसको वही दण्ड दिया जाता है जो सामान्यतः देशद्रोहियों व क्रांति-विरोधियों को दिया जाता है।

अध्याय ५

न्याय-पद्धति

(The Judicial System)

चीन की न्याय-पद्धति का वर्णन संविधान के अध्याय २ के सेक्शन ६ मे किया गया है। इसमें बारह संक्षिप्त अनुच्छेद है। प्रथम जनवादी कांग्रेस को प्रस्तुत की गई रिपोर्ट में बताया गया था कि न्यायपालिका का उद्देश्य नागरिकों को कम खर्चे में और शीघ्र न्याय की व्यवस्था करना है। संविधान के अनुच्छेद ७८ मे बताया गया है कि न्याय के मामले मे जन न्यायालय स्वतन्त्र हैं और कानून के अधीन हैं। देश के कानून का उद्देश्य समाजवाद की व्यवस्था करना है और इस मूलभूत कार्य की पूर्ति के लिए लोगों को अपनी पूरी शक्ति से कार्य करने और देश के भीतर और बाहर समाजवाद के दुश्मनों का विरोध करने के लिए कहा जाता है। इसलिए राज्य के अन्य अंगों के समान न्यायपालिका का उद्देश्य भी नागरिकों में अपने देश के प्रति भक्ति का भाव पैदा करना तथा समाजवाद के सिद्धान्त की शिक्षा देना है। सोवियत संघ मे न्यायालयों की आवश्यकता का विश्लेषण करते हुए लेनिन और स्टालिन ने समाजवाद के दुश्मनों—देश और जाति के दुश्मनों व गद्दारों, जासूसों, तोड़-फोड़ के कामों में भाग लेने वालों—के विरुद्ध युद्ध करने और श्रमिकों मे समाजवादी के अनुरूप अनुशासन पैदा करने के हेतु नई सोवियत प्रणाली को दृढ़ करने के लिए संघर्ष करने की आवश्यकता पर जोर दिया। चीन के जनवादी गणराज्य की प्रस्तावना में भी इसी बात पर जोर दिया गया है। अनुच्छेद १९ में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि चीन का जनवादी गणराज्य जनवादी लोकतन्त्रीय प्रणाली की रक्षा करता है, सभी देशद्रोही और क्रांति-विरोधी कार्यों का दमन करता है और सभी देशद्रोहियों तथा क्रांतिविरोधियों के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है। चीन के न्यायालयों का काम रूस के न्यायालयों के समान ही है। उन्हें श्रम और राज्य अनुशासन का उल्लंघन करने वाले तथा ऐसे अपराधियों को कठोर दण्ड देना चाहिए जिनके कार्य समाजवाद के आधार पर समाज की रचना के विरुद्ध हों। संविधान और कानून का पालन करना, काम के समय अनुशासन रखना, शान्ति और व्यवस्था रखना और समाज के नैतिक नियमों को मानना चीन के नागरिकों का सांविधानिक कर्त्तव्य है।

जनवादी गणराज्य की न्यायपालिका सरकार से पृथक् नहीं है। यह नियमित प्रशासन का भाग है। न्यायालय सुप्रीम पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट के सहयोग से जिसे राज्य परिषद् के सभी विभागों, राज्य के सभी स्थानीय अंगों, राज्य के विभिन्न विभागों मे काम करने वाले व्यक्तियों और नागरिकों को दण्ड देने का अधिकार है, न्याय की व्यवस्था करते है जिससे कानून का पालन हो सके।

न्यायालयों की प्रणाली—चीन में तीन प्रकार के न्यायालय है; सर्वोच्च जन न्यायालय, स्थानीय जन न्यायालय और विशेष जन न्यायालय। प्रत्येक वर्ग के न्यायालयों का अपना एक अध्यक्ष होता है जिसकी पदावधि चार वर्ष होती है। जन न्यायालयों का गठन कानून द्वारा तय किया जाता है। उनके काम की देखभाल सर्वोच्च जन न्यायालय करता है जो साथ ही विशेष न्यायालय के काम की भी देखभाल करता है। प्रत्येक जन न्यायालय अपने से छोटे न्यायालयों के कार्य की देखभाल करता है। जन न्यायालयों में लोगों के पंच (Assessors) होते हैं जो यदि कानून में अन्यथा व्यवस्था न की गई हो, खुली अदालतों में मुकदमे सुनते हैं। अभियुक्त को अपनी पैरवी करने का अधिकार होता है। सभी जातियों के नागरिकों को न्यायालय मे अपनी बोली जाने वाली तथा लिखी जाने वाली भाषा इस्तेमाल करने का अधिकार होता है। यदि कोई पक्ष वहाँ बोली जाने वाली या लिखी जाने वाली भाषा से अपरिचित हो तो न्यायालयों को उसके लिए दुभाषियों की व्यवस्था करनी होती है। एक ऐसे क्षेत्र में जहाँ अल्पसंख्यक लोग मिली-जुली जातियों के रूप मे रहते हों या जहाँ कई जातियाँ साथ-साथ रहती हों, जन न्यायालयों की कार्यवाही श्राम तौर से बोली जाने वाली तथा लिखी जाने वाली भाषा में ही की जाती है और जन न्यायालय के निर्णय, सूचनाएँ और अन्य दस्तावेज उस भाषा में ही प्रकाशित किये जाते हैं।

सर्वोच्च जन न्यायालय गणराज्य का सबसे उच्च न्यायालय है। इसमे एक अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, न्यायाधीश तथा अन्य व्यक्ति होते है। ये सब चार वर्ष के लिए चुने जाते है। राष्ट्रीय जन कांग्रेस अध्यक्ष को चुनती व हटाती है और उपाध्यक्ष, न्यायाधीश तथा सर्वोच्च न्यायालय की न्याय समिति के अन्य सदस्य राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति द्वारा नियुक्त किये जाते व हटाये जाते हैं। सर्वोच्च जन न्यायालय राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस या अन्तःसत्रकाल मे उसकी स्थायी समिति के प्रति उत्तरदायी होता है और उसी को अपनी रिपोर्ट पेश करता है। स्थानीय जन न्यायालय अपने स्तर की स्थानीय जनवादी कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी होते है तथा उन्हीं को अपनी रिपोर्ट पेश करते हैं। सर्वोच्च जन न्यायालय स्थानीय जन न्यायालयों तथा विशेष जन न्यायालयों के न्याय सम्बन्धी कार्य की देखभाल करता है। स्थानीय जन न्यायालयो को तीन प्रकार की श्रेणियो मे बाँट दिया गया है। मूल जन न्यायालय (Basic People's Courts), मध्य जन न्यायालय (Intermediate People's Court) और उच्च जन न्यायालय (Higher People's Court)

मूल जन न्यायालय—इन न्यायालयों के अन्तर्गत काउण्टी जन न्यायालय, म्युनिसिपल जन न्यायालय, स्वयंशासित काउण्टियों के जन न्यायालय और म्युनिसिपल जिलों के जन न्यायालय आते है। मूल न्यायालय की रचना एक अध्यक्ष, एक या दो उपाध्यक्ष और न्यायाधीशो को मिला कर होती है। मूल न्यायालय यदि चाहे तो दीवानी या फौजदारी विभाग अलग-अलग एक-एक मुख्य-न्यायाधीश के अधीन स्थापित कर सकता है और जब आवश्यक हो तो मुख्य न्यायाधीशों को संयुक्त कर सकता है। स्थान, जन-संख्या और मुकदमों की दशा के अनुसार मूल न्यायालय जन-

न्यायाधिकरण भी स्थापित कर सकता है। न्यायाधिकरण (Tribunal) न्यायालय का एक अंग होता है और इसके निर्णय और आदेश मूल न्यायालय के निर्णय और आदेश माने जाते हैं।

मूल न्यायालय मुकदमे सुनने के अतिरिक्त दीवानी झगड़े और छोटे फौजदारी के मामले, जिनमें जांच की आवश्यकता नहीं है, सुलझाता है और समझौता समितियों के कार्य का तथा न्यायिक प्रशासनिक कार्य का भी निदेशन करता है।

मध्य जन न्यायालय—प्रान्तों, स्वयशासित क्षेत्रों, केन्द्रीय सत्ता के अधीन म्युनिसिपैलिटियों, बड़ी नगरपालिकाओं और स्वयंशासित चोउ (Chou) के विभिन्न क्षेत्रों में मध्य जन न्यायालय स्थापित किए गए हैं। मध्य जन न्यायालय की रचना एक अध्यक्ष, एक या दो उपाध्यक्ष, खण्डों (Divisions) के मुख्य न्यायाधीश और न्यायाधीशों से मिल कर होती है। इसका फौजदारी विभाग, और दीवानी विभाग और ऐसे अन्य विभाग भी होते हैं जिनकी आवश्यकता समझी जाती है। यह न्यायालय निम्नलिखित मुकदमों पर विचार करता है :—

(१) विधियों तथा आज्ञप्तियों द्वारा इनके क्षेत्राधिकार में पड़ने वाले मुकदमे।

(२) मूल न्यायालय द्वारा स्थानान्तरित मुकदमे।

(३) मूल न्यायालय के निर्णयों तथा आदेशों के विरुद्ध अपील तथा अस्वीकार प्रकाशन (Protests)।

(४) न्यायिक निरीक्षण की प्रक्रिया के अनुरूप जन प्रोक्यूरेटोरेट (People's Procuratorate) द्वारा अस्वीकृति प्रकाशन।

उच्च जन न्यायालय—केन्द्रीय सत्ता के ठीक अधीन प्रान्तों, स्वयशासित क्षेत्रों और नगरपालिकाओं से सम्बन्ध रखने वाले उच्च जन न्यायालय होते हैं। इसकी रचना एक अध्यक्ष, उपाध्यक्षों, खण्डों के मुख्य न्यायाधीशों, खण्डों के सम्मिलित किए गए मुख्य न्यायाधीशों और न्यायाधीशों से मिलकर होती है। इन न्यायालय के भी फौजदारी, दीवानी, तथा ऐसे अन्य विभाग होते हैं जिन्हें आवश्यक समझा जाता है। ये न्यायालय अपने क्षेत्राधिकार में पड़ने वाले मुकदमे तथा निम्न न्यायालयों से स्थानान्तरित मुकदमे और उनके निर्णयों के विरुद्ध अपीलें तथा अस्वीकार प्रकाशनों को सुनते हैं।

विशेष जन न्यायालय (Special People's Court)—इनके अन्तर्गत सेना न्यायालयों, रेलवे-परिवहन न्यायालयों तथा जल-परिवहन न्यायालयों का समावेश होता है। इन सबका संगठन राष्ट्रीय जन कांग्रेस की स्थायी समिति द्वारा व्यवस्थित होता है।

मुख्य प्रोक्यूरेटर और पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट—पूरे गणराज्य के लिये एक सुप्रीम पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट है जिसका अध्यक्ष एक मुख्य प्रोक्यूरेटर होता है। यह राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा चार वर्ष के लिए चुना जाता है और उसी के द्वारा पदच्युत किया जा सकता है। सुप्रीम पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट को राज्य परिषद् के सभी विभागों राज्य के सभी स्थानीय अंगों, राज्य के विभिन्न विभागों में काम करने वाले व्यक्ति...

और नागरिकों को दण्ड देने का अधिकार है। सुप्रीम प्रोक्यूरेटोरेट राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के प्रति और अन्तःसत्रकाल में उसकी स्थायी समिति के प्रति उत्तरदायी होता है तथा उन्हीं को अपनी रिपोर्ट पेश करता है। सुप्रीम प्रोक्यूरेटोरेट में मुख्य प्रोक्योरेटर के अलावा उप-मुख्य प्रोक्यूरेटर, प्रोक्यूरेटर और प्रोक्यूरेटोरियल समिति के अन्य सदस्य होते हैं। इन सबकी नियुक्ति राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति द्वारा की जाती है और उसी के द्वारा ही वे हटाये जाते हैं।

स्थानीय पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट और स्पेशल पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट कानून द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर दण्ड सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग करते है। स्थानीय पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट और स्पेशल पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट अपने से उच्च स्तर के पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट की देखरेख में काम करते है और सब प्रोक्यूटोरेट सुप्रीम पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट के निर्देशन मे काम करते हैं। अपने अधिकारों का प्रयोग करने के मामले में स्थानीय पीपल्स प्रोक्यूरेटोरेट स्वतन्त्र होते है और राज्य के स्थानीय प्रशासनिक विभाग उनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकते।

सोवियत रूस की भांति चीन के जनवादी गणराज्य की न्याय-पद्धति में प्रोक्यूरेटोरेटों का अपना एक विशेष स्थान है। मुख्य प्रोक्यूरेटर के अधिकार इतने विस्तृत होते है कि उसके क्षेत्राधिकार के अन्दर प्रशासन के सभी अंग और सभी नागरिक आ जाते हैं। विशिन्स्की लिखता है कि, "सोवियत दण्डाधिकारी समाजवादी न्याय्यता का प्रहरी, साम्यवादी दल और सोवियत संघ का नेता और समाजवाद का योद्धा है।" यही स्थिति चीन के मुख्य प्रोक्यूरेटर की है। अपने कर्तव्यों का पालन करने में मुख्य प्रोक्यूरेटर को यह देखना होता है कि चीनी गणराज्य के सभी मन्त्रालय तथा उनके अधीनस्थ अन्य अभिकरण और साथ ही सारे अधिकारी व नागरिक कानूनों का कठोरता से पालन करें।

प्रोक्यूरेटोरेट के कार्य का न्यायालयों के कार्य से निकटतम सम्बन्ध है। कानून का सरकारी अभिरक्षक और उसके परिणामस्वरूप सामाजिक न्याय्यता का प्रहरी होने के नाते प्रोक्यूरेटोरेट का यह मुख्य कार्य है कि वह कानून के उल्लंघन से सम्बन्धित सारे मामलों की और क्रान्ति-विरोधी सारे कार्यों की जाँच करे। प्रोक्यूरेटर नागरिकों के व्यक्तिगत अधिकारों की भी रक्षा करता है और उनकी स्वतन्त्रता का किसी प्रकार से अतिक्रमण नहीं होने देता। जन न्यायालयों के निर्णय या पीपल्स प्रोक्यूरेटर की स्वीकृति के बिना चीन के किसी नागरिक को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता।

अध्याय ६

प्रशासनिक क्षेत्र और उनका प्रशासन

(Administrative Areas and their Administration)

प्रशासनिक विभाजन—प्रशासन की सुविधा के लिए चीन का जनवादी गणराज्य प्रान्तों, स्वायत्तशासी प्रदेशों और केन्द्र-शासित म्यूनिसिपैलटियों में बँटा हुआ है। प्रान्त और स्वायत्तशासी प्रदेश स्वायत्तशासी चाऊ, काउंटियों आदि में बटे हुए है। काउंटियाँ ह्स्यांग आदि में बँटी हुई है। केन्द्र-शासित म्यूनिसिपैलटियाँ और अन्य बड़ी म्यूनिसिपैलटियाँ जिलों में बटी हुई हैं। स्वायत्तशासी चाऊ काउंटियों, स्वायत्तशासी काउंटियों तथा म्यूनिसिपैलटियों में बंटे हुए हैं। स्वायत्तशासी प्रदेश, चाऊ और काउंटियाँ सभी राष्ट्र के स्वायत्तशासी क्षेत्र है।

प्रशासनिक ढांचा—प्रशासन की सुविधा के लिए प्रांतों, केन्द्र-शासित म्यूनिसिपैलटियों, काउंटियों, म्यूनिसिपैलटियों, म्यूनिसिपल जिलों, ह्स्याग और नगरों में जनवादी कांग्रेस की जन परिषदों की स्थापना की गई है। जनवादी कांग्रेसे विधानमंडल की और जन परिषदें कार्यपालिका की अंग है। स्वायत्तशासी प्रदेशों, स्वायत्तशासी चाऊ और स्वायत्तशासी काउंटियों में स्वशासन वाली संस्थाओं की संस्थापना की गई है।

स्थानीय जनवादी कांग्रेस—स्थानीय जनवादी कांग्रेसें अपने-अपने क्षेत्रों में सरकार के अंग है। प्रान्तों, केन्द्र-शासित म्यूनिसिपैलटियों, काउंटियों, जिलों में विभाजित म्यूनिसिपैलटियों की जनवादी कांग्रेसों के प्रतिनिधि उनसे निम्न स्तर की कांग्रेसों द्वारा चुने जाते हैं। जिलों में अविभाजित म्यूनिसिपैलटियों, म्यूनिसिपल जिलों, ह्स्यांग जाति, ह्स्यांग और नगरों की जनवादी कांग्रेसों के प्रतिनिधि सीधे मतदाताओं द्वारा चुने जाते है। स्थानीय जनवादी कांग्रेसों के प्रतिनिधियों की संख्या और उनके निर्वाचन का तरीका निर्वाचन विधियों द्वारा निर्धारित किया जाता है। प्रांतीय जनवादी कांग्रेसों का कार्यकाल चार वर्ष है। केन्द्र-शासित म्यूनिसिपैलटियों, काउंटियों, म्यूनिसिपैलटियों, म्यूनिसिपल जिलों, ह्स्यांग, ह्स्यांग जाति और नगरों की जनवादी कांग्रेसों का कार्यकाल दो वर्ष है।

स्थानीय जनवादी कांग्रेसें अपने-अपने प्रशासनिक क्षेत्रों में इस बात की देखरेख करती है कि विधियों और आज्ञप्तियों का पालन हो। वे अपने क्षेत्र के सांस्कृतिक और आर्थिक विकास के लिए तथा सार्वजनिक कार्य के लिए योजनाएँ बनाती हैं, स्थानीय आय-व्ययक और वित्तीय प्रतिवेदनों की जांच करती हैं तथा उनका अनुमोदन करती हैं, सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करती हैं, शान्ति व व्यवस्था बनाए रखती हैं,

नागरिकों के तथा अल्पसंख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा करती है। स्थानीय जनवादी कांग्रेसों को अपने स्तर की जनवादी परिषदों के सदस्यों को चुनने तथा उन्हें वापस बुलाने का अधिकार है। काउंटियों तथा उनसे ऊपर की जनवादी कांग्रेसों को अपने स्तर के जन-न्यायालयों के अध्यक्षों को चुनने तथा उन्हें वापस बुलाने का अधिकार है। स्थानीय जनवादी कांग्रेसें विधि द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर निर्णय करती है और उन्हें जारी करती है। ह्स्याग जाति की जनवादी कांग्रेस विधि द्वारा निर्धारित सीमा के अन्दर सम्बन्धित जातियों की विशेषताओं के अनुरूप विशिष्ट निर्णय ले सकती है। स्थानीय जनवादी कांग्रेसों को अपने स्तर की जनवादी परिषदों द्वारा जारी किये गये अनुचित निर्णयों और आदेशों में संशोधन करने अथवा उन्हें रद्द करने का अधिकार है। काउंटी की जनवादी कांग्रेसो को अपने से निम्न स्तर की जनवादी कांग्रेसों के अनुचित निर्णयों को और साथ ही अपने से निम्न स्तर की जनवादी परिषदों के अनुचित निर्णयों और आदेशों को रद्द करने या उनमे संशोधन करने का अधिकार है। प्रांतों, केन्द्र-शासित म्यूनिसिपैलटियों, काउंटियों और जिलों में विभाजित म्यूनिसिपैलटियों की जनवादी कांग्रेसों के प्रतिनिधि अपने निर्वाचन-एककों के अधीन होते हैं। जिलों में अविभाजित म्यूनिसिपैलटियों, म्यूनिसिपल जिलो, ह्स्याग, ह्स्यांग जाति और नगरों की जनवादी कांग्रेसों के प्रतिनिधि अपने मतदाताओं के अधीन होते हैं। निर्वाचन एककों और मतदाताओं को अपने द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को विधि द्वारा निर्धारित रूप में कभी भी वापस बुलाने का अधिकार है।

परिषद्—स्थानीय जनवादी परिषदें अर्थात् स्थानीय जन सरकारें अपने स्तर की स्थानीय जनवादी कांग्रेसों की कायपालिकाएँ हैं और अपने-अपने क्षेत्र मे प्रशासन के अंग हैं। स्थानीय जनवादी परिषदें अपने स्तर के अनुसार प्रांतीय गवर्नर और उप-प्रांतीय गवर्नरों, या मेयर और डिप्टी मेयरों या काउंटी अध्यक्ष और डिप्टी काउंटी अध्यक्षों, या जिला अध्यक्ष और उप-जिला अध्यक्षों, या ह्स्यांग अध्यक्ष और उप-ह्स्याग अध्यक्षों या नगर अध्यक्ष और उप नगर अध्यक्षों तथा परिषद् के सदस्यों को मिलाकर गठित की जाती हैं। स्थानीय जनवादी परिषद् का कार्यकाल उस स्तर के जनवादी कांग्रेस के कार्यकाल के बराबर होता है। स्थानीय जनवादी परिषदों का गठन विधि द्वारा तय किया जाता है।

स्थानीय जनवादी परिषदें विधि द्वारा निर्धारित अपने-अपने क्षेत्रों का प्रशासन करती हैं। स्थानीय जनवादी परिषदें अपने स्तर की जनवादी कांग्रेसों के निर्णयों का और अपने से उच्च स्तर के प्रशासनिक अंगों के निर्णयों व आदेशों का पालन करती हैं। स्थानीय जनवादी परिषदें विधि द्वारा निर्धारित सीमा के अन्दर अपने निर्णय व आदेश जारी करती हैं। काउंटी तथा उससे ऊपर की जनवादी परिषदें अपने अधीनस्थ विभागों तथा अपने से निम्न स्तर की जनवादी परिषदों के कार्य की देखभाल करती हैं और विधि के उपबन्धों के अनुसार राज्य के विभिन्न अंगों के कर्मचारियों को नियुक्त करती व हटाती हैं। काउंटी तथा उससे ऊपर की जनवादी परिषदों को अपने

से निम्न-स्तर की जनवादी कांग्रेसों के अनुचित निर्णयो के निलम्बन का और अधीनस्थ विभागों के अनुचित आदेशों व निदेशों तथा निम्न-स्तर की जनवादी परिषदों के अनुचित निर्णयों और आदेशो को सशोधित व रद्द करने का अधिकार है। स्थानीय जनवादी परिषदें अपने स्तर की जनवादी कांग्रेसों तथा अपने से उच्च स्तर के प्रशासनिक अंगों के प्रति उत्तरदायी होती है तथा उन्हे अपनी रिपोर्ट पेश करती है। सम्पूर्ण देश की स्थानीय जनवादी कांग्रेसे राज्य के प्रशासनिक अग है और राज्य परिषद् के अधीन है।

स्वशासन के अंग—सभी स्वायत्तशासी प्रदेशो, स्वायत्तशासी चाऊ और स्वायत्त-शासी काउटियों के स्वशासन के अग राज्य के ऊपर बताये गये स्थानीय अगो के गठन के आधारभूत सिद्धान्तो के अनुसार बनाये जाते है। स्वशासन के प्रत्येक अग का रूप जाति अथवा प्रादेशिक स्वायत्त-शासन वाली जातियो के लोगो के बहुमत से तय किया जाता है। सभी स्वायत्त-शासी प्रदेशो, स्वायत्त-शासी चाऊ और स्वायत्त-शासी काउटियों में, जहाँ कई जातियाँ एक साथ रहती हैं, प्रत्येक जाति को स्वशासन के अंगो मे अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है।

सभी स्वायत्तशासी प्रदेशो, स्वायत्तशासी चाऊ और स्वायत्तशासी काउटियो के स्वशासन के अगों को स्थानीय जनवादी काग्रेसो और स्थानीय जनवादी परिषदो के समान ही अधिकार प्राप्त है। सभी स्वायत्तशासी प्रदेशो, स्वायत्तशासी चाऊ और स्वायत्तशासी काउटियो के स्वशासन के अगो को संविधान और विधि द्वारा निर्धारित सीमाओ के अन्दर स्वायत्तशासन का अधिकार है। उनकी अपनी अलग वित्तीय व्यवस्था होती है और वे राज्य की सैनिक प्रणाली के अनुसार अपनी स्थानीय लोक-रक्षा सेना का संगठन करते है। वे जाति अथवा जातियों की राजनैतिक, आर्थिक और सास्कृतिक विशेषताओ के मुताबिक अपनी अलग सविधियाँ या विनियम बना सकते है। उन्हे अपनी इन संविधियों तथा विनियमो के लिए राष्ट्रीय जनवादी काग्रेस की स्थायी समिति की स्वीकृति लेनी पड़ती है।

अपने काम के लिए स्वशासन के अग उस क्षेत्र में आम तौर से बोली जाने वाली और लिखी जाने वाली भाषा या भाषाओ का प्रयोग करते है। राज्य के उन अगो के लिए आवश्यक है कि वे सभी स्वायत्तशासी प्रदेशों, स्वायत्तशासी चाऊ और स्वायत्त-शासी काउटियों के स्वशासन के अंगों के स्वायत्त-शासन के अधिकार की रक्षा करें। और अल्पसंख्यक जातियों के राजनैतिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक विकास मे सहायता करें।

अध्याय ७

चीन का साम्यवादी दल

(The Communist Party of China)

देश के जीवन का नेता एवं हृदय—चीनी साम्यवादी दल अपने साधारण कार्यक्रम के विषय में घोषणा करता है कि "दल को समस्त जाति संगठन के सर्वोच्च स्वरूप को धारण करने के नाते देश-जीवन के नेता एवं हृदय के रूप में ठीक दिशा की ओर कार्य करने के लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।" लिउ शाम्रो ची ने भी, चीन के जनवादी गणराज्य के सविधान के प्रारूप पर, प्रथम राष्ट्रीय जन कांग्रेस को प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए कहा था, "चीन के साम्यवादी दल का नेतृत्व चीनी लोगों की प्रजातान्त्रिक-क्रान्ति के लिए ही आवश्यक नहीं अपितु समाजवाद की सिद्धि के लिए भी आवश्यक है। इसे विभागवाद की प्रवृत्ति का भी मुकाबला करना चाहिए, जो प्रवृत्ति दल के महत्व को घटाने के साथ-साथ उसकी एकता को भी क्षीण करती है।"

चीनी संविधान में दल का कोई उल्लेख नहीं है। यद्यपि दल की स्थिति शासन-व्यवस्था से बाहर है तथापि एक शिक्षक एवं नेता के रूप में यह शासन व्यवस्था के अन्तर्गत प्रधान शक्ति का कार्य करता है। चीनी राजनीति मे एक ही दल कार्य करता है और चूंकि स्पष्टतया वही निर्णयकारक केन्द्र है और समाजवाद को लाने के लिए तद्विषयक नियमों को लागू करने का एकमात्र संगठन है, अतएव शक्ति के एकाधिकार के विषय में वह दल किसी प्रतिद्वन्द्वी को सहन नहीं करता। इस दल के सदस्य सरकार तथा समाज के सब महत्त्वपूर्ण पदों पर बने रहते हैं। चूंकि दल के सदस्यों की निष्ठा सरकार तक ही सीमित नहीं रहती परिणामत: वे विभागवाद के उपकरण-मात्र भी बने नहीं रहते। उन्हें दल की उच्च आज्ञाएँ आदरपूर्वक और दृढ़ता से स्वीकार करनी पड़ती हैं। दल के संविधान के नियम व्यवस्थित करते हैं कि, "दल के निर्णयों का बिना किसी शर्त पालन किया जाय। प्रत्येक दल-सदस्य दल-संगठनों की आज्ञा मानेंगे। अल्पमत बहुमत के पीछे चलेगा, निम्नदल के अंग उच्च दल के अंगों की आज्ञा में रहेंगे और देशभर के समग्र घटक (Constituent) दल के अंग राष्ट्रीय दल कांग्रेस और केन्द्रीय समिति की आज्ञा का पालन करेंगे।"

प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद—यही प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद है। चीनी संविधान का अनुच्छेद २ शासन-रचना के अन्तर्गत प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद के प्रचलन पर बल देता है। उसका कथन है, 'राष्ट्रीय जन कांग्रेस, स्थानीय जन कांग्रेस और राज्य के अन्य अंग सभी प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद का प्रयोग करते हैं।' सविधान के प्रारूप पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए लिउ शाम्रो-ची ने भी यही बात कही थी, मात्रो त्से-तुङ ने अपनी

'मिली जुली सरकार पर' (On Coalition Government) नामक पुस्तक में भी कहा था कि, "चीन में राजनीतिक प्रणाली एकदम प्रजातान्त्रिक है और केन्द्रित है अर्थात् प्रजातन्त्र के आधार पर केन्द्रित है और केन्द्रित पथप्रदर्शन के अधीन होने के कारण प्रजातन्त्रीय है।" अतः साम्यवादी सिद्धान्त के लिए प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद सारस्वरूप है और समग्र सरकारी तथा सामाजिक स्तरों पर इसका बड़ा ध्यानपूर्वक प्रयोग किया जाता है।

प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद का प्रजातन्त्रीय पक्ष यही है कि निर्णय करने से पूर्व वाद-विवाद की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इसी प्रकार निम्नगणों द्वारा उच्च निकायों के चुनाव में भी स्वतन्त्रता है। चुनाव निस्सन्देह एकमत से होते हैं अन्यथा पार्टीबाजी की भावना पैदा हो जाती है। एक बार निर्णय हो जाने पर सबके लिए उनका उत्साह से तथा नियमित तौर पर, पालन करना आवश्यक हो जाता है। उनसे हटना अनुशासनहीनता माना जाता है जो साम्यवाद के सिद्धान्तानुसार एक घृणित अपराध है। अन्त मे कहा जा सकता है कि चीन का साम्यवादी दल, जिसका दूसरे अर्थों मे नाम, पोलितब्यूरो है और जिसका अधिक उपयुक्त नाम उसकी 'स्थायी समिति' है, वास्तव मे समग्र राजनीतिक निर्णयों को करने के लिए अन्तिम सत्ता है यद्यपि अन्य लोगों को भी राजनीतिक तौर पर सार्वजनिक उत्तरदायित्व सौंपा गया है। यहाँ पर यह दुहराना ज्ञानवर्द्धक होगा कि राज्य परिषद्, स्थायी समिति और पोलितब्यूरो की सदस्यता में विचित्र अतिव्याप्ति है। १९६२ मे प्रधान-मन्त्री चाउ इन-लाई और १६ उप-प्रधान मन्त्रियो मे से १२ पोलितब्यूरो के नियमित या बारी-बारी से सदस्य थे और शेष ४ उप-प्रधान-मन्त्री केन्द्रीय समिति के सदस्य थे। वास्तविक व्यवहार मे यही प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद है क्योंकि "कमरो अथवा उपाधि के परिवर्तन से उपर्युक्त समुदाय सर्वोच्च राजनीतिक समुदाय के रूप में शासन मे अथवा दल मे स्थान ग्रहण कर सकता है।"

चीनी साम्यवादी दल—१९२१ मे तेरह अराजकतावादी, मौलिक सिद्धान्तवादी एवं मार्क्सविचार-धारावादी व्यक्ति शंघाई मे एकत्रित हुए और इस प्रकार चीनी साम्यवादी दल की प्रथम कांग्रेस की स्थापना हुई। १९५१ मे इस दल के सदस्यों की संख्या ५८ लाख हो गई थी और अगले दस वर्षों मे उनकी संख्या बढ़ कर एक करोड़ ७० लाख हो गई। संसार के समस्त साम्यवादी दलों मे चीनी साम्यवादी दल यद्यपि सबसे बड़ा है तथापि इसकी सदस्य संख्या चीन की कुल जनसंख्या का केवल २ प्रतिशत भाग है। सदस्यता सर्वथा सीमित है। १८ वर्ष की आयु का कोई भी व्यक्ति जो काम मे लगा हुआ है और जो दूसरों के परिश्रम से व्यक्तिगत लाभ नहीं उठाता है इस दल की सदस्यता के लिए ग्राह्य समझा जाता है। दल के नियमानुसार सदस्यता प्रार्थी के लिए दल के दो पूर्ण सदस्यों की सिफारिश आनी चाहिए। यदि दल की शाखा और अगली उच्चतर दल-समिति से अनुमोदन प्राप्त हो जाय तो सदस्यता प्रार्थी को अभ्यासकालीन स्थिति प्राप्त हो जाती है। एक वर्ष की प्रारम्भिक शिक्षा के सन्तोषजनक ढंग से समाप्त हो जाने पर, जिस बीच मे उसके राजनीतिक गुणों की

ध्यानपूर्वक जांच लिया जाता है, वह उस समुदाय का पूर्ण सदस्य बन जाता है जिसने सर्वप्रथम उसके अभ्यासकालीन अवस्था का अनुमोदन किया था।

दल का संगठन—सबसे निचली सीढ़ी पर स्थानीय दल-संगठन (Cell) है, और स्थानीय शाखा काउण्टी या म्युनिसिपल दल कांग्रेस के प्रतिनिधि चुनती है जो बदले में स्वयं प्रान्तीय दल कांग्रेस के प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। प्रान्तीय दल कांग्रेस एक राष्ट्रीय दल कांग्रेस के लिए प्रतिनिधि भेजती है जो बाद में १९६ सदस्यों वाली केन्द्रीय समिति को चुनती है। यह केन्द्रीय समिति दल संगठन का सर्वोच्च प्रधान निकाय होता है जब राष्ट्रीय दल कांग्रेस का सत्र नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि केन्द्रीय समिति दल के समग्र कार्य का निदेशन करती है जिन दिनों राष्ट्रीय दल कांग्रेस का सत्र नहीं होता है। दल के संविधान के अनुसार समय-समय पर सब स्तरों पर चुनाव होने होते हैं। किन्तु व्यावहारिक तौर पर ये चुनाव समयानुसार होते नहीं दिखाई पड़ते और सांविधानिक पदावधि से अधिक समय तक लोग उच्चस्तरों पर दल के पदों पर बने रहते हैं। दल कांग्रेसें हर पाँच साल बाद राष्ट्रीय दल कांग्रेस का चुनाव करती हैं। परन्तु वास्तव में पिछले बीस सालों में केवल दो बार ही ऐसी राष्ट्रीय दल कांग्रेस का चुनाव हुआ है।

एक हजार से भी अधिक सदस्यों से निर्मित राष्ट्रीय दल कांग्रेस ५ वर्षों के लिए चुनी जाती है और हर वर्ष उसकी बैठक होती है, बशर्ते कि केन्द्रीय समिति यह निर्णय न करे कि असाधारण परिस्थितियों के कारण ऐसी बैठक का होना ठीक नहीं है। १९५६ से अभी तक एक ही बार सभा हुई है। इसका अर्थ यह है कि केन्द्रीय समिति ने गत दस वर्षों में राष्ट्रीय दल कांग्रेस की वार्षिक बैठक न करने के लिए ही अपनी असाधारण शक्ति का प्रयोग किया है। यद्यपि देखने में कानूनी तौर पर कांग्रेस की स्थिति केन्द्रीय समिति से बढ़ कर है क्योंकि वही केन्द्रीय समिति को चुनती है, परन्तु वास्तव में तथ्य इसके विपरीत है। कांग्रेस द्वारा केन्द्रीय समिति का चुनाव नहीं होता अपितु पुरानी पोलितब्यूरो अथवा यूँ कहना अधिक उचित होगा कि इसकी सात सदस्यों वाली स्थायी समिति ही वास्तव में केन्द्रीय समिति को चुनती है। पोलितब्यूरो की स्थायी समिति में माओ त्से-तुङ्ग, लिउ शाओ-ची, चाउ इन-लाई जैसे चोटी के नेता रहते हैं और पसन्द यदि केवल माओ की नहीं तो अन्यों की अवश्य होती है।

केन्द्रीय समिति भी नीति-निर्माण नहीं करती। यह एक बहुसंख्यक निकाय है और वर्ष में एक या दो बार, और वह भी केवल दो या तीन सप्ताह के लिए, इसकी बैठक होती है। इस बात का भी लिखित प्रमाण है कि विशेष अथवा लम्बे संकटकाल में भी इस समिति की बैठक नहीं हुई है। १९६० में चीन-सोवियत सम्बन्धों में अत्यन्त बिगाड़ होते हुए भी और कृषि उत्पादन में १९५८ से निरन्तर गिरावट आने पर भी केन्द्रीय समिति का सम्पूर्ण अधिवेशन नहीं किया गया। १९६२ में दल तथा राष्ट्रीय कार्यों पर विचार-विमर्श के लिए केवल चार दिन ही रखे गए। अतः स्पष्ट है कि केन्द्रीय समिति का मुख्य कार्य पूर्व निश्चित नीतियों पर केवल विचार प्रकट करना ही है।

२० सदस्यों से निर्मित पोलितब्यूरो निर्णय करने वालों का हृदय है और सम्भवतः बड़े निकाय के लिए नियन्त्रक बीज है। पोलितब्यूरो अपने निर्णयों को केन्द्रीय समिति के पास भेजता है और वह इनका अनुमोदन करके उन्हें दल के नियमों का रूप दे देती है। प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद के सिद्धान्त के अनुरूप सबके लिए बिना किसी ननुच के उन निर्णयों को स्वीकृत करना और लागू करना आवश्यक हो जाता है।

दल के अन्य अंगों के समान पोलितब्यूरो एक बहुसदस्यक निकाय है और इसकी स्थायी समिति इसका नाभिक है। यह माओ त्से-तुंग, लिउ शाओ-ची, चाउ इन-लाई, चाउ तेह, चेन युन, लिन प्याओ जैसे व्यक्तियों से निर्मित होता है और दल के इन प्रसिद्ध व्यक्तियों के स्थायी समिति के सदस्य रहने के कारण इसकी स्थिति राष्ट्रीय नीति निर्माण में सर्वोपरि रहती है।

केन्द्रीय समिति के अन्य अंग सचिवालय तथा विभिन्न विभाग हैं। विभागों के अन्तर्गत ग्रामीण कार्य, औद्योगिक कार्य, प्रचार कार्य संगठन, सामाजिक कार्य, नियन्त्रण आयोग आदि विभागों का समावेश होता है। सचिवालय प्रतिदिन दल के केन्द्रीय अंगों, ब्यूरो और समितियों द्वारा दल की नीति के सम्पादन के विषय में प्रबोध कराता रहता है। नियन्त्रण आयोग, जैसे कि नाम से स्पष्ट है, उन मामलों की परीक्षा करता है जहाँ दल के संविधान का भंग हुआ हो, अथवा दल के अनुशासन का पालन न हुआ हो। इसके अतिरिक्त वह दल के सदस्यों की अपीलों और शिकायतों को भी जाँचता है। इस आयोग के १७ नियमित सदस्य हैं और चार बारी-बारी से हैं। कहना न होगा कि दल की प्राथमिक शाखाओं और निम्न दल संगठन को छोड़कर हर स्तर पर नियन्त्रक समितियाँ कार्य करती हैं।

भारतीय गणराज्य का शासन

अध्याय १

संविधान का निर्माण

(MAKING OF THE CONSTITUTION)

भारत का नया सविधान भारत के प्रायः २०० वर्षों से अधिक समय के संवैधानिक विकास का चरमोत्कर्ष है। यह सविधान २६ नवम्बर, १९४२ को सविधान सभा ने स्वीकार किया था। सविधान सभा के निर्वाचन जुलाई, १९४६ में मन्त्रि-मिशन योजना के अनुसार हुए थे। २१० सामान्य स्थानों में से कांग्रेस ने १९९ स्थान प्राप्त किए। ७८ मुस्लिम स्थानों में से मुस्लिम लीग को ७३ स्थान मिले। सब मिला कर २९६ सदस्यों की सभा में से कांग्रेस के कुल सदस्य २११ थे।

संविधान सभा कांग्रेस और मुस्लिम लीग के चोटी के नेताओं, अनुभवी राज-नीतिज्ञों और सफल प्रशासकों, प्रसिद्ध न्यायविदों, विद्वानों एवं देश के प्रत्येक भाग के और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के प्रसिद्ध मनुष्यों का सगम थी। कांग्रेस के नेताओ में पं० जवाहरलाल नेहरू, डा० राजेन्द्रप्रसाद, श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, सरदार वल्लभभाई पटेल, पं० गोविन्दवल्लभ पन्त, श्री बी० जी० खेर, बा० पुरुषोत्तमदास टण्डन, मौलाना अबुलकलाम आजाद, खान-अब्दुलगफ्फार खा, श्री आसफ अली, श्री रफी अहमद किदवई, श्रीकृष्ण सिन्हा, श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी, आचार्य जे० बी० कृपलानी, श्री टी० टी० कृष्णमाचारी आदि थे। अन्य लोगो मे कांग्रेस के पक्ष के अलावा कांग्रेस द्वारा नामांकित ऐसे व्यक्ति भी थे जिनके समर्थन का कांग्रेस को पूर्ण विश्वास था। ऐसे सदस्यों मे डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, डा० सच्चिदानन्द सिन्हा, श्री एन० गोपालस्वामी आयंगर, डा० बी० आर० अम्बेदकर, डा० एम० आर० जयकर, श्री अल्लादि कृष्ण स्वामी अय्यर, पं० हृदयनाथ कुंजरू, श्री हरिसिंह गौर, प्रो० के० टी० शाह आदि थे। सविधान सभा में कुछ प्रसिद्ध स्त्रिया भी सदस्याएं थी जिनमें श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख, श्रीमती हंसा मेहता, और-श्रीमती रेणुका राय प्रमुख थी। मुस्लिम लीग मे नवाबजादा लियाकत अली खां, ख्वाजा नाजिमुद्दीन, श्री एच० एस० सुहरावर्दी, सर फीरोज खा नून और और सर मोहम्मद जफरुल्ला खा प्रमुख थे।

सविधान सभा का प्रथम अधिवेशन ९ दिसम्बर, १९४६ को होना निश्चित हुआ। संविधान सभा सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न निकाय नही थी क्योंकि इसके ऊपर कई

प्रकार की मर्यादाएं लगी हुई थी, जिनका सम्बन्ध सिद्धान्तों से भी था और कार्य-प्रणाली से भी था। इसके अतिरिक्त यह ब्रिटिश संसद् के अधिकार की छाया में कार्य कर रही थी। किन्तु इन मर्यादाओं के होते हुए भी कांग्रेस ने संविधान सभा मे भाग लेना स्वीकार कर लिया था। किन्तु मुस्लिम लीग ने उद्धत रुख अपनाया और ६ दिसम्बर, १९४६ के वक्तव्य के बावजूद, जिसमे मुस्लिम लीग की सभी मांगें स्वीकार कर ली गई थी, वह अपने वायदो से पीछे हट गई और अब उसने दो संविधान सभाओ की माग की जिनमें से एक पाकिस्तान के लिए संविधान बनाती और दूसरी भारत अथवा हिन्दुस्तान के लिए। गतिरोध चलता रहा और मुस्लिम लीग संविधान सभा के बायकाट पर डटी रही, यद्यपि उसने निश्चित तिथि पर नई दिल्ली मे संविधान सभा के प्रारम्भिक अधिवेशन मे भाग लिया था। मुस्लिम लीग की विघ्नकारी और अड़गावादी नीति के कारण एटली सरकार का धैर्य जाता रहा और ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने ब्रिटिश सम्राट् के शासन की इस इच्छा की घोषणा की कि जून, १९४८ तक भारत सरकार का शासन उत्तरदायी भारतीय नेताओं को हस्तान्तरित कर दिया जायगा। इसके बाद ३ जून, १९४७ को माउण्टबेटन योजना (Mountbatton Plan) प्रस्तुत की गई जिसमें प्रस्ताव किया गया कि भारत का दो भागो, भारत और पाकिस्तान, मे विभाजन किया जाए। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ही ने इस योजना को स्वीकार कर लिया और उसी के फलस्वरूप १९४७ का, 'भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम' पास हुआ। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने मन्त्रिमण्डल मिशन योजना (Cabinet Mission Plan) को कूड़े की टोकरी मे डाल दिया और भारत को सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त कर दिया और इस प्रकार संविधान सभा पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न निकाय के रूप मे स्थापित हुई।

अप्रैल, १९४७ में ही निम्नलिखित देशी राज्यों के प्रतिनिधि संविधान सभा मे सम्मिलित हो चुके थे : बड़ौदा, बीकानेर, उदयपुर, जोधपुर, रीवा और पटियाला। १४ जुलाई, १९४७ तक सभी देशी राज्यों ने संविधान सभा के लिए अपने-अपने प्रतिनिधि भेज दिए थे केवल दो राज्य, जम्मू और कश्मीर तथा हैदराबाद, अपवाद थे। अक्तूबर, १९४७ मे जम्मू और कश्मीर राज्य भी भारत मे सम्मिलित हो गया और उक्त राज्य के प्रतिनिधि ने संविधान सभा मे भाग लिया। उसी प्रकार नवम्बर, १९४८ मे हैदराबाद राज्य भी भारत मे सम्मिलित हो गया और उसके प्रतिनिधियो ने भाग लिया। इस प्रकार संविधान सभा भारत की पूर्ण प्रतिनिधिक सभा बन गयी और उक्त निकाय का स्वरूप पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न हो गया।

संविधान का निर्माण (The Making of the Constitution)—भारत की पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न संविधान सभा के प्रथम अधिवेशन मे सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्रप्रसाद ने इच्छा व्यक्त की कि हम भारत में वर्ग-हीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं और समस्त भारतवर्ष को सभी नागरिकों का सहयोगपूर्ण संयुक्त राष्ट्र बनाना चाहते हैं और उन्होंने माग की कि संविधान सभा का यह सर्वोच्च कर्तव्य है कि वह उक्त उद्देश्यों को सामने रख कर ही संविधान का निर्माण करे। पं० जवाहरलाल नेहरू ने उद्देश्यो सम्बन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत करके संविधान की आधारशिला का शिलान्यास किया। उक्त प्रस्ताव में कहा गया था—

"यह संविधान सभा भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित करती है और उसकी शासन-व्यवस्था के लिए एक संविधान निर्मित करना चाहती है,

....

....

(४) सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न एव स्वतन्त्र भारत, उसके अवयवी एककों और शासन के सभी अगों के समस्त अधिकार और समस्त राजनीतिक शक्ति जनता से प्राप्त हुई है, और

(५) भारत के समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रदान किया जाएगा ; सभी को प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्रदान की जाएगी, विधि के समक्ष सभी को समानता प्रदान की जाएगी; सभी को विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना, उद्यम और व्यापार आदि की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी और सभी लोग स्वतन्त्रतापूर्वक साहचर्य और क्रियाकलाप कर सकेंगे;: केवल देश की विधि और लोक-सदाचार का उक्त स्वतन्त्रताओं पर अकुश रहेगा; और

(६) भारत मे अल्पसख्यक वर्गों को, अनुन्नत और पिछड़े हुए प्रदेशों अथवा अनुसूचित क्षेत्रों को, अछूतों और अन्य पिछड़े हुए वर्गों को पर्याप्त सरक्षण प्रदान किए जाएगे; और

(७) इस प्रकार राष्ट्र की एकता अक्षुण्ण रखने के लिए, गणराज्य की प्रादेशिक स्वतन्त्रता को भी अक्षुण्ण रखने के हेतु और समस्त देश के जल-थल और आकाश के ऊपर पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न अधिकारों की स्वतन्त्रता एवं गरिमा की रक्षार्थ;

(८) इस अति प्राचीन देश ने ससार मे अपना अधिकारपूर्ण एवं सम्मानित स्थान प्राप्त किया है और "हम सभी भारत के नागरिक संसार में शान्ति-स्थापनार्थ और समस्त मनुष्य जाति के कल्याणार्थ प्रत्येक कार्य में पूर्ण योगदान देंगे ।"[1]

उद्देश्यों-सम्बन्धी प्रस्ताव १३ दिसम्बर, १९४६ को प्रस्तुत किया गया था और २२ जनवरी, १९४७ को स्वीकृत हुआ । इस प्रस्ताव के द्वारा उन मौलिक उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया था जिनके आलोक मे सविधान सभा को सविधान तैयार करना था । उक्त प्रस्ताव के मुख्य उपवन्ध निम्नलिखित थे :

(१) भारत पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न और स्वतन्त्र गणराज्य होगा ;

(२) भारत लोकतन्त्रात्मक सघ (Union) होगा और उसके सभी अवयवी एककों मे समान स्तर के स्वशासन की व्यवस्था होगी । पडित जवाहरलाल नेहरू ने बल देकर कहा था कि "अलग-अलग राज्यो में स्वतन्त्रता के विभिन्न स्तर नही होंगे अर्थात् देशी राज्यो मे भी और शेष भारत मे भी सभी नागरिकों को समान स्वतन्त्रता प्राप्त होगी ।"[2]

1. Constituent Assembly Proceedings, Vol. I, p. 57.

2. Constituent Assembly Proceedings, Vol. I, Page 60.

(३) भारत की संघीय सरकार एव अवयवी एककों की सरकारों को समस्त राजनीतिक शक्ति एवं समस्त अधिकार जनता से ही प्राप्त हुए है,

(४) देश का संविधान ऐसी शासन-व्यवस्था को जन्म देगा कि सभी लोगों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समानता के आधार पर, अवसरो की समानता के आधार पर और विधि के समक्ष सभी की समानता के आधार पर पूर्ण न्याय मिलेगा ;

(५) विधि के अनुसार तथा लोक-सदाचार की रक्षा करते हुए सभी नागरिकों को विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना, उद्यम और व्यापार, साहचर्य और क्रियाकलाप की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी,

(६) सविधान अल्पसख्यकों, पिछड़े हुए और अनुन्नत प्रदेशों अथवा अनुसूचित क्षेत्रों, अछूत एव अन्य पिछड़े वहुए वर्गों को न्याय्य अधिकार प्रदान करेगा, ताकि सभी लोग देश के शासन में समान भाग ले सके और सभी को समान सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक अधिकार न्याय्य रूप मे मिले,

(७) संविधान सभा ऐसा सविधान निर्माण करे कि जिसके बल पर संसार के राष्ट्रों मे भारत को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हो और तब भारत विश्व-शक्ति एव मनुष्य-मात्र के कल्याणार्थ सभी कार्यों में पूर्ण योगदान दे।

सविधान की मुख्य सामग्री उन अनेक समितियो के प्रतिवेदनों से प्राप्त हुई है जिनमे से कुछ ये हैं—सघीय अधिकार समिति; संघीय संविधान समिति; प्रान्तीय सविधान समिति; अल्पसख्यक परामर्शदात्री समिति, मौलिक अधिकार समिति; चीफ कमिश्नरों सम्बन्धी समितिया ; सघ और राज्यो के बीच वित्त वितरण करने वाली समिति; पिछड़े प्रदेश सम्बन्धी मन्त्रणा समिति और सर्वोच्च न्यायालय सम्बन्धी समिति आदि-आदि । किन्तु सविधान को अन्तिम स्वरूप प्रारूप समिति ने दिया, जिसमें सात सदस्य थे और जिसके चेयरमैन डा० अम्बेदकर थे।[1] डा० अम्बेदकर ने संविधान का प्रारूप संविधान सभा के अध्यक्ष को समर्पित करते हुए लिखा था "प्रारूप तैयार करते समय, प्रारूप समिति से यह आशा की जाती थी कि वह या तो सविधान सभा के निर्णयों को स्वीकार करे अथवा उन अनेक समितियो के निर्णयों को स्वीकार करे जिनको संविधान सभा ने नियुक्त किया था। प्रारूप समिति ने यथा-सम्भव अपने इस कर्त्तव्य को निबाहा है। किन्तु कुछ मामले ऐसे भी सम्मुख आए जिन पर प्रारूप समिति को कुछ परिवर्तन करने पड़ गए।"[2] किन्तु एक सम्बन्ध मे सविधानों का प्रारूप उद्देश्यों सम्बन्धी प्रस्ताव से बिल्कुल मेल नही खाता। उक्त प्रस्ताव मे चाहा

---

1. प्रारूप समिति के अन्य सदस्य निम्नलिखित थे—एन० गोपालस्वामी आयंगर, के० एम० मुन्शी, सैयद मोहम्मद सादुल्ला, एन० माधव राव, डी० पी० खेतान। सर बी० एल० मित्र को प्रारम्भ मे सदस्य नियुक्त किया गया था, किन्तु वह सविधान सभा के प्रथम अधिवेशन के बाद उपस्थित न हो सके क्योंकि वह सविधान सभा के सदस्य नहीं रहे।

2. Draft Constitution of India, III.

गया था, "भारत गणराज्य में उल्लिखित प्रदेशों की स्थिति स्वायत्तशासी एककों की सी रहेगी और उनको समस्त अवशिष्ट शक्तियां प्रदान कर दी जाएंगी।" संविधान के प्रारूप में संघीय अधिकार समिति (Union Powers Committee) की सिफारिश पर यह सुझाया गया है कि अवशिष्ट शक्तियां संघ के पास रहें (देशी राज्य अपवाद होंगे)। प्रारम्भ में अवयवी एककों को पूर्ण स्वायत्तशासी एकक राज्य बनाने का विचार था; किन्तु अब उसके स्थान पर शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना का उपबन्ध किया गया है। ऐसा इसलिए आवश्यक हो गया क्योंकि देश का बटवारा हो गया।[1]

संविधान सभा के २९ अगस्त, सन् १९४७ के प्रस्ताव के अनुसार प्रारूप समिति की नियुक्ति की गई थी, और समिति ने अपना प्रतिवेदन २१ फरवरी, १९४८ को प्रस्तुत किया। ४ नवम्बर, १९४८ को उक्त रिपोर्ट संविधान सभा के विचारार्थ प्रस्तुत की गई, अर्थात् उक्त रिपोर्ट प्रकाशित होने के लगभग आठ महीने बाद। इस प्रकार इतना पर्याप्त समय दे दिया गया जो सर्वसाधारण, समाचार-पत्र और प्रान्तीय विधान सभाएं उक्त रिपोर्ट पर विचार करके जनमत तैयार कर सकें। इसका प्रथम वाचन सामान्य विचार-विनिमय के साथ ४ नवम्बर को प्रारम्भ होकर ९ नवम्बर तक चला। इसके उपरान्त द्वितीय वाचन प्रारम्भ हुआ जिसमें प्रारूप की धाराओं पर विचार किया गया था। द्वितीय वाचन १५ नवम्बर, १९४८ से १७ अक्तूबर, १९४९ तक चलता रहा। इस पर ७६३५ संशोधन प्रस्तुत किये गए जिनमें से २४७३ संशोधन पुरःस्थापित किए गए और उन पर वाद-विवाद हुआ। इसके उपरान्त संविधान सभा पुनः प्रारूप के तृतीय वाचन के लिए १४ नवम्बर, १९४९ को बैठी। २६ नवम्बर को तृतीय वाचन समाप्त हुआ। इसी तिथि को संविधान के ऊपर संविधान सभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर हुए और संविधान पारित घोषित कर दिया गया।

२४ जनवरी, १९५० को संविधान सभा का अन्तिम अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में संविधान सभा ने डा० राजेन्द्रप्रसाद को नये संविधान के अनुसार भारतीय गणराज्य का प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया और २६ जनवरी, १९५० से नया संविधान प्रभावी हो गया। गणराज्य के प्रतिष्ठापन के लिए उक्त तिथि को इसलिए चुना गया क्योंकि इसी तिथि अर्थात् २६ जनवरी, १९३० को ही कांग्रेस ने लाहौर-अधिवेशन में पूर्ण स्वतन्त्रता-सम्बन्धी प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया था। तभी से प्रतिवर्ष उसी तिथि को सारे देश में सभाएं करके स्वतन्त्रता-सम्बन्धी वही प्रस्ताव दुहराया जाता रहा। यह क्रम १९४७ तक चलता रहा जब तक कि भारत स्वतन्त्र नहीं हुआ। यह अत्यन्त शुभ निश्चय था कि गणराज्य के प्रतिष्ठान के लिए वही दिन चुना गया जिस दिन, अर्थात् २६ जनवरी, को स्वतन्त्रता दिवस मनाया जा रहा था।

संविधान-निर्माताओं का कार्य (Task of the Constitution Makers)—इसमें सन्देह नहीं है कि संविधान के निर्माताओं का कार्य अत्यन्त कठिन था। अनेक

---

1. उद्देश्यों सम्बन्धी प्रस्ताव, १३ दिसम्बर, १९४६ को पुरःस्थापित किया गया था और २२ जनवरी, १९४७ को स्वीकृत हुआ। माउण्टबेटन योजना के अनुसार ३ जून, १९४७ को देश का बटवारा निश्चित हो गया।

और विभिन्न प्रकार की समस्याएं उनके सम्मुख आईं। उनको ऐसे ३० करोड व्यक्तियों के लिए सविधान तैयार करना था जो किसी भी प्रकार न तो एक जाति के थे और न एक ही प्रकार के लोग थे। हमारे देश मे अनेक विभिन्न जातिया निवास करती है, जो विभिन्न भाषाएं बोलती हैं, जिनके विभिन्न रीति-रिवाज है, जिनकी विभिन्न परम्पराएं हैं और जिनकी सस्कृतियां भी विभिन्न समझी जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त देश में धार्मिक विभेद भी थे जिनको अंग्रेजों ने खूब भडकाया था और जिन विभेदो के आधार पर वे हमारे देश में फल-फूल रहे थे। धार्मिक विभेदो के आधार पर मुस्लिम लीग द्वारा देश के विभाजन की मांग, और अन्त मे देश के पश्चिमी और पूर्वी भू-भागों के खंडित हो जाने के कारण यह सारी प्रस्तावित शासन-व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गई जिसको देश में प्रचलित करने के लिए सोचा जा रहा था। भारत की ही छाती पर एक विदेशी सत्ता को थोप देने के फलस्वरूप अब संविधान के निर्माताओ के सम्मुख देश की एकता और सुरक्षा का भी भारी खयाल था।

इसके अतिरिक्त भारतीय रजवाड़ों अथवा देशी राज्यो की अत्यन्त व्यग्रकारी समस्या थी। ब्रिटिश सरकार द्वारा परमेष्ठता (Paramountcy) के त्याग-सम्बन्धी घोषणा ने बहुत ही पेचीदा स्थिति उत्पन्न कर दी थी। देशी राज्यों को स्वतन्त्र छोड दिया गया था कि वे या तो भारत की उत्तराधिकारी सरकार या सरकारो के साथ सघीय सम्बन्ध स्थापित कर लें; या यदि वैसा सम्भव न हो तो वे "उत्तराधिकारी सरकार या सरकारो के साथ मनोवांछित राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लें।"[1] "मन्त्रि-मण्डल मिशन (Cabinet Mission) ने जो ज्ञापन देशी राज्यो, सन्धियो और परमेष्ठता के सम्बन्ध में प्रकाशित कराया था, और जिस पर माउण्टबेटन योजना (Mountbatten Plan) मे भी बल दिया गया था, उसकी यदि विधि रूप में व्याख्या की जाए तो उक्त ज्ञापन ने किसी देशी राज्य के राजा या नवाब को अथवा राजाओं और नवाबों को पूरी स्वतन्त्रता दे दी थी कि वे चाहें तो स्वतन्त्र हो सकते हैं या वे किसी विदेशी सत्ता से सन्धि कर सकते हैं और इस प्रकार भारत की छाती पर छोटे-छोटे स्वतन्त्र द्वीपो के रूप में रह सकते हैं।"[2] सत्य तो यह है कि कुछ राजे विदेशी राज्यों के साथ बातचीत शुरू कर चुके थे और स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के स्वप्न देख रहे थे।[3] विभाजन के बाद भारत के बचे-खुचे अंग की एकता इतनी आवश्यक थी कि "भारत सरकार का उसको बनाये रखना और उसके लिये व्यग्र होना स्वाभाविक था।"[4] प्रो० कूपलैण्ड (Prof. Coupland) ने बहुत ही ठीक कहा था कि भारतवर्ष अपने शरीर के उत्तर-पूर्वी और उत्तर-पश्चिमी मुस्लिम-बहुल अगों के कट

---

1. Memorandum of the Cabinet Mission on "States, Treaties and Paramountcy", dated May 12, 1946.

2. Refer to V. N. Shukla's 'The Constitution of India' (1950) XVII.

3. उदाहरणस्वरूप जूनागढ़ और हैदराबाद।

4. भारतीय राज्यो पर श्वेत-पत्र (White Paper) dt. July 1948 नं० १८।

जाने पर भी जीवित रह सकता था । किन्तु क्या भारत हृदय के बिना भी जीवित रहता ? इसलिए स्वभावतः नई भारत सरकार का सबसे पहला कार्य यह था कि वह अपने हृदय की रक्षा करे, और देशी राज्य ही भारत का हृदय था । सविधान के निर्माताओं ने श्रमपूर्वक देशी राज्यो को भारत की संवैधानिक शासन-व्यवस्था मे डालने का प्रयत्न किया, जिससे उसका उचित आकार बन जाए और उनमे शेष भारत के समान लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित हो जाए । १५ मार्च, १९५० के देशी राज्यो सम्बन्धी श्वेत-पत्र (White Paper) मे ठीक ही कहा गया था कि "भारतीय स्वतन्त्रता के कोई अर्थ ही न रह जाएंगे, यदि देशी राज्यों के लोगो को भी वही राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रताएं प्राप्त न हो सकी जो भारतीय प्रान्तों के लोगों को प्राप्त है।"

इसके अतिरिक्त पिछड़ी हुई और अनुन्नत जातियों और प्रदेशों, जिनको अनुसूचित आदिम जातिया और अनुसूचित क्षेत्र भी कहा जा सकता है, की उन्नति का भी उपबन्ध करना था । इसलिए सविधान के निर्माताओ का कार्य अत्यन्त कठिन और भारी था । भारत में अनेक प्रकार की विभिन्नताए हैं जिनको ब्रिटिश शासन ने और अधिक बढाया था और उस दिशा में पूर्ण अस्तव्यस्तता की स्थिति उत्पन्न कर दी थी, और समस्त देश मे सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक कारणो से भी वह विभिन्नता खूब फली-फूली थी, और सविधान के निर्माताओ को इसी विभिन्नता के प्रागण मे एकता स्थापित करनी थी । सविधान सभा ने आश्चर्यजनक सफलता के साथ एक ऐसा सविधान तैयार किया जिसके द्वारा वे सभी कठिन समस्याए हल हो गईं जो देश के सम्मुख आई हुई थी ।[1]

संविधान के आधार अथवा स्रोत (Sources of the Constitution)—सविधान के निर्माताओ ने अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक और काफी खुल कर ससार के अन्य लोकतन्त्रात्मक देशो के गाढ़े अनुभवों से लाभ उठाया हैं । सत्य यह है कि ससार के प्रायः सभी ज्ञात सविधानो को पढ कर ही सविधानों का प्रारूप तैयार किया गया था । सविधान के लेखको के समक्ष १९३५ का भारत सरकार अधिनियम एव उसकी क्रियान्विति भी थीं । सविधान ने बहुत अशों मे १९३५ के भारत सरकार अधिनियम से भी सहायता ली है । प्रो० श्रीनिवासन के अनुसार, "हमारा सविधान भाषा और विषय की दृष्टि से १९३५ के भारत सरकार अधिनियम का बहुत अशो में ऋणी है।"[2] सविधान का लगभग दो-तिहाई भाग उक्त अधिनियम से ही लिया गया है, किन्तु देश की आधुनिक स्थिति और १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की व्यावहारिक क्रियान्विति के अनुसार कही-कही आवश्यक सशोधन भी कर दिये गए हैं ।

सविधान के सैद्धान्तिक भाग अर्थात् मौलिक अधिकारों वाले भाग पर संयुक्त

---

1. सविधान सभा मे डा० राजेन्द्रप्रसाद की २६ नवम्बर, १९४९ की वक्तृता को देखिये ।

2. Democratic Government of India, op. citd., p. 143.

राज्य अमेरिका के संविधान की छाप है और "किसी सीमा तक नवीनतर अन्य सविधानों, जैसे आयरलैंड के संविधान का भी स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।"[1] जैसा कि सविधान के निर्माताओं ने भी स्वीकार किया है, सविधान के संघीय स्वरूप पर मुख्यत कनाडा के सविधान का प्रभाव है और जहा तक सविधान की प्रस्तावना (Preamble) का सम्बन्ध है, उक्त प्रस्तावना की भाषा "ब्रिटिश-उत्तरी अमरीका अधिनियम" (British North America Act) के अनुसार ढाली गई है और उसमें यत्र-तत्र आस्ट्रेलिया के सविधान की प्रस्तावना से भी भाव और भाषा ग्रहण किये गए हैं। समस्त शासन का, अर्थात् केन्द्र मे भी और राज्यो मे भी ससदीय स्वरूप, ब्रिटिश परम्पराओ से लिया गया है और केन्द्रीय शासन एव राज्यों के शासनो पर ब्रिटिश संसदीय शासन की परम्पराओं का स्पष्ट प्रभाव है।

इस प्रकार भारतीय गणराज्य का सविधान एक अद्भुत प्रलेख है जिसको अनेक स्रोतों से तैयार किया गया है।[2] सविधान के निर्माताओं ने प्रयत्नपूर्वक अन्य सविधानों के दोषों को यथासम्भव दूर रखा और उनकी केवल वही विशेषताएं ली गई जो विभाजन के बाद भारत की तत्कालीन परिस्थितियो के अनुकूल थी। इस कारण शासन-व्यवस्था के मान्य प्रयोगो और सिद्धान्तो से कही-कही हमारा सविधान प्रयाण कर गया है क्योंकि हम अपने देश को शान्ति-काल और युद्ध-काल के आपात-कालों के अनुरूप बनाना चाहते हैं।

Suggested Readings

	Constituent Assembly Proceedings, Vol I, VII.
Kapur, Anup Chand	: *The Theory of the Constituent Assembly and its Development in India.*
Srinivasan, N.	*The Theory of the Constituent Assembly,*
Munshi, K M.	: *Constituent Assembly—the Hour of Freedom. The Hindustan Times, Delhi,* Independence Day Supplement, Monday, August 15, 1955.
Narang, Jaigopal	: *Constituent Assembly and our Demand*
Singh, Gurmukh Nihal	: *The Idea of an Indian Constituent Assembly,* Indian Journal of Political Science, January-March, 1941.
Singh, Gurmukh Nihal	: *The Indian Constituent Assembly.*
Srinivasan, N.	: *The Theory of the Constituent Assembly,* Indian Journal of Political Science, April-June 1940.

---

1. Basu, Durgadas, Commentary on the Constitution of India (1952) p. 4.

2. Refer to the Constituent Assembly Proceedings. Vol. VII, p 37 : ff.

अध्याय २

भारत के संविधान की मुख्य विशेषताएँ

(SALIENT FEATURES OF THE CONSTITUTION)

भारत के गणराज्य-सम्बन्धी सविधान की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :—

बड़ा प्रलेख (A Comprehensive Document)—भारत का सविधान एक बड़ा प्रलेख है जिसमे प्रारम्भ मे ३९५ अनुच्छेद थे और आठ अनुसूचिया थी। सविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, १९५१ द्वारा इसमें एक अनुसूची और जोड़ दी गई थी। ससार का कोई अन्य सविधान इतना बड़ा और विस्तृत नही है और न किसी सविधान पर इतना विचार किया गया जितना कि भारत यूनियन के सविधान पर हुआ। इसके कई कारण थे। भारत की पुरानी शासन-व्यवस्था और समस्त देश के राजनीतिक एवं आर्थिक संगठन के कारण भी सविधान के निर्माताओं का कार्य कठिन था। इसके अतिरिक्त विभिन्न वर्गो को एक शासन-व्यवस्था मे सम्मिलित करना था और अति विभिन्न एकको को शासन के एक सम्मिलित अंग मे पिरोना था। इन विभिन्नताओ के कारण सविधान-निर्माताओं का कार्य पर्याप्त कठिन हो गया था और ऐसी स्थिति में शासन मे व्यवस्थापन एवं प्रशासन-सम्बन्धी एकरूपता लाना प्रायः असम्भव दिखाई दे रहा था। इसलिए आरम्भ मे सविधान ने चार विभिन्न प्रकार के अवयवी एककों की व्यवस्था की—अर्थात् चार प्रकार के राज्यों की व्यवस्था की गई। भाग A, भाग B, भाग C और भाग D, जिनको प्रथम अनुसूची के राज्यों में विभाजित कर दिया गया। यह भी निश्चित किया गया कि इन चारों प्रकार के राज्यो में विभिन्न शासन-व्यवस्था प्रचलित होगी।

देश के विभाजन के उपरान्त खण्डित भारत का जितना भू-भाग बचा था, उसकी प्रादेशिक एकता, देश की राजनीतिक शक्ति, पूर्ण आर्थिक विकास और भारत के सभी लोगों के पूर्ण सास्कृतिक विकास के लिए इतनी आवश्यक थी कि सविधान के निर्माताओं ने कनाडा के सविधान को आधार बनाया और इस प्रकार न केवल भारतीय संघ के लिए सविधान बनाया, अपितु राज्य के लिए भी संविधान बनाए। सविधान ने संघ और राज्यो के बीच के जटिल सम्बन्धों पर विस्तृत प्रकाश डाला है; साथ ही अन्तर्राज्यीय सम्बन्धो के समन्वय तथा ऐसे विवादों के निर्णय की व्यवस्था की है जो विभिन्न राज्यो मे बहने वाली नदियो के पानी अथवा नदियो की घाटियो से सम्बन्धित हो। सविधान सभा ने यह निर्णय किया कि इस प्रकार की विशिष्ट समस्याओं के लिए, जिनका सम्बन्ध सार्वजनिक सेवाओं से हो, अथवा विशेष वर्गों, जैसे आंग्ल-भारतीय, अनुसूचित जातियों अथवा अनुसूचित आदिमजातियो से हो, अलग से संवैधानिक अधिनियम बनाना चाहिए। उसी प्रकार देश की अधिकृत भाषा और प्रादेशिक

भाषाओं में भी संविधान मे अलग से उपबन्ध रखे गए हैं। राज्यों के पुनर्गठन के कारण आन्ध्र प्रदेश तथा पंजाब मे प्रादेशिक समितियो (Regional Committees) के रूप में एक नई व्यवस्था का भी संविधान मे समावेश हुआ जिससे लोग अभी तक अपरिचित ही थे।

संविधान मे मौलिक अधिकारों की एक सूची दी गई है और साथ ही राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व भी दिये गए हैं। सविधान के निर्माताओं ने सघीय न्यायपालिका और राज्यों की न्यायपालिकाओ के सगठन और अधिकार-क्षेत्र पर भी प्रकाश डाला है। यह भी हो सकता था कि केन्द्र मे और राज्यो मे न्यायपालिका के सगठन के सम्बन्ध में सामान्य व्यवस्थापना के द्वारा व्यवस्था की जा सकती थी जिस प्रकार कि सयुक्त राज्य अमेरिका और कई अन्य देशो मे हुआ।

अन्ततः, सविधान मे आपातकालीन शक्तियो के सम्बन्ध मे भी उपबन्ध हैं। सविधान के निर्माताओं ने सविधान मे क्योंकर आपातकालीन शक्तियों के सम्बन्ध में उपबन्ध रखा, इसका विवेचन उपयुक्त अवसर पर किया जाएगा। यहा पर इतना निवेदन कर देना पर्याप्त होगा कि देश के विभाजन से पूर्व और देश के विभाजन के उपरान्त समस्त देश मे ऐसी भयावह स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि सविधान के निर्माता भविष्य के बारे में चिन्तित हो उठे; अत: उन्होंने केन्द्र को भारी शक्तियां दे डाली जिनसे यदि कभी देश मे बाह्य अथवा आन्तरिक विप्लव की स्थिति हो और देश की स्वतन्त्रता को खतरा हो तो केन्द्र स्थिति को उचित ढग से काबू मे कर सके।

इसलिये इसमें कोई आश्चर्य नही है कि सविधान के निर्माताओ ने संविधान-प्रलेख को लम्बा और बड़ा प्रलेख रखा, जो कहीं-कही तो अत्यधिक विस्तृत उपबन्धों से पूर्ण है। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि किसी देश का सविधान इतिहास के तथ्यों से अछूता नही रह सकता।

सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य (A Sovereign Democratic Republic))—सविधान की प्रस्तावना में भारत को पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य कहा गया है। इसका अर्थ है कि भारत प्रभुसत्ताधारी राज्य है, और वह किसी सत्ता का दास नही है। अर्थात् अपने आन्तरिक प्रबन्ध में और विदेशी सम्बन्धो के निर्वहन में यह पूर्ण स्वतन्त्र है। भारत की शक्ति अपने अधिकार क्षेत्र में पूर्ण है और सब प्रकार की मर्यादाओं से परे हैं।

इसके अतिरिक्त भारत को 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' कहा गया है। कुछ लोगों का आक्षेप है कि 'लोकतन्त्रात्मक' और 'गणराज्य' दोनों शब्दों के एक ही अर्थ हैं अर्थात् सर्वसाधारण के निर्वाचित प्रतिनिधियो का शासन हो। किन्तु 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' शब्दों की पुनरुक्ति (Tautology) मात्र कहना उचित नही है। केवल 'लोकतन्त्र' का अर्थ आवश्यकतः 'गणराज्य' शासन नही है। लोकतन्त्र, इस प्रकार के नृपतन्त्र मे भी प्राप्त हो सकता है, जैसे इंग्लैंड मे प्रचलित है। गणराज्य में, राज्य का कार्यपालिका-प्रधान, आवश्यकतः सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचित प्रधान होना चाहिए; चाहे उसे सर्वसाधारण प्रत्यक्ष रूप मे चुने या सर्वसाधारण के प्रतिनिधि चुनें। भारत

के संविधान में 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' से यह ध्वनि निकलती है कि राज्य का कार्यपालिका-प्रधान कोई राजा नहीं होगा और इससे यह भी अर्थ निकलता है कि संविधान समस्त देश में लोकतन्त्रात्मक संस्थाएं स्थापित करेगा जिनके द्वारा सभी नागरिकों को न्याय, स्वतन्त्रता और समानता प्राप्त होगी और सभी लोगों में बन्धुत्व की भावना का सचार होगा। दूसरे शब्दों में भारतीय संविधान की प्रस्तावना ने भारत में ऐसा शासन स्थापित किया है जो स्वरूप में और यथार्थ में सर्वसाधारण का शासन है, सर्वसाधारण के लाभ के लिए शासन है और सर्वसाधारण के द्वारा शासन है।

भारत की राष्ट्रमण्डल की सदस्यता और उसकी प्रभुत्वसम्पन्न स्थिति (India's Commonwealth Membership and Sovereign Status)—कुछ लोगों का आक्षेप है कि भारत राष्ट्रमण्डल[1] का सदस्य बना हुआ है और उसने ब्रिटिश सम्राट् को राष्ट्रमण्डल के स्वतन्त्र राष्ट्रों के बीच स्वतन्त्र सम्पर्क का प्रतीक मान लिया है, इसलिए ब्रिटिश सम्राट् को एक प्रकार से राष्ट्रमण्डल के सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों का प्रमुख अथवा प्रधान स्वीकार कर लिया है, और यह भारत की गणराज्यीय स्थिति और सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न स्वरूप के सर्वथा विपरीत है। उन्हीं आलोचकों की यह सम्मति है कि १९४९ का राष्ट्रमण्डलीय समझौता विश्वासघात है और देश के विभाजन के बाद कांग्रेस की सबसे बड़ी गलती है। वे उक्त समझौते को ब्रिटिश कूटनीति की विजय समझते हैं और भारतीय लोगों की राष्ट्रीय भावनाओं के प्रति गद्दारी समझते हैं। ७ दिसम्बर, १९५६ को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से हटने के लिए एक प्रस्ताव भी प्रस्तुत किया गया था।

अप्रैल, १९४९ का राष्ट्रमण्डलीय समझौता, जो आठ राष्ट्रमण्डलीय देशों के प्रतिनिधियों की सम्मिलित घोषणा में निहित है, वास्तव में एक रियायतपूर्ण समझौता था, अथवा "एक प्रकार की राजनीतिक चाल थी जिसके द्वारा असम्बद्ध व्यवस्थाओं में सम्बन्ध करना अभीष्ट था; अर्थात् एक ओर तो भारत निर्णय कर चुका था कि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न स्वतन्त्र राज्य होते हुए वह गणराज्यीय संविधान स्वीकार करेगा। और दूसरी ओर वह यह भी चाहता था कि राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहे।"[2] इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारत ने कतिपय आशाओं और लाभों को लक्ष्य में रखते हुए राष्ट्रमण्डल में रहना उचित समझा हो और सम्राट् को "राष्ट्रमण्डल का प्रधान और राष्ट्रमण्डल के स्वतन्त्र राष्ट्रों के बीच स्वतन्त्र सम्पर्क का प्रतीक माना हो; किन्तु यह संवैधानिक विरोधाभास अवश्य है।" सम्राट् को ऐसे राष्ट्रमण्डल का प्रधान स्वीकार किया जाना, जिसका भारत एक सदस्य है, और दूसरी ओर भारत का पूर्ण गणराज्य होना, परस्पर असम्बद्ध बातें हैं और संवैधानिक दृष्टिकोण से तो यह बेमानी और गड़बड़ की स्थिति है। यदि श्री एम० रामास्वामी की बात मान

1. २७ अप्रैल, १९४९ को लन्दन-कान्फ्रेंस के समाप्त होने पर राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्रियों के वक्तव्य को देखिए।

2. Banerjee, D. N. : "The Commonwealth Agreement and India", Indian Journal of Political Science. April—June, 1950, p. 32.

ली जाए कि सम्राट्, राष्ट्रमण्डल का प्रधान अवश्य है किन्तु यह प्रधान पद केवल औपचारिक है और उसका संवैधानिक महत्त्व प्राय. बिल्कुल नहीं है,[1] तो भी इसमें संवैधानिक हीनता का बोध तो अवश्य होता है।

किन्तु आलोचकों ने तथ्यों को समझा नहीं। भारत की स्थिति वह नहीं है जो अन्य अधिराज्यों (Dominions) की है। भारत की ब्रिटिश क्राउन के प्रति कोई निष्ठा नहीं है। ब्रिटिश सम्राट् को राष्ट्रमण्डल के स्वतन्त्र सदस्यों के बीच स्वतन्त्र सम्पर्क का प्रतीक माना गया है। कानूनन भारत की स्थिति राष्ट्रमण्डल के अन्य सदस्यों से ब्रिटिश शासन और ब्रिटिश संसद् के प्रति निष्ठा और अधीनता दोनों विचारों से विभिन्न है। ग्लैडहिल (Glodhull) ने इसी बहस मे भाग लेते हुए कहा था, "यद्यपि वेस्टमिन्स्टर संविधि (Statuto of Westminstor) मे यह नहीं कहा गया है कि सब डोमिनियनों अथवा अधिराज्यों के विधानमण्डल इग्लैंड की संसद् के अधीन स्वीकार किए जाएं और यह भी सम्भावना नहीं है कि इग्लैंड की संसद् जान-बूझ कर कभी कोई ऐसा अधिनियम पास करेगी जिसका अधिराज्य अथवा डोमिनियन पर प्रभाव पड़े; किन्तु यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि कभी इग्लैंड की संसद कोई ऐसा अधिनियम पास कर दे जो वेस्टमिन्स्टर की संविधि के विरुद्ध हो तो इग्लैंड का कोई न्यायालय यह दृष्टिकोण अपना सकता है कि चूंकि इंग्लैंड की संसद् प्रत्येक विधि पारित करने के लिए सक्षम और स्वतन्त्र है इसलिए उस विधि को अधिनियम ही माना जाएगा। इस प्रकार की स्थिति भारत के बारे मे कभी नहीं आएगी क्योंकि भारत के विधान-मण्डल केवल अपने संविधान के ही अधीन है।"[2]

राष्ट्रमण्डलीय समझौते का वैधानिक महत्त्व नहीं है। यह संविधान से परे की चीज है। राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने से भारत को यह अधिकार है कि वह राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलनों मे भाग लेगा और राष्ट्रमण्डल-सम्बन्धी सभी मामलों मे उससे पूछा जाएगा और उसकी राय मांगी जाएगी। राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलनों मे जो निर्णय किए जाएंगे, उन निर्णयों को भारत के ऊपर उसकी इच्छा के विरुद्ध लागू नहीं किया जा सकता। यदि राष्ट्रमण्डल का कोई सदस्य-राष्ट्र किसी विदेशी सत्ता के साथ सन्धि करता है या किसी विदेशी सत्ता के साथ युद्ध की घोषणा करता है तो वह सन्धि अथवा युद्ध की घोषणा भारत के ऊपर बिना भारत की स्वीकृति के प्रभावी नहीं होगी। १० मई, १९४९ को पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक ब्रॉडकास्ट-भाषण मे दिल्ली रेडियो स्टेशन से कहा था, "हमने बहुत दिन पहले पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने की प्रतिज्ञा की थी। वह हमने प्राप्त कर लिया है। क्या कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने से अपनी स्वतन्त्रता खो देता है? सन्धियों से परस्पर एक दूसरे के बन्धन स्वीकार करने पड़ते हैं किन्तु सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र राष्ट्रमण्डलीय देशों के आपसी स्वतन्त्र सम्पर्क मे किसी प्रकार का किसी

1. The Indian Law Review, Vol. III, 1949, No. 2.

2. The British Commonwealth : The Development of its Law and Constitutions, The Republic of India, Vol. VI, pp. 14-15.

के ऊपर कोई बन्धन नहीं है। राष्ट्रमण्डल के देशों के समझौते की शक्ति उसके लचीलेपन और उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता में निहित है। सभी जानते है कि हर एक सदस्य राष्ट्र के लिए खुली छूट है कि वह जब चाहे राष्ट्रमण्डल को छोड़ सकता है।"

जहा तक भारत ने ब्रिटिश सम्राट् को राष्ट्रमण्डल का प्रधान स्वीकार किया है, इस सम्बन्ध मे यह समझ लेना चाहिए कि सम्राट्, राष्ट्रमण्डल के स्वतन्त्र देशों के बीच के स्वतन्त्र सम्पर्क का प्रतीक-मात्र है, और सम्राट् को केवल अपनी इस स्थिति मे ही राष्ट्रमण्डल का प्रधान स्वीकार किया गया है। सम्राट् इस समय उसी रूप मे भारत का सम्राट् नहीं है जिस रूप मे कि उस समय था जबकि भारत भी अधिराज्य अथवा डोमिनियन था और जब तक कि भारत ने अपने आप को सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य स्वतन्त्र घोषित नहीं किया था। इस भाव को लेते हुए भारत के प्रधान मंत्री प० नेहरू ने १० मई, १९४९ के अपने ब्रॉडकास्ट-भाषण मे कहा था, "यह याद रखना चाहिए कि राष्ट्रमण्डल किसी भी स्थिति मे राज्यों से बढ कर राज्य (Super-state) नहीं है। हमने तो स्वतन्त्र राष्ट्रों के स्वतन्त्र सम्पर्क के औपचारिक प्रधान के रूप में सम्राट् को स्वीकार किया है। किन्तु राष्ट्रमण्डल मे सम्राट् की औपचारिक स्थिति के साथ किन्ही विशेष कर्त्तव्यो का उपबन्ध नहीं है। जहा तक भारत के सविधान का सम्बन्ध है, ब्रिटिश सम्राट् के लिए कोई स्थान नही है और हम किसी प्रकार उसके राज-भक्त नहीं होंगे।

सरदार पटेल ने भी २ अप्रैल, १९४९ को नई दिल्ली मे एक प्रेस सम्मेलन मे लगभग यही विचार व्यक्त किये थे। उन्होने कहा था, "भारत सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र गणराज्य है इसलिए भारत के ऊपर हमारे राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि हम ब्रिटिश सम्राट् के प्रति राज-भक्ति की निष्ठा नहीं रखते। सम्राट् तो केवल अन्य सदस्यो की भांति हमारे लिए भी स्वतन्त्र राष्ट्रों के स्वतन्त्र सम्पर्क का एक औपचारिक प्रतीक होगा।" जब एक पत्रकार ने प्रश्न किया कि राष्ट्रमण्डल के प्रधान के रूप मे सम्राट् के कर्त्तव्य क्या होंगे ? तो उन्होंने उत्तर दिया, "सम्भवत: राष्ट्रमण्डल के प्रधान के रूप मे सम्राट् के कोई कर्त्तव्य नहीं होंगे। किन्तु सम्राट् को राष्ट्रमण्डल में कुछ विशेष स्थिति तो अवश्य प्राप्त हुई है।" इसलिए ऐसा समझना भूल होगी कि राष्ट्रमण्डलीय सदस्यता स्वीकार करके भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक भाग ही बना रहा है अथवा भारत अब भी अधिराज्य (Dominion) ही बना हुआ है। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता स्वीकार कर लेने और ब्रिटिश सम्राट् को स्वतन्त्र राष्ट्रों के बीच स्वतन्त्र सम्पर्क का प्रतीक मान लेने मे, और इस प्रकार सम्राट् को राष्ट्रमण्डल का औपचारिक प्रधान मान लेने से भी भारतीय स्वतन्त्रता और भारत की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता पर कोई आच नहीं आती। केवल यही भद्दापन अखरता है कि गणराज्य के साथ सम्राट् की स्थिति बेमेल होगी।

हम भारत के लोग (We the People of India)—सविधान की प्रस्तावना निम्न शब्दों से प्रारम्भ होती है : "हम, भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए" . . . और निम्न शब्दों के साथ समाप्त

होती है, "दृढ़-संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख २६ नवम्बर १९४९ ई० (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छः विक्रमी) को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।" संविधान को भारतीय जनता ने ही तैयार किया है और भारतीय जनता ने ही उसे अधिनियमित और अंगीकृत किया है। यद्यपि हमारे संविधान में आयरलैण्ड[1] के संविधान की तरह एक स्वतन्त्र अनुच्छेद नहीं दिया गया है जिसमें एक घोषणा की जाती कि समस्त राजनीतिक शक्ति जनता से ही प्राप्त हुई है अथवा संयुक्तराज्य अमरीका[2] के संविधान की तरह हमारे संविधान ने समस्त संचित अथवा आरक्षित शक्तियों की प्रभुता जनता-जनार्दन को नहीं सौंपी है; फिर भी प्रस्तावना में संविधान ने बल देकर कहा है कि भारत के सर्वसाधारण ही अन्तिम रूप से सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) हैं और संविधान की स्थापना भी सर्वसाधारण के अधिकार के आधार पर ही की गई है। इस प्रकार समस्त राजनीतिक शक्ति जनता से ही प्राप्त होती है और जनता ही समस्त शक्ति की भण्डार है।

चूंकि भारत के संविधान को भारत के सभी लोगों ने सामूहिक रूप से अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित किया है और भारतीय यूनियन के राज्यों ने पृथक् राज्यों के रूप में अथवा पृथक्-पृथक् राज्यों के लोगों ने अंगीकृत नहीं किया है, इसलिए कोई एकक राज्य अथवा अवयवी एककों का समूह भी न तो संविधान को समाप्त कर सकता है और न संविधान द्वारा निर्माण किये हुए संघ अथवा यूनियन से सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है। भारत की संविधान सभा समस्त भारत के सर्वसाधारण की प्रतिनिधि सभा थी और उक्त सभा ने जो संविधान तैयार किया था, वह अवयवी राज्यों के अनुसमर्थन का विषय नहीं था, क्योंकि स्वयं अवयवी एकक राज्यों को भी संविधान ने ही निर्मित किया है। इसलिए हर प्रकार से भारत के लोग अथवा सर्वसाधारण ही पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न हैं और पूर्ण प्रभुता (Sovereignty) उन्हीं में निवास करती है। संविधान के सोलहवें संशोधन कानून ने सरकार को भारत के किसी भाग के विच्छेद का प्रचार कराने वाली विघटनकारी शक्तियों के विरुद्ध उचित कार्यवाही करने की शक्ति प्रदान की है।

कल्याणकारी राज्य (A Welfare State)—भारत का संविधान भारत में ऐसा कल्याणकारी राज्य स्थापित करना चाहता है जिसमें सभी नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय मिलेगा; उन्हें विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी; और सभी को समान स्थिति और समान अवसर प्राप्त होंगे। इसके अतिरिक्त संविधान भारत के सभी नागरिकों में बन्धुत्व की भावना का संचार करेगा और व्यक्ति की प्रतिष्ठा और गरिमा तथा राष्ट्र की पूर्ण एकता का पूर्ण आश्वासन देगा।

---

1. अनुच्छेद ६।
2. दसवां संशोधन।

वास्तविक लोकतन्त्र का यही अर्थ है कि सभी नागरिकों को न केवल समान समझा जाए, अपितु सब के साथ न्याय भी किया जाए। वास्तविक न्याय-भावना यही है कि राष्ट्र के सर्वसाधारण का कल्याण और हित-साधन किया जाए। यद्यपि थोड़े से गिने-चुने व्यक्तियों का अथवा बहुमत का हित-साधन भी वास्तविक न्याय नहीं है, किन्तु इन अर्थों मे उस समय तक सभी के लिए न्याय प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि सभी की समान स्थिति स्वीकार न कर ली जाए और जब तक कि सभी को विकास के समान अवसर प्राप्त न हों। किन्तु सभी लोगों को समान स्थिति और समान अवसर उस समय तक सम्भवतः प्राप्त न हो सकें जब तक कि समाज के सभी वर्ग समान स्थिति के न हो जाएं जो प्राप्त अवसरों से पर्याप्त लाभ उठा सकें। इसलिए हमारे संविधान ने न केवल मूल वंश, धर्म, जाति और विश्वास के आधार पर सब विभेदों और पक्षपातों को समाप्त कर दिया है, अपितु पिछड़े हुए वर्गों के हितों को समुन्नत करने की भी पूरी-पूरी व्यवस्था की है।[1] कुछ लोगों को सम्पत्ति के स्वामित्व के कारण अधिक अवसर प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त मूलवंश, जाति और धर्म के आधार पर भी कुछ व्यक्तियों को अधिक अवसर प्राप्त हैं। संविधान की आज्ञा है कि राज्य, काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करे[2] तथा प्रत्येक नागरिक को आवश्यकतानुसार प्रसूति-सहायता प्रदान करे और प्रत्येक नागरिक को अवकाश का सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएं तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का पूर्ण प्रयास करे[3], और किसी के श्रम अथवा स्वास्थ्य का दुरुपयोग न हो[4] और सभी नागरिकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था हो[5] आर्थिक न्याय के आदर्श को प्राप्त करने की दिशा में संविधान ने राष्ट्र की नीति के निदेशक तत्त्वों में प्रतिज्ञा की है कि सभी को समान कार्य के लिए समान वेतन हो[6] तथा समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम् रूप से साधन हो[7]; तथा आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन के साधनों का सर्व-साधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो।[8]

किन्तु ये सब आदर्श तभी प्राप्त हो सकते हैं जब देश में सभी लोगों में और सभी वर्गों में बन्धुता स्थापित हो जाए। बन्धुता से यहां यह अभिप्राय है कि "सभी मनुष्य जाति के प्राणी अधिकारों और गौरव-गरिमा के अनुसार समान और बराबर है। सभी मनुष्यों को भगवान् ने अथवा प्रकृति ने विवेक-बुद्धि और विचार-शक्ति प्रदान की है इसलिए सभी मनुष्य एक दूसरे के प्रति बन्धुता की भावना के अनुसार

1. Articles 16 (2), (4), Part XVI. 2. Article 342.
3. Article 43. 4. Article 39 (f)
5. Article 45.
6. Article 39 (d)
7. Article 39 (b)
8. Article 39 (d)

आचरण करें ।"[1] हमारा संविधान भारत के नागरिकों में बन्धुता की उसी भावना का संचार करना चाहता है और छुआछूत की भावना को मिटा कर व्यक्ति की गौरव गरिमा को स्थापित करना चाहता है ; साथ ही साम्प्रदायिक, वर्गवादी तथा स्थानीय एवं प्रान्तीय भावनाओं को मिटा कर समस्त राष्ट्र की एकता प्रस्थापित करना चाहता है ।

संक्षेप में हमारा संविधान भारत में 'कल्याणकारी राज्य' अथवा 'समाज-सेवक' राज्य (Welfare or Social Service State) स्थापित करना चाहता है । संविधान ने नागरिकों को अनेक अधिकार और स्वतन्त्रताए प्रदान की है, जिनका केवल यही उद्देश्य है कि व्यक्ति का कल्याण हो । किन्तु उसके साथ ही संविधान में राज्य को भी कुछ ऐसी शक्तियां दी है कि व्यक्ति यदि अपने अधिकारों का अतिक्रमण करने लगे अथवा यदि एक नागरिक के अधिकार समाज के लिए अहितकर सिद्ध हो जाए तो राज्य व्यक्ति के अधिकारों के प्रयोग पर आवश्यक अंकुश लगा सके ।

एकल नागरिकता (Single Citizenship)—भारत के संविधान ने कनाडा और बर्मा के संविधानों के समान, किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के विरुद्ध अथवा विपरीत, अपने नागरिकों को एकल नागरिकता प्रदान की है; अर्थात् भारत की नागरिकता । हमारे देश में दोहरी नागरिकता नहीं है यानी एक तो समस्त देश की नागरिकता और दूसरी उस राज्य की नागरिकता जिसमें सम्बन्धित व्यक्ति निवास करता हो । इसलिए सभी नागरिकों के लिए एक ही प्रकार के अधिकार है जिनका सभी लोग प्रयोग करते है । साथ ही सभी नागरिकों के कर्त्तव्य और दायित्व भी समान ही है । राज्यों में जहा कहीं पहले नौकरी पाने अथवा छोटे-मोटे ठेकों को लेने के विषय में अधिवास नियम (Domicile Rules) लागू किए जाते थे अब वे प्रायः समाप्त हो रहे हैं क्योंकि उनके विद्यमान रहने से एकल नागरिकता के लाभ सीमित हो जाते है ।

मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)—अब तक के किसी संसदीय अधिनियम में नागरिकों के अधिकारों की कोई सूची नहीं दी गई थी । सत्य तो यह है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस बात को पसन्द नहीं करते थे कि किसी संवैधानिक अधिनियम के अधिकारों का समावेश किया जाए । साइमन कमीशन (Simon Commission) और संयुक्त संसदीय समिति (Joint Parliamentary Committee) दोनों का यह मत था कि इस प्रकार के अधिकारों की घोषणा से विधान-मण्डलों की शक्तियों पर अंकुश लगेंगे और इसलिए बहुत सी विधियां अवैध घोषित हो जाएगी; इसलिए १९३५ के भारत सरकार अधिनियम में मौलिक अधिकारों को स्थान नहीं दिया, यद्यपि कहा यह जाता था कि उक्त अधिनियम लोकतन्त्रात्मक संविधान है ।

---

1. Article 1 of the Declaration of Human Rights as passed by the United Nations.

इसके विपरीत कांग्रेस सदैव यही चाहती थी कि मनुष्य के अविच्छेद्य अधिकारों की घोषणा होनी चाहिए और कांग्रेस के दृष्टिकोण से मनुष्य के अविच्छेद्य अथवा मौलिक अधिकार लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था के लिए आवश्यक हैं। इसलिए, यह स्वाभाविक हो गया था कि सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक भारतीय गणराज्य के संविधान में मौलिक अधिकारों की एक विशद सूची होती। एक और भी कारण था जिससे हमारे संविधान में मौलिक अधिकारों की सूची सम्मिलित होती। अल्पसंख्यकों को आश्वस्त करने के लिए भी अधिकारों की घोषणा करना आवश्यक समझा गया।

संविधान में मौलिक अधिकारों की जो सूची दी गई है वह पर्याप्त विशद है, यद्यपि उक्त सूची में सभी अधिकारों का समावेश नहीं है। कुछ ऐसे अधिकार हैं जिनको संविधान में स्थान नहीं दिया गया है। किन्तु उन अधिकारों के सम्बन्ध में प्रचलित विधियों और विनियमों में समावेश है। संविधान में दिए गए मौलिक अधिकारों की न्यायालयों से मांग की जा सकती है और उनके प्रवर्त्तन[1] का संवैधानिक उपचार सुझाया गया है। इस प्रकार संविधान ने देश की न्यायपालिका को सर्वसाधारण की स्वतन्त्रताओं और उनके अधिकारों का संरक्षक स्वीकार किया है। किन्तु कोई भी मौलिक अधिकार वास्तविक अथवा निरपेक्ष अधिकार नहीं है। स्वयं संविधान ने उन अधिकारों पर मर्यादाएं[2] लगा दी हैं और यदि कभी देश[3] की सुरक्षा के लिए आपात काल उपस्थित हो जाए, तो उक्त अधिकार निलम्बित किये जा सकते हैं।

राज्य की नीति के निदेशक तत्व (Directive Principles of State Policy)—राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व, भारतीय संविधान की एक अपूर्व विशेषता है। मौलिक अधिकारों का उद्देश्य है कि वे व्यक्ति के जीवन और उसकी स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा करेंगे। मौलिक अधिकारों का नकारात्मक स्वरूप है क्योंकि वे राज्य को कुछ कार्य अथवा कृत्य करने से रोकते हैं, किन्तु इसके विपरीत राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व प्राकृतिक अथवा अस्ति-स्वरूप के अधिकार हैं। ये राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाते समय इन तत्त्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा। अनुच्छेद ३७ में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है, कि इस भाग में दिये गए उपबन्धों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी, किन्तु तो भी वे "देश के शासन में मूलभूत हैं।"[4] १९३७ के आयरलैण्ड[5] के संविधान में भी राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों का समावेश है

1. Article 3.
2. Part III.
3. Article 358.
4. Article 37.
5. आयरलैण्ड के संविधान का अनुच्छेद ४५ आदेश देता है: इस अनुच्छेद में सामाजिक नीति के जो सिद्धान्त रखे गए हैं, उन पर शासन को ध्यान देना चाहिए। विधि का निर्माण करते समय संसद् के सदस्य इन सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने का प्रयत्न करेंगे, किन्तु संविधान के किसी भी उपबन्ध के अनुसार इन सामाजिक सिद्धान्तों को किसी न्यायालय में मान्यता नहीं दी जाएगी। १९४८ के बर्मा (Burma) के संविधान के अनुच्छेद ३२ में भी इसी प्रकार के उपबन्ध हैं।

संघ की प्रकृति (Nature of the Federation)—भारतीय संविधान का स्वरूप संघात्मक है यद्यपि संविधान का अनुच्छेद १ इसको राज्यों का यूनियन बताता है। सत्य यह है कि पूरे संविधान मे कही भी 'फैडरेशन' (Federation) शब्द का प्रयोग नही किया गया हैं। सम्भवतः ऐसा जान-बूझकर ही किया गया है। संविधान सभा के अध्यक्ष को संविधान का प्रारूप प्रस्तुत करते समय, डा० अम्बेडकर ने अपने प्रारम्भिक वक्तव्य की भूमिका मे लिखा था, "आप देखेंगे कि प्रारूप समिति ने संघान (Federation) के स्थान पर 'संघ' (Union) शब्द का प्रयोग किया हैं। यद्यपि नाम का कोई विशेष महत्त्व नही है फिर भी समिति ने १८६७ के ब्रिटिश उत्तरी अमरीका अधिनियम की प्रस्तावना की भाषा को आधार बनाया है; और समिति का यह विचार है कि भारत को यूनियन कहना अधिक उपयुक्त होगा, यद्यपि भारत के संविधान का स्वरूप सन्धानीय (Federal) ही हो सकता है।"[1]

जहा तक भारत का संविधान एक लिखित प्रलेख है वह संघीय संविधान की परम्परागत शर्त को पूरा करता हैं। संविधान दोहरे राजतन्त्र का निर्माण करता है। सरकार की दो श्रेणिया है—संघ की सरकार और अवयवी राज्यों की सरकारे। संविधान ने सरकारो की दोनों श्रेणियों के बीच एक ही राज्य के सगठन और अधिकार-क्षेत्र मे शक्तियों का स्पष्ट वितरण कर दिया है। प्रत्येक सरकार अपने-अपने क्षेत्र मे दूसरे के नियन्त्रण से स्वतन्त्र है; और यदि कभी शक्तियों के वितरण के सम्बन्ध मे कोई परिवर्तन करना अभीष्ट हो, तो इसके लिए संविधान मे संशोधन करना आवश्यक होगा ; और तदर्थ कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमण्डलो की स्वीकृति अनिवार्य होगी।[2] इस प्रकार न केन्द्रीय शासन को और न अवयवी राज्यो की सरकारो को एक पाक्षिक निर्णय करने का अधिकार है जिससे शक्तियों के वितरण-सम्बन्धी संवैधानिक उपबन्ध का संशोधन कर सके और इस प्रकार केन्द्रीय शासन को और अवयवी एकक राज्यों के बीच शक्ति-सन्तुलन को गड़बड़ कर सकें। इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय संविधान का अभिभावक है जो संविधान का निर्वचन कर सकता है और वह संविधान की सर्वोच्चता और उसकी पवित्रता एवं गौरव-गरिमा का संरक्षक है।[3] इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial review) का अधिकार प्रदान किया गया है, जिससे यदि देश का कोई विधानमंडल ऐसे कानून को पास करता है, जो संविधान के किसी उपबन्ध का उल्लंघन करता हो तो सर्वोच्च न्यायालय ऐसे कानून असंवैधानिक घोषित कर सकता है; अथवा यदि कोई भी शासन (केन्द्रीय अथवा एकक) अपने अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण करता है अथवा अपनी शक्तियों को बढ़ाता है, और इस प्रकार संघीय सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण कर के शक्ति-सन्तुलन बिगाड़ता है, तो सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी स्थिति मे हस्तक्षेप करने का अधिकार है।

---

1. Draft Constitution, p. 4.

2. Article 368.

3. Chapter I of Part XI and in any of the lists in the VII schedule.

किन्तु वास्तविकता यह है कि सविधान ने अत्यधिक केन्द्रीय शासन की स्थापना की है, जो प्रायः एकात्मक शासन ही समझा जाएगा। सविधान की इन एकात्मक प्रवृत्तियों ने बहुत सीमा तक सघवाद की सामान्य विशेषताओ को भी नष्ट कर डाला है और सविधान के निर्माताओं ने ऐसा जान-बूझ कर ही किया था। सविधान के निर्माता भली-भाति जानते थे कि भारत मे प्रारम्भ से ही केन्द्रापग शक्तियों (centrifugal forces) ने प्रभाव डाला है। देश का विभाजन भारत के समैक्य और स्थायित्व के लिए भारी चुनौती था; और विभाजन के बाद भी देश से उन पृथकतावादी तत्त्वों का अन्त नही हुआ, जिनको विदेशी शासन ने अच्छी तरह तैयार किया था, ताकि वे (विदेशी लोग) सदैव के लिए देश मे अड्डा जमाये रहे। विदेशी शासन भारत छोड़ते-छोडते अपने पीछे दुर्भाग्यपूर्ण जातिगत भावनाए, बिरादरी की भावनाए और प्रान्तीयता की सकीर्णताए छोड गया; इसलिए सविधान के निर्माताओं को बडी चिन्ता थी कि केन्द्र को यथेष्ठ शक्तिया दे दी जाए ताकि उक्त दुर्भाग्यपूर्ण तत्त्व (sinistor forces) को नियन्त्रण में रखा जा सके। इसलिए हमारे सविधान के जनको ने देश की एकता पर अधिक ध्यान दिया, किन्तु सघ पर कम। किसी भी देश के सविधान के निर्माता, सविधान को समय की वास्तविकताओं से अछूता नही रख सकते। वे ऐसा सविधान तैयार करने का प्रयत्न करते है जो सम्बन्धित लोगो का अधिक-से-अधिक हित-साधन करे और फिर वे इस बात की चिन्ता नही करते कि वे राजनीतिक-विज्ञान अथवा वैधानिक विधि के सिद्धान्तो से प्रयाण कर रहे है। बहरहाल अब हम विचार करेंगे कि हमारे सविधान मे किन-किन महत्त्वपूर्ण बातो मे सघात्मक सिद्धान्त के प्रति उपेक्षा की गई है।

(१) हमारे सविधान ने कनाडा के सविधान की तरह सघ के लिए तथा राज्यों के लिए संविधानो की व्यवस्था की है; राज्यो मे केवल जम्मू और काश्मीर अपवाद है। इसका यह अर्थ है कि अवयवी राज्यो की स्थिति की समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा की गई है, चाहे उस उपेक्षा के कारण कुछ भी रहे हों। शुरू मे राज्यों को विभिन्न श्रेणियों में जिस प्रकार बाटा गया था वह भी सघवाद के विरुद्ध था। भाग (ख) और (ग) राज्यों पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण बहुत कठोर था।

(२) भारत के अवयवी राज्यो को सविधान मे संशोधन करने की स्वतन्त्र शक्ति नही है; किन्तु इस प्रकार की शक्ति कनाडा के अवयवी राज्यों को प्राप्त है। यहा तक कि यदि कोई राज्य अपने विधानमण्डल की विधान परिषद् (Legislative Council or Upper Chamber) को समाप्त करना चाहे, तो भी इसके लिए ससद् के अधिनियम[1] की आवश्यकता होगी। अन्य बहुत से परिवर्तन केवल सवैधानिक सशोधन के द्वारा ही लाये जा सकते है; और संविधान में संशोधन करने मे केन्द्र और राज्यों को समान शक्तियां और अधिकार प्राप्त नही है। केवल कतिपय निर्देशित मामलों को छोड़कर, जब कि कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों की तदर्थ स्वीकृति आवश्यक होती है, सविधान मे ससद् तभी सशोधन कर सकती है जब प्रत्येक

1. अनुच्छेद १६९, अनुच्छेद २-४ भी देखिये।

सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य-सख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता हैं।

(३) संघवाद का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त वह हैं, जिस पर संयुक्तराज्य अमरीका का सविधान भी आधारित हैं कि अवयवी एकक राज्य के आकार और जनसख्या के ऊपर विचार किये विना ही सभी सघटक राज्य समान माने जाते है। हमारे सविधान में राज्य सभा मे सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व नही दिया गया हैं। बहुत से राज्यो के मदस्यो की सख्या में भेद हैं। इसके अतिरिक्त हमारी राज्य-सभा मे केवल राज्यों के प्रतिनिधि ही नही है जबकि कनाडा की सीनेट मे केवल राज्यो के प्रतिनिधि ही होते है। हमारी राज्य-सभा मे राज्यों के प्रतिनिधियो के अतिरिक्त बारह ऐसे सदस्य होते है जिन्हे राष्ट्रपति नामाकित करता है।[1] यह सघीय सिद्धान्त की घोर उपेक्षा हैं।

(४) भारत मे जिस रूप में दोहरे राजतन्त्र (dual polity) की व्यवस्था की गई हैं वह भी सघीय सिद्धान्त की उपेक्षा ही हैं। राज्यो की प्रभुता (sovereignty) को, जिसे प्रो० व्हीर अवयवी राज्यों की सयुक्त एवं स्वतन्त्र स्थिति कहते है, अमरीकी सविधान ने भी स्वीकार किया हैं और इसीलिए उक्त देश मे दोहरी नागरिकता दोहरे अधिकारीगण और दोहरी न्यायालय-व्यवस्था कर दी गई हैं; किन्तु भारतीय सविधान ने कनाडा के सविधान का अनुसरण करते हुए केवल इकहरी नागरिकता की व्यवस्था की हैं,[2] यद्यपि भारत मे दो श्रेणियो के अधिकारी होंगे—राज्याधिकारी एव अखिल भारतीय अधिकारी। किन्तु सयुक्त राज्य अमरीका की तरह हमारे देश में भी अखिल सघीय विधियो और राज्यो की विधियो की क्रियान्विति मे स्पष्ट विभाजन-रेखा नही है। व्यवस्था ऐसी की गई हैं कि राज्य के अधिकारी राज्य की विधियों के अनुसार आचरण करेंगे और साथ ही सघीय विधियों के अनुसार भी आचरण करेंगे; और अखिल सघीय अधिकारी जिस समय राज्यो मे कार्य करेंगे तब भी उसी प्रकार राज्य की विधियो के अनुसार प्रशासन करेंगे। सविधान का अनुच्छेद २५८ उपबन्धित करता हैं कि "सघ की कार्यपालिका किसी राज्य या उसके प्राधिकारो को किसी ऐसे विषय-सम्बन्धी कृत्य, जिन पर सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, सौप सकेगी। इस सम्बन्ध मे सविधान के अनुच्छेद २५६ और २५७ भी है। अनुच्छेद २५६ स्पष्ट आदेश देता हैं कि "यह राज्यों का कर्त्तव्य होगा कि वे ससद् द्वारा निर्मित विधियो का पालन करें।" अनुच्छेद २५७ आदेश देता हैं कि "प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होगा कि जिससे सघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग मे कोई अड़चन या प्रतिकूल प्रभाव न हो।" सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक भी विस्तृत होगा जो भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिए आवश्यक दिखाई दे। इसके अतिरिक्त संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार राज्य को किन्ही ऐसे सचार साधनों के निर्माण करने और बनाए

1. अनुच्छेद ८०। 2. अनुच्छेद ५।

रखने के लिये निदेश देने तक भी विस्तृत होगा जिनका राष्ट्रीय या सैनिक महत्त्व का होना उस निदेश मे घोषित किया गया हो । इस सम्बन्ध मे अन्तिम बात यह है कि सघीय विधियों के प्रशासन के लिए अलग से सघीय न्यायालयों की व्यवस्था नही की गई है। कनाडा के ही समान हमारे देश मे भी एक ही प्रकार के न्यायालय राज्य मे दोनो प्रकार की अर्थात् सघीय विधियो और राज्य की विधियो का प्रशासन करते है। राष्ट्रपति ही सर्वोच्च न्यायालय एव राज्यो के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। अनुच्छेद २२२ के अनुसार, "राष्ट्रपति, भारत के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श कर के भारत राज्य-क्षेत्र मे एक उच्च न्यायालय से किसी दूसरे उच्च न्यायालय को किसी न्यायाधीश का स्थानान्तरण कर सकेगा।"

(५) किसी सघ शासन को केवल राज्यो को निदेश-मात्र देने का ही अधिकार नही है। यदि सघ की कार्यपालिका द्वारा निदेश का अनुवर्तन करने मे या उनको प्रभावी करने मे कोई राज्य असफल हुआ है, वहा राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधिसगत होगा कि ऐसी अवस्था उत्पन्न हो गई है जिसमे राज्य का शासन इस सविधान के उपबन्धो के अनुकूल नही चलाया जा सकता ।'[1] और इस प्रकार कुछ समय के लिए राज्य का शासन निलम्बित कर दिया जाएगा।[2] इसका अर्थ है राज्य को सघ के एकात्मक शासन में ले आना। अत अनुच्छेद ३६५ द्वारा प्राप्त शक्ति सघ शासन के लिए अत्युत्तम हथियार का कार्य करती है। परन्तु सितम्बर, १९६८ में केरल सरकार ने केन्द्रीय सरकार के निर्देश को (जो कि १९ सितम्बर, १९६८ को हुई केन्द्रीय राज्य-कर्मचारियों की हड़ताल के सम्बन्ध मे जारी किया गया था) मानने में इनकार कर दिया और उस समय केन्द्रीय सरकार ने अनुच्छेद ३६५ द्वारा प्राप्त शक्ति का प्रयोग न किया।

(६) किसी राज्य के राज्यपाल के प्रतिवेदन पर किसी राज्य के शासन को निलम्बित किया जा सकता है। राज्य के राज्यपाल को राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा-सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त करेगा।[3] इस प्रकार राज्यपाल उस दल का नामाकित व्यक्ति होगा जिसका सघीय शासन पर अधिकार होगा। राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त राज्यपाल पाच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा।[4] इसका यह स्पष्ट अर्थ है कि सघीय शासन यदि चाहे तो राज्यपाल को उसके सामान्य कार्यकाल मे भी हटा सकता है। इसका स्पष्ट फल यह होगा कि राज्यपाल, सघीय शासन के अभिकर्ता के रूप मे कार्य करेगा। जब तक उसी एक दल का शासन केन्द्र मे भी है और राज्यों मे भी है, राज्यपाल और मन्त्रिमण्डल में विरोध हो जाने की कोई सम्भावना नही है। किन्तु जब केन्द्र में और राज्य मे विभिन्न दलो का शासन है, उस समय ऐसी सम्भावना आ सकती है कि राज्य का प्रमुख होने के नाते राज्यपाल और राज्य के मन्त्रिमण्डल मे विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाए; विशेषकर जबकि केन्द्र और राज्यों के हितों मे टकराव हो जैसा कि १९६८ मे पश्चिमी बगाल में हुआ। उस स्थिति मे

---

1. अनुच्छेद ३६५।
2. अनुच्छेद ३५६।
3. अनुच्छेद १५५।
4. अनुच्छेद १५६।

केन्द्रीय शासन अपने अभिकर्त्ता (agent) राज्यपाल को प्रभावित कर सकता है और उसके द्वारा राज्य के शासन की नीति और प्रस्तावो को नियन्त्रित और प्रभावित कर सकता है। यदि राज्यपाल, केन्द्रीय शासन की इच्छानुसार राज्य के शासन को नियन्त्रित करने मे असफल रहता है, और यदि केन्द्रीय शासन के अभिकर्त्ता के रूप में उसका राज्य के मन्त्रिमण्डल से समझौता नही हो पाता, तो उस स्थिति में राज्यपाल के प्रतिवेदन पर केन्द्रीय शासन राज्य के शासन को निलम्बित करके अपने अधिकार में ले सकता है। राज्य की सवैधानिक शासन-व्यवस्था को निलम्बित करने से पूर्व निर्वाचक-वर्ग (electorate) से अपील नही की जा सकती। संसदीय शासन-व्यवस्था के साथ यह अन्याय है। सविधान के अनुच्छेद ३५६ के अनुसार राज्यपाल के प्रतिवेदन पर राज्य की शासन-व्यवस्था को निलम्बित कर देना भी सघीय सिद्धान्त की भारी उपेक्षा है क्योंकि सघीय सिद्धान्त मे केन्द्रीय अथवा राष्ट्रीय सरकार तथा अवयवी एकको की सरकारें एक दूसरे से स्वतन्त्र भी है और सहयुक्त भी है।

(७) किसी राज्य का राज्यपाल केवल सवैधानिक अथवा औपचारिक प्रमुख ही नही है। सविधान के अनुच्छेद २०० तथा २०१ इस तथ्य के साक्षी हैं कि राज्यपाल, राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक पर अपनी अनुमति रोक सकता है अथवा ऐसे विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित रख सकता है। राज्यपाल द्वारा जब कोई विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर लिया जाए, तब "राष्ट्रपति यह घोषित करेगा कि वह विधेयक पर या तो सम्मति देता है या सम्मति रोक लेता है।" ससदीय शासन-व्यवस्था मे यह असम्भव है, कि स्वयं मन्त्रिमण्डल जो व्यवस्थापन मे पहल करता है, व्यवस्थापन का समर्थन करता है और उसको विधान-मण्डल में प्राणपण से प्रयत्न करके पास करता है, स्वय राज्यपाल से प्रार्थना करेगा कि वह किसी पारित विधेयक पर अपनी अनुमति रोक ले अथवा उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित रख ले।

(८) भाग (ख) राज्यों के न रहने से सविधान के पुराने अनुच्छेद ३७१ के स्थान पर नया अनुच्छेद ३७१ रखा गया है। इसके अनुसार आन्ध्र प्रदेश और पजाब की विधान सभाओ मे प्रादेशिक समितियो (Regional Committees) की व्यवस्था हुई थी। यह एक प्रकार की नवीन सवैधानिक प्रणाली है जो अब तक अज्ञात थी। नवम्बर, १९६६ मे पंजाब राज्य के पुनर्गठन और उसके फलस्वरूप पंजाब तथा हरियाणा राज्यो की स्थापना से पजाब मे यह व्यवस्था समाप्त हो गई।

(९) केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियो का वितरण ही सघीय सिद्धान्त का सार है। इस सम्बन्ध में हमारा नवीन सविधान १९३५ के भारत सरकार अधिनियम का अनुसरण करता है जो सघीय परम्परा के अनुकूल नही है। भारतीय संविधान मे विषयों की तीन सूचिया दी गई है: सघीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची; और अवशिष्ट शक्तिया ससद् को सौप दी गई है। सयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया मे विनिर्दिष्ट शक्तिया केन्द्रीय शासन को दी गई है और अवशिष्ट शक्तियां राज्यो को सौप दी गई है। कनाडा के सविधान मे शक्तियों की दो सूचिया हैं, एक सूची अधिराज्य (Dominion) के लिए है, और दूसरी सूची प्रान्तों के लिए है तथा

अवशिष्ट शक्तिया भी अधिराज्य को ही सौप दी गई है । डा० जैनिग्ज के अनुसार, "अवशिष्ट शक्तियों का कनाडा के संविधान मे कोई महत्व नही है । क्योकि कुछ प्रगणित विषय ही इतने विस्तृत है जैसे 'प्रान्त मे सम्पत्ति-सम्बन्धी और नागरिक अधिकार' कि अवशिष्ट विषय प्राय: कुछ नही बचते । कनाडा के संविधान मे शक्तियो का जो वितरण हुआ है, उसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि शक्तियो की दोनो सूचियों को साथ-साथ पढ़ना चाहिए, क्योकि एक का निर्वचन दूसरी सूची के निर्वचन पर आधारित है ।"

सब मिला कर केन्द्रीय शासन को ९७ विषय सौपे गए है और राज्यो को ६६ विषय सौपे गये है । समवर्त्ती सूची मे कुल ४७ विषय है । केन्द्र और राज्यों दोनो को ही समवर्त्ती विषयो पर व्यवस्थापन करने की छूट है किन्तु यदि दोनो ही उक्त विषय पर विधि तैयार करे और यदि राज्य द्वारा पारित विधि उसी विषय पर ससद् द्वारा पारित विधि के उपबन्ध से मेल न खाती हो, तो सघ द्वारा पारित विधि प्रभावी होगी और राज्य द्वारा पारित उक्त विधि निलम्बित हो जाएगी । ससद् को यह भी अधिकार है की राज्यों की सूची के किसी विषय पर विधि तैयार कर सकती है; किन्तु शर्त यह है कि राज्य-सभा अपने दो-तिहाई के अन्यून बहुमत से पास करके यह घोषित करे कि उक्त विषय अथवा बहुत से विषय अखिल सघीय महत्त्व के है अथवा राष्ट्रीय हित से सम्बन्धित है ।[1] यदि आपात की उद्घोषणा प्रवर्त्तन में हो, भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र के अथवा उसके किसी भाग के लिए राज्य सूची मे प्रगणित विषयो मे से किसी के बारे मे ससद् को विधि बनाने का अधिकार होगा ।[2] अन्ततः, अनुच्छेद २५३ "ससद् को किसी अन्य देश के या देशो के साथ की हुई किसी सधि, करार या अभिसमय अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, सस्था या अन्य निकाय में किये गए किसी निश्चय के परिपालन के लिए भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए कोई विधि बनाने की शक्ति प्रदान करता है ।" यह अनुच्छेद बहुत ही स्पष्ट है और जैसा कि जैनिग्ज ने कहा है "सघीय ससद् किसी भी विषय पर अधिकार-क्षेत्र प्राप्त कर सकती है यहा तक कि इसी उपबन्ध के द्वारा विश्वविद्यालयों की शिक्षा पर भी विधि बना सकती है; क्योकि यह माना जा सकता है कि भारत का अन्तरविश्वविद्यालय बोर्ड एक अन्तर्राष्ट्रीय निकाय है क्योकि उसमे बर्मा और श्रीलका के विश्वविद्यालयो के प्रतिनिधि भी सम्मिलित है ।"[3]

(१०) शेष अधिकार-क्षेत्र आपातकालीन शक्तियो के अन्तर्गत प्राप्त कर लिया गया है ।[4] इन शक्तियों के सम्बन्ध मे इस समय हम विस्तार मे विचार नही करेगे । डा० अम्बेदकर ने संविधान सभा मे स्वीकार किया था कि "संविधान पूर्णतः सघात्मक संविधान नहीं बन सका है । यह ऐसा संविधान है जो सामान्य काल मे सघात्मक

1. अनुच्छेद २४९ । 2. अनुच्छेद २५० ।

3. Jennings ; Some Characteristics of the Indian Constitution, op.. citd., p. 66.

4. अनुच्छेद २५०, ३५६, ३६५ ।

सविधान रहेगा और युद्ध-काल मे अथवा आपातकालों मे यह एकात्मक सविधान हो जाएगा ; और उस समय इस सविधान का स्वरूप ऐसा हो जाएगा कि इसमे कोई सघात्मक विशेषता न रह जाएगी ।"

(११) सविधान के अनुच्छेद ३२४ के अनुसार एक निर्वाचन-आयोग की व्यवस्था की गई है । उक्त आयोग के सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है । निर्वाचन-आयोग ही समद् के तथा राज्यों के विधान-मण्डलो के निर्वाचनो का अधीक्षण, निदेशन और नियन्त्रण करेगा ।

(१२) इस सम्बन्ध मे अन्तिम बात यह है कि राष्ट्रपति ही अपने हस्ताक्षर और मुद्रा-सहित अधिपत्र द्वारा नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor-General) की नियुक्ति करता है।[1] नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक सघ के और राज्य के वित्त पर कठोर नियन्त्रण रखता है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय सविधान मे संघ और राज्यों की स्थिति बराबर की नही है और सघ सरकार राज्यो की सरकारों की अपेक्षा नि.सन्देह सर्वोच्च स्थिति का उपभोग करती है । ऐसी शासन-व्यवस्था को सघात्मक नहीं कहा जा सकता जिसमे एक शासन की स्थिति इतनी उच्च हो कि वह दूसरे शासन को बनाने और बिगाड़ने की क्षमता रखता हो । यह हो सकता है कि इस प्रकार के शासन का स्वरूप सघात्मक हो, किन्तु किसी शासन के सघात्मक स्वरूप से ही संघ का निर्माण नही हो सकता । भारतीय सविधान मे भी सघीय ढाचा इस प्रकार तैयार किया गया है कि भारत सरकार जब चाहे, स्थानीय मामलों मे भी राज्यों की नीतियो को प्रभावित कर सकती है । भारतीय सविधान के निर्माताओ ने कुछ भी कारणों से ऐसा सविधान तैयार किया हो, किन्तु स्पष्टत. उनके अथक परिश्रम का फल ऐसी एकात्मक शासनव्यवस्था है जो १९३५ के भारत सरकार अधिनियम द्वारा प्रस्तावित शासन-व्यवस्था से भी अधिक एकात्मक है । श्री वसु का कथन है कि "भारत का सविधान न तो पूर्णतः सघात्मक है और न पूर्णत. एकात्मक, अपितु अशत. दोनों का सम्मिश्रण है । यह एक सघ है अथवा विभिन्न गुणो अथवा विशेषताओ की समष्टि है ।"[2] श्री वसु भी इस सम्बन्ध में मौन है कि हमारे जैसे सविधान को किस प्रकार का सविधान कहा जाए । यदि भारतीय सविधान के प्रशसक भारत को सघान (Federation) कहने से सन्तोष अनुभव करते है तो प्रो० व्हीयर (Wheare) ने हमारे सविधान की जिन शब्दों में व्याख्या की है, वह सर्वश्रेष्ठ है । उनका कथन है : "भारत का नया सविधान ऐसी शासन-व्यवस्था[3] को जन्म देता है जो अधिक-से-अधिक अर्द्ध-संघीय (quasi-federal) है ; अथवा यह कहिए कि उसका स्वरूप अवनतिशील अथवा प्रक्रमणशील (devolutionary in character)) है, अथवा भारत का एक एकात्मक राज्य है जिसमे

1. अनुच्छेद १४८ ।

2. Basu, Durgadas : Commentary on the Constitution of India (1952), p. 37.

3. 'India's New Constitution Analysed' 48 A. L. J. 21.

कतिपय संघीय विशेषताएं गौण रूप से आ गई है किन्तु हम उसको ऐसा संघात्मक अथवा संधानात्मक राज्य नही कह सकते जिसमे गौण रूप से एकात्मक राज्य की विशेषताओं ने प्रवेश पा लिया हो।" किन्तु प्रो० व्हीयर भी भारतीय संविधान को अधिक-से-अधिक अर्द्ध-संघीय कहते हैं।

जहा भारतीय संविधान विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से संघात्मक संविधान नही है, उसने इस रूप मे कार्य भी नही किया है। जब से भारतीय संविधान प्रारम्भ हुआ है, उसकी प्रवृत्ति निरन्तर केन्द्रीयकरण की ओर ही रही है। तत्कालीन केन्द्रीय उद्योग मन्त्री श्री एम० एम० शाह ने अहमदाबाद के 'हैरल्ड लास्की इस्टीट्यूट ऑफ पोलिटिकल साइंस' मे भाषण देते हुए इस प्रवृत्ति की भर्त्सना की है और कहा है कि "संघात्मक शासन मे केन्द्र की केवल अनुभूति होनी चाहिए जब कि राज्य दिखाई देने चाहिए।"[1]

कौंसिल ऑफ पब्लिक अफेयर्स (Council of Public Affairs) के तत्वावधान में मद्रास में नवम्बर, १९५९ मे जो परिसम्वाद हुआ था, उसमे भारतीय संविधान की क्रियान्विति की कठोर आलोचना की गई थी। वहा प्राय: सभी वक्ताओं ने यह विचार व्यक्त किया था कि केन्द्रीय सरकार बहुत शक्तिशाली होती जा रही है और वह राज्यो की स्वतन्त्रता का अपहरण कर रही है। केन्द्र तथा अन्य समस्त राज्यों मे एक ही दल का प्रभुत्व है। फलस्वरूप नीति का केन्द्रीयकरण हो गया है और संघवाद (Federalism) का सिद्धान्त पीछे पड गया है। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को अपनी अधीन सरकार समझती है। कांग्रेस का संसदीय बोर्ड राज्य सरकारो को बनाने और बिगाडने वाला है। राज्यो के मुख्य मंत्री अपनी इच्छा से अपने मन्त्रि-मण्डल का निर्माण नही करते, बल्कि वे केन्द्रीय संसदीय बोर्ड की सलाह से अपने साथियो को चुनते है।

राज्य के राज्यपालों को संविधान की भावना के अनुसार नियुक्त नही किया जाता। उन मुख्यमन्त्रियो अथवा दलगत नेताओ को, जो निर्वाचन में हार जाते है, राज्यपाल बना दिया जाता है। कभी-कभी केन्द्रीय सरकार के मन्त्रियों को राज्यपाल बना दिया जाता है और राज्यपालों को मुख्यमन्त्री। इसमें आप राज्यपाल शासन के लागू होने का दु:खान्त नाटक भी जोड दीजिए।

एकीकृत आधार पर आर्थिक नियोजन ने भी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है। योजना आयोग के इतिहास से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह व्यवहार मे केन्द्रीय सरकार का एक भाग बन गया है।

पुनर्गठित राज्यों के आकार और जनसंख्या भी संघवाद के प्रतिकूल है। कुछ क्षेत्रों का राजनीतिक प्रभाव अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक है।

संविधान का संशोधन और संविधान की कठोरता (Amendment of the Constitution and its Rigidity)—हम भारतीय संविधान को कुछ लचीला और कुछ कठोर कह सकते हैं। प्रो० व्हीयर के अनुसार भारतीय संविधान चरम

1. *The Hindustan Times*, New Delhi, October 13, 1959.

न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review)—हमारे संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की है और उस में न्यायिक पुनरीक्षण का सिद्धान्त निःसन्देह उपलक्षित है। शासन के विभिन्न अंगों पर संविधान ने निश्चित मर्यादाएं और अंकुश लगा दिए हैं और यदि शासन का कोई उपकरण उक्त मर्यादाओं का उल्लंघन करेगा तो सम्बन्धित अधिनियम या विधि अवैध हो जाएंगे। उदाहरणस्वरूप, अनुच्छेद १३ आदेश देता है कि "राज्य कोई ऐसी विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा दिए अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।" उसी प्रकार अनुच्छेद २५१ और २५४ का आदेश है कि यदि संसद् द्वारा पारित विधियों और राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा निर्मित विधियों में असंगति हो, तो कतिपय हालतों में राज्य की विधि अवैध हो जाएगी। यह निर्णय न्यायालय ही करेंगे कि क्या किसी विधि द्वारा संवैधानिक मर्यादाओं का उल्लंघन हुआ है अथवा नहीं; और यह भी न्यायालय ही निर्णय करेंगे कि संघ की विधि और राज्य की विधि में कोई असंगति है अथवा नहीं। सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायिक पुनरीक्षण के सम्बन्ध में अपने अधिकार-क्षेत्र की सीमाओं की परीक्षा करते हुए कहा था, "मौलिक अधिकारों को मर्यादित करने वाला विधान तभी वैध माना जाएगा यदि उसने साथ ही उन अधिकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी न्याययुक्त एवं यथार्थ अंकुश उपबन्धित कर दिए हों; और न्याययुक्तता और यथार्थता का निर्णय केवल न्यायालय ही करेंगे। विधानमण्डल को यह निर्णय करने का अधिकार नहीं है कि मर्यादा का अंकुश (restriction) न्याययुक्त अथवा यथार्थ है या नहीं; यह इस न्यायालय के निर्णय का विषय है।"

धर्म-निरपेक्ष राज्य (A Secular State)—"धर्म-निरपेक्ष राज्य का केवल यही उद्देश्य रहता है कि देश में राजनीतिक शान्ति बनी रहे और देश की स्वतन्त्रता बनी रहे; और ऐसा राज्य अपनी सारी योजना और शक्ति लोगों की आर्थिक समृद्धि और सामान्य जन-कल्याण के लिए ही व्यय करता है। इसलिए धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ ऐसी शासन-व्यवस्था है जो सांसारिक आवश्यकताओं के अनुसार तथा आधुनिक विज्ञान पर आधारित आधुनिक संस्कृति के मूल मंत्रों के अनुसार क्रियाकलाप करती हो। धर्म-निरपेक्ष राज्य अपने आधुनिक क्रिया-कलापों में किसी ऐसे धर्मविशेष की शिक्षाओं या विश्वासों पर अमल नहीं करता जो उक्त राज्य की सीमाओं में माना जाता हो चाहे उक्त धर्म के मानने वालों की संख्या कितनी भी हो। इसलिए धर्म-निरपेक्ष राज्य किसी विशेष धर्म के प्रचार पर न तो व्यय कर सकता है और न उसके साथ अपने आपको किसी प्रकार सम्बद्ध कर सकता है। ऐसा राज्य सभी नागरिकों को धर्म की पूरी छूट देता है; किन्तु ऐसी छूट विधि और नैतिकता का अतिक्रमण न करे। धर्म व्यक्तिगत मामला है और यह व्यक्ति की अपनी इच्छा और उसके विश्वास की चीज है। "किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य अपने शासनिक क्रिया-कलापों में सांस्कृतिक और नैतिक विषयों पर भी तटस्थ रहेगा। धर्म-निरपेक्ष राज्य ऐसे सांस्कृतिक और नैतिक विषयों से अपने आप को सम्बद्ध रखेगा जिनको सामान्य बहुमत का समर्थन

प्राप्त है और जो राज्य की सामान्य नीति के उद्देश्यो और लक्ष्यो की प्राप्ति मे सहायक होगे।"[1]

भारतीय सविधान ऐसा पूर्ण धर्म-निरपेक्ष राज्य स्थापित करता है जिसमे किसी प्रकार के धार्मिक अथवा जातिगत पक्षपात का कोई स्थान नही होगा। सविधान ने यह भी आदेश दिया है कि सार्वजनिक व्यवस्था, राज्य की सुरक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सदाचार को ध्यान में रखते हुए सभी व्यक्तियो को धर्म, उपासना और अन्त-करण की स्वतन्त्रता का पूरा अधिकार होगा। इसके अतिरिक्त सभी नागरिकों को, विना किसी ऐसे विभेद के, जिसका सम्बन्ध धार्मिक विश्वास, जाति, धर्म अथवा लिग से हो, समान अधिकार प्रदान किए गए हैं।

हमारे देश मे राजनीति का सदैव धर्म के साथ अटूट सम्बन्ध रहा है किन्तु हमारे नये राज्य का धर्म-निरपेक्ष आधार हमारी पुरानी परम्पराओं से क्रान्तिकारी प्रयाण इगित करता है। किन्तु हमारे इतिहास के तथ्य, हमारी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के जन्म से पूर्व की घटनाएं और हमारी भारत को सुदृढ़ और सयुक्त बनाने की दृढ इच्छा इन सवने मिलकर, भारत की द्रष्टव्य विभिन्नताओं के वावजूद, हमको मजबूर किया कि राज्य का स्वरूप धर्म-निरपेक्ष रखा जाए क्योंकि और कोई मार्ग ही नहीं था।

वयस्क-मताधिकार (Adult Suffrage)—देश को धर्म-निरपेक्षता के आदर्श की ओर ले जाते हुए, सविधान ने जातिगत निर्वाचक-मण्डल और जातिगत प्रतिनिधित्व को सदैव के लिए समाप्त कर दिया है। इससे राष्ट्रीय सगैक्य बढ़ेगा। हमारे सविधान की एक अन्य क्रान्तिकारी विशेषता है—वयस्क मताधिकार। प्रो० श्री निवासन ने लिखा है कि "देश मे पूर्ण वयस्क मताधिकार का सूत्रपात करके और उसके साथ, और किसी प्रकार की अर्हताए, आरोपित न कर के सविधान सभा ने अत्यन्त साहस और निष्ठा का कार्य किया था।"[2] १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने केवल १४ प्रतिशत जनसंख्या को मताधिकार प्रदान किया था। इस १४ प्रतिशत मे भी स्त्रियो को तो नाममात्र का मताधिकार दिया गया था। नये सविधान ने स्त्रियों और पुरुषों को मतदान का बरावर अधिकार दिया है।

Suggested Readings

Alexandrowicz, C. H. : *Constitutional Development in India*, Chap. VIII.

Banerjee, D. N. : '*Commonwealth Agreement and India*,' The Indian Journal of Political Science, April-June 1950, pp. 30-38.

1. 'The Concept of a Secular State'. The Indian Journal of Political Science, July-September 1951, p. 29. Also refer to Prof. S. V. Puntambekar's 'The Secular State : A Critique", *Ibid*. Jan-June 1948, pp. 58-72.

2. Democratic Government of India, op. citd. p. 151.

Basu, Durgadas : *Commentary on the Constitution of India* (1952), pp. 25-46; 832-38.

Chitaley, V. N. and Appu Rao, S. : *The Constitution of India* (1954), pp. 1-132. Constituent Assembly Proceedings, Vol. VII, VIII, XI.

Ghosal, A. K. : '*Balance of Power under the New Constitution*,' The Indian Journal of Political Science, October-December 1950, pp. 66-76.

Ghosal, A. K. : '*Federalism in the Indian Constitution*', The Indian Journal of Political Science, October-December 1953, pp. 317-332.

Gledhill, A. : *The Republic of India* (1958), Vol. 6, pp. 70-97.

Hidayatullah, M. : *Democracy in India and Judicial Process.*

Jennings, I. : *Some Characteristics of the Indian Constitution* (1953) pp. 1-29; 55-75.

Shukla, V. N. : *The Constitution of India* (1951), pp. XI. VI/XX.

Mukerji, K. P. : '*Is India a Federation ?*' The Indian Journal of Political Science, July-September 1954, pp. 177-179.

Srinivasan, N. : *Democratic Government in India* (1954), pp. 143-155.

अध्याय ३

मौलिक अधिकार और राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व (FUNDAMENTAL RIGHTS AND THE DIRECTIVE PRINCIPLES OF STATE POLICY)

मौलिक अधिकारों का महत्त्व (The Importance of Fundamental Rights)—"अधिकार ही किसी राज्य के आधार हैं । अधिकार ही वे गुण हैं जो शासन-सत्ता को नैतिक स्वरूप प्रदान करते हैं । मौलिक अधिकार प्राकृतिक अधिकार हैं क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि व्यक्ति के पूर्ण नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए वे आवश्यक हैं ।" यह स्वीकार किया जाता है कि देश के संविधान में मौलिक अधिकारों के सम्मिलित कर देने से व्यक्ति के ऐसे मूल अधिकार, जैसे जीवित रहने का अधिकार, स्वतन्त्रता, अभिव्यक्ति, धर्म और विश्वास आदि के अधिकार हर स्थिति में अनुल्लंघनीय हैं और उन्हें सत्तारूढ़ बहुसंख्यक दल मनचाहे तरीके से आसानी से नहीं बदल सकता । मौलिक अधिकारों के सिद्धान्त का यह अर्थ भी है कि शासन स्वतन्त्र हो और मर्यादित हो । मौलिक अधिकार शासन और विधान मण्डल के ऊपर अंकुश-स्वरूप रहते हैं । उनके कारण विधानमण्डल स्वेच्छाचारी नहीं बन पाते । न्यायालयों का यह कर्तव्य है कि वे मौलिक अधिकारों की रक्षा करें । इसीलिए मौलिक अधिकारों की माँग न्यायालयों में की जा सकती है ।

मूल अधिकारों का अध्ययन करते समय यह याद रखना आवश्यक है कि वे अधिकार निरंकुश (absolute) नहीं हैं। मूल अधिकारों पर कतिपय अंकुश रखना आवश्यक हो जाता है ताकि सम्पूर्ण समाज अथवा राज्य के हित सुरक्षित रहें। स्वतन्त्रता का अर्थ विप्लव अथवा कुव्यवस्था नहीं है। इसीलिए अधिकारों के साथ-साथ अंकुश नितान्त आवश्यक हैं; और कई संविधानों ने इस प्रकार की मर्यादाएं लगा दी हैं। जब संविधान विस्तृत अधिकार दे देते हैं; किन्तु उन अधिकारों का निर्वचन न्यायालयों पर छोड़ देते हैं, तो इस प्रकार सार्वजनिक हित में मूल अधिकारों के ऊपर उचित और आवश्यक अंकुश लगा दिए जाते हैं।

संविधान सभा और मूल अधिकार (Constituent Assembly and the Fundamental Rights)—अपनी पूर्वघोषणाओं को देखते हुए कांग्रेस इस बात के लिए वचनबद्ध थी कि वह स्वतन्त्र भारत के संविधान में नागरिकों के कतिपय मूल अधिकारों को भी स्वीकार करे। जनवरी, १९४७ में समिति ने उद्देश्यों सम्बन्धी जो प्रस्ताव पास किया था, उसमें मूल अधिकारों के सामान्य सिद्धान्त निश्चित कर दिए गए थे। सभा ने सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में अल्पसंख्यकों के व
में सिफारिशें करने के लिए एक समिति नियुक्त की थी। इस समिति ने
उपसमिति नियुक्त की जिसने दो प्रकार के मूल अधिकारों के सुझाव दिए। ९

आज्ञा प्रदान की है कि वह मौलिक अधिकारों पर सीधे निर्बन्ध लगा सकेगा।"[1] इसीलिए भारत के न्यायालय ऐसी किसी विधि को अवैध घोषित नहीं कर सकते, जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को मर्यादित करती हो, यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाए कि उक्त विधि पास कर देना विधानमण्डल के अधिकार-क्षेत्र में है।[2]

इस प्रकार भारत के सविधान ने उसी रूप मे विधानमण्डल के ऊपर न्यायपालिका की सर्वोच्चता को स्वीकार नही किया था जैसा कि संयुक्त राज्य अमरीका में है, यद्यपि सविधान ने न्यायपालिका को ऐसी विधियो के ऊपर न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार प्रदान किया है जो मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण करती हों। संघीय विधानमण्डल अथवा ससद् को अधिकार है कि वह अनुच्छेद ३६८ में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार सविधान मे सशोधन कर के मौलिक अधिकारो को कम कर सकती है अथवा उन्हे समाप्त भी कर सकती है। सयुक्त राज्य अमरीका की प्रथा के विपरीत इस कार्य के लिए राज्यो के विधानमण्डलो का अनुसमर्थन आवश्यक नही है। इस प्रकार ससद् को अधिकार है कि वह विशेष बहुमत प्राप्त करके, न्यायपालिका के अवांछित निर्णयो को स्वीकार न करे। १९५१ मे सविधान का जो प्रथम संशोधन हुआ था, उसकी आवश्यकता केवल इसीलिए पड़ी थी कि सर्वोच्च न्यायालय के कुछ निर्णयो को प्रभावहीन करना अभीष्ट था।

किन्तु, यह ससद् की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता नहीं है। भारतीय ससद् उस अनन्त शक्ति का भण्डार नहीं है, जो ब्रिटिश ससद् का सार है। स्वय लिखित संविधान भी ससद् की प्रभुसत्ता के ऊपर अकुश है। भारतीय सविधान ने मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध मे न्यायपालिका की सर्वोच्चता और संसद् की सर्वोच्चता के बीच का मार्ग ग्रहण किया था परन्तु १९६७ मे गोलकनाथ के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय ने सविधान का प्रभुत्व स्थापित कर दिया है क्योकि इस निर्णय के अनुसार मौलिक अधिकार ससद् की पहुंच से बाहर हैं और ससद् किसी भी बहुमत से अथवा एकमत से भी उनमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। अनुच्छेद १३ ने स्पष्टतया ससद् की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को तिरस्कृत कर दिया है। उक्त अनुच्छेद न्यायालयो को अधिकार देता है कि वे विधानमण्डल द्वारा पारित विधियों की वैधता की परीक्षा कर सकते है और निर्णय कर सकते हैं कि किसी विधि के द्वारा सविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों का हनन तो नही हो रहा। इस प्रकार भारतीय सविधान मे न्यायपालिका की सर्वोच्चता स्थापित हो गई है।

भारत मे मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध मे एक अन्य विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनके प्रवर्तन के लिए सविधान ने व्यवस्था की है। मौलिक अधिकारो के सरक्षण के लिए सर्वोच्च न्यायालय की शरण ली जा सकती है, यह भी मान्य अधिकार है जिसको सविधान के अनुच्छेद ३२ मे स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रकार

1. Constituent Assembly Proceedings, Vol. VII, p. 41.

2. Lakhinarayan *Vs.* Prov. of Bihar (1949), Also refer to Gopalan *Vs.* the State of Madras.

सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों का सरक्षक है ।[1] भारत का कोई नागरिक जिसके मूल अधिकारों का भारत के किसी अधिकारी द्वारा अतिक्रमण हुआ है, सर्वोच्च अथवा उच्चतम न्यायालय से अपने अधिकारो के प्रवर्तन की माँग कर सकता है और न्यायालय को अधिकार है कि "वह ऐसे निदेश या आदेश या लेख, जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण के प्रकार के लेख भी है, जो भी समुचित हों, निकाल सकेगा ।"[2] राज्यों के उच्च न्यायालयों को भी अधिकार है कि वे अनुच्छेद २२६ के अनुसार आदेश-लेख जारी कर के अपने अधिकार-क्षेत्र की सीमाओं मे नागरिकों के मूल अधिकारो का प्रवर्तन करावे । इस प्रकार प्रत्येक नागरिक के अपने मौलिक अधिकारो के सरक्षण और प्रवर्तन के लिए सविधान ने ऐसे उपचार सुझाए हैं जो प्रत्येक नागरिक के लिए सुलभ है ।

"किन्तु भारत मे मौलिक अधिकारो को निर्बन्धित और निराकृत भी किया जा सकता है। अनुच्छेद ३३ के अनुसार मौलिक अधिकारो वाले उपबन्धो को निर्बन्धित किया जा सकता है और संसद् विधि द्वारा निर्धारण कर सकेगी कि इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारो को सशस्त्र सेनाओं अथवा सार्वजनिक शान्ति स्थापित करने वाले दलो के लिए प्रयोग होने की अवस्था में किस मात्रा तक निर्बन्धित या तिरस्कृत किया जाए।" हमारे संविधान की एक अनोखी विशेषता यह है कि अनुच्छेद ३३ के उपबन्ध न केवल देश की सशस्त्र सेनाओं पर प्रभावित होंगे अपितु सार्वजनिक शान्ति स्थापित करने वाले सामान्य पुलिस-दल के ऊपर भी प्रभावी होंगे । अनुच्छेद ३४ ससद् को अधिकार प्रदान करता है कि वह क्षतिपूर्ति-विधि (law of indemnity) पास करे, जिसके द्वारा भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर किसी ऐसे क्षेत्र मे जहाँ सेना-विधि (martial law) प्रवृत्त थी, उन सब कृत्यो को न्याय्य ठहरा दे, जो सामान्य विधि की दृष्टि में नागरिकों के अधिकारो का हनन ठहराया जाता । अन्तश , जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन मे है, तो अनुच्छेद ३५८ और ३५९ के अनुसार अधिकार निलम्बित हो सकते हैं ।

भारतीय सविधान में न तो प्राकृतिक अधिकार स्वीकार किये गए है और न अ-प्रगणित अधिकारो को ही मान्यता दी गई है । इस सम्बन्ध मे हमारे सविधान मे और संयुक्त राज्य अमरीका के सविधान में भारी अन्तर है। भारत में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि यदि विधानमण्डल द्वारा पारित कोई अधिनियम सामान्य सामाजिक आचरण के विरुद्ध पडता है, तो वह असवैधानिक माना जाएगा। सामान्य सामाजिक आचरण के प्रारम्भिक सिद्धान्त क्या है, इसका निर्णय न्यायालय ही करेंगे। इस सम्बन्ध मे सयुक्त राज्य अमरीका का सर्वोच्च न्यायालय विधानमण्डलों से अधिक श्रेष्ठ स्थिति का उपभोग करता है, अथवा सर्वोच्च न्यायालय स्वय अधिक श्रेष्ठ विधानमण्डल बन बैठा है । भारतीय सविधान ने अपने उच्चतम न्यायालय को यह स्थिति प्रदान नही की है ।

---

1. 'रमेश थापर विरुद्ध राज्य' मे जस्टिस पातंजलि शास्त्री का निर्णय ।
2. अनुच्छेद ३२ (२) ।

संविधान, स्त्रियों और बच्चों की उन्नति के लिए विशेष उपबन्ध कर सकता है।[1] संविधान का १९५१ में जो प्रथम संशोधन हुआ, उसने उपबन्धित किया कि इस अनुच्छेद में अथवा अनुच्छेद २९ के खण्ड (२) में जो कुछ कहा गया है, वह किसी राज्य को रोक नहीं सकता और राज्य पिछड़े हुए वर्गों को समाज के अन्य वर्गों के समान धरातल पर लाने के लिए विशेष उपबन्ध कर सकता है।[2] सार्वजनिक सेवाओं के सम्बन्ध में भी सभी नागरिकों को अवसर की समता प्रदान नहीं की गई है। यह भी समता के अधिकार का अपवाद है। संसद् चाहे तो किसी राज्य के या स्थानीय पद को वहीं के निवासियों के लिए आरक्षित कर सकती है।[3] राज्य पिछड़े हुए किसी नागरिक वर्ग के पक्ष में, जिसका प्रतिनिधित्व उसकी राय में राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के रक्षण के लिए उपबन्ध कर सकता है।[4] किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के कार्य से सम्बद्ध कोई पदधारी सम्बन्धित धर्म या सम्प्रदाय का अनुयायी भी हो सकता है।[5] ऐसे पद उक्त धर्म अथवा सम्प्रदाय के अनुयायी के लिए आरक्षित भी किये जा सकते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि समता का अधिकार प्रशासन और व्यवस्थापन के क्षेत्रों में नागरिकों की, राज्यों के विभेदमूलक बर्ताव के विरुद्ध, रक्षा करता है और सामाजिक रूप से अनुन्नत वर्गों को उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उनको कुछ विशेषाधिकार प्रदान करता है और इस प्रकार समाज में से सामाजिक असमानता के अभिशाप को दूर भगाने का प्रयत्न करता है और भारत में लगभग ५ करोड़ जो अछूत हैं, उनको जन्म-जन्मान्तर की हीन अवस्था से ऊपर उठाता है। संविधान अस्पृश्यता का अन्त करके और दूकानों, कुंओं, सड़कों, स्कूलों और पूजा के स्थानों तथा सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग का अधिकार सभी को देकर समता अधिकार को मूर्तरूप प्रदान करता है तथा पृथकतावादी सामाजिक प्रथाओं और निर्योग्यताओं को अवैध घोषित करता है।[6] सत्य तो यह है कि संविधान ने सब प्रकार की अस्पृश्यता का अन्त कर दिया है।

स्वातन्त्र्य अधिकार (The Right to Freedom)—संविधान के अनुच्छेद १९ से लेकर अनुच्छेद २२ तक स्वातन्त्र्य-अधिकार का विवेचन किया गया है, जिस में व्यक्ति की सैद्धान्तिक स्वतन्त्रताओं का वर्णन है। इन तीन अनुच्छेदों में भी अनुच्छेद १९ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह सात मौलिक अधिकारों की गारण्टी करता है और इन अधिकारों को सात मौलिक स्वतन्त्रताएं कहा जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं: (क) वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अधिकार; (ख) शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का अधिकार; (ग) संस्था या संघ बनाने का अधिकार (घ) भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध सचरण का अधिकार; (ङ) भारत राज्य—

1. अनुच्छेद (१५) ३।
2. अनुच्छेद १५ का संशोधन।
3. अनुच्छेद १६ (३)।
4. अनुच्छेद १६ (४)।
5. अनुच्छेद १६ (५)।
6. अनुच्छेद १५ (२)।

अन्तिम बात इस सम्बन्ध मे यह है कि सविधान के अध्याय ४ मे राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व दिए गए हैं। अनुच्छेद ३७ के अनुसार राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों से सम्बन्धित "उपबन्धो को किसी न्यायालय द्वारा वाध्यता न दी जा सकेगी। किन्तु तो भी इनमे दिए हुए तत्त्व देश के शासन मे मूलभूत है और विधि बनाने में इन तत्त्वो का प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य होगा।" व्यावहारिक अथवा दो टूक भाषा मे कहा जा सकता है कि "भारतीय सविधान के 'मौलिक अधिकार' तो एक प्रकार की निषेध-आज्ञाए है जो शासन को कुछ काम करने का निषेध करती है और 'राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व' कुछ पवित्र आदर्श है जिनको प्राप्त करना शासन का कर्त्तव्य होगा।"[1]

कुछ विशिष्ट मौलिक अधिकार
(Some Specific Fundamental Rights)

समता का अधिकार (The Right to Equality)—सविधान के भाग I II मे समता का जो अधिकार प्रदान किया गया है, उसका यह अर्थ नहीं करना चाहिए कि भारत मे समाजवादी व्यवस्था प्रारम्भ कर दी गई है। समता के अधिकार का स्वरूप निषेधात्मक है। यह अधिकार उन सामाजिक और नागरिक निर्योग्यताओ को दूर करना चाहता है जिनसे भारतीय सर्वसाधारण बहुत दिनो से अपार कष्ट सह रहे है। समान स्थिति वाले लोगों के समाज मे ही लोकतन्त्र सफल हो सकता है; इसलिए भारतीय सविधान, भारतीय राज्य-व्यवस्था के लिए सामाजिक और नागरिक समता को आधार मानता है। सविधान विधि के समक्ष सभी को समान स्थिति देता है।[2] और आदेश देता है कि किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवश, जाति, लिग, जन्मस्थान अथवा इनमे से किसी के आधार पर कोई विभेद नही किया जायेगा।[3] तथा राज्याधीन नौकरियों या पदो पर नियुक्ति के सम्बन्ध मे सब नागरिको के लिए अवसर की समता होगी।[4] सविधान एक ओर अस्पृश्यता[5] का अन्त करता है तथा दूसरी ओर खितावो[6] का भी अन्त कर दिया गया है। राज्य द्वारा घोषित अथवा राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-सस्था मे प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवश, जाति, भाषा अथवा इनमे से किसी के आधार पर वचित न रखा जाएगा।[7] शिक्षा-सस्थानो को सहायता देने मे राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्प-सख्यक वर्ग के प्रबन्ध मे है।[8]

तथापि, सविधान द्वारा प्रदत्त समता के अधिकार मे भी कुछ अपवाद हैं।

---

1. Gledhill, A. · The Republic of India, op. cit., p. 161.
2. अनुच्छेद १४।
3. अनुच्छेद १५।
4. अनुच्छेद १६।
5. अनुच्छेद १७।
6. अनुच्छेद १८।
7. अनुच्छेद २९।
8. अनुच्छेद ३०।

संविधान, स्त्रियों और बच्चों की उन्नति के लिए विशेष उपबन्ध कर सकता है ।[1] संविधान का १९५१ मे जो प्रथम संशोधन हुआ, उसने उपबन्धित किया कि इस अनुच्छेद में अथवा अनुच्छेद २९ के खण्ड (२) मे जो कुछ कहा गया है, वह किसी राज्य को रोक नही सकता और राज्य पिछडे हुए वर्गो को समाज के अन्य वर्गो के समान धरातल पर लाने के लिए विशेष उपबन्ध कर सकता है ।[2] सार्वजनिक सेवाओं के सम्बन्ध मे भी सभी नागरिकों को अवसर की समता प्रदान नही की गई है। यह भी समता के अधिकार का अपवाद है। संसद् चाहे तो किसी राज्य के या स्थानीय पद को वहीं के निवासियो के लिए आरक्षित कर सकती है ।[3] राज्य पिछडे हुए किसी नागरिक वर्ग के पक्ष मे, जिसका प्रतिनिधित्व उसकी राय मे राज्याधीन सेवाओ मे पर्याप्त नही है, नियुक्तियो या पदों के रक्षण के लिए उपबन्ध कर सकता है ।[4] किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के कार्य से सम्बद्ध कोई पदधारी सम्बन्धित धर्म या सम्प्रदाय का अनुयायी भी हो सकता है ।[5] ऐसे पद उक्त धर्म अथवा सम्प्रदाय के अनुयायी के लिए आरक्षित भी किये जा सकते है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि समता का अधिकार प्रशासन और व्यवस्थापन के क्षेत्रों मे नागरिकों की, राज्यो के विभेदमूलक वर्ताव के विरुद्ध, रक्षा करता है और सामाजिक रूप से अनुन्नत वर्गो को उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उनको कुछ विशेषाधिकार प्रदान करता है और इस प्रकार समाज मे से सामाजिक असमानता के अभिशाप को दूर भगाने का प्रयत्न करता है और भारत मे लगभग ५ करोड जो अछूत है, उनको जन्म-जन्मान्तर की हीन अवस्था से ऊपर उठाता है। संविधान अस्पृश्यता का अन्त करके और दूकानों, कुओं, सड़को, स्कूलो और पूजा के स्थानो तथा सार्वजनिक समागम के स्थानो के उपयोग का अधिकार सभी को देकर समता अधिकार को मूर्त्तरूप प्रदान करता है तथा पृथकतावादी सामाजिक प्रथाओं और निर्योग्यताओं को अवैध घोषित करता है ।[6] सत्य तो यह है कि संविधान ने सब प्रकार की अस्पृश्यता का अन्त कर दिया है।

स्वातन्त्र्य अधिकार (The Right to Freedom)—संविधान के अनुच्छेद १९ से लेकर अनुच्छेद २२ तक स्वातन्त्र्य-अधिकार का विवेचन किया गया है, जिसमें व्यक्ति की सैद्धान्तिक स्वतन्त्रताओं का वर्णन है। इन तीन अनुच्छेदो मे भी अनुच्छेद १९ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योकि यह सात मौलिक अधिकारो की गारण्टी करता है और इन अधिकारों को सात मौलिक स्वतन्त्रताए कहा जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं: (क) वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अधिकार; (ख) शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का अधिकार; (ग) संस्था या संघ बनाने का अधिकार (घ) भारत राज्य-क्षेत्र मे सर्वत्र अबाध संचरण का अधिकार; (ङ) भारत राज्य-

1. अनुच्छेद (१५) ३।
2. अनुच्छेद १५ का संशोधन।
3. अनुच्छेद १६ (३)।
4. अनुच्छेद १६ (४)।
5. अनुच्छेद १६ (५)।
6. अनुच्छेद १५ (२)।

क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का अधिकार,; (च) सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का अधिकार; तथा (छ) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने का अधिकार।

अनुच्छेद १९ को दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग तो अधिकारों की घोषणा है और जैसा कि अभी बताया गया था उसमे सात स्वतन्त्रताओं का समावेश है। द्वितीय भाग मे कतिपय परिसीमाए, जो खण्ड (२) से लगा कर खण्ड (६) तक दी गई हैं, और इनमे से प्रत्येक खण्ड मे प्रथम भाग का कोई-न-कोई खण्ड दिया गया है। इस सिद्धान्त के प्रसग मे कि अधिकार कभी प्राकृतिक अथवा परम अथवा निरपेक्ष (absoluto) नही होते, सविधान ने उक्त अधिकारो के प्रयोग और उपभोग पर कुछ विशिष्ट मर्यादाएं और प्रतिबन्ध आरोपित किए है। इन मर्यादाओं के बारे में ऐसी धारणा की गई है कि यह वास्तव मे अमरीकी नियामक शक्ति (Police Power) के सिद्धान्त का अशत सहिताबद्ध किया जाना है।

वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा सम्पत्ति के अर्जन, धारण तथा व्यय सम्बन्धी स्वतन्त्रताओं पर जो प्रतिबन्ध थे उनमे १९५१ के 'सविधान सशोधन अधिनियम' ने कई परिवर्तन कर दिए। सविधान को संशोधित करने के क्या उद्देश्य थे, यह उद्देश्यों और कारणो पर प्रकाश डालने वाले उसी वक्तव्य से स्पष्ट होंगे जो उक्त सशोधनकारी विधेयक के साथ सलग्न था।[1] उक्त वक्तव्य इस प्रकार था: "सविधान की क्रियान्विति के पिछले पन्द्रह महीनो मे न्यायालयो के निर्णयो के फलस्वरूप हमारे समक्ष कतिपय कठिनाइया उपस्थित हुई है जिनका सम्बन्ध विशेषकर मौलिक अधिकारों के अध्याय से है। सविधान के अनुच्छेद १९ के खड (१), उपखड (क) मे नागरिको को वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अधिकार प्रदान किया गया है। उक्त अधिकार इतना व्यापक और परिग्राही है कि यदि कोई नागरिक हत्या अथवा हिंसक कृत्यों की उत्तेजना देने का भी दोषी हो तो भी उसको दोषी ठहराना कठिन है। अन्य ऐसे देशो मे जहा लिखित सविधान है, वाक्-स्वतन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य को इतने व्यापक अर्थो मे नहीं लिया जाता कि उक्त स्वातन्त्रता का अतिक्रमण करने वाले व्यक्ति को दण्ड नही दिया जा सके। अनुच्छेद १९ के खण्ड (१) उपखण्ड (छ) ने नागरिकों को कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने का अधिकार प्रदान किया है; किन्तु उक्त उपबन्ध पर साधारण जनता के हितो मे कोई राज्य युक्तियुक्त प्रतिबन्ध लगा सकता है। यद्यपि 'साधारण जनता के हितो' मे कह देने से सारा उपबन्ध इतना व्यापक और परिग्राही हो जाता है कि राष्ट्रीयकरण की कोई भी योजना, जिसको सम्बन्धित राज्य चाहे, उक्त अर्थों में ली जा सकती है, फिर भी यह वांछनीय है कि अनुच्छेद १९ के खण्ड (घ) का स्पष्टीकरण किया जाए और उक्त उपबन्ध को सन्देह की स्थिति से परे कर लिया जाए।

इसमें सन्देह नही है कि वाक्-स्वातन्त्र्य का क्षेत्र तथा विस्तार प्रारम्भिक उपबन्ध के अनुसार अत्यन्त व्यापक और परिग्राही था। उक्त अधिकार को मर्यादित

---

1. Gazette of India, Part II, Section 2, p 357.

करने वाले केवल चार प्रतिबन्ध थे । अर्थात् अपमान-लेख (libel), अपमान वचन (slander), मान-हानि (defamation), न्यायालय-अवमान (contempt of court), शिष्टाचार या सदाचार पर आघात करने वाले अथवा राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने वाले विषयों आदि से सम्बन्धित विधियाँ । इस प्रकार स्पष्ट है कि सार्वजनिक शान्ति और सुरक्षा को ऐसा कारण नही माना गया था जिसके लिए वाक्-स्वातन्त्र्य को मर्यादित किया जाए, । उसी प्रकार हिसक कृत्यो के लिए उत्तेजना देने को ऐसा विषय नही समझा गया जिसके लिए वाक्-स्वातन्त्र्य के अधिकार को मर्यादित किया जाए । भारत के उच्चतम न्यायालय ने कई मामलो मे यह दृष्टिकोण अपनाया कि कोई विधि जो वाक्-स्वातन्त्र्य पर तो बन्धन लगाती हो किन्तु साथ ही जो मान-हानि (defamation) अथवा न्यायालय-अवमान के सम्बन्ध मे मौन हो, अथवा जिसका सम्बन्ध शिष्टाचार और सदाचार पर आघात करने वाले पापो से न हो, उसको असवैधानिक घोषित कर दिया जाएगा यदि उसका सम्बन्ध राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने अथवा राज्य को उलटने की प्रवृत्ति वाले किसी विषय से न हो ।[1]

१९५१ के संविधान के संशोधन के कारण अनुच्छेद १९ (२) के उपबन्धों मे तीन सीमाएं और जोड दी गई है । वे तीन सीमाए् निम्न हैं · राज्य, वाक्-स्वातन्त्र्य के अधिकार को 'राज्य की सुरक्षा के हित मे' ; 'विदेशी राज्यो से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखने के हित मे'; 'सार्वजनिक सुरक्षा के हित मे'; और 'अपराधो को उत्साहित करने के हित मे'; सीमित कर सकता हैं । अनुच्छेद १९ का खण्ड (२) अव इस प्रकार हैं : "खंड (१) उपखण्ड (क) की कोई बात, अपमान-लेख, अपमान वचन, मान-हानि, न्यायालय-अवमान से अथवा शिष्टाचार या सदाचार पर आघात करने वाले अथवा राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने अथवा राज्य को उलटने की प्रवृत्ति वाले अथवा राज्य की सुरक्षा के हित मे अथवा विदेशी राज्यो से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखने के हित में अथवा अपराधों को उत्साहित करने के हित मे किसी विषय से ·····।" उपर्युक्त तीन अतिरिक्त परिसीमाओ को सम्मिलित कर देने से अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर पर्याप्त मर्यादाएं लगा दी गई है और न्यायालयो के हस्तक्षेप की सम्भावनाए पर्याप्त बढ़ गई है, यदि न्यायालयो को इस प्रकार की मर्यादाए उचित जान पड़ें । न्याययुक्त आयन्त्रणों (restrictions) से उच्चतम न्यायालय का यह अर्थ हैं कि ऐसे आयन्त्रण लगाए जा सकते है जो अत्यधिक अनुचित और कठोर न हों और जो सार्वजनिक हितों की आवश्यकता से अत्यधिक न हों ।

सविधान के सोलहवे सशोधन अधिनियम का उद्देश्य अनुच्छेद १९ का संशोधन करना है और संघ शासन को भारतीय यूनियन की अक्षुण्णता और प्रभुत्व-सम्पन्नता बनाए रखने के लिए पर्याप्त अधिकारों का प्रदान करना हैं । अब चुनावों में कोई भी उम्मीदवार विच्छेद (Secession) को राजनीतिक प्रश्न नहीं बना

---

1. रमेश थापर विरुद्ध मद्रास राज्य ; ब्रजभूषण विरुद्ध देहली राज्य वाले निर्णयों को देखिए ।

सकेगा। चुनाव के पश्चात् प्रत्येक सदस्य को भारत की प्रभुत्व सम्पन्नता और अक्षुण्णता बनाए रखने की एक और शपथ लेनी पड़ेगी।

जिन अन्य अधिकारों के सम्बन्ध मे सविधान के अनुच्छेद १९ ने उपबन्ध किया हैं, वे निम्न हैं : शान्तिपूर्ण और निरायुध सम्मेलन का अधिकार सार्वजनिक शान्ति और सुरक्षा के हित से मर्यादित कर दिया गया है।[1] सस्था और संघ बनाने के अधिकार पर सार्वजनिक शान्ति और नैतिकता के न्याय्य प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं।[2] इस प्रकार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर जो प्रतिबन्ध लगाए गए हैं वे प्रथमत: न्याय्य अथवा उचित होने चाहिए और द्वितीयत. सार्वजनिक शान्ति और नैतिकता के रक्षार्थ ही होने चाहिए।

अनुच्छेद १९ के खण्ड (१) के उपखण्ड (घ) द्वारा सारे भारत की सीमा के अन्दर बिना किसी रोक-टोक के आने-जाने की स्वतन्त्रता प्राप्त हैं। साथ ही भारत की सीमा के अन्दर कही भी बस जाने की अथवा सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन के अधिकार पर भी साधारण जनता के हितो के अथवा किसी अनुसूचित आदिम जाति के हितों के सरक्षण करने के लिए न्याय्य प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं।[3]

किसी वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार-सम्बन्धी अधिकार पर भी आवश्यक वृत्तिक या शिल्पिक अर्हताओं के प्रतिबन्ध हैं। १९५१ के सवैधानिक सशोधन ने राज्यों को अधिकार दे दिया है कि वे या तो सीधे या राज्याधीन नियमों द्वारा कोई पेशा या व्यापार चला सकते है और इस पेशे या व्यापार से प्राइवेट व्यक्ति पूर्णत. अथवा अशत: वचित किये जा सकते है। इन सशोधन की इसलिए आवश्यकता आ पड़ी थी कि इलाहाबाद के उच्च न्यायालय ने 'मोतीलाल बनाम उत्तर प्रदेश सरकार' वाले मामले में जो निर्णय दिया, वह उक्त उपबन्ध के विरुद्ध था। १९३९ के यू० पी० मोटर व्हीकल्स ऐक्ट (U. P. Motor Vehicles Act, 1939) को न्यायालय मे चुनौती दी गई, *क्योंकि वह सविधान के अनुच्छेद १४ के उपबन्धों से टकराता था।* इलाहाबाद के उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि राज्य की मोटरो को उक्त अधिनियम के खण्ड ४३ उपखण्ड (३) धारा (१) से विलग नही किया जा सकता, क्योकि उक्त अधिनियम की शर्त हैं कि सभी मोटरगाड़िया उन आज्ञाओ अथवा अनुमति-पत्रों (permits) की आज्ञाओ के अनुसार चलाई जाएगी जिनको प्रादेशिक अथवा प्रान्तीय सरकारें प्रदान करेगी। केन्द्रीय विधि मन्त्री (Union Law Minister) ने सशोधन-विधेयक पर हो रही बहस के दौरान सशोधन के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि राज्य सरकारे शीघ्र ही राष्ट्रीयकरण की ओर जा रही है, अत: यह आवश्यक है कि सविधान मे आवश्यक सशोधन हो जाए और प्रस्तावित राष्ट्रीयकरण का अधिकार भी प्राप्त हो जाए।

---

1. अनुच्छेद १९ (३)।
2. अनुच्छेद १९ (४)।
3. अनुच्छेद १९ (५)।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Personal Liberty)—अनुच्छेद २० से लेकर अनुच्छेद २२ तक जिन व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं का वर्णन किया गया है, वे सब 'स्वातन्त्र्य-अधिकार' के अन्तर्गत आती है। अनुच्छेद २० किसी ऐसे व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का वर्णन करता है जिस पर दोषारोपण किया गया है और उक्त अनुच्छेद मे दण्ड-विधान के कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का निरूपण और विवेचन किया गया है। अनुच्छेद २० का खण्ड (१) यह सिद्धान्त निरूपित करता है कि कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए सिद्ध-दोष नही ठहराया जाएगा, जब तक कि उसने अपराध करने के समय किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण न किया हो। और न कोई व्यक्ति उससे अधिक दण्ड का पात्र होगा जो उस अपराध के करते समय प्रवृत्त विधि के अधीन दिया जा सकता था। द्वितीय खण्ड मे यह मौलिक सिद्धान्त निहित है कि कोई व्यक्ति एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित और दण्डित न किया जाएगा। इस खण्ड मे वही सिद्धान्त है जिसको अमरीका मे 'दुहरे भय का सिद्धान्त' (Double Jeopardy) कहते हैं; यद्यपि शब्दों का कुछ हेर-फेर है। तृतीय खण्ड उक्त सिद्धान्त पर आधारित है कि किसी अपराध मे अभियुक्त कोई व्यक्ति स्वय अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य न किया जाएगा। इस खण्ड की भाषा मे प्रायः वही शब्द हैं जो अमरीका के सविधान के पचम सशोधन मे हैं; यद्यपि हमारे सविधान मे जिस नियम के आधार पर इस खण्ड को निर्मित किया गया, उसकी सीमा उतनी व्यापक नही है जितनी कि अमरीकी नियम की है; क्योंकि "वह निर्वचनों के द्वारा अत्यधिक व्यापक अर्थों मे लिया जाने लगा है।"[1]

अनुच्छेद २१ प्रत्येक व्यक्ति को सबसे महत्त्वपूर्ण प्राण और दैहिक स्वाधीनता का संरक्षण प्रदान करता है और आदेश करता है कि किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड कर अन्य प्रकार से वचित न किया जाएगा। यद्यपि कतिपय अवस्थाओ मे सविधान बन्दीकरण और निरोध की आज्ञा देता है, किन्तु ऐसा बन्दीकरण और निरोध केवल तदर्थ वैध आज्ञा के अनुसार ही हो सकता है। यह अनुच्छेद इस अभिप्राय से नही लिखा गया था कि यह विधान मण्डलो के अधिकारों पर सवैधानिक प्रतिबन्ध लगाये। "इसका उद्देश्य तो केवल यह है कि यह देश की कार्यपालिका शक्ति के ऊपर अकुश रखे और कार्यपालिका किसी व्यक्ति के प्राणों और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से, सिवाय किसी विधि की आज्ञा और उसमे वर्णित प्रक्रिया के अनुसार, खिलवाड़ न करे।" उक्त वैधानिक कार्रवाई की जो वैधानिक प्रक्रिया निर्धारित की जाएगी, उसका सविधान के अनुच्छेद २२ के अनुसार होना आवश्यक है।

भारतीय सविधान के अनुच्छेद २१ के उपबन्ध वही है जो अमरीकी सविधान के पाचवे और चौदहवे सशोधनो के है। अमरीका के सविधान के पांचवे सशोधन के अनुसार किसी व्यक्ति को प्राण, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति से बिना वैधिक प्रक्रिया के

1. Basu, Durga Das : Commentary on the Constitution of India, op. citd., p. 149.

स्वतन्त्रता का तथा धर्म के अवाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा । चूकि धार्मिक सस्थाए समवर्त्ती सूचि मे है, इसलिए धर्म-स्वातन्त्र्य के अधिकार होते हुए भी किसी राज्य के विधानमण्डल को यह अधिकार वना रहता है कि वह धार्मिक आचरण से सम्वद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय या राज-नीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनियम अथवा निर्बन्धन करने वाली विधिया पास करे और इसीलिए जहां हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म-सस्थाओं को हिन्दुओं के सव वर्गों और विभागों के लिए खोला जा सकता है; वही हिन्दुओं के प्रति निर्देश मे सिक्ख, जैन या वौद्ध धर्म के मानने वाले व्यक्तियों का भी निर्देश सम्मिलित है और तदनुसार राज्य ने हिन्दू, सिक्ख, जैन तथा वौद्ध धार्मिक सस्थाओं को सव वर्गो के लोगों के लिए एक समान खोलने का अधिकार प्राप्त कर लिया है ।[1] सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी विभाग को धार्मिक सस्थाओं की स्थापना और पोपण का, उनके प्रवन्ध करने का, चल और अचल सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का पूर्ण अधिकार होगा ।[2] किसी भी व्यक्ति को ऐसे करों के देने के लिए वाध्य नही किया जा सकता जिनके आगम किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिए या पोपण मे व्यय करने के लिए विनियुक्त कर दिये गये हों ।[3] राज्यनिधि से पूरी तरह से पोपित किसी शिक्षा-सस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नही दी जाएगी, किन्तु प्राइवेट सस्थाओं मे धार्मिक शिक्षा दी जा सकेगी जिन्हे सरकार या राज्य ने मान्यता दे दी है या जिन संस्थाओं को सरकारी धन से सहायता मिलती है या जिन सस्थाओं का प्रवन्ध तो सरकार करती है परन्तु जो गैर-सरकारी धन से वनी हैं और चलती है और जिनके निर्माताओं और दाताओं ने साथ में यह शर्त लगा दी है कि उनमें धार्मिक शिक्षा दी जाएगी ; किन्तु शर्त यह होगी कि उक्त सस्था में पढने वाले किसी व्यक्ति को उक्त सस्था मे दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा मे भाग लेने के लिए अथवा धार्मिक उपासना मे भाग लेने के लिए अथवा उक्त सस्था की इमारत मे उपस्थित होने के लिए उस समय तक वाध्य नही किया जाएगा जव तक कि उक्त व्यक्ति ने, या यदि वह वयस्क न हो तो उसके संरक्षक ने, इसके लिए स्वीकृति न दे दी हो ।[4]

संस्कृति और शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार (Cultural and Educational Rights)—सविधान का अनुच्छेद २९ समस्त अल्पसख्यक वर्गों को आश्वस्त करता है कि उन्हे अपनी विशेप भाषा, लिपि या सस्कृति को वनाये रखने का अधिकार होगा और इस अधिकार पर सविधान के अनुच्छेद ३४३ के उपवन्धों का प्रभाव नही पड़ेगा, जिसमें समस्त सघ के लिए देवनागरी लिपि मे हिन्दी भाषा को अधिकृत भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है । अनुच्छेद २९ के खण्ड (२) ने उपवन्धित किया है कि राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-सस्था मे प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवश, जाति , भाषा अथवा इनमें से

1. अनुच्छेद २५ 2. अनुच्छेद २६
3. अनुच्छेद २७ 4. अनुच्छेद २८

किसी के आधार पर वंचित न रखा जाएगा। धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्प-संख्यक वर्गो को अपनी रुचि की शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना का अधिकार होगा और उक्त शिक्षा-संस्थाओं को सहायता देने मे राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्प-संख्यक वर्ग के प्रशासन मे है।[1]

सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property)—अनुच्छेद ३१ सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन के अधिकार को स्वीकार करता है। अनुच्छेद १९ के अन्तर्गत सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का सभी नागरिको को अधिकार प्रदान किया गया है।[2] अनुच्छेद ३९ के खण्ड (१) के अनुसार कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार के विना अपनी सम्पत्ति से वञ्चित नही किया जाएगा। इस प्रकार केवल कार्यपालिका के आदेश पर ही किसी व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति से वंचित नही किया जा सकता; और यदि कार्यपालिका-सत्ता विधि के अनुसार आचरण नही करती, तो ऐसा आदेश सविधान के अनुच्छेद ३१ के प्रतिकूल होगा, अतः उक्त आदेश अवैध माना जाएगा। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद ३१ का खण्ड (२) उपबन्धित करता है कि कोई सम्पत्ति केवल सार्वजनिक प्रयोजन के लिए तभी कब्जाकृत या अर्जित की जा सकती है जबकि उक्त अर्जित या कब्जाकृत सम्पत्ति के लिए प्रतिकर की राशि दे दी गई हो। अनुच्छेद ३१ के खण्ड (३), (४), (५), और (६) और अनुच्छेद ३१ (क) और ३१ (ख) मे वे अपवाद दिए गए हैं जिनके आधार पर किसी की सम्पत्ति अर्जित की जा सकती है। इसका उद्देश्य यह है कि जमीदारी-उन्मूलन या भूमि-सुधार-सम्बन्धी जो भी कानून बनाये जाए वे इस कारण अमान्य न ठहराए जाए कि सविधान मे दिए हुए मूल अधिकारों का वे अतिक्रमण करते हैं। इन उपबन्धों के अनुसार सार्वजनिक प्रयोजन के लिए प्रतिकर देकर किसी की भी सम्पत्ति अर्जित की जा सकती है। ये दोनो अनुच्छेद अर्थात् ३१ (क) और ३१ (ख) मूल सविधान मे नही थे। ये सविधान मे, प्रथम संशोधन कानून, १९५१ द्वारा शामिल कर लिये गए थे। इन अनुच्छेदों का प्रभाव अत्यन्त विस्तृत है और इनको इस उद्देश्य से सविधान मे शामिल किया गया था कि जमीदारियों को लिया जा सके और स्थायी वन्दोबस्त (permanent settlement) को समाप्त किया जा सके, किन्तु इस कार्रवाई मे न्यायालयों का हस्तक्षेप न हो। अनुच्छेद ३१ (क) उपबन्धित करता है कि कोई पुरानी अथवा भविष्य मे निर्मित होने वाली विधि, जो किसी सम्पत्ति के स्वामी अथवा जमीदार के अधिकारों को सीमित या समाप्त करती है, केवल इसी आधार पर अमान्य अथवा अवैध नहीं ठहराई जाएगी कि इस भाग में दी हुई धाराओं का उल्लंघन करती है, अथवा अपहरण करती है, अथवा सीमित करती है। इसका यह अर्थ हुआ कि न्यायालय मे किसी ऐसी विधि को चुनौती नही दी जा सकती कि प्रतिकर की न्याय्य व्यवस्था नहीं की गई है, अथवा सम्बन्धित सम्पत्ति के अर्जन मे कोई सार्वजनिक प्रयोजन नहीं था ; अथवा उक्त अर्जन सविधान के भाग तृतीय के उपबन्धों का अतिक्रमण करता है। इस

1. अनुच्छेद ३०　　2. अनुच्छेद १९ (१) (च)

प्रकार यह अनुच्छेद पटना के उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए 'कामेश्वर सिंह बनाम बिहार राज्य' वाले मामले के निर्णय को रद्द कर देता है जिसमें माननीय न्यायाधीश ने यह मत लिया कि न्यायालय इस बात पर विचार नहीं कर सकते कि कोई सम्पत्ति सार्वजनिक उपयोग के लिए अर्जित की जा रही है अथवा नहीं। इसलिए चूंकि बिहार स्टेट मैनेजमैण्ट ऑफ स्टेट एण्ड टेन्यूर्स ऐक्ट, २१ आफ १९४९ (Bihar State Management of Estate and Tenures Act, 21 of 1949) किसी सार्वजनिक प्रयोजन के लिए नहीं था, इसलिए वह वैध नहीं था। अनुच्छेद ३१ (ख) को इसलिए जोड़ा गया ताकि सविधान में दी गई अनुसूची ९ के कोई भी कानून और नियम अमान्य न समझे जाए। इस अनुच्छेद का यह उद्देश्य था कि उक्त अनुसूची के अधिनियम यह कहकर अमान्य नहीं ठहराये जा सकते कि इस भाग में दी हुई धाराओं और नियमों का उल्लघन करते है या विरोध करते हैं। उक्त ३१ (ख) अनुच्छेद के होने से किसी न्यायालय के फैसले या आज्ञा द्वारा भी अनुसूची ९ के कानून अमान्य घोषित नहीं किए जा सकते। किन्तु फिर भी उक्त अनुच्छेद ने विधानमण्डल को यह अधिकार प्रदान किया है कि वह नवी अनुसूची (Ninth Schedule) के किसी कानून को रद्द कर सकता है अथवा सशोधित कर सकता है।

संवैधानिक उपचारों के अधिकार (Right to Constitutional Remedies)—सविधान का अनुच्छेद ३२ उन सवैधानिक उपचारों के अधिकारों का भी उपबन्ध करता है, जिनके द्वारा उपर्युक्त अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए उच्चतम न्यायालय की शरण मे कोई नागरिक जा सकता है। इन मौलिक अधिकारों में से किसी भी अधिकार को प्रवर्तित कराने के लिए उच्चतम न्यायालय को ऐसे आदेश या लेख या निदेश (orders, writs or directions) जिसके अन्तर्गत वन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)[1], परमादेश (Mandamus)[2], प्रतिषेध (Prohibition)[3], अधिकार-पृच्छा (*Quo-warranto*)[4] और उत्प्रेषण (Certiorari)[5] के प्रकार के लेख भी

1. वन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) कार्यपालिका की आज्ञा पर व्यक्ति की अवैध गिरफ्तारी अथवा निरोध को रोकता है।

2. परमादेश (Mandamus) अधिकारी को किसी सार्वजनिक कर्तव्य के पालन के लिए बाध्य कर सकता है। यदि अन्य कोई कानूनी उपचार उपलब्ध हो, तो उस समय इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

3. प्रतिषेध (Prohibition) और उत्प्रेरण (Certiorari) क्षेत्राधिकार की सीमा से आगे बढ़ने पर प्रयुक्त होते है। प्रतिषेध निम्न न्यायालय को ऐसे किसी मामले पर विचार करने से रोकता है, जिस पर उसका क्षेत्राधिकार नहीं होता।

4. अधिकार-पृच्छा (*Quo-warranto*) लेख यह निर्धारित करने के लिए जारी किया जाता है कि किसी पदारूढ़ व्यक्ति को उस पद पर बने रहने का *अधिकार है* या नहीं। यह सघ सरकार या राज्य सरकार के आदेश पर ही किया जा सकता है।

5. उत्प्रेषण (Certiorari) का प्रयोग तब होता है जब कोई न्यायालय अपनी सीमा से आगे बढ़ जाता है। इसके अनुसार निम्न न्यायालय की कार्यवाही को समाप्त कर के सक्षम न्यायालय के पास हस्तान्तरित किया जा सकता है।

हैं, निकालने की शक्ति प्राप्त है।

संवैधानिक उपचारों से सम्बन्धित उपबन्ध को डा० अम्बेदकर ने, संविधान की जान बताया था। तथ्य यह है कि मौलिक अधिकारों का ढिंढोरा पीटना व्यर्थ होगा यदि उक्त अधिकारों के प्रवर्तन के लिए प्रभावी संवैधानिक उपचार न हों। इंग्लैण्ड में मौलिक अधिकारों का घोषणा-पत्र नहीं है, फिर भी वहाँ व्यक्तियों के अधिकारों को परमाधिकार आदेश-लेखों (Prerogative writs) के द्वारा पूर्ण संरक्षण प्राप्त है; और आचार्य डायसी (Dicey) ने इन परमाधिकार आदेश-लेखों को ब्रिटिश संविधान का सिद्धान्त (Bulwark of English Constitution) कहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में इस प्रकार के आदेश-लेखों (writs) का कोई उपबन्ध नहीं है। अमेरिका के संविधान के निर्माताओं ने सोचा होगा कि ये सामान्य विधि के आदेश-लेख संयुक्त राज्य में आसानी से निकलते रहेंगे, इसलिए उन्होंने स्पष्टतया बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) के निलम्बन पर रोक लगा दी।

किन्तु भारत में यदि आपात-उद्घोषणा प्रवर्तन में हो तो वे मौलिक अधिकार जिनका सम्बन्ध सात स्वतन्त्रताओं से है, आपात काल के लिए निलम्बित कर दिए जाते हैं।[1] आपात काल में राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के सम्बन्ध में न्यायालय के प्रचालन के अधिकार का निलम्बन कर सकता है; किन्तु उक्त निलम्बन-आदेश दिए जाने के पश्चात् यथासम्भव शीघ्र ही संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जाएगा।[2]

राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व
(Directive Principles of State Policy)

निदेशक तत्त्व अथवा सिद्धान्त (Directive Principles)—राज की नीति के निदेशक तत्त्वों का संविधान के भाग ४ में वर्णन किया गया है जो देश के शासन में मूलभूत है।[3] राज्य की नीति के इन निदेशक सिद्धान्तों में सामान्य शब्दों में उन उद्देश्यों और पवित्र इच्छाओं का वर्णन किया गया है, जिनके अनुसार संविधान के निर्माता देश के शासन को चलाना चाहते थे। राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व एक प्रकार से शासन को आदेश है कि वह देश में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करे और उन उच्च आदर्शों को प्राप्त करने का प्रयास करे जिनकी संविधान प्रस्तावना में शुभकामना प्रकट की गई है। संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि "सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय मिले; विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म की स्वतन्त्रता मिले; प्रतिष्ठा और अवसर की समानता मिले; और सभी में बन्धुता के भाव बढ़े और इस प्रकार व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता सुनिश्चित हो।

संविधान में सामाजिक और आर्थिक नीति की घोषणा करने का प्रयोजन यह

1. अनुच्छेद ३५८ 2. अनुच्छेद ३५९
3. अनुच्छेद ३७

था कि अब राज्य का कार्य केवल नियामक संस्था ही बने रहना नही ; अपितु अब तो राज्य का कल्याणकारी स्वरूप ही माना जाता है। राज्य को कल्याणकारी संस्था बनाने का श्रेय वीमर सविधान (Weimar Constitution) को है । तब से कई लोकतन्त्रात्मक देशों ने अपने सविधानों में इस प्रकार के नीति-निदेशक सिद्धान्तों को स्थान दिया है किन्तु आयरलैंड के सविधान को छोड कर अन्य किसी सविधान ने न्याय-योग्य (Justiciable) और अन्य अधिकारों के अन्तर को नही समझा। आयरलैंड के सविधान ने व्यक्ति के अधिकारों को न्याय-योग्य माना, किन्तु सामाजिक नीति[1] के अधिकारो को न्याय-योग्य नही माना और इस सम्बन्ध मे भारत के सविधान ने आयरलैंड का अनुसरण किया है।

नीति-निदेशक सिद्धान्त और मौलिक अधिकार (The Directive Principles and Fundamental Rights)—राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों को मौलिक अधिकारों की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थो में लिया जाता है। मौलिक अधिकार एक प्रकार से शासन को निषेधात्मक आज्ञाएं है कि वह कुछ विशेष प्रकार के कार्य न करे ; किन्तु निदेशक सिद्धान्त कुछ अस्ति आदेश (Positive Commands) हैं जिनके आधार पर शासन से आशा की जाती है कि वह कतिपय आवश्यक एवं पवित्र उद्देश्यों की पूर्ति करे। *किन्तु एक बात मे निदेशक तत्त्व मौलिक अधिकारों से बिल्कुल* भिन्न है। जहा राज्य के नीति-निदेशक तत्त्व न्याय-योग्य नही (Non-Justiciable) है, मौलिक अधिकार न्याय-योग्य हैं । अर्थात् मौलिक अधिकारों का *न्यायालय* प्रवर्त्तन करा सकते है क्योंकि वे शासन के आज्ञापत्र[2] के समान हैं जब कि निदेशक तत्त्व (Directive Principles) केवल पवित्र इच्छाए मात्र है; और *न्यायालय*[3] उन तत्त्वो को प्रवर्तित नही करा सकते । यद्यपि शासन उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कोई प्रयत्न नही करता जिनको निदेशक तत्त्वों मे स्थान दिया गया है ; तो भी शासन के विरुद्ध न्यायालयों मे कोई कार्यवाही नही की जा सकती । किन्तु यदि कोई विधि मौलिक आधारों के प्रतिकूल है, तो ऐसी विधि को *न्यायालय* अवश्य अवैध घोषित कर देंगे । किन्तु न्यायालय किसी ऐसी विधि को जो वैसे तो सब प्रकार वैध है किन्तु नीति के निदेशक तत्त्वों से मेल नही खाती, उसको केवल इसी आधार पर, कि वह निदेशक तत्त्वों के अनुकूल नही है, अवैध घोषित नही कर सकते। यदि मौलिक अधिकारों और राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों मे विरोध हो, तो न्यायालयों मे मौलिक अधिकारों को ही मान्यता दी जाएगी ।

इसलिए, राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व, निदेश का विलेख (Instrument of Instructions) अथवा पवित्र आदेश और पवित्र आदर्श है जिनको राज्य की व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों को ही मानना चाहिए और आदर करना चाहिए। प्रारूप समिति के चेयरमैन श्री अम्बेदकर ने सविधान सभा को अपनी वक्तृता मे यह बात बल देकर कही थी । उन्होने कहा, "राज्य के नीति-निदेशक तत्त्व प्रायः

1. अनुच्छेद ४५ (Irish Constitution)
2. अनुच्छेद ३२ 3. अनुच्छेद ३७

निदेश का विलेख (Instrument of Instructions) है जिनको पहले ब्रिटिश सरकार गवर्नर-जनरल (Governor-General) को या उपनिवेशों के गवर्नरों को या भारत के वायसराय को १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार भेजा करती थी। इस समय उसी निदेश के विलेख का नाम बदल कर उसे 'राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व' कहना प्रारम्भ कर दिया गया है। अन्तर केवल यह है कि अब निदेशक तत्त्व राज्य की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को दिया गया आदेश अथवा निदेश का विलेख है। मै समझता हू कि हम सबको इसका आदर करना चाहिए। जहां कही सामान्य शब्दों में शान्ति, व्यवस्था और श्रेष्ठ शासन के लिए अधिकार सौपे जाते है यह भी आवश्यक है कि उस अधिकार के साथ-साथ कुछ निदेश हों जिनके अनुसार अधिकारों का प्रयोग होना है।"[1]

राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों का महत्त्व (Value of the Directive Principles)—राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों की कई आधारों पर आलोचना की गई है। आलोचकों का कहना है कि चूकि इस भाग के उपबन्धों को न्यायालयो द्वारा बाध्यता नही दी जा सकेगी, इसलिए इनका संविधान में होना-न-होना बराबर है। इसलिए इन तत्त्वों का केवल यही महत्त्व है कि वे राजनीतिक घोषणाए हैं जिनका कोई संवैधानिक महत्त्व नही है। श्री नासिरुद्दीन (Mr. Nasiruddin) ने, जो सविधान सभा के सदस्य थे, कहा कि निदेशक तत्त्व नव वर्ष के बधाई-सन्देशो से अधिक कुछ नही है। प्रो० के० टी० शाह (Prof. K. T. Shah) ने कहा कि ये ऐसा चैक (cheque) है जिसका भुगतान बैंक की पवित्र इच्छा पर छोड़ दिया गया है। डा० व्हीर, जो ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर है, ने नीति के निदेशक तत्त्वों को "उद्देश्यों और आकाक्षाओं की घोषणा-मात्र कहा है।" उनका विचार है कि सविधान में केवल उन्ही बातों अथवा उपबन्धों को स्थान देना चाहिए; जिनको न्यायालयों द्वारा बाध्यता दी जा सकती है और इस प्रकार जो राज्य के लिए बाध्य और मान्य हों।

किन्तु उक्त आलोचको से विनम्र निवेदन है कि यद्यपि भारतीय सविधान के चतुर्थ भाग के सिद्धान्त न्यायालयों मे न्याय योग्य अथवा प्रवर्त्तनीय नही है, फिर भी उनको 'निरर्थक' कहना अत्यधिक अनुचित होगा। जैसा कि बताया भी जा चुका है, "ऐसी सार्वजानिक घोषणाओ का यही उद्देश्य होता है कि सविधान मे कल्याणकारी राज्य के मानवीय अधिकारों का समावेश हो जाए।"[2] राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्त कल्याणकारी राज्य के आदर्श की घोषणा करते है और इस तथ्य पर बल देते हैं कि भारत का पूर्वगामी राज्य नियामक (Regulatory) था, किन्तु अब उसके स्थान पर लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो चुकी है। अनुच्छेद ३८ में कहा गया है कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय

---

1. Constituent Assembly Proceedings, Vol. VII, p. 41. Also refer to the full bench decision delivered by C. J. Chagla in firm Nuserwan Ji Balsara V. State of Bombay (1951).

2. *Ibid.*

राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्यसाधक रूप मे स्थापना और सरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा। अनुच्छेद ३९ में कहा गया है कि राज्य अपनी नीति का विशेष रूप से ऐसा संचालन करेगा कि सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। देश के साधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बंटा होगा, जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो। आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि धन और उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। पुरुषो और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो। श्रमिक पुरुषो और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालको की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों मे न जाना पड़े, जो उनकी आयु अथवा उनकी शक्ति के अनुकूल न हों। इसके अतिरिक्त राज्य प्रयत्न करे कि सभी की आजीविका के पर्याप्त अवसर हों, सभी के रहन-सहन का स्तर उच्चतर बनाया जाए और सार्वजनिक स्वास्थ्य की उन्नति हो। शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से सरक्षण हो। राज्य अपने आर्थिक सामर्थ्य के भीतर और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने के, शिक्षा पाने के तथा बेकारी, बुढापा, बीमारी और अंगहानि तथा अन्य अभाव की दशाओं मे सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का यथाशक्ति प्रयत्न करेगा। इसके अतिरिक्त सभी के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा तथा कृषि की उन्नति और सामूहिक सगठन की ओर विशेष ध्यान दिया जाएगा।[1] सक्षेप मे देश मे आर्थिक लोकतन्त्र का विकास होगा।[2]

राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों को न्याय-योग्य और कठोर न बना कर एक लाभ ही हुआ। नीति के निदेशक तत्त्व राज्य से आशा करते है कि वह कुछ अस्ति (positive) प्रकार के कर्त्तव्य अवश्य करेगा; किन्तु राज्य के कृत्य समय और अवस्थाओं के अनुसार ही हुआ करते है। समय तीव्र गति के साथ बदलता चलता है और उसी प्रकार अवस्थाएं भी तीव्र गति के साथ बदलती है; और तदनुसार ही न्याय के सम्बन्ध मे हमारे विचार भी बदलते रहते है। यदि राज्य की नीति को सर्वसाधारण की आवश्यकताओं की पूर्ति के हित मे लगाना अभीष्ट है; और यदि राज्य की नीति न्याय-भावना के भी अनुकूल है, तो यह, न तो उचित होता और न व्यावहारिक ही होता यदि हम अपने नीति के निदेशक तत्त्वो को कठोर अथवा न्याय-योग्य (enforceable) बना डालते।

राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों पर यद्यपि न्यायालयों के द्वारा अमल नही कराया जा सकता, फिर भी सवैधानिक तथ्यों के बारे मे इन तत्त्वों का प्रभाव न्यायालयों के निर्णयों पर पड़े बिना नही रह सकता। प्रमुख न्यायाधीश स्वर्गीय केनिया (Kania) ने कहा था, "राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्त सविधान के अग है, इसलिए उनको बहुमत दल की इच्छा-मात्र मान लेना गलत होगा। ये तत्त्व तो सारे राष्ट्र की इच्छा

1. अनुच्छेद ३९।
2. Constituent Assembly Proceedings, Vol. VII, p. 494-495.

के प्रतीक है, जिनको उस संविधान सभा के माध्यम से व्यक्त किया गया है, जिसको समस्त देश की सर्वोच्च विधि निर्मित करने के लिए आज्ञा दी गई थी।"[1] "जहां तक राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व सवैधानिक शासन-व्यवस्था के अग है और जहा तक उनमे व्यक्त राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आदर्श देश के शासन मे मूलभूत है, स्पष्टतः न्यायालयों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इन पवित्र सिद्धान्तो का आदर करे, ताकि समय-समय पर जो राजनीतिक दल आएगे या जाएगे, उनका इन तत्त्वों पर विपरीत और अनुकूल प्रभाव न पड़ने पावे।" निदेशक तत्त्वों से आशा की जाती है कि उनमे निहित आदर्श राष्ट्रीय नीतियों मे एकरूपता और निरन्तरता बनाये रखेंगे और न्यायालयों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि यह नीति की निरन्तरता और एकरूपता दलगत नीतियों का खिलौना बन कर न रह जाए और किसी समय इसका विकृत स्वरूप सामने न आने लगे।

इसके अतिरिक्त, लोक-हित मे बहुत से मूल अधिकारो पर उचित और न्याय्य मर्यादाएं आरोपित कर दी गई है। अत. जब न्यायालय उन अधिकारों का निर्वचन करेंगे, जो न्याय-योग्य है, तो न्यायालयों का कर्त्तव्य होगा कि वे उन नियमो की भी व्याख्या करेंगे जिनके अनुसार उन्हे यह निर्णय करना होगा कि उचित अथवा न्याय्य (reasonable) क्या है और सार्वजनिक हित (public interest) क्या है। ऐसा करते समय उनको नीति के निदेशक तत्त्वों पर विचार करना ही होगा; क्योंकि सविधान उक्त निदेशक तत्त्वों को देश के शासन मे मूलभूत मानता है। यह बात सूर्यपालसिह बनाम उत्तर प्रदेश वाले मामले में स्पष्टतः सम्मुख आ चुकी है।[2] "सार्वजनिक उद्देश्य अथवा लोकहित और सार्वजनिक नीति अथवा लोकनीति का भेद स्पष्ट हो जाएगा यदि सार्वजनिक नीति का यह अर्थ लिया जाए कि यह उस राजनीतिक दल की नीति है जो किसी समय सत्तारूढ़ है। किन्तु लोक-हित (public purpose) और लोक-नीति (public policy) का विभेद समाप्त हो जाता है यदि लोक-नीति से मतलब उस राज्य नीति अथवा नीति से है जो सविधान मे स्पष्टतया दे दी गई है और जिस नीति के सिद्धान्त देश के शासन मे मूलभूत स्वीकार कर लिये गए है। यदि कोई विधि किसी निश्चित उद्देश्य को लेकर निर्मित की गई है, और जिसको सविधान में राज्य की नीति का निदेशक सिद्धान्त मान कर रखा गया है, यह निश्चय ही लोक-हित प्रदर्शित करती है। इसलिए यदि उत्तर प्रदेश जमीदारी उन्मूलन और भूमिसुधार कानून, १९५१ (U. P. Zamindari Abolition and Land Reform Act of 1951) के अनुसार जमीदारों की सम्पत्ति छिन गई, किन्तु यदि उक्त सम्पत्ति-हरण राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों की क्रियान्विति अथवा उनके ऊपर अमल करने के अभिप्राय मे हुआ, तो यह हरण भी सविधान के उपबन्धों के अनुकूल ही लोक-हित (public purpose) के लिए ही हुआ; और इस विषय मे न्यायालयों को यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि विधि के अन्य अर्थो मे उक्त सम्पत्ति-हरण उचित है अथवा नही। इस प्रश्न का उत्तर

1 गोपालन बनाम मद्रास राज्य

2. A. I. R. 1951, A., p. 674.

देने के लिए न्यायालय को इस बात की आवश्यकता नही है कि वह उन समस्त साधनों पर विचार करे जो विधानमण्डल के उद्देश्य को सार्थक करने के लिए अधिनियम (Act) मे उपबन्धित है। न्यायालय उसको न तो स्वीकार ही करेंगे और न अस्वीकार ही करेंगे। यू० पी० (U.P.) अधिनियम ने सम्पत्ति का अर्जन (acquisition) किया है, इसका उद्देश्य किसी-न-किसी राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्तों को ही कार्यान्वित करना है, अतः वह लोक-हित (public purpose) के लिए है।

इसलिए, केवल इस कारण, कि नीति-निदेशक तत्त्वों पर न्यायालयों के द्वारा अमल नही कराया जा सकता, उक्त तत्त्वों का संवैधानिक महत्त्व नष्ट नही हो जाता। इन तत्त्वों का उल्लघन भी उतना ही असंवैधानिक है जितना कि किसी ऐसे उपबन्ध का उल्लघन असवैधानिक माना जाएगा जिस पर न्यायालय द्वारा अमल कराया जा सकता है। यदि सरकार ऐसी नीति पर चले जो निदेशक सिद्धान्तों का अतिक्रमण करती हो, तो उक्त नीति असवैधानिक मानी जाएगी। और कोई भी ऐसा मन्त्रिमण्डल जो सर्वसाधारण के प्रति उत्तरदायी है, कभी ऐसा दुस्साहस नहीं करेगा। श्री एलेन ग्लैडहिल ने ठीक ही कहा था—"यदि भारतीय सविधान को अपना पवित्र स्वरूप बनाए रखना है और यदि इसको स्थायी रहना है तो किसी भी लोक-प्रिय मन्त्री के लिए ऐसा व्यवस्थापन प्रस्तावित करना कठिन होगा जिसका आधार मौलिक अधिकार अथवा निदेशक तत्त्व न हों। मौलिक अधिकारों अथवा निदेशक तत्त्वों से विरोध रखने वाले वैधिक प्रस्तावों को विरोधी दल असवैधानिक कह कर अस्वीकृत कर देंगे।"[1]

ससदीय शासन-प्रणाली मे शासन के सभी कृत्यों पर विरोधी दल की कठोर दृष्टि रहती है। सर्वसाधारण और उसके नेता कठोर आलोचक दृष्टि से शासन के क्रियाकलापों को देखते है और वे किसी शासन की सफलता अथवा असफलता उस लक्ष्य-प्राप्ति के आधार पर करते है जो उस शासन ने सविधान के मार्ग को अपनाकर प्राप्त किया हो। यदि कोई शासन उस नीति पर चलता है, जो संविधान के सिद्धान्तों के अनुकूल है और जो सर्वसाधारण की न्याय-भावना के अनुसार कार्य करता है, उसको सदैव सर्वसाधारण का समर्थन प्राप्त होता रहेगा और ऐसा शासन सत्तारूढ रहेगा; किन्तु यदि कोई शासन इसके विरुद्ध चलता है, तो उसे शासनसत्ता त्यागनी होगी। इस प्रकार प्रबुद्ध जनमत ही राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों के पीछे शक्ति है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि वैधिक रूप से सविधान के भाग ४ के निदेशक तत्त्वों को न्यायालयों द्वारा न्याय-योग्य नही ठहराया जा सकता, फिर भी उक्त सिद्धान्तों के पीछे लोकमत का समर्थन है जो आम चुनावों के द्वारा व्यक्त होता है और लोकतन्त्र की पीठ पर वास्तविक शक्ति तो जनमत की ही होती है।

और यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाए कि राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व पवित्र सकल्प अथवा श्रेष्ठ नैतिक आदर्श है तो उक्त तत्त्वों का महत्त्व है ही। एलेन ग्लैडहिल ने लिखा है कि, "अनगिनत व्यक्तियों के जीवन नैतिक आदर्शों के फलस्वरूप सुधरे है, और यह भी कठिन नही है कि ऐसे उदाहरण अवश्य मिल जाएगे जब कि उच्च

1. The Republic of India, op. citd., p. 162.

नैतिक आदर्शों से राष्ट्रों के इतिहास पर प्रभाव पड़ा है।"[1] अंग्रेज जाति के अधिकारों के विकास में मैग्नाकार्टा (Magnacarta) नामक अधिकार-पत्र का भारी प्रभाव पड़ा है और "संसद् द्वारा पारित अनेक अधिनियमों को निश्चित रूप में मैग्नाकार्टा का अंग कहा जा सकता है।"[2] १७७६ की अमरीकी स्वतन्त्रता-घोषणा की प्रस्तावना (Preamble) ने उक्त देश के सामाजिक और राजनीतिक विकास का पथ-प्रदर्शन किया है। यद्यपि उक्त प्रस्तावना न तो अमरीकी संविधान का अंग है और न जिन सिद्धान्तों को उक्त प्रस्तावना में अंगीकृत किया गया है, उन्हें न्यायालयों द्वारा न्याय-योग्य ठहराया जा सकता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मैग्नाकार्टा के उपबन्धों ने सदैव ब्रिटिश न्यायाधीशों के निर्णयों पर प्रभाव डाला है, और जिस प्रकार अमरीकी स्वातन्त्र्य-घोषणा की प्रस्तावना (Preamble) ने अमरीका के न्यायाधीशों के निर्णयों पर प्रभाव डाला है, उसी प्रकार भारतीय संविधान के नीति-निदेशक तत्त्व भी भारत सरकार की नीति का निर्माण भी करेंगे, और मार्ग-दर्शन भी करेंगे, उस समय उनके निर्णयों पर भी उक्त तत्त्व अवश्य प्रभाव डालेंगे।

किन्तु निदेशक तत्त्वों की सफलता वास्तव में भारत के सर्वसाधारण और उनकी राजनीतिक शिक्षा पर अवलम्बित होगी। प्रो० लास्की (Prof Laski) ने ठीक ही कहा था, "सड़े हुए चमड़े या कागज के टुकड़े (Musty parchments) अर्थात् संविधान के कागज पवित्र माने जा सकते है, किन्तु उक्त चमड़े के या कागज के पन्ने संविधान के आदर्शों की पूर्ति नहीं करा सकते।"[3] संविधान की वास्तविक सफलता सर्वसाधारण की सतर्कता और उनकी सामाजिक चेतना पर ही निर्भर करती है। श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ संविधान भी केवल कागज के ढेर-मात्र रह जाएंगे यदि उस देश के नागरिक सार्वजनिक मामलों में उदासीनता अथवा लापरवाही से काम ले। यह पुरानी कहावत है कि 'लोगों को वैसा ही शासन प्राप्त होता है जिस प्रकार के शासन के वे लोग योग्य होते है।' इसलिए यह भारतीय लोगों के ही हाथों में है कि वे संविधान का पूरा लाभ उठावें और जो अवसर संविधान ने दिए है उनसे लाभ प्राप्त करें, चाहे वे अवसर अथवा सवैधानिक उपबन्ध न्याय-योग्य (justiciable) हों अथवा न हों। यदि भारत के नागरिक अपने नागरिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा करें और यदि सत्तारूढ राजनीतिक दल राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों के अनुसार आचरण न करे, तो इसमें संविधान का दोष नहीं होगा। इसीलिए बारम्बार कहा जा रहा है कि बड़े पैमाने पर सभी वर्गों को और सर्वसाधारण को राजनीतिक शिक्षा प्रदान की जाए और उक्त शिक्षा के द्वारा उचित जनमत के प्रकाशन की अवस्था का निर्माण किया जाए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु यह आवश्यक है कि स्कूली छात्र और छात्रा को भारतीय स्कूलों में मौलिक अधिकारों और नीति के निदेशक तत्त्वों के सम्बन्ध में शिक्षा दी जाए।

राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों का वर्गीकरण (Classification of the

---

1. The Republic of India, op. citd., p. 161.
2. Gooch, R. K. : The Government of England, p. 64.
3. Laski : A Grammar of Politics, p. 103.

से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा;[1]

(घ) राज्य विशेषतया स्वास्थ्य के लिए हानिकारक मादक पेयों का औषधियों के प्रयोजनों से अतिरिक्त उपभोग का प्रतिषेध करने का प्रयास करेगा;[2]

(ङ) राज्य कृषि और पशु-पालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करने का प्रयास करेगा;[3]

(च) राज्य गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक ढोरों की नस्ल के परिरक्षण और सुधार के लिए तथा उनके वध का प्रतिषेध करने के लिए अग्रसर होगा;[4]

(छ) राज्य, राष्ट्रीय महत्त्व वाले तथा ऐतिहासिक अभिरुचि वाले स्थानों, स्मारकों तथा चीजों का संरक्षण करेगा;[5] और

(ज) राज्य देश की न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करेगा; तथा समस्त देश के लिए एक व्यवहार-विधि (Civil code) का प्रचलन करेगा[6]।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति के सम्बन्ध में;

(क) राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति का प्रयास करेगा;[7]

(ख) राज्य, राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखने का प्रयास करेगा,[8]

(ग) राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय विधि और संधि-बन्धनों के प्रति आदर बढाने का प्रयत्न करेगा;[9]

(घ) राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में मध्यस्थता द्वारा निबटारे का प्रयास करेगा और तदर्थ प्रोत्साहन देगा।[10]

अनुच्छेद ५१ के उपबन्धों के अनुसार हमारे देश की विदेश-नीति पूरी तरह क्रियान्वित हो रही है और स्व० पं० जवहारलाल नेहरू की शक्तियुक्त और क्रियाशील तटस्थता की नीति (Doctrine of Dynamic Neutrality) भी संविधान के अनुच्छेद ५१ का ही व्यावहारिक स्वरूप है। भारत का सह-अस्तित्व (Co-existence) में पूर्ण विश्वास, उसकी पंचशील (*Panch Sheel*) की हिमायत, और इन महत्तम शान्ति और परस्पर-सहिष्णुता के सिद्धान्तों का भारत द्वारा स्वीकार कर लिया जाना ही स्वतन्त्र भारत की संसार को बहुत भारी देन माना जाएगा। सत्य यह है कि भारत ने संसार को विनाश से बचा लिया है।

1. अनुच्छेद ४६
2. अनुच्छेद ४७
3. अनुच्छेद ४८
4. अनुच्छेद ४८
5. अनुच्छेद ४९
6. अनुच्छेद ५०
7. अनुच्छेद ५१ (क)
8. अनुच्छेद ५१ (ख)
9. अनुच्छेद ५१ (ग)
10. अनुच्छेद ५१ (घ)

Suggested Readings

Aggarwala, Om Prakash : *Fundamental Rights and Constitutional Remedies*, 2 Vols.

Alexandrowicz, C. H. : *Constitutional Developments of India*, Chaps. III, IV.

Banerjee, D. N. . *Some Aspects of our Fundamental Rights.* The Indian Journal of Political Science, Oct.-Dec., 1950.

Basu, Durgadas : *Commentary on the Constitution of India*, (1952), pp. 52-238.
Constituent Assembly Proceedings, Vol. VII.

Chitaley, V. V. and Appu Rao, S. : *The Constitution of India.* (1954). Vol I, pp. 133-863.

Gledhill, A. : *The Republic of India*, Chap. II

Gupta, Madan Gopal : *Aspects of Indian Constitution*, Chap V.

Jennings, I. : *Some Characteristics of the Indian Constitution*, Chaps III & IV.

Markandan, K. C. : *Directive Principles in the Indian Constitution*

Mukerjee, K. P. : *Limits of the Right of Association*, Indian Journal of Political Science, July-September, 1952.
Report of the Minorities Sub-Committee of the Advisory Committee, Constituent Assembly Proceedings, Vol. III.

Petrocinio De : *Freedom of Religion under the Indian Constitution*, Indian Journal of Political Science, July-September 1952.

Sharma, Bodhraj : *Effect of the Amendments to the Indian Constitution on the civil liberties of the Indian citizen*, Indian Journal of Political Science, July-September 1952.

अध्याय ४

केन्द्रीय शासन
(GOVERNMENT AT THE CENTRE)

राष्ट्रपति
(The President)

भारत का राष्ट्रपति (The President of India)—भारत के संविधान के व्यवस्था की है कि भारत का एक राष्ट्रपति होगा।[1] संघ की कार्यपालिका-शक्ति राष्ट्रपति मे निहित होगी, और सघ की रक्षा सेनाओं का सर्वोच्च समावेश राष्ट्रपति में निहित होगा।[2] किन्तु राष्ट्रपति उक्त कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग संविधान[3] के अनुसार करेगा; और संविधान ने उपवन्धित किया है कि राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने मे सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होगा।[4] जब उक्त उपबन्ध को संविधान के अन्य उपबन्धों के साथ पढा जाएगा, तो, राष्ट्रपति की सवैधानिक स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। अनुच्छेद ७५ (३) के अन्तर्गत, मन्त्रि-परिषद् लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। अनुच्छेद ७८ (क) के अन्तर्गत प्रधान मन्त्री का कर्त्तव्य होगा कि वह सघकार्यों के प्रशासन सम्बन्धी मन्त्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चयों को राष्ट्रपति को पहुचावे। पुन, अनुच्छेद ७८ (ग) उपवन्धित करता है कि प्रधान मन्त्री का कर्त्तव्य होगा कि राष्ट्रपति के अपेक्षा करने पर कोई विषय, जिस पर किसी मन्त्री ने विनिश्चय कर दिया हो किन्तु मन्त्रि-परिषद् ने विचार नही किया हो, मन्त्रि-परिषद् के सम्मुख विचारार्थ रखवाएगा।

उक्त सब उपबन्धों से यह ध्वनि निकलती है कि भारत के राष्ट्रपति को अपने उत्तरदायी मन्त्रियों की मन्त्रणा पर ही चलना होगा, यद्यपि सघ की समस्त कार्यपालिका सत्ता राष्ट्रपति मे ही निहित है और भारत सरकार के समस्त कार्यपालिका के कृत्य राष्ट्रपति के नाम से हुए कहे जाएगे।[5] संविधान मे ऐसा उपबन्ध नही है जिसमे राष्ट्रपति को शासन के सभी कृत्यों के लिए उत्तरदायी ठहराया गया हो। इसके विपरीत मन्त्रि-परिषद् को लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया है। मन्त्रि-परिषद् को लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी ठहराना उचित न होता यदि कार्यपालिका-सम्बन्धी निर्णयों का अन्तिम अधिकार संविधान ने मन्त्रियों में निहित न किया होता। अनुच्छेद ७८ के खण्ड (क) और (ग) मन्त्रियों को उक्त अधिकार स्पष्ट शब्दों में देते हैं यद्यपि कुछ

1. अनुच्छेद ५१
2. अनुच्छेद ५३ (१)
3. Idid.
4. अनुच्छेद ७४ (१)
5. अनुच्छेद ७७ (१)

विद्वानों ने उक्त खण्डों को सदिग्ध अर्थों में ग्रहण किया है।[1] खण्ड (क) उपबन्धित करता है कि प्रधान मन्त्री प्रशासन-सम्बन्धी, मन्त्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चय राष्ट्रपति के पास पहुंचावे। खण्ड (ग) उपबन्धित करता है कि प्रधान मन्त्री का यह कर्त्तव्य होगा कि राष्ट्रपति के अपेक्षा करने पर प्रधान मन्त्री किसी ऐसे विषय को जिस पर किसी मन्त्री ने तो विनिश्चय कर दिया हो किन्तु मन्त्रि-परिषद् ने विचार नहीं किया हो, मन्त्रि-परिषद् के समक्ष उसके विचारार्थ रखे। इसलिए 'विनिश्चय' (Decision) शब्द का प्रयोग निश्चित रूप से यही बताता है कि समस्त विनिश्चय मन्त्री और मन्त्रि-परिषद् ही करते हैं और संविधान ने उनको मन्त्रणा या सलाह देने भर के लिए मन्त्री नहीं बनाया है। मन्त्रियों की राय आवश्यकतः मान्य है और राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रियों के विनिश्चयों का तिरस्कार अवैधानिक होगा। प्रारूप समिति के चेयरमैन डॉ० अम्बेदकर ने संविधान के निर्माताओं की इच्छाओं पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट शब्दों मे कहा था— "हमारे राष्ट्रपति की वही संवैधानिक स्थिति है जो अंग्रेजी संविधान मे राजा की है। वह राष्ट्र का प्रधान अवश्य है किन्तु कार्यपालिका-प्रधान नही है। वह राष्ट्र का प्रतिनिधि अवश्य है किन्तु वह देश का शासक नहीं है। वह सामान्यत मन्त्रियों की मन्त्रणा मानने के लिए बाध्य है। वह मन्त्रियों की मन्त्रणा के विरुद्ध कुछ नही कर सकता।" कुछ इसी प्रकार के विचार संविधान सभा के तत्कालीन सभापति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने व्यक्त किए थे। उन्होंने कहा था, "यद्यपि संविधान मे स्पष्ट उपबन्ध नही है जिससे राष्ट्रपति को मन्त्रियों की मन्त्रणा मानना आवश्यक हो किन्तु ऐसी आशा की जाती है कि हमारे देश में भी ऐसी प्रथा अथवा अभिसमय स्थापित हो जाएगा जैसा कि इंगलैंड मे है, जिसके अनुसार राजा सदैव मन्त्रियों की मन्त्रणा पर ही चलता है, और इस प्रकार हमारा राष्ट्रपति भी निर्णय में 'संवैधानिक राष्ट्रपति' (Constitutional President) की भांति ही आचरण करेगा।"

संसदीय शासन-प्रणाली ही क्यों ? (Why Parliamentary System of Government was Chosen ?)—संसदीय शासन-प्रणाली मे राज्य के प्रधान की नितान्त आवश्यकता है, चाहे वह प्रधान राजा हो या राष्ट्रपति हो, किन्तु वास्तविक अधिकारी उत्तरदायी मन्त्री लोग ही होते है जो शासन का निर्माण करते है और शासन चलाते हैं, किन्तु जब संविधान ने राष्ट्रपति की व्यवस्था की और उसका निर्वाचन एक विशेष निर्वाचकमण्डल से कराया, तो फिर भारतीय संविधान के निर्माताओं ने संसदीय शासन-प्रणाली को ही क्यों चुना ? इसका उत्तर स्वयं संविधान के निर्माताओं ने ही दिया है।[2] वे ऐसी शासन-व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जो स्थायी हो और साथ ही उत्तरदायी भी हो; और उक्त निर्णय करते समय उन्होंने उत्तरदायी शासन-व्यवस्था को अधिक महत्त्व दिया। इसलिए उन्होंने ऐसी शासन-व्यवस्था स्थापित की जिसकी

---

1. Srivastava, V. N. "The Union Executive in the Constitution of India", published in the Indian Journal of Political Science, Oct.-December 1950, 19-20. Also refer to Dr. B. M. Sharma's Article i the same issue, p. 6.

2. Constituent Assembly Proceedings, Vol. VII, p. 32

'नीति की परीक्षा' अथवा 'जिसकी नीति का मूल्य निर्धारण' (Daily Assessment of Policy) प्रतिदिन होता चले, न कि पर्याप्त समय के पश्चात् (Periodic Assessment) जैसा कि अमरीका की शासन-व्यवस्था में होता है। इसके अतिरिक्त अमरीका की शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में सम्पर्क (Cohesion) नहीं है। उक्त दोनों विभागों में सामंजस्य केवल राजनीतिक दलीय निष्ठा का है; किन्तु दलीय निष्ठा ऐसा आवश्यक बंधन नहीं है जिसके कारण दोनों विभागों की नीति समान दिशा में चले। अमरीका के शासन में नीति-सम्बन्धी सामंजस्य और उत्तरदायित्व का प्रायः अभाव रहा है और इस कमी को अमरीका के राजनीतिज्ञों ने भय के साथ देखा है और इसलिए बारम्बार कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच सामंजस्य लाने के लिए अनेक उपाय सुझाए गए हैं, यद्यपि उस दिशा में अभी कोई सुधार नहीं हुआ है। भारत ऐसा संकट मोल लेने को तैयार नहीं था। लगभग १५० वर्षों की पराधीनता के बाद भारत को तुरन्त ऐसी शासन-व्यवस्था की आवश्यकता थी जो सर्वसाधारण की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक भी हो और सर्वसाधारण के प्रति उत्तरदायी भी हो ताकि राष्ट्रीय विकास की अनेक नीतियों और योजनाओं पर सुचारु रूप से अमल किया जा सके और शासन के विभिन्न अंगों और विभागों में तनिक भी विरोध या संघर्ष न हो। इसके अतिरिक्त भारत को संसदीय शासन-प्रणाली का कुछ ज्ञान भी था। १९३७ से भारतीय प्रान्तों में संसदीय शासन-प्रणाली के अनुसार सफलतापूर्वक शासन चल भी रहा है। संसदीय शासन-प्रणाली अत्यधिक जटिल व्यवस्था नहीं है और हमारे सर्वसाधारण उन सिद्धांतों से पूर्वपरिचित थे जिन पर उक्त व्यवस्था आधारित है। इसीलिए हमारे संविधान के निर्माताओं ने संसदीय शासन ही श्रेयस्कर समझा। और इस प्रकार की शासन-प्रणाली में राष्ट्रपति को राज्य का प्रमुख बनाने से कोई विशेष असंगति नहीं है।

परन्तु संसदीय शासन-प्रणाली के हमारे बीस वर्षों के कटु अनुभव के फलस्वरूप अनेक विचारक राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली (Presidential form of Govt.) में आस्था प्रकट करने लगे हैं। उनका विचार है कि राजनीतिक दलों के बाहुल्य और सदस्यों में पाई जा रही दल बदलू नीति से संसदीय शासन-प्रणाली उपहास का विषय बन कर रह गई है और यदि राष्ट्रपतीय प्रणाली लागू न की गई तो निकट भविष्य में ही देश को सेना के अधिकार में जाना पड़ेगा। इन विचारकों में प्रधान हैं श्री के० एम० मुन्शी, श्री के०एस० हेड्गे, श्री मधु लिमये, श्री एस०एन० मिश्र और श्री बी० पी० सिन्हा।

राष्ट्रपति की अर्हताएं और उपलब्धियां (Qualifications and Emoluments of the President)—संविधान ने उपबन्धित किया है कि राष्ट्रपति भारत का नागरिक हो, पैंतीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो तथा लोक-सभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता रखता हो। किन्तु यह शर्त है कि कोई व्यक्ति जो भारत सरकार के अधीन अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा किसी स्थानीय शासन के अधीन कोई लाभ का पद धारण किये हुए है, वह राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र न होगा। लेकिन इस सम्बन्ध में कोई व्यक्ति लाभ का पद धारण किये हुए केवल इसी कारण नहीं समझा जाएगा कि वह भारत का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति या किसी राज्य

का राज्यपाल या राजप्रमुख या उपराजप्रमुख है; अथवा सघ या किसी राज्य का मन्त्री है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति ससद् के किसी सदन का अथवा किसी राज्य के विधान-मण्डल के सदन का सदस्य नहीं होगा। यदि उक्त संस्थाओं का कोई सदस्य राष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचित हो जाए तो पदग्रहण करते ही उसकी सदस्यता समाप्त हो जाएगी। राष्ट्रपति के चुनाव मे प्रत्याशियों द्वारा कोई गडबडी न हो, इसलिए सविधान ने राष्ट्रपति के निर्वाचन का अधीक्षण, निदेशन और नियन्त्रण करने के लिए उक्त अधिकार एक 'निर्वाचन आयोग' (Election Commission) मे विहित किया है; और उक्त निर्वाचन आयोग संसद् के नियन्त्रण मे कार्य करेगा। राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या संसक्त सब शकाओं और विवादों की जांच और निश्चय उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका विनिश्चय अतिम होगा। उक्त निर्वाचन से उत्पन्न विवाद और शंकाए किस प्रकार निर्णीत की जाए यह विधि एव प्रक्रिया स्वय उच्चतम न्यायालय ही तय करेगा।

ससद् ही राष्ट्रपति के वेतन और अन्य उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों के सम्बन्ध मे निर्णय करेगी। किन्तु राष्ट्रपति की उपलब्धिया और भत्ते उसके पद की अवधि में न तो बढ़ाए जा सकते हैं और न घटाए जा सकते है। वेतन और भत्तों के अतिरिक्त राष्ट्रपति को विना किराया दिए अपने पदावासों के उपयोग का हक होगा जैसा कि द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित है, राष्ट्रपति का वेतन १०,००० रुपये प्रति मास होगा और संसद् ने यही स्वीकार किया है।

पदावधि (Term of Office)—राष्ट्रपति पाच वर्षों तक अपने पद पर बना रहता है और वह पुनर्निर्वाचित हो सकता है।[1] किन्तु वह अपनी पदावधि में भी त्यागपत्र दे सकता है और ग्लैडहिल का विचार है कि "यदि राष्ट्रपति और उसकी मन्त्रि-परिषद् में विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाए, तो राष्ट्रपति सम्भवतः त्यागपत्र दे सकता है।"[2] सविधान ने उपबन्धित किया है कि राष्ट्रपति अपना त्यागपत्र उप-राष्ट्रपति को सम्बोधित करेगा और उपराष्ट्रपति उक्त सूचना, तुरन्त लोक-सभा के अध्यक्ष को देगा।[3] राष्ट्रपति, संविधान का अतिक्रमण करने पर महाभियोग द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा,[4] यद्यपि उक्त अनुच्छेद ने 'सविधान के अतिक्रमण' वाक्याश (Violation of the Constitution) पर प्रकाश नही डाला है। अमरीकी सविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति महाभियोग द्वारा तभी हटाया जा सकता है यदि वह राष्ट्रद्रोह, घूसखोरी या अन्य महाअपराधों के कारण दोषी हो।

भारतीय सविधान के अनुच्छेद ६१ ने विस्तारपूर्वक वह सारी प्रक्रिया वर्णित की है जिसके अनुसार राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जाएगा। राष्ट्रपति पर महा-भियोग चलाने के लिए संसद् का कोई सदन दोषारोपण करेगा। ऐसा दोषारोपण तब

---

1. अनुच्छेद ५७
2. The Republic of India, op. cit., p. 99.
3. अनुच्छेद ५६ (२)
4. अनुच्छेद ५६ (१) ख

तक नही किया जाएगा जब तक कि ऐसे दोषारोपण की प्रस्थापना किसी संकल्प में न हो, जो कम-से-कम चौदह दिन की ऐसी लिखित सूचना के दिए जाने के पश्चात् प्रस्तुत किया गया है, जिस पर उस सदन के कम-से-कम एक-चौथाई सदस्यों ने हस्ताक्षर करके उस सकल्प को प्रस्तावित करने का विचार प्रकट किया है, तथा उस सदन के समस्त सदस्यो के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत से ऐसा संकल्प पारित न किया गया हो। जब दोषारोपण ससद् के किसी सदन द्वारा इस प्रकार किया जा चुके, तब दूसरा सदन उस दोषारोपण का अनुसन्धान करेगा या कराएगा।[1] राष्ट्रपति को उक्त अनुसन्धान मे उपस्थित होने का तथा अपना प्रतिनिधित्व कराने का अधिकार होगा। यदि अनुसन्धान के फलस्वरूप, राष्ट्रपति के विरुद्ध किये गये दोषारोप की सिद्धि को घोषित करने वाला सकल्प दोषारोप के अनुसन्धान करने या कराने वाले सदन के समस्त सदस्यों के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत से पारित हो जाता है तो ऐसे सकल्प का प्रभाव उसकी पारण तिथि से राष्ट्रपति का अपने पद से हटाया जाना होगा।

पुर्नानर्वाचन योग्यता (Eligibility for re-election)—राष्ट्रपति की पुर्ननिर्वाचन योग्यता के सम्बन्ध में भारतीय सविधान ने कोई बाधा या आयन्त्रण (restriction) नही लगाया है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई व्यक्ति कितनी ही बार राष्ट्रपति निर्वाचित हो सकता है, चाहे लगातार कई पदावधियों के लिए चाहे अन्यथा। सविधान ने तो केवल यही उपबन्ध किया है कि "कोई व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में पद धारण कर रहा है अथवा कर चुका है, इस सविधान के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए, उस पद के लिए पुर्नर्निर्वाचन का पात्र होगा।" परन्तु भारत में राष्ट्रपति कितनी पदावधियों के लिए निर्वाचित हो सकता है ? श्री रघुनाथ सिंह (काग्रेम) ने ६ सितम्बर, १९५७ को एक गैर-सरकारी विधेयक लोक सभा में प्रस्तुत किया था, जिसका उद्देश्य किसी व्यक्ति को लगातार दो पदावधियो तक ही राष्ट्रपति बने रहने देना था। इस विधेयक के समर्थको का कहना था कि भारतीय सविधान मे कई-कई बार राष्ट्रपति के पुर्ननिर्वाचन की सम्भावना आपत्तिजनक है क्योंकि इससे अधिनायकत्व की गन्ध निकलती है। लोक सभा मे बहुत बहस के बाद और विधि मन्त्री श्री अशोक सेन के कथन के पश्चात् सिंह ने बिल वापस ले लिया। विधि मन्त्री ने विचार प्रकट किया कि ऐसे मामलों का निर्णय अभिसमय पर ही छोड़ना चाहिए, न कि किसी कानून पर। इस दिशा मे सत्तारूढ दल के द्वारा ही स्वस्थ परम्परा स्थापित की जानी चाहिए। आशा की जाती कि भारत भी इस सम्बन्ध मे अन्य लोकतन्त्रात्मक देशों का अनुसरण करता हुआ राष्ट्रपति के लिए अधिक-से-अधिक दो पदावधियां की आज्ञा करेगा।

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने दो पदावधियो की परम्परा स्थापित करने के लिये स्वय ही तीसरी बार निर्वाचित होने से इनकार कर दिया। डॉ० राधाकृष्णन एक पदावधि समाप्त होने पर अलग हो गए और डॉ० जाकिर हुसैन का एक पदावधि की समाप्ति से पहले ही निधन हो गया और उपराष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि राष्ट्रपति चुन लिये गए।

---

1. भारतीय सविधान के अनुच्छेद ६१ के खण्ड (३) को अनुच्छेद ३६१ (१) के साथ पढ़िए।

राष्ट्रपति के पद की रिक्तता-पूर्ति (Succession to Presidency)—संविधान ने उपबन्धित किया है कि राष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति अथवा उसकी मृत्यु अथवा उसका त्यागपत्र या पदच्युति के कारण हुई रिक्तता की पूर्ति कर ली जाए। राष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति से हुई रिक्तता की पूर्ति के लिए निर्वाचन, अवधि-समाप्ति से पूर्व ही पूर्ण कर लिया जाएगा। यदि नये राष्ट्रपति का निर्वाचन न हो सके तो पिछला राष्ट्रपति ही उस समय तक अपने पद से अलग नही होगा जब तक कि उसका उत्तराधिकारी राष्ट्रपति-पद पर न आवे।[1] राष्ट्रपति की मृत्यु या किसी अन्य कारण के सिवाय पदावधि की समाप्ति से हुई उसके पद की रिक्तता की पूर्ति के लिए निर्वाचन, रिक्तता होने की तारीख के पश्चात् यथासम्भव शीघ्र और हर अवस्था मे छ मास बीतने के पहले किया जाएगा।[2] जब तक नया राष्ट्रपति निर्वाचित होकर अपना पद न सम्हाले, उपराष्ट्रपति ही राष्ट्रपति के पद पर कार्य करेगा[3] और उन सब कर्तव्यो का निर्वहन करेगा जो राष्ट्रपति के पद से सम्बन्ध रखते है।[4]

मई १९६९ मे डॉ० जाकिर हुसैन की आकस्मिक मृत्यु और श्री वी० वी० गिरि के कार्यकारी रूप मे राष्ट्रपति पद पर आरूढ होने पर ससद् ने एक कानून पास किया जिसके अनुसार कार्यकारी राष्ट्रपति की मृत्यु अथवा पदत्याग पर भारत का न्यायाधीश और उसकी अनुपलब्धि मे सर्वोच्च न्यायालय का सीनियरमोस्ट जज कार्यकारी राष्ट्रपति के रूप मे काम करेगा। जुलाई १९६९ मे जब कार्यकारी राष्ट्रपति वी० वी० गिरि ने उपराष्ट्रपति पद से त्याग-पत्र दे दिया तो भारत के न्यायाधीश मुहम्मद हिदायतुल्ला कार्यकारी राष्ट्रपति बन गए और उस समय तक उस पद पर आसीन रहे जब तक नव-निर्वाचित राष्ट्रपति वी० वी० गिरि ने अपने पद की शपथ न ग्रहण कर ली।

निर्वाचन विधि (Mode of Election)—हमारे राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि मौलिक है और ऐसी विधि किसी अन्य सविधान ने नही दी है। राष्ट्रपति का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचकगण के सदस्य करेंगे, जिसमे (क) ससद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, तथा (ख) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य होंगे। इस प्रकार राष्ट्रपति का निर्वाचन जनता के प्रतिनिधि करते हैं, और नागरिक लोग उक्त निर्वाचन मे सीधा भाग नही लेते। सविधान सभा ने राष्ट्रपति के चुनाव को अप्रत्यक्ष क्यों रखा, इसके मुख्य कारण निम्न थे—

(१) सविधान ने देश के लिए ससदीय शासन-प्रणाली की व्यवस्था की है और इस प्रकार की शासन-व्यवस्था मे वास्तविक शक्ति मन्त्रिमण्डल और विधान-मण्डल मे निवास करती है जिनके सदस्यों को सर्वसाधारण प्रत्यक्षत. निर्वाचित करते है। ऐसी व्यवस्था में राष्ट्रपति को भी पूर्ण वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित कराना असगत है क्योंकि इस प्रकार निर्वाचित राष्ट्रपति कह सकता है कि उसे शासन-सत्ता सीधे सर्वसाधारण से प्राप्त हुई है। और तब वह मन्त्रिमण्डल और ससद् से विरोध की स्थिति उत्पन्न कर सकता है।

1. अनुच्छेद ६२ (१)
2. अनुच्छेद ६२ (२)
3. अनुच्छेद ६५ (१)
4. अनुच्छेद ६५ (२)

(२) यह भी भय था कि यदि राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष निर्वाचत होगा तो उसके फलस्वरूप दलीय प्रतिद्वन्द्विता बढ़ेगी और उसका फल देश की समस्त राजनीति पर पडेगा और उसके कारण समस्त सामाजिक जीवन का स्वरुप ही पूर्णतः बदल जाएगा। राष्ट्रपति, उस अवस्था मे किसी एक दल का प्रतीक बन जाएगा या कई दलों के संगठन का एक हिमायती बन जाएगा। उस अवस्था में राष्ट्रपति से यह आशा करना व्यर्थ होगा कि वह समस्त राष्ट्र के प्रतीक के रुप में मध्यस्थ और तटस्थ की तरह कार्य करेगा। यदि राष्ट्रपति लोकप्रिय आधार पर निर्वाचित होता है, तो वह अपनी शक्ति और अधिकार का इस प्रकार प्रयोग कर सकता है कि सत्तारूढ़ दल सकोच की स्थिति में पड़ सकता है; और यदि लोकप्रिय राष्ट्रपति का सत्तारूढ दल से विरोध हो जाए तो राष्ट्रपति, स्थिति का अनुचित लाभ उठा कर, राष्ट्र का नायक (hero) बनने का प्रयत्न भी कर सकता है। भारत मे प्राचीन काल से वीर-पूजा (hero worship) की परम्परा रही है। डॉ० अम्बेदकर इस वीर-पूजा की परम्परा से इतना भय खाते थे कि उन्होंने संविधान के तृतीय वाचन मे वीर-पूजा का विशेष रूप से जिक्र किया।

(३) राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए निर्वाचकमण्डल, ससद् और राज्यों के विधानमण्डलों के सदस्यों से मिल कर बनता है; इसलिए सब लोगों को ऐसी आशा थी कि ऐसे निर्वाचकमण्डल द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति किसी दल-विशेष का व्यक्ति न होकर सारे राष्ट्र की पसन्द का व्यक्ति होगा।

(४) भारत लगभग एक बड़ा महाद्वीप है जिसमे १७ करोड़ से अधिक निर्वाचकगण है। प्रत्येक पांच वर्ष बाद इतने बडे पैमाने पर प्रत्यक्ष चुनाव करने पर हर बार बहुत भारी निर्वाचन-तैयारियों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु जब हम अपने राष्ट्र नायक को केवल औपचारिक प्रधान-मात्र बनाना चाहते है, तो फिर इतना समय, धन और श्रम क्यों कर व्यर्थ किया जाए।

राष्ट्रपति के निर्वाचन की रीति (Procedure for the election of the President)—अनुच्छेद ५४ मे उपबन्धित किया गया है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचकगण के सदस्य करेंगे जिसमे—(क) ससद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य; तथा (ख) राज्यो की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य होंगे। उसके उपरान्त अनुच्छेद ५५ उपबन्धित करता है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति (System of Proportional Representation) के अनुसार एकल-संक्रमणीय मत (single transferable vote) द्वारा होगा।[1] राज्यों मे एकरूपता और समस्त राज्यों तथा संघ मे समतुल्यता[2] प्राप्त कराने के लिए सविधान ने उपबन्धित किया है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन मे भिन्न-भिन्न राज्यो का प्रतिनिधित्व एक से मापमान से होगा। राज्यों और सघ में एकरूपता और समतुल्यता प्राप्त करने के लिए निम्न

1. अनुच्छेद ५५ खण्ड (३)
2. अनुच्छेद ५५ खण्ड (१) और (२)

विधि अपनायी जाती है।[1] इस विधि अथवा प्रक्रिया से भारतीय राष्ट्रपति की निर्वाचन-पद्धति कुछ जटिल हो गई है।

(१) विभिन्न राज्यों में प्रतिनिधित्व-सम्बन्धी एकरूपता प्राप्त करने के उद्देश्य से उपबन्धित किया गया है कि किसी राज्य की विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के उतने मत होंगे, जितने कि एक हजार के गुणित (multiples), उस भागफल में हों जो राज्य की जनसंख्या को उस सभा के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या से भाग देने से आए। संक्षेप में कहा जा सकता है कि निर्वाचकगण के प्रत्येक सदस्य को, जो किसी राज्य के विधानमण्डल का सदस्य हो, निम्न सूत्र के अनुसार जितने मतों का अधिकारी होगा उतने मत प्राप्त होंगे—

$$\frac{\text{किसी राज्य की सम्पूर्ण जनसख्या}}{\text{उसी राज्य की विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}} \text{ को १००० से भाग}$$

तथा उक्त संख्या में यदि भिन्न आवे तो आधे से अधिक भिन्न को एक गिना जाएगा। सविधान के प्रारूप[2] में निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया गया है जिसके अनुसार उक्त हिसाब लगाया जा सकता है। संविधान का अनुच्छेद ५५ प्रारूप सविधान के अनुच्छेद ४४ के समान है।

(i) मान लीजिए कि बम्बई प्रान्त अथवा राज्य की कुल सख्या २,०८,४९,८४० है। मान लीजिए कि बम्बई की विधान सभा के सदस्यों की संख्या २०८ है अर्थात् एक सदस्य लगभग एक लाख जनसंख्या पर निर्वाचित हुआ है। यदि हम २,०८,४९,८४० को, जो बम्बई राज्य की जनसंख्या है, २०८ से, जो उक्त विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल सख्या है, भाग दे तो १,००,२३९ भागफल आता है। इस भागफल में एक हजार के गुणित निकालने के लिए हम इसे १,००० से विभाजित करते है। यह हमें (२३९ के शेष को छोड़ते हुए जो ५०० से कम है), १०० गुणित देता है। इस प्रकार बम्बई विधान सभा के प्रत्येक सदस्य के १०० मत होंगे।

(ii) दूसरा उदाहरण बीकानेर राज्य का ले लीजिए। मान लीजिए कि बीकानेर राज्य की कुल जनसख्या १२,९२,९३८ है। मान लीजिए कि बीकानेर के विधानमण्डल के निर्वाचित सदस्यों की सख्या १३० है (अर्थात् एक सदस्य १०,००० जनसख्या पर निर्वाचित हुआ है)। ऊपर वाले सूत्र के अनुसार यदि हम १२,९२,९३८ (अर्थात् जनसख्या) को १३० (अर्थात् निर्वाचित सदस्यों की सख्या) से भाग दे तो भागफल ९,९४५ आया। इसलिए बीकानेर के विधानमण्डल के प्रत्येक सदस्य को ९९४५/१००० अर्थात् १० मत या वोट देने का अधिकार होगा; क्योंकि ९४५ शेष आधे अर्थात ५०० से अधिक है इसलिए उसे १,००० ही मान लिया गया।"

(२) समस्त राज्यों और समस्त सघ में एकरूपता लाने के अभिप्राय से संसद् के प्रत्येक सदस्य के मत निम्न सूत्र के अनुसार निश्चित किए जाएगे—

1. अनुच्छेद ५५ खण्ड (२), उपखण्ड (क), (ख) और (ग)
2. प्रारूप संविधान के अनुच्छेद ४४ (२) पृष्ठ १७ पर नीचे की टीका देखिए।

$$\frac{\text{सभी राज्यों के विधानमण्डलों के निर्वाचित सदस्यों के लिए निर्धारित मतसंख्या}}{\text{संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यो की संख्या}}$$

उक्त सूत्र के अनुसार आधी से अधिक भिन्न को १ मान लिया जाएगा। इस सम्बन्ध मे संविधान के प्रारूप (Draft Constitution) मे जो उदाहरण दिया गया है उसी को लेते हुए—

मान लीजिए कि सभी राज्यों के विधानमण्डलों के सदस्यों को कुल मत ऊपर की गणना के अनुसार ७४,९४० मिले है और संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या ७५० है, तो संसद् के दोनों सदनों के सदस्यों को जितने मत राष्ट्रपति के निर्वाचन मे प्राप्त होंगे, वह जानने के लिए हमें ७४,९४० को ७५० से भाग देना होगा। इस प्रकार $\frac{७४९४०}{७५०} = ९९\frac{२३}{२५}$ अर्थात् १०० (क्योंकि भिन्न $\frac{२३}{२५}$ आधे से अधिक है इसलिए १ मान लिया गया) है।

राष्ट्रपति द्वारा शपथ या प्रतिज्ञान (Oath of Affirmation by the President)—प्रत्येक राष्ट्रपति और प्रत्येक व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप मे कार्य कर रहा है अथवा उसके कृत्यों का निर्वहन करता है, अपना पद ग्रहण करने से पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसकी अनुपस्थिति में उच्चतम न्यायालय के अन्य अग्रतम न्यायाधीश के समक्ष निम्न रूप से शपथ (Oath) या प्रतिज्ञान (Affirmation) करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा।[1] राष्ट्रपति जो शपथ या प्रतिज्ञान करेगा उसके अनुसार भारत के राष्ट्रपति से आशा की जायगी कि वह—

(i) श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति-पद का कार्य-पालन या राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वाहन करेगा;

(ii) अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करेगा; और

(iii) सदैव भारत की जनता की सेवा और कल्याण मे निरत रहेगा।

कहना न होगा कि अमरीकी तथा भारतीय राष्ट्रपति पद के ग्रहण करते समय ली जाने वाली शपथ की भाषा में बहुत कुछ समानता है।

उपराष्ट्रपति
(The Vice-President)

उपराष्ट्रपति का पद (The Vice-President)—संविधान ने उपराष्ट्रपति के पद की व्यवस्था की है और उक्त पद संयुक्त राज्य अमरीका के उपराष्ट्रपति

---

1. मैं .. .अमुक....... $\frac{\text{ईश्वर की शपथ लेता हूं}}{\text{सत्य निष्ठा से प्रतिज्ञा करता हू}}$ कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति पद का कार्य-पालन (अथवा राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन) करूगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, सरक्षण और प्रतिरक्षण करूगा और भारत की जनता की सेवा तथा कल्याण मे निरत रहूगा।

के पद के अनुसार रखा गया है। अमरीका के उपराष्ट्रपति के समान ही भारतीय उपराष्ट्रपति को भी केन्द्रीय विधानमण्डल के उच्च सदन (राज्य-सभा) का सभापति बनाया गया है। किन्तु सयुक्त राज्य अमरीका और भारत के उपराष्ट्रपतियों के पदों का साम्य यही समाप्त हो जाता है। सयुक्त राज्य अमरीका मे उपराष्ट्रपतियों के लिए भी वे ही अर्हताएं रखी गई हैं जो राष्ट्रपति के लिए है, और वहा पर उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप से उसी निर्वाचिकमण्डल (Electoral College) के द्वारा उपराष्ट्रपति भी निर्वाचित होता है जिस प्रकार कि राष्ट्रपति। इसका कारण भी स्पष्ट है। अमरीका में राष्ट्रपति के त्यागपत्र, मृत्यु अथवा उसकी पदच्युति के कारण रिक्तता की स्थिति मे उपराष्ट्रपति ही राष्ट्रपति का रिक्त स्थान लेता है और राष्ट्रपति की पदावधि के शेष समय तक वही राष्ट्रपति बना रहता है; जिस प्रकार कि फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट (Franklin D. Roosevelt) की मृत्यु पर हेरी ट्रूमैन (Harry Truman) राष्ट्रपति बने और राष्ट्रपति कैनेडी (President Kennedy) की हत्या पर लिण्डन जॉनसन (Lyndon Johnson) राष्ट्रपति बन गए। किन्तु इसके विपरीत भारत का उपराष्ट्रपति, स्थानापन्न राष्ट्रपति केवल थोड़े से समय के लिए ही होता है और उक्त पद पर उस समय तक बना रहता है जब तक कि नया राष्ट्रपति सविधान के उपबंधो के अनुसार निर्वाचित होकर अपना पद न सम्हाले।[1] संयुक्त राज्य अमरीका मे राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनों की पदावधिया समान है और दोनो अपनी-अपनी पदावधियों से पूर्व केवल महाभियोग के आधार पर ही हटाये जा सकते हैं। भारतीय उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद् के दोनों सदन सम्मिलित सत्र मे पाच वर्ष की पदावधि के लिए करते हैं और उसको राज्य-सभा (Council of States) के प्रस्ताव पर तथा लोक-सभा (House of the People) की सहमति पर अपने पद से हटाया जा सकता है।

किन्तु दोनों पदों में सबसे अधिक विभिन्नता उक्त दोनों पदों के कर्त्तव्यों से सम्बन्धित है। भारतीय उपराष्ट्रपति पदेन (ex-officio) राज्य-सभा का सभापति है और उसको इसी रूप में वेतन मिलता है। राज्य-सभा के सत्रों के विराम-कालों मे, वह सौहार्दपूर्ण दूतकर्म (goodwill mission) के लिए विदेशों के भ्रमण के लिए जा सकता है; जिस प्रकार डा० राधाकृष्णन् कई बार जा चुके थे, किन्तु देश के शासन मे भारतीय उपराष्ट्रपति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई भाग नही लेता। न वह भारतीय सरकार का अधिकृत अधिवक्ता है। अमरीकी सविधान के निर्माता भी उपराष्ट्रपति के पद के प्रति विशेष उत्सुक नही थे। बेंजामिन फ्रेंकलिन (Benjamin Franklin) उपराष्ट्रपति के पद को इतना तिरस्कार-योग्य समझते थे कि वे मजाक मे उपराष्ट्रपति को 'व्यर्थ के हिज हाईनेस' कहना पसन्द करते थे। किन्तु पिछले कुछ दिनों मे उपराष्ट्रपति-पद के कृत्यों की संभावनाएं विकसित हुई हैं। चूकि राष्ट्रपति की मृत्यु, त्यागपत्र अथवा उसके हटाए जाने पर उपराष्ट्रपति ही राष्ट्रपति पद का उत्तराधिकारी

1. अनुच्छेद ६२ (२)

होता है, अतएव अब यह एक राष्ट्रीय आवश्यकता समझी जाने लगी कि वह देश के शासन कार्यों से अपने को परिचित करावे ताकि उसे मुख्य राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक गतिविधि का भली प्रकार ज्ञान हो सके। राष्ट्रपति आइजनहावर (Eisenhower) ने अपने राष्ट्रपति पद की पदावधि के प्रारम्भ में ही इस बात पर जोर दिया कि उपराष्ट्रपति निक्सन प्रत्येक सरकारी कागज-पत्र देखें और उनकी अनुपस्थिति में मन्त्रिमण्डल और राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् (National Security Council) की अध्यक्षता करें। कैनेडी ने इस ओर आइजनहावर का अनुसरण किया और इसी प्रकार जॉनसन ने भी इस बात को ध्यान में रखा। भारत में ऐसा सम्भव नहीं है। अमरीका के उपराष्ट्रपति की भांति भारतीय उपराष्ट्रपति को किसी प्रकार के शिक्षण की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह आकस्मिक रिक्त स्थान की पूर्ति करता है और राष्ट्रपति भवन में तब तक ही बना रहता है जब तक राष्ट्रपति अपना कार्य-भार नहीं सम्भाल लेता अथवा नया राष्ट्रपति नहीं चुन लिया जाता, जो चुनाव राष्ट्रपति पद के रिक्त होने के ६ मास अन्दर हो जाना चाहिए। डॉ० राधाकृष्णन् ने डा० प्रसाद के लिए दो बार कार्य किया और फिर वह अपने उपराष्ट्रपति पद पर वापस आ गए। इसी प्रकार डॉ० जाकिर हुसैन (Dr Zakir Husain) ने भी राष्ट्रपति राधाकृष्णन के स्थान पर कार्य किया जब राष्ट्रपति को आंखों के कष्ट के कारण आराम करने की सलाह दी गई थी।

उपराष्ट्रपति का निर्वाचन (Election of Vice-President)—उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद् के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में सानुपात प्रतिनिधित्व के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा गुप्त मतदान के अनुसार होगा।[1] कोई व्यक्ति उपराष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र न होगा जब तक कि वह (क) भारत का नागरिक न हो; (ख) पैंतीस वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो; (ग) राज्य-सभा[2] के लिए सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता न रखता हो; (घ) यदि वह भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के आधीन अथवा किसी स्थानीय[3] प्राधिकारी के आधीन कोई लाभ का पद धारण करता है; (ङ) यदि वह संसद् के किसी सदन का अथवा किसी राज्य[4] के विधान-मण्डल का सदस्य होगा। यदि कोई व्यक्ति संसद् के किसी सदन का सदस्य है या किसी राज्य के विधानमण्डल का सदस्य है, तो उसे उपराष्ट्रपति के पद पर आसीन होने से पहले अपनी संसदीय या विधानमण्डलीय सदस्यता को त्यागना आवश्यक होगा।[5]

उपराष्ट्रपति की पदावधि ५ वर्ष है।[6] किन्तु वह अपनी सामान्य पदावधि[7] समाप्त होने के पहले भी त्यागपत्र दे सकता है जैसे जुलाई १९६९ में श्री वी० वी० गिरि ने किया। उपराष्ट्रपति यदि अपना पद त्यागता है तो उसे त्यागपत्र राष्ट्रपति को सम्बोधित करके देना पड़ेगा। यदि राज्य सभा के उपस्थित सदस्यों का बहुमत ऐसा

---

1. अनुच्छेद ६६ (१)
2. अनुच्छेद ६६ (३) (क), (ख) और (ग)
3. अनुच्छेद ६६ (४)
4. अनुच्छेद ६६ (२)
5. अनुच्छेद ६६ (२)
6. अनुच्छेद ६७
7. अनुच्छेद ६७ (क)

संकल्प पारित करे कि उपराष्ट्रपति हट जाय, और यदि लोक-सभा ने उक्त संकल्प स्वीकृत किया है तो उपराष्ट्रपति को अपने पद से हटना पड़ेगा। किन्तु इस आशय का कोई भी सकल्प तब तक प्रस्तावित न किया जाएगा जब तक कि उपराष्ट्रपति को ऐसे प्रस्ताव के प्रस्तावित करने के अभिप्राय की सूचना कम-से-कम चौदह दिन पूर्व न दे दी गई हो।[1] किन्तु उपराष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी अपने उत्तराधिकारी के पद-ग्रहण तक पद धारण किए रहेगा।[2] राष्ट्रपति के निर्वाचन की तरह ही उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न सब शंकाओं और विवादों की जांच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका विनिश्चय अन्तिम होगा।[3] अपने पद पर आसीन होने के पूर्व उपराष्ट्रपति या तो राष्ट्रपति के समक्ष या राष्ट्रपति द्वारा उसके लिए नियुक्त किसी व्यक्ति के समक्ष शपथ या प्रतिज्ञा करेगा और उस पर अपना हस्ताक्षर करेगा।[4] वह शपथ लेकर प्रतिज्ञा करता है कि भारत के सविधान के प्रति निष्ठा और श्रद्धा रखेगा और अपने पद के कर्त्तव्यों का श्रद्धापूर्वक निर्वहन करेगा। श्री गोपाल स्वरूप पाठक वर्तमान में भारत के उपराष्ट्रपति हैं।

उपराष्ट्रपति के कर्त्तव्य (Duties of the Vice-President)—उपराष्ट्रपति के दो प्रकार के कर्तव्य है। वह पदेन (ex-officio) राज्य-सभा का सभापति है और उसकी सभाओं का सभापतित्व करता है और उसको इस पद के लिए ही वेतन मिलता है।[5] उपराष्ट्रपति के पद का कोई वेतन नही है। किन्तु जब कुछ काल के लिए उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के स्थान पर कार्य करता है अथवा भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति के कर्तव्यों का निर्वहन करता है, तो वह उस काल में राज्य-सभा का सभापतित्व नही करता; अत उक्त काल में उसे राज्य-सभा के चेयरमैन की हैसियत से मिलने वाला वेतन नहीं मिलता।[6]

द्वितीयतः, राष्ट्रपति की मृत्यु, पद-त्याग अथवा पद से हटाए जाने के कारण उसके पद मे हुई रिक्तता की अवस्था मे उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप मे उस समय तक कार्य करेगा जब तक नया राष्ट्रपति अपना पद ग्रहण न करे[7] और नया राष्ट्रपति, राष्ट्रपति के पद की रिक्तता की तिथि के ६ मास के भीतर आ जाना चाहिए।[8] अनुपस्थिति, [illegible] राष्ट्रपति अपने कृत्यों को करने में असमर्थ हो [illegible] को कि [illegible] ग्रस्त होने [illegible] र उनके पर दो बार डॉ० राधाकृष्णन् ने कार्यकारी राष्ट्रपति के रूप म काम [illegible] र उनके स्वास्थ्यलाभ करने पर उपराष्ट्रपति के पद पर वापस चले गए। डॉ० जाकिर हुसैन ने भी एक बार डॉ० राधाकृष्णन् की बीमारी के समय उनके स्थान पर काम किया और श्री वी० वी० गिरि डॉ० जाकिर हुसैन के निधन पर कार्यकारी राष्ट्रपति बने। जब कि

1. अनुच्छेद ६७ (ख)
2. अनुच्छेद ६७ (ग)
3. अनुच्छेद ७१
4. अनुच्छेद ६९
5. अनुच्छेद ७९
6. अनुच्छेद ९४
7. अनुच्छेद ६५ (१)
8. अनुच्छेद ६२ (२)
9. अनुच्छेद ६५ (२)

उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप मे कार्य करे, उसके कर्त्तव्यों का निर्वहन करे, उपराष्ट्रपति को राष्ट्रपति की सब शक्तियां और विमुक्तिया प्राप्त होंगी तथा उसे वे सब उपलब्धियां, भत्ते और विशेषाधिकार प्राप्त होंगे जो राष्ट्रपति को प्राप्त होते हैं।[1]

सविधान ने किसी को यह निर्णय करने का अधिकार प्रदान नही किया है कि क्या राष्ट्रपति अपने कृत्यों को करने मे असमर्थ है अथवा नही? जब सविधान इस सम्बन्ध मे मौन है तो इसका निर्णय स्वयं राष्ट्रपति ही करेगा कि किसी समय वह अपने कृत्यों के निर्वहन के योग्य है अथवा नही। किन्तु यदि राष्ट्रपति ऐसा निर्णय करने मे असमर्थ हो—आकस्मिक भयकर बीमारी के कारण—तो उस स्थिति में अनुच्छेद ७० के अनुसार ससद् उक्त सम्बन्ध मे निर्णय कर सकती है। उक्त अनुच्छेद आदेश करता है: "इस अध्याय मे उपबन्धित न की हुई किसी आकस्मिकता में राष्ट्रपति के कृत्यों के निर्वहन के लिए समद् जैसा उचित समझे, वैसा उपबन्ध बना सकेगी।" सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान मे इस प्रकार का कोई उपबन्ध नही है।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ और कर्त्तव्य
(The Powers and Duties of the President)

सविधान ने राष्ट्रपति को निम्न शक्तिया प्रदान की है:

कार्यपालिका शक्तियां (Executive Powers)—अमरीका के राष्ट्रपति के असदृश भारत के राष्ट्रपति को कोई प्रशासनिक कृत्य नही करने पडते और शासन के विभागों पर राष्ट्रपति को कोई अधीक्षण अथवा सचालन-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त नही है। सघीय अथवा केन्द्रीय शासन के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष उत्तरदायी मन्त्री लोग है, और सब विभाग उन्ही के नियन्त्रण और उत्तरदायित्व मे कार्य करते हैं। राष्ट्रपति तो आवश्यक कडी के रूप मे शासन के विभिन्न विभागों को जोडता है। यद्यपि राष्ट्रपति की शक्ति औपचारिक है, तथापि केन्द्रीय शासन की समस्त कार्य-पालिका-कार्रवाई राष्ट्रपति के नाम मे ही की हुई कही जायगी।[2] संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग मे की गई सब सविदाए राष्ट्रपति द्वारा की गई कही जाएगी और वे राष्ट्रपति द्वारा निर्देशित रीति के अनुसार लिखी जाएगी।[3] इसके अतिरिक्त सघ के सभी अधिकारी इसके अधीनस्थ अधिकारी है।[4] राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह सघ-कार्यों की प्रशासन-सम्बन्धी समस्त जानकारी माग सकता है।[5] राष्ट्रपति ही भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए तथा मन्त्रियों मे उक्त कार्य के बटवारे के लिए आवश्यक नियम बनाता है।[6]

राष्ट्रपति ही प्रधान मन्त्री की नियुक्ति करता है तथा अन्य महत्त्वपूर्ण नियुक्तिया भी वही करता है।[7] इन अन्य महत्वपूर्ण नियुक्तियों मे सघ के अन्य मन्त्रियो

---

1. अनुच्छेद ६५ (३)
2. अनुच्छेद ७७
3. अनुच्छेद २९९ (१)
4. अनुच्छेद ५३ (१)
5. अनुच्छेद ७८ (ख)
6. अनुच्छेद ७७ (३)
7. अनुच्छेद ७५ (१)

को, नियुक्ति[1] संघ के महान्यायवादी (Attorney General)[2], भारत के नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General),[3] उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायाधीशों की नियुक्ति[4] और राज्यों के राज्यपालों (State Governors)[5] की नियुक्तियां सम्मिलित है। न्यायाधीशों को नियुक्त करने से पूर्व राष्ट्रपति को सेवारत न्यायाधीशों से पूछना होगा और वह इन नियुक्तियों को मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर ही करेगा। जहा तक प्रधान मन्त्री की नियुक्ति का प्रश्न है राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति को प्रधान मन्त्री चुन सकता है जिसको लोक-सभा का समर्थन प्राप्त होगा, क्योंकि "प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा।" और "मन्त्रि-परिषद् लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।"[6] सामूहिक उत्तरदायित्व तभी प्रवर्तित हो सकता है जबकि समस्त मन्त्रिमण्डल एक टीम की भांति कार्य करे और वह टीम राजनीति का खेल एक ऐसे कप्तान के नेतृत्व मे खेले जो लोक-सभा के बहुमत दल का नेता हो। प्रधान मन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को कुछ छूट उस स्थिति मे मिल सकती है जब लोक-सभा मे किसी भी एक दल का स्पष्ट बहुमत न हो। किन्तु उस स्थिति मे भी राष्ट्रपति को ऐसे व्यक्ति को ही प्रधान मन्त्री चुनना चाहिए जिसे कुछ मन्त्रियो का सहयोग मिल सके और और जो उन सहयोगियो के सहयोग से लोक सभा का सहयोग और विश्वास प्राप्त कर सके। इसलिए ऐसी स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर भी राष्ट्रपति की वरीयता प्रधान मन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध मे राजनीतिक प्रभावों से आच्छादित रहती है। विधिक रूप से भी वह मनमानी नही कर सकता, क्योंकि संविधान का आदेश है कि वह संघ की कार्यपालिका शक्ति का निर्वहन संविधान के उपबन्धो के अनुसार ही कर सकता है।

राज्य के जिन उच्च अधिकारियों की नियुक्ति का राष्ट्रपति को अधिकार पिछले अनुच्छेद मे बताया गया था, उनके अतिरिक्त राष्ट्रपति को निम्न प्रशासनिक आयोगों अथवा परिषदो को भी नियुक्त करने का अधिकार है—एक अन्तर्राज्य परिषद् (An Inter-State Council)[7], संघीय लोक-सेवा आयोग (Union Public Service Commission), तथा राज्य समूह का संयुक्त आयोग (Joint Commission for a *group of States*)[8], *वित्त आयोग (Finance Commission)*[9]; *निर्वाचन-आयोग* (Election Commission)[10], अनुसूचित प्रदेशों के प्रशासन पर प्रतिवेदन देने वाला आयोग (A Commission to report on the administration of Scheduled Areas);[11] अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिमजातियों के लिए एक विशेष पदाधिकारी (a special officer for Scheduled Castes and Scheduled Tribes),[12] राज-भाषा

---

1. अनुच्छेद ७५ (१)
2. अनुच्छेद ७६ (१)
3. अनुच्छेद १४८ (१)
4. अनुच्छेद १२४ और २१७
5. अनुच्छेद १५५
6. अनुच्छेद ७५ (३)
7. अनुच्छेद २६३
8. अनुच्छेद ३१६
9. अनुच्छेद २८०
10. अनुच्छेद ३२४ (२)
11. अनुच्छेद ३३९ (१)
12. अनुच्छेद ३३८ (१)

आयोग (a Commision on Languagos),[1] पिछड़े वर्गों की दशा-सुधार सम्बन्धी आयोग (Commission to investigate into conditions of backward classes)[2]। किन्तु उपर्युक्त सभी आयोगों अथवा परिषदों की नियुक्ति, राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल की मन्त्रणा पर ही करता है।

अमरीका के राष्ट्रपति को अनेकों ऐसे पदाधिकारियों को भी नियुक्त करने का अधिकार है जिनकी सविधान ने स्पष्ट आज्ञा नही दी है, किन्तु भारतीय राष्ट्रपति को इस प्रकार की शक्ति नही है। समुचित विधानमण्डलों को अधिकार है कि वे अधिनियम के द्वारा सघ या किसी राज्य के कार्यों से सम्बद्ध लोक-सेवाओं और पदों के लिए भर्ती का विनिमयन करेगे।[3] सविधान ने सघ के लिए और प्रत्येक राज्य के लिए एक लोक-सेवा आयोग (Public Service Commission) का उपवन्ध किया है।[4] उक्त लोक-सेवा आयोग सम्बन्धित शासन को सेवाओं और भर्ती के सम्बन्ध में सलाह देते है और उनकी मन्त्रणा को प्रायः मान लिया जाता है।

राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि वह मन्त्री को अपने पद से हटा सकता है;[5] या भारत के महान्यायवादी (Attorney General for India)[6] को अथवा राज्यों के राज्यपालों को भी हटा सकता है।[7] किन्तु राज्य के कार्यपालिका-प्रधान द्वारा मन्त्री को पदच्युत कर देना ससदीय शासन-प्रणाली का सार नही है। इंग्लैण्ड मे १७८३ से आज तक राजा के द्वारा कोई भी सरकार पदच्युत नही की गई है और आज किसी राजा की यह हिम्मत नही हो सकती कि वह सरकार को अपदस्थ कर सके जब तक कि राजा भयकर जुआ खेलने को तैयार न हो; चाहे वैधिक रूप से राजा का यह अधिकार मान भी लिया जाए। अपने मन्त्रियो के सम्बन्ध मे भारतीय राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो इग्लैण्ड के राजा की अपने मन्त्रियो के साथ है। डॉ० अम्बेदकर ने इस तथ्य पर सविधान सभा मे बल दिया था। उन्होने कहा था—"भारतीय गणराज्य और सयुक्त राज्य अमरीका के राज्यों के प्रधानो का नाम तो अवश्य एक-सा है किन्तु अमरीका की शासन-प्रणाली और भारतीय सविधान मे प्रस्तावित शासन-प्रणाली मे आकाश-पाताल का अन्तर है।" इसके आगे उन्होंने यह भी कहा कि "भारतीय शासन मे राष्ट्रपति की स्थिति केवल औपचारिक है, और उसकी नाम-मुद्रा (seal) के सहारे राष्ट्र के सारे निर्णय किये जाएगे। उसको प्राय. अपने मन्त्रियो के निर्णयो को मानना ही होगा। वह मन्त्रियो की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नही कर सकेगा। इसके विपरीत अमरीका का राष्ट्रपति किसी भी समय अपने मन्त्री को हटा सकता है। भारतीय सघ के राष्ट्रपति को ऐसा अधिकार उस समय तक नही है, जब तक कि मन्त्रियों को ससद् के बहुमत का समर्थन प्राप्त है।"

---

1. अनुच्छेद ३४४ (१)
2. अनुच्छेद ३४०
3. अनुच्छेद ३०९
4. अनुच्छेद ३१५
5. अनुच्छेद ७५ (२)
6. अनुच्छेद ७६ (४)
7. अनुच्छेद १५६ (१)

सैनिक शक्तियां (Military Powers)—भारतीय राष्ट्रपति की सैनिक शक्तियां, सयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति एव इंगलैण्ड के राजा दोनों की अपेक्षा कम हैं। इसमें सदेह नही कि भारतीय सविधान ने राष्ट्रीय सुरक्षा-बलों की सर्वोच्च कमान राष्ट्रपति को सौंपी है; किन्तु उससे यह आशा की गई है कि उक्त शक्ति को वह विधि की मान्यता के अनुसार प्रयोग करे।[1] देश के सशस्त्र बलों एव युद्ध और शान्ति[2] के सम्बन्ध मे अन्तिम विधायिनी सत्ता[3] राष्ट्रपति मे निवास करती है। अंग्रेजी सविधान के ही समान युद्ध और शान्ति की घोषणा कार्यपालिका का कृत्य माना जाता है; किन्तु भारतीय राष्ट्रपति ससद् की अनुमति के बिना अथवा ससद् की पश्चात्वर्त्ती अनुमति के विश्वास पर न तो युद्ध की घोषणा करेगा और न सशस्त्र बलो का प्रयोग करेगा।

विदेश-सम्बन्ध और कूटनीतिक अधिकार (Foreign Affairs and Diplomatic Powers)—विदेशों से सम्बन्धित सभी मामले संसद् के अधिकार-क्षेत्र मे आते है।[4] इस प्रकार विदेशी मामलो से सम्बन्धित कार्यपालिका-शक्तियां सघ[5] के अधिकार-क्षेत्र मे आती है, और सारी कूटनीतिक कार्रवाई राष्ट्रपति के नाम से सम्पादित होती है। *कूटनीतिक दूत और व्यापार-दूत राष्ट्रपति के नाम से ही नियुक्त* किए जाते हैं। सारी संधियां और सारे अन्तर्राष्ट्रीय करार राष्ट्रपति के नाम से ही होते है; किन्तु ऐसे सभी करार (Agreements) और सभी सधिया ससद् की अनुमति के विषय है। अमरीका के राष्ट्रपति को पूरा-पूरा अधिकार रहता है कि वह किसी नई सरकार या किसी नए राज्य को स्वीकार करे या न करे। राष्ट्रपति द्वारा की हुई सधियों पर सीनेट के दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत द्वारा समर्थन की आवश्यकता रहती है। किन्तु राष्ट्रपति के पास कई मार्ग रहते है जिनके द्वारा वह सीनेट की उपेक्षा कर सकता है। इनमे से एक मार्ग है कार्यपालिका-करार (executive agreement)। कार्यपालिका-करार दो देशों के कार्यपालिका-प्रधानो के बीच करार या प्रतिज्ञाएं (agreements) होते है जिनमे कतिपय मामलों पर वायदा या समझौता हो जाता है। इस प्रकार के कार्यपालिका-करारों के लिए सीनेट के अनुसमर्थन की आवश्यकता नही है। भारत में इस प्रकार के करारो की सम्भावना नही है।

राष्ट्रपति की विधायिनी शक्तियां (Legislative Powers)—इंग्लैंड के राजा की ही तरह भारत का राष्ट्रपति भी सघीय संसद् का एक अंग है। सविधान का आदेश है कि "सघ के लिए एक ससद् होगी जो राष्ट्रपति और दो सदनों से मिल कर बनेगी।"[6] भारत के राष्ट्रपति की निम्नलिखित विधायिनी शक्तियां है।

(१) राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह ससद् को अधिवेशन के लिए आहूत

1. अनुच्छेद ५३ (२)
2. अनुच्छेद ७, सूची १, सख्या १, २, ३
3. अनुच्छेद २४६
4. अनुसूची सातवी, सूची पहली, मद १०—१४, १६—२१
5. अनुसूची ७३
6. अनुच्छेद ७९

करे, तथा वह सत्रों का सत्रावसान[1] एवं लोक-सभा का विघटन[2] भी कर सकता है। यह आवश्यक है कि सदन वर्ष में दो बार आहूत किए जाएं और एक सत्र के अन्त व दूसरे सत्र के प्रारम्भ मे छः मास से अधिक का व्यवधान नही होना चाहिए। यदि छ. मास के भीतर राष्ट्रपति ससद् को आहूत नही करता तो यह संविधान के विरुद्ध होगा। यदि ससद् के दोनो सदनों के बीच अवित्तीय विधेयक के विषय मे प्रतिरोध उत्पन्न हो जाए, तो राष्ट्रपति संसद् के दोनों सदनों की सयुक्त बैठक का भी संयोजन कर सकता है।[3]

आजकल संसदीय शासन-प्रणाली मे राज्य के प्रधान का यह अधिकार स्वीकार कर लिया गया है कि वह विधान-मण्डल को विघटित कर सकता है। सामान्यतः वह उक्त अधिकार का प्रयोग अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर ही करता है; और वे आशा करते है कि भारत का राष्ट्रपति भी इसी प्रथा का अनुसरण करेगा। किन्तु राष्ट्रपति उस स्थिति मे विघटन अस्वीकार कर देगा यदि उसे ऐसा अनुभव हो कि विघटन की आवश्यकता नही है; अथवा "विघटन-सम्बन्धी प्रार्थना को स्वीकार कर लेने से शक्ति का दुरुपयोग होगा।" कुछ लोगों का विचार है कि भारत के राष्ट्रपति को कनाडा के अभिसमय[4] का अनुसरण करना चाहिए; और प्रधान मन्त्री की संसदीय विघटन-सम्बन्धी प्रार्थना को स्वीकार करने से पूर्व दूसरी वैकल्पिक मन्त्रि-परिषद् की सम्भावनाओ पर विचार कर लेना चाहिए। यदि इस प्रथा को स्वीकार किया जाता है, तो यह अतीव आवश्यक होगा कि राष्ट्रपति दलगत राजनीति से दूर रहे और वह अपने सब क्रिया-कलापों मे केवल सर्वसाधारण के कल्याण की भावना को ही स्थान दे।

(२) भारतीय राष्ट्रपति ससद् को सम्बोधित कर सकता है और वह ससद् को सदेश भी भेज सकता है।[5] आजकल इग्लैण्ड का सम्राट्, ससद् के समक्ष केवल औपचारिक अवसरो पर ही अभिभाषण देता है, जिसे राजसिंहासन का भाषण कहते है। 'राजसिंहासन के भाषण' मे, जिसे ससद् के प्रत्येक अधिवेशन के प्रारम्भ मे या तो सम्राट् स्वय पढ़ता है या किसी के द्वारा पढ़वाता है, सम्राट् अधिवेशन के भारी व्यवस्थापक प्रोग्राम की रूप-रेखा प्रस्तुत करता है और विभिन्न राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर शासन के विचार व्यक्त करता है। उक्त भाषण अथवा सदेश प्रधान मन्त्री तैयार करता है और सम्राट् उसे पढ़ता है। सम्राट् न तो उक्त भाषण अथवा सदेश को बदल सकता है और न उसमे कुछ बढा सकता है।

भारतीय राष्ट्रपति का अभिभाषण वैसा ही होता है, जैसा कि इग्लैण्ड मे ससद् के सम्मुख राजा का अभिभाषण होता है। उक्त अभिभाषण मे राष्ट्रपति शासन की गृह-नीति और विदेश-नीति पर प्रकाश डालता है। भारत का सविधान राष्ट्रपति को यह अधिकार भी देता है कि वह किसी ऐसे विधेयक के साथ, जो या तो संसद् के समक्ष

1. अनुच्छेद ८५ (१), (२), (क)
2. अनुच्छेद ८५ (२) (ख) 3. अनुच्छेद १०८ (१)
4. Basu, Durgadas : Commentary on the Constitution of India op. cit., p. 241.
5. अनुच्छेद ८६

विचारार्थ हो अथवा जो अन्यथा महत्त्वपूर्ण हो, अपना सन्देश संसद् को भेज सकता है। संसद् का वह सदन, जिसको राष्ट्रपति द्वारा उक्त सन्देश भेजा गया है, यथाशीघ्र उक्त संदेश पर विचार करेगा। सन्देश के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को व्यापक अधिकार मिल गया है, जिसके द्वारा राष्ट्रपति ससद् के ऊपर न केवल विचाराधीन विधेयक के बारे में अपितु अन्य किसी भी मामले में प्रभाव डाल सकता है। किन्तु आशा करनी चाहिए कि हमारा राष्ट्रपति कोई भी सन्देश बिना मन्त्रियों की राय के कभी नही भेजेगा, और यदि वह ऐसा करेगा तो वह ससद् के प्रति मन्त्रिमण्डल के उत्तरदायित्व की संवैधानिक भावना के विरुद्ध माना जाएगा।[1]

(३) राष्ट्रपति ससद् के समक्ष वार्षिक वित्त-विवरण[2] (Budget) रखवाएगा अथवा यदि कोई अनुपूरक आयव्ययक[3] (Supplementary Budget) होगा तो उसे भी रखवाएगा, तथा भारत सरकार के लेखा के विषय में भारतीय नियन्त्रक महालेखापरीक्षक (Comptroller and Auditor-General of India) के प्रतिवेदन को भी रखवाएगा;[4] साथ ही वित्त-आयोग (Finance Commission) की सिफारिशों को एव उक्त सिफारिशों पर की गई कार्रवाई को भी ससद् के समक्ष रखवाएगा।[5] राष्ट्रपति लोक-सेवा आयोग (Union Public Service Commission) के विभिन्न प्रतिवेदनों[6] और अन्य ऐसे प्रतिवेदन, जैसे अनुसूचित आदिम जातियों के विशेष अधिकारी के प्रतिवेदन[7] तथा पिछड़े हुए वर्गों की दशाओं के अनुसन्धान के आयोग[8] के प्रतिवेदन को भी ससद् के समक्ष रखवाएगा। राष्ट्रपति ससद् से ऐसे विधेयको पर विचार करने के लिए कह सकता है जिनका सम्बन्ध सघ के वित्त-व्यय से हो।[9] किन्तु राष्ट्रपति के उक्त सब कृत्य मन्त्रियों की राय पर ही किये जाते हैं।

(४) संसद् मे किसी ऐसे विधेयक की प्रस्थापना, जिसका सम्बन्ध किसी नये राज्य को मान्यता देने से हो अथवा अपने देश के विभिन्न राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन से हो, बिना राष्ट्रपति की तदर्थ सिफारिश के नही की जा सकती।[10] सम्बन्धित राज्य के विधानमण्डल या विधानमण्डलों के विचार भी मालूम कर लेने चाहिए; किन्तु उक्त विधानमण्डल के विचार राष्ट्रपति के लिए सर्वथा मान्य नही है। चूंकि राष्ट्रपति सघीय मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर चलेगा, इसलिए यह निर्णय करना मन्त्रिमण्डल का कार्य है कि सम्बन्धित विधेयक राज्य विधानमण्डल के विरोध के बावजूद उपस्थित किया जाए अथवा नही।

(५) उसी प्रकार वित्तीय विधेयक (money bills)[11] अथवा ऐसा विधेयक

---

1. भारतीय सविधान का अनुच्छेद ७५ (३) उपबन्धित करता है कि मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप में लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होगी ;

2. अनुच्छेद ११२ (१)
3. अनुच्छेद ११५ (१)
4. अनुच्छेद १५१ (१)
5. अनुच्छेद २८१
6. अनुच्छेद ३२३ (१)
7. अनुच्छेद ३३८ (१)
8. अनुच्छेद ३४० (३)
9. अनुच्छेद ११३
10. अनुच्छेद ३
11. अनुच्छेद ११७

दोषसिद्धि के बाद ही क्षमा कर सकता है। यदि राजद्रोही-क्षमा (amnesty) करनी हो तो राष्ट्रपति को संसद् की अनुमति लेनी पड़ेगी। अमरीका में राष्ट्रपति किसी भी प्रकार के मामले में क्षमादान कर सकता है।

प्रकीर्ण शक्तियां (Miscellaneous Powers)—राष्ट्रपति की अनेक प्रकीर्ण शक्तियां है। राष्ट्रपति के नाम से दिए गए और निष्पादित भारत सरकार के आदेशों और अन्य लिखितों का प्रमाणीकरण इस रीति से होता है जो राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए नियमों मे उल्लिखित हो।[1] द्वितीयत., भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए *तथा मन्त्रियों मे उक्त कार्य के बटवारे के लिए राष्ट्रपति ही नियम* बनाता है।[2] तृतीयतः, राज्य-सभा के सभापति और लोक-सभा के अध्यक्ष से परामर्श करने के पश्चात् राष्ट्रपति दोनों सदनों की सयुक्त बैठकों सम्बन्धी, तथा उनमें परस्पर सम्पर्क-सम्बन्धी प्रक्रिया के नियम बनाता है।[3] चतुर्थत:, उच्चतम न्यायालय समय-समय पर राष्ट्रपति के अनुमोदन से न्यायालय की कार्य-प्रणाली और प्रक्रिया के साधारण विनियमन के लिए नियम बनाता है।[4] पांचवी बात यह है कि राष्ट्रपति ही सघीय लोक-सेवा आयोग के सदस्यों तथा कर्मचारी-वृन्द की सेवाओं की शर्तो के बारे मे विनियम बनाने की शक्ति रखता है।[5] राष्ट्रपति ही ऐसे मामलों में विनियम बनाता है जिनमें यह निर्णय कर दिया जाए कि सघ की किस-किस प्रकार की सेवाओं के सम्बन्ध में सघीय लोक-सेवा आयोग से पूछने की आवश्यकता न होगी।[6]

सविधान ने राष्ट्रपति को यह भी अधिकार दिया है कि वह सार्वजनिक महत्त्व के किसी ऐसे प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय की सम्मति माग सके जिसमें विधि और तथ्य के प्रश्न ग्रस्त हो सकते हे।[7] इसका यह अर्थ है कि राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के पास किसी प्रस्तावित विधेयक को भेज सकता *है और पूछ सकता है कि अमुक विधेयक* विधानमण्डल के अधिकार-क्षेत्र मे आता है अथवा नही। इसके साथ ही उच्चतम न्यायालय की मन्त्रणा मानना राष्ट्रपति के विवेक एव निर्णय पर निर्भर है।

राष्ट्रपति की आपात-शक्तियाँ
(Emergency Powers of the President)

विभिन्न प्रकार के आपात (Different Kinds of Emergency)—राष्ट्रपति की जिन शक्तियों का ऊपर वर्णन किया गया है, उनके अतिरिक्त भारत के राष्ट्रपति को ऐसी अनेक आपात-शक्तियां प्रदान की गई हे जिनको तीन विभागो मे बाटा जा सकता है। इन आपात शक्तियो का प्रयोग राष्ट्रपति तीन प्रकार के राष्ट्रीय सकटो का सामना करने के लिए करता है—

(१) **आपात की उद्घोषणा** (Declaration of Emergency)—भारत

1. अनुच्छेद ७७ (२)
2. अनुच्छेद ७७ (३)
3. अनुच्छेद ११८ (३)
4. अनुच्छेद १४५
5. अनुच्छेद ३१८
6. अनुच्छेद ३२० (३) का परादिक्
7. अनुच्छेद १४३

या भारत के किसी भू-भाग को युद्ध, विदेशी आक्रमण अथवा आन्तरिक उपद्रवों द्वारा प्रादुर्भूत सकट के कारण आपातकालीन स्थिति उत्पन्न हो सकती है। ऐसी स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि भारत की सुरक्षा खतरे में है या खतरे की सम्भावना है, तो वह आपात-काल की उद्घोषणा कर सकता है।[1]

(२) **किसी राज्य में संवैधानिक तन्त्र की विफलता** (Failure of the Constitutional Machinery in a State)—किसी राज्य मे सवैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की अवस्था मे यदि उक्त राज्य का राज्यपाल या राजप्रमुख राष्ट्रपति से प्रतिवेदन करे, या यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन सविधान के उपबन्धो के अनुसार नही चलाया जा सकता, तो राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा कर सकता है।[2]

(३) **वित्तीय आपात** (Financial Emergency)—यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे भारत या उसके किसी भाग के वित्तीय स्थायित्व पर सकट है तो वह वित्तीय आपात की उद्घोषणा निकाल सकता है।[3]

आपात की उद्घोषणा और किसी राज्य में संवैधानिक तन्त्र की विफलता में अन्तर (Difference between a Proclamation of Emergency and a Proclamation of Failure of Constitutional Machinery in a State)—उपर्युक्त दोनों प्रकार की उद्घोषणाए, अर्थात् आपात की उद्घोषणा और किसी राज्य में सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा, एक-दूसरे से उद्घोषणा के कारणों और उद्घोषणा के प्रभावों के सम्बन्ध मे, अलग-अलग है और विभिन्न है। आपात-काल की उद्घोषणा इस कारण की जा सकती है कि विदेशी आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति के कारण भारत की सुरक्षा या शान्ति खतरे में है; अथवा भारत का वित्तीय स्थायित्व सकट मे है। इसके विपरीत सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा इस कारण की जाती है कि उपबन्धों के अनुसार किसी राज्य का शासन चलाना कठिन हो जाता है। भारत की सुरक्षा अथवा शान्ति के खतरे मे पड जाने से अथवा भारत का वित्तीय स्थायित्व संकट मे पड जाने से यह आवश्यक नही है कि किसी राज्य में सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा कर दी जाए। किसी राज्य के सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्-घोषणा का कारण या तो किसी राज्य के संवैधानिक तन्त्र की विफलता है अथवा किसी राज्य द्वारा अपने संवैधानिक दायित्वों को पूरा करने से इन्कार हो सकता है।

जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन मे होगी, तो सविधान द्वारा प्रदत्त सात स्वतन्त्रताओं के अधिकार—भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, शान्तिपूर्वक सभा करने की स्वतन्त्रता, सघ बनाने की स्वतन्त्रता, अबाध सचरण की स्वतन्त्रता, किसी भाग मे निवास करने की स्वतन्त्रता; सम्पत्ति-धारण की स्वतन्त्रता और व्यवसाय-

1. अनुच्छेद ३५२ 2. अनुच्छेद ३५६
3. अनुच्छेद ३६० (१)

सम्बन्धी स्वतन्त्रता—स्वयं निलम्बित हो जाते है।[1] और आपात के उदघोपणा-काल मे राष्ट्रपति यह भी आदेश निकाल सकता है कि मौलिक अधिकारों के निलम्बन के सम्बन्ध मे न्यायालय की शरण नही ली जा सकती।[2] किन्तु किसी राज्य मे सवैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने पर न तो मौलिक अधिकार निलम्बित किए जाते है और न मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन-सम्बन्धी न्यायालय की कार्रवाई से नागरिक वचित किए जाते हैं।

द्वितीयत:, आपात-उद्घोपणा का उद्देश्य ही यह होता है कि संघीय शासन को अधिक विस्तृत कार्यपालिका और व्यवस्थापिका-शक्तिया प्रदान की जाएं ताकि वह भारत की सुरक्षा को उपस्थित चुनौती अथवा देश के वित्तीय स्थायित्व के खतरे का सामना कर सके। किन्तु राज्य के अधिकारी अपना-अपना कार्य यथाविधि करते चलते है। राज्य-शासनो के विभिन्न अग कार्य करते रहते हैं, अन्तर केवल यह होता है कि (१) भारत सरकार राज्यों को आदेश दे सकती है और विशेष प्रकार से राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का प्रवर्त्तन करा सकती है ;[3] (२) सघीय ससद् की व्यवस्थापन क्षमता विस्तृत हो जाती है और ससद् को उन विषयो पर भी विधि-निर्माण करने का अधिकार मिल जाता है जो राज्य की सूची मे सम्मिलित है।[4] और (३) राष्ट्रपति को अधिकार मिल जाता है कि वह अपनी आज्ञाओ से ही वित्तीय मामलो से सम्बन्धित सविधान के उपबन्धो मे सशोधन कर सकता है। किन्तु जब किसी राज्य के सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोपणा की जाती है, तो उक्त राज्य की सरकार के स्थान पर सघ सरकार की सत्ता स्थापित हो जाती है, केवल उच्च न्यायालय वही रहता है। राज्य का विधान-मण्डल पूरी तरह निलम्बित हो जाता है और राज्य की कार्यपालिका पूरी तरह या आशिक रूप मे निलम्बित हो जाती है।

बाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक अशान्ति के कारण आपात-उद्घोपणा (Emergency by External or Internal Aggression)—यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि गम्भीर आपात विद्यमान है जिससे कि युद्ध या बाह्य आक्रमण से या आभ्यन्तरिक अशान्ति से भारत या उसके राज्य-क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट मे है तो राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा कर सकता है।[5] सविधान ने निश्चिततः उपबन्धित किया है कि यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि भारत की या भारत के राज्य-क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा सकट मे है, चाहे वास्तव मे युद्ध अथवा ऐसा कोई आक्रमण या अशान्ति नही हुई हो, तो भी राष्ट्रपति आपात की उद्घोपणा कर सकेगा।[6] केवल राष्ट्रपति का समाधान होने की आवश्यकता है कि सकटकालीन परिस्थिति विद्यमान है और आपात की उद्घोपणा की जा सकती है। न्यायालयों को यह अधिकार नहीं है कि वे आपात-सम्बन्धी उद्घोपणा की वैधता अथवा आवश्यकता पर सदाय कर सकें। आपात-उद्घोपणा के सम्बन्ध में केवल राष्ट्रपति ही निर्णय कर सकता है, और उसके

1. अनुच्छेद ३५८ (१)
2. अनुच्छेद ३५९
3. अनुच्छेद ३५३ (क)
4. अनुच्छेद ३५३ (ख)
5. अनुच्छेद ३५२ (१)
6. अनुच्छेद ३५२ (३)

निर्णय को कोई चुनौती नहीं दे सकता। किन्तु राष्ट्रपति के समाधान का अर्थ है मन्त्रि-परिषद् का समाधान, और आपात की उद्घोषणा करते समय, राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर कार्य करता है।

आपात-उद्घोषणा उत्तरवर्ती उद्घोषणा (subsequent proclamation) द्वारा प्रतिसंहृत (revoked) की जा सकती है,[1] अथवा यदि आपात-उद्घोषणा के प्रवर्तन के दो मास के भीतर संसद् के दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा अनुमोदित न कर दी जाए तो उद्घोषणा दो मास की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगी।[2] परन्तु यदि ऐसी कोई उद्घोषणा उस समय निकाली गई है जब कि लोक-सभा का विघटन हो चुका है अथवा उसका विघटन दो मास की कालावधि के भीतर हो जाता है तो उद्घोषणा-सम्बन्धी समर्थन करने वाला संकल्प राज्य-सभा द्वारा दो मास के भीतर पास होना चाहिए और तीस दिन की कालावधि की समाप्ति से पूर्व उद्घोषणा को अनुमोदित करने वाला संकल्प नव-निर्वाचित लोक-सभा द्वारा भी पारित होना चाहिए। यदि नव-निर्वाचित लोक-सभा अपने जीवन के प्रथम ३० दिन की कालावधि में आपात-उद्घोषणा का समर्थन नहीं करती तो आपात-उद्घोषणा, उस तारीख से, जिसको कि लोक-सभा का प्रथम अधिवेशन हुआ, ३० दिन की कालावधि की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगी।[3]

आपात की उद्घोषणा जब तक प्रवर्तन में रहेगी, उसके निम्न वैधानिक प्रभाव हो सकते हैं —

(१) (क) जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र के अथवा उसके किसी भाग के लिए राज्य-सूची में प्रगणित विषयों में से किसी के बारे में संसद् की विधि बनाने की शक्ति रहती है।[4] आपात-काल में संसद् द्वारा निर्मित विधियां, आपात-उद्घोषणा के प्रवर्तन में न रहने के ६ मास बाद प्रभावशून्य हो जाएंगी।[5]

(ख) यदि राज्य-विधानमण्डल द्वारा निर्मित कोई विधि, आपात-उद्घोषणा के अन्तर्गत संसद् द्वारा निर्मित किसी विधि के उपबन्धों से असंगत ठहराई जाए; तो राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि विरोध की मात्रा तक अवैध मानी जायगी।[6]

(ग) जब आपात-उद्घोषणा प्रवर्तन में है, किन्तु जब संसद् सत्र में नहीं है तो राष्ट्रपति उन विषयों पर भी अध्यादेश निकाल सकता है जो राज्य-सूची में प्रगणित हैं और उसी प्रकार अनुच्छेद १२३ के अनुसार राष्ट्रपति की शक्तियों में वृद्धि हो जाती है।

(घ) संसद् को अधिकार है कि विधियां बनावे और भारत सरकार को शक्तियां प्रदान करे और भारत सरकार के प्राधिकारियों को कर्त्तव्य सौंपे कि वे उन

1. अनुच्छेद ३५२ (२) (क)
2. अनुच्छेद ३५२ (२) (ग)
3. अनुच्छेद ३५२ (२) (ग) का परदिक्
4. अनुच्छेद २५० (१)
5. अनुच्छेद २५० (२)
6. अनुच्छेद २५१

विधियों को क्रियान्वित करें जिनको ससद् ने आपात-उद्घोषणा के प्रवर्तन के कारण अपने विस्तृत अधिकार-क्षेत्र मे निर्मित किया है।[1]

(ङ) ससद् विधि द्वारा अपनी कालावधि को, जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन मे है, एक बार मे एक वर्ष तक के लिए बढा सकती है; किन्तु किसी भी अवस्था मे उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने के पश्चत संसद् की विस्तृत कालावधि छः मास से अधिक विस्तृत नही हो सकती।[2]

(२) आपात की उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल मे सघ की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार यहां तक हो जाता है कि वह राज्यों को आदेश दे सकता है कि राज्य अपनी-अपनी कार्यपालिका-शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करें।

(३) आपात उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल मे राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह केन्द्र और राज्यों[3] के बीच राजस्वो के प्रकृत वितरण में संशोधन कर सके; ताकि भारत सरकार को पर्याप्त धन प्राप्त होता रहे; और इस प्रकार भारत सरकार आपात-काल की परिस्थितिया को पार कर ले जाए। किन्तु ऐसे आदेशों को, उनके दिए जाने के पश्चात्, यथासम्भव शीघ ससद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जाना आवश्यक है।[4] किन्तु ऐसे आदेश किसी भी स्थिति मे उस वित्तीय वर्ष से आगे वैध न होंगे जिस वर्ष कि आपात उद्घोषणा प्रवर्तन मे नही रहती।[5]

(४) (क) आपात की उद्घोषणा के प्रवर्तन काल मे संविधान के अनुच्छेद १९ के अधीन गारण्टी किये गए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सात स्वतन्त्रताओं के मौलिक अधिकार स्थगित हो जाते है।[6] सविधान ने सात स्वतन्त्रताओ के अधिकारों के स्थगन के सम्बन्ध मे यह स्पष्ट विभाजन-रेखा नही खीची कि युद्ध-काल में और शान्ति-काल मे उक्त अधिकारों के स्थगन में कुछ भेद होगा अथवा नहीं। सविधान ने तो केवल यही उपवन्धित किया है कि ज्योंही आपात की उद्घोषणा की जाएगी, चाहे वह उद्घोषणा युद्ध के कारण हो, या आन्तरिक अशान्ति के कारण हो, या इन दोनों के भय के कारण हो, अनुच्छेद १९ मे प्रदत्त अधिकार स्थगित कर दिए जाएंगे।

(ख) जिस समय आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में हो, उस समय वे सब प्रतिवन्ध भी स्थगित हो जाते हैं जो संविधान ने अनुच्छेद १९ के अनुसार सघ, राज्यों और स्थानीय अधिकारियो की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के ऊपर लगाए हैं; और तदनुसार किसी विधि या प्रशासनिक आज्ञा के विरुद्ध न्यायालयों में इस आधार पर शरण नही ली जा सकती कि उक्त विधि अथवा आज्ञा से संविधान के उपबन्धों का उल्लंघन होता है।

(५) राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि वह किसी अन्य मौलिक अधिकार की माग के लिए न्यायालय मे जाने से नागरिकों को रोक दे। उक्त अधिकार का निलम्बन

---

1. अनुच्छेद ३५३ (ख)
2. अनुच्छेद (२) का परादिक
3. अनुच्छेद २६८-२७९
4. अनुच्छेद ३५४ (२)
5. अनुच्छेद ३५४ (१)
6. अनुच्छेद ३५८

आपात-काल की उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल में प्रभावी रहेगा और राष्ट्रपति से आशा की गई है कि वह उक्त निषेधाज्ञा को जारी करने के यथाशीघ्र बाद ससद् के दोनो सदनों के समक्ष रखे।

इस उपबन्ध से प्रकट होगा कि राष्ट्रपति का मौलिक अधिकारों का निलम्बन-सम्बन्धी आदेश अन्तिम नही है। ससद् विधि द्वारा राष्ट्रपति के उक्त आदेश को रद्द कर सकती है। फिर भी राष्ट्रपति यदि चाहे तो देर लगा सकता है और इस प्रकार ससद् उक्त आदेश पर देर से कार्रवाई कर सकेगी।[1] सविधान ने कोई समय-सीमा निर्धारित नही की कि जिसमें राष्ट्रपति उक्त आदेश ससद् के समक्ष रख दे। सविधान ने तो केवल यही आदेश दिया है कि राष्ट्रपति अपने प्रत्येक आदेश को जारी होने या निकालने के यथाशीघ्र बाद ससद् के दोनो सदनो के समक्ष रखे। इसलिए अब यह निर्णय करना तो राष्ट्रपति का ही कार्य है कि वह अपना उक्त आदेश ससद् के समक्ष कब रखे।

किसी राज्य मे संवैधानिक तन्त्र की विफलता (Failure of Constitutional Machinery in a State)—भारतीय सविधान का अनुच्छेद ३५५ आदेश देता है कि वाह्य आक्रमण और आभ्यन्तरिक अशान्ति से प्रत्येक राज्य का सरक्षण किया जाए तथा प्रत्येक राज्य की सरकार इस सविधान के उपबन्धों के अनुसार चलाई जाए, यह सुनिश्चित करना सघ का कर्त्तव्य होगा। इसलिए यदि किसी राज्य के राज्यपाल का प्रतिवेदन आने पर; अथवा यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमे किसी राज्य का शासन सविधान के उपबन्धों के अनुसार नही चलाया जा सकता, तो राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा—

(क) उस राज्य की सरकार के सब या कोई कृत्य तथा यथास्थिति राज्यपाल मे अथवा राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी मे निहित या एतद् द्वारा प्रयोक्तव्य सब या कुछ शक्तिया अपने हाथ मे ले सकता है; और

(ख) वह घोषित कर सकेगा कि राज्य के विधानमण्डल की शक्तिया ससद् के अधिकार के द्वारा या अधीन प्रयोक्तव्य होगी।[2]

(ग) वह ऐसे अनुवर्ती उपबन्धों की भी रचना कर सकता है जिन्हे वह उद्घोषणा के उद्देश्यो को सफल करने के लिए आवश्यक समझता है। इसमे राज्य के सविधान के किसी भाग को निलम्बित करना भी सम्मिलित है।

किन्तु किसी राज्य मे शासन-तन्त्र के विफल हो जाने पर राष्ट्रपति उन शक्तियों को स्वयं ग्रहण नहीं कर सकता जो उच्च न्यायालय मे विहित हैं अथवा जो उसके द्वारा प्रयोक्तव्य हैं। न राष्ट्रपति, भारतीय सविधान के उच्च न्यायालयो से सम्बद्ध किन्ही उपबन्धों के प्रवर्तन को पूर्णतः या अशतः निलम्बित कर सकेगा।[3] किसी राज्य के सवैधानिक तन्त्र की विफलता-सम्बन्धी उद्घोषणा किसी उत्तरवर्ती उद्घोषणा द्वारा प्रतिसहृत

---

1. Basu, Durgadas : Commentary on the Constitution of India, op. cit., p. 810.
2. अनुच्छेद ३५६ (१)
3. अनुच्छेद ३५६ (१) का परादिक्

सकता है और उन सभी शक्तियों और अधिकारों को भी स्वय ले सकता है जो सविधान ने राज्यपाल अथवा राजप्रमुख मे विहित किये हो;

(२) सम्बन्धित राज्य का विधानमण्डल निलम्बित हो सकता है और उसके सब अधिकार और कृत्य या तो केन्द्रीय ससद् स्वय कर सकती है या उन कृत्यों को अपने अधिकार-क्षेत्र मे किसी अन्य निकाय या सस्था को सौंप सकती है,

(३) राष्ट्रपति सविधान के उपबन्धों को बदल सकता है, और इस प्रकार उनमें ऐसे आवश्यक आकस्मिक और अनुवर्ती परिवर्तन कर सकता है कि उद्घोषणा के उद्देश्य सफल हो सके;

(४) किसी राज्य के सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल में ससद् राष्ट्रपति मे वे विधायक अधिकार विहित कर सकती है जो राज्य के विधानमण्डल के हों। ससद् ऐसा इसलिए कर सकती है, ताकि उसके ऊपर उद्घोषणा के कारण अत्यधिक कार्य-भार न आ पडे। किन्तु, इस प्रकार विधायक सत्ता का हस्तान्तरण केवल ससद् की स्वीकृति से ही सम्भव है। स्वय राष्ट्रपति इस उत्तरदायित्व को अपने ऊपर से अपने अधीनस्थ अधिकारियों के ऊपर डाल सकता है

(५) ससद् या राष्ट्रपति या अन्य अधिकारी-वर्ग, जिनको सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल मे प्रभावित राज्य के सम्बन्ध मे विधि बनाने का अधिकार है, अपने उक्त अधिकारों को सघ को या सघ के अधिकारियों को या प्राधिकारियों को प्रत्यावर्तित कर सकते हैं, और

(६) जब लोक-सभा सत्र मे न हो, उस समय राष्ट्रपति अपनी अधिनायी आज्ञा के द्वारा, राज्य की सचित निधि में से आवश्यक खर्चे की अनुमति दे सकता है; किन्तु ऐसी अनुमति ससद् के अनुसमर्थन का विषय होगी।

राष्ट्रपति की राज्य-सरकारों को बरखास्त करने की शक्तियां बहुत व्यापक हैं। प्रारूप समिति के एक सदस्य श्री अल्लादि कृष्णस्वामी ने इस अनुच्छेद के उपबन्धों का समर्थन किया था और कहा था कि यदि किसी राज्य का शासन सुचारु रीति से सचालित होता है, तो केन्द्रीय सरकार को उसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं होगी। ससद् मे न केवल सम्बन्धित राज्य के ही प्रत्युत् अन्य राज्यों के प्रतिनिधि भी इस बात का पूरा प्रयास करेंगे कि सविधान के उपबन्धों का समुचित रीति से पालन हो। पंडित हृदयनाथ कुंजरू ने इस उपबन्ध का विरोध किया था। उनका कहना था कि "यदि राज्यों मे उत्तरदायी शासन की स्थापना करनी है, तो निर्वाचकों को यह विश्वास होना चाहिए कि सुशासन का दायित्व उनके अपने ही हाथों मे है। उन्हें ऐसे प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए जो उनके हितों की सतोषप्रद रीति से पूरा कर सकें। यदि केन्द्रीय सरकार या ससद् को हस्तक्षेप करने का साधारण अधिकार दिया गया [illegible] [illegible] है कि केन्द्रीय सरकार मे [illegible] [illegible] है। राज्य के निर्वाचक अपना उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार के ऊपर छोड देंगे। इस प्रकार का [illegible] [illegible] नहीं है।"

प्रारूप समिति (Drafting Committee) के अध्यक्ष डॉ० अम्बेडकर ने

कहा कि राज्यों में संवैधानिक तंत्र विफल हो जाने की अवस्था में केन्द्र का हस्तक्षेप कोई नई चीज नहीं है। उन्होंने अमरीका का उदाहरण दिया था जहां यह देखना राष्ट्रीय सरकार का दायित्व है कि राज्यों में गणतंत्रीय शासन-व्यवस्था कायम रहे। इन उपबन्धों के दुरुपयोग की संभावना को डॉ० अम्बेदकर ने भी स्वीकार किया था, लेकिन उन्हें आशा थी कि इन उपबन्धों का कभी प्रयोग नहीं होगा; और यदि कभी इनके प्रयोग की आवश्यकता भी हुई, तो राष्ट्रपति प्रत्येक प्रकार की सावधानी बरतेगा।

लेकिन डॉ० अम्बेदकर की आशा पूरी नहीं हुई। अनुच्छेद ३५६ के उपबन्धों का राजनीतिक प्रयोजनों के लिए प्रयोग हुआ है। पुनर्गठन-पूर्व पंजाब, पेप्सू, आंध्र और त्रावनकोर-कोचीन में और उनके पश्चात् भी संविधान का स्थगन करने में किसी एक-सी पद्धति का पालन नहीं हुआ है। अनुच्छेद ३५६ के आधार पर पंजाब में राष्ट्रपति का शासन उस समय लागू हुआ था जब डॉ० गोपीचन्द भार्गव ने अचानक ही त्यागपत्र दे दिया था "तथा अन्य किसी मन्त्रिमण्डल का निर्माण नहीं हो सका था," यद्यपि कांग्रेस दल को, जिसके नेता डॉ० गोपीचन्द भार्गव थे, विधानमण्डल में भारी बहुमत प्राप्त था। राष्ट्रपति ने राज्य के राज्यपाल का प्रतिवेदन मिलने पर आपात की उद्घोषणा निकाल दी। इसके परिणामस्वरूप राज्य का शासन केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल के हाथों में आ गया। राज्य की विधायक शक्तियां संसद् को हस्तांतरित कर दी गईं। एक अन्य उदाहरण पेप्सू का है जो भाग (ख) राज्य था। १९५२ में राज्य विधान सभा में कांग्रेस के स्थान पर अकालियों के एक संयुक्त दल का, जिसका नाम यूनाइटेड डैमोक्रेटिक फ्रंट था, बहुमत हो गया और उसकी सरकार बन गई। चूंकि, यह फ्रंट भानमती का पिटारा था, इसलिए शासन में अनेक दोष उत्पन्न होने लगे। इसी बीच निर्वाचन न्यायाधिकरण ने तीन मन्त्रियों के चुनाव को अवैध ठहरा दिया। इससे मन्त्रिमण्डल को बहुत आघात पहुंचा और राष्ट्रपति ने आपात की उद्घोषणा निकाल दी।

लेकिन ३१ जुलाई, १९५९ को केरल में जो कुछ हुआ, वह इतिहास में लम्बे समय तक अमिट रहेगा। केरल में दलगत संघर्ष अथवा मन्त्रिमण्डल के अस्थायित्व का प्रश्न नहीं था। राष्ट्रपति की उद्घोषणा में कहा गया था कि राज्य में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि उसका शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। लेकिन वास्तविक बात क्या है यह सारे देश को मालूम थी। पिछले निर्वाचनों में केरल में साम्यवादी दल को सबसे अधिक मत प्राप्त हुए थे। ५ स्वतन्त्र सदस्यों के सहयोग से ५ अप्रैल, १९५७ को साम्यवादी दल ने अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। २८ महीनों के कार्यकाल में कांग्रेस तथा अन्य विरोधी दल वैधानिक उपायों से उसे अपदस्थ नहीं कर सके। विरोधी दलों ने १२ जून को सीधी कार्रवाई (Direct Action) का आश्रय लिया और उसके अन्तर्गत स्कूलों, बसों तथा सरकारी दफ्तरों पर पिकेटिंग की और कानूनों का उल्लंघन किया।[1] केरल के मुख्य-मन्त्री के आमन्त्रण पर श्री नेहरू केरल

---

1. पंजाब के राज्यपाल श्री एन० वी० गाडगिल ने इसका विरोध किया था। देखिए, ट्रिब्यून, अम्बाला कैंट, ७ जुलाई, १९५९।

तिथि से ३० दिन के उपरान्त प्रभावशून्य हो जाती है।[1]

वित्तीय आपात की उद्घोषणा के अधीन केन्द्रीय सरकार की कार्यपालिका-शक्ति किसी राज्य को वित्तीय औचित्य सम्बन्धी ऐसे सिद्धान्तों का पालन करने के लिए निर्देश देने तक, जिन्हें राष्ट्रपति, भारत के वित्तीय स्थायित्व और आर्थिक दृढ़ता और आर्थिक साख के लिए देना आवश्यक और समुचित समझे, विस्तृत होगी।[2]

(१) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी ऐसे किसी निदेश के अन्तर्गत, राष्ट्रपति (क) राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में सेवा करने वाले व्यक्तियों के वेतनों और भत्तों में कमी के लिए निदेश निकाल सकेगा; (ख) वह इस बात का भी उपबन्ध कर सकता है कि राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा पास किये गए वित्तीय विधेयक राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित रखे जाएंगे।

(२) इस कालावधि में जिसमें कि वित्तीय आपात-उद्घोषणा प्रवर्तन में है, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के सहित संघ के कार्यों के सम्बन्ध में सेवा करने वाले व्यक्तियों के सब या किसी वर्ग के वेतनों और भत्तों में कमी के लिए निदेश निकालने के लिए राष्ट्रपति सक्षम होगा।

राष्ट्रपति की आपात-शक्तियों का मूल्यांकन (Emergency Powers Evaluated)—इसमें सन्देह नहीं है कि प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में आपात-काल आते हैं और ऐसे आपात-कालों का सामना करने के लिए राष्ट्र को पर्याप्त उपबन्ध करने चाहिए। एक लेखक ने लिखा था कि 'स्वरक्षा' (self-preservation) प्रत्येक राष्ट्र की प्रथम विधि होती है और हर एक राष्ट्र को ऐसी सक्षमता उपार्जित करनी चाहिए जिससे वह सामने आये हुए आपात-काल का सामना कर सके। प्रत्येक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य और राष्ट्रीयता के लिए यह अतीव आवश्यक है कि वह अपनी रक्षा करने में पूर्ण समर्थ हो। इसलिए प्रत्येक राज्य में केन्द्रीय शासन को उत्तरदायी ठहराया जाता है कि वह सम्पूर्ण देश की बाह्य आक्रमण से और आभ्यन्तरिक अशान्ति एवं हिंसा से रक्षा करे।

प्रायः प्रत्येक देश में कार्यपालिका-सत्ता व्यवस्थापिका-अधिकारों के आधीन आपात-शक्तियां अर्जित कर लेती हैं। इंग्लैण्ड में स्वयं संसद् कार्यपालिका को ऐसे अधिकार देती है, जिनसे सन्देहयुक्त व्यक्तियों को बिना मुकदमा चलाए गिरफ्तार किया जा सके। इस सम्बन्ध में 'दी डिफेंस आफ दी रैल्म ऐक्ट, १९१४' (The Defence of the Realm Act, 1914)), और 'एमर्जेन्सी पावर्स (डिफेंस) ऐक्ट, १९३९' (Emergency Powers Defence Act, 1939) उदाहरण है। इसके अतिरिक्त 'युद्ध के कारण आपात' और 'आन्तरिक अशान्ति के कारण आपात' में भेद रखा जाता है तथा युद्ध-काल में 'विधि का शासन' (Rule of Law) अवश्य रखा जाता है।

---

1. अनुच्छेद ३६० (२), अनुच्छद ३५२ (२) को भी वित्तीय आपात उद्घोषणा के ऊपर लागू करता है क्योंकि वे उपबन्ध युद्ध, बाह्य आक्रमण एवं आभ्यन्तरिक अशान्ति के कारण आपात-उद्घोषणा से सम्बन्ध रखते हैं।

2. अनुच्छेद ३६० (३)

संयुक्त राज्य अमरीका का सविधान आदेश देता है : "बन्दी प्रत्यक्षीकरण के आदेश का अधिकार उस समय तक निलम्बित नही किया जा सकता जब तक कि युद्ध-काल मे अथवा विद्रोह की स्थिति मे उक्त अधिकार का निलम्बन अत्यावश्यक न हो जाए।"[1] उक्त उपबन्ध से यह स्पष्ट होगा कि बन्दी प्रत्यक्षीकरण आदेश का अधिकार केवल आक्रमण या आन्तरिक विद्रोह की स्थिति मे ही निलम्बित किया जा सकता है। यह भी कहा जाता है कि उक्त आदेश को केवल कांग्रेस ही निलम्बित कर सकती है।[2] और यह निर्णय करना न्यायालयों का काम है कि क्या देश मे वास्तव मे ऐसी स्थिति वर्तमान है जिससे कांग्रेस का बन्दी प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध मे अधिकार का प्रयोग उचित हुआ अथवा अनुचित।[3] और जैसा कि बताया जा चुका है, अमरीका के सविधान मे ऐसा उपबन्ध नही है, जिसने देश की कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका को ऐसा अधिकार प्रदान किया हो कि वह युद्ध-काल मे या किसी अन्य आपात-काल मे नागरिकों के मौलिक अधिकारों को निलम्बित कर सके। हाल ही के एक मुकदमे मे न्यायालय ने निर्णय दिया था कि "युद्धकाल मे भी सवैधानिक मौलिक स्वतन्त्रताओ का हनन नही किया जा सकता।"[4] नागरिकों की स्वतन्त्रताओं और उनके अधिकारों एव राज्य की नियामक शक्ति (Police Power) द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धो की न्याय के अनुसार परीक्षा करनी चाहिए।

केवल भारत ही एक ऐसा देश है जिसने जर्मनी के वाईमार (Weimar) सविधान का अनुसरण करते हुए राष्ट्रपति को आपात-शक्तिया प्रदान की हैं। यह सही है कि भारत का राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा केवल अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर ही करेगा और आपात-शक्तिया ग्रहण करने के पश्चात् वह अपने उन मन्त्रियों की राय पर ही चलेगा जो ससद् के प्रति उत्तरदायी हैं और ससद् से ही शासन-सत्ता प्राप्त करते हैं। यह भी ठीक है कि आपात की घोषणा संसद् के दोनों सदनों के समक्ष विचारार्थ रखी जाएगी; और आपात की उद्घोषणा जारी किए जाने के दो मास पश्चात् प्रवर्तन में नहीं रहेगी जब तक कि इस दो मास की अवधि मे ससद् के दोनों सदन संकल्पों द्वारा उक्त आपातकालीन उद्घोषणा का समर्थन न कर दें। इसके अतिरिक्त, संविधान के अनुच्छेद ३५९ के अन्तर्गत राष्ट्रपति को जो अधिकार दिया गया है कि वह आपात-काल में नागरिकों के, संविधान के भाग III के मौलिक अधिकारों का न्यायालयों द्वारा प्रवर्तन निलम्बित कर सकेगा, केवल थोड़े समय का अस्थायी अधिकार है; क्योंकि उपबन्धित किया गया है कि राष्ट्रपति द्वारा पारित कोई भी आदेश शीघ्र संसद् के समक्ष उसके विचारार्थ रखा जाए। इसलिए ऐसी स्थिति में आपात-उद्घोषणा के प्रवर्तन और उसे जारी रखने के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति एक प्रकार से संसद् में ही निवास करती है।

किन्तु भारत में आपातकालीन शक्तियों के प्रवर्तन और प्रयोग के सम्बन्ध में यह सही मूल्यांकन नहीं है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्यों को भुलाया नहीं जा सकता—

---

1. अमरीका का संविधान अनुच्छेद 1, धारा 9, उपधारा (2)
2. Ex-Parte Bollman.
3. Ex-Parte Miligan.
4. Home Building Association v. Blaisdell.

(१) बिना संसद् से पूछे हुए भी आपात-उद्घोषणा दो मास तक वैध रूप से प्रवर्तन में रह सकती है। यदि दो मास बाद भी उक्त उद्घोषणा को प्रवर्तन में रखना अभीष्ट हो तभी संसद् की स्वीकृति आवश्यक होती है और ऐसी स्वीकृति दो मास की प्रवर्तन अवधि में ही प्राप्त हो जानी चाहिए। इसलिए कार्यपालिका को दो महीनों के लिए आपात-उद्घोषणा के प्रवर्तन करने का अधिकार तो मिल ही जाता है।

(२) राष्ट्रपति ही निर्णय कर सकता है कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें आपात-उद्घोषणा की जाय; और राष्ट्रपति के उक्त निर्णय की न्याय्यता पर न्यायालय विचार नहीं कर सकते।

(३) 'युद्ध के कारण आपात' और 'शान्तिकालीन आपात' अर्थात् 'आभ्यन्तरिक अशान्ति के कारण आपात' में कोई भेद नहीं किया गया है। देश में किसी भी प्रकार की अशान्ति हो, या अशान्ति का खतरा उत्पन्न हो जाय, जैसे आम हड़ताल के कारण गड़बड़ी की आशंका हो, तो भी आपात की उद्घोषणा की जा सकती है; और उसी प्रकार यदि देश पर वाह्य आक्रमण हो जाय या देश में विद्रोह की स्थिति उत्पन्न हो जाय तो उतनी ही सरलता से आपात की उद्घोषणा की जा सकती है।

(४) ज्योंही आपात-काल की उद्घोषणा होगी, संविधान के अनुच्छेद १९ द्वारा प्रदत्त सात मौलिक स्वतन्त्रताओं के अधिकार निलम्बित हो जाएंगे जैसे कि अक्तूबर, १९६२ में चीनी आक्रमण के समय हुआ।

(५) सामान्य अवस्थाओं में, संविधान के भाग तृतीय में वर्णित मौलिक अधिकारों को न तो संसद् न्यून कर सकती है और न राज्य के विधानमण्डल मर्यादित कर सकते हैं। किन्तु जब तक आपात-उद्घोषणा प्रवर्तन में रहेगी, संघ और राज्यों की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के ऊपर मौलिक अधिकारों के हनन के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध निलम्बित हो जाते हैं और मौलिक अधिकारों के हनन के सम्बन्ध में यदि उक्त आपात-उद्घोषणा के प्रवर्तन काल में न्यायालयों की शरण ग्रहण की जाएगी, तो न्यायालय न्याय नहीं दे सकेंगे; अर्थात् न्यायालयों में अपील नहीं की जाएगी।

(६) राष्ट्रपति को अधिकार है कि आपात-उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल में मौलिक अधिकार निलम्बित किए जा सकते हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रपति एकबारगी सभी मौलिक अधिकारों को निलम्बित करे। अपने आदेश के द्वारा वह निर्णय करता है कि किन-किन मौलिक अधिकारों का निलम्बन वह आवश्यक समझता है। किन्तु राष्ट्रपति को कोई रोक नहीं सकता, यदि वह सभी मौलिक अधिकारों को निलम्बित कर दे।

(७) संविधान का आदेश है कि मौलिक अधिकारों के निलम्बन का राष्ट्रपति का आदेश संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखा जाए। किन्तु उक्त आदेश संसद् के समक्ष कब रखा जाए, यह निर्णय राष्ट्रपति ही कर सकता है। संविधान का तो केवल यही आदेश है कि मौलिक अधिकारों का निलम्बन-आदेश जल्दी-से-जल्दी संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखा जाए।

(८) यह एक अनहोनी-सी चीज है कि यद्यपि शासन-व्यवस्था इतनी एकात्मक

शासन की ओर उतर आए कि अपने अवयवी एककों के शासन-तन्त्र को समाप्त कर दे और उनके सविधानों को आपातकालीन उद्घोषणा के प्रवर्त्तन-काल मे निलम्बित कर दे। किसी एकक राज्य मे शासन-तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा ऐसी स्थिति मे भी की जा सकती है जबकि किसी राज्य मे राजनीतिक गतिरोध उत्पन्न हो जाए; जैसा कि पंजाब, पेप्सू, ट्रावनकोर-कोचीन और आन्ध्र में हुआ। यही अन्त नही है। यदि कोई अवयवी एकक राज्य केन्द्रीय शासन के आदेशो का पूर्णत. पालन न कर सके तो भी उक्त राज्य में सवैधानिक तन्त्र की विफलता की घोषणा की जा सकती है। यदि किसी राज्य के विधानमण्डल मे मन्त्रिमण्डल को स्थायी बहुमत प्राप्त हो, और केन्द्रीय सरकार उसे अपदस्थ करने पर उतर आए तो वह बखूबी ऐसा कर सकती है। केरल इसका उदाहरण है।

हमारे संविधान में, जिस रूप में आपात-शक्तियों की व्यवस्था की गई है, उसके बारे में विभिन्न लोगों ने विभिन्न मत व्यक्त किये है। अनुच्छेद ३५९ ने राष्ट्रपति को अधिकार दिया है कि आपात-काल की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन-काल मे मौलिक अधिकार निलम्बित किये जा सकते है और वे न्यायालयों द्वारा न्याय्य नही ठहराए जा सकते। सविधान सभा मे उक्त अनुच्छेद की खरी आलोचना की गई थी। कुछ लोगों ने इसको 'सविधान का अत्यन्त निरकुश एव प्रतिक्रियावादी अध्याय' बताया और कुछ और लोगो ने इसे '१९२० के ब्रिटिश आपात-कालीन अधिनियम की भद्दी प्रतिकृति' कहा। यह भी कहा गया कि किसी अन्य देश की कार्यपालिका को इतनी कठोर प्रकृति की शक्तियां नही दी गई हैं जितनी कि भारत की कार्यपालिका को। डॉ० अम्बेदकर ने भी सविधान सभा में स्वीकार किया था कि भारत शान्ति-काल में सघ होगा, किन्तु युद्ध-काल मे एकात्मक राज्य हो जाएगा। केन्द्र की स्थिति पर मत व्यक्त करते हुए डॉ० बोधराज शर्मा ने लिखा है—"इसलिए भी भारतीय सविधान के निर्माताओं ने केन्द्र को शक्तिशाली बना कर और आपात-काल मे ऐसी शक्तिया देकर, जिनसे एकको के शासन मे हस्तक्षेप किया जा सके बुद्धिमत्ता का काम किया।"[1]

इस सम्बन्ध मे यह जानना चाहिए कि इंग्लैण्ड का शासन भी एकात्मक है, फिर भी उस देश मे क्राउन को आपात की उद्घोषणा करने का परमाधिकार प्राप्त नही है। क्राउन को आपात-शक्तियां ससद् मे ही प्राप्त हुई है और प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह न्यायालय मे जाकर यह निर्णय कर सकता है कि उसके मौलिक अधिकारों का

में ससद् पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न निकाय रहता है और देश मे विधि का शासन सदैव अक्षुण्ण बना रहता है।

इसमे सन्देह नही है कि आपात-काल में राष्ट्रीय अथवा केन्द्रीय शासन सुदृढ़ और शक्ति सज्जित होना चाहिए। प्रत्येक देश का इतिहास हमको यही शिक्षा देता

1. "Position of the Centre in the New Indian Constitution", The Indian Journal of Political Science, July-September, 1951, p. 62.

है। भारत में पूर्वगामी शासन की अवस्थाओं ने भी सविधान के भावी स्वरूप पर प्रभाव डाला था, और साथ ही देश के राजनीतिक और आर्थिक ढाचे ने भी सविधान के निर्माताओं को सविधान के निर्माण करने में एक दिशा प्रदान की थी। इसमें इसलिए कोई आश्चर्य नहीं है यद्यपि आपातकालीन शक्तिया कई प्रकार से कठोर हो गई है, किन्तु आपात-शक्तियों का प्रयोग सविधान के अनुसार होना चाहिए। कुछ लोगों का विचार है कि सविधान ने पर्याप्त उपबन्ध सुझाए हैं, जिनके अनुसार सघीय कार्यपालिका शक्तियों का दुरुपयोग नही कर सकेगी। कहा गया है कि चूकि संघीय कार्यपालिका ससद् के प्रति उत्तरदायी है, अत. यही आपात शक्तियों के दुरुपयोग के विरुद्ध पर्याप्त सरक्षण है। और इसके अतिरिक्त आपात-उद्घोषणा तभी तक प्रवर्त्तन में रह सकती है जब तक कि ससद् तदर्थ अनुमति दे। फिर भी स्थिति तो भद्दी है ही। राष्ट्रपति कम-से-कम दो महीने के लिए तो बिना ससद् से पूछे आपात की उद्घोषणा कर ही सकता है। और आपात की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन मे आते ही नागरिकों की स्वतन्त्रताएं निलम्बित हो जाती है और उनका न्यायालयो से न्याय मागने का अधिकार भी समाप्त कर दिया जाता है। अनुच्छेद ३५९ के कारण नागरिकों को यह अवसर नही रहता कि कार्यपालिका के न्याय के विरुद्ध वे न्याय करा सके। यह स्थिति किसी भी लोकतन्त्रात्मक शासन के लिए अनहोनी सी है, चाहे इसे हम अन्याययुक्त न भी माने। हमारे सविधान के आपातकालीन शक्तियों से सम्बन्धित उपबन्धों के समान उपबन्ध न तो अमरीका के संविधान में मिलेंगे और न ब्रिटेन के सविधान मे।[1] चाहे लोगों को अच्छा लगे या न लगे, किन्तु यह वचन सर्वथा सत्य है जो अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने प्रसिद्ध अभियोग 'एक्स पार्टी मिलिगन' (Ex Parte Miligan) के सम्बन्ध के निर्णय मे दिया था। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था—"आज तक मनुष्य ने इतना हानिकर कोई सिद्धान्त नही बनाया जितना यह सिद्धान्त बनाया कि नागरिको के अधिकार आपात-कालों मे सीमित किए जा सकते हैं।"

राष्ट्रपति की स्थिति
(The Role of the President)

देश की शासन-व्यवस्था मे भारत के राष्ट्रपति का जो गौरव-पूर्ण स्थान है उसके सम्बन्ध मे विभिन्न लोगों के विभिन्न मत है। ग्लैडहिल ने लिखा है कि "समय ही बताएगा कि अपने कर्तव्यों के निर्वहन मे राष्ट्रपति अपने व्यक्तिगत विचारो के अनुसार कहा तक कार्य करेगा।" उसने आगे लिखा है कि "कनाडा और आस्ट्रेलिया के सविधानों ने शासन के दो विभिन्न प्रकार के कृत्यों मे भेद रखा है; अर्थात् वे कृत्य जो गवर्नर-जनरल अपने विवेक से करे और वे कृत्य जो वे अपनी मन्त्रि-परिषदो की सलाह पर करें, किन्तु अभिसमयो ने उक्त विभेद को अब प्रायः समाप्त कर दिया है और अब गवर्नर-जनरल केवल अपने मन्त्रियों की सलाह पर ही चलते है।" ग्लैडहिल आगे कहता है कि "चाहे भारत मे

---

1. अमरीका के सविधान मे विदेशी आक्रमण अथवा आन्तरिक विद्रोह की स्थिति मे बन्दी प्रत्यक्षीकरण निलम्बित रहता है और इग्लैण्ड मे प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से बन्दी प्रत्यक्षीकरण का निलम्बन समाप्त कर दिया गया है।

ऐसा ही विकास हो, किन्तु सम्भवत: सविधान के निर्माताओं की ऐसी इच्छा नही थी कि राष्ट्रपति मन्त्रियों की सलाह पर ही चले।"[1] इसके आगे वह कहता है—"यह मान लेना सम्भव होगा कि सविधान ने ऐसी व्यवस्था पर्याप्त रूप से नही की है और भय है कि शायद भारत का राष्ट्रपति अधिनायक वन वैठे।" ग्लैडहिल को भय है कि कोई अत्यधिक महत्त्वाकाक्षी और असावधान राष्ट्रपति सविधान की भावना के विरुद्ध कार्रवाई कर सकता है, फिर भी सविधान का उल्लघन किये विना वह अपनी महत्त्वाकाक्षाए पूर्ण कर सकता है और प्राधिकारवादी शासन की स्थापना कर सकता है। डॉ० बी० एम० शर्मा ने 'इण्डियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइस' मे 'भारतीय गणराज्य का राष्ट्रपति' शीर्षक लेख मे लिखा है—"भारतीय सविधान ने राष्ट्रपति को अत्यधिक विस्तृत शक्तिया प्रदान की है, किन्तु इस सम्वन्ध मे कोई उपवन्ध नही दिया है कि राष्ट्रपति उक्त शक्तियो का प्रयोग किस प्रकार करे। सविधान ने यह अभिसमयों पर छोड दिया है कि राष्ट्रपति अपने कर्त्तव्यो का निर्वहन किस प्रकार करेगा; अर्थात् क्या वह सवैधानिक प्रधान वना रहेगा, अथवा क्या वह राज्य की कार्यपालिका का भी प्रधान बनना चाहेगा।"[2] प्रो० मृत्युञ्जय वनर्जी ने 'भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति' शीर्षक से कठोर भाषा में लिखा है—"राष्ट्रपति की स्थिति क्या होगी, यह तो भविष्य ही बताएगा, फिर भी भारतीय सविधान के निर्माताओं ने भारी गलती की है और एक सदिग्ध और द्वयर्थक सविधान तैयार किया है जिसमे उपवन्धित कुछ किया है, किन्तु जिसके कुछ अर्थ निकलते है। लिखित सविधान, सदैव स्पष्ट शब्दो मे विभिन्न निकायों और शासन के अगो के कार्यो और शक्तियो का निरूपण करते है, ताकि शासन के विभिन्न अगो मे विरोध और सघर्ष की सम्भावना न रहे। किन्तु भारतीय सविधान के निर्माताओं ने सविधान लिखते समय इस वात पर विलकुल ध्यान नही दिया और सम्भवत. आने वाली पीढिया उन्हे दोषी ठहराए। इसमें कोई हानि न होती और सविधान के निर्माताओं की इसमे मान-हानि भी न होती, यदि सविधान मे केवल यह उपवन्ध स्पष्ट भाषा मे दे दिया गया होता कि राष्ट्रपति अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन मे अपनी मन्त्रि-परिषद् की सलाह पर चलेगा।"[3]

जिस समय सविधान सभा मे सविधान पर विचार हो रहा था, राष्ट्रपति की शक्तियों से सम्वन्धित उपवन्धो की कठोर आलोचना की गई थी। कहा गया था कि राष्ट्रपति को जो शक्तिया भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किये जाने के लिए;[4] मन्त्रियो के निर्णयो को मन्त्रि-परिषद् के सम्मुख रखवाने के लिए;[5] ससद् मे उस समय लम्वित किसी विधेयक-विषयक अथवा अन्य विषयक सन्देश भेजने के लिए[6] या विधेयक पर अनुमति देने या रोक लेने के लिए दी गई हैं, वे[7] संसदीय शासन-प्रणाली के विरुद्ध है। कहा गया है कि भारत के राष्ट्रपति की ये शक्तिया अमरीका के राष्ट्रपति

1. The Republic of India, op. cit., p. 107-108.
2. October-December, 1950, p. 8.
3. The President of the Indian Republic—Indian Journal of Political Science, October-December, 1950, pp. 14-15
4. अनुच्छेद ७७ (३)
5. अनुच्छेद ७८ (ग)
6. „ ८६ (२)
7. अनुच्छेद २११

की शक्तियों के समान है और इनके कारण राष्ट्रपति और ससद् में संघर्ष रहेगा और राष्ट्रपति इन अधिकारों के बल पर सदैव मन्त्रिमण्डल के कार्य में हस्तक्षेप करेगा। कुछ लोगों ने यह भी भय प्रकट किया है कि सविधान मे ऐसा स्पष्ट उपबन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति सदैव मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा मानने को बाध्य होगा, और इस तथ्य से लाभ उठाकर कोई राष्ट्रपति किसी समय अपने मन्त्रियों की सलाह की उपेक्षा कर सकता है और स्वतन्त्र विवेक के अनुसार शासन कर सकता है। ऐसे आलोचक अपनी आलोचना के समर्थन मे डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के कथन को उद्धृत करते हैं। सविधान के अनुच्छेद ७४ (१) के सम्बन्ध मे डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने सविधान सभा मे कहा था—"मुझे सन्देह है कि इन शब्दो से राष्ट्रपति के ऊपर कोई प्रभावित अकुश लगेगा। उक्त अनुच्छेद स्पष्टतः यह उपबन्धित नही करता कि राष्ट्रपति मन्त्रणा स्वीकार करने के लिए बाध्य होगा। इसमें दिक्कत ही क्या है यदि स्पष्टत. उपबन्धित कर दिया जाय कि राष्ट्रपति को मन्त्रणा स्वीकार करनी पड़ेगी।"

कुछ लोगों का विचार है कि जैसे अभिसमय इग्लैण्ड मे विकसित हुए हैं और जिनके अनुसार सम्राट् मन्त्रियों की सलाह मानने पर विवश है, वैसे अभिसमय भारत मे विकसित नही होंगे। सविधान भी एक वृक्ष के समान किसी विशेष देश की मिट्टी मे ही विकसित होता है और वह विदेशी मिट्टी पर पनप नही सकता। इंग्लैण्ड मे अलिखित सविधान है किन्तु भारत मे लिखित सविधान है। इसके अतिरिक्त दोनों देशों के लोगों के राजनीतिक प्रशिक्षण मे भारी भेद है। अग्रेजी शासन-व्यवस्था मे अभिसमयों को भारी महत्त्व दिया जाता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि भारतीय लोग भी राजनीति के क्षेत्र मे अभिसमयों को वही महत्त्व देंगे। इसलिए ऐसी सम्भावनाएं स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं जिनसे राष्ट्रपति स्वेच्छाचारी शासक बन बैठे; और जर्मनी का बीमर सविधान हमको चेतावनी देता है कि ऐसा सम्भव हो सकता है।

किन्तु ऐसा सोच लेना बाल की खाल खींचने के समान होगा। जब तक कि राज्य का औपचारिक प्रधान न हो, ससदीय शासन-प्रणाली किसी भी देश मे सफल नहीं हुई है; चाहे वह प्रधान इंग्लैण्ड के राजा के समान संवैधानिक राजा हो अथवा भारत या फ्रांस के राष्ट्रपति के समान राष्ट्रपति हो। सविधान ने भारत मे ससदीय लोकतन्त्र की स्थापना की है और ससदीय लोकतन्त्र का प्रथम मौलिक सिद्धान्त यह है कि राज्य का प्रधान प्रशासन का प्रधान नही होता। राष्ट्रपति की यही वास्तविक स्थिति है। वह राष्ट्र का प्रतीक है किन्तु राष्ट्र का शासक नहीं है। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त मन्त्रि-परिषद् मे प्रशासन की सत्ता निवास करती है, किन्तु यह आवश्यक है कि मन्त्री लोग आवश्यकत. ससद् के सदस्य हों।[1] यद्यपि मन्त्री लोग राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पदों पर रहते हैं[2] किन्तु उसका प्रसाद वास्तव मे ससद् का ही प्रसाद है और संसद् के ही प्रसाद पर्यन्त मन्त्री लोग अपने पदों पर बने रहते हैं; क्योंकि सविधान ने स्पष्टतः उपबन्धित किया है कि मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होगी।[3]

---

1. अनुच्छेद ७५ (५)
2. " ७५ (२)
3. अनुच्छेद ७५ (३)

कोई उपबन्ध नहीं है जिसके अनुसार राष्ट्रपति को उत्तरदायी ठहराया गया हो। किन्तु मन्त्रि-परिषद् को विशेष रूप से लोक-सभा[1] के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया है। मन्त्रि-परिषद् को उत्तरदायी बनाने के कोई अर्थ ही न रह जाएगे यदि संविधान की इच्छा यह न होती कि शासन की नीतियों के निर्माण करने मे अन्तिम निर्णय मन्त्रि-परिषद् का ही होगा। सत्य तथ्य यह है कि सविधान के अनुच्छेद ७८ के अन्तर्गत नीतियों के निर्माण और विनिश्चय-सम्बन्धी सारा उत्तरदायित्व मन्त्रिमण्डल को ही सौंपा गया है।

जब हर बात मे राष्ट्रपति को मन्त्रियों की ही मन्त्रणा पर चलना है तो सविधान के अनुच्छेद ७७ (३) के इस उपबन्ध का कि "भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए तथा मन्त्रियों मे उक्त कार्य के बंटवारे के लिए राष्ट्रपति नियम बनायेगा" कोई सवैधानिक महत्त्व नही रह जाता।[2] यदि उक्त उपबन्ध का कुछ सवैधानिक महत्त्व मान भी लिया जाए तो जब राष्ट्रपति को सविधान ने मन्त्रिमण्डल की सभाओं का सभापतित्व करने की आज्ञा नही दी है और जब समस्त विनिश्चय मन्त्रिमण्डल की सभाओं मे किये जाते है तो कैसे माना जा सकता है कि राष्ट्रपति नियम बनाता है अथवा राष्ट्रपति विनिश्चय करता है। शासन के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष मन्त्री लोग ही होते है और अपने-अपने विभागो के प्रशासन मे वे असंदिग्ध रूप से मन्त्रिमण्डल के निर्णयों का अनुसरण करते है और तदनुसार उन्हीं निर्णयों, विनिश्चयों और नीतियों की क्रियान्विति कराते है। इसलिए इस प्रथा के विरुद्ध कार्रवाई करना उस मन्त्रिमण्डलीय सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना के विरुद्ध होगा जिसकी सविधान ने आज्ञा दी है।[3] भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने राय साहिब राम जिवाया कपूर तथा अन्य विरुद्ध पजाब राज्य (Rai Sahib Ram Jiwaya Kapur and Others *Vs.* the State of Punjab) के मामले मे अपनी सर्वसम्मति से, भारत के राष्ट्रपति और मन्त्रि-परिषद् के परस्पर सम्बन्ध को सामने रख कर, सुव्यवस्थित ससदीय शासन के सिद्धान्तों को असदिग्ध न्यायिक स्वीकृति दे दी है।

ग्लैडहिल के इस कथन में कोई सार नहीं है कि राष्ट्रपति बिना सविधान का उल्लघन किये हुए भी एकाधिकारवादी शासन-व्यवस्था स्थापित कर सकता है।[4] उसका कहना है कि, "कोई महत्त्वाकांक्षी राष्ट्रपति अपनी सामान्य शक्तियों के प्रयोग के द्वारा ही अपने मन्त्रियों को बर्खास्त कर सकेगा[5] और नये आम चुनाव की आज्ञा दे सकेगा।[6] इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति यदि चाहेगा तो छः मास तक नव-निर्वाचित लोक-सभा को आहूत करेगा[7] और उस लोक-सभा के अनुपस्थिति-काल में अपनी इच्छा के मन्त्री नियुक्त कर सकेगा; क्योकि छः मास की कालावधि के समाप्त हो जाने पर ही मन्त्री ससद् की सदस्यता के अभाव मे मन्त्री रह सकता।[8] इसके बाद राष्ट्रपति, अध्यादेश जारी कर

1. अनुच्छेद ७८ (ग)
2. अनुच्छेद ७७ (३)
3. अनुच्छेद ७५ (३)
4. The Republic of India, op. citd., p. 108.
5. अनुच्छेद ७५ (२)
6. अनुच्छेद ८३ (२)
7. अनुच्छेद ८५ (१)
8. अनुच्छेद ७५ (५)

सकता है, जो संसद् के अधिनियमों के समान ही प्रभावी होते है।[1] ऐसी स्थिति में आपात की उद्घोषणा की जा सकती है और ऐसी उद्घोषणा के विरुद्ध न्यायालयों मे अपील नही की जा सकती। इसके उपरान्त आपात-शक्तियो का सहारा लेकर राष्ट्रपति मौलिक अधिकारो को निलम्बित कर देगा और राज्यो के शासन को अपने हाथों मे ले लेगा; और चूकि वह समस्त सशस्त्र बलों का सर्वोच्च सेनापति भी है, इसलिए वह सेना की सहायता से और सिविल प्राधिकारियो को अपने साथ मिला कर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकता है जिससे लोक-सभा के निर्वाचित सदस्य उसकी इच्छाओ के दास हो और इस प्रकार वह संसद् को पूरी तरह प्रभावित कर सकेगा।

श्री ग्लैडहिल ने स्वय स्वीकार किया है कि उपर्युक्त स्थिति दुःस्वप्न जैसी प्रतीत हो सकती है किन्तु ऐसी ही स्थिति मे जर्मनी का वईमार (Weimar) सविधान नष्ट किया गया था। जहा तक श्री ग्लैण्डहिल की कल्पना का प्रश्न है, हमें कुछ भी नही कहना है; क्योंकि हर एक व्यक्ति कुछ भी कल्पना करने मे स्वतन्त्र है। यदि यह भी मान लिया जाए कि उक्त कल्पना सविधान-विधि के आधार पर की गई है, तो भी यह सत्य नही है। विधि-सत्य सदैव राजनीतिक सत्य नही हो सकते, और कोई भी समझदार राष्ट्रपति, केवल इसलिए कि वह महत्त्वाकाक्षी राष्ट्रपति है और इसलिए कि वैध रूप से वह ऐसा कर सकता है, वह यह सब नही करेगा जिसकी श्री ग्लैडहिल ने कल्पना की है। जैनिग्ज के अनुसार, "शासन एक सरकारी कृत्य है और केवल विधि-नियमों के आधार पर ही सामुदायिक एवं सरकारी शासन नही चलाया जा सकता।"[2] शासन मे ऐसे बहुत से व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करना पड़ता है जो शासन और प्रशासन में सहयोग देते हैं। ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी नियम का अनुसरण तो अवश्य ही करना पड़ेगा यदि उसे अपना कार्य अच्छे ढग से सम्पादित करना है, अब उन नियमों को चाहे तो शासन के नियम (rules of Political behaviour) कह लीजिए, चाहे विधियां (laws) कह लीजिए और चाहे अभिसमय (conventions) कह लीजिए शासन-प्रणाली के नियमो और अभिसमयों की यही माग है कि ऐसे राज्य का प्रमुख आवश्यकत: गौरवपूर्ण और तटस्थ व्यक्ति ही होना चाहिए। सविधान ने देश मे ससदीय शासन-प्रणाली की आधारशिला रखी है, और राष्ट्रपति उस शासन-व्यवस्था का आवश्यक अंग है। इसमें कोई सन्देह नही है कि वह राज्य का प्रथम कोटि का नागरिक (First citizen of the State) है किन्तु देश की राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था मे वह सर्वेसर्वा नही है। प्रधान मन्त्री ही वास्तव मे शासन का प्रमुख है। वही राष्ट्र का मार्ग-दर्शन करता है और वही देश के राजनीतिक जीवन-पोत का कर्णधार है। राष्ट्रपति की शक्तियो की परीक्षा करते हुए प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने कहा था—"हमने अपने राष्ट्र-पति को कोई वास्तविक शक्ति नही दी है; फिर भी हमारे राष्ट्रपति की स्थिति महान् अधिकारो और गौरव से पूर्ण है।"

राष्ट्रपति, उपदेष्टा के रूप में (The President as Advisor)—डॉ०

---

1. अनुच्छेद १२३
2. The Law and the Constitution, p. 98.

जैनिंग्ज ने ब्रिटिश सम्राट् की शक्तियों और स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि "जो कृत्य किसी की मन्त्रणा पर किये जाते हैं, आवश्यकत: औपचारिक अथवा यन्त्रवत् नही होते।" ऐसे अवसर कई बार आ सकते हैं जबकि सम्राट् को मानना पड़ता है और ऐसे भी अवसर आ सकते है जबकि स्वयं सम्राट् मन्त्रियों की खुशामद करे। श्री एस्क्विथ ने सम्राट् के अधिकारों और उत्तदायित्वों की विवेचना करते हुए लिखा है कि "सम्राट् को अधिकार है और यह उसका कर्त्तव्य भी है कि वह मन्त्रियों को वह सारी जानकारी दे जो उसे हो; मन्त्रियो के सुझाए गये मार्ग के सम्बन्ध मे सारी आपत्तिया मन्त्री को बतावे जिन्हें वह उचित समझता हो और यदि उसके दिमाग मे कोई वैकल्पिक नीति हो तो उसे भी मन्त्री को सुझा दे। ऐसी मन्त्रणाओं को सभी मन्त्री पूर्ण समादर के साथ सुनेंगे और सम्राट् की मन्त्रणा का अन्य सामान्य व्यक्तियों की मन्त्रणा की अपेक्षा अधिक आदर होना भी चाहिए।"[1] इसी तथ्य को वेजहॉट ने इस प्रकार व्यक्त किया है, "सम्राट् के तीन अधिकार है, अर्थात् परामर्श देने का अधिकार, प्रोत्साहन देने का अधिकार और चेतावनी देने का अधिकार।" वेजहॉट ने आगे यह भी लिखा है कि "बुद्धिमान सम्राट् को इन तीन अधिकारो के अतिरिक्त चौथे अधिकार की कामना भी नही करनी चाहिए।"

भारतीय सविधान ने बिल्कुल यही रोल (role) भारतीय राष्ट्रपति को सौंपा है। यद्यपि, राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की बैठकों मे न तो उपस्थित होता है और न उनका सभापतित्व ही करता है, फिर भी उसे उन सभी विनिश्चयों और निर्णयों का पूर्ण ज्ञान होता है जो मन्त्रिमण्डल करता है। प्रधानमन्त्री का कर्त्तव्य है कि वह मन्त्रि-परिषद् के समस्त निर्णय राष्ट्रपति की सेवा मे पहुंचावे; यदि राष्ट्रपति शासन सम्बन्धी कोई सूचना मागे तो राष्ट्रपति को दे और यदि राष्ट्रपति चाहे तो ऐसा कोई मामला जिसे किसी एक मन्त्री ने तो निर्णय कर दिया हो, किन्तु जिस पर समस्त मन्त्रि-परिषद् ने सामुदायिक रूप से विचार न किया हो उसे मन्त्रि-परिषद् के समक्ष विचारार्थ रखे। मन्त्रि-परिषद् के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की रक्षा के लिए व्यक्तिगत मन्त्रियों के निर्णय, समस्त मन्त्रि-परिषद् के विचारार्थ रखवाए जा सकते हैं। महत्त्वपूर्ण विषयों पर कभी तो राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री को लिखते हैं और कभी प्रधान-मन्त्री राष्ट्रपति को। अपनी एक प्रेस-कान्फ्रेंस मे श्री नेहरू ने कहा था, "मैं अक्सर राष्ट्रपति से मिलता रहता है और हमारे बीच पत्र-व्यवहार भी होता रहता हैं। यह प्रथा कई वर्षों से चली आ रही है। कभी-कभी जब वे मुझे लिखते है, मैं पत्रों को मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के पास भेज देता हू। यह सामान्य प्रथा है।" एक सम्वाददाता ने पूछा था, "क्या राष्ट्रपति प्रस्तावित सुधारों के मार्ग मे बाधक बनेंगे?" प्रधान-मन्त्री ने कहा था, "इसमे राष्ट्रपति को मत घसीटिए। वे संवैधानिक राष्ट्रपति है। वे स्वतन्त्रता-सग्राम के वरिष्ठ नेता है, अत: हम स्वयं ही सलाह लेने के लिए उनके पास जाते रहते है। लेकिन निर्णय करने का उत्तर-दायित्व मन्त्रिमण्डल का ही है।"[2]

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि भारत का राष्ट्रपति अपने मन्त्रियो का आलोचक

1. Spender, J. A. : Life of Oxford and Asquith, Vol. II, p. 29,
2. The Hindustan Times, July 8, 1959.

है, परामर्शदाता है और मित्र है। परामर्शदाता के रूप में वह अपने विचारों को मन्त्री के समक्ष वल के साथ रख सकता है। आलोचक के रूप में वह उस मन्त्रणा पर आपत्ति कर सकता है जो मन्त्री ने उसे किसी विषय पर दी हो। किन्तु उसे जिद या हठ नही करनी चाहिए; और अन्तिम उपचार के रूप मे यदि मन्त्री राष्ट्रपति की बात को न मानना चाहे तो उसे मान जाना चाहिए। मन्त्रिमण्डल के मित्र के रूप मे राष्ट्रपति को इतनी सावधानी वरतनी चाहिए कि वह अपनी बात पर व्यर्थ के लिए ही अडा न रहे, जिसके फलस्वरूप शासन का स्थायित्व खतरे मे पड जाए। जब तक राष्ट्रपति ऐसी मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा पर चलता है जिसको लोक-सभा का विश्वास प्राप्त है, वह कोई असवैधानिक कृत्य नही कर सकता।

राष्ट्रपति के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि वह राज्य का निर्वाचित प्रधान होगा और एक अभ्यास-वृद्ध और वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ होगा, जिसको विस्तृत राजनीतिक ज्ञान और पर्याप्त प्रशासनिक अनुभव होगा और सम्भवतः देश के शासनतन्त्र मे उसके समान योग्य राजनीतिज्ञ और प्रशासक कोई दूसरा कठिनाई से मिलेगा। सविधान के आदेशानुसार वह भारतीय जनता की सेवा और कल्याण मे निरत रहेगा। इसलिए मन्त्रि-परिषद् के विनिश्चयों पर राष्ट्रपति का प्रभाव सुदूरगामी होगा। वह शासन की नीति के निर्माण मे सहायक हो सकता है फिर भी वह निश्चितत राज्य का सवैधानिक प्रधान है। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के २८ नवम्बर, १९६० के विवादास्पद कथन के होते हुए भी उनके राष्ट्रपतित्व काल का इतिहास हमको बताता है कि राष्ट्रपति अपनी बुद्धिमत्ता से किस प्रकार सभी सन्देह, चाहे वे वास्तविक हो अथवा न हो, दूर कर सकता है और किस प्रकार राष्ट्रपति अपनी शक्तियो का प्रयोग कर सकता है जिससे उनका दुरुपयोग न हो। डॉ० प्रसाद ने ऐसी परम्पराए स्थापित की जिनसे सविधान के निर्माताओं के उद्देश्य पूरे हुए और उनके उत्तराधिकारी डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन द्वारा ऐसे अभिसमय स्थापित हुए जिन्होंने डॉ० जैनिग्ज के शब्दो मे सविधान-रूपी विधि के कंकालकाय मे रक्त और मास की व्यवस्था की। और इस प्रकार ये अभिसमय कठोर सविधान को ऐसा लचीला और समयानुसार बनाएगे कि वह बदलते हुए राजनीतिक विचारों और सर्व-साधारण की आवश्यकताओं के अनुरूप बदला जाएगा। सार्वजनिक सत्ता ग्रहण करने वाले दार्शनिक विरले ही होते है। मार्कस औरिलियस (Marcus Aurelius) दार्शनिक सम्राट् था; राधाकृष्णन दार्शनिक राष्ट्रपति थे और सविधान का समर्थक होने के नाते वह राष्ट्र के विवेकशील प्रधान है।

राष्ट्रपति के अधिकारों के सम्बन्ध में विचारकों मे कुछ न कुछ विवाद चलता ही रहा है, विशेषतः १९६७ के आम चुनाव के पश्चात्। भारत के भूतपूर्व सर्वोच्च न्यायाधीश श्री सुब्बाराव ने और श्री बी० शिवाराव ने भी इस बात पर जोर दिया है कि कुछ परिस्थितियों मे राष्ट्रपति अपने विवेक के अनुसार कार्य कर सकता है जैसे कि दलों की स्थिति स्पष्ट न होने पर प्रधान-मन्त्री की नियुक्ति और ससद् को भग करने का निश्चय। ये अधिकार इंग्लैण्ड के सम्राट् को भी प्राप्त है परन्तु पिछले एक सौ साल मे उन्होंने अपने विवेक के अनुसार ससद् को भग नही किया। यह भी याद रहे कि अपने पद की शपथ ग्रहण करते समय राष्ट्रपति न केवल अपने आप को जनता की सेवा के लिये अर्पित

ही करता है वरन् संविधान को बरकरार रखने का भी प्रण करता है। श्री वी० वी० गिरि ने राष्ट्रपति पद के लिये चुने जाने पर अपने आप को पुनः जनता को अर्पित करने और संविधान को बरकरार रखने की शपथ ली थी।

Suggestel Readings

Alexandiowicz, C H. : *Constitutional Developments in India*, pp 127-140.

Anand, C. L . *The Constitution of India*, pp. 154-180, 414-426.

Banerjee, M. *'The President of the Indian Republic', The Indian Journal of Political Science*, October-Dec. 1957

Basu, Durga Das · *Commentary on the Constitution of India*, pp. 247-308; 794-811.

Constituent Assembly Proceedings, Vol. IV, p. 734 ff and 846 ff, Vol. VII, pp. 33ff, Vol. XI, pp. 6, 21 ff.

Chitaley, V. V. and Rao, S Appa . *The Constitution of India*, Vol. I, pp. 864-942.

Gledhill, A. : *The Republic of India*, pp. 98-109.

Gupta, Madan Gopal : *Aspects of Indian Constitution*, Chaps. IV, VI.

Sharma, B. M. : *The President of the Indian Republic, The Indian Journal of Political Science*, Oct.-Dec. 1950.

Lal, A. B. : *The Indian Parliament*, Chap. XIII.

Rau, B. N. : *India's Constitution in the Making*.

Sharma, Bodh Raj : *Position of the Centre in the New Constitution, The Indian Journal of Political Science*, July-Sep. 1951.

Shaima, Shri Ram : *Crisis Government in the Indian Constitution The Indian Jcurnal of Political Science*, Oct -Dec. 1949.

Srinivasan, N. *Democratic Government in India*, Chap. XIV.

Srivastava, V. N. : *The Union Executive in the Constitution of India, 'The Indian Journal of Political Science'* Oct.-Dec, 1950 and July-Sept., 1951.

अध्याय ५

केन्द्रीय शासन (क्रमशः)

(GOVERNMENT AT THE CENTRE)—*Contd.*

मन्त्रि-परिषद्

(The Council of Ministers)

मन्त्रि-परिषद् (The Council of Ministers)—यदि राष्ट्रपति राज्य का *संवैधानिक प्रधान है, तो मन्त्रि-परिषद् देश की वास्तविक कार्यपालिका है।* संविधान का अनुच्छेद ७४ आदेश देता है कि राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने मे सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी, जिसका प्रधान, प्रधान मन्त्री होगा। राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की नियुक्ति करता है तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर करता है।[1] राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त मन्त्री अपने पदो पर बने रहते है।[2] मन्त्रि-परिषद् लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है।[3] किसी मन्त्री के अपना पद ग्रहण करने से पहले राष्ट्रपति उससे तृतीय *अनुसूची मे इसके लिए दिए गए प्रपत्रो के अनुसार पद की तथा गोपनीयता की शपथ* कराता है।[4] यह आवश्यक है कि मन्त्री ससद् के किसी सदन का सदस्य हो। यदि कोई मन्त्री निरन्तर छः मास की कालावधि तक ससद् के किसी सदन का सदस्य न रहे तो उस

---

1. अनुच्छेद ७५ (१)　　　2. अनुच्छेद ७५ (२)
3. „　७५ (३)
4. „　७५ (४) सघ के मन्त्री के लिये पद-शपथ का प्रपत्र : I

"मैं·········अमुक·········ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्य-निष्ठा से प्रतिज्ञान करता हू कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूगा; सघ के मन्त्री के रूप मे अपने कर्त्तव्यों का श्रद्धापूर्वक और शुद्ध अन्त:करण से निर्वहन करूंगा, तथा भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के विना मैं सब प्रकार के लोगों के प्रति सविधान और विधि के अनुसार न्याय करूंगा।"

संघ के मन्त्री के लिए गोपनीयता-शपथ का प्रपत्र : II

"मैं·········अमुक·········ईश्वर की शपथ लेता हू / सत्य-निष्ठा से प्रतिज्ञान करता हू कि जो विषय सघ मन्त्री के रूप मे मेरे विचार के लिए लाया जायगा, अथवा मुझे ज्ञात होगा, उसे किसी *व्यक्ति या व्यक्तियों को उस अवस्था को छोड कर जबकि ऐसे मन्त्री के रूप मे अपने* कर्त्तव्यों के उचित निर्वहन के लिए ऐसा करना अपेक्षित हो, अन्य अवस्था मे, मैं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में समूचित या प्रकट नही करूंगा।"

कालावधि की समाप्ति पर वह मन्त्री नही रह सकता।[1] मन्त्रियों के वेतन तथा भत्ते ऐसे होंगे, जैसे, समय-समय पर संसद् विधि द्वारा निर्धारित करती है।[2]

क्या मन्त्रियों ने राष्ट्रपति को कोई मन्त्रणा दी और यदि दी तो क्या दी, इस प्रश्न की किसी न्यायालय मे जाच नही की जा सकती।[3] अनुच्छेद ३६१ उपबन्धित करता है कि राष्ट्रपति अपने कर्तव्यों के पालन मे अपने किसी कृत्य के लिए किसी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नही होगा। इसलिए, मन्त्री द्वारा राष्ट्रपति को दी गई मन्त्रणा न्यायालयों के अधिकारक्षेत्र से परे है और राष्ट्रपति को अपने कार्यकाल मे और उसके उपरान्त भी पूर्ण वैधिक उन्मुक्ति प्राप्त है। उक्त उपबन्ध यह भी निर्धारित करता है कि राष्ट्रपति और उसके मन्त्रियों के सम्बन्ध पूर्णतया गोपनीय है। संविधान के इन उपबन्धो मे वही सिद्धान्त काम कर रहा है जिसके अनुसार अंग्रेजी संविधान मे "ब्रिटिश राजा कोई गलती नही कर सकता (The King can do no wrong)।" इस वाक्यांश का वास्तविक अर्थ यह है कि राजा विधि से ऊपर है और अपने किसी व्यक्तिगत दोष के लिए उसे न्यायालय मे उपस्थित नही किया जा सकता, न उसके विरुद्ध कोई वैधिक कार्रवाई की जा सकती है, यहा तक कि, जैसा कि डायसी ने मजाक मे लिख मारा कि यदि सम्राट् अपने प्रधान मन्त्री को ही गोली मार दे तो भी उसके विरुद्ध कोई वैधिक कार्रवाई नही की जा सकती। उसी प्रकार भारत मे भी राष्ट्रपति के कार्यकाल मे भारत के राष्ट्रपति के विरुद्ध कोई दण्ड-विधि की कार्रवाई नही की जा सकती, यद्यपि यदि राष्ट्रपति महाभियोग के अपराध मे पदच्युत हो जाए तो उसके विरुद्ध मुकद्दमा चलाया जा सकता है।[4]

किन्तु इस वाक्यांश का कि "राजा कोई गलती नही कर सकता" वास्तविक अर्थ यह है कि सम्राट् कोई सार्वजनिक कृत्य अपने विवेक के अनुसार करता ही नही; वह तो सभी कुछ अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर ही करता है। और मन्त्री लोग यद्यपि अपने सभी कृत्य सम्राट् के नाम से करते है, किन्तु ससद् के प्रति उत्तरदायी है। इसको सीधी-सादी भाषा मे व्यक्त करते हुए कहा जा सकता है कि "सम्राट् कुछ भी, सही या गलती, ऐसा काम अपने विवेक के अनुसार कर ही नही सकता जिसका कोई वैधिक महत्त्व हो।" किसी भी सार्वजनिक कृत्य के लिए न्यायालयों मे अथवा ससद् के अन्दर या बाहर कोई मन्त्री सम्राट् का नाम लेकर किसी सार्वजनिक कृत्य के उत्तरदायित्व से अपने आपको बचा नही सकता। यदि मन्त्री से कोई गलती हो जाए या कोई भूल हो जाए तो भी वह अपने बचाव में यह नही कह सकता कि उसने उक्त कार्य सम्राट् के आदेशों के अनुसार किया था। भारत के संविधान ने भारतीय शासन के लिए मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति को आवश्यक माना है और राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर ही शासन करे। राष्ट्रपति और उसकी मन्त्रि-परिषद् के बीच के सम्बन्ध गोपनीय (Confidential) ठहराए गए है और सम्बन्धो की इस गोपनीयता को इस उपबन्ध के द्वारा सरक्षण प्रदान किया गया है कि मन्त्री लोग राष्ट्रपति को क्या मन्त्रणा देते है, इस बारे मे न्यायालयों मे विचार नही हो सकता। मन्त्रियो द्वारा राष्ट्रपति

1. अनुच्छेद ७५ (५)
2. अनुच्छेद ७५ (६)
3. अनुच्छेद ७४ (२
4. अनुच्छेद ३६१ (२), (३)

को दी गई मन्त्रणा राष्ट्रपति को सर्वथा मान्य है क्योंकि संविधान ने यही उपबन्धित किया है कि मन्त्री लोग ही विनिश्चय अथवा निर्णय करेगे।[1] इसलिए यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत का राष्ट्रपति भी इग्लैण्ड के सम्राट् की ही तरह कोई सार्वजनिक कृत्य स्वविवेक के अनुसार नही करता; वह तो सभी कुछ अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर ही करता है। यह भी आवश्यक है कि मन्त्री लोग ससद् के सदस्य होते है और समस्त मन्त्रि-परिषद् लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। सविधान ने यह भी निर्धारित किया है कि मन्त्रियों के वेतन तथा भत्ते ऐसे होगे जैसे समय-समय पर, ससद् विधि द्वारा निर्धारित करे।[2] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मन्त्री लोग, जो कुछ भी राष्ट्रपति के नाम मे करते है, उसके लिए वे इग्लैण्ड की ही तरह ससद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं। चूकि राष्ट्रपति और उसके मन्त्रियों के बीच के सम्बन्ध गोपनीय होते है, इसलिए मन्त्री लोग अपने किसी अवैध अथवा असंवैधानिक कृत्य के लिए राष्ट्रपति के आदेश की आड़ नही ले सकते और न राष्ट्रपति को वैधिक उन्मुक्तियों (legal immunities) की आड़ लेकर मन्त्री अपनी रक्षा कर सकते है।

इस प्रकार भारत के संविधान मे ससदीय शासन-प्रणाली के सभी आवश्यक गुण विद्यमान है। इग्लैण्ड मे मन्त्रिमण्डल सयोग का जात है, और उस देश की मन्त्रि-मण्डलीय शासन-प्रणाली समय की आवश्यकताओ और सकट कालों का प्रतिफल है। इसलिए मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली का समस्त शासन-तन्त्र अभिसमयों पर आधारित है। ये अभिसमय अलिखित अवश्य हैं किन्तु इनको सदैव उतनी ही वैधिक मान्यता प्रदान की जाती है जितनी कि विधि के किसी नियम को। अधिराज्यो मे भी मन्त्रिमण्डल-प्रणाली इग्लैण्ड की प्रचलित प्रथाओं, रिवाजों और अभिसमयो के आधार पर आधारित है यद्यपि अधिराज्यो के सविधान लिखित हैं।

मन्त्रि-परिषद् और मन्त्रिमण्डल (The Council of Ministers and the Cabinet)—इग्लैण्ड मे जिस रूप मे मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली का उदय हुआ है, उससे मन्त्रि-परिषद् और मन्त्रिमण्डल मे भेद किया जाता है। जब प्रधान मन्त्री को कहा जाता है कि वह मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करे तो उसे लगभग ७० स्थानो की पूर्ति करनी पड़ती है जिनमे कुछ उच्च पद होते है और कुछ निम्न और सभी को मिला कर मन्त्रि-परिषद् कहा जाता है। उक्त मन्त्रि-परिषद् मे लगभग २० अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सदस्य मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते है। ये मन्त्रिमण्डल के सदस्य सामूहिक रूप से एकत्रित होते है, और सामूहिक रूप से ही नीति-सम्बन्धी निर्णय करते हैं और सामान्यतः वे ही शासन को चलाते है। इसके अतिरिक्त कुछ मन्त्री होते है जो कैबिनेट की स्थिति (cabinet rank) के मन्त्री होते हैं। कैबिनेट की स्थिति के मन्त्री अपने-अपने प्रशासनिक विभागो के अध्यक्ष होते है और यद्यपि औपचारिक रूप मे उनका दर्जा मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों के समान ही होता है फिर भी वे मन्त्रिमण्डल के सदस्य नहीं होते। यदि कभी प्रधान उन्हे कुछ ऐसे मामले निर्णय करने के लिए आमन्त्रित करता है जिनका सम्बन्ध

1. अनुच्छेद ७८ (ग) 2. अनुच्छेद ७५ (६)

उनके विभागों से हो तो वे कैबिनेट की सभाओं में उपस्थित होते है। अंततः ससदीय सचिव अथवा उपमन्त्री होते है और इनके अतिरिक्त शाही घराने के पाच राजनीतिक प्राधिकारी होते है। ये सब प्रकार के मन्त्री, जो मिल कर मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करते है, ससद् के सदस्य होते है और सब व्यक्तिगत रूप मे भी और सामूहिक रूप मे भी संसद् के प्रति उत्तरदायी होते है और वे तभी तक अपने पदों पर रह सकते है जब तक कि उनको ससद् का विश्वास प्राप्त रहता है। किन्तु मन्त्रि परिषद् के सामूहिक कृत्य कुछ नही होते केवल कैबिनेट अथवा मन्त्रिमण्डल ही सामूहिक रूप से कार्य करता है। कैबिनेट के मन्त्री लोग सब साथ समवेत होते है, साथ विचार करते है, एक साथ नीति निर्धारित करते है और वे सभी इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उनके द्वारा निर्धारित नीति सफलतापूर्वक क्रियान्वित हो। किन्तु समस्त मन्त्रि-परिषद् एक साथ कभी समवेत नही होती और न वह नीति निर्धारित करती है।

भारतीय सविधान ने कही भी 'मन्त्रिमण्डल' शब्द का प्रयोग नही किया है। सविधान ने मन्त्रि-परिषद की व्यवस्था की है जिसका प्रधान, प्रधान मन्त्री है और जिसका कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रपति की सहायता करे और उसके कर्त्तव्य के निर्वहन के सबध में उसे मन्त्रणा दे। किन्तु प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने जो मन्त्रि-परिषदों का निर्माण किया उनमे चार प्रकार के मन्त्री रखे गये और उनमे मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों और कैबिनेट स्थिति के मन्त्रियों मे स्पष्ट विभेद रखा गया। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू की १९५० की मन्त्रि-परिषद् मे १४ कैबिनेट अर्थात् मन्त्रिमण्डल के मन्त्री थे और ५ राज्यमन्त्री थे। १९५२ के आम चुनाव के पश्चात् श्री नेहरू ने अपने अलावा १४ मन्त्रियों को 'मन्त्रिमण्डल के सदस्य (Members of the Cabinet)'; ४ को 'मन्त्रि-मण्डल के पद के मन्त्री (Ministers of cabinet rank)' और २ को 'उपमन्त्री (Deputy Ministers)' नियुक्त किया था। जून १५ १९६२ मे मन्त्रि-परिषद् की स्थिति इस प्रकार थी; प्रधान मन्त्री को मिलाकर १८ मन्त्रिमण्डल के सदस्य मन्त्री, १२ राज्य मन्त्री जो मन्त्रि-मण्डल के सदस्य नही थे पर वे मन्त्रिमण्डल के पद के मन्त्री थे, २२ उपमन्त्री, और सात संसदीय सचिव। मन्त्रिमण्डल का यह आकार कामराज योजना (Kamaraj Plan) के फलस्वरूप छोटा हो गया।

ससदीय सचिवों के अलावा इस प्रकार मन्त्रियों की तीन श्रेणिया है: मन्त्री-मण्डल के सदस्य, ये सामूहिक रूप से मन्त्रिमण्डल की बैठकों मे भाग लेते हैं, शासन के प्रधान होते हैं और नीति का निर्माण करते है। मन्त्रिमण्डल की श्रेणी के मन्त्री इंग्लैण्ड के मन्त्रिमण्डल की स्थिति के मन्त्रियों के समान होते है। उन्हे वेतन मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों के समान ही मिलता है। वे प्रशासनिक विभागों के या शासन के उप-विभागों के अध्यक्ष होते हैं। किन्तु वे मन्त्रिमण्डल की बैठकों मे उपस्थित नही होते; हा यदि प्रधान मन्त्री उन्हे किसी ऐसे विषय पर बातचीत करने के लिए आमन्त्रित करे जिसका सम्बन्ध उनके विभाग से हो, तो मन्त्रिमण्डल की बैठक मे वे भाग ले सकते है। कैबिनेट की स्थिति के मन्त्रियों में घटिया दर्जे के उपमन्त्री होते हैं। उपमन्त्रियों को न तो किसी विभाग का अध्यक्ष बनाया जाता है और न उन्हें उतना वेतन मिलता है जितना कि कैबिनेट की स्थिति के मन्त्रियों को मिलता है। उपमन्त्रियों का काम यह है कि वे सम्बद्ध विभाग

से सम्बन्धित प्रशासनिक और संसदीय कर्त्तव्यों के निर्वहन में मन्त्रियों को सहायता दे। भारत के उपमन्त्रियों की तुलना इग्लैण्ड के ससदीय सचिवों अथवा उपसचिवों से की जा सकती है, जो सत्तारूढ़ दल के नवयुवक सदस्य होते है और उक्त पदो पर उनकी योग्यता की जाच होती है तथा उस जाच के बाद ही वे बडे पदों के लिए निर्वाचित हो सकते है। सर्वश्री के० डी० मालवीय, एम० सी० शाह और ए० सी० गुहा ७ दिसम्बर, १९५४ तक उपमन्त्री ही थे; और तभी उन्हे राज्यमन्त्री के पदों पर लिया गया। इसके अतिरिक्त संसदीय सचिव भी हैं। यद्यपि मन्त्रिपरिषद् मे उनकी भी गणना की जाती है किन्तु वे मन्त्री नही है और न उनको मन्त्रियो की कोई शक्ति ही प्राप्त है। ससदीय सचिवो को ऐसे कार्य सौंपे जाते है जिन्हे सम्बन्धित विभाग का मन्त्री सौपना चाहे। केवल कुछ महत्त्वपूर्ण मंत्रालयों में ही ससदीय सचिव है। जून १९१२ मे इनकी संख्या ७ थी।

यद्यपि संविधान में मन्त्रिमण्डल का उपबन्ध नही है फिर भी यह भारतीय व्यवस्था का हृदय है। मन्त्रिमण्डल ही सर्वोच्च नीति-निर्णायक निकाय है जो न केवल समस्त कार्यपालिका सत्ता का संचालन और समन्वय करता है अपितु विधानमण्डल के विधान-निर्माण को भी दिशा प्रदान करता है। मन्त्रिमण्डल के मन्त्री लोग सामूहिक रूप से समवेत होते है तथा नीति-निर्णय करते है। और यह उन्ही मन्त्रियों का दायित्व है कि नीति की सही-सही क्रियान्विति हो। भारतीय मन्त्रि-परिषद् को भी इग्लैण्ड की मन्त्रि-परिषद् के ही समान कोई सामूहिक कृत्य नही सौंपे गए है। समस्त मन्त्रि-परिषद् कभी एक साथ एकत्रित नही होती और वह कभी नीति निर्धारित नही करती। नीति-निर्धारण मन्त्रिमण्डल (cabinet) का कर्त्तव्य है।

मन्त्रिपरिषद् का आकार (Size of the Council of Ministers)—संविधान ने मन्त्रिपरिषद् का आकार निश्चित नही किया है। समय की आवश्यकतानुसार ही प्रधान मन्त्री इसके आकार के बारे मे निर्णय करता है। पिछले दस वर्षो मे मन्त्रि-मण्डल के मन्त्रियों की संख्या १२ से लेकर १५ तक रही है। १९६३ में यह सख्या १९ तक बढ गई थी। प्रधान मन्त्री नेहरू ने इस विषय मे ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का आदर्श अपने सामने रखा था और परिणामस्वरूप मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियो की संख्या २० से नीचे ही रही।

मन्त्रिमण्डलीय शासन के सिद्धान्त
(Principles of the Cabinet Government)

मन्त्रिमण्डल, एक प्रेरक और मार्गदर्शक चक्र (Cabinet, the Driving and the Steering Force)—मन्त्रिमण्डल एक चक्र के अन्दर चक्र (A wheel within a wheel) है। उस चक्र का बाहरी घेरा वह सत्तारूढ दल है जिसका लोक-सभा मे बहुमत है तथा अन्दर का घेरा मन्त्रि-परिषद् है जिसमें ऐसे व्यक्ति हैं जो सत्तारूढ दल के सर्वाधिक क्रियाशील सदस्य है; और उस चक्र का सब से छोटा घेरा मन्त्रिमण्डल है जिसमे दल के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नेता रहते है। इस प्रकार दलीय कृत्यों की वह एकता प्राप्त होती है, जो समस्त दल की संचालन-शक्ति एक ऐसे छोटे से किन्तु प्रभावशाली निकाय के हाथो मे सौप देने से प्राप्त होती है, जो इतना छोटा होता

है कि आसानी से एकमतता और निर्णय प्राप्त किए जा सकते हैं और साथ ही इतना प्रभावपूर्ण होता है कि समस्त क्रियाकलापों को नियन्त्रित कर सकता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मन्त्रिमण्डल एक प्रेरक और मार्गदर्शक चक्र है।

इंग्लैण्ड मे जिस प्रकार का मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली प्रचलित है, वह कतिपय सस्थापित प्रथाओं, परम्पराओं और अभिसमयों पर आधारित है। इंग्लैण्ड की मन्त्रि-मण्डलीय शासन-व्यवस्था जिन सिद्धान्तो पर आधारित है उनको अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो गई है और अनेक लोकतन्त्रात्मक देशो के संविधान उन सिद्धान्तों पर निर्मित हुए हैं। भारतीय सविधान के अनुच्छेद ७४-७५ उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त का प्रति-पादन करते हैं। किन्तु सविधान के उपबन्ध न तो पूर्ण हैं, न स्पष्ट और स्थिर हे, तथा बहुत सी महत्त्वपूर्ण बारीकिया छोड़ दी गई हे जो प्रथाओं और अभिसमयो से पूर्ण होगी। इसमें एक बहुत भारी लाभ है। भारत मे मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली की क्रियान्विति मे अभिसमयो और परम्पराओ के लिए जो स्थान छोड दिया गया है, इससे समस्त शासन-व्यवस्था आनम्य अथवा लचीली बनी रहेगी, जिसके कारण समय की विशेष आवश्यकताओं के अनुसार भारतीय शासन-व्यवस्था अपने आप को उसी प्रकार अनुरूप बना लेगी जिस प्रकार कि हाल के इंग्लैण्ड के मन्त्रिमण्डलीय विकासों ने प्रदर्शित किया है। इसलिए यह लाभदायक होगा कि हम उन निम्न सिद्धान्तों की परीक्षा करे जिनके अनुसार भारतीय सविधान ने मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली की त्रियान्विति की रचना की है।

राज्य का संवैधानिक कार्यपालिका-प्रधान (A Constitutional Executive Head of the State)—प्रथमत· मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली के लिए यह आवश्यक है कि राज्य का कार्यपालिका प्रधान, चाहे वह राजा हो या राष्ट्रपति हो, ऐसा व्यक्ति नही होना चाहिए जो राष्ट्र के प्रति अपने कृत्यो के लिए उत्तरदायी हो अथवा जिसका देश के शासन-सचालन अथवा निर्णयों मे अन्तिम आदेश प्रभावी होता हो। मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली मे तो समस्त कार्यपालिका-शक्ति राज्य के सवैधानिक प्रधान के नाम मे वे राजनीतिज्ञ प्रयोग करते है जो विधानमण्डल के बहुमत के सदस्य होते हैं और जो देश के विधानमण्डल के प्रति व्यक्तिगत रूप से भी और सामूहिक रूप से भी अपने सभी सार्वजनिक कृत्यों के लिए उत्तरदायी होते हैं। चूंकि राज्य का सवैधानिक कार्यपालिका-प्रधान देश की राजनीति मे कोई भाग नही लेता, इसलिए वह अपने मन्त्रियों के उन गोपनीय वाद-विवादो और विचार-विनिमयों मे कोई भाग नही लेता जिनसे मन्त्री लोग विनिश्चय करते हैं कि वे उसको क्या मन्त्रणा देंगे।

भारतीय संविधान के निर्माताओ का यही उद्देश्य था कि भारत का राष्ट्रपति इंग्लैण्ड के राजा की तरह राज्य का संवैधानिक कार्यपालिका-प्रधान बने और वह अपनी मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा पर शासन करे। इसमें सदेह नही है कि सविधान मे कनाडा और दक्षिणी अफीका के संविधानो की ही तरह उसी पुरानी शब्दावली का प्रयोग हुआ है कि राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने मे सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी। किन्तु इस प्रकार जो मन्त्रणा राष्ट्रपति को दी जाएगी वह सर्वथा मान्य होगी। प्रस्तावित भारतीय शासन के स्वरूप की व्याख्या करते हुए डॉ०

अम्बेदकर ने स्पष्ट शब्दो मे संविधान सभा में कहा था—"भारत के राष्ट्रपति को सामान्यतः अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा स्वीकार करनी होगी। भारतीय राष्ट्रपति न तो मन्त्रियो की मन्त्रणा के विरुद्ध कुछ कर सकता है और न उनकी मन्त्रणा के बिना कुछ कर सकता है।"[1] यहां तक कि सविधान की भाषा और शब्दावली से भी यही ध्वनि निकलती है। भारतीय सविधान के अनुच्छेद ७८ (क) का आदेश है कि प्रधान मन्त्री सघ-कार्यो के प्रशासन-सम्बन्धी मन्त्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चयो को राष्ट्रपति के पास पहुचाए। अनुच्छेद ७८ (ग) का आदेश है कि प्रधान मन्त्री किसी विषय को, जिस पर किसी मन्त्री ने विनिश्चय कर लिया हो किन्तु मन्त्रि-परिषद् ने विचार नही किया हो, राष्ट्रपति के अपेक्षा करने पर मन्त्रि-परिषद् के सम्मुख रखवाए। इस प्रकार सविधान का आदेश है कि मन्त्रि-परिषद् और मन्त्री विनिश्चय करते है और वे उक्त विनिश्चयो के लिए लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है। सविधान ने कही भी शासन के किसी कृत्य के लिए राष्ट्रपति को उत्तरदायी नही ठहराया है। केवल इस कारण ही कि भारतीय सविधान मे कोई स्पष्ट उपबन्ध नही है कि राष्ट्रपति आवश्यकतः मन्त्रियों की मन्त्रणा पर ही कार्य करेगा, कैबिनेट शासन-प्रणाली का यह अटल सिद्धान्त विकृत नही हो जाता कि राज्य का प्रधान केवल औपचारिक कार्यपालिका प्रधान मात्र होता है और "सविधान मे मन्त्रि-परिषद् राष्ट्रपति को सहायता और मन्त्रणा देती है," इसका यह भी अर्थ नही है कि कैबिनेट शासन-प्रणाली का यह सिद्धान्त विकृत हो गया कि "राज्य के प्रधान को सदैव अपने उत्तरदायी मन्त्रियों की मन्त्रणा पर ही कार्य करना चाहिए।" ब्रिटिश उत्तरी अमरीका अधिनियम ने भी कुछ-कुछ इसी प्रकार का उपबन्ध किया है किन्तु फिर भी कनाडा का गवर्नर-जनरल बहुत काल से राज्य की कार्यपालिका के सवैधानिक प्रमुख के रूप मे कार्य कर रहा है। इसलिए सविधान के अनुसार भारत में मन्त्रि-परिषद् के कृत्य केवल परामर्श-दाता के से नही है। स्थिति वस्तुतः बिल्कुल विपरीत है; और राष्ट्रपति का सवैधानिक कर्त्तव्य है मन्त्रणा देना तथा मन्त्रियों का कर्त्तव्य है विनिश्चय करना।

हमारे सविधान मे कुछ ऐसे उपबन्ध भी है जो उत्तरदायी शासन के अंग्रेजी सिद्धान्तो के विपरीत है। अनुच्छेद ७७ (२) उपबन्धित करता है कि राष्ट्रपति द्वारा निष्पादित आदेशों का प्रमाणीकरण राष्ट्रपति द्वारा बनाए जाने वाले नियमों के अनुसार होगा। जिस प्रकार कि १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत प्रथा थी, आज भी, राष्ट्रपति की आज्ञाओ का प्रमाणीकरण एक सचिव द्वारा होता है। इंग्लैण्ड मे इस प्रकार का प्रमाणीकरण मन्त्री द्वारा होता है। फ्रास के चतुर्थ गणराज्य का सविधान उपबन्धित करता है कि—"गणराज्य के राष्ट्रपति के प्रत्येक निर्णय व कृत्य पर या तो मन्त्रि-परिषद् के प्रधान के या किसी मन्त्री के प्रति-हस्ताक्षर (Counter Signaturo) होने चाहिए।"[2] द्वितीयतः, ब्रिटिश प्रधान मन्त्री स्वयं अपने सहयोगी मन्त्रियों को चुनता है और वही उन्हे विभाग सौंपता है। इसके अतिरिक्त प्रधान मन्त्री समय-समय पर विभागों के वितरण या विभाजन पर पुनः विचार करता रहता है और उसे यह देखना

1. Constituent Assembly Proceedings, Vol. VIII, p. 53.
2. अनुच्छेद ३८

पड़ता है कि क्या कार्यक्षमता की दृष्टि से उक्त विभाग-विभाजन (allocation of offices) सर्वश्रेष्ठ है अथवा नही। भारतीय सविधान का अनुच्छेद ७७ (३) उपबन्धित करता है कि भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए मन्त्रियो में उक्त कार्य के बटवारे के लिए राष्ट्रपति नियम बनायेगा। किन्तु यदि एक बार उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाता है तो उक्त अनुच्छेद किसी भी हालत मे प्रधान मन्त्री के इस अधिकार को विकृत नही करता कि 'वही मन्त्रियो में विभागों का विभाजन करे।'

मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली में मन्त्री लोग संसदीय बहुमत म से लिये जाते हैं (Ministers chosen from Parliamentary Majority)—द्वितीयतः, मन्त्रि-मण्डलीय शासन-प्रणाली मे मन्त्री आवश्यकत' विधानमण्डल के सदस्य होते है और वे उस दल मे से लिये जाते है जिसका निर्वाचित सदन मे बहुमत होता है। इन दोनो तथ्यों का मौलिक महत्त्व है। विधानमण्डल की सदस्यता के कारण मन्त्रियों का स्वरूप प्रति-निधिक और उत्तरदायी हो जाता है और इसके कारण देश की कार्य-पालिका और व्यवस्थापिका मे सामजस्य रहता है, और फलस्वरूप शासन के इन दोनों अंगो में उद्देश्य-विरोध नही होने पाता। इस प्रकार की सहयोगपूर्ण सहकारिता के फलस्वरूप स्थायी और सहानुभूतिपूर्ण एव उत्तरदायी शासन की सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त विधान-मण्डल के सदस्य होने के नाते मन्त्रियो को पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं जब कि वे विधान-मण्डल के समक्ष अपने विचारो और प्रस्तावो को प्रस्तुत करें, उनकी वकालत करे और उनका समर्थन करे।

इग्लैण्ड मे अव यह सुस्थापित अभिसमय है कि मन्त्री लोग या तो लार्ड-सभा के सदस्य (peers) हो या लोक-सभा के सदस्य। किन्तु ऐसा कोई लिखित वैधिक नियम नही है कि मन्त्री नियुक्त होते समय उसे ससद् का सदस्य अवश्य होना चाहिए। ऐसी भी कोई निश्चित कालावधि नही है जिसमे उक्त मन्त्री को ससद् की सदस्यता अर्जित कर लेनी चाहिए। जनरल स्मट्स विभाग-विहीन मन्त्री थे और १९१६ से प्रथम विश्व-युद्ध के अन्त तक युद्ध-मन्त्रिमण्डल के सदस्य रहे, यद्यपि वह ससद् के सदस्य नही थे। रैम्जे मैक्डानल्ड और मालकम मैकडानल्ड दोनो मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे, यद्यपि नवम्वर १९३५ से १९३६ के प्रारम्भ तक वे संसद् के सदस्य नही थे। किन्तु ऐसा कभी-कभी ही हो सकता है और मन्त्री लोग संसद् से बाहर केवल इतने समय तक के लिए ही रहते है जितने मे उन्हे ससद् के लिए निर्वाचित होने को स्थान मिले। यदि वे किसी प्रकार संसद् मे स्थान प्राप्त करने में असफल रहते है और यदि वे लार्ड-सभा मे जाना पसन्द नही करते तो उनको मन्त्रि-पद से त्याग-पत्र देना पड़ता है। कनाडा में विधानमण्डल का सदस्य न होने पर भी कोई व्यक्ति मन्त्री बनाया जा सकता है। कम-से-कम विधि का इस दिशा में प्रतिवन्ध नही है। किन्तु अभिसमय के अनुसार उचित समय के भीतर ऐसे मन्त्री को संसद् के किसी सदन की सदस्यता अर्जित कर लेनी चाहिए, अन्यथा उसे त्याग-पत्र देना होगा। आस्ट्रेलिया के सविधान का उपवन्ध है कि "राज्य का कोई मन्त्री यदि सीनेट (Senate) या प्रतिनिधि भवन का सदस्य नही है तो तीन मास से अधिक

अपने मन्त्रि-पद पर नही रह सकता।"[1] दक्षिणी अफ्रीका के सविधान मे भी लगभग ऐसा ही उपवन्ध है जैसा कि आस्ट्रेलिया के सविधान मे है।[2] श्रीलंका का सविधान-सपरिषद्-आदेश कहता है—"यदि कोई मन्त्री लगातार चार मास तक विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य नही है, तो उक्त कालावधि के समाप्त हो जाने पर उक्त मन्त्री अपने पद से हट जाएगा।"[3]

भारतवर्ष में ऐसे व्यक्ति के मन्त्री बनने पर कोई प्रतिबन्ध नही है जो ससद् का सदस्य न हो। भारत मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे, जिनमे ऐसे व्यक्ति मन्त्री नियुक्त कर दिए गए जो संसद् के सदस्य नही थे। उदाहरणार्थ, डॉ० जॉन मथाई, श्री राजगोपालाचार्य, श्री श्रीप्रकाश, श्री सी० डी० देशमुख, सरदार स्वर्णसिंह, प० गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री वाई० बी० चह्वाण और श्री सजीव रेड्डी के नाम लिये जा सकते हैं। किन्तु अनुच्छेद ७५(५) मे भारतीय सविधान का आदेश है कि कोई मन्त्री जो निरन्तर छ. मास की किसी कालावधि तक ससद् के किसी सदन का सदस्य न रहे, उस कालावधि की समाप्ति पर मन्त्री नही रहेगा। इस उपवन्ध का स्पष्ट अर्थ है कि प्रत्येक मन्त्री के लिए मन्त्री-पद अर्जित करने के उपरान्त, यदि वह पहले ही से ससद् का सदस्य नही है छः मास की कालावधि मे ससद् के किसी भी सदन की सदस्यता अर्जित कर लेनी होगी।

भारत के सविधान ने स्पष्टतः उपवन्धित नही किया है कि प्रधान मंत्री आवश्यकतः ससद् के बहुमत दल का ही नेता हो। सविधान ने यह भी नही बतलाया कि प्रधान मत्री अपने मन्त्रियों का चयन किस प्रकार करे। किन्तु सविधान ने उपबन्धित किया है कि समस्त मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होगी; इसलिए यह स्वाभाविक है कि मन्त्रि परिषद् के सभी सदस्य किसी एक ही दल के व्यक्ति हो जिनका एक नीति में विश्वास हो। मन्त्रिमण्डल का स्वाभाविक अर्थ है एकता, और एकता को प्राप्त करने का साधन है सामूहिक उत्तरदायित्व। मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली मे मुख्यतः एक टीम (team) की भाति सारा कार्य चलता है और यह टीम-भावना (team spirit) और किसी प्रकार प्राप्त नही की जा सकती। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने १९५० मे जिस मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया था, उसमें संसद् के अन्य दलो के सदस्य भी लिये थे और कुछ स्वतन्त्र सदस्य भी थे।[4] श्री नेहरू का प्रथम मन्त्रिमण्डल हर प्रकार से राष्ट्रीय सरकार का स्वरूप था। इस सम्बन्ध मे श्री नेहरू ने ब्रिटिश परम्पराओ का अनुसरण किया। उस स्थिति में भी भारत को सभी दलो के सहयोग की नितान्त आवश्यकता थी ताकि कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना किया जा सके और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण को सही दिशा प्रदान की जा सके। वर्तमान मन्त्रि-परिषद् में केवल कॉग्रेस के ही सदस्य है और यह केवल

1. आस्ट्रेलिया के सविधान का अनुच्छेद ६४।
2. दक्षिणी अफ्रीका के सविधान का अनुच्छेद १४(१)।
3. श्रीलका के सविधान का अनुच्छेद ४९ (२)।
4. स्वतंत्र सदस्य निम्न थे—डा० बी० आर० अम्बेदकर, डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, सरदार बलदेव सिंह, श्री गोपालस्वामी आयंगर और श्री षण्मुखम चेट्टी।

एक दल की ही सरकार है। अक्टूबर-नवम्बर १९६२ में होने वाले चीनी आक्रमण के दिनो मे भी प्रधान मन्त्री ने अन्य दलो के सहयोग से बनाए जाने वाले मन्त्रि-मण्डल का सुझाव अशक्य समझा था।

परन्तु भारत मे एक अस्वस्थ प्रथा का विकास हो गया है। अब बहुधा संघ-मन्त्री राज्यपाल नियुक्त किए जाने लगे हैं और उसी तरह से उन्हें राजभवन से हट कर मन्त्रीय कुर्सियों को सजाने का आदेश दिया जाता है। श्री राजगोपालाचार्य पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल पद से अवकाश पाकर संघ गृह-मंत्री बने थे। श्री श्रीप्रकाश, श्री कैलाश नाथ काटजू और श्री हरिकृष्ण महताब आदि कुछ एक व्यक्ति हैं जो एक पद से हट कर दूसरे पद पर कार्य करते रहे हैं। अब तो अवकाश-प्राप्त स्पीकर को भी नही छोड़ा जाता। श्री अनन्त शयनम् आयगर १९६२ के आम चुनावो मे पुन: निर्वाचित होने पर भी बिहार के राज्यपाल नियुक्त किए गए।

प्रधान मन्त्री का नेतृत्व (Leadership of the Prime Minister)—मन्त्रि-मण्डल अथवा कैबिनेट खिलाड़ियों की एक टीम होती है जो राजनीति का खेल प्रधान मन्त्री की अधीनता (captaincy) मे खेलती है। मॉर्ले (Morley) के अनुसार प्रधान मंत्री मन्त्रिमण्डल के वृत्तखण्ड का मुख्य पत्थर (Key-stone) है। यद्यपि मन्त्रिमण्डल मे सभी मन्त्री समान हैं, सभी समान प्रभाव के साथ बोलते हैं और सब समान दिशा मे कार्य करते हैं, फिर भी कैबिनेट का अध्यक्ष समान स्थिति वालो मे प्रथम होता है और उसकी स्थिति विशेष गौरवपूर्ण और अधिकारपूर्ण होती है। संसद् के बहुमत वाले दल का वह नेता होता है और अन्य सभी मन्त्री उसी के नेतृत्व मे कार्य करते हैं। इसमें सन्देह नही है कि विधानत: मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है किन्तु वास्तविक व्यवहार मे वे प्रधान मन्त्री के ही नाम-निर्देशित व्यक्ति होते हैं और राष्ट्रपति तो उस सूची की स्वीकृति भर करता है जिसको प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करता है। यदि प्रधान मन्त्री को मन्त्री नियुक्त करने का अधिकार है तो उसे मन्त्री को अपदस्थ करने का भी अधिकार है। मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली मे बिना प्रधान मन्त्री के मन्त्रियो की कोई स्थिति नही है। संक्षेप मे, दल, दलीय भावना के अनुसार कार्य करता है और शासन के अंग के रूप मे दल, प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में अपनी निरन्तर संसृष्ट स्थिति को कायम रख सकता है। इस सबके फलस्वरूप एकता प्राप्त होती है और मन्त्रियों मे, मन्त्रिमण्डल मे और संसदीय बहुमत मे निकट सहयोग बना रहता है।

भारत के संविधान ने प्रधान मन्त्री की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति को स्वीकार किया है। संविधान का आदेश है कि "एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधान मन्त्री होगा।"[1] पुन: संविधान का आदेश है कि "प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर करेगा।"[2] इंगलैण्ड में वॉलपोल के समय से ही, स्वयं प्रधान मन्त्री ही अपने मन्त्री चुनता है।

1. अनुच्छेद ७४ (१) 2. अनुच्छेद ७५ (१)

भारतीय संविधान ने भी उक्त अभिसमय का आदर किया है। यद्यपि संविधान का उपबन्ध तो यह है कि राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करेगा, किन्तु राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा मानने पर बाध्य है, जिस प्रकार कि इंग्लैण्ड का राजा प्रधान मन्त्री की मन्त्रियों की सूची को स्वीकार कर लेता है। इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ० अम्बेदकर ने संविधान सभा में कहा था—"जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, सामूहिक उत्तरदायित्व केवल प्रधान मन्त्री के कारण ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए प्रधान मन्त्री ही वास्तव में मन्त्रिमण्डल रूपी वृत्त खण्ड की मुख्य शिला (keystone of the arch of the cabinet) है और जब तक प्रधान मन्त्री का पद इस संवैधानिक अधिकार से सज्जित न होगा, जो मन्त्रियों को नियुक्त और वियुक्त कर सके, तब तक सामूहिक उत्तरदायित्व केवल दिवा स्वप्न के समान होगा।"[1]

मन्त्रीय उत्तरदायित्व (Ministorial Responsibility)—मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली का सार, मन्त्रीय उत्तरदायित्व है, और सामूहिक उत्तरदायित्व ब्रिटेन की महान् देन है जो उसने आधुनिक व्यवस्थाओं को दी है। मन्त्रीय उत्तरदायित्व के दो अर्थ हैं। प्रथमतः कैबिनेट का मन्त्री प्रशासनिक विभाग का अध्यक्ष होता है और उक्त विभाग के समस्त क्रियाकलापों के लिए वह व्यक्तिगत रूप मे उत्तरदायी होता है। उक्त उत्तरदायित्व के अलावा प्रत्येक मन्त्री बहुत सीमा तक सामूहिक रूप से शासन के अन्य सदस्यों के साथ उत्तरदायी होता है। इस प्रकार अपने विभाग के अतिरिक्त जो कुछ भी अन्य सार्वजनिक विभागों में कार्यकलाप होते है उन सबके लिए समस्त कैबिनेट सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। समस्त मन्त्रि-परिषद् एक इकाई है। सभी मन्त्री एक इकाई के रूप में अपने पदो पर आते है और इन्हें इकाई के रूप में ही अपने पद छोडने पड़ते है। सभी मन्त्री एक ही दल के व्यक्ति होते है और वे सब एक ऐसे व्यक्ति के नेतृत्व मे कार्य करते हैं जिसको दल अपना नेता मानता है; और इसीलिए सभी मन्त्री साथ-साथ डूबते हैं और साथ ही तैरते है। मन्त्रि-मण्डल का सार है परस्पर अधीनता अथवा समान उद्देश्य (common front), इसीलिए मन्त्रिमण्डल के प्रत्येक सदस्य के लिए आवश्यक है और मन्त्रिमण्डल के बाहर प्रत्येक राजनीतिक अधिकारी के लिए भी यह जरूरी है, चाहे उस अधिकारी की स्थिति कुछ भी हो, कि एक ऐसी सर्वनिश्चित नीति पर चले, जिसके लिए सभी समान रूप से उत्तरदायी हैं और जिस नीति पर चलने के फलस्वरूप सभी या तो साथ-साथ शासन में रहेंगे या साथ-साथ शासन छोड देंगे। ऐसा मन्त्री, जो मन्त्रिमण्डल के विनिश्चय का समर्थन न कर सके, मन्त्रिमण्डल में नही रह सकता, उसे पद त्याग देना चाहिए। यदि कोई मन्त्री त्यागपत्र नही देता, तो मन्त्रिमण्डल का विनिश्चय उस का विनिश्चय भी समझा जाएगा, चाहे मन्त्रिमण्डल मे उक्त प्रश्न पर उसने अपना विरोध भी प्रकट किया हो। इसलिए एक मन्त्री का कर्त्तव्य यही नही है कि वह विधानमण्डल मे शासन का समर्थन करे, बल्कि यह भी उसका परम पुनीत कर्त्तव्य है कि वह विधानमण्डल

---

1. Constituent Assombly Proceedings, Vol. VII, p. 1160.

के बाहर भी कोई ऐसी बात न कहे जो मन्त्रिमण्डल की नीति के विरुद्ध हो अथवा वह नीति सम्बन्धी कोई ऐसी घोषणा न करे जिस पर कैबिनेट ने अपना निर्णय न किया हो।

भारतीय संविधान ने स्पष्टतः उपबन्धित किया है कि मन्त्रि-परिषद् लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।[1] 'मन्त्रिमण्डल का संसद् के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व'' ब्रिटेन की आधुनिक शासन-व्यवस्था को अनुपम देन है, और उक्त उपबन्ध, ब्रिटेन की इसी देन की संवैधानिक मान्यता है। इसलिए भारतीय संविधान के निर्माताओं ने इस आधुनिक प्रथा को अपनाते हुए उस ब्रिटिश अभिसमय को संविधान मे स्थान दिया जिसके अनुसार समस्त मन्त्री लोग प्रतिनिधि सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते है। इसके यह अर्थ है कि मन्त्रि-परिषद् तब तक शासन पर पदासीन रह सकती है जब तक कि उसे लोक-सभा का विश्वास प्राप्त रहे; और लोक-सभा का विश्वास तब तक उसको प्राप्त रह सकता है जब तक कि लोक-सभा का बहुमत मन्त्रि-परिषद् की नीति और प्रशासन का समर्थन करता रहे।

हमारे संविधान मे प्रत्येक मन्त्री व्यक्तिगत रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी नही ठहराया गया है। संविधान मे व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का उपबन्ध ही नही है। इसके विपरीत संविधान उपबन्धित करता है कि ''मन्त्री लोग राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद धारण करेंगे''[2] और ''मन्त्रि-परिषद्, लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।''[3] इससे यह अर्थ निकलता है कि राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों को तो हटा सकता है किन्तु उसे मन्त्रि-परिषद् को हटाने का अधिकार नही है। संसदीय कार्य-प्रणाली नियम, १९५० (The Rules of Procedure and Conduct of Business in Parliament, 1950), ने भी यही व्यवस्था की है कि समूची मन्त्रि-परिषद् के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव लाया जा सकता है किन्तु व्यक्तिगत मन्त्रियों के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव नही लाया जा सकता। डॉ० अम्बेदकर ने, जो 'संविधान प्रारूप समिति' के चेयरमैन थे, इस प्रश्न के सम्बन्ध मे विचार व्यक्त करते हुए संविधान सभा मे कहा था—''सभा के सभी सदस्य चाहते है कि हमारा मन्त्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर कार्य करे और सभी एकमत है कि यह अच्छा सिद्धान्त है। किन्तु मै नही कह सकता कि कोई सदस्य यह भी समझते है कि उक्त उत्तरदायित्व किस प्रकार प्रवर्तित किया जाए। स्पष्ट है कि विधि के दबाव से सामूहिक उत्तरदायित्व प्रवर्तित नही कराया जा सकता। मान लीजिए कि कोई मन्त्री, मन्त्रिमण्डल के अन्य मन्त्रियों के विचारों से सहमत नही है और उसने अपने उन विचारों को व्यक्त कर दिया जो मन्त्रिमण्डल के विचारों के विरुद्ध है, तो ऐसी स्थिति में विधि कुछ नही कर सकेगी और न मन्त्री के विरुद्ध सामूहिक उत्तरदायित्व के उल्लंघन के लिए मुकदमा चलाया जा सकता है। स्पष्ट है कि सामूहिक उत्तरदायित्व विधि के बल पर प्रवर्तित नही कराया जा सकता। केवल प्रधान मन्त्री के पद के द्वारा ही सामूहिक उत्तरदायित्व प्रवर्तित कराया

1. अनुच्छेद ७५ (३) 2. अनुच्छेद ७५ (२) 3. अनुच्छेद ७५ (३)

जा सकता है। मेरा विचार है कि सामूहिक उत्तरदायित्व दो सिद्धान्तों के आधार पर प्रवर्तित कराया जा सकता है। प्रथम सिद्धान्त तो यह है कि मन्त्रिमण्डल में कोई मन्त्री बिना प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा के नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। द्वितीय सिद्धान्त यह है कि यदि प्रधान मन्त्री चाहे कि कोई मन्त्री उसके मन्त्रिमण्डल में से हट जाना चाहिए तो वह मन्त्री अवश्य हट जाए। जब कैबिनेट के सभी मन्त्री यह समझ लेंगे कि उनकी मन्त्रीरूप में नियुक्ति और वियुक्ति प्रधान मन्त्री के अधिकार में है, तभी हम समस्त मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व प्रवर्तित कर सकेंगे। मेरी समझ में सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को किसी अन्य साधन के द्वारा प्रवर्तित नहीं कराया जा सकता।"[1]

किन्तु, क्या प्रधान मन्त्री किसी ऐसे मन्त्री को अपदस्थ कर देंगे जो या तो समूचे मन्त्रिमण्डल की नीति से सहमत न हो, या जो कई ऐसा कार्य कर बैठे जिससे समूचे मन्त्रिमण्डल की परस्पर आधीनता या पूर्णता अथवा स्थिरता में बाधा पहुचती हो। इसमें सदेह है कि प्रधान मन्त्री सिवाय अत्यन्त विकट परिस्थिति के कभी मंत्री को अपदस्थ कराना चाहेगा, और हमको आशा करनी चाहिए कि ऐसा सकटकाल भी कभी नहीं आएगा। *इंग्लैण्ड में ऐसी परम्परा है, अथवा कहानी है कि "कोई मन्त्री मन्त्री-पद का* भूखा नहीं है, किन्तु वह सार्वजनिक हित में अपने पद पर बना रह सकता है।"[2] इस परम्परा के अनुसार ज्योंही प्रधान मन्त्री का इशारा होगा कोई भी मन्त्री त्यागपत्र देने को प्रस्तुत हो जाएगा। आशा करनी चाहिए कि यह परम्परा भारत में भी घर कर लेगी और यहा भी सार्वजनिक जीवन में सभी लोग केवल सार्वजनिक हित की भावना से ही प्रवेश करेंगे। और यह भी आशा करनी चाहिए कि प्रधान मन्त्री से इशारा पाते ही कोई भी मन्त्री त्यागपत्र देने को प्रस्तुत हो जाएगा, अन्यथा स्वयं मन्त्री लोग अपनी ओर से त्यागपत्र दे देंगे जिस प्रकार कि सर्वश्री षण्मुखम् चेट्टी, डॉ० जॉन मथाई, डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, के० सी० नियोगी, एच० सी० भाभा, मोहनलाल सक्सेना, वी० वी० गिरि, अजितप्रसाद जैन तथा कृष्ण मेनन ने त्यागपत्र दे दिये थे।

गोपनीयता (Secrecy)—यदि सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को प्रभावी ढग से प्रवर्तित कराना है तो यह आवश्यक है कि कैबिनेट के विचार-विनिमय गोपनीय हों और इसकी कार्रवाइया पूर्ण सुरक्षित एवं गोपनीय रखी जाएं। लॉर्ड सैलिसबरी ने कहा था—"मन्त्रिमण्डल में ऐसे लोग विचार-विनिमय करते है जो नीति-निर्माण सम्बन्धी निर्णय करने के उद्देश्य से मिल कर एक सार्वजनिक निकाय के रूप में कार्य करते हैं। यदि आप चाहते है कि ऐसे लोग बुद्धिमत्तापूर्वक समझदारी एव विवेक के साथ स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत करें तो वादविवाद की गोपीयता की रक्षा के लिए वादविवाद पर एकदम कठोर प्रतिबन्ध लगाने ही पड़ेगे।"[3] "विचार-विनिमय में व्यक्त किये गए विचारों को प्रकाश में लाने से मन्त्री लोग एक-दूसरे के सामने खुल कर विचार न रख सकेंगे; और इस प्रकार विचारों में एकरूपता कभी न आ सकेगी। मन्त्रिमण्डल की कार्रवाइयों को गोपनीय रखने का व्यावहारिक लाभ यह होगा कि वादविवाद खुल कर हो सकेंगे; और

---

1. Constituent Assembly Proceedings, Vol. VII, p p. 1159-60.
2. Jennings : Cabinet Government, p. 97.
3. Cecil, Gwendolen : Life of Lord Salisbury, Vol. II, p. 223.

मुक्त वादविवाद के फलस्वरूप समझौता हो जाएगा और यह भय नहीं रहेगा कि किसी मन्त्री ने वाद-विवाद में क्या बात कही और किस बात में वह झुक गया, ये तथ्य प्रकाश मे नही आयेंगे।"[1] इसके अतिरिक्त यदि यह प्रकाश मे आ जाएगा कि मन्त्रियों में क्या मतभेद थे; तो समस्त दल उस निर्धारित नीति का समर्थन नही कर सकेगा। पुनः, मतभेद प्रकाश मे आ जाने से विरोधी दल को शासन की आलोचना करने के अनेक अवसर प्राप्त होते है, क्योकि विरोधी दल तो सदैव इस ताक में रहता है कि सत्तारूढ़ दल को किधर से दवाया जाए।

इस प्रकार गोपनीयता, संसदीय शासन-प्रणाली की जान है। गोपनीयता से राजनीतिक एकमतता प्राप्त होती है। और राजनीतिक एकमतता, गोपनीयता की आवश्यक शर्त है। इग्लैण्ड मे मन्त्रिमण्डल की कार्रवाइयों की गोपनीयता विधि और अभिसमयो द्वारा पूर्ण सुरक्षित रहती है। सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के वाद-विवादो की गोपनीयता के सम्बन्ध में केवल एक अपवाद है कि यदि मन्त्रिमण्डल मे विचार-विभिन्नता के कारण कोई मन्त्री त्यागपत्र देता है, तो उसे सदन के समक्ष व्यक्तिगत सफाई देने की छूट रहती है, यद्यपि उस पर वाद-विवाद की मांग नही की जा सकती। किन्तु यह आवश्यक है कि इसके लिए त्यागपत्र देने वाले मन्त्री को प्रधान मन्त्री के माध्यम द्वारा सम्राट् की तदर्थ अनुमति लेनी होगी।[2] और ऐसी अनुमति अवश्य मिल जाती है। मन्त्री सफाई केवल त्यागपत्र मे सम्बन्धित विवाद पर ही दे सकता है और वह मन्त्रिमण्डल के अन्य गोपनीय विषय प्रकाश मे नही ला सकता।

भारत मे भी मन्त्रिमण्डल एक गोपनीय निकाय है और वह विनिश्चयों के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। प्रत्येक मन्त्री को मन्त्री-पद पर आसीन होने से पूर्व गोपनीयता की शपथ लेनी पड़ती है। उक्त शपथ के द्वारा प्रत्येक मन्त्री सवैधानिक रूप से वाध्य है कि वह कैबिनेट के किसी भेद को नही खोलेगा।[3] इसके अतिरिक्त कैबिनेट के विनिश्चय राष्ट्रपति की सेवा मे उसकी स्वीकृति के लिए भेजे जाते है और राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है, तभी मन्त्रिमण्डल द्वारा की गई मन्त्रणा प्रकाश मे लाई जा सकती है। यदि कोई मन्त्री मतभेद के कारण त्यागपत्र देता है तो ससदीय कार्य-प्रणाली के नियमों ने मन्त्री को आज्ञा दी है कि वह सदन के समक्ष व्यक्तिगत सफाई दे सकता है, किन्तु उक्त सफ़ाई पर वादविवाद की आज्ञा नही मिल सकती।[4] श्री सी० डी० देसमुख

---

1. Keith : The British Cabinet System, p. 248.

2. १९३४ में लॉर्ड मैलबोर्न ने आपत्ति की थी कि क्यों सम्राट् ने बिना प्रधान-मन्त्री से पूछे आज्ञा दी। उन्होंने कहा कि "सम्राट् सीधे, बिना प्रधान मन्त्री के पूछे कार्रवाई नही कर सकता और इस प्रकार उन सिद्धान्तों पर आच आती है जिन पर इस देश का शासन सदा से चलता आ रहा है।"

3. अनुच्छेद ७५ (४)।

4. नियम १२८ इस प्रकार है—"(१) किसी ऐसे सदस्य को जिसने मन्त्री-पद त्याग दिया है, स्पीकर की आज्ञा पर अपने त्यागपत्र के सम्बन्ध में व्यक्तिगत सफाई

ने राज्य-पुनर्गठन के प्रश्न पर त्यागपत्र देते समय इस प्रकार व्यक्तिगत सफाई सदन के समक्ष दी थी। इस प्रकार भारतीय संसद् की कार्य-प्रणाली के नियमों में ब्रिटिश अभिसमयों पर प्रयोग हो रहा है।

भारत ने मन्त्रिमण्डल-सचिवालय की स्थापना करके ब्रिटिश उदाहरण का अनुसरण किया है। मन्त्रिमण्डल-सचिवालय के निम्न मुख्य कर्त्तव्य है—प्रधान मन्त्री के निर्देशन में मन्त्रिमण्डल की सभाओं के लिए कार्यक्रम तैयार करना, मन्त्रिमण्डल के विनिश्चयों को लेखबद्ध करके सम्बन्धित विभागों को प्रेषित करना, और मन्त्रिमण्डल के विचारार्थ आवश्यक सामग्री जुटाना। मन्त्रिमण्डल की सारी कार्रवाई गुप्त रखी जाती है और कार्रवाई के सम्बन्ध मे कोई वक्तव्य समाचार-पत्रों को नही दिए जाते। मन्त्रिमण्डल की कार्रवाइयो के समस्त विवरण पूर्ण गुप्त रखे जाते है। इग्लैण्ड में मन्त्रिमण्डल के सचिव को स्थायी आदेश है कि जिस समय वह कार्रवाई के विवरण तैयार करे, व्यक्तिगत मन्त्रियों के किसी विषय पर व्यक्तिगत विचार उक्त विवरण मे न दिए जाएं; और कार्रवाइयों के विवरण इतने सक्षिप्त होने चाहिए कि प्राय. केवल मन्त्रियों द्वारा किए गए विनिश्चय ही दिए जाए। भारत मे इस दिशा मे क्या प्रक्रिया अपनाई जा रही है, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नही है। फिर भी ऐसी आशा करनी चाहिए कि इस ओर भी ब्रिटिश प्रथा के अनुसार ही कार्य हो रहा है।

कैबिनेट के कृत्य
(Functions of the Cabinet)

शासन-तन्त्र समिति की १९१८ की रिपोर्ट के अनुसार इग्लैण्ड के मन्त्रिमण्डल के तीन मुख्य कृत्य है—

(क) मन्त्रिमण्डल अन्तिम रूप से नीति निर्धारित करके ससद् के विचारार्थ प्रस्तुत करता है;

(ख) संसद् द्वारा व्यवस्थित सर्वोच्च कार्यपालिका नीति के अनुसार राष्ट्र की कार्यपालिका सत्ता का सर्वोच्च नियन्त्रण करता है;

(ग) शासन के विभिन्न विभागों मे सामंजस्य और उनके हितो की सीमाओं का स्थिरीकरण करता है।

कैबिनेट के कृत्यों के सम्बन्ध मे इससे अधिक सही वक्तव्य आज तक नही दिया गया है। चूकि भारत ने स्वेच्छया ससदीय शासन-प्रणाली को अपनाया है और ससदीय प्रणाली मे कैबिनेट ही वह चूल या धुरा है जिसके चारो ओर समस्त शासन-यन्त्र घूमता है, इसलिए कैबिनेट के कृत्यो की परीक्षा उन्ही कृत्यों की छाया मे करनी चाहिए जिनका शासन-तन्त्र समिति ने भी वर्णन किया है।

देने की छूट होगी। (२) इस प्रकार का सफाई-सम्बन्धी वक्तव्य प्रश्नों के बाद किन्तु दिन की अन्य कार्रवाई प्रारम्भ होने से पूर्व पढा जाएगा (३) इस प्रकार के वक्तव्य के सम्बन्ध मे कोई वादविवाद नही होगा; किन्तु वक्तव्य दिए जाने के पश्चात् कोई मन्त्री यदि चाहे तो उक्त वक्तव्य दे सकेगा।'

नीति-निर्धारण सम्बन्धी कृत्य (Policy Determining Functions)—जैसा कि बताया भी जा चुका है, कैबिनेट एक विचारशील नीति-निर्णायक निकाय है। कैबिनेट ही सब प्रकार की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विनिमय करती है, और उक्त विचार-विनिमय के फलस्वरूप एकमत होकर शासन की नीति पर विनिश्चय किए जाते है। कैबिनेट, ससद् और सारे संसार के समक्ष एक नीति प्रस्तुत करती है और यही उस सामूहिक उत्तरदायित्व का सार है, जिसकी सविधान ने आज्ञा दी है। यदि कोई व्यक्तिगत मन्त्री कैबिनेट द्वारा निर्धारित नीति से सहमत नही है, तो वह केवल त्यागपत्र दे सकता है जैसा कि डॉ० श्यामा प्रसाद मुखर्जी, श्री के० सी० नियोगी, सी० डी० देशमुख तथा कई अन्य मन्त्रियो ने किया था।

जिस समय कैबिनेट नीति निर्धारित कर चुकती है, सम्बद्ध विभाग, उक्त निर्धारित नीति की क्रियान्विति या तो प्रवर्तित विधि के अनुसार करते है या संसद् में तदर्थ नया विधेयक पुर स्थापित करते है। इस प्रकार व्यवस्थापिका, प्रशासन की चेरी है और कैबिनेट ही वह साधन है जो शासन के कार्यपालिका अग को व्यवस्थापिका से जोड़ता है। इस प्रकार कैबिनेट ही ससद् को कार्रवाई करने का आदेश देती है और जब तक ससद् के बहुमत का हाथ कैबिनेट की पीठ पर रहता है, कैबिनेट अपनी नीति ससद् मे स्वीकार करा लेती है।

ये कैबिनेट के मुख्य-मुख्य व्यवस्थापक कृत्य है। "किन्तु आधुनिक राज्य मे" जैनिग्ज के अनुसार, "अधिकतर व्यवस्थापिका-कृत्यों का उद्देश्य यह होता है कि प्रशासनिक अधिकारो मे रूप-भेद किया जाए", इसलिए व्यवस्थापन और प्रशासन मे स्पष्ट विभाजन-रेखा खीचना सरल नही है। ससद् के प्रत्येक अधिवेशन के प्रारम्भ मे कैबिनेट ही व्यवस्थापन-सम्बन्धी कार्यक्रम तैयार करती है, शासन की ओर से पुर स्थापित किए जाने वाले विधेयकों को या तो कोई कैबिनेट का मन्त्री या कैबिनेट की स्वीकृति पर कोई अन्य मन्त्री पुर.स्थापित करता है। कोई मन्त्री स्वेच्छया किसी विधेयक को ससद् मे पुर.स्थापित नही कर सकता, और यह निर्णय करना कैबिनेट का काम है, कि ससद् के किसी अधिवेशन मे किस-किस विधेयक को पुर.स्थापित किया जाय। इसलिए व्यवस्थापन के सम्बन्ध मे कैबिनेट का मन्त्रि-परिषद् के ऊपर पूर्ण और प्रभावी नियन्त्रण रहता है। इग्लैण्ड की कैबिनेट के नीति-निर्णायक कृत्यो को गिनाते हुए ऑग (Ogg) ने ठीक ही कहा था, "कैबिनेट के मन्त्री लोग नीति-निर्धारण करते हैं, विनिश्चय करते हैं, और प्रत्येक विषय पर विधेयकों के प्र.रूप तैयार करते हैं जिनको वे विधि-रूप में पास कराना चाहते है। और इसके बाद ससद् को आज्ञा देते है कि वह उनकी नीतियों और विनिश्चयो पर विचार करे तथा आवश्यक मतदान करे तथा उन्हें स्वीकृत भी करे।" इसमे तनिक भी अतिशयोक्ति नही है कि वास्तविक व्यवस्थापन, ससद् की मन्त्रणा और स्वीकृति पर, कैबिनेट ही करती है।

राष्ट्र की कार्यपालिका सत्ता का सर्वोच्च नियन्त्रण (Supreme Control of the National Executive)—भारतीय मन्त्रिमण्डल को कार्यपालिका सत्ता इस अर्थ मे नही कहा जा सकता कि विधि ने कार्यपालिका सत्ता मन्त्रिमण्डल को नही सौंपी है। सविधान ने तो सघ की कार्यपालिका-शक्ति राष्ट्रपति मे निहित की है और वह

इस शक्ति का प्रयोग संविधान के अनुसार या तो स्वयं करे या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करे।[1] वास्तविक अधिकारी मन्त्री लोग होते है। ये मन्त्री लोग शासन के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते है और वे ही मंत्रिमण्डल द्वारा निर्धारित एव संसद् द्वारा स्वीकृत नीति को क्रियान्वित कराते हैं। अपने अपने विभागों मे कार्य-सचालन मे मन्त्रियों को, चाहे वे मन्त्रिमण्डल के मन्त्री हो, चाहे न हो, कैबिनेट के विनिश्चयों और नीतियों की क्रियान्विति मे कैबिनेट के आदेशों का अनुसरण करना आवश्यक हैं। कैबिनेट के विनिश्चयों और उसकी निर्धारित नीतियों के विरुद्ध आचरण को दलीय अनुशासन की अवहेलना समझा जाता है, और फलस्वरूप ऐसा कोई मन्त्री, जो दलीय एकता को आक्रान्त करता है, हटाया जा सकता हैं। इस प्रकार भारतीय मन्त्रिमण्डल वास्तव मे सर्वोच्च राष्ट्रीय कार्यपालिका है यद्यपि संविधान ने कार्यपालिका-सत्ता राष्ट्रपति मे निहित की है।

कैबिनेट और मन्त्रियों को जो प्रत्यायुक्त व्यवस्थापन (delegated legislation) का अधिकार मिल गया है उससे भी उनकी कार्यपालिका-शक्ति मे वृद्धि हुई है। इन दिनों व्यवस्थापन कार्य बहुत बढ़ गया है और बहुत कुछ प्राविधिक (technical) हो गया है; और संसद् प्रायः विधियों को मात्र रूपरेखा स्वरूप मे (in skeleton form) पारित करती है, और उक्त रूपरेखा को मन्त्रि-परिषद् अथवा सम्बन्धित विभागों के अध्यक्ष मन्त्री पूर्ण करते है और वे ही नियम (rules) अथवा विनियम (regulations) बना कर उक्त विधियों को क्रियान्वित करते हैं।

कैबिनेट, विभिन्न विभागों का समन्वयकारी साधन (The Cabinet as a Co-ordinator)—कैबिनेट का मुख्य काम यह है कि वह शासन के विभिन्न विभागों के कृत्यों का मार्ग-दर्शन करती है और उन सब मे समन्वय स्थापित करती हैं। यह सम्भव नही है कि इतने बड़े देश का समस्त प्रशासन बाईस या अधिक विभागो मे पूर्णतया बांट दिया जाए। हो सकता है कि एक विभाग के किसी कृत्य का दूसरे विभाग पर प्रभाव पड़ता हो। सत्य यह है कि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण समस्या एक से अधिक विभागो को प्रभावित करती है और कैबिनेट ही नीति-सम्बन्धी समन्वय स्थापित करती है। अन्त:विभागीय मामलों में स्वयं विभाग प्रयत्न करते है और इस प्रकार अपने मतभेदो को दूर करके स्थिति को ठीक कर लेते है। यदि विभाग आपस मे किसी समझौते पर नही पहुच पाते, तो प्रधानमन्त्री मध्यस्थ और समन्वयकारी के रूप मे कार्य करता है। यदि फिर भी निर्णय नही हो पाता तो अन्तिम अपील मंत्रिमण्डल मे की जाती है।

इसमे सन्देह नही है कि कैबिनेट को बहुत भारी कार्य निपटाना पड़ता है। प्रायः मंत्रिमण्डल की बैठक प्रति सप्ताह एक बार एक या दो घण्टे के लिए होती है। मंत्रिमण्डल मे इतने अधिक सदस्य होते है कि प्रभावपूर्ण विचार-विनिमय नही हो पाता और मंत्रिमण्डल के सदस्य विभागो के अध्यक्ष होते है जिनको अपने विभागो के कार्य से ही छुट्टी नही होती। इसलिए कैबिनेट के पास इतना समय कहां है कि वह शासन की विभिन्न

---

१. अनुच्छेद ५३

बारीकियों पर ध्यान दे। फलस्वरूप कैबिनेट समितियों का विकास हुआ है। कैबिनेट की समितियों से दो लाभ हैं। प्रथमतः उक्त समितियां विचार-विनिमय करने के बाद प्रत्येक प्रश्न पर अपना प्रतिवेदन देती हैं और उक्त प्रतिवेदन पर कैबिनेट को अपना निर्णय देना पड़ता है। समितियों में प्रत्येक प्रश्न पर खुल कर विचार-विनिमय होता है और कुछ-न-कुछ निर्णय या समझौता कर लिया जाता है। द्वितीयतः, कम महत्त्व के प्रश्नों पर समितियां उन कृत्यों को करती हैं जिनके लिए कैबिनेट उन्हें आदेश देती है; और इस प्रकार समितियां उन प्रश्नों का निर्णय कर डालती हैं, जिन पर, अन्यथा, मंत्रिमण्डल को अपना अमूल्य समय देना पड़ता।

कैबिनेट समितियां दो प्रकार की होती हैं: स्थायी तथा तदर्थ (ad hoc) समितियां। स्थायी समितियों के अन्तर्गत प्रतिरक्षा, वित्तीय विषयक, प्रशासनिक संगठन तथा संसदीय और विधि-विषयक समितियों की गणना होती है। तदर्थ समितियों का निर्माण तब होता है जब आवश्यक और नवीन समस्याएं उपस्थित हो जाती है और जिनके विषय में निर्णय करने से पूर्व मन्त्रिमण्डल विशेष जानकारी चाहता हो। कैबिनेट समितियां यदि आवश्यक समझें तो समस्याओं के विशेष अध्ययन के लिए अपनी उप-समितियां भी बना सकती है।

वित्त के ऊपर नियन्त्रण (Control over Finances)—मंत्रिमण्डल अथवा कैबिनेट के जिन कृत्यों का ऊपर विवेचन किया गया है, उनके अतिरिक्त उसके दो कृत्य और भी हैं। प्रथम यह है कि मन्त्रिमण्डल ही राज्य के ऊपर व्यय होने वाली समस्त धनराशि के लिए और उस व्यय को पूरा करने के लिए आवश्यक राजस्व एकत्र करने के लिए उत्तरदायी है। इंग्लैण्ड में वार्षिक आय-व्यय-सम्बन्धी विवरण पर समस्त कैबिनेट को विनिश्चय करने का अधिकार नहीं है। किन्तु जहां तक वार्षिक आय-व्ययक एक राजनीतिक महत्त्व का भी विषय है, यह सदैव मन्त्रिमण्डल के समक्ष लाया जाता है और वित्त-मन्त्री (Chancellor of the Exchequer) अपने आय-व्ययक सम्बन्धी भाषण से कुछ दिन पूर्व मौखिक रूप से कैबिनेट के समक्ष आय-व्ययक के सम्बन्ध में मोटी रूपरेखा प्रस्तुत कर देता है। आगणनों (estimates) के सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल को आय-व्ययक के ऊपर पूरा नियंत्रण प्राप्त है। यदि आय-व्ययक में करारोपण-सम्बन्धी नये प्रस्ताव हैं, जिनके फलस्वरूप करारोपण सम्बन्धी नीति में भारी परिवर्तन होता है, तो ऐसे प्रस्तावों पर आय-व्ययक प्रस्थापित करने से पूर्व मन्त्रिमण्डल विस्तारपूर्वक विचार करेगा। अभी तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि एतद्विषयक भारतीय प्रक्रिया क्या होगी। सम्भवतः हमारे देश में भी इंग्लैण्ड के अनुसार आचरण होगा। फिर भी कैबिनेट को अधिकार है कि आय-व्ययक के संसद् के समक्ष प्रस्तुत किए जाने के बाद भी उसमें सुधार किए जा सकते हैं। यदि कैबिनेट अनुभव करे कि संसद् या विशाल जनमत ने आय-व्ययक को सराहा नहीं है, तो वह ऐसे आय-व्ययक को रद्दी की टोकरी में फेंक सकती है; किन्तु ऐसा करने में वित्त मन्त्री के त्यागपत्र देने का खतरा उठाना होगा।

नियुक्तियों के ऊपर नियन्त्रण (Control over Appointments)—सामान्यतः नियुक्तियों से सम्बद्ध प्रश्न मन्त्रिमण्डल के समक्ष नहीं आते। किन्तु सभी

ऐसी नियुक्तिया जो बड़े पदों पर की जाती हैं, मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति की अपेक्षा रखती है।

प्रधान मन्त्री
(The Prime Minister)

संविधान में प्रधान मन्त्री के पद का स्पष्ट उल्लेख (Prime Minister, a Creation of the Constitution)—सविधान मे प्रधान मन्त्री के पद का स्पष्ट उल्लेख है और उक्त पद का अधिकारी संविधान अथवा शासन का मुख्य अधिकारी है। शासन ही, सघीय कार्यपालिका का मुख्य अंग है, और प्रधान मन्त्री शासन का मुखिया है। प्रधान मन्त्री, मन्त्री परिषद् का प्रधान है[1] और यद्यपि कहने को तो अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति राष्ट्रपति करता[2] है, किन्तु व्यवहारत: प्रधान मन्त्री ही करता है और राष्ट्रपति तो प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा को केवल स्वीकार करता है। समस्त मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से लोक-सभा[3] के प्रति उत्तरदायी है। किन्तु मन्त्री लोग राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पदों पर रह सकते है;[4] और मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली मे इसके भी यही अर्थ है कि मन्त्री लोग तथ्यत: प्रधान मन्त्री के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पदों पर रह सकते हैं। डॉ० अम्बेदकर ने भी कहा था कि "सामूहिक उत्तरदायित्व केवल प्रधान मन्त्री के पद के द्वारा ही प्रवर्तित कराया जा सकता है।" डॉ० अम्बेदकर ने यह भी कहा था कि यदि प्रधान मन्त्री चाहेगे तो ही कोई व्यक्ति मन्त्रि-परिषद् का सदस्य बना रह सकता है, अन्यथा नही।" डॉ० अम्बेदकर ने आगे यह भी कहा कि "जब सभी मन्त्री अपनी नियुक्ति और वियुक्ति के सम्बन्ध में प्रधान मन्त्री के आश्रित होंगे, तभी हम मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व के आदर्श को प्राप्त कर सकेगे।" इसलिए प्रो० लास्की (Prof Laski) के शब्दों मे, "प्रधान मन्त्री ही मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करता है, उसके प्रसाद-पर्यन्त ही मन्त्रि-परिषद् जीवित रहती है और उसकी इच्छा पर ही मन्त्रि-परिषद् की मृत्यु होती है।" प्रधान मन्त्री ही मन्त्रि-परिषद् को बनाता है, वही उसमे परिवर्तन कर सकता है और वही उसको विघटित कर सकता है, और इस सम्बन्ध मे सविधान की आज्ञा हो, चाहे इस सम्बन्ध मे सवैधानिक उपबन्ध पूर्ण स्पष्ट न भी हो; फिर भी संविधान की भावना यही है, और संविधान ने जो संसदीय शासन-प्रणाली की स्थापना की है, उसकी भी यही माग है।

प्रधान मन्त्री की नियुक्ति (The appointment of the Prime Minister)—मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली का यह मौलिक सिद्धात है कि कैबिनेट की पीठ पर विधानमण्डल के लोकप्रतिनिधि सदन के बहुमत का हाथ रहना चाहिए, इसलिए प्रधान मन्त्री का चयन अत्यन्त सरल है और राज्य का प्रधान कार्यपालिका-अध्यक्ष विधानमण्डल के लोकप्रतिनिधि सदन के बहुमत दल के नेता को बुलाता है और उसको मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्रि-परिषद् निर्माण करने का निमन्त्रण देता है। इग्लैण्ड मे सम्राट् की व्यक्तिगत पसन्द के लिए कोई अवसर नही रहता जबकि किसी दल का स्पष्ट

---

१. अनुच्छेद ७४ (१) २. अनुच्छेद ७५ (१)
३. अनुच्छेद ७५ (३) ४. अनुच्छेद ७५ (२)

बहुमत होता है और जब उस स्पष्ट बहुमत का नेता भी हो। किन्तु सम्राट् को अपनी इच्छा से प्रधान मन्त्री चुनने का अवसर तब प्राप्त हो जाता है जबकि किसी दल का बहुमत तो हो किन्तु नेता न हो; अथवा जबकि किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत न हो। इसके अतिरिक्त सम्राट् को ऐसे समय पर भी प्रधान मन्त्री के चयन मे छूट मिल जाती है जब कि प्रधान मन्त्री पद से त्यागपत्र दे दे, या उसकी मृत्यु हो जाए और ऐसी अवस्था मे यदि हटने वाले या मृत प्रधान मन्त्री का स्थान ग्रहण करने वाला उसके दल में कोई दूसरा न हो अथवा दूसरे नम्बर का मान्य नेता न हो। ऐसी स्थिति मे सम्राट् ने सदैव प्रधान मन्त्री के चयन मे पूर्ण तटस्थता के साथ कार्य किया है। यदि कोई मन्त्रिमण्डल हार जाता है और उक्त पराजय के परिणामस्वरूप वह त्यागपत्र दे देता है, तो प्रथा यह है कि विरोधी दल के नेता को आमन्त्रित किया जाय और उसी को मन्त्रिमण्डल का निर्माण करने के लिए कहा जाता है।

भारतीय सविधान इस सम्बन्ध में मौन है कि राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री का चयन कैसे करे। सविधान ने यह भी नही कहा कि प्रधान मन्त्री आवश्यकत: लोक-सभा का ही सदस्य हो अथवा क्या वह ससद् के किसी भी सदन का सदस्य हो सकता है। यदि सविधान के शब्दो का पालन करे तो ऐसा व्यक्ति भी छ मास के लिए प्रधान मन्त्री नियुक्त किया जा सकता है जो संसद् के किसी भी सदन का सदस्य न हो। किन्तु मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली का यह नियम ही नही है। इस सम्बन्ध में सुस्थापित अभिसमय यह है कि राज्य का प्रधान ससदीय बहुमत दल के नेता को आहूत करता है, और यदि ऐसा कोई नेता नही है तो किसी ऐसे व्यक्ति को बुलाता है जो विधानमण्डल के बहुमत का समर्थन प्राप्त कर सकने मे समर्थ हो सके, यदि किसी एक ही दल का बहुमत न हो; और ऐसे व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नियुक्त कर दिया जाता है और उसी को मन्त्रिमण्डल निर्माण करने को कहा जाता है। ऐसा कोई व्यक्ति जो विधानमण्डलीय का सदस्य न हो, मन्त्री तो नियुक्त किया जा सकता है किन्तु ऐसे व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नियुक्त नही किया जा सकता। समूची मन्त्रि-परिषद् के विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायित्व और विधान-मण्डल के प्रति ही नही, अपितु लोक-सभा के प्रति उत्तरदायित्व के कारण इस सम्बन्ध मे राष्ट्रपति के सामने और विकल्प ही नही रह जाता, यदि लोक-सभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत हो जाए और उक्त बहुमत दल का नेता भी हो।

किन्तु राष्ट्रपति स्वविवेक के अनुसार भी प्रधान मन्त्री का चयन कर सकेगा, यदि कोई एक दल ऐसा नही है जिसके अधिकार मे स्पष्ट बहुमत हो। ऐसी स्थिति की सम्भावनाएं है और ऐसी स्थिति कई बार आ भी सकती है। आजकल लोक-सभा मे काग्रेस के अतिरिक्त १२ अन्य राजनीतिक दल और समुदाय हैं, और भय है कि दलों की सख्या में और अधिक वृद्धि हो जाए और हमारा विधानमण्डल फ्रास के विधानमण्डल जैसा हो जाए। ऐसा विकास भयावह होगा, किन्तु आशा करनी चाहिए कि जब लोक-सभा में किसी एक ही दल का स्पष्ट बहुमत न होगा, और जब ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति को प्रधान मन्त्री के चयन मे स्वविवेक के अनुसार कार्य करना पड़ेगा, तो राष्ट्रपति सदैव तटस्थता के साथ प्रधान मन्त्री को चुनेगा। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति को केवल यह देखना

चाहिए कि वह ऐसा व्यक्ति प्रधान मन्त्री के पद के लिए चुने जिसे मन्त्रि-परिषद् के निर्माण करने के लिए कुछ साथी मिल सकें और साथ ही जो लोक सभा का विश्वास प्राप्त कर सके। यह ठीक है कि राष्ट्रपति एक अनुभवी राजनीतिज्ञ होगा और वह सम्भवतः दलगत निष्ठा से ऊपर न हो। किन्तु भारतीय राष्ट्रपति एक महान् राष्ट्र का प्रधान है। उसने शपथ ली है कि वह पूरी योग्यता के साथ संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करेगा और श्रद्धापूर्वक राष्ट्रपति के कर्त्तव्यों का निर्वहन करेगा। इसलिए राष्ट्रपति को इसमे रुचि नही होनी चाहिए कि कौन-सा दल या कौन-से दल शासन का निर्माण करते हैं। राष्ट्रपति की इच्छा और अनिच्छा के व्यक्ति हो सकते है जिस प्रकार कि सम्राट् भी पक्षपातशून्य नही होते; उदाहरणार्थ सम्राज्ञी विक्टोरिया प्रधान मन्त्री ग्लैडस्टन से चिढी हुई थी; किन्तु हमे विश्वास करना चाहिए कि हमारा राष्ट्रपति न तो पक्षपातपूर्ण होगा और न वह राजनीतिज्ञ होगा। उससे तो अपेक्षा की जाती है कि वह सभी का राष्ट्रपति है, न कि किसी एक दल का या किसी एक वर्ग का।

प्रधान मन्त्री के कर्त्तव्य (Functions of the Prime Minister)—जैसा कि बताया भी गया था, *प्रधान मन्त्री ही संविधान-भवना रूपी वृत्तखण्ड की मुख्य शिला* है। उसी के हाथो मे शासन का सारा उत्तरदायित्व है। इसलिए उसके कर्त्तव्य कठिन है और उसका अधिकार महान् है। इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री को बहुत से लोग अधिनायक करते है। ग्रीव्ज (Greaves) का कथन है कि "ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री की औपचारिक शक्तिया किसी एकाधिकारपूर्ण सम्राट् से कम नही है।" यह वक्तव्य अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है फिर भी उक्त वक्तव्य से यह तो अवश्य ज्ञात होता है कि मन्त्रिमण्डलीय शासन-व्यवस्था मे प्रधान मन्त्री की शक्तियो का विस्तार हो सकता है, और भारत का प्रधानमन्त्री भी उक्त लाछन से बिल्कुल ही अछूता नही बचा रहेगा। सक्षेप मे प्रधान-मन्त्री के निम्न कर्त्तव्य है—

(१) प्रधान मन्त्री ही शासन का निर्माण करता है। जहा राष्ट्रपति ने प्रधान मन्त्री को नियुक्त कर दिया, उसका मुख्य कार्य समाप्त हो जाता है क्योंकि अपने सहयोगी मन्त्रियो का चयन तो प्रधान मन्त्री करता है। और वही मन्त्रियो की सूची को राष्ट्रपति के समक्ष उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करता है। शाब्दिक अर्थो मे मन्त्रियों की नियुक्ति पर राष्ट्रपति का अधिकार होना चाहिए, क्योंकि वही उन्हे नियुक्त करता है। किन्तु वास्तविक व्यवहार मे मन्त्रियो के सम्बन्ध मे विनिश्चय करना प्रधान मन्त्री का अधिकार है और राष्ट्रपति की तो उक्त सम्बन्ध में केवल औपचारिक स्थिति ही रहती है।

मन्त्रि-परिषद् के साथियो को चुनने मे और फिर मन्त्रियो को विभाग सौंपने मे प्रधान मन्त्री को पर्याप्त छूट रहती है। प्रधान मन्त्री ही निर्णय करता है कि मन्त्रि-मण्डल मे कितने मन्त्री हों और कौन-कौन मन्त्री हों। प्रधान मन्त्री यदि चाहे तो दल से बाहर के व्यक्ति भी मन्त्रि-परिषद् मे लिए जा सकते है जिस प्रकार कि प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने प्रथम यूनियन मन्त्रिमण्डल मे गैर-कांग्रेसियों को लिया था; यही नही, प्रधान मन्त्री संसद् से बाहर का व्यक्ति भी मन्त्रिमण्डल मे ले सकता है यदि वह ऐसा आवश्यक समझे और यदि उसके विचार से कोई व्यक्ति किसी विशेष विभाग के लिए विशेष

उपयुक्त जान पड़े। इस सम्बन्ध में ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री को बहुत अधिक छूट रहती है, परन्तु भारत के प्रधान मन्त्री को उतनी स्वातन्त्रता नहीं है। भारत के प्रधान मन्त्री को मन्त्रि-परिषद् के सहयोगियों की नियुक्ति करते समय दल की आवश्यकताओं, भौगोलिक आवश्यकताओं और विभिन्न जातियों के प्रतिनिधित्व की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना पड़ता है। यद्यपि संविधान ने कोई उपबन्ध नहीं किया है जिससे छूट मर्यादित हो, किन्तु व्यावहारिक आवश्यकताओं के कारण उसको अपनी मन्त्रि-परिषद् में विभिन्न हितों और विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व देना ही पड़ता है।

मन्त्रियों को विभाग सौंपते समय भी प्रधान मन्त्री स्वविवेक के अनुसार ही कार्य करता है और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यदि कोई अनुभवी राजनीतिज्ञ ऐसा अनुभव करे कि जो विभाग उसको दिया गया है वह उसकी राजनीतिक स्थिति के प्रतिकूल है तो वह उक्त पद को अस्वीकृत भी कर सकता है। परन्तु प्रधान मन्त्री द्वारा किये गये अन्तिम विभाग-वितरण पर शायद ही कभी कोई आपत्ति की जाती हो।

(२) यदि शासन-तन्त्र को ठीक-ठीक कुशलतापूर्वक चलाना है तो फिर प्रधान मन्त्री को पूरी छूट देनी ही होगी कि वह अपने साथियों को स्वतन्त्रतापूर्वक चाहे तो नियुक्त करे, चाहे पदों का परिवर्तन करे और चाहे अपने साथियों में से किसी को अपदस्थ करे जैसे कि अप्रैल, १९६९ में श्री मोरारजी देसाई से वित्त विभाग ले लिया गया। वह पूर्ण स्वतन्त्रता और तटस्थता के साथ जिस व्यक्ति को भी मन्त्री-पद पर नियुक्त करना चाहे, कर सकता है। यह भी उसका असंदिग्ध अधिकार है कि वह समय-समय पर पुनरीक्षण करता रहे कि विभिन्न मन्त्रियों में उसने जो विभाग-वितरण कर रखा है, वह क्या अब भी सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध है अथवा उसमें किसी पद पर परिवर्तन अभीष्ट है। इस प्रकार वह मन्त्री-पदों में, जिस प्रकार चाहे और जब चाहे, परिवर्तन कर सकता है। जहां तक वह मन्त्रिमण्डल-रूपी टीम का कप्तान है और प्रशासन का मुखिया है, प्रधान मन्त्री को अधिकार है और उसका कर्त्तव्य भी है कि वह किसी ऐसे मन्त्री से कह दे कि वह त्यागपत्र दे दे जिसकी उपस्थिति से मंत्रिमण्डल की कार्यकुशलता, ईमानदारी या शासन की नीति पर आंच आती हो या लाछन लगता हो। इसलिए, डॉ० अम्बेदकर ने कहा था कि "प्रधान मन्त्री वास्तव में मंत्रिमण्डलभवन के वृत्तखण्ड की मुख्य शिला है और जब तक हम उक्त पद को इतनी अधिकारपूर्ण स्थिति प्रदान न करें कि वह स्वेच्छया मन्त्रियों को नियुक्त या वियुक्त कर सके, तब तक मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व प्राप्त नहीं हो सकता।"[1]

प्रधान मन्त्री को यह भी अधिकार है कि वह राष्ट्रपति से किसी मन्त्री को अपदस्थ करने को कहे। संविधान के अनुसार कोई मन्त्री अपने पद पर केवल राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त ही रह सकता है और इसलिए राष्ट्रपति जब चाहे, किसी मंत्री को हटा भी सकता है। किन्तु मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली की यह एक सुस्थापित प्रथा बन गई है कि राष्ट्रपति किसी मन्त्री को केवल प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर ही अपदस्थ कर सकता है। प्रश्न के इस पहलू पर विचार करते हुए, डॉ० अम्बेदकर ने संविधान सभा

1. Constituent Assembly Proceedings, Vol. 7, p. 1159.

में कहा था—"मेरे विचार से सामूहिक उत्तरदायित्व दो सिद्धान्तों से प्रवर्तित किया जाता है। प्रथम सिद्धान्त यह है कि कोई व्यक्ति मन्त्रिमण्डल मे प्रधान मन्त्री की इच्छा के विरुद्ध नही लिया जाएगा। द्वितीयतः, यदि प्रधान मन्त्री किसी व्यक्ति को अपने मन्त्रिमण्डल से हटाना चाहे तो वह व्यक्ति किसी भी हालत मे मन्त्रिमण्डल मे नही बना रहना चाहिए। जब मन्त्रिमण्डल के सभी मन्त्री अपनी नियुक्ति और वियुक्ति के सम्बन्ध में पूरी तरह प्रधान मन्त्री के आश्रित होंगे, तभी हम मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व के आदर्श तक पहुँच सकेंगे। मेरी समझ मे सामूहिक उत्तरदायित्व का प्रवर्तन प्रभावी कराने के लिए अन्य कोई उपाय नही।"[1] किन्तु प्रधान मन्त्री केवल अत्यधिक असाधारण स्थिति मे ही किसी मन्त्री को अपने पद से वियुक्त कराने की सिफारिश करेगा। अवांछित मन्त्री को अपदस्थ करने का एक प्रकार यह भी है कि प्रधानमन्त्री त्यागपत्र देकर नई सरकार बनाए और अवांछित मन्त्री को उसमे सम्मिलित न करे। इससे अच्छा एक और बढ़िया तरीका है और वह यह है कि अवांछित मन्त्री का पद बढ़ा कर उसे राज्यपाल बना दे और इस तरह उससे छुटकारा प्राप्त कर ले। फिर भी प्रधान मन्त्री का किसी मंत्री को अलग करने का अधिकार तो अक्षुण्ण है, इसमें कोई संदेह ही नही है।

(३) महानिर्वाचन, वास्तव मे प्रधान मन्त्री के निर्वाचन के लिए ही होता है। पिछले एक महानिर्वाचन का यही नारा था, "कांग्रेस को वोट देकर नेहरू के हाथों को मजबूत बनाओ।" सत्य तो यह है कि नेहरू और कांग्रेस दो नही थे। देखने मे दलीय तन्त्र पर नेहरू जी का एकाधिपत्य नही था किन्तु सर्वसाधारण पर नेहरूजी का जो प्रभाव था, वह इतना पूर्ण था कि शायद ही किसी लोकतन्त्रात्मक देश मे किसी राजनीतिज्ञ का अपने देश के लोगों पर इतना प्रभाव होगा। और पिछले कुछ वर्षों मे नेहरूजी को सारे ससार मे इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी कि उस प्रतिष्ठा के सामने सभी मन्दाभ हो गए थे। श्री के० आर० श्रीनिवास आयगर ने 'प्रधान मन्त्री' (The Prime Minister) नामक शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है: "जब वे (श्री नेहरू) किसी सभा में पहुँचते है, चाहे वह निर्वाचन समिति (Select Committee) की सभा हो और चाहे कोई सार्वजनिक सभा हो, दोनों प्रकार की सभाओं मे, वे समान रूप से प्रभाव डालते है। सभी की आखें उन्ही की ओर लग जाती हैं; सभी के हाथ प्रेमपूर्ण सत्कार के रूप में इस प्रकार तालियां पीटने लगते है मानो उन हाथो से कोई पूर्वनिश्चित लय निकल रही हो; और सारा वातावरण शान्त हो जाता है। सभी लोग प्रधान मन्त्री की निर्भय गतिविधियों को ताकते है और उनके एक-एक शब्द को पकड़ने की कोशिश करते है। पुरुषों की सांस कुछ-कुछ रुक सी जाती है और स्त्रियां कुछ घबरा-सी जाती है।"[2] इस प्रकार प्रधान मन्त्री वास्तव मे अपने दल का नेता है। प्रधान मन्त्री प्रतिनिधिमण्डलों (deputations) से मिल कर और उनसे विचार-विनिमय करके, सार्वजनिक भाषण देकर तथा दलीय सम्मेलनों का आयोजन करके, तथा अन्य महत्त्वपूर्ण अवसरों से लाभ उठा कर जनमत को मार्ग-दर्शन कराते है। किन्तु प्रधान मन्त्री का दलीय नेतृत्व उसके व्यक्तित्व, उसकी व्यक्तिगत

1. Constituent Assembly Proceedings, Vol. 7, p. 1159.
2. Hindustan Times, Sunday Magazine, Nov. 13, 1955, p. 1.

प्रतिष्ठा और उसकी कार्यपटुता (Strategy) पर निर्भर है। जैनिंग्ज ने लिखा है, "प्रधान मन्त्री की वैयक्तिक प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व का जनमत के ऊपर काफी प्रभाव पड़ता है इसलिए उसको फिल्म अभिनेता की तरह अपने आपको सजधज के साथ पेश करना चाहिए, जिस प्रकार कि मि० ग्लैडस्टन अपने कॉलर ठीक रखते थे, मि० लायड जार्ज अपने बालों को बना कर रखते थे, मि० बाल्डविन (Baldwin) अपनी पाइप (pipe) को सम्भाल कर पकड़ा करते थे और श्री चर्चिल अपना कीमती सिगार सदैव मुंह में रख कर बाहर निकलते थे।"[1] उसी प्रकार श्री नेहरू अपने हाथ में छोटा-सा रूल (baton) और अपनी अचकन के बटन के छेद में गुलाब का फूल रखते थे।

(८) पुनः प्रधान मन्त्री अपनी कैबिनेट का चेयरमैन होता है और प्रायः "सामान्यतः किसी भी समिति के चेयरमैन के प्रति सभी को निष्ठा रखनी पड़ती है, क्योंकि सभी समझते हैं कि समिति की कार्यवाई को सुचारु रूप से चलाने और उन्नत करने के लिए आदेश और व्यवस्था की आवश्यकता होती है और सभी लोग यह भी समझते हैं कि सम्मिलित कार्य को सुचारु रूप से गति देने के लिए चेयरमैन के निर्णयों को स्वीकार करना आवश्यक है।"[2] मन्त्रि-परिषद में विचार-विनिमय करते समय मन्त्रियों में मत-विभिन्नता हो सकती है, किन्तु अन्त में सभी को सर्वसम्मति से एक विनिश्चय करना होगा, और तभी दल में एकता और परस्पर-अधीनता रह सकती है। सत्य है कि मन्त्रि-परिषद् में विरोध की सम्भावनाएँ बहुत ही कम होती हैं। यदि दो मन्त्रियों में या दो विभागों में विरोध हो तो आपसी बातचीत के द्वारा या प्रधान मन्त्री की पंचायत (arbitration) के द्वारा विवाद सुलझ सकता है। यदि कैबिनेट के वाद-विवादों में विरोध निकल आये तो मन्त्रिमण्डल या कैबिनेट के चेयरमैन के नाते प्रधान मन्त्री अपनी उच्च स्थिति का लाभ उठाते हुए उक्त विरोध को शान्त करा देता है और कुछ न कुछ फैसला करा ही देता है। इसके अतिरिक्त वह सारे दल का नेता है और उसके १५ या अधिक मन्त्रिमण्डल के सहयोगी उसके प्रति, व्यक्तिगत रूप में भी और दलगत निष्ठा के कारण भी भक्ति और निष्ठा के भाव रखते हैं। वह सारी कार्यावलि (agenda) नियन्त्रित करता है। यह उसी की इच्छा पर निर्भर है कि किसी विषय को मन्त्रिमण्डल के विचारार्थ रखे या रखने की आज्ञा न दे। इंग्लैण्ड की प्रथा यह है कि हर एक मन्त्री किसी विधेयक पर विचार होने से पूर्व अपने प्रधान मन्त्री की आज्ञा लेता है और उसकी सहायता की और उसके समर्थन की याचना करता है। किन्तु इस सीमा तक परस्पर-अधीनता तभी प्राप्त की जा सकती है जबकि संसद् में केवल एक ही दल का स्पष्ट बहुमत हो। यदि मिली-जुली सरकार (Coalition Government) हो और विशेषकर ऐसी स्थिति में जब सरकार में पांच या छः दलों का सहयोग हो, तब मन्त्रियों में परस्पर-अधीनता कठिन होती है और ऐसी स्थिति में मन्त्रियों की, प्रधान मन्त्री के प्रति न तो वैयक्तिक निष्ठा रहती है और न दलीय निष्ठा ही रहती है। ऐसा लगता है कि भारत में भी ऐसी अवस्था

---

1. Jennings : *Cabinet Government*, p. 163.
2. Finer, H. : *The Theory and Practice of Modern Government* (1954), p 592.

आने के अवसर आ जायेंगे क्योंकि यह देश भी बहुदल प्रणाली की ओर अग्रसर हो रहा है। यदि यह वास्तव मे हो गया तो फ्रांस की तरह यहा भी प्रत्येक मन्त्री भावी प्रधान मन्त्री समझा जाने लगेगा।

(५) प्रधान मन्त्री एक प्रकार से शासन-व्यापार का प्रधान मैनेजर होता है। वही विभिन्न मन्त्रियों और मन्त्रि-विभागों की नीतियों में सामंजस्य और एकरूपता प्राप्त करता है। वह सारे शासन को एक इकाई के रूप मे देखता है और शासन के विभिन्न क्रियाकलापों मे उचित सामंजस्य स्थापित करता है। किन्तु संसार के किसी भी लोकतन्त्रात्मक देश मे प्रधान मन्त्री के लिए सम्भव नहीं है कि वह शासन के सभी विभागों पर नियन्त्रण रख सके और उनका मार्ग-दर्शन कर सके। शासन के क्रियाकलाप इतने बढ़ गए है और इतने विभिन्न प्रकार के हो गए हैं और साथ ही इतने जटिल हो गए हैं कि यदि कोई प्रधान मन्त्री सभी विभागों पर व्यक्तिगत नियन्त्रण रखने का दुस्साहस करता, तो सम्भवत. न केवल प्रधान मन्त्री मुसीबत में पड़ जाता, अपितु सारे देश के लिए भी ऐसा दुस्साहस अनिष्टकर होता। इसलिए प्रधान मन्त्री के उत्तरदायित्वों को अन्तरग मन्त्रिमण्डल (inner cabinet) के मन्त्री लोग बाट लेते हैं और [illegible] विभागो मे समन्वय स्थापित करने का कार्य मन्त्रिमण्डल की समितियों के ऊपर छोड़ दिया जाता है। फिर भी माना यही जाता है कि शासन के सभी विभाग प्रधान मन्त्री की देख-रेख मे चलते रहते है और यह आवश्यक है कि शासन-सम्बन्धी सभी मामलों पर, चाहे वे महत्त्वपूर्ण हो या साधारण, विवादग्रस्त हो या निर्विवाद, प्रधान मन्त्री की राय ली जाए। लोक लेखा समिति के समक्ष गवाही देते हुए प्रधान मन्त्री के प्रमुख निजी सचिव श्री बी० एन० कौल ने बताया कि प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग के कार्यों के लिए प्रधान मन्त्री के प्रति उत्तरदायी है और अन्ततः प्रधान मन्त्री ही सारे शासन के लिए उत्तरदायी हैं।

(६) प्रधान मन्त्री लोक-सभा का [illegible] कि प्रधान मन्त्री अपने किसी साथी को [illegible] उसे इन कर्त्तव्यों से छुट्टी मिल सके। [illegible] प्रधान मन्त्री की ही है। शासन की [illegible] महत्त्वपूर्ण घोषणाएँ प्रधान मन्त्री की [illegible] सम्बन्ध किसी विशेष विभाग से न हो, [illegible] प्रधान मन्त्री को ही सम्बोधित [illegible] विवादो का वही सूत्रपात करता है [illegible] हस्तक्षेप करता है। सत्य यह है कि [illegible] है। इसके अतिरिक्त प्रधान [illegible] मन्त्री से कोई भूल या [illegible] रासायनिक खाद के [illegible] न हुए तो प्रधान मन्त्री [illegible] किया। इसी प्रकार [illegible]

Representation of the People's Bill पेश किया और कहा कि कानून राष्ट्रपति अपने अधिकार से बना देंगे तो सदस्य अत्यन्त क्रुद्ध हो गए और प्रधान मन्त्री नेहरू ने यह कह कर उन्हें शान्त किया कि आवश्यकतानुसार लोक-सभा का सत्र चलता रहेगा।

(७) सार्वजनिक महत्त्व के मामलों पर राष्ट्र के प्रधान से केवल प्रधान मन्त्री के माध्यम के द्वारा ही सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। वही राष्ट्रपति को मन्त्रि-मण्डल के विनिश्चयों में अवगत कराता है। यदि कोई मन्त्री, प्रधान मन्त्री द्वारा दिए गए विवरण की नुक्ताचीनी करता है; अथवा वह राष्ट्रपति के पास सीधे मन्त्रिमण्डल की सूचनाएँ पहुँचाता है, तो यह मन्त्रिमण्डलीय शिष्टाचार के विरुद्ध व्यवहार होगा। राष्ट्रपति का मुख्य परामर्शदाता प्रधान मन्त्री ही है, और आपातकालों में राष्ट्रपति सर्वप्रथम प्रधान मन्त्री से ही परामर्श करेगा।

(८) प्रधान मन्त्री लोगों के ऊपर अनेक प्रकार से अनुग्रह कर सकता है। सभी बड़े पदों पर प्रधान मन्त्री नियुक्तियां करता है। इस प्रकार की नियुक्तियां करते समय, प्रधान मन्त्री अन्य मन्त्रियों से भी परामर्श करता है, किन्तु अन्तिम रूप से उसी के मन की चलती है।

प्रधान मन्त्री की स्थिति
(The Prime Minister's Position)

अभी निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि प्रधान मन्त्री की स्थिति अन्य मन्त्रियों के प्रसंग में क्या है, किन्तु सामान्यतः यह समझा जाता है कि प्रधान मन्त्री समकक्षों में प्रथम (primus interpares) है। रैम्जे म्योर ने इस स्थिति को ठीक नहीं बताया और उसने 'समकक्षों में प्रथम' वाक्यांश को बकवास कहा है, क्योंकि "प्रधान मन्त्री तो ऐसा समर्थ और अधिकारी पुरुष है जो अपने साथी मन्त्रियों को नियुक्त या वियुक्त कर सकता है। प्रधान मन्त्री तो तथ्यतः राष्ट्र का और राज्य का कार्यकारी प्रधान है चाहे वैधानिकतः ऐसा न भी हो और उसको इतनी अपार शक्ति और अधिकार प्राप्त है जितनी शक्ति कि संसार के किसी अन्य सवैधानिक शासक को भी प्राप्त न होगी; यहां तक कि संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति को भी इतनी शक्ति और इतना अधिकार प्राप्त नहीं है।"[1] जैनिंग्ज का कथन है कि "प्रधान मन्त्री 'समकक्षों में प्रथम मात्र ही नहीं है'; वह तो वास्तव में सूर्य है जिसके चारों ओर ग्रह अथवा नक्षत्र घूमते रहते हैं।"[2] प्रधान मन्त्री वास्तव में सूर्य ही है जिसके चारों ओर नक्षत्र घूमते रहते हैं। यदि प्रधान मन्त्री अपने पूरे अधिकारों का प्रयोग करना चाहे तो वास्तव में उसकी स्थिति महान् है।

भारतीय प्रधान मन्त्री का पद संविधान का जात है और इस प्रकार प्रधान मन्त्री के पद के पीछे संविधान की अधिकारपूर्ण स्वीकृति है। वह मन्त्रि-परिषद्[3] का प्रधान है और मन्त्रियों की नियुक्ति, राष्ट्रपति केवल प्रधान मन्त्री के परामर्श पर ही करता है।[4]

1. *How Britain is Governed*, p. 83.
2. *Cabinet Government*, p. 183.
3. अनुच्छेद ७४ (१)
4. अनुच्छेद ७५ (१)

मन्त्री लोग राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त[1] ही अपने पदों पर रह सकते है, किन्तु मन्त्रि-मण्डलीय शासन-प्रणाली के अनुसार राष्ट्रपति अपनी शक्ति का प्रयोग प्रधान मन्त्री के परामर्श पर ही करेगा। डॉ० अम्बेदकर ने कहा था कि "प्रधान मन्त्री को अपने मन्त्रियो को नियुक्त या वियुक्त करने का पूरा अधिकार मिलना चाहिए और यह अधिकार ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व का आदर्श प्राप्त किया जा सकता है।"[2] यदि कोई मन्त्री, प्रधान मन्त्री की अवज्ञा करे अथवा उसके अधिकार को चुनौती दे, तो ऐसा करना मन्त्री के हित मे घातक होगा, और उसकी समस्त राजनीतिक महत्त्वाकाक्षाओं पर पानी पड जाएगा; हां, यदि प्रधान मन्त्री ने अपने पद पर अयोग्यता दिखाई है और यदि सभी लोग उसको अयोग्य प्रधान मन्त्री समझते हैं तो कोई भी मन्त्री प्रधान मन्त्री को चुनौती दे सकता है।

जैनिग्ज ने कहा है कि "प्रधान मन्त्री का पद बहुत कुछ स्वय प्रधान मन्त्री के ऊपर निर्भर करता है कि वह उसे कैसा बनावे" और वह इस पर भी निर्भर करता है कि अन्य मन्त्री उस पद को किस रूप मे विकसित होने दे। प्रधान मन्त्री की अधिकार-पूर्ण स्थिति का विस्तार कुछ तो प्रधान मन्त्री के व्यक्तित्व, कुछ उसकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और कुछ दल के समर्थन पर निर्भर करता है। नेहरूजी की वास्तविक शक्ति थी उनका गतिशील और शक्तिशाली व्यक्तित्व। नेहरूजी स्वय वास्तव में एक सस्था थे और दल के ऊपर और शासन के ऊपर वे एकछत्र शासन करते थे। एक पत्र-प्रेषक श्री राधाकृष्णन् ने लिखा है कि, "जब नेहरूजी के सहयोगी मन्त्री या दल के उच्च नेताओं को नेहरूजी का ऐसा पत्र मिलता है, जिसमे वह किसी समाचारपत्र की किसी अस्पष्ट खबर पर उनकी रिपोर्ट मागते हैं और जिस पत्र के साथ सम्बन्धित समाचारपत्र की कटिग संलग्न होती है तो अच्छों-अच्छों के होश बिगड जाते हैं।"[3] कहा जाता है कि नेहरूजी ने पहले महानिर्वाचन मे जो सारे देश का दौरा किया था, उतना बडा निर्वाचन दौरा संसार के किसी देश के किसी प्रधान मन्त्री ने नही किया है, और इतना भारी दौरा स्वय नेहरूजी ने काग्रेस के सभापतित्व काल मे भी नही किया था। औसतन, नेहरूजी ने प्रतिदिन दस सभाओं में भाषण दिये; प्रतिदिन १,००० मील का सफर किया और ऐसा कार्यक्रम तीन महीने तक चला।[4]

नेहरूजी की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता देश में और विदेशों मे बहुत थी। नेहरूजी की वास्तविक शक्ति का कारण यह था कि वे राष्ट्रनायक (National Hero) थे, दलगत राजनीति से परे थे और वे छोटी-छोटी बातों के विवादों मे नहीं पडते थे। यद्यपि नेहरूजी जन्मतः कुलीन और शानशौकत के प्रेमी थे, किन्तु उन्होने अपने आपको सर्वसाधारण का एक पुरजा मात्र बना लिया था और अपने जीवन को स्वतन्त्र भारत के निर्माण मे लगा दिया था और उन्होने तीस करोड़ नर-नारियों के स्वतन्त्र जीवन को

1. अनुच्छेद ७५ (२)
2. See ante, Constituent Assembly Proceedings, Vol. VII. p. 1159.
3. *The Tribune*, Magazine Section, Nov. 13, 1955, p. 1
4. *The Tribune*, Magazine Section, Nov. 13, 1955, p. 11.

उन्नत करने का बीडा उठाया था। नेहरू जी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त व्यक्ति थे और उनका प्रभाव ससार की मुख्य घटनाओं पर पड़े बिना नही रहता था: और उनका एकमात्र महान् ध्येय ससार मे शान्ति स्थापित करना था। इसलिए नेहरू जी की देश मे और विदेश मे भी महान् ख्याति थी। लाल बहादुर शास्त्री की लोकप्रियता का कारण था १९६५ मे पाकिस्तान के आक्रमण के समय उनका वीरतापूर्ण नेतृत्व। इसी प्रकार श्रीमती इन्दिरा गान्धी ने बैंको का राष्ट्रीकरण करके असाधारण प्रतिष्टा अजित कर ली है।

किन्तु प्रधान मन्त्री की स्थिति दल के साथ बँधी हुई है। इसमे कोई सन्देह नही है कि श्री नेहरू की प्रतिष्ठा भी काग्रेस की सफलता का कारण थी और उनके व्यक्तित्व के कारण काग्रेस मे एकता बनी हुई थी, किन्तु दल के बिना प्रधान मन्त्री कुछ भी नही होता रामजे मैकडानल्ड इग्लैण्ड मे मजदूर दल के नेता और देश के प्रधान मन्त्री रहे परन्तु दल से अलग हो जाने पर उनका अस्तित्व कुछ न रहा। १९६२ मे चीनी आक्रमण के समय वी० के० कृष्ण मेनन की दोषपूर्ण नीति से रुष्ट होकर जब काग्रेस संसदीय दल ने उनको मन्त्रीमण्डल मे निकाल देने की माग की तो न चाहते हुए भी नेहरू जी को यह माग स्वीकार करनी पडी।

Suggested Readings

Aiyar, S L K : *'The President and the Cabinet'*, A.I.R., October, 1957, pp. 81-83.

Banerjoo, D. N : *"The Indian Presidency "Political Quarterly*, London, March 1955.

Ghosal, A. K. : "Union Executive in the Indian Constitution" *Modern Review*, January 31 and February 2, 1952.

Hintor, R. W. K. : "The Prime Minister as an elected Monarch, *Parliamentary Affairs* 1959-60, p 297

Srivastava, G. P. : *The Prime Minister of India, Modern Review* No 3, p. 193.

Venkateswaran, R. J. : *Cabinet Government in India.*

अध्याय ६

केन्द्रीय शासन [क्रमशः]

GOVERNMENT AT THE CENTRE (*Contd.*)

संसद्
(Parliament)

संसद् का संविधान (Constitution of the Parliament)—भारतीय सविधान ने सघीय विधान मण्डल[1] का नाम 'संसद्' रखा है। ससद् राष्ट्रपति और दो सदनों से मिल कर बनी है जिनके नाम क्रमश राज्य-सभा और लोक-सभा हैं।[2] इस प्रकार राष्ट्रपति, संसद् का अवयवी अग है जिस प्रकार कि इग्लैण्ड का राजा ब्रिटिश संसद् का अभिन्न अग है। किन्तु अमरीका का राष्ट्रपति, उक्त देश के विधानमण्डल का अभिन्न अंग नही है। सयुक्त राज्य अमरीका का सविधान उपबन्धित करता है—"समस्त विधायिनी शक्तियां सयुक्त राज्य अमरीका की कांग्रेस मे निहित होगी जिसमे दो सदन होगे, जिनके नाम सीनेट (Senate) और प्रतिनिधि-सदन (House of Representatives) होगे।"[3]

यद्यपि भारतीय सविधान ने केन्द्रीय विधानमण्डल को वही स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है जो इग्लैण्ड की संसद् का है और इंग्लैण्ड के राजा के समान भारत के राष्ट्रपति को संसद् का संघटक भाग माना है, फिर भी भारतीय ससद् इग्लैण्ड की ससद् के समान सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न विधानमण्डल नही है। किन्तु भारतीय ससद् की विधायी क्षमता शान्तिकाल मे केवल उन विषयो तक सीमित है जिनको सघ सूची मे और संविधान की सातवी अनुसूची की समवर्त्ती सूची में प्रगणित कराया गया है। इसके अतिरिक्त ससद् की सर्वोच्चता अपने अधिकार-क्षेत्र मे भी उन मौलिक अधिकारों के द्वारा मर्यादित है जिनकी संविधान के तृतीय भाग मे व्यवस्था की गई है। सविधान का अनुच्छेद १३ (२) उपबन्धित करता है कि राज्य ऐसी कोई विधि पारित नही कर सकता जो मौलिक अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो। यदि राज्य ने कोई ऐसी विधि बनाई हो जो मौलिक अधिकारो का उल्लंघन करती हो, तो ऐसी प्रत्येक विधि उल्लघन की मात्रा तक अप्रमाणित हो जाएगी। इंग्लैण्ड में सविधान-विधि और सामान्य विधि मे कोई अन्तर नही किया जाता; और ससद् ही किसी विधि को बदल सकती है या रद्द कर सकती है; और विधि के बदलने या रद्द करने की प्रक्रिया भी एक ही है। किन्तु इसके विपरीत भारत मे सविधिक विधि और सविधान-विधि में अन्तर किया जाता है; और सविधान के परिवर्तन के लिए एक विशेष प्रक्रिया निश्चित की गई है।[4] सविधान ने

---

1. अनुच्छेद ७९ 2. अनुच्छेद ७९
3. अमरीका के सविधान का अनुच्छेद १, खण्ड १।
4. अनुच्छेद ३६८

न्यायालयों को भी अधिकार दिया है कि वे निर्णय कर सकते है कि कोई विधि वैध है या नही।

संसद् की सर्वोच्चता के ऊपर लगे इन प्रतिबन्धों के बावजूद, संसद् वह धुरी या कील है जिसके सहारे सारा शासन-तन्त्र घूमता है। इसका व्यवस्थापक अधिकार-क्षेत्र अत्यन्त विशाल है और इसकी वित्तीय शक्तियां भी अपरिमित है। युद्ध की घोषणा और शान्ति-सन्धि करने के लिए भी संसद् की स्वीकृति अनिवार्य है। सत्य यह है, कि केन्द्र मे सारे शासन-तन्त्र को संसद् ही संचालित करती है और वस्तुतः सारे देश मे अच्छे शासन के लिए संसद् ही उत्तरदायी है। आपातकाल की उद्घोषणा होने पर संसद् के ऊपर लगे विधायी या वित्तीय प्रतिबन्ध समाप्त हो जाते हैं। वास्तव मे, आपात-उद्घोषणा के प्रवर्तन काल मे राष्ट्रपति और मन्त्रि-परिषद् सहित संसद् ही सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न अधिकार प्राप्त कर लेती है।

संसद् द्विसदनात्मक है (Parliament is Bicameral)—संघीय स्वरूप वाले राज्यों मे विधानमण्डल के द्वितीय सदन अपरिहार्य होते हैं और इसीलिए हमारी संसद् भी द्विसदनात्मक है। प्रतिनिधि-सदन अथवा लोक-सभा में जनसंख्या के आधार पर लोगों को प्रतिनिधित्व दिया गया है और राज्य-सभा मे सम्पूर्ण संघ के अवयवी एकक राज्यों को प्रतिनिधित्व दिया गया है। संघवाद का यह मान्य सिद्धान्त है कि उच्च सदन मे सभी अवयवी राज्यों को बिना उनके आकार, क्षेत्रफल, जनसंख्या या साधन-स्रोतों पर विचार किए समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है, किन्तु भारतीय *संविधान ने समान प्रतिनिधित्व के उक्त सिद्धान्त का पालन नही किया है; बल्कि विभिन्न* अवयवी राज्यों को प्रायः जनसंख्या के ही आधार पर राज्य-सभा में स्थान निर्धारित किए गए हैं।[1] किसी राज्य को एक स्थान प्राप्त है तो किसी राज्य को ३१ स्थान दिये गए है। इसके अतिरिक्त राज्य-सभा में १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित (nominated) होते हैं; जो राज्यों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त है।[2] यह भी संघीय सिद्धान्त के विरुद्ध है।

राज्य सभा
(Rajya Sabha)

रचना (Composition)—संविधान ने उपबन्धित किया है कि राज्य-सभा में कुल २५० प्रतिनिधि होंगे जिनमें से १२ प्रतिनिधि राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित किए जायेंगे। जैसा कि बताया भी जा चुका है विभिन्न अवयवी राज्यों को राज्य-सभा में जो स्थान दिए गए है, वे समान प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर नही दिए गए हैं। प्रत्येक अवयवी राज्य को जो प्रतिनिधित्व दिया गया है, उसका आधार यह है कि

---

1. अनुसूची चतुर्थ: किन्तु यदि राज्य की सीमाओं मे अन्तर हुआ तो सदस्य-संख्या मे भी परिवर्तन किया जा सकता है।

2. अनुच्छेद ८० (क)

प्रत्येक दस लाख जनसंख्या पर एक स्थान दिया गया है किन्तु इस प्रकार प्रथम ५० लाख जनसंख्या तक ५ प्रतिनिधि उक्त राज्य से आ सकते हैं और यदि किसी राज्य की जनसंख्या ५० लाख से अधिक होगी तो ५० लाख से ऊपर प्रत्येक २० लाख जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि भेजा जा सकेगा। इस आधार पर छोटी इकाइयों को कुछ सामान्य-सा प्रभार (weightage) मिल गया है। राज्य सभा के लिए जो १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित किए जाते है, वे ऐसे होने चाहिए जिन्हे निम्नलिखित विषयों में से किसी एक का विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव हो—साहित्य, कला, विज्ञान और समाज-सेवाएँ।[1] इस प्रकार राज्य सभा ऐसे योग्य व्यक्तियों को भी राजनीति मे पदार्पण करने का अवसर प्रदान करती है जो चुनाव दंगल में भाग न लेना चाहते हों। संविधान-सभा में नाम-निर्देशन के सिद्धान्त की कटु आलोचना हुई थी और इस प्रथा को 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य में प्रतिक्रियावादी एवं अलोकतन्त्रात्मक' कहा गया था। यह सही है कि थोड़े से अत्यधिक योग्य और व्यावहारिक अनुभव के व्यक्तियों को राज्य सभा में नाम निर्देशन के आधार पर ले लेने से देश का लाभ होगा और राज्य-सभा के सम्मान की वृद्धि होगी, किन्तु संघ में उच्च सदन राज्यों का प्रतिनिधि सदन है न कि वह समस्त देश का प्रतिनिधि सदन है। संविधान ने वास्तव में राज्य सभा को भी सर्वसाधारण का प्रतिनिधि-सदन ही बना दिया है क्योंकि यह उपबन्धित किया गया है कि राज्य-सभा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों की दो-तिहाई संख्या द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा घोषित करे कि संसद् राज्य-सूची में प्रगणित किसी विषय पर विधि बना सकेगी।[2] परन्तु जहां राज्य-सभा में राज्यों के प्रतिनिधि जनसंख्या के आधार पर निर्वाचित होते हैं और जहां राज्य-सभा में १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित भी होते हैं, ये दोनों ही तथ्य संघवाद के सिद्धान्त के विपरीत हैं।

इस समय राज्य सभा में विभिन्न राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों को निम्नलिखित प्रतिनिधित्व प्राप्त हैं—

१. आंध्र प्रदेश	१८	१२. उड़ीसा	१०
२. असम	७	१३. पंजाब	७
३. बिहार	२२	१४. राजस्थान	१०
४. गुजरात	११	१५. उत्तर प्रदेश	३४
५. हरियाणा	५	१६. पश्चिमी बंगाल	१६
६. केरल	९	१७. जम्मू और कश्मीर	४
७. मध्य प्रदेश	१६	१८. दिल्ली	३
८. तमिलनाडू (मद्रास)	१८	१९. हिमाचल प्रदेश	३
९. महाराष्ट्र	१९	२०. मणिपुर	१
१०. मैसूर	१२	२१. त्रिपुरा	१
११. नागालैण्ड	१	२२. पाण्डीचेरी	१

1. अनुच्छेद ८०(३) 2 अनुच्छेद २४९(१)

इस समय राज्य सभा के सदस्यों की संख्या २४० है जिनमें से २२८ सदस्य राज्यों तथा संघीय प्रदेशों से निर्वाचित होकर और १२ राष्ट्रपति द्वारा नाम निर्दिष्ट होकर आए है।

राज्य-सभा का विघटन नहीं होता, लेकिन प्रति दूसरे वर्ष उसके एक-तिहाई सदस्य अपना स्थान खाली कर देते हैं।

सदस्यों की अर्हताएं (Qualifications for Members)—कोई व्यक्ति राज्य-सभा में किसी स्थान की पूर्ति के लिए चुने जाने के लिए अर्ह न होगा जब तक कि—[1]

(क) वह भारत का नागरिक न हो;

(ख) कम-से-कम ३० वर्ष की आयु पूर्ण न कर चुका हो;

(ग) और वे सब शर्तें पूर्ण न करता हो जिन्हें संसद् निर्धारित करे। १९५१ के लोक-प्रतिनिधित्व-अधिनियम के अनुसार राज्य-सभा के लिए चुने जाने वाले प्रत्याशी का उस राज्य की ओर से संसद् के लिए निर्वाचन होना आवश्यक है जिसमें वह निवास करता हो।

राज्य-सभा की सदस्यता अर्जित करने के लिए वही अर्हताएं रखी गई है जो लोक-सभा के लिए हैं; अन्तर केवल यह है कि लोक-सभा की सदस्यता के लिए प्रत्याशी की आयु कम-से-कम २५ वर्ष होनी चाहिए। संविधान के निर्माताओं ने सोचा था कि राज्यसभा के सदस्यों की उच्चतर अर्हताएँ निर्धारित करने से सदन के मान में वृद्धि होगी, साथ ही सदस्यों की सामान्य योग्यता अधिक होगी। डॉ० अम्बेदकर ने कहा था कि, "राज्य-सभा के सदस्यों को जिस प्रकार के कृत्य करने होंगे उनमें पर्याप्त अनुभव और योग्यता की आवश्यकता होगी, साथ ही संसार के मामलों का व्यावहारिक अनुभव भी अपेक्षित होगा; इसलिए मेरा विचार है कि यदि ये अतिरिक्त योग्यताएँ और अर्हताएं स्वीकार कर ली जाती हैं तो हमको ऐसे प्रत्याशी सदस्य मिल सकेंगे जो सदन की सेवा सामान्य निर्वाचक की अपेक्षा अच्छे ढंग से कर सकेंगे।"[2] संयुक्त राज्य अमरीका में सीनेट के सदस्य के लिए आवश्यक है कि वह कम-से-कम ३० वर्ष का हो; जिस राज्य से निर्वाचित होना चाहता है, उस राज्य का नागरिक हो; और संयुक्त राज्य का कम-से-कम ९ वर्ष से नागरिक रहा हो।

सभापति (The Presiding Officer)—भारत का उप-राष्ट्रपति पदेन राज्य-सभा का सभापति होता है; और इस सम्बन्ध में यह संयुक्त राज्य अमरीका के उपराष्ट्रपति के समान है जो पदेन सीनेट का सभापति होता है। भारत का उपराष्ट्र-

[illegible]

का अधिकार नहीं है। किन्तु सीनेट का सभापति केवल सभापति अथवा मध्यस्थ

---

1. अनुच्छेद ८४
2. *Constituent Assembly Proceedings*, Vol. VIII, p. 89.

(mediator) मात्र है। पहचान (recognition)) के अधिकार के द्वारा वह वाद-विवाद को नियन्त्रित नही कर सकता। वह सदस्यों को उसी क्रम से बोलने के लिए बुलाने को बाध्य है जिस क्रम से कि वे खडे हो। इसके विपरीत, राज्य-सभा के चेयरमैन या सभापति की स्थिति अधिक गौरवपूर्ण है। वह सदन के सदस्यों को बैठ जाने का आदेश देता है, औचित्य प्रश्नों (points of order) पर निर्णय देता है, वाद-विवादों मे व्यवस्था और क्रम बनाए रखता है और प्रश्न करता है तथा निर्णय भी घोषित करता है। अमरीका का उप-राष्ट्रपति सीनेट का सभापति-पद सदैव के लिए छोड़ देता है, ज्योंही वह राष्ट्रपति के पद पर पहुँच जाता है; किन्तु भारत का उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति के पद पर केवल थोडे समय के लिए जाता है और ज्योंही नया राष्ट्रपति निर्वाचित होकर अपने पद पर आ जाता है, तुरन्त उपराष्ट्रपति भी राज्य-सभा का सभापतित्व पुनः ग्रहण कर लेता है।

राज्य-सभा अपने किसी सदस्य को ही अपना उप-सभापति चुनती है[1] और उक्त उपसभापति ही ऐसे समय मे जब कि सभापति का पद रिक्त हो अथवा जब उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा हो, तब सभापति पद के कर्तव्यों का पालन[2] करता है; और, यदि राज्य सभा की किसी बैठक मे सभापति और उपसभापति दोनो अनुपस्थित हो, तो ऐसा व्यक्ति, जो सभा की प्रक्रिया के नियमो द्वारा निर्धारित किया जाए, सदन के सभापति के रूप मे कार्य करता है। और यदि कोई ऐसा व्यक्ति उपस्थित नही है तो ऐसा अन्य व्यक्ति, जिसे राज्य-सभा निर्धारित करे, सभापति के रूप मे कार्य करता है।[3]

उपराष्ट्रपति, राज्य-सभा के ऐसे संकल्प द्वारा हटाया जा सकता है जिसे लोक-सभा ने स्वीकृत किया हो।[4] किन्तु, जब उपराष्ट्रपति को अपने पद से हटाने का कोई संकल्प राज्य-सभा मे विचाराधीन हो, तब सभापति को सभा मे बोलने तथा दूसरी प्रकार से उसकी कार्रवाइयो मे भाग लेने का अधिकार होगा, किन्तु ऐसे सकल्प पर अथवा ऐसी कार्रवाइयों मे किसी अन्य विषय पर मत देने का हक बिल्कुल नही है।[5] राज्य-सभा का उपसभापति भी सभा के समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प के द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है।[6] सभापति की तरह से उपसभापति भी उस समय सभा में पीठासीन न होगा जिस समय उसको अपने पद से हटाने का कोई सकल्प विचाराधीन होगा।[7]

सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्तों के सम्बन्ध में संसद् ही निर्णय

1. अनुच्छेद ८९ (२)
2. अनुच्छेद ९१ (१)
3. अनुच्छेद ९१ (२)
4. अनुच्छेद ६७ (ख)
5. अनुच्छेद ९२ (२)
6. अनुच्छेद ९० (ग)
7. अनुच्छेद ९२ (१)

कर सकती है और उनको देश की सचित निधि से वेतन आदि दिया जाता है। श्री गोपाल स्वरूप पाठक भारत के उपराष्ट्रपति है और इस कारण राज्य-सभा के चेयरमैन है।

राज्य-सभा के कृत्य
(Functions of the Rajya Sabha)

राज्य-सभा के कृत्यों का अध्ययन पाच विभिन्न भागों मे किया जा सकता है—वे है व्यवस्थापक कृत्य, वित्तीय कृत्य, प्रशासनिक कृत्य, संविधान सम्बन्धी कृत्य और मिले-जुले कृत्य।

व्यवस्थापक कृत्य (Legislative Functions)—विधि-निर्माण का कार्य समस्त संसद् सम्मिलित रूप मे करती है जिसमे राष्ट्रपति, राज्य-सभा और लोक-सभा सभी का योग रहता है। अकेली लोक-सभा कुछ नहीं कर सकती, यद्यपि राष्ट्रपति और राज्य-सभा की शक्तियों पर लोक-सभा के अंकुश रहते हैं। वित्तीय विधेयकों को छोड़ कर कोई अन्य विधेयक संसद् के किसी भी सदन में आरम्भ हो सकता है।[1] और कोई भी विधेयक उस समय तक विधि रूप धारण नहीं कर सकते जब तक कि संसद् के दोनों सदनो द्वारा पारित न हो जाये।[2] इसका यह अर्थ है कि वित्तीय विधेयको को छोड़ कर अन्य सभी विधेयक दोनो सदनो मे से किसी भी सदन मे आरंभ किये जा सकते हैं; तथा कोई विधेयक तभी विधि रूप धारण कर सकता है जबकि संसद् के दोनों सदन उसे पारित कर दे। यदि किसी विधेयक को किसी एक सदन द्वारा संशोधित कर दिया जाता हैं तो उक्त संशोधन पर दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक होगी। यदि किसी विधेयक मे किये गए संशोधन पर दोनो सदन असहमत है, या सम्पूर्ण विधेयक पर ही दोनों सदन असहमत हैं तो राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह लोक-सभा और राज्य-सभा का सम्मिलित अधिवेशन आहूत करे और उक्त सम्मिलित सत्र मे विधेयक या विधेयक के संशोधन के विषय मे पर्यालोचन कराके मतदान कराए।[3] सम्मिलित अधिवेशन में सभी प्रश्न समस्त उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत के समर्थन पर निर्णीत किए जाते हैं। इस प्रकार जो विधेयक पारित हो जाता है उसे दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है। सम्मिलित अधिवेशन की विधि किसी ऐसे विधेयक के ऊपर भी प्रभावी होगी जिसको किसी एक सदन ने तो पारित कर दिया हो और जो दूसरे सदन को भेज दिया गया हो किन्तु दूसरे सदन ने उक्त विधेयक को प्राप्त करने के ६ मास तक पारित न किया हो; किन्तु ऐसी छः मास की कालावधि की सगणना मे ऐसी कालावधि को सम्मिलित नही किया जाता जिसमे निर्दिष्ट सदन निरन्तर चार दिनों से अधिक के लिए सत्रावसित (prorogued or adjourned) रहता है।[4]

इस प्रकार राज्य-सभा और लोक-सभा की समान व्यवस्थापिका शक्तियां हैं।

---

1. अनुच्छेद १०७ (१)
2. अनुच्छेद १०८
3. अनुच्छेद १०७ (२)
4. अनुच्छेद १०८ (ग) और १०८(२)

उत्पन्न हो जाए तो वह विरोध उसी प्रक्रिया के अनुसार सुलझाया जाएगा जिस प्रकार कि सविधान के अनुच्छेद १०८ के अनुसार सामान्य विधेयक के सम्बन्ध मे उत्पन्न विरोध को सुलझाया जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि सदनो का सम्मिलित अधिवेशन हो। किन्तु सम्मिलित अधिवेशन मे राज्य-सभा प्राय. प्रभावहीन हो जाती है, क्योकि वहा राज्य-सभा १ : २ के हिसाब मे अल्पमत मे होती है।

मिले-जुले अथवा प्रकीर्ण कृत्य (Miscellaneous Functions)—राज्य-सभा के प्रकीर्ण या मिले-जुले कृत्य निम्नलिखित है—

(१) राज्य-सभा के निर्वाचित सदस्य भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन मे भाग लेते है।[1] राष्ट्रपति का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचक-गण के सदस्य करते है जिसमें ससद् के दोनो सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यो की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्य होते है।[2]

(२) भारत के राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग लाया जा सकता है और राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग-सम्बन्धी सकल्प संसद् के किसी भी सदन मे पुर स्थापित किया जा सकता है; और यदि उक्त प्रस्ताव, सदन की सम्पूर्ण सदस्य-संख्या के दो-तिहाई बहुमत से पारित हो जाता है, तो ससद् का दूसरा सदन उक्त अभियोग की जाच-पड़ताल करता है या सदन अभियोग को किसी न्यायाधिकरण (Court of Tribunal) के शोधनार्थ भेज देता है; किन्तु महाभियोग तभी सफल तथा सिद्ध माना जाएगा जबकि अनुसंधान करने वाले सदन की सम्पूर्ण सदस्य संख्या के दो-तिहाई बहुमत से महाभियोग समर्थित हो।[3] इसका यह अर्थ है कि यदि दोषारोप-सम्बन्धी प्रस्थापना राज्य-सभा मे प्रस्तुत की जाती है तो लोक-सभा उक्त दोषारोप का अनुसधान करेगी, किन्तु यदि दोषारोप-सम्बन्धी सकल्प लोक-सभा मे पुर.स्थापित किया जाता है तो राज्य सभा उक्त दोषारोप का अनुसंधान करेगी। महाभियोग-सम्बन्धी दोषारोप तभी सिद्ध और सफल माना जाएगा जबकि अनुसधान करने वाले सदन की सम्पूर्ण सदस्य-सख्या के दो-तिहाई बहुमत से दोषारोप सम्बन्धी सकल्प पारित हो जाता है। इस प्रकार राष्ट्रपति के ऊपर महाभियोग के सम्बन्ध मे राज्य-सभा और लोक-सभा का दर्जा बराबर और समान है।

(३) उपराष्ट्रपति का निर्वाचन सयुक्त अधिवेशन मे समवेत ससद् के दोनों सदनो के सदस्यों के द्वारा किया जाता है;[4] और वह राज्य-सभा के ऐसे सकल्प के द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है जिसे राज्य-सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत ने पारित किया हो तथा जिसे लोक सभा ने स्वीकृत कर लिया हो।[5]

(४) उच्चतम न्यायालय या[6] किसी उच्च न्यायालय (High Court)[7] के किसी न्यायाधीश को अपने पद से तभी हटाया जा सकता है जबकि सिद्ध कदाचार

---

1. अनुच्छेद ५५ (२) (ग)
2. अनुच्छेद ५४
3. अनुच्छेद ६१
4. अनुच्छेद ६६ (१)
5. अनुच्छेद ६७ (ग)
6. अनुच्छेद १२४ (४)
7. अनुच्छेद २१७

प्रशासनिक कृत्य (Administrative Functions)—संविधान ने मन्त्रि-परिषद् को लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी ठहराया[1] है। इसलिए राज्य-सभा का देश की कार्यपालिका के ऊपर कोई नियन्त्रण नही है। सत्य यह है कि नियन्त्रण और उत्तरदायित्व अलग-अलग नही किए जा सकते। किन्तु राज्य-सभा दो प्रकार से देश की कार्यपालिका पर प्रभाव डाल सकती है। राज्य-सभा शासन से उसके कृत्यों के बारे में जानकारी माग सकती है और वह शासन की आलोचना भी कर सकती है। मौखिक और लिखित प्रश्नों के द्वारा तथा पूरक प्रश्नों के द्वारा राज्य-सभा शासन से शासन के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करती है। कार्यपालिका की आलोचना का अवसर सामान्यतः स्थगन प्रस्ताव (adjournment motion) के समय आता है और यह अधिकार लोक-सभा के समान राज्य-सभा को भी प्राप्त है। राज्य-सभा ऐसे प्रस्ताव उपस्थित कर सकती है जिनके द्वारा शासन से एक विशेष प्रकार की नीति पर चलने के लिए प्रार्थना की जा सकती है। जिस समय विधि का निर्माण होता है, उसी समय शासन की नीति की परीक्षा होती है। विधि-निर्माण मे लोक-सभा और राज्य-सभा दोनों को समान अधिकार प्राप्त है। शासन की नीति की हिमायत करने के उद्देश्य से राज्य-सभा मे कुछ मन्त्री उपस्थित रहते है, और कुछ मन्त्री तो राज्य-सभा के सदस्यों में से ही लिए जाते है। संविधान ने किसी ऐसे मन्त्री को भी राज्य-सभा की कार्रवाई में भाग लेने की आज्ञा प्रदान की है जो राज्य-सभा का सदस्य न हो, और उसे बोलने का भी अधिकार दिया है किन्तु वह मतदान मे भाग नही ले सकता।[2] किन्तु राज्य-सभा को यह अधिकार नही है कि वह शासन को अपदस्थ कर सके।

संविधायी या संविधान-सम्बन्धी कृत्य (Constituent Functions)—राज्य-सभा लोक-सभा के साथ-साथ संविधान सम्बन्धी कृत्य भी करती है। संविधान मे संशोधन करने वाला विधेयक संसद् के किसी भी सदन में पुरःस्थापित किया जा सकता है।[3] संविधान मे संशोधन करने वाले विधेयक के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक सदन की सम्पूर्ण सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित हो तभी संविधान मे संशोधन हो सकता है।

यदि संविधान में संशोधन करने वाले किसी विधेयक के सम्बन्ध मे दोनों सदनों मे विरोध हो जाए तो ऐसे विरोध को शान्त करने के लिए संविधान ने कोई उपाय नहीं सुझाया है। 'शंकरी प्रसाद बनाम भारत सरकार' वाले मामले में भारत के उच्चतम न्यायालय ने फैसला दिया था कि संविधान मे संशोधन करना और उसकी प्रक्रिया निश्चित करना सामान्य विधायी प्रक्रिया है; और संसद् ने संविधान के अनुच्छेद ११८ के अनुसार सामान्य विधायी कार्य-प्रणाली के लिए जो नियम बनाये हैं, वे नियम ही अनुच्छेद ३६८ के उपबन्धों के अन्तर्गत किसी ऐसे विधेयक के सम्बन्ध मे भी लागू होंगे जिसका उद्देश्य संविधान में संशोधन करना हो। उच्चतम न्यायालय के उक्त निर्णय के अनुसार यह निश्चित हो गया है कि संविधान-संशोधन विधेयक के बारे में यदि दोनों सदनों में विरोध

1. अनुच्छेद ७५ (३) 2. अनुच्छेद ८८
3. अनुच्छेद ३६८

संविधान के निर्माताओं की ऐसी ही इच्छा थी कि राज्य-सभा, लोक-सभा की अपेक्षा कमजोर सदन रहे। संसदीय शासन-प्रणाली की भी यही माग है कि राज्य-सभा अथवा उच्च सदन एक कमजोर सदन रहे। सविधान ने राज्य-सभा को ऐसी शक्तियों से सज्जित नही किया है जो वह कार्यपालिका सत्ता को नियन्त्रित कर सके। यद्यपि राज्य-सभा प्रश्नों और पूरक प्रश्नों के द्वारा शासन से किसी भी विषय पर जानकारी माग सकती है और स्थगन-प्रस्ताव के द्वारा शासन की नीति की आलोचना भी कर सकती है, किन्तु राज्य-सभा मन्त्रि-परिषद् को अपदस्थ नही कर सकती। यदि राज्य-सभा मे शासन की हार भी हो जाए तो भी मन्त्रि-परिषद् के लिए त्यागपत्र देना आवश्यक नही होगा, कारण, संविधान ने मन्त्रि-परिषद् को केवल लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी माना है।

राज्य-सभा के बारे है कहा जाता है कि सामान्य व्यवस्थापन मे उसका दर्जा लोक-सभा के समान है, किन्तु वह तथ्य नही है। राज्य-सभा किसी विधेयक को निषिद्ध (Veto) नही कर सकती। वह तो केवल देर लगा सकती है। यदि राज्य-सभा किसी विधेयक को अस्वीकार कर देती है या वह उसको छ महीने के अन्दर पारित नही करती है, या राज्य-सभा किसी विधेयक मे कुछ ऐसे सशोधन कर देती है जिन पर लोक-सभा सहमत नही है, तो ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति ससद् के दोनो सदनो का सम्मिलित सत्र आहूत कर सकता है और उक्त सम्मिलित अधिवेशन मे विधेयक पर विचार और मतदान हो सकता है। इस प्रकार लोक-सभा, अपनी अधिक सदस्य-सख्या के बल पर अपने मन की करा लेती है। वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध मे राज्य-सभा पूर्ण अशक्त है। वित्तीय विधेयक केवल लोक-सभा मे ही पुरःस्थापित किए जा सकते हैं। सविधान ने वित्तीय विधेयक की स्पष्ट परिभाषा की है और लोक-सभा के अध्यक्ष या सभापति को अधिकार प्रदान किया है कि वही अन्तिम रूप से निर्णय करेगा कि कौन विधेयक वित्तीय विधेयक है, और कौन-सा विधेयक वित्तीय विधेयक नही है। राज्य-सभा के पास कोई अन्य प्रभावपूर्ण वित्तीय अधिकार भी नहीं है। लोक-सभा किसी वित्तीय विधेयक को राज्य-सभा के पास उसकी सिफारिशों के लिए भेजती है, और यह आवश्यक है कि राज्य-सभा उक्त वित्तीय विधेयक को अपनी सिफारिशों सहित चौदह दिन के अन्दर लौटा दे। यदि राज्य-सभा, चौदह दिन के अन्दर उक्त वित्तीय विधेयक को अपनी सिफारिशों सहित न लौटावे; अथवा यदि राज्य-सभा उक्त वित्तीय विधेयक उन सिफारिशों सहित लौटावे जो लोक-सभा को मान्य नही है, तो लोक-सभा की इच्छा ही सर्वोपरि होगी। इसके अतिरिक्त अनुदानों-सम्बन्धी मांग या अभियाचना (demand for grants) राज्य-सभा के समक्ष प्रस्तुत नही की जाती; और सार्वजनिक व्यय की स्वीकृति भी केवल लोक-सभा ही करती है।

राज्य-सभा की हीनता की कहानी अभी और शेष है। यह सघीय द्वितीय सदन भी तो नही है। सघात्मक शासन-व्यवस्था का यह सुपरिचित सिद्धान्त है कि उच्च सदन अवयवी एकक राज्यों का प्रतिनिधि-सदन होता है; और ऐसी शासन-व्यवस्था का सविधान इस आधार पर निर्मित होता है कि सघ के सभी अवयवी एकक राज्यों को उच्च सदन मे या द्वितीय सदन मे, बिना राज्यों के आकार या जनसंख्या पर विचार किए

अथवा असमर्थता के लिए ऐसे हटाए जाने के हेतु प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य-सख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों में से कम-से-कम दो-तिहाई के बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन पर राष्ट्रपति ने आदेश दिए हों। यदि चीफ इलैक्शन कमिश्नर, काम्पट्रोलर एण्ड आडीटर जनरल आफ इण्डिया या सघीय लोक सेवा आयोग (Union Public Service Commission) के सदस्यों के विरुद्ध कारंवाई करनी हो तो भी राज्य सभा की सहमति आवश्यक है।

(५) राज्य-सभा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों की दो-तिहाई से अन्यून सख्या द्वारा समर्थित सकल्प द्वारा घोपित कर सकती है कि राष्ट्रीय हित मे आवश्यक या इप्टकर है कि ससद् राज्य-सूची[1] में प्रगणित किसी विपय के वारे मे विधि बनाए। राज्य-सभा का इस प्रकार पारित संकल्प एक वर्प से अधिक समय तक प्रवृत्त नहीं रहेगा।

(६) अनुच्छेद ३१२ के अन्तर्गत राज्य सभा को एक या एक से अधिक अखिल भारतीय सेवाएँ (All India Services) निर्माण करने का अधिकार प्राप्त है। पर यह तभी हो सकेगा जब सदन मे उपस्थित और मतदान करने वाले दो-तिहाई से अन्यून सदस्यो द्वारा प्रस्ताव के रूप मे इस वात की घोपणा हो कि ऐसा किया जाना देश के हित मे आवश्यक और इप्टकर है।

(७) आपात की उद्‌घोपणा, चाहे वह वित्तीय आपात[2] की उद्‌घोपणा हो, चाहे सामान्य आपात[3] की हो, और चाहे वह राज्य[4] मे शासन-तन्त्र के विफल हो जाने की उद्‌घोपणा हो, केवल दो मास तक प्रवर्तन में रहेगी; किन्तु यदि संसद् के दोनो सदनो के सकल्पो द्वारा वह उस कालावधि अर्थात् दो मास की समाप्ति से पहले ही अनुमोदित कर दी जाती है तो उक्त उद्‌घोपणा के प्रवर्तन की कालावधि बढ़ जाएगी। उसी प्रकार यदि राष्ट्रपति आपात की उद्‌घोपणा के प्रवर्तनकाल मे मौलिक अधिकारो को निलम्वित करेगा तो ऐसे प्रत्येक आदेश के दिए जाने के पश्चात् उक्त आदेश यथासम्भव शीघ्र ससद्[5] के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जाएगा।

(८) सघीय लोक सेवा आयोग, काम्पट्रोलर जनरल, अनुसूचित जातियो तथा कवीलो से सम्बद्ध आयोग और वित्त आयोग की रिपोर्ट पर लोक-सभा और राज्य-सभा दोनों ही विचार करेंगी।

(९) यदि सरकार किसी नियुक्ति को लोक सेवा आयोग के अधिकार-क्षेत्र से वाहिर निकालना चाहे तो दोनों सदनों की सहमति आवश्यक होगी।

(१०) मौलिक अधिकारो को मुअत्तल (suspend) करने के उद्देश्य से राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई आज्ञा भी संसद् के दोनों सदनों के सामने पेश की जाएगी।

राज्य-भाषा, एक कमजोर सदन (Rajya Sabha a weaker Chamber)—

1. अनुच्छेद २४९
2. अनुच्छेद ३६० (२)
3. अनुच्छेद ३५२ (२) (ग)
4. अनुच्छेद ३५६ (ग)
5. अनुच्छेद ३५९ (३)

सदनों के बीच प्रतियोगिता उत्पन्न हो गई है, यद्यपि दोनों सदनो मे एक ही दल का प्रबल बहुमत है। राज्य-सभा परोक्ष रीति से निर्वाचित सदन है और वित्तीय मामलो को छोड़ कर उसकी शक्तियाँ लोक-सभा के समान ही है। दोनों सदनो की दलगत एवं सामाजिक रचना भी प्रायः एक-सी है। दोनो की प्रक्रिया मे भी विशेष अन्तर नही है। राज्य-सभा में भी नियमित रूप से प्रश्न-काल और आध घण्टे की चर्चा होती है। सरकार ने भी सार्वजनिक विधेयकों को अधिकाधिक सख्या मे राज्य-सभा मे पुरःस्थापित करने का प्रयास किया है। इस प्रकार, राज्य-सभा ने अपना जीवन लोक-सभा के समान दर्जे पर आरम्भ किया था। लेकिन, राज्य-सभा को अपनी हीनता का प्रारम्भ से ही बोध रहा है और उसने जब-तब लोक-सभा के बराबर स्थिति प्राप्त करने का प्रयास किया है।

राज्य-सभा और लोक-सभा में पहला सघर्ष १९५३ के बजट-सत्र के समय हुआ। राज्य-सभा मे आयकर (सशोधन) अधिनियम, १९५२ [Income Tax (Amendment) Act, 1952] के सम्बन्ध मे कुछ गलतफहमी पैदा हो गई थी। उसने विधि मन्त्री (श्री विश्वास) को, जो उसके सदस्य थे, आदेश दिया कि वे किसी भी क्षमता मे लोक-सभा मे उपस्थित न हों। इस पर लोक-सभा के सदस्यो ने कहा कि मन्त्री तो लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है और राज्य-सभा का यह कार्य गलत है। सम्भव था कि यह मतभेद उग्र रूप धारण कर लेता, लेकिन प्रधान मन्त्री के सामयिक हस्तक्षेप ने स्थिति को सम्भाल लिया।

जनवरी, १९५३ मे राज्य सभा की नियम समिति (Rules Committee) ने *'लोक-लेखा समिति'* (Public Accounts Committee) के बारे में लोक-सभा के पास कुछ सुझाव भेजे। इनमे कहा गया था कि या तो राज्य-सभा की अपनी एक लोक लेखा समिति हो, या राज्य-सभा के सात सदस्य लोक-सभा की लोक-लेखा समिति मे सम्मिलित हो जाएँ और इस प्रकार उसे दोनो सदनो की सयुक्त समिति बना दे। लोक-लेखा समिति ने एक प्रस्ताव पास किया कि दोनो सदनो की सयुक्त समिति अथवा राज्य सभा की पृथक् समिति सविधान के सिद्धान्त के प्रतिकूल होगी। यह मामला यही समाप्त हो सकता था, लेकिन प्रधान मान्त्री ने लोक-सभा मे यह सकल्प उपस्थित किया कि, "*राज्य-सभा अपने सात सदस्यों को लोक-लेखा समिति मे सम्मिलित होने के लिए नामांकित करे।*" प्रधान मन्त्री के संकल्प का यह अभिप्राय नही था कि लोक-लेखा समिति दोनो सदनों की संयुक्त समिति हो, तथापि उसने लोक-सभा के सदस्यो मे काफी नाराजगी पैदा कर दी। प्रधान मन्त्री ने आश्वासन दिया कि समिति लोक-सभा की रहेगी, वह स्पीकर के नियन्त्रण मे होगी और राज्य-सभा के सहयोग के फलस्वरूप लोक-सभा की वित्तीय शक्तियो मे किसी प्रकार की कमी नही आयगी। प्रधान मन्त्री के आश्वासन पर दिसम्बर, १९५३ मे सकल्प पास हो गया और मई, १९५४ मे राज्य-सभा के सात सदस्य लोक-लेखा समिति के सदस्य हो गए। सयुक्त समितियो के सम्बन्ध मे भी कठिनाइयाँ उठी थी और लोक-सभा अनिच्छा से राज्य-सभा के प्रस्ताव से सहमत हो गई।

चटर्जी-काड को लेकर और भी उत्तेजना हुई थी। लोक-सभा के एक सदस्य श्री एन० सी० चटर्जी ने अपने एक सार्वजनिक भाषण मे राज्य-सभा के बारे मे कहा

समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है। किन्तु भारतीय राज्य-सभा में सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। साथ ही राज्य-सभा राज्यों की हित-रक्षिका नहीं है, और इसको कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिससे यह राज्यों के हितों का संरक्षण कर सके।

किन्तु इसके यह अर्थ भी नहीं है कि राज्य-सभा की स्थिति उतनी ही दयनीय है जितनी कि चतुर्थ फ्रांसीसी गणराज्य के उच्च सदन (French Council of Republic) की थी। भारतीय राज्य-सभा कनाडा की सीनेट के समान नहीं है, क्योंकि वह न तो जल्दबाजी के विधान-निर्माण पर किसी प्रकार का प्रभावी अंकुश रखती है; और न वह ऐसा सदन होता है जिसमें निम्न सदन द्वारा पारित विधेयकों पर सुझाव रूप से पुनर्विचार हो सके। राज्य-सभा निश्चित रूप से अपने वाद-विवादों के द्वारा शासन और सर्वसाधारण के ऊपर प्रभाव डालती है; राज्य-सभा ऐसा अवसर प्रदान करती है, जहां वक्ता लोग विवादग्रस्त विषयों पर जानकारी देते हैं और ऐसा वे तटस्थ भाव से करते हैं, राज्य-सभा के वाद-विवाद प्राय. उन्मुक्त और स्वतन्त्र होते हैं क्योंकि राज्य-सभा के मतदान का सरकार की सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा शासन जो, जनमत की चिन्ता करता है और जो लोगों के प्रति उत्तरदायी होता है, इतना खतरा उठाने को तैयार नहीं होगा कि अत्यन्त समझदार, योग्य और अनुभवी व्यक्तियों की राय पर विचार भी न करे।

इसके अतिरिक्त कुछ कार्य ऐसे हैं जो केवल राज्य-सभा ही करती है। एक तो राज्य सूची में दिये किसी विषय पर कानून बनाने के लिये संसद् को अधिकृत करने का कार्य है जिसका अनुच्छेद २४९ के अधीन राज्य-सभा को अधिकार है। इसके लिये राज्य-सभा के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत प्राप्त होना आवश्यक है। दूसरे, इसी तरीके से राष्ट्रीय हित के लिए राज्य-सभा कोई अखिल भारतीय सेवा (All India Service) भी स्थापित कर सकती है [अब तक राज्य सभा (Indian Health Service, Indian Economic Service, Indian Engineering Service और Indian Forest Service) स्थापित कर चुकी है] तीसरे, संविधान में संशोधन करने के लिये अकेली लोक सभा अन्तिम कार्रवाई नहीं कर सकती। ऐसे किसी विधेयक का राज्य सभा द्वारा पास किया जाना भी आवश्यक है क्योंकि वह राज्यों का प्रतिनिधि सदन है। अन्त में आपात काल की उद्घोषणा होने पर यदि लोक-सभा भंग हो चुकी हो तो यह निश्चय राज्य सभा ही करती है कि आपात स्थिति जारी रहनी चाहिए अथवा नहीं। यदि राज्य-सभा अस्वीकृत कर दे तो दो मास के पश्चात् साधारण स्थिति पुनः स्थापित हो जाएगी।

दोनों सदनों के सम्बन्ध (Relations between the two Houses)—मॉरिस जॉन्स (Morris Jones) ने लिखा है कि, "संस्थाओं का यह स्वभाव होता है कि वे निष्ठाओं को जन्म देती है और जब दो संस्थाओं की स्थिति प्राय. समान होती है, तो उनमें मतभेदों का उत्पन्न हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है।"[1] भारत को द्विसदनात्मक विधानमण्डलों का अनुभव १९५२ के बाद में ही है, लेकिन इस बीच में भी दोनों

1. Parliament in India, p. 255.

ही तरह एक संस्था नही है। ब्रिटिश संसद् राजा, लॉर्ड-सभा और लोक-सभा से मिल कर बनती है। तीनो संस्थाएँ मिल कर ही संसद् का निर्माण करती है। उसी प्रकार भारतीय संसद् भी राष्ट्रपति, राज्य-सभा और लोक-सभा से मिल कर बनती है। दोनो ही देशों में राज्य का प्रधान केवल औपचारिक प्रधान है और देश के व्यवस्थापन में वह केवल औपचारिक भाग लेता है, और संसदीय शासन-प्रणाली मे ऐसा ही होना चाहिए, यद्यपि भारतीय संविधान ने राष्ट्रपति को कतिपय विशिष्ट विधायिका शक्तियाँ प्रदान की है। १९११ के संसदीय अधिनियम के पास होने और पुन: १९४९ मे संशोधित होने के पश्चात् इंग्लैण्ड की लॉर्ड सभा की वैधानिक क्षमता अत्यन्त मर्यादित हो गई है। उसी प्रकार राज्य-सभा भी एक अशक्त निकाय है और इंग्लैण्ड की लोक-सभा के समान भारत की लोक-सभा भी वास्तविक आकर्षण का निकाय है; यद्यपि राष्ट्रपति, राज्य-सभा और लोक-सभा तीनो के सम्मिलित योग मे ही विधि तैयार हो सकती है।

लोक-सभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या ५२५ है, जिनमे ५०० सदस्य राज्यों से वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित हो कर आते है और ज्यादह से ज्यादह २५ सदस्य संसद् द्वारा पास किये कानून के अनुसार संघीय प्रदेशो से चुने जाते है। यदि राष्ट्रपति का यह मत हो कि आंग्ल भारतीय समुदाय (Anglo-Indian Community) को काफी प्रतिनिधित्व नही प्राप्त हो सका है तो वह उस समुदाय के दो सदस्य नाम-निर्दिष्ट कर सकता है। शुरु मे इस नाम निर्देश का उपबन्ध दस वर्षो के लिए किया गया था, परन्तु संविधान के आठवें संशोधन के अनुसार इसकी अवधि दस वर्ष और अर्थात् १९७० तक बढा दी गई। भिन्न-भिन्न राज्यो से चुने जाने वाले सदस्यो की संख्या इतनी रखी गई है कि यथासम्भव जन गणना के आधार पर निश्चित हो चुकी प्रत्येक राज्य की जनसंख्या और उस राज्य से चुने जाने वाले सदस्यो की संख्या में एक ही अनुपात रहे। सदस्यों की वर्तमान संख्या (अप्रैल, १९६८) में ५२३ है जिनमे ४९६ सदस्य १७ राज्यों और २४ सदस्य १० संघीय प्रदेशों से सीधे निर्वाचित होकर आते है तथा एक सदस्य उत्तर-पूर्वी सीमा एजेंसी से और आंग्ल-भारतीय समुदाय के २ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्दिष्ट किये जाते है।

लोक-सभा मे विभिन्न राज्यो को इस प्रकार स्थान प्राप्त है।

आंध्र प्रदेश	४१	नागालैण्ड	१
असम	१४	उड़ीसा	२०
बिहार	५३	पंजाब	१३
गुजरात	२४	राजस्थान	२३
हरियाणा	९	उत्तर प्रदेश	८५
केरल	१९	पश्चिमी बंगाल	४०
मध्य प्रदेश	३७	जम्मू तथा कश्मीर	६
तमिल नाडू (मद्रास)	३९	दिल्ली	७
महाराष्ट्र	४५	हिमाचल प्रदेश	६
मैसूर	२७	मणिपुर	२

था कि वह बड़ी गैर-जिम्मेदारी का व्यवहार कर रही है। राज्य-सभा ने इसे अपने विशेषाधिकार पर आक्षेप माना और सभापति ने सचिव को तथ्यों का पता लगाने का आदेश दिया। सचिव ने पत्र लिख कर श्री चटर्जी से पूछा कि क्या रिपोर्ट सही थी। इस पर लोक-सभा के सदस्यों ने आपत्ति की। बाद में तय हुआ कि इस प्रकार की समस्याओं पर विचार करने के लिए दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति बैठा दी जाए।

राज्य-सभा की उपयोगिता (Utility of the Rajya Sabha)—इन विवादों ने राज्य-सभा की उपयोगिता के प्रश्न को सामने ला खड़ा किया। अप्रैल, १९५४ में एक गैर-सरकारी सदस्य ने लोक-सभा में प्रस्ताव उपस्थित किया कि राज्य-सभा को शीघ्र ही समाप्त कर दिया जाए। कांग्रेस एवं वामपक्षी दलों के कुछ सदस्यों ने भी कहा कि राज्य-सभा प्रतिक्रिया का गढ़ है। कुछ ने कहा कि राज्य-सभा को रखा जा सकता है, लेकिन उसके सदस्यों को भिन्न रीति से चुना जाना चाहिए। सरकार का यह विचार था कि अभी राज्य-सभा का परीक्षण नहीं हुआ है और उसके सम्बन्ध में कोई निर्णय देना जल्दबाजी होगी। संसद के दोनों सदनों के सम्बन्धों पर टिप्पणी देते हुए मॉरिस जॉन्स (Morris Jones) ने लिखा है,[1] "यह निश्चित है कि यदि दोनों सदन एक से ही कार्य करना चाहते हैं, तो शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व कठिन है। यदि उनके कार्यों को निश्चित नहीं किया जाता, तो उनकी प्रतिद्वन्द्विता और बढ़ेगी।"

जब तक यह सिद्ध न हो जाए कि लोकतन्त्र में, विशेषकर संघ-शासन में द्वितीय सदन की आवश्यकता नहीं है, तब तक उसको समाप्त करने की बात कहना लोकतन्त्रात्मक नहीं है। कोई भी संस्था समाप्त नहीं होना चाहती और राज्य-सभा को समाप्त करने के लिए पर्याप्त लोकमत संगठित करना कठिन होगा। लेकिन, जब दो सदन एक से कार्य करते हैं, तो इससे धन एवं समय का व्यर्थ अपव्यय होता है। लोकतन्त्र ने लोक-सभा को प्रबल बनाया है। राज्य सभा को लोक-सभा के ऊपर संतुलनकारी प्रभाव ही रखना चाहिए। ऐसा होने पर दोनों सभाओं के बीच संघर्ष की बहुत कम संभावना रह जाएगी और प्रत्येक सदन बटे हुए अपने कार्य-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करने लगेगा।

लेकिन, राज्य-सभा को एक दृष्टि से सतर्क रहना चाहिए। ६ अप्रैल, १९६० को राज्य-सभा के ६४ नये सदस्यों का स्वागत करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा था कि उन्हें "जड़ता, कठमुल्लापन, प्रतिक्रिया और अंधविश्वास से बचना चाहिए।" राज्य-सभा को कनाडा की सीनेट की भांति राजनीतिक पेंशन-भोगियों का सदन नहीं बनना चाहिए। राज्य-सभा में ऐसे व्यक्तियों को आना चाहिए जो काफी योग्य और अनुभवी हों, चाहे राजनीतिक दलों में उनकी अपनी स्थिति गौण ही हो।

लोक-सभा
(Lok Sabha)

लोक-सभा (Lok Sabha)—लोक-सभा संसद् का निम्न सदन है और इंग्लैण्ड की लोक-सभा से साम्य रखता है। भारत की संसद् भी इंग्लैण्ड की संसद् की

1. Parliament in India, p. 262.

tion of People's Act) द्वारा भी चुनाव के समय ऐसी स्थितियों का उल्लेख किया गया है जिनके द्वारा व्यक्ति सदस्य चुने जाने के लिए अथवा सदस्य होने के लिए अनर्हता अर्जित कर लेगा। ये अनर्हताएँ राज्य विधानमण्डलो के सदस्यो के ऊपर भी लागू होती है।

यदि ससद् के किसी सदन का सदस्य साठ दिन की कालावधि तक सदन की अनुज्ञा के बिना उसके सब अधिवेशनों मे अनुपस्थित रहे तो सदन ऐसे सदस्य का स्थान रिक्त घोषित कर सकता है।[1]

लोक-सभा की कालावधि (Duration of the House)—लोक-सभा की सामान्य कालावधि पाँच वर्ष है, किन्तु वह इससे पूर्व भी विघटित की जा सकती है। किन्तु जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्त्तन मे है ससद् विधि द्वारा उक्त पाच वर्ष की कालावधि को बढा सकती है, किन्तु वह एक बार मे एक वर्ष से अधिक के लिए नही बढ़ाई जा सकती तथा किसी अवस्था मे भी उद्घोषणा के प्रवर्त्तन का अन्त हो जाने के पश्चात् छः मास की कालावधि से अधिक के लिए नही बढाई जाएगी।[2]

अध्यक्ष (The Speaker)—लोकसभा अपने एक सदस्य को अध्यक्ष चुनती है जो उसके अधिवेशनो का सभापतित्व करता है तथा सदन का कार्य सचालन करता है।[3] यदि अध्यक्ष लोक-सभा का सदस्य नही रहता तो उसे अपना पद त्यागना पड़ता है।[4] अध्यक्ष किसी भी समय अपना पद त्याग सकता है,[5] अथवा लोक-सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यो के बहुमत से पारित सकल्प के द्वारा अध्यक्ष को अपने पद से हटाया जा सकता है।[6] किन्तु उक्त प्रयोजन के लिए किसी सकल्प के प्रस्तावित करने के मन्तव्य की कम-से-कम चौदह दिन की सूचना आवश्यक होती है। लोक सभा के विघटित होने पर अध्यक्ष तुरन्त अपने पद से नहीं हट जाता; किन्तु विघटन के पश्चात् होने वाले लोक-सभा के प्रथम अधिवेशन के ठीक पहले तक अध्यक्ष अपने पद पर बना रहता है। सविधान ने लोक-सभा के लिए एक उपाध्यक्ष की भी व्यवस्था की है और उपाध्यक्ष अध्यक्ष की अनुपस्थिति मे उसका कार्य करता है।[7] अथवा वह उस समय भी अध्यक्ष पद पर कार्य करता है जबकि अध्यक्ष पद रिक्त हो। इग्लैण्ड मे स्पीकर के बिना सदन की कोई कार्रवाई नही चल सकती।[8] उदाहरणार्थ, १९४३ मे जब स्पीकर श्री फिट्ज रॉय (Fitz Roy) की मृत्यु हो गई तो लोक-सभा उठ गयी और उसकी सारी कार्रवाई तब तक रुकी रही जब तक कि नये स्पीकर का निर्वाचन न हो गया, यद्यपि वह आपात-काल था और देश द्वितीय विश्व युद्ध मे फँसा हुआ था।[9] इसके विपरीत भारतीय सविधान ने उपबन्धित किया है कि जब अध्यक्ष का पद रिक्त होता है तो अध्यक्ष पद के कर्त्तव्यों

---

1. अनुच्छेद १०१ (४)
2. अनुच्छेद ८३ (२)
3. अनुच्छेद ९३
4. अनुच्छेद ९४ (क)
5. अनुच्छेद ९४ (ख)
6. अनुच्छेद ९४ (ग)
7. अनुच्छेद ९३ एव ९५ (१)
8. अनुच्छेद ९५ (२)
9. Briers and others : Papers on Parliament, Symposium, p. 2.

त्रिपुरा	२	गोवा, दमण और दीव	२
अण्डमान और निकोबार	१	पाण्डीचेरी	१
लक्कादीव मिनिकोय और अमिनदिवि द्वीपसमूह	१	चंडीगढ़	१
		दादरा तथा नागर हवेली	१

लोक सभा की सदस्यता के लिए अर्हताएं (Qualifications of Membership)—लोक-सभा की सदस्यता के लिए आवश्यक है कि कोई व्यक्ति भारत का नागरिक हो और कम-से-कम २५ वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो तथा ऐसी अन्य अर्हताएँ रखता हो जो इस सम्बन्ध में संसद्-निर्मित किसी विधि द्वारा या विधि के अधीन विहित की जाएँ।[1] कोई व्यक्ति एक ही समय में संसद् के दोनों सदनों का सदस्य नहीं रह सकता; और उसी प्रकार कोई व्यक्ति एक ही समय में संसद् के किसी सदन का तथा किसी राज्य के विधानमण्डल का सदस्य साथ-साथ नहीं हो सकता।

कोई व्यक्ति संसद् के किसी सदन का सदस्य चुने जाने के लिए और सदस्य होने के लिए अनर्ह होगा यदि—(१) वह भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन ऐसे पद को छोड़ कर जिसे धारण करने का अनर्ह न होना संसद् ने विधि द्वारा घोषित किया है[2] कोई अन्य लाभ का पद धारण किए हुए है; (२) यदि वह विकृत-चित्त (पागल) है और सक्षम न्यायालय की तदर्थ घोषणा हो चुकी है; (३) यदि वह अनुन्मुक्त दिवालिया (undischarged insolvent) है; (४) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है अथवा किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छया अर्जित कर चुका है अथवा किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुसक्ति को अधिस्वीकार किए हुए है; और (५) यदि वह संसद्-निर्मित किसी विधि के द्वारा या अधीन अनर्ह घोषित कर दिया गया है।[3] १९५१ के लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम (Representa-

---

1. अनुच्छेद ८४

2. अनुच्छेद १०२ (२) का निर्देश है कि केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के मन्त्री लोगों के पद लाभ के पद नहीं समझे जायेंगे और इस कारण वे अनर्ह न होंगे। संसदीय अनर्हता-निरोधक अधिनियम, १९५० (Parliament Prevention of Disqualification Act, 1950) के अनुसार आदेश हुआ कि किसी राज्यमन्त्री या उपमन्त्री या संसदीय सचिव या संसदीय उपसचिव के पदों पर काम करने वाले संसद् की सदस्यता के लिए अनर्ह न होंगे। यह अनर्हतासम्बन्धी विमुक्ति १९५१ में विभिन्न आयोगों, अनुसन्धान-समितियों तथा निगमों के ऐसे सदस्यों को भी दे दी गई जो वेतन या मानवेतन (honoraria) पाते हों; किन्तु उक्त मानवेतन अथवा वेतन उस भत्ते और यात्रा-व्यय से अधिक न हों जो उन्हें संसद् के रूप में प्राप्त होता है। १९५४ में विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों, संसद् के उपसचेतकों (Deputy Chief Whips) तथा सेना के कई प्रकार के अधिकारियों को भी संसदीय सदस्यता-अनर्हता से विमुक्ति मिल गई।

3. अनुच्छेद १०२ (१)

अध्यक्ष की स्थिति और शक्तियां (Position and Powers of the Speaker)—भारत में लोक सभा के अध्यक्ष का पद महान् आदर और गौरव का पद है। वरीयता के हिसाब से देश मे यह सातवा पद है और उक्त पद का वही महत्त्व है जो उच्चतम न्यायालय के प्रमुख न्यायाधीश का है।[1] इंग्लैण्ड की लोक-सभा के स्पीकर के समान भारतीय लोक सभा का अध्यक्ष भी सदन की इच्छाओं का निर्वचन भी करता है और वह सदन की ओर से बोलता है तथा सदन को भी सम्बोधित करता है। वह सदन के गौरव का रक्षक है और सदन की कार्रवाइयो मे वह पूर्ण तटस्थता से भाग लेता है। इंग्लैण्ड में शॉ लेफवेयर (Shaw Lefvere) के काल से सभी समझते हैं कि स्पीकर का पद एक न्यायिक पद है और इसलिए उक्त पद का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही रहता। ज्योंही किसी व्यक्ति को निर्वाचित करके स्पीकर पद दिया जाता है, वह तुरन्त निर्दल व्यक्ति हो जाता है और राजनीति से सदैव के लिए संन्यास ग्रहण कर लेता है। इसलिए इंग्लैण्ड मे ऐसा अभिसमय है कि प्रत्येक संसद् के प्रारम्भिक अधिवेशन मे स्पीकर को सर्व-सम्मति से चुन लिया जाता है[2] और वह ससद् के जीवन-पर्यन्त अपने पद पर बना रहता है। यदि गत संसद् का पूर्व सभापति नई संसद् मे भी सदन का सदस्य निर्वाचित होकर आया है तो प्रथा यही है कि उसी को पुन: स्पीकर चुन लिया जाता है। यह भी अभिसमय है कि अवकाश प्राप्त करने वाले स्पीकर को संसद् के लिए अवश्य ही चुन भी लिया जाता है।[3]

श्री विट्ठल भाई पटेल भारत के प्रथम स्पीकर थे यद्यपि सरकारी तौर पर उनको विधान-सभा का अध्यक्ष कहा जाता था ; और पटेल महोदय ने अंग्रेजी परम्पराओं के अनुसरण मे उक्त पद का श्रीगणेश किया था। १९२५ में ज्योंही श्री विट्ठल भाई पटेल विधान-सभा के अध्यक्ष पद के लिए निर्वाचित हुए उन्होने अपने आपको निर्दल व्यक्ति घोषित कर दिया और राजनीति से अपना हाथ खीच लिया। निष्पक्ष स्पीकर के रूप में उनकी ऐसी धाक बँध गई थी और उनकी स्थिति इतनी दृढ़ थी कि उनको तत्कालीन केन्द्रीय विधान-सभा के सरकारी और गैर-सरकारी सभी सदस्यों का समर्थन मिला और वे पुनः निर्वाचित हुए,[4] यद्यपि उन्होने कई बार ऐसे भी निर्णय दिए जो

1. As in May, 1954, India 1955, p. 629.

2. स्पीकर के पद के लिए संघर्ष भी हो सकता है। १९५१ मे श्रमिक दल ने अनुदार दलीय प्रत्याशी को लेने पर आपत्ति नही की किन्तु यह भी स्पष्ट कहा कि पूर्व डिप्टी-स्पीकर अपने अधिक अनुभव के कारण अधिक उपयुक्त स्पीकर रहता। इसके पश्चात् मतदान हुआ, जिसके फलस्वरूप अनुदार दलीय प्रत्याशी विजयी हुआ।

3. किन्तु १९३५ में और पुनः १९४५ में श्रमिक दल ने अनुदार दलीय स्पीकरों फिट्ज राय (Fitz Roy) और क्लिफ्टन ब्राउन (Clifton Brown) के पुनर्निर्वाचन पर संघर्ष किया यद्यपि श्रमिक दल हार गया। १९५० में अधिकृत श्रमिक दलीय प्रत्याशी ने विरोध नही किया। किन्तु एक स्वतन्त्र श्रमिक प्रत्याशी ने विरोध किया किन्तु वह बुरी तरह हारा।

4. Kaul, M. N. : Growth of the Position and Powers of the Speaker, Hindustan Times, Sunday Magazine : January 24, 1954.

का निर्वहन उपाध्यक्ष करता है। यदि किसी कारणवश उस समय उपाध्यक्ष का पद भी रिक्त हो, तो ऐसे समय पर अध्यक्ष पद पर काम करने के लिए राष्ट्रपति लोक-सभा के किसी सदस्य को नियुक्त करता है और वही अध्यक्ष के कर्त्तव्यों का निर्वहन करेगा।[1] यदि सदन के किसी अधिवेशन में अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों अनुपस्थित हों तो ऐसी अवस्था में ऐसा व्यक्ति सदन का अध्यक्ष होगा जिसके बारे में सदन की कार्य-प्रणाली के नियमों (rules of procedure of the House) ने आज्ञा दी हो। १९५० के सदन की कार्यवाई के नियमों (The Rules of Procedure and Conduct of Business in Lok Sabha) ने आदेश दिया है कि "संसद् के जीवन के आरम्भ में अथवा यथा आवश्यकता, सदन का अध्यक्ष संसद् के सदस्यों में से छ: से अनधिक चेयरमैनों को चुनती हैं;[2] और यदि कभी ऐसा अवसर आता है जब अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों अनुपस्थित हों तो उन छ: में से एक सदस्य अध्यक्ष के स्थान पर उसके कर्त्तव्यों का निर्वहन करता है।" यदि उक्त छः सदस्य चेयरमैनों में से भी कोई व्यक्ति उपस्थित न हो तो स्वयं सदन अपने ही सदस्यों में से किसी सदस्य को चुनता है जो सदन का अस्थायी अध्यक्ष होगा।[3] जिस समय लोकसभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के पद से हटाने का संकल्प सदन के विचाराधीन होता है, उस समय न तो अध्यक्ष और न उपाध्यक्ष लोक-सभा की बैठकों में पीठासीन होगा।[4] किन्तु जब लोक-सभा में अध्यक्ष को अपने पद से हटाने का कोई संकल्प विचाराधीन हो, उस समय उसको लोक सभा में बोलने, उपस्थित रहने और अपनी सफाई देने का हक होगा।[5]

संविधान ने अध्यक्ष को केवल निर्णायक मत का अधिकार ऐसी अवस्था में दिया है जबकि किसी प्रश्न पर मत साम्य (in case of equality of votes)) हो।[6] उक्त उपबन्ध इंग्लैण्ड के इस अभिसमय (convention) पर आधारित है कि लोक-सभा का स्पीकर केवल मत साम्य की अवस्था में ही निर्णायक मत देता है। किन्तु इंग्लैण्ड का स्पीकर प्रायः अपना निर्णायक मत इस प्रकार देता है कि उसके मत से अन्तिम निर्णय नहीं होता और इस प्रकार वह कुछ समय और देता है जिसमें सदन प्रश्न पर पुनः विचार करे।

भारतीय संविधान ने उपबन्धित किया है कि अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को ऐसे वेतन और भत्ते दिए जाएँगे जैसे संसद् विधि द्वारा नियत करे।[7] अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते भारत की संचित निधि पर भारित व्यय होता है।[8] अध्यक्ष को ३,००० रुपए मासिक और उपाध्यक्ष को १,५०० रुपए मासिक वेतन उन कालावधियों के लिए मिलता है जिनमें संसद् कार्य करती है, अर्थात् वास्तविक सेवा में बिताए समय के बारे में उक्त दर से वेतन मिलता है। कुछ लोगों का ऐसा प्रस्ताव था कि अध्यक्ष का वेतन घटा कर २,२५० रुपए प्रति मास कर दिया जाए।

---

1. अनुच्छेद ९५ (१)
2. नियम नं० ७
3. अनुच्छेद ९५ (२)
4. अनुच्छेद ९६ (१)
5. अनुच्छेद ९६ (२)
6. अनुच्छेद १००
7. अनुच्छेद ९७
8. अनुच्छेद ११२ (३) (ख)

तत्कालीन ब्रिटिश शासन को अप्रिय लगे। जब १९३० के असहयोग आन्दोलन में पटेल ने भाग लेना चाहा तो उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। किन्तु इंग्लैण्ड में स्पीकर के पद के साथ जो पुराने अभिसमय जुड़े हुए हैं उनका उल्लंघन भी सर्वप्रथम कांग्रेस ने ही किया, यद्यपि पटेल महोदय ने उन अभिसमयों और प्रथाओं की प्राणपण से रक्षा की थी। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने संकल्प द्वारा निर्णय किया कि राज्यों और केन्द्र के स्पीकर लोग कांग्रेस के चुनावों से दूर रहें। किन्तु कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के उक्त सकल्प के यह अर्थ नहीं थे कि कांग्रेस के स्पीकर लोग कांग्रेस की सदस्यता भी त्याग दें। जिस समय बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन संयुक्त प्रान्त की विधान-सभा के अध्यक्ष थे, उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे घोषणा की थी कि स्पीकर पद के सम्बन्ध में यह आवश्यक नहीं है कि भारत मे भी इंग्लैंण्ड की प्रथा का अनुसरण किया जाए। श्री टण्डन का विचार था कि सदन मे स्पीकर निर्दल व्यक्ति के समान आचरण करे किन्तु सदन के बाहर वह दलगत निष्ठाएं रख सकता है। इसी प्रकार के विचार भारतीय लोक सभा के प्रथम अध्यक्ष श्री जी० वी० मावलंकर के भी थे। श्री मावलंकर ने कहा था—"भारत का स्पीकर इस समय उसी प्रकार राजनीति से दूर नही रह सकता जिस प्रकार कि ब्रिटिश लोक-सभा (House of Commons) का स्पीकर राजनीति से संन्यास ले लेता है। फिलहाल, भारत का स्पीकर राजनीति मे भाग लेता रहेगा यद्यपि राजनीतिक क्रिया-कलापो मे उसको सोच-समझकर ही मर्यादित भाग लेना चाहिए। वह अपने दल का सदस्य बना रह सकता है किन्तु दल के विभिन्न क्रिया-कलापों से उसे हाथ खीच लेना चाहिए; विशेषकर ऐसे मामलो मे उसे विशेष रुचि नही लेनी चाहिए जो ससद् में विचारार्थ आने को हों। सक्षेप मे, उसे ऐसे किसी प्रचार-कार्य में रत नही होना चाहिए या अपने विचार इस प्रकार प्रकट नही करने चाहिएँ जिससे ऐसा आभास मिले कि स्पीकर किसी दल-विशेष का आदमी है। माना कि स्पीकर किसी दल-विशेष के कार्यक्रम में विश्वास न करता हो फिर भी वह किसी एक दल मे निष्ठा तो रखता ही है, और जहा कोई व्यक्ति एक दल विशेष से सम्बद्ध हुआ कि उसके विचारों मे पक्षपात आ जाते हैं। और फिर अनुभवी राजनीतिज्ञो के पक्षपात अत्यन्त कठिन होते हैं।" इसलिए भारतीय स्पीकर को उतना सर्वदलीय आदर प्राप्त नही हो सकता जितना कि इंग्लैण्ड के स्पीकर को अपनी पूर्ण तटस्थता के कारण प्राप्त होता है।

जब स्पीकर सभी प्रकार की राजनीति मे पूर्ण सन्यास ग्रहण कर लेता है तो यह भी आवश्यक है कि उसे चुनाव न लडना पडे। यह सच है कि श्रमिक दल ने १९३५ मे और पुनः १९४५ मे अनुदारदलीय स्पीकरों के पुनर्निर्वाचनों मे संघर्ष करके १०० वर्ष पुरानी प्रथा को तोड़ दिया। किन्तु दोनो बार श्रमिक दल के प्रत्याशी हार गए और ऐसा प्रतीत होता है कि निवाचकगण भी अनुभव करते हैं कि स्पीकर का निर्विरोध चुना जाना श्रेयस्कर है। भारत के निर्वाचकों का ऐसा दृष्टिकोण उस समय तक नही बनेगा जब तक कि स्पीकर राजनीतिज्ञ बना रहेगा और स्पीकर का निर्विरोध निर्वाचन कठिन होगा। मावलंकर महोदय जैसी स्थिति के महान् व्यक्ति को भी १९५२ के साधारण निर्वाचन मे विरोध सहन करना पड़ा था। अध्यक्ष पद पर भी उनका निर्वाचन सर्वसम्मत नही था। अतः स्पीकर के ऊपर पूर्ण श्रद्धा न होने के कारण उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने के कई

अनजाने में या जान-बूझकर विचाराधीन विषय से हटकर व्यर्थ की बकवास न करने लग जाएं। इसके अतिरिक्त सदन की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध मे वारम्वार लोग उससे अपील करते है। इस सम्बन्ध मे स्पीकर संसद् की विधि का निर्वचक होता है। उसकी व्यवस्था या उसका निर्णय अन्तिम है और उसके विरुद्ध अपील नही की जा सकती। वही सदन को अथवा सदस्यों को सदन की कार्रवाई के नियमों से अवगत कराता है। वह प्रश्न द्वारा भी सदस्यों की राय मांग सकता है और मतो के निर्णयों को भी वही निश्चित करता है। स्वय अध्यक्ष अपना निर्णायक मत केवल तभी देता है जब किसी प्रश्न पर मत साम्य हो अर्थात् दोनो पक्षों के बराबर-बराबर मत हो।

स्पीकर लोक सभा को शासन के अतिक्रमणों से बचाता है। जब मन्त्री लोग सदस्यों की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण करते हैं या उनके प्रश्नों का उत्तर देने में आनाकानी करते हैं या पर्याप्त सूचना नही देते तो सदस्य स्पीकर से मन्त्री के विरुद्ध अपील करते हैं कि सदस्यो के अधिकारों की रक्षा कार्यपालिका के अतिक्रमणों के विरुद्ध की जाए। स्पीकर ही विभिन्न स्थायी समितियो के लिए लोक-सभा के सदस्यो मे से ही सभापति नाम-निर्देशित करता है। कुछ सदन की समितियों का तो वह स्वयं पदेन सभापति होता है, जैसे नियम और विशेषाधिकार समिति और कार्रवाई परामर्शदात्री समिति (Business Advisory Committee)।

संसद् और राष्ट्रपति के बीच की सारी लिखा-पढ़ी या पत्र-व्यवहार स्पीकर के ही माध्यम द्वारा होता है। वही सारे विधेयको पर हस्ताक्षर करता है और उसके हस्ताक्षर के बाद ही कोई विधेयक लोक-सभा द्वारा पारित माना जा सकता है। उसके हस्ताक्षर के बाद ही कोई विधेयक राज्य-सभा या राष्ट्रपति के पास भेजा जाता है।

लोक सभा का अपना सचिवालय है और संसद् के किसी भी सदन के सचिवालयो मे जो व्यक्ति नियुक्त होते है, उनकी सेवा की शर्तें ससद् की विधि द्वारा नियमित होती हैं। लोक सभा के सचिवालय में कार्य करने वाले लोग सीधे स्पीकर के नियन्त्रण में कार्य करते हैं और वे उसी के प्रति उत्तरदायी हैं। स्पीकर का सदन की सारी भूमि पर नियन्त्रण है और सदन के अन्दर और बाहर उसके अधिकार पर कोई नियन्त्रण नही है। नवागन्तुकों अथवा दर्शकों के संसद् मे आने-जाने पर वही अंकुश रखता है और वह किसी भी दर्शक को किसी भी समय सदन से निकल जाने का आदेश दे सकता है।

लोकसभा के कृत्य
(Functions of the Lok Sabha)

व्यवस्थापक कृत्य (Legislative Functions)—विधि-निर्माण की विधि ससद् निश्चित करती है जो राष्ट्रपति, राज्य-सभा और लोक सभा से मिल कर बनती है।[1] विना राष्ट्रपति और राज्य-सभा के केवल लोक सभा कुछ भी नही कर सकती, यद्यपि राष्ट्रपति और राज्य-सभा की शक्तियो और अधिकारों पर कई प्रकार की मर्यादाएँ

1. अनुच्छेद ७९

देते हैं जो उनसे पूछे जाते हैं। यदि कोई सदस्य चाहे तो किसी सार्वजनिक महत्त्व की जानकारी के विषय मे आकड़े भी माग सकता है। इसके अतिरिक्त ससदीय समितियों की नियुक्ति के द्वारा भी सदन कार्यपालिका से विभिन्न प्रकार की शासन-सम्बन्धी सूचनाएं प्राप्त कर सकता है।

इसके अतिरिक्त, लोकसभा एक वाद-विवाद करने वाली विचारक सभा है। लास्की (Laski) ने लिखा है कि, "जिस समाज मे विचार और वाद-विवाद होता है उसे लड़ने की आवश्यकता नही पड़ती इसलिए जितना ही किसी समाज मे वाद-विवाद मे लोग रुचि लेगे, उतनी ही कम सम्भावना इस बात की रह जाएगी कि ऐसे समाज मे ऐसे समझौते न हो सके जिनके द्वारा सामाजिक शान्ति बनी रहे।"[1] विरोधी दल का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य यही है कि वह शासन के नीति-निर्माण और प्रशासन-सम्बन्धी मामलो पर बहस करे और आलोचना करे, और इस प्रकार शासन को मजबूर करे कि वह अपनी इच्छाओं और अपने कृत्यो का औचित्य सिद्ध करे। शासन की नीति की आलोचना करने का विरोधी दल के पास सर्वश्रेष्ठ अवसर उस समय आता है जबकि राष्ट्रपति द्वारा ससद् के प्रति किए गए अभिभाषण पर उत्तर दिया जाता है। शासन की आलोचना करने का अन्य अवसर उस समय भी आता है जब वित्तीय विधेयक और विशेषकर सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी प्रस्तावों पर सदन विचार करे। सार्वजनिक व्यय (Expenditure) सम्बन्धी वाद-विवाद मे प्रत्येक मन्त्री के कामो की और प्रत्येक विभाग की परीक्षा होती है। अनुपूरक आगणनों सम्बन्धी मागों (Demands for Supplementary Estimates) पर भी शासन की आलोचना के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं। यहा पर यह अवश्य कह देना चाहिए कि वर्तमान में पर्याप्त में ऐसा कोई सुसंगठित विरोधी पक्ष नही है जो अपनी आलोचना से सरकार मे प्रभावपूर्ण हलचल मचा दे।

उक्त अनुसूचित एवं नियमित वाद-विवादों के अतिरिक्त, लोक-सभा का कोई सदस्य पर्याप्त सूचना देकर नियमानुसार प्रस्ताव उपस्थित कर सकता है जिसमे मन्त्रि-परिषद् के प्रति अविश्वास प्रकट किया गया हो। जिस समय शासन के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव आता है उस समय उस शासन का सिहासन हिल जाता है क्योंकि अविश्वास का प्रस्ताव शासन के भाग्य का निर्णय करने वाला होता है। जब तक शासन की पीठ पर पर्याप्त बहुमत का वरद हस्त रहता है तब तक अविश्वास प्रस्ताव के पास होने की कोई सम्भावना नही रहती। फिर भी उक्त प्रस्ताव के फलस्वरूप मन्त्रियो में घबराहट पैदा हो जाती है और सर्वसाधारण मे भी विचारमन्थन होने लगता है। कार्यपालिका के कृत्यो की आलोचना करने का सबसे अच्छा अवसर सदन की कार्रवाई के स्थगन प्रस्ताव पर आता है और उस समय किसी भी सार्वजनिक महत्त्व की आवश्यक बात पर विचार-विनिमय किया जाता है। यदि स्पीकर या लोक-सभा का अध्यक्ष स्थगन प्रस्ताव (adjournment motion) को स्वीकार कर लेता है तो उक्त विषय को लेकर विस्तृत वाद-विवाद होता है।

---

1. Laski : Parliamentary Government in England, p. 149.

चौदह दिन का विलम्ब लगा सकती है। इस प्रकार राज्य-सभा भी इंग्लैण्ड की लॉर्ड सभा के समान ही अशक्त सदन है यद्यपि लॉर्ड-सभा किसी धन विधेयक पर एक मास तक का विलम्ब लगा सकती है।

इसके अतिरिक्त अनुदान-सम्बन्धी मांगे राज्य-सभा के समक्ष नहीं जाती। समस्त व्यय की स्वीकृति (Sanctioning of expenditure) केवल लोक सभा ही करती है।

निर्वाचक कृत्य (Electoral Functions)—संसद् के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचक गण के भाग है।[1] इस सम्बन्ध में लोक सभा और राज्य-सभा की शक्ति समान है। उसी प्रकार संयुक्त अधिवेशन में समवेत संसद् के दोनो सदनो के सदस्यो द्वारा भारतीय गणराज्य के उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन होता है।[2]

कार्यपालिका का नियन्त्रण और निरीक्षण (Controlling the Executive)—लोक-सभा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह मन्त्रिमण्डल के कार्य का नियन्त्रण और निरीक्षण कर सकती है। सविधान ने मन्त्रि-परिषद् को लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी ठहराया है,[3] और मन्त्रि-परिषद् का लोक-सभा के प्रति उत्तरदायित्व यह सिद्ध करता है कि सदन का शासन के ऊपर सदैव नियन्त्रण बना रहेगा। नियन्त्रण और उत्तरदायित्व का चोली-दामन का साथ है। मन्त्रिमण्डल के उत्तरदायित्व का यह अर्थ है कि वह उसी समय तक सत्तारूढ़ रह सकता है जब तक कि वह लोक सभा का विश्वासपात्र बना रहे। और यदि शासन की नीति से लोक-सभा का विरोध है तो शासन को त्यागपत्र देना होगा। इसलिए लोकसभा का भी यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह शासन के विभिन्न क्रिया-कलापो पर इस प्रकार दृष्टि रखे कि कार्यपालिका और लोक प्रतिनिधियो के नीति सम्बन्धी मौलिक विभेद स्पष्टतया सम्मुख आते रहें। यदि शासन की वास्तविक और सम्भाव्य गलतियां स्पष्टतया दिखाई न देंगी तो डर है कि शासन अनुत्तरदायित्वपूर्ण हो जाए। लोक सभा का जो नियन्त्रण कार्यपालिका के ऊपर रहता है, उसके फलस्वरूप शासन उत्तरदायी बना रहता है क्योंकि मन्त्रियो को सदैव भय बना रहता है कि उनसे जवाब-तलब किया जा सकता है।

लोकसभा कार्यपालिका के ऊपर दो प्रकार से नियन्त्रण रख सकती है। प्रथमतः शासन के विभिन्न कृत्यो के सम्बन्ध मे सदन मे लगातार जानकारी और सूचना की मांग बनी रहती है। द्वितीयतः सदन मे शासन के प्रत्येक कार्य की आलोचना होती रहती है। ये दोनो विधियां एक दूसरे से सम्बन्धित है और इनके कई रूप हो सकते हैं। लोकसभा मौखिक या लिखित प्रश्नो द्वारा मन्त्रि-परिषद् से हर प्रकार की जानकारी प्राप्त कर सकती है। लोक-सभा का कोई भी सदस्य, नियमानुसार मन्त्रियो से प्रश्न पूछ सकता है; और मन्त्री लोक सदन के अधिवेशन के प्रारम्भ मे लगभग एक घण्टे तक उन प्रश्नों के उत्तर

1. अनुच्छेद ५४
2. अनुच्छेद ६६
3. अनुच्छेद ७५ (३)

अधिकार है कि वह किसी ऐसे प्रस्ताव पर विचार करे जिसमें उच्चतम न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की सिद्ध कदाचार (proved misbehaviour) और असमर्थता (incapacity) के लिए पद-वियुक्ति (removal) की माग की गई हो; किन्तु ऐसे प्रस्ताव का समस्त सदस्य संख्या के बहुमत, तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों में कम-से-कम दो-तिहाई के बहुमत के समर्थन द्वारा पारित होना आवश्यक है।[1] संसद् के दोनों सदनों मे से किसी भी सदन मे राष्ट्रपति के विरुद्ध महा-भियोग लाया जा सकता है और तदर्थ दोषारोप किया जा सकता है। जब दोषारोप लोक-सभा द्वारा किया जाए, तो राज्य-सभा उक्त दोषारोप का अनुसंधान करती है या कराती है, यदि राज्य-सभा दोषारोप करती है तो फिर लोक-सभा उक्त दोषारोप का अनुसंधान करती या कराती है। यदि अनुसन्धान करने या कराने वाले सदन के समस्त सदस्यों के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत से राष्ट्रपति के विरुद्ध किए गए दोषारोप की सिद्धि को घोषित करने वाला सकल्प पारित हो जाता है तो दोषारोप सिद्ध माना जाता है और उसका प्रभाव उसकी पारण तिथि से राष्ट्रपति का अपना पद से हटाया जाना होता है।[2] यदि राज्य-सभा, उप-राष्ट्रपति को अपने पद से हटाने के सम्बन्ध मे सकल्प करे, तो ऐसे संकल्प की लोक-सभा द्वारा स्वीकृति भी आवश्यक होती है।[3] किन्तु उप-राष्ट्रपति को हटाने के सम्बन्ध में कोई सकल्प लोक-सभा में पुरःस्थापित नही किया जा सकता। राष्ट्रपति द्वारा प्रवर्त्तित विभिन्न प्रकार की आपात उद्घोषणाओं का लगातार प्रवर्तन लोक-सभा और राज्य-सभा की सम्मिलित सम्मति से ही सम्भव हो सकता है।

विधान-निर्माण सम्बन्धी प्रक्रिया
(Legislative Procedure)

विधान-निर्माण सम्बन्धी प्रक्रिया (Legislative Procedure)—संविधान ने संसद् के दोनों सदनों के द्वारा विधेयकों के पास करने की विस्तृत प्रक्रिया नही बताई है। संविधान ने केवल यही बतलाया है कि कोई सामान्य-विधेयक (अ-वित्तीय) संसद् के किसी भी सदन मे पुरःस्थापित किया जा सकता है, और कोई विधेयक उस समय तक संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित नहीं माना जाएगा जब तक कि उक्त विधेयक को दोनों सदनों ने स्वीकार न कर लिया हो। चाहे तो बिना किसी संशोधन के और चाहे ऐसे संशोधन सहित जिनको दोनों सदनो ने स्वीकार कर लिया हो यदि कोई विधेयक किसी सदन के विचाराधीन है और यदि ऐसी स्थिति मे संसद् स्थगित हो जाए, तो उक्त विधेयक समाप्त नही होगा। किन्तु लोक-सभा के विघटन के फलस्वरूप ऐसा विधेयक समाप्त हो सकता है जो लोक-सभा के विचाराधीन हो अथवा जिसको लोक-सभा तो पारित कर चुकी हो किन्तु जो राज्य-सभा के विचाराधीन हो। जब राष्ट्रपति आदेश देता है कि संसद् के दोनों सदनों का सम्मिलित अधिवेशन आहूत किया जाए,

1. अनुच्छेद १२४ (४) और अनुच्छेद २१७ (१) (ख)
2. अनुच्छेद ६१ 3. अनुच्छेद ६७

एक अन्य प्रकार का भी स्थगन प्रस्ताव होता है जिसे आपातकाली स्थगन प्रस्ताव कहा जा सकता है। ऐसे आपात स्थगन प्रस्ताव का यह प्रयोजन होता है कि आवश्यक सार्वजनिक महत्त्व के किसी मामले पर तुरन्त विचार-विनिमय किया जाए तथा थोड़े समय के लिए वाद-विवाद किया जाए और वाद-विवाद के फलस्वरूप शासन का ध्यान किसी सार्वजनिक महत्त्व की बात की ओर तुरन्त आकर्षित किया जाए। औपचारिक प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया जाता। नियम यह है कि किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर वाद-विवाद चाहने वाला सदस्य लोकसभा के सेक्रेटरी को लिखित सूचना दे और वाद-विवाद के विषय को स्पष्टतया सूचित करे। उक्त सूचना पर कम-से-कम दो अन्य सदस्य समर्थन-सूचक हस्ताक्षर करें। यदि लोक-सभा का अध्यक्ष उक्त सूचना को स्वीकार कर लेता है तो फिर वह सदन के नेता के परामर्श से वाद-विवाद के लिए एक दिन नियत करता है। ऐसा वाद-विवाद ढाई घण्टे से अधिक देर तक नही चलता। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐसी सरकार भी, जिसके पीछे लोक-सभा में पर्याप्त बहुमत है सब को शिकायतों का अवसर देने पर मजबूर है और संविधान ने ससद् में प्रत्येक सदस्य को भाषण स्वतन्त्रता और अभिव्यक्ति स्वतन्त्रता प्रदान की है।[1] प्रश्नों के पूछे जाने से उत्पन्न होने वाले मामलों पर होने वाले 'आध घंटे के वाद-विवाद' भी शिकायतों को प्रकाश मे लाने का अच्छा अवसर प्रदान करते हैं। वाद-विवाद प्रारम्भ करने के अवसरो के अन्तर्गत संकल्पों तथा 'अभी तक कोई दिन नियत नही किया गया है' (No-day-yet-named) प्रस्तावों का प्रस्तुत किया जाना भी सम्मिलित है।

संविधान संशोधन सम्बन्धी कृत्य (Constituent Functions)—लोक सभा और राज्य-सभा दोनों की सम्मिलित स्वीकृति पर संविधान में सशोधन हो सकता है। संविधान में सशोधन चाहने वाले विधेयक किसी भी सदन मे पुरःस्थापित किये जा सकते है किन्तु यह आवश्यक है कि संसद् के प्रत्येक सदन मे सम्पूर्ण सदस्य सख्या के बहुमत से एवं उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से उक्त विधेयक पास होना चाहिए। जैसा कि बताया भी जा चुका है, सविधान ने वह विधि नहीं बताई है जिसके द्वारा प्रस्तावित सविधान-सशोधन से सम्बन्धित दोनों सदनों के मतभेदों को सुलझाया भी जासके। शंकरी प्रसाद बनाम भारत सरकार वाले मामले मे उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि संविधान मे सशोधन करने की प्रक्रिया विधायी प्रक्रिया (legislative procedure) है। इसलिए अब निश्चित हो गया है कि यदि कभी सविधान के संशोधन के सम्बन्ध मे लोक-सभा और राज्य-सभा मे मतभेद होगा तो उसे संविधान के अनुच्छेद १०८ के अनुसार दोनों सदनो के सम्मिलित अधिवेशन में सुलझाया जाएगा। किन्तु ऐसी अवस्था में राज्य-सभा कमजोर पडेगी क्योंकि उसकी सदस्य-संख्या कम है। दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक मे लोक-सभा की बात ही मानी जाती है।

प्रकीर्ण अथवा विविध कृत्य (Miscellaneous Functions)—संसद् को

१. अनुच्छेद १२५

द्वितीय वाचन (The Second Reading)—जिस दिन विधेयक पर विचार होना निश्चित होता है विधेयक का प्रस्तावक या पुरःस्थापक सदस्य निम्न प्रस्तावों मे कोई एक प्रस्ताव रख सकता है—

(i) सदन विधेयक पर या तो तुरन्त विचार करे या प्रस्ताव मे निर्देशित किसी अन्य दिन उक्त विधेयक पर विचार किया जाए;

(ii) विधेयक प्रवर समिति में भेज दिया जाए;

(iii) विधेयक को घुमाया जाए और उस पर जनमत सग्रह किया जाए।

किसी विधेयक पर तुरन्त विचार तो प्राय. कभी नही किया जाता; हा, यदि कोई विधेयक विरोधशून्य हो और शासन द्वारा पुरःस्थापित किया गया हो, तो शायद उस पर तुरन्त विचार करने की अनुमति मिल जाए। सामाजिक महत्त्व के ऐसे विधेयकों को जिनका राष्ट्र के जीवन पर प्रभाव पड़ना सम्भव है, अथवा कोई ऐसी नई बात जो राष्ट्र के जीवन में उथल-पुथल मचा दे, और जिसके कारण विवाद और विरोधी भाव जाग्रत हो, अवश्य ही जनमत के लिए प्रसारित की जाती है और सब प्रकार के विधेयक अवश्य ही प्रायः प्रवर समिति में विचारार्थ भेज दिए जाते है।

जब ऊपर वर्णन किए गए तीनों प्रस्तावो मे से कोई एक प्रस्ताव रख दिया जाता है तो, या तो उसी दिन अथवा किसी अन्य दिन, विधेयक के मुख्य सिद्धान्तो पर विचार किया जाता है। विधेयक का प्रस्तावक विस्तारपूर्वक और स्पष्टतया समझाता और व्याख्या करता है कि प्रस्तावित विधेयक की क्यों आवश्यकता है और उसका क्या महत्त्व है। विधेयक के अन्य समर्थक भी यही करेगे। किन्तु उक्त विधेयक के विरोधी सदस्य उक्त विधेयक की आलोचना करेगे किन्तु यह समझ लेना आवश्यक होगा कि यह समय न तो विस्तारपूर्वक विधेयक पर विचार करने का है, न इस विधेयक पर संशोधन उपस्थित किए जा सकते है, न धारा प्रतिधारा पर मतदान हो सकता है। इस समय तो समूचे विधेयक पर विचार किया जाता है; और यदि संशोधन प्रस्तुत भी किए जाते है तो वे विधेयक पर नही अपितु उस प्रस्ताव पर जिसके द्वारा तुरन्त विचार करने की प्रार्थना की गई थी, अथवा जिसके द्वारा जनमत संग्रह करने की बात कही गई थी अथवा जिसके द्वारा उक्त विधेयक को प्रवर समिति मे विचारार्थ भेजने के लिए कहा गया था। यदि उक्त प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है तो विधेयक अपने जीवन के तृतीय स्तर मे पहुँच जाता है।

समिति स्तर (Committee Stage)—यदि सदन, विधेयक को प्रवर समिति मे भेजने सम्बन्धी प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है, तो एक समिति तदर्थ नियुक्त की जाती है। उक्त समिति में अन्य सदस्यों के अतिरिक्त दो सदस्यों का होना अत्यावश्यक है—एक तो विधेयक का प्रस्तावक और दूसरा विधि सदस्य जो पदेन प्रवर समिति का सदस्य होता है। सदन के सदस्यों में से ही किसी सदस्य को, सदन का अध्यक्ष अथवा स्पीकर प्रवर समिति का चेयरमैन नियुक्त कर देता है। यदि किसी समिति मे सदन का उपाध्यक्ष भी सदस्य हो तो वही समिति का चेयरमैन भी होगा। समिति विधेयक की सूक्ष्म परीक्षा करती है। समिति को अधिकार है कि वह किसी भी व्यक्ति को बुला सकती है और उसकी गवाही कराके उससे ऐसे कागज या सबूत माग सकती है जो उनके

तो उसके फलस्वरूप लोक-सभा के विघटित होने से भी कोई विचाराधीन विधेयक समाप्त नही होगा।

शेष विधान-निर्माण सम्बन्धी प्रक्रिया संसद् के नियमों में दे दी गई है। इन नियमो के द्वारा संसद् के दोनो सदनो में समान प्रक्रिया स्थापित की गई है। किसी मन्त्री द्वारा पुर:स्थापित किया जाने वाला विधेयक सरकारी विधेयक कहलाता है और प्राइवेट सदस्य द्वारा किया जाने वाला प्राइवेट विधेयक कहलाता है। प्रत्येक विधेयक के आवश्यकत: तीन वाचन होते है और उसे प्रत्येक सदन में पांच स्तर पार करने पड़ते हैं तभी वह ससद् के किसी सदन द्वारा पारित माना जा सकता है। वे पांच स्तर निम्न है—(i) प्रथम वाचन; (ii) द्वितीय वाचन (iii) प्रवर समिति स्तर; (iv) प्रतिवेदन स्तर; और (v) तृतीय वाचन।

प्रथम वाचन (The First Reading)—प्रथम वाचन मे कोई विधेयक पुर:स्थापित किया जाता है और उसे भारतीय गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है। सामान्य विधायी प्रस्ताव, किसी भी सदस्य द्वारा पुर:स्थापित किया जा सकता है। जो सदस्य किसी विधेयक को पुर:स्थापित करना चाहता है; उसके लिए आवश्यक है कि एक मास पूर्व अपनी विधेयक सम्बन्धी इच्छा की सूचना दे दे; और तदर्थ आज्ञा प्राप्त कर ले। उक्त सूचना में विधेयक का प्रारूप, उक्त विधेयक के उद्देश्य और कारण तथा ज्ञापन भी सलग्न रहना चाहिए जिसमें तत्सम्बन्धी आवर्त्ती (recurring) और अनावर्ती (non-recurring) व्ययो का लेखा रहे तथा यदि आवश्यक हो तो तदर्थ राष्ट्रपति की स्वीकृति भी सलग्न हो। ऐसे विधेयक जिनका प्रभाव राज्य या राज्यों की सीमाओ पर पड़ता हो अथवा ऐसे विधेयक जिनका प्रभाव सरकारी भाषा को बदलने पर पड़ता हो जिससे उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालयों या अधिनियमों अथवा विधेयको में प्रयुक्त होने वाली भाषा को सविधान[1] के प्रभावी होने के प्रथम १५ वर्षों मे बदला जा रहा हो, तो वे सब विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से ही पुर:स्थापित हो सकते है।

विधेयक की पुर:स्थापना के निश्चित दिन विधेयक का प्रस्तावक या पुर:स्थापक सदस्य सदन की अनुमति से विधेयक का शीर्षक पढ़ता है। यदि विधेयक की पुर:स्थापना का विरोध किया जाता है, तो लोक-सभा का अध्यक्ष विधेयक के प्रस्तावक अथवा पुर:स्थापक और विरोधी सदस्यो को विधेयक के सम्बन्ध में अपनी-अपनी बात कहने का अवसर देता है। इसके बाद प्रश्न पर मत लिए जाते हैं और यदि उपस्थित सदस्यों में से बहुमत सदस्य विधेयक का समर्थन करते है, तो मान लिया जाता है कि विधेयक पुर:स्थापित हो गया। ज्योंही विधेयक के पुर:स्थापित करने की आज्ञा सदन देता है कि विधेयक भारतीय गजट मे छपने भेज दिया जाता है। किसी सदस्य की प्रार्थना पर भी, सदन का अध्यक्ष विधेयक को भारतीय गजट मे छपने के लिए भेज सकता है। ऐसी स्थिति में विधेयक के पुर:स्थापित करने के लिए सदन की आज्ञा लेने की आवश्यकता नही रहती।

---

१. अनुच्छेद ३४६

tication) किया जाता है और प्रमाणीकरण के पश्चात् विधेयक को दूसरे सदन में भेज दिया जाता है जहां फिर उसी प्रकार की सारी कार्रवाई होती है। यदि दूसरा सदन भी विधेयक को उसी रूप में पास कर देता है जिस मे कि उस सदन ने भेजा है जिसमें विधेयक पुरःस्थापित किया गया था, तो विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। राष्ट्रपति विधेयक को स्वीकार भी कर सकता है और उस पर अपनी स्वीकृति को रोक भी सकता है और यदि वह चाहे तो विधेयक को दोनों सदनों के पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता है; और ऐसा करते समय उक्त विधेयक में संशोधन सुझाते हुए अपना सदेश भी वह भेज सकता है या बिना ऐसे सदेश के भी वापस भेज सकता है। किन्तु यदि दुबारा संसद् के दोनों सदन, उक्त विधेयक को सशोधनों सहित या संशोधनों रहित पास कर देते हैं, तो राष्ट्रपति को अवश्य ही स्वीकृति प्रदान करनी होगी। इस प्रकार कोई विधेयक विधि का रूप धारण करता है।

विवादग्रस्त विधेयक और संयुक्त बैठकें (Disputed Bills and Joint Sittings)—यदि विधेयक को दूसरे सदन के द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है; अथवा दूसरा सदन ऐसे संशोधनो सहित उसे पारित करता है जिन्हे वह सदन स्वीकार नही करता जिसमे विधेयक पुरःस्थापित किया गया था; अथवा दूसरे सदन मे जब विधेयक विचारार्थ भेजा गया था तो उसे ६ मास तक लौटाया न जाए, ऐसी स्थितियों मे राष्ट्रपति संसद् के दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक बुला सकता है, जहां दोनो सदन मिल कर विधेयक पर विचार करें और मतदान करें। राष्ट्रपति के तदर्थ आदेश के उपरान्त ससद् के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक कभी भी हो सकती है। यदि संयुक्त बैठक सम्बन्धी आदेश निकल चुका है तो उसके बाद यदि लोक-सभा विघटित भी हो जाए तो भी विधेयक समाप्त नही होगा। संयुक्त बैठक के लिए दोनों सदनों की सम्पूर्ण सदस्य सख्या का दसवां भाग गणपूर्ति (quorum) के लिए पर्याप्त है। संयुक्त बैठक मे लोक-सभा का स्पीकर, और यदि स्पीकर अनुपस्थित हो तो डिप्टी स्पीकर सभापति का आसन ग्रहण करता है और संयुक्त बैठक मे लोक-सभा की प्रक्रिया के अनुसार कार्रवाई होती है; यदि स्पीकर आवश्यक समझे तो कार्रवाई की प्रक्रिया मे परिवर्तन भी हो सकता है। दोनो सदनो की सयुक्त बैठक मे सशोधन प्रस्तावित किए जा सकते है; किन्तु केवल ऐसे संशोधन किए जा सकते हैं जो विधेयक के पारित होने मे देर लग जाने के कारण आवश्यक हो गए हैं अथवा जो उन संशोधनो से सम्बन्ध रखते है जिनको किसी एक सदन ने प्रस्तावित किया था किन्तु दूसरे सदन ने जिन्हे तिरस्कृत कर दिया था। संशोधन की आज्ञा दी जाए या नही, इस सम्बन्ध में सभापति का आदेश और निर्णय अन्तिम होता है। यदि सयुक्त बैठक के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत द्वारा उक्त विवादग्रस्त विधेयक पारित हो जाता है तो उसे दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है।

प्राइवेट सदस्य विधेयक (Private Members' Bills)—सन् १९५३ से शुक्रवार को होने वाली बैठकों के अन्तिम ढाई घण्टे साधारणतया प्राइवेट सदस्यों के काम-काज के लिए निश्चित किए गए हैं। सदस्यों के काम-काज के अन्तर्गत दो बातें आती है। वे है—संकल्प और विधेयक। इन दोनों में किस पर किस शुक्रवार को विचार हो इसका निर्णय अध्यक्ष (speaker) करता है। व्यवहार में इसका अर्थ है कि

पास उक्त विधेयक के सम्बन्ध में हों। समिति, विधेयक के विषय में सम्बन्धित विशेषज्ञों या ऐसे लोगों की राय ले सकती है जिनके हितों पर उक्त विधेयक का प्रभाव पड़ने वाला हो। प्रवर समिति, विधेयक में संशोधन भी उपस्थित कर सकती है। यदि समिति ने विधेयक में परिवर्तन कर दिए हैं तो समिति विधेयक के प्रस्तावक से सिफारिश करती है कि वह सदन से प्रार्थना करे कि उक्त विधेयक को प्रसारित किया जाए; और यदि विधेयक एक बार पहले ही प्रसारित हो चुका है तो उसको पुनः प्रसारित कराए। समिति के लिए यह आवश्यक है कि वह उक्त विधेयक के सम्बन्ध में तीन मास के अन्दर या सदन द्वारा निर्धारित कालावधि में सदन को प्रतिवेदन प्रस्तुत करे। समिति का प्रतिवेदन, सदन के समक्ष समिति का चेयरमैन प्रस्तुत करता है, और यदि चेयरमैन उपस्थित न हो, तो कोई अन्य सदस्य भी कर सकता है।

प्रतिवेदन स्तर (Report Stage)—विमति टिप्पण (minutes of dissent) सहित, यदि कोई हो समिति का प्रतिवेदन, सदन के सचिव के आदेश से प्रकाशित कराया जाता है और उसकी मुद्रित प्रतियाँ सभी सदस्यों को दे दी जाती हैं। प्रतिवेदन प्रस्तुत किए जाने के पश्चात्, विधेयक का प्रस्तावक निम्न प्रस्ताव रख सकता है—

(i) प्रवर समिति द्वारा प्रतिनिवेदित विधेयक पर विचार किया जाए; या

(ii) समिति द्वारा प्रतिनिवेदित विधेयक को पुनः प्रवर समिति के पास आज्ञाओं सहित अथवा आज्ञाओं रहित भेजा जाए, या

(iii) प्रतिनिवेदित रूप में विधेयक को जनमत-संग्रह के लिए प्रसारित या पुनःप्रसारित किया जाए।

यदि सदन विधेयक पर उसी रूप में विचार करना स्वीकार कर लेता है जिस रूप में प्रवर समिति ने प्रतिनिवेदित किया है, तो सदन में विधेयक के प्रत्येक खण्ड पर विचार किया जाता है और इस स्तर पर संशोधन प्रस्तावित किए जा सकते हैं। सदन का स्पीकर ही निर्णय करता है कि संशोधन स्वीकार किए जाएं अथवा नहीं और वही अनेकों संशोधनों में से कुछ संशोधन स्वीकार करके उन पर विचार करने की आज्ञा प्रदान करता है। विधेयक का प्रथम खण्ड, प्रस्तावना (preamble) और विधेयक के शीर्षक को विचारार्थ सबसे अन्त में लेते हैं। किन्तु प्रत्येक खण्ड पर मतदान अलग-अलग होता है। यहाँ पर द्वितीय वाचन समाप्त समझा जाता है।

तृतीय वाचन (The Third Reading)—प्रतिवेदन स्तर और विचार-विनिमय के पश्चात् विधेयक तृतीय वाचन के स्तर पर पहुँचता है। तृतीय वाचन में विधेयक के पक्ष में दलीलें दी जाती हैं। व्यर्थ की बारीकियों को दलीलों में नहीं देने दिया जाता; केवल ऐसे तथ्य उपस्थित किए जा सकते हैं जिनको अपने वक्तव्यों के समर्थन में आवश्यकता जान पड़े। इस स्तर पर मौखिक संशोधन भी रखे जा सकते हैं।

तृतीय वाचन के पश्चात् यदि सदन के उपस्थित सदस्यों के बहुमत से उक्त विधेयक पास कर दिया जाता है तो उसे उस सदन द्वारा पारित मान लिया जाता है जिसमें कि वह पुरःस्थापित किया गया था। इसके बाद सदन के अध्यक्ष (स्पीकर या चेयरमैन) द्वारा या सदन के सेक्रेटरी द्वारा उक्त विधेयक का प्रमाणीकरण (authen-

विधेयक सम्बन्धित संशोधनो सहित दोनो सदनो द्वारा पारित मान लिया जाता है। यदि लोक-सभा, राज्य-सभा के किसी संशोधन को स्वीकार नही करती है, तो भी उक्त धन विधेयक दोनों सदनो द्वारा उसी रूप मे पारित मान लिया जाता है जिस रूप मे कि वह लोक-सभा द्वारा पारित किया गया था। यदि राज्य-सभा धन विधयक को चौदह दिन के अन्दर लोक-सभा को अपनी सिफारिशो सहित वापस नही करती, तो भी चौदह दिन की कालावधि के बीत जाने पर उक्त धन विधेयक उसी रूप मे दोनो सदनो द्वारा पारित मान लिया जाएगा जिस रूप मे कि लोक-सभा ने उसे पास किया था। जब कोई विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तब उस समय वह उपबन्ध लागू नही होता जिसके द्वारा राष्ट्रपति विधेयक को सदनों के पुनर्विचारार्थ लौटा सकता है।

संविधान ने धन विधेयकों की परिभाषा की है। कोई विधेयक धन विधेयक समझा जाएगा यदि उसमे निम्नलिखित विषयों मे सब अथवा किसी से सम्बन्ध रखने वाले उपबन्ध अन्तर्विष्ट हैं,[1] अर्थात्—

(क) किसी कर का आरोपण (imposition), उन्सादन (abolition), परिहार (alteration) या विनियमन (regulation);

(ख) भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने का, अथवा कोई प्रत्याभूति (guarantee) देने का अथवा भारत सरकार द्वारा लिए गए अथवा लिये जाने वाले किन्ही वित्तीय आभारों से सम्बद्ध विधि के सशोधन करने का विनियमन;

(ग) भारत की सचित निधि (Consolidated fund) अथवा आकस्मिक निधि (comtingency fund) की अभिरक्षा, ऐसी किसी निधि मे धन डालना अथवा उसमे से धन निकालना;

(घ) भारत की सचित निधि मे से धन का विनियोग;

(ङ) किसी व्यय को भारत की सचित निधि पर भारित व्यय घोपित करना अथवा ऐसे किसी व्यय की राशि को बढ़ाना;

(च) भारत की संचित निधि के या भारत के लोक लेखे (public accounts) के मद्दे धन प्राप्त करना अथवा ऐसे धन की अभिरक्षा (custody) या निकासी (issue) करना अथवा संघ या राज्य के लेखाओ का लेखा परीक्षाण (audit); और

(छ) उपखण्ड (क) से (च) तक में उल्लिखित विषयो मे से किसी का आनुषंगिक कोई विषय।

धन विधेयक की परिभाषा करते समय प्रारम्भ के 'यदि' (only) शब्द पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। सविधान ने दो शर्तें निर्धारित की हैं और उन्ही शर्तों के पूरा करने पर कोई विधेयक धन विधेयक माना जा सकता है। प्रथमतः, धन विधेयक का सम्बन्ध उन सभी बातों से होना चाहिए जिनका अनुच्छेद ११० (१) मे वर्णन किया

1. अनुच्छेद ११०

शुक्रवार के यथाक्रम से प्राइवेट सदस्यों के संकल्पों और विधेयकों पर विचार होता है।

प्राइवेट सदस्यों के विधेयक निर्माण सम्बन्धी प्रक्रिया कुछ विशेष बातों को छोड़ कर वही है जो सरकारी विधेयकों की है। किसी भी विधेयक को पुरःस्थापित करने की सूचना के साथ उस विधेयक के उद्देश्य और कारणों का वर्णन, उक्त विधेयक को पुरःस्थापनार्थ और विचारार्थ राष्ट्रपति की सिफारिशें अथवा स्वीकृति, विधेयक के कारण होने वाले आर्थिक व्यय का ज्ञापन इत्यादि बातों का ब्योरा होना चाहिए। यदि विधेयक में किसी प्रकार की कमी हो अथवा वह दोषपूर्ण हो तो उसकी पुरःस्थापना की सूचना को अस्वीकार भी किया जा सकता है। स्पीकर यदि समझे कि किसी विधेयक को कार्य-सूचि (List of Business) में सम्मिलित करना उचित नहीं तो उसके पास यह अन्तर्वर्तिनी शक्ति है कि वह उस विधेयक सम्बन्धी सूचना का निषेध कर दे। प्राइवेट सदस्यों के विधेयकों और संकल्पों के लिए स्पीकर द्वारा एक वर्ष के लिए मनोनीत पन्द्रह सदस्यों की एक समिति भी होती है। इन्हीं सदस्यों में से किसी एक को स्पीकर इस समिति का चेयरमैन नियुक्त करता है। यदि उपाध्यक्ष (Deputy speaker) इस समिति का सदस्य हो तो वह स्वतः ही उस समिति का चेयरमैन बना दिया जाता है।

वित्तीय कानून निर्माण
(*Financial Legislation*)

वित्तीय प्रक्रिया (Financial Procedure)—भारतीय संसद् की वित्तीय कानून निर्माण की प्रक्रिया में वही सिद्धान्त काम करते हैं जिन पर ब्रिटिश संसद् में वित्तीय विधान निर्माण होता है। प्रथमतः धन विधेयक दोनों देशों में मन्त्रिमण्डल की ओर से ही पुरःस्थापित किए जा सकते हैं। द्वितीयतः भारतीय लोकसभा ही ब्रिटिश कॉमन-सभा की तरह प्रदाय (supplies) स्वीकृत कर सकती है और वही करारोपण अथवा प्रवेश्य कर (imports) लगा सकती है। अन्ततः, दोनों ही देशों में करारोपण (taxation) विनियोग (appropriations), और सार्वजनिक निधि (public funds)) से व्यय करने के लिए व्यवस्थापिका की आज्ञा आवश्यक है।

धन विधेयक (Money Bills)—संविधान ने धन विधेयकों के लिए विशेष प्रक्रिया निर्धारित की है। ऐसा इसलिए निर्धारित किया गया है कि धन विधेयक के सम्बन्ध में लोक-सभा की स्थिति सर्वोच्च रहे। संविधान ने स्पष्टतया उपबन्धित किया है कि धन विधेयक राज्य-सभा में पुरःस्थापित नहीं किए जा सकते। जब कोई धन विधेयक लोक-सभा द्वारा पारित कर दिया जाता है, उसे लोक-सभा के स्पीकर के इस आदेश सहित राज्य-सभा को भेज दिया जाता है, कि उक्त विधेयक धन विधेयक है, और इस सम्बन्ध में स्पीकर का निर्णय अन्तिम है। राज्य-सभा किसी धन विधेयक को स्वीकृत नहीं कर सकती, किन्तु राज्य-सभा धन विधेयक के प्राप्त होने के चौदह दिन के अन्दर उसे अपनी सिफारिशों सहित लोक-सभा को अवश्य वापस कर देती है। यदि लोक-सभा चाहे तो राज्य-सभा की किसी सिफारिश या सिफारिशों को माने या न माने। यदि लोक-सभा, राज्य-सभा को किसी सिफारिश को स्वीकार करती है, तो उक्त धन

(क) राष्ट्रपति की उपलब्धियाँ (emoluments) और भत्ते और उस पद से सम्बन्धित अन्य व्यय;

(ख) राज्य-सभा के सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते तथा लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते;

(ग) भारत सरकार पर भारित कर्जे और उनका ब्याज, निक्षेप निधि व्यय (sinking fund charges); निष्क्रयण व्यय (redemption charges) तथा ऐसे अन्य व्यय जिनका सम्बन्ध कर्जे लेने से हो अथवा कर्जों के निष्क्रयण या तदर्थ सेवाओं से हो;

(घ) (*i*) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को अथवा उनके सबन्ध में दिए जाने वाली उपलब्धियां, भत्ते और पेंशनें;

(*ii*) सघीय न्यायालय को या उसके सम्बन्ध में दी जाने वाली पेंशनें;

(*iii*) ऐसे किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को या उसके सम्बन्ध मे दी जाने वाली पेंशने जो भारत भू-भाग मे सम्मिलित किसी क्षेत्र पर क्षेत्राधिकार रखता हो अथवा जो इस सविधान के प्रवर्त्ती होने से पूर्व किसी ऐसे प्रान्त मे क्षेत्राधिकार रखता हो जो भारत संघ का एक राज्य माना जाता हो।

(ङ) भारत के नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General of India) को या उसके सम्बन्ध में दिए जाने वाले वेतन, भत्ते और पेंशनों के सम्बन्ध मे धनराशिया;

(च) किसी न्यायालय या पचाट-न्यायाधिकरण के निर्णय आदेश या पंचाट निर्णय (award) की शर्तों के अनुसार दायित्वों को भरने; तथा

(छ) और कोई विशेष व्यय जिसे संसद् या संविधान विधि द्वारा देना आवश्यक कर दे।

भारत की सचित निधि में से जो कुछ व्यय किया जाता है उस पर संसद् अपना निर्णय नही दे सकती किन्तु ऐसे व्ययों पर संसद् के किसी भी सदन मे विचार-विनिमय किया जा सकता है। किन्तु अन्य प्रकार के व्ययों के बारे में लोक-सभा की अनुमति आवश्यक है और उनके बारे मे अनुदान-सम्बन्धी माग (demand for grants) ससद् मे की जाती है। लोक-सभा को अधिकार है कि वह किसी माग को स्वीकार कर ले या अस्वीकृत कर दे अथवा स्वीकार तो कर ले किन्तु मांग के धन मे कुछ कमी कर सकती है। किन्तु राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना किसी भी अनुदान की माग नही की जा सकती।[1]

वित्तीय विधान निर्माण में विभिन्न स्तर (Stages in Financial Legislation)—वार्षिक वित्त विवरण अथवा आय-व्ययक को पाच स्तर पार करने पड़ते हैं जो निम्न हैं: (१) पुरःस्थापना अथवा उपस्थापन (Introduction or Presentation), (२) पर्यालोचन अथवा सामान्य विचार-विनिमय (General Discussion);

१. अनुच्छेद ११३

गया है। द्वितीयत:, किसी धन विधेयक के उपबन्धों का सम्बन्ध केवल उन्ही विषयों से होना चाहिए, उनके अतिरिक्त किसी अन्य विषय से नहीं। इसलिए ऐसा कोई धन विधेयक अधिनियमित नहीं हो सकता जिसके द्वारा संविधान-विधि के आदेशों के पालन में अन्यथा बाधा उपस्थित होती हो। धन विधेयक तो सीधा-सादा धन विधेयक ही होना चाहिए। ऐसा कोई विधेयक जिसके द्वारा जुर्माने, अन्य अर्थ दण्डों का आरोपण (penalties), अथवा अनुज्ञप्तियों के लिए फीसों (licence fees) की अथवा किसी स्थानीय प्राधिकारी द्वारा करारोपण की व्यवस्था होती हो, धन विधेयक (Money Bill) या वित्त विधेयक (Financial Bill) नहीं माना जाएगा।[1] जिस समय कोई धन विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है, उस समय उक्त विधेयक के साथ लोक-सभा के अध्यक्ष या स्पीकर का यह प्रमाण-पत्र या सर्टिफिकेट भी होना चाहिए कि सम्बन्धित और संलग्न विधेयक एक धन विधेयक ही है। संसद् द्वारा पारित धन विधेयक पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति देने में इन्कार नहीं कर सकता। संसद् की वित्तीय मामलों में सर्वप्रधानता होने के कारण ही ऐसी स्थिति है।

आय-व्ययक (The Budget)—प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में संसद् के दोनों सदनों के समक्ष राष्ट्रपति, भारत सरकार की उस वर्ष के लिए प्रावकलित प्राप्तियों और व्यय का वितरण रखवाएगा जिसका नाम 'वार्षिक वित्त विवरण' अथवा 'आय-व्ययक' होगा।[2] वित्तीय वर्ष का अर्थ उस वर्ष से है जो प्रथम अप्रैल को प्रारम्भ होता है। भारत में आय-व्ययक या वार्षिक वित्त विवरण, संसद् के समक्ष दो भागों में प्रस्तुत किया जाता है। एक तो रेलवे का आय-व्ययक और दूसरा सामान्य आय-व्ययक। रेलवे आय-व्ययक में केवल उन्ही प्राप्तियों और व्ययों का समावेश रहता है जिनका सम्बन्ध रेलो से होता है और इस रेलवे आय-व्ययक को अलग से रेल मन्त्री ((Minister for Railways) प्रस्तुत करता है। इसके विपरीत सामान्य आय-व्ययक में भारत सरकार के सभी विभागों के प्राक्कलन (estimates) रहते हैं; केवल रेलवे विभाग छोड़ दिया जाता है और इस आय-व्ययक को वित्त मन्त्री (Finance Minister) संसद् के समक्ष प्रस्तुत करता है। किन्तु आय-व्ययक प्रस्तुत करने की प्रक्रिया दोनों आय-व्ययकों में समान है चाहे वह रेलवे का आय-व्ययक हो, चाहे सामान्य आय-व्ययक हो।

आय-व्ययक अथवा वार्षिक वित्त विवरण में दिए हुए व्यय के प्राक्कलनों में जो व्यय इस संविधान में भारत की संचित निधि पर भारित व्यय के रूप में वर्णित हैं, उसकी पूर्ति के लिए अपेक्षित राशियाँ तथा भारत की संचित निधि से किये जाने वाले अन्य प्रस्थापित व्यय की पूर्ति के लिए अपेक्षित राशियां पृथक्-पृथक् दिखाई जाती हैं तथा उसका राजस्व लेखे पर होने वाले व्यय से भेद किया जाता है।[3] भारत की संचित निधि में से निम्न व्यय किए जाते हैं :—

1. अनुच्छेद ११० (२) और अनुच्छेद ११७
2. अनुच्छेद ११२ (१)
3. अनुच्छेद ११२ (२)

नही हैं। केवल लोक-सभा ही शासन की मागों पर मतदान कर सकती है; राज्य सभा इस अधिकार से वंचित है। प्रत्येक मांग के सम्बन्ध मे लोक सभा को निम्न शक्तियां हैं: (i) वह मांग को स्वीकृत कर सकती है; (ii) मांग को अस्वीकृत कर सकती है; अथवा (iii) मांग की राशि को घटा सकती है। किन्तु लोक-सभा किसी मांग की राशि को बढ़ा नही सकती; किसी अनुदान के लक्ष्य को नही बदल सकती और न किसी अनुदान के विनियोग पर कोई शर्तें लगा सकती है।

आगणनों के सम्बन्ध में वाद-विवादो पर कितना समय व्यय किया जाय, यह निर्णय सदन के नेता से परामर्श करके किया जाता है। विभिन्न मन्त्रालयो के पिछले वर्ष के क्रिया-कलापों से सभी सदस्यों को अवगत कराया जाता है। जब किसी मन्त्रालय की मांगों पर अनुदान का समय आता है, उस समय सम्बन्धित मन्त्रालय की पिछले वर्ष की कार्यवाइयों की परीक्षा होती है; और वाद-विवाद का लक्ष्य मुख्यतः मन्त्रालय के पिछले वर्ष के क्रिया-कलाप और उसकी प्रशासनिक नीति ही रहते है। किन्तु वास्तविक वाद-विवाद उस समय होता है, जबकि मागो पर सशोधन उपस्थित किये जाते है।

मागों पर मतदान निश्चित दिन समाप्त हो जाना आवश्यक है अन्यथा समापन (closure) का भय है और सभी बची हुई मागों पर मतदान हो जाएगा और तदनुसार उनको समाप्त कर दिया जाएगा, चाहे उन पर वाद-विवाद और विचार-विनिमय सम्यक् रीति से हो सका हो अथवा नही।

(४) **विनियोग विधेयक** (The Appropriation Bill)--अगला स्तर विनियोग विधेयक पर विचार-विनिमय करना है और उसे सविधि का स्वरूप प्रदान करना है। लोक-सभा द्वारा सभी स्वीकृत मांगे और जितना भी व्यय देश की सचित निधि पर प्रभृत है; सभी को मिलाकर एक विधेयक का स्वरूप दे दिया जाता है जिसको वार्षिक विनियोग विधेयक कहते है। इस विधेयक के विभिन्न स्तरों को कितना-कितना समय दिया जाए, इसका निर्णय लोक-सभा का स्पीकर ही करता है और उक्त विधेयक का द्वितीय वाचन सामान्य होता है। जिस समय विधेयक पर विचार होना प्रारम्भ होता है, वाद-विवाद केवल उन्ही मदो पर होता है जिन पर आगणनो के वाद-विवाद में विचार नही हुआ हो। प्रस्तावित व्ययों को कम करने वाले सशोधन ही उपस्थित किए जा सकते है। सदन ने जिन अनुदानों को पहले ही स्वीकृत कर लिया है, उन पर संशोधन प्रस्तुत नही किए जा सकते; न अनुदान के लक्ष्य को वदला जा सकता है और न उस धनराशि में परिवर्तन किया जा सकता है जिसकी अदायगी भारत की सचित निधि से होनी है।

जब विनियोग विधेयक अपने जीवन के सभी स्तरो को पार कर लेता है, तब उस पर अन्तिम मतदान होता है; और यदि लोक-सभा उसे पास कर देती है, तो सदन का स्पीकर उसको धन विधेयक के रूप में प्रमाणीकृत करता है और तब वह राज्य-सभा में भेज दिया जाता है। राज्य-सभा अपनी सिफारिशों सहित उक्त विधेयक को चौदह दिन के अन्दर लोक-सभा को वापस कर देती है। लोक-सभा यदि चाहे तो राज्य सभा की सिफारिशों को स्वीकार करे, चाहे तो स्वीकार न करे। राष्ट्रपति की विनियोग विधेयक

(३) मागो पर मतदान (Voting of Demands) ; (४) विनियोग विधेयक पर विचार करके उसे पारित करना (Consideration and Passing of the Appropriation Bill) , और (५) करारोपण सम्बन्धी प्रस्तावों पर विचार करके उन्हे पास करना तथा वित्तीय विधेयक पर अन्तिम विचार (Consideration and Passing of the Taxation Proposals, the Finance Bill) ।

(१) आय-व्ययक अथवा वार्षिक वित्त विवरण की पुरःस्थापना अथवा उपस्थापन (Introduction or Presentation of the Budget)—आय-व्ययक अथवा बजट अधिवशन (The Budget Session) सामान्यतः फरवरी के मध्य मे प्रारम्भ होता है जबकि रेल मन्त्री रेलवे का वार्षिक विवरण पुरःस्थापित करता है और उसके बाद वित्त मन्त्री लोकसभा में वार्षिक वित्त विवरण विचारार्थ प्रस्तुत करता है। वार्षिक वित्त विवरण के साथ-साथ वित्त मन्त्री आय-व्ययक सम्बन्धी भाषण (Budget Speech) भी करता है। संसद् के जीवन मे यह महत्त्वपूर्ण घटना होती है क्योकि वार्षिक वित्त विवरण से सरकार की आगामी वर्ष की वित्त नीति और अर्थ नीति पर प्रकाश पड़ता है। आय-व्ययक अथवा वार्षिक वित्त विवरण एवं वित्त मन्त्री के आय-व्ययक सम्बन्धी भाषण (Financial Statement) की मुद्रित प्रतिया सभी सदस्यों के अवलोकनार्थ दी जाती हैं।

(२) संसद् के दोनों सदनों में पर्यालोचन अथवा विचार-विनिमय (The General Discussion in both Houses)—आय-व्ययक अथवा वार्षिक वित्त विवरण की पुरःस्थापना के उपरान्त वित्त मन्त्री के वार्षिक वित्त विवरण सम्बन्धी भाषण पर दोनो सदनो मे पर्यालोचन और विचार-विनिमय होता है। इस स्तर पर न तो विस्तार के साथ वाद-विवाद होता है और न कटौती प्रस्ताव (Cut motions) उपस्थित किए जा सकते हैं। यह सामान्य पर्यालोचन (discussion) होता है जो दोनो सदनो मे तीन या चार दिन तक चलता है और व्यय की सभी मदो पर विचार-विनिमय होता है; इन मदो (items) मे वे मदे भी शामिल होती हैं जो प्रभृत व्यय (charged expenditures) हैं और जिन पर संसद् निर्णय नही दे सकती। इस स्तर पर शासन की नीति पर वाद-विवाद होता है और प्रशासन के विभिन्न विभागो के कार्यों की भी आलोचना हो सकती है; और इस अवसर पर सर्वसाधारण की आम शिकायते भी शासन के कानों तक पहुंचाई जाती हैं। यह वाद-विवाद वित्तीय होने की अपेक्षा राजनीतिक अधिक होता है। इस बीच मतदान नही होता। हा, वित्त मत्री को यह अधिकार प्राप्त है कि वाद-विवाद के पश्चात् अपना उत्तर दे।

(३) लोकसभा द्वारा मांगों पर मतदान (Voting of Demands by the Lok Sabha)—सामान्य पर्यालोचन और वाद-विवाद के पश्चात् राज्य-सभा को वार्षिक वित्त विवरण सम्बन्धी भाषण से और कुछ करना नही रहता। किन्तु ज्योही सामान्य पर्यालोचन (general discussion) समाप्त होता है लोक सभा उन विभिन्न मांगों पर मतदान करना प्रारम्भ करती है जो भारत की संचित निधि पर प्रभृत व्यय

और प्राक्कलन समिति (Estimates Committee) का उल्लेख करना आवश्यक होगा।

प्रवर समितियां (Select Committees)—प्रवर समितिया पृथक्-पृथक् विधेयकों के लिए नियुक्त की जाती है और इनका काम उन विधेयको की छान-बीन करना, तद्विषयक पूछताछ करना अथवा सामग्री सग्रह करना होता हैं। विधेयको की पूछताछ सम्बन्धी अन्य समस्याओं के विस्तारपूर्वक परीक्षण के लिए प्रवर समितिया एक सुविधाजनक साधन सिद्ध हुई है। वास्तव मे सदन के पास इतना समय नही होता कि वह विचारणीय विषय के हर पहलू पर अच्छी और पूरी तरह से विचार कर सके। अब सब स्वीकार करते है कि प्रवर समिति द्वारा किए गए विस्तृत परीक्षण द्वारा विधेयक मे वस्तुतः आवश्यक सुधार हो जाता है।

प्रवर समिति के सदस्य सदन में से ही नियुक्त होते है, अथवा सदन द्वारा चुने जाते हैं अथवा स्पीकर द्वारा मनोनीत होते है। सदस्यों की नियुक्ति का प्रस्ताव रखने अथवा उनको मनोनीत करने से पूर्व उनसे समिति के लिए कार्य करने की सहमति का निश्चय कर लिया जाता है। उन सदस्यों मे से किसी एक को स्पीकर उस समिति का चेयरमैन बनाता हैं। यदि उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) उस समिति का सदस्य हो तो उसे ही चेयरमैन बनाया जाता हैं। कुल सदस्यो मे से एक तिहाई की उपस्थिति गणपूर्ति (Quorum) समझी जाती है। बहुमत ही समिति का निर्णय माना जाता है। सदस्यों के समान मत पड़ने पर चेयरमैन को निर्णायक मत देने का अधिकार प्राप्त है। प्रवर समिति अपनी उपसमिति भी बना सकती है। समिति की बैठके एकान्त में सामान्यतया ससद् भवन में किसी स्थान पर होती है। समिति गवाही देने के लिए किसी भी व्यक्ति को बुला सकती हैं और सम्बन्ध रखने वाले कागज-पत्रो को पेश करने के लिए भी कह सकती है। चेयरमैन ही समिति की रिपोर्ट प्रस्तुत करता हैं। वे सदस्य जिनका मत बहुमत से नही मिलता अपनी विमति का सक्षिप्त विवरण भी दे सकते है। स्पीकर को समिति की प्रक्रिया की व्यवस्था और उसके कार्य के गठन के बारे मे निर्देश देने के अधिकार प्राप्त हैं।

संयुक्त समितियां (Joint Committees)—दुहरी कार्यवाही से बचने के लिए कभी-कभी विधेयक दोनो सदनो के सदस्यो से बनी हुई सयुक्त समिति को सौप दिया जाता है। ऐसा करने से एक तो समय की बचत होती है, दूसरे यह दोनों सदनो के प्रतिनिधियों में परस्पर जानकारी, सद्भावना और सहयोग बढाने में सहायक सिद्ध होता है। जब किसी सदन मे किसी विधेयक को सयुक्त समिति को सौपने का प्रस्ताव पास हो जाता है तब वह प्रस्ताव दूसरे सदन मे उसकी स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। विधेयक का अधिकारी-सदस्य (Member-in-Charge) उक्त समिति के लिए अपने तथा दूसरे सदन के सदस्यो की सख्या और नामो को भी सूचित करता है। सयुक्त समिति के लिए लोक-सभा और राज्य-सभा के सदस्यों का अनुपात दो-एक (२ : १) का रहता है।

लोक-लेखा समिति (The Public Accounts Committee)—यह समिति

पर स्वीकृति केवल एक औपचारिक क्रिया है। राष्ट्रपति किसी धन-विधेयक को पुर्नविचारार्थ नही लौटा सकता।

(५) वित्तीय विधेयक (The Finance Bill)—सरकार, आगामी वर्ष के लिए जिन वित्तीय प्रस्तावों को संसद् में प्रस्तुत करती है, उन्ही प्रस्तावों को लेकर वित्तीय विधेयक की रचना होती है और यह विधेयक भी संसद् में उसी समय पुर:स्थापित किया जाता है जिस समय कि वार्षिक वित्त विवरण या आय-व्ययक। वित्तीय विधेयक के सम्बन्ध में भी वही कार्य-प्रणाली अपनायी जाती है जो अन्य धन विधेयको के सम्बन्ध में अपनायी जाती है। द्वितीय वाचन में वित्तीय विधेयक के ऊपर जो पर्यालोचन होता है, वह केवल सिद्धान्तो तक सीमित रहता है। केवल प्रवर समिति में विधेयक पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाता है तभी संशोधन उपस्थित किये जा सकते हैं। प्रतिवेदन स्तर के बाद प्रत्येक खण्ड और धारा पर अलग-अलग विचार किया जाता है और संशोधन केवल ऐसे प्रस्तावों के सम्बन्ध में प्रस्थापित किए जा सकते हैं जिनमें किसी कर में कमी करना या उसको समाप्त करना अभीष्ट हो। प्रोवीजनल कलेक्शन ऑफ टैक्सेज ऐक्ट, १९३१ (Provisional Collection of Taxes Act, 1931) के अनुसार वित्तीय प्रस्ताव, वार्षिक वित्त विवरण के पुर:स्थापित करते ही प्रभावी हो जाते है। वित्तीय विधेयक का अप्रैल के अन्त तक पारित हो जाना अत्यावश्यक है।

संसदीय समितियां
(Parliamentary Committees)

समितियों की नियुक्ति का सिद्धान्त आधुनिक युग के विकास का परिणाम नही है। यह प्रथा तो संसद् जितनी पुरानी है। ब्रिटिश संसद् अपने गठन के शीघ्र पश्चात् इस बात का अनुभव करने लग पडी थी कि वह एक विचारशील सस्था के रूप मे अपना सारा कार्य प्रभावपूर्ण और सुचारु ढंग से नही करती। अतएव उसने समिति-नियुक्ति की प्रथा को आरम्भ किया और समितियो को अपने कार्य पर अधिक विस्तार से विचार करने का काम सौपा। संसदीय कार्य की वृद्धि के कारण और उस कार्य को सरल, सुचारु और अविलम्ब ढग से निपटाने की दृष्टि से इन समितियों के उपयोग और सख्या में बड़ी वृद्धि हो गई है। अब कॉमन सभा विधि निर्माण के समय और उन विषयो मे जिनका निर्णय और निर्धारण ससद् द्वारा किया जाना है, समितियों की विशेषज्ञतापूर्ण छानबीन पर अधिक भरोसा रखती है।

भारत में ऐसी समितियों का इतिहास १८५४ से प्रारम्भ होता है जब यहाँ सर्वप्रथम विधानमण्डल की स्थापना हुई थी। वर्तमान समितियों को इस प्रकार बांटा जा सकता है: (१) तदर्थ (Ad Hoc) समितिया। (२) वे समितिया जो तदर्थ नहीं है (Non-Ad Hoc)। पहले प्रकार की समितियो के अन्दर प्रवर समितियों और सयुक्त समितियों का समावेश होता है और अन्य समितिया अपने कार्यों के अनुसार किसी श्रेणी के अन्तर्गत आ जाती हैं। यहा पर प्रवर और संयुक्त समितियां (Select and Joint Committees), लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee)

करके कष्ट-निवारण के लिए सुझाव देती है। कोई मन्त्री इस समिति का सदस्य नहीं बन सकता; विशेषाधिकार समिति (Committee of Privileges) जिसके १५ सदस्य होते हैं और जो सदन के विशेषाधिकारों के भग होने की शिकायतो की जाच करती है; विश्वास समिति (Committee on Govt. Assurances) जिमके १५ सदस्य होते है और जो इस बात पर विचार करती है कि सरकार द्वारा सदन को दिये गए विश्वास कहां तक कार्यान्वित किये गए है (राज्य सभा में ऐसी कोई समिति नही है); अनुपस्थिति समिति (Committee on Absence of Members) जो उन सदस्यो की अनुपस्थिति पर विचार करती है जो ६० दिन या इस से अधिक अवधि के लिए सदन में उपस्थित न हुए हो (इस आशय की कोई समिति राज्य सभा मे नही है); कार्य सम्बन्धी सलाहकार समिति (Business Advisory Committee) जिसका अध्यक्ष स्पीकर स्वय होता है और जिसमें डिप्टी स्पीकर भी एक सदस्य के रूप मे काम करता है। यह समिति सदन के कार्य्य के लिए समय निश्चित करती है; गैर-सरकारी विधेयक समिति (Committee on Private Members Bills and Resolutions) जो गैर-सरकारी सदस्यों द्वारा पेश किये गए विधेयको पर विचार करने के लिये समय निश्चित करती है, नियम समिति (Rules Committee) जो सदन के कार्य्य सम्बन्धी नियमो पर विचार करती है और आवश्यकतानुसार उनमे संशोधन करने के लिए सुझाव देती है। इसी प्रकार सदन के काम को सुचारु ढंग से चलाने मे सदस्यों की सहायता के लिए तीन और समितिया हैं।

विधि निर्माण सम्बन्धी प्रदत्त अधिकार (Delegated Legislation)—राज्य के क्रियाकलापों की वृद्धि के आवश्यक परिणामस्वरूप विधि-निर्माण के कार्य में पर्याप्त वृद्धि हुईहै, विशेषकर इसलिए कि राज्य का उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना करना है। चूकि विधानमण्डल के लिए इतने अधिक कानून जो विस्तृत भी हो बनाना, असम्भव हो जाता है अतएव कार्यपालिका को अधिकार देना आवश्यक ही नही हो जाता अपितु ऐसा करने से वचना नितान्त असम्भव हो जाता है। प्रदत्त विधि निर्माण सम्बन्धी अधिकार प्रायः कानून के उपवन्धो को लागू करने के सम्बन्ध मे छोटे-मोटे मामलो से होता है। परन्तु ऐसा सर्वदा नही होता। भारत और दूसरे देशो मे ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहा सिद्धान्तो को निर्धारण करने की, टैक्स लगाने की, ससद् द्वारा वनाए गए अधिनियम मे सशोधन करने की और नए अपराधों और उनके दण्ड निर्माण की शक्तिया सौपी गई हैं। निस्सन्देह ये विधि सम्बन्धी प्रदत्त अधिकार के अधिनियमित उदाहरण है पर इनकी सख्या कम नही है। इसके अन्तर्गत वनाए गए नियमो के पीछे कानून की शक्ति होती है और यदि ये मूल अधिनियम की दृष्टि मे अवैध नहीं ठहरते तो इन्हें न्यायालय मे भी ललकारा नही जा सकता।

Suggested Readings

Asok Chanda : *Indian Administration*

Basu, D. D. : *Commentary on the Constitution of India*, pp. 308-399.

विनियोग लेखा (Appropriation Accounts) पर विस्तार से विचार करती है और इसे प्राक्कलन समिति (Estimates Committee) का जुड़वां भाई माना जाता है। इस समिति के २२ सदस्य होते हैं जिनमें से ७ सदस्य राज्य-सभा के होते हैं। सदस्यों का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एक वर्ष के लिए होता है और कोई मन्त्री इसका सदस्य नहीं बन सकता। इस समिति का प्रधान कोई वरिष्ठ गैर-सरकारी सदस्य होता है और वह स्पीकर द्वारा चुना जाता है।

लोक लेखा समिति का काम भारत सरकार के विनियोग लेखा को, सब प्रकार के लेखा को जो सदन के सामने रखे जाते हैं और नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करना होता है। यह समिति अपने आपको सन्तुष्ट करने के लिए यह भी देखती है कि लेखा में दिखाया हुआ धन वैध-रूप से व्यय हुआ है, कि व्यय उस प्राधिकार के अनुसार हुआ है जो इसे नियमित करता है और नियम के अनुसार ही पुनर्विनियोग (re-appropriation) किया गया है। समिति का कार्य राज्य निगमों (State Corporations) और स्वायत्तशासी और अर्धस्वायत्तशासी संस्थाओं की निर्माण-योजनाओं का परीक्षण करना भी होता है। यह समिति भी सदन के सम्मुख अपनी रिपोर्ट रखती है। जनता के धन के ऊपर संसदीय नियन्त्रण रखने के लिए यह समिति एक सशक्त और आवश्यक साधन है।

प्राक्कलन समिति (The Estimates Committee)—सरकार को दिए जाने वाले अनुदानों के ऊपर संसदीय नियन्त्रण स्थिर रखने के लिए और उनके वास्तविक विनियोगों की देख-रेख के लिए संसद् अपनी दो समितियों द्वारा लोक-लेखा (Public Accounts) पर कड़ी नजर रखती है। उन समितियों के नाम प्राक्कलन समिति और लोक लेखा समिति है। १९५२ में पहली बार सदन की स्थायी वित्तीय समिति के स्थान पर प्राक्कलन समिति बनाई गई थी। इसके सदस्यों की सख्या तीस होती है। इनका चुनाव लोक-सभा के सदस्यों में से एक वर्ष के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के आधार पर होता है। उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) इस समिति का चेयरमैन होता है।

इस समिति का कार्य वर्ष के आय-व्ययक के प्राक्कलन का सूक्ष्म निरीक्षण करना, व्यय में कमी करने के सुझाव देना और संगठन में सुधार लाना होता है। यह समिति यह भी सुझाव देती है कि प्राक्कलन किस रूप में संसद् के सामने रखने चाहिएं। यह समिति प्राय: उपसमितियों द्वारा कार्य करती है। एक उपसमिति एक या एक से अधिक विभागों के लिए होती है। उनकी रिपोर्ट सदन और सरकार दोनों को दी जाती है। आय-व्ययक (Budget) के पास होने पर भी इस समिति का कार्य समाप्त नहीं हो जाता। यह सारा वर्ष काम करती है और भिन्न-भिन्न विभागों पर आवश्यकतानुसार कड़ी नजर रखती है।

इनके अतिरिक्त सदन की कुछ और समितियां भी होती है जो भिन्न-भिन्न उद्देश्यों को लेकर बनाई जाती हैं—जैसे स्पीकर द्वारा नाम-निर्दिष्ट याचिका समिति (Committee on Petitions) जो जनता की ओर से आई याचिकाओं और शिकायतों पर विचार

अध्याय ७

उच्चतम न्यायालय

(THE SUPREME COURT)

संघीय न्यायपालिका की आवश्यकता (The Need for the Federal Judiciary)—"संघात्मक संविधान में संघीय न्यायपालिका अपरिहार्य है। यह एक ही साथ संविधान का निर्वचक भी है और संरक्षक भी और संघ के अवयवी एकक राज्यों के विवादों का निर्णय करने वाला न्यायाधिकरण भी है।" संघ की यह आवश्यक शर्त होती है कि संघ और अवयवी एककों के बीच ऐसा समझौता हो जाए जिसके अनुसार उनमें विधायी, वित्तीय और कार्यपालिका शक्तियों का बटवारा हो जाय। संघीय सरकार और राज्य सरकारें दोनों ही अपने-अपने अधिकारों के लिए संविधान के प्रति ऋणी हैं और दोनों के अधिकार-क्षेत्र पर सांविधानिक उपबन्धों की मर्यादाएं लगी हुई हैं। जहां दोनों प्रकार की सरकारों के अधिकार-क्षेत्र टकराते हैं अथवा परिसीमित होते हैं, वहीं या तो संविधान के विभिन्न निर्वचन के कारण, अथवा केन्द्र और एककों के अधिकारों के कारण विवाद उठ खड़े हो सकते हैं। इसलिए संघात्मक शासन-व्यवस्था में यह आवश्यक है कि एक तटस्थ और निष्पक्ष निकाय हो जो संघ और संघ की व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के प्रभाव से ऊपर हो, साथ ही एककों की सरकारों के प्रभाव-क्षेत्र से भी बाहर हो और इस प्रकार उक्त स्वतन्त्र निकाय आपस के विवादों को निपटा सके और संविधान की पवित्रता की रक्षा कर सके।

जिस संघ की भारतीय संविधान ने रचना की है, वह अवयवी एकक राज्यों के बीच किसी संधि अथवा करार का प्रतिफल नहीं है। फिर भी संघीय सरकार और अवयवी एकक राज्यों के बीच विधायी और प्रशासनिक अधिकारों का स्पष्ट विभाजन है। इसलिए संविधान ने उच्चतम न्यायालय को अधिकार दिया है कि वह भारत सरकार और राज्य सरकारों की बीच अथवा दो या दो से अधिक राज्यों की सरकारों के बीच के विवादों में मौलिक अधिकार-क्षेत्र का उपभोग करे और विवादों का निर्णय करे।[1] एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण है जिस लिए भारत में स्वतन्त्र न्यायपालिका की नितान्त आवश्यकता है। संविधान ने संघ को कुछ ऐसी शक्तियां प्रदान की हैं जो

---

1. अनुच्छेद १३१। किन्तु भारतीय उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकार-क्षेत्र उसी प्रकार प्राप्त नहीं हैं जिस प्रकार कि अमेरिका और आस्ट्रेलिया के संविधानों ने अपने-अपने सर्वोच्च न्यायालयों को प्रदान किए हैं, जिनके आधार पर वे विभिन्न राज्यों के निवासियों के आपसी झगड़ों को अथवा एक राज्य के निवासी के दूसरे राज्य के निवासी के साथ झगड़े को निपटा सकें। भारतीय संविधान के अनुसार ऐसे विवाद उच्चतम न्यायालय के समक्ष केवल अपील के रूप में ही आते हैं, यदि सांविधानिक उपबन्धों के अनुसार वे विवाद उच्चतम न्यायालय में जा सकते हैं।

कि वे नागरिकों को गारण्टी किए गए अधिकारों की रक्षा करेंगे, साथ ही नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करते हुए समाज के अधिकारों और राज्य की सुरक्षा का भी ख्याल रखेंगे।

उच्चतम न्यायालय की स्थापना और रचना (Establishment and the Constitution of the Supreme Court)—संविधान ने भारत के उच्चतम न्यायालय की स्थापना का आदेश किया है जिसमें एक प्रमुख न्यायाधीश अथवा मुख्य न्यायाधिपति (Chief Justice of India) होगा, और जब तक संसद् विधि द्वारा और अधिक संख्या निर्धारण नहीं करती, तब तक अन्य सात से अनधिक न्यायाधीश होंगे।[1] १९५६ के सर्वोच्च न्यायालय (न्यायाधीशों की संख्या) अधिनियम (Supreme Court (Number of Judges) Act, 1956) द्वारा मुख्य न्यायाधिपति को छोड़कर न्यायाधीशों की अधिकतम संख्या १० कर दी गई। इस संख्या को १९६० में बढ़ाकर १४ कर दिया गया जिसमें मुख्य न्यायाधिपति भी सम्मिलित था। शेष काम को शीघ्र समाप्त करने के लिए ३ न्यायाधीशों की एक नई बेंच बनाने की आवश्यकता अनुभव होने के कारण संख्या में यह वृद्धि की गई थी।

यद्यपि संविधान ने उपबन्धित किया है कि संसद् विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय के लिए सात से अधिक न्यायाधीशों की व्यवस्था भी कर सकती है किन्तु संविधान ने ऐसा उपबन्ध नहीं किया है कि उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों की कम-से-कम संख्या क्या हो; किन्तु जब संविधान का आदेश है कि ऐसे किसी मुकदमे में जिसमें विधि अन्तर्ग्रस्त हो जैसे संविधान का निर्वचन[2] अथवा अनुच्छेद १४३ के अन्तर्गत मामलों के निर्णय में कम-से-कम पांच न्यायाधीश निर्णय करेंगे; तो यह निष्कर्ष निकलता है कि उच्चतम न्यायालय किसी सांविधानिक मुकदमे के सम्बन्ध में अथवा अनुच्छेद १४३ के अन्तर्गत परामर्शदायक कोई कृत्य उस समय तक नहीं कर सकता जब तक कि उसका बेंच पूरा न हो और बेंच में कम-से-कम पांच न्यायाधीशों की उपस्थिति आवश्यक ठहराई गई है। इसके अतिरिक्त यह भी उपबन्धित किया गया है कि किसी साधारण अपील को सुनते समय यदि कोई न्यायिक बेंच ऐसा अनुभव करे कि विवाद में संविधान-विधि अन्तर्ग्रस्त है तो उक्त न्यायिक बेंच उस प्रश्न को किसी ऐसी सांविधानिक बेंच के निर्णयार्थ भेज सकती है जिसमें कम-से-कम पांच न्यायाधीश हों।

यदि किसी समय न्यायाधीशों की गणपूर्ति न[3] हो जो उच्चतम न्यायालय के

1. अनुच्छेद १२४ 2. अनुच्छेद १४५

3. जहां संविधान ने उपबन्धित किया है कि ऐसे मामलों को तय करने के लिए जिनमें सांविधानिक उपबन्ध अंतर्ग्रस्त है अथवा अनुच्छेद १४३ के अन्तर्गत परामर्शदायक कृत्यों के निर्वहन में उच्चतम न्यायालय के कम-से-कम पांच न्यायाधीशों की बेंच बैठे, स्वयं उच्चतम न्यायालय के नियमों में उपबन्धित है कि "इन नियमों के अन्य उपबन्धों के रहते हुए प्रत्येक अभियोग या अपील या विषय पर निर्णय देने के लिए एक ऐसा बेंच आवश्यक होगा जिसमें कम-से-कम तीन न्यायाधीश होंगे जिनकी नियुक्ति प्रमुख न्यायाधिपति करेगा।"

संघात्मक शासन-व्यवस्था के मौलिक अधिकारों से मेल नहीं खाती और भारतीय शासन-व्यवस्था संघात्मक होने की अपेक्षा एकात्मक ही अधिक है। श्री दुर्गादास बसु ने ठीक ही कहा है कि "उच्चतम न्यायालय के सांविधानिक निर्वचनों के द्वारा ही केन्द्राभिग (centripetal) तत्वों और केन्द्रापग (centrifugal) तत्त्वों को वश में रखा जा सकेगा और तभी संविधान द्वारा शक्तियों के वितरण की संघीय सरकार के अतिक्रमण से रक्षा की जा सकेगी।[1]

उच्चतम न्यायालय की इस सम्बन्ध में उपयोगिता का वर्णन करते हुए श्री अल्लादि कृष्णस्वामी एय्यर ने कहा था—"भारतीय संविधान का विकास बहुत कुछ उच्चतम न्यायालय के निर्णयों पर और उस दिशा पर निर्भर करेगा जो वह संविधान को देगा। समय-समय पर जब संविधान का निर्वचन किया जाएगा, उच्चतम न्यायालय को समाज के परस्पर-विरोधी वर्गों के हितों को ध्यान में रखना पड़ेगा। यह ठीक है कि संविधान का निर्वचन ही सर्वोच्च अथवा उच्चतम न्यायालय का मुख्य कर्त्तव्य है परन्तु फिर भी अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन में समय और समाज की उन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती जिन्होंने संविधान की पृष्ठभूमि तैयार की है। उच्चतम न्यायालय को परस्पर विरोधी शक्तियों में सन्तुलन रखना ही होगा। जिस समय संविधान का निर्वचन होगा, कभी तो ऐसा प्रतीत होगा मानो संघ को एककों की अपेक्षा बल दिया गया है और कभी ऐसा भी प्रतीत होगा कि प्रान्तों और राज्यों को राष्ट्रवाद की अपेक्षा अधिक बढ़ावा दिया जा रहा है।[2]

उच्चतम न्यायालय संविधान का संरक्षक भी है। भारत के संविधान ने नागरिकों[3] के कुछ मौलिक अधिकारों की घोषणा की है और उन अधिकारों का आश्वासन दिया है तथा यदि उक्त मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण हो तो उच्चतम न्यायालय के द्वारा उक्त अधिकारों की रक्षा कराई जा सकती है।[4] तदनुसार, बारम्बार उच्चतम न्यायालय का दरवाजा खटखटाया जाता है जब कभी कार्यपालिका द्वारा कोई आदेश या कोई ऐसी विधि पारित की जाती है जो मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण करती हो; और ऐसी अवस्थाओं में उच्चतम न्यायालय से सम्बन्धित आदेश या विधि की न्यायसंगतता पर निर्णय की याचना की जाती है। भारत के प्रथम महान्यायवादी (Attorney-General) श्री एम० सी० सीतलवाड ने २८ जनवरी, १९५० को उच्चतम न्यायालय के प्रतिष्ठापन के अवसर पर उच्चतम न्यायालय के गौरव पर बोलते हुए कहा था—"संविधान ने विस्तार के साथ मौलिक अधिकारों को गिनाया है और कुछ ऐसे भी उपबन्ध संविधान में हैं जिन्होंने उक्त मौलिक अधिकारों को मर्यादित किया है इसलिए उच्चतम न्यायालय को अत्यन्त बुद्धिमत्ता और नीरक्षीर विवेक के साथ उक्त उपबन्धों का निर्वचन करना होगा। न्यायालयों का दायित्व होगा

1. Basu : Commentary on the Constitution of India, p. 400
2. As quoted in D. D. Basu's Commentary on the Constitution of India, p. 400.
3. Chapter III.
4. अनुच्छेद ३२

के प्रारम्भ में ऐसा उपबन्ध नहीं था कि वकालत न करने वाले विधिवेत्ता लोग भी उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश पद पर नियुक्त हो सकते हैं। किन्तु जिस समय संविधान के प्रारूप पर विचार हो रहा था उस समय प्रसिद्ध कानून प्रवीण या विधिवेत्ताओं को भी उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश होने के लिए अर्ह मान लिया गया और इस प्रकार वकालत न करने वाले और प्रसिद्ध विधिवेत्ताओं और कानून-प्रवीणों की सेवाओं से उच्चतम न्यायालय को लाभान्वित कराया गया। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए इस अर्हता को स्वीकार करने में संविधान सभा को संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रथा से बल मिला जहाँ अनेक बार वकालत न करने वाले कानून-प्रवीण लोगों को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश पदों पर नियुक्त किया गया है।

उच्चतम न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होता है और नियुक्ति करते समय वह उच्चतम न्यायालय और प्रदेशों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करता है जिनसे परामर्श करना वह आवश्यक समझे, परन्तु मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करना उसके लिए आवश्यक है। उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश तब तक अपने पद पर बना रहता है जब तक कि वह पैंसठ वर्ष[1] की आयु प्राप्त न कर ले। न्यायाधीश अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है और न्यायाधीश के सिद्ध कदाचार अथवा उसकी अयोग्यता के लिए हटाए जाने के हेतु संसद् के प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों में से कम-से-कम दो-तिहाई के बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन के राष्ट्रपति के समक्ष रखे जाने पर न्यायाधीश अपने पद से हटाया भी जा सकता है।[2] उच्चतम न्यायाधीश को अपने पद से विमुक्त करने के हेतु समावेदन के रखे जाने की तथा उसके कदाचार या अयोग्यता के अनुसंधान तथा सिद्ध करने की प्रक्रिया का संसद् विधि द्वारा विनियमन कर सकती है।[3]

उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को सेवा-भार ग्रहण करने के पूर्व राष्ट्रपति या राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष प्रतिज्ञा करनी पड़ती है और शपथ लेनी पड़ती है कि, "मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा, तथा मैं सम्यक् प्रकार से और श्रद्धापूर्वक तथा अपनी पूरी योग्यता, ज्ञान और विवेक से अपने पद के कर्त्तव्यों को भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना पालन करूंगा, तथा मैं संविधान और विधियों की मर्यादा बनाए रखूंगा।"[4]

न्यायाधीशों के वेतन आदि (Salaries, etc. of the Judges)—उच्चतम

1. अनुच्छेद १२४ (२)

2. संयुक्त राज्य अमरीका (U.S.A.) में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश, सदाचार-पर्यन्त अपने पदों पर बने रहते हैं, और वे अन्य संघीय अधिकारियों की भांति महाभियोग के द्वारा ही हटाए जा सकते हैं।

3. अनुच्छेद १२४ (५)

4. तृतीय अनुसूची, चतुर्थ प्रतिज्ञा।

सत्र को चालू रखने के लिए पर्याप्त मानी जाती हो तो राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से तथा सम्बद्ध उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करके भारत का मुख्य न्यायाधिपति किसी उच्च न्यायालय के किसी ऐसे न्यायाधीश से, जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए यथा रीति अर्ह है, तथा जिसे भारत का मुख्य न्यायाधिपति नामोद्दिष्ट करे, न्यायालयों की बैठकों में इतनी कालावधि के लिए, जितनी आवश्यक हो, तदर्थ-न्यायाधीश के रूप में उपस्थित रहने के लिए लेख द्वारा प्रार्थना कर सकेगा। इस प्रकार नामोद्दिष्ट न्यायाधीश का कर्त्तव्य होगा कि वह ऐसी कालावधि में उच्च न्यायालय का न्यायाधीश भी बना रहेगा और उच्चतम न्यायालय की बैठकों में वह अपने पद के अतिरिक्त कर्त्तव्यों का निर्वहन करेगा ; तथा जब वह इस प्रकार उच्चतम न्यायालय में उपस्थित होगा, तब उसको उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के, सब क्षेत्राधिकार, शक्तियां और विशेषाधिकार प्राप्त होंगे।[1] भारत में एतदर्थ (ad hoc) न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रथा कनाडा की प्रथा का अनुसरण है जहां इसी प्रकार एतदर्थ न्यायाधीश नियुक्त किए जाते हैं। भारत के संविधान ने यह भी उपबन्धित किया है कि अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश भी उच्चतम न्यायालय में सेवा करने के लिए बुलाए जा सकते हैं। भारत का मुख्य न्यायाधिपति, किसी समय, राष्ट्रपति की पूर्व-सम्मति से उच्चतम न्यायालय या फेडरल न्यायालय के किसी अवकाश प्राप्त न्यायाधीश से प्रार्थना कर सकता है कि वह उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में बैठे और कार्य करे।[2] किन्तु इस सम्बन्ध में यह जान लेना उपादेय होगा कि जहां उच्चतम न्यायालय में स्थायी न्यायाधीशों की गणपूर्ति का न होना आवश्यक है और तभी एतदर्थ न्यायाधीश (ad hoc judges) नियुक्त किए जा सकते हैं, उच्चतम न्यायालयों के अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश या किसी फेडरल न्यायालय के अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में कोई ऐसी शर्त नहीं है। राष्ट्रपति की पूर्व-सम्मति से, भारत का मुख्य न्यायाधिपति किसी भी समय किसी अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश को नियुक्त कर सकता है।

संविधान के १५वें संशोधन के अधीन यह उपबन्धित किया गया है कि कोई व्यक्ति जो उच्च न्यायालय में जज के पद पर काम कर चुका हो अथवा उच्चतम न्यायालय का जज होने की अर्हता (qualification) रखता हो, तदर्थ आधार पर उच्चतम न्यायालय का जज नियुक्त किया जा सकता है।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश पद पर नियुक्त होने के लिए आवश्यक अर्हताएं (Qualifications for Appointment of a Judge)—भारतीय उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश पद के प्रत्याशी का भारतीय नागरिक होना आवश्यक है; साथ ही वह एक या अधिक उच्च न्यायालयों का न्यायाधीश कम-से-कम पांच वर्ष तक लगातार रह चुका हो; अथवा वह एक या एक से अधिक उच्च न्यायालयों का लगातार दस वर्षों तक अधिवक्ता (advocate) रह चुका हो; अथवा राष्ट्रपति के विचार में वह पारगत विधिवेत्ता अथवा कानून-प्रवीण (jurist) हो। संविधान

1. अनुच्छेद १२७ 2. अनुच्छेद १२८

अपने अवमान के लिए भी दण्ड देने की शक्ति है।[1] अभिलेख न्यायालय ऐसा न्यायालय होता है जिसके सभी कृत्य और सभी कार्रवाइयां सदैव के लिए यादगार और प्रमाण रूप में सुरक्षित रखी जाती है। इन अभिलेखो का इतना सर्वोच्च महत्त्व है कि इनकी पवित्रता के ऊपर उंगली नही उठाई जा सकती और न कोई न्यायालय इन अभिलेखों के विरुद्ध जा सकता हैं, यद्यपि स्वयं अभिलेख न्यायालय अपने अभिलेखो की लिपि सम्बन्धी भूलों को सुधार सकता है। अभिलेख न्यायालय को अधिकार होता है कि यदि कोई व्यक्ति उसके अधिकार अथवा उसकी सत्ता का अपमान करे तो वह अपराधी पर जुर्माना कर सकता है या उसे जेल की सजा तक दे सकता हैं।

संविधान के प्रारूप मे उच्चतम न्यायालय की स्थिति विपयक कोई अनुच्छेद नही था। इसके वाद डॉ अम्बेदकर के कहने पर अनुच्छेद १०८ वढाया गया था। उक्त संशोधन प्रस्तुत करते हुए डॉ० अम्वेदकर ने कहा था, "श्रीमन्! नम्बर १०८ का नया अनुच्छेद आवश्यक हैं क्योंकि सविधान के प्रारूप मे हमने ऐसा कोई उपबन्ध नही रखा है जो उच्चतम न्यायालय की स्थिति के विपय मे कुछ प्रकाश डाले। यदि सदन अनुच्छेद १२९ पर दृष्टिपात करेगा, तो वे बिल्कुल इसी प्रकार का एक अनुच्छेद पायेंगे जिसका सम्बन्ध भारत के उच्च न्यायालयो से है। इसलिए यह भी आवश्यक प्रतीत होता हैं कि ऐसा ही उपवन्ध सविधान में जोड दिया जावे जो उच्चतम न्यायालय की स्थिति की परिभाषा करे। मैं यह बताने का प्रयत्न करके सदन का समय बर्बाद नही करना चाहता कि अभिलेख न्यायालय के क्या अर्थ है। सक्षेप मे इतना कहना पर्याप्त होगा कि अभिलेख न्यायालय ऐसा न्यायालय होता है जिसके अभिलेख प्रमाण माने जाते हैं और उनको प्रमाण मानने से कोई न्यायालय इन्कार नही कर सकता। अभिलेख न्यायालय के यही अर्थ है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद १०८ का द्वितीय भाग आदेश करता है कि अभिलेख न्यायालय को अधिकार होगा कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को दण्ड दे सकेगा जो उक्त न्यायालय का अपमान करेगा। सत्य यह है कि जहा आप विधि द्वारा किसी न्यायालय को अभिलेख न्यायालय वना देते है, तो वह स्वयमेव यह अधिकार प्राप्त कर लेता है कि अपनी वेइज्जती करने वाले को सजा दे सके। किन्तु हमने यह सोचा था कि चूंकि इंगलण्ड में यह शक्ति सामान्य विधि (Common Law) से प्राप्त होती हैं, और चूंकि हमारे देश में सामान्य विधि को मान्यता नहीं दी गई है, इसलिए उचित यही समझा गया है कि सारी स्थिति को सविधि (Statuto) में ही स्पष्ट कर दिया जाये।"[2]

संक्षेप मे, अभिलेख न्यायालय की दो मुख्य विशेषताए निम्न हैं: (१) अभिलेख न्यायालय की कार्रवाइया सुरक्षित करके अभिलेखो के रूप मे रखी जाती हैं और जिन प्रश्नों पर उक्त अभिलेख मत व्यक्त करते हैं, वे अन्तिम प्रमाण हैं; और (२) अभिलेख न्यायालय को अधिकार है कि यदि कोई उसकी अवज्ञा या अवमान करेगा तो वह उसे दण्ड दे सकता है।

1. अनुच्छेद १२९
2. Constitutent Assembly Proceedings, Vol. VIII, p. 352.

न्यायालय के न्यायाधीशों को वेतन उसी क्रम से मिलेगा जिस प्रकार कि भारतीय सविधान की द्वितीय अनुसूची में दिया गया है। मुख्य न्यायाधिपति को ५,००० रु० मासिक तथा अन्य न्यायाधीशों को ४,००० रु० मासिक। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन संविधान ने निश्चित कर दिये हैं और वे संसद् द्वारा निश्चित किये हुए नही हैं। किन्तु उस कालावधि में, जिसमें कि आपात-उद्घोषणा प्रवर्तन मे है, राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि उक्त न्यायाधीशो के वेतनों और भत्तों मे कमी कर सके।[1]

इसके अतिरिक्त न्यायाधीशो को बिना किराया दिये निवास-स्थान का हक है; और उन्हे यात्रा-सम्बन्धी सुविधाएं भी हैं जिस समय वे कर्तव्यों के निर्वहन के सम्बन्ध में यात्रा करते हैं; कुछ सवेतन छुट्टियों का भी हक है और अवकाश ग्रहण करने पर पेंशन का भी अधिकार है। न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते, पेंशन आदि भारत की संचित निधि पर भारित व्यय होगा।[2] इसलिए ये व्यय संसद् की स्वीकृति के विषय नहीं हैं। प्रत्येक न्यायाधीश को ऐसे विशेषाधिकारों और भत्तों का तथा अनुपस्थिति छुट्टी और पेंशन के बारे में ऐसे अधिकारों का जिन्हें संसद् समय-समय पर निर्धारित करे, हक होगा; किन्तु उक्त विशेषाधिकारों, भत्तों, अनुपस्थिति छुट्टी या पेंशन विषयक किसी न्यायाधीश के अधिकारों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसके लिए अलाभकारी कोई परिवर्तन नही किया जा सकता।[3]

इस प्रकार संविधान ने उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को उपलब्धियों, सेवा शर्तों और सेवा सुरक्षा का पूर्ण आश्वासन दिया है। इन उपबन्धों का यह प्रयोजन है कि न्यायपालिका स्वतन्त्र हो, निष्पक्ष हो, अभ्रष्ट हो और न्यायाधीशों मे इतना साहस हो कि वे विधि-अनुकूल उचित न्याय करे। एलेक्जेंडर हैमिल्टन ने कहा था कि "हमको पहले तो न्यायाधीशो के पदों की स्थिरता का आश्वासन देना होगा और इसके बाद यह भी अतीव आवश्यक है कि न्यायाधीशो को भविष्य में भरण-पोषण का आश्वासन देना चाहिए। जब तक ये दोनों बातें न होंगी, न्यायाधीश कभी स्वतन्त्र न होगें। सामान्यत: मनुष्य की प्रकृति यही है कि अभावों के कारण मनुष्य अपनी आत्मा बेच देता है।[4]

उच्चतम न्यायालय का स्थान (Seat of the Supreme Court)—उच्चतम न्यायालय का स्थान दिल्ली में है। किन्तु राष्ट्रपति के अनुमोदन से भारत का मुख्य न्यायाधिपति उच्चतम न्यायालय की बैठकें अन्य स्थानों पर भी कर सकता है।[5]

उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय होगा (Supreme Court to be a Court of Record)—उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय है तथा उसे

1. अनुच्छेद ३६० (४) (ख)
2. अनुच्छेद ११२ (२) (घ) (i)
3. अनुच्छेद १२५ (२)
4. Federalist No. 79.
5. अनुच्छेद १३०

उच्चतम न्यायालय का प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र
(Original Jurisdiction of the Supreme Court)

(१) विवादों के सम्बन्ध में अधिकार-क्षेत्र (Jurisdiction relating to Disputes)—जैसा कि पहले भी कई बार बताया जा चुका है, संघात्मक शासन व्यवस्था में, शक्तिया केन्द्रीय सरकार और राज्यो की सरकारों के बीच वितरित और परिसीमित कर दी जाती है; इसलिए स्वतन्त्र न्यायपालिका की नितान्त आवश्यकता होती है जो संविधान का न्याय-निर्वचन करके सघ और अवयवी एककों के उचित अधिकारो की व्याख्या करे। इसलिए, भारतीय सविधान ने उच्चतम न्यायालय को निम्न प्रकार के विवादो पर अपवर्जी प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र प्रदान किया है:—

(क) भारत सरकार तथा एक या अधिक राज्यो के बीच के विवाद; अथवा

(ख) एक ओर भारत सरकार और कोई राज्य या राज्यो तथा दूसरी ओर एक या अधिक राज्यों के बीच के विवाद; अथवा

(ग) दो या अधिक राज्यों के बीच के किसी विवाद मे, यदि और जहा तक उस विवाद में ऐसा कोई प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है (चाहे तो विधि का चाहे तथ्य का) जिस पर किसी वैध अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे तो भारत सरकार और राज्यों के बीच कोई विवाद हो, अथवा राज्यो मे आपस में विवाद हो, उस विवाद का आधार कोई न्याय-योग्य अधिकार (Justiciable right) ही होगा। किन्तु यदि विवादग्रस्त पक्षों में से कोई पक्ष ऐसा दावा करता है जो विधि पर आधारित नही है अपितु वैधिक विचारों अथवा वैधिक मान्यताओं पर आधारित है, तो ऐसे विवादो मे उच्चतम न्यायालय को प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र (original jurisdiction) प्राप्त नही होगा। इसलिए उच्चतम न्यायालय मे उसके प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र से लाभ उठाने के लिए दो शर्तें आवश्यक है: (१) विवादग्रस्त पक्ष; (२) विवादग्रस्त प्रश्न की प्रकृति। यदि ये दोनों शर्तें पूरी नहीं होती तो कोई दावा उच्चतम न्यायालय के समक्ष विचारार्थ नही लाया जा सकता।

जहा तक अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय[2] को ऐसे विवादो पर भी प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र है जिनमे विदेशी राजदूत (ambassadors), या सार्वजनिक अधिकारी या मन्त्री (public ministers) या सन्धिया (treaties) अन्तर्ग्रस्त है, भारतीय उच्चतम न्यायालय को ऐसे विवादो पर प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र प्रदान नही किया गया है।[3] भारतीय उच्चतम न्यायालय ऐसे दावे (suits) भी स्वीकार नहीं कर सकता जिनमे नागरिक एक पक्ष मे हों। यदि नागरिक, सघ या किसी अवयवी एकक के विरुद्ध दावा करना चाहे तो वे किसी सामान्य न्यायालय में जा सकते है किन्तु ऐसे विवाद उच्चतम न्यायालय के समक्ष केवल अपील के रूप में आएगे, बशर्ते कि अन्य शर्तों के अनुसार उक्त विवाद की अपील उच्चतम न्यायालय मे की जा सकती है।

---

1. अनुच्छेद १३१
2. Article III, Sec. 2 (2)
3. अनुच्छेद १३१

उच्चतम न्यायालय के कार्य
(Functions of the Supreme Court)

उच्चतम न्यायालय के कार्य (Functions of the Supreme Court)—उच्चतम न्यायालय के कार्यों का पता उसके अधिकार-क्षेत्र से चलता है। १९३७ में संघीय न्यायालय की प्रस्थापना करते समय सर मोरिस ग्वायर ने कहा था, "पुरानी कहावत तो यह है कि अच्छे पंच का काम यह है कि वह अपने अधिकार-क्षेत्र को बढ़ावे; किन्तु यह तो भविष्य में देखा जाएगा; इस समय तो मुझे न्यायालयों के आधुनिक कर्त्तव्यों और कार्यों पर प्रकाश डालना चाहिए। और इस समय इन्ही कार्यों और कर्त्तव्यों का महत्त्व भी है। न्यायालयों का मुख्य कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि वे शासन से तथा राजनीतिक दलों के प्रभाव से स्वतन्त्र रहें और उनके ऊपर नीतियों का प्रभाव न पड़ने पावे। और इस प्रकार न्यायाधीश संविधान का सही-सही निर्वचन करें और ऐसे विवादों का उचित, न्याय्य और शान्तिपूर्ण हल खोजें जिनके निष्पक्ष और स्वतन्त्र हल न निकलने की अवस्था में खून-खराबी और हिंसा का भय निहित हो। हम सदैव यही प्रयत्न करेंगे और भारतीय संविधान को सदैव एक ऐसे जीवित प्राणी के रूप में देखेंगे जिसमें जीवन है, और जिसमे विकास और उन्नति की अपार सम्भावनाएं हैं; चाहे मौजूदा संविधान हो अथवा भविष्य मे निहित होने वाला संविधान हो। और मैं यह भी बतलाना चाहता हूं कि हम जिस प्रकार भी संविधान का भविष्य में निर्वचन करें, हमें सदैव सांविधानिक अभिसमयों और प्रथाओं के लिए कोई आशा नही दी है, फिर भी यदि अभिसमयों को अवसर दिया गया तो भविष्य के राजनीतिज्ञ इन सांविधानिक अभिसमयों में फलदायक और प्रभावी राजनीतिक अंकुर प्रस्फुटित पावेंगे।"

सर मॉरिस ग्वायर का उक्त भाषण एक लम्बा वक्तव्य है, फिर भी वह संक्षेप में किसी देश के सर्वोच्च न्यायालय के कार्यों पर प्रकाश डालता है कि किस प्रकार वह सम्बन्धित देश के भाग्य का निर्माण कर सकता है। भारतीय संविधान ने उच्चतम न्यायालय को प्रारम्भिक एवं अपीलीय दोनों प्रकार का अधिकार-क्षेत्र प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय को परामर्श देने का भी अधिकार-क्षेत्र प्राप्त है। उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र में मुख्यतः ऐसे विवाद आते हैं जिनमें संघ और राज्यों के बीच के विवादों में संविधान का निर्वचन आवश्यक होता है; अथवा जिनमें स्वयं राज्यों के बीच के विवादों में संविधान का निर्वचन आवश्यक हो। प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र में आदेश लेख (writs) भी दिये जा सकते हैं यदि मौलिक अधिकारों का प्रवर्तन आवश्यक हो। इन दोनों प्रकार के विवादों के अतिरिक्त और किसी प्रकार के विवाद में उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकार-क्षेत्र प्राप्त नहीं है किन्तु उच्चतम न्यायालय का अपीलीय अथवा पुनरावेदन मूलक अधिकार-क्षेत्र उन सभी अपीलों पर है जो राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध आती हैं अथवा अन्य विशिष्ट न्यायाधिकरणों (tribunals) से आती है।

संविधान उपबन्धित करता है कि उच्चतम न्यायालय को किसी अन्तर्राज्यिक नदी (inter-state river) या नदी घाटी (river valleys) के या जलों के प्रयोग, वितरण आदि से सम्बन्धित ऐसे विवाद पर भी प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र नहीं होगा[1] जिसे विशेष साविधिक न्यायाधिकरण को सौंप दिया गया हो; तथा ऐसे विवादों पर भी प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र नहीं होगा जो वित्त आयोग (Finance Commission) के अधिकार-क्षेत्र मे आते हैं,[2] तथा संघ और राज्यों के बीच कतिपय व्ययो के विषय मे समायोजन (Adjustment) से सम्बन्धित मामलों पर भी उच्चतम न्यायालय को प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र प्राप्त नहीं होगा[3] तथा कतिपय सन्धियों, करारो इत्यादि से उद्भूत विवादों मे भी उच्चतम न्यायालय या किसी न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप वर्जित होगा।[4]

मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन-सम्बन्धी-विवादों में मौलिक अथवा प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र (Jurisdiction in the matter of Enforcement of Fundamental Rights)—उच्चतम न्यायालय को विशेष अधिकार-क्षेत्र प्रदान किया गया है जिसके द्वारा वह मौलिक अधिकारों का प्रवर्तन करा सकता है;[5] और इस अधिकार-क्षेत्र के प्रयोग मे उच्चतम न्यायालय को अधिकार है कि वह ऐसे निदेश (directions or orders), आदेश या लेख जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas corpus), परमादेश या परमलेख (mandamus) प्रतिषेध (prohibition), अधिकार पृच्छा (quo warranto), और उत्प्रेषण (certiorari) के प्रकार के लेख भी हैं, निकाल सकता है। संविधान ने यह भी उपबन्धित किया है कि मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के अतिरिक्त अन्य प्रयोजनों के लिए भी उच्चतम-न्यायालय ऐसे निदेश, आदेश या लेख जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमलेख या परमादेश, प्रतिषेध आदि लेख भी हैं, अथवा इनमें से किसी को निकालने की शक्ति संसद् विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय को दे सकती है।[6] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपने मौलिक अधिकार-क्षेत्र के प्रयोग में, उच्चतन न्यायालय, मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के हेतु ऐसे निदेश, आदेश या लेख जारी कर सकता है जिन्हें वह उचित समझे; तथा अन्य प्रयोजनों के लिए यह तब तक जारी कर सकेगा जब संसद् विधि द्वारा उसे अधिकार प्रदान करे। किन्तु यह भी समझ लेना आवश्यक होगा कि मौलिक अधिकारो के प्रवर्तन के लिए उच्चतम न्यायालय का निदेश और आदेश, लेख के रूप में निकालने का अधिकार अपवर्जी (exclusive) नहीं हैं। उक्त अधिकार उच्च न्यायालयों के अधिकार के साथ समवर्ती हैं।[7] उच्च न्यायलयों को भी अधिकार है कि वे मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन तथा अन्य प्रयोजनों के लिए निदेश, आदेश और लेख निकाल सकते हैं। किन्तु संविधान-

1. अनुच्छेद २६२
2. अनुच्छेद २८०
3. अनुच्छेद २९०
4. अनुच्छेद ३६३ (१)
5. अनुच्छेद ३२ (२)
6. अनुच्छेद १३९
7. अनुच्छेद २२६

न हो जिसमें संविधान का निर्वचन अन्तर्ग्रस्त ही न हो। सविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधि प्रश्न जिस मामले में अन्तर्ग्रस्त है, उसका विनिश्चय करने के प्रयोजन के लिए, अथवा इस सविधान के अधीन सौंपे गए प्रश्न को सुनने के प्रयोजन के लिए बैठने वाले न्यायाधीशो की न्यूनतम संख्या पाच निश्चित की गई है।[1] अर्थात् उच्चतम न्यायालय में किसी सांविधानिक प्रश्न का निर्णय करने के लिए कम-से-कम पाच न्यायाधीशो का गण (bench) या धर्मासन होना चाहिए।

(२) व्यवहार विधि के मुकदमों में अपीलें (Appeals in Civil Matters)—अनुच्छेद १३३ उपबन्धित करता है कि भारत राज्य-क्षेत्र में के उच्च न्यायालय की व्यवहार कार्यवाई मे के किसी निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में हो सकती है यदि उच्च न्यायालय प्रमाणित कर दे कि मामला उच्चतम न्यायालय मे अपील के लायक है।[2] यदि उच्च न्यायालय यह भी प्रमाणित कर दे कि विवाद विषय की राशि या मूल्य प्रथम बार के न्यायालय मे बीस हजार रुपये से कम न थी और अपीलगत विवाद मे भी इससे कम नही है, तो भी उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है।[3] अथवा यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश मे २०,००० रुपये की मूल्य की सम्पत्ति से सम्बद्ध दावा या प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, तो भी अपील उच्चतम न्यायालय मे की जा सकती है। किन्तु यदि उच्च न्यायालय का निर्णय निम्नतर न्यायालय के निर्णय को सही करता है, तो फिर एक और प्रमाण-पत्र आवश्यक होगा जिसमे उच्च न्यायालय प्रमाणित करेगा कि अभी और भी विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। यदि कोई पक्ष ऐसा प्रमाणीकरण प्राप्त कर लेता है कि सारवान विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, फिर भी उसको अधिकार होगा कि वह सांविधानिक प्रश्न पर भी विवाद उठा सकता है।

(३) दण्डविधि के मुकदमों मे अपीलें (Appeals in Criminal Cases)—भारत राज्य-क्षेत्र मे के किसी उच्च न्यायालय के किसी दण्ड कार्यवाई में दिए हुए निर्णय, अन्तिम आदेश या दण्डादेश की उच्चतम न्यायालय मे अपील हो सकती है यदि (१) उस उच्च न्यायालय ने अपील मे किसी अभियुक्त व्यक्ति की विमुक्ति के आदेश को उलट दिया है तथा उसको मृत्यु दण्डादेश दिया है; अथवा

(२) उस उच्च न्यायालय ने अपने अधीन न्यायालय से किसी मामले को परीक्षण करने के हेतु अपने पास मंगा लिया है तथा ऐसे परीक्षण मे अभियुक्त व्यक्ति को सिद्ध-दोष ठहराया है और मृत्यु दण्डादेश दिया है; अथवा

(३) उच्च न्यायालय प्रमाणित करता है कि मामला उच्चतम न्यायालय में अपील किये जाने लायक है।[4]

इसके अतिरिक्त सविधान ने संसद् को अधिकार प्रदान किया है कि वह विधि द्वारा दण्डविधि के मामलों मे उच्चतम न्यायालय का अपीलीय अधिकार-क्षेत्र विस्तृत

---

1. अनुच्छेद १४५ (३)
2. अनुच्छेद १३३ (१) (ग)
3. अनुच्छेद १३३ (१) (क)
4. अनुच्छेद १३४

क्षेत्र से हो अथवा विधियों की वैधता से हो। २८ जनवरी, १९५० को श्री एम० सी० सीतलवाड ने भारतीय उच्चतम न्यायालय के प्रतिष्ठापन के समय कहा था—"इस महान् न्यायालय के आदेश २० लाख वर्गमील के क्षेत्र में प्रभावी होंगे जिसमें लगभग ३० करोड़ नर-नारी रहते हैं। यह ठीक ही कहा गया है कि हमारे उच्चतम न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र 'राष्ट्रमण्डल' के अन्य किसी देश या संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्रों से कहीं अधिक विस्तृत है।"

स्पष्टीकरण के लिये भारतीय उच्चतम न्यायालय का अपीलीय अधिकार-क्षेत्र निम्नलिखित चार प्रकार के वर्गों के अन्तर्गत निरूपित किया जा सकता है :

(१) सांविधानिक अभियोग (Constitutional Cases)—भारत राज्य-क्षेत्र में के किसी उच्च न्यायालय के, चाहे तो व्यवहार-विषयक, चाहे दाण्डिक, चाहे अन्य कार्रवाई में दिए निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है यदि वह उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि उस मामले में इस संविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है।[1] जहां कि उच्च न्यायालय ने ऐसा प्रमाण-पत्र देना अस्वीकार कर दिया हो वहां, यदि उच्चतम न्यायालय का समाधान हो जाए कि उस मामले में इस सविधान के निर्वचन का सारवान विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है तो, वह ऐसे निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश की अपील के लिए विशेष इजाजत दे सकता है।[2] जब किसी पक्ष को आवश्यक प्रमाण-पत्र उच्च न्यायालय से प्राप्त हो जाता है या जब उच्चतम न्यायालय अपील के लिए विशेष इजाजत दे देता है तो विवादग्रस्त कोई भी पक्ष उच्चतम न्यायालय में यह भी अपील कर सकता है कि उच्च न्यायालय ने सविधान का निर्वचन गलत आधार पर किया है अथवा विधि प्रश्नों को गलत अर्थों में लिया है। अपीलार्थी उच्चतम न्यायालय की आज्ञा से अन्य आधारों पर भी अपील कर सकता है।[3] अन्य अथवा नया आधार जो उच्चतम न्यायालय की आज्ञा से लिया जाएगा, या लिया जाता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह आधार सांविधानिक आधार ही हो।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी विधि की वैधता या कोई ऐसा प्रश्न निर्णय करने में जिसमें सविधान का निर्वचन अन्तर्ग्रस्त हो, उच्च न्यायालय का निर्णय अन्तिम नहीं है। सविधान के निर्वचन के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय ही अन्तिम निर्णय दे सकता है चाहे मुकदमे की प्रकृति कैसी भी हो। किन्तु यह निर्विवाद है कि जिस मुकदमे की अपील उच्चतम न्यायालय में आती है—चाहे उच्च न्यायालय ने प्रमाण-पत्र दिया हो और चाहे उच्चतम न्यायालय ने विशेष इजाजत दी हो, उस मुकदमे में किसी विधि का प्रश्न अन्तर्ग्रस्त होना चाहिए और यह विधि का स्पष्ट प्रश्न होना चाहिए जिसमें सविधान का निर्वचन अन्तर्ग्रस्त हो। उक्त अपील केवल तथ्यों से ही सम्बन्धित न हो और उक्त अपील में किसी ऐसी अन्य विधि का निर्वचन भी अन्तर्ग्रस्त

1. अनुच्छेद १३२ (१)
2. अनुच्छेद १३२ (२)
3. अनुच्छेद १३२ (२)

इसके अतिरिक्त अनुच्छेद १३६ ने भारत राज्य-क्षेत्र में के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण और साथ ही किसी उच्च न्यायालय के निर्णय, आज्ञप्ति, निर्धारण, आदेश आदि के विरुद्ध अपील की विशेष इजाजत देने का अधिकार उच्चतम न्यायालय को दिया है। इस प्रकार, यह भी माना जा सकता है कि उच्चतम न्यायालय किसी उच्च न्यायालय के ऐसे निम्न न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध भी अपील करने की इजाजत दे सकता है जिसके कर्त्तव्य और कृत्य उसी प्रकार के हों जिस प्रकार के किसी न्यायालय के होते हैं। भारत बैंक विरुद्ध भारत बैंक के कर्मचारियों के मामले मे निर्णय देते हुए जस्टिस फजलअली ने कहा था, "तो क्या हम यह मान ले कि औद्योगिक न्यायाधिकरण अनुच्छेद १३६ की सीमाओं में नही आता ? यदि हम केवल नाम पर जाएं तो हम निश्चित रूप से औद्योगिक न्यायाधिकरण को अनुच्छेद १३६ के अन्तर्गत ले सकते है। किन्तु हमको इससे आगे देखना चाहिए, और इस पर विचार करना चाहिए कि न्याया-धिकरण के मुख्य कृत्य क्या है और वह अपने कृत्यों का संपादन किस प्रकार करता हैं। यह आवश्यक है क्योंकि मैं यही समझता हू कि केवल ऐसे न्यायाधिकरण की अपील ही उच्चतम न्यायालय मे की जा सकती है जो किसी प्रकार के न्यायिक कृत्य सपादित करता हो और किसी-न-किसी रूप में न्यायालयों के से कृत्य करता हो।"

उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार की वृद्धि (Enlargement of the Jurisdiction of the Supreme Court)—सविधान ने यह भी उपबन्धित किया है कि ससद् विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में वृद्धि कर सकती है।[1] किन्तु यदि उक्त अधिकार-क्षेत्र की वृद्धि के फलस्वरूप संघ सूची के विषयों पर प्रभाव पड़ता है तो आवश्यकतः राज्य सरकार के साथ करार करना होगा। उच्चतम न्यायालय के मौलिक अधिकार-क्षेत्र मे भी वृद्धि हो सकती है और अपीलीय अधिकार-क्षेत्र मे भी। उच्चतम न्यायालय को यह अधिकार-क्षेत्र संसद् के अधिकार से मिलता है जिसके द्वारा वह उक्त विषयों पर मनचाहे ढंग से विधि निर्मित कर सकती है। उच्चतम न्याया-लय की तदर्थ समिति (ad hoc Committee) ने कहा था, "यदि किसी विषय पर विधि निर्मित करने का अधिकार ससद् को प्राप्त है, तो संसद् को यह भी अधिकार है कि वह किसी न्यायाधिकरण को न्यायिक शक्तिया प्रदान कर सके; और यदि ससद् तदर्थ शक्तिया उच्चतम न्यायालय को सौंपती है, तो उच्चतम न्यायालय प्रदत्त अधिकार-क्षेत्र का उपयोग करेगा।"[2]

संसद्, विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन मे भिन्न किन्ही अन्य प्रयोजनों के लिए ऐसे निदेश, आदेश या लेख निकालने की आज्ञा दे सकती है जिन्हे वह उचित समझे।[3] इस सम्बन्ध मे यह याद रखना आवश्यक होगा कि यहां मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के हेतु उच्चतम न्यायालय को आदेश, निदेश

1. अनुच्छेद १३८
2. Report of the ad hoc Committee on Supreme Court, Constituent Assembly Proceedings, Vol. IV, No. 6, p. 755.
3. अनुच्छेद १३९

कर सकती है।[1] किन्तु जब तक अनुच्छेद १३४(२) के अन्तर्गत संसद् विधि निर्मित नहीं करती, संविधान की यही इच्छा है कि जिन बातों अथवा अवस्थाओं का ऊपर वर्णन किया गया है उनके सिवाय अन्य मामलों में राज्यों के उच्च न्यायालय ही सामान्यतः फौजदारी के अभियोगों के सम्बन्ध में अन्तिम अपीलीय न्यायालय रहेंगे। इसलिए यदि कभी उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाण-पत्र दे देता है कि 'मामला उच्चतम न्यायालय में अपील किए जाने लायक है,' तो ऐसा प्रमाण-पत्र उच्च न्यायालय को बहुत ही सोच-समझ कर देना चाहिए और वहां देना चाहिए, "जहां यह स्पष्ट है कि विधि की उपेक्षा से अथवा प्राकृतिक या स्वाभाविक न्याय के सिद्धान्तों के उल्लंघन से भारी अन्याय हो सकता है अथवा अन्याय हुआ है।"[2]

(४) **उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील के लिए विशेष इजाजत (Special Leave to appeal by the Supreme Court)**—उच्चतम न्यायालय स्वविवेक से भारत राज्य-क्षेत्र में के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा किसी वाद या विषय में दिए हुए किसी निर्णय, आज्ञप्ति, निर्धारण, दण्डादेश या आदेश की अपील की अपील के लिए इजाजत दे सकता है, किन्तु सशस्त्र बलों से सम्बद्ध किसी न्यायाधिकरण के किसी निर्णय, निर्धारण, दण्डादेश या आदेश को उक्त कोई बात लागू नहीं होगी।[3] इस उपबन्ध ने उच्चतम न्यायालय को अपार अत्यन्त विस्तृत शक्तियां दे डाली हैं। अनुच्छेद १३२–१३५ का सम्बन्ध उन सामान्य अपीलों से है जो उच्चतम न्यायालय में की जा सकती हैं और उक्त अनुच्छेद में वे शर्तें दी गई हैं जिनके मातहत सामान्यतः उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है। किन्तु अनुच्छेद १३६ में संविधान ने उच्चतम न्यायालय को स्वविवेक प्रयोग करने का अधिकार दिया है कि यह सैनिक न्यायाधिकरण के निर्णय को छोड़कर अन्य न्यायालयों या न्यायाधिकरणों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें स्वीकृत कर सकता है। इसका यह अर्थ है कि अनुच्छेद १३२ से लगाकर १३५ तक अनुच्छेदों में अपीलों के सम्बन्ध में जो प्रतिबन्ध लगाए गए हैं तथा यदि कोई उच्च न्यायालय भी उच्चतम न्यायालय में अपील की आज्ञा न दे तो भी अनुच्छेद १३६ के अनुसार अपील की इजाजत दी जा सकती है। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय को जो अपील करने की विशेष इजाजत देने का अधिकार है, उस पर किसी प्रकार का सांविधानिक प्रतिबन्ध नहीं है। अपील के लिए विशेष इजाजत देना या न देना पूर्णतः उच्चतम न्यायालय के स्वविवेक पर छोड़ दिया गया है। श्री दुर्गादास बसु लिखते हैं कि, "मोटे तौर पर उच्चतम न्यायालय इस अधिकार का प्रयोग पीड़ित पक्ष को सहायता देने के अभिप्राय से ऐसे मामलों में कर सकता है जहां यह अनुभव किया जाता हो कि प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों का अतिक्रमण हुआ है, चाहे पीड़ित पक्ष को न्यायिक और वैधिक अपील करने का अधिकार न भी होता हो।"[4]

1. अनुच्छेद १३४ (२) 2. मोहिन्दरसिंह बनाम राज्य।
3. अनुच्छेद १३६
4. Commentary on the Constitution of India, p. 444. Also refer to Bharat Bank *Vs.* Employees of Bharat Bank.

संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार के अनुसार, राष्ट्रपति उक्त प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय का परामर्श माग सकता है।[1] इस प्रकार जो प्रश्न उच्चतम न्यायालय के परामर्शार्थ भेजा जायेगा, उस पर उच्चतम न्यायालय के पांच न्यायाधीशों की बेंच विचार करती है और सामान्यत: इस प्रकार के परामर्शदायक कृत्यों के निर्वहन में भी वही कार्य-प्रणाली अपनायी जाती है जो सामान्य मुकदमों की सुनवाई में। न्यायालय का परामर्श उन्मुक्त न्यायालय में सुनाया जाता है और उक्त निर्णय न्यायाधीशों के बहुमत से किया जाता है किन्तु यदि कोई न्यायाधीश विभिन्न मत रखता है और अपना मत उच्चतम न्यायालय के बहुमत निर्णय के साथ नत्थी कराना चाहता है तो उस न्यायाधीश के विमत को भी रख लिया जाता है। किन्तु उच्चतम न्यायालय का परामर्श राष्ट्रपति के ऊपर बाध्य नहीं है क्योंकि यह न्यायिक निर्णय नही होता।

इस प्रकार, सविधान का अनुच्छेद १४३ राष्ट्रपति को अधिकार प्रदान करता है कि वह विधि के किसी सार्वजनिक महत्त्व के सारवान प्रश्न के समाधान हेतु उच्चतम न्यायालय से परामर्श कर सकता है। और जिस प्रश्न पर राष्ट्रपति ने उच्चतम न्यायालय से परामर्श मागा है वह विधि का प्रश्न भी हो सकता है और तथ्यों का प्रश्न भी हो सकता है और उसको परामर्श लेने का केवल उस समय ही अधिकार नही है जबकि विधि अथवा तथ्य का कोई प्रश्न उत्पन्न हुआ हो अपितु वह उस समय भी परामर्श ले सकता है जबकि ऐसे प्रश्न के उत्पन्न होने की सम्भावना हो। तदनुसार राष्ट्रपति उस समय भी किसी प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय से परामर्श माग सकता है जब विधान-मण्डल के समक्ष कोई विधेयक विचाराधीन हो और वह पूछ सकता है कि उक्त विधेयक विधानमण्डल की शक्ति के अन्तर्गत है अथवा नही।

भारत के प्रवीण न्यायशास्त्रियों (Jurists) और राजनीतिज्ञों में इस सम्बन्ध में विभिन्न मत रहे हैं कि न्यायालय देश की कार्यपालिका को विधि के प्रश्नों पर परामर्श देने के लिए बाध्य ठहराए जाए अथवा नही।[2] किन्तु सविधान के निर्माताओं ने यह उचित समझा कि उच्चतम न्यायालय को कतिपय परामर्शदायक कर्त्तव्य भी सौंपे जाए। उच्चतम न्यायालय सम्बन्धी तदर्थ समिति ने कहा था—"इस प्रश्न के पक्ष और विपक्ष के सभी पहलुओं पर विचार करने के उपरान्त हमारा यह मत है कि यही उत्तम होगा कि नये सविधान के प्रारम्भ होने पर भी उच्चतम न्यायालय के उक्त अधि-कार-क्षेत्र को ज्यों-का-त्यों रखा जाए। ऐसा मान ही लेना चाहिए कि उच्चतम न्यायालय को उक्त अधिकार-क्षेत्र के प्रयोग की बारम्बार आवश्यकता नही पड़ेगी।" श्री दुर्गादास बसु ने उक्त सम्बन्ध में अधिकार-क्षेत्र शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की है। उन्होंने इंग्लैण्ड की हैलिसबरी विधियों (Halisbury Laws of England) का हवाला दिया है जहा किसी न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र को ऐसा मान जाता है कि वह उस

---

1. अनुच्छेद १४३

2 इस सम्बन्ध में प्रोफेसर फेलिक्स फ्रेंकफर्टर (Foleix Frankfurter) के जो इस समय अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश है, के विचारों को भी देखिए Quoted by V. N. Shukla in his 'Constitution of India' p. 142.

और लेख जारी करने का अधिकार सविधान ने दिया है, अन्य प्रयोजनों के लिए आदेश और लेख आदि निकालने का अधिकार संसद् के अधिनियम के अधीन हैं और इस प्रकार संसद् के विनियमन के अधीन है।

संसद् विधि द्वारा ऐसी अनुपूरक अथवा सहायक शक्तियां उच्चतम न्यायालय को दे सकती है जो सविधान के उपबन्धों में से किसी से असंगत न हों और जिनके आधार पर वह उन कर्त्तव्यों का निर्वहन कर सके जो सविधान द्वारा उच्चतम न्यायालय को करने को सौंपे गए हैं।[1]

निर्णयों या आदेशों पर उच्चतम न्यायालय द्वारा पुनर्विलोकन (Power to Review its own Decisions)—अन्य देशों के उच्चतम न्यायालयों के समान भारतीय उच्चतम न्यायालय को भी अपने निर्णय या आदेशों पर पुनर्विलोकन का अधिकार है और वह अपने पुराने निर्णयों पर सदैव के लिए बाध्य नहीं है।[2] जब उच्चतम न्यायालय किसी विषय पर अपना निर्णय दे चुके, उसके ३० दिन बाद उक्त न्यायालय के रजिस्ट्रार को प्रार्थना-पत्र दिया जा सकता है और जिन अधिकारों पर पुनर्विलोकन की प्रार्थना की जा रही है, उनको स्पष्टतया लिखते हुए निर्णय का पुनर्विलोकन या पुनरीक्षण कराया जा सकता है।[3] इस प्रकार की प्रार्थना के साथ किसी अधिवक्ता का प्रमाण-पत्र होना चाहिए कि निर्णय का पुनर्विलोकन न्यायसंगत है।[4]

उच्चतम न्यायालय की आज्ञप्तियों और आदेशों का प्रवृत्त कराना (Enforcement of Decrees and Orders of the Supreme Court)—उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि या निर्णय भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर सब न्यायालयों को सर्वथा मान्य होंगे।[5] अपने क्षेत्राधिकार के प्रयोग में उच्चतम न्यायालय कोई भी आज्ञप्ति या आदेश जारी कर सकता है; और उक्त आज्ञप्तियां या आदेश भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र ऐसी रीति से, जैसी कि संसद् किसी विधि के द्वारा या अधीन विहित करे, प्रवर्त्तनीय हैं।[6] भारत राज्य-क्षेत्र के सभी असैनिक और न्यायिक प्राधिकारी उच्चतम न्यायालय की सहायता और अधीनता में कार्य करने को बाध्य हैं।[7]

इस प्रकार, संविधान ने उच्चतम न्यायालय के निर्णयों को बन्धनकारी माना है और इसलिए इन निर्णयों और आदेशों की सर्वोच्चता और अनुल्लघनीयता के विरुद्ध साधारण विधायी अधिनियम प्रभावी नहीं हो सकते।

उच्चतम न्यायालय के परामर्शदायक कृत्य (Consultative or Advisory Functions of the Supreme Court)—यदि किसी समय राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है, जो सार्वजनिक महत्त्व का है, तो

---

1. अनुच्छेद १४०
2. अनुच्छेद १३७
3. Supreme Court Rules, 1950, Order 38, p. 2.
4. Grounds are mentioned in Order 47, Rule 1, of the Code of Civil Procedure.
5. अनुच्छेद १४१
6. अनुच्छेद १४२
7. अनुच्छेद १४४

व्यवस्था निर्धारित और परिसीमित क्षेत्रो मे कार्य करती है। फलस्वरूप, सविधान शासन के विविध अंगों पर निश्चित मर्यादाएं आरोपित करता है और यदि शासन का कोई अग अपने अधिकार-क्षेत्र का उल्लघन करता हो, तो वह शासन के उक्त अंग द्वारा साविधानिक मर्यादाओं का अतिक्रमण माना जाएगा और इस प्रकार असाविधानिक माना जाएगा। यह निर्णय तो न्यायालय ही कर सकते है कि शासन ने अथवा उसके किसी अग ने साविधानिक मर्यादाओ का उल्लघन किया है अथवा नहीं।

भारतीय संविधान ने विधानमण्डल की शक्तियो पर दो प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए हैं : (क) विधायिनी क्षमता, और (ख) सविधान के भाग तृतीय में प्रदत्त मौलिक अधिकार।

(क) **विधायिनी क्षमता** (Legislative Competence)—संविधान के अनुच्छेद २५१ और २५४ उपबन्धित करते हैं कि यदि कभी ससद्-निर्मित विधि और राज्यों के विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि मे असगति हो तो संसद् द्वारा निर्मित विधि मानी जाएगी और राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि अवैध घोषित कर दी जाएगी। किन्तु ऐसा कोई तत्स्थानी उपबन्ध नही है जिसके द्वारा राज्य सूची सम्बन्धित किसी विषय पर संघीय विधि अवैध घोषित की जा सके। किन्तु सविधान के अनुच्छेद २४६ ने विधियों के विषय को स्पष्टतया ससद् की क्षमता और राज्य विधानमण्डलों की क्षमता के बीच बांट दिया है और इस प्रकार सूची १ तथा २ मे सारे विषयों को बाट दिया गया है। यह भी स्पष्टतः उपबन्धित कर दिया गया है कि ससद् को उन विषयों पर विधि निर्मित करने की पूरी छूट होगी जो संघ सूची मे प्रगणित किए गए है और राज्यो के विधानमण्डलो को उन विषयों पर विधि निर्मित करने का पूरा अधिकार होगा जो राज्यो की सूची मे प्रगणित किए गये है। इसमें सन्देह नही है कि सघीय संसद् को अनुच्छेद २४५ के अन्तर्गत अधिकार है कि वह सम्पूर्ण भारत क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकती है ; किन्तु संसद् के इस पूर्ण प्रादेशिक अधिकार-क्षेत्र पर संविधान के उपबन्धों का नियन्त्रण है और सविधान के उपबन्धों ने संसद् के अधिकार क्षेत्र को सीमित करके केवल सघ सूची के विषयों तक मर्यादित कर दिया है।[1] इस प्रकार यदि संसद् प्रत्यक्षत कोई ऐसी विधि बनाती है जिसका विषय राज्य-सूची में प्रगणित है और यदि वह सविधान के उपबन्धो के अनुकूल नही है ; तो न्यायालयों का यह स्पष्ट कर्तव्य हो जाता है कि वे ससद द्वारा निर्मित ऐसी किसी विधि को असाविधानिक घोषित कर दे।[2] इस प्रकार

---

1. संविधान के भाग (घ) के राज्य क्षेत्र के विषय में संसद् की सामान्य विधायिनी शक्तियां राष्ट्रपति के विनियमों द्वारा किए गए सशोधनों का विषय हैं। राष्ट्रपति को अधिकार हे कि वह अपने विनियमो द्वारा ऐसी किसी विधि को रद्द या संशोधित कर सके जिसे संसद् ने अनुच्छेद २४५ (१) के अनुसार किसी राज्य-क्षेत्र के लिए बनाया हो; राष्ट्रपति के उक्त विनियमो का वही प्रभाव होगा जो संसद् के किसी अधिनियम का।

2. अनुच्छेद १३१, १३२, १३३ देखिए।

न्यायालय की शक्ति या अधिकार में है कि किसी शिकायत को सुने और उस पर अपना निर्णय दे।" वसु महोदय का कथन है कि उच्चतम न्यायालय को जो इस सम्बन्ध में अधिकार प्रदान किया गया है वह किसी शिकायत या वाद को सुनने से सम्बन्ध नही रखता। यहा तो उच्चतम न्यायालय को सार्वजनिक महत्त्व के किसी प्रश्न पर राष्ट्रपति द्वारा परामर्श मागे जाने पर अपना मत देना है।

उच्चतम न्यायालय, संविधान का संरक्षक (Supreme Court as a Guardian of the Constitution)—उच्चतम न्यायालय सविधान का सरक्षक भी है। जिस किसी सविधान में शासन की शक्तियां प्रगणित होती है, उस संविधान को सर्वोच्च प्रमाणित करने के लिए उस देश के न्यायालयों को सविधान निर्वचन का अधिकार होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान ने स्पष्टतया उच्चतम न्यायालय को यह अधिकार प्रदान नही किया है कि वह सघीय विधियो की वैधानिकता की परीक्षा करे। किन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने यह अधिकार संविधान के दो महत्त्वपूर्ण उपबन्धो से ग्रहण किया है जिनसे सविधान के निर्माताओ की भी यही इच्छा प्रतीत होती है। प्रमुख न्यायाधीश मारशल ने इन्ही उपबन्धो के आधार पर मारबरी बनाम मेडीसन के विवाद में निर्णय दिया कि सर्वोच्च न्यायालय ही संघ और राज्यों की विधियों की वैधानिकता की परीक्षा कर सकता है और जब संविधान को देश की सर्वोच्च विधि स्वीकार कर लिया गया हो, तो यह अधिकार स्वतःसिद्ध है। अन्यथा चीफ जस्टिस मारशल के अनुसार सविधान को सर्वोच्च विधि मानने का कोई अर्थ ही न रह जाएगा।

श्री मारशल ने उक्त निर्णय १८०३ मे दिया था और तब से अमेरिकी शासन-व्यवस्था में न्यायिक पुनर्विचार का परीक्षण या परीक्षण का सिद्धान्त घर कर गया है और आचार्य डायसी के अनुसार अमेरिका के प्रत्येक न्यायाधीश ने यह रवैया अख्तियार कर लिया है कि ऐसे भी अधिनियमों को अवैध घोषित कर दिया जाए जो सविधान विधि का उल्लघन करते है।

भारतीय सविधान मे भी ऐसा स्पष्ट उपबन्ध नही है जिसके द्वारा संविधान को देश की सर्वोच्च विधि स्वीकार किया गया हो। सम्भवतः सविधान के निर्माताओ ने ऐसी घोषणा आवश्यक न समझी हो, क्योकि जब शासन के सभी सघीय और राज्यीय अंग संविधान के जात है और शासन के सभी अंग अपने-अपने अधिकारों और शक्तियों के लिए संविधान के प्रति ऋणी हैं और जबकि संविधान मे और किसी प्रकार सशोधन नही किया जा सकता; यदि किया जा सकता है नो उस प्रक्रिया द्वारा जो स्वय सविधान ने अनुच्छेद ३६८ मे स्वीकार की है, तो यह निर्विवाद सत्य है कि सविधान भारत की सर्वोच्च विधि है।

पुनः यह भी मानना पड़ेगा कि सविधान ने स्पष्टतया न्यायालयों को यह अधिकार प्रदान नही किया है कि वे विधियो को असाविधानिक घोषित कर दें। किन्तु यदि सविधान मे ऐसा उपबन्ध नही है, तो भी न्यायालयों का यह अधिकार छिन नहीं जाता जिससे वे प्रमाणित कर सकें कि कोई विधि साविधानिक है अथवा नही। सविधान की सर्वोच्चता का यह आवश्यक प्रतिफल है। इसके अतिरिक्त संघीय शासन-

हो जा सकती है। इसके अतिरिक्त संविधान ने उच्चतम न्यायालय को कतिपय असाधारण अधिकार दिए हैं जिनके द्वारा वह न्याय के पक्ष में हस्तक्षेप कर सकता है। उच्चतम न्यायालय को जो अधिकार प्रदान किया गया है कि वह किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण के फैसले के विरुद्ध अपील की विशेष इजाजत दे सकता है, उस पर किसी प्रकार का सांविधानिक बन्धन नहीं है। इस प्रकार की अपीलों की विशेष इजाजत देना पूर्णतया उच्चतम न्यायालय के स्वविवेक पर छोड दिया गया है और उक्त न्यायालय किसी पीडित पक्ष को ऐसी हालतों में कुछ राहत दे सकते है जहा प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तो का अतिक्रमण हुआ है।

उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय भी है और उसको वे सब अधिकार है जो अभिलेख न्यायालय को प्राप्त होते है, जिनमें एक अधिकार यह भी है कि वह अपना अपमान करने वाले व्यक्ति को न्यय दण्ड दे सकता है। अभिलेख न्यायालय के निर्णय और उनकी कार्रवाइयों का इतना भारी महत्त्व होता है कि उसकी सत्यता को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। इस कारण उच्चतम न्यायालय की स्थिति अत्यन्त उच्च हो जाती है। उच्चतम न्यायालय के निर्णय भारत के सभी न्यायालयों को मान्य हैं और इसके निर्णयों की सर्वग्राह्य और सर्वमान्य स्थिति को व्यवस्थापिका के अधिनियम से भी प्रतिबन्धित नहीं किया जा सकता। उच्चतम न्यायालय के परामर्शदायक कर्तव्यों का भी महत्त्व है क्योंकि यह विधि-सम्बन्धी भाव-सूक्ष्म प्रश्नों पर भी परामर्श के रूप में अपने विचार और निर्णय दे सकता है।

किन्तु उच्चतम न्यायालय का मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वह संविधान का निर्वचन करे और विधियों की घोषणा करे। जहा केन्द्र और राज्यों के अधिकार-क्षेत्र मे टक्कर होती है, वहां उच्चतम न्यायालय ही सविधान का निर्वचन करके विधियो का निर्धारण करता है। इस सम्बन्ध में भारतीय उच्चतम न्यायालय के कृत्य संयुक्त राज्य अमेरिका के उच्चतम न्यायालय के कृत्यों से भिन्न है। इस भिन्नता का एक कारण यह है कि दोनों देशों के संघों की प्रकृति में पर्याप्त अन्तर है।

भारतीय सविधान की सातवी अनुसूची में सघ सरकार और राज्यों की सरकारों की शक्तियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया है। हमारे यहां अवशिष्ट शक्तिया भी सघ सरकार को सौप दी गई हैं। संघ सरकार समय-समय पर राज्य सरकारों को निर्देश दे सकती है। इसके अतिरिक्त आपात-कालों में वह राज्यों की सत्ता का अतिक्रमण कर सकती है। इन समस्त कारणों की वजह से भारत में सघ सरकार और राज्य सरकारों के बीच विवाद की बहुत कम सभावना रहती है। फलत:, भारत मे उच्चतम न्यायालय कभी न्यायिक पुनरीक्षण की उतनी विशाल शक्तिया ग्रहण नही कर सकता जितनी अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त है।

भारतीय सविधान में मौलिक अधिकारो का विस्तृत वर्णन है और जिन उप-बन्धो ने उक्त अधिकारो पर कतिपय न्याय्य प्रतिबन्ध भी लगाए है, उन्होने उच्चतम न्यायालय को न्यायिक पुनर्विचार अथवा पुनरीक्षण का अधिकार प्रदान किया है वास्तव मे न्यायिक पुनर्विचार आवश्यक हो गया है। किन्तु जिस रूप मे भारतीय

भारतीय न्यायालयों को अधिकार है कि वे विधियों की वैधानिकता के सम्बन्ध में विधायी शक्तियों के अतिक्रमण के प्रसंग में अपना निर्णय दे सकते हैं, यद्यपि यह शक्ति संविधान ने केवल उच्च न्यायालयों[1] और उच्चतम न्यायालय[2] को ही प्रदान की है। संविधान ने इस प्रकार की शक्ति निम्न न्यायालयों को नहीं दी है।

(ख) कुछ अन्य उपबन्ध जो संसद् और राज्यों के विधानमण्डलों की शक्तियों को प्रतिबन्धित करते हैं, संविधान के भाग तृतीय मे वर्णित मौलिक अधिकार हैं। अनुच्छेद १३ उपबन्धित करता है कि भारत राज्य-क्षेत्र में वे सब प्रवृत्त विधियां शून्य होंगी जो मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करती हों। संविधान मे अनुच्छेद १३ का उपबन्धित करना अत्यन्त सावधानी और बुद्धिमत्ता का काम था, यदि उक्त उपबन्ध न भी होता, और यदि कोई विधानमण्डल मौलिक अधिकारों का हनन करते, तो भी न्यायालयों के पास अधिकार है कि मौलिक अधिकारों के उल्लंघन की सीमा तक उक्त अधिनियम को असांविधानिक घोषित किया जा सकता है।

संविधान ने जिन मौलिक अधिकारों की घोषणा की है वे असीमित और अमर्यादित नहीं हैं। उन पर मर्यादाएं लगी हुई हैं। कुछ मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध मे तो स्वय संविधान ने मर्यादाएं आरोपित कर दी हैं। कुछ अन्य अधिकारों के सम्बन्ध में न्यायालयों के ऊपर छोड़ दिया गया है कि वे जैसा उचित समझें प्रतिबन्ध लगा सकते हैं। किन्तु यह बात मार्के की है कि हर हालत मे अधिकार ही मौलिक है, प्रतिबन्ध मौलिक नहीं हैं। इसलिए उच्चतम न्यायालय का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह प्रयत्नपूर्वक यह देखे कि जिन अधिकारों को मौलिक माना गया है, वे मौलिक ही रहें और यदि कोई विधि उक्त मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण करती है, तो वह उच्चतम न्यायालय की छानबीन का विषय है। यदि उच्चतम न्यायालय निर्णय करेगा कि विधि के द्वारा सीमाओं का अतिक्रमण हुआ है, तो ऐसी विधि असांविधानिक घोषित कर दी जाएगी। उच्चतम न्यायालय का यह कर्त्तव्य है कि उसकी देख-रेख में न तो संसद् और न कार्यपालिका उन सीमाओं का अतिक्रमण करे जो संविधान ने संसद् तथा कार्यपालिका पर आरोपित कर दी है।

उच्चतम न्यायालय का कार्य (*Role of the Supreme Court*)—नि:सन्देह उच्चतम न्यायालय का कार्य महान् है और उसकी शक्तियां व्यापक है। श्री अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर के शब्दों मे भारतीय उच्चतम न्यायालय की शक्तियां संसार के किसी अन्य उच्चतम न्यायालय से अधिक है। भारतीय उच्चतम न्यायालय एकीकृत न्यायपालिका के शिखर पर अवस्थित है और यह न केवल संविधान का अपितु सामान्य विधि का भी निर्वचन करता है। तदनुसार, इसका मुख्य कर्त्तव्य यह है कि इसकी देख-रेख में विधियों का यथाविधि पालन होता रहे, और कोई न्यायालय या न्यायाधिकरण किसी के साथ अन्याय न करे। वैधानिकतः तो उच्चतम न्यायालय में अपील की

1. अनुच्छेद २२८
2. अनुच्छेद १३१ से लगाकर १३६ तक

उच्चतम न्यायालय मौलिक अधिकारों के अतिक्रमण करने पर विधियों को अवैध घोषित कर सकता है, वह अधिकार अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के तत्सम्बन्धी अधिकार से भिन्न है। हमारे सविधान में न तो 'यथोचित विधि प्रक्रिया (due process) को स्थान दिया गया है और न 'न्यायिक परमेष्ठता' (Judicial supremacy) के सिद्धान्त को ही मान्यता दी गई है। सयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान में 'यथोचित विधि प्रक्रिया' नाम की धारा को और 'न्यायिक परमेष्ठता' के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करके अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय को संयुक्त राज्य अमेरिका की सामाजिक नीति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण और निर्णायक भाग लेने का अवसर प्राप्त हो गया है। *इस प्रकार अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय विधानमण्डलो से भी उच्चतर स्थिति* (super legislature) का उपभोग करता है; और इसी के आधार पर जस्टिस ह्यूजेज ने कहा था कि "यद्यपि हम संविधान के अनुयायी हैं, परन्तु सविधान वही है जो न्यायाधीश कहे और जिस प्रकार वह सविधान का निर्वचन करे।" इसके विपरीत भारत में 'ससद् की परमेष्ठता' के सिद्धान्त पर कार्य होता है यद्यपि उक्त ससदीय परमेष्ठता पर भी कतिपय साविधानिक प्रतिवन्ध लगे हुए है। भारत मे उच्चतम न्यायालय किसी अधिनियम को असाविधानिक घोषित कर सकता है, यदि वह साविधानिक प्रतिवन्धों का अतिक्रमण करेगा; किन्तु भारतीय उच्चतम न्यायालय विधान निर्माण-सम्बन्धी नीति की वैधानिकता की परीक्षा नही कर सकता। यद्यपि यह ठीक है कि उच्चतम न्यायालय को खोज और छानवीन के साथ यह देखते रहना चाहिए कि विधानमण्डल मौलिक अधिकारो का अतिक्रमण न कर सके, फिर भी यह अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय की तरह विधानमण्डल का तृतीय सदन नही है और भारतीय उच्चतम न्यायालय को विधानमण्डल की नीति पर निर्णय देने का अधिकार नही है और न उच्चतम न्यायालय विधि मे निहित नीति की परीक्षा कर सकता है। स्वय उच्चतम न्यायालय ने गोपालन बनाम मद्रास राज्य के विवाद मे अपने अधिकारो की सीमाओ की व्याख्या की थी। भारत मे न्यायपालिका की स्थिति कुछ-कुछ संयुक्त राज्य अमेरिका और इग्लैण्ड की न्यायपालिकाओं के बीच की सी है। भारतीय न्यायपालिका वह कार्य कदापि नही कर सकती, जो सयुक्त राज्य अमेरिका का सर्वोच्च न्यायालय करता है। भारत मे उच्चतम न्यायालय इस प्रकार अपना कार्य करेगा कि न तो ससद् और न कार्यपालिका ही साविधानिक सीमाओ का अतिक्रमण कर सकें।

परन्तु गोलकनाथ के मुकदमे मे दिये उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय से, कि भविष्य मे ससद् साधारण साविधानिक संशोधन विधि द्वारा मौलिक अधिकारो को न्यून नही कर सकती, दूरगामी प्रभाव रखने वाले राजनैतिक और कानूनी प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। *इस प्रकार मौलिक अधिकारों और तेजी से बदल रहे समाज की आवश्यकताओ को* परस्पर व्यवस्थित किये रखने की विकट समस्या के समाधान की जिम्मेदारी न्यायपालिका पर आ पड़ी है।

किन्तु जिस समय उच्चतम न्यायालय विधियो का निर्वचन या विधि को वैधानिक घोषित करता है उस समय न्यायालय को चाहिए कि वह सविधान को मृत

अध्याय ८

संघ तथा राज्य
(THE UNION AND THE STATES)

संघ के मूल एकक (Original Units of the Union)—१९४७ के पूर्व राजनैतिक दृष्टि से भारत दो भागों मे बटा हुआ था—ब्रिटिश भारत और देशी भारत। ब्रिटिश भारत मे वे विभिन्न प्रान्त थे जिनका शासन ब्रिटिश ससद् और भारतीय विधानागों द्वारा पास किए गए कानूनो के अनुसार होता था। देशी भारत मे ६०० रियासते थी। ये अन्ततोगत्वा ब्रिटिश क्राउन की सर्वोच्च सत्ता के अधीन थी तथापि व्यवहारत: इन पर भारतीय शासको का निरकुश शासन था। १९५० मे जब भारत का नया संविधान लागू हुआ, देशी राज्यो को समाप्त कर दिया गया था और विभिन्न एककों की निम्न श्रेणियां रखी गई थी :

(१) २१६ राज्यों को जिनकी जनसख्या १ करोड ९० लाख थीं, पडोस के प्रान्तों मे मिला दिया गया था और उन्हें भाग (क) राज्य सज्ञा दी गई ;

(२) ६१ राज्यों को जिनकी जनसंख्या ७० लाख थी, केन्द्र-प्रशासित एकको के रूप मे गठित किया गया और उन्हें भाग (ग) राज्य कहा गया;

(३) २७५ राज्यों को जिनकी जनसख्या ३ करोड ५० लाख थी भाग (ख) राज्यो के रूप में गठित किया गया। ये राज्य थे—राजस्थान, मध्य भारत, त्रावनकोर कोचीन, सौराष्ट्र, पैप्सू ;

(४) तीन राज्य—हैदराबाद, जम्मू और काश्मीर, तथा मैसूर भाग (ख) राज्य बन गए।

इस प्रकार भाग (क) मे १० राज्य, भाग (ख) मे ८ राज्य और भाग (ग) मे ९ राज्य थे। इनके अतिरिक्त सविधान मे भाग (घ) राज्यों के शासन की भी व्यवस्था थी।

भारत संघ के अवयवी एककों की असमान स्थिति को समाप्त कर दिया गया है (Disparate Status of the Constituent Units Disappears)—भारतीय सविधान की एक अनोखी विशेपता यह थी कि सघ के अवयवी एकको की स्थिति मे आकाश पाताल का अन्तर था। सविधान के प्रारुप मे, प्रारूप समिति ने इस असमानता के कारणो पर प्रकाश डाला था। उसमे कहा गया था. "प्रारूप के अनुच्छेद १ मे भारत को राज्यों का सघ कहा गया है। सारे राज्यो मे एकरूपता लाने के लिए प्रारूप समिति ने यह उचित समझा कि नए सविधान मे भारत संघ के सभी अवयवी एकको को राज्य कहा जाए, चाहे उनको इस समय गवर्नरो का प्रान्त कहा जाता हो, चाहे चीफ कमिश्नरो

उच्चतम न्यायालय ने औद्योगिक विवादो के क्षेत्र मे भी सराहनीय कार्य किया है। भारत का औद्योगिक विकास तेजी से हो रहा है। अतः, यहा ऐसी सुनिश्चित और सुनिर्दिष्ट विधियों की बहुत आवश्यकता है जो उद्योगपतियों एव मजदूरों के सम्बन्धो की व्याख्या कर सके। उच्चतम न्यायालय ने औद्योगिक विवादो को संतोषजनक रीति से सुलझाने का प्रयास किया है और इस सम्बन्ध में औद्योगिक न्यायाधिकरणो का उचित पथ-प्रदर्शन किया है।

इस प्रकार, उच्चतम न्यायालय विभिन्न-क्षेत्रो मे न्याय का प्रमुख स्रोत है। इस सस्था की देश मे सबसे अधिक प्रतिष्ठा है।

Suggested Readings

Basu, D D : *Commentary on the Constitution of India.* pp. 399-462.

Carr, R K. : *The Supreme Court and the Judicial Review.*

Corwin, E S. : *Court over Constitution, A Study of the Judicial Review as an Instrument of Popular Government.*

Ghosh, R. C. : *Constitutional Decision of the Supreme Court; Indian Journal of Political Science,* April-June 1953.

Gledhill, A. : *The Republic of India,* Chap. 9.

Joshi, G N. : *The Constitution of India,* pp 151-186.

Miller, S. C : 'Judiciary in Free India,' *Modern Review,* Vol. Lxxxiii, No. 5, p 366.

Mukerjee, T B : 'Supreme Court as a Guardian of the Constitution', *Indian Journal of Political Science,* April-June, 1951.

Sri Ram Sharma : *The Supreme Court in the Indian Constitution.*

सघ सरकार उनका प्रशासन प्रत्यक्षतः एकात्मक शासन के रूप में करती थी। संविधान ने स्पष्टतः उपवन्धित किया कि राष्ट्रपति प्रथम अनुसूची के भाग (ग) मे उल्लिखित राज्यों का प्रशासन करेगा; तथा वह इस बारे मे अपने द्वारा नियुक्त किए जाने वाले मुख्य आयुक्त या उप-राज्यपाल (Lieutenant-Governor) के द्वारा अथवा पड़ोसी राज्य की सरकार के द्वारा कार्य करेगा।[1] पुन: सविधान ने यह भी उपबन्धित किया कि प्रथम अनुसूची के भाग (ग) में उल्लिखित तथा मुख्य आयुक्त या उप-राज्यपाल द्वारा प्रशासित किसी राज्य के लिए ससद् विधि द्वारा स्थानीय विधानमण्डलो का निर्माण कर सकती है और ऐसे विधानमण्डलो के कर्त्तव्य निर्देशित कर सकती है।[2] ससद् को यह भी अधिकार प्रदान किया गया कि वह भाग (ग) के इन राज्यो के लिए परामर्श-दाताओ की परिषद् अथवा मन्त्रियो की परिषद् सृजित कर सकती है।[3] तदनुसार भारतीय ससद् ने भाग (ग) राज्य शासन अधिनियम १९५१ (Government of Part C States Act, 1951) पास किया; जिसके अनुसार भाग (ग) के राज्यों मे विधानमण्डलों की स्थापना की गई और मन्त्रिमण्डलो की भी स्थापना कर दी गई। किन्तु इस प्रकार भाग (ग) के राज्यो को और उनके विधानमण्डलो को सारी शक्तियां सौप देने से भी न तो संसद् की उक्त राज्यो के ऊपर विधायी प्रभुसत्ता मे किसी प्रकार की कमी आई और न सघ सरकार का जो भाग (ग) के राज्यो पर शासन करने का ससद् के प्रति उत्तरदायित्व है, उसमे किसी प्रकार की कमी हुई। वास्तव मे भाग (ग) के राज्यो को सघ के अवयवी एकक समझना भी संघवाद के विरुद्ध है।

संघ के राज्यों के प्रशासन के अतिरिक्त सविधान ने भाग (घ) के राज्य-क्षेत्रो के प्रशासन की भी व्यवस्था की है तथा कुछ अन्य प्रदेशों, जिनमे ऐसे प्राप्त या विजित प्रदेश भी सम्मिलित है जिनको अलग से सविधान मे निर्दिष्ट नही किया गया है, के प्रशासन की भी व्यवस्था की है। भाग (घ) के राज्यो मे केवल अण्डमान और निकोबार टापुओ का ही निदेश किया गया है। प्रदेश या राज्य-क्षेत्र और राज्य मे अन्तर है। प्रदेश या राज्य-क्षेत्र को भारत संघ का एकक नही माना गया; और इसलिए संघीय ससद् के प्रतिनिधित्व मे राज्यो और प्रदेशों में अन्तर रखा गया। राज्य सभा मे केवल राज्यों[4] को ही प्रतिनिधित्व दिया गया और चूंकि प्रदेश सघ का एकक नही था, इसलिए उसको राज्य सभा के प्रतिनिधित्व से वंचित रहना पड़ा। विभिन्न राज्यो की प्रजा को लोक-सभा मे सविधान के उपबन्धों के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ, जबकि भारत राज्य-क्षेत्र मे समाविष्ट किन्तु किसी राज्य के अन्तर्गत न होने वाले राज्य क्षेत्रों

---

१. अनुच्छेद २३९ (१)
२. अनुच्छेद २४० (१) (क)
३. अनुच्छेद २४० (१) (ख)
४. चतुर्थ अनुसूची अनुच्छेद ८० (१) (ख)

का प्रान्त कहा जाता हो और चाहे भारतीय नरेशों के राज्य कहा जाता हो। नए संविधान में भारत के अवयवी एकको मे कुछ-न-कुछ अन्तर तो अवश्य रहेंगे और इन्ही विभेदो अथवा अन्तरो के विचार से राज्यो को तीन श्रेणियो मे बाटा गया है। अर्थात् वे राज्य जो प्रथम अनुसूची के भाग १ मे प्रगणित कराए गए है, वे राज्य जिनको संविधान के भाग २ में गिनाया गया है और वे राज्य जो संविधान के भाग तृतीय में गिनाए गए है।"[1] संविधान ने राज्यो के इस विभेद अथवा अन्तर को स्वीकार किया और जैसा कि बताया भी जा चुका है, राज्यों की तीन श्रेणिया रखी और प्रत्येक श्रेणी को उसका अलग स्वरूप दिया और हर एक की स्थिति भी अलग रखी।

भाग (क) और (ख) के राज्यों की स्थिति संघवाद के सिद्धान्त के आधार पर रखी गई किन्तु दोनो प्रकार के राज्यो की शासन-व्यवस्था में कुछ महत्त्वपूर्ण भेद थे। भाग (क) के राज्यो का प्रधान गवर्नर या राज्यपाल होता था जिसको राष्ट्रपति पाच वर्ष की अवधि के लिए नियुक्त करता था। इसके विपरीत भाग (ख) के राज्य का प्रमुख या प्रधान राजप्रमुख कहलाता था और उक्त पद हैदराबाद और मैसूर मे विशेषकर वंशानुगत अथवा पित्रागत (hereditary) रखा गया था। जम्मू और काश्मीर राज्य का प्रधान सदर-ए-रियासत कहलाता था; और उसको राज्य का विधानमण्डल पाच वर्ष के लिए निर्वाचित करता था। कई देशी राज्यों के संघ के राजप्रमुख को उन देशी राज्यो के नरेशो की परिषद् चुनती थी जिनसे मिल कर उक्त संघ संघटित होता था, और यह आवश्यक था कि राजप्रमुख मुख्य अवयवी राज्यो मे से किसी राज्य का नरेश हो। यह भी आवश्यक था कि राजप्रमुख को भारत का राष्ट्रपति स्वीकार कर ले। राष्ट्रपति जम्मू और काश्मीर राज्य के सदर-ए-रियासत को भी स्वीकृति प्रदान करता था किन्तु यह स्वीकृति केवल औपचारिक थी। किन्तु भाग (क) और भाग (ख) के राज्यों मे मुख्य अन्तर संविधान के अनुच्छेद ३७१ के उपबन्ध के कारण था, जिसने संघ सरकार को अधिकार प्रदान किया कि वह भाग (ख) के राज्यों पर संविधान के प्रवर्त्ती होने से दस वर्षों तक अपना सामान्य नियन्त्रण रख सकेगी; अथवा यदि संसद् विधि द्वारा अन्यथा समयावधि निर्धारित करे तो उस समय तक अपना साधारण नियन्त्रण रख सकेगी। यह भी उपबन्धित किया गया कि भाग (ख) के राज्यो को राष्ट्रपति की ओर से समय-समय पर जो आदेश प्राप्त हो, उनका पालन अनिवार्य होगा किन्तु राष्ट्रपति की ओर से भाग (ख) के राज्यों को जो आदेश और निर्देश मिलते थे वे इतनी जल्दी-जल्दी और इतने सर्वव्यापी (Ubiquitous) होते थे कि संघ सरकार का भाग (ख) के राज्यो के ऊपर जो नियन्त्रण था, उसे कई लेखको ने नए प्रकार का साम्राज्यवाद कहा था: किन्तु मैसूर राज्य को इस प्रकार के नियन्त्रण से मुक्त कर दिया गया था।[2]

राज्यों के उत्तरोत्तर क्रम मे भाग (ग) के राज्य निम्नतम श्रेणी के थे; और

1. Draft Constitution of India, p. IV.
2. Proviso to article 371.

भाग (ग) के राज्यों के सम्बन्ध मे राज्य-पुनर्गठन आयोग ने यह सिफारिश की कि केवल दिल्ली, मणिपुर, अण्डमान टापू और निकोबार टापू को छोड़ कर बाकी सभी भाग (ग) के राज्यों को पास-पड़ोस के राज्यो मे मिला देना चाहिए; तथा उक्त चार राज्य (अर्थात् दिल्ली, मणिपुर, अण्डमान और निकोबार) केन्द्र द्वारा राज्यशासित राज्य रहें।[1] आयोग ने यह भी छूट दे दी कि यदि भाग (ग) के किसी राज्य को देश की सुरक्षा अथवा किसी अन्य आवश्यक कारण से पास-पड़ोस के राज्यो मे मिलाना सम्भव न हो तो ऐसे प्रत्येक राज्य को भी केन्द्र द्वारा शासित राज्य-क्षेत्र के रूप में गठित किया जाए।[2]

इस प्रकार राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशो के अनुसार भारत संघ मे दो श्रेणियों के अवयवी एकक राज्य है —

(क) वे राज्य जो भारत संघ के मौलिक अवयवी एकक है,

(ख) वे राज्य-क्षेत्र जो केन्द्र द्वारा शासित है।

भारत सरकार ने १६ जनवरी, १९५६ को घोषित किया कि उसे राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशें स्वीकार है और फलस्वरूप भाग (क), (ख) और (ग) के राज्यों के बीच की सांविधानिक असमानता को समाप्त कर दिया जाएगा और साथ ही राजप्रमुख का पद भी समाप्त कर दिया जाएगा।[3]

राज्यों के पुनर्गठन की समस्या

(The Problem of Reorganisation of States)

राज्यों की संरचना (Structure of the States)—पूर्वकालिक भारत के प्रान्त, जो फिर भारत संघ के राज्य बन गए, न तो किसी वैज्ञानिक आधार पर और न किसी युक्ति के आधार पर ही प्रान्तों के रूप में गठित हुए थे। वे मनमाने निर्णयो के फल थे, केवल प्रशासनिक सुविधा और इष्टानुकूलता (expediency) को सम्मवत. अवश्य ध्यान मे रखा गया था। ज्यों-ज्यो ब्रिटिश लोग विजयी होते गए और ज्यों-ज्यों उनका प्रभाव-क्षेत्र बढ़ता रहा; त्यो-त्यो प्रान्तीय प्रशासन संगठन को इस प्रकार नियोजित किया गया कि उससे दो लाभ हो : प्रथमत. आर्थिक और सामाजिक महत्त्व के क्षेत्रो मे सर्वोच्च सत्ता का प्रत्यक्ष प्रभाव-क्षेत्र अक्षुण्ण रहे और द्वितीयत नवविजित प्रदेशों में समुचित शासन-व्यवस्था स्थापित हो जाए। इन दोनो उद्देश्यो मे से, राज्य पुनर्गठन आयोग के अनुसार, प्रथम उद्देश्य ही मुख्य उद्देश्य था और इस उद्देश्य की प्राप्ति मे आवश्यकतः परम्परागत और प्रादेशिक राजवंशीय भक्ति या निष्ठाओ का दमन करना जरूरी था। अतः इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पुराने सीमान्तों (old frontiers) को नष्ट करके ऐसे नए प्रान्तो का निर्माण किया गया जिनके निर्माण में न तो बन्धुता अथवा सादृश्य (affinity) पर कोई विचार किया गया और न सब के सामान्य आर्थिक हितो पर ही विचार किया गया।"[4] इस प्रकार

1. Report of the States Reorganisation Commission, para 268.
2. *Ibid*, para 287.
3. Govt. Communique dated 1-1-1956, the Tribune, Ambala.
4. Report of the States Reorganisation Commission, para 15.

का प्रतिनिधित्व लोक-सभा मे वैसा होता है जैसा कि संसद् ने विधि द्वारा उपबन्धित किया है।[1]

किसी राज्य-क्षेत्र का प्रशासन राष्ट्रपति मुख्य आयुक्त के द्वारा करता था या अपने अधिकार द्वारा नियुक्त किसी अधिकारी द्वारा करता था और ऐसे विनियमों के आधार पर उक्त राज्य-क्षेत्रों का प्रशासन होता था जो संसद् के अधिनियमों के समान प्रभावी थे।[2] संसद की विधायिनी शक्ति उन विषयों पर भी थी जो राज्य सूची मे प्रगणित थे।[3] इस प्रकार संघ सरकार की सभी प्रकार की पूर्ण शक्तिया थी और उनमे प्रशासन सम्बन्धी, व्यवस्थापिका सम्बन्धी और नियम बनाने सम्बन्धी सभी प्रकार की शक्तिया सम्मिलित थी।

किन्तु भाग (ख) और भाग (ग) के राज्यो के अन्दर भी और वाहर भी इस सांविधानिक स्थिति के प्रति घोर असन्तोष था, क्योंकि यह संघ के विभिन्न अवयवी एकको को जो सिद्धान्ततः समान दर्जा मिलना चाहिए, उसके विरुद्ध था। आलोचको का यह भी कथन था कि जहा संविधान ने भारत के सभी लोगो को समान अवसर प्रदान करने का वचन दिया है, उस वचन अथवा उपबन्ध के भी उक्त स्थिति विपरीत थी। इस सम्बन्ध मे प्रबल जनमत से प्रभावित होकर ही राज्य पुनर्गठन आयोग ने सिफारिश की थी कि राज्यो के पुनर्गठन के फलस्वरूप भारत संघ के विभिन्न अवयवी एकको मे जो सांविधानिक असमानता है वह नष्ट हो जाएगी। राज्य पुनर्गठन आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे कहा था—"इस गम्भीर समस्या को सुलझाने का केवल एक ही उपाय है कि भारत संघ के सभी अवयवी एकको को समान स्थिति प्रदान की जाए और सभी एकक राज्यो का संघ के साथ समान स्तर का सम्बन्ध रहे; हा यदि किसी छोटे राज्य-क्षेत्र को देश की सुरक्षा अथवा किसी युद्धनीति के संरक्षणार्थ किसी सर्वांगपूर्ण एकक के साथ मिला देना अभीष्ट न जान पडे तो दूसरी बात है और ऐसी स्थिति मे ऐसे किसी राज्य-क्षेत्र को भी एकक के रूप मे रखा जा सकेगा।[4] कमीशन अथवा आयोग की राय थी कि भारत के विभिन्न राज्यो को तीन श्रेणियों में केवल संक्रान्ति-कालीन व्यवस्था के लिए ही बाटा गया था और उक्त व्यवस्था को स्थायी राजनीतिक व्यवस्था के सम कभी भी स्वीकार नही किया गया था। राज्य पुनर्गठन आयोग ने सिफारिश की थी कि संविधान के अनुच्छेद ३७१ को उडा दिया जाए और राजप्रमुख का पद समाप्त कर दिया जाए तो इस प्रकार भाग (ख) के राज्य भाग (क) के राज्यो का दर्जा प्राप्त कर लेंगे। आयोग ने यह भी लिखा था कि राजप्रमुख के पद का राजनीतिक महत्त्व भी नही है और बहुत अधिक संख्या मे लोग राजप्रमुख को आदर की दृष्टि से नही देखते और अपार जनमत इस पद को इस कारण समाप्त करना चाहता है कि राजप्रमुख हमारे देश के लोकतन्त्री ढाचे मे उपयुक्त नही लगते।

१. अनुच्छेद ८१ (२)
२. अनुच्छेद २४३ (२)
३. अनुच्छेद २४६ (४)
4 Report of the States Reorganisation Commission, para 237.
5. *Ibid*, para 242.

पुराने देशी राज्यों के विलीनीकरण
घटनाओं का प्रतिफल था और किसी हद तक वह
की ऐतिहासिक कहानी का फल भी था।[1] Need for reorganising the
राज्यों के पुनर्गठन की आवश्यकता (बात को स्वीकार कर लिया था
States)—१९३० के परिनियत आयोग ने इस प्रान्तो के पुनर्गठन की आवश्यकता
कि भारत के लिए संघीय शासन-व्यवस्था से पहलेीय सीमाओं का पुनर्निर्धारण पहले
है। परिनियत आयोग ने अनुभव किया कि प्रान्नई योजनाओं पर विचार होगा।
होना चाहिए, तभी संघात्मक शासन-व्यवस्था की पुनर्गठन अथवा पुनर्वितरण कठिन
सघ का जैसा सांचा तैयार होगा, उसके बाद फिरआयोग के उक्त वक्तव्य या विचार
हो जाएगा।[2] राज्य पुनर्गठन आयोग ने परिनियत वचार अधिकतर ऐसे एकक राज्यो
पर सहमति प्रकट करते हुए लिखा था. "उक्त निर्मित हो गए है और जिनमें कुछ
पर सही-सही लागू होते हैं जो बिना सोचे-समझे भेत ऐसे प्रान्तो अथवा एककों के
पुराने देशी राज्यों के क्षेत्र भी शामिल हो गए है; भय है कि निहित स्वार्थ घर कर
भविष्य पर पहले विचार कर लेना चाहिए नही तो।"[3] सत्य यह है कि देशी राज्यो
जाएगें और तव उचित समाधान कठिन हो जाएगयवी एकक राज्य बने, वे ब्रिटिश
के विघटन के फलस्वरूप भारतीय सघ के जो अवर उनकी सीमाए अपेक्षाकृत अधिक
भारत के प्रान्तो की अपेक्षा अधिक तर्करहित थे औथा कि राज्यो के पुनर्गठन की आव-
वेडौल थी। राज्य पुनर्गठन आयोग ने ठीक ही कहा रण इसकी तुरन्त आवश्यकता है।
श्यकता न केवल नीतिपूर्ण है अपितु नियोजन के कeorganisation)—स्वतन्त्रता से
पुनर्गठन का आधार (Rationale of प्रान्तो की स्थापना की माग के साथ
पहले राज्यो के पुनर्गठन की मांग देश में भाषावार दंगे हुए। फलतः, बाद में समझा
जुड़ी हुई थी। देश के कुछ भागो मे इसकी वजह से स्थापना करना उचित नही है।
जाने लगा कि केवल भाषा के आधार पर राज्यो कंकारकों (factors) जैसे एकता,
भाषा के सिद्धान्तों के साथ-साथ अन्य प्रासंगिक के अन्तर्गत वित्तीय अवस्था तथा
देश की सुरक्षा, प्रशासनिक सुविधा, राष्ट्रीय योजनाा चाहिए ताकि सम्पूर्ण प्रजा तथा
आर्थिक प्रगति आदि का भी सन्तुलन स्थापित होउमाप्ति नहीं दिखाई देती। पहली
राष्ट्र का कल्याण हो सके। पर इस दुराग्रह की दशा। विदर्भ और पजाब अभी भी
मई, १९६० को महाराष्ट्र और गुजरात का जन्म ह
भाषोन्माद के पंजे मे हैं।)—ब्रिटिश शासनकाल मे प्रशा-
ब्रिटिश नीति (The British Approacलों के आधार पर न होकर केवल
सनिक एककों का निर्माण किन्ही सुनिश्चित सिद्धान्तों के निर्माण की बात सबसे पहले
सयोग के आधार पर ही हुआ था। भाषावार प्रान्तr) में १९०३ में सुझाई गई थी
श्री रिसले (Risley) के परिपत्र (circular lettन्याय्य ठहराया गया था। १९०५
जिसमें बंगाल के विभाजन को भाषा के आधार पर tion Commission, para 14.

1. Report of the States ReorganisCommission, Vol. II, p. 38.
2. Report of the Indian Statutory (tion Commission, para 57.
3. Report of the States Reorganis

भारतीय परिनियत आयोग ने, जिसका वर्णन पहले भी किया जा चुका है, जबर्दस्त सिफारिश की कि प्रान्तों का पुनर्गठन आवश्यक ही नही है, वरन् वह सघात्मक शासन-व्यवस्था की पहली शर्त है। इसमे भी सन्देह नही है कि परिनियत आयोग ने प्रान्तो के पुनर्गठन के लिए भाषा के सिद्धान्त पर बल दिया ; परन्तु केवल भाषा को ही एकमात्र प्रमाण अथवा सिद्धान्त नही माना। पुनर्गठन के लिए कुछ अन्य सिद्धान्तो को भी स्वीकार किया गया जिनमे एक यह था कि प्रान्तों के पुनर्गठन के फलस्वरूप जिन लोगों पर प्रभाव पडने वाला है, उनकी पूर्व सहमति आवश्यक है। परिनियत आयोग ने उन कारकों (factors) पर प्रकाश डालते हुए, जिनके आधार पर प्रान्तो का पुनर्गठन होना था, लिखा : "यदि एक ही भाषाभाषी लोग किसी ऐसे सहत राज्य-क्षेत्र में निवास करते हैं जो सहत होने के साथ-साथ अनन्यापेक्ष या स्वतः पूर्ण भी है, और जो इस प्रकार अवस्थित है और उसके ऐसे आर्थिक स्रोत है कि वह पृथक् प्रान्त के रूप मे रह सकता है, तो इसमें कोई सन्देह नही है कि प्रान्तो के पुनर्गठन मे भाषा एक मजबूत और प्राकृतिक आधार प्रदान करती है। किन्तु, केवल भाषा ही एक कसौटी नही है जिसके आधार पर प्रान्तों का पुनर्निर्माण हो, कुछ अन्य आधार भी है जिनमे जाति, धर्म, आर्थिक हित, भौगोलिक समीपता, गाव और नगर के बीच उचित सन्तुलन तथा समुद्र के किनारे तथा आन्तरिक भाग के बीच उचित सन्तुलन आदि भी ऐसे आधार है जो प्रान्तो के पुनर्गठन मे विचारणीय हैं। इस सम्बन्ध मे व्यावहारिक उद्देश्यो के लिए उन सभी लोगो की सहमति अत्यन्त आवश्यक है जिन पर पुनर्गठन सम्बन्धी परिवर्तनो का प्रभाव पडने वाला है अर्थात् उस प्रान्त के लोगो की सहमति भी आवश्यक है जिसमे क्षेत्र मिलाया जा रहा है और उस प्रान्त के लोगो की सहमति भी आवश्यक है जिसमे से भूभाग काट कर दूसरे प्रान्त को दिया जा रहा है।[1]

यद्यपि परिनियत आयोग ने भाषावार प्रान्तो के पुनर्गठन के सिद्धान्त का केवल मर्यादित समर्थन किया, फिर भी भारत सरकार ने १९३१ मे उडीसा आयोग की स्थापना की जिसके चेयरमैन सर सेम्युएल ओ डोनेल थे और उक्त आयोग को आदेश दिया गया कि वह परीक्षा करे कि कहा तक उड़िया भाषाभाषी लोगों का अलग प्रशासनिक एकक स्थापित हो सकता है ; और यदि इस प्रकार विभाजन सम्भव हो तो आयोग नवनिर्मित उड़िया भाषा-भाषी प्रान्त की प्रादेशिक सीमाएं निर्धारित करे और ऐसे नये प्रान्त के कारण क्या-क्या प्रशासनिक और वित्तीय परिवर्तन करने होंगे उन पर भी प्रकाश डाले।[2] इस प्रकार भारत सरकार ने उड़ीसा प्रान्त के निर्माण मे भाषा के सिद्धान्त को मान्यता दे दी। किन्तु सेम्युएल ओ डोनेल समिति ने भाषा के अतिरिक्त और भी विचारों को स्थान दिया, जैसे जाति, लोगों की स्थिति और विचार, भौगोलिक स्थिति, आर्थिक हित ओर प्रशासनिक सुविधा और जहा कही

---

1. Report of Indian Statutory Commission, Vol. II, para 38.
2. Resolution No. 82/VI/31 of the Govt. of India, Report of the Orissa Committee, Vol. II, p. 1.

के बगाल विभाजन के प्रस्ताव में भी भाषा के सिद्धान्त को
था और पुन १९११ में भी भाषा के सिद्धान्त को ही मुख्य
था जबकि लॉर्ड हार्डिंग की सरकार ने भारत सचिव से यह
विभाजन रद्द कर दिया जाए। किन्तु जैसा कि राज्य पुनर्गठन
है, "भाषा के सिद्धान्त पर इन अवसरों पर जो बल दिया गया
रूप से प्रशासनिक सुविधा का विचार प्रमुख था और किसी
आवश्यकताओं का भी उनमें हाथ था। वास्तव में, जिस रूप में
किया गया था, वह भाषागत समानता के सिद्धान्त का घोर
में जो समझौता हुआ, उसमें भी भाषागत सिद्धान्त को विशेष
गया क्योंकि उक्त समझौते के फलस्वरूप बगाल के हिन्दुओं और
विभाजन रेखा खींच दी गई। इस प्रकार उक्त दोनों विभाजन
विरुद्ध थे कि विभिन्न भाषाभाषी समुदाय ऐसे थे जो समान
एककों का निर्माण करते थे और जिनके समान राजनीतिक और

मॉण्टेग्यू और चेम्सफोर्ड ने मिल कर जो रिपोर्ट लिखी थी,
किया गया था कि प्रान्तीय सीमाओं का पुनर्वितरण वांछनीय है
छोटे और समान एकक सगठित कर दिये जाए; किन्तु "उनके
उपयुक्त नहीं था जबकि देश के सभी राजनीतिक एककों का
किया जाये, क्योंकि इसे वे अतीव कष्ट-साध्य कार्य समझते थे।"
प्रशासनिक राजनीतिक एककों की सिफारिश करते हुए उन्होंने कहा
सन्देह नहीं है कि यदि भारत के प्रशासनिक एकक (प्रान्त) छोटे
एकरूप (homogeneous) भी हों तो शासन को सुविधा
यह भी सोच रहे हैं कि भारत में शासन का उत्तरदायित्व कुछ-कुछ
के हाथों में आने को है, तो प्रान्तों के पुनर्गठन की हमारी
बढ जाता है। इसी आधार पर हम भाषा-सम्बन्धी या जाति
एककों के निर्माण की भी सिफारिश करते हैं क्योंकि इन आधारों पर
करने के बाद प्रान्तों में व्यवस्थापन का सारा कार्य प्रान्तीय
और फलस्वरूप सार्वजनिक जीवन में ऐसे योग्य और
सहयोग भी प्राप्त किया जा सकेगा जो अंग्रेजी नहीं जानते।"[3]
भी बताना आवश्यक है कि मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड ने अपनी रिपोर्ट में
भी परीक्षा की थी कि वह प्रान्तों में भाषा अथवा जाति के आधार
स्थापना कर दी जाए ताकि ऐसे छोटे-छोटे एककों का निर्माण हो
दायी शासन का प्रयोग किया जा सके। किन्तु इस सुझाव को
त्याग दिया गया।

1. Report on Indian Constitutional Reforms (191
2. *Ibid., para* 16.
3. *Ibid.*

भारतीय परिनियत आयोग ने, जिसका वर्णन पहले भी किया जा चुका है, जबर्दस्त सिफारिश की कि प्रान्तों का पुनर्गठन आवश्यक ही नही है, वरन् वह संघात्मक शासन-व्यवस्था की पहली शर्त है। इसमें भी सन्देह नही है कि परिनियत आयोग ने प्रान्तों के पुनर्गठन के लिए भाषा के सिद्धान्त पर बल दिया; परन्तु केवल भाषा को ही एकमात्र प्रमाण अथवा सिद्धान्त नही माना। पुनर्गठन के लिए कुछ अन्य सिद्धान्तो को भी स्वीकार किया गया जिनमें एक यह था कि प्रान्तों के पुनर्गठन के फलस्वरूप जिन लोगों पर प्रभाव पड़ने वाला है, उनकी पूर्व सहमति आवश्यक है। परिनियत आयोग ने उन कारको (factors) पर प्रकाश डालते हुए, जिनके आधार पर प्रान्तो का पुनर्गठन होना था, लिखा : "यदि एक ही भाषाभाषी लोग किसी ऐसे सहत राज्य-क्षेत्र में निवास करते है जो सहत होने के साथ-साथ अनन्यापेक्ष या स्वतः पूर्ण भी है, और जो इस प्रकार अवस्थित है और उसके ऐसे आर्थिक स्रोत है कि वह पृथक् प्रान्त के रूप मे रह सकता है, तो इसमें कोई सन्देह नही है कि प्रान्तो के पुनर्गठन मे भाषा एक मजबूत और प्राकृतिक आधार प्रदान करती है। किन्तु, केवल भाषा ही एक कसौटी नही है जिसके आधार पर प्रान्तो का पुनर्निर्माण हो, कुछ अन्य आधार भी है जिनमे जाति, धर्म, आर्थिक हित, भौगोलिक समीपता, गाव और नगर के बीच उचित सन्तुलन तथा समुद्र के किनारे तथा आन्तरिक भाग के बीच उचित सन्तुलन आदि भी ऐसे आधार है जो प्रान्तो के पुनर्गठन में विचारणीय है। इस सम्बन्ध मे व्यावहारिक उद्देश्यो के लिए उन सभी लोगो की सहमति अत्यन्त आवश्यक है जिन पर पुनर्गठन सम्बन्धी परिवर्तनो का प्रभाव पड़ने वाला है अर्थात् उस प्रान्त के लोगो की सहमति भी आवश्यक है जिसमे क्षेत्र मिलाया जा रहा है और उस प्रान्त के लोगो की सहमति भी आवश्यक है जिसमे से भूभाग काट कर दूसरे प्रान्त को दिया जा रहा है।[1]

यद्यपि परिनियत आयोग ने भाषावार प्रान्तो के पुनर्गठन के सिद्धान्त का केवल मर्यादित समर्थन किया, फिर भी भारत सरकार ने १९३१ मे उड़ीसा आयोग की स्थापना की जिसके चेयरमैन सर सेम्युएल ओ डोनेल थे और उक्त आयोग को आदेश दिया गया कि वह परीक्षा करे कि कहा तक उड़िया भाषाभाषी लोगो का अलग प्रशासनिक एकक स्थापित हो सकता है; और यदि इस प्रकार विभाजन सम्भव हो तो आयोग नवनिर्मित उड़िया भाषा-भाषी प्रान्त की प्रादेशिक सीमाएं निर्धारित करे और ऐसे नये प्रान्त के कारण क्या-क्या प्रशासनिक और वित्तीय परिवर्तन करने होंगे उन पर भी प्रकाश डाले।[2] इस प्रकार भारत सरकार ने उड़ीसा प्रान्त के निर्माण मे भाषा के सिद्धान्त को मान्यता दे दी। किन्तु सेम्युएल ओ डोनेल समिति ने भाषा के अतिरिक्त और भी विचारों को स्थान दिया, जैसे जाति, लोगों की स्थिति और विचार, भौगोलिक स्थिति, आर्थिक हित और प्रशासनिक सुविधा और जहा कही

---

1. Report of Indian Statutory Commission, Vol. II, para 38.
2. Resolution No. 82/VI/31 of the Govt. of India, Report of the Orissa Committee, Vol. II, p. 1.

के बंगाल विभाजन के प्रस्ताव में भी भाषा के सिद्धान्त को भारी महत्त्व दिया गया था और पुनः १९११ में भी भाषा के सिद्धान्त को ही मुख्य रूप से महत्त्व दिया गया था जबकि लार्ड हार्डिंग की सरकार ने भारत सचिव से यह सिफारिश की कि उक्त विभाजन रद्द कर दिया जाए। किन्तु जैसा कि राज्य पुनर्गठन आयोग ने ठीक ही कहा है, "भाषा के सिद्धान्त पर इन अवसरों पर जो बल दिया गया उसकी आड़ में मुख्य रूप से प्रशासनिक सुविधा का विचार प्रमुख था और किसी हद तक राजनीतिक आवश्यकताओं का भी उसमें हाथ था। वास्तव में, जिस रूप में बंगाल का विभाजन किया गया था, वह भाषागत समानता के सिद्धान्त का घोर तिरस्कार था। १९१२ में जो समझौता हुआ, उसमें भी भाषागत सिद्धान्त को विशेष आदर प्रदान नहीं किया गया क्योंकि उक्त समझौते के फलस्वरूप बंगाल के हिन्दुओं और मुसलमानों में स्पष्ट विभाजन रेखा खींच दी गई। इस प्रकार उक्त दोनों विभाजन इस सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध थे कि विभिन्न भाषाभाषी समुदाय ऐसे थे जो समान सामाजिक अवस्था वाले एककों का निर्माण करते थे और जिनके समान राजनीतिक और आर्थिक हित थे।"[1]

मॉण्टेग्यू और चेम्सफोर्ड ने मिल कर जो रिपोर्ट लिखी थी, उसमें भी स्वीकार किया गया था कि प्रान्तीय सीमाओं का पुनर्वितरण वांछनीय है जिसके फलस्वरूप छोटे और समान एकक संगठित कर दिये जाएं; किन्तु "उनके विचार में वह समय उपयुक्त नहीं था जबकि देश के सभी राजनीतिक एककों का भौगोलिक पुनर्वितरण किया जाये; क्योंकि इसे वे अतीव कष्ट-साध्य कार्य समझते थे।"[2] छोटे और एकरूप प्रशासनिक राजनीतिक एककों की सिफारिश करते हुए उन्होंने कहा था: "हमें इसमें सन्देह नहीं है कि यदि भारत के प्रशासनिक एकक (प्रान्त) छोटे हों और साथ ही एकरूप (homogeneous) भी हों तो शासन को सुविधा होगी; और जब हम यह भी सोच रहे हैं कि भारत में शासन का उत्तरदायित्व कुछ-कुछ अनुभवहीन लोगों के हाथों में जाने को है, तो प्रान्तों के पुनर्गठन की हमारी सिफारिश का वजन कुछ बढ़ जाता है। इसी आधार पर हम भाषा-सम्बन्धी या जाति-सम्बन्धी प्रशासनिक एककों के निर्माण की भी सिफारिश करते हैं क्योंकि इन आधारों पर प्रान्तों की स्थापना करने के बाद प्रान्तों में व्यवस्थापन का सारा कार्य प्रान्तीय भाषा में ही होगा; और फलस्वरूप सार्वजनिक जीवन में ऐसे योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्तियों का सहयोग भी प्राप्त किया जा सकेगा जो अंग्रेजी नहीं जानते।"[3] इस सम्बन्ध में यह भी बताना आवश्यक है कि मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड ने अपनी रिपोर्ट में इस सम्भावना की भी परीक्षा की थी कि बड़े प्रान्तों में भाषा अथवा जाति के आधार पर उपप्रान्तों की स्थापना कर दी जाए ताकि ऐसे छोटे-छोटे एककों का निर्माण हो सके जिन पर उत्तरदायी शासन का प्रयोग किया जा सके। किन्तु इस सुझाव को अव्यावहारिक मान कर त्याग दिया गया।

---

1. Report on Indian Constitutional Reforms (1918), para 301.
2. *Ibid., para* 16.
3. *Ibid.*

अपने प्रादेशिक संगठन के लिए भी क्षेत्रीय भाषा को आधार मान लिया। १९२७ में जब भारतीय परिनियत आयोग की नियुक्ति हो गई, तो कांग्रेस ने प्रस्ताव पास करके घोषणा की कि "अब भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन का समय आ गया है"; और फिर यह प्रस्ताव रखा कि उस दिशा में पहल करने के लिए आन्ध्र, उत्कल, सिन्ध और कर्नाटक को प्रान्तों का दर्जा प्रदान कर दिया जाय। जिन लोगों ने उक्त प्रस्ताव का समर्थन किया, उन्होंने तो यहां तक कह डाला कि एक भाषा-भाषी और एक-सी सांस्कृतिक परम्पराओं के लोगों को हक है कि वे अपने भविष्य का स्वय निर्णय करें। उनका मतलब सर्वसाधारण के आत्म-निर्णय के अधिकार (People's right of self-determination) से था।

१९२८ में सर्वदल सम्मेलन ने नेहरू समिति को नियुक्त किया था कि वह भारत का संविधान तैयार करे। उक्त समिति (Nehru Committee) ने प्रान्तों के पुनर्गठन के लिए एक भाषा के सिद्धान्त का समर्थन किया और कहा: "यदि किसी प्रान्त के लोगों को शिक्षित बनाना है और यदि उसे अपना सार्वजनिक और प्रशासनिक कार्य अपनी ही भाषा में चलाना है तो यह आवश्यक है कि प्रान्त एक भाषा-भाषी लोगों का प्रदेश या क्षेत्र हो। यदि किसी कारणवश कोई प्रान्त अथवा एकक विभिन्न भाषाओं का क्षेत्र बना रहा, तो कई प्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न होंगी और शिक्षा के माध्यम तथा सार्वजनिक क्रिया-कलापों के लिए दो या दो से भी अधिक भाषाओं का सहारा लेना होगा। इसलिए यह अतीव आवश्यक है कि प्रान्तों का पुनर्गठन भाषा के आधार पर हो। नियमतः, भाषा भी संस्कृति, परम्पराओं और साहित्य के समान ही उन्हीं का एक विशेष रूप है। एक भाषा-भाषी क्षेत्र में संस्कृति, परम्पराएं और साहित्य तीनों मिल कर प्रान्त के विकास में सहायक होंगे।"[1] नेहरू समिति ने बताया कि "प्रान्तों के पुनर्गठन में लोगों की इच्छा, भाषा एवं भौगोलिक, आर्थिक और वित्तीय परिस्थितियों पर भी विचार करना होगा; किन्तु उक्त सभी विचारों में मुख्य रूप से लोगों की 'इच्छा' और 'भाषागत एकता' को विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए।"[2]

कांग्रेस ने पुनः १९२७ और १९४५ के मध्य काल में दो अवसरों पर प्रान्तों के पुनर्गठन के सम्बन्ध में भाषा के सिद्धान्तों को मान्यता दी। १९३७ में कलकत्ता अधिवेशन में यह स्वीकार करते हुए कि कांग्रेस का राजनीतिक ध्येय भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन है, कांग्रेस ने मांग की कि तुरन्त आन्ध्र और कर्नाटक प्रान्त बना दिए जाएं। जुलाई, १९३८ में कांग्रेस कार्यकारिणी ने आन्ध्र, कर्नाटक और केरल (Kerala) के नियुक्त प्रतिनिधियों (deputations) को आश्वासन दिया कि जब कभी कांग्रेस के हाथों में सत्ता होगी, यह अवश्य भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन करेगी।

---

1. Report of the Nehru Committee, p. 62.
2. *Ibid*, p. 61.

सम्भव हुआ, सम्बन्धित प्रदेश के निवासियों की इच्छा को जानने का प्रयास किया।[1] किन्तु १९३३–३४ की संयुक्त संसदीय समिति ने और किसी विचार को स्थान नहीं दिया और कहा कि "उड़ीसा का अलग प्रान्त ब्रिटिश भारत में सजातीयता और भाषा-भाषिता के हिसाब से सबसे एकरूप और समान प्रकार के लोगों का प्रान्त होगा।"[2] समिति ने उड़ीसा प्रान्त के निर्माण में कथित वित्तीय कठिनाइयों पर कोई ध्यान नहीं दिया बल्कि यह कहा "उड़ीसा के नये प्रान्त के निर्माण में मुख्य कठिनाई अर्थ-सम्बन्धी है क्योंकि उड़ीसा एक घाटे का प्रान्त है और सम्भवतः कुछ समय तक घाटे का प्रान्त रहेगा। किन्तु हम समझते हैं कि आर्थिक कठिनाई को इतना महत्त्व नहीं देना चाहिए क्योंकि विभाजन से अपेक्षाकृत लाभ अधिक होंगे।"[3] भारत सरकार ने ओ डोनेल समिति की सिफारिशों को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया, और फलस्वरूप १९३६ में जिस उड़ीसा प्रान्त की स्थापना हुई, वह उक्त समिति की सिफारिशों में आवश्यक परिवर्तन और सुधारों का फल था।

सिन्ध प्रान्त की स्थापना भी १९३६ में हुई और स्पष्टतः भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त को इस प्रान्त के निर्माण में भी मान लिया गया था। भारतीय परिनियत आयोग ने सिन्ध को वम्बई प्रान्त से अलग करना स्वीकार करते हुए कहा कि सिन्ध को अलग प्रान्त बनाने में भयंकर प्रशासनिक कठिनाइयां हैं, क्योंकि फलस्वरूप सिन्ध वम्बई की सहायता से वंचित हो जायेगा यदि अलग प्रान्त बनने से पहले ही सक्खर बांध की समस्या हल नहीं हो जाती और यदि तत्सम्बन्धी अन्य आवश्यक बातें पहले ही निर्णय नहीं हो जाती।" किन्तु संयुक्त संसदीय समिति ने सिन्ध को वम्बई प्रान्त से अलग करना स्वीकार कर लिया क्योंकि इसके लिए न केवल सिन्ध के मुसलमानों ने इच्छा प्रकट की थी अपितु समस्त भारत के मुसलमान नेता भी यही चाहते थे कि सिन्ध वम्बई से अलग हो जाय। समिति ने यह भी कहा कि "अन्य विचारों के अलावा सिन्ध को वम्बई से प्रशासित करने में कई प्रकार की साम्प्रदायिक कठिनाइयां उपस्थित होंगी और अपेक्षाकृत सिन्ध को स्वतन्त्र एकक के रूप में प्रशासित करने में उतनी कठिनाइयां न होंगी।"[4] तदनुसार सिन्ध का जन्म ब्रिटिश मनमानी का प्रतिफल था, न कि भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त की रक्षा अथवा पुष्टि।

भाषाधार प्रान्त और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Linguistic provinces and the Indian National Congress)—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने १९०५ में बंगाल के विभाजन के विरुद्ध आन्दोलन किया था। बंगला भाषा-भाषी लोग दो भागों में अथवा दो एककों में विभक्त हो गए थे, उस समय भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन की हिमायत की गई थी। किन्तु १९२० के नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने सभी प्रान्तों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन करना स्वीकार करके उसे अपना राजनीतिक उद्देश्य स्वीकार किया। इस नीति के फलस्वरूप कांग्रेस ने अगले वर्ष

1. *Ibid.* Vol. I, para 6.
2. J. P. C. Report, Vol. I, para 60.
3. *Ibid.*
4. *Ibid.*, para 57.

किन्तु १९४५ में कांग्रेस ने जो चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया, उसमें कांग्रेस अपनी पुरानी और प्रतिज्ञात नीति से हट गई। पिछले आश्वासनों को दोहराते हुए चुनाव-घोषणा पत्र में यह कहा गया कि प्रान्तों अथवा प्रशासनिक एककों को जहां तक सम्भव हो, भाषा और संस्कृति के आधार पर पुनर्गठित किया जाय। भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त पर यह मर्यादा आरोपित कर दी गई कि सभी प्रान्तों को तो नहीं किन्तु जहां तक सम्भव होगा, और जहां उचित परिस्थितियां वर्तमान होंगी, उन प्रान्तों को भाषा और संस्कृति के आधार पर पुनर्गठित किया जाएगा। कांग्रेस की नीति में परिवर्तन २७ नवम्बर, १९४७ को संविधान सभा भवन में स्पष्ट दीख पड़ा जब कि भारत के प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने भाषावार प्रान्तों के पुनर्गठन की बात को स्वीकार करते हुए कहा कि "प्राथमिक आवश्यकता की बात पहले होनी चाहिए और इस समय हमारे लिए भारत की सुरक्षा और भारत का स्थायित्व प्रथम महत्त्व की चीजें हैं।" प्रधान मंत्री के उक्त वक्तव्य के बाद धर आयोग (Dar Commission) की नियुक्ति हुई।

धर आयोग की नियुक्ति संविधान की प्रारूप समिति की सिफारिशों के आधार पर हुई थी। संविधान की प्रारूप समिति ने संविधान सभा से सिफारिश की थी कि एक भाषावार प्रान्त पुनर्गठन आयोग (Linguistic Provinces Commission) की नियुक्ति की जाए जो जांच करके प्रतिवेदन या रिपोर्ट प्रस्तुत करे कि आन्ध्र, कर्नाटक, केरल और महाराष्ट्र के अलग प्रान्त बनाना कहां तक उचित होगा और साथ ही यह भी जांच करे कि उक्त पुनर्गठन के वित्तीय आर्थिक और प्रशासनिक असर सम्बन्धित प्रान्तों में और पास-पड़ोस के प्रान्तों में कैसे होंगे और साथ ही उक्त आयोग को प्रस्तावित नए प्रान्तों की सीमाएं निर्धारित करने का भी आदेश दिया गया। धर आयोग को जो आदेश दिए गए, उनसे स्पष्ट है कि प्रान्तों के पुनर्गठन में अब केवल भाषा ही एकमात्र आधार नहीं था। उक्त सम्बन्ध में अन्य विचार भी उतने ही महत्त्वपूर्ण थे जितना कि भाषा-सम्बन्धी विचार।

धर आयोग ने संविधान सभा के समक्ष दिसम्बर, १९४८ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग ने सिफारिश की, कि यद्यपि प्रान्तीय सीमाओं के पुनर्निर्धारण में भाषा का सिद्धान्त महत्त्व रखता है, किन्तु उक्त सिद्धान्त हमारे सामने न तो मुख्य सिद्धान्त था और न वह अपवर्जी सिद्धान्त था। भाषा के साथ-साथ हमको, भौगोलिक विचारों, आर्थिक विचारों, वित्तीय विचारों और प्रशासनिक सुविधाओं को भी देखना था और इन सभी का समान महत्त्व था। इन सभी बातों पर विचार करने के बाद आयोग ने सिफारिश की कि आधुनिक अवस्था में प्रान्तों के किसी प्रकार पुनर्गठन का उचित अवसर नहीं है। आयोग ने स्वीकार किया कि भाषा-सम्बन्धी एकरूपता भी प्रशासनिक सुविधा के अन्तर्गत एक सुविधा ही है। आयोग ने पुनः यह भी बल देकर कहा कि "राज्यों के पुनर्गठन के सम्बन्ध में उन तत्त्वों को कोई बढ़ावा नहीं दिया जाना चाहिए जो राष्ट्रीयता के विकास के मार्ग में बाधक है। जब भारतीय रियासतों का विघटन हो चुके, और देश में स्थिरता उत्पन्न हो जाए तथा एक-राष्ट्रीयता स्थापित हो जाए, केवल तभी कुछ प्रान्तों के पुनर्गठन के बारे में सोचा जा सकता है।"

राज्य के हितों में और सारे राष्ट्र के हितों में उतना ही महत्त्व है। भारत ने आर्थिक, सांस्कृतिक और नैतिक उन्नति के लिए महान् नियोजन प्रारम्भ किए है। ऐसे भारी राष्ट्रीय नियोजन के मार्ग में यदि प्रस्तावित राज्य-पुनर्गठन के फलस्वरूप बाधाएं उपस्थित हो गई तो यह सारे राष्ट्र के लिए दुर्भाग्यपूर्ण होगा।"[1]

राज्य पुनर्गठन आयोग के निम्न तीन सदस्य थे—सर्वश्री सैयद फजल अली, चेयरमैन; डा० हृदयनाथ कुंजरू और सरदार के० एम० पणिक्कर सदस्यगण, और उक्त आयोग की नियुक्ति गृह-मंत्रालय (भारत सरकार) के २९ दिसम्बर, १९५३ के प्रस्ताव के अनुसार हुई थी। आयोग को निर्देश दिया गया था कि वह राज्यों के पुनर्गठन के सम्बन्ध में सारी स्थिति का अवलोकन करे, समस्या की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करे, और साथ ही वर्तमान परिस्थितियों का भी अध्ययन करे और तत्सम्बन्धी सारी महत्त्वपूर्ण जानकारी एकत्रित करे। राज्य पुनर्गठन आयोग को पूरी छूट दे दी गई थी कि वह राज्य पुनर्गठन के सम्बन्ध में किसी भी प्रस्ताव पर विचार कर सकता है। शासन या सरकार को आशा थी कि प्रारम्भ में आयोग समस्या की बारीकियों में न जायेगा बल्कि मोटे सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पहले प्रतिवेदन करेगा; और पुनः उन मोटे सिद्धान्तों के आधार पर ही समस्या का समाधान सुझाएगा। और यदि कुछ राज्य किसी विशेष प्रकार से पुनर्गठित होना चाहे तो आयोग उस सम्बन्ध में भी मोटी रूपरेखा प्रस्तुत कर सकेगा और इसलिए राज्य पुनर्गठन आयोग को यह भी आदेश दिया गया था कि वह "सरकार के विचार के लिए अन्तरिम प्रतिवेदन (Interim reports) भी प्रस्तुत कर सकता है।"[2]

राज्य पुनर्गठन आयोग को आदेश दिया गया था कि वह ३० जून, १९५५ तक सरकार को अपनी रिपोर्ट दे दे। पुनः उक्त कालावधि ३० सितम्बर, १९५५ के लिए बढ़ा दी गई। आयोग को १,५२,२५० सन्देश प्राप्त हुए जिनमें तार भी थे, प्रस्ताव भी थे और स्मृति-लेख भी थे। उक्त सन्देशों में विभिन्न क्षेत्रों के लोगों ने अपनी-अपनी इच्छाएं किसी विशेष क्षेत्र में रख दिए जाने के लिए व्यक्त की थी। किन्तु आयोग के कथनानुसार, "वास्तव में विचार-योग्य स्मृति-पत्र जो आयोग को विचारार्थ प्राप्त हुए, वे २,००० से अधिक न थे।"[3] राज्य पुनर्गठन आयोग ने लगभग सारे देश का दौरा किया और १०४ स्थानों पर मुकाम किया; तथा कुल यात्रा में आयोग ने ३८,००० मील का सफर तै किया और लगभग ९,००० व्यक्तियों से भेंट की।[4] स्वयं आयोग ने स्वीकार किया है कि "उसने सभी के मतों को अथवा विभिन्न

1. The Hindustan Times, December 23, 1953. Also refer to para 5 of the resolution, in the Ministry of Home Affairs, Govt. of India, dated 29th December, 1953
2. Paragraph 7 of the resolution of Ministry of Home Affairs, Govt. of India, dated 29-12-1953.
3. Report of the States Reorganisation Commission, para 5
4. *Ibid*, para 6.

इसके बाद १९५३ मे कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हैदराबाद में हुआ ; और उक्त अधिवेशन मे कांग्रेस की नीति फिर बदली। १९५१ में प्रथम पचवर्षीय योजना का श्रीगणेश हुआ था और इसकी सफलता में सारी भारत सरकार और कांग्रेस की पूर्ण रुचि थी। विस्तृत नियोजन के फलस्वरूप एकीकृत नीति आवश्यक हो जाती है क्योंकि नियोजन सारे राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्ध रखता है। ऐसी स्थिति में राज्य का कोई कर्तव्य राष्ट्र के कर्तव्य से अलग-थलग नही रह सकता। विभिन्न एकको के क्रियाकलाप भी राष्ट्रीय महत्त्व धारण कर लेते हैं ; और यद्यपि राज्यो के क्रियाकलापो को स्थानीय प्रशासन की सीमाओं में सीमित करने के लाभ हैं ; फिर भी उक्त स्थानीय कृत्यो का उच्चतलीय प्रमापीकरण (standardised at high level) आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक है समस्त कार्रवाई एकीकृत नियन्त्रण मे हो। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि राज्यो के पुनर्गठन के सम्बन्ध मे कांग्रेस की नीति मे परिवर्तन हो गया। १९५३ के कांग्रेस के हैदराबाद अधिवेशन मे प्रस्ताव पास किया गया कि राज्यो को पुनर्गठित करते समय इन सभी आवश्यकताओ पर विचार किया जाएगा जैसे भारत की एकता, राष्ट्रीय सुरक्षा और शान्ति, सास्कृतिक और भाषा सम्बन्धी एकरूपता तथा सम्बन्धित राज्य अथवा प्रान्त की और सारे राष्ट्र की वित्तीय स्थिति तथा आर्थिक समृद्धि आदि। श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने तो यहां तक कह डाला कि भाषावार प्रान्तों के निर्माण का आदर्श असभ्यकालीन जहनियत या मनोवृत्ति का परिचय देता है।

मई, १९५३ मे कांग्रेस कार्यकारिणी ने जो प्रस्ताव पारित किया उसमे वही नीति घोषित की गई जो हैदराबाद अधिवेशन मे निश्चित की गई थी। जनवरी १९५४ में कल्याणी अधिवेशन मे भी वही नीति दुहरायी गई। कल्याणी अधिवेशन में जो प्रस्ताव पारित किया गया उसमे यह घोषित किया गया कि हर कीमत पर भारत की एकता और राष्ट्रीय सुरक्षा को प्राथमिकता दी जाएगी।

राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति (Appointment of the States Reorganisation Commission)—२२ दिसम्बर, १९५३ को प्रधान मन्त्री प० नेहरू ने ससद् में घोषणा की कि एक उच्चस्तरीय आयोग की नियुक्ति की जाएगी जो निष्पक्षता और शान्तचित्तता से भारत सघ के राज्यो के पुनर्गठन की समस्या पर जाच करेगा ताकि उक्त पुनर्गठन के फलस्वरूप प्रत्येक अवयवी एकक का और साथ ही सारे राष्ट्र का हितवर्द्धन हो सके। प्रधान मन्त्री ने उक्त घोषणा करते समय उन महत्त्वपूर्ण अवयवी कारणो की भी चर्चा की जिनको ध्यान मे रख कर ही आयोग राज्यो का पुनर्निर्माण करेगा। उन्होने कहा—"किसी प्रदेश के लोगों की भाषा और संस्कृति का नि.सन्देह भारी महत्त्व है क्योकि भाषा और संस्कृति ही किसी क्षेत्र के लोगो के जीवन के मापों का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु राज्यों का पुनर्गठन करते समय कुछ और विषयो अथवा अवयवी कारणो पर भी ध्यान रखना होगा। इस सम्बन्ध मे प्रथमतः भारत की एकता और सुरक्षा का स्थायित्व ध्यान देने योग्य है। इसके अतिरिक्त वित्तीय और आर्थिक स्थायित्व एवं प्रशासनिक सुविधा का भी प्रत्येक सम्बन्धित

संविधान के तेरहवें संशोधन अधिनियम द्वारा नागालैण्ड नामक एक नए राज्य की स्थापना हुई है। इस राज्य के अन्दर नागा-पहाड़ियां, त्युएनसांग क्षेत्र सम्मिलित किया गया है। इस क्षेत्र मे लगभग ४००,००० नागा जाति के लोग रहते है और इस भूमि का क्षेत्रफल लगभग ६,००० वर्गमील हैं। वर्तमान समय मे असम और नागालैण्ड का राज्यपाल एक ही व्यक्ति हैं। राज्यपाल को नागालैण्ड के सम्बन्ध मे वित्तीय मामलों के विषय मे कुछ एक विशेषाधिकार प्रदान किए गए हैं। १ नवम्बर, १९६६ को पंजाब को पुनर्गठित करने और हरियाणा को १७वा राज्य बना देने पर भारत का राजनैतिक मानचित्र फिर बदला। पंजाब का विभाजन करके पंजाब और हरियाणा के दो पृथक् राज्य बना दिये गए और प्रदेश का कुछ भाग हिमाचल प्रदेश के संघीय प्रदेश में मिला दिया गया।

इस समय संसद् के विचाराधीन एक विधेयक के अनुसार असम राज्य के अन्दर एक पहाड़ी राज्य बनाने का प्रयोजन है जो अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्दर स्वायत्तशासी (autonomous) होगा यद्यपि उससे राज्यों की संख्या नही बढ़ेगी।

भारत के राजनैतिक पुनर्गठन सम्बन्धी एक और वर्णनीय बात क्षेत्रीय परिषदों (Zonal Councils) और प्रादेशिक समितियों (Regional Committees) की स्थापना है। यह प्रबन्ध आन्ध्र और पंजाब के लिये किया गया। परिषदों का उद्देश्य था अन्तरराज्यीय विवादों के निपटारे और केन्द्रीय सरकार के साथ मिल कर विकास योजनाएं तैयार करना। समितियां पंजाब और आन्ध्र में राज्य के अन्दर विशेष क्षेत्रों की आवश्यकताओं पर विचार करने के लिये बनाई गई। हरियाणा राज्य के अस्तित्व में आ जाने से पंजाब की प्रादेशिक समिति का भी अन्त हो गया।

संघीय क्षेत्रों का प्रशासन (*Administration of Union Territories*)—संघीय क्षेत्र केन्द्र द्वारा प्रशासित होते हैं। १९५६ के टैरिटोरियल कौंसिल अधिनियम (The Territorial Councils Act) के द्वारा हिमाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा में राज्य-क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना हुई थी। ये परिषदें और दिल्ली निगम भी वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने गए थे और उन पर स्थानीय काम-काज चलाने का उत्तरदायित्व था। इन परिषदों का चेयरमैन निर्वाचित होता था और ये उसके अधीन कार्य करती थीं। इन्हें उप-विधि (Bye-Laws) बनाने का अधिकार प्राप्त था। राज्य-सभा के लिए होने वाले चुनावों के लिए इन क्षेत्रों को इलैक्टोरल कालेज माना गया था। केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों के प्रशासन के साथ लोक-सम्पर्क स्थापित करने के लिए इनमें परामर्शदात्री समितियां (Advisory Committees) स्थापित की गई थीं। संघ प्रशासन निम्नलिखित मामलों पर इन समितियों से परामर्श लेता था—

(१) प्रशासन सम्बन्धी नीति के साधारण प्रश्न,
(२) क्षेत्र-सम्बन्धी विधायी प्रस्ताव; और
(३) क्षेत्रों के वार्षिक आर्थिक ब्यौरे के मामले।

पुनर्गठन की व्यवस्था ने आयोग के प्रतिवेदन में सम्बन्ध न रखने वाली दो बातों को भी जन्म दिया है। वे हैं सरकार द्वारा क्षेत्रीय परिषदें (Zonal Councils)

और इसीलिए उन्होंने उसमें कोई अच्छाई नही देखी। आयोग की रिपोर्ट की उपपत्तियों (Findings) के मूल्यांकन के लिए और उसके निर्णयों को समझने के लिए यह समझना आवश्यक होगा कि सारी पुनर्गठन की योजना मे क्या-क्या मूल तत्त्व निहित थे और मूल तत्त्वों का किस प्रकार देश की एकता से सामजस्य पैदा करना आवश्यक था। इसमें सन्देह नही है कि राज्यों के पुनर्गठन की समस्याओ में अनेक उलझनें होती हैं और इसलिए पुनर्गठन के किसी भी पहलू पर मतैक्य प्राप्त करना सदैव कठिन होता है। १४ अक्तूबर, १९५५ के प्रस्ताव मे कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने सभी से याचना की कि "आयोग की रिपोर्ट पर सहयोगपूर्ण विचार होना चाहिए, साथ ही उन सभी समस्याओ पर भी सहयोगपूर्ण विचार की याचना की गई जिन पर उक्त रिपोर्ट में विचार किया गया है।"[1] आचार्य जे० बी० कृपलानी ने कहा कि "आयोग ने रिपोर्ट तैयार करने में परिश्रम से कार्य किया है और कोई अन्य आयोग इससे अच्छा काम नहीं कर सकता था।"[2] आयोग के लिए यह कैसे सम्भव हो सकता था कि वह विभिन्न भाषा-भाषी समुदायों की विभिन्न प्रकार की मागो और इच्छाओं को सन्तुष्ट कर सकता।

आयोग के प्रतिवेदन का क्रियान्वयन (Implementation of the Commission's Report)—आयोग का प्रतिवेदन १९ अक्तूबर, १९५५ को प्रकाशित हुआ था। चूकि इसने देश मे व्यापक उत्तेजना उत्पन्न कर दी थी; अत. सरकार ने जनता को इस पर अपना मत व्यक्त करने का पूरा अवसर दिया। राज्यों के विधानमण्डलों तथा संसद् के दोनों सदनो ने इस पर पूरी गहराई से विचार किया। सरकार ने राज्यों के पुनर्गठन को मूर्त रूप देने के लिए तीन अधिनियम पास किए; राज्य पुनर्गठन अधिनियम, १९५६ (States Reorganisation Act, 1956); बिहार और पश्चिमी बंगाल राज्य-क्षेत्र हस्तान्तरण अधिनियम, १९५६ (Bihar and West Bengal Territories Act, 1956) और संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, १९५६ [Constitution (Seventh Amendment) Act, 1956]

भारत का नया राजनैतिक मानचित्र (The New Political Map of India)—फलतः, भारत संघ में १४ राज्यों और ६ राज्य-क्षेत्रों की स्थापना की गई। राज्य निम्नलिखित थे—आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, बम्बई, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर, उडीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और जम्मू और कश्मीर। राज्य-क्षेत्र निम्नलिखित थे—दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, अण्डमान और निकोबार द्वीप और लक्कादिव, मिनिकोय तथा अमिनदिवि द्वीप।

भारत का यह राजनीतिक मानचित्र १ मई, १९६० को फिर बदला जबकि बम्बई को महाराष्ट्र और गुजरात नामक दो राज्यों में विभक्त कर दिया गया।

1. *The Hindustan Times*, Oct. 15, 1955. p. 1.
2. *The Tribune*, Oct. 15, 1955, p. 9.

जो राज्य को संविधान द्वारा सौंप दी गई है तो तदर्थ संविधान का संशोधन अभीष्ट होगा, और तभी उक्त राज्य की शक्तियां केन्द्रीय संसद् को दी जा सकती है। कनाडा में केन्द्रीय संसद् को अधिकार है कि वह ऐसे प्रान्तीय या स्थानीय विषयों पर भी विधि बना सकेगी जिनका राष्ट्रीय महत्त्व है। किन्तु केन्द्रीय संसद् को किसी ऐसे विषय पर प्रत्यक्षत: विधि बनाने का अधिकार नहीं है जो अपवर्जित या प्रान्तीय सूची में प्रगणित है। इसके विपरीत भारत में संसद् के एक ही सदन को निर्णय करना पड़ता है कि किसी प्रान्तीय विषय का राष्ट्रीय महत्त्व है अथवा नहीं; और यदि राज्य सभा आवश्यक बहुमत द्वारा तदर्थ प्रस्ताव पास कर देती है तो संसद् को तुरन्त अधिकार मिल जाता है कि वह राज्य सूची के किसी विषय पर राज्य-सभा द्वारा पारित संकल्प की सीमाओं तक विधि निर्मित कर सके। इसमें सन्देह नहीं है कि इस सम्बन्ध में संसद् की शक्तियां अस्थायी है। फिर भी इससे यह बोध होता है कि भारत का संविधान एकात्मक प्रकृति का है। किसी अन्य संघात्मक संविधान ने ऐसा उपबन्ध नहीं रखा है क्योंकि यह व्यवस्था संघीय सिद्धान्तों से मेल नहीं खाती।

संविधान ने संघ में ही सारी शक्तियां विहित की है कि वह आपात कालों में सर्वग्राही शक्तियों और अधिकारों का उपभोग करे। संविधान के अनुच्छेद २५० ने संसद् को अधिकार प्रदान किया है कि यदि आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है तो राज्य सूची में के किन्हीं विषयों के बारे में संसद् को विधि बनाने की शक्ति होगी। यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि युद्ध या बाह्य आक्रमण या आभ्यन्तरिक अशान्ति का सकट सन्निकट है तो वह आपात-काल की उद्घोषणा कर सकेगा।[1] आपात की उद्घोषणा के औचित्य का संसद् ही निर्णय कर सकती है। न्यायालयों को यह अधिकार नहीं है कि वे आपात की उद्घोषणा के औचित्य का निर्णय कर सकें। और जहां एक बार आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में आई, कि उसके प्रवर्तन-काल में संविधान प्रभावत: एकात्मक हो जाता है और ऐसी स्थिति में संसद् को पूरा-पूरा अधिकार रहता है कि वह तीनों सूचियों के किसी भी विषय पर मनमाने ढंग से विधि निर्माण करे। संघ की कार्यपालिका सत्ता, संघ की व्यवस्थापिका सत्ता के समकक्ष और अन्योन्याश्रित हैं, इसलिए आपात की उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल में संघ सरकार को अधिकार रहता है कि वह राज्य सरकारों को आदेश दे सके कि वह राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे।[2]

किसी राज्य में सांविधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की अवस्था में भी संविधान ने आपातकालीन उद्घोषणा के प्रवर्तन का उपबन्ध किया है।[3] यदि किसी राज्य के राज्यपाल से प्रतिवेदन मिलने पर या अन्यथा राष्ट्रपति का समाधान हो जाय कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिसमें कि उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता, अथवा यदि कोई राज्य सरकार संघ के किसी

१. अनुच्छेद ३५२ (१) (३)
२. अनुच्छेद ३५३ (क)
३. अनुच्छेद ३५६

राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित करके रख ली गई है और यदि बाद मे उसको राष्ट्रपति स्वीकार कर लेता है तो वह प्रभावी होगी और केन्द्रीय विधि उसके सामने शून्य हो जाएगी।[1] किन्तु फिर भी संसद् यदि चाहे तो किसी समय कोई ऐसी विधि निर्मित कर सकती है जो राज्य के विधानमण्डल द्वारा इस प्रकार निर्मित विधि को प्रभावहीन कर सकती है।[2]

सविधान ने अवशिष्ट शक्तिया ससद् को दी है।[3] १९३५ के भारत सरकार अधिनियम मे ऐसा नही था। उक्त अधिनियम ने अवशिष्ट शक्तियो को गवर्नर-जनरल मे विहित किया था और उसको अधिकार था कि वह स्वेच्छया ऐसी कोई शक्ति चाहे तो केन्द्र को दे सकता था और चाहे राज्य या प्रान्त को भी दे सकता था जो किसी भी सूची मे प्रगणित नही थी।

भारतीय सविधान की शक्तियों के वितरण सम्बन्धी तीनों सूचियों मे विषयो का प्रगणन अत्यन्त विस्तृत है और कोशिश यह की गई है कि एक सामान्य शासन के सारे कार्य-कलाप उक्त विषयों में समा जाएं। संघ और राज्यों की कार्यपालिका शक्ति एव उनकी व्यवस्थापिका शक्ति यथास्थिति अन्योन्याश्रित हैं। किन्तु उन विषयो के सम्बन्ध में जो समवर्ती सूची मे प्रगणित हैं, सारा अधिकार राज्यो को ही प्राप्त है, जहा तक कि सघ सरकार ने उक्त विषयो पर अपवर्जी अधिकार-क्षेत्र प्राप्त नही कर लिया है। सविधान ने सघ सरकार को अधिकार प्रदान किया है कि वह राज्यो की सरकारो के द्वारा केन्द्रीय विधियो की क्रियान्विति करा सकेगी बशर्ते कि ऐसी क्रियान्विति मे राज्यों के ऊपर वित्तीय भार न पडता हो।

यद्यपि संविधान ने राज्यो के विधानमण्डलो को उन विषयों पर विधि बनाने का अपवर्जी अधिकार प्रदान किया है जो राज्य सूची मे प्रगणित है;[4] फिर भी सविधान के अनुच्छेद २४९–२५३ उपबन्धित करते हैं कि राज्य सूची मे प्रगणित किसी विषय पर भी संसद् विशेष अवस्थाओ मे विधि निर्माण कर सकती है। सामान्यत संसद् को अधिकार नही है कि वह राज्य सूची के किसी विषय पर विधि निर्मित कर सके। अनुच्छेद २४९ ने संसद् को अधिकार दिया है कि यदि राज्य सभा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की दो-तिहाई से अन्यून संख्या द्वारा समर्थित सकल्प द्वारा घोषित कर दे कि राष्ट्रीय हित मे यह आवश्यक और हितकर है कि संसद् 'राज्य सूची' में प्रगणित किसी विषय के बारे में विधि बनाए—तो ससद् राज्य सूची के किसी विषय पर विधि निर्माण कर सकती है।

अमेरिका के सविधान में शक्तियो का वितरण स्थायी और कठोर है और उस देश मे शक्तियो के वितरण में बिना सविधान को संशोधित किए कोई परिवर्तन नही किया जा सकता है। आस्ट्रेलिया मे भी यदि उन शक्तियो मे कोई परिवर्तन अभीष्ट है

१. अनुच्छेद २५४ (२)
२. अनुच्छेद २५४ का परतुक।
३. अनुच्छेद २४८
४. अनुच्छेद २४६

प्रशासनिक सम्बन्ध
(Administrative Relations)

संघ और राज्य के बीच सम्बन्ध तथा राज्यों के परस्पर सम्बन्ध (Relations between Union and States and between States 'inter se')—सघात्मक शासन-व्यवस्था मे शासन-तन्त्र को सुचारु रूप से चलाने के लिए और सघर्ष को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों ओर से सहयोग और परस्पर प्रीति हो। किन्तु प्रत्येक सघात्मक शासन मे कुछ न कुछ दृश्य अथवा अदृश्य शक्तिया इस प्रकार काम करती ही रहती है जिनको यदि कानून द्वारा मर्यादा मे न रखा जाय तो वे विवाद और विग्रह को प्रोत्साहन देती है और अन्ततोगत्वा राज्य के स्थायित्व को खतरे मे डाल देती है। आपातकालीन अवस्थाओ का सामना करने के लिए भी कुछ न कुछ प्रबन्ध कर लेना चाहिए क्योंकि सघीय शासन-व्यवस्था मे ऐसी अवस्था का आ जाना स्वाभाविक है या शासन के दोनों प्रकार के अवयवो—संघ और राज्यो—के स्वतन्त्र अधिकार-क्षेत्र में टक्कर होने के फलस्वरूप भी आपातकालीन अवस्था आ सकती है; और इस प्रकार की स्थिति का सामना करने के लिए पहले से ही तैयारी कर लेनी चाहिए। सारे देश और राष्ट्र मे शान्ति, सुव्यवस्था, सुशासन और सुरक्षा बनाये रखने के लिए राष्ट्रीय या केन्द्रीय सरकार ही उत्तरदायी है। इन सब कारणों से यह आवश्यक हो जाता है कि केन्द्र और राज्यो के प्रशासनिक क्षेत्रों मे समन्वय और सहयोग रहे और सत्य तो यह है कि सघात्मक शासन-व्यवस्था की सफलता और शक्ति इसी बात पर अवलम्बित है कि संघ और राज्यों की सरकारो मे अथवा राज्यो की सरकारो में सम्बन्ध परस्पर सहयोग के आधार पर बने।

किसी सघात्मक शासन-व्यवस्था वाले देश मे संघ और राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्धो की निम्न दो शीर्षको के अन्तर्गत परीक्षा की जा सकती है: (१) राज्यों के ऊपर सघीय नियन्त्रण की विधिया, और (२) राज्यो मे परस्पर सौजन्य।

राज्यों के ऊपर संघीय नियन्त्रण की विधियां (Techniques of Union Control over the States)—आपात-कालो मे सघ का राज्यो के ऊपर सब प्रकार से पूर्ण नियन्त्रण रहता है और जैसा कि बताया जा चुका है, आपातकालीन उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल मे भारतीय सविधान का स्वरूप एकात्मक शासन में बदल जाता है। सामान्य कालो में संघ, राज्यों के ऊपर विभिन्न विधियो और विभिन्न उपकरणों के माध्यम द्वारा नियन्त्रण स्थापित रखता है जो निम्नलिखित है: (१) राज्य सरकारो को निदेशों के द्वारा; (२) सघीय सरकार अथव. सघ के कुछ कृत्य राज्यो को सौंप कर; (३) अखिल भारतीय सेवाओं के द्वारा; और (४) सहायक अनुदानो के द्वारा।

(१) राज्य सरकारों को निदेश (Directions to the State Governments)—संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रीय सरकार द्वारा राज्यों की सरकारों को निदेश देना अप्रिय माना जाता है। किन्तु भारतीय सविधान के निर्माताओं ने यह

निदेश का अनुवर्तन करने मे या उसको प्रभावी करने में असफल हुई है;[1] तो भी राष्ट्रपति आदेश दे सकता है और उक्त राज्य के समस्त विधायी कृत्य संसद् को सौंप सकता है। ऐसी उद्घोषणा संसद् की स्वीकृति का विषय है किन्तु ससद् की स्वीकृति के बाद भी उक्त उद्घोषणा छ. माम तक प्रभावी रह सकती है। हा, यदि छः माम मे पुनः ससद् उक्त उद्घोषणा की अवधि बढ़ा दे तो फिर अवधि और बढ़ सकती है।

राज्य सूची की अनन्यता (exclusiveness) पर संविधान के अनुच्छेद २५२ ने भी मर्यादा आरोपित की है, जिसने ससद् को अधिकार प्रदान किया है कि वह राज्य सूची मे प्रगणित किसी भी विषय पर विधि निर्माण कर सकती है यदि किन्ही दो अथवा अधिक राज्यो के विधानमण्डलो को यह वाछनीय प्रतीत हो और वे संकल्पो द्वारा ससद् से प्रार्थना करे कि समद् उनके लिए विधि निर्माण करे। ससद् द्वारा इस प्रकार पारित विधिया अथवा अधिनियम ऐसे अन्य राज्यो पर भी लागू हो मकते है जो तत्पश्चात् उसी प्रकार ससद् से प्रार्थना करें और उन विधियों को स्वेच्छया अगीकार करे। जहा राज्य के विधानमण्डल की प्रार्थना पर संसद् को किसी राज्य के लिए विधि निर्माण करने का अधिकार मिल जाता हैं, वहां उन विषयों पर राज्य के विधानमण्डल का अधिकार-क्षेत्र छिन जाता है। श्री जोशी लिखते हैं कि "इस शक्ति से ही पता चलता है कि सविधान के निर्माताओं ने सघीय सिद्धान्त पर विशेष वल नही दिया था अन्यथा ऐसी शक्ति कभी न दी गई होती। इससे यह भी पता चलता है कि राज्यो के विधानमण्डल स्वयं अपने अधिकार-क्षेत्र के प्रयोग मे भी कितना अविश्वास और सकोच करते है। इस उपवन्ध से भी भारतीय सविधान का एकात्मक स्वरूप ही प्रतिबिम्बित होता है।"[2]

सघ सूची के १४वे अनुच्छेद ने ससद् को अनन्य अधिकार दिया है कि वह विदेशों से सन्धि और करार करने तथा विदेश से की गई सन्धियो, करारों और अभिसमयो की पूर्ति के लिए आवश्यक विधिया वना सकती है। अनुच्छेद २५३ ने ससद् को अधिकार प्रदान किया है कि वह किसी अन्य देश या देशो के साथ की हुई किसी सन्धि, करार या अभिसमय अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, सस्था या किसी अन्य निकाय के लिए किये गये किसी विनिश्चय के परिपालन के लिए भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए कोई विधि बनाने मे सक्षम है। इस प्रकार किसी विदेश के साथ की गई सन्धि या करार के परिपालनार्थ ससद् को पूरा-पूरा अधिकार है कि वह चाहे तो सघ के किसी विषय पर, चाहे तो राज्य-सूची के किसी विषय पर और चाहे तो समवर्ती सूची के किसी विषय पर विधि बना सकती है। ससद् राज्य-सूची मे प्रगणित किसी विषय पर भी अधिनियम वना सकती है यदि विदेश के साथ की गई किसी सन्धि या करार के परिपालनार्थ ऐसी आवश्यकता आ पडे। और किसी अवस्था में संसद् द्वारा अधिनियमित कोई विधि केवल इस कारण अवैध नही ठहराई जा सकती कि उक्त विधि के कुछ उपवन्धो मे ऐसे विषय अन्तर्ग्रस्त है जिनका सम्वन्ध राज्य-सूची से है।

---

१. अनुच्छेद ३५६
2. Joshi, G. N. . The Constitution of India, p. 278.

भारत सरकार को अधिकार प्रदान किया है कि राज्य सरकारों को निदेश दे सकती है, जिसमे उपबन्धित किया गया है: "जहा इस सविधान के उपबन्धों में से किसी के अधीन सघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग मे दिए गए किन्ही निदेशो का अनुवर्तन करने में या उनको प्रभावी करने मे कोई राज्य असफल हुआ है, वहा राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधिसगत होगा कि ऐसी अवस्था उत्पन्न हो गई है जिसमे राज्य का शासन इस सविधान के उपबन्धों के अनुकूल नही चलाया जा सकता।"

(ग) संघ कार्यपालिका का यह देखना कर्तव्य है कि राज्य सरकारे सामरिक महत्त्व की सड़को और अन्य संचार साधनो की उचित देखभाल और मरम्मत करती हैं अथवा नही। सामान्यत: सचार-साधन (communications) राज्य- सूची का विपय है।[1] अनुच्छेद २५७ (२) सघ सरकार को अधिकार देता है कि वह किसी राज्य को ऐसे सचार साधनों के निर्माण करने और बनाए रखने के लिए निदेश दे सकती है जो भारत सरकार को राष्ट्रीय या सैनिक महत्त्व की प्रतीत हो। इसका यह अर्थ है कि भारत सरकार स्वय भी ऐसे सचार साधनो का निर्माण और उनकी देख-भाल, मरम्मत आदि करेगी जिन्हे वह सैनिक, नौसैनिक अथवा वायुसैनिक आवश्यकताओ के लिए उचित समझें,[2] साथ ही सघ सरकार को अधिकार होगा कि वह ऐसे सचार साधनों के निर्माण या मरम्मत आदि के लिए राज्य सरकारो को भी निदेश दे सकती है जिन्हें वह राष्ट्रीय या सामरिक महत्त्व का समझती है।

राज्यो को निदेश देने सम्बन्धी साविधानिक उपबन्ध ससद् की शक्तियो पर किसी प्रकार की मर्यादाएँ आरोपित नही करते; और ससद् उक्त उपबन्धो के बावजूद किन्ही राजपथों या बडी सडकों (highways) या नहरो या जलपथों अथवा नौकागम्य नदियों (waterways) को राष्ट्रीय राजपथ या राष्ट्रीय जलपथ घोपित कर सकती है। उक्त उपबन्ध सघ सरकार की शक्तियो पर भी किसी प्रकार के प्रतिवन्ध नही लगाते और वह किसी भी राजपथ या जलपथ को राष्ट्रीय राजपथ या राष्ट्रीय जलपथ घोपित कर सकती है।[3] उक्त उपबन्ध संघ सरकार की इस शक्ति पर भी कोई मर्यादा नही लगाते कि वह नौ, स्थल और विमान वल की कर्मशालाएं निर्मित करे या उनकी मरम्मत करे और उक्त वलों के लिए संचार साधन निर्मित करे।[4]

(घ) सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य मे की रेलों की रक्षा के लिए किए जाने वाले उपायो के बारे में उस राज्य को निदेश देने तक भी है।[5] रेले सघ सूची मे प्रगणित विपय हैं[6] और रेलवे पुलिस सहित सामान्य पुलिस राज्य सूची का विपय है।[7] इस प्रकार सघ की कार्यपालिका सत्ता किसी राज्य को रेलो

१. राज्य सूची न० २, पद १३
२. सघ सूची नं० १, पद ४ और अनुच्छेद २५७ (२)
३. संघ सूची न० १, पद २३, २४
४. संघ सूची न० १, पद ४
५. अनुच्छेद २५७ (३)
६. संघ सूची न० १, पद २२
७. राज्य सूची नं० २, पद २

प्रथा १९३५ के भारत सरकार अधिनियम से ग्रहण की है। इस समय सहविधान ने उपबन्धित किया है कि संघ राज्य-सरकारों को निम्नलिखित विषयों पर निदेश दे सकता है ;

(क) संसद् द्वारा निर्मित विधियों तथा वर्तमान विधियों का पालन कराना सघ की कार्यपालिका शक्ति का कर्त्तव्य है। संविधान का अनुच्छेद २५६ उपबन्धित करता है कि "प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार होगा जिसमे ससद् द्वारा निर्मित विधियों का तथा किन्ही वर्तमान विधियों का, जो उस राज्य में लागू है, पालन सुनिश्चित रहे; तथा सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक विस्तृत होगा जो कि भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिए आवश्यक दिखाई दे।" इसलिए प्रत्येक राज्य का यह वैधानिक कर्त्तव्य है कि वह संघीय विधियो की क्रियान्विति कराये और संघीय सरकार को अधिकार है कि वह राज्य सरकारों को निदेश दे सकती है ताकि वे सघीय विधियो की क्रियान्विति और उनके प्रवर्त्तन के सम्बन्ध मे अपने कर्त्तव्यो का निर्वहन करें। यदि राज्य सरकार संघ सरकार के आदेशों का पालन नही करती तो राष्ट्रपति अनुच्छेद ३५६ के अन्तर्गत घोषणा कर सकता है कि राज्य मे सांविधानिक व्यवस्था विफल हो गई है, और वह राज्य शासन के सब कृत्यों को अथवा किसी एक कृत्य को अपने हाथ में ले सकता है।

(ख) सघीय कार्यपालिका का यह देखना कर्त्तव्य है कि राज्य की कार्यपालिका सत्ता का संघ की कार्यपालिका सत्ता से सघर्ष न होने पावे। अनुच्छेद २५७ (१) उपबन्धित करता है कि "प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होना चाहिए जिससे सघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग मे अडचन या प्रतिकूल प्रभाव न पड़े तथा सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक विस्तृत होगा जो भारत सरकार को उस प्रयोग के लिए आवश्यक दिखाई दे।" अनुच्छेद २५७ का उद्देश्य यह है कि सघ सरकार और राज्य सरकारो की कार्यपालिका नीतियों मे विरोध न होने पावे। इस प्रकार राज्य सूची मे प्रगणित विषयो के क्षेत्र मे भारत सरकार को अधिकार होगा कि वह राज्य सरकारों को ऐसे निदेश दे सके ताकि राज्यो की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किसी प्रकार सघ सरकार की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग का विरोध न करने लग जाय; अर्थात् उन विषयो के प्रशासन मे जो सघ सूची और समवर्ती सूची मे प्रगणित है, केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारो के बीच संघर्ष की नौबत नही आनी चाहिए।

जब अनुच्छेद २५६ और २५७ को साथ-साथ लिया जाता है तो उनसे भारत सरकार की शक्तियां और उसका राज्यो के अधिकार-क्षेत्र में प्रवेश असाधारणतया बढ़ जाते हैं। उक्त दोनो अनुच्छेद राज्यो की कार्यपालिका सत्ताओं पर निश्चित रूप से विधेयात्मक (positive) और निषेधात्मक (negative) प्रतिबन्ध लगाते है और भारत सरकार को विस्तृत अधिकार प्रदान करते हैं कि वह राज्यो में किसी भी प्रकार के निर्बाध गति से प्रशासनिक कृत्य कर सकती है। अनुच्छेद ३६५ ने भी

कहां तक विस्तृत होगा। डा० अम्बेदकर ने कहा था "प्रत्येक संघात्मक शासन-व्यवस्था में दो श्रेणियो के राज्य होते है और इसलिए प्रत्येक संघ मे दो श्रेणियो के सेवक भी होते हैं। सभी सघों में अखिल सघीय सिविल सेवाए और राज्य सेवाएं होती हैं। यद्यपि भारतीय संघ में भी दो श्रेणियो के राज्य (dual polity) हैं और उनमे दो श्रेणियो के सेवक भी होंगे, किन्तु एक महत्त्वपूर्ण अन्तर होगा। यह माना जाता हैं कि प्रत्येक देश की प्रशासन-व्यवस्था में कुछ पद ऐसे होते है जिनको उच्च प्रशासनिक स्तर की हैसियत से मुख्य महत्त्व के पद कह सकते है। इसमें कोई सन्देह नही हैं कि अच्छा या बुरा प्रशासन सिविल सेवको की योग्यता पर निर्भर हैं और महत्त्व के पदों पर इन्ही सिविल सेवको को नियुक्त किया जाता हैं। सविधान ने उपबन्धित किया हैं कि अखिल भारतीय सेवा की स्थापना होनी चाहिए जो अखिल भारतीय आधार एव समान योग्यताओं के आधार पर समान वेतनक्रम के अनुसार हो और केवल अखिल भारतीय सेवक ही सारे सघ मे महत्त्वपूर्ण पदो पर नियुक्त हो। किन्तु उक्त उपबन्ध ने राज्यो का अधिकार नही छीना हैं और राज्य भी अपनी सिविल सेवाएं *कायम कर सकते हैं।*

(४) **सहायक अनुदान** (Grants-in-Aid)—सघीय वित्त-व्यवस्था का सामान्य सिद्धान्त यह हैं कि वित्त के सम्बन्ध में सघ सरकार और राज्य सरकारे परस्पर स्वतन्त्र रहें और सबके पास अपने योग्य पर्याप्त वित्तीय साधन हों। किन्तु इस सिद्धान्त की इतनी कठोर क्रियान्विति कही भी पूर्णतया सम्भव नही हैं और प्रत्येक सघात्मक संविधान ऐसी व्यवस्था करता है कि करों से प्राप्त कुछ धनराशि सघीय सरकार और राज्य सरकारो के बीच बट जाया करें। किन्तु अवयवी राज्यों की वित्तीय आवश्यकताएं इतनी बढ़ती जा रही हैं कि उक्त व्यवस्था से भी पूरा नही पड़ता, और इसलिए राज्यों को केन्द्रीय सरकार से सहायक अनुदान स्वीकार करने पड़ते हैं। संविधान के अनुच्छेद २७५ ने उपबन्धित किया है और ससद् को अधिकार दिया हैं कि वह उन राज्यों के राजस्वो के सहायक अनुदान के रूप में ऐसी राशिया विधि द्वारा उपबन्धित करे और निर्धारित करे कि उन्हें कितने धन की आवश्यकता है और यह भी उपबन्धित किया गया हैं कि सहायक अनुदानो के रूप में राज्यो को दी गई धनराशियां भारत की सचित निधि (Consolidated Fund of India) पर भारित होंगी। ससद् को यह अधिकार तो हैं ही कि वह कभी भी धन की आवश्यकता वाले किसी राज्य को सहायक अनुदान दे सकती हैं; इसके अतिरिक्त सविधान ने भी दो अवसरो पर राज्यो को केन्द्र द्वारा आर्थिक सहायता दिलवाने की व्यवस्था की है: (१) यदि कभी किसी राज्य ने भारत सरकार की पूर्व सहमति से ऐसी विकास योजनाओं की क्रियान्विति अपने हाथ में ली हो जिनका उद्देश्य अनुसूचित आदिम जातियो का कल्याण हो, अथवा जिनका उद्देश्य अनुसूचित क्षेत्रों के सामान्य प्रशासन का स्तर ऊचा करना हो, तो तदर्थ सहायक अनुदान सम्बन्धित राज्य को दिया जा सकता है किन्तु उक्त अनुदान भारत की सचित निधि पर भारित होगा। (२)

के संरक्षण के हेतु निदेश देने तक विस्तृत है और इस प्रकार उक्त निदेश में भारत सरकार राज्य सरकारों को यह भी आज्ञा कर सकती है कि वे रेलों अथवा रेल-मार्गों की रक्षा तथा रेल सम्पत्ति की रक्षा के हेतु पुलिस दल नियुक्त करें और यदि आवश्यक हो तो अनुच्छेद २५७ (४) के उपबन्धों के अधीन ऐसे अतिरिक्त पुलिस-दल नियुक्त करें जिनके ऊपर खर्च होने वाली धनराशि भारत सरकार अदा करेगी।

(२) संघीय कृत्यों का राज्य सरकारों को सौंपना (Delegation of Union Function)—अनुच्छेद २५८ उपबन्धित करता है कि किसी राज्य की सरकार की सम्मति से राष्ट्रपति उस सरकार को या उसके पदाधिकारियों को ऐसे किसी विषय सम्बन्धी कृत्य, जिन पर संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, शर्तों के साथ या बिना शर्तों के सौंप सकता है। कोई संघीय विधि, जो किसी राज्य पर ऐसे विषय पर भी लागू होती है जिस पर राज्य के विधानमण्डल को अधिकार-क्षेत्र प्राप्त नहीं है, किसी राज्य को कुछ भी अधिकार प्रदान कर सकती है और उसको अथवा उसके अधिकारियों को तत्सम्बन्धी कुछ भी कृत्य सौंप सकती है। इस प्रकार संसद् का कोई अधिनियम किसी राज्य या उसके अधिकारियों के ऊपर संघ सूची अथवा समवर्ती सूची के किसी विषय के सम्बन्ध में कुछ भी कर्त्तव्य सौंप सकता है अथवा कुछ भी अधिकार प्रदान कर सकता है। ऐसी स्थिति में उन शक्तियों और कर्त्तव्यों के पालन के सम्बन्ध में होने वाले अतिरिक्त प्रशासनिक व्यय के लिए राज्य सरकार को प्रतिकर (Compensation) प्राप्त होगा।

यहां पर यह उल्लेख करना आवश्यक है कि अनुच्छेद ३५५ ने संघ सरकार पर यह कर्त्तव्य आरोपित किया है कि वह बाह्य आक्रमण और आन्तरिक गड़बड़ से राज्य सरकार की रक्षा करे और इस बात का ध्यान रखे कि प्रत्येक राज्य में शासन संविधान के अनुसार हो।

(३) अखिल भारतीय सेवाएं (All-India Services)—संघीय शासन व्यवस्था में दो प्रकार के शासन होते हैं, उसी प्रकार दो भिन्न श्रेणियों के सार्वजनिक सेवक भी होते हैं; एक श्रेणी के सेवक राज्यों के लिए होते हैं और दूसरी श्रेणी के सेवक संघीय सरकार के लिए; और वे दोनों श्रेणियों के सेवक अपनी-अपनी सरकारों की विधियों की क्रियान्विति करते हैं। भारतीय संविधान ने भी उपबन्धित किया है कि संघ सरकार और राज्य सरकारों के अलग-अलग सार्वजनिक अधिकारी होंगे और वे अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में कार्य करेंगे। किन्तु साथ ही संविधान ने यह भी उपबन्धित किया है कि भारतीय प्रशासन सेवा और भारतीय आरक्षी सेवा संघ और राज्यों दोनों में समान रूप में कार्य करेगी। संविधान के अनुच्छेद ३१२ ने संसद् को अधिकार प्रदान किया है कि वह राष्ट्रहित में विधि द्वारा संघ और राज्यों के लिए अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन के लिए उपबन्ध कर सकती है। यह उपबन्ध भारतीय संविधान की एक अनोखी विशेषता है। डा० बी० आर० अम्बेदकर ने अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन की आवश्यकता पर प्रकाश डाला था और उन्होंने यह भी बताने का प्रयत्न किया था कि संघ सरकार का नियन्त्रण राज्यों के प्रशासन के ऊपर

राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में व्यवहार न्यायालयों (Civil Courts) द्वारा दिए गए अन्तिम निर्णय या आदेश भारत राज्य-क्षेत्र के अन्दर कही भी विधि के अनुसार निष्पादन योग्य होंगे।[1]

संविधान ने यह भी उपवन्धित किया है कि भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य और समागम स्वतन्त्र और अबाध है।[2] किन्तु अन्य स्वतन्त्रताओ के समान ही व्यापार, वाणिज्य, और समागम भी पूर्ण अबाध (absolute) नही हैं। ससद् को अधिकार है कि वाणिज्य व्यापार और समागम पर ऐसे निर्बन्ध लगा सकती है जिन्हें वह लोकहित में उचित समझे या जो लोकहित मे अपेक्षित हो।[3] किन्तु लोकहित को इतने व्यापक अर्थों में लिया जा सकता है कि इससे ससद् को अत्यन्त विस्तृत शक्तियां प्राप्त हो गई है। यदि लोकहित में ससद् चाहे तो अन्तर्राज्यिक वाणिज्य और व्यापार पर निर्बन्धन लगा सकती हैं। अनुच्छेद ३०३ ने ससद् से भी और राज्यो के विधानमण्डलों से भी, ऐसी कोई विधि बनाने की शक्ति छीन ली है जिसका सम्बन्ध सप्तम अनुसूची की किसी सूची में प्रगणित किसी वाणिज्य या व्यापार से हो, और जो एक राज्य को दसरे रज्य से अधिमान (preference) देती हो अथवा एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच मे कोई विभेद करती हो। किन्तु वही अनुच्छेद संसद् को अधिकार भी प्रदान करता है कि वह ऐसी विधि बना सकेगी जो एक राज्य को दूसरे राज्य पर कोई ऐसा अधिमान (preference) देती हो अथवा जो विभिन्न राज्यों में ऐसा कोई विभेद करती हो बशर्ते कि ऐसी विधि द्वारा यह घोषित किया गया हो कि भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग मे वस्तुओं की दुर्लभता से उत्पन्न किसी स्थिति से निबटने के प्रयोजन के लिए ऐसा करना आवश्यक है। यहा यह समझने की जरूरत है कि अनुच्छेद ३०३ ने ससद् को अधिकार प्रदान किया है कि वह एक राज्य को दूसरे पर अधिमान दे सकती है या राज्यो मे विभेद भी कर सकती है बशर्ते कि भारत के किसी भाग मे वस्तुओं की ऐसी दुर्लभता उत्पन्न हो गई है और उससे निबटने के प्रयोजन के लिए ऐसा करना आवश्यक है; वही सविधान ने वस्तुओ की दुर्लभता के कारण राज्यों के विधानमण्डलो के सम्बन्ध मे कोई अपवाद नही वतलाया है। सविधान ने राज्यो के विधानमण्डलो को किसी प्रकार का अधिमान देने या विभेद (discrimination) वर्तने से पूरी तरह वर्जित कर दिया है।

किन्तु राज्य विधानमण्डलो को अधिकार है कि वे विधि द्वारा अन्य राज्यों से आयात की गई वस्तुओ पर ऐसे कर आरोपित कर सकेंगे बशर्ते कि उस राज्य मे निर्मित या उत्पादित वैसी ही वस्तुओ पर वैसे ही कर लगते हो।[4] इसके अतिरिक्त

१. अनुच्छेद २६१ (३)
२. अनुच्छेद ३०१
३. अनुच्छेद ३०२
४. अनुच्छेद ३०४ (क)।

असम राज्य को भी उक्त राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों के विकास के लिए सहायक अनुदान दिए जा सकते हैं।

सहायक अनुदानो के द्वारा वित्तीय सहायता के कारण केन्द्र अथवा संघ सरकार को सम्बन्धित राज्यो के मामलों मे नियन्त्रण और हस्तक्षेप के पर्याप्त अवसर मिल जाते हैं। सहायक अनुदान सदैव सशर्त दिए जाते हैं और वे संघ सरकार के विनियमों के अधीन होते हैं। सभी जानते हैं कि जो धन व्यय करता है वही अपनी इच्छा के अनुसार नीति निर्धारित करता है।

राज्यों में परस्पर सौजन्य (Inter-State Comity)—यद्यपि संघ के सभी अवयवी एकक अपने-अपने प्रादेशिक अधिकार-क्षेत्र मे पूर्ण स्वायत्तता का उपभोग करते हैं फिर भी कोई एकक पूर्णतया अलग या किसी के बिना सम्बन्ध रखे हुए नही रह सकता। सत्य यह है कि किसी एकक की स्वायत्तता के यही अर्थ हैं कि प्रत्येक एकक परस्पर सहयोग के कुछ सिद्धान्तो का अनुसरण करे। तद्नुसार सभी सघीय सविधान कुछ ऐसे परस्पर सौजन्य के नियम रखते है जिनका पालन आपसी सम्बन्धों के निर्वहन मे प्रत्येक एकक के लिए आवश्यक माना जाता है। भारतीय सविधान ने ससद् को अधिकार प्रदान किया है कि वह विधि द्वारा किसी अन्तर्राज्यीय नदी या नदी घाटी के जलो के प्रयोग, वितरण या नियन्त्रण के बारे मे किसी विवाद या फरियाद के न्याय-निर्णय के लिए उपबन्ध कर सकती है। ससद् को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह विधि द्वारा उपबन्ध कर सकेगी। न तो उच्चतम न्यायालय और न अन्य कोई न्यायालय किसी विवाद या फरियाद के बारे मे क्षेत्राधिकार का प्रयोग करेगा।[1] सविधान ने अन्तर्राज्यीय परिषदो (Inter-State Councils)[2] की स्थापना का भी उपबन्ध किया है। यदि किसी समय राष्ट्रपति को यह प्रतीत हो कि ऐसी अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना से लोक-हितो की सिद्धि होगी, जिस पर—(क) राज्यो के बीच जो विवाद उत्पन्न हो चुके हो उनकी जाच करने और उन पर मन्त्रणा देने; (ख) कुछ या सब राज्यो के, अथवा संघ और एक या अधिक राज्यो के पारस्परिक हित से सम्बद्ध विषयो के अनुसन्धान और चर्चा करने; अथवा (ग) ऐसे किसी विषय पर सिफारिश करने, और विशेषत: इस विषय के बारे मे नीति और कार्रवाई के अधिकतर अच्छे समन्वय के हेतु सिफारिश करने का भार हो तो राष्ट्रपति के लिए यह विधिसगत होगा कि वह आदेश द्वारा ऐसी परिषद् की स्थापना करे तथा उस परिषद् के द्वारा किये जाने वाले कर्त्तव्यो के स्वरूप को और उसके सघटन और प्रक्रिया को पारिभाषित करे।

अनुच्छेद २६१ ने उपबन्धित किया है कि भारत के राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र, सघ की और प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं, अभिलेखों और न्यायिक कार्रवाइयों को पूरा विश्वास और पूरी मान्यता दी जाएगी। किन्तु ससद् विधि द्वारा सार्वजनिक क्रियाओ, अभिलेखों और न्यायिक कार्रवाइयों की सिद्धि की रीति तथा उनके प्रभाव अन्य राज्यो मे स्वयं उपबन्धित करेगी। यह भी उपबन्धित किया गया है कि भारत

१. अनुच्छेद २६२

२. अनुच्छेद २६३

दोनों अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों में अपने-अपने निर्धारित कर्तव्यों को पूरा करने में समर्थ हो सकें। प्रत्येक सरकार (अर्थात् सघ सरकार और राज्य सरकार) को पूरी स्वतन्त्रता हो कि वह उपक्रम करे और व्यापार या कार्य करे और इस प्रकार अपने द्रव्य साधनों के अनुसार उपक्रम और कार्य करते हुए स्वयं व्ययों के वहन करने में समर्थ हो। सक्षेप में कहा जा सकता है कि सघीय शासन-व्यवस्था में राजनीतिक सत्ता के समान ही वित्तीय अधिकार भी पूर्णत: विकेन्द्रीकृत (decentralized) होना चाहिए क्योंकि "वित्तीय या आर्थिक स्वतन्त्रता भी सामान्य स्वतन्त्रता का ही एक भाग है। सघात्मक शासन-व्यवस्था में यदि राजनीतिक एककों अथवा राज्यों को आर्थिक स्वायत्तता नही है तो उनकी राजनीतिक स्वायत्तता झूठी है। राष्ट्रीय सरकार और राज्यो की सरकारो के बीच उचित सम्बन्ध यही होगा कि उनके बीच समन्वय और नियन्त्रण दोनो का सामजस्य रहे। सघीय वित्त-व्यवस्था की जटिल समस्या पर अपने विचार व्यक्त करते हुए प्रोफेसर अदारकर ने लिखा है—"उपक्रम और कार्य करने की स्वतन्त्रता का विस्तार दोनो सरकारो अर्थात् सघ सरकार और राज्य सरकारो को भी रहना चाहिए। यह इसलिए आवश्यक है क्योकि किसी भी सरकार को अपने निर्दिष्ट कर्तव्यो के निर्वहन में किसी प्रकार का सकोच न होने पावे और वे अपने-अपने क्षेत्र में सामाजिक और आर्थिक विकास के द्वारा अपनी न्याय आकांक्षाओ की पूर्ति कर सकें।"[1]

किन्तु किसी भी सघ मे इस सिद्धान्त का कठोरतया पालन नही किया जाता। आजकल इस सिद्धान्त का इस प्रकार सुधार कर दिया गया है कि इसके द्वारा सम्बन्धित राज्य अथवा देश की अपनी विशिष्ट आर्थिक और वित्तीय आवश्यकताएं पूरी हो सकती है। सघवाद के सिद्धान्त मे हाल ही में कुछ नए विकास हुए है; उन विकासों के कारण भी यह नितान्त आवश्यक हो गया है कि उक्त सिद्धान्त के प्रयोग में कुछ सुधार अथवा परिवर्तन कर दिए जाए। इसलिए द्रव्य साधनों के वितरण का आधार प्राय: प्रत्येक सघ में अलग-अलग ढग से होता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे केन्द्रीय विधानमण्डल अथवा कांग्रेस को अधिकार है कि वह कर लगा सकती है और करों को एकत्रित कर सकती है, साथ ही चुगी-कर, आयात-कर और उत्पादन-कर लगा सकती है और उक्त करो को एकत्रित कर सकती है, कांग्रेस को यह भी अधिकार है कि वह सयुक्त राज्य के ऊपर के ऋणो को चुकाए, और देश के रक्षा साधनो तथा सामान्य कल्याण के लिए धन जुटाए और यदि आवश्यकता पड़े तो सयुक्त राज्य अमेरिका की साख पर धन उधार ले ले। कनाडा मे संघीय संसद् को अधिकार है कि वह किसी भी प्रकार या किसी भी प्रकार के कर द्वारा धन एकत्र कर सकती है और सार्वजनिक साख पर धन उधार ले सकती है। आस्ट्रेलिया मे केन्द्र और राज्यों को समवर्ती शक्तियां प्राप्त है और वे दोनो ही कर लगा सकते हैं; अपवाद केवल यह है कि चुगीकर, आगम-शुल्क और उत्पादन-कर पर केवल केन्द्रीय सरकार को ही अपवर्जी अधिकार है।

1. Adarkar, B.P. : *The Principles and Problems of Federal Finance*, p.219.

राज्य विधानमण्डल उस राज्य के साथ या भीतर व्यापार-वाणिज्य और समागम की स्वतन्त्रता पर ऐसे युक्तियुक्त निर्बन्धन लगा सकता है जैसे कि लोकहित में अपेक्षित हो। किन्तु उपर्युक्त निर्बन्धन आरोपित कर सकने के प्रयोजनों के लिए कोई विधेयक या संशोधन राष्ट्रपति की मंजूरी के बिना राज्य के विधानमण्डल में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता।[1] भारतीय संविधान के उपर्युक्त उपबन्धों का वही प्रयोजन है जो अमेरिका के राज्यों की पुलिस शक्ति (Police Power) का अर्थ है, जिसके अनुसार उस देश के राज्य अन्तर्राज्यिक वाणिज्य और व्यापार पर निर्बन्धन लगा सकते हैं। किन्तु अमेरिका में राज्यों के उक्त अधिकार के ऊपर न्यायालयों का नियन्त्रण है इसलिए उस देश में राज्यों को उक्त अधिकार न्यायिक सिद्धान्त के आधार पर प्राप्त हुआ है। किन्तु इसके विपरीत भारत में राज्यों को संविधान ने अधिकार प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान के उक्त उपबन्धों की सीमाएं अत्यन्त विस्तृत हैं; जब संयुक्त राज्य अमेरिका में राज्यों की पुलिस शक्ति (Police Power) के सिद्धान्त का व्यवहार अपेक्षाकृत सीमित है।

संविधान के अनुच्छेद ३०७ ने संसद् को अधिकार प्रदान किया है कि वह अन्तर्राज्यिक वाणिज्य और व्यापार पर निर्बन्धन लगाने के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए जो कुछ उचित समझे कर सकती है; तथा इस दिशा में ऐसे प्राधिकारी की नियुक्ति कर सकती है तथा इस प्रकार नियुक्त प्राधिकारी को ऐसी शक्तियां और ऐसे कर्तव्य सौंपे जा सकते हैं, जिन्हें संसद् आवश्यक समझे। भारत में इस प्रयोजन के लिए नियुक्त प्राधिकारी की लगभग वही स्थिति होगी जो संयुक्त राज्य अमेरिका में अन्तर्राज्यिक वाणिज्य आयोग (Inter-state Commerce Commission of U. S A) की है।

वित्तीय सम्बन्ध
(Financial Relations)

एककों की वित्तीय या राजकोषीय स्वायत्तता (Fiscal Autonomy of the Units)—संघात्मक शासन-व्यवस्था में वित्त-व्यवस्था और प्रकार की होती है किन्तु एकात्मक शासन-व्यवस्था में दूसरी प्रकार की। संघवाद का सार है—कर्तव्यों का विभाजन, किन्तु कर्तव्यों के विभाजन के लिए यह भी आवश्यक है कि देश के द्रव्य साधनों का भी बटवारा हो जाए ताकि कर्तव्य कुशलतापूर्वक और उचित ढंग से हो। इसलिए संघीय वित्त व्यवस्था की पहली आवश्यकता तो यह है कि राष्ट्रीय सरकार और अवयवी राज्यों की सरकारों के पास इतने और पर्याप्त द्रव्य साधन हों कि वे

---

१. अनुच्छेद ३०४ (ख) का परन्तुक (proviso)।

कनाडा में भी यही माना जाता है कि प्रान्तीय विधानमण्डल पुलिस या म्युनिसिपैलिटी (Municipality) या स्वास्थ्य के सम्बन्ध में स्थानीय प्रकार के विनियम पारित कर सकते हैं यद्यपि केन्द्रीय संसद् (Parliament) को वाणिज्य और व्यापार के विनियमन करने की व्यापक शक्तियां हैं।

सूची में वर्णित हैं भारत सरकार द्वारा आरोपित किए जा सकते हैं किन्तु राज्यो द्वारा सग्रहीत और विनियोजित किए जाते है।

(२) दूसरी श्रेणी के वे शुल्क है जिनको सघ आरोपित भी करता है और संग्रह भी करता है किन्तु जो राज्यो को सौंपे गए हैं। वे निम्न हैं।[1]

(क) कृषि-भूमि से अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार-विषयक शुल्क;

(ख) कृषि-भूमि से अन्य सम्पत्ति-विषयक सम्पत्ति शुल्क;

(ग) रेल, समुद्र या वायु से वाहित वस्तुओं या यात्रियो पर सीमा कर;

(घ) रेल-भाडों और वस्तु-भाडो पर कर;

(ङ) श्रेष्ठिचत्वरो (stock exchanges) और वायदा बाजारो के सौदों पर मुद्राक शुल्क से अन्य कर,

(च) समाचार-पत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनो पर कर;

(छ) अन्तर-राज्य वाणिज्य तथा व्यापार के प्रसग मे वस्तुओ के क्रय-विक्रय पर कर।

उपर्युक्त शुल्कों से जो शुद्ध आय होती है उसका कुछ अंश निश्चिततः केन्द्र-प्रशासित प्रदेशों को जाता है; और शेष द्रव्य भाग ससद् के निर्णय के अनुसार राज्यों में बाट दिया जाता है।

(३) तीसरी श्रेणी के वे शुल्क है जो संघ द्वारा आरोपित और संग्रहीत किए जाते है किन्तु जो संघ और राज्यो के बीच वितरित कर दिये जाते है। इस श्रेणी मे केवल आय-कर ही आता है। निगम-कर का बटवारा नही होता, उस पर केवल सघ का अधिकार है। कृषि-आय-कर पर राज्य का भी नियन्त्रण है इसलिए वह निगम-कर की श्रेणी में नही आता। आय-कर से प्राप्त द्रव्य धन का कुछ अश केन्द्र-प्रशासित प्रदेशो को निश्चिततः जाता है और उसका कुछ भाग सघ के व्ययो और परिलब्धियों (union emoluments) की ओर चला जाता है तथा शेष शुद्ध आय जो आय-कर से प्राप्त होकर बचती है, वह सघ और राज्यो मे और पुनः विभिन्न राज्यों में इस रीति से बाट दी जाती है जिस प्रकार कि वित्त आयोग की रिपोर्ट पर विचार करने के उपरान्त राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा निर्धारित करता है।[2]

भारत सघ के प्रयोजनों के लिए ससद् यदि चाहे तो ऐसे शुल्को या करो में अधिकारों द्वारा वृद्धि कर सकती है जो राज्यो को बाटे जाने वाले है।[3] किन्तु ससद् बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के ऐसे किसी कर या शुल्क में वृद्धि नही कर सकती जिन करो का सम्बन्ध या प्रभाव राज्यों के हितो पर पड़ता हो।[4]

(४) चतुर्थ श्रेणी में वे कर आते है जो सघ सूची मे वर्णित औषधीय तथा प्रसाधन सामग्री पर उत्पादन-शुल्क से इतर अन्य संघ-उत्पादन-शुल्क भारत सरकार द्वारा उद्गृहीत और सग्रहीत किए जाते हैं किन्तु वे शुल्क ससद् की आज्ञा द्वारा ही वितरित

१. अनुच्छेद २६९ २. अनुच्छेद २७०
३. अनुच्छेद २७१ ४. अनुच्छेद २७४

भारतीय सविधान की प्रारूप समिति ने सिफारिश की थी कि १९४८ की भारत की अस्थिर स्थिति को देखते हुए यह वाछनीय होगा कि १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने जिस रीति से द्रव्य साधनो का केन्द्र और प्रान्तो के बीच वितरण किया था उसी योजना को पाच वर्षों तक चालू रखा जाए और पाच वर्षों के बाद वित्त आयोग की स्थापना की जाए और उक्त आयोग इस समस्या पर पुनर्विचार करे। तद्नुसार, सविधान ने गणराज्य की प्रस्थापना के दो वर्षों के भीतर और उसके बाद प्रति पाच वर्षो के बाद या उससे पहले भी एक ऐसे वित्त आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था की है जिसका एक चेयरमैन होगा और चार अन्य सदस्य होगे। आयोग को सिफारिश करनी होगी कि केन्द्र और राज्यो के बीच करो द्वारा प्राप्त द्रव्य साधन किस प्रकार विभाजित किया जाए और सघ सरकार राज्यो को सहायक अनुदान किस सिद्धान्त के आधार पर दे।[1] इस प्रकार भारत सरकार ने सार्वजनिक राजस्वो के वितरण की समस्या को नए ढग से हल करने का प्रयास किया है। यह लचीली विधि है तथा राजस्वो के वितरण से सम्बन्धित सारी समस्या पर प्रति पाच वर्ष बाद पुनर्विचार हो सकता या उससे पहले भी विचार किया जा सकता है। पहला वित्त आयोग १६ अक्तूब १९५१ को नियुक्त किया गया था। उक्त आयोग के श्री के० सी० नियोगी समापति थे। १९५६ मे श्री सन्थानम के समापतित्व मे द्वितीय वित्त आयोग बना और २ दिसम्वर, १९६० को तीसरे वित्त आयोग की नियुक्ति हुई जिसकी रिपोर्ट १४ दिसम्वर, १९६१ को प्रस्तुत की गई।

राजस्वों का बंटवारा (Allocation of Revenues)—विधायी सूचियों (legislative lists) के कर तो अब भी प्राय: वही है जो भारत सरकार अधिनियम १९३५ के अनुसार थे। राज्य सूची के करो से सम्बन्धित सारा द्रव्य राज्यों के कोपो मे जाता है और सघ उन करो से प्राप्त धन को लेता है जो सघ सूची मे प्रगणित है, साथ ही सघ सरकार ऐसे करो से प्राप्त धन को लेती है जो किसी भी सूची मे प्रगणित नही हैं। समवर्ती सूची (concurrent list) मे करो का जिक्र नही है। राज्य सूची में प्रगणित कुछ करो से प्राप्त धन राज्यो के कोपो में जाता है, किन्तु सघ सूची में प्रगणित कुछ करो से प्राप्त धन का वटवारा पूर्णत: या अंशत: राज्य के हित मे हो सकता है। सविधान ने सघीय करो की चार श्रेणिया निर्धारित की हैं जिनसे प्राप्त धन पूर्णत: या अशत: राज्यो के कोपो मे जाता है:

(१) सघ द्वारा आरोपित किए जाने वाले किन्तु राज्यो द्वारा सग्रहीत और विनियोजित किए जाने वाले शुल्क विनिमय-पत्रो के सम्बन्ध में, धनादेशों के सम्बन्ध मे, प्रतिज्ञा अर्थ-पत्रो अथवा वचन-पत्रो के सम्बन्ध मे, वहन-पत्रो (bills of lading) के सम्बन्ध मे, साख-पत्र (letters of credit) के सम्बन्ध मे, आरोप लेखो (insurance policies) के सम्बन्ध मे, अश सक्रामण (transfer of shares) के सम्बन्ध मे, ऋण-पत्रो (debentures), प्रतिपुरुप पत्रो (proxies), और रसीदों (receipts) के सम्बन्ध मे तथा औपधीय और प्रसाधनीय सामग्री के सम्बन्ध मे ऐसे शुल्क जो सघ

१. अनुच्छेद २८०

देता रहेगा जब तक ससद् उक्त करों के विषय में निषेधाज्ञा न करे। भारत सरकार के प्रयोग में अथवा रेल-प्रशासन के प्रयोग में आनेवाली बिजली के लिए कोई राज्य बिना संसद् की आज्ञा के कोई कर या फीस वसूल नही कर सकता। बिना राष्ट्रपति की आज्ञा के कोई राज्य ऐसे प्राधिकारी द्वारा नियन्त्रित या दी गई पानी या बिजली की सुविधा पर करारोपण नही कर सकता जिसने उक्त पानी या बिजली की व्यवस्था अन्तर्राज्यिक नदियों या नदी घाटियों के विकास या विनियमन के लिए की हो।[1]

राज्य की सम्पत्ति और आय पर सघ सरकार कर नही लगा सकती। किन्तु उपर्युक्त विमुक्ति राज्य की सरकार द्वारा या उसकी ओर से किए जाने वाले किसी प्रकार के व्यापार या कारोबार के बारे में उस समय तक प्रभावी नही होगी जब तक कि ससद् विधि द्वारा घोषित न करे कि उपर्युक्त व्यापार या कारबार भी सम्बन्धित राज्य के सामान्य कर्तव्यों का भाग ही हैं।[2]

उधार लेने की शक्तियां (Powers of Borrowing)—सामान्यत यह माना ही जाता हैं कि प्रत्येक सरकार को उधार लेने की शक्तियां होती हैं इसलिए सामान्यतः सविधान में उधार लेने की विधियों के बारे मे या उस सम्बन्ध मे सीमा निश्चित करने की आवश्यकता नही होगी। किन्तु भारतीय सविधान ने इस सम्बन्ध मे स्पष्ट उपबन्ध दिए है। सघ की कार्यपालिका शक्ति को अधिकार दिया गया है कि वह भारत की सचित निधि की प्रतिभूति पर ऐसी सीमाओं के भीतर जिन्हे ससद् समय-समय पर नियत करे कर्ज या उधार ले सकती हैं।[3] इस प्रकार सघ सरकार की उधार लेने विषयक शक्ति पर संसद् के अधिनियम की शर्तों की सीमाए आरोपित कर दी गई हैं। केवल संघ पर ही नही, सविधान ने तो राज्यों की सरकारो की उधार लेने की शक्ति पर भी कुछ प्रतिबन्ध लगाए है; जब कि स्वय राज्यो के विधानमण्डल भी सम्बन्धित राज्यो पर कर्ज लेने के सम्बन्ध मे मर्यादाए आरोपित कर सकते है। कोई राज्य केवल भारत में ही उधार ले सकता है और वह तब तक कोई नया ऋण बिना संघ सरकार की अनुमति के नही ले सकता जब तक कि उसने अपना ऐसा पुराना ऋण न चुका दिया हो जो उसकी ओर सघ सरकार का वाजिब हो। सघ सरकार, ससद् द्वारा आरोपित शर्तों के अनुसार राज्यों को ऋण दे सकती हैं और प्रत्याभूति दे सकती है किन्तु ऐसे ऋणो की सीमा उससे अधिक नही हो सकती जो ससद् ने निश्चित कर दी है।[4]

वित्तीय आपातकालीन शक्तियां (Financial Emergency Powers)—भारतीय सविधान के अनुच्छेद ३६० में वित्तीय आपातकालीन शक्तियो के सम्बन्ध में उपबन्ध हैं। इन वित्तीय आपात शक्तियों का भारी महत्त्व है। वित्तीय आपात उद्घोषणा के प्रवर्त्तन-काल में राज्यो के पास कोई अन्य आय के स्रोत नही रह जाते; वे केवल उन्ही करो की आय पर गुजारा करते है जो राज्य सूची में प्रगणित है। इसका

१. अनुच्छेद २८८
२. अनुच्छेद २८९
३. अनुच्छेद २९२
४. अनुच्छेद २९३

किये जा सकते हैं।[1] इस श्रेणी में वर्णित औषधीय और प्रसाधन सामग्री पर लगने वाले उत्पादन शुल्क पूर्णतया राज्यों को सौंपे गए हैं जैसा कि पद (१) में अभी-अभी वर्णित किया जा चुका है।[2]

सहायक अनुदान (Grants-in-aid)—संविधान ने संघ की ओर राज्यों के लिए तीन प्रकार के सहायक अनुदानों की व्यवस्था की है। अनुच्छेद २७३ के अनुसार असम, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल को पटसन और पटसन से बनी हुई वस्तुओं पर निर्यात शुल्क के प्रत्येक वर्ष के शुद्ध आगम के किसी भाग को सौंपने के स्थान में उक्त राज्यों को सहायक अनुदान के रूप में भारत की संचित निधि से ऐसी राशियां दी जाती है जैसी कि राष्ट्रपति द्वारा विहित की जाए। पटसन या पटसन से बनी हुई वस्तुओं पर जब तक भारत सरकार कोई निर्यात शुल्क उद्‌गृहीत करती रहेगी अथवा इस संविधान के प्रारम्भ से दस वर्षों की समाप्ति तक, या इन दोनों में से जो भी पहले हो उसके होने तक इस प्रकार विहित राशियां भारत की संचित निधि पर भारित बनी रहेंगी, और वे राज्यों को दी जाती रहेंगी।

अनुच्छेद २७५ में संघ द्वारा कतिपय राज्यों को दिये जाने वाले अनुदान सम्बन्धी सामान्य उपबन्ध हैं। संसद् विधि द्वारा उपबन्धित कर सकती है और ऐसे राज्यों को सहायक अनुदानों के रूप में ऐसी आर्थिक सहायता दिला सकती है जिन्हें धन की आवश्यकता है। किन्तु संसद् ही निर्धारित करती है कि किसी राज्य को दी जाने वाली धनराशि अथवा अनुदान की धनराशि कितनी हो; और ऐसी धनराशि विभिन्न राज्यों की आवश्यकताओं के अनुरूप भिन्न होती है। इसके अतिरिक्त संघ का यह वैधानिक कर्तव्य है कि वह अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याणार्थ स्वीकृत विकास योजनाओं की धन से सहायता तथा पूर्ति करे और अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन का स्तर उच्चतर बनाने के लिए भी उचित धनराशि के अनुदानों से सहायता करे। अनुसूचित जनजाति क्षेत्रों (Tribal Areas) को विकसित करने के उद्देश्य से संविधान ने असम राज्य को विशेष सहायक अनुदान देने की व्यवस्था की है।

इसके अतिरिक्त अनुच्छेद २८२ संघ और राज्य सरकारों को आम आज्ञा देता है कि वे किसी सार्वजनिक प्रयोजन के हेतु कोई भी अनुदान दे सकते हैं चाहे वह प्रयोजन ऐसा भी न हो कि जिसके विषय में यथास्थिति संसद् या उस राज्य का विधान-मण्डल विधि बना सकते हो।

करों से विमुक्ति (Exemption from Taxation)—भारतीय संविधान ने भी १९३५ के भारत सरकार अधिनियम का अनुसरण करते हुए उपबन्धित किया है कि एक राज्य की सम्पत्ति पर दूसरा राज्य कर नहीं लगा सकता। अनुच्छेद २८५ उपबन्धित करता है कि जहां तक संसद् विधि द्वारा अन्यथा उपबन्धित न करे, वहां तक किसी राज्य द्वारा आरोपित सब करों से संघ की सम्पत्ति विमुक्त होगी। किन्तु साथ ही संघ ऐसे चालू और प्रचलित कर स्थानीय अधिकारियों को उस समय तक

१. अनुच्छेद २७२ २. अनुच्छेद २६८

Ram Goapl : *Lingistic Affairs of India.*

Rao, Narayan, T. S. : *Distribution of Legislative Powers.* The Indian Journal of Political Sciences, October-December, 1950.

-Do- : *Report of the Committee on Indian Constitutional Reforms* (1933-34) Vol. I.

-Do- : *Report on the Indian Constitutional Reforms* (1918).

-Do- : *Report of the Nehru Committee* (1928).

-Do- : *Report of the States Reorganisation Commission.*

-Do- *Report of the Indian Statutory Commission* (1930). Vol. II.

Sharma, B. M. : *Relations between the Centre and the Units,* The Indian Journal of Political Science, July-September, 1951.

Srinivasan, N. : *Democratic Government of India,* Chapters XIII, XX.

Venkatarao, V. : *The Political Map of India,* The Indian Journal of Political Science, April-June 1956

कारण यह है कि वित्तीय आपात उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल में राष्ट्रपति विधान के किसी भी ऐसे उपबन्ध को निलम्बित कर सकता है जिसका सम्बन्ध या तो अनुदानो से हो या सघ के करो की आय मे मागबँटाने से हो।[1] यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिससे भारत अथवा उसके राज्य-क्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व संकट मे है तो वह उद्घोषणा द्वारा घोषित करेगा कि सघ की कार्यपालिका शक्ति किसी राज्य को वित्तीय औचित्य सम्बन्धी ऐसे निदेश देने तक विस्तृत होगी जिन्हे राष्ट्रपति उस प्रयोजन के लिए देना आवश्यक समझे।[2] ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति राज्य सरकार को आदेश दे सकता है कि वह राज्य विधान-मण्डल द्वारा पारित धन विधेयको को राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित करके रख ले।[3]

भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक का नियन्त्रण (Control by the Comptroller and Auditor-General of India)—भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है;[4] तथा राज्यो के लेखाओं (account) के सम्बन्ध मे ससद् विधि द्वारा भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक को ऐसी शक्तिया और ऐसे कर्तव्य सौप सकती है जिन्हे वह उचित समझे।[5] किन्तु जब तक संसद् ने लेखाओ के सम्बन्ध मे कोई व्यवस्था विधि द्वारा नही की है तब तक भारत का नियन्त्रक महालेखा परीक्षक राष्ट्रपति के अनुमोदन से राज्यो के लेखाओ को ऐसे रूप में रखवाने की शक्ति धारण करेगा जैसी वह विहित करे।[6]

Suggested Readings

Adarkar, B P. : *The Principles and Problems of Public Finance.*

Amal Ray : *Inter Governmental Relations in India.*

Basu, D. D. : *Commentary on the Constitution of India,* pp. 599-715.

Dash, B. C. *States Reorganisation Commission and Orissa,* The Indian Journal of Political Science, October-December 1955.

Gadgil D. R. : *The Federating India.*

Gledhill, A. : *The Republic of India,* pp. 70-92.

Jennings, I. : *Some Characteristics of the Indian Constitution.*

Joshi, G. N. : *The Constitution of India,* pp. 263-310.

-Do- : *Proceedings of the Constituent Assembly* Vol. IV.

१. अनुच्छेद ३५४
२. अनुच्छेद ३६० (३)
३. अनुच्छेद ३६० (४) (२)
४. अनुच्छेद १४८
५. अनुच्छेद १४९
६. अनुच्छेद १५०

उनको गवर्नर-जनरल ही किसी निश्चित और सिद्ध आरोप के आधार पर अपदस्थ भी कर सकता है। यद्यपि कनाडा का लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर कनाडा की सघ सरकार के द्वारा नियुक्त किया जाता है और उसी सरकार की सत्ता द्वारा वह अपदस्थ किया जा सकता है, फिर भी वह कनाडा अधिराज्य का सेवक नही है और उसके ऊपर कनाडा के मन्त्रिमण्डल का सीधा नियन्त्रण नही है।[1] कनाडा मे जहा किसी लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर की एक बार नियुक्ति हो गई, फिर वह भी आस्ट्रेलिया के किसी राज्य के गवर्नर के समान स्थिति का उपभोग करने लगता है। वह सम्राट् का प्रतिनिधि है, न कि सघ सरकार का अभिकर्त्ता। और वह प्रान्त के शासन का सर्वेसर्वा होता है। "इसलिए कनाडा मे जिस प्रकार प्रान्तीय कार्यपालिका प्रधान की नियुक्ति होनी है, वह सघीय सिद्धान्त के अधिक विरुद्ध नही है।"[2]

राज्यपाल—संघ सरकार का प्रतिनिधि (Governor—an agent of the Union Government)—भारतीय सविधान ने राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में कनाडा की पद्धति का अनुसरण किया है। किन्तु कनाडा के विपरीत किसी भारतीय राज्य का राज्यपाल अपने आपको संघ सरकार का अभिकर्ता समझता है और वह प्राय. उसी प्रकार आचरण भी करता है। यह अभिसमय है कि किसी राज्य के लिए राज्यपाल नियुक्त करते समय सम्बन्धित राज्य के मुख्य मन्त्री से भी पूछ लिया जाता है। किन्तु इस अभिसमय से भी स्थिति मे कोई अन्तर नही पडता। राज्यपाल यह कैसे भूल जायेगा कि वह सघ सरकार के सत्ताधारी दल का नामाकित और नियुक्त व्यक्ति है और उसका सामान्य कार्यकाल पांच वर्ष है और वह उस कालावधि मे राष्ट्रपति के 'प्रसाद-पर्यन्त' अपने पद से नही हटाया जा सकता; और राष्ट्रपति के 'प्रसाद-पर्यन्त' के माने हैं कि वह संघ की सरकार के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद से हटाया नही जा सकता। इसलिए सघीय मन्त्रिमण्डल किसी राज्यपाल को उसके सामान्य कार्यकाल मे भी केवल किसी राजनीतिक आधार पर हटा सकता है यद्यपि राज्यपाल को अपने पद से हटाने के लिए कोई कारण देने की आवश्यकता नही है। यह कनाडा की प्रथा के प्रतिकूल है। कनाडा के किसी प्रान्त के लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर को गवर्नर-जनरल किसी 'निश्चित और सिद्ध आरोप' के आधार पर ही अपदस्थ कर सकता है। सविधान ने राज्यपाल से अपेक्षा की है कि वह कुछ मामलो मे स्वविवेक से विनिश्चय कर सकता है।[3] यह गम्भीर खतरे की बात है क्योकि राज्यपाल, सघ सरकार का नियुक्त अधिकारी होने के कारण कुछ ऐसे कृत्य कर सकता है जो उसकी मन्त्रि-परिषद् की रुचि के अनुकूल न हो; विशेषकर ऐसी स्थितियो मे जहा केन्द्र और राज्य के हितो मे सघर्ष हो, ऐसी सम्भावना बढ़ जाती है। अनुच्छेद ३५६ स्पष्टतः इगित करता है कि राज्यपाल केन्द्रीय शासन का अभिकर्त्ता है क्योकि राज्यपाल की रिपोर्ट पर ही तो राष्ट्रपति किसी राज्य में शासन-तन्त्र के विफल

1. Liquidators of Maritime Bank *Vs.* Receiver General, cited by Shri D.D. Basu in his "Commentary on the Constitution of India", p. 470.

2. Kennedy : Some Aspects of the Constitutional Law, p. 79 and Dawson : Government of Canada, p. 37.

३. अनुच्छेद १६३

अध्याय ६

राज्य की कार्यपालिका
(THE STATE EXECUTIVE)

राज्य पाल की नियुक्त (Appointment of Governor)—राज्य के राज्यपाल को राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा-सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त करता है। राज्यपाल की पदावधि पाच वर्ष है और वह राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर बना रहता है। सविधान सभा ने जिस प्रान्तीय सविधान समिति की स्थापना की थी, उसने सिफारिश की थी कि राज्यपाल सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचित हुआ करे। किन्तु प्रारूप समिति (Drrftıng Comm'rtee) ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और यह राय व्यक्त की कि "विधानमण्डल मे जब राज्यपाल और मुख्य मन्त्री दोनो सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचित व्यक्ति होंगे तो इससे सघर्षो की सम्भावना हो सकती है।"[1] प्रारूप समिति ने राज्यपालो की नियुक्ति का एक वैकल्पिक मार्ग सुझाया, कि "किसी राज्य का विधानमण्डल चार नाम चुने जिनके सभी राज्य के निवासी होने की शर्त नही होगी, और उन चार नामो मे से भारत का राष्ट्रपति किसी एक को राज्य के राज्यपाल के लिए नामाकित कर दे।"[2] किन्तु सविधान सभा ने उक्त दोनों प्रस्तावों को अस्वीकृत कर दिया और यह निश्चय किया कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नामाकित हो।

इस प्रकार राज्य का राज्यपाल, भारत सरकार का नियुक्त पुरुष होता है और उसे भारत सरकार ही किसी भी समय अपदस्थ भी कर सकती है। यह प्रथा उस सघीय सिद्धान्त के विरुद्ध है जिसके अनुसार सयुक्त राज्य अमेरिका में आचरण होता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे किसी राज्य के गवर्नर या राज्यपाल को उसी राज्य के लोग निर्वाचित करते हैं और उसको केवल राज्य के विधानमण्डल द्वारा सफल महाभियोग के द्वारा ही अपदस्थ किया जा सकता है। आस्ट्रेलिया के किसी राज्य के गवर्नर की नियुक्ति इग्लैण्ड का सम्राट्, ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर करता है। किन्तु ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल, सम्राट् को राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध मे मन्त्रणा देने से पूर्व सम्बन्धित राज्य के प्रधान मन्त्री की राय जान लेता है। इस प्रकार आस्ट्रेलिया के किसी राज्य का गवर्नर ब्रिटिश सम्राट के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर बना रहता है और वह किसी भी प्रकार आस्ट्रेलिया के गवर्नर-जनरल के प्रति उत्तरदायी नही है। इसके विपरीत कनाडा के प्रान्तों के लेफ्टिनेण्ट-गवर्नरों को सपरिषद् गवर्नर-जनरल नियुक्त करता है; अर्थात् गवर्नर-जनरल कनाडा के मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर लेफ्टिनेण्ट-गवर्नरो की नियुक्ति करता है और

1. Draft Constitution of India, p. VII.
2. *Ibid*, p. VII.

को इस संविधान से ठीक पहले दिए जाते थे।[1] राज्यपाल की पदावधि में उसकी उपलब्धियां और भत्ते घटाए नहीं जा सकते।[2]

राज्यपाल की नियुक्ति के विषय में दो अभिसमय भली प्रकार स्थापित हो गए हैं। प्रथम, यह कि राज्यपाल ऐसा व्यक्ति हो जो उस राज्य का रहने वाला न हो जहां उसकी नियुक्ति होने की सम्भावना है। द्वितीय, यह कि जिस राज्य में नियुक्ति हो रही हो उस राज्य को वह व्यक्ति स्वीकृत हो। इस विषय में केन्द्रीय सरकार राज्य के मुख्य मन्त्री से परामर्श कर लेती है। प्रत्येक राज्यपाल तथा प्रत्येक व्यक्ति, जो राज्यपाल के कृत्यों का निर्वहन करता है अपने पद ग्रहण करने से पूर्व, सम्बन्धित राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के समक्ष निश्चित और विहित शब्दों में शपथ या प्रतिज्ञान करता है।[3]

राज्यपाल अपने पद के निर्वहन में जो कृत्य करता है अथवा अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के निर्वहन में वह जो कृत्य करता है, उनके लिए वह किसी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं है। किसी राज्य के राज्यपाल के विरुद्ध उसकी पदावधि में किसी न्यायालय में दण्ड विधि के अनुसार कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती और न ऐसी कोई कार्रवाई चालू ही रखी जा सकती है। उसकी पदावधि में उसे बन्दी या कारावासी करने के लिए किसी न्यायालय से कोई आदेशिका नहीं निकाली जा सकती। राज्यपाल के विरुद्ध अपने वैयक्तिक रूप में किए गए किसी कार्य के बारे में राज्यपाल के विरुद्ध अनुतोष की मांग करने वाली कोई व्यवहार कार्रवाइयां उसकी पदावधि में किसी न्यायालय में तब तक सस्थित नहीं की जा सकती जब तक कि कार्रवाइयों के स्वरूप, उनके लिए वाद का कारण, ऐसी कार्रवाइयों के सस्थित करने वाले पक्षकार का नाम, वितरण तथा उससे मांग किए जाने वाले अनुतोष का वर्णन करने वाली लिखित सूचना को राज्यपाल को दिए जाने के पश्चात् दो मास का समय न बीत गया हो।[4]

---

१. द्वितीय अनुसूची भाग (क)

२. अनुच्छेद १५८(४)

३. अनुच्छेद १५९। शपथ या प्रतिज्ञान का विहित स्वरूप यह है: "मैं...... अमुक......ईश्वर की शपथ लेता हूं
————————————कि मैं श्रद्धापूर्वक...(राज्य का नाम) के राज्यपाल का कार्यपालन सत्य निष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूं
(अथवा राज्यपाल के कृत्यों का निर्वहन) करूंगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूंगा और मैं......(राज्य का नाम) की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूंगा।"

४. अनुच्छेद ३६१

हो जाने की घोषणा कर सकता है और फिर उक्त राज्य का शासन-संचालन अपने हाथों में ले सकता है।

वास्तविक व्यवहार (Actual Practice)—संविधान सभा में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि राज्यपाल केन्द्रीय सरकार का अभिकर्त्ता नहीं होगा। प्रारूप समिति को भी यही आशा थी। श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने यह बात जोर देकर कही थी। लेकिन व्यवहार में यह नहीं हुआ है। केरल में राज्यपाल के प्रतिवेदन पर जिस प्रकार मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ किया गया, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल केन्द्रीय सरकार का प्रतिनिधि मात्र है।

कमांडर नानावती को बम्बई उच्च न्यायालय ने दंड दिया था। कमांडर नानावती ने उच्चतम न्यायालय में अपील कर रखी थी। लेकिन, बम्बई के राज्यपाल ने इस अपील का निपटारा होने तक उच्च न्यायालय के दंड को स्थगित कर दिया। इस सम्बन्ध में उसने केन्द्रीय सरकार से राय ले ली थी। यद्यपि इसे केन्द्रीय सरकार का निदेश नही कहा जा सकता, फिर भी यह उचित नही था। बम्बई उच्च न्यायालय ने इस पर खेद प्रकट किया था।

राज्यपाल को नामांकित व्यक्ति रखने के पीछे वास्तविक विचार यह था कि राज्य का प्रधान ऐसा व्यक्ति हो जो अपनी स्थिति को साधारण स्तर से ऊंचा बनाए रख सके और बिना किसी राजनीतिक विचारों की अपेक्षा रखते हुए सन्तुलन स्थापित कर सके। अवसर आने पर जो स्वयं अपनी शक्ति के आधार पर केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार से विरोध भी प्रकट कर सके। अतएव राज्यपाल से ऐसी ही आशा की जाती है कि वह न तो राज्य मन्त्रिमण्डल के हाथों में कठपुतली हो और न ही वह केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का केवल एक उपकरण हो।

राज्यपाल नियुक्त के लिए अर्हताएं और उक्त पद के लिए शर्तें (Qualifications for Appointment as Governor and Conditions of the Office)—कोई व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त होने का पात्र न होगा जब तक कि वह भारत का नागरिक न हो तथा पैंतीस वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो। राज्यपाल को न तो संसद् का सदस्य होना चाहिए और न किसी राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य होना चाहिए। यदि संसद् के किसी सदन का या राज्य के किसी विधानमण्डल का वह सदस्य है तो ऐसे किसी सदस्य के राज्यपाल नियुक्त हो जाने पर यह समझा जाएगा कि उसने राज्यपाल होने की तिथि से सम्बन्धित विधानमण्डल की सदस्यता त्याग दी है।[1] राज्यपाल लाभ के किसी अन्य पद को धारण नहीं कर सकता। राज्यपाल को बिना किराया दिए, अपने पदावासो के उपयोग का हक है तथा उसको उन उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारो, जो संसद् निर्मित विधि द्वारा निर्धारित किए जाएं का हक है। जब तक संसद् विधि द्वारा अन्यथा निर्णय न करे, संविधान ने आदेश दिया है कि राज्यपाल को ५,५०० रु० मासिक वेतन तथा ऐसे भत्ते भी दिए जाए जैसे कि भारत के भूतपूर्व गवर्नरों

1. अनुच्छेद १५८

के पूर्वानुमोदन से कुछ आदिमजाति क्षेत्रों का प्रशासन स्वविवेक से करेगा।[1] किन्तु उक्त प्रशासन भी राज्यपाल राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में ही करेगा और वह भी स्वायत्तशासी जिलान्तर्गत किसी आदिमजाति[2] क्षेत्र की जिला परिषद् को दिए जाने वाले ऐसे स्वामित्व के अश के बारे मे यदि कोई विवाद पैदा हो तो ही वह (राज्यपाल) स्वविवेक से राशि निर्धारित कर सकेगा और इस प्रकार वह एक ओर असम सरकार तथा दूसरी ओर आदिमजाति क्षेत्र की जिला परिषद् के बीच के विवाद को स्वविवेक से शान्त कर सकेगा।[3] राज्यपाल द्वारा प्रयुक्त स्वविवेक पर किसी प्रकार का आक्षेप नही किया जा सकता और उसके प्रयोग मे उसका निर्णय अन्तिम होता है। साथ ही सविधान के अधीन राज्यपाल को ही यह अधिकार दिया गया है कि वह इस बात का स्वय निश्चय करे कि किस मामले मे उसने स्वविवेक के अनुसार कार्रवाई करनी है। इस विषय में उसका निर्णय अन्तिम समझा जाएगा।

इस सम्बन्ध मे भारत के राष्ट्रपति और भारत के किसी राज्य के राज्यपाल की स्थितियो मे भिन्नता है यद्यपि देखने मे यही प्रतीत होता है कि जिस प्रकार का ससदीय शासन केन्द्र में है उसी प्रकार का ससदीय शासन राज्यो में भी है। एक ओर राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक है कि अपनी मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा के अनुसार ही आचरण करे और सविधान ने राष्ट्रपति को किसी भी प्रकार के कृत्यो के निर्वहन मे स्वविवेक की छूट नही दी है; किन्तु इसके विपरीत सविधान ने राज्यपालो को अधिकार दे दिया है कि वे अपने स्वविवेकी कृत्यो के निर्वहन मे स्वविवेक से काम ले सकते है; और इस प्रकार के निर्णयो के करने मे राज्यपालो को अपने मन्त्रियो से परामर्श लेना या उस परामर्श पर आचरण करना आवश्यक नही समझा गया है। सविधान मे प्रयुक्त वाक्याश 'स्वविवेक से' १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की याद दिलाता है जिसमें यह वाक्याश प्रयुक्त किया गया था। किन्तु १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने प्रान्तीय गवर्नर के स्वविवेकी अधिकार-क्षेत्र की स्पष्ट सीमाए निर्धारित कर दी थी किन्तु भारतीय सविधान ने ऐसा नही किया है। भारत सरकार अधिनियम, १९३५ के विपरीत भारतीय सविधान ने राज्यपाल मे अधिकार विहित किया है कि वह निर्णय कर सकता है कि किसी विषय को वह स्वविवेक से निर्णय करे और उक्त विषय मे स्वविवेक से दिया गया उसका निर्णय अन्तिम होगा। कई लेखको ने बताया है कि केवल असम के राज्यपाल को छोड़ कर और किसी राज्यपाल को स्वविवेक के अनुसार कार्य करने की छूट नही है; और असम के राज्यपाल की स्वविवेकी स्वतन्त्रता भी अनुसूचित में आदिम-क्षेत्रों के प्रशासन से सम्बन्धित विषयों तक ही सीमित है और वह भी विशेष रूप से खनन-अधिकार शुल्कों (mining royalties) के सम्बन्ध में है। इसलिए श्री दुर्गादास बसु का कथन है: "इसलिए किसी सीमा तक सविधान के अनुच्छेद १६३ मे 'स्वविवेक से' (in his discretion) वाक्याश के प्रयोग को नीति-विरुद्ध या नियम-विरुद्ध कहा जा सकता है।"[4]

---

१. छठी अनुसूची, अनुच्छेद १८(३) २. वही ९(२)
३. अनुच्छेद १६३(२)
4. Shri Basu D. D. "Commentary on the Constitution of India," p. 475.

राज्यपाल ५ साल के लिए पद ग्रहण करता है परन्तु यह पदावधि बढ़ाई भी जा सकती है। वह इस पदावधि के समाप्त होने से पहले भी त्याग-पत्र दे सकता अथवा पद से हटाया जा सकता है। एक ऐसा अभिसमय बन गया है कि राज्यपाल का पद अचानक रिक्त हो जाने पर राज्य का मुख्य न्यायाधीश उसके स्थान पर काम करता है परन्तु श्री श्रीप्रकाश के मतानुसार यह अभिसमय हितकर नहीं है (श्री श्रीप्रकाश स्वयं राज्यपाल के पद पर आसीन रह चुके हैं)। प्रान्तीय संविधान समिति ने प्रस्तावित किया था कि प्रत्येक राज्य में एक उप-राज्यपाल की भी नियुक्ति होनी चाहिए। किन्तु प्रारूप समिति ने इस प्रस्ताव को रद्द करते हुए कहा था : "हम उप-राज्यपालों को आवश्यक नहीं समझते क्योंकि राज्यपाल जब तक अपने पद पर है, उप-राज्यपाल के करने के लिए कोई काम ही नहीं होगा। केन्द्र में बात ही और है क्योंकि उप-राष्ट्रपति पदेन राज्य सभा का सभापति भी है; किन्तु अधिकतर राज्यों में उच्च सदन या द्वितीय सदन नहीं होगा इसलिए ऐसे राज्यों में उप-राज्यपालों को वे कृत्य नहीं सौंपे जा सकते जो केन्द्र में उप-राष्ट्रपति को सौंपे गए हैं। संविधान के प्रारूप में इस बात की व्यवस्था कर दी गई है कि या तो सम्बन्धित राज्य का विधानमण्डल या संघ का राष्ट्रपति आकस्मिक आवश्यकता आने पर राज्यपाल के कर्त्तव्यों के निर्वहन के लिए उपयुक्त व्यवस्था कर सकता है।"[1]

१९५६ के संविधान (सातवां) संशोधन अधिनियम के अन्तर्गत अनुच्छेद १५३ में दो या इससे अधिक राज्यों के लिए एक ही राज्यपाल को नियुक्त करने के लिए भी व्यवस्था बनाई गई है। पर ऐसे राज्यों के विधान मण्डल तथा मन्त्रिपरिषद् पृथक्-पृथक् रहेंगी। परन्तु असम और नागालैण्ड और कुछ समय के लिए पंजाब और हरियाणा को छोड़ कहीं एक से अधिक राज्यों का एक राज्यपाल नहीं रहा है। अब नागालैण्ड की विधान सभा ने भी अपने राज्य के लिए पृथक् राज्यपाल की नियुक्ति का प्रस्ताव पास कर दिया है। हरियाणा में पहले ही अलग राज्यपाल नियुक्त हो चुका है।

राज्यपाल की शक्तियाँ
(Powers of the Governor)

राज्यपाल की वैधानिक स्थिति (Constitutional Position of the Governor)—केन्द्र के समान ही राज्यों की शासन-व्यवस्था भी संसदीय प्रणाली की है। संविधान ने उपबन्ध किया है कि "जिन बातों में संविधान द्वारा या संविधान के अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कृत्यों को स्वविवेक से करे, उन बातों को छोड़ कर राज्यपाल को अपने कृत्यों का निर्वहन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए मन्त्रि-परिषद् होगी।"[2] संविधान ने राज्यपाल की स्वविवेकी शक्तियों की परिभाषा नहीं की है, केवल एक स्थान पर संकेत मिलता है कि राज्यपाल, राष्ट्रपति

1. Draft Constitution of India, pp. VII-VIII.
२. अनुच्छेद १६३(१)।

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के मतानुसार राज्यपाल सांविधानिक औचित्य का प्रहरी है और राज्य को केन्द्र के साथ जोड़े रखने के लिए एक कडी है। जवाहरलाल नेहरू ने भी राज्यपाल की नियुक्ति पर बहस करते हुए इस बात पर जोर दिया है कि निर्वाचित राज्यपाल होने से यह कड़ी कमजोर हो जाएगी और प्रांतीयता को बढावा मिलेगा। डाक्टर अम्बेदकर ने राज्यपाल के कृत्यो और कर्त्तव्यों के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जहां अपने कृत्यों के वहन करने में राज्यपाल स्वविवेक से काम नही ले सकता बल्कि अपने मन्त्रियो के परामर्श के अनुसार काम करता है, वहा अपने कर्त्तव्यो का पालन करने में उसे स्वविवेक से काम लेना होगा। उन्होंने कहा है कि राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार के अधीन काम करना पड़ेगा और राज्यपाल को यह देखने के लिए कि राष्ट्रपति को भली-भांति जानकारी मिलनी रहे कि उन नियमो का जिनके अनुसार राज्य सरकारें सविधान के अनुसार और केन्द्रीय सरकार के अधीन काम करती हैं, पालन किया जा रहा है। अनुच्छेद ३६५ के अधीन संघीय सरकार को राज्य सरकारो को हिदायते भेजने का अधिकार दिया गया है और यह देखना राज्यपाल का कर्त्तव्य है कि उन हिदायतो पर अमल किया जाए। अमल न होने पर राज्यपाल ही राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजता है। और इस आशय की रिपोर्ट आने पर राष्ट्रपति के लिए यह वैध है कि उस राज्य में सविधान को निलम्बित कर दे और राज्य का शासन अपने हाथ में ले ले। उस हालत में राज्यपाल ही राष्ट्रपति के कर्त्ता (agent) के रूप में राज्य का शासन चलाता है। जून १, १६४६ को सविधान सभा मे डाक्टर अम्बेदकर ने कहा था कि राज्यपाल को कुछ स्वविवेकी शक्तिया प्रदान कर देने से उत्तरदायी शासन का ह्रास नही होता। पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल श्री धर्मवीर द्वारा सयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल को हटा कर श्री प्रफुल्ल चन्द्र घोष के नए मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति के विरुद्ध दी गई श्री एम०पी०शर्मा की अर्जी को खारिज करते हुए कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री बी० सी० मित्र ने भी यही कहा था कि राज्यपाल को एक मन्त्रि-परिषद् को हटाने और नये मन्त्री नियुक्त करने के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण, अपवर्जी, अमर्यादित और अपृच्छ्य स्वविवेकी अधिकार प्राप्त हैं।

राज्यपाल निम्न आशयो से अपने स्वविवेकी अधिकारो का प्रयोग कर सकता है —

१. मुख्य मन्त्री की नियुक्ति।
२. मन्त्रि-परिषद् को हटाना।
३. विधान सभा को भग करना।
४. वैधानिक और प्रशासकीय मामलों के सम्बन्ध मे मुख्य मन्त्री से सूचना प्राप्त करना।
५. किसी एक मन्त्री द्वारा लिए गए निर्णय को मन्त्रि-परिषद् के विचाराधीन लाने के लिए मुख्य मन्त्री को आदेश देना।
६. विधानमण्डल द्वारा पास किये गए किसी विधेयक को पुनः विचार के लिए वापिस कर देना।

कलकत्ता के उच्च न्यायालय ने मुनिलकुमार बोस एवं साथी बनाम मुख्य सचिव, पश्चिम बंगाल सरकार के मामले मे निर्णय देते हुए कहा था : "आधुनिक संविधान के अनुसार कोई राज्यपाल बिना मन्त्रियो का परामर्श लिए कोई निर्णय कर ही नही सकता। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार स्थिति दूसरी थी उस समय प्रान्तीय गवर्नर स्वविवेक से कुछ कृत्य कर सकता था अर्थात् वह बिना अपने मन्त्रियों की सलाह लिए स्वविवेक से स्वयं निर्णय कर सकता था; अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय राज्यपाल या गवर्नर अपने मन्त्रियो का परामर्श लेकर भी व्यक्तिगत रूप से कुछ भी निर्णय कर सकता था किन्तु अपने व्यक्तिगत निर्णयो मे उसे मन्त्रियो का परामर्श स्वीकार करना अनिवार्य नही था। किन्तु आधुनिक सविधान के अनुसार राज्यपाल न तो 'स्वविवेक से' कार्य कर सकता है और न 'अपनी व्यक्तिगत हैसियत से' ही वह कोई काम कर सकता है; इसलिए अब आवश्यक है कि राज्यपाल अपने मन्त्रियो के परामर्श के अनुसार कार्य करे। भारत के महाधिवक्ता के अनुसार राज्यपाल की वैधानिक स्थिति यही है और हम उनके विचारो से सहमत हैं।" कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय का १९५३ में कोचिन-त्रावनकोर उच्च न्यायालय ने समर्थन किया। उच्चतम न्यायालय ने भी यही मत व्यक्त किया कि राज्यपाल को कार्यपालिका का औपचारिक और सावैधानिक अधिपति बनाया गया है और कार्यपालक शक्तिया मन्त्रियो अथवा मन्त्रिमण्डल मे विहित हैं।

किन्तु वास्तविक स्थिति यह नही है। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार गवर्नर को अपने स्वविवेकी कृत्यो के करने मे गवर्नर-जनरल के आदेशो का पालन करना आवश्यक था। भारतीय संविधान ने भी ऐसे अनेक अवसरो पर यह आवश्यक माना है कि राज्यपाल को राष्ट्रपति से आदेश प्राप्त हो और राज्यपाल का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह राष्ट्रपति के उक्त आदेशों का पालन करे चाहे उसकी मन्त्रि-परिषद् उसे उस सम्बन्ध मे कुछ भी परामर्श दे। साथ ही राज्यपाल को यह भी नही भूलना चाहिए कि वह सघ सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी है और वह केवल राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पद पर बना रह सकता है। और यह अनिवार्य सत्य है कि राज्यपाल तब तक सदैव सघीय सरकार के आदेशो का पालन करने को बाध्य है जब तक कि राज्य सरकार संघीय सरकार के आदेशो का ठीक ढग से पालन नही करती। राज्य सरकारें उस समय तक तो सम्भवत. सघीय सरकार के आदेशो की अवहेलना नहीं करेंगी जब तक कि केन्द्र में और राज्यो मे एक ही दल की सरकारें शासन करती हैं। किन्तु फिर भी विरोध की सम्भावनाएं तो हैं ही और यदि केन्द्र मे और राज्यो मे विभिन्न दलो की सरकारें हैं तो ऐसा सम्भव हो सकता है कि कोई राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार के आदेशों की अवहेलना कर दे। यह राज्यपाल का वैधानिक कर्त्तव्य है; और इस कर्त्तव्य के निर्वहन में राज्यपाल को स्वविवेक के अनुसार निर्णय करना चाहिए; कि यदि राज्य मे किसी प्रकार की आपातकालीन स्थिति उत्पन्न हो जाए तो राष्ट्रपति को तत्सम्बन्धी सूचना दे दे। यदि उक्त राज्य में सविधान निलम्बित हो जाता है, तो फिर राष्ट्रपति राज्य का प्रशासन स्वयं राज्यपाल के माध्यम से चलाता है।

जिन विषयो में राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने स्वविवेक से कार्य करे, उन बातो को छोड़ कर राज्यपाल को अपने कृत्यों का निर्वहन करने मे सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होती है जिसे राज्यपाल स्वयं नियुक्त करता है और जिसका प्रधान मुख्य मन्त्री होता है।[1] यह विनिश्चय स्वय राज्यपाल ही कर सकता है कि किस विषय पर उसे स्वविवेक से निर्णय करना चाहिए। राज्यपाल का स्वविवेक से किया हुआ विनिश्चय अन्तिम होता है और उसके किसी निर्णय पर किसी न्यायालय में जाच-पड़ताल अथवा आपत्ति नही की जा सकती।[2] क्या मन्त्रियों ने राज्यपाल को कोई मन्त्रणा दी, और यदि दी तो क्या दी, इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाच नही की जा सकती।[3] राज्य की सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए तथा विभिन्न मन्त्रियों में शासन के कार्य के बटवारे के लिए राज्यपाल ही नियम बनाता है।[4] मन्त्रीगण वैधानिकतः राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त अपने पदो पर बने रहते हैं। यद्यपि व्यवहारत वे विधान सभा के प्रसाद-पर्यन्त अपने पदों पर बने रहते हैं।

सविधान उपबन्धित करता है कि प्रत्येक राज्य के मुख्य मन्त्री का यह कर्त्तव्य होगा कि वह राज्य-कार्यो के शासन-सम्बन्धी मन्त्रि-परिषद के समस्त विनिश्चय तथा विधान के लिए सभी प्रस्थापनाएं राज्यपाल के पास पहुचाए।[5] मुख्य मन्त्री का यह भी कर्त्तव्य होगा कि वह राज्य-कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी तथा विधान के लिए प्रस्थापनाओं सम्बन्धी जिस जानकारी को राज्यपाल मगावे, उसे दे।[6] साथ ही मुख्य मन्त्री का यह भी कर्त्तव्य है कि वह किसी विषय को, जिस पर मन्त्री ने विनिश्चय कर दिया हो किन्तु मन्त्रि-परिषद् ने विचार नहीं किया हो, उसे राज्यपाल द्वारा अपेक्षा करने पर परिषद् के सम्मुख विचारार्थ रखवाये।[7]

पंजाब, आन्ध्र और तैलंगाना राज्यो मे जिन प्रादेशिक समितियों का निर्माण हुआ है; वे यदि अपने अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध मे कुछ परामर्श राज्य की सम्बन्धित सरकार को देगी तो सामान्यतः उनका परामर्श शासन को और राज्य के विधानमण्डल को स्वीकार्य होगा; किन्तु यदि इस सम्बन्ध मे कोई विरोध होगा तो उक्त विवाद राज्यपाल के निर्णयार्थ प्रेषित किया जाएगा और इस सम्बन्ध में राज्यपाल का निर्णय अन्तिम और बाध्य होगा।

राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति राज्यपाल नहीं करता किन्तु संघ का राष्ट्रपति उक्त नियुक्तिया करते समय सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल का परामर्श प्राप्त कर लेता है।[8] राज्यपाल ही राज्य के महाधिवक्ता की नियुक्ति

१. अनुच्छेद १६३(१) २. अनुच्छेद १६३(२)
३. अनुच्छेद १६३(३) ४. अनुच्छेद १६६(३)
५. अनुच्छेद १६७ (क) ६. अनुच्छेद १६७ (ख)
७. अनुच्छेद १६७ (ग) ८. अनुच्छेद २१७ (१)

७. राज्य विधानमण्डल द्वारा पास किये जा चुके बिल को राष्ट्रपति की सहमति के लिए रक्षित रखना।

८. कुछ मामलो में अध्यादेश जारी करने से पहले राष्ट्रपति से हिदायतें मांगना।

९. राज्य में सांविधानिक मशीनरी के फेल हो जाने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजना।

१०. (केवल असम मे) कुछ मामलो के सम्बन्ध में जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है।

उपर्युक्त मर्यादाओं के अन्तर्गत राज्यपाल, राज्य का सांविधानिक प्रधान या अध्यक्ष होता है; और राज्यपाल तथा उसकी प्रान्तीय या राज्य की मन्त्रि-परिषद् के बीच ऐसे ही सम्बन्ध होते हैं जैसे कि राष्ट्रपति के सम्बन्ध संघीय मन्त्रि-परिषद् के साथ हैं। फिर भी राज्यपाल की स्थिति सन्देहयुक्त है। उसे दो स्वामियों की सेवा करनी है। एक तो राज्य के मन्त्री हैं जो सर्वसाधारण के प्रतिनिधि हैं और जिनकी मन्त्रणा मानना राज्यपाल के लिए आवश्यक है। राज्यपाल का दूसरा स्वामी राष्ट्रपति है जो संघ कार्यपालिका का प्रधान है। किसी संसदीय शासन-प्रणाली वाले देश में वैधानिक प्रधान के कर्त्तव्यों की प्रकृति ऐसी नहीं है जैसी कि भारत के राज्यपाल के कर्त्तव्यो की है। किसी को भी ऐसी आशा नहीं रखनी चाहिए कि वही व्यक्ति दुहरे और परस्पर-विरोधी कर्त्तव्यो को करने वाला बन सकेगा। पंजाब के भूतपूर्व राज्यपाल स्वर्गीय श्री न० वि० गाडगिल ने भी पंजाब के राज्यपाल पद से त्याग-पत्र देते समय कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट किए थे।

राज्यपाल की शक्तियां (Powers of the Governor)—राज्यपाल की वैधानिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए हम उसकी शक्तियो को निम्न चार भागो में बांट सकते हैं (१) कार्यपालिका शक्तियां; (२) विधायिनी शक्तियां; (३) वित्तीय शक्तियां; और (४) न्यायिक शक्तियां।

(१) **कार्यपालिका शक्तियां** (Executive Powers)—राज्य की कार्यपालिका राज्यपाल में निहित है; तथा वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करता है।[1] किसी राज्य की सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्रवाई राज्यपाल के नाम से की हुई मानी जाती है।[2] राज्यपाल के नाम से दिए और निष्पादित आदेशों और अन्य लिखतो का प्रमाणीकरण उसी रीति से किया जाएगा जो राज्यपाल द्वारा बनाए जाने वाले नियमो में उल्लिखित हो; तथा इस प्रकार के प्रमाणीकृत आदेश या लिखत की मान्यता पर किसी न्यायालय में आपत्ति इस आधार पर न की जा सकेगी कि वह राज्यपाल द्वारा दिया या निष्पादित आदेश या लिखत नहीं है।[3]

---

१. अनुच्छेद १५४ (१)
२. अनुच्छेद १६६(१)
३. अनुच्छेद १६६(२)

करता है।[1] राज्यपाल ऐसे ही राज्य के लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करता है।[2]

(२) विधायिनी शक्तियां (Legislative Powers)—किसी राज्य के विधानमण्डल का राज्यपाल उसी प्रकार एक अंग है[3] जिस प्रकार कि राष्ट्रपति संसद् का अंग है। राज्यपाल को अधिकार है कि वह राज्य विधानमण्डल के एक सदन को या दोनो सदनो को आहूत करे (यदि उक्त राज्य मे द्विसदनीय विधानमण्डल है)। उसे यह भी अधिकार है कि वह किसी समय और किसी स्थान पर विधानमण्डल का सत्र आहूत कर सकता है, किन्तु शर्त यह है कि विधानमण्डल के पिछले अधिवेशन की अन्तिम बैठक और अगले अधिवेशन की प्रथम बैठक के बीच छः मास से अधिक का अन्तर न होना चाहिए। राज्यपाल विधानमण्डल को या उसके एक सदन को स्थगित कर सकता है और वह विधान सभा को विघटित भी कर सकता है। वह विधानमण्डल के किसी एक सदन को अथवा साथ समवेत दोनो सदनो को सम्बोधित कर सकता है। वह धन विधेयकों के अतिरिक्त अन्य विधेयको को पुनर्विचार के लिए विधानमण्डल के पास वापस भेज सकता है। यदि राज्यपाल विधानमण्डल के किसी सदन को कोई सन्देश भेजता है तो सम्बन्धित सदन उस सन्देश पर शीघ्रातिशीघ्र विचार करता है। राज्यपाल के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक महानिर्वाचन के बाद और प्रतिवर्ष के प्रथम अधिवेशन में विधान सभा को, या यदि उक्त राज्य मे द्विसदनात्मक विधानमण्डल है तो साथ समवेत दोनो सदनो को एक साथ सम्बोधित करे।

राज्य के विधानमण्डल द्वारा पास किया गया कोई विधेयक राज्यपाल के पास उसकी अनुमति और अनुमोदन के लिए भेजा जाता है। राज्यपाल चाहे तो विधेयक पर अपनी अनुमति दे सकता है और चाहे तो उसे रोक सकता है और विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित रख सकता है। वह धन विधेयको को छोड़ कर बाकं विधेयको को पुनर्विचार के लिए विधानमण्डल के पास भी वापस भेज सकता है। किन्तु यदि विधानमण्डल उक्त विधेयक को सशोधनो सहित या बिना सशोधनो के दुबारा पास कर देता है तो उस पर राज्यपाल को अपनी अनुमति देनी ही होगी।

विधानमण्डल के विश्रान्ति काल मे राज्यपाल को उसी प्रकार अध्यादेश निकालने की शक्ति है जिस प्रकार कि राष्ट्रपति को है। लेकिन विधानमण्डल की बैठक आरम्भ होने के ६ सप्ताहो के अन्दर ऐसे सब अध्यादेश समाप्त हो जाएगे। अथवा यदि छः हफ्तो के भीतर विधान सभा उस अध्यादेश को अस्वीकृत करने का प्रस्ताव पास करती है तो ऐसी स्थिति मे उस अध्यादेश को रद्द या समाप्त समझा जाएगा। राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के बिना राज्यपाल कोई ऐसा अध्यादेश जारी नही कर सकता—(१) यदि उसी प्रकार का विधेयक विधान सभा मे पेश करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता

१. अनुच्छेद १६५
२. अनुच्छेद ३१६ (१)
३. अनुच्छेद १६८

के कार्यों या उसके पद के उपयोग के बारे में व्यवहार मे भी एकरूपता नही है।"[1] इस स्थिति को ध्यान में रख कर भारत सरकार के गृहमन्त्री ने राज्यो के मुख्य मन्त्रियो को परामर्श दिया कि वे राज्यपाल के पद के सम्बन्ध में एक से नियमो का पालन करें।[2] यह शायद ३० और ३१ अक्तूबर, १९५८ मे हुई राज्यपालो की कान्फ्रेंस का एक फल था। इस कान्फ्रेंस में मध्य प्रदेश के राज्यपाल ने राज्यपाल के कर्त्तव्यों और अधिकारों के सम्बन्ध में एक नोट प्रस्तुत किया था।

यह सिद्ध करने के पर्याप्त प्रमाण हैं कि मूल महत्त्व के विषयों के सम्बन्ध मे भी एक-सी व्यवस्था नही है। राज्यपाल मन्त्रिमण्डल की बैठको में भाग ले या नही, इस बारे में भी मतभेद है। श्री वी० पी० मेनन ने जो स्वय राज्यपाल रह चुके है, लिखा है, कि जब वे उडीसा के राज्यपाल थे, उड़ीसा के मुख्य मन्त्री प्रशासन के समस्त महत्त्वपूर्ण मामलों में उनसे राय लिया करते थे और मन्त्रिमडल की बैठको का सभापतित्व तक करने के लिए उन्हे आमन्त्रित किया करते थे।[3] मध्य प्रदेश के राज्यपाल ने सम्वाददाताओं से कहा था कि उन्हे यह मालूम है कि कम-से-कम एक राज्य ऐसा है जिसमें राज्यपाल मन्त्रिमण्डल की बैठकों मे भाग लेता है।[4] ३०–३१ अक्तूबर, १९५८ को हुए राज्यपालो के सम्मेलन की प्रेस रिपोर्ट मे कहा गया था, यह तय हुआ कि सविधान राज्यपाल को मन्त्रिपरिषद् का मार्ग-दर्शन करने के लिए पर्याप्त अधिकार देता है। यह राज्यपाल के ऊपर ही निर्भर है कि वह अपने प्रभाव को प्रकट करे। आज के सम्मेलन मे उपस्थित कुछ व्यक्तियो को यह जान कर बहुत आश्चर्य हुआ कि विभिन्न मामलो पर मुख्य मन्त्रियो से सूचना प्राप्त करना और उनकी सरकारी फाइलो तक को मंगा लेना उनके वैधानिक अधिकार मे आता है।[5]

इस स्थिति का कारण यही है कि राज्यपाल अपने पद के दायित्वों को ठीक से नही समझते। भूतपूर्व राज्यपाल श्री वी० पी० मेनन ने इसका एक अन्य कारण बताया है। उन्होंने कहा है, कांग्रेसी लोग इस बात को नही भूल सके हैं कि ब्रिटिश शासन-काल मे राज्यपालो के साथ उनके किस प्रकार संघर्ष हुआ करते थे। राज्यपाल पर अब भी अविश्वास किया जाता है और वह दिन प्रति-दिन की प्रशासनिक समस्याओ से साधारणतया अपरिचित रहता है।

कुछ राज्यपाल इस पद पर अपनी नियुक्ति से पहिले सक्रिय राजनीतिज्ञ रहे थे। यद्यपि वे अपने पद के उत्तरदायित्वो और सीमाओ से परिचित है[6] फिर भी जैसा

---

1. N. R. Deshpande, "The Role of the Governor in the Parliamentary Government in the States," The Indian Journal of Political Science, January-March 1959, pp. 15-16
2. *The Hindustan Times*, New Delhi, November 8, 1958.
3. Menon, V. P.: Indian Administration—Past and Present, Forum of Free Enterprise, Bombay, 1958, p. 11.
4. *Times of India*, Bombay, December 1, 1958.
5. As quoted by Dr. N. R. Deshpande, *op. cit.*, p. 16.
6. Menon, V. P. *op. cit.*, p. 11.

और चेतावनी देने का अधिकार । बैजहाट के शब्दों में, "यदि सम्राट् बुद्धिमान है, तो उसे इससे अधिक किसी चीज की आवश्यकता नही होगी।"[1] डा० अम्बेदकर ने भी भारतीय राज्यपाल के सम्बन्ध मे इसी प्रकार की राय प्रकट की थी । उन्होंने राज्यपाल के दो प्रकार के कर्तव्यों की ओर सकेत किया था । राज्यपाल का एक कर्त्तव्य तो यह देखना है कि "क्या उसे मन्त्रि-परिषद् से नाराज होना चाहिए और कब नाराज होना चाहिए ।" इसका अभिप्राय यह है कि राज्यपाल को यह देखना चाहिए कि मन्त्रि-परिषद् शासन का सचालन करती है । राज्यपाल का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वह मन्त्रि-परिषद् को परामर्श दे, उसे चेतावनी दे, उसे विकल्प सुझाए और उससे सम्पूर्ण प्रश्न पर पुनः विचार करने के लिए कहे ।[2]

श्री अल्लादि कृष्ण स्वामी अय्यर[3] और श्री बी० जी० खेर[4] ने भी यही कल्पना की थी कि राज्यपाल वैधानिक प्रधान होगा । लेकिन, वास्तव में राज्यपाल का दुहरा व्यक्तित्व है और उसे दो प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं । सविधान ने उसे स्वविवेकी प्राधिकार (discretionary authority) दिया है जिसके प्रयोग में वह अपने उत्तरदायी मन्त्रियों के निर्णयों की अवहेलना कर सकता है । स्वविवेक के अनुसार कार्य करने का अभिप्राय मनमाने ढग से कार्य करना नही है । स्वविवेक का साधारण अभिप्राय अपनी मर्जी के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है । लेकिन, "सार्वजनिक प्रशासन में इसका अभिप्राय कतिपय परिस्थितियों में दूसरों के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होकर अपनी अन्तरात्मा के अनुसार कार्य करना है । स्वविवेक का अभिप्राय सही और गलत के बीच निर्णय करना है । इसलिए जिसके पास स्वविवेक से कार्य करने की शक्ति है, वह बुद्धि और विधि के नियम मे बधा रहता है ।"[5] यद्यपि स्वविवेक का प्रयोग ईमानदारी से होना आवश्यक है, लेकिन ससदीय शासन-प्रणाली इस बात की अनुमति नही देती कि राज्य का प्रधान स्वविवेक के अनुसार कार्य करे । उसके केवल परामर्शीय कृत्य हैं । वह अपनी राय जितने जोर के साथ चाहे उपस्थित कर सकता है । वह अपने मन्त्रियों की राय का विरोध कर सकता है लेकिन उसे अपने मन्त्रियों की राय का अतिक्रमण नही करना चाहिए । अन्तिम निर्णय मन्त्रियों का ही होना चाहिए ।

स्वविवेकी शक्तियों और विशेष उत्तरदायित्वों को छोड़ कर राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह वैधानिक प्रमुख के रूप में ही आचरण करे लेकिन इस सम्बन्ध में भी काफी भ्रम है । राज्यपालों को स्वयं भी अपनी स्थिति का ठीक ज्ञान नही है । डा० देशपाडे ने लिखा है, कि "न तो राज्यपाल और न जनता के नेता ही यह ठीक-ठीक समझते हैं कि शासन-यन्त्र में राज्यपाल की वास्तविक स्थिति क्या है । राज्यपाल

---

1. Bagehot, W. : *The British Constitution*, (The World Classics ed.) p. 6-7.
2. Constituent Assembly Proceedings, Vol. VIII, p. 546.
3. *Ibid*, p 432.
4. *Ibid*, p. 435.
5. Inst. 56, 298. Tomlin's Law Dictionary.

राज्य के राज्यपाल के विषय में यह बताया गया है कि वह अनुसूचित आदिम क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में स्वविवेक के अनुसार कार्य कर सकता है। किन्तु किन विषयों पर राज्यपाल स्वविवेक से निर्णय करेगा, यह निर्णय भी राज्यपाल ही स्वविवेक से ही करेगा और इस सम्बन्ध में राज्यपाल का निर्णय अन्तिम होगा।

मुख्य मन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति, राज्यपाल मुख्य मन्त्री को सलाह के अनुसार करता है।[1] मन्त्रियों का कार्यकाल, राज्यपाल की इच्छा पर निर्भर है।[2] किन्तु मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है। इसका अर्थ यह है कि जहा व्यक्तिगत मन्त्री राज्यपाल द्वारा अपदस्थ किया जा सकता है, समस्त मन्त्रि-परिषद् को केवल राज्य की विधान सभा ही अपदस्थ कर सकती है। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के कारण राज्यपाल सामूहिक रूप से सारी मन्त्रि-परिषद् को अपदस्थ नही कर सकता। इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि संविधान में कही भी मन्त्रियो को व्यक्तिगत रूप से सविधान सभा के प्रति उत्तरदायी नही माना गया है। व्यक्तिगत जिम्मेदारी इस उपबन्ध में निहित है कि "मन्त्री लोग राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पदों पर रह सकते हैं" और इस वाक्याश का संसदीय शासन-प्रणाली के व्यवहार के अनुसार यह अर्थ है कि "मन्त्री लोग मुख्य मन्त्री के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पदो पर रह सकते है।" यदि कभी कोई मन्त्री मन्त्रि-परिषद् की नीति से सहमत नही है; या कोई मन्त्री कुछ ऐसा काम करता है जिससे मन्त्रिमण्डल का स्थायित्व या उसकी ईमानदारी खतरे में पड जाती है; तो वैधानिक सद्व्यवहार और कर्त्तव्य-भावना का यही तकाजा है कि वह मन्त्री मुख्य मन्त्री से संकेत मिलते ही तुरन्त त्याग-पत्र दे दे। किन्तु यदि जिद्दी मन्त्री त्याग-पत्र देने को उद्यत नही है, तो यह मुख्य मन्त्री का कर्त्तव्य है और अधिकार भी है कि वह राज्यपाल को उक्त मन्त्री के अपदस्थ करने की सिफारिश करे। डा० अम्बेदकर ने सविधान सभा मे इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कहा था : "मेरे विचार से सामूहिक उत्तरदायित्व दो सिद्धान्तों के पालन से प्रभावी हो जाएगा। प्रथम सिद्धान्त तो यह है कि मन्त्रिमण्डल में कोई मन्त्री बिना प्रधान मन्त्री की इच्छा जाने हुए न लिया जाय। द्वितीय सिद्धान्त यह है कि जिस मन्त्री को प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल से हटाना चाहे, वह मन्त्री किसी भी हालत मे मन्त्रिमण्डल में न रहने पावे। हम अपने शासन मे सामूहिक उत्तरदायित्व का आदर्श तभी प्राप्त कर सकेंगे जब मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य नियुक्ति और वियुक्ति के सम्बन्ध में प्रधान मन्त्री के आश्रित होंगे। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को क्रियान्वित करने का और कोई उपाय नही है।"

उत्तरदायी शासन की प्रथम आवश्यकता सयुक्त उत्तरदायित्व है। मन्त्रिमण्डल एक और अखड होता है। मन्त्रिमण्डल का निर्णय सब मन्त्रियो का निर्णय है। यदि कोई मन्त्री निर्णय से सतुष्ट न हो, तो उसे त्यागपत्र दे देना चाहिए। भारत में राज्यो में इस

---

१. अनुच्छेद १६४ (१)   २. अनुच्छेद १६४ (१)

कि प्रधान मन्त्री ने ७ जुलाई, १९५९ को अपनी प्रेस कान्फ्रेंस में कहा था, कुछ ने 'बुरे पूर्वोदाहरणों की' स्थापना की है।[1] पंजाब के गवर्नर ने केरल की साम्यवादी सरकार के विरुद्ध चल रहे प्रत्यक्ष कार्रवाही के आन्दोलन का तिरस्कार करते हुए कुछ विचार प्रकट किए थे।[2]

डा० अम्बेदकर ने कहा था कि राज्यपाल दल का प्रतिनिधि नहीं है प्रत्युत् वह राज्य में सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधि है।[3] अतः उसे सक्रिय राजनीति से पृथक् रहना चाहिए। वह एक निष्पक्ष निर्णायक की तरह है। उसे यह देखते रहना चाहिए कि राजनीति का खेल नियमानुसार खेला जाए। उसे स्वयं एक खिलाड़ी नहीं बन जाना चाहिए।

इस प्रकार, साधारण परिस्थितियों में राज्यपाल के कर्त्तव्य निम्नलिखित है :

१. राज्यपाल का पहला कार्य तो यह देखना है कि राज्य का प्रशासन अच्छी तरह चले। राज्यपाल प्रशासन और विधान के सम्बन्ध में कोई भी सूचना प्राप्त कर सकता है।[4]

२. उसे मन्त्रि-परिषद् के समस्त निर्णयों के सम्बन्ध में अपनी सहमति प्रदान करनी चाहिए। यदि किसी मामले पर किसी एक मन्त्री ने ही निर्णय किया हो और सम्पूर्ण मन्त्रि-परिषद् ने उस पर विचार न किया हो, तो राज्यपाल उस मामले को सम्पूर्ण मन्त्रि-परिषद् के विचारार्थ उपस्थित करा सकता है।

३. राज्यपाल अल्पसंख्यक वर्गों के हितो का संरक्षक है। यदि उनकी कोई शिकायत दूर नहीं की जाती, तो वह राज्य सरकार का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट कर सकता है।

४. निर्दल नेतृत्व प्रदान करके राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यों में राज्यपाल विशेष योग दे सकता है।

मन्त्रि-परिषद्
(Council of Ministers)

मन्त्रि-परिषद् (The Council of Ministers)—संविधान में कहा गया है कि एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान मुख्य मन्त्री होगा। सविधान के अनुसार राज्यपाल जिन कार्यों को स्वेच्छानुसार करेगा, उनको छोड़कर शेष कार्यों में मन्त्रि-परिषद् राज्यपाल के कार्यों मे सलाह और सहायता देगी।[5] जैसा कि बताया भी जा चुका है, सविधान ने राज्यपाल की स्वविवेकी शक्तियो की परिभाषा नहीं की है; हां, केवल असम

1. *The Hindustan Times*, New Delhi, July 8, 1959.
2. *The Tribune*, Ambala Cantt., July 7, 1959.
3. Constituent Assembly Debates, Vol. VIII, p. 546.
4. Article 167.
5. अनुच्छेद १६३(१)

छः मास की समाप्ति पर वह मन्त्री नही रह सकता।[1] मन्त्रियों के वेतन तथा भत्ते ऐसे होते हैं जैसे समय-समय पर उस राज्य का विधानमण्डल विधि द्वारा निर्धारित करे।[2] क्या मन्त्रियों ने राज्यपाल को कोई मन्त्रणा दी और यदि दी तो क्या दी, इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाच नही की जा सकती।[3] इसलिए मन्त्रियो द्वारा दी गई मन्त्रणा के विषय में न्यायालयों मे आपत्ति नहीं की जा सकती। इस उपबन्ध से यह भी सुनिश्चित हो जाता है कि राज्यपाल और मन्त्रियों के बीच के सम्बन्ध गोपनीय हैं।

सविधान मे कही भी न तो सघ के बारे में और न राज्यो के बारे में ही मन्त्रि-मण्डल शब्द का प्रयोग हुआ है। सविधान ने केन्द्र और राज्यों के लिए मन्त्रि-परिषदो की स्थापना की है। किन्तु केन्द्र अथवा सघ मे सविधान के उपबन्धो के अतिरिक्त मन्त्रिमण्डल का विकास हो गया है। प्रधान मन्त्री, पं० नेहरू ने सघ शासन में अब तक जो मन्त्रि-परिपदे निर्माण की, उनमे दो प्रकार के मन्त्री रखे जिनमें कुछ तो 'मन्त्रि-मण्डल के मन्त्री' थे और कुछ 'मन्त्रिमण्डल की स्थिति के मन्त्री' थे। राज्यो की मन्त्रि-परिपदो में इस प्रकार का विभेद नही किया जाता, यद्यपि कुछ राज्यो की मन्त्रि परि-षदों में उप-मन्त्री और संसदीय सचिव भी हैं। किन्तु राज्यों मे केवल मन्त्री ही एक साथ समवेत होते हैं, विचार करते हैं और नीति निर्धारित करते हैं। राज्य-सरकार के विभिन्न प्रशासनिक विभागों के वे अध्यक्ष होते हैं और उनको यह देखना पडता है कि जो नीति सारी मन्त्रि-परिषद् ने सामूहिक रूप से निर्णय की है, उसकी उचित ढंग से क्रियान्विति हो। ऐसा कभी भी नही होता कि मन्त्री, उप-मन्त्री और संसदीय सचिव एक साथ मिल कर समवेत होते हो या एक साथ विचार करके नीति निर्धारित करते हों। नीति निर्माण करना केवल राज्य के मन्त्रियो का काम है और समझना चाहिए कि वे ही राज्यो की कैबिनेट या मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हैं। उप-मन्त्रियो को मन्त्रियों की अपेक्षा कम वेतन मिलता है और वे शासन के किसी विभाग के स्वतन्त्र रूप से अध्यक्ष नही होते। उपमन्त्री तो केवल उन मन्त्रियों की सहायता करते हैं जिनके मातहत वे काम करते हैं और विभागीय और ससदीय कर्त्तव्यो के निर्वहन में वे मन्त्री का हाथ बंटाते हैं। संसदीय सचिव न तो मन्त्री हैं और न उन्हे कोई अधिकार है। उनको ऐसे कार्य सौपे जाते हैं जिन्हें विभागीय अध्यक्ष या मन्त्री उनको सौपना चाहे। किन्तु यह आवश्यक है कि मन्त्रि-परिपद् के सभी मन्त्री राज-विधानमण्डल के सदस्य हों, विधान सभा के बहुमत दल से सम्बन्धित हों और सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी हों। मन्त्रि-परिपद् के मन्त्री तभी तक अपने पदो पर बने रह सकते हैं जब तक कि उन्हें विधान सभा का विश्वास प्राप्त रहे।

मुख्य मन्त्री (The Chief Minister)—किसी राज्य की मन्त्रि-परिपद् का प्रधान मुख्य मन्त्री होता है। उसकी नियुक्ति राज्यपाल करता है। किन्तु अन्य मन्त्रियों

---

१. अनुच्छेद १६४ (४)
२. अनुच्छेद १६४ (५)
३. अनुच्छेद १६३ (३)

सिद्धान्त का दृढता से पालन नही होता । श्री के० एम० मुन्शी के शब्दो में, "मन्त्रिमण्डल की बैठक के बाद असहमत मन्त्री के विचारों का दैनिक समाचार-पत्रों मे प्रकाशित होना कोई असाधारण बात नही है ।"[1] केन्द्र की अपेक्षा राज्यों मे मन्त्री-मन्त्री तथा मन्त्री-मुख्य मन्त्री मे परस्पर विवाद अधिक चलते हैं । गुटबाजी और षड्यंत्र भी प्रायः देखने मे आते हैं । लगभग सभी राज्यो मे मुख्य मन्त्री और सत्ताधारी राजनैतिक दल के नेता के परस्पर विरोध के कारण यह वैमनस्य और भी जोर पकड़ जाता है । जब मन्त्री एक दूसरे को झुठलाते हैं तो शासन के ढाचे मे दरारे पड़ जाती हैं । मन्त्रियो मे झगड़े और साजिशे चलने लगे तो उत्तरदायी शासन का अन्त समझना चाहिए—यह शिक्षा भारतीयों ने कई वर्षों के कटु अनुभव से ग्रहण की है ।

मन्त्रियो की सख्या सदैव के लिए निश्चित नही है । मुख्य मन्त्री ही निर्णय करता है कि अपनी मन्त्रि-परिषद् मे कितने मन्त्री रखे और वह समय की आवश्यकताओं के अनुसार मन्त्रियो की सख्या निर्धारित करता है । सावैधानिक उपबन्ध तो केवल यह है कि बिहार, मध्य प्रदेश और उडीसा में एक मन्त्री आदिम जातियों के कल्याण अथवा हितो को देखे और उसी को साथ-साथ अनुसूचित जातियो और पिछडे हुए वर्गो के कल्याण का भी कार्य-भार वहन करना होता है ।[2]

कभी-कभी यह शिकायत की जाती है कि राज्यो में मन्त्रि-परिषदे बहुत बडी होती हैं और इससे कोष पर अनुचित दबाव पडता है । लेकिन, यह आलोचना १९६२ से पहले कुछ गलत थी क्योंकि लोकहितकारी राज्य मे शासन के कार्य बहुत बढ़ गए हैं और प्रत्येक विभाग का एक राजनैतिक प्रधान होना आवश्यक है जो उसके सम्बन्ध में विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी हो । १९६७ के आम चुनाव के पश्चात् यह आलोचना पूर्णतया सत्य हो गई है क्योंकि कुछेक राज्यो में मन्त्रियों की सख्या एक कल्याणकारी राज्य की आवश्यकताओ को सामने रखकर नही बल्कि सत्ता अपने हाथ मे रखने या हथियाने के लिए बढ़ाई गई है । हरियाणा जैसे छोटे से राज्य मे लगभग हरेक विधायक मन्त्री बनने का इच्छुक था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दल बदली इतनी असाधारण गति से हुई कि वह हरियाणा के राजनैतिक जीवन का साधारण अग बन गई । यहा तक कि एक समय पर ८१ सदस्यो की विधान सभा मे ३४ मन्त्री थे ।

किसी राज्य के मन्त्री के पद ग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल उससे पद की शपथ और गोपनीयता शपथ लेता है जो भारतीय सविधान की तृतीय अनुसूची मे विहित प्रपत्र के अनुसार होनी है ।[3] यदि किसी राज्य के विधानमण्डल के दो सदन है तो यह आवश्यक होगा कि मन्त्री उन दोनो सदनो मे से किसी एक का सदस्य अवश्य हो । किन्तु यदि कोई मन्त्री निरन्तर छः मासो तक राज्य के विधानमण्डल का सदस्य नही रहता तो

1. Kulpati's Letter No. 103 to Bhartiya Vidya Bhavan Bombay, *op. cit*

२. अनुच्छेद १६४ (१)

३. भारतीय सविधान के पृष्ठ २५५ पर ५वे और ६ठे प्रपत्रों को देखिए ।

कठिन हो जाता है । दल को अपना नेता चुनने मे पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए और फिर नेता को अपने शासन के निर्माण में पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए । यदि दल का नेता उच्च स्तरों से चुन कर भेजा जाएगा तो ऐसा नेता मन्त्रियों के आदर और श्रद्धा का पात्र न होगा। यह भी आवश्यक है कि मन्त्रिमण्डल के सदस्य मुख्य-मन्त्री के प्रति व्यक्तिगत रूप से निष्ठावान भी हों और दलगत निष्ठावान भी हो ।

मन्त्री-परिषद् का पदच्युत होना (Dismissal of Ministry)—साधारण परिस्थितियों में राज्याधिपति द्वारा मन्त्रि-परिषद् का पद-च्युत किया जाना संसदीय शासन का मान्य सिद्धान्त नहीं है । परन्तु यदि राज्यपाल को विश्वास हो जाए कि मन्त्रि-परिषद् सत्ता अपने हाथ में रखने के लिए राजनैतिक जोड़-तोड़ कर रही है अथवा ऐसी कार्रवाइयां कर रही है *जिनसे राज्य के हित या राष्ट्र की सुरक्षा या एकता को खतरा है तो वह अपने* स्वविवेक से काम लेकर मन्त्रि-परिषद् को पद-च्युत कर सकता है । डा० अम्बेदकर का कथन है कि जबकि मन्त्रि-परिषद् राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त पदासीन रहती है तो यह देखना राज्यपाल का काम है कि उसे कब अपने प्रसाद का मन्त्रि-परिषद् के विरुद्ध प्रयोग करना चाहिए । पश्चिमी बंगाल में श्री अजय मुखर्जी की मन्त्रि-परिषद् के पद-च्युत किए जाने के विरोध मे अनुच्छेद २२६ के अधीन दी गई थी एम० पी० शर्मा की अर्जी खारिज करते हुए जस्टिस बी० सी० मित्र ने लिखा था कि अनुच्छेद १६४(२) के इस उपबन्ध से कि मन्त्रि-परिषद् राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है राज्यपाल के अपने प्रसाद को वापस ले लेने के अधिकार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता । ११ नवम्बर, १९६७ को संघीय सरकार के एक प्रवक्ता ने यह ठीक मत व्यक्त किया था कि यदि राज्यपाल देखे कि मन्त्रि-परिषद् को विधान सभा के सदस्यों का बहुमत प्राप्त नहीं रह गया है तो वह स्वविवेक से काम लेकर मन्त्रि-परिषद् को पद से हटा सकता है और ऐसा करने मे यह प्रश्न ही नहीं उठता कि वह मन्त्रि-परिषद् के परामर्श पर अमल कर रहा है । उस प्रवक्ता के मतानुसार राज्यपाल इस निर्णय का आधार उसे विधान सभा की कार्रवाई या किसी भी अन्य जरिये से मिली सूचना हो सकती है । संघीय गृह मन्त्री ने भी कहा था कि राज्यपाल का स्वविवेक न्यायपालिका के कार्यक्षेत्र से बाहर है ।

राज्यपाल को मुख्य मन्त्री की नियुक्ति का अधिकार (Governor's Powers to appoint Chief Minister)—उत्तरदायी शासन के स्पष्ट अभिसमयों के अनुसार राज्य का अधिपति बहुमत प्राप्त दल के माने हुए नेता को बुला कर उसे मन्त्रि-परिषद् बनाने का निमन्त्रण देता है । यदि एक दल का बहुमत हो और उसका कोई नेता भी हो तो यह काम बड़ा सुगम होता है, परन्तु यदि किसी एक दल का बहुमत न हो तो राज्यपाल को स्वविवेक से काम लेना पड़ता है । यदि प्रतिनिधि सदन मे विरोधी बहुमत के कारण सरकार की हार हो जाए तो राज्य का अधिपति विरोधी दल के नेता को सरकार बनाने का निमन्त्रण देता है । यह भी एक माना हुआ अभिसमय है कि मुख्य मन्त्री उसी सदन का सदस्य हो जिसके प्रति सरकार उत्तरदायी है । १९६७ के आम चुनाव के पश्चात् कुछ राज्यों में एक विषम स्थिति उत्पन्न हो गई क्योंकि चाहे कांग्रेस के सदस्यों की संख्या सब से अधिक थी, स्पष्ट बहुमत किसी भी दल को प्राप्त नहीं था । ऐसी परिस्थिति में कुछ लोगों

की नियुक्ति, राज्यपाल मुख्य मन्त्री की मन्त्रणा पर करता है। वास्तव में मुख्य मन्त्री ही मन्त्रि-परिषद् के अन्य मन्त्रियों का चयन करता है और राज्यपाल तो मुख्य मन्त्री के विनिश्चयो को स्वीकार करता है। इसलिए राज्यपाल के द्वारा मन्त्रियों की नियुक्ति केवल कहने भर की है। समस्त मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है; किन्तु व्यक्तिगत मन्त्रियों को राज्यपाल अपदस्थ कर सकता है; यद्यपि अपदस्थ कराने में भी जैसा कि बताया जा चुका है, मुख्य मन्त्री की बात ही मुख्य रूप से मानी जाती है। भारत के प्रधान मन्त्री की तरह से किसी राज्य का मुख्य मन्त्री भी सम्बन्धित राज्य के संविधान रूपी भवन की मुख्य शिला है और वही राज्य की मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करता है। वही अपनी मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करता है और वही उसे बर्खास्त करा सकता है और जब वह चाहे और जिस प्रकार वह चाहे अपनी मन्त्रि-परिषद् का पुनर्गठन कर सकता है।

मुख्य मन्त्री की स्थिति और उसके कृत्यों की जो ऊपर सामान्य परीक्षा की गई है, उससे ऐसा लगता है मानो राज्यो की शासन-व्यवस्था उसी प्रकार की है जैसी कि इग्लैण्ड में प्रचलित है। यह सन्तोष की बात है कि काफी हद तक इग्लैण्ड के शासन-सचालन की प्रथाओं का भारत के केन्द्रीय शासन में अनुसरण हो रहा है और इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री के समान ही भारत के प्रधान मन्त्री की भी स्थिति अग्रगण्य है और कोई अन्य मन्त्री भारतीय प्रधान मन्त्री को चुनौती नही दे सकता। किन्तु कुछ राज्यों के मुख्य मन्त्री, ऐसी सुखद स्थिति का उपभोग नही करते और उनका वह रौब और दबदबा नही है जो अन्य राज्यों के मुख्य मन्त्रियों का है अथवा होना चाहिए। कई राज्यों के विधानमण्डलों में कांग्रेस दल के बहुमत में और मन्त्रियो में अनुशासन, स्थायित्व और एकरूपता का सर्वथा अभाव रहा है। व्यक्तिगत मतभेद, दल के आन्तरिक विरोध, पदो की लोलुपता, पक्षपात, यहा तक कि साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता या प्रादेशिकता का राज्यों के विधानमण्डलों में इतना बोलबाला रहा है कि कांग्रेस दल के मुख्य गुटों में भीषण कलह केवल कांग्रेस के उच्च स्तरो द्वारा कठोर मध्यस्थता से ही बच सकी। कई बार केन्द्रीय पार्लियामेण्टरी बोर्ड ने भी मध्यस्थता की और अपने निर्णय दिए और फलस्वरूप कई बार मन्त्रि-परिषदों के पुनर्गठन हुए और कई बार मुख्य मन्त्री भी बदले। कांग्रेस दल के उच्च स्तरो के आदेशों पर ही श्री भीमसेन सच्चर को पंजाब के कांग्रेस दल का नेता बनाया गया था। पुनः जब श्री भीमसेन सच्चर से त्याग-पत्र दिला कर श्री प्रताप सिंह कैरो को पंजाब का मुख्य मन्त्री बनाया गया उस समय भी कांग्रेस हाई कमान के आदेश पर ही यह समझौता हुआ था। किन्तु क्या ये तरीके संसदीय लोकतन्त्र में होने चाहिएं ? कांग्रेस जिस प्रकार के ओछे व्यवहारों पर उतर आई है; उनसे कुछ समय के लिए कांग्रेस दल में स्थायित्व और मन्त्रिण्डलो में परस्पर अधीनता आ सकती है किन्तु इन ओछे व्यवहारो से प्राप्त एकता और परस्पर अधीनता थोड़े दिनों तक रह सकती है। इस प्रकार प्राप्त एकता और परस्पर अधीनता से न तो मुख्य मन्त्री का प्रभाव रह सकता है और न सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना बनी रह सकती है। सत्य यह है कि इससे गुटबन्दी को बढावा मिलता है और मन्त्रिमण्डल में फूट फैलती है जिससे मुख्य मन्त्री को स्थिति संभालना

मन्त्री कुछ ऐसी कार्रवाई कर डाले या किसी ऐसी नीति की घोषणा कर दे जो मन्त्रिमण्डल के विनिश्चय के विरुद्ध हो या जिस पर मन्त्रिमण्डल का विनिश्चय ही न हुआ हो। केवल ऐसी स्थिति मे राज्यपाल का हस्तक्षेप आवश्यक होगा। राज्यपाल निष्पक्ष पंच की भाति आचरण करे और निगाह रखे कि राजनीति का खेल नियमो के अनुसार खेला जा रहा है और उसे यह भी देखना है कि प्रत्येक खिलाडी खेल को ठीक प्रकार से खेलता है अथवा नही। राज्यपाल की इस शक्ति की व्याख्या करते हुए श्री के० एम० मुन्शी ने सविधान सभा मे कहा था—"यदि राज्यपाल मन्त्रिमण्डल के ऊपर अपना प्रभाव रखे, तो इसमे भारी लाभ होगा, तथा इससे हानि की कोई सम्भावना नही है। जैसा कि मैने बताया था, इस समय सभी प्रान्तों मे केवल एक ही दल का बहुमत है, किन्तु ऐसा भी समय आ सकता है जबकि प्रान्तो के विधानमण्डलो मे अनेक दल होंगे और जब मुख्य-मन्त्री इस योग्य न हो सके कि आपातकाल में विभिन्न दलो मे सामञ्जस्य स्थापित करा सके, ऐसे समय में राज्यपाल की स्थिति अत्यन्त लाभकर होगी और इसी दृष्टिकोण मे मै निवेदन कर रहा हूं कि जो शक्तिया राज्य के वैधानिक प्रधान को सौंपी जा रही हैं वे प्रजातन्त्र की सफल क्रियान्विति मे आवश्यक ही नही है अपितु इन शक्तियों से स्वय मन्त्रियों को लाभ होगा क्योंकि तब मन्त्री लोग एक ऐसे व्यक्ति से गोपनीय और विश्वसनीय मन्त्रणा प्राप्त कर सकेंगे जो न केवल उनका (मन्त्रियो का) विश्वास-भाजन है वरन् सभी दलों का समान रूप से विश्वास-पात्र है।"

का मत है कि यदि सत्ताधारी दल का बहुमत न रहे तो राज्यपाल को विरोधी दल के नेता को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए बुलाना चाहिए और उसके असफल रहने अथवा असमर्थता प्रकट करने पर यह जानने के लिए कि बहुमत किसके साथ है, प्रयास जारी रखना चाहिये।

मुख्य मन्त्री के कर्त्तव्य (Duties of Chief Minister)—संविधान[1] आदेश देता है कि प्रत्येक राज्य के मुख्य मन्त्री का—

(क) राज्य-कार्यों के शासन-सम्बन्धी मन्त्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चय तथा विधान के लिए प्रस्थापनाएं राज्यपाल को पहुंचाने का;

(ख) राज्य-कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी तथा विधान के लिए प्रस्थापनाओं सम्बन्धी जिस जानकारी को राज्यपाल मंगावे, उसको देने का; तथा

(ग) किसी विषय को, जिस पर मन्त्री ने विनिश्चय कर दिया हो किन्तु मन्त्रि-परिषद् ने विचार नहीं किया हो, राज्यपाल की अपेक्षा करने पर परिषद् के सम्मुख विचारार्थ रखने का कर्त्तव्य होगा।

किन्तु जहां एक बार, मन्त्रि-परिषद् के समक्ष रखी हुई कोई बात विनिश्चित हो चुकी, फिर राज्यपाल को उस पर अपनी सम्मति देनी ही होगी। संविधान ने राज्यपाल को यह अधिकार प्रदान नहीं किया है कि जिस विषय पर मन्त्रि-परिषद् विनिश्चय कर चुकी है, उस पर वह पुनर्विचार करा सके। केवल किसी व्यक्तिगत मन्त्री के विनिश्चय को ही सारी मन्त्रि-परिषद् के विचारार्थ भेजा जा सकता है। लेकिन अनुच्छेद ३७१ के अधीन पंजाब और आंध्र में स्थापित क्षेत्रीय समितियों (Regional Committees) के बारे में राज्यपाल के ऊपर जिम्मेदारी डाली गई है कि वह इनके सुचारु संचालन की व्यवस्था करे। पंजाब की क्षेत्रीय समितियों के बारे में राष्ट्रपति के आदेश में कहा गया था कि मन्त्रि-परिषद् साधारणतया इन समितियों के विधायी और कार्यकारी प्रस्तावों को स्वीकार करेगी। यदि मन्त्रि-परिषद् किसी सिफारिश को स्वीकार करना ठीक न समझे, तो वह मामला मुख्य मन्त्री राज्यपाल के पास भेजेगा और इस सम्बन्ध में राज्यपाल का निर्णय अन्तिम होगा।

राज्यपाल मुख्य मन्त्री से कह सकता है कि वह ऐसे किसी मामले को मुख्य मन्त्री के विचारार्थ प्रस्तुत करे जिस पर किसी एक मन्त्री ने निर्णय कर लिया हो। यह उपबन्ध सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के प्रतिकूल माना गया है। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। जब तक किसी राज्य के विधानमण्डल में किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत है और जब तक मन्त्रि-परिषद् में समान विचारों वाले लोग हैं, तब तक इस बात की बिल्कुल सम्भावना नहीं है कि कोई मन्त्री नीति सम्बन्धी ऐसी घोषणा कर दे या किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर ऐसी कार्रवाई कर डाले जिस पर सारे मन्त्रिमण्डल का निर्णय नहीं हुआ है; या कोई मन्त्रिमण्डल के विनिश्चय के विरुद्ध आचरण करे। किन्तु जब विधानमण्डल में किसी एक ही दल का स्पष्ट बहुमत नहीं है, और यदि मन्त्रि-परिषद् मिली-जुली हो, अर्थात् यदि मिली-जुली सरकार हो, उस स्थिति में ऐसा होना सम्भव है कि कोई

१. अनुच्छेद १६७

गुजरात के लिए विधान परिषद् की व्यवस्था नहीं की गई है। इस प्रकार १६ राज्यों में से ५ राज्यों में विधान परिषदें नहीं हैं।

संविधान ने संसद् को यह शक्ति दी है कि वह विधान परिषद् को उस राज्य में जिसमें वह नहीं है, स्थापित कर सकती है और उसे उस राज्य में जिसमे वह है, समाप्त कर सकती है। किन्तु विधान परिषद् का उत्सादन या सृजन संविधान का संशोधन नहीं समझा जायेगा।[1] संसद् विधि द्वारा किसी विधान परिषद् वाले राज्य में विधान परिषद् के उत्सादन के लिए अथवा वैसी परिषद् से रहित राज्य में उसके सृजन के लिए उपबन्ध कर सकती है यदि सम्बन्धित राज्य की विधान सभा ने इस उद्देश्य का संकल्प सभा की समस्त सदस्य सख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों की सख्या के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से पारित कर दिया हो।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी राज्य की विधान सभा ने अपने राज्य में विधान परिषद् के सृजन (creation) या उत्सादन (abolition) के लिए एक सकल्प, सभा की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से पास कर दिया हो तो संसद् तदर्थ विधि पास करके आवश्यक कार्रवाई करेगी।

विधान परिषद् के सृजन या उत्सादन के लिए जिस प्रणाली को अपनाया गया है, वह प्रणाली १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की तदर्थ प्रणाली के ही समान है। डा० अम्बेदकर ने संविधान सभा में राज्यों को विधान परिषदों के सृजन या उत्सादन के सम्बन्ध में अपनाई गई प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए कहा था: "इस अनुच्छेद के उपबन्ध लगभग वही हैं जो १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुच्छेद ६० मे विधान परिषद् के सृजन के लिए और अनुच्छेद ३०८ में उसके उत्सादन के लिए दिये गए हैं। हमने विधान परिषद् के सृजन या उत्सादन के सम्बन्ध में जो प्रणाली स्वीकृत की है उसके अनुसार किसी राज्य का निम्न सदन सकल्प द्वारा सिफारिश करेगा कि विधान परिषद् सृजित हो या उत्सादित की जाए। इस प्रकार विधान परिषद् वाले राज्य मे विधान परिषद् के उत्पादन के लिए और विधान परिषद् से रहित राज्य में विधान परिषद् के सृजन के लिए जो परिवर्त्तन होंगे उनको सुगम बनाने के विचार से उपबन्धित किया गया है कि ससद् की तदर्थ विधि सविधान का संशोधन नहीं समझी जायेगी क्योंकि सविधान का सशोधन जरा टेढ़ी खीर है।"[3]

विधान परिषदों की उपयोगिता (Utility of the Legislative Councils)— प्रान्तीय सविधान समिति ने द्वितीय सदनों की स्थापना के लिए जो प्रणाली अपनायी, उसके लिए उनके पास कुछ भी कारण या आधार रहे हों, किन्तु यह नि.सदेह स्पष्ट है कि भारतीय सविधान के स्वयं निर्माता भी विधान परिषदों की उपयोगिता के सम्बन्ध मे पूर्णतया निश्चित नहीं थे। विधान परिषदों के उत्सादन की व्यवस्था

---

१. अनुच्छेद १६९ (३)

२. अनुच्छेद १६९ (१)

३. Proceedings of the Constituent Assembly, Vol. IX, p. 14.

अध्याय १०

राज्य का विधानमण्डल
(THE STATE LEGISLATURE)

राज्य का विधानमण्डल (The State Legislature)—राज्य का विधानमण्डल राज्यपाल और यथास्थिति एक सदन या दो सदनों से मिल कर बनता है। प्रारम्भ मे भाग (क) के राज्यो मे विहार, वम्बई, मद्रास, पजाव, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी वंगाल मे और भाग (ख) के राज्यो में मैसूर मे द्विसदनात्मक विधानमडल थे। राज्यों के पुनर्गठन के पश्चात् निम्नलिखित १० राज्यों के द्विसदनात्मक विधानमण्डल थे : ग्रान्ध्र प्रदेश बिहार, वम्बई, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर, पजाव, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी वंगाल ग्रौर जम्मू तथा काश्मीर। यद्यपि १९५८ के सविधान (सातवा) सशोधन ग्रधिनियम द्वारा मध्य प्रदेश मे विधान परिषद् की स्थापना की व्यवस्था की कई है पर ग्रभी तक इसका निर्माण नही हुग्रा है। ग्रसम, केरल, उडीसा, नागालैण्ड ग्रौर हरियाणा मे एक सदनात्मक विधानमण्डल हैं। १९६९ मे पजाव ग्रौर पश्चिमी बगाल की विधान सभाग्रों ने प्रस्ताव पास किए कि उन राज्यो मे विधान परिषद् समाप्त कर दी जाए। ससद् ने इस ग्राशय का कानून पास करके पश्चिमी वंगाल की विधान परिषद् को समाप्त कर दिया है ग्रौर पजाव के सम्बन्ध मे ससद् के ग्रागामी सत्र मे बिल पेश होगा।

द्विसदनात्मक विधानमण्डल (Bicameral Legislature)—सविधान सभा ने प्रान्तीय सविधान के निर्माण के लिए प्रान्तीय सविधान समिति की स्थापना की थी ग्रौर यह उसी की सिफारिशों का फल था कि कुछ राज्यो मे तो द्विसदनात्मक विधानमण्डलो की स्थापना की गई ग्रौर कुछ राज्यो मे एकलसदनीय विधानमण्डलो की। समिति ने सिफारिश की थी कि किसी प्रान्त में द्वितीय सदन रखा जाय या नही, यह प्रश्न सम्बन्धित प्रान्त को स्वय निर्णय करना चाहिए। यदि कोई प्रान्त यह निर्णय करे कि उसे द्विसदनात्मक विधानमण्डल रखना चाहिए तो ऐसे प्रान्त में विधान परिषद् की स्थापना हो जानी चाहिए। किन्तु यदि कोई प्रान्त विधान परिषद् रखना न चाहे तो उसको मजबूर नही किया जा सकता। प्रान्तीय सविधान समिति की उक्त सिफारिश के फलस्वरूप निर्णय किया गया कि सविधान सभा मे विभिन्न प्रातो के जो प्रतिनिधि हैं उनको ग्रलग-ग्रलग ग्रपने-ग्रपने प्रात के लिए निर्णय करना चाहिए कि क्या वे ग्रपने-ग्रपने प्रात मे द्वितीय सदन रखने के इच्छुक हैं ग्रथवा नही। ग्रसम, मध्य प्रदेश ग्रौर उड़ीसा इन तीन प्रातो के प्रतिनिधियो ने द्वितीय सदन के विरुद्ध निर्णय किया; किन्तु ग्रन्य सभी प्रातो के प्रतिनिधियो ने द्वितीय सदन के रखने के पक्ष मे निर्णय किया।[1] १९५६ के राज्य पुनर्गठन ग्रधिनियम ने व्यवस्था की कि पुनर्गठित ग्रौर वृद्धि-प्राप्त मध्य प्रदेश राज्य मे द्विसदनात्मक विधानमण्डल होगा। तदनुरूप उसमें द्विसदनात्मक विधानमण्डल की स्थापना की गई। केरल में एक ही सदन रहने दिया गया। वम्बई पुनर्गठन ग्रधिनियम १९६० मे

1. Proceedings of the Constituent Assembly, Vol. VII, p. 130-39.

ग्रौर विधान परिपदें ग्रपनी ग्रोर योग्य व्यक्ति ग्राकर्पित नही कर सकी हैं। सत्तारुढ़ दल ने विधान परिपदों में ग्रपने समर्थको को नामाकित किया है। कुछ व्यक्तियो के मुख्य मन्त्री बनाने के लिये नामांकन किए गए हैं। कई ऐसे राज्य जिनमे द्विसदनात्मक विधानमण्डल है यह ग्रनुभव करने लगे है कि राज्यों मे द्विसदनात्मक विधानमण्डलो का रखना निरी मूर्खता है। वे यह भी ग्रनुभव करते है कि यह महँगा प्रयोग है ग्रौर राज्यों के स्वल्प द्रव्य-साधनों पर भारी भार है। बम्बई राज्य की विधान सभा ने ४ दिसम्बर, १९५३ को ३१ मतों के विरुद्ध १८२ मतो से विधान परिपद् के उत्सादन-सम्बन्धी सकल्प को पास किया। यदि विधान परिपदें द्वितीय सदन की लोकतन्त्रात्मक ग्रावश्यकताग्रो की पूर्ति नही करती तो उनका जारी रखना भारी छलपूर्ण मजाक है। पजाब विधान परिपद् के सचिव ने जो कि द्विसदनात्मक विधानमण्डल के प्रशंसक हैं, कहा है कि यदि विधान परिपद् को इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयोग मे लाना है तो उसमे ग्रनुभवी ग्रौर सुविख्यात व्यक्तियों को लाने के लिए सभी दलो को प्रयास करना चाहिए, ऐसे व्यक्ति जिनको समाज मे सम्मान प्राप्त हो, जो चरित्र बल रखते हो ग्रौर राष्ट्र की सेवा करने योग्य हो। उनका मत है कि परिपद् के कार्य के लिए उपयुक्त योजना बनाई जानी चाहिए जिससे प्रत्येक सदस्य सदन मे पेश होने वाले प्रत्येक मामले पर ध्यान दे।

विधान परिपदों की रचना (Composition of the Legislative Councils)—सविधान ने तो केवल यही उपबन्धित किया है कि प्रत्येक राज्य की विधान सभा मे ग्रधिक-से-ग्रधिक ग्रौर कम-से-कम कितने सदस्य होने चाहिए। प्रारम्भ मे सविधान ने उपबन्धित किया था कि किसी भी विधान परिपद् मे चालीस से कम सदस्य न हों ग्रौर उसके सदस्यों की ग्रधिक-से-ग्रधिक सख्या उस राज्य की विधान सभा के सदस्यो की समस्त संख्या के २५% से ग्रधिक नही हो। राज्यों के पुनर्गठन के कारण सविधान मे कुछ संशोधन करने के उद्देश्य से सातवे संविधान सशोधन ग्रधिनियम ने उपबन्धित किया है कि विधान परिपद् के सदस्यों की समस्त सदस्य संख्या उस राज्य की विधान सभा के सदस्यो की समस्त सख्या की एक-तिहाई से ग्रधिक परन्तु ४० से कम न होगी। वर्तमान उपबन्धों के ग्रधीन, राज्य की विधान परिपद् की रचना निम्न रीति से होगी[1] :—

(क) यथाशक्य एक-तिहाई सख्या उस राज्य की नगरपालिकाग्रों, जिला-मण्डलो तथा ग्रन्य ऐसे स्थानीय प्राधिकारियो के, जैसे कि ससद् कानून द्वारा निर्धारित करे, सदस्यों से मिल कर बने निर्वाचकमण्डलों द्वारा निर्वाचित होगी।

(ख) यथाशक्य बारहवा भाग उस राज्य मे निवास करने वाले ऐसे व्यक्तियों से मिल कर बने हुए निर्वाचकमण्डलो द्वारा चुना जाएगा, जो भारत राज्य-क्षेत्र के किसी विश्वविद्यालय के कम-से-कम ३ वर्ष के स्नातक हैं; ग्रथवा जो कम-से-कम ३ वर्ष से ऐसी शर्तों को पूरा करते है, जो समद् निर्मित किसी कानून के द्वारा या ग्रधीन वैसे किसी विश्वविद्यालय के स्नातक की उपाधियों या ग्रर्हताग्रो के बराबर ठहराई गई हों।

(ग) यथाशक्य बारहवा भाग ऐसे व्यक्तियो से मिल कर बने निर्वाचकमण्डलो

१. ग्रनुच्छेद १७१ (३)

करके सविधान के निर्माताओं ने विधान परिषदों को राज्य शासन-व्यवस्था में अत्यन्त हीन और अस्थायी (tentative) स्थिति प्रदान की। इस प्रकार विधान परिषदें न केवल द्वितीय सदन हैं वरन् वे घटिया दर्जे की और अप्रधान भी हैं। विधान परिषदों का धन विधेयकों के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं है। धन विधेयक केवल विधान सभा में पुरःस्थापित किया जा सकता है; और जब विधान सभा उसे पास कर चुके, तब वह विधान परिषद् के पास उसकी सिफारिशों के लिए भेजा जाता है। विधान परिषद् के लिए यह आवश्यक है कि वह धन विधेयक के प्राप्त होने की तारीख के चौदह दिनों के अन्दर उक्त विधेयक को अपनी सिफारिशों सहित या बिना सिफारिशों के भी विधान सभा को वापस भेज दे। किन्तु विधान परिषद् की सिफारिशें विधान सभा के लिए सर्वथा मान्य नहीं हैं। यदि विधान सभा, विधान परिषद् की सिफारिशों को अस्वीकृत करे अथवा यदि विधान परिषद् चौदह दिनों के अन्दर कोई सिफारिश ही न करे; तो भी विधेयक राज्यपाल की अनुमति प्राप्त होने पर विधि का रूप धारण कर लेगा। विधान परिषद् अधिक-से-अधिक किसी धन विधेयक को चौदह दिन तक रोके रख सकती है। अ-वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में भी विधान परिषद् के पास कोई प्रभावी शक्तियां नहीं हैं। किसी अ-वित्तीय विधेयक के पास होने में विधान परिषद् अधिक-से-अधिक चार मास की देर लगा सकती है। यदि राज्य के विधानमण्डल के दोनों सदनों में किसी बात पर मतभेद हो जाए तो सविधान ने उक्त मतभेद को सुलझाने के लिए दोनों सदनों के सम्मिलित अधिवेशन की व्यवस्था नहीं की है। अन्त में विधान सभा ही जो कुछ चाहती है वही होता है।

राज्यों में द्विसदनात्मक विधानमण्डल के अनेक व्यक्ति प्रबल समर्थक हैं। उनके विचार से द्विसदनात्मक विधानमण्डल निष्फल सस्था नहीं है। वे लोकतन्त्र की दृष्टि से इसे आवश्यक मानते हैं क्योंकि यह जल्दी से और बिना पर्याप्त सोच-विचार के पास किए गए कानूनों के ऊपर अकुश है। विभिन्न राज्यों में विधान परिषदों ने उपयोगी कार्य किया है। विधान परिषदों के संशोधनों को विधान सभाएं स्वीकार कर ही लेती हैं।

विधान परिषदों का वातावरण भी विधान सभाओं की अपेक्षा अधिक गम्भीर रहता है। उनके वाद-विवादों का स्तर भी अपेक्षाकृत अधिक ऊंचा रहता है। उच्च सदनों के सदस्य देश के वयोवृद्ध और अनुभवी राजनीतिज्ञ होते हैं। वित्तीय मामलों में भी विधान परिषदों का अशदान रहता है क्योंकि बजट पर दोनों सदनों में विचार होता है। नियन्त्रक महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General) का प्रतिवेदन भी दोनों सदनों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee) में भी उच्च सदन का प्रतिनिधित्व रहता है।

लेकिन आलोचकों का कहना है कि विधान परिषद् में विभिन्न तत्वों का प्रतिनिधित्व होता है तथा उसमें कुछ नामांकित सदस्य भी होते हैं। ऐसा बेमेल सदन न तो ठीक-ठीक पुनर्विचारक सदन के रूप में कार्य कर सकता है और न यह विधान सभा द्वारा जल्दबाजी में पास किये गये किसी विधान की उचित जाच-पड़ताल या परीक्षा कर सकता है। सत्य यह है कि प्रत्येक राज्य के दोनों सदनों के लिए योग्य प्रतिनिधियों की कमी है

मण्डल की किसी समिति में, जिसने, उसका नाम सदस्य के रूप में दिया हो, बोले तथा दूसरे प्रकार से कार्रवाइयों में भाग ले; किन्तु उसको मत देने का अधिकार न होगा।[1] मन्त्री केवल उसी सदन में बोल सकता है जिसका वह सदस्य है।

प्रत्येक राज्य की विधान परिषद् अपने दो सदस्यों को अपना सभापति और उपसभापति चुनती है। परिषद् के सभापति या उपसभापति के रूप में पद धारण करने वाला सदस्य यदि परिषद् का सदस्य नहीं रहता तो वह अपना पद भी रिक्त कर देता है।[2] परिषद् के सभापति या उपसभापति को, परिषद् के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प के द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है।[3] परिषद् की बैठक में सभी प्रश्न उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत से निर्णीत होते हैं किन्तु सभापति मतदान नहीं कर सकता। यदि किसी प्रश्न पर बराबर-बराबर मत आवें, तो सभापति मतदान करता है और उसका मत निर्णायक होगा।

विधान परिषद् के विधायी कृत्य (Legislative Functions of the Council)—अ-वित्तीय विधेयक (A bill other than Money Bill) राज्य के विधानमण्डल के किसी भी सदन मे पुरःस्थापित किया जा सकता है अर्थात् जिस राज्य में विधान परिषद् है, उसकी परिषद् में भी अ-वित्तीय विधेयक पुरःस्थापित किया जा सकता है। कोई अ-वित्तीय विधेयक उस समय तक ऐसे राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित नहीं किया जा सकता जिसमें विधान परिषद् भी है जब तक कि उक्त दोनों सदनों ने उस विधेयक पर अपनी-अपनी स्वीकृति न दे दी हो। धन विधेयकों को छोड़ कर अन्य प्रकार के विधेयको के सम्बन्ध में विधान परिषद् के अधिकारों पर जो सीमाएं लगा दी गई हैं, उनका वर्णन अनुच्छेद १६७ में किया गया है। जो विधेयक विधान सभा में पास हो गया है और विधान परिषद् में विचार के लिए भेजा गया है उसमें संशोधन करने की शक्ति भी प्रायः विधान परिषद् से छीन ली गई है। जब ऐसा कोई विधेयक (क) विधान परिषद् द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है, अथवा (ख) परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से, उससे विधेयक पारित हुए बिना, तीन मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है; अथवा (ग) ऐसे संशोधनों सहित पास किया जाता है, जिन्हें विधान सभा स्वीकार करती, तो विधान सभा उस विधेयक को अपने उसी अधिवेशन अथवा बाद के अधिवेशनों में परिषद् द्वारा सुझाए गए संशोधनों सहित अथवा उनके बिना फिर से पास कर सकती है और उसे फिर से विधान परिषद् में भेजती है। अब यदि विधान परिषद् (क) उक्त विधेयक को पुनः अस्वीकार कर देती है; अथवा (ख) परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से, उसमें विधेयक पारित हुए बिना एक मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है; अथवा (ग) परिषद् द्वारा विधेयक ऐसे संशोधनों सहित पारित होता है जिन्हें विधान सभा स्वीकार नहीं करती,

---

१. अनुच्छेद १७७
२. अनुच्छेद १८३ (क)
३. अनुच्छेद १८३ (ग)

द्वारा निर्वाचित होगा, जो राज्य के भीतर माध्यमिक पाठशालाओं से अनिम्न स्तर की ऐसी शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ाने के काम में कम-से-कम ३ वर्ष से लगे हुए हैं, जैसी कि संसद् निर्मित कानून द्वारा या अधीन निर्धारित की जाएं।

(घ) तृतीयांश राज्य की विधान सभा के सदस्यों द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से निर्वाचित होगा, जो विधान सभा के सदस्य नहीं है।

(ङ) शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से मनोनीत किये जाएंगे जिन्हें, साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन और सामाजिक सेवा के विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है।

विधान परिषदों के लिए होने वाले सभी निर्वाचन, आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली से एकल संक्रमणीय मत (single transferable vote) द्वारा होंगे।

विधान परिषद् का सदस्य निर्वाचित होने के लिए किसी व्यक्ति को—भारत का नागरिक होना चाहिए; उसकी आयु तीस वर्ष से कम नही होनी चाहिए; और उसे वे सब शर्तें पूरी करनी चाहिएं जिन्हें केन्द्रीय विधानमण्डल अर्थात् संसद् निर्धारित करे। यह भी उपबन्धित किया गया है कि यदि विधान परिषद् का कोई सदस्य, परिषद् की सभाओं से ६० दिनों तक लगातार बिना आज्ञा लिये अनुपस्थित रहे तो परिषद् उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकती है।

विधान परिषद् का संघटन (Organisation of the Legislative Council)—विधान परिषद् एक स्थायी निकाय है जिसका विघटन नहीं हो सकता। उसके एक-तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष हट जाते हैं और इस प्रकार एक सदस्य का सामान्य कार्यकाल ६ वर्ष है। यह आवश्यक है कि विधान सभा के सहित विधान परिषद् वर्ष में कम-से-कम दो बार अधिवेशन के लिए आहूत हो और इसके पिछले सत्र की अन्तिम बैठक और अगले सत्र की प्रथम बैठकों के बीच का समय छ: मास से अधिक नहीं होना चाहिए। राज्यपाल विधान परिषद् को कुछ काल के लिए स्थगित कर सकता है। राज्यपाल यदि चाहे तो केवल विधान परिषद् को अलग से सम्बोधित कर सकता है या वह दोनों सदनों को साथ समवेत करके सम्बोधित कर सकता है और ऐसे अवसर पर इस प्रयोजन के लिए विधानमण्डल के सदस्यों को उपस्थित होने का आदेश दे सकता है। वह परिषद् में उस समय लम्बित किसी विधेयक विषयक अथवा अन्य विषयक सन्देश भेज सकता है; और परिषद् के लिए आवश्यक होगा कि वह सदेश द्वारा अपेक्षित विचारणीय विषय पर यथासुविधा शीघ्र विचार करे। प्रत्येक सत्र के आरम्भ मे विधान सभा को, अथवा राज्य में विधान परिषद् होने की अवस्था मे साथ समवेत हुए दोनों सदनों को, राज्यपाल सम्बोधित करता है तथा वह आह्वान का कारण भी विधानमण्डल को बताता है। परिषद् के विनियामक नियमों से राज्यपाल के अभिभाषण में निर्दिष्ट विषयों की चर्चा के हेतु समय रखने के लिए तथा सदन के अन्य कार्य पर इस चर्चा को पूर्ववर्तिता देने के लिए व्यवस्था की जाती है। राज्य के प्रत्येक मन्त्री और महाधिवक्ता को अधिकार है कि वह उस राज्य की विधान सभा मे अथवा राज्य में विधान परिषद् होने की अवस्था मे दोनों सदनों मे बोले तथा दूसरे प्रकार से उनकी कार्यवाहियों में भाग ले, तथा विधान-

विधान सभा
(The Legislative Assembly)

विधान सभा की रचना (Composition of the Legislative Assembly)—विधान सभा ही राज्य का लोकप्रिय सदन है और इसी सदन में वास्तविक शक्ति निवास करती है। विधान सभा ऐसे सदस्यों से मिल कर बनती है जो सर्व-साधारण द्वारा प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित होते हैं; तथा वे उन प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों से निर्वाचित होकर आते हैं जिनमे राज्य को विभाजित कर दिया जाता है। निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है अर्थात् प्रत्येक नागरिक को जिसकी आयु २१ वर्ष से कम नही है, और जो निवास-स्थान, पागलपन, अपराध और भ्रष्टाचार के कारण मतदान करने से वचित नही कर दिया गया है, मताधिकार प्राप्त है। किसी नागरिक को वंश, मूल जाति, धर्म या लिंग के आधार पर मताधिकार से वचित नही किया गया है। निर्वाचन आयोग के संचालन और निर्देशन मे निर्वाचन नामावलिया प्रति वर्ष तैयार कराईजाती हैं और उनका संशोधन किया जाता है।

संविधान का आदेश है कि किसी भी राज्य की विधान सभा मे ५०० से अधिक और ६० से कम सदस्य नही होगे। प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र मे प्रतिनिधित्व का आधार प्रति ७५,००० व्यक्तियों पर एक सदस्य से अधिक नही होना चाहिए। निर्वाचन-क्षेत्रों को परिसीमित करने का सारा उत्तरदायित्व संसद् के अधिकार मे दे दिया गया है और प्रत्येक जनगणना के बाद विभिन्न प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रो के प्रतिनिधित्व को ऐसी सत्ता इस रूप मे संशोधित और पुनः क्रमबद्ध कर लेती है जैसा इन सम्बन्धों मे संसद् विधि द्वारा उपबन्धित करे। इन सामान्य उपबन्धों को छोड़ कर राज्यों के विधानमण्डलों मे अल्पसख्यक वर्गों के प्रतिनिधित्व के लिए कुछ विशेष उपबन्ध बनाए गये हैं। अनुच्छेद ३३२ में कहा गया है कि असम के आदिम जाति क्षेत्रों को छोड कर राज्यों के विधान-मण्डलों मे अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के लिए स्थान सुरक्षित रहेगे। साथ ही असम राज्य की विधान सभा में स्वायत्तशासी जिलो के लिए भी कुछ स्थान सुरक्षित रख दिये गए हैं।[1] ऐंग्लो-इण्डियन जाति के लिए भी एक विशेष उपबन्ध बनाया गया है। यदि किसी राज्य के राज्यपाल का यह मत है कि उस राज्य की विधान सभा में ऐंग्लो-इण्डियन[2] जाति का प्रतिनिधित्व उपयुक्त रूप मे नही हुआ है, तो वह उस जाति के उपयुक्त व्यक्ति या व्यक्तियों को विधान सभा के लिए नामनिर्देशित कर सकता है। प्रारम्भ में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदिम जातियों तथा ऐंग्लो-इण्डियन जातियों के लिए जो ये विशेष उपबन्ध बनाए गए थे अथवा जो स्थान सुरक्षित रखे गए थे वे संविधान के प्रारम्भ होने के १० वर्ष बाद समाप्त हो जाने को थे लेकिन अब उनकी अवधि १० वर्ष और बढ़ा दी गई है।

---

१. अनुच्छेद ३३२
२. अनुच्छेद ३३३

नो वह विधेयक राज्य के विधानमण्डल के दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में पास समझा जाएगा, जिस रूप में विधान सभा ने उसे दुबारा पास किया था, और उसमें केवल वही सशोधन होंगे जिन्हें विधान सभा ने स्वीकार किया है। इस प्रकार राज्यों के विधानमण्डलों के दोनों सदनों की विधायिनी शक्तिया बराबर नहीं हैं। विधान परिषद् तो केवल किसी विधेयक के पास होने में कुछ देर लगा सकती है और देर भी केवल चार महीने से अधिक नहीं।

विधान परिषद् के वित्तीय कृत्य (Financial Functions of the Council)—धन विधेयकों के सम्बन्ध में विधान परिषद् के प्रायः वे ही कृत्य हैं जो ससद् के उच्च सदन अर्थात् राज्य सभा के हैं। विधान परिषद् में धन विधेयक पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता।[1] जब विधान सभा में कोई धन विधेयक पास हो जाता है तब वह विधान परिषद् में उसकी सिफारिशों के लिए भेजा जाता है। परिषद् में प्रस्तुत होने के १४ दिनों के भीतर यदि वह धन विधेयक विधान परिषद् की सिफारिश सहित सभा में वापिस नहीं आता, तो वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित हुआ मान लिया जाता है। किन्तु यदि इस समय में परिषद् उस विधेयक को अपनी सिफारिशों सहित विधान सभा में भेज देती है, तो उन सिफारिशों को स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने का अधिकार विधान सभा को है। यदि विधान परिषद् विधेयक को अस्वीकार कर देती है तो भी विधेयक उसी रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित माना जायेगा जिस रूप में उक्त विधेयक को विधान सभा ने पास किया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धन विधेयकों के सम्बन्ध में विधान परिषद् के पास न तो कोई शक्तिया हैं और न धन विधेयक परिषद् से प्रारम्भ ही हो सकते हैं। धन विधेयकों के सम्बन्ध में परिषद् तो केवल कुछ पवित्र सिफारिशें मात्र कर सकती है और विधान सभा चाहे तो उन पवित्र सिफारिशों को स्वीकार करे चाहे न करे। यदि परिषद् में प्रस्तुत होने के चौदह दिनों के भीतर भी परिषद् किसी विधेयक पर अपनी सिफारिशें नहीं करती है तो भी ऐसा विधेयक राज्य के विधानमण्डल के दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में पारित माना जाता है जिस रूप में उस विधेयक को विधान सभा ने स्वीकार किया था। इसलिए वित्तीय विषयों से सम्बन्धित विधेयकों के विषय में वास्तविक शक्ति विधान सभा के पास है।

विधान परिषद् के प्रशासनिक कृत्य (Administrative Functions of the Council)—मन्त्रि-परिषद् विधान परिषद् के प्रति उत्तरदायी नहीं है। सविधान ने स्पष्ट आदेश दिया है कि मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है। फिर भी विधान परिषद् को अधिकार है कि वह प्रश्नों और पूरक प्रश्नों के द्वारा ऐसे विषयों पर वाद-विवाद कर सकती है जिनका सम्बन्ध सार्वजनिक प्रशासन से हो और सार्वजनिक महत्व के ऐसे प्रस्ताव पर भी वाद-विवाद और विचार-विनिमय कर सकती है जिसका सम्बन्ध राज्य के प्रशासन से हो।

---

१. अनुच्छेद १९८ (१)

आपात की उद्घोषणा समाप्त हो चुकी है, तब यह अवधि किसी भी दशा मे छः मास से अधिक के लिए नही बढ़ाई जा सकती।

राज्य के विधानमण्डल के सत्र, सत्रावसान और विघटन (Sessions, Prorogation and Dissolution)—राज्य का राज्यपाल राज्य के विधानमण्डल को ऐसे समय तथा स्थान पर, जैसा वह उचित समझे, अधिवेशन के लिए आहूत कर सकता है। किन्तु राज्य के विधानमण्डल को प्रति वर्ष कम से कम दो बार अधिवेशन के लिए आहूत किया जाना आवश्यक है तथा उसके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियुक्त तारीख के बीच छः मास से अधिक का अन्तर नही होना चाहिए। किन्तु राज्यपाल सदन का सत्रावसान कर सकता है और विधान सभा का उसकी पाच वर्ष की सामान्य अवधि से पूर्व भी विघटन कर सकता है।[1]

राज्यपाल विधान सभा को अथवा राज्य मे विधान परिषद् होने की अवस्था में उस राज्य के विधानमण्डल के किसी एक सदन को, अथवा साथ समवेत दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकता है।[2] राज्यपाल राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन मे उस समय लम्बित किसी विधेयक-विषयक अथवा अन्य-विषयक सन्देश उस राज्य के विधानमण्डल के सदन अथवा सदनों को भेज सकता है तथा जिस सदन को कोई सन्देश इस प्रकार भेजा गया हो वह सदन उस सन्देश द्वारा अपेक्षित विचारणीय विषय पर यथासुविधा शीघ्र विचार करता है।[3]

संविधान ने राज्यपाल के ऊपर कर्त्तव्य-भार सौंपा है कि प्रत्येक महानिर्वाचन (General Election) के बाद नये विधानमण्डल को तथा प्रत्येक सत्र के आरम्भ मे सदन या सदनों को सम्बोधित करे तथा आह्वान का कारण बतावे। विधानमण्डल के सदन या सदनों की प्रक्रिया के विनियामक नियमों मे राज्यपाल के अभिभाषण मे निर्दिष्ट विषयो की चर्चा के हेतु समय रखने के लिए व्यवस्था की जाती है। राज्यपाल के अभिभाषण पर जो वाद-विवाद और मतदान होता है, वह वास्तव में मन्त्रि-परिषद् के समर्थन मे प्रति वर्ष विश्वास के प्रस्ताव का अवसर प्रदान करता है।

राज्य के प्रत्येक मन्त्री को और राज्य के महाधिवक्ता को अधिकार है कि वह उस राज्य की विधान सभा में, अथवा राज्य मे विधान परिषद् होते की अवस्था में दोनो सदनो में बोले तथा दूसरे प्रकार उनकी कार्रवाइयो मे भाग ले तथा विधानमण्डल की समितियो में भी भाग ले। किन्तु मन्त्री मतदान केवल उसी सदन में कर सकता है जिसका वह सदस्य है।

जब तक राज्य का विधानमण्डल विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध न करे, राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन की कार्रवाई के हेतु आवश्यक गणपूर्ति (Quorum)

---

१. अनुच्छेद १७४
२. अनुच्छेद १७५ (१)
३. अनुच्छेद १७५ (२)

विधान सभा की सदस्यता के लिए अर्हताएं (Qualifications for Membership of the Legislative Assembly)—किसी राज्य की विधान सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए प्रायः वही अर्हताएं और शर्तें रखी गई हैं जो लोक सभा की सदस्यता के लिए रखी गई है। विधान सभा के लिए निर्वाचन में खड़े होने वाले प्रत्याशियों के लिए यह आवश्यक है कि वे भारत के नागरिक हों, उनकी आयु २५ वर्ष से कम न हो, और वे उन सारी शर्तों को पूरा करते हो जिन्हें ससद् निर्धारित करे। एक ही व्यक्ति, राज्य के विधानमण्डल के दोनो सदनो का एक साथ सदस्य नही रह सकता, यदि उस राज्य में विधान परिषद् भी है। उसी प्रकार एक ही व्यक्ति, दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डलो का एक ही समय मे सदस्य नही हो सकता। और राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य, यदि सदन की आज्ञा के विना लगातार ६० दिनों तक उसकी बैठकों से अनुपस्थित रहता है तो सदन उसका स्थान रिक्त घोषित कर देता है।

संविधान की कतिपय ऐसी अनर्हताएं (disqualifications) भी निर्धारित की है जिनके कारण कोई व्यक्ति राज्य की विधान सभा का सदस्य चुने जाने के लिए अर्ह न हो। ये अर्हताए निम्नलिखित हैं: (क) यदि वह भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी ऐसे लाभ के पद पर हो, जिस पद को कानून द्वारा राज्य के विधानमण्डल ने उन्मुक्ति नही दी है; (ख) यदि उसका दिमाग ठीक नही है तथा किसी मान्य न्यायालय ने उक्त घोषणा कर दी है; (ग) यदि वह दिवालिया है; (घ) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है, अथवा स्वेच्छापूर्वक किसी अन्य राज्य की नागरिकता उसने प्राप्त कर ली है, अथवा यदि उसकी राज्य भक्ति किसी अन्य विदेशी राज्य के प्रति है; (ङ) अथवा यदि वह राज्य के विधानमण्डल के किसी कानून के द्वारा विधानमण्डल की सदस्यता के अधिकार से वचित कर दिया गया है। शर्त न० (क) के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यदि कोई व्यक्ति भारत सरकार का अथवा किसी अन्य राज्य का मन्त्री है तो उसका पद इस सम्बन्ध में या इस प्रयोजन के लिए लाभ का पद नही समझा जायेगा। यदि कभी यह प्रश्न उठे कि किसी राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन के सदस्य पर इनमें से कोई शर्त लागू होती है या नही तो इस सम्बन्ध में राज्य के राज्यपाल का विनिश्चय अन्तिम होगा। किन्तु अपना विनिश्चय देने से पूर्व राज्यपाल के लिए आवश्यक होगा कि वह उक्त विषय मे निर्वाचन आयोग की सम्मति ले ले और राज्यपाल अपना विनिश्चय, निर्वाचन आयोग की सम्मति के आधार पर ही देगा।[1] इस लिए राज्यपाल का विनिश्चय एक प्रकार से निर्वाचन आयोग का ही विनिश्चय अथवा सहमति होगी।

विधान सभा की अवधि (Duration of the Legislative Assembly)—विधान सभा की अवधि पाच वर्ष है। तथापि उसका इस अवधि की समाप्ति के पूर्व भी विघटन किया जा सकता है। जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्त्तन में है, सघीय संसद्, विधान सभा की अवधि एक बार मे एक से अनधिक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है। लेकिन जब

१. अनुच्छेद १९२

राज्य की विधान सभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष की प्रायः वे ही शक्तिया और कर्त्तव्य हैं जो लोक सभा के अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष की हैं। विधान सभा का अध्यक्ष एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष अधिकारी है और उसको वे सारे अधिकार प्राप्त हैं जिनके आधार पर वह सदन की कार्रवाई सुनिश्चित और व्यवस्थित ढग से चलाता है। उसको अधिकार है कि वह प्रश्न स्वीकृत करे, और सकल्प तथा प्रस्ताव स्वीकार करे और वही विधान सभा के विचाराधीन सारी और विभिन्न कार्रवाई के लिए समय निश्चित करता है। सदन के नेता से परामर्श करके वह सदन की कार्रवाई की सूची तैयार करता है और यह निश्चय करता है कि निश्चित कार्रवाई किस क्रम से निपटायी जाय, और फिर वही प्रत्येक सदस्य के भाषण के लिए समय भी निर्धारित कर देता है। अध्यक्ष सदन मे शान्ति और गौरव-गरिमा बनाये रखता है और उसे अधिकार है कि यदि कोई सदस्य सदन के नियमो को तोड़ता है तो वह उस सदस्य को सदन से बाहर जाने का आदेश दे सकता है; और यदि उक्त सदस्य का व्यवहार अत्यन्त अभद्र है और उसने अध्यक्ष के आदेशों की बार-बार अवहेलना की है, तो ऐसे सदस्य को अध्यक्ष सारे अधिवेशन के लिए भी सदस्यता से निलम्बित कर सकता है। यदि सदन मे भीषण गडबडी उत्पन्न हो जाए तो अध्यक्ष सदन की कार्रवाई को स्थगित कर सकता है या उसके सत्र को निलम्बित कर सकता है। अध्यक्ष ही कई नाम सभापति पद के लिए तथा विधेयको से सम्बन्धित प्रवर समितियों के सभापतियो तथा विधान सभा की अन्य समितियो के लिए भी सभापतियों का नाम निर्देशित करता है। सभा के नियमों का निर्वचन वही करता है और वही औचित्य प्रश्नों (points of order) को तय करता है। सदन की कार्य-प्रणाली उसी की इच्छानुसार निश्चित की जाती है। उसके समादेश (rulings) अन्तिम (final) होते हैं। उनके विरुद्ध सदन से अपील नही की जा सकती।

सक्षेप मे, अध्यक्ष सदन के सदस्यो के अधिकारो का निष्पक्ष रक्षक है। लेकिन, इग्लैण्ड में कॉमन सभा के अध्यक्ष को जो सम्मान प्राप्त है, भारत मे उसका नितान्त अभाव है। कॉमन सभा मे यदि अध्यक्ष अपने स्थान पर खडा होकर 'शान्ति, शान्ति' (Order ! Order !!) कह देता है, तो सम्पूर्ण सदन मे निस्तब्धता छा जाती है। भारत में कई बार ऐसा हुआ है कि अध्यक्ष ने सदस्य का नाम लिया है और सदस्य ने क्षमा याचना करना अस्वीकार कर दिया है। या यदि अध्यक्ष ने उससे सभा भवन छोड कर बाहर चले जाने के लिए कहा है, तो वह बाहर नही गया है। कई बार तो दुराग्रही सदस्य को सभा भवन से बाहर निकालने के लिए मार्शल की भी सेवाएं प्राप्त की गई हैं। ८ सितम्बर, १९५८ को उत्तर प्रदेश विधान सभा मे अध्यक्ष के आदेश पर मार्शल ने समाजवादी गुट के नेता को सशस्त्र सैनिको की सहायता से सभा भवन के बाहर निकाला था। २१ सितम्बर, १९५९ को पश्चिमी बगाल की विधान सभा मे काग्रेसी सदस्यो और विरोधी दल के सदस्यों के बीच न केवल गाली-गलौज ही हुआ, प्रत्युत् जूतेबाजी भी हुई। दो सदस्यों के बीच तो लॉबी मे मुक्केबाजी होती रही थी।[1]

---

1. *The Tribune*, Ambala Cantt, September 22, 1959.

दस सदस्य अथवा सदन की समस्त सदस्य संख्या के सदस्य, इन दोनों संख्याओं में से जो भी अधिक होगी, वही संख्या आवश्यक गणपूर्ति रहेगी।

अध्यक्ष (Speaker)—प्रत्येक राज्य की विधान सभा अपने दो सदस्यों को क्रमशः अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनती है। जब-जब अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष का पद रिक्त हो तब-तब सभा किसी अन्य सदस्य को यथास्थिति अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष चुनती है। विधान सभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के रूप मे पद धारण करने वाला सदस्य यदि सभा का सदस्य नही रहता तो अपना पद रिक्त कर देता है। विधान सभा का अध्यक्ष या उपाध्यक्ष अपने पद को किसी भी समय त्याग सकता है। यदि विधान सभा का अध्यक्ष त्यागपत्र देता है तो उसे अपना त्यागपत्र सदन के उपाध्यक्ष को सम्बोधित करना चाहिए, किन्तु यदि उपाध्यक्ष त्यागपत्र देता है तो उसका त्यागपत्र अध्यक्ष को सम्बोधित किया जायेगा। विधान सभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के रूप मे पद धारण करने वाला सदस्य विधान सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यो के बहुमत से पारित सकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है, किन्तु उक्त प्रयोजन के लिए कोई संकल्प तब तक प्रस्तावित नही किया जा सकता जब तक कि उस सकल्प के प्रस्तावित करने के अभिप्राय की कम से कम १४ दिन पूर्व सूचना न दे दी गई हो।[1] किन्तु विधान सभा के विघटित होने पर भी अध्यक्ष अपने पद पर बना रहता है, और विघटन के पश्चात् होने वाली विधान सभा के प्रथम अधिवेशन के ठीक पहले तक अध्यक्ष अपने पद को रिक्त नही करता। जब अध्यक्ष का पद रिक्त होता है, उस समय उसके कर्त्तव्यो का निर्वहन उपाध्यक्ष करता है। यदि किसी समय अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनो के पद रिक्त हो तो विधान सभा का ऐसा सदस्य, जिसे राज्यपाल उस प्रयोजन के लिए अस्थायी रूप से नियत करे, अध्यक्ष पद के कर्त्तव्यो का पालन करता है। यदि विधान सभा की किसी बैठक से अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनो अनुपस्थित है, तो ऐसा व्यक्ति अध्यक्ष के रूप मे कार्य करता है जो सभा की प्रक्रिया के नियमो के अनुसार तदर्थ निर्धारित किया जाए। किन्तु यदि ऐसा भी कोई व्यक्ति उपस्थित नही है तो ऐसा अन्य व्यक्ति, जिसे सभा निर्धारित करे, अध्यक्ष के रूप मे कार्य करता है। विधान सभा की किसी बैठक मे जब अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को अपने पद से हटाने का सकल्प विचाराधीन हो, तब अध्यक्ष या उपाध्यक्ष सभा मे उपस्थित रहने पर भी पीठासीन (to preside) नही हो सकता। किन्तु जिस समय विधान सभा में ऐसा कोई संकल्प (अध्यक्ष को हटाने सम्बन्धी) विचाराधीन हो उस समय अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को बोलने तथा दूसरे प्रकार से उसकी कार्रवाइयो मे भाग लेने का अधिकार है और ऐसे सकल्प पर वह प्रथमत. ही मतदान करने का हकदार होगा। अर्थात् ऐसे अवसर पर अध्यक्ष या उपाध्यक्ष सामान्य सदस्य की तरह मत दे सकता है और इसलिए उसका निर्णायक मत (Casting Vote) नही रहता। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को ऐसे वेतन और भत्ते मिलते है जैसे राज्य का विधानमण्डल विधि द्वारा नियत करे। और इस वेतन और भत्ते की धनराशि राज्य की सचित निधि पर भारित व्यय होगा।

---

१. अनुच्छेद १७९ (ग)

को ही विधि बनाने का अधिकार है, किन्तु यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर संसद् द्वारा विधि बन चुकी है तो राज्य का विधानमण्डल उसी विषय पर विधि नही बना सकता। इसके विपरीत यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर राज्य के विधानमण्डल ने कोई विधि बना रखी है तो भी ससद् किसी विषय पर विधि निर्मित कर सकती है; और राज्य की विधि जहां तक ससद् की विधि के विरुद्ध होगी, वहा तक प्रभावहीन हो जाएगी। किन्तु ससद् की विधि के विरोध होने की दशा मे भी राज्य की विधि प्रभावयुक्त रहेगी यदि राज्य की विधि को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित करके रख लिया गया हो और यदि राष्ट्रपति ने अपनी अनुमति प्रदान कर दी हो।

सविधान ने राज्यो के विधानमण्डलो की शक्तियो पर उनके अपवर्जी अधिकार क्षेत्र मे भी कतिपय प्रतिबन्ध आरोपित किए है, जो निम्न है .

(१) राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनायी गयी कुछ विधिया तब तक प्रभावी नही होगी जब तक कि ऐसी विधियो को राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात्, उसकी अनुमति न मिल गई हो।[1] उदाहरणार्थ, समवर्ती सूची के ऐसे विषयो के बारे में विधिया जो संसद् द्वारा पूर्व पारित विधियो के उपबन्धो के विरुद्ध हो;[2] अथवा ऐसी विधिया जो ऐसी वस्तुओ के क्रय और विक्रय पर करारोपित करती हो जिन्हें ससद् ने राष्ट्र और समुदाय के जीवन के लिए आवश्यक घोषित कर दिया है।[3]

(२) कतिपय विधेयक राज्यो के विधानमण्डलो मे तभी पुरःस्थापित किए जा सकते हैं जब तदर्थ राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति मिल जाए; उदाहरणार्थ ऐसे विधेयक जो राज्य के साथ या भीतर व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध आरोपित करते हो।[4]

(३) संसद् को राज्य सूची में प्रगणित किसी विषय पर भी विधि बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है यदि राज्य सभा ने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यो की दो-तिहाई से अन्यून संख्या द्वारा समर्थित सकल्प द्वारा घोषित किया है कि उक्त विषय पर ससद् द्वारा विधि निर्माण करना राष्ट्रीय हित मे इष्टकर है।[5] किन्तु ऐसा संकल्प कुछ निश्चित अवधि तक ही प्रवृत्त रह सकता है।

(४) जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन मे रहती है, ससद् को अधिकार होगा कि वह राज्य सूची मे प्रगणित किसी भी विषय पर विधि बना सकती है।[6]

(५) किसी राज्य मे साविधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की अवस्था में राष्ट्रपति उक्त राज्य के विधानमण्डल को निलम्बित कर सकता है तथा उस राज्य के विधानमण्डल की शक्तिया ससद् में निहित कर सकता है।[7]

---

१. अनुच्छेद ३१ (३) २. अनुच्छेद २५४ (२)
३. अनुच्छेद २८६ ४. अनुच्छेद ३०४ (ख)
५. अनुच्छेद २४९ (१) ६. अनुच्छेद २५० (१) ७. अनुच्छेद ३५६ (ख)

कई अध्यक्षों ने भी अपने पद पर उचित रीति से कार्य नही किया है। पेप्सू विधान सभा के अध्यक्ष को राजप्रमुख ने सदन का सत्रावसान करके अपदस्थ होने से बचाया था। जब एक अन्य अध्यक्ष के आचरण पर विशेषाधिकार प्रस्ताव द्वारा विचार किया जाने को था, तब उसने सभा से क्षमायाचना की। पश्चिमी बंगाल में अध्यक्ष विजय कुमार बनर्जी और पजाब मे अध्यक्ष योगेन्द्र सिंह मान ने जो कुछ किया उसका भी कोई पूर्वोदाहरण नही है। इस प्रकार की घटनाए अध्यक्ष के पद की प्रतिष्ठा को कम ही करती हैं। जब तक अध्यक्ष एक दल का व्यक्ति है, उसे वह प्रतिष्ठा प्राप्त नही हो सकती, जो इग्लैण्ड मे प्राप्त है।

विधान सभा के कार्य और उसकी शक्तियां

(Powers and Functions of the Assembly)

विधायी कृत्य (Legislative Functions)—राज्य विधानमण्डल राज्य सूची मे प्रगणित विषयो पर कानून बनाने के लिए सक्षम है। और साधारणतया इन विषयो के सम्बन्ध मे उन्हें अपवर्जी अधिकार-क्षेत्र प्राप्त है। राज्य-सूची के कुछ महत्त्वपूर्ण विषय ये है : सार्वजनिक व्यवस्था; आरक्षी दल, न्याय-प्रशासन, कारागार सुधारालय; बोर्स्टल सस्थाए और तद्‌रूप अन्य सस्थाए (Prisons, Reformatories, Borstal institutions, and other institutions of a like nature), स्थानीय स्वशासन; सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता, तीर्थ-यात्राए और तीर्थ-स्नान; अगहीनों और नौकरियो के लिए अयोग्य व्यक्तियो की सहायता; शिक्षा; पुस्तकालय; सचार अर्थात् सडकें आदि; कृषि; पशुओं की नस्लो का परिरक्षण, सरक्षण और उन्नति, जल अर्थात् सिंचाई आदि; भूमि; वन; खनिजो का विकास; उद्योग व्यापार; बाजार और मेले, बाट और माप; सार्वजनिक निर्माण; राजस्व; उच्छुल्क, अथवा उत्पादन-शुल्क आदि।

उन विषयो के अतिरिक्त जो राज्य-सूची मे प्रगणित हैं, राज्य के विधानमण्डल उन विषयो पर भी विधि बनाने मे सक्षम हैं जो समवर्ती सूची (concurrent list) मे प्रगणित हैं। समवर्ती सूची के कुछ महत्त्वपूर्ण विषय निम्निलिखित हैं : दण्डविधि; दण्ड प्रक्रिया (Criminal Procedure); निवारक निरोध (Preventive detention); विवाह और विवाह-विच्छेद; सविदा (Contracts); न्यास और न्यासी (Trust and Trustees); व्यवहार प्रक्रिया; आहिण्डन (Vagrancy); उन्माद और मनोवैकल्य (Lunacy and Mental Deficiency); खाद्य-पदार्थों और अन्य वस्तुओं मे अपमिश्रण (Adulterations of foodstuffs and other goods); औषधिया और विष; आर्थिक और सामाजिक योजना; व्यापार सघ; श्रमिकों का कल्याण; व्यावसायिक और शिल्पी प्रशिक्षण; विधि वृत्तिया, वैद्यक वृत्तिया और अन्य वृत्तिया (Legal, medical and other professions); विस्थापित व्यक्तियों की सहायता और पुनर्वास; व्यापार और वाणिज्य; मूल्य नियन्त्रण; कारखाने; विद्युत् आदि। समवर्ती सूची के विषयो पर ससद् और राज्य के विधानमण्डल, दोनों

सभा को अधिकार है कि प्रश्नो और पूरक प्रश्नो के द्वारा शासन से सार्वजनिक प्रशासन के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर सकती है। विधान सभा ऐसे संकल्प भी पारित कर सकती है जिनके द्वारा वह शासन से सार्वजनिक महत्त्व के किसी विषय पर कुछ करने की सिफारिश करे। यदि सभा को सरकार की नीति से सन्तोष नही है, तो वह अविश्वास का प्रस्ताव पास करके सरकार को हटा सकती है।

निर्वाचन सम्बन्धी कृत्य (Electoral Functions)—भारत गणराज्य के राष्ट्रपति को निर्वाचित करने के लिए राज्य की विधान सभा एक निर्वाचक मण्डल का रूप धारण कर लेती है।

विधान प्रक्रिया
(Legislative Procedure)

विधान प्रक्रिया (Legislative Procedure)—राज्यो के विधानमण्डलो के लिए विधान प्रक्रिया सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण नियम सविधान के अनुच्छेद १९६ से लगा कर २०१ तक दिए गए हैं। कम महत्त्व के और अधिक विस्तार के नियमो को राज्यो के विधानमण्डलो के ऊपर ही छोड़ दिया गया है कि वे स्वय निर्धारित करें। सविधान ने जो नियम राज्यो के विधानमण्डलो की विधान प्रक्रिया के लिए निर्धारित किये हैं वे प्रायः वही हैं जो सविधान के अनुच्छेद १०७ से लगा कर अनुच्छेद १११ तक ससद् की विधान प्रक्रिया के सम्बन्ध मे निर्धारित किए गए हैं। राज्यो के विधानमण्डल भी ससद् की प्रक्रिया के नियमो का अनुसरण करते है।

विधायी विधेयक (Legislative Bills)—प्रचलित विधान प्रक्रिया के अनुसार धन विधेयक या वित्तीय विधेयक (Money or Finance Bill) को छोड़ कर और कोई विधेयक किसी ऐसे राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन मे पुर:स्थापित किया जा सकता है जिसमे विधान परिषद् हो। कोई विधेयक, विधान परिषद् वाले राज्य के विधानमण्डल के दोनो सदनो द्वारा तव तक पारित नही समझा जाएगा जव तक या तो विना संशोधनों के या केवल ऐसे संशोधनो के सहित, जो दोनो सदनो द्वारा स्वीकृत कर लिए गए हैं दोनो सदनो द्वारा वह स्वीकृत न कर लिया गया हो।[1] किसी राज्य के विधान मण्डल मे लम्बित विधेयक उसके सदन या सदनो के सत्रावसान के कारण व्यपगत नही हो सकता।[2] किसी राज्य की विधान परिषद् मे लम्बित विधेयक, जिसको विधान सभा ने पारित नही किया है, विधान सभा के विघटन पर व्यपगत नही होता।[3] कोई विधेयक जो किसी राज्य की विधान सभा में लम्बित है, अथवा जो विधान सभा से पारित होकर विधान परिषद् मे लम्बित है, वह विधान सभा के विघटन पर व्यपगत हो जाता है।[4]

---

१. अनुच्छेद १९६ (२)
२. अनुच्छेद १९६ (३)
३. अनुच्छेद १९६ (४)
४. अनुच्छेद १९६ (५)

किसी ऐसे राज्य के विधानमण्डल के किसी भी सदन में अवित्तीय विधेयक पुरःस्थापित किया जा सकता है जिसमें विधान परिषद् हो। कोई विधेयक विधानमण्डल के दोनों सदनों द्वारा पारित तभी माना जायेगा जब उस पर दोनों सदनों ने अनुमति प्रदान कर दी हो। हर हालत में विधान सभा की ही बात मानी जाती है। विधान परिषद् किसी भी विषय पर विधान सभा को मानने के लिए मजबूर नहीं कर सकती। विधान परिषद् केवल किसी अवित्तीय विधेयक को अधिक-से-अधिक चार मास की देर लगा सकती है। संक्षेप में राज्य की समस्त विधायिनी शक्ति विधान सभा में केन्द्रित है, हां जब विधानमण्डल सत्र में नहीं होता उस समय राज्यपाल भी अध्यादेश जारी कर सकता है।

वित्तीय कृत्य (Financial Functions)—राज्य के वित्तों पर विधान सभा का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। धन विधेयक केवल विधान सभा में ही पुरःस्थापित किये जा सकते हैं और धन विधेयकों के सम्बन्ध में विधान सभा ही सब कुछ है। यदि किसी राज्य में विधान परिषद् भी है, वहां परिषद् को धन विधेयक को अपनी सिफारिशों सहित या बिना सिफारिशों के प्राप्ति की तारीख से चौदह दिन के अन्दर वापस कर देना जरूरी है। यदि परिषद् धन विधेयक को चौदह दिनों के अन्दर वापस नहीं करती; या यदि उक्त विधेयक के सम्बन्ध में परिषद् की सिफारिशें विधान सभा को मान्य नहीं हैं तो भी वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा उस रूप में पारित किया हुआ मान लिया जाता है जिस रूप में उसको विधान सभा ने स्वीकार किया था। वार्षिक वित्त विवरण या आय-व्ययक राज्य के विधानमण्डल के एक सदन या यदि दो सदन हों तो दोनों सदनों के समक्ष रखा जाता है। राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय से सम्बद्ध प्राक्कलनों को छोड़ कर अन्य सब व्यय-सम्बन्धी प्रस्तावों पर विधानमण्डल में मतदान नहीं हो सकता, यद्यपि उन पर विचार-विनिमय और चर्चा हो सकती है। तथा ऐसे सब प्राक्कलन विधान सभा के समक्ष अनुदान मांग के रूप में रखे जाते हैं। अनुदानों सम्बन्धी मांगों के सम्बन्ध में विधान सभा की ही चलती है और सभा किसी मांग को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है या किसी मांग की राशि में कमी कर सकती है। यद्यपि सभा को भी यह अधिकार नहीं है कि वह अनुदान की मांग की राशि में किसी प्रकार की वृद्धि कर सके। संविधान ने यह भी उपबन्ध किया है कि किसी राज्य में कोई कर बिना विधान सभा की अनुमति के नहीं लगाया जा सकता।

प्रशासन के ऊपर नियन्त्रण (Control over Administration)—राज्यों में संसदीय शासन-प्रणाली का यह अनिवार्य परिणाम है कि विधान सभा का प्रशासन के ऊपर पूरा नियन्त्रण हो। विधान सभा के बहुमत-दल में से ही मन्त्रि-परिषद् का निर्माण किया जाता है और सामूहिक रूप से मन्त्रि-परिषद् विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। जब तक कोई व्यक्ति राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य न हो तब तक वह राज्य का मन्त्री छः मास से अधिक लगातार नहीं रह सकता। मन्त्रियों के वेतन और भत्ते पर विधानमण्डल की स्वीकृति आवश्यक है।

विधायी विधेयक के पारण के विभिन्न चरण (Different Stages in the Passage of a Legislative Bill)—धन विधेयकों को छोड़ कर अन्य सार्वजनिक विधेयकों को राज्य के विधानमण्डल में या दोनों सदनों में यदि उक्त राज्य में द्विसदनात्मक विधानमण्डल है, तीन स्तर या वाचन पार करने पड़ते हैं, तथा उसके बाद वह विधेयक राज्यपाल के पास उसकी अनुमति के लिए भेजा जाता है। ज्योंही किसी विधेयक का नोटिस दिया जाता है और उसकी पुरःस्थापना की प्रार्थना प्रस्ताव के रूप में सदन में प्रस्तुत की जाती है, प्रथम वाचन प्रारम्भ हो जाता है। मन्त्री के अतिरिक्त कोई अन्य सदस्य जो विधेयक को पुरःस्थापित करना चाहता है, सबसे पहले विधेयक का नोटिस देता है। ऐसे प्रयोजन के लिए दिये गए नोटिस का समय १५ दिन होता है, तथा ऐसे नोटिस के साथ विधेयक की छः प्रतियां संलग्न करनी पड़ती हैं; और साथ ही उक्त विधेयक में निहित सिद्धान्त और प्रयोजनों सम्बन्धी वक्तव्य भी साथ में नत्थी करना पड़ता है। यदि विधेयक के पुरःस्थापना सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध किया जाता है, तो सदन का अध्यक्ष विधेयक के प्रस्तावक को उक्त विधेयक के सम्बन्ध में कुछ कहने के लिए सदन के समक्ष आहूत करता है और उसके बाद उसी प्रकार पुरःस्थापना का विरोध करने वाले सदस्य को भी बोलने का अवसर दिया जाता है और फिर उक्त विधेयक पर प्रश्न किए जाते हैं और उत्तर दिए जाते हैं और तब मतदान होता है। यदि पुरःस्थापना सम्बन्धी प्रस्ताव पास हो जाता है तो सदन का सचिव विधेयक के शीर्षक को जोर से पढ़ता है और तब यह मान लिया जाता है कि विधेयक पुरःस्थापित हो गया। इसके बाद विधेयक गजट में प्रकाशित कराया जाता है। अध्यक्ष को अधिकार है कि वह किसी ऐसे विधेयक को भी गजट में छपवाने की आज्ञा दे दे जिसकी पुरःस्थापना की अनुमति सदन ने नहीं दी है। इस स्थिति में विधेयक की पुरःस्थापना की अनुमति लेना आवश्यक नहीं होता; और यदि इसके बाद विधेयक पुरःस्थापित किया जाता है, तो उसको पुनः गजट में छपवाना आवश्यक नहीं है।

विधेयक की पुरःस्थापना के पश्चात् या तो शीघ्र बाद या कुछ समय पश्चात् जिस सदस्य के नाम से विधेयक पुरःस्थापित किया गया है, वह निम्नलिखित में से कोई एक प्रस्ताव सदन में रखता है—(१) विधेयक पर सभा या तो तुरन्त या किसी अन्य दिन जिसकी तारीख तुरन्त निर्धारित कर दी जाए विचार करे; अथवा (२) विधेयक प्रवर समिति में भेज दिया जाय; अथवा (३) विधेयक को दोनों सदनों की संयुक्त समिति के पास भेज दिया जाय (यदि राज्य में विधान परिषद् भी हो); अथवा (४) उक्त विधेयक पर जनमत संग्रह कराने के लिए उसे प्रकाशित कराया जाए। इसी स्तर पर विधेयक के सिद्धान्तों के ऊपर वाद-विवाद होता है और इसके सामान्य उपबन्धों की परीक्षा होनी है किन्तु विधेयक की सूक्ष्म परीक्षा नहीं होती। विधेयक के रूप के ऊपर केवल इतने विस्तार के साथ विचार होता है कि उसके सिद्धान्तों का विश्लेषण हो जाए। इस स्तर पर संशोधन उपस्थित नहीं किए जाते किन्तु यदि विधेयक प्रस्तावक ने यह प्रस्ताव रखा हो कि विधेयक पर विचार किया जाए तो विधेयक को प्रवर समिति के

यदि किसी विधेयक के सम्बन्ध में विधान सभा और विधान परिषद् में मत-भेद हो, ऐसी स्थिति के लिए संविधान ने विधानमण्डल के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का उपबन्ध नहीं किया है जिस प्रकार कि संघीय विधानमण्डल[1] में ऐसे मतभेद उत्पन्न हो जाने पर लोक सभा और राज्य सभा की संयुक्त बैठक में उक्त मतभेद सुलझाने की व्यवस्था की गई है। यदि राज्य के विधानमण्डल के दोनों सदनों में किसी विधेयक के सम्बन्ध में मतभेद हो तो उसका केवल यही सीधा उपाय है कि उसे विधान सभा दुबारा पारित कर दे। संविधान ने उपबन्धित किया है कि यदि विधान परिषद् वाले राज्य की विधान सभा ने किसी विधेयक को पारित कर दिया है और वह विधान परिषद् को पहुंचा दिया गया है; और यदि (क) परिषद् द्वारा उक्त विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है; अथवा (ख) परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से उसके विधेयक पारित हुए बिना तीन मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है, अथवा (ग) परिषद् द्वारा विधेयक ऐसे संशोधनों सहित पारित होता है जिनसे सभा सहमत नहीं होती तो विधान सभा विधेयक को ऐसे किन्हीं संशोधनों सहित या बिना, जो विधा न परिषद् ने सुझाए हैं या स्वीकार किए हैं, पुन: पारित कर सकती है। यदि विधान सभा द्वारा विधेयक के इस प्रकार दोबारा पारित हो जाने तथा विधान परिषद् को दोबारा प्रेषित किए जाने के पश्चात्—(क) परिषद् द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है, अथवा (ख) परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से, उससे विधेयक पारित हुए बिना एक मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है, अथवा (ग) परिषद् द्वारा विधेयक ऐसे संशोधनों सहित पारित होता है जिन्हें विधान सभा स्वीकार नहीं करती, तो विधेयक राज्य के विधानमण्डल के दोनों सदनों द्वारा उस रूप में पारित समझा जाएगा जिसमें कि वह विधान सभा द्वारा दूसरी बार पारित किया गया था।[2]

जब उपर्युक्त प्रक्रिया के अनुसार कोई विधेयक राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित हो चुकता है, तो वह राज्यपाल के पास उसकी अनुमति के लिए भेजा जाता है। राज्यपाल या तो विधेयक पर अनुमति देता है, या अनुमति रोक लेता है अथवा वह विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर लेता है। परन्तु राज्यपाल अनुमति के लिए अपने समक्ष विधेयक रखे जाने के पश्चात् यथाशीघ्र उस विधेयक को सदन या सदनों को ऐसे सन्देश के साथ लौटा सकता है कि सदन या दोनों सदन सम्पूर्ण विधेयक पर या उसके किन्हीं उपबन्धों पर पुनर्विचार करें और इस प्रकार पुनर्विचार के लिए लौटाए जाने के पश्चात् सदन यथाशीघ्र विधेयक पर पुनर्विचार करते हैं। यदि विधेयक सदन या सदनों द्वारा संशोधन सहित या रहित पुन. पारित हो जाता है तथा राज्यपाल के समक्ष अनुमति के लिए रखा जाता है तो राज्यपाल उस पर अनुमति नहीं रोक सकता।[3]

---

१. अनुच्छेद १०८
२. अनुच्छेद १९७ (१) और (२)
३. अनुच्छेद २००

को पास किया जाय । इस स्तर पर केवल कुछ शब्दो के हेर-फेर के अलावा और किसी प्रकार के संशोधनों का प्रस्ताव नही किया जा सकता, न कोई वाद-विवाद हो सकता है । जब सदन विधेयक को पास कर चुकता है तो उसे विधान परिषद् को, यदि उस राज्य में विधान परिषद् है, भेज दिया जाता है । विधान परिषद् मे वही सारी प्रक्रिया होती है जो विधान सभा मे हुई थी ।

जब अन्तिम रूप से विधेयक सदन या सदनो द्वारा पारित हो चुकता है, उसके बाद उसको राज्यपाल के पास उसकी अनुमति के लिए भेजा जाता है । राज्यपाल स्वय भी अनुमति दे सकता है या उस विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए रक्षित करके रख सकता है । यदि राज्यपाल अथवा राष्ट्रपति उक्त विधेयक पर स्वीकृति दे देते है, तो वह गजट या राजपत्र मे राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियम के रूप मे प्रकाशित होता है ।

धन विधेयकों को पारित करने की प्रक्रिया (Procedure in respect of Money Bills)—धन विधेयको की पुरःस्थापना विधान सभा मे ही होना आवश्यक है । यदि किसी राज्य के विधानमण्डल मे विधान परिषद् है, तो भी धन विधेयक विधान परिषद् मे पुरःस्थापित नही किया जा सकता । जब धन विधेयक विधान सभा पास कर चुकती है तो *उस विधेयक को विधान परिषद् की सिफारिशो के लिए उसके पास* भेजा जाता है । विधान परिषद् के लिए यह आवश्यक है कि वह विधेयक के प्राप्त होने के चौदह दिनो के भीतर ही उसे अपनी सिफारिशो सहित विधान सभा को वापस कर दे । विधान सभा को अधिकार है कि वह परिषद् की सिफारिशों को स्वीकार करे या न करे । यदि विधान सभा, परिषद् की विधेयक के सम्बन्ध मे की गई किसी सिफारिश को नही मानती तो भी वह धन विधेयक दोनो सदनो द्वारा उसी रूप मे पास किया गया माना जाता है जिस रूप मे उसको प्रारम्भ में विधान सभा ने पारित किया था । यदि विधान परिषद् चौदह दिन की निश्चित अवधि मे विधेयक को न तो पारित करती है और न उसे अपनी सिफारिशो सहित वापस भेजती है; तो भी उक्त धन विधेयक चौदह दिन के पश्चात् राज्यपाल की अनुमति प्राप्त होने पर उसी रूप मे अधिनियम का स्वरूप धारण कर लेता है जिस रूप मे उसको प्रारम्भ मे विधान सभा ने पास किया था ।

वित्तीय विषयों में प्रक्रिया
(Financial Procedure)

वित्तीय विषयों में प्रक्रिया (Financial Procedure)—राज्यो के विधानमण्डलों मे *वित्तीय विषयो मे जो प्रक्रिया अपनाई जाती है उसके पीछे वही सिद्धान्त* काम करते है जो संसद् की वित्तीय प्रक्रिया में कार्य करते हैं और वे सिद्धान्त प्रतिनिधिक शासन-प्रणाली के और राज्य-वित्त-प्रबन्ध के सिद्धान्तों से सर्वथा मेल खाते हैं । प्रथमतः, वित्त-विधेयकों की पुरःस्थापना केवल शासन की ओर से ही हो सकती है । समस्त व्यय राशिया अनुदान मागो के रूप में विधान सभा के सम्मुख रखी जाती हैं और

विचारार्थ रखने या उसके ऊपर जनमत जानने के अभिप्राय से प्रकाशित कराने का प्रस्ता
किया जा सकता है।

प्रवर समिति में प्रायः दस से लेकर पन्द्रह तक सदस्य होते हैं और उन्हीं सदस्यो को समिति का सदस्य बनाया जाता है जिन्हें सदस्य बनना स्वीकृत हो। वास्तव मे प्रस्तावक पहले से ही सदस्यो की उक्त समिति का सदस्य बनने की इच्छा का पता लगा लेता है। यदि विधेयक से सम्बन्धित विभाग का अध्यक्ष अर्थात् मन्त्री सभा का सदस्य है, तो सामान्यत अध्यक्ष द्वारा वही प्रवर समिति का सभापति भी नियुक्त किया जाता है। किन्तु यदि द्विसदनात्मक विधानमण्डल है और मन्त्री दूसरे सदन का सदस्य है तो ऐसी स्थिति मे प्रवर समिति स्वय अपने एक सदस्य को अपना सभापति चुनती है। समिति विधेयक का सूक्ष्म परीक्षण करती है, उसके सभी उपबन्धों पर विचार करती है और विधेयक की एक-एक धारा पर विचार करती है। यदि समिति चाहे तो विधेयक के विषय के विशेषज्ञों की राय पूछ सकती है या ऐसे लोगों की गवाही ले सकती है जिनके हितो पर उक्त विधेयक के उपबन्धों का प्रभाव पडता हो। समिति चाहे तो विधेयक मे सशोधन भी किए जा सकते हैं। समिति की रिपोर्ट, विमतों के सहित भी, यदि कोई हो, प्रकाशित की जाती है और सदन के सदस्यों के पास पहुचाई जाती है। इसके बाद समिति का सभापति उक्त रिपोर्ट या प्रतिवेदन को सदन के समक्ष प्रस्तुत करता है। प्रतिवेदन या रिपोर्ट प्रस्तुत करते समय समिति का सभापति यदि चाहे तो तथ्यों से सम्बन्धित छोटा सा वक्तव्य भी दे सकता है पर उस पर वाद-विवाद नही होता है। प्रवर समिति द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन तथा संशोधित विधेयक गजट में छपते है।

जब प्रवर समिति की विधेयक के सम्बन्ध मे रिपोर्ट सदन के समक्ष पहुच जाती है, उस समय विधेयक का प्रस्तावक निम्नलिखित मे से कोई प्रस्ताव कर सकता है— (१) जिस रूप मे प्रवर समिति ने विधेयक की सिफारिश की है, उस पर विचार किया जाए; अथवा (२) विधेयक को पुनर्रूपार्पण (re-commitment) के लिए (क) विना किन्ही प्रतिवन्धो के; या (ख) केवल कुछ विशिष्ट धाराओं या सशोधनो के विषय मे ही; या (ग) प्रवर समिति को कुछ निश्चित आदेशो के साथ कुछ अन्य उपबन्ध जोडने के लिए भेजा जाए। किन्तु इसके विपरीत यदि विधेयक का प्रस्तावक सदस्य यह प्रस्ताव करे कि विधेयक पर विचार कर लिया जाय तो कोई अन्य सदस्य भी प्रस्ताव कर सकता है और सशोधन रख सकता है कि विधेयक को पुनर्रूपार्पित किया जाए।

जब सदन उपर्युक्त प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है, तो विधेयक के ऊपर धारा प्रति धारा विचार किया जाता है। इस स्तर पर सशोधन प्रस्तुत किये जा सकते हैं और विधेयक पर सूक्ष्म विचार-विनिमय होता है और उसकी सूक्ष्म आलोचना भी होती है। इसी समय विधेयक के समर्थकों और विरोधियो में वास्तविक टक्कर होती है। पहले तो सशोधनों पर मतदान होता है और उसके बाद संशोधित धाराओं पर मतदान होता है। इसके बाद अन्तिम स्तर आ पहुचता है जब कि यह प्रस्ताव किया जाता है कि विधेयक

(घ) राज्य के लोक सेवा आयोग के प्रबन्ध के लिए आवश्यक खर्चे जिनके अन्तर्गत आयोग के सदस्यों या कर्मचारीवृन्द को, या के विषय में दिये जाने वाले कोई वेतन, भत्ते और निवृत्ति वेतन भी सम्मिलित हैं। (अनुच्छेद ३२२)।

ऊपर जो व्यय राज्य की सचित निधि पर भारित बताये गये हैं, उन पर राज्यो के विधानमण्डलों में मतदान नही हो सकता है। लेकिन विधानमण्डल मे उक्त व्ययो पर वाद-विवाद हो सकता है। अन्य व्यय विधान सभा के सामने अनुदान की माग के रूप में आना चाहिए। तब सभा उस मांग पर विचार करके या तो उस माग को स्वीकार कर सकती है, अथवा अस्वीकार कर सकती है अथवा कम कर सकती है किन्तु विधान सभा न तो अपनी ओर से नए अनुदानो का सुझाव दे सकती है और न किसी अनुदान सम्बन्धी माग की राशि को अपनी ओर से बढा सकती है। केवल राज्यपाल की सिफारिश पर ही अथवा मन्त्रिमण्डल के उत्तरदायित्व पर ही अनुदान सम्बन्धी कोई माग की जा सकती है।

वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में विभिन्न स्तर (*Stages in Financial Legislation*)—वार्षिक वित्त-विवरण अथवा आय-व्ययक के पास होने तक उसे पाच स्तर पार करने पड़ते हैं। वार्षिक वित्त-विवरण (budget) के जीवन का प्रथम स्तर वह होता है जब वित्त मन्त्री राज्य के विधानमण्डल के समक्ष वार्षिक आय-व्ययक प्रस्तुत करता है। आय-व्ययक, विधानमण्डल को प्रस्तुत करते समय, वित्त मन्त्री आय-व्ययक की मोटी रूप-रेखा समझाते हुए एक छोटा-सा भाषण देता है। उसके कुछ दिनों बाद वार्षिक वित्त-विवरण या आय-व्ययक मे निहित प्रस्तावों पर सामान्य वाद-विवाद होता है और इस अवसर पर विधानमण्डल के सदस्य शासन की नीति की आलोचना करते हैं। इस वाद-विवाद के लिए प्राय. तीन या चार दिन निश्चित कर दिए जाते हैं और इसके साथ वित्तीय विधेयक के जीवन का द्वितीय स्तर समाप्त हो जाता है। तृतीय स्तर मे अनुदानो की मागो पर मतदान होता है। प्रत्येक मन्त्रि-विभाग के अध्यक्ष मन्त्री द्वारा अपने विभाग के लिए अलग धनराशि मागी जाती है और इस अवसर पर प्रत्येक मन्त्रि-विभाग की आलोचना होती है। कोई भी सदस्य विभागीय अनुदान मांग को अस्वीकृत या कम करने के लिए माग कर सकता है, किन्तु किसी सदस्य को यह अधिकार नही है कि वह नया अनुदान स्वीकृत कर सके या मागी हुई अनुदान की राशि को बढा सके। विभिन्न अनुदानो पर मतदान के लिए प्राय. बीस दिन व्यय किए जाते हैं। अन्तिम दिन विधान सभा की बैठक स्थगित होने के 1 घण्टा पूर्व, उन सारी मागो पर एक साथ मतदान होता है जो उस समय तक निबट न पाई हों। ऐसी मागों के सम्बन्ध में न तो वाद-विवाद हो सकता है और न उनमें घटा-बढ़ी हो सकती है। उन मांगों को तो विधान सभा या तो स्वीकार कर सकती है, या अस्वीकार कर सकती है।

अगला स्तर तब आता है जब वार्षिक विनियोग विधेयक को अधिनियमित किया जाता है। जब सभा अनुदानों सम्बन्धी स्वीकृतियां दे चुकती है, तब एक विधेयक पेश किया जाता है, जिसमें (क) मागें पूरी करने के लिए सचित निधि से धन विनियोग

राज्य के व्ययों की विभिन्न मदों के लिए विधान सभा ही धनराशिया नियत करती है। विधान सभा किसी अनुदान माग को स्वीकार, अस्वीकार या घटा सकती है। सभा के अनुमोदन के विना कोई कर नही लगाया जा सकता। इसके अतिरिक्त विधान सभा की स्वीकृति के विना राज्य की सरकार कोई ऋण भी नही ले सकती। इस सम्वन्ध मे अन्तिम वात यह है कि उस समय तक न तो राज्य की संचित निधि में से कुछ व्यय किया जा सकता है और न कोई कर लगाया जा सकता है जब तक कि तदर्थ वैधानिक या परिनियत आज्ञा न हो।

वार्षिक वित्त-विवरण (Annual Financial Statement)—प्रत्येक वित्तीय वर्ष के वारे मे राज्य के विधानमण्डल के सदन अथवा सदनों के सामने, राज्यपाल (Governer) उस वर्ष के लिए अनुमानित प्राप्तियो और व्ययो का विवरण या आय-व्ययक रखवाता है। वार्षिक वित्त-विवरण या आय-व्ययक में निम्न दो वातें अलग-अलग दिखलाई जाती हैं—(१) जो व्यय राज्य की सचित निधि पर भारित व्यय के रूप मे वर्णित है उसके लिए आवश्यक रकमें तथा (२) सचित निधि से अन्य जो खर्चे किए जायेंगे, उनके लिए आवश्यक रकमे। वार्षिक वित्त-विवरण अथवा आय-व्ययक मे यह भी स्पष्टतया दिखाना चाहिए कि कौन से व्यय राजस्वो पर भारित होंगे तथा कौन से सचित निधि पर भारित होंगे। निम्नलिखित व्यय प्रत्येक राज्य की सचित निधि पर भारित व्यय होता है।[1]

(१) राज्यपाल की उपलब्धिया और भत्ते तथा उसके पद से सम्वद्ध अन्य व्यय;

(२) विधान सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के, तथा जहा विधान परिषद् है, वहा विधान परिषद् के सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते;

(३) ऋण भार और तत्सम्वन्धी अन्य खर्च;

(४) किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो के वेतनो और भत्तो सम्वन्धी खर्चे,

(५) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय, आज्ञप्ति (decree) या पचाट (award) के भुगतान के लिए आवश्यक कोई राशिया;

(६) अन्य कोई खर्च जो भारतीय सविधान द्वारा या राज्य के विधानमण्डल के कानून द्वारा इस प्रकार भारित घोषित किया जाय।

सविधान के अनुच्छेद २२९, २९१ तथा ३२२ में निम्नलिखित व्यय भी सचित निधि पर भारित किये गए है ;

(क) उच्च न्यायालय के पदाधिकारियो और सेवको को, या के वारे मे दिये जाने वाले सव वेतन, भत्ते और निवृत्ति वेतन; तथा उच्च न्यायालय के प्रशासनीय व्यय। अनुच्छेद २२९ (३)।

---

१. अनुच्छेद २०२ (३)

अध्याय ११

राज्य की न्यायपालिका
(THE STATE JUDICIARY)

उच्च न्यायालय (The High Court)—उच्च न्यायालय राज्य का उच्चतम न्यायालय है और वह राज्य के न्यायिक उत्तरोत्तर क्रम में शीर्ष-स्थानीय न्यायिक निकाय है। प्रत्येक उच्च न्यायालय अभिलेख का न्यायालय (A Court of Record) भी है, अतः ऐसे न्यायालय को अपने अवमान (Contempt) के लिए दण्ड देने का अधिकार होता है। न्यायालय की दो विशेषताए होनी है; अर्थात् ऐसे न्यायालय के अभिलेख अतिरिक्त साक्षिक-अर्हपूर्ण (of evidentiary value) होते हैं और यदि ऐसे किसी न्यायालय के किसी अभिलेख को किसी अन्य न्यायालय मे प्रस्तुत किया जाता है तो उसको मान्यता प्रदान की जाती है और दूसरी विशेषता यह है कि अभिलेख न्यायालय अपने अवमान के लिए किसी को दण्डित कर सकता है।

मूलतः संविधान ने, भाग 'क' और 'ख' के राज्यो के लिए एक-एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की थी। ससद् को यह शक्ति भी दे दी गई थी कि वह भाग 'ग' के राज्य में एक उच्च न्यायालय की स्थापना कर दे या उसके किसी न्यायालय को उच्च न्यायालय की कुछ शक्तियां दे दे या पड़ोस के किसी भाग 'क' या भाग 'ख' के राज्यों के उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार को उस तक विस्तृत कर दे। इस व्यवस्था के अनुसार भारत मे कुल अट्ठारह उच्च न्यायालय थे और सात न्यायिक आयुक्तो के न्यायालय थे। ये अट्ठारह उच्च न्यायालय भाग 'क' और भाग 'ख' राज्यो में से प्रत्येक के लिए थे। ये सात न्यायिक आयुक्तों के न्यायालय कुर्ग और दिल्ली को छोड़ कर भाग 'ग' के राज्यो मे से प्रत्येकके लिए थे। राज्यों के पुनर्गठन के फलस्वरूप, राज्यों के उच्च न्यायालयों की संख्या कम हो गई है। हैदराबाद, मध्य भारत, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब रियासती संघ और सौराष्ट्र के उच्च न्यायालय समाप्त कर दिए गए हैं और इसी प्रकार अजमेर, भोपाल, कच्छ तथा विन्ध्य प्रदेश के न्यायिक आयुक्तों के न्यायालयों को भी समाप्त कर दिया गया है। अब पजाव और हरियाणा को छोड़कर (जिनका सम्मिलित हाईकोर्ट है) प्रत्येक राज्य के लिये अलग हाईकोर्ट है। सघीय प्रदेशो मे केवल देहली मे हाई कोर्ट है जिसके अधिकार-क्षेत्र मे हिमाचल प्रदेश भी आता है। शेष प्रदेशों मे न्यायिक आयुक्तों (Judicial Commissioners) की अदालतें हैं।

प्रत्येक उच्च न्यायालय मे एक मुख्य न्यायाधिपति तथा कुछ न्यायाधीश होते हैं। उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है और उनकी अधिकतम सख्या राष्ट्रपति समय-समय पर निर्धारित करता है। प्रारम्भ में सविधान के अनुच्छेद २१६ के परन्तुक (proviso) ने उपवन्धित किया था कि राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के लिए

किया जाता है, तथा (ख) सचित निधि से होने वाला खर्च दिखाया जाता है। इस स्थिति मे मागों अथवा उनकी रकमो को बदलने के सम्बन्ध में कोई संशोधन पेश नही किया जा सकता। इस स्तर पर कोई सशोधन स्वीकार किया जा सकता है अथवा नही, इस सम्बन्ध में विधान सभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होता है।

वार्षिक विनियोग विधेयक जब अपने जीवन के सब स्तर पार कर चुकता है, उसके बाद अन्त मे उस पर मतदान होता है, और यदि विधान सभा उसको स्वीकार कर लेती है, तो सभा का अध्यक्ष विनियोग विधेयक को वित्तीय विधेयक के रूप मे प्रमाणीकृत कर देता है; और तब उसे राज्य के द्वितीय सदन अर्थात् विधान परिषद् मे भेज दिया जाता है (यदि राज्य मे द्विसदनात्मक विधानमण्डल है)।

राज्य के विधानमण्डल के वार्षिक वित्त-सम्बन्धी कृत्यो मे अन्तिम बात यह रह जाती है कि अन्त मे वित्तीय विधेयक पास किया जाता है। वित्तीय विधेयक मे वे साधन और उपाय वर्णित किये जाते हैं जिनके द्वारा वे सब राजस्व एकत्रित किये जाते हैं जिनमे से राज्य के साल भर के सभी व्यय किये जाते है। वित्तीय विधेयक राज्य के विधानमण्डल के समक्ष उसी समय प्रस्तुत किया जाता है जिस समय कि वार्षिक वित्त-विवरण या आय-व्ययक विधानमण्डल के समक्ष उपस्थित किया जाता है। वित्तीय विधेयक उसी प्रकार पारित होता है जिस प्रकार कोई अन्य धन-विधेयक। वित्तीय विधेयक अप्रैल समाप्त होते से पूर्व पास हो जाना चाहिए; किन्तु इस विधेयक के वित्तीय उपबन्ध, वार्षिक आयव्ययक की पुरःस्थापना के साथ १९३१ के अस्थायी कर संग्रहण अधिनियम के अधीन प्रभावी हो जाते हैं।

सकता है। उस मांग या प्रस्ताव को सदन के कुल सदस्यो की सख्या का बहुमत तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो की दो-तिहाई सख्या का समर्थन प्राप्त होना चाहिए।

प्रारम्भ मे सविधान ने उपबन्धित किया था[1] कि सविधान प्रारम्भ होने के बाद जो व्यक्ति उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर रह चुका है, वह फिर भारत क्षेत्र के किसी न्यायालय में अथवा अन्य किसी अधिकारी के सामने वकालत या कार्य नही कर सकता। किन्तु सविधान के नवम सशोधन ने उच्च न्यायालय के अवकाश-प्राप्त न्यायाधीशो के ऊपर अनुच्छेद २२० मे वर्णित प्रतिबन्ध मे कुछ सशोधन कर दिया है। उक्त अनुच्छेद २२० के सशोधित स्वरूप ने उच्च न्यायालयो के अवकाश-प्राप्त न्यायाधीशो को आज्ञा दे दी है कि वे उच्चतम न्यायालय मे वकालत कर सकते है अथवा किसी ऐसे उच्च न्यायालय मे भी वकालत कर सकते है जिसके वे स्वय स्थायी न्यायाधीश न रह चुके हो। लेकिन विधि आयोग (Law Commission) ने इस उपबन्ध की आलोचना की और इसे समाप्त करने की सिफारिश की है।

न्यायाधीशों के वेतन इत्यादि (Salaries etc. of the Judges) —राज्यो के मुख्य न्यायाधीशो का वेतन ४००० रु० है तथा न्यायाधीशो का वेतन ३५०० रु० है। उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो के वेतनों में कमी नही हो सकती और इस सम्बन्ध मे न तो संसद् को और न राज्य के विधानमण्डल को कोई अधिकार प्राप्त है। वित्तीय आपात की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन-काल में राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह न्यायाधीशों के भी वेतन आदि मे कमी कर सकता है।[2] न्यायाधीशों को ऐसे भत्ते, अनुपस्थिति-छुट्टी और निवृत्ति वेतन के बारे में ऐसे अधिकार होगे जैसे कि ससद् निर्मित विधि के द्वारा निर्धारित किये जाएँ। परन्तु किसी न्यायाधीश के, न तो भत्ते और न उसकी अनुपस्थिति-छुट्टी या निवृत्ति-वेतन-विषयक उसके अधिकारो मे उसकी नियुक्ति के पश्चात् कोई अलाभकारी परिवर्त्तन किया जा सकता है।[3] उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन आदि राज्य की सचित निधि पर भारित हैं अतः उन पर मतदान नही हो सकता। किन्तु उनके निवृत्ति-वेतन (pensions etc.) भारत की सचित निधि पर भारित व्यय है।[4]

न्यायाधीश का एक उच्च न्यायालय से दूसरे में स्थानान्तरण (Transfer of Judges from one High Court to another) —राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करके भारत राज्य-क्षेत्र मे के एक उच्च न्यायालय मे से दूसरे उच्च न्यायालय को किसी न्यायाधीश का स्थानान्तरण कर सकता है। सविधान के अनुच्छेद २२२ के उपबन्धो के अनुसार इस प्रकार स्थानान्तरित न्यायाधीशों को प्रतिकर के रूप मे भत्तो का हक है। किन्तु ऐसा समझा जा रहा है कि उक्त उपबन्ध अनुचित

---

१. अनुच्छेद २००
२. अनुच्छेद ३६० (४)
३. अनुच्छेद २२१ (२) तथा अनुच्छेद २३८ (१३)
४. अनुच्छेद ११२ (३) (घ) (३)

समय-समय पर जितने न्यायाधीशों की आवश्यकता समझे, उतने नियुक्त कर सकता है और समय-समय पर न्यायालय के लिए अधिकतम न्यायाधीशो की सख्या भी वही निर्धारित करेगा। किन्तु सातवें संशोधन अधिनियम ने अनुच्छेद २१६ के उक्त परन्तुक को समाप्त कर दिया है क्योकि अब उसका कोई व्यावहारिक महत्त्व नही रह गया है.

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति तथा उसके पद की शर्तें (Appointment and Conditions of the Office of a Judge of a High Court)—प्रत्येक राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति में राष्ट्रपति भारत के प्रधान न्यायाधिपति तथा उस राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख की सलाह लेता है और प्रमुख न्यायाधीश को छोड कर अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति के सम्बन्ध मे वह उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की भी सलाह लेता है। मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति स्वय अपने हस्ताक्षर और मुद्रा-सहित अधिपत्र द्वारा करता है। किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप मे नियुक्ति के लिए कोई व्यक्ति तब तक अर्ह न होगा जब तक कि वह भारत का नागरिक न हो, तथा (क) भारत राज्य-क्षेत्र मे कम-से-कम दस वर्ष तक न्यायिक पद धारण न कर चुका हो, अथवा (ख) किसी राज्य के उच्च न्यायालय का लगातार कम-से-कम दस वर्ष तक अधिवक्ता न रह चुका हो। सविधान ने ऐसे वकीलो को उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद के लिए अर्ह नही माना है जो वकालत न करते हो। किन्तु कोई व्यक्ति, उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त हो सकता है, यदि राष्ट्रपति के विचार से वह व्यक्ति प्रसिद्ध विधिवेत्ता (distinguished jurist) हो। मूल अनुच्छेद २२४ में कहा गया था कि अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश उच्च न्यायालय की बैठको मे उपस्थित हो सकते हैं। उच्चतम न्यायालय के सम्बन्ध मे भी ऐसी ही व्यवस्था है। सविधान (सातवा सशोधन) अधिनियम १९५६ ने राष्ट्रपति को यह शक्ति दी है कि वह अस्थायी, अतिरिक्त और कार्यवाहक न्यायाधीशो की नियुक्ति कर सकते है। यदि राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि किसी उच्च न्यायालय में कार्य बहुत बढ गया है, तो वह दो वर्ष के लिए अतिरिक्त न्यायाधीशो को नियुक्त कर सकते हैं। न्यायाधीशो की अपने पद से अवकाश ग्रहण करने की आयु ६० वर्ष की निर्धारित की गई थी। परन्तु सविधान (पन्द्रहवे सशोधन) अधिनियम द्वारा अवकाश ग्रहण करने की आयु ६० से ६२ हो गई है। उच्च न्यायालय का कोई न्यायाधीश उसी प्रकार अपना पद त्याग सकता है अथवा उसी प्रकार अपने पद से हटाया जा सकता है जिस प्रकार कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो को हटाया जा सकता है। इस प्रकार उच्च न्यायालय के न्यायाधीश अपने पदो पर उतने ही सुरक्षित हैं जितने कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश अपने पदो पर सुरक्षित हैं अर्थात् उनको तभी पदच्युत किया जा सकता है जब ससद् का प्रत्येक सदन एक ही अधिवेशन में अयोग्यता या दुर्व्यवहार का आरोप प्रमाणित करके राष्ट्रपति से उसे पदच्युत करने की माग करे। तभी राष्ट्रपति के आदेश द्वारा उसे पदच्युत किया जा

है जिसमें वह स्थित हो लेकिन अनुच्छेद २३० और २३१ के अनुसार ससद् उसे अन्य किसी राज्य के लिए भी बढा सकती है।

व्यवहार-विधि और दण्ड-विधि दोनों प्रकार की अपीलों के लिए उच्च न्यायालय राज्यों के सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय है। उच्च न्यायालय को मौलिक अधिकार-क्षेत्र तो केवल नौवैधिक मामलों (Admiralty cases), सप्रमाण मामलों (Probate cases), वैवाहिक विवादों (Matrimonial cases), और न्यायालय-अवमान सम्बन्धी मामलो (Contempt of court cases) में ही प्राप्त है। किन्तु पहले की ही तरह अब भी कलकत्ता, मद्रास और बम्बई के उच्च न्यायालयो को दोनो प्रकार का अर्थात् अपीलीय और मौलिक अधिकार-क्षेत्र प्राप्त है। व्यवहार-विधि से सम्बन्धित मौलिक मामलो में उक्त न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र ऐसे मामलों तक सीमित है जिनमे विवाद-ग्रस्त राशि २,००० रु० से अधिक है। दण्ड-विधि से सम्बन्धित मौलिक मामलो में उनका क्षेत्राधिकार ऐसे मामलों तक है जो महाप्रान्त-दण्डाधिकारी से भेजे गए है। उनका अपीलीय अधिकार-क्षेत्र उन सारी व्यवहारविधि और दण्ड-विधि सम्बन्धी मुकद्दमो की अपीलों तक विस्तृत है जो निम्नतर न्यायालयो से आते है अथवा जो उन्ही के यहाँ प्रारम्भ हुए हो। कुछ तो ऐतिहासिक कारणो से और कुछ १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के विशिष्ट उपबन्धों के कारण, भारत मे किसी उच्च न्यायालय को राजस्व के सम्बन्ध मे कोई मौलिक क्षेत्राधिकार प्राप्त नही था।[1] किन्तु अनुच्छेद २२५ के परन्तुक ने अब इस निर्बन्धन को समाप्त कर दिया है।

उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार पर तथा उन विधियो पर जिन पर उच्च न्यायालय निर्णय देते है, संसद् तथा राज्य के विधानमण्डल प्रभाव डाल सकते हैं। संसद् का अपवर्जी अधिकार है कि वह न्यायालयो के क्षेत्राधिकार, शक्तियों और अधिकारों को प्रभावित करने वाले ऐसे विषयों पर विधियाँ पारित कर सकती है जिन पर उसको विधि बनाने का अधिकार है। ससद् उन विषयो पर भी विधि निर्माण कर सकती है जो समवर्त्ती सूची में प्रगणित हैं। उसी प्रकार राज्य के विधानमण्डल को भी अधिकार है कि वह राज्य सूची में प्रगणित उन सभी विषयो पर विधियाँ निर्मित करे जिनसे राज्य मे कार्य करने वाले न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र, शक्तियों और अधिकारो पर प्रभाव पड़ता हो। किन्तु समवर्त्ती सूची में प्रगणित विषयों पर बनी हुई ससद् द्वारा पारित विधि, राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधि को विरोध की दशा मे प्रभावहीन कर देती है।

कुछ लेखों को निकालने के लिए उच्च न्यायालयों की शक्ति (Power of the High Courts to issue Certain Writs)—इस संविधान के प्रारम्भ होने के पूर्व १९५० तक केवल कलकत्ता, मद्रास और बम्बई के उच्च न्यायालयों को अधिकार था कि वे अपने सीमित क्षेत्राधिकार मे कुछ आदेश या लेख निकाल सकें। किन्तु सविधान के अनुच्छेद २२६ ने सभी उच्च न्यायालयो को अधिकार प्रदान किया है कि वे मौलिक अधिकारो के प्रवर्तन के लिए तथा अन्य प्रयोजनों के लिए अपने अधिकार-क्षेत्र-सम्बन्धी सारे

1. Section 226

है; इसलिए संविधान सातवाँ संशोधन अधिनियम के द्वारा अनुच्छेद २२२ में उस सीमा तक सशोधन कर दिया गया है।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता (Independence of High Court Judges)—सविधान ने इस बात की पर्याप्त व्यवस्था कर दी है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश अपने कार्यों को स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकें। इस सम्बन्ध मे मुख्य उपबन्ध नीचे दिए गए हैं।

(१) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। इस प्रकार वे केन्द्रीय सरकार की नियुक्तियाँ होती हैं, राज्य सरकार की नही। राज्य के मुख्य न्यायाधिपति को भारत के मुख्य न्यायाधिपति की सलाह से और अन्य न्यायाधीशों को राज्य के मुख्य न्यायाधिपति की सलाह से नियुक्त किया जाता है।

(२) न्यायाधीशो की पदावधि सुरक्षित होती है और अवकाश ग्रहण करने की आयु सविधान द्वारा निश्चित होती है। उन्हे अपने पद से सविधान द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार ही हटाया जा सकता है।

(३) न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय और न्यायालयो को छोड कर जिनका वह न्यायाधीश नही रहा है, अन्य किसी न्यायालय अथवा प्राधिकारी के सामने वकालत नही कर सकता।

(४) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो के वेतन सविधान ने निश्चित कर दिए हैं। उनके भत्तो और पेशन तथा छुट्टी आदि के सम्बन्ध मे उनके अधिकारों को ससद् ने तय कर दिया है। नियुक्ति के बाद इनमें ऐसा परिवर्तन नही किया जा सकता जिससे इन्हे नुकसान हो।

(५) न्यायाधीशो के वेतन राज्य की सचित निधि पर भारित होते हैं और उनकी पेशने भारत की सचित निधि पर भारित होती है।

(६) उच्च न्यायालय के प्रशासनिक व्यय राज्य की संचित निधि पर भारित होते है।

(७) उच्च न्यायालय के विभिन्न अधिकारियो और कर्मचारियो को मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त करता है। कुछ विशेष परिस्थितियो में किसी व्यक्ति को राज्य के लोक सेवा आयोग से मन्त्रणा करके नियुक्त किया जा सकता है।

उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of the High Courts)—उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के विस्तार के सम्बन्ध मे अनुच्छेद २३०, २३१ और २३२ का इस प्रकार सशोधन कर दिया गया है कि दो या दो से अधिक राज्यो के लिए एक या एक से अधिक सम्मिलित उच्च न्यायालय स्थापित किए जा सके और जिसके फलस्वरूप किसी उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार किसी संघ-राज्य-क्षेत्र तक विस्तृत हो सके अथवा जिसके फलस्वरूप उससे ऐसा कोई अधिकार-क्षेत्र छीना जा सके। साधारणतया किसी उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार उस राज्य की सीमाओं तक विस्तृत होता

कार्रवाइयो के विनियमन के हेतु साधारण नियम बना और निकाल सकता है तथा प्रपत्रों को विहित कर सकता है।[1] इस प्रकार संविधान ने उच्च न्यायालयो को अपने-अपने प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में ऐसे विशेष अधिकार और उत्तरदायित्व प्रदान किए हैं, जिसके कारण वे सैनिक न्यायालयो के अतिरिक्त अन्य सभी न्यायालयों और न्यायाधिकरणो से उच्चतर स्थिति का उपभोग करते है और उनका अधीक्षण करते है ताकि राज्य के अन्य सभी अधीनस्थ न्यायालय और न्यायाधिकरण ठीक ढग से विध्यनुकूल अपने कार्य करते चले। उच्च न्यायालयों को निम्नतर न्यायालयो के ऊपर अधीक्षण सम्बन्धी जो अधिकार प्रदान किए गए है, वे न्यायिक भी है और प्रशासनिक भी। उच्च न्यायालयो के अधीक्षण सम्बन्धी अधिकारो पर सविधान ने कोई प्रतिबन्ध आरोपित नही किए हैं। इस तथ्य पर न्यायमूर्ति श्री नसीर उल्ला बेग ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय मे जोधे बनाम राज्य के विवाद पर निर्णय देते समय स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला था : "यदि मैं इस धारा पर विचार पूर्वक गौर करता हूँ, तो इसका यही निर्वचन कर पाता हूँ कि उच्च न्यायालय का निम्न न्यायालयोंके ऊपर अधीक्षण केवल प्रशासनिक विषयो तक ही सीमित नही है। इस धारा मे उच्च न्यायालय के अधीक्षण सम्बन्धी अधिकारो पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है; और सम्भवतः इस धारा का उद्देश्य ही यह है कि उच्च न्यायालय को अपने क्षेत्राधिकार की प्रादेशिक सीमाओ मे ऐसे पूर्ण अधिकारों से सज्जित कर दिया जाय जिनके आधार पर वह अपने निम्नतर न्यायालयो का अधीक्षण करता रहे और देखता रहे कि वे सब न्यायपूर्वक न्याय-दान कर रहे हैं।"

विशेष मामलों का उच्च न्यायालय को हस्तान्तरण (Transfer of Certain Cases to High Court)—यदि उच्च न्यायालय का समाधान हो जाय कि उसके अधीन न्यायालय मे लम्बित किसी मामले मे इस सविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है जिसका निर्धारित होना मामले को निबटाने के लिए आवश्यक है तो वह उस मामले को अपने पास मंगा सकता है, तथा उस समय या तो मामले को स्वयं निवटा सकता है; या उक्त विधि-प्रश्न का निर्धारण कर सकता है; तथा ऐसे प्रश्न पर अपने निर्णय की प्रतिलिपि सहित उस मामले को उसी न्यायालय को, जिसमे मामला इस प्रकार मँगा लिया गया है, लौटा सकता है। इसके बाद निम्न न्यायालय उच्च न्यायालय के निर्णय का अनुसरण करते हुए उस मामले को निबटाने के लिए आगे कार्रवाई करेगा।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सविधान ने निम्न न्यायालयों को सविधान के निर्वचन का अधिकार नही दिया है, और ऐसा केवल इसीलिए किया गया है ताकि सांविधानिक मामलो के निर्णयो मे अधिक से अधिक एकरूपता बनी रहे। इस प्रकार निम्न न्यायालयों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे ऐसे किसी मामले पर उच्च न्यायालय की सम्मति प्राप्त कर ले जिसमे कोई सारवान विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है और जिसके निर्णय करने के लिए सविधान का निर्वचन आवश्यक है और जो मामला बिना सांविधानिक

१. अनुच्छेद २२७
२. अनुच्छेद २२८

राज्य-क्षेत्र में किसी व्यक्ति या प्राधिकारी के प्रति समुचित निदेश, आदेश या लेख निकाल सकते है। इस प्रकार यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकारो के रक्षण और प्रवर्त्तन के लिए आदेश और लेख जारी करने का अधिकार संविधान ने प्रदान किया है[1], वहाँ भारत के प्रत्येक उच्च न्यायालय को भी अधिकार दे दिया गया है कि उन्हें भी किसी व्यक्ति या प्राधिकारी के प्रति अथवा शासन के प्रति अपने अधिकार-क्षेत्र-सम्बन्धी राज्य-क्षेत्र मे ऐसे आदेश, निदेश या लेख जिनके अन्तर्गत वन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण के प्रकार के लेख भी है, अथवा उनमें से किसी को निकालने की शक्ति है।

यद्यपि मौलिक अधिकारो के प्रवर्त्तन के लिए उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयो को समवर्ती क्षेत्राधिकार प्रदान किया गया है, फिर भी सविधान ने मौलिक अधिकारो के सरक्षण और प्रवर्त्तन की जिम्मेदारी उच्च न्यायालयो पर उसी रूप मे नही सौपी है जिस रूप मे कि उच्चतम न्यायालय को सौंपी गई है। सविधान ने अनुच्छेद ३२ के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकारों का प्रत्याभू (guarantor) और सरक्षक स्वीकार किया है, किन्तु जहाँ तक उच्च न्यायालयों का सम्बन्ध है, उनके क्षेत्राधिकार का यह एक भाग है कि वे मौलिक अधिकारो के प्रवर्त्तन की दिशा मे कार्य करे। न्यायमूर्ति श्री पातंजलि शास्त्री ने रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य के मामले मे निर्णय देते हुए इस सम्बन्ध मे उच्चतम न्यायालय की विशिष्ट स्थिति की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा था: "वह अनुच्छेद[2] इस न्यायालय को सविधान के भाग ३ मे दिए गए अधिकारों के सरक्षण के लिए अथवा अन्य किसी बात पर आदेश देने का अधिकार केवल उसके कार्यक्षेत्र के अश के रूप में नही देता जैसा कि अनुच्छेद २२६ उच्चतम न्यायालयो को प्रदान करता है। यदि ऐसा होता तो यह अनुच्छेद (अनु० ३२), अनुच्छेदो १३१ और १३९ के बीच मे कही रखा जाता, जो कि कार्यक्षेत्र की व्याख्या करते है। अनुच्छेद ३२ उन अधिकारो की रक्षा की गारण्टी देता है। इसके द्वारा उपचार की एक प्रकार की सनद प्राप्त हो जाती है। और भाग ३ मे शामिल करके, इस गारण्टी को स्वयं मूल अधिकार बना दिया गया है। इस प्रकार यह न्यायालय मूल अधिकारो का सरक्षक और अभिभावक बन गया है। और इस जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए उच्चतम न्यायालय ऐसी किसी प्रार्थना की उपेक्षा नही कर सकता है, जिसमे यह दुहाई दी गई हो कि मूल अधिकारो का अतिक्रमण किया गया है और उनकी रक्षा होनी चाहिए।"

सब न्यायालयों के अधीक्षण की उच्च न्यायालय की शक्ति (Power of Superintendence)—प्रत्येक उच्च न्यायालय उन राज्य-क्षेत्रो मे सर्वत्र सैनिक न्यायाधिकरणों को छोड़ते हुए उन सब न्यायालयों और न्यायाधिकरणों का अधीक्षण कर सकता है जिनके सम्बन्ध मे उसे क्षेत्राधिकार प्राप्त है। उच्च न्यायालय ऐसे न्यायालयों या न्यायाधिकरणों से विवरणी (returns) मँगा सकता है; उनकी कार्यप्रणाली और

१. अनुच्छेद ३२
२. अनुच्छेद ३२

दिया गया है, जिसमें मामूली मारपीट या अनधिकार प्रवेश या पशुओं की चोरी आदि सम्मिलित हैं। ग्राम पंचायतें सौ रुपयों तक का जुर्माना कर सकती है, किन्तु उन्हें कारावास का दण्ड देने का अधिकार प्राप्त नही है। ग्राम पचायतो के निर्णयों के विरुद्ध अपील नही की जा सकती।

सत्र न्यायाधीश और जिलाधीश अपने-अपने अधीन दण्डाधिकारियो के न्यायालयों के कार्यों का अधीक्षण करते है और उनका अधीक्षण न्यायिक भी है और प्रशासनिक भी। द्वितीय और तृतीय वर्गों के दण्डाधिकारियो के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें जिलाधीश या जिला दण्डाधिकारी के न्यायालय मे की जाती हैं किन्तु अन्य दण्डाधिकारियों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सत्र न्यायालय मे की जाती हैं। सत्र न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील उच्च न्यायालय (High Court) में की जाती है। केवल दण्डादेशों को छोड़ कर जिनमें सत्र न्यायालय ने एक मास से अनधिक के कारावास का दण्ड दिया हो; या ५० रुपये जुर्माना [अथवा २०० रुपये का जुर्माना यदि मामला, दण्डाधिकारी ने संक्षेपतः अन्वीक्षा (Summary Trial) के द्वारा निर्णय किया हो किसी सत्र न्यायालय, जिलाधीश या प्रथम वर्ग के दण्डाधिकारी ने किया हो, सब दण्डादेशो के विरुद्ध अपील की जा सकती है। अभिमुक्ति या अभिमोचन (acquittal) के विरुद्ध भी अपीलें स्वीकार कर ली जाती हैं किन्तु ऐसी अपीलें प्रायः नही की जाती। दण्डाभियोग के पीड़ित पक्ष को यह भी अधिकार है कि वह जिलाधीश, सत्र न्यायालय या उच्च न्यायालय में अपने मामले पर पुनर्विचार कराने के लिए प्रार्थना करे। जिलाधीश और सत्र न्यायालय के अधिकार पुनर्विचार के मामलो मे अत्यन्त सीमित हैं। किन्तु वे यह सिफारिश कर सकते है कि यदि अन्याय हुआ है तो उच्च न्यायालय उक्त मामले मे हस्तक्षेप करे।

दण्ड न्यायालयों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने उच्चतर अधीक्षक न्यायालयों के द्वारा समय-समय पर उच्च न्यायालय को यह सूचना देते रहे कि उन्होने कितने मामलो को निबटाया। इन्ही आवेदनों या विवरणों से अधीक्षक न्यायालय टीका-टिप्पणी तैयार करते हैं और उन टीकाओं या टिप्पणियो को वे निम्नतर न्यायालयों को वापस करते हैं और उन पर निम्नतर न्यायालयों से या तो स्पष्टीकरण माँगते है या निम्न न्यायालयो से अपेक्षा को जाती है कि वे उक्त टीकाओं और टिप्पणियो के अनुसार आचरण करे। अधीक्षक न्यायालय अपने निम्न या अधीन न्यायालयो से फाइले या अभिलेख भी मँगा सकते हैं और उनकी परीक्षा कर सकते हैं और यदि कार्यप्रणाली मे कोई कमी देखते है या यदि वे देखते हैं कि आदेशों और विनियमो का उचित ढंग से पालन नही हो रहा है तो ऐसे मामलो को उच्च न्यायालय के पास भेज देते है और वे सिफारिश कर सकते है कि उच्च न्यायालय या तो हस्तक्षेप करे या पुनर्विचार करे।

व्यवहार-न्यायालय (Civil Courts)—सारे भारतवर्ष में, केवल महाप्रान्तीय नगरों (Presidency Towns) को छोड कर, जिला व्यवहार-न्यायालय का अध्यक्ष जिला न्यायाधीश होता है जो जिला न्यायाधीश के अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश भी होता

निर्वचन के निर्णय नहीं किया जा सकता है। यदि पीड़ित पक्ष भी उच्च न्यायालय से प्रार्थना करे कि उसका मामला निम्न न्यायालय से उठा कर स्वयं उच्च न्यायालय निर्णय करे तो भी उच्च न्यायालय किसी ऐसे मामले को अपने पास मँगा सकता है।

अधरिक या अधीन न्यायालय
(Subordinate Courts)

अधरिक या अधीन न्यायालयों की व्यवस्था (The System of Courts)—उच्च न्यायालयों के अधीन या अधरिक न्यायालयों की वही शक्तियाँ और वही अधिकार है जो इस सविधान के प्रवर्तन में आने से पूर्व थे।[1] निम्न या अधीन न्यायालयों के क्षेत्राधिकारों और शक्तियों का वर्णन विभिन्न केन्द्रीय और प्रान्तीय सविधियों में मिलता है। किन्तु उच्च न्यायालय के अधीन न्यायालयों का गठन एवं सगठन और उनका प्रादेशिक क्षेत्राधिकार पूरी तरह राज्य के अधिकार-क्षेत्र के विषय है।[2] तदनुसार, किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित किसी अधिनियम के द्वारा आधुनिक अधीन या निम्न न्यायालयों के प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में या न्यायालयों में (उच्चतम न्यायालय को छोड़कर) ली जाने वाली फीसों में परिवर्तन किया जा सकता है तथा ऐसी विधि के द्वारा वर्तमान न्यायालय व्यवस्था में भी परिवर्तन किया जा सकता है।

दण्ड-न्यायालय (Criminal Courts)—प्रत्येक राज्य के प्रत्येक जिले में दण्ड-न्यायालय भी हैं और व्यवहार-न्यायालय भी है। दण्ड न्यायालयों की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में सारे भारत में एकरूपता है क्योंकि दण्ड-प्रक्रिया-सहिता सारे भारत के न्यायालयों पर समान रूप से लागू है। प्रत्येक जिले की न्यायालय-व्यवस्था के उत्तरोत्तर क्रम में एक सत्र न्यायालय है जिसका अध्यक्ष सत्र न्यायाधीश होता है। किसी सत्र न्यायालय का न्यायाधीश या तो जूरी (jury) के साथ या अभिनिर्धारकों (assessors) के साथ निर्णय करने बैठता है; किन्तु अभिनिर्धारकों का निर्णय न्यायालय को मानना आवश्यक नहीं है। सत्र न्यायालय का न्यायाधीश कुछ भी वैधिक निर्णय देने में सक्षम है, किन्तु यदि वह मृत्यु-दण्ड देगा तो उसकी पुष्टि उच्च न्यायालय द्वारा होनी आवश्यक है। सत्र न्यायालयों के अधीन प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के या वर्ग के दण्डाधिकारियों (magistrates) के न्यायालय होते हैं। प्रत्येक वर्ग के दण्डाधिकारी का क्षेत्राधिकार विशिष्ट प्रकार के अपराधों तक सीमित होता है; और प्रथम वर्ग का दण्डाधिकारी दो वर्षों से अनधिक कारावास अथवा एक हजार रूप तक के जुर्माने की सजा दे सकता है। द्वितीय वर्ग का दण्डाधिकारी छः मास तक का कारावास और दो सौ रुपये तक के जुर्माने की सजा दे सकता है; तथा तृतीय वर्ग का दण्डाधिकारी एक मास तक की सजा या कारावास एवं पचास रुपये तक का जुर्माना कर सकता है। कुछ राज्यों में गाँव पंचायतों को भी ऐसे छोटे-मोटे दण्ड-विधि के मुकदमों के निर्णय का अधिकार दे

---

१. अनुच्छेद ३७२

२. सप्तम अनुसूची, राज्य सूची, पद ३

सम्बन्धित ऐसे मामलों के निर्णय करने का अधिकार है जिनमें चल सम्पत्ति अन्तर्ग्रस्त हो। पंचायतों के निर्णयों के विरुद्ध अपील नही की जा सकती।

न्यायिक सेवा में जिला न्यायाधीशों और उनसे अन्य व्यक्तियों की भर्ती (Appointment of District Judges and of persons other than District Judges)—सविधान ने न्यायिक पदों को दो श्रेणियों मे विभाजित किया है।[1] प्रथम या उच्चतर श्रेणी मे जिला या मण्डल सत्र न्यायाधीश, नगर व्यवहार-न्यायालयो के न्यायाधीश, सहायक जिला या मण्डल सत्र न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालयो के मुख्य न्यायाधीश और मुख्य प्रेसीडेंसी दण्डाधिकारी आते हैं। द्वितीय या निम्नतर श्रेणी में अन्य वे व्यवहार न्यायिक पद (civil judicial posts) आते है जो जिला या मण्डल न्यायाधीश के पद से निम्नतर है। उच्चतर या प्रथम श्रेणी के न्यायिक पदो पर नियुक्ति राज्य का राज्यपाल उस राज्य के सम्बन्ध मे क्षेत्राधिकार प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करके करता है।[2] कोई व्यक्ति जो सघ की या राज्य की सेवा में पहले से ही नही लगा हुआ है, जिला या मण्डल न्यायाधीश होने के लिए केवल तभी पात्र हो सकता है जब कि वह सात से अन्यून वर्षों तक अधिवक्ता या वकील रह चुका हो तथा उसकी नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय ने सिफारिश की हो।

निम्न श्रेणी के न्यायिक पदों पर अर्थात् जिला न्यायाधीशो से अन्य व्यक्तियों की जिनमे नगर व्यवहार-न्यायालयों के न्यायाधीश, सहायक जिला या मण्डल सत्र न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश और मुख्य प्रेसीडेंसी दण्डाधिकारी सम्मिलित है, राज्य की न्यायिक सेवा में नियुक्तियाँ, राज्यपाल द्वारा; राज्य लोक सेवा आयोग तथा उस राज्य के सम्बन्ध मे क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श के पश्चात् की जाती है।[4]

अधीन न्यायालयों पर नियन्त्रण (Control over Subordinate Courts)—जिला या मण्डल न्यायालयों और उनसे निम्नतर न्यायालयों के ऊपर राज्य के उच्च न्यायालय का नियन्त्रण रहता है। अनुच्छेद २३५ उपबन्धित करता है कि जिला न्यायाधीश के पद से निचले किसी पद को धारण करने वाले राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियों की पद स्थापना, पदोन्नति और उनको छुट्टी देने के सहित जिला न्याया-लयों तथा उनके अधीन न्यायालयों का नियन्त्रण राज्य के उच्च न्यायालय मे निहित है। इस प्रकार उच्च न्यायालय का नियन्त्रण अधीन न्यायालयो पर उनमे किसी निचले पद को धारण करने वाले राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियो की पद स्थापना, पदोन्नति, और उनको छुट्टी देने के सम्बन्ध मे है; किन्तु यह नियन्त्रण जिला जज या मण्डल

---

१. अनुच्छेद २३६
२. अनुच्छेद २३३ (१)
३. अनुच्छेद २३३ (२)
४. अनुच्छेद २३४

है। जिला या मण्डल न्यायाधीश का न्यायालय किसी जिले में मुख्य व्यवहार न्यायालय होता है और यह न्यायिक एवं प्रशासनिक दोनों प्रकार के अधिकारों का उपभोग करता है। व्यवहार-विधि सम्बन्धी मामलों में इस न्यायालय को मौलिक और पुनरावेदनमूलक दोनों प्रकार के अधिकार हैं और कुछ ऐसे विशेष अधिनियमों जैसे उत्तराधिकार अधिनियम, प्रतिपालक तथा प्रतिपाल्य अधिनियम (the Guardian and Wards Act), प्रान्तीय शोधाक्षमता अधिनियम (the Provincial Insolvency Act) और विवाह विच्छेद अधिनियम में जिला या मण्डल व्यवहार न्यायालय को विस्तृत शक्तियाँ और अधिकार प्राप्त है। जिले या मण्डल के अधीन व्यवहार-न्यायालयों के ऊपर जिला व्यवहार-न्यायालय को अधीक्षण सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त है।

जिले के व्यवहार-न्यायालयों के क्रम में जिला या मण्डल व्यवहार-न्यायालय के नीचे व्यवहार-न्यायाधीशों का न्यायालय होता है, जिसे ज्येष्ठ अधरिक न्यायाधीश का न्यायालय भी कह सकते हैं। व्यवहार-न्यायाधीश या ज्येष्ठ अधरिक न्यायाधीश के न्यायालय में सब व्यवहार-विधि-सम्बन्धी मामले जा सकते है चाहे उन विवादों में अन्तर्ग्रस्त राशि कितनी भी हो। उन राज्यों में जिनमें व्यवहार-न्यायाधीशों के न्यायालय है, उनको अपीलीय क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं हैं जबकि ज्येष्ठ अधरिक न्यायाधीशों के न्यायालयों को छोटे-छोटे मामलों में पुनरावेदनमूलक अधिकार भी प्राप्त हैं। व्यवहार न्यायाधीशों या ज्येष्ठ अधरिक न्यायाधीशों के न्यायालयों के नीचे अधरिक न्यायाधीशों या मुंसिफों के न्यायालय होते है। (बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और असम में मुंसिफ ही पुकारा जाता है जिसको अन्य राज्यों में अधरिक न्यायाधीश कहते हैं।) मुंसिफों या अधरिक न्यायाधीशों में भी कोई प्रथम वर्ग या श्रेणी का हो सकता है और कोई द्वितीय श्रेणी का हो सकता है; तदनुसार उनके अधिकार-क्षेत्रों में भी अन्तर होता है। प्रथमतः, अधरिक व्यवहार-न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील जिला या मण्डल व्यवहार-न्यायालय को जाती है यदि अन्तर्ग्रस्त धनराशि पाँच हजार रुपये से अधिक नहीं हैं। यदि अन्तर्ग्रस्त धनराशि पाँच हजार रुपयों से अधिक है, तो अपील सीधे उच्च न्यायालय में की जाती है। द्वितीयतः, अपील के अधिकार विभिन्न राज्यों में भिन्न है; किन्तु ऐसे किसी प्रश्न पर द्वितीय अपील की आज्ञा मिल जाती है जिसमें सारवान विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हो; अथवा यदि मामले में अपनायी गई कार्यप्रणाली दोषपूर्ण रही हो; अथवा यदि प्रथम अपील का न्यायालय, मौलिक न्यायालय से तथ्यों के प्रश्न पर सहमत न हो।

कुछ बड़े नगरों में लघुवाद न्यायालय स्थापित कर दिये गए है ताकि ऐसे छोटे-मोटे मुकदमे शीघ्रता से निबटाये जा सकें जिनमें अन्तर्ग्रस्त धनराशि राज्य सरकार द्वारा निर्धारित, किसी राज्य में दो हजार रुपये से अनधिक है, किसी राज्य में एक हजार से अनधिक है और किसी राज्य में पाँच सौ रुपये से अनधिक है। लघुवाद न्यायालय सक्षेपतः अन्वीक्षा की प्रक्रिया के अनुसार मामलों को निबटाते है और सामान्यतः लघुवाद न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती; यद्यपि यदि विधि के सम्बन्ध में कोई भारी भूल हुई है तो वह भूल या अशुद्धि पुनर्विचार में सुधारी जा सकती है।

कुछ राज्यों में ग्राम पंचायतों की स्थापना हुई है जिन्हें छोटे व्यवहार-विधि से

रखता हो। द्वितीयतः, वह न्यायाधीश या दण्डाधिकारी किसी ऐसी सत्ता के अधीन न हो जो 'प्राभियोजन या प्रतिरक्षा' से सम्बन्धित हो। इस समस्या के ये दोनो पहलू समान रूप से महत्त्वपूर्ण है; और इन पहलुओ के अन्तर्गत यदि हम अपनी आधुनिक व्यवस्था को समझने का प्रयास करेंगे तो हमे स्पष्ट कमियाँ दिखाई देगी, क्योंकि हमारी न्याय-व्यवस्था मे दण्डाधिकारी जो या तो किसी दण्डाभियोग की सुनवाई करता है या किसी दण्डाभियोग मे अपील की सुनवाई करता है, प्रायः स्वय या तो उप-विषय-अधिकारी होता है अथवा जिलाधीश या सर्वोच्च जिला दण्डाधिकारी होता है जिसका सम्बन्ध पुलिस और अभियोजन अधिकारियों से होता है, और वह स्वयं उस मामले की जीत मे रुचि रखता है क्योंकि कार्यपालिका का उच्च अधिकारी होने के नाते वह जिले मे शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने के लिए उत्तरदायी है; और यदि कोई दण्डाधिकारी उस मामले की सुनवाई करता है तो वह स्वयं उप-विषय-अधिकारी (S.D.O.), जिलाधीश या आयुक्त (Commissioner) और/अथवा शासन के अन्य कार्यपालिका अधिकारियो का अधीन अधिकारी होता है और चूकि उपर्युक्त सभी अधिकारी सम्राट् के मुकदमों (Crown Cases) मे सरकारी पक्ष की जीत चाहते है, इसलिए वह न तो निष्पक्ष हो सकता है और न बाहरी प्रभावो से मुक्त।"

न्यायमूर्ति श्री मेरेडिथ के विचारो का यह एक लम्बा उद्धरण है, किन्तु न्यायपालिका और कार्यपालिका सत्ताओ के पृथक्करण के सिद्धान्त को न्यायमूर्ति मेरेडिथ के विचारों से पुष्टि मिलती है। यद्यपि राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तो मे उक्त सिद्धान्त को भारतीय सविधान ने स्वीकार कर लिया है फिर भी कुछ लोगों का विचार है कि जब भारत स्वतन्त्र हो चुका है और भारत के सभी अवयवी राज्यो मे उत्तरदायी सरकारे कार्य कर रही है तो फिर अब न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग रखने की आवश्यकता ही क्या रह गई है। यह सत्य है कि सविधान ने उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया है फिर भी अधीन दण्डाधिकारी न्यायालयों की स्थिति उतनी अच्छी नही है जितनी कि होनी चाहिए। सत्ता के अनुचित केन्द्रीकरण से, सभी वे अधिकारी जिनमे अत्यधिक सत्ता केन्द्रित हो जाती है अवश्य ही बिगड जाते है, फिर चाहे देश स्वतन्त्र भी हो और लोकतन्त्रात्मक भी हो अथवा पराधीन हो; यद्यपि इतना अवश्य मानना पडेगा कि देश की पराधीनता की अवस्था मे न्यायपालिका और कार्यपालिका सत्ताओ को एक ही हाथो मे दे देने के दोष अधिक भयावह होंगे। लार्ड हीवर्ट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि न्यू डैस्पॉटिज्म' (The New Despotism) में लिखा है: "सार्वजनिक अधिकारी स्वतन्त्र नही हैं।...यह सामान्य समझ-बूझ की बात है कि किसी प्रशासनिक अधिकारी को उसी के विभाग से सम्बन्धित न्यायिक कृत्य नही सौपे जाने चाहिएँ। दोनों प्रकार के कृत्य असगत और बेमेल हैं। ऐसी स्थिति मे किसी भी सार्वजनिक अधिकारी के लिए यह कठिन होगा कि वह निष्पक्ष भाव से अपने न्यायिक कृत्य सम्पादित कर सके। यद्यपि सार्वजनिक अधिकारी अपना कार्य ईमानदारी से करेगा और यथाशक्य सही निर्णय करेगा, फिर भी किसी विभागीय विवाद पर निर्णय देते समय उसका विभागीय मस्तिष्क अवश्य ही उसके साथ ही रहेगा; और विभागीय

न्यायाधीश से निचले पदों वाले न्यायिक अधिकारियों पर ही लागू होता है। संक्षेप में सारे निम्नतर न्यायालय उच्च न्यायालय के प्रशासनिक नियन्त्रण में आ गये हैं।

कार्यपालिका का न्यायपालिका से विच्छेद (Separation of the Executive from the Judiciary) —भारतीय संविधान भी यही चाहता है कि कार्यपालिका का न्यायपालिका से विच्छेद रहे। आजकल जिलाधीशों या जिला दण्डाधिकारियों और अधीन दण्डाधिकारियों के ऊपर पद स्थापना, पदोन्नति और अन्य बातों मे राज्य की सरकार का नियन्त्रण है, किन्तु उच्च न्यायालय को उपर्युक्त दण्डाधिकारियों के ऊपर पद स्थापना, पदोन्नति आदि विषयों मे कोई नियन्त्रण नहीं है। अनुच्छेद २३७ उप-बन्धित करता है कि अधीन दण्ड न्यायालयों के ऊपर प्रशासनिक नियन्त्रण उच्च न्यायालय का रहना चाहिए। संविधान का आदेश है—"राज्यपाल सार्वजनिक अधिसूचना द्वारा निदेश दे सकता है कि इस अध्याय के सर्वगामी उपबन्ध तथा उनके अधीन बनाये गए कोई नियम ऐसी तारीख से जो कि वह इस बारे में नियत करे, राज्य के किसी प्रकार या प्रकारों के दण्डाधिकारियों के सम्बन्ध मे ऐसे अपवादों और रूपभेदों के अधीन रह कर जैसे कि अधिसूचना में उल्लिखित हो, वैसे ही लागू होंगे जैसे कि वे राज्य की न्यायिक सेवा में नियुक्त व्यक्तियों के सम्बन्ध मे लागू होते है।"

राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों से सम्बन्धित अनुच्छेद ५० में संविधान राज्य को परामर्श देता है कि "राज्य की लोक-सेवाओं में, राज्य, न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् रखने का प्रयास करे।" सभी लोगों की स्वतन्त्रताओं की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् रखा जाय और जैसा कि मॉण्टेस्क्यू ने कहा है—"उस देश मे स्वतन्त्रता नही रह सकती, जिसमें न्याय-पालिका को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से अलग न रखा जाता हो। भारत के पूर्वगामी शासन मे जिला स्तर पर एक ही अधिकारी मे कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकार निहित थे; और उस व्यवस्था के दोष भी सर्वविदित थे। न्यायपालिका के उच्च आदर्शों के अनुसार जिस स्वतन्त्रता और पक्षपातहीनता की अपेक्षा की जाती है, उसका सर्वथा अभाव था। इसलिए भारतीय जनमत ऐसी स्थिति से असन्तुष्ट था और बार-बार न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने के लिए आन्दोलन चले।

पटना उच्च न्यायालय के न्यायधीश श्री मेरेडिथ ने न्यायपालिका को कार्य-पालिका से अलग रखने की सिफारिश की थी। उन्होने कहा था—"सबसे पहले यह समझने की जरूरत है कि न्यायिक और कार्यपालिका सम्बन्धी कृत्यों को पृथक् रखने का अर्थ क्या है और इसमे क्या समस्याएँ अन्तर्ग्रस्त हैं? इसका अर्थ इस सिद्धान्त को मान लेना होगा कि जो न्यायाधीश किसी विवाद पर निर्णय देता है, उसको पूर्ण पक्षपातहीन होना चाहिए; किसी भी पक्ष की हार-जीत की ओर से वह उदासीन होना चाहिए तथा उस पर बाहरी प्रभाव न पड सकने चाहिएँ।···यदि इस सामान्य सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाता है तो इससे दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं—प्रथमतः, जो न्यायाधीश या दण्डाधिकारी किसी मुकदमे का निर्णय करने बैठता है, वह किसी प्रकार प्राभियोजन (Prosecution) से न तो सम्बद्ध रहा हो और न किसी प्रकार प्राभियोजन में अभिरुचि

अध्याय १२

संघ और राज्यों के अधीन सेवाएँ

(SERVICES UNDER THE UNION AND THE STATES)

शासन-संचालन विधि (How the Government operates)—संघ सरकार और राज्य सरकार दोनों का शासन-प्रबन्ध सचिवालय के द्वारा ही होता है। केन्द्र और राज्यों के सचिवालयों को मन्त्रि-विभागों में इस प्रकार विभाजित किया जाता है कि प्रशासनिक सुविधानुसार शासनिक क्रिया-कलाप के विभिन्न विषय इस प्रकार विभाजित हो जाते हैं, जिससे प्रत्येक मन्त्रिविभाग या विभाग एक मन्त्री के अधीना रहे। अधिकतर विभागों में कम-से-कम एक उपमन्त्री भी होता है, जो मन्त्रिपरिषद् का भी सदस्य होता है। किन्तु उपमन्त्री किसी विभाग का अध्यक्ष नहीं होता। उसका काम यह है कि वह अपने विभागीय अध्यक्ष मन्त्री को प्रशासनिक और संसदीय कृत्यों के निर्वहन में सहायता दे। एक उपमन्त्री की तुलना हम इंग्लैंड के ससदीय सचिव अथवा छोटे मन्त्री से कर सकते हैं।

शासन के विभिन्न प्रशासनिक विभागों के राजनीतिक अध्यक्षों के अतिरिक्त प्रत्येक विभाग में कुछ स्थायी अधिकारी होते है, और कुछ लिपिक वर्ग (Clerical staff) होता है। प्रत्येक विभाग के शीर्ष पर एक स्थायी सचिव होता है जो या तो इण्डियन सिविल सर्विस (I. C. S.) का या इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस (I. A. S.) का सदस्य होता है। उक्त पद का भारी उत्तरदायित्व और महत्त्व है। वास्तव में विभाग का स्थायी सचिव ही विभाग का सर्वेसर्वा है और यह उसी को देखना पड़ता है कि विभाग निश्चित दिशा में सुचारु रूप से प्रगति करे। अधिकतर स्थायी सचिव अपने-अपने विभागों से इतने दिनों तक सम्बद्ध रहते है कि उन्हें अपने-अपने विभागों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है और इस प्रकार वे मन्त्रियो की सेवा में पूर्ण विशेषज्ञों के रूप में कार्य करते हैं जो प्रशासन की कला में नौसिखिए अथवा अविशेषज्ञ ही होते है। इन स्थायी सचिवों के अधीन प्रत्येक विभाग में एक प्रति सचिव, एक अवर सचिव, एक सयुक्त सचिव भी, सहायक सचिवगण, अनेक अधीक्षक या सचालक और अन्य लिपिक वर्ग के सेवक होते है। प्रशासन के इन अ-राजनीतिक अभिकर्त्ताओं या कार्यकर्ताओ के उच्चतम तथा निम्नतम सभी अधिकारियो को मिला कर सिविल सेवा निकाय की स्थापना होती है। उपर्युक्त सभी सिविल सेवकगण अपने-अपने पदो पर स्थायी रूप से बने रहते है और सरकारो की अदला-बदली से उनके ऊपर कोई प्रभाव नही पड़ता। सिविल सेवक राजनीति से परे होते है; और यही इस पद की विशेषता है। लार्ड बाल्फर ने इंग्लैण्ड के सिविल सेवकों की स्थिति का सही चित्राकन किया है और वही चित्राकन बहुत अंशों मे भारतीय सिविल सेवको के ऊपर भी लागू होता है। लॉर्ड बाल्फर ने लिखा था—"सिविल सेवकों का नीति पर कोई नियन्त्रण नही है; और वे नीति के लिए

मस्तिष्क और न्यायिक मस्तिष्क दो अलग प्रकार के मस्तिष्क होते हैं, जैसा कि उन सभी लोगों को अनुभव है जो ऐसे सार्वजनिक अधिकारियों के बारे में जानते हैं जिन्हें विभागीय कृत्यों के साथ-साथ न्यायिक कृत्यों का भी निर्वहन करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने से बड़े अधिकारियों की आज्ञाओं का पालन करे, और यदि किसी विशिष्ट विषय पर कोई विशिष्ट आदेश न भी हो, तो भी उस अधिकारी का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह विभाग की नीति के अनुसार निर्णय करे। इस प्रकार प्रत्येक अधिकारी के ऊपर राजनीतिक प्रभाव पड़ने सम्भव हैं।"

भारत संघ के कुछ राज्यों ने तो न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग कर दिया है। पंजाब सहित कुछ राज्य इस सम्बन्ध में परीक्षण कर रहे है, और उन्होंने कुछ जिलो में न्यायिक दण्डाधिकारियों की नियुक्तियाँ की हैं। किन्तु यह समझ लेना उपादेय होगा कि केवल नाम बदल देने मात्र से और दण्डाधिकारियों को न्यायिक दण्डाधिकारी मात्र कह देने से न्यायपालिका और कार्यपालिका का सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो जाता और न संविधान के तत्सम्बन्धी उपबन्धों का पालन हो जाता है। न्यायपालिका का कार्यपालिका से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद तभी माना जाएगा, जब कि राज्य के दण्डाधिकारियों की नियुक्तियाँ, पद-स्थापनाएँ, पदोन्नतियाँ और अन्य तत्सम्बन्धी बातें राज्य के उच्च न्यायालयों के अधिकार में सौंप दी जाएँ। तभी, और केवल तभी न्यायपालिका कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त होगी। श्री हैमिल्टन ने ठीक ही कहा था कि, "यह अत्यन्त भयावह स्थिति होगी यदि देश के न्यायाधीशों को कार्यपालिका के प्रभाव में रखा जाए; क्योंकि इससे देश की न्यायपालिका भ्रष्ट हो सकती है।"

के कृत्यों का विधानमण्डल में और सर्वसाधारण में समर्थन कर सकें। इसीलिए विभाग का कार्य इस प्रकार चलाना चाहिए और उसकी नीति इस प्रकार निर्धारित करनी चाहिए कि उसकी नीति और उसके कृत्य समर्थनीय हों और उनका न्यायपूर्वक रक्षण किया जा सके।

विभाग का दूसरा मुख्य कार्य है नीति-निर्धारण अथवा नीति-निर्माण। वास्तव में नीति-निर्धारिण का कार्य मन्त्रिमण्डल करता है। किन्तु उक्त नीति के निर्धारण के सम्बन्ध में सारी विस्तृत बातें और सारी बारीकियाँ, शासन के विभिन्न विभागों के ऊपर छोड़ दी जाती है। प्रायः ऐसा होता है कि विभाग स्वय शासन की नीति के दायरे में नीति की क्रियान्विति का निर्णय कर लेता है। इस प्रकार की नीति की क्रियान्विति सम्बन्धी प्रस्ताव स्वय विभाग के प्रशासनिक अनुभव के फल हो सकते है; या वे मन्त्री द्वारा दिए गए आदेशों के भी फल हो सकते हैं। चाहे उक्त प्रस्तावों का स्रष्टा स्वय विभाग हो या मन्त्री हो, किन्तु विभाग ही उक्त नीति की क्रियान्विति सम्बन्धी योजना को तैयार करता है; फिर मन्त्रिमण्डल की सामान्य नीति के अनुरूप उक्त योजना के विस्तृत विवरण तैयार करता है, और फिर उन विभागों की भी राय ली जाती है जिन पर उक्त नीति का प्रभाव पडना सम्भव है। यदि उक्त नीति की योजना प्रवर्तित विधियों के द्वारा क्रियान्वित नही की जा सकती तो उक्त योजना पर विधेयक का प्रारूप तैयार किया जाता है। जब विधेयक का प्रारूप मन्त्रिमण्डल द्वारा स्वीकृत कर लिया जाता है तो उसको विधेयक के रूप मे तैयार किया जाता है और फिर विधानमण्डल मे प्रस्तुत किया जाता है। यह सारी प्रक्रिया ससद् मे और राज्य के विधानमण्डलों मे प्रायः समान है। जिस विभाग से सम्बन्धित विधेयक होगा, उसी विभाग के मन्त्री को विधेयक की पुरःस्थापना करनी पडती है; और यह उसी का उत्तरदायित्व है कि उस विधेयक को विधानमण्डल मे पास करावे। किन्तु सम्बन्धित विभाग के सिविल सेवक विधानमण्डल में सदैव मन्त्री की सहायता के लिए खडे रहते हैं और जब कभी मन्त्री को जिस जानकारी की आवश्यकता होती है, वे तुरन्त अपने अध्यक्ष की तन-मन से सेवा करके उसको सफल बनाते है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि विधेयक चाहे मन्त्री की ओर से प्रेरित भी किया गया हो, फिर भी किसी विधेयक के सम्बन्ध मे सारी प्रारम्भिक अथवा सज्जात्मक कार्रवाई विभाग को और विशेषकर विभाग के स्थायी सचिव को ही करनी पड़ती है। श्री एटली ने लिखा है कि "जब कोई नया मन्त्री अपने पद पर पहुँचता है तो उसे ऐसा अनुभव होगा कि (विभागीय) सिविल सेवक मन्त्री की नीति के विरुद्ध हर प्रकार की आपत्तियाँ उपस्थित करता है; किन्तु शनैः-शनैः मन्त्री जान लेता है कि सिविल सेवक केवल विरोध के लिए विरोध नही करता, बल्कि यह उसका कर्तव्य है कि मन्त्री उस नीति के अनुसरण के सम्बन्ध मे सारी कठिनाइयाँ समझ ले, जिस पर वह चलना चाहता है।"[1]

---

1. Civil Servants, Ministers, Parliament and Public. —The Indian Journal of Public Administration, April-June 1955, p. 96.

उत्तरदायी भी नही है। चूंकि वे किसी दल-विशेष से सम्बन्द्ध नही होते, इसीलिए दलीय शासन-व्यवस्था में उनकी स्थिति का भारी महत्त्व है। यह केवल उच्चस्तरीय सिविल सेवकों के कारण ही सम्भव होता है जो प्रशासनिक उत्तरदायित्व के बदलने पर अर्थात् एक दल के शासन से दूसरे दल द्वारा शासन ग्रहण करने पर अथवा एक मन्त्री से दूसरे मन्त्री द्वारा विभाग सम्भालने पर प्रशासन में कोई गड़बड़ी आने नही पाती। हो सकता है कि नये मन्त्री के आ जाने से निर्देशन और संचालन में परिवर्तन हो जाए किन्तु विभाग का कार्य अबाध गति से चलता रहता है।"[1] संक्षेप में कहा जा सकता है कि सिविल सेवक ही शासन-तन्त्र को चालित रखते हैं और सत्तारूढ दल द्वारा निर्धारित नीति को क्रियान्वित करते है, जिसकी उद्‌घोषणा महानिर्वाचन में की जाती है और जिसको संसद् स्वीकार कर चुकती है। इस प्रकार सिविल सेवक ही आने और जाने वाले मन्त्रिमण्डलों के बीच कडी का काम करते हैं और उन्ही में संसदीय शासन-प्रणाली के सारे सिद्धान्त और सारे व्यवहार निवास करते हैं जबकि मन्त्रिमण्डल आते भी रहते हैं और उसी प्रकार जाते भी रहते हैं। दलगत राजनीतिक प्रश्नों पर वे पूर्ण तटस्थ बने रहते है; और सरकार चाहे किसी भी राजनीतिक दल की हो, वे प्रत्येक सरकार की समान निष्ठा से सेवा करते है। सभी सिविल सेवक सत्तारूढ़ दल के प्रति और उसके कार्यक्रम के प्रति उस दल के कार्यकाल में स्थायी निष्ठा और भक्ति रखते हैं; और वे इस बात से प्रभावित नही होते कि उनके निजी विचार सत्तारूढ दल की नीति से मेल खाते हैं अथवा नही। लॉर्ड एटली का कथन है कि "जब कोई नया मन्त्री अपना पद सम्भालता है तो उसे इस बात का पूरा विश्वास रहता है कि वह अपने अधीन कर्मचारी-वर्ग की निष्ठा और नेकनीयती पर पूर्ण विश्वास कर सकता है; और जिस समय अपना पद त्याग कर अलग होता है उस समय भी शायद ही कोई मन्त्री यह पहिचान सके कि उन अधीन सिविल सेवकों के व्यक्तिगत राजनीतिक विचार क्या थे जिनके साथ उसने इतने दिनो तक निकट सम्पर्क में कार्य किया था।"[2]

विभागों के कार्य (Functions of the Departments)—मोटे तौर पर विभागो के मुख्यतया चार कृत्य हैं। प्रथमतः, विभाग अपने प्रशासन के लिए सर्व-साधारण के प्रति उत्तरदायी हैं। प्रशासन शून्यावस्था मे प्रवर्तित नही हो सकता। चूंकि विभाग ऐसी नीतियों को क्रियान्वित करता है जिनको न केवल सर्वसाधारण ने, अपितु स्वयं विधानमण्डल ने भी स्वीकार कर लिया है, अतः वे नीतियां ऐसी होनी चाहिएँ जिन्हें आसानी से समझाया जा सके। इसका यह अर्थ हुआ कि विभाग या प्रशासन सर्वसाधारण के प्रति भी उत्तरदायी है और विधानमण्डल के प्रति भी। चूंकि यह उत्तरदायित्व उन लोगों के द्वारा निभाया जाना है जो स्वयं प्रशासन के लिए भी उत्तरदायी है; अतः विभाग के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने अध्यक्ष अथवा मन्त्री को वह सारी सूचना और सारी जानकारी दे दे, जिसके द्वारा मन्त्री विभाग

1. Introduction to Bagehot's English Constitution, p. xxiv.
2. "Civil Servants, Ministers, Parliament and the Public."
—The Indian Journal of Public Administration, April-June 1955, p. 96.

सूचना और सारा अनुभव उंडेल दें और वे सारी आपत्तियाँ और कठिनाइयाँ अपने मन्त्री की सेवा में प्रस्तुत कर दें जो उस नीति पर चलने के मार्ग में बाधक हो सकती है; और इस दिशा में सिविल सेवक को न तो डरने की जरूरत है और न किसी नीति के प्रति पक्षपात करने की ही आवश्यकता है। उसे इसकी भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है कि उसके द्वारा सुझाई गई वैकल्पिक नीति पर मन्त्री सहमत होगा अथवा नहीं। किन्तु मन्त्री के समक्ष तथ्य प्रस्तुत करने में सिविल सेवक को पूरी-पूरी सावधानी बरतनी चाहिए ; क्योंकि इस दिशा में तनिक भी असावधानी होने से सारे विभाग की प्रतिष्ठा पर आ बनती है। पुराने तथ्यों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन प्रस्तुत करने में भी सिविल सेवक को अत्यन्त बुद्धिमत्ता और निष्पक्षता के साथ कार्य करना चाहिए।"[1] इंग्लैंड में ऐसा उदाहरण शायद ही मिलेगा, जबकि सिविल सेवकों ने अपने विभागों के अध्यक्ष अथवा मन्त्रियों द्वारा निर्धारित नीति की क्रियान्विति में अड़ंगा लगाया हो।

जानपद सेवा या सिविल सेवा का संगठन (Organisation of the Civil Service)—जानपद या सिविल सेवा के संगठन के सिद्धान्त अत्यन्त सरल और स्पष्ट हैं। उक्त सिद्धान्त तीन हैं—एकीकृत सेवा; प्रतिस्पर्द्धी परीक्षाओं के आधार पर सेवा में प्रवेश; और समस्त सेवाओं का नीति-निर्धारण से सम्बद्ध बौद्धिक वर्ग, एवं लिपिक वर्ग के कार्यों से सम्बद्ध लिपिक वर्ग में वर्गीकरण, तथा दोनों वर्गों के सिविल सेवकों की दो विभिन्न प्रकार की प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर भर्ती। दोनों प्रकार के कर्त्तव्यों के निर्वहन के लिए और उनमें उचित सामंजस्य लाने के लिए यह आवश्यक है कि जानपद या सिविल सेवकों को दो भागों या वर्गों में वर्गीकृत किया जाए। तभी उत्तरदायी और प्रतिचारी नीति की क्रियान्विति हो सकती है। लिपिक वर्ग ऐसे कृत्य करता है जो या तो सामान्य यान्त्रिक प्रकार के कार्य होते हैं अथवा ऐसे कार्य होते हैं जिनमें सुनिश्चित विनियमों, निर्णयों और व्यवहारों की विशिष्ट मामलों में क्रियान्विति करनी पड़ती है। दूसरे प्रकार के कर्तव्यों अर्थात् नीति-निर्धारण से सम्बन्धित बौद्धिक कृत्यों में वे सब कृत्य आते हैं जिनका सम्बन्ध नीति-निर्धारण से होता है अथवा जिनका सम्बन्ध प्रचलित प्रथाओं या प्रचलित विनियमों या निर्देशों में परिवर्तन करने से या शासन-संचालन और शासन के संगठन में परिवर्त्तन करने से होता है।

(१) समस्त जानपद या सिविल सेवा में प्रशासनिक सेवा वर्ग ही संचालक वर्ग है। ब्रिटिश प्रशासनिक सेवकों के सम्बन्ध में डॉ० फाइनर ने कहा है कि "वे ही मन्त्री द्वारा निर्धारित नीति के सम्बन्ध में सारी कार्रवाई के लिए उत्तरदायी है अर्थात् सविधियों के आधार पर विनियम तैयार करते हैं, फिर नीति की घोषणा वे ही करते हैं और अन्ततः सर्वसाधारण तक उस नीति की क्रियान्विति के लिए भी वे ही उत्तरदायी है।"[2] इंग्लैंड की ही तरह भारत में भी प्रशासनिक सेवक वर्ग ही विभागीय नीति का निर्धारण करते हैं; और वे ही विभिन्न विभागों को नियन्त्रित और संचालित करते हैं

1. As quoted in Jennings' Cabinet Government, pp. 114-115.
2. Finer, H. : The Theory and Practice of Modern Government, p. 707.

आधुनिक संविधियाँ, प्राय विधि के रूपरेखा-मात्र प्रस्तुत करती हैं। विधान-मण्डल, सामान्य शब्दों में विधि का निर्माण करते हैं; और विभागों को अधिकार दे देते है कि वे उक्त विधियों के सम्बन्ध मे विस्तृत विनियम बनावें और इस प्रकार उक्त विधियों की क्रियान्विति करें। इस प्रकार जो नियम और विनियम बनाये जाते है उनका वही महत्त्व हैं जो विधि का। विभाग सम्भवत: विधेयक की तैयारी के साथ-साथ विनियम और उप-अधिनियम भी तैयार करता हैं और ज्योंही विधेयक विधि का रूप धारण कर लेता हैं, विभाग उन विनियमो और उप-अधिनियमों को उस रूप में निकाल देता है जिस रूप में कि विधि विभाग उनके प्रारूप तैयार करता हैं। नियमो एवं विनियमों के प्रयोग के सम्बन्ध में अथवा किसी विशिष्ट विषय पर उनको लागू करने के सम्बन्ध मे कार्यपालिका प्राय: अर्द्ध-न्यायिक सत्ता का स्वरूप धारण कर लेती हैं। सार्वजनिक सेवाओ के प्रशासन मे अनेक प्रकार के ऐसे अवसर आते हैं, जिनमे अनेक लोगों के कल्याण से सम्बन्धित मामलो मे विभागों अथवा कार्यपालिका को न्यायिक अथवा अर्द्ध-न्यायिक कृत्य करने पड़ते हैं। सत्य यह हैं कि कहाँ तो पहले राज्य केवल निषेधात्मक प्रकार के कृत्य ही किया करता था; और अब राज्य कल्याणकारी कार्य करने लग गया हैं; इस कारण अब यह आवश्यक हो गया हैं कि विधानमण्डल दो प्रकार के कृत्य करते है। विधानमण्डलो ने प्रथमत', प्रशासन अथवा विभागों को विनियम और उप-अधिनियम बनाने की आज्ञा प्रदान की हैं और द्वितीयत:, प्रशासन को अधिकार दे दिया हैं कि वे किन्ही विशिष्ट हालतो मे विरोध और विवादो में अधिनिर्णय दे दें। इस प्रकार के अधिनिर्णय, वास्तव मे न्यायिक निर्णय नही होते क्योकि वे वैधिक अधिकारो के सम्बन्ध मे निर्णय नही होते। फिर भी उक्त अधिनिर्णय, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन उपस्थित करते है, जिसके द्वारा कार्यपालिका अपनी नीति निर्धारित करती हैं और संसद् द्वारा प्रदत्त शक्तियों के द्वारा राष्ट्र का भविष्य निर्माण करती हैं।

अन्तत:; विभाग ही नीति की क्रियान्विति करता हैं। जब निर्धारित हो चुकने के बाद नीति संसद् के समक्ष प्रस्तुत की जाती है और जब संसद् भी उक्त निर्धारित नीति को स्वीकृत कर चुकती हैं, तो फिर विभाग के स्थायी सिविल सेवकों की बारी आती है और यह उनका पुनीत कर्त्तव्य हैं कि वे उस नीति को निष्ठापूर्वक क्रियान्वित करें, चाहे उक्त नीति, उस नीति से विरुद्ध हो जिसे उन्होने पसन्द किया था। सर वारेन फिशर (Sir Warren Fisher) ने उन सिद्धान्तों का सही-सही निरूपण किया है जिन पर इग्लैण्ड के सिविल सेवक चलते है। उन सिद्धान्तों का उद्धरण यहां देना उपादेय होगा। फिशर महोदय लिखते हैं—"नीति को निर्धारित करना मन्त्रियों का कार्य है; और जहा नीति निर्धारित हो गई, वहा यह सिविल सेवक का असदिग्ध कर्त्तव्य हो जाता है कि वह प्राणपण से उक्त नीति को क्रियान्वित कराने का प्रयत्न करे; और चाहे उक्त सिविल सेवक उस नीति से सन्तुष्ट हो या न हो, उसे समान सदिच्छा के साथ ही उस नीति पर चलना चाहिए। यह सर्वमान्य सिद्धान्त हैं और इसपर कभी दो मत नही हो सकते। साथ ही सिविल सेवकों का यह कर्त्तव्य भी हैं कि जिस समय नीति के सम्बन्ध मे निर्णय हो रहा हो, उस समय वे अपने विभागीय अध्यक्षों अथवा मन्त्रियो के समक्ष वह सारी

सेवाओं का वर्गीकरण (Classification of Services)—संघात्मक शासन-व्यवस्था वाले देशों मे प्रायः केन्द्रीय या राष्ट्रीय सरकार तथा एकको अथवा राज्यों की सरकारें अलग-अलग अपनी-अपनी सेवाएँ सगठित करती है जो दोनो प्रकार की सरकारों के क्षेत्राधिकार में आने वाले विषयों का प्रशासन करती है। भारत मे भी दोनो प्रकार के सेवको के वर्ग अलग-अलग है, अर्थात् केन्द्रीय या अखिल भारतीय सेवाएँ और राज्य की सेवाएँ। केन्द्रीय अथवा अखिल भारतीय सेवक ऐसे विषयो का प्रशासन करते है जो राष्ट्रीय सूची के विषय है, जैसे विदेशी मामले, प्रतिरक्षा, आयकर, सीमाशुल्क, डाक और तार विभाग आदि; और उपर्युक्त विभागों के सेवक पूरी तरह संघीय सरकार के सेवक माने जाते है। और राज्यो के अधिकार-क्षेत्र मे निम्न प्रकार के विषय आते हैं, जैसे भूमि कर या भूमि राजस्व, कृषि, वन, शिक्षा, स्वास्थ्य, पशुचिकित्सा आदि; जिनका प्रशासन राज्यों की सेवाओं द्वारा किया जाता है और इनके अधिकारी वर्ग राज्यो की सरकारो के अधीन होते है। सेवाओ के इन दो वर्गो के अतिरिक्त सविधान ने एक अन्य अखिल भारतीय सेवा वर्ग की व्यवस्था की है जो एक प्रकार का सेवीवर्ग सगटन है। इस प्रकार का सेवीवर्ग संगठन और किसी सघात्मक शासन-व्यवस्था वाले देश मे नही मिलेगा, केवल पाकिस्तान मे अवश्य है। अखिल भारतीय सेवाएँ समान रूप से संघीय सरकार और राज्य की सरकारों से संबद्ध रहती है और "इन अखिल भारतीय सेवको को किसी भी समय राज्यों की सेवाओ मे भी लगाया जा सकता है और संघ की सेवाओं मे भी लगाया जा सकता है; तथापि उपर्युक्त अखिल भारतीय सेवक पूरी तरह न तो संघ के अधीन है और न राज्यों के।" सविधान ने भारत प्रशासन सेवा (I.A.S) और भारत आरक्षी सेवा (I.P.S.) को ससद् द्वारा सर्जित सेवा समझा है।[1] किन्तु यह भी उपबन्धित किया गया है कि अन्य सेवाओ को संसद् यदि चाहे तो अखिल भारतीय सेवाएँ घोषित कर सकती है, बशर्ते कि राज्य सभा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो की दो-तिहाई से अन्यून संख्या द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा घोषित कर दे कि राष्ट्र-हित मे ऐसा करना इष्टकर है।[2] डॉ० अम्बेदकर ने उन कारणो पर प्रकाश डालते हुए संविधान सभा में कहा था जिनके आधार पर अखिल भारतीय प्रशासन सेवाओं के उपबन्ध की आवश्यकता आ पड़ी थी। उन्होने कहा था—"किसी भी संघात्मक शासन-व्यवस्था वाले देश में दो प्रकार की शासन-व्यवस्थाएँ रहती हैं और फलस्वरूप प्रत्येक संघ में दो प्रकार की सेवाएँ भी आवश्यकतः होती ही हैं; जिनमें से एक अखिल संघीय सिविल सेवा होती है और दूसरी राज्य सिविल सेवा। भारतीय सघ भी अन्य संघों के समान दुहरी शासन-व्यवस्था वाला सघ है और इसीलिए इस देश मे दो प्रकार की सेवाएँ होंगी; किन्तु एक महत्त्वपूर्ण अन्तर होगा। ऐसा स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक देश की शासन-व्यवस्था में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण पद अवश्य होते है जिनको उच्च प्रशासनिक स्तर की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है.......................। इसमें कोई सदेह नहीं है कि प्रशासन की कुशलता इन्हीं मार्मिक महत्त्व के सिविल सेवकों की कार्यकुशलता पर निर्भर

1. अनुच्छेद ३१२ (२)
2. अनुच्छेद ३१२ (१)

प्रशासनिक सेवक वर्ग ऐसे परामर्शदाता लोगों का निकाय है जो ऐसे मामलो का भी निर्णय करते हैं जो विभागेतर हों; वे ऐसे प्रस्ताव उपस्थित कर सकते हैं जो सर्वोच्च नीति के निर्माण मे सहायक हो सकते हैं; और वे ही विभिन्न विनियमो का निर्वचन करते हैं। भारत के सविधान मे राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तो ने आदेश दिया है कि समाजवादी ढाँचे पर कल्याणकारी राज्य का निर्माण किया जाए; और पंचवर्षीय योजनाओ को क्रियान्वित करने मे जो अपार श्रम और उद्योग करना होगा उसके फलस्वरूप समस्त प्रशासन के ऊपर और विशेषकर भारतीय प्रशासनिक सेवा के ऊपर अपार उत्तरदायित्व आ पड़ा है। पंचवर्षीय योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए प्रशासनिक सेवको को सारे राष्ट्र के सामाजिक एव आर्थिक जीवन का नियोजन, नियन्त्रण और मार्ग-दर्शन करना पड़ता है। मन्त्रिमण्डल के भूतपूर्व सचिव श्री सुक्थाकर (Shri Sukthankar) ने लिखा है कि "जब राज्य का मुख्य कार्य यह होता है कि वह लोकतन्त्रात्मक मूल्यो और पद्धतियो के प्रति निष्ठा रखते हुए भी स्वतन्त्रता की भावना को ठोस सामाजिक और आर्थिक आधार प्रदान करे, सब के लिए समान अवसर सुलभ करे, तथा विशाल देश के मानवी और भौतिक ससाधनो का अधिकतम विकास करे तब प्रशासन के सामने नयी और बहुत महत्त्वपूर्ण समस्याएँ आती हैं।"[1] इन नयी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्याओ के समाधान के लिए "सामाजिक और आर्थिक नीति के नये रूपों को ठीक से विकसित करने की आवश्यकता होती है।"[2]

इन भारी और कठिन दायित्वो के निर्वहन के लिए प्रशासनिक अधिकारियों मे उच्चकोटि की मानसिक शक्ति होनी चाहिए जिससे ये जटिल समस्याओं का समाधान कर सके। साथ ही उनमे मनुष्य के प्रति सहानुभूति भी होनी चाहिए। ९ दिसम्बर, १९५५ को कुरनूल (Kurnool) की एक सभा मे सार्वजनिक सेवको के समक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"सिविल सर्विस के लोग सेवा करेंगे। किन्तु वे किसकी सेवा करे? निश्चय ही भारत के सार्वजनिक सेवक समाज, सर्वसाधारण और देश की सेवा करेंगे। मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि अन्ततोगत्वा हर एक सेवक की कार्य कुशलता की परीक्षा की कसौटी यही होगी कि समस्त सेवाओ ने या किसी एक सेवक ने, समाज की या राष्ट्र के हितों की कहाँ तक सेवा की है।"[3] इसलिए सार्वजनिक सेवकों में जिन विशेष गुणो की आवश्यकता होगी वे है: उपक्रम (initiative) और उद्यम (enterprise), नियोजन और सगठन सम्बन्धी क्षमता, कार्यकुशलता, ईमानदारी, निष्ठा, राजनीतिक तटस्थता, सामाजिक दृष्टिकोण की व्यापकता और सामाजिक सेवा की लगन।

---

1. Introduction to Public Administration in India, Report of a Survey by Paul H. Appleby.

2. Govind Ballabh Pant, "Public Servant in a Democracy" Published in the Indian Journal of Public Administration, July-Sept. 1955, p. 181.

3. Published in the Indian Journal of Public Administration Oct.-Dec. 1955, p. 289.

की क्रियान्विति आदि, आदि। इस प्रकार इन प्रशासकों को प्रशासन की प्रायः प्रत्येक शाखा में प्रशासनिक अनुभव प्राप्त हो जाता है। सेवा की ऐसी व्यवस्था के दो निश्चित लाभ हैं। मैकॉले और जॉबट के अनुसार, बौद्धिक क्रिया-कलापों को सम्पन्न करने के लिए विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त करने की अपेक्षा यह अच्छी योग्यता का आधार है, और जो प्रशासक इस प्रकार के प्रशिक्षण में सफलता प्राप्त कर लेगा, उसमें श्रेष्ठ चारित्रिक गुणों का विकास अवश्य होगा। द्वितीयत., इस प्रकार के प्रशिक्षण-प्राप्त प्रशासकों का दृष्टिकोण उदार बनेगा।

भारतीय प्रशासनिक सेवा (I.A.S) की भर्त्ती के लिए ऊँचे दरजे की लिखित प्रतियोगी परीक्षा में बैठना आवश्यक है। लिखित प्रतियोगी परीक्षा में कुछ अनिवार्य प्रश्न-पत्र होते हैं और कुछ वैकल्पिक प्रश्न-पत्र भी होते हैं, किन्तु वैकल्पिक प्रश्न-पत्रों के विषय इस प्रकार रखे जाते हैं कि प्रत्येक परीक्षार्थी को कुछ ऐसे विषय भी आवश्यकतः इस प्रतियोगी परीक्षा के लिए तैयार करने पड़ते है, जिन्हे सम्भवत. उसने विश्वविद्यालय मे न पढ़ा हो। लिखित प्रतियोगी परीक्षा के उपरान्त कुछ प्रत्याशियों को व्यक्तित्व की कठोर परीक्षा से भी गुजरना पड़ता है। किन्तु इण्टरव्यू के लिए किसी प्रत्याशी को तभी बुलाया जाता है, जबकि अनिवार्य और वैकल्पिक पत्रों मे उसने कुछ निश्चित प्रतिशत अंक प्राप्त कर लिये हों। व्यक्तित्व की परीक्षा के लिए भी कुछ निश्चित अंक प्राप्त करना आवश्यक माना जाता है। यदि कोई प्रत्याशी लिखित परीक्षाओं मे कितने भी अधिक अंक प्राप्त कर ले; किन्तु यदि वह व्यक्तित्व की परीक्षा मे आवश्यक अंक प्राप्त नही कर पाता, तो उसे प्रशासनिक सेवा के लिए नही लिया जा सकता। श्री एम० वी० पायली ने लिखा है कि "भर्त्ती की इस प्रणाली के अनुसार यह निश्चित है कि केवल ऐसे ही नवयुवक भारतीय प्रशासन सेवा मे प्रवेश करेंगे जो न केवल उच्च बौद्धिक एवं पुस्तकीय ज्ञान से सज्जित होंगे बल्कि जिनमें ऐसे उच्च चारित्रिक और वैयक्तिक गुण भी होंगे– जैसे दूरदर्शिता, विचारो और अभिव्यक्ति सम्बन्धी स्पष्टता, ईमानदारी, आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता, उदार दृष्टिकोण, नैतिक और सामाजिक मूल्यों का बोध आदि—जिनका किसी लोकतन्त्रात्मक कल्याणकारी राज्य के उत्तरदायी प्रशासनिक अधिकारियों मे होना अतीव आवश्यक है।"[1]

आज प्रशासन को सबसे अधिक नेतृत्व की आवश्यकता है, ऐसे नेतृत्व की जो सम्पूर्ण टीम को उत्साहित कर सके। मौखिक परीक्षाओं मे इस प्रकार के गुणों की जाँच हो सकती है।

संघ या राज्य की सेवा करने वाले व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा की शर्तें (Recruitment and Conditions of Service of Persons, serving the Union or a State)—१६३३-३४ के भारतीय सांविधानिक सुधारों की परीक्षा करने वाली संयुक्त प्रवर समिति ने लिखा है कि "किसी शासन-व्यवस्था मे उत्तरदायी

1. The Training of the Indian Administrative Service—The Indian Journal of Public Administration, April-June, 1955.

है जिन्हें उक्त महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया जाता है।.................. संविधान ने आदेश किया है कि राज्यों को भी अधिकार रहेगा कि वे अपनी-अपनी सिविल सेवाएँ स्थापित कर सकेंगे, किन्तु फिर भी अखिल भारतीय सेवा की स्थापना की जाएगी। उक्त सेवा के लिए सारे भारत में से समान योग्यता-मापदण्डों के अनुसार समान वेतन-क्रम मे बिना किसी प्रकार के भेदभाव के लोगों की भर्त्ती की जाएगी और उपर्युक्त अखिल भारतीय सेवा के व्यक्ति या सदस्य ही सारे भारत संघ में महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किये जाएँगे।" इस प्रकार अखिल भारतीय प्रशासन सेवा (I.A.S.) के सदस्य ही केन्द्र में भी और राज्यों में भी सारे प्रशासन का संचालन करते हैं।

अखिल भारतीय प्रशासन सेवा (The Indian Administrative Service)—श्री एस० वी० वापत ने लिखा है कि "भारतीय प्रशासनिक सेवा का नियन्त्रण और प्रबन्ध एक संयुक्त और सहकारी कार्य है।"[1] इस सेवा का संगठन इस आधार पर किया जाता है कि प्रत्येक राज्य के लिए कई-कई वर्गों के अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवक (I.A.S.) रहें। इस सेवा के लिए केन्द्रीय सरकार प्रतियोगी एवं प्रतिस्पर्द्धी परीक्षा के आधार पर योग्यतम व्यक्तियों का चयन करती है और ये परीक्षाएँ संघीय लोक सेवा आयोग संगठित करता है। इन परीक्षाओं के आधार पर जो अधिकारी चुने जाते है उन्हे विभिन्न राज्यों के विभिन्न सवर्गों (Cadres) के लिए नियुक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक संवर्ग के लिए इतने अफसर या सेवक नियुक्त किए जाते है कि उस सवर्ग मे कुछ अतिरिक्त सेवक रहें ताकि उन अतिरिक्त सेवकों को एक या कई वार चार-पाँच वर्ष के कार्यकाल के लिए संघ सरकार की सेवा में नियुक्त किया जा सके और उस तीन, चार या पाँच वर्ष के कार्यकाल के पश्चात् उक्त प्रशासनिक सेवक को पुनः राज्य-सेवा सवर्ग में वापस भेज दिया जाता है। इस व्यवस्था का यह लाभ है कि संघ सरकार के पास कुछ ऐसे योग्य और अनुभवी सेवक रहते हैं जिन्हें राज्यों के प्रशासन का भी पूर्ण ज्ञान और अनुभव होता है। और उसी प्रकार राज्यों के पास कुछ ऐसे योग्य और अनुभवी सेवक रहते है जिन्हे केन्द्रीय सरकार की नीतियों और कार्य क्रम का पूरा-पूरा अनुभव होता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा की एक अन्य विशेषता भी है। वह बहूद्देश्यीय सेवा वर्ग है जिसमें सभी प्रकार के प्रशासनिक अधिकारी रहते हैं। उनसे आशा की जाती है कि वे समय-समय पर विभिन्न कृत्यों और विभिन्न कर्त्तव्यों के पदों पर लगाए जा सकते हैं। आवश्यकता आ पड़ने पर उन्हें शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए लगाया जा सकता है; कभी उन्हें राजस्वों के एकत्रित करने के कार्य में लगाया जा सकता है; या व्यापार, वाणिज्य अथवा उद्योग के विनियमन के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है; और यदि आवश्यकता आ पड़े तो उन्हें राज्य के ऐसे कल्याणकारी कर्त्तव्यों में भी लगाया जा सकता है, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, श्रम अथवा विकास योजनाओं की क्रियान्विति अथवा कृषि और पुनर्निर्माण से सम्बन्धित विकास और विस्तार योजनाओं

1. "The Training of the Indian Administrative Service"—The Indian Journal of Public Administration, April-June, 55, p. 119.

कार्रवाई के खिलाफ कारण दिखाने का युक्तियुक्त अवसर न दे दिया गया हो। परन्तु यह खण्ड वहाँ लागू न होगा—

(क) जहाँ कोई व्यक्ति ऐसे आचार के आधार पर पदच्युत किया गया या हटाया गया या पंक्तिच्युत किया गया है जिसके लिए दण्ड-दोषारोप पर वह सिद्धदोष हुआ है;

(ख) जहाँ किसी व्यक्ति को पदच्युत करने या पद से हटाने या पंक्तिच्युत करने की शक्ति रखने वाले किसी प्राधिकारी का समाधान हो जाता है कि किसी कारण से, जो उस प्राधिकारी द्वारा लेखबद्ध किया जाएगा, यह युक्तियुक्त रूप मे व्यवहार्य नही है कि उस व्यक्ति को कारण दिखाने का अवसर दिया जाए; अथवा

(ग) जहाँ यथास्थिति राष्ट्रपति या राज्यपाल का समाधान हो जाता है कि राज्य की सुरक्षा के हित में यह इष्टकर नही है कि उस व्यक्ति को ऐसा अवसर दिया जाए।[1]

यदि कोई प्रश्न पैदा होता है कि क्या उपर्युक्त किसी सेवक को कारण दिखाने का अवसर देना युक्तियुक्त रूप में व्यवहार्य है या नही, तो ऐसे व्यक्ति को यथास्थिति पदच्युत करने या पद से हटाने अथवा उसे पंक्तिच्युत करने की शक्ति वाले प्राधिकारी का उस पर विनिश्चय अन्तिम होगा।[2] ऐसे विनिश्चय के ऊपर कोई न्यायालय आपत्ति नहीं कर सकता।

जिन व्यक्तियो को भारत मन्त्री ने भारतीय सिविल सर्विस के लिए नियुक्त किया था, उन्हें वही सुविधाएँ मिलती रहेगी जो सविधान प्रारम्भ होने के पूर्व मिलती थी।

लोक सेवा आयोग
(Public Service Commission)

संघ और राज्य के लिए लोक सेवा आयोग (Public Service Commission for the Union and for the States)—सविधान ने संघ के लिए एक संघीय लोक सेवा आयोग की तथा प्रत्येक राज्य के लिए एक-एक राज्य लोक सेवा आयोग की व्यवस्था की है। किन्तु यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल संकल्पों द्वारा विनिश्चय करें कि उन राज्यों के समूह के लिए केवल एक ही लोक सेवा आयोग होगा, तो ससद् उन राज्यो या राज्यो के समूह के लिए अथवा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संयुक्त आयोग का उपबन्ध कर सकेगी। यदि किसी राज्य का राज्यपाल संघ के लोक सेवा आयोग से ऐसा करने की प्रार्थना करे, तो राष्ट्रपति के

1. अनुच्छेद ३११
2. अनुच्छेद ३११ (३)

शासन की स्थापना के लिए यह अतीव आवश्यक है कि उस शासन की सेवा में ऐसे योग्य और स्वतन्त्र सिविल सेवक हो जो जाने और आने वाले मन्त्रियों को अपने लम्बे प्रशासनिक अनुभव के आधार पर सही परामर्श दे सके, जो अपने सदाचारपर्यन्त अपने पदों पर सुरक्षित हो, और उस नीति को क्रियान्वित करने के लिए उत्तरदायी हों, जिस पर सरकार और विधानमण्डल पूर्ण निर्णय कर चुके हों।" डॉ० जैनिंग्ज ने ठीक ही लिखा है कि यदि राजनीतिज्ञो का भद्दा प्रभाव सिविल सेवको की नियुक्ति और पदोन्नति पर पड़ेगा तो पूरा भय है कि ऐसे शासन मे चापलूसी और स्वार्थपरता का बोलबाला रहेगा।[1] और फिर ऐसे शासन मे मन्त्री के पास सिवाय अपने चापलूसो को प्रसन्न करने के और कोई काम ही न रहेगा। ऐसी स्थिति मे सारा प्रशासन ही दूषित हो जाएगा और सेवाओं मे योग्य, कार्यकुशल, ईमानदार और अनुभवी प्रशासको का पूर्ण अभाव हो जाएगा। इसलिए सार्वजनिक सेवाओ मे भर्त्ती और सेवकों की सेवा की शर्तों का अत्यधिक महत्त्व है, अन्यथा भय है कि ठीक प्रकार के योग्य व्यक्ति इन सेवाओ मे न आ सकेंगे।

प्रारूप समिति ने यह उचित समझा कि सेवाओ के सम्बन्ध मे विस्तृत उपबन्धों का विनियमन विधानमण्डलो के द्वारा होना चाहिए न कि सांविधानिक उपबन्धो के द्वारा।[2] संविधान सभा ने प्रारूप समिति की उक्त सिफारिश को स्वीकार कर लिया; और तदनुसार संविधान ने कुछ सामान्य उपबन्ध तो अवश्य किए हैं, किन्तु संघ और राज्यों मे कार्य करने वाले सेवको की भर्त्ती और उनकी सेवा की शर्तों के विषय मे विस्तृत नियमो की व्याख्या आदि को सम्बन्धित विधानमण्डलों के निर्णय पर छोड़ दिया गया है।[3]

संविधान ने उपबन्धित किया है कि ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो संघ की प्रतिरक्षा सेवा या असैनिक सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का सदस्य है अथवा संघ के अधीन प्रतिरक्षा से सम्बन्धित किसी पद को अथवा किसी असैनिक पद को धारण करता है, केवल राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त ही पद धारण करता है। तथा प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो राज्य की असैनिक सेवा का सदस्य है अथवा किसी राज्य के अधीन किसी असैनिक पद को धारण करता है, राज्य के राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करता है।[4] जो व्यक्ति संघ की असैनिक सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का या राज्य की असैनिक सेवा का सदस्य है अथवा संघ के या राज्य के अधीन असैनिक पद को धारण करता है, वह अपनी नियुक्ति करने वाले प्राधिकारी से निचले किसी प्राधिकारी द्वारा न तो पदच्युत किया जा सकता है और न पद से हटाया जा सकता है। उपर्युक्त प्रकार का कोई सेवक तब तक न तो पदच्युत किया जा सकता है, न पद से हटाया जा सकता है और न उसे पंक्तिच्युत किया जा सकता है जब तक कि उसे उसके बारे में प्रस्थापित की जाने वाली

---

1. Vol. I, para 274.
2. The Draft Constitution of India, p. XI.
3. अनुच्छेद ३०९। संघ सूची की प्रविष्टि ७० और राज्य सूची की प्रविष्टि ४१ को देखिए।
4. अनुच्छेद ३१०

लोक सेवा आयोग के किसी सदस्य का हटाया जाना या निलम्बित किया जाना (Removal and Suspension of a Member of Public Service Commission)—लोक सेवा आयोग का सभापति या अन्य कोई सदस्य अपने पद से केवल राष्ट्रपति द्वारा कदाचार के आधार पर दिए गए उस आदेश पर ही हटाया जा सकता है, जो कि उच्चतम न्यायालय से राष्ट्रपति द्वारा पृच्छा किए जाने पर उस न्यायालय द्वारा की गई जाँच पर उस न्यायालय द्वारा किए गए इस प्रतिवेदन के पश्चात्, कि यथास्थिति सभापति या ऐसे किसी सदस्य को, ऐसे किसी आधार पर हटा दिया जाए, दिया गया है।[1] आयोग के सभापति या अन्य किसी सदस्य को जिसके सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय से पृच्छा की गई है, राष्ट्रपति, यदि वह संघ आयोग या संयुक्त आयोग है, या राज्यपाल यदि वह राज्य आयोग है, उसको पद से तब तक के लिए निलम्बित कर सकता है जब तक कि ऐसी पृच्छा की गई बात पर उच्चतम न्यायालय के प्रतिवेदन के मिलने पर राष्ट्रपति अपना आदेश न दे।[2] किन्तु राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा किसी लोक सेवा आयोग के सभापति या सदस्य को अपने पद से हटा सकता है यदि किसी आयोग का सभापति या सदस्य :

(क) दिवालिया न्यायनिर्णीत हो जाता है; अथवा

(ख) अपनी पदावधि में अपने पद के कर्त्तव्यों से बाहर कोई वैतनिक नौकरी करता है; अथवा

(ग) राष्ट्रपति की राय में मानसिक या शारीरिक दौर्बल्य के कारण अपने पद पर बने रहने के अयोग्य है।[3]

यदि लोक सेवा आयोग का सभापति या अन्य कोई सदस्य भारत सरकार के या राज्य की सरकार द्वारा, या ओर से, की गई किसी संविदा या करार में, निगमित समवाय (incorporated company) का सदस्य होने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से भी हित सम्बद्ध है या हो जाता है अथवा किसी प्रकार से उसके किसी लाभ में अथवा तदुत्पन्न किसी फायदे या उपलब्धि में भाग लेता है तो वह कदाचार का अपराधी माना जाएगा।[4]

१९३५ के भारत सरकार अधिनियम में लोक सेवा आयोग के सदस्यों को अपने पदों से हटाने के सम्बन्ध में अथवा उन्हें निलम्बित करने के सम्बन्ध में कोई उपबन्ध नहीं था। इस सम्बन्ध में सारी बातें उन नियमों के आधार पर निर्णीत होती थीं जिन्हें गवर्नर-जनरल या गवर्नर यथास्थिति केन्द्रीय लोक सेवा आयोग या प्रान्तीय लोक सेवा आयोग के लिए स्वविवेक के आधार पर विनियमित करता था।[5] संविधान का अनुच्छेद ३१७ राष्ट्रपति को अधिकार प्रदान करता है कि केवल वही किसी लोक सेवा आयोग

---

1. अनुच्छेद 317 (1)
2. अनुच्छेद 317 (2)
3. अनुच्छेद 317 (3)
4. अनुच्छेद 317 (4)
5. धारा 265 (2) (क)

अनुमोदन से, वह उस राज्य की सब या किन्ही आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कार्य करना स्वीकार कर सकता है।[1]

सदस्यों की नियुक्ति तथा पदावधि (Appointment and Terms of Office of Members)—लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्ति, यदि वह संघ-आयोग या संयुक्त आयोग है, तो राष्ट्रपति द्वारा तथा यदि वह राज्य आयोग है तो राज्य के राज्यपाल द्वारा की जाती है। परन्तु प्रत्येक लोक सेवा आयोग के सदस्यों मे से यथाशक्य निकटतम आधे ऐसे व्यक्ति होगे, जो अपनी-अपनी नियुक्तियों की तारीख पर भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन कम-से-कम दस वर्ष तक पद धारण कर चुके हो। लोक सेवा आयोग का सदस्य, अपने पद ग्रहण की तारीख से छ वर्ष की अवधि तक, अथवा यदि वह संघ आयोग है तो पैंसठ वर्ष की आयु को प्राप्त होने तक तथा यदि वह राज्य आयोग है तो साठ वर्ष की आयु को प्राप्त होने तक, जो भी इनमें से पहले हो, अपना पद धारण करता है। कोई व्यक्ति जो लोक सेवा आयोग के सदस्य के रूप मे पद धारण करता है, अपनी पदावधि की समाप्ति पर उस पद पर पुनर्नियुक्ति के लिए अपात्र माना जाता है।[2] सघ लोक सेवा आयोग का सभापति, भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन किसी भी और नौकरी के लिए पात्र नही होगा। किन्तु सघ लोक सेवा आयोग का सदस्य, सघ आयोग का सभापति या किसी राज्य सेवा आयोग का सभापति नियुक्त हो सकता है। किसी राज्य लोक सेवा आयोग का सभापति सघ आयोग का सभापति या सदस्य नियुक्त हो सकता है, या किसी अन्य राज्य लोक सेवा आयोग का सभापति भी नियुक्त हो सकता है, उसी प्रकार राज्य लोक सेवा आयोग का कोई सदस्य संघ आयोग का सभापति या सदस्य नियुक्त हो सकता है; अथवा वह किसी अन्य राज्य के लोक सेवा आयोग का सभापति भी नियुक्त किया जा सकता है। किन्तु संघ लोक सेवा आयोग का सभापति या सदस्य अथवा किसी राज्य लोक सेवा आयोग का सभापति या सदस्य भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन किसी अन्य नौकरी के लिए पात्र नही होगा।[3]

संघ आयोग या संयुक्त आयोग के बारे मे राष्ट्रपति तथा राज्य आयोग के बारे मे सम्बन्धित राज्य का राज्यपाल विनियमों द्वारा आयोग के सदस्यों की संख्या तथा उनकी सेवाओं की शर्तों का निर्धारण करता है।[4] किन्तु बाद मे यह भी निर्णय कर दिया गया है कि संघ लोक सेवा आयोग मे छः से लेकर आठ तक सदस्य होगे; और राज्य लोक सेवा आयोग मे लगभग तीन सदस्य होंगे। परन्तु किसी लोक सेवा आयोग के सदस्य की सेवा की शर्तों मे उसकी नियुक्ति के पश्चात् कोई अलाभकारी परिवर्तन नही किया जा सकता।[5]

1. अनुच्छेद ३१५
2. अनुच्छेद ३१६
3. अनुच्छेद ३१९
4. अनुच्छेद ३१८
5. अनुच्छेद ३१८ का परन्तुक (Proviso)

(ङ) भारत-सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन असैनिक हैसियत से सेवा करते समय किसी व्यक्ति को हुई क्षति के बारे में निवृत्ति वेतन दिए जाने के लिए किसी दावे पर तथा ऐसी दी जाने वाली राशि क्या हो; इस प्रश्न पर,—परामर्श किया जाएगा, तथा इस प्रकार उनसे पृच्छा किए हुए किसी विषय पर तथा किसी अन्य विषय पर, जिस पर यथास्थिति राष्ट्रपति या राज्यपाल उनसे पृच्छा करे, परामर्श देने का लोक सेवा आयोग का कर्तव्य होगा।[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामान्यत लोक सेवा आयोग से उन सभी विषयों पर अवश्य परामर्श मांगा जायगा जिनका सम्बन्ध असैनिक पदों पर भर्ती या उस सम्बन्ध में अनुसरण किये जाने वाले सिद्धान्तो से होगा; या जिनका सम्बन्ध अभ्यर्थियों की पदोन्नति, बदली आदि से होगा[2]; या जिनका सम्बन्ध अभ्यर्थियों की उपयुक्तता से होगा; या जिनका सम्बन्ध असैनिक सेवकों पर प्रभाव डालने वाली अनुशासनात्मक कार्रवाइयों से होगा; या जिनका सम्बन्ध ऐसे दावों से होगा जो असैनिक सेवको ने किन्ही विधि कार्रवाइयों में अपनी प्रतिरक्षा के ऊपर किए गए खर्चे के दावे के रूप मे किया हो; या जिनका सम्बन्ध किसी अधीन असैनिक हैसियत से सेवा करते समय किसी व्यक्ति को हुई क्षति के बारे में निवृत्ति वेतन की राशि के निश्चय करने से हो। किन्तु साथ ही सविधान ने राष्ट्रपति और राज्यपालो को अधिकार दिया है कि वे कुछ विषयो पर ऐसे विनियम बना सकेंगे और निर्धारित कर सकेंगे कि कतिपय विशिष्ट परिस्थितियो मे लोक सेवा आयोगों से परामर्श लेना आवश्यक भी नही होगा। उदाहरणार्थ इस सम्बन्ध में लोक सेवा आयोग से परामर्श मांगना आवश्यक नही है कि पिछडे वर्गों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियो के लिए कितने पद या स्थान सुरक्षित रखे जाएँ।[3] सविधान उपबन्धित करता है कि जिन विषयो पर यथास्थिति राष्ट्रपति या राज्यपाल विनियम के द्वारा आदेश करे कि लोक सेवा आयोग का परामर्श लेना आवश्यक नही है; वहा ऐसे सब विनियम उनके बनाए जाने के पश्चात् यथासम्भव शीघ्र यथास्थिति सम्बन्धित विधानमण्डल के समक्ष रख जाएँ तथा ऐसे सब विनियम संसद् या राज्य के विधान मण्डल की स्वीकृति के विषय होंगे।[4]

ससद् के अधिनियम के द्वारा सघ लोक सेवा आयोग के कृत्यो का विस्तार हो सकता है; और उसी प्रकार राज्य लोक सेवा आयोग के कृत्यों का भी विस्तार राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियम के आधार पर हो सकता है।[5]

आयोगों के सदस्यों की स्वतन्त्रता के लिए गारण्टियां (Guarantees to Securo Independence of Members of Commissions)—आयोगो के सदस्य अपने कर्त्तव्य पालन मे स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें, इसके लिए संविधान ने निम्नलिखित गारण्टिया दी है :—

1. अनुच्छेद ३२०
2. अनुच्छेद ३५० का परन्तुक
3. अनुच्छेद 320 (4), अनुच्छेद 16(4) और अनुच्छेद 335 भी देखिए
4. अनुच्छेद 320 (5)
5. अनुच्छेद 321

के किसी सदस्य को उपर्युक्त कारणों के आधार पर अपने पद से पृथक् कर सकता है, किन्तु कदाचार के आरोप पर यदि किसी आयोग के किसी सदस्य को हटाया जाता है, तो संविधान में उपबन्धित कुछ औपचारिकता का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। अनुच्छेद ३१७ (४) में संविधान के कदाचार का एक उदाहरण भी उपबन्धित किया है। यदि कदाचार (misbehaviour) के सम्बन्ध में किसी सदस्य को अपने पद से हटाना अभीष्ट है तो उसके लिए उच्चतम न्यायालय से परामर्श लेना आवश्यक ठहराया गया है। उच्चतम न्यायालय आवश्यक जाँच-पड़ताल करेगा। यदि उच्चतम न्यायालय राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दे, कि सम्बन्धित सदस्य सिद्ध कदाचार के आरोप पर अपने पद से हटा दिया जाए, तो राष्ट्रपति आदेश दे देता है और राष्ट्रपति के आदेश पर किसी आयोग का सम्बन्धित सदस्य अपने पद से अलग कर दिया जाएगा।

लोक सेवा आयोगों के कृत्य (Functions of the Public Service Commissions)—संविधान ने लोक सेवा आयोगों के निम्न कर्त्तव्य निर्धारित किए है.[1]

(१) संघ लोक सेवा आयोग और राज्य लोक सेवा आयोग प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर संघ और राज्यों की सेवाओं के लिए व्यक्तियों का चयन करेंगे;

(२) यदि संघ लोक सेवा आयोग से कोई दो या अधिक राज्य ऐसा करने की प्रार्थना करें तो उसका यह कर्त्तव्य होगा कि ऐसी किन्हीं सेवाओं के लिए, जिनके लिए विशेष अर्हता वाले अभ्यर्थी अपेक्षित है, मिली-जुली भर्ती की योजनाओं के बनाने तथा प्रवर्त्तन में लाने के लिए उन राज्यों की सहायता करे,

(३) यथास्थिति संघ लोक सेवा आयोग या राज्य लोक सेवा आयोग से—

(क) असैनिक सेवाओं में और असैनिक पदों के लिए भर्ती की रीतियों से सम्बद्ध समस्त विषयों पर, तथा ऐसे पदों पर नियुक्त करने के तथा एक सेवा से दूसरी सेवा में पदोन्नति और बदली करने के विषय पर;

(ख) तथा अभ्यर्थियों की ऐसी नियुक्ति, पदोन्नति अथवा बदली की उपयुक्तता के बारे में अनुसरण किए जाने वाले सिद्धान्तों पर;

(ग) समस्त असैनिक सेवकों पर प्रभाव डालने वाले अनुशासनात्मक कार्यवाइयों के विषयों पर;

(घ) ऐसे व्यक्ति द्वारा कृत, जो भारत-सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन असैनिक हैसियत से सेवा कर रहा है या कर चुका है, अथवा वैसे व्यक्ति के सम्बन्ध में कृत, जो कोई दावा है कि अपने कर्त्तव्य-पालन में किए गए, या कर्तुमभिप्रेत, कार्यों के सम्बन्ध में उसके विरुद्ध चलाई गई किन्हीं विधि कार्रवाइयों में जो खर्चा उसे अपनी प्रतिरक्षा में करना पड़ा है वह यथास्थिति भारत की संचित निधि में से या राज्य की संचित निधि में से दिया जाना चाहिए, उस दावे पर;

---

1. अनुच्छेद ३२०

का परामर्श मानना राष्ट्रपति या राज्यपाल के लिए नितान्त आवश्यक ही नहीं है। वास्तविक नियुक्तियां संघ में राष्ट्रपति के द्वारा और राज्यों में राज्यपाल के द्वारा की जाती हैं। किन्तु संविधान ने उपबन्धित किया है कि संघ आयोग प्रतिवर्ष राष्ट्रपति को सालभर के अपने कृत्यों का विवरण प्रस्तुत करे और प्रतिवेदन निवेदित करे। उपर्युक्त विवरण अथवा प्रतिवेदन के प्राप्त होने पर राष्ट्रपति उक्त प्रतिवेदन की प्रतिलिपि केन्द्रीय विधानमण्डल के दोनों सदनों के समक्ष रखवाता है; और प्रतिवेदन के साथ एक ज्ञापन भी नत्थी कराता है जिसमें उन मामलों का पूरा विवरण रहता है जिन पर राष्ट्रपति ने संघीय लोक सेवा आयोग की सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया; और पुनः उक्त सिफारिशों को स्वीकार न करने के कारणों पर भी प्रकाश डाला जाता है।[1] उसी प्रकार राज्य आयोग का भी कर्त्तव्य है कि राज्य के राज्यपाल के समक्ष आयोग द्वारा किए गए काम के बारे में प्रतिवर्ष प्रतिवेदन दे; तथा ऐसे प्रतिविदेन के मिलने पर राज्यपाल उन मामलों के बारे में यदि कोई हो, जिनमें आयोग का परामर्श स्वीकार नहीं किया गया है, ऐसी अस्वीकृति के लिए कारणों को स्पष्ट करने वाले ज्ञापन के सहित उस प्रतिवेदन की प्रतिलिपि राज्य के विधानमण्डल के समक्ष रखवाएगा।[2]

इस प्रकार, यह स्पष्ट है भारतीय संविधान की भावना यही है कि संघ और राज्यों की व्यवस्थापिकाएँ शासन के निर्णयों की परीक्षा करें। वास्तव में संविधान ने नियुक्तियों के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति एक प्रकार से विधानमण्डलों को दी है। जैसा कि श्री एस० बी० बापत (Shri S. B. Bapat) ने लिखा है, "संविधान का उपर्युक्त उपबन्ध निश्चित कर देता है कि नियुक्तियों के सम्बन्ध में लोक सेवा आयोग से परामर्श करना आवश्यक है और लोक सेवा आयोग का परामर्श सामान्यतः मानना ही होगा; और शासन केवल कुछ ऐसे मामलों में आयोग का परामर्श अस्वीकृत कर सकता है; जहाँ कोई गम्भीर सिद्धान्त अन्तर्ग्रस्त है और जहाँ शासन अपने निर्णय का औचित्य विधानमण्डल के समक्ष सिद्ध करने की हिम्मत रखता हो।"[3] भारतीय संघ सरकार प्रतिवर्ष लगभग छः हजार मामलों पर संघ लोक सेवा आयोग का परामर्श माँगती है; और जिन मामलों पर संघ सरकार ने आयोग की सिफारिशों को नहीं माना, वे प्रायः नगण्य हैं। नीचे की तालिका से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा।

वर्ष	ऐसे कुल मामले जिन पर आयोग की सिफारिश को स्वीकार नहीं किया गया।
१९५०-५१	६
१९५१-५२	२
१९५२-५३	२
१९५३-५४	४
१९५४-५५	१

---

१. अनुच्छेद ३२३ (१) २. अनुच्छेद ३२३ (२)

3. Bapat, S. B. : Public Service Commission—An Indian Approach, The Indian Journal of Public Administration, Jan-March 1956, page 58.

(१) सविधान ने सदस्य का कार्यकाल निश्चित कर दिया है। कोई व्यक्ति अपने कार्यकाल की समाप्ति पर दूसरी वार नियुक्त नही किया जा सकता।

(२) यदि किसी सदस्य को पद से हटाना हो या निलम्बित करना हो, तो यह केवल संविधान में दी गई प्रक्रिया के अनुसार ही हो सकता है।

(३) किसी सदस्य को एक वार नियुक्त करने के पश्चात् उसकी सेवा की शर्तों में उसके लिए हानिकर परिवर्तन नही किया जा सकता। आयोगो के सदस्यो के वेतन और भत्ते और उनके कर्मचारियो के ऊपर होने वाला सारा व्यय यथास्थिति संघ या राज्य की संचित निधि पर भारित होता है। इस प्रकार आयोगों के ऊपर ससद् या विधानमण्डलों के मत का या वदलते हुए लोकमत का कोई प्रभाव नही पड़ता।

(४) लोक सेवा आयोगो के सभापति और सदस्य अपना कार्यकाल समाप्त करने के वाद सरकार की और कोई नौकरी नही कर सकते। इस सबन्ध में निम्न लिखित स्थितिया अपवाद है—

(क) किसी राज्य आयोग का सभापति सघ आयोग का सभापति या सदस्य अथवा किसी अन्य राज्य आयोग का सदस्य नियुक्त किया जा सकता है।

(ख) किसी राज्य आयोग का सदस्य उसी या अन्य किसी राज्य आयोग का सभापति अथवा सघ आयोग का सदस्य या सभापति नियुक्त किया जा सकता है।

(ग) संघ आयोग के सदस्य को सघ आयोग या राज्य आयोग का सभापति नियुक्त किया जा सकता है।

(५) लोक सेवा आयोग के सदस्य निष्पक्षता और स्वतन्त्रता के साथ कार्य कर सके, इसके लिए संविधान-निर्माताओं का विचार था कि केवल अनुभवी और वयोवृद्ध व्यक्तियों को ही इस पद पर नियुक्त किया जाय। इसीलिए, राज्य आयोगों के सदस्यों की अवकाश ग्रहण करने की आयु ६० वर्ष और और संघ आयोग के सदस्यों की ६५ वर्ष निश्चित की गई है।

लेकिन, इन समस्त सांविधानिक उपवन्धों ने सविधान-निर्माताओ की आशाओ को पूरा नही किया है। व्यवहार में आयोगों के, विशेषकर राज्यों में सदस्य राजनीतिक आधार पर नियुक्त किये गये हैं। इससे लोगों की निगाहों में उनकी प्रतिष्ठा कम हुई है।

लोक सेवा आयोग परामर्शीय निकाय है (Public Service Commission as Advisory Body)—सविधान उपवन्धित करता है कि संघ तथा राज्यों के लोक सेवा आयोगों का कर्तव्य होगा कि वे क्रमशः सघ की सेवाओं और राज्यो की सेवाओं में नियुक्तियों के लिए परीक्षाओं का संचालन करे। संविधान ने यह भी उपबन्धित किया कि सेवाओं में भर्ती के विषय में लोक सेवा आयोगों का परामर्श लिया जाना चाहिए।[1] फिर भी लोक सेवा आयोगो की स्थिति विशेष रूप से परामर्शदाता निकाय की सी है। लोक सेवा आयोग सामान्यत: राष्ट्रपति या राज्यपाल को अपना परामर्श मात्र या सिफारिश-मात्र देते हैं कि किस पद या स्थान के लिए कौन प्रत्याशी उपयुक्त है; किन्तु आयोग

1. अनुच्छेद 320

अध्याय १३

राजनीतिक दल

(POLITICAL PARTIES)

राजनीतिक दल और लोकतंत्र (Political parties and Democracy)—लोकतन्त्र की सफल क्रियान्विति के लिए राजनीतिक दलो का होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि बिना राजनीतिक दलो के लोकतन्त्र अधिनायकवाद का स्वरूप धारण कर लेता है। मैक्ग्राइवर (Maciver) ने लिखा है, "बिना राजनीतिक दलों के न तो सम्यक् नीति निर्धारित की जा सकनी है, न सांविधानिक आधार पर विधानमण्डलो के लिए निर्वाचनो की उचित व्यवस्था की जा सकती है, और न बिना राजनीतिक दलों के ऐसी मान्य राजनीतिक संस्थाओ और निकायो की स्थापना की जा सकनी है जिनके द्वारा दल सत्ता और अधिकार प्राप्त करते हैं।"[1] जो लोग राजनीतिक दलो के बढ़ते हुए प्रभाव और उसकी स्थिति से चिढते है, वे वास्तव मे लोकतन्त्र की क्रियान्विति से अनभिज्ञ हैं। लॉवेल (Lowell) ने ठीक ही कहा था कि "किसी बडे देश मे सर्वसाधारण के शासन की कल्पना कोरी मनगढ़न्त कल्पना-मात्र है क्योकि जहाँ कही व्यापक और विस्तृत मताधिकार, है, वहाँ दलो की उपस्थिति अनिवार्य है और निस्सन्देह शासन का नियन्त्रण उस दल के हाथो मे रहेगा जिसका बहुमत होगा अर्थात् जिसके पक्ष मे सर्वसाधारण का बहुमत होगा।" दलीय संगठन के बिना झगड़े टण्टे बढ़ेगे और लोग या वर्ग अपने-अपने कष्टो के निवारणार्थ सीधे सरकार के पास पहुँचने का प्रयत्न करेगे। राजनीतिक दल केवल शासन को प्रभावित या उसका केवल समर्थन-मात्र नही करते। वास्तव मे राजनीतिक दल केवल शासन का निर्माण करते है और वे ही शासन चलाते है। राजनीतिक दलों का मुख्य कार्य तो यह है कि वे निर्वाचको को प्रभावित करते है, फिर चुनाव जीतते है और फिर वे अपने चुनाव घोषणा-पत्र मे घोषित कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से शासन का निर्माण करते है। राजनीतिक दल एक सगठित इकाई है जिसकी प्रेरणा पर समान विचारधारा के लोग एक निश्चित कार्यक्रम पर चलते हैं और उसकी क्रियान्विति के लिए सम्मिलित प्रयास करते है। इस प्रकार राजनीतिक दल सर्वसाधारण के समक्ष एक निश्चित व्यवस्था और कार्यक्रम उपस्थित करके और नीति-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर सर्वसाधारण का अनुमोदन प्राप्त करके अव्यवस्था में व्यवस्था और क्रम का सचार करते है। राजनीतिक दल ही निर्वाचनो का सयोजन करते हैं, और वे निर्वाचनों में विजय लाभ करने का प्रयत्न करते है। निर्वाचन मे कोई दल तभी विजयी हो सकता है जबकि उसके कार्यक्रम को सर्वसाधारण का समर्थन प्राप्त हो। निर्वाचन जीतने के लिए निर्वाचकों को प्रशिक्षित करना आवश्यक होता है और इस प्रकार जनमत को विशेष दिशा मे प्रभावित करना आवश्यक है। प्रत्येक राजनीतिक दल अपने

1. The Modern State, p. 936.

Suggested Readings

Appleby, Paul, H. : *Public Administration in India, Report of a Survey.*

Attlee, C. R : *Civil Servants, Ministers, Parliament and Public,* The Indian Journal of Public Administration, April-June 1955.

Bapat, S B : *The Training of the Indian Administrative Service,* The Indian Journal of Public Administration, April-June '55.

" : *Public Service Commissions—An Indian Approach,* The Indian Journal of Public Administration, Jan-March '56.

Dutt, R C. : *Principles of Selection in Public Services,* The Indian Journal of Public Administration, July-Sept. 1955.

Finer, H. : *The British Civil Service.*

Finer, H : *The Theory and Practice of Modern Government* (1954), Chap XXX.

Gadgil, N V : *Accountability of the Administration,* The Indian Journal of Public Administration, July-Sept. 1955.

Jennings, W I. : *Cabinet Government,* pp 110-123.

Khosla, J N : *Presidential Address delivered at the Indian Political Science Conference, Trivandrum Session,* January '48, Published in the Indian Journal of Political Science.

Laski, H. J : *Parliamentary Government in England,* pp. 263-308, and Chap. VI.

Nehru, J. L. : *A Word to the Services,* The Indian Journal of Public Administration, Oct.-Dec. 1955.

Pant, Govind Ballabh : *Public Servant in a Democracy,* The Indian Journal of Public Administration, July-Sept. 1955.

Raja Gopalachari, C. R.: *Patel Memorial Lecture of A. I. R.,* Hindustan Times, Aug. 15, 1955.

अछूत और पिछड़े वर्गों के लोग भी थे। ऐसे बेमेल (heterogeneous) सगठन के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह किसी निश्चित सामाजिक या आर्थिक कार्यक्रम को अपने हाथों में लेता, क्योंकि ऐसा करने में भय था कि "कांग्रेस को दो मोर्चों अर्थात् साम्राज्यवाद के विरुद्ध और आन्तरिक या सामाजिक विद्रोह के विरुद्ध लडना पड़ता, और सम्भवतः कोई अनुभवी सेनानी इस स्थिति के लिए तैयार न होता।"[1] उस समय ऐसा अनुभव किया जाता था कि कांग्रेस का समर्थन ही देश-प्रेम था और कांग्रेस का विरोध ही देशद्रोह या विदेशियों की चापलूसी (toadyism) थी। प० जवाहरलाल नेहरू ने ठीक कहा था कि भारत में केवल दो दल हैं, एक दल उन देशप्रेमियों का है जो देश के दीवाने हैं, जो देश की आजादी के दीवाने हैं और दूसरा दल उन लोगों का है जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन कर रहे हैं। यहाँ तक कि जब कांग्रेस एक राजनीतिक दल के रूप में कार्य कर रही थी, उस समय भी "उसने देश की स्वतन्त्रता के ध्येय से मुख नहीं मोड़ा और कांग्रेस ठीक ही दावा करती थी कि वही देश के सभी वर्गों और सभी जातियों की वास्तविक प्रतिनिधि संस्था थी।"[2]

कांग्रेस के विपरीत अखिल भारतीय मुस्लिम लीग एक साम्प्रदायिक दल था और उसको राजनीतिक दल कहना उचित नहीं होगा। लीग की सदस्यता केवल मुसलमानों तक ही सीमित थी और १९०६ में इसकी स्थापना के पीछे दो मुख्य उद्देश्य थे—(१) भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश शासन के प्रति वफादारी की भावना भरी जाए और यदि मुसलमानों के हृदय में ब्रिटिश शासन के किसी कृत्य के विरुद्ध विरोध भाव हो तो उसे शमन करना; और (२) सम्यक् अपितु अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करके मुसलमानों के राजनीतिक हितों का सरक्षण करना।[3] किन्तु उन्हीं दिनों कुछ ऐसे कारण[4] उपस्थित हो गए जिनकी वजह से मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण में भारी परिवर्तन हो गया और १९१३ में लीग का संविधान इस प्रकार सशोधित किया गया कि लीग का आदर्श भारत के लिए उपयुक्त स्वशासन की स्थापना बन गया और भारत की स्वतन्त्रता के आदर्श की प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय एकता पर बल दिया गया। १९१६ का लखनऊ समझौता वास्तव में राष्ट्रवादी मुसलमानों की विजय थी। मुस्लिम लीग ने अपने १९१९ के अधिवेशन में भारत के लिए आत्मनिर्णय की माग की और १९२० में तो लीग ने गांधी के असहयोग आन्दोलन का समर्थन किया। इसके बाद १९२७ में लीग में फूट पड़ गई जिसके फलस्वरूप उसी वर्ष उसके दो अलग-अलग अधिवेशन हुए। एक अधिवेशन मियां मुहम्मद शफी के सभापतित्व में लाहौर में हुआ और दूसरा अधिवेशन श्री मोहम्मद याकूब के सभापतित्व में कलकत्ता में हुआ। मियां शफी के दल ने निश्चय किया कि लीग सविधि आयोग के साथ सहयोग करे किन्तु दूसरे दल ने जिन्ना साहब के नेतृत्व

1. The Indian Journal of Political Science, Oct.-Dec. 19[illegible].
2. Chandrashekhran, C. V. : Political Parties, p. [illegible]
3. Lal Bahadur : The Muslim League, p. 43.

4. मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने वाले मुख्य कारण निम्नलिखित थे : टर्की या तुर्की के प्रति यूरोपीय देशों का दृष्टिकोण, तुर्की और भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन और १९११ में बंगाल-विभाजन रद्द किया जाना।

समाचार-पत्रों, भाषण मंचो और अन्य प्रचार साधनों के द्वारा जनमत को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है।

इसलिए, लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों की दो कारणों से आवश्यकता रहती है। प्रथत, राजनीतिक दल ही वे साधन प्रस्तुत करते हैं जिनके द्वारा सर्वसाधारण को अपने देश के शासक नियुक्त करने का अवसर हाथ आता है। द्वितीयतः, राजनीतिक दल ही नागरिकों को वैकल्पिक नीतियों और कार्यक्रमों में निहित खतरों से सावधान करते हैं। राजनीतिक दल अपने-अपने प्रोग्राम को सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करते हैं और उस प्रोग्राम को क्रियान्वित करने वाले अपने प्रतिनिधियों का नाम निर्वाचक-गण के समक्ष उनकी पसन्द के लिए उपस्थित करते हैं। इस प्रकार निर्वाचक-वृन्द स्वयं निर्णय करते है कि वे किस प्रकार की सरकार का निर्माण करें। सक्षेप मे, "राजनीतिक दल ही सर्वसाधारण की अव्यक्त और अस्पष्ट इच्छाओं को मूर्त्त स्वरूप प्रदान करते हैं।" लॉवेल के शब्दों मे, राजनीतिक दल विचारो के आदान-प्रदान करने वाले दलाल हैं। वे सारे राष्ट्र को समान दृष्टिकोण वाले समुदायो में बाँट देते हैं और डॉ० फाइनर के शब्दों में प्रत्येक नागरिक के समक्ष सारे राष्ट्र का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, जो राजनीतिक दलों के प्रयास के बिना सम्भव नही हो सकता।

भारत के राजनीतिक दलों का विकास (Growth of Political Parties of India)—प्रो० लास्की (Prof Laski) के अनुसार, राजनीतिक दलों का मुख्य कार्य यह है कि वे राज्य के आर्थिक सविधान की रचना करते हैं। यदि इस आधार पर देखा जाए तो कहना पड़ेगा कि भारतीय स्वतन्त्रता से पहले भारत मे कोई ऐसा राजनीतिक दल नही था जिसने भारत के आर्थिक स्वरूप को प्रभावित करने का प्रयत्न किया हो अथवा भारत के आर्थिक सविधान के निर्माण करने का प्रयत्न किया हो। यद्यपि उस काल मे भी तीन मुख्य महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दल वर्तमान थे, जिनके नाम निम्नलिखित थे—(१) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसकी स्थापना १८८५ में हुई; (२) अखिल भारतीय मुस्लिम लीग, जिसकी स्थापना १९०६ मे हुई, और (३) अखिल भारतीय हिन्दू महासभा, जिसकी स्थापना १९१६ में हुई थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) में विभिन्न विचारधाराओं के लोग थे और इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि किसी प्रकार भारत को विदेशी गुलामी से मुक्ति मिले। प्रो० अवस्थी के अनुसार, "कांग्रेस एक राजनीतिक दल नहीं था बल्कि वह तो सारे राष्ट्र की प्रतीक थी जिसने देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करने का बीड़ा उठा रखा था।"[1] जहाँ तक कांग्रेस राष्ट्रीय आन्दोलन की अगुआ थी, इस राष्ट्रीय संगठन के लिए स्वाभाविकतः अनिवार्य था कि वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के हेतु सभी को अपने कार्यक्रम की ओर आकर्षित करती। इसलिए कांग्रेस के सदस्यों में और समर्थकों मे जमीदार थे, किसान थे, पूजीवादी भी थे और मजदूर भी थे, डॉक्टर भी थे और रईस भी थे, वेकर भी थे; और सभी व्यवस्थाओं, सभी व्यवसायों, सभी जातियों, सभी धर्मों और मतों के लोग थे; यहाँ तक कि कांग्रेस मे पर्याप्त संख्या में

1. The Indian Journal of Political Science, Jan-March 1951, p. 7.

में पाकिस्तान की माँग की। १९४१ मे लीग का अगला अधिवेशन मद्रास में हुआ, जिसमे लीग का सविधान इस प्रकार सशोधित हुआ कि लीग का ध्येय पाकिस्तान की प्राप्ति बन गया। भारी सख्या में मुसलमान लीग के झडे के नीचे आ गये और १९४७ में भारत का विभाजन हुआ और पाकिस्तान का जन्म हुआ।

मुस्लिम लीग के विरोध मे हिन्दुओ के हितो की रक्षा के लिए हिन्दू महासभा का जन्म हुआ। प्रारम्भ में हिन्दू महासभा एक सास्कृतिक संस्था थी, किन्तु मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक नीति और घोर साम्प्रदायिक प्रोग्राम ने हिन्दू महासभा को भी राजनीतिक क्षेत्र में उतर आने के लिए मजबूर कर दिया और अब हिन्दू महासभा ने लीग के विरुद्ध कठोर रुख अपनाया। हिन्दू महासभा का अब यह उद्देश्य बन गया कि हिन्दुओ को प्राचीन गौरवपूर्ण रण-गाथाओं को सुना-सुना कर लोगों को पूर्ण स्वराज्य का सदेश सुनाया जाए और हिन्दू राष्ट्र का संस्थापन किया जाए। अहिसा की नीति, जो कॉग्रेस का मार्ग-दर्शन कराती थी, महासभा द्वारा त्याग दी गयी। श्री सावरकर ने, जो १९३३ मे हिन्दू महा-सभा के सभापति थे, घोषणा की कि "हिन्दू महासभा हिन्दू जाति, हिन्दू सस्कृति, हिन्दू सभ्यता और हिन्दू राष्ट्र के गौरव को बढ़ाना चाहती है और इस प्रकार हिन्दुओ को पूर्ण स्वतन्त्रता या स्वराज्य अर्थात् वैध साधनों द्वारा राजनीतिक स्वतन्त्रता दिलाना चाहती है।"

मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा के समान ही और भी कई साम्प्रदायिक दल थे जिनमें आँग्ल-भारतीय, भारतीय ईसाई वर्ग, सिक्ख वर्ग और दलित वर्ग प्रमुख थे। ये सब साम्प्रदायिक दल अपने-अपने वर्गों के हितों का सरक्षण चाहते थे, किन्तु इनमें से अथवा अन्य किसी वर्ग को सारे भारत के कल्याण की कोई चिन्ता नही थी। उपर्युक्त सब साम्प्रदायिक दल अत्यन्त विषाक्त वातावरण मे उत्पन्न हुए थे और हर एक साम्प्र-दायिक दल का दृष्टिकोण और कार्यक्रम प्रतिक्रियावादी था। इन सब दलों के कार्यक्रम के फलस्वरूप राष्ट्रवादी तत्त्वो के मार्ग मे बाधा खड़ी होती थी और सत्य यह है कि ब्रिटिश सरकार इन साम्प्रदायिक दलों को छिपे-छिपे और खुलकर भी प्रोत्साहन दे रही थी।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जब भारत में धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना हुई, तो राजनीति मे धर्मनिरपेक्षता का उदय हुआ। भारतीय सविधान ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व और साम्प्रदायिक निर्वाचकमण्डलो को समाप्त करा दिया। संविधान ने पूर्ण वयस्क मताधिकार प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप सभी २१ वर्ष की आयु वाले नागरिकों को बिना किसी प्रकार के प्रतिबन्ध के समान मताधिकार मिल गया। तदनुसार सभी राजनीतिक दलों ने राजनीतिक क्षेत्र मे पदार्पण किया। पुराने साम्प्रदायिक दल स्वय समाप्त हो गए, और कई नये राजनीतिक दल मैदान में आ गए, जिनमे अधिकाश दल साम्प्रदायिक आधार पर संगठित नही हुए थे। कई दल तो अखिल भारतीय-दल थे।

कुछ दलों का संगठन और राजनीतिक कार्यक्रम
(Organisation and Platform of Some of the Parties)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (The Indian National Congress)

मे उक्त आयोग के वायकाट की माग की । इसके बाद १९२८ मे नेहरू रिपोर्ट (Nehru Report) आई जिसने मतभेदों को कम करने मे सहायता दी, यद्यपि लीग के आन्तरिक विभेद १९३४ तक बने रहे । उसी वर्ष लीग का पुनर्गठन किया गया ।

हिज हाईनेस आगा खाँ के सभापतित्व में सर्वदलीय मुस्लिम कान्फ्रेंस दिल्ली में हुई । उक्त कान्फ्रेंस में जहाँ एक ओर नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकृत किया गया, वहीं यह भी प्रस्ताव पास किया गया कि तत्कालीन शासन-व्यवस्था से मुसलमानो को अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहिए । इस ओर मुस्लिम लीग अपनी पहली नीति से हट गई यद्यपि दिखावे भर को लीग अब भी राष्ट्रीय और लोकतन्त्र का दम भरती थी । अगले वर्षों लीग की नीति बिल्कुल बदलने लगी; और अक्तूबर १९३७ मे लखनऊ अधिवेशन में श्री जिन्ना ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा कि "मुस्लिम लीग भारत के लिए पूर्ण लोकतन्त्रात्मक शासन की माँग का समर्थन करती है । परन्तु कांग्रेस के वर्तमान नेताओ ने पिछले दस वर्षों मे हिन्दू-समर्थन नीति का आश्रय लिया है, जिसके कारण मुसलमान आम तौर पर कांग्रेस से विलग हो रहे है, और जिन छः प्रान्तो मे कांग्रेस का बहुमत होने के कारण कांग्रेस का शासन है, उन प्रान्तो मे कांग्रेस के नेताओं ने अपने शब्दों से, कृत्यों और प्रोग्राम मे यह सिद्ध कर दिया है कि मुसलमानो को उनमे न्याय या ईमानदारी की आशा करना व्यर्थ है । जो कुछ थोडी-सी शक्ति मिली है उसी से फूलकर बहुसंख्यक जाति अर्थात् हिन्दुओ ने हमारे समक्ष स्पष्ट कर दिया है कि हिन्दुस्तान को वे केवल हिन्दुओं के लिए ही रखना चाहते है ।" मुस्लिम लीग की नीति और कार्यक्रम में इस परिवर्तन का तात्कालिक कारण यह था कि कांग्रेस और लीग में उन प्रान्तों मे मिली-जुली सरकारे बनाने के सम्बन्ध मे समझौता नही हो सका जिनमे कांग्रेस के स्पष्ट बहुमत थे; और जिनमे बाद मे कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल बनाए गए । प्रिंसिपल श्री गुरुमुख निहाल-सिंह के शब्दों मे, "अब लीग को ज्ञान हुआ कि भारत में मुसलमान तो सदैव ही विरोधी दल की हैसियत से ही रहेंगे और उन्हें कांग्रेस के बहुमत वाले प्रान्तो मे शासन-सूत्र सँभालने का अवसर शायद कभी न मिलेगा और सम्भवत. केन्द्र में भी शासन-सत्ता हथियाने का कभी अवसर हाथ न लगेगा क्योंकि उपर्युक्त सभी प्रान्तों और केन्द्र में वे (मुसलमान) अल्पमत में ही रहेंगे ।"[1]

लीग के कांग्रेस के साथ चल रहे विरोध के फलस्वरूप लीग ने कहा कि भारत में हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् राष्ट्र हैं; और इस दिशा में जिन्ना साहब एव अन्य मुसलमान नेताओ ने भारी आन्दोलन किया । जब १९३९ मे कांग्रेस ने देखा कि ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं से बिना पूछे युद्ध मे भारत को भी अपने पक्ष मे घसीट लिया है तो कांग्रेस के मन्त्रिमंडल ने इसके विरोध में त्यागपत्र दे दिये । उस अवसर पर मुस्लिम लीग ने जश्न मनाया और कांग्रेस के राज्य से मुक्ति पाने की प्रसन्नता प्रकट की। लीग की इस हरकत के कारण कांग्रेस और लीग के बीच किसी प्रकार के समझौते की आशा धूमिल पड़ गई । इसके बाद मार्च १९४० में लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन

1. Presidential Address delivered at the Agra Session of the All India Political Science Conference—Indian Journal of Political Science, April-June 1943, p. 393.

सत्ता के विरुद्ध संघर्ष करता रहा और अन्त मे १५ अगस्त, १९४७ को कांग्रेस के प्रयत्नो
के फलस्वरूप ही भारत स्वतन्त्र हुआ। किन्तु स्वतन्त्रता के साथ-साथ राजनीतिक
दृश्य भी पूर्णत: बदल चुका था। भारत मे ब्रिटिश अधिकार का दायित्व कांग्रेस
के कन्धो पर आ पड़ा। उस समय कांग्रेस मे पर्याप्त विचार-मन्थन हुआ और
गम्भीरता के साथ इस बात पर विचार किया गया कि जब कांग्रेस का उद्देश्य और ध्येय
पूर्ण हो गया तो फिर कांग्रेस को विघटित कर दिया जाए अथवा नही। स्वय गांधी जी
का भी यही विचार था कि कांग्रेस को विघटित कर दिया जाए और वह केवल एक लोक
सेवक सघ के रूप में बनी रहे ताकि अपने अपार परिश्रम मे पालित और राष्ट्रीय एकता
की प्रतीक कांग्रेस राजनीतिक दलदल न बन जाए और फलस्वरूप शक्ति हथियाने और
षड्यन्त्र करने का अखाडा न बन जाए। किन्तु, प्रो० अवस्थी के शब्दो मे, 'कांग्रेस
के अधिकतर लोगो ने कांग्रेस को विघटित नही होने दिया और निश्चित किया कि भविष्य
में कांग्रेस भी एक राजनीतिक दल के रूप मे भारत मे कार्य करेगी।'[1] किन्तु
इस निर्णय के साथ ही साथ कांग्रेस का वियोजन (disintegration) भी प्रारम्भ
हो गया। समाजवादी लोग, जो कांग्रेस के वाम पक्ष का निर्माण करते थे, कांग्रेस से हट
गए। और उन्होंने श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व मे अलग दल बना लिया। स्वर्गीय
श्री शरत्चन्द्र बोस ने एक अलग दल बनाया जिसका नाम था समाजवादी गणतन्त्र
दल। कांग्रेस के कुछ अन्य केन्द्रीय विधानमण्डल के सदस्यो ने प्रो० के० टी० शाह के
नेतृत्व में एक नये दल का निर्माण किया जिसका नाम था समाजवादी लोकतन्त्रा-
त्मक दल।

जब कांग्रेस भी अन्य दलो के समान ही राजनीतिक दल बन गई, तो यह आवश्यक
ही हो गया कि कांग्रेस की नीति और उसके कार्य करने के तरीको मे परिवर्तन हो।
जयपुर अधिवेशन के समय कांग्रेस ने राष्ट्र को निम्न सदेश दिया था—"महात्मा गांधी
के नेतृत्व मे अहिंसा के द्वारा राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के पश्चात् अब कांग्रेस
पूरा-पूरा प्रयत्न करेगी कि देश को सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता दिलाई जाए।"
१९४८ मे कांग्रेस का नया सविधान स्वीकृत हुआ। "अब कांग्रेस का ध्येय यह था कि
सभी भारतीयों को उन्नति के समान अवसर मिले और शान्तिपूर्ण एव वैधानिक
उपायो से भारत मे सभी राज्यों और सभी वर्गों में पूर्ण सहयोग स्थापित हो और इस
सहयोग का आधार सभी लोगों और सभी वर्गों मे पूर्ण अवसर समानता, और समान
राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकार होने चाहिएं; और भारत में उक्त लक्ष्य-
प्राप्ति के उपरान्त सारे ससार में शान्ति और भ्रातृ-भावना के लिए प्रयत्न किया जाना
चाहिए। वर्ग-विहीन और लोकतन्त्रात्मक समाज की स्थापना का उद्देश्य समाजवादी
ढग के समाज (Socialist Pattern of Society) के प्रस्ताव में प्रकट हुआ, जिसे
कांग्रेस ने अपने आवडी अधिवेशन मे पास किया था। इस प्रस्ताव मे कहा गया था कि
कांग्रेस के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए और भारतीय सविधान की प्रस्तावना एव

1. Political Parties in India, The Indian Journal of Political Science, Jan.-March, 1951, p. 8.

अवसर पर प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने आर्थिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव को प्रस्तुत करते हुए कहा था कि "भारत ससार के समक्ष औद्योगिक क्रान्ति लाने का एक नया उपाय प्रस्तुत कर रहा है। यह उपाय अमेरिका या इग्लैण्ड या सोवियत रूस के उपायो से सर्वथा भिन्न है।" श्री नेहरू ने आगे कहा—"हमने अन्तिम रूप से निश्चय कर लिया है कि हमारा लक्ष्य समाजवाद की स्थापना है और हम शीघ्रातिशीघ्र शान्तिपूर्ण उपायो द्वारा अपने देश और समाज मे समाजवादी व्यवस्था लाना चाहते है।"

जनवरी, १९५७ मे इन्दौर मे कॉंग्रेस ने अपने सविधान का सशोधन किया और अपना लक्ष्य "शान्तिपूर्ण एव वैध उपायो द्वारा समाजवादी सहकारी गणराज्य की स्थापना" घोषित किया। कॉंग्रेस के अध्यक्ष ने स्पष्ट किया कि समाजवादी ढग के समाज और समाजवाद में कोई अन्तर नही है।

१९५७ के निर्वाचन घोषणा-पत्र (Election Manifesto) मे कॉंग्रेस के उद्देश्य की फिर से घोषणा की गई। उसमे कहा गया था, "भारत में क्रान्ति सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति के होने पर ही पूरी हो सकती है। भारत मे सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति हो रही है, लेकिन, यह भारत की अपनी विशिष्टता और पद्धति के अनुसार ही शान्तिपूर्ण एवं सहयोगपूर्ण रीति से हो रही है।" भारत का सहकारी गणराज्य अवसरो की और राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक अधिकारो की समता पर आधारित होगा। निर्वाचन घोषणा-पत्र में कहा गया है कि सहकारी सिद्धान्त का जीवन के हर क्षेत्र मे विकास होना चाहिए। समाजवाद के सम्बन्ध मे घोषणा-पत्र मे कहा गया था कि समाजवाद का अभिप्राय केवल आर्थिक सम्बन्धो मे परिवर्तन करना ही नही है। इसका अभिप्राय सामाजिक ढाचे में, विचार और जीवन की रीतियो मे परिवर्तन करना है।

परन्तु जनवरी १९५९ मे हुए नागपुर अधिवेशन का महत्त्व कॉंग्रेस इतिहास में सदा बना रहेगा। इसमें कॉंग्रेस ने देश के सामने एक नया और गतिशील, सहकारी सिद्धान्त पर आधारित कृषि का कार्यक्रम रखा। भूमि सम्बन्धी संगठन के आदर्श (Agrarian Organisational Pattern) के विषय से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्ताव मे कहा गया था, "भविष्य में जमीदारी का आदर्श इस प्रकार की सहकारी सम्मिलित कृषि होगा जिसमे सारी भूमि सम्मिलित खेती के लिए इकट्ठी की जाएगी और कृषकों के पास अपनी सम्पत्ति का अधिकार बना रहेगा और वे कुल उपज में से अपनी भूमि के अनुपात से अपना भाग भी ग्रहण करेंगे। इसके अतिरिक्त वे लोग भी, जिन्होंने भूमि पर वास्तव मे काम किया है चाहे वे भूमि के स्वामी हों अथवा नही, सम्मिलित खेत पर किये हुए अपने कार्य के अनुपात से उपज के भाग को प्राप्त करेंगे। सम्मिलित कृषि की स्थापना से पूर्व तीन साल के अन्दर सहकारी संस्थाओं (Service Co-operatives) का सगठन पूरा करना आवश्यक हो जाना चाहिए। ऐसा करना सम्मिलित कृषि की ओर पहला कदम होगा। वर्तमान में और भविष्य मे खेती की जमीन की अधिकतम सीमा निर्धारित की जानी चाहिए और इस विषय में १९५९ की समाप्ति से पूर्व सारे कानून बना लिए जाने चाहिएं। इसका अर्थ आमदनी की अधिकतम सीमा का निर्धारण करना नहीं

राज्यनीति के निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने के लिए योजना इस प्रकार होनी चाहिए जिससे कि समाजवादी ढग से समाज की स्थापना हो सके। इस समाज में उत्पादन के प्रमुख साधन समाज के नियन्त्रण में होंगे, उत्पादन का धीरे-धीरे तेजी से विकास होगा और राष्ट्रीय धन का समतायुक्त वितरण होगा।

प्रो० श्रीमन्नारायण, जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी रह चुके हैं, कहते हैं कि समाजवादी समाज की स्थापना के लिए निम्न सात मौलिक आवश्यकताएँ हैं[1]—

(१) सभी को सेवा-योजन और काम का अधिकार।

(२) राष्ट्रीय धन और सम्पत्ति का अधिकतम उत्पादन। इसके लिए देश का आर्थिक जीवन इस प्रकार सगठित किया जाय कि देश में उपभोक्ता वस्तुओं का अधिकाधिक उत्पादन हो और उसके फलस्वरूप सर्वसाधारण का जीवन-स्तर बेहतर बने। ग्रामोद्योगो और कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाए। इनसे सभी लोगो को पूरे काम के अवसर प्राप्त होंगे। इसलिए देश के आर्थिक विकास मे ग्रामोद्योगों का वही महत्व है जो उद्योगो का है।

(३) देश को यथाशक्य आत्म-निर्भर बनाया जाए।

(४) देश मे आर्थिक और सामाजिक न्याय हो। इसके लिए छुआछूत का अन्त करना होगा, स्त्रियो की दशा को सुधारना होगा, शराब तथा वेश्यावृत्ति को समाप्त करना होगा, रईसों और गरीबों के बीच की खाई को कम करना होगा और गाँवों और शहरों मे आर्थिक असमानताओ को समाप्त करना होगा।

(५) समाजवादी समाज की स्थापना के लिए केवल शान्तिपूर्ण, अहिंसक और लोकतन्त्रात्मक अथवा वैधानिक उपायों का ही सहारा लिया जाय।

(६) ग्राम पचायतों और औद्योगिक सहकारी संस्थाओ की स्थापना की जाए और इस प्रकार आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जाए।

(७) समाज मे जो वर्ग सबसे गरीब है और सबसे अधिक पिछड़े हुए है, उनकी आवश्यकताओं को सर्वोपरि प्राथमिकता दी जाए।

उपर्युक्त सात सिद्धान्त ही सर्वोदय का सार है और ये महात्मा गाँधी की शिक्षाओं का भी सार है। किन्तु प्रो० श्रीमन्नारायण ने लिखा है कि "सर्वोदय शब्द का प्रयोग इसलिए नही किया गया है कि इसके द्वारा हम एक उच्च आदर्श से कोई राजनीतिक लाभ उठाना चाहते है। किन्तु सत्य यही है कि महात्मा गाँधी की शिक्षाओं के अनुसार भारत निश्चित रूप मे सिद्धान्तो पर आचरण करने के लिए कृतसकल्प है।"[2] इस प्रकार कांग्रेस किसी विशिष्ट सिद्धान्त या वाद (ism) पर चलने के लिए बाध्य नही है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अमृतसर[3] अधिवेशन के

1. *The Tribune*, Ambala Cantt., June 14, 1955.
2. *Ibid.*
3. *Ibid.*, Feb. 13, 1956, p. 8.

विवेक को चुनौती दी गई थी कि वह या तो गौतम बुद्ध और गांधी के मार्ग पर चले या अणुबम द्वारा विनाश का मार्ग स्वीकार करे। श्री नेहरू ने उक्त प्रस्ताव पर बोलते हुए विषय समिति में कहा था "मनुष्य जाति को या तो गौतम बुद्ध और महात्मा गांधी का मार्ग चुनना है या हाइड्रोजन बम द्वारा स्व-विनाश के पथ पर अग्रसर होना है। इन दो विकल्पों के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं है।"

१९६७ के आम चुनाव के फलस्वरूप लोक सभा मे कांग्रेस का बहुमत काफी कम हो गया। बहुत-सी राज्य विधान सभाओं मे भी कांग्रेस अपना बहुमत खो बैठी। राजस्थान में इसने १८४ मे से ८९ स्थान प्राप्त किये और उत्तर प्रदेश मे ४२५ मे से १९९ स्थान ही प्राप्त कर पाई। बंगाल, केरल, मद्रास और उडीसा में तो स्थिति और भी खराब रही। केरल में इसे केवल ९ स्थान प्राप्त हुए, मद्रास में ५०, उडीसा मे ५१ और पश्चिमी बंगाल में १२७, इस प्रकार जनता के सम्मुख कांग्रेस की साख जाती रही है।

प्रजा समाजवादी दल (The Praja Socialist Party) —पूर्वकाल की समाजवादी पार्टी और आचार्य कृपलानी द्वारा संस्थापित कृषक मजदूर प्रजा पार्टी के मिल जाने के फलस्वरूप प्रजा समाजवादी दल का जन्म हुआ। पहले समाजवादी पार्टी कांग्रेस का वामपक्ष थी, किन्तु मार्च १९४८ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के शीघ्र बाद समाजवादी कांग्रेस से विलग हो गए और उन्होंने श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में भारतीय समाजवादी दल की स्थापना की। समाजवादी दल का कृतसकल्प था कि भारत में लोकतन्त्रात्मक समाजवादी समाज की स्थापना होनी चाहिए। समाजवादियो की मान्यता थी कि लोकतन्त्रात्मक समाजवादी समाज में "हर एक व्यक्ति को श्रम करना पड़ेगा और सभी व्यक्ति स्त्रियो सहित समान होंगे; उस समाज मे सभी को उन्नति और काम के समान अवसर उपलब्ध होंगे और व्यक्तियो के वेतन में इतना भारी अन्तर नहीं होगा कि वर्ग-विभेदो को प्रश्रय मिले; उस समाज मे सारी सम्पत्ति पर सारे समाज का आधिपत्य होगा; तथा उस समाज मे नियोजन के अनुसार विकास होगा; परिश्रम का पारिश्रमिक मिलेगा और किसी से जबर्दस्ती बेट बेगार नही ली जाएगी, संक्षेप में उस समाज में जीवन सुखी होगा और सुन्दर होगा।[1] उपर्युक्त लोकतन्त्रात्मक समाजवादी समाज की स्थापना के लिए क्रान्ति को आवश्यक माना गया। समाजवादी दल लोकतन्त्रात्मक समाजवाद में विश्वास करता है और सर्वाधिकारवादी साम्यवाद में निहित खतरों से भी बेखबर नही है। इस प्रकार समाजवादी पार्टी ने अपने नीति सम्बन्धी वक्तव्य में कहा था—"हम लोकतन्त्रात्मक समाजवाद की स्थापना के लिए क्रान्ति का मार्ग ग्रहण करेंगे। शासन-सत्ता हथियाने के लिए वैधानिक उपाय ऐसे ही देश मे प्रभावी हो सकते है जहाँ पूर्ण लोकतन्त्र के अनुसार व्यवहार होते है; और जहाँ श्रमिक वर्ग, कृषक वर्ग और निम्न मध्य वर्ग के लोगो के दिल और दिमाग वयस्क हो चुके है और जहाँ सशक्त राजनीतिक दल है। जिस देश में ऐसी अवस्थाओ का अभाव है, वहाँ लोकतन्त्रात्मक समाजवाद की स्थापना के लिए वैधानिक उपाय प्रभावशून्य, अपर्याप्त और भयानक

1. *Statement of Policy* published by the Socialist Party of India.

था। फालतू जमीन का स्वामित्व पचायतों को सौंप दिया जाना चाहिए और भूमि-विहीन मजदूरों की सहकारी संस्थाओं के द्वारा उस जमीन का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।" कांग्रेस की विचारधारा में यह एक नया मोड़ है।

आन्तरिक मोर्चे पर वैधानिक तरीकों से कांग्रेस वर्ग-भेदों को समाप्त कर देश में जाति-हीन और वर्ग-हीन समाज की स्थापना करना चाहती है। कांग्रेस का हड़तालों, धरनो, जलूसों और नारों में विश्वास नहीं है। इन्हें वह देश के लिए हानिकर समझती है और उसका मत है कि पारस्परिक विवादों को पारस्परिक विचार-विनिमय के द्वारा सुलझाना चाहिए। इण्डियन नेशनल कांग्रेस के ६६वें अधिवेशन ने राष्ट्रीय एकता और मिली-जुली अर्थ-व्यवस्था द्वारा समाजवाद लाने के कार्यक्रम पर जोर दिया। ग्रामीण जीवन को पचायत राज्य और सहकारी संस्थाओं के संगठन द्वारा पुनः जीवन-शक्ति प्रदान करने पर भी बल दिया। भुवनेश्वर अधिवेशन ने अंतिम रूप में उद्घोषित कर दिया कि कांग्रेस का लक्ष्य तो समाजवाद की स्थापना करना है। १९६२ के निर्वाचन घोषणा-पत्र ने फिर दोहराया कि "हम योजना के द्वारा ही अपने उद्देश्य की सफलता की ओर बढ़ सकते हैं ताकि हम अपनी पूरी शक्ति और प्रयत्न इस ओर लगा सकें।" इस दिशा में तृतीय योजना का विशेष महत्त्व था क्योंकि इसकी सफलता पर ही सामाजिक रूप से सन्तुलित और अधिक सम्पन्न बनती हुई और एक रूपी बनी हुई जन-समाज की स्थापना निर्भर थी।

कांग्रेस के ६६वें अधिवेशन में राष्ट्रीय एकीकरण, मिली-जुली अर्थ-व्यवस्था के जरिये समाजवाद की स्थापना, और पचायती राज तथा सहयोगात्मक सगठन के माध्यम से ग्राम्य जीवन मे शक्ति-संचार पर जोर दिया गया। इस अधिवेशन मे कांग्रेस ने १९६२ मे होने वाले ग्राम चुनाव के लिए घोषणा-पत्र (Manifesto) के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया जिसमें यह स्पष्ट किया गया कि समाजवाद का लक्ष्य प्रजातन्त्रीय और शान्तिमय साधनो द्वारा प्राप्त किया जाएगा और उन नैतिक मूल्यों को सुरक्षित रखा जाएगा जिनको कांग्रेस सदैव ही महत्त्व देती रही है। इस प्रस्ताव में तीसरी पंचवर्षीय योजना का विशेष महत्त्व दर्शाया गया क्योंकि उसकी सफलता द्वारा ही एक सुगठित और उन्नतिशील समाज की स्थापना हो सकेगी। इस प्रस्ताव में देश के विभिन्न भागों के संतुलित विकास, कामगार वर्ग के प्रशिक्षण, बेकारी की समस्या के समाधान और बढ़ती हुई जनसख्या को रोकने की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया।

विदेश नीति के सम्बन्ध में कांग्रेस विश्व में शान्ति चाहती है और उसका विश्वास है कि यदि ससार के राष्ट्र सह-विनाश अथवा परस्पर विनाश के इच्छुक नहीं हैं, तो यह अतीव आवश्यक है कि संसार के सभी देश पंचशील (Panch Shila) के सिद्धान्त के अनुसार आचरण करें। ससार के विभिन्न राष्ट्रों मे कलह का एक ही कारण है और वह यह है कि आपस में एक राष्ट्र दूसरे के प्रति सन्देह रखता है। पचशील पर आचरण करने से आपसी अविश्वास और तनाव कम होगा। इस प्रकार कांग्रेस ने सारे संसार को सत्य और अहिंसा का उपहार दिया है। कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन में विदेश नीति सम्बन्धी प्रस्ताव को प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने पुरःस्थापित किया था। उक्त प्रस्ताव को 'बुद्ध का संदेश' कहकर पुकारा गया था। उक्त प्रस्ताव में ससार के

महत्त्वपूर्ण अन्तर है। प्रजा समाजवादी दल (P.S.P.) के नीति-सम्बन्धी वक्तव्य के अनुसार बड़े उद्योगों पर सारे समाज का स्वामित्व होगा। उद्योगों मे पाये जाने वाले एकाधिकार (monopoly) और मैनेजिंग एजेन्सी सिस्टम (managing agency system) को भी अनुकूल दृष्टि से नही देखा गया है और यह कहा गया है कि दल इनको तोड़ने के लिए निश्चित कदम उठाएगा। इसके विपरीत, इस समय कांग्रेस वर्तमान उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिए उद्यत नही है, और वह चाहती है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना में प्राइवेट उद्योगो के लिए स्थान रहे और यही द्वितीय और तृतीय पचवर्षीय योजनाओं का लक्ष्य है।

विदेश नीति के सम्बन्ध मे कांग्रेस और प्रजा समाजवादी दल (P.S.P.) में कोई मतभेद नही हैं। दोनो दल यही चाहते है कि किसी शक्ति गुट मे न मिला जाए; शान्ति का क्षेत्र बढ़ाया जाए; एक तृतीय गुट (शान्ति गुट) की स्थापना की जाए; अणुआयुधों के युद्ध पर रोक लगायी जाए, प्रत्येक देश के शस्त्रास्त्रों मे कमी की जाए, जातीयता के भाव को निरुत्साहित किया जाए, साम्राज्यवाद और अन्य शोषण की संस्थाओ का उन्मूलन किया जाए; पिछड़े आर्थिक वर्गों का विकास किया जाए जिसके लिए बिना राजनीतिक शर्तों के विदेशी सहायता मिलनी चाहिए और सभी देशों को पचशील मे निहित सिद्धान्त स्वीकार्य हों। लेकिन बिल्कुल निकट के पड़ोसियो के सामाजिक लक्ष्य और आदर्श अच्छे नही है, इस पर प्रजा समाजवादी दल ने चिन्ता प्रकट की है। वर्तमान सरकार पर उसका यह भी आरोप है कि वह दल अन्तर्राष्ट्रीयता की धुन मे राष्ट्रीय हितो की उपेक्षा कर देती हैं। प्रजा समाजवादी दल पाकिस्तान के साथ प्रश्नो को शान्तिपूर्ण रीति से सुलझाना चाहता है लेकिन यदि वहाँ से शरणार्थियो का आना जारी रहा, तो वह कठोर कार्यवाही करने से भी विमुख नही है। गोआ, तिब्बत और चीन के सम्बन्ध मे सरकार की जो नीति रही है, प्रजा समाजवादी दल उससे असन्तुष्ट है।

प्रजा समाजवादी दल चाहता है कि भारतीय संविधान पर पुनर्विचार हो, ताकि नागरिक स्वतन्त्रताओ का विस्तार हो, राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ कम की जाएँ तथा राष्ट्रपति की अध्यादेश जारी करने सम्बन्धी शक्तियाँ मर्यादित की जाएँ; साथ ही सम्पत्ति के अधिकारो सम्बन्धी संविधानिक उपबन्धो को इस प्रकार संशोधित किया जाए कि यथा आवश्यकता प्राइवेट सम्पत्ति को सार्वजनिक उपभोग के लिए आसानी से अर्जित किया जा सके।

१९६७ के आम चुनाव के लिए इस दल के घोषणा-पत्र मे बराबरी और सामाजिक न्याय पर बल दिया गया और इन्हें दल की नीति और कार्यक्रम का मूल आधार बताया गया। अधिकतम और न्यूनतम आय के बीच अन्तर को घटा कर १०:१ के अनुपात पर ले आना दल का ध्येय बताया गया। दल ने समानता के सिद्धान्त को आर्थिक क्षेत्र मे ही नही बल्कि सामाजिक क्षेत्र मे भी लागू करने का वचन दिया और कृषि तथा उद्योगों में स्वामित्व के विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया।

साम्यवादी दल (The Communist Party)—साम्यवादी दल लोक सभा और केरल में मुख्य विरोधी दल है। केरल मे अप्रैल, १९५७ से जुलाई १९५९ तक उसने

सिद्ध होगे।" सक्षेप में समाजवादी दल वैधानिक उपायो का तभी ग्राश्रय ले सकता था जब देश मे पूर्ण लोकतन्त्र का ग्राधिपत्य हो। यदि लोकतन्त्रात्मक राजनीतिक संस्थाग्रों को फलने-फूलने से रोका गया तो क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

समाजवादी दल ग्रौर कृषक मजदूर प्रजा पार्टी के मिल जाने के फलस्वरूप, नव-निर्मित प्रजा समाजवादी दल का कार्यक्रम इस प्रकार तैयार किया गया है कि ग्रब यह दल शातिपूर्ण उपायो से ऐसे लोकतन्त्रात्मक समाजवादी समाज को स्थापना करना चाहता है जिसमे राजनीतिक, सामाजिक ग्रथवा ग्रार्थिक शोषण वर्जित हो। इस प्रकार प्रजा समाजवादी दल, समाजवादी समाज की स्थापना के लिए शान्तिपूर्ण उपायो मे विश्वास करता है। निष्क्रिय (defunct) समाजवादी दल की तरह प्रजा समाजवादी दल इस बात के लिए जिद नही करता कि यदि देश मे उन्मुक्त ग्रौर पूर्ण लोकतन्त्र नही है व क्रान्ति का मार्ग ग्रहण करना ग्रावश्यक होगा। प्रजा समाजवादी दल (P.S.P.) की राष्ट्रीय कार्यकारिणी समिति ने जो नीति सम्बन्धी वक्तव्य तैयार किया ग्रौर जिस पर दिसम्बर १९५५ मे गया मे विचार-विनिमय हुग्रा, उसमे स्पष्ट शब्दो मे उस समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, जो पार्टी का लक्ष्य है; ग्रौर उक्त वक्तव्य के द्वारा प्रतिज्ञा की गई है कि वर्तमान पूजीवादी ढाचे के स्थान पर समाजवादी समाज की स्थापना के लिए केवल वैधानिक ग्रौर लोकतन्त्रात्मक उपायो को ही काम मे लाया जाएगा।

प्रजा समाजवादी दल के १९५७ के घोषणा-पत्र मे लोकतन्त्रात्मक समाजवाद (democratic socialism) के सम्बन्ध मे पुन: विश्वास प्रकट किया गया है। उसमे कहा गया है, "ग्राज सारे ससार मे पूजीवाद का पतन हो रहा है ग्रौर साम्यवाद का भी काल्पनिक रूप समाप्त हो गया है। ग्रब लोग सर्वत्र ही मानवता के कल्याण के लिए लोकतन्त्रात्मक समाजवाद की शरण मे ग्रा रहे है। भारत मे समाजवादियों ने ग्रपने ग्रथक प्रयत्नों से समाजवाद को राष्ट्रीय एवं नैतिक चेतना प्रदान की है। उन्होने यह प्रकट कर दिया है कि समाजवाद का तत्त्व केवल लोकतन्त्र ही नही है प्रत्युत् शक्ति ग्रौर उत्पादन का विकेन्द्रीकरण है। प्रजा समाजवादी दल प्रशासन मे ग्रामूल परिवर्तन करना चाहता है। वह स्थानीय स्वशासन के एकको को ग्रधिक शक्तियाँ देने के पक्ष मे है।

प्रजा समाजवादी दल (P.S.P.) का शान्तिपूर्ण वैधानिक ग्रौर लोकतन्त्रात्मक उपायों मे विश्वास है, इसलिए यह कांग्रेस के निकट है। कांग्रेस ग्रौर प्रजा समाजवादी दल (P.S.P.) के सामाजिक ग्रौर ग्रार्थिक प्रोग्राम मे पर्याप्त समानता है। दोनो दल शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा समाजवादी व्यवस्था लाना चाहते हैं। दोनों दलों को विश्वास है कि लोगो के जीवन-स्तर को उठाया जा सकता है, देश में पूर्ण रोजगार की ग्रवस्था लाई जा सकती है; उद्योगीकरण ग्रौर राजकीय सहायता के द्वारा ग्रार्थिक समानता प्राप्त की जा सकती है; ग्रामोद्योगो ग्रौर कुटीर उद्योगो को प्रोत्साहन मिलना चाहिए; भूमि का इस प्रकार पुनर्वितरण होना चाहिए कि हर एक को गुजारे के लायक जमीन मिल जाए; समाज का संगठन सहकारी ग्राधार पर किया जाय; फैक्टरियो के प्रबन्ध मे श्रमिकों का भी हाथ हो, ग्राम पचायतो का विकास हो ग्रौर बड़े पैमाने पर समन्वित नियोजन हो। किन्तु सामाजिक ग्रौर ग्रार्थिक प्रश्नो पर समाजवादी दृष्टिकोण ग्रौर कांग्रेस के दृष्टिकोण मे एक

प्रणाली प्रचलित है, वहाँ शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा बिना हिंसक क्रान्ति का सहारा लिये पूँजीवादी व्यवस्था को बदलकर समाजवादी व्यवस्था लाना सम्भव है। इस प्रकार लगभग लोकतन्त्रात्मक दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया गया है, तथा अब मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त और सर्वहारावर्गीय क्रान्ति को तिलांजलि दे दी गई है। भारतीय साम्यवादी दल की चतुर्थ कॉंग्रेस का अधिवेशन पालघाट में हुआ था। उक्त कॉंग्रेस में जो राजनीतिक प्रस्ताव पास हुआ, उसके ऊपर प्रकाश डालते हुए साम्यवादी दल के जनरल सेक्रेटरी श्री अजय घोष ने बताया कि भारतीय साम्यवादी भी सोवियत दल के नये और परिवर्तित विचारो से पूर्णतया सहमत है। साम्यवादी दल के संविधान में कहा गया है, "दल शान्तिपूर्ण उपायों से पूर्ण लोकतन्त्र एव समाजवाद की स्थापना करना चाहता है। विशाल और शक्तिशाली जन-आन्दोलन का निर्माण करके तथा उसके बल पर ससद् में बहुमत प्राप्त करके श्रमिक जनता तथा उसके मित्र प्रतिक्रिया की शक्तियों को रोक सकते हैं और इस बात को निश्चित कर सकते है कि ससद् मूल आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन लाने के लिए जनता की इच्छा का साधन बन जाए।"

भारतीय साम्यवादी दल (C P I) की नयी नीति के अनुसार अब साम्यवादी नेहरू जी की विदेश नीति का समर्थन करते है यद्यपि दल ने तिब्बत के सम्बन्ध मे भारत सरकार की नीति की निन्दा की है और भारत पर चीन के आक्रमण का प्रतिकार नही किया है। घरेलू मामलो मे भी भारतीय साम्यवादियो का रुख उतना कठोर नही है जितना कि पहले था। पालघाट कॉंग्रेस के अवसर पर साम्यवादियो ने उन सम्भावनाओं पर विचार किया था जिनके आधार पर नेहरू सरकार का समर्थन किया जा सके। इस प्रकार पालघाट की चतुर्थ कांग्रेस मे सर्वसम्मति से राजनीतिक प्रस्ताव का पास हो जाना यह इंगित करता है कि दल के वाम पक्ष और मध्य पक्ष की जीत है; फिर भी दलीय नीति में भारी परिवर्त्तन अवश्य दिखाई देता है। १९ मई, १९५६ को भारतीय साम्यवादी दल के जनरल सेक्रेटरी ने नई दिल्ली मे एक प्रेस कान्फ्रेंस में कहा था कि "द्वितीय पचवर्षीय योजना के जो लक्ष्य और उद्देश्य बताये गए है, और तत्सम्बन्धी जो प्रस्ताव सामने आए हैं, उन पर हमारा सरकार से मतैक्य है।" उन्होंने यह भी कहा कि "साम्यवादी दल किसी भी दल और कॉंग्रेस के साथ भी किसी ऐसी योजना को कार्यान्वित करने मे सहयोग देने को तैयार है जिसका सम्बन्ध देश के आर्थिक विकास से हो अथवा जिसका सम्बन्ध सर्वसाधारण के जीवन-स्तर को सुधारने से हो।"[1] इन परिवर्त्तनों की पृष्ठभूमि मे कहा जा सकता है कि भारतीय साम्यवादी दल (C P I.) ने भारत सरकार की विदेश नीति, गृह नीति, रक्षा नीति अथवा आर्थिक नीति आदि सभी बातों मे विरोध का अपना पुराना हठ छोड़ दिया है; और इस समय साम्यवादी (C P.I.) सहयोग और समझदारी से काम करने को तैयार दिखाई देते हैं। अप्रैल, १९५८ में अमृतसर मे साम्यवादी दल का जो असाधारण अधिवेशन हुआ था उसमें 'वर्तमान राजनीतिक स्थिति' के सम्बन्ध मे

1. *The Tribune*, Ambala Cantt. May 20, 1956.

शासन भी किया था। १९६० के शुरू में केरल में जो ग्राम निर्वाचन हुए थे, उनमें साम्य-वादी दल को केवल २० स्थान प्राप्त हो सके जब कि १९६० के ग्राम निर्वाचन में इस दल को ६० स्थान प्राप्त हुए थे। भारत में साम्यवादी दल का जन्म उन क्रान्तिकारियों के प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ था जो रूस की महान् अक्तूबर क्रान्ति से प्रेरणा प्राप्त करते थे। दल के सविधान में कहा गया है कि दल "भारत के श्रमिक वर्ग का राजनीतिक दल है, उसका अगुआ है, उसका उच्चतम वर्ग संगठन है। वह मजदूरों, किसानों और साधारण मेहनतकश जनता का ऐच्छिक संगठन है। वह समाजवाद और साम्यवाद के लिए दृढ़प्रतिज्ञ है।" साम्यवाद का उद्देश्य है, श्रमिक जनता द्वारा सत्ता प्राप्ति; श्रमिक वर्ग के नेतृत्व मे जनता के लोकतन्त्र की स्थापना, समाजवाद और साम्यवाद की स्थापना। उसके कार्यक्रम मे जनता के व्यापक हितों की रक्षा, जीवन-यापन की दशाओ में सुधार और सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओं का अन्त करना शामिल है। वह साम्प्रदायिकता, अस्पृश्यता, स्त्रियों को समानाधिकार से वंचित रखना, प्रादेशिकता आदि समस्त पृथक्तावादी और विघटनकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध है। साम्यवादी दल चाहता है कि भारत के सभी प्रदेशों का एक-सा विकास हो तथा समस्त भाषायी वर्गों के साथ एक-सा व्यवहार किया जाए क्योंकि इसमे भारत की एकता की नीव सुदृढ होगी।

१९६७ के ग्राम चुनाव सम्बन्धी इस दल के घोषण-पत्र मे तात्कालिक उपायो पर जोर दिया गया है। दल के कार्यक्रम की मोटी-मोटी बातें हैं—विदेशी एकाधिकारो (monopolies) का अन्त, विदेशी व्यापार का राष्ट्रीयकरण, पचवर्षीय योजनाओं के स्थान पर अधिक अग्रवाही जनता की योजनाएँ लागू करना, बैंको को राष्ट्रीय अधिकार मे लाना, टैक्सो की नयी प्रणाली और एक निश्चित न्यूनतम मजदूरी का वचन।

साम्यवादी दल पचशील के सिद्धान्त पर आधारित विदेश नीति का समर्थन करता है। वह पूर्ण स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर समस्त देशों के बीच सहयोग एव शान्ति का आकाक्षी है। यह दल उपनिवेश मे रहने वाले और परतन्त्र लोगों द्वारा किए गए साम्राज्यवादियो के विरुद्ध सग्राम का समर्थन करता है यद्यपि साम्यवादियो की एक भारी सख्या ने चीन के भारत के सम्बन्ध मे साम्राज्यवादी उद्देश्य पर सहानुभूति प्रकट की थी।

साम्यवादी दल का प्रेरक और पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त मार्क्सवाद और लेनिनवाद है।

भारतीय साम्यवादी दल (C P.I.) अपने उद्देश्य और ध्येय की प्राप्ति के लिए जिस मार्ग को ग्रहण करता था; वह कुछ दिन पहले तक तो पुराना वही आन्दोलन और प्रत्यक्ष कार्रवाई का मार्ग था अर्थात् हड़ताल, तोड़-फोड़ आदि; और उक्त उपाय मार्क्स और लेनिन की शिक्षाओं के अनुरूप ही थे। किन्तु आजकल सोवियत साम्यवादी दल की नीति में आकाश-पाताल का अन्तर है। अब यह स्वीकार किया जाता है कि शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा भी समाजवादी व्यवस्था लाई जा सकती है; और जिस देश मे ससदीय शासन-

किया जाना था, माँग की थी। यह भी कहा गया था कि स्वतन्त्र उद्योगों के लिए पर्याप्त अवसर का विधान होना चाहिए। १९५७ के आम चुनावों में इस बात को निर्वाचन घोषणा-पत्र का नारा बनाने का भी सुझाव दिया था। कार्यकारिणी ने निर्वाचकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए केवल आर्थिक प्रश्नों को ही चुनाव प्रचार का आधार बनाने का निर्णय किया था। क्योंकि वह दूसरी पचवर्षीय योजना के द्वारा राज्यों के हाथों केन्द्रीभूत होने वाली आर्थिक शक्ति के कारण अन्तर्वर्ती सर्वाधिकार प्रवृत्ति की ओर निर्वाचकों का ध्यान दिलाना चाहती थी।

जनसघ के कार्यक्रम मे मुख्य बाते निम्नलिखित हैं—(१) एकात्मक राज्य की माँग, लेकिन इसके साथ ही सत्ता का निम्नतम धरातलों तक विकेन्द्रीकरण हो; (२) विधान परिषदों का अन्त; (३) प्रशासन का इस प्रकार पुनर्गठन कि उसमें से अयोग्यता, भ्रष्टाचार और लाल फीताशाही समाप्त हो जाए; (४) न्याय को सस्ता, द्रुत और सब के लिए सुलभ बनाना; (५) आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना जिसमे सबका विकास हो सके और किसी के शोषण की सभावना न रहे; (६) लघु उद्योगो को समस्त औद्योगिक नियोजन का आधार बनाना; (७) बुनियादी और प्रतिरक्षा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण; (८) खान, चाय, बागान, काफी, रबर और उन उद्योगों का भारतीय-करण जो इस समय मुख्यतः विदेशियो के हाथो मे हैं; (९) उद्योगो के प्रबन्ध और लाभों में मजदूरो का समान रूप से भागीदार होना, (१०) सभी नागरिकों को निम्नतम जीवन-स्तर की गारंटी देना, अधिक-से-अधिक मासिक आय २,००० रु० तथा कम-से-कम मासिक आय १०० रु० निश्चित करना, (११) विक्रय कर का अन्त; (१२) सभी तरुणों को सैनिक शिक्षा; (१३) विभाजन का अन्त करना और अखड भारत की स्थापना। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे जनसघ किसी भी गुट के साथ न मिलने की नीति का समर्थन करता है। उसके मत से भारत को ऐसे किसी मामले मे नही पड़ना चाहिए जिससे उसका सीधे सम्बन्ध न हो।

इस दल ने १९६७ के आम चुनाव में अपने घोषणा-पत्र मे राष्ट्रीय एकता की भावना को मजबूत करने और *एकात्मक (Unitary) शासन स्थापित* करने पर जोर दिया। यह दल मिली-जुली अर्थ-व्यवस्था मे विश्वास रखता है और प्रत्येक भारतीय के लिए एक न्यूनतम जीवन-स्तर की गारण्टी का समर्थक है। यह किसी भी भारतीय की मासिक आय २००० रुपए से अधिक नही रहने देना चाहता। विदेश नीति में यह दल परस्पर हितों को ध्यान मे रखकर सभी देशों के साथ सम्बन्ध रखने के हक में है परन्तु चीन और पाकिस्तान के साथ तब तक राजनीतिक सम्बन्ध नही चाहता जबतक वे भारत का इलाका न छोड जाएँ। जनसंघ का विश्वास है कि अन्ततः भारत और पाकिस्तान फिर एक हो जाएँगे।

स्वतन्त्र पार्टी—स्वतन्त्र पार्टी के जन्म को अब पाँच साल हो गए हैं। देश के राजनीतिक जीवन मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है क्योंकि इसे केन्द्र और राज्य विधानमण्डलों में ससदीय पद प्राप्त हो गया है। स्वतन्त्र पार्टी ने प्रारम्भ से ही राष्ट्र

पारित प्रस्ताव में कहा गया था, "साम्यवादी दल भारत सरकार की विदेश नीति का समर्थन करता है और उसको सशक्त करने के लिए निरन्तर कार्य करता है।" 'योजना का सकट' नामक एक अन्य प्रस्ताव में कहा गया था, "हम इस अतिशयोक्तिपूर्ण दावे को अस्वीकार करते है कि योजना समाजवाद का निर्माण करेगी तथापि हम योजना की उन विशेपताओं जैसे भारी उद्योगो पर वल, राज्य क्षेत्र का विस्तार, भूमि-सुधार पर अधिक जोर, सामाजिक कल्याण पर अधिक व्यय का समर्थन करते है।" वर्तमान संकट मे दल ने देश की रक्षा के सम्वन्ध मे सरकार को सब प्रकार से समर्थन प्राप्त कराया है।

भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सिस्ट)—१९६१ की विजयवाड़ा कांग्रेस के पश्चात् भारतीय साम्यवादी दल में दो धड़े हो गए और दल के उग्रवादी धड़े ने भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सिस्ट) के नाम से एक अलग दल की स्थापना कर ली। यह दल अपने आपको ही सच्चा साम्यवादी मानता है और इसका मत है कि उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार होना चाहिए जो प्रोलतारी (Proletarian) शासन द्वारा ही सम्भव है जिसमे कामगारो का नेतृत्व हो। यह दल वर्तमान व्यवस्था को बन्धो, घेरावो अथवा विद्यार्थी आन्दोलन द्वारा समाप्त करके एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था लाने के लिए कृतसकल्प है जिसमे भूमि को भूमिहीनों मे मुफ्त वांट दिया जाएगा, कृपको के कर्जे मुआफ कर दिए जाएँगे, अमेरिका से आर्थिक सहायता लेना वन्द कर दिया जाएगा, विदेशों को कर्जो की अदायगी नही की जाएगी और विदेशी व्यापार का राष्ट्रीयकरण हो जाएगा। यह दल अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धो मे चीन और भारत मे साझे तथा अमेरिका के विरोध करने का समर्थक है और पाकिस्तान के साथ सव विवादग्रस्त मामलो मे शान्तिपूर्ण समझौता करने के हक मे है।

भारतीय जनसंघ (The Bharatiya Jan-Sangh)—स्वतन्त्र भारत के प्रथम महानिर्वाचन के पूर्व स्वर्गीय डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व मे भारतीय जनसघ का जन्म हुआ। जनसघ वास्तव मे राष्ट्रीय स्वय सेवकसघ का ही अगहै, और इस सगठन में राष्ट्रीय स्वय सेवक संघ के कार्यकर्त्ता हैं अथवा वे लोग हैं जो एक देश, एक सस्कृति और एक राष्ट्र मे विश्वास करते है। जनसघ को प्रथम महानिर्वाचन मे सफलता नही मिली और वह लोक सभा में ३ तथा राज्य विधानमण्डलो में केवल ३४ स्थान ही प्राप्त कर सका। दूसरे निर्वाचन मे जनसघ को लोक सभा मे ४ और राज्य-विधानमण्डलो में ४६ स्थान प्राप्त हुए। उसने वम्बई मे ४, मध्य प्रदेश मे १०, पंजाव मे ९, राजस्थान में ६, उत्तर प्रदेश मे १७ स्थान प्राप्त किए।

१९५६ के प्रारम्भ मे हिन्दू महासभा, राम राज्य परिषद् और भारतीय जनसंघ के विलय की चेष्टा की गई थी, पर वह सफल न हो सकी। सघ के मुख्य सचिव (General Secretary) ने कहा था कि इन दलों के विलय से वने हुए दल के कारण भारत के समग्र नागरिकों के लिए दरवाजे खुल जाएंगे।

अक्तूवर, १९५६ में पूना मे सघ की कार्यकारिणी ने राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों के विकेन्द्रीकरण की जो कि छोटे और घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन देने के द्वारा

स्वतन्त्र पार्टी लोकतन्त्र में अपना अडिग विश्वास प्रकट करती है। वह भारत में उसी संविधान के अनुसार शासन चाहती है, जैसा कि १९५० में बना था। वह विधि के शासन की पूरी तरह से रक्षा करेगी और लोगों को प्रतिबन्धहीन मूल अधिकार प्रदान करेगी। वह धार्मिक स्वतन्त्रता, अनियन्त्रित पारिवारिक जीवन और सम्पत्ति, सामाजिक दृष्टि से वाछनीय विनियमनों के अधीन स्वतन्त्र, आर्थिक गतिविधि का अधिकार अक्षुण्ण रखेगी। योजना आयोग का कार्य केवल योजना निर्माण तक ही सीमित रहना चाहिए और उसे जनता के प्रति उत्तरदायी रहना चाहिए। इसको अधिकारयुक्त दल-नेतृत्व का साधन बन कर देश की जनता पर शासन करने की आज्ञा दी जानी चाहिए।

इस प्रकार, स्वतन्त्र पार्टी आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को स्वीकार करती है। उसके मत से आर्थिक क्षेत्र में सरकार का नियन्त्रण कम-से-कम रहना चाहिए। इससे लोगों के ऐच्छिक क्रिया-कलापो मे वृद्धि होगी, नागरिको को अपनी प्रतिभा के विकास का समुचित अवसर प्राप्त होगा और लोकतन्त्र का आधार सबल होगा। श्री राजगोपालाचारी के शब्दो मे, "स्वतन्त्र पार्टी देश मे धर्म का शासन स्थापित करने का प्रयास करेगी।" उनके विचार से सही कार्य करना, अन्तरात्मा के अनुसार कार्य करना ही धर्म है।

श्री राजगोपालाचारी के अनुसार पार्टी ने विदेश नीति के सम्बन्ध में जानबूझ कर मौन रखा है। इस समय विदेश नीति के सम्बन्ध मे पार्टी का प्रत्येक सदस्य अपने विचार रखने को स्वतन्त्र है। हाल ही मे श्री राजगोपालाचारी ने तटस्थता की नीति की बड़ी कड़ी आलोचना की है और उन्होंने चीन के आक्रमण को हटाने के लिए अमरीका और इंग्लैण्ड के ऊपर निर्विवाद विश्वास करने के लिए कहा है।

आगामी दो सामान्य निर्वाचन ही यह सिद्ध कर सकेंगे कि स्वतन्त्र पार्टी कितने गहरे पानी मे है। लेकिन इस पार्टी की कठोर आलोचना की गई है और इसे 'प्रतिगामी अनुदार तथा पिछडा हुआ' बताया गया है। कहा गया है कि यह पार्टी केवल "भूतकाल मे विश्वास रखती है और इसका वर्तमान से कोई सम्बन्ध नही है।"[1] श्री जवहरलाल नेहरू ने ७ जुलाई, १९५९ की अपनी प्रेस कान्फ्रेंस में कहा था कि स्वतन्त्र पार्टी स्वतन्त्र उद्यम की नीति का राजनीतिक रूप है। १२ अक्तूबर, १९५९ को विजयवाडा में भी श्री नेहरू ने फिर कहा था कि यदि सेवा सहकारी समितियों और सयुक्त कृषि के सम्बन्ध मे देश ने स्वतन्त्र पार्टी का अनुसरण किया, तो वह विनष्ट हो जाएगा।

स्वतन्त्र पार्टी की नीति के तीन मुख्य सूत्र है। कृषि के क्षेत्र में पार्टी किसान को यह अधिकार देती है कि वह राज्य की ओर से बिना किसी बाधा का सामना किये जमीन पर अपना स्वामित्व रख सके और खेती कर सके। उद्योग के क्षेत्र में पार्टी यह चाहती है कि राज्य केवल ऐसे उद्यमो को अपने हाथ मे ले जिन्हे गैर-सरकारी लोग नही चला सकते। सरकारी और गैर-सरकारी व्यापार-क्षेत्र में पारस्परिक प्रतियोगिता का भाव नहीं होना चाहिए, प्रत्युत् एक-दूसरे की पूर्ति का भाव होना चाहिए। अशतः, दल चाहता

1. Jawaharlal Nehru, Press Conference, August 7,1959.

के राजनीतिक जीवन का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। इस दल के संस्थापक का विश्वास है कि इसका भविष्य उज्ज्वल है। इसके समर्थकों का यकीन है कि यह दल देश को कांग्रेस के "निम्न सर्वाधिकारवाद" से बचा लेगा। २ अगस्त, १९५९ को बम्बई में दल के प्रारम्भिक सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए श्री के० एम० मुन्शी ने कहा था, "धीरे-धीरे हम नग्न सर्वाधिकारवाद की ओर जा रहे है। एक समय सहकारी गणराज्य का नारा दिया गया था बाद मे वह 'समाजवादी ढग के समाज' के रूप मे बदल दिया गया। पता नही, आगे का चरण क्या होगा।" स्वतन्त्र पार्टी के निर्माण के कारणो का विश्लेषण करते हुए श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने कहा था, "हमारा विचार है कि कांग्रेस कम्युनिस्ट होती जा रही है और कांग्रेस शासक धर्म के मूल्य को कम कर रहे है तथा धन और सम्पत्ति के मूल्य को वढा रहे है।"

स्वतन्त्र पार्टी के जन्म का तात्कालिक कारण कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन का कृषि सम्बन्धी प्रस्ताव है जिसने लोगो को नाराज कर दिया और जिसके फलस्वरूप दल की स्थापना हुई। इस दल की मूल प्रवृत्ति सैद्धान्तिक नही प्रत्युत् आर्थिक है। श्री मुंशी ने ११ मार्च, १९६० को पटना मे पार्टी के राष्ट्रीय सम्मेलन मे कहा था, "शासक दल की नीतियो का पहला शिकार जनसाधारण हुआ है। उसकी बुनियादी आवश्यकताएँ भी पूरी नही हो पाती है, जिसके सामने खाने का संकट हमेशा ही बना रहता है। खाद्य के उत्पादन की न तो योजना ही ठीक है, न अनुमान ही ठीक है और न आर्थिक व्यवस्था ही ठीक है। एक ओर तो यह अनिश्चितता है, दूसरी ओर चीजों की कीमतें निरन्तर बढ़ती जा रही है।" श्री मुन्शी के अनुसार, इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के कारणो को खोज निकालना कठिन नही है। "शासक दल के लोग एक ही प्रकार के विकास को समस्त बुराइयो का अचूक इलाज समझते थे—साम्यवादी ढंग पर केन्द्रीय नियोजन, निदेशन और नियन्त्रण के अधीन ऊपर से थोपा गया उद्योगीकरण।" श्री मुन्शी ने आगे चल कर कहा कि योजना आयोग नामनिर्देशित होते हुए भी सरकार से भी अधिक शक्तिशाली है। वह ससद् के प्रति उत्तरदायी नही है, फिर भी सब प्रकार के लोक-कल्याणकारी कार्यो का नियोजन, नियन्त्रण और विनियमन करता है। राज्यो मे बनाए गए विधान भी इसके द्वारा स्वीकृत कराए जाने पडते थे।

इस प्रकार ससदीय शासन सीमित हो जाता है। शक्ति और उपक्रम दल के नेताओ के हाथो में केन्द्रित है। यह पूरी तरह से सर्वाधिकारवाद है। श्री मुन्शी के शब्दो मे, "जब कांग्रेस ने लोकतन्त्र को त्यागा, हमने कांग्रेस को त्याग दिया।"[1] प्रशासन बहुत ही अव्यवस्थित ढंग से चल रहा है जिससे आर्थिक प्रयत्नों की स्वतन्त्र गति मे बाधा पड़ती है। राज्य-नियन्त्रित भारी उद्योगो और राज्य-क्षेत्र के विस्तार ने गैर-सरकारी उद्यम को शिथिल कर दिया है। भ्रष्टाचार निरन्तर बढ़ता जा रहा है और लोग सरकार के ऊपर अधिकाधिक निर्भर होते जा रहे हैं।

---

१. २१ मार्च, १९६० को पटना में स्वतन्त्र पार्टी के राष्ट्रीय सम्मेलन मे श्री के० एम० मुन्शी का भाषण, हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, २२ मार्च, १९६०।

नेहरू जी ने ऐसी लहर फूक दी है जिससे कॉंग्रेस सरकार ने ऐसी पंचवर्षीय योजनाओं का सूत्रपात किया है जिनका आदर्श है देश में समाजवादी समाज की स्थापना करना। सत्य यह है कि नेहरू जी कॉंग्रेस थे; और कॉंग्रेस ही नेहरू की वाणी थी। नेहरू जी का गतिशील व्यक्तित्व उनकी मृत्यु मई, १९६६ से पूर्व सारे देश की राजनीति पर छाया हुआ था, विरोधी दलो के सदस्य भी मुक्त कण्ठ से नेहरू जी की प्रशंसा करते थे। भारतीय साम्यवादी दल की नीति में परिवर्तन और उसका नेहरू सरकार की विदेश नीति के प्रति समर्थन; और द्वितीय पंचवर्षीय योजना एवं अन्य कई प्रस्तावों और उद्देश्यों के प्रति सरकार और साम्यवादियों मे मतैक्य—ये सब ऐसे तथ्य है जिन्होने कांग्रेस और साम्यवादियों के बीच के विभेदो की दीवार को छाँट दिया है, और विशेषरूप से जब साम्यवादी यह कहने लगे हैं कि समाजवादी व्यवस्था शान्तिपूर्ण उपायो के द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है और सामाजिक विकास के नियम सभी देशो मे समान नही है, तो निश्चित रूप से यह सब नेहरू और कॉंग्रेस की महान् सफलता का द्योतक है। प्रजा समाजवादी दल और कॉंग्रेस का भेद अभी स्पष्ट नही है। स्वतन्त्र पार्टी को देश के ससदीय जीवन मे अभी स्थान प्राप्त करना है।

इस प्रकार, विरोधी दल के द्वारा, शासन की गृह-नीति और विदेश नीति की सराहना, वास्तव मे संसदीय लोकतन्त्र के लिए एक अनहोनी-सी चीज है। और कॉंग्रेस के अतिरिक्त किसी अन्य दल का न तो सर्वसाधारण पर इतना प्रभाव है और न सर्वसाधारण में इतना मान है। सत्तारूढ़ दल होने के कारण, कॉंग्रेस को अन्य दलों की अपेक्षा अधिक प्रचार सुविधाएँ हे और उसके आर्थिक स्रोत भी अन्य दलो की अपेक्षा अच्छे है। इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कॉंग्रेस का सगठन सारे देश मे जाल की तरह फैला हुआ है। और यह सगठन सुदृढ़ और सुव्यवस्थित है। कॉंग्रेस का सदेश और काग्रेस सरकार की सफलताओं के भारत के कोने-कोने मे डके पिट रहे है। इसलिए स्वाभाविक ही है कि इस समय कॉंग्रेस ही देश की राजनीति पर छाई हुई है। निश्चित है कि अभी कुछ वर्षो तक तो कॉंग्रेस की ही तूती बोलेगी। विरोधी दल भी ऐसा ही समझते है।

संगठित विरोधी दल का अभाव (Absence of Effective Opposition-)—भारतीय राजनीति में यह भी आश्चर्यजनक विशेपता है; और सम्भवतः यह काग्रेस की लोकप्रियता का आवश्यक परिणाम है कि देश मे, कॉंग्रेस के विरोध मे प्रभावी और संगठित विरोधी दलो का पूर्ण अभाव है। बिना शक्तिशाली और सगठित विरोधी दल के लोकतन्त्र अधिनायकवाद से अधिक भयावह बन सकता है।

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने गाँधीग्राम के नवे समारोह के समय काग्रेस के प्रति "स्वस्थ और सुगठित विरोधी दल" की आवश्यकता पर ठीक ही बल दिया था। उन्होंने कहा था कि "इस प्रकार के विरोधी दल के अभाव मे काग्रेस सब प्रकार की महत्त्वाकाक्षाओं और स्वार्थों की पूर्ति का साधन बन गई है।" जनसाधारण को इस बात की अच्छी जानकारी है कि पिछले कुछ वर्षों मे कांग्रेसियो के नैतिक स्तर मे बहुत

है कि देश का शासन १९५० में निर्मित मूल संविधान के अनुसार चले। लोगों को व्यापार और सेवानियोजन के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए और यदि सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए कोई सम्पत्ति अर्जित की जाए, तो सम्पत्ति के स्वामी को उसका उचित प्रतिकर प्राप्त होना चाहिए। वस्तुतः, इस नीति को व्यक्तिवाद की नीति नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, यह कहना भी बिल्कुल गलत है कि कांग्रेस की नीति साम्यवादी हो गई है। यदि राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार को साम्यवाद कहा जाए, तो फिर इंग्लैण्ड को भी साम्यवादी मानना होगा। तथापि स्वतन्त्र पार्टी ने कांग्रेस की दुर्बलताओं का जो उद्घाटन किया है वह सही है। स्वतन्त्र पार्टी का कार्यक्रम अभी स्पष्ट नहीं है सिवाय इसके कि वह सहकारी कृषि के विरुद्ध है। वास्तव में, यह पार्टी कांग्रेस के नागपुर प्रस्ताव की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुई है। आजकल सरकार की हर नीति की, चाहे वह ठीक हो अथवा गलत निन्दा करना स्वतन्त्र पार्टी अपना कर्त्तव्य समझती है। श्री राजगोपालाचारी देश के राजनीतिक क्षेत्र में अब एक अत्यन्त विवादास्पद व्यक्ति बन गए हैं।

भारतीय राजनीतिक दल व्यवस्था की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ
(Some Important Features of the Indian Party System)

एक दल की प्रधानता (The Dominance of a Single Party)—भारतीय राजनीतिक दल-व्यवस्था की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि केन्द्र और राज्यों में उड़ीसा को छोड़ कर जहाँ संयुक्त सरकार है, कांग्रेस की ही प्रधानता है और सभी लोगों ने कांग्रेस के प्रति प्रेम और भक्ति का भाव प्रदर्शित किया है। इसके कई कारण हैं। देश की स्वतन्त्रता की लड़ाई में जिन अनेकों शहीदों ने प्राण त्याग किए, उन्हीं के खून और हड्डियों के ढाँचे पर कांग्रेस का निर्माण हुआ; इसलिए भारतीय सर्वसाधारण की निगाहों में कांग्रेस के प्रति महान् आदर है। वे समझते हैं कि कांग्रेस उन करोड़ों ज्ञात और अज्ञात हुतात्माओं की पवित्र यादगार है जिन्होंने कांग्रेस के तिरंगे के नीचे भारत माता की स्वतंत्रता की खातिर अपना सभी कुछ बलिदान कर दिया। कांग्रेस ने ही ब्रिटिश भारतीय सरकार का उत्तरदायित्व सँभाला; और महान आपात के काल में कांग्रेस ही स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश को सुरक्षित रूप से बचा ले गई; और यह कांग्रेस के त्याग और गौरव का सूचक है कि उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप नया शिशु-भारत-राज्यरूपी जहाज मुसीबत के झंझावातों से साफ बचाकर किनारे लगा दिया गया। कांग्रेस की पुरानी सफलताओं को देखते हुए अब भी लोगों को कांग्रेस में विश्वास है। और जिन लोगों के हाथों में देश और शासन की बागडोर है, वे ऐसे त्यागी कर्मनिष्ठ राजनीतिज्ञ हैं जिनके देश-प्रेम, सचाई, ईमानदारी और राजनीतिक योग्यता की भारी धाक है। जहाँ गांधीजी और उनकी कांग्रेस ने देश को आजादी दिलाई, नेहरू जी और उनकी सरकार ने देश को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुख स्थान दिला दिया है। जहाँ गांधीजी ने कांग्रेस में क्रांति की लहर फूक दी और उसे स्वतन्त्रता की लड़ाई का सेनामुख बनाया,

अलीगढ़ कान्फ्रेंस में मुस्लिम नेताओं ने फिर पुरानी साम्प्रदायिक जहनियत का प्रदर्शन किया। २८ दिसम्बर, १९५५ को प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने कालीकट में एक सार्वजनिक सभा में कहा—"मुझे बताया गया है कि मालावार में मुस्लिम लीग के वंशज अभी मौजूद हैं। यह आश्चर्य की बात है कि लीग जैसा बदनाम सगठन, जिसने भारत की आजादी के मार्ग में रोड़े अटकाए और भारतवासियों को अपार कष्ट दिए, पुनः मालाबार में अपना कृष्ण मुख चमका रहा है।"[1] यह और भी अधिक आश्चर्य की बात है कि केरल में १९६० के निर्वाचनों में कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ समझौता किया। पंजाब में अकाली दल ने फिर अपना सर उठा लिया है। अकाली नेता मास्टर तारासिंह के अनुसार सिक्खों की दृष्टि में धर्म और राजनीति अभिन्न है। इधर सिक्खो ने भी पंजाब में पंजाबी सूबे की मांग की थी क्योंकि "पंजाबी सूबे के बनने से न तो किसी सम्प्रदाय को किसी अन्य सम्प्रदाय के अधीन रहना पड़ेगा और इससे भाषा की समस्या भी हल हो जाएगी।"[2]

भारत में न तो ससदीय लोकतन्त्र सफल होगा और न धर्मनिरपेक्ष आदर्श प्राप्त किया जा सकेगा, यदि साम्प्रदायिक तत्त्वों को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाएगी और साम्प्रदायिक दल इसी प्रकार देश के राजनीतिक वातावरण को दूषित करते रहेंगे और 'हिन्दू राष्ट्र' जैसे पुराने और सिरफिरे विचारों का प्रचार करते रहेंगे। साम्प्रदायिक दल औचित्य का अतिक्रमण करते हैं और विचार-स्वातन्त्र्य का नाश करते हैं। ऐसे दल एक नागरिक और दूसरे नागरिक के बीच द्वेषपूर्ण विभेद मानते हैं; और वे असहिष्णु, आक्रात्मक और उद्दण्ड होते हैं, वे देश की एकता और स्थिरता का नाश करते हैं। यदि भारतीयों को उन्नतिशील और लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र के रूप में सगठित करना है तो हमें अपने साम्प्रदायिक विचारों पर पुनर्विचार करना ही होगा। हमारे राष्ट्र में सभी विश्वासों और सभी धर्मों के व्यक्ति निवास करते हैं और लोकतन्त्र मनुष्यों में भेद नहीं करता। सभी नागरिकों के समान अधिकार हैं और समान विशेषाधिकार है।

बहुदल पद्धति (The Multiple-Party System)—चूंकि भारत में कई साम्प्रदायिक दल हैं और सशक्त एव संगठित विरोधी दल का अभाव है, इसलिए अनेकों राजनीतिक दलों की मानो बाढ़-सी आ गई है। केवल लोक सभा में ही अनेकों राजनीतिक दल हैं। इसके अतिरिक्त बहुत-से निर्दल सदस्य भी हैं। भारत एक विशाल देश है, जिसमें विभिन्न लोग निवास करते हैं, जिनकी अलग भाषा है और जिन्हें अपनी-अपनी संस्कृतियों पर अभिमान है। ऐसे देश में इतने अधिक राजनीतिक दलों और समुदायों का उद्भव भविष्य के लिए कष्टकारी होगा क्योंकि इससे लोगों में प्रान्तीय और क्षेत्रीय भावना का जोर होगा और पृथकतावादी हितों को प्रोत्साहन मिलेगा। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय मतैक्य समाप्त हो जाएगा। इसके अतिरिक्त बहुसख्यक दलों

1. *The Tribune*, Ambala Cantt., December 20, 1955, p. 10.

2. ११ फरवरी, १९५६ को अकाली कान्फ्रेंस के अमृतसर अधिवेशन के अवसर पर मास्टर तारासिंह ने जो अध्यक्ष पद से भाषण दिया था, उसे देखिये।

गिरावट आ गई है। प्रायः सभी राज्यो मे कांग्रेस सगठन में फूट पैदा हो गई है और विभिन्न गुटों में सत्ता हथियाने के लिए संघर्ष चलता रहता है। कहावत है कि यदि विरोधी दल नही है तो ऊंचा लोकतन्त्र भी नही है। विरोधी दल वह है जो सत्तारूढ़ दल का विरोध करे, उसकी कमजोरियों पर आक्षेप करे और यदि सम्भव हो तो उसको पदच्युत कर दे। विरोधी दल सदैव इस ताक मे रहता है कि सरकार की या व्यक्तिगत मन्त्रियों की गलतियों पर आक्षेप करे और इस प्रकार सामान्य जनमत उनके विरोध में उभारे। विरोधी दल अपने इस कर्तव्य का धैर्यपूर्वक निर्वहन करता रहता है; और यह, ससदीय शासन-प्रणाली मे, भ्रष्टाचार को रोकने के लिए और कुशासन को वदलने के लिए अत्यन्त प्रभावी अंकुश है। यही वह साधन है जिसके द्वारा व्यक्तिगत अन्याय का निराकरण हो सकता है। यदि किसी देश में उत्तरदायी और सहानुभूतिपूर्ण शासन की सृष्टि करनी है, तो उस देश के शासन मे आलोचना का आदर करना ही होगा। आलोचना सहन करने वाला शासन उन्मुक्त और ईमानदारी पूर्ण शासन करता है। ऐसा शासन, आलोचना के जवाव मे विरोधियो का दमन नही करता; अपितु वह विवेकयुक्त तर्कों से विरोधियो को समझाने का प्रयत्न करता है, किन्तु उक्त विवेकयुक्त तर्कों के पीछे जनमत का समर्थन होना चाहिए। यदि कोई शासन विरोध को सहन करने के लिए तैयार नही है, तो वह स्वयं खतरा मोल लेता है। इसलिए ससदीय शासन-प्रणाली के लिए विरोधी दल पूर्णतः अपरिहार्य है, अत. यह वहुत आवश्यक है कि यदि भारत मे शक्तिशाली संसदीय लोकतन्त्र की स्थापना वाछनीय है, तो शक्तिशाली विरोधी दल वनाना ही होगा। सत्तारूढ दल का भी यह कर्तव्य है कि वह अपने राजनीतिक दायित्वों को पूरा करे क्योंकि शासन के बाद दूसरा दर्जा विरोधी दल का है।

साम्प्रदायिक दल (The Communal Parties)—भारतीय राजनीतिक रंगमच पर एक अन्य महत्त्वपूर्ण विकास यह हुआ है कि साम्प्रदायिक भावनाओं को उभार मिला है और साम्प्रदायिक दलों को प्रश्रय मिला है। साम्प्रदायिक दलों का जन्म ब्रिटिश सरकार का उपहार था, और ऐसा विश्वास किया जाता था कि अग्रेजों के चले जाने के पश्चात् और भारत मे धर्मनिरपेक्ष राज्य स्थापित हो जाने के पश्चात् साम्प्रदायिकता का विष दूर हो जाएगा; और सभी साम्प्रदायिक दल स्वतः समाप्त हो जाएँगे। पिछले महानिर्वाचन मे साम्प्रदायिक दलो को विलकुल सफलता नही मिली और निर्वाचकों ने निश्चित रूप से धर्मनिरपेक्ष दलो को अधिक मत दिए। किन्तु पूर्वी पाकिस्तान से वहुत वड़ी संख्या में हिन्दुओ को निकाला जा रहा है। इस कारण हिन्दू सम्प्रदायवादियों को यह वहाना मिल गया है कि वे अपनी गतिविधियों को वढ़ावें और इस प्रकार हिन्दुओ के वास्तविक मित्र वनने का दावा करें। हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ ने हिन्दू राष्ट्र का नारा वुलन्द किया है और श्री एन० सी० चटर्जी (Shri N. C. Chatterjee) कहते हैं कि हिन्दू राष्ट्र का विचार शुभ है।[1] यद्यपि मुस्लिम लीग का अस्तित्व समाप्त हो चुका था, फिर भी वह पुनरुज्जीवित हो चुकी है और

1. चटर्जी का "नेहरू के नाम जवाव" (*The Tribune*, Ambala Cantt; April 12, 1956, p. 5.

अध्याय १४

क्षेत्रीय परिषदें

(ZONAL COUNCILS)

क्षेत्र और क्षेत्रीय परिषदें (Zones and Zonal Councils)—राज्य पुनर्गठन अधिनियम ने राज्यों और संघ प्रदेशों (Union territories) को पांच क्षेत्रों में विभाजित किया था और प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक क्षेत्रीय परिषद् की योजना की थी। किन्तु संघ के प्रदेशों में नदर्य अण्डमान, निकोबार, लकादीव, मिनिकॉय और अमिनिदिव द्वीप सम्मिलित नहीं किये गये थे। निम्न पांच क्षेत्र थे—

(क) उत्तरी क्षेत्र जिसमें पंजाब, राजस्थान, जम्मू और कश्मीर राज्य होंगे तथा दिल्ली और हिमाचल प्रदेश होंगे।

(ख) मध्य क्षेत्र जिसमें उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के राज्य होंगे।

(ग) पूर्वी क्षेत्र जिसमें बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, असम राज्य होंगे तथा मणिपुर एवं त्रिपुरा होंगे।

(घ) पश्चिमी क्षेत्र जिसमें केवल बम्बई और मैसूर का राज्य होगा।

(ङ) दक्षिणी क्षेत्र जिसमें आंध्र, मद्रास, मैसूर और केरल के राज्य होंगे। १ मई, १९६० को बम्बई का विभाजन हो जाने से अब पश्चिमी क्षेत्र में गुजरात, महाराष्ट्र और मैसूर राज्य होंगे।

१९६० में बम्बई के विभाजन के फलस्वरूप अब पश्चिमी क्षेत्र में गुजरात, महाराष्ट्र तथा मैसूर राज्य हैं। इसी प्रकार पंजाब के पुनर्गठन के पश्चात् उत्तरीय क्षेत्र में पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, जम्मू-कश्मीर तथा देहली और हिमाचल प्रदेश के संघीय प्रदेश शामिल हैं।

क्षेत्रीय परिषदों के विचार का जन्म (Birth of the idea of Zonal Councils)—जिन स्थितियों में किसी नए विचार का जन्म होता है, उन्हीं परिस्थितियों के अनुसार उस विचार को पुष्टि मिलती है। राज्य पुनर्गठन आयोग के प्रस्तावों पर भाषावार प्रान्तों के आन्दोलनकारियों ने जिस काली और भद्दी जहनियत का प्रदर्शन किया उसी का परिणाम क्षेत्रीय परिषदों का विचार था। २१ दिसम्बर, १९५५ को राज्य पुनर्गठन आयोग के प्रतिवेदन पर अपना भाषण समाप्त करने से पूर्व लोक सभा के मंच पर पं० जवाहरलाल नेहरू ने उस समय सदन को आश्चर्यचकित कर दिया जब उन्होंने कहा कि राज्यों के पुनर्गठन के पश्चात् समस्त देश को चार या पांच क्षेत्रों में बांट दिया जाएगा; और प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक क्षेत्रीय परिषद् होगी जो सभी लोगों को सहकारिता के आधार पर सोचने और कार्य करने की प्रेरणा देगी। प्रधान मन्त्री ने इस सम्बन्ध में अपने विचारों को भी स्प

के कारण षड्यन्त्रों को प्रश्रय मिलता है; और यदि क्षेत्रों और सम्प्रदायों के आधार पर परस्पर-विरोधी दलों में समझौते के द्वारा संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनता है; तो ऐसा मन्त्रि-मण्डल कमजोर होगा और अस्थायी होगा। इसलिए यह अत्यन्त युक्तियुक्त होगा, यदि विभिन्न राजनीतिक दल अपनी नीतियों और विधियों को इस प्रकार निर्धारित करें कि देश में द्विदल पद्धति का श्रीगणेश हो; और संसदीय लोकतन्त्र की यही मांग है। इस समय देश का वातावरण इसके लिए अनुकूल है। यदि लोकतन्त्र और समाजवाद में आस्था रखने वाले लोग सहयोग करें, तो द्विदल-पद्धति की स्थापना की सम्भावना पूर्वकाल की अपेक्षा अधिक हो सकती है। और यह भी आशा करनी चाहिए कि भारत के लोगों को राजनीतिक बुद्धि और न्याय्य प्रेरणा मिलेगी ताकि भारत के राजनीतिक रंगमंच से साम्प्रदायिक दल तिरोहित हो सकें।

Suggested Readings

Avasthi, A. : *Political Parties in India*, The Indian Journal of Political Science, Jan.-March, 1951.

Chandrasekharan, C. V. : *Political Parties with special reference to India*

Jha, Chetker : *Future of Indian Political Parties*, The Indian Journal of Political Science, Jan.-March, 1951.

Lal Bahadur : *The Muslim League.*

Malhotra, D. R. : *Task before the Congress*, *The Tribune*, Ambala Cantt. February 11, 1956, Supplement, Indian National Congress, Amritsar Session, p. 10.

Raj Kumar, N. V. : *Indian Political Parties.*

Sitaramayya, P. : *The History of the Indian National Congress*, Vol. I and II.

प्रत्येक ऐसे राज्य के दो-दो अन्य मन्त्री जिन्हें सम्बन्धित राज्य का राज्यपाल नाम निर्देशित करे;

(३) यदि किसी क्षेत्र मे संघ का प्रदेश (Union territory) पड़ता है, तो ऐसे प्रत्येक प्रदेश के लिए एक-एक सदस्य होगा जिसे राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा;

(४) पूर्वी क्षेत्र के सम्बन्ध में वह व्यक्ति भी लिया जाएगा, जो आजकल असम के राज्यपाल का अनुसूचित आदिम जाति क्षेत्रों के लिए परामर्शदाता (Adviser to the Governor of Assam for Tribal Areas) है।

प्रत्येक क्षेत्र के लिए जिस क्षेत्रीय परिषद् का निर्माण होगा, उसमें निम्न परामर्शदाता होंगे––

(क) एक व्यक्ति भारतीय योजना आयोग (Planning Commission) द्वारा नामांकित किया जाएगा;

(ख) सम्बन्धित क्षेत्र में जितने राज्य होंगे, उनमे से सब राज्यों के चीफ सेक्रेटरी; और

(ग) सम्बन्धित क्षेत्र में जितने राज्य होंगे, उनमें सभी राज्यो के विकास कमिश्नर।

परामर्शदाताओं का कर्त्तव्य होगा कि वे क्षेत्रीय परिषदों को उनके कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में परामर्श दे और सहायता करें। यदि क्षेत्रीय परिषद् मे किसी विषय पर विचार-विनिमय होगा तो उस परामर्शदाता को क्षेत्रीय परिषद् के विचार-विनिमय मे भाग लेना होगा, यदि वह परामर्शदाता उक्त परिषद् का सदस्य नाम-निर्देशित कर दिया जाता है। किन्तु परामर्शदाता को परिषद् की सभा में मतदान का अधिकार नहीं होगा, और न उसे किसी समिति मे ही मतदान करने का अधिकार होगा।

समितियां नियुक्त करने का अधिकार (Power to appoint Committees)–– क्षेत्रीय परिषद् यदि चाहे तो समय-समय पर अपने सदस्यों और परामर्शदाताओं के योग से समितियो का निर्माण कर सकेगी और उन समितियों को ऐसे कृत्य करने को सौंपे जा सकते है जैसे कि सकल्प द्वारा विनिश्चित किए जाएँ। परिषद् यदि चाहे तो किसी समिति के साथ कार्य करने के लिए किसी संघ मन्त्री को या किसी ऐसे राज्य के मन्त्री को जो क्षेत्र में सम्मिलित हो, या संघ सरकार के किसी अधिकारी को या राज्य सरकार के किसी अधिकारी को जिस रूप में चाहे, लगा सकती है। क्षेत्रीय परिषद् की किसी समिति से सम्बद्ध किसी व्यक्ति को अधिकार होगा कि वह समिति की कार्रवाई मे भाग ले सकेगा, किन्तु उसे मत देने का अधिकार नही होगा। परिषद् के उन परामर्शदाताओं को भी मत देने का अधिकार नही है, जो समितियों के सदस्य हैं। इस प्रकार नियुक्त की गई समिति कार्रवाई के सचालन के सम्बन्ध में कार्य-प्रणाली सम्बन्धी ऐसे नियमों का आश्रय लेती है, जिन्हें क्षेत्रीय परिषद् समय-समय पर भारत सरकार की स्वीकृति से निर्धारित करे।

रूप से प्रकट किया। उन्होने कहा—"राज्यो के पुनर्गठन के सम्बन्ध में जितना मैंने विचार किया है उतना ही मैं क्षेत्रीय परिषदो के विचार की ओर आकृष्ट हुआ हूँ, यद्यपि पहले, मैं देश को पाँच या छः क्षेत्रों में विभाजित करने के पक्ष मे नहीं था।" किन्तु श्री नेहरू ने यह भी स्वीकार किया कि सारे देश को पहले ही चार-पाँच क्षेत्रों में विभाजित कर देना चाहिए था। आगे चल कर प्रधान मन्त्री ने कहा—"मैं चाहता हूँ कि सदन विचार करे कि क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना सम्भव है। मेरा मतलब यह है कि संसद् राज्यों के पुनर्गठन के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय कुछ भी करे, तो भी हम क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना कर सकते हैं। क्षेत्रीय परिषदों से मेरा मतलब यह है कि तीन या चार-पाँच राज्यो का संगठन बने और उनकी एक क्षेत्रीय परिषद् हो।" प्रारम्भ में क्षेत्रीय परिषद् परामर्शदाता निकाय होंगे। श्री नेहरू ने कहा—"फिर हमें देखना है कि इनका क्या विकास होगा। आर्थिक समस्याओ और सीमा सम्बन्धी विवादो के समाधान के लिए केन्द्रीय सरकार भी इन परिषदों के कार्य में पूरा सहयोग देगी।"

श्री नेहरू ने यह योजना सदन की प्रतिक्रिया जानने के अभिप्राय से प्रस्तुत की थी किन्तु सदन ने इस योजना का स्वागत किया। न केवल सत्तारूढ़ दल ने बल्कि विरोधी दल ने भी स्वीकृति प्रदान की। फलस्वरूप क्षेत्रीय परिषदो का विचार घर कर गया और भारत सरकार ने एक संकल्प पारित किया जो १६ जनवरी, १९५६ को प्रकाशित हुआ। उक्त संकल्प मे राज्य पुनर्गठन आयोग के प्रायः समस्त प्रस्ताव सम्मिलित थे। उक्त संकल्प मे विनिश्चय किया गया कि "नये राज्यो के गठन के साथ भारत सरकार क्षेत्रीय परिषदें स्थापित करना चाहती है। उक्त परिषदें राज्यों के सामान्य हितों की बातों का निर्णय करेंगी और उन आर्थिक समस्याओं पर भी विचार करेंगी जो राज्यो के पुनर्गठन के कारण उठ खड़ी हुई हैं।" भारत सरकार के उक्त संकल्प में क्षेत्रीय परिषदों के क्रिया-कलापों का विशद वर्णन है। राज्य पुनर्गठन अधिनियम भाग ३ ने पाँच क्षेत्रों और क्षेत्रीय परिषदों की रचना तथा उनके कृत्यो की व्यवस्था की है।

अप्रैल २४, १९५७ को उत्तरी क्षेत्र का उद्घाटन हुआ। इस क्षेत्र का प्रधान कार्यालय नई दिल्ली बना। मई १९५७ में इलाहाबाद को प्रधान कार्यालय बनाते हुए मध्य क्षेत्र की स्थापना हुई। अप्रैल ३०, १९५७ को पूर्वी क्षेत्र बना और कलकत्ता इसका प्रधान कार्यालय बना। सितम्बर २०,१९५७ को पश्चिमी क्षेत्र बना। जुलाई १९, १९५७ को दक्षिणी क्षेत्र स्थापित हुआ और इसका प्रधान कार्यालय मद्रास बनाया गया।

क्षेत्रीय परिषदों की रचना (Composition of the Councils)—प्रत्येक क्षेत्र के लिए जो परिषद् बनेगी, उसमें निम्नलिखित सदस्य होंगे—

(१) राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक संघीय मन्त्री;

(२) प्रत्येक क्षेत्र में जितने राज्य होंगे, उनमें से प्रत्येक का मुख्य मन्त्री और

(क) राज्यो के पुनर्गठन या सीमा-विवादो या भाषा सम्बन्धी अल्पमतो या अल्पसंख्यको अथवा अन्तर्राज्यीय परिवहन के सम्बन्ध मे सभी विषय या प्रश्न;

(ख) आर्थिक नियोजन से सम्बन्धित कोई प्रश्न; और

(ग) सामाजिक नियोजन के क्षेत्र मे सभी लोगो और सभी वर्गों के सामान्य हित के सभी प्रश्न।

दो या दो से अधिक क्षेत्रीय परिषदों की सयुक्त बैठको की भी व्यवस्था की गई है।

क्षेत्रीय योजना के मुख्य उद्देश्य (Main Objectives of the Zonal Scheme)—जिस समय भारतीय संविधान तैयार हो रहा था, कुछ राजनीतिक नेताओं की राय थी कि भारत की शासन-व्यवस्था एकात्मक हो न कि संघात्मक। उन्होंने कहा था कि संघवाद के कारण फूट और कलह को प्रोत्साहन मिलेगा, आर्थिक नियोजन कठिन हो जाएगा और प्रशासनिक एकरूपता कठिन होगी। किन्तु संविधान के निर्माताओ ने एकात्मक सविधान के स्थान पर सघात्मक सविधान को अच्छा समझा क्योकि उनके विचार से सघवाद द्वारा ही विभिन्न सामाजिक और सास्कृतिक स्तरो के लोगो मे और देश मे एकता स्थापित की जा सकेगी, और सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण होने से बचा जाएगा। वे सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीकरण को लोकतन्त्रात्मक भावना के विरुद्ध समझते थे। फिर भी वे सघवाद के विरोधियो के विचारो का महत्त्व भी समझते थे। इसलिए उन्होने सघात्मक शासन-व्यवस्था को तो रखा, किन्तु उक्त संघवाद के साथ-साथ अत्यधिक एकात्मक स्वरूप की संघात्मक शासन-व्यवस्था का सूत्रपात किया।

हाल ही मे दो घटनाएँ ऐसी हुई है कि जिनके कारण लोगो ने पुन. एकात्मक शासन की माँग करना प्रारम्भ कर दिया है। एक घटना तो राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट पर भीषण वाद-विवाद और दगों का होना था। द्वितीयतः, अब लोगो मे समझ आई है कि संघ के छोटे-छोटे अवयवी एकक राज्य, देश की विकास योजनाओ की क्रियान्विति में बाधा उपस्थित करते हैं। किन्तु अब एकात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित करने से भी भारत की कठिनाइया हल नहीं होगी। नेहरू जी ने ससद् मे मार्मिक शब्दो मे कहा था कि नि.सदेह भारत मे एकता का नितान्त अभाव है और क्षेत्रीय परिषदों की योजना उस कमी को पूरा कर सकेगी। क्षेत्रीय परिषदे पूर्णतया विचारशील और परामर्शदाता निकाय होगी जो प्रत्येक क्षेत्र के राज्यो मे आर्थिक सहयोग और प्रशासनिक समन्वय की संस्थाओं और प्रथाओं को प्रोत्साहन देंगी। क्षेत्रों में स्थित राज्यों की नई सीमाओं की कठोरता के कारण जो सीमा विवाद और प्रशासनिक असुविधाएँ हो सकती हैं उनको निवटाने मे क्षेत्रीय परिषदों द्वारा पैदा किया हुआ विभिन्न राज्यों मे परस्पर सहयोग और समन्वय अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हो सकता है और अन्तशः उक्त परिषदे पुनर्गठित राज्यो के कारण उठी हुई भाषागत और प्रान्तीय-कुभावनाएँ और द्वेष-भावनाएँ शान्त कर सकेंगी और लोगो

परिषद् का कार्यालय और उसके सेवक (Staff and Office of the Council)—राष्ट्रपति द्वारा नामांकित संघ मन्त्री (Union Minister), क्षेत्रीय परिषद् का सभापति होगा। क्षेत्र में सम्मिलित राज्यों के मुख्य मन्त्री बारी-बारी से परिषद् के उप-सभापति होंगे। अर्थात् प्रत्येक राज्य का मुख्य मन्त्री बारी-बारी से एक-एक वर्ष के लिए एक बार में परिषद् का उप-सभापति होगा। प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् का अपना सचिवालय होगा जिसमें एक सेक्रेटरी या सचिव और एक संयुक्त सचिव तथा कुछ अन्य अधिकारी होगें जिनकी संख्या परिषद् का चेयरमैन निश्चित करेगा। क्षेत्र के अन्तर्ग्रस्त राज्यो के जो मुख्य सचिव क्षेत्रीय परिषद् के सदस्य होंगे, वे ही परिषद् के सचिव होंगे; किन्तु प्रत्येक मुख्य सचिव परिषद् का सचिव बारी-बारी से एक वर्ष के लिए होगा। परिषद् के संयुक्त सचिव पद के लिए उन अधिकारियो में से कोई व्यक्ति परिषद् के चेयरमैन के द्वारा नियुक्त किया जाएगा जो परिषद् में प्रतिनिधित्व प्राप्त किसी राज्य के सेवक न हों। प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् का सचिवालय ऐसे स्थान पर स्थापित किया जाएगा जो क्षेत्र की सीमाओ में हो और जिसे परिषद् स्वीकार कर ले।

परिषद् की बैठक (Meeting of the Council)—प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् सभापति द्वारा आहूत होने पर बैठक में समवेत होगी। यदि परिषद् स्वयं अन्यथा उपबन्धित न करे, तो क्षेत्रीय परिषद् क्षेत्र में सम्मिलित राज्यों में से प्रत्येक राज्य में बारी-बारी से समवेत हुआ करेगी। परिषद् की बैठकों का सभापतित्व सभापति करेगा; और उसकी अनुपस्थिति में उप-सभापति सभापति का आसन ग्रहण करेगा। यदि सभापति और उप-सभापति दोनों अनुपस्थित हों, तो परिषद् के उपस्थित सदस्यो में से उनके द्वारा निर्वाचित सदस्य सभापति का आसन ग्रहण करेगा। परिषद् का सभापति कार्य-प्रणाली सम्बन्धी ऐसे नियमों के आधार पर परिषद् की कार्यवाहियों का संचालन करेगा जिन्हें समय-समय पर परिषद् केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से निर्धारित करे।

क्षेत्रीय परिषद् की बैठको में सभी प्रश्न उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत से निर्णीत होंगे। यदि किसी प्रश्न पर बराबर-बराबर मतदान हो तो सभापति का मत, और यदि सभापति अनुपस्थित हो तो उसके स्थान पर स्थानापन्न सभापति का मत निर्णायक मत होगा। क्षेत्रीय परिषद् की समस्त कार्रवाई और सभी निर्णय संघ सरकार को और सम्बन्धित राज्य सरकारो को भी भेजना आवश्यक होगा।

परिषद् के कृत्य (Functions of the Council)—प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् (zonal Council) पूर्णतः विचारशील तथा परामर्शदात्री निकाय होगा। परिषद् में ऐसे किसी भी प्रश्न पर विचार हो सकेगा, जिसमें क्षेत्र के एक या एक से अधिक राज्य की रुचि हो; अथवा जिस प्रश्न में संघ और एक या एक से अधिक क्षेत्र में सम्मिलित राज्य की रुचि हो। परिषद् तत्सम्बन्धी परामर्श या मन्त्रणा, सम्बन्धित राज्य या राज्यों को दे सकती है। यह भी उपबन्धित किया गया है कि क्षेत्रीय परिषद् विचार करने के उपरान्त निम्नलिखित विषयों पर सिफारिश कर सकती है—

इस बात पर निर्भर है कि वे आपस में किस प्रकार का सहयोग एवं समन्वय स्थापित कर सकती हैं।" इस प्रकार क्षेत्रीय परिषदों के निर्माण से राज्यो की कार्यकारी और विधायी सत्ता मे कोई कमी नही आयेगी।

राज्यों के पारस्परिक सहयोग के लिए किसी सामान्य आधारभूमि के निर्माण का प्रयोग सिर्फ भारत में ही नही किया गया है। अमेरिका मे विधायी निर्देश ब्यूरो (Legislative Reference Bureau), अन्तर्राज्य आयोग, सामयिक शासन समस्याओं के सम्बन्ध मे सम्मेलन, राज्य कार्याध्यक्षो, प्रशासको, न्यायाधीशो और प्रादेशिक सघों के सम्मेलनों से राज्यो के बीच सहयोग और सहिष्णुता की वृद्धि होती है।

भारत मे कूपलैण्ड योजना मे क्षेत्रीय विचार का अंकुर निहित था। उसमे कतिपय राजनीतिक योजनाओ को आर्थिक रूप दिया गया। स्वतन्त्रता के पश्चात् उत्तरी क्षेत्र ने इस दिशा मे पहल की। पजाब, पेप्सू और हिमाचल प्रदेश के लिए राज्यों के पुनर्गठन के काफी पहले एक सयुक्त परामर्शदात्री परिषद् की स्थापना की गई थी। प्रादेशिक सहयोग का एक अन्य उदाहरण भाखडा नियन्त्रण बोर्ड (Bhakra Control Board) था जिसमे, पंजाब, पेप्सू, राजस्थान और हिमाचल का प्रतिनिधित्व था।

सामाजिक और आर्थिक हित किसी राज्य-विशेष से सम्बन्ध नही रखते। उनका सम्बन्ध प्रदेश से अथवा सम्पूर्ण राष्ट्र से है। सामाजिक और आर्थिक नीतियों में व्यापक सहयोग एवं समन्वय तभी स्थापित हो सकता है जबकि बड़े-बड़े नीति-विषयक प्रस्तावों पर क्षेत्रीय परिषदो में अच्छी तरह विचार-विनिमय हो जाए। अब इस बात पर बराबर जोर दिया जा रहा है कि यदि राज्यवार के स्थान पर प्रदेशवार योजना बनाई जाए, तो अधिक श्रेयस्कर है।

तथापि सीमा-विवादों, भाषायी अल्पसख्यको और अन्तर्राज्य परिवहन की समस्याओं का क्षेत्रीय परिषदें कोई संतोषजनक समाधान नही निकाल सकी हैं। इस प्रकार के प्रश्नों को क्षेत्रीय परिषदो की अपेक्षा केन्द्रीय सरकार या तो सीधे अथवा अपनी विशेष एजेंसियों के द्वारा अधिक सुगमतापूर्वक हल कर सकती है।

के आपसी विरोध और उनकी पृथकतावादी भावनाएँ स्वयं शान्त होंगी। क्षेत्रीय परिषदों के सम्बन्ध में पं० पन्त ने संसद् में ठीक ही कहा था—"नदियों का बहाव उनके किनारे पर बसने वाले लोगों की भाषा के अनुसार नहीं प्रभावित होता। उसी प्रकार पहाड़ों और खानों की बनावट पर भी किसी भाषा की छाप नहीं है। इसलिए कम-से-कम आर्थिक विकास के लिए हमें क्षेत्रीय परिषदों का आसरा लेना ही होगा। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय परिषदों से वह कटुता कम होगी जो राज्यों के पुनर्गठन के फलस्वरूप कुछ स्थानों में पैदा हो गई प्रतीत होती है।"

अप्रैल, १९५७ में उत्तर क्षेत्रीय परिषद् (North Zone Council) का उद्घाटन करते समय पण्डित पन्त ने क्षेत्रीय योजना के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य निर्धारित किये थे —

(१) देश का भावात्मक एकीकरण करना;

(२) राज्य भावना, प्रादेशिक भावना, भाषावाद और पृथकतावादी भावनाओं को रोकना;

(३) कुछ स्थितियों में पृथकत्व के वाद के परिणामों को दूर करना जिससे कि पुनर्गठन, एकीकरण और आर्थिक विकास की प्रक्रिया संयुक्त रूप से आगे बढ़ सके;

(४) केन्द्र और राज्यों को जो आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रमों को अधिकाधिक पूरा कर रहे हैं, आपस में सहयोग और विचार-विनिमय करने के अवसर देना जिससे कि समाज के सामान्य हित की एक-सी नीतियों का विकास किया जा सके और समाजवादी समाज का आदर्श सिद्ध किया जा सके;

(५) प्रमुख विकास-परियोजनाओं के सफल और द्रुत क्रियान्वयन में एक दूसरे के साथ सहयोग करना; और

(६) देश के विभिन्न क्षेत्रों में कुछ राजनीतिक संतुलन प्राप्त करना।

क्षेत्रीय परिषदों की उपयोगिता (Utility of the Zonal Councils)—यद्यपि क्षेत्रीय परिषदों का सामान्य रूप से स्वागत किया गया है, फिर भी यह शंका व्यक्त की गई है कि यह एक आदर्शवादी प्रयोग है और क्षेत्रीय परिषदें या तो सहयोगी राज्यों को अपने अन्दर खपा लेंगी या वे शक्तिशाली होकर केन्द्र को कमजोर करेंगी। लेकिन, यह क्षेत्रीय परिषदों का ठीक मूल्यांकन नहीं है। क्षेत्रीय परिषदें विचार करने वाली संस्थाएँ हैं और उनका कार्य सामान्य हित के मामलों में केन्द्रीय सरकार तथा सहयोगी राज्य सरकारों को सलाह देना है। उनका उद्देश्य राज्य के बीच सहयोग का विस्तार करना है। केन्द्रीय गृह मन्त्री श्री गोविन्द वल्लभ पन्त ने उत्तरी क्षेत्र परिषदों के उद्घाटन के समय इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा था, "परिषदें सलाह देने वाली संस्थाएँ हैं। यदि उन्हें अपना उद्देश्य पूरा करना है, जिसके लिए उनकी स्थापना की गई है तो उनकी सिफारिशों पर सावधानी और आदर के साथ विचार करना होगा। इस परीक्षण की सफलता राज्य सरकारों के दृष्टिकोण पर निर्भर है,

Term	*Equivalent*
Answers to questions pending from the last session of the Assembly	सभा के पिछले सत्र से लम्बित प्रश्नों के उत्तर
Anti-corruption Department	भ्रष्टाचार-निरोध विभाग
Anti-Smuggling Force	अवैध-व्यापार निरोधक दल, बल
Appendix	परिशिष्ट
Appropriation	विनियोग
Approval	अनुमोदन
Arbitration	मध्यस्थ निर्णय, विवाचन
Aristocracy	कुलीनतन्त्र श्रेणितन्त्र, अभिजाततंत्र
Article	अनुच्छेद, पदार्थ, लेख
Assemble	समवेत होना
Assembly	सभा
Assent	अनुमति
Assessment	निर्धारण
Asset	आस्तियाँ
Assistant	सहायक
Assumption	धारणा
At par	सममूल्य पर
Attache	सहचारी
Attorney-General	महान्यायवादी
Audit	लेखा-परीक्षा
Auditor-General	महालेखा-परीक्षक
Authentication	प्रमाणीकरण
Authorised	प्राधिकृत
Authority	प्राधिकार
Autocracy	स्वेच्छाचारिता
Autonomous	स्वायत्त, स्वायत्त-शासी
Autonomous region	स्वायत्तशासी प्रदेश
Award	पंचाट, निर्णय
B	
Bail	जामिन
Bicameral	द्विसदनात्मक
Biennial	द्विवार्षिक
Bill	विधेयक
Board	बोर्ड, मण्डल
Body	निकाय
Bonafide	वास्तविक
Breed	नस्ल
Broadcasting	प्रसारण
Bye-law	उपविधि
C	
Cabinet	मन्त्रिमण्डल
Calculation	परिकलन
Candidate	अभ्यर्थी, प्रत्याशी, उम्मीदवार
Capital value	मूल मूल्य, पूंजी मूल्य
Caretaker	अवधायक
Caretaker Government	अवधायक सरकार
Casting Vote	निर्णायक मत
Casual	आकस्मिक
Cause of action	वाद मूल, वाद हेतु
Cease to have effect	प्रभावशून्य होना
Cease to be operative	प्रवर्तनहीन होना

परिशिष्ट
(Appendix)
पारिभाषिक शब्दावली
(Glossary of Technical Terms)

A

Term	*Equivalent*	*Term*	*Equivalent*
Abandonment	परित्याग	Adjustment	समायोजन
Abbreviation	संकेताक्षर	Administration	प्रशासन
Abolish	अन्त करना	Admiralty	नौकाधिकरण
Abolition	अन्त, उत्सादन	Adulteration	अपमिश्रण
Abrogate	निराकरण करना	Adult suffrage	वयस्क मताधिकार
Accession	प्रवेश	Advisory Council	मन्त्रणा परिषद्
Accounts	लेखा	Advocate	अधिवक्ता
Acquisition	अर्जन	Affidavit	शपथ-पत्र
Acquittal	विमुक्ति	Affirmation	प्रतिज्ञान
Act	अधिनियम	Agency	अभिकरण, एजेंसी
Acting	कार्यकारी, कार्यवाहक	Agenda	कार्य-सूची, कार्यावलि
Acting in his discretion	स्वविवेक के अनुसार कार्य करते हुए	Alien	अन्यदेशीय, अदेशी
Address	अभिभाषण, समावेदन	Allegiance	निष्ठा
Adherence	अनुपक्ति	Allocation	बँटवारा
Ad-hoc	तदर्थ	Allotment	बाँट
Ad-infinitum	अनन्त तक	Amendment	संशोधन
Ad-interim	अन्तरिम	Amenities	सुविधाएँ
Ad-valorem	मूल्यानुसार	Anarchy	अराजकता
Adjourn	स्थगित करना	Anarchism	अराजकतावाद
Adjournment Motion	स्थगन प्रस्ताव	Annex	संलग्न करना
Adjudication	न्याय निर्णयन, अभिनिर्णय	Annexure	अनुबन्ध, अनुपत्र
		Annual Financial Statement	वार्षिक वित्त विवरण
		Annuities	वार्षिकी
		Annul, To	रद्द करना
		Anomalous	अनियमित, असंगत

Term	*Equivalent*
Court of first instance	प्रथम बार का न्यायालय
Crime	अपराध
Criminal	दण्डिक
Criminal law	दण्डविधि
Currency	चलार्थ
Custody	अभिरक्षा
Custom	रूढ़ि
Custom duty	सीमा-शुल्क
D	
Dealings	व्यवहार
Debenture	ऋण-पत्र
Decentralization	विकेन्द्रीकरण
Declaration	घोषणा
Decree	आज्ञप्ति
Defamation	मान-हानि
Defence	प्रतिरक्षा
Delegation	शिष्टमण्डल
Democracy	लोकतन्त्र, जनतन्त्र, प्रजातन्त्र
Diplomacy	राजनय, कूटनीति
Direct Action	प्रत्यक्ष कार्यवाही
Direction	निदेश
Directive principles	निदेशक सिद्धान्त
Disability	निर्योग्यता
Discharge	निर्वहन
Discretionary power	विवेक-शक्ति
Discrimination	विभेद
Disqualification	अनर्हता
Dissent	विमति
Dissenting judgment	विमति निर्णय
Dissolution	विघटन
Dividend	लाभांश
Document	दस्तावेज, प्रलेख
Domicile	अधिवास
Dominion	डोमीनियन, अधिराज्य
During the pleasure of the President	राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त
E	
Eligible	पात्र
Emergency	आपात
Emigration	उत्प्रवास
Emolument	उपलब्धि
Enact	अधिनियमित करना
Engagement	वचन बन्ध
Estate	सम्पत्ति, सम्पदा
Estimate	प्राक्कलन
Evacuee	निष्क्राम्य
Exception	अपवाद
Excise duty	उत्पादन-शुल्क
Exclusion	अपवर्जन
Executive	कार्यपालिका
Exempt	विमुक्त करना
Ex-officio	पदेन
Expedient	इष्टकर
Expiration	समाप्ति
Export	निर्यात
Extradition	प्रत्यर्पण
Extra-territorial	राज्य-क्षेत्रातीत
F	
Figures	आंकड़े
Filibustering	विध्यवरोधन
Finance	वित्त
Financed	वित्तपोषित
Financial Bill	वित्तीय विधेयक

Term	Equivalent
Census	जनगणना
Centralization	केन्द्रीकरण
Certification	प्रमाणन
Certiorari	उत्प्रेषण लेख
Chairman	सभापति
Chamber	सदन
Chamber, low	निम्न सदन
Chamber, upper	उच्च सदन
Chief	मुख्य
Chief Commissioner	मुख्य आयुक्त
Chief Election Commissioner	मुख्य निर्वाचन आयुक्त
Chief Judge	मुख्य न्यायाधीश
Citizenship	नागरिकता
Civil	असैनिक, व्यवहार
Civil Code	व्यवहार-संहिता
Civil Court	व्यवहार-न्यायालय
Civil Procedure	व्यवहार-प्रक्रिया
Civil Service	असैनिक सेवा, सिविल सर्विस
Colonization	उपनिवेशन
Come into force	प्रवृत्त होना
Come into operation	प्रवर्तन में आना
Commencement	प्रारम्भ
Commission	आयोग
Committee	समिति
Compensation	प्रतिकर
Competent	सक्षम
Composite	सामासिक
Composition	रचना
Comptroller and Auditor General	नियन्त्रक महालेखा परीक्षक
Concentration	केन्द्रण

Term	Equivalent
Concurrence	सहमति
Concurrent list	समवर्ती सूची
Conduct of Business	कार्य-संचालन
Confederation	परिसंघ, राज्यमण्डल
Consent	सम्मति, सहमति
Consolidated Fund	संचित निधि
Constituency	निर्वाचन-क्षेत्र, चुनाव क्षेत्र
Constituent Assembly	संविधान सभा
Constitution	संविधान
Constitution, Flexible	लचीला या सुपरिवर्तनीय संविधान
Constitution, Rigid	कठोर या दुष्परिवर्तनीय संविधान
Consul	वाणिज्य-दूत
Consumption	उपभोग
Contempt	अवमान
Contract	संविदा, ठेका
Contravention	उल्लंघन
Contribution	अंशदान
Convener	संयोजक
Convention	अभिसमय, रूढ़ि, परिपाटी
Co-ordination	एकसूत्रता, समन्वय
Corporation	निगम
Corresponding	तत्स्थानी
Cottage Industry	कुटीर उद्योग
Council	परिषद्
Council of Ministers	मन्त्रि-परिषद्
Covenant	प्रतिज्ञा-पत्र
Court	न्यायालय

Term	Equivalent
Invalid	अमान्य
J	
Judiciary	न्यायपालिका
Jurisdiction	क्षेत्राधिकार
L	
Law	विधि, कानून
Law and Order	कानून और व्यवस्था
Law, Civil	दीवानी कानून, व्यवहार-विधि
Law, Common	सामान्य विधि
Law Constitutional	साविधानिक विधि
Law Criminal	फौजदारी कानून, दड विधि
Law, Customary	रिवाजी कानून
Law, permissive	अनुज्ञापक कानून
Lawlessness	अराजकता, अव्यवस्था
Lease	पट्टा
Legislation	विधान, व्यवस्थापन
Legislative Assembly	विधान सभा
Legislative Power	विधायिनी शक्ति
Legislative Procedure	विधायी प्रक्रिया
Liberty	स्वतन्त्रता, स्वाधीनता
Licence	अनुज्ञप्ति
Lieutenant Governor	उप-राज्यपाल
Local Government	स्थानीय शासन
Local Self Government	स्थानीय स्वशासन

Term	Equivalent
M	
Majority	बहुमत
Majority Absolute	पूर्ण बहुमत, निरपेक्ष बहुमत
Mandamus	परमादेश
Matriarchy	मातृतन्त्र
Matriarchal society	मातृसत्ताक समाज, मातृमूलक समाज
Mediation	मध्यस्थता
Mediator	मध्यस्थ
Memorandum	ज्ञापन, स्मृति-पत्र
Merger	विलय
Migration	प्रव्रजन
Ministry	मन्त्रालय, मन्त्रिमण्डल
Ministry, Coalition	सयुक्त मन्त्रिमण्डल
Minor	अवयस्क
Minority	अल्पमत, अल्पसख्यक
Money Bill	धन-विधेयक
Monopoly	एकाधिकार
Mortgage	बंधन
Municipality	नगरपालिका
N	
Nation	राष्ट्र
National	राष्ट्रीय
Nationalism	राष्ट्रवाद
Nationality	राष्ट्रीयता
Nationalisation	राष्ट्रीयकरण
Naturalization	देशीयकरण
Nomination	नाम-निर्देशन, मनोनयन
Notice	सूचना
Notification	अधिसूचना

Term	Equivalent
Foregoing	पूर्वगामी, पूर्ववर्ती
For the time being	तत्समय, तत्स्थानी
Free Commerce	अबाध वाणिज्य
Fundamental	मूल, मूलभूत
G	
Gallery	दीर्घा
Gazette	गजट, राजपत्र
Governing Body	शासी निकाय
Government	शासन, सरकार
Government, Parliamentary	संसदीय शासन
Government Presidential	राष्ट्रपतीय शासन
Governor	राज्यपाल
Governor, H E	महामहिम राज्यपाल
Graduate	स्नातक
Grant	अनुदान
Grants-in-aid	सहायक अनुदान
Gratuity	उपदान
Guarantee	प्रत्याभूति, गारण्टी
Guardian	संरक्षक
H	
Habeas Corpus	बन्दी प्रत्यक्षीकरण
Hereby	इसके द्वारा, एतद् द्वारा
Hereinafter	इसके पश्चात्, एतत्पश्चात्
High Court	उच्च न्यायालय
Hereditary	आनुवंशिक, पैतृक
Heritage	दाय, विरासत
Hierarchy	पद-सोपान, उच्चोच्च परम्परा, श्रेणीबद्ध संगठन
High sea	महासमुद्र
Highway	राजपथ
His Excellency	महामहिम
His Majesty	सम्राट्
His Majesty in Council	सपरिषद्सम्राट्
Hoarding	अनुचित संग्रह, अपसंग्रह
Hoisting	आरोहण
Hold in abeyance	आस्थगित करना
Hold office To	पद धारण करना
I	
Identification	अभिज्ञान
Identity Card	अभिज्ञान पत्रक
Illegal	अवैध
Illegal practice	अवैधाचार
Illustration	दृष्टान्त
Immunity	उन्मुक्ति
Impeachment	महाभियोग
Implied	गर्भित, विवक्षित, ध्वनित
Imputation	दोषारोपण
In-charge	भार, साधक
In course of time	कालान्तर में
Indian Penal Code	भारतीय दंड संहिता
Interim	अन्तरिम
Initiate	सूत्रपात करना, पहल करना
Initiative	उपक्रम, आरम्भण
Inter alia	अन्यान्य विषयों में
Interpretation	निर्वचन, व्याख्या
Intrinsic Value	निजार्ह
Introduction	पुरःस्थापना, प्रस्तावना

Term	*Equivalent*
Republic	गणराज्य, गणतन्त्र
Research	गवेषणा, शोध अनुसंधान
Resolution	संकल्प
Resources	संसाधन, साधन
Respective	तत्सम्बन्धी
Retirement	निवृत्ति
Revenue	राजस्व
Roll	नामावलि
S	
Sanction	मंजूरी
Schedule	अनुसूची
Section	धारा, विभाग
Secular	लौकिक, धर्मनिरपेक्ष
Security	सुरक्षा, प्रतिभूति
Self-determination	आत्म-निर्णय
Session	सत्र
Single Transferable Vote	एकल संक्रमणीय मत
Social Welfare	समाज कल्याण
Socialism	समाजवाद
Sovereign Democratic Republic	सर्वप्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य
Speaker	अध्यक्ष
Standard	मान, स्तर
Standing order	स्थायी आदेश
State	राज्य
State, Buffer	अन्तस्थ राज्य
State, Federal	सघीय राज्य राज्य, सघात्मक
State, Mandatory	निर्दिष्ट राज्य
State, Sovereign	प्रभु राज्य, प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य

Term	*Equivalent*
State, Totalitarian	सर्वस्वायत्तवादी राज्य, सर्वाधिकारवादी राज्य
State, Unitary	एकात्मक राज्य, एकीय राज्य
Status	स्थिति, प्रस्थिति,
Stock-exchange	श्रेष्ठि चत्वर
Subordinate Court	अधीन न्यायालय
Succeeding	अनुवर्ती
Succession	उतराधिकार
Suffrage	मताधिकार
Suffrage, Adult	वयस्क मताधिकार
Suffrage, Universal	सार्वभौम वयस्क मताधिकार
Superintendence	अधीक्षण
Supply	सम्भरण
Supreme Court	उच्चतम न्यायालय, सर्वोच्च न्यायालय
Surcharge	अधिभार
Suspension	निलम्बन
Survey	सर्वेक्षण
T	
Tax	कर
Taxation	कराधान
Term	अवधि
Term of office	पदावधि, कार्यकाल
Theory	सिद्धान्त
Transaction	व्यवहार, सव्यवहार
Transfer	स्थानान्तरण, हस्तातरण
Transition	सक्रमण
Treaty	सधि
Tribunal	न्यायाधिकरण

Term	Equivalent
O	
Oligarchy	अल्पतन्त्र
Ordinance	अध्यादेश
Original Jurisdiction	आरम्भिक क्षेत्राधिकार
P	
Paramountcy	सर्वोपरिता, सार्वभौमता
Parity	समतुल्यता
Parliament	संसद्
Patriarchy	पितृतन्त्र
Patriarchal society	पैतृक समाज, पितृमूलक समाज, पितृसत्ताक समाज
Patron	संरक्षक
Per annum	प्रतिवर्ष
Per mensem	प्रतिमास
Petition	याचिका
Piracy	जल-दस्युता
Planning	योजना आयोजन
Plebiscite	जनमतसंग्रह
Portfolio	संविभाग
Posting	पद-स्थापना
Preamble	प्रस्तावना
Precedence	पूर्ववादिता
Predecessor	पूर्वाधिकारी
Prerogative	परमाधिकार
President	राष्ट्रपति
Presiding Officer	पीठासीन अधिकारी
Prevail	अभिभावी होना
Preventive Detention	निवारक निरोध
Prime Minister	प्रधान मन्त्री
Priority	पूर्ववर्तिता
Privilege	विशेषाधिकार
Procedure	प्रक्रिया
Proceedings	कार्यवाही
Proclamation	उद्घोषणा
Proclamation of Emergency	आपात की उद्घोषणा
Prohibition	प्रतिषेध
Promulgate	प्रख्यापन
Proportional Representation	सानुपात प्रतिनिधित्व
Prorogue	सत्रावसान
Prosecution	अभियोजन
Protectorate	संरक्षित राज्य
Protocol	नयाचार
Provision	उपबन्ध
Provisional	अन्तर्कालीन
Public opinion	जनमत, लोकमत
Public Services	लोक सेवाएँ
Public Service Commission	लोक-सेवा आयोग
Purpose	प्रयोजन
Q	
Question of Law	विधि-प्रश्न
Quorum	गणपूर्ति
Quo-warranto	अधिकार पृच्छा
R	
Ratification	अनुसमर्थन
Record	अभिलेख
Recurring	आवर्तक
Reference	निर्देश
Referendum	जनमत संग्रह
Remuneration	पारिश्रमिक
Repeal	निरसन
Report	प्रतिवेदन
Representation	अभिवेदन, अभ्यावेदन, प्रतिनिधित्व, प्रतिनिधान

Term	Equivalent	Term	Equivalent
U		Visas	दृष्टांक
Uniformity	एकरूपता	Void	शून्य, व्यर्थ
Umlateral	एकपक्षीय, एकतरफा	Vote	मत
Union	संघ	Vote, Casting	निर्णायक मत
Union Public Service Commission	संघ लोक-सेवा आयोग	Vote, Cumulative	संचित मत
Unit	एकक, इकाई	Vote, Limited	सीमित मत
Usago	प्रथा	Vote of Censuro	निन्दा-प्रस्ताव
V		**W**	
Veto	निषेधाधिकार, प्रतिषेधाधिकार	Warrant	अधिपत्र
		Ways and Means	अर्थोपाय
		Withhold	रोक लेना
		Writ	लेख